स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण

[illegible]

समेकित दार्शनिक विमर्श

[illegible]

[illegible]

पुरोवाक् : [illegible]

विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर

स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण - १

स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण

प्रधान-सम्पादक : सुरेन्द्र सिंह नेगी

समेकित दार्शनिक विमर्श

***

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा

पुरोवाक् : यशदेव शल्य

विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर
मध्य प्रदेश

स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण : समेकित दार्शनिक विमर्श

*** अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के लिये प्रकाशित

© प्रकाशक

ISBN 81-88289-07-8

प्रथम संस्करण 2005

मूल्य - 800/-

प्रकाशक -
विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर
गौर काम्पलेक्स, परकोटा रोड,
सागर - 470002 (म.प्र.)
✆ 07582-243598

लेजर कम्पोजिंग-
एक्टिव कम्प्यूटर्स
सागर (म. प्र.)
✆ 503225

पुरोवाक्

डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा यहाँ जो **'स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण'** नाम से अधिकांशत: हिन्दी में लिखे गए और दो-एक अंग्रेजी से हिन्दी में अनूदित लेखों का संकलन प्रस्तुत कर रहे हैं वह इस दृष्टि से बहुत स्तुत्य प्रयास है कि यह स्वातंत्र्योत्तर भारत की सांस्कृतिक मनोदशा को पर्याप्त रूप से व्यंजित करता है। यों अंग्रेजी में पहले १९७२-७५ के बीच-समकालीन भारतीय दर्शन पर प्रोफेसर के. सच्चिदानन्द मूर्ति, डॉ. नन्दकिशोर देवराज तथा प्रोफेसर मार्गरेट चटर्जी द्वारा संपादित तीन संकलन प्रकाशित हो चुके हैं जो यही प्रयोजन सिद्ध करते हैं, किन्तु यह संकलन उनसे दो दृष्टियों से भिन्न कहा जा सकता है। एक तो इस दृष्टि से कि इसमें प्रत्येक लेखक के एक से अधिक लेख संकलित हैं, जिन्हें एक-एक परिच्छेद में सुचिन्तित शीर्षकों के अन्तर्गत संपादित किया गया है, और दूसरे इस दृष्टि से कि इनमें से अधिकांश लेख हिन्दी में लिखे गए हैं।

इस संकलन के नाम पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या स्वातंत्र्यपूर्व और स्वातंत्र्य-पश्चात् के भारतीय दर्शन के बीच कोई विभाजक रेखा लगायी जा सकती है ? हमारे विचार में यह रेखा लगायी जा सकती है। वह रेखा क्या है, यहाँ हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे। किन्तु एक और आधारभूत प्रश्न, जो हमने अंग्रेजी में प्रकाशित उपर्युक्त तीन संकलनों के प्रकाशन पर उठाया था, कि इनके नाम में प्रयुक्त 'भारतीय' विशेषण का अर्थ क्या है ? यहाँ हम संक्षेप में उस पर भी विचार करेंगे।

✍ ✍ ✍

भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ एक नये युग का आरंभ हुआ, ऐसा असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है। उससे पहले संस्कृत भाषा और उससे जुड़ी विचार और भाव-धारा के आधार पर संयुक्त यह देश सांस्कृतिक रूप से एक होते हुए भी राज्य-शासन की दृष्टि से विभक्त था। अंग्रेजी राज्य ने इसे राज्य शासन की दृष्टि से एकता दी, यद्यपि राज्य के स्तर पर इसे पराजित कर उसने इसके सांस्कृतिक आधारों पर बहुत गहरा आघात किया और इसे स्थायी रूप से आहत किया। इसके परिणाम स्वरूप यह देश इन दोनों स्तरों पर बहुत गहराई से विचलित और आन्दोलित हुआ और यह पुनर्जागरण का हेतु बना। राजनैतिक रूप से भी अंग्रेजों के आगमन को इस दृष्टि से एक नये युग के सूत्रपात का हेतु कहा जा सकता है कि इसने पहली बार इस देश को एक राजनैतिक अस्मिता दी जिसके कारण इसने अंग्रेजी राज्य को एक **विदेशी राज्य** के रूप में और अपने को विदेशियों से पराजित, उनसे अधीनीकृत के रूप में देखा, जिससे यहाँ एक ऐसे राजनैतिक आन्दोलन का सूत्रपात हुआ जैसा इस देश में पहले कभी नहीं हुआ था। किन्तु सांस्कृतिक स्तर पर इसकी प्रतिक्रिया बड़ी जटिल और अपरिभाष्य - जैसी हुई। एक ओर इसने अपनी सांस्कृतिक अस्मिता पर हुए आघात से अपने को उबारने के लिए अपने को सँजोने का प्रयत्न किया किन्तु दूसरी ओर इसने बाहर से आयी इस जाति को अपने से संस्कृति और सभ्यता में उत्कृष्ट महसूस किया और इससे मिली चुनौती का साम्मुख्य अपने अतीत गौरव की ऐसी पुनर्रचना द्वारा करने का प्रयत्न किया जो बहुत कुछ इस विजेता जाति की संस्कृति के वर्तमान जैसा था या उसके प्रतिमानों पर पूरा उतरता था। आर्य समाज और ब्रह्म समाज, स्वामी विवेकानंद और

श्री अरविन्द, जो भारतीय नवजागरण के पुरोधा कहे जा सकते हैं, सबने भारत के अतीत में गौरव का अनुसन्धान किया, उनकी उस अतीत की व्याख्या की पदावली बहुत कुछ पश्चिम को सम्मुख रखकर ही निर्मित हुई। जो पंडित वर्ग भारत की पारंपरिक पदावली से जुड़ा रहा उसे **'नये भारत'** ने अपना प्रतिनिधि स्वीकार नहीं किया। यहाँ राजा राममोहन राय का स्मरण स्थाने होगा जो इन तीन के साथ गणनीय चौथे हैं। जिस लक्षण की ओर मैं संकेत कर रहा हूँ वह इन तीन में जबकि बहुत कुछ अलक्षित है, ब्रह्म समाज में वह पर्याप्त स्पष्ट लक्षित है। किन्तु ये चारों इस दृष्टि से एक ही वर्ग में रखे जा सकते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि स्वामी दयानंद, स्वामी विवेकानंद और श्री अरविन्द प्राचीन भारत की पुनर्रचना **पश्चिम के अनुसार** कर रहे थे, इसका केवल इतना ही अर्थ है कि उनकी दृष्टि नवीन थी और यह नवीनता पश्चिम के संपर्क की परिणाम थी। आर्य समाज जिस प्राचीन भारत की प्रतिष्ठा कर रहा था उसकी कसौटी विज्ञान था। यहाँ तक कि उसने वेदों में आधुनिक वैज्ञानिक तकनीकी के आविष्कार ढूंढ़ने का प्रयत्न भी किया। स्वामी विवेकानंद वेदान्त की 'आधुनिक' व्याख्या कर रहे थे और श्री अरविन्द **दि सीक्रेट ऑफ दि वेदाज** तथा **फाउंडेशंस् ऑफ इंडियन कल्चर** भारतीय संस्कृति-सभ्यता पर यूरोप की आपत्तियों का उत्तर देने के लिए उसकी दृष्टि के प्रकाश में लिख रहे थे। यह निश्चय ही भारत का पुनर्जागरण था, जो इस बात का द्योतक था कि इस देश की सांस्कृतिक परंपरा निष्प्राण नहीं हुई थी, केवल कुछ तंद्रा ही इसमें आयी थी। इस बाहरी चुनौती ने वह तंद्रा इसमें दूर की और इसे फिर से अपनी अस्मिता को परिभाषित करने के लिए प्रेरित किया। इसकी तुलना भक्तिकाल के पुनर्जागरण से करने से यह बात सहज ही समझी जा सकती है। उस पुनर्जागरण का कारण कोई ऐसी विस्थापक बाहरी चुनौती नहीं थी जिसने इसमें आत्मविश्वास का संकट उत्पन्न किया हो। यहाँ इस बात का महत्त्व कम करके नहीं आँकना चाहिए कि स्वामी विवेकानन्द और श्री अरविन्द ने लिखने के लिए अपनी भाषा अंग्रेजी को ही माना, अन्य सब तो अंग्रेजी को अपना ही रहे थे। सौभाग्यवश साहित्यिक लेखन की माध्यम भारतीय भाषाएँ ही रहीं, किन्तु वैचारिक लेखन की भाषा संपूर्णत: अंग्रेजी हो गई। ऐसा नहीं है कि अपनी अस्मिता की रक्षा और अपनी भाषा के रूप में अंग्रेजी को अपनाने के बीच विसंगति का कुछ भी बोध देश में नहीं रहा हो। महात्मा गाँधी ने तो आरंभ से ही अंग्रेजी को पराधीनता का द्योतक ही माना था, किन्तु कुछ और लोग भी थे जो हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओं में लिखने को भारत की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष के अंग के रूप में देखते थे। इसी दृष्टि ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग को जन्म दिया था और इसके प्रथम अधिवेशन की अध्यक्षता महात्मा गाँधी ने की थी। किन्तु शिक्षा और शासन में शक्ति-पीठों पर आसीन लोग अंग्रेजी को ही ज्ञान का एकमात्र माध्यम देखते थे और सामान्यजन में भी अंग्रेजों और अंग्रेजी के प्रति एक सहज उच्चता का भाव था, भले ही भारतीय भाषाओं को वे स्वतंत्रता के प्रतीक के रूप में देखते हों। किन्तु १९४७ में भारत के राजनैतिक रूप से स्वतंत्र हो जाने के बाद स्वतंत्रता के लिए संघर्ष की बात समाप्त हो गई। अब तो प्रश्न भारत के पुनर्निर्माण का था, जो हमारे शक्ति-पीठासीन लोगों के अनुसार अंग्रेजी के माध्यम से ही हो सकता था, क्योंकि सारा ज्ञान-विज्ञान तो यूरोप के पास ही था और उसके लिए उपयुक्त माध्यम अंग्रेजी ही हो सकती थी। अवश्य भारत के पास भी ज्ञान था, किन्तु वह ज्ञान अध्यात्मविद्या का था और उसका ज्ञाता प्राचीन भारत था, आधुनिक भारत नहीं। 'वर्तमान' भारत तो दोनों से समान रूप से वंचित था। अब उसे अपने निर्माण के लिए यदि किसी चीज की आवश्यकता थी तो आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की, न कि किसी अध्यात्मविद्या की, जिसने संसार को माया बताया था और इस प्रकार हमें संसार से विमुख करके हमारे जीवन को निष्क्रिय बनाया था। स्वामी विवेकानन्द ने जो ब्रह्म-ज्ञान से पहले फुटबाल के खेल को बताया, उसमें एक गहरा संकेत है। निश्चय ही हमारी आरंभिक प्रतिक्रिया अपनी पराजय के कारणों को

जानने और अपने उस सबल स्वरूप को फिर से पाने की ही थी जो वास्तव में हमारा है किन्तु विस्मृत हो गया है, किन्तु इस स्वरूप का प्रतिमान अब बहुत कुछ पश्चिम ही था। आगे चल कर यह और स्पष्ट इस बात से हो जाता है कि हमारे 'दार्शनिकों' ने प्राचीन भारतीय दर्शन के उत्कर्ष की खोज पाश्चात्य दर्शन से उसकी अनुरूपता में की। इसके अतिरिक्त संस्कृत का पंडित वर्ग भी था जो पश्चिम से अछूता था और प्राचीन दर्शन की परंपरा में ही निमग्न था, किन्तु वह उस **'नये भारत'** से कटा हुआ, **पुराण-पंथी,** वर्ग था। उदीयमान भारत का पुरोधा उपयुक्त रूप से पहला वर्ग ही था जो अपने को पश्चिम के प्रतिमान से आँक रहा था और उसकी पदावली में ही सोच-समझ रहा था।

तो यह थी हमारी मन:स्थिति जिसमें हमारा देश स्वतंत्र हुआ था। यदि हम उस सारी मानसिकता को गहराई से देखें तो पायेंगे कि देश के मानस में गहरे में कहीं 'स्वतंत्रता-संग्राम' का अर्थ राजनैतिक स्वतंत्रता ही था, मानसिक (सांस्कृतिक) स्वतंत्रता नहीं। महात्मा गांधी ने, और बहुत सीमा तक नवजागरण के उपर्युक्त प्रवर्तकों ने भी, राजनैतिक आन्दोलन को मानसिक स्वातंत्र्य के साथ जोड़ा था और इस दूसरी पराधीनता का खतरा स्पष्टत: देखते हुए बीसवीं शताब्दी के आरंभ में ही इसके प्रति चेताया था। उन्होंने राजनैतिक-सांस्कृतिक आन्दोलन के इस नये पुरोधा वर्ग को भूरे साहिबों का नाम दिया था और देश को इनसे बचने का आह्वान किया था। किन्तु इसमें वे असफल ही रहे।[1] राजनैतिक स्वतंत्रता के साथ ही हमारे सांस्कृतिक पुरोधाओं ने प्राचीन भारत के गौरव की बात छोड़कर नये भारत के निर्माण को लक्ष्य बनाया और पहले की तरह शंकर को हेगल और ब्रैड्ले में खोजने के बजाय अपने ही को रसल और विट्गेंस्टाइन के आदर्श में ढालना आरंभ किया। ऐसे में भारतीय भाषाओं के लिए कोई स्थान कैसे हो सकता था ? किन्तु स्वतंत्रता - आन्दोलन में हमने राष्ट्र भाषा का संकल्प भी लिया था, तो उस संकल्प का क्या करते ? सो, बीच-बीच में उसकी आवाज भी उठती रही, किन्तु उससे जुड़ी द्रृष्टि किसी के पास नहीं थी। भाषा के प्रश्न को लेकर दक्षिण और उत्तर के बीच पड़ी दरार की बात एक ओर और भारतीय भाषाओं में वैचारिक-शास्त्रीय वाङ्मय के अभाव की बात दूसरी ओर थी जो नये भारत के पुरोधाओं के पास अंग्रेजी को ही शिक्षा और राज्य की भाषा के रूप में रखने के लिए अकाट्य युक्ति थी। 'वैचारिक वाङ्मय' एकमात्र वही था जो यूरोप के विचारकों द्वारा लिखा गया था या लिखा जा रहा था। वह भारतीय भाषाओं में कैसे हो सकता था ? ऐसी अवस्था में, जब भारतीय भाषाओं में कोई वाङ्मय था ही नहीं, तो भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम कैसे बनाया जा सकता था ? स्वयं भारतीय भाषाओं के समर्थकों के पास भी इसका कोई उत्तर नहीं था। द्रष्टव्य है कि जो लोग हिन्दी में भी लिख रहे थे उनके पास भी अधिकांशत: विचार कोई अपना नहीं था, वे भी 'आधुनिक विचार' के लिए पश्चिम को ही देख रहे थे। अवश्य कुछ तब भी प्राचीन भारत के विचार प्रस्तुत कर रहे थे। किन्तु इनकी संख्या नगण्य थी और इनका कोई महत्त्व नहीं था। किसी भारतीय भाषा में साहित्येतर किसी विषय की कोई पत्रिका भी नहीं थी। हिन्दी में डॉ. संपूर्णानन्द जी ने १९५१-५२ के आसपास एक समाजशास्त्र की पत्रिका **'समाज'** आरंभ की थी, जिसके शायद दो-चार अंकों से अधिक अंक नहीं निकल पाये। कुछ और प्रयत्न भी हुए, जैसे हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा अपने वार्षिक अधिवेशनों में 'दर्शन परिषद्' तथा 'समाजशास्त्र परिषद्' का आयोजन किया जाने लगा जिसमें किसी दार्शनिक तथा समाजशास्त्री का

1. *निश्चय ही इसमें अत्युक्ति प्रतीत हो सकती है, क्योंकि पंडित मदनमोहन मालवीय और पुरुषोत्तमदास टंडन जैसे लोग भी थे जो पूरी तरह प्राचीन भारतीय मानसिकता में निमग्न थे, वास्तव में देश के बहुत बड़े जन-समुदाय की वही मानसिकता थी। किन्तु वह उनका संस्कार अधिक था, द्रृष्टि कम। यह जन-समुदाय नेहरू जी पर किस प्रकार और उनकी किन बातों पर मुग्ध था, उससे हमारे कथन का तात्पर्य और औचित्य समझा जा सकता है। इन संस्कारों से हमारे भूरे साहिब भी मुक्त नहीं थे, किन्तु ये उनके संस्कार थे, 'द्रृष्टि' नहीं। इसकी सच्चाई देखनी हो तो भारत की स्वतंत्रता के समय हमारे राज्य के संविधान-निर्माण में ऐसे लोगों की स्थिति को देखें, जिनमें से किसी को यूरोपीय सरकारों के संविधानों की नकल उतारने के अतिरिक्त दूसरा कोई विकल्प दिखायी नहीं दिया।*

व्याख्यान कराया जाता था। किन्तु ये सब 'पाँचवां सवार' बनने के जैसे प्रयत्न ही थे, बल्कि उससे भी क्षीण, जैसा कि १९४८ की दर्शन परिषद् के अध्यक्षीय भाषण में पं. बलदेव उपाध्याय के इस अनुरोध से सहज ही अनुमान किया जा सकता है। उनके शब्द हैं - "दर्शन के विद्वानों से मेरी प्रार्थना है कि अंग्रेजी में वे ग्रंथ प्रणयन भले करें पर उन्हीं विचारों के निदर्शन के लिए हिन्दी भाषा में भी ग्रंथों की रचना करें।"[२] यह स्थिति बहुत कुछ आज तक बनी हुई है, यद्यपि पिछले कुछ वर्षों में इसमें कुछ सुधार हुआ है। यह सुधार कितना और कैसा है इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् ने जबकि १०० से अधिक पुस्तकें प्रकाशित कर दी हैं, उनमें हिन्दी में केवल (मेरी) दो पुस्तकें ही हैं, अन्य कोई नहीं। न किसी अन्य भारतीय भाषा में कोई पुस्तक प्रकाशित की है। विट्गिन्स्टाइन की दो-तीन पुस्तकों के अनुवादों को हिन्दी की पुस्तकें कहना अनुचित होगा। यहाँ बात हिन्दी या भारतीय भाषाओं की नहीं, पूरी मानसिकता की है जो भाषा से जुड़ी हुई है। इस मानसिकता के रहते इस बात से कोई अन्तर नहीं पड़ता कि आप किस भाषा में लिखते हैं! यह अभी हाल ही की बात है, लगभग १९८८-८९ की, जब हमारे एक अत्यन्त वरिष्ठ और विश्वविद्यालय-क्षेत्र में अत्युच्च पदासीन, तथा अंग्रेजी के साथ हिन्दी में भी लिखने वाले दार्शनिक मित्र ने 'अपने दर्शन' पर एक लेख लिखकर **उन्मीलन** में प्रकाशनार्थ भेजा था। इस लेख के तीन-चौथाई भाग में उन्होंने पहले डेकार्ट से लेकर बर्ट्रंड रसल तक पाश्चात्य दार्शनिकों की चर्चा की हुई थी और अन्त में एक चौथाई भाग में इस पृष्ठभूमि पर 'अपने दर्शन' को देखने-दिखाने का प्रयत्न किया था। मैं वह लेख **उन्मीलन** में प्रकाशित करने में असमर्थ रहा। हमारे दार्शनिक विचार की इसी स्थिति को लक्षित करते हुए मैंने लगभग १९७५-७६ में कभी लिखा था - "इधर समकालीन भारतीय दर्शन" नाम से डॉ. के. सच्चिदानन्द मूर्ति, डॉ. नंदकिशोर देवराज तथा डॉ. मार्गरेट चटर्जी द्वारा संपादित तीन संकलन ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। इन तीनों संपादकों के अनुसार 'भारतीयता' का अर्थ **'भारत की भौगोलिक परिधि में होना'** है और इस प्रकार 'भारतीय दर्शन' इस परिधि के दर्शन विभागों के वरिष्ठ अध्यापकों द्वारा लिखी गई शब्दावली है। 'भारतीयता' सम्बन्धी इस धारणा की प्रतिष्ठा इधर के कुछ वर्षों में तब हुई जब यूरोपीय शैली पर लिखने वाले कुछ उच्च पदासीन अध्यापकों ने अपने पद के अनुरूप दार्शनिक प्रतिष्ठा का दावा किया। किन्तु मेरी मान्यता है कि 'भारतीय' अथवा 'भारतीयता का तत्त्व' किसी एक भौगोलिक क्षेत्र में घटित होना नहीं है।"[३] यह बात मैंने १९८५ में आरंभ की गई पत्रिका **उन्मीलन** के प्रथम अंक के संपादकीय में अधिक व्याख्या के साथ लिखी और इस पत्रिका को आरंभ करने का उद्देश्य इस तत्त्व को पाना ही बताया था। अब, भारत का यह 'तत्त्व' दर्शन से अन्य तो सभी वैचारिक अनुशासनों में प्राय: पूरी तरह अनुपस्थित है, दर्शन में भी स्वतंत्रता के बाद बहुत समय तक यह प्राय:-प्राय: लुप्त जैसा ही रहा। स्वतंत्रता के बाद आरंभ में प्राय: सभी दर्शन के अध्यापक पाश्चात्य दार्शनिकों के विचारों को ही प्रतिध्वनित कर अपने को धन्य मानते थे, यहाँ तक कि प्राचीन भारतीय दार्शनिक परंपरा में शिक्षित अध्यापक भी यथासंभव यही करते थे। स्वतंत्रता के बाद स्वातंत्र्य-पूर्व की तुलनात्मक दर्शन की बात अप्रासंगिक हो गई थी क्योंकि अब हमें अपने अतीत से अपने को गौरवान्वित करने की वैसी आवश्यकता नहीं रही थी।

इस मानसिकता में १९८० के आसपास कुछ परिवर्तन होना आरंभ हुआ। कुछ लोगों को इसमें 'पश्चिम का अंधानुकरण' दिखायी देने लगा। तब कुछ ऐसे लोगों ने भी, जो तब तक प्राचीन भारतीय दर्शन को ठीक से दर्शन भी नहीं मानते थे, प्राचीन भारतीय दार्शनिकों पर लिखना आरंभ किया। इस परिस्थिति में उन लोगों को भी कुछ स्वीकृति मिलनी आरंभ हुई जो मूल संस्कृत में प्राचीन भारतीय

२. ***भारतीय दर्शन के जीवन्त प्रश्न***, *सं. संगमलाल पांडेय, प्रकाशन - हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृ.सं १४३।*

३. *द्रष्टव्य हमारा लेख 'समकालीन भारतीय दर्शन।' यह लेख अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ अधिवेशन के उद्घाटन-सत्र में पढ़ा गया था। पहले यह* ***दार्शनिक त्रैमासिक*** *के उस वर्ष के किसी अंक में प्रकाशित हुआ और अनन्तर मेरे लेखों के एक संकलन* ***'समसामयिक चिन्ताएँ'*** *में प्रकाशित हुआ।*

दार्शनिक ग्रंथों को पढ़-समझ सकते थे। प्रोफेसर दयाकृष्ण ने एक नया उपक्रम आरंभ किया - प्राचीन भारतीय परंपरा के पंडितों को आधुनिक विचार के सम्पर्क में लाने का, जिसमें यह पूर्वगृहीत था कि पश्चिमी विचार ही आधुनिक और सार्वभौम है।

इस संपूर्ण कालावधि में आधुनिक भारतीय भाषाओं की क्या स्थिति रही, यह भी विचारणीय है और यह पक्ष बहुत महत्त्वपूर्ण है। जैसा कि हमने ऊपर देखा, भारतीय भाषाओं को अपनाने के विरुद्ध यह युक्ति दी गई कि इनमें अच्छी पुस्तकें नहीं हैं। किन्तु तब इससे कर्त्तव्य तो यह बनता था कि इनमें लिखना आरंभ किया जाता। पर हुआ इसके उलट, इनमें लिखना घटियापन का द्योतक माना गया। स्वतंत्रता के बाद योग्यता का मानदंड यह था - योग्यतम, जो इंगलैंड - अमरीका में पढ़ा है और जिसका लिखा वहाँ की पत्रिकाओं में छपता है, उससे उतर कर वे जो वहाँ पढ़े हैं और अंग्रेजी में लिखते हैं किन्तु जिनका लिखा भारत में ही छपता है, इससे नीचे वे जो इसी देश में पढ़े हैं और जिनका लिखा इसी देश में छपता है। चौथी कोई श्रेणी नहीं थी, हिन्दी में लिखने वाले इसी गणना-बाह्य वर्ग में आते थे।[४] यह स्थिति बहुत कुछ अभी तक है, १९८० तक तो यह पूरी तरह से थी जिसके बाद इसमें कुछ सुधार होना आरंभ हुआ। द्रष्टव्य है कि स्वतंत्रता से पहले यह स्थिति नहीं थी। तब हिन्दी में लिखना राष्ट्रीयता का प्रतीक था।

ऐसी परिस्थिति में प्रकटत: पूर्णरूप से संयोगवश मेरी रुचि १९५१ में साहित्य से दर्शन में हुई, और क्योंकि मैं साहित्य में लेखक था इसलिए मेरे लिए दर्शन के अध्ययन के साथ दर्शन में लिखना भी स्वाभाविक था, विश्वविद्यालयों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं था, क्योंकि मेरी शिक्षा-दीक्षा किसी महाविद्यालय या विश्वविद्यालय में नहीं हुई थी। यों तो मुझे तब लिखने योग्य अंग्रेजी आती भी नहीं थी, किन्तु हिन्दी में लिख रहे होने से मुझे तब यह ध्यान भी नहीं आया कि हिन्दी में नहीं अंग्रेजी में ही लिखना चाहिए। किन्तु तब मैंने पाया कि हिन्दी में ऐसी कोई पत्रिका ही नहीं है जिसमें दार्शनिक लेख प्रकाशित हो सकें। इससे मैंने हिन्दी में साहित्येतर वाङ्मय के अभाव की बात को लेकर एक लेख लिखा और हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने योग्य होने के लिए ऐसा वाङ्मय होने को अनिवार्य पूर्वापेक्षा बताया। इस लेख से वह प्रक्रिया आरंभ हुई जो १९५४ में अखिल भारतीय दर्शन परिषद् और दार्शनिक त्रैमासिक की स्थापना में निष्पन्न हुई।[५]

किन्तु यह शायद उतने संयोग की बात नहीं थी कि स्कूल तथा विश्वविद्यालय में शिक्षित नहीं होकर एक गुरुकुल में शिक्षित होने के बावजूद, और अंग्रेजी का मेरा लगभग कोई ज्ञान नहीं होने के बावजूद, दर्शन में मेरी रुचि का हेतु पाश्चात्य दर्शन बना। यह संयोग इसलिए नहीं था क्योंकि उस समय देश का संपूर्ण वायुमंडल यूरोपीय विचार के जीवाणुओं से ही परिव्याप्त था। पाठ्यक्रमों में यूरोपीय दर्शन की ही प्रधानता थी और पुस्तकों की दुकानों में उन्हीं की पुस्तकें मिलती थीं। मार्क्स, फ्रायड, सार्त्र और रसल ये घरेलू नाम थे, यहाँ तक कि हमारे साहित्यिक तक इन्हीं की चर्चा करते थे। इसलिए अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की स्थापना में **दार्शनिक भारत के स्वरूप** के सम्बन्ध में कोई दृष्टि नहीं थी - न मेरी और न किसी अन्य की। केवल यही दृष्टि थी कि दार्शनिक विचार की भाषा हिन्दी होनी चाहिए। निश्चय ही परिषद् से जुड़े वरिष्ठ लोगों में अधिक संख्या प्राचीन भारतीय दर्शन के अध्यापकों की ही थी, किन्तु उनके लिए भी भारतीय दर्शन प्राचीनों द्वारा रचित दर्शन ही था, आधुनिक दर्शन वह था जो पश्चिम में रचा जा रहा था। उस दर्शन का हमारे अनुभव और हमारी चिन्ताओं से कोई सम्बन्ध है या नहीं, यह सोचने की किसी को कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं हो रही थी।

तो यह था स्थूल रूप से भारत का दार्शनिक परिदृश्य जो न्यूनाधिक अब भी बना हुआ है, केवल

४. *यह कसौटी कुछ अध्यापकों की व्यक्तिगत नहीं थी, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की भी थी।*

५. *इसका विवरण मैंने एक लेख - 'अखिल भारतीय दर्शन परिषद् का जन्म और उसके आरंभिक दो वर्ष' में दिया है। यह लेख दार्शनिक त्रैमासिक के १९७५-७६ के किसी अंक तथा 'समसामयिक चिन्ताएँ' पुस्तक में प्रकाशित हुआ है।*

इस अन्तर के साथ कि अब हमारे दार्शनिक लेखक प्राचीन भारतीय दर्शन के साथ अधिक जुड़ने लगे हैं, यद्यपि इनमें से कुछ इसमें अर्थ का अनर्थ ही कर रहे हैं। उदाहरणत: प्रोफेसर दयाकृष्ण, जो पहले पाश्चात्य दर्शन को ही दर्शन मानते थे अब भारतीय दर्शन के ही गवेषी हैं, प्रोफेसर राजेन्द्र प्रसाद, जो पाश्चात्य दर्शन के ही अनुध्यायी थे, अब भारतीय दर्शन को भी अध्येतव्य मानने लगे हैं, प्रो. के.जे . शाह, जो विट्गिन्स्टाइन की भाषा ही नहीं बोली बोलने को ही बोलना मानते थे, पीछे भर्तृहरि में रुचि दिखाने को बाध्य हुए, प्रोफेसर जड़ावलाल मेहता, जो हाइडेगर के पंडित थे, पीछे वेदान्त से भी जुड़े और उन्होंने हाइडेगर को वेदान्त में और वेदान्त को हाइडेगर में पाया, तथा वेदों और पुराणों पर भी कुछ अन्तर्दृष्टिपूर्ण लेखन किया। ये सब बहुत प्रतिभा सम्पन्न लोग हैं या थे, विशेषत: प्रोफेसर दयाकृष्ण और प्रोफेसर मेहता, किन्तु उपर्युक्त कारणों से देश में व्याप्त सांस्कृतिक कुंठा के कारण ये भारत में दार्शनिक चिन्तन को आगे नहीं बढ़ा सके।

उपर्युक्त सर्वेक्षण में भारत का दार्शनिक परिदृश्य जितना निराशाजनक चित्रित हुआ है, संभवत: यह उतना निराशाजनक नहीं है। इसके ऐसा प्रकट होने का बहुत बड़ा कारण संस्कृत में लिखने-पढ़ने-विचारने वाले पंडित वर्ग का एक ओर और पश्चिम के विचार से जुड़े आंग्ल-भाषा-भाषी वर्ग का दूसरी ओर अपने समाज के अनुभव-प्रवाह से विच्छिन्न होना है, अन्यथा इन दोनों वर्गों में दार्शनिक चर्चा और लेखन पर्याप्त हो रहा था। 'समाज के अनुभव-प्रवाह' से हमारा अभिप्राय अखबार और दूरदर्शन में परिलक्षित जीवन से नहीं है। बुद्ध, वाल्मीकि, वेदव्यास, कबीर, तुलसी, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी दयानंद, श्री अरविंद, रमण महर्षि और गांधी ये सब भी सामाजिक अनुभव-प्रवाह की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। जीवन्त दर्शन अनुभव की इस धारा से जुड़ता है। संस्कृत के पंडित इस प्रवाह से विच्छिन्न साँप की केंचुल को ही साँप मानकर पीटने में लगे रहे और आंग्ल भाषा-भाषी वाच्य-विच्छिन्न शब्दों की अनुवृत्ति में अपने को धन्य मानते रहे। अवश्य इन दोनों वर्गों में कुछ इन सीमाओं का अतिक्रमण करने में न्यूनाधिक सक्षम चिन्तक भी हुए, विशेषत: दूसरे वर्ग में - जैसे श्री कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य। कुछ भारत की प्राचीन परंपरा के नवीनीकरण में समर्थ चिन्तक भी हुए, जिनमें श्री अरविन्द प्रमुख हैं, किन्तु इतने से, देश में कोई दार्शनिक चिन्तन का जीवन्त वातावरण नहीं बन सकता था। स्वतंत्रता के पश्चात् युग में उपर्युक्त दोनों वर्गों या किसी एक वर्ग से कोई एक भी दार्शनिक चिन्तक हुआ है अथवा नहीं, इसकी थाह लेना अभी शेष ही है। तो भी, वाराणसी, कलकत्ता, त्रावणकोर, जयपुर, बड़ौदा, पुणे, काश्मीर आदि में संस्कृत में प्राचीन परंपरा का जीवन्त प्रवाह और इंडियन फिलॉसफिकल कांग्रेस, अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, दर्शन की कुछ पत्र-पत्रिकाओं, बहुत सी दार्शनिक पुस्तकों और संकलनों का प्रकाशन, इन सबमें नवचिंतन के प्रयत्न—ये सब इस देश के मानस में दर्शन के महत्त्व के द्योतक हैं और देश में दार्शनिक गतिविधि को बनाये हुए हैं। **''स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण : समेकित दार्शनिक विमर्श''** डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा यह संकलन इस मानस की सक्रियता का और इस क्रिया के रूप-गुण का एक बहुत ही उत्कृष्ट प्रतिनिधि कहा जा सकता है।

२६ सितंबर, २००४
पी.५१, मधुवन पश्चिम
किसान मार्ग, जयपुर-३०२०१५

(यशदेव शल्य)

प्रस्तावना

वैचारिक स्वराज एवं भाषीय राजपथ

आधुनिक भारत के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी अपने प्रारम्भिक और पार्यन्तिक रूप में सृजनात्मक राष्ट्रीयता के नवजागरण की सदी रही है। इस काल खण्ड में भारतभूमि पर इतने अधिक क्रान्तदर्शी मनीषियों का अवतरण हुआ जो एक राष्ट्र के लिए तो क्या किसी भी सभ्यता के लिए अनुपम और अतुलनीय कहा जा सकता है। एक ओर राष्ट्रवादी विचारकों की लम्बी परम्परा तो दूसरी ओर राष्ट्रवादी कवियों एवं साहित्यकारों की उतनी ही लम्बी पांत से अभिभूत हुए बिना हम नहीं रह सकते जिन्होंने भारतीय संस्कृति का साक्षात्कार वस्तुत: "विश्ववारा[1]" के रूप में किया था। यदि उन सभी का यहाँ नामत: उल्लेख न भी किया जाये तो भी समवेत रूप में इतना तो कहा ही जा सकता है कि उनमें से प्रत्येक के पास एक पूरी की पूरी सभ्यता को दिशा देने की क्षमता और अन्तर्दृष्टि थी। वर्तमान के युगबोध और परम्परा से प्राप्त ऐसी ही क्षमता एवं दार्शनिक दृष्टि को स्वायत्त कर सभी ने अपने-अपने तरीके से भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों को समझने, सृजित करने और विस्मृत सांस्कृतिक आत्मगौरव को जगाने का प्रयास किया था। वही आत्मगौरव जिसे सिकन्दर से लेकर जनरल डायर तक अनगिनत बार कुचलने का प्रयास किया गया, लेकिन हर बार उसने अपनी ही भावभूमि पर अमृतनाभ की स्रोतस्विनी शक्ति से आक्रान्ताओं को पराभूत करते हुए अपनी अस्मिता को अब तक बनाये रखा है।

मुगलों के द्वारा उत्पन्न सांस्कृतिक विप्लव से तो भक्ति आन्दोलन के द्वारा हम उबर गये थे लेकिन १९४७ में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् अंग्रेजों के द्वारा छोड़े गये सांस्कृतिक हादसे से उबरने के लिए हमने जिस रास्ते पर चलना शुरू किया उसका गन्तव्य क्या है ? वह आज भी सही अर्थों में एक अनसुलझी पहेली ही बना हुआ है। भारत में इस मुद्दे को लेकर आज तक बहस बंद ही नहीं हो पायी कि स्वतंत्रतासिद्धि और राष्ट्र निर्माण के लिए जिन उपक्रमों को क्रियान्वित किया गया उसमें हमने अपने ही क्रान्तद्रष्टाओं की उन्नायक दृष्टियों को कहाँ तक आत्मसात् किया है ? इसमें दो राय नहीं कि हमारा लक्ष्य था "पूर्ण स्वराज" लेकिन वास्तव में हमने समझौता किया काम-चलाऊ राजनैतिक और आर्थिक स्वतंत्रता से जिसका भूमण्डलीकरण के युग में सम्प्रति कोई खास महत्त्व नहीं रह गया है। स्वतंत्रता प्राप्ति के ठीक डेढ़ दशक बाद पं. नेहरू ने अपनी मनसा जाहिर करते हुए कहा था कि "हम लोग न केवल जनतांत्रिक तरीके से देश के औद्योगीकरण में लगे हैं बल्कि भारतीय दर्शन और भारतीय जीवन-विद्या की मौलिकता का संरक्षण भी करना चाहते हैं "।[2] यह वक्तव्य अपने कथ्य एवं अभिप्राय की सम्पादनात्मकता में "किये जा रहे" और "करना चाहते हैं" के भेद के साथ आगे की सम्पूर्ण कथा को स्वयं ही अप्रकट रूप से प्रकट कर देता है। हाँ, भारतीय जीवन-विद्या को संरक्षित करने के लिए

---

१. *सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा - यजु. (९-१४)*

२. *जवाहर लाल नेहरू, प्राक्कथन, फिलियोजा, इण्डिया (१९६२)*

संग्रहालय और १७८४ से ही एशियाटिक सोसायटी जैसी संस्थायें तथा भारत के बौद्धिक विरासत एवं घर-घर में जीवन्त पाण्डुलिपियों को संग्रहीत करने के लिए सरस्वती भवन जैसे अभिलेखागार तो बनाये ही जाने लगे थे।

अवधेय है कि सभ्यता और संस्कृति के बहुआयामी एवं बहुध्रुवीय विश्व परिदृश्य में भारत एक राष्ट्र, भौगोलिक सीमाओं वाला एक देश ही नहीं, बल्कि आधा ग्लोब है। आज जब एक ''बलीयसी विश्व सभ्यता'' शेष विश्व की सभ्यता एवं संस्कृतियों के गतिशील जीवन को उनके घर में ही निस्तेज और अप्रासंगिक बनाती जा रही है, अपनी चौहद्दी बताने के लिए अपने दोनों पंखों (विज्ञान एवं तकनीक) को आताल-पाताल तक फैला दिया है, हमें बहुत सतर्कता बरतने की जरूरत है। सम्पूर्ण विश्व के अप्रतिहत यूरोपीयकरण की विश्वव्यापी प्रक्रिया में जब हमें अन्दर और बाहर दोनों ही तरफ से बदलने का ऐतिहासिक चक्रव्यूह रचा जा रहा हो तो आधुनिक भारत के निर्माण की कोई भी योजना उसके अतीत के गौरव और परम्परा के प्राक्तन प्रत्ययों से काटकर नहीं बनायी जानी चाहिए। यदि बनायी भी जाती है तो उसका विद्रूप होना उतना ही अवश्यंभावी होगा। विश्व इतिहासकार प्रो. लोवेस डिकिन्स की यह टिप्पणी बहुत ही समीचीन थी जिन्होंने भारतीय संस्कृति की स्वायत्तता को वैश्वीय परिप्रेक्ष्य में देखते हुए हमारा ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट किया था कि ''वास्तव में विरोध जितना एशिया और यूरोप के बीच नहीं, उससे कहीं अधिक और उग्र विरोध भारत और शेष विश्व के बीच है।'' यही विरोध वास्तव में भारत को सम्पूर्ण विश्व के अप्रतिहत यूरोपीयकरण के विरोध में एक सशक्त विकल्प बनने की प्रेरणा और अधिकार प्रदान करता है। अतएव आधुनिक भारत के निर्माण के लिए आवश्यक है कि हम अपनी ही वाङ्‌निधि से विस्मृतप्राय लेकिन अब भी प्राणदा शक्ति से सम्पन्न उन साधनों एवं दृष्टियों को खोज निकालें और उनका सुरक्षित तथा युगीन उपयोग करें जिसके चलते भारतीय विश्व-दृष्टि एक पूर्ण सभ्यता और संस्कृति के रूप में मण्डित होती रही है।

पश्चिम का मानना है कि प्रगति उसी की परिभाषा से परिभाषित होती है और विकास की चरम अवस्था को उसी के बताये मार्ग पर चलकर प्राप्त किया जा सकता है। यह बात भी सही है कि पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान ने मानव जीवन के नये-नये भौतिक और मनोवैज्ञानिक आयामों को उभारा है और जगत् को अधिकाधिक उपभोग्य एवं उपयोगी बनाया है परन्तु उसमें मूलगामिता का अभाव भी शुरू से ही रहा है। यही कारण है कि आज भी पश्चिमी दृष्टि से यह प्रश्न समुचित उत्तर की अपेक्षा रखता है कि उसने मानव के अन्तर्तम में निहित अभीप्साओं एवं पर्येषणाओं के साथ कहाँ तक न्याय किया है? विकास का भौतिक रूप एक सीमा तक ही उपयोगी और सुपाच्य होता है। बाद में इसे बनाये रखने के लिए जरूरी है कि विकास को आत्मलाभ में रूपान्तरित किया जाय और यह धर्म, परम्परा एवं संस्कृति से अनुप्राणित उपभोग और उत्पादन की प्रवृत्ति से ही सम्भव होता है। विकास का ऐसा कोई वस्तुनिष्ठ रूप ही नहीं जो सार्वभौमिक हो। तब भी पश्चिमी दृष्टि, चाहे जैसी भी हो, उसने अपनी व्याप्ति को इस धरती के कोने-कतरे तक विस्तृत कर लिया है और इस प्रकार एकबारगी कोई उसे नकार भी नहीं सकता। भारतीय संस्कृति और जीवन दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में उसकी प्रतिष्ठा वर्तमान और अतीत के मध्य एक मध्यस्थ सत्व के रूप में हो गई है। आधुनिकता के नाम से तत्क्षण आकर्षक लगने वाली इस मध्यवर्ती तथ्यात्मकता को एक स्थायी अतिथि के रूप में स्वीकृति देने के लिए हम विवश हो गये हैं। अतएव आज पश्चिमी दृष्टि को पूरी तरह नकारने की जरूरत नहीं है, बल्कि उसे, उसकी शर्तों पर नहीं, अपनी शर्तों पर सजगता के साथ आत्मसात् करने की जरूरत है। साथ ही साथ भारतीय संस्कृति के वैचारिक

धरोहर का वास्तविक उत्तराधिकार प्राप्त करने के लिए पश्चिमी ज्ञान-विधाओं को पूरी तरह स्वायत्त कर लेने के उपरान्त सांस्कृतिक आत्मविश्वास की स्वार्जित भूमि पर भारतीय परम्परा का गहराई से मंथन करते हुए उसे साम्प्रतिक समीचीनता के साथ प्रस्तुत करने की महती आवश्यकता है।

ऐसा भी नहीं कि राजा राममोहन राय से लेकर गाँधी और उससे आगे कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य तक के मनीषियों ने अपनी-अपनी दृष्टि से ऐसे बौद्धिक प्रयास न किये हों, लेकिन विडम्बना यह रही कि विगत १२५ वर्षों में हम पश्चिम को आत्मसात् करने का ऐसा कोई मानदण्ड निर्धारित नहीं कर पाये जिसके आधार पर वर्तमान को अतीत से निष्कृष्ट करते हुए भविष्य की भारतीय संस्कृति को धारण करने के योग्य एक सशक्त बौद्धिक ढाँचा निर्मित हो सके। ऐसा बौद्धिक ढाँचा जो दासता एवं औपनिवेशिक मनोवृत्ति से सर्वथा मुक्त हो और जिसमें परम्परा की टूटी हुई कड़ियों को जोड़ने के लिए अपनी ही परम्परा के मूलभूत प्रत्ययों का सार्थक उपयोग एवं स्थायी अतिथि के रूप में पश्चिम के रूप-विरूप की सजग समीक्षा की गई हो।

हम ऐसा नहीं कर पाये, इसके पीछे अनेक कारण बताये जा सकते हैं, और वैसे ही अनेकानेक अपहितियाँ भी गिनाई जा सकती हैं। परन्तु इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह रहा कि हमने वैचारिक स्वराज की सिद्धि के लिए उस "राजपथ" को नहीं अपनाया जिस पर चलकर ही वास्तव में वैचारिक स्वराज की प्रतिष्ठा हो सकती थी। वह राजपथ था -"भाषिक राजपथ" और उस पर चलने का स्वातंत्र्य जो अपने आप में इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसे "पूर्ण स्वराज" के एक आवश्यक अंग के रूप में "भाषिकीय स्वराज" से अभिहित किया जा सकता है। सचमुच मनुष्य होने का अर्थ भाषा में होना है और अपनी भाषा में होने का मतलब अपने सांस्कृतिक विश्व में अपने को पाना है। यदि कोई अपनी भाषा में नहीं है तो इसका मतलब है कि वह अपने घर से ही बेघर है। इसी भाव-बोध के अभाव में हम अन्दर ही अन्दर छले गये, अपने ही घर से बेघर होते रहे और सांस्कृतिक सर्जना के प्रत्येक क्षेत्र में यूरोप का अन्धानुकरण कर गर्वस्फीत होते रहे। क्या कालिदास की तुलना शेक्सपीयर से, शंकर की तुलना हेगेल एवं ब्रैडले से, नागार्जुन की तुलना काण्ट से और उससे भी आगे बढ़कर जब-जब यूरोप में जिन-जिन ज्ञान-विधाओं का फैशन रहा, पूरे भारतीय वाङ्मय में उस-उस की सतही अनुरूपता खोजना हमारी अजीबोगरीब औपनिवेशिक मनोवृत्ति को नहीं दर्शाता ? हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि जैसे अर्यमा अपने अनन्त किरणों के माध्यम से धरती पर उतर कर विश्व को आलोकित करता है - "वैसे ही ऋतगोपा वरुण के सहस्रद्वार घर तक पहुँचने के उतने ही वाग्पथ हैं। परन्तु उनमें भी अपने ही सांस्कृतिक अतीत और जीवित परम्परा द्वारा निर्मित और निर्दिष्ट पथ ही ऋजु मार्ग है। अपने भूत और वर्तमान को जोड़ने का कठिन परन्तु सीधा रास्ता है। वैसे तो टेढ़े-मेढ़े रास्तों पर, राजमार्ग छोड़कर भटकने का भी अलग-अलग सुख है, अपनी कुछ अलग उपलब्धियाँ हैं, परन्तु लौटकर सीधा रास्ता पकड़ सकने में ही आत्मलाभ का आनन्द है।"[३]

प्रत्येक राष्ट्र का अपना एक अलग विश्व होता है और वह "विश्वसत्ता" उस राष्ट्र की संस्कृति और संस्कारों के भाषा-सदन में निवास करती है। अत: "भाषा" जो हम सोच रहे होते हैं उसे ही व्यक्त करने का तटस्थ माध्यम मात्र नहीं, बल्कि साथ ही साथ परम्पराक्रम में जो सोचा जा चुका है, उससे युगनद्ध भी होती है। यही कारण है कि परम्परा के जमे हुए प्राक्तन पद चिन्ह भाषा में पूरी तरह कभी नहीं मिटते। उसमें एक जाति के सांस्कृतिक बिम्ब, ऐतिहासिक स्मृतियाँ और पारम्परिक संस्कारों के मूल

३. *जड़ावलाल मेहता, कविकर्म और चिन्तन : सर्जना के दो आयाम (आभार से)*

स्वर अनुगुंजित होते रहते हैं। आखिरकार ''भाषा'' है तो एक अलग प्रकार के विश्व की परिचायिका और उस विश्व सत्ता का निकेतन। भवभूति द्वारा वाक् को आत्मा की कला से अभिहित किया जाना कुछ इसी प्रकार की मूलभूत दृष्टियों को उन्मीलित करता (वन्देमहि च तां वाचममृताम् आत्मन: कलाम्)। अतएव एक भाषा जब अपनी विश्वसत्ता को अनुप्राणित करने के बजाय दूसरी विश्वसत्ता को अनुप्राणित करने के लिए सम्प्लवित होती है या अपने सदन में दूसरी भाषा को प्रवेश की खुली छूट दे देती है तो परिणामत: दोनों सदन में विकार उत्पन्न होता है। इसका मतलब यह नहीं कि कोई भाषा दूसरी भाषा के लिए अपने द्वार को सदा के लिए बन्द कर ले। हमारे कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि अंग्रेजी भाषा और पश्चिमी साहित्य तथा संस्कृति का प्रभाव हमारी सृजनात्मकता को समृद्ध एवं व्यापक बनाने में उसी सीमा तक उपयोगी हो सकते हैं, जिस सीमा तक हमारी भाषा और साहित्य अपने परम्परागत स्रोतों से प्रेरणा शक्ति अर्जित करते रहते हैं। यदि हमारी भाषा और हमारे साहित्य अपनी परम्परा से कटकर प्रेरणाओं को आयातित कर अपने को रचने लगें तो वह विकार नहीं तो क्या संस्कार कहा जायेगा? यह विकार समकालीन और साम्प्रतिक भारतीय चिंतन के सभी क्षेत्रों में भली-भाँति देखा जा सकता है। इससे बचने का सर्वाधिक सुरक्षित मार्ग था भाषिक राजपथ पर शुरू से ही चलना। अर्थात् हिन्दी जो भारत की समग्र-अस्मिता की भाषा है उसे क्रियात्मक संकल्प के साथ चरितार्थ करना। स्वयं हिन्दी के लिए भी, इस प्रकार वैचारिक स्वराज-सिद्धि की ''राजपथ'' की महिमा से मण्डित होने के लिए आवश्यक है कि वह तीन सहस्त्र वर्षों में संचित अपने यहाँ की दार्शनिक शब्दराशि का अद्यतन चेतना के स्तर पर सत्कार करे, तीन शताब्दियों की टूटी हुई भाषिक परम्परा से फिर जुड़े और उसे आत्मसात् कर अपनी आत्मा को समझने में सक्षम बने। यद्यपि यह कोई आसान कार्य नहीं तथापि एक ऐतिहासिक द्विधारी प्रक्रिया से यह सम्भव हो सकता है, अर्थात् एक ओर भाषा के समृद्धिकरण की निर्माण प्रक्रिया और दूसरी ओर विसर्जन की प्रक्रिया। भाषा-निर्माण की प्रक्रिया से हमारा तात्पर्य हिन्दी के अर्थवती होने से है जो विचार के स्तर पर सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय से जुड़ने से ही सम्भव है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने बहुत संवेदनशील शब्दों में 'अनेक में एक' की अद्भुत भारतीय भाषायी परम्परा को रेखांकित करते हुए कहा था कि ''हमारे देश ने हजारों वर्ष पहले भाषा की समस्या हल कर दी थी। हिमालय से सेतुबन्ध तक सारे भारतवर्ष में धर्म, दर्शन, विज्ञान, चिकित्सा आदि विषयों की भाषा कुछ सौ वर्ष पहले तक एक ही रही है। यह भाषा संस्कृत रही है। भारतवर्ष का जो कुछ श्रेष्ठ है, जो कुछ उत्तम है, वह इस भाषा के भण्डार में संचित किया गया है। जितनी दूर तक इतिहास हमें पीछे कर ले जा सकता है, उतनी दूर तक इस भाषा के सिवा हमारा दूसरा कोई सहारा दिखाई नहीं देता।'' पुन: आचार्य जी ने आगे कहा है-''मैं नहीं जानता कि संसार के किसी दूसरे देश में इतने काल तक और इतनी दूरी तक व्याप्त इतने उत्तम मस्तिष्क में विचरण करने वाली कोई भाषा है या नहीं, शायद नहीं है।'' विसर्जन की प्रक्रिया से हमारा तात्पर्य चेतना के धरातल पर हिन्दी भाषा में विकार उत्पन्न करने वाले गैर भाषीय परम्परा की कोटियों एवं पश्चिमी अनुभवों से अन्तरायित संस्कारों के विसर्जन से है। हिन्दी ऐसी ही निर्मायक प्रक्रिया से गुजरकर अपने राष्ट्र की विश्वसत्ता का निरापद सदन और भारत में वैचारिक स्वराज-सिद्धि के लिए ''राजपथ'' बन सकती है।

स्वतंत्र भारत में ''हिन्दी'' को राष्ट्रभाषा का दर्जा तो दिया गया लेकिन वैचारिक स्वराज के राजपथ के रूप में उसके विकास और शास्त्रीय महत्त्व के लिए सायास कुछ वैसा नहीं किया गया। ऐसा लगता है जैसे स्वातंत्र्योत्तर भारत को आकारित करने वाली संकल्पनाओं के लिए हिन्दी उपयुक्त

भाषा ही नहीं थी। शायद इसीलिए राज्य के साये में रहते हुए भी हिन्दी को राज्याश्रय नहीं प्राप्त हुआ। यह भी एक बिडम्बना ही कही जायेगी कि स्वातंत्र्योत्तर भारत के स्वरूप को रचने के लिए स्वदेशी दृष्टियों एवं पारम्परिक प्रत्ययों को नींव में नहीं रखा गया और उसके बदले आधुनिकता के नाम पर विश्व को लौकिकीकरण की ओर ले जाने वाली प्राटेस्टेण्ट ईसाईयत समर्थित यूरोपीय दृष्टियों एवं प्रत्ययों को बे-रोक-टोक आयातित कर लिया गया। क्योंकि यह विचारधारा उन्नीसवीं सदी में अन्य धाराओं से मिलकर पश्चिमी दुनिया में अपने को सबसे ताकतवर सिद्ध कर चुकी थी। विज्ञान और तकनीक के साथ इसके गठबन्धन ने तो इसे भस्मासुर जैसी शक्ति प्रदान कर दिया है। भारत में नवजागरण के अग्रदूत राजाराम मोहन राय इसके प्रबल "उद्‌गाता" और पं. नेहरू इसके सबल "होता" रहे हैं। यह एक कटु सत्य है कि राजाराम मोहन राय की नवजागरण दृष्टि एवं उनके द्वारा प्रवर्तित सुधार आन्दोलन की समूची प्रेरणा प्रोटेस्टेण्ट ईसाईयत की उस लौकिकतापरक विश्व दृष्टि से ग्रहण की गई थी जिस दृष्टि को नीत्शे ने बहुत पहले ही "पृथ्वी पर उगता हुआ मरुस्थल" और हुसर्ल-हाइडेगर ने "दीप्ति विहीन संसार" तथा मानव का "बेघर हो जाना" कहा था। हेनरी वेयर को सम्बोधित एक पत्र में राजाराम मोहन राय[४] ने लिखा था- यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान तथा ईसाई नैतिकता के जितने भी सुयोग्य शिक्षक भारत भेजे जा सकें, उनका सहर्ष स्वागत है; हालांकि ईसाई नैतिकता को मैं ईसाईयत के धार्मिक मतवादों से मुक्त पाना चाहूँगा, देशवासियों में ज्ञान के प्रसार हेतु"। राजाराममोहन राय[४] के द्वारा इस प्रकार की सीधी कार्यवाही किये जाने के बावजूद कुछ लोग उनके समर्थन में उनके दृष्टिकोण की चयनधर्मी व्याख्या करते हैं। लेकिन यह केवल कहने की बात ही हो सकती है कि वे प्रोटेस्टेण्ट नैतिकता को उपयोगितावादी दृष्टि से अपनाना चाहते थे। वास्तविकता जबकि यह है कि आधुनिकता जैसे अपनी अवधारणा में ही प्रोटेस्टेण्टवाद तथा विज्ञान एवं तकनीकी को अन्तर्निहित किये हुए है वैसे ही प्रोटेस्टेण्टवाद की तथाकथित नैतिकता उनके धार्मिक मतवादों में ही मूलित अवधारणा है। इसके विपरीत गाँधी जी की दृष्टि आधुनिकता की विरोधी नहीं थी, बल्कि पश्चिमी सभ्यता की कटु आलोचना पर आधारित उसे सही अर्थों में आधुनिकता का स्वदेशी संस्करण कहा जा सकता है। भाषा के सम्बन्ध में भी उनकी सोच बुनियादी थी। प्रायमरी शिक्षा में अंग्रेजी को न रखने की उनकी सोच को बहुत दूरगामी और आधारिक कहा जा सकता है। परन्तु स्वतंत्रता के पश्चात् पं. नेहरू ने जब देश की बागडोर संभाली तो वे गाँधी की अपेक्षा राजाराममोहन राय के ही प्रबल और सफल उत्तराधिकारी सिद्ध हुए। दोनों की दृष्टियों में डिजीटल अनुरूपता को देखने से ऐसा लगता है कि दोनों के बीच में दयानन्द, विवेकानन्द, अरविन्द और गाँधी इत्यादि के विचारों की कड़ी ही विलोपित कर दी गई हो। इसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है कि पं. नेहरू ने इन सबको भुलाकर शत्-प्रतिशत् पश्चिमी दृष्टि से "किनशिप" स्थापित करते हुए आधुनिक भारत के नवनिर्माण की प्रक्रिया को क्रियान्वित किया। तब स्वाभाविक है कि इस आयातित दृष्टि से स्वातंत्र्योत्तर भारत का रंग-रोगन करने के लिए अंग्रेजी ही बनी-बनायी उपयुक्त भाषा हो सकती थी। हिन्दी को इस तथाकथित राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया का राजपथ बनने के लिए दीर्घकाल तक उसके साथ-साथ चलकर अपने को उस रूप में निर्मित करना पड़ता। इस तरह "हिन्दी" स्वतंत्र भारत में "राजभाषा" का दर्जा पाकर भी उपेक्षित रही और अंग्रेजी ही मुख्यधारा की भाषा बन बैठी। रही सही कसर लार्ड मैकाले की प्रचलित शिक्षा नीति ने पूरी कर दी। इसने भारत के बौद्धिक ढाँचे को इस तरह क्षतिग्रस्त किया जिससे हमारी तीन से पाँच हजार वर्षों की सांस्कृतिक

४. *उद्धृत-प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ. १००.*

सर्जना एवं नैरन्तर्य में एक स्थायी गतिरोध पैदा हो गया है। परिणामस्वरूप स्वातंत्र्योत्तर भारत का बौद्धिक ढाँचा अपने समृद्ध अतीत से कटकर बिल्कुल अलग-थलग पड़ गया है। हिन्दुस्तानियों के भीतर इसने ही एक ऐसे वर्ग को पनपाया (जिस वर्ग में हम आप सभी आते हैं) जो अपने देश, अपनी परम्परा और लम्बे अतीत से ज्यादा पश्चिम के बारे में जानते हैं। ज्ञान के हर क्षेत्र में हम केवल वही जानते हैं जिसे पश्चिम ने उपजाया है।

"द्रष्टव्य है कि हमारी सभ्यता का यह स्मृतिभ्रंश हमारे भीतर इतनी गहरी जड़ जमा चुका है कि हममें से अधिकांश इस तथ्य से बिल्कुल अवगत नहीं होते कि हम अपने इतिहास के हजारों वर्षों के दौरान इन सब ज्ञानात्मक उपलब्धियों और अभियानों से गुजर चुके हैं और गुजर कर ही यहाँ तक पहुँचे हैं। हमारी यह स्मृति भ्रष्ट बदहाली उसी शिक्षा पद्धति (भाषिक राजपथ पर चलने के स्वातंत्र्य से वंचित रहने के कारण भी) की देन है जो अंग्रेजों ने इस देश में रोपी थी और जिसकी परिणति एक भयानक रंगभेद सरीखे पार्थक्य में हुई है। एक तरफ वे लोग जो अभी तक किसी तरह ज्ञान की परम्परागत पद्धतियों से चिपके हुए हैं और दूसरी तरफ वे लोग जो उन विषयों का उस पद्धति से अध्ययन करते हैं जिसे "माडर्न" कहा जाता है। इन दोनों वर्गों में किसी तरह के संवाद या सम्प्रेषण की कोई गुंजाइश नहीं रह गई है। चूँकि ये माडर्न ही देश के वास्तविक सत्ताधारी एलीट के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके हैं और वही अपने को इस सभ्यता का एकमात्र प्रतिनिधि समझते हैं, इससे एक ऐसी विचित्र और असंगतियों से पटी हुई स्थिति पैदा हो चुकी है कि देश का सभ्यतागत अतीत, जिसने अपने आपको पाँच हजार वर्षों तक तमाम उथल-पुथल के बीच निरन्तर कायम, सक्रिय और रचनाशील बनाये रखा है, उसके सामने इतिहास की इस घड़ी में सम्पूर्ण आत्मविस्मृति और पूरी तरह उजड़ जाने का खतरा उपस्थित हो गया है।"[५]

यह खतरा पश्चिमी विद्वानों द्वारा प्रवर्तित और भारतीयों द्वारा बिना-विचारे अपना लिये गये इण्डोलॉजिकल दृष्टिकोण से और भी गहरा गया है। मैक्समूलर जैसे ओरिएण्टलिस्ट विद्वानों ने भारत के अतीत को उसके वर्तमान से इस तरह विभाजित कर दिया, जैसे इन दोनों के बीच साहित्य और संस्कृति के कोई सम्बन्ध सूत्र ही न हों। उनकी दृष्टि में भारत का वर्तमान उसके "गौरवपूर्ण" अतीत का भ्रष्ट संस्करण मात्र था। ऐसा संस्करण जिसका कि कोई अपना भविष्य नहीं था, बजाय इसके कि वह यूरोपीय साहित्य, संस्कृति और लौकिकीकरण वाली विश्वदृष्टि के विश्वव्यापी अभियान में ढालकर स्वयं को अपने अतीत से हमेशा के लिए मुक्त कर सके। दूसरे, इस दृष्टिकोण के अनुसार भारतीय सभ्यता के बौद्धिक अतीत को अभिलेखागारों तथा वातानुकूलित पुस्तकालयों में सुरक्षित कर लेना चाहिए (जिस तरह प्राचीन ग्रिस में लोग शवों को ममी बनाकर दफनाते थे) ताकि वे अध्ययन एवं शोध के लिए उपर्युक्त सामग्री की तरह सुलभ हो सकें। आनन्द कुमार स्वामी ने बहुत पहले ही पश्चिम के ओरिएण्टलिस्ट विद्वानों की व्याख्या और अनुवाद धर्मी कर्म पर टिप्पणी करते हुए कहा था कि "उन्होंने भारत के प्राचीन दर्शनों, धर्मशास्त्रों और तत्त्वज्ञान की पुस्तकों के बीज-पदों एवं प्रत्ययों के जो अनुवाद किये हैं, वे सिर्फ भ्रमों की धुंध पैदा करते हैं। इसका सीधा कारण यह है कि वे इन प्रत्ययों के सांस्कृतिक सन्दर्भ को समझने में पूरी तरह विफल रहे हैं। सच तो यह है कि इन अनुवादों को अस्वीकार कर ही इन ग्रंथों के मूल सत्य को जाना जा सकता है।"

यदि देखा जाय तो उपर्युक्त सभी परिस्थितियों के बावजूद हमारे देश में हिन्दी साहित्य का विकास अपेक्षाकृत तीव्र गति से हुआ है और वह भी स्वायत्तपोषित रूप में। यह भारत में ज्ञान की दूसरी विधाओं के लिए प्रेरणास्पद एक अच्छा उदाहरण हो सकता है। इसका एक कारण तो यह रहा कि हिन्दी सामाजिक सरोकार और संवेदनाओं तथा हमारे लोक-जीवन में रची-बसी भाषा थी और जल्दी

५. *उद्धृत-प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ. १३.*

ही इसने तमाम क्षेत्रीय बोलियों से ऊपर अपने को स्थापित कर लिया था। इसका दूसरा कारण यह रहा कि नवजागरण काल के कवियों एवं साहित्यकारों के रूप में इसे पूर्वजों की शुद्ध और संस्कृतिनिष्ठ विरासत मिली थी जो अभी बहुत पुरानी नहीं थी। इसी के चलते हिन्दी साहित्य में विकृतियों का दौर भी कुछ काल बाद शुरू हुआ लेकिन आज वह इतना बढ़ चुका है कि हिन्दी साहित्य की साम्प्रतिक प्रयोगधर्मी सृजनशीलता विचार एवं व्याकरण दोनों ही धरातल पर अपनी शास्त्रीय परम्परा से बैर साधने में ही फलित हो रही है। ओरिएण्टलिज्म के उपागमों अथवा कहें षड्यंत्रों का सबसे बुरा प्रभाव भारत के दार्शनिक और समाजशास्त्रीय ज्ञान के विकास पर पड़ा जो वास्तव में हमारे बौद्धिक और सामाजिक व्याकरण के लिए धातु और प्रत्यय की तरह थे। समाजशास्त्र के क्षेत्र में तो पश्चिमी समाज विज्ञान को आकण्ठ अपना लिया गया जैसे भारतीय सामाजिक, सांस्कृतिक चिन्तन जैसी कोई चीज नहीं रही। हाँ, भारतीय समाजशास्त्रीय चिन्तन के नाम पर हमें ओरिएण्टलिस्ट षड्यंत्रों के तहत खोजे गये रंग-भेद सरीखे अनेको शगूफे, विष-बीज पकड़ा दिये गये जो हमारे लोक-जीवन की समरसता को आज पूरी तरह से विषाक्त कर चुके हैं, हमारे समाज के एकीकृत ढाँचे को फांक-फांक कर दिये हैं। लगता है उत्तर आधुनिकतावाद की विखण्डनवादी पद्धति का सफल प्रयोग पश्चिम ने ओरिएण्टलिज्म के नाम पर भारत जैसे पूर्वी देशों के धर्म, समाज, संस्कृति और इतिहास की एकसूत्रता को छिन्न-भिन्न करने के लिए बहुत पहले ही शुरू कर दिया था। इसी के समानान्तर एक दूसरी पश्चिमेतर विचारधारा ने ओरिएण्टलिज्म द्वारा खोजे और बोये गये विष-बीजों का अपने पक्ष में उपयोग करते हुए भारतीयता के बौद्धिक ढाँचे को बिल्कुल नये रूपों में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है और भारत के अन्दर ही अपने समर्थकों की एक बहुत बड़ी तादाद, क्रान्तिकारी दस्ता के साथ पैदा किया है - वह है वामपंथी विचारधारा। इसकी एक खतरनाक विशेषता यह है कि ओरिएण्टलिज्म अपने पाँव पसारने के लिए हिन्दी को सदैव विस्थापित करती थी लेकिन इसने हिन्दी भाषा का प्रयोग "बायपास" के रूप में किया। अब तो ईसाई मिशनरियाँ भी अपने धर्म प्रचार के लिए इस तकनीक का सफल प्रयोग करना सीख चुकी हैं। अपने "सैक्रेट सौंग्स" को वे भारत के आँचलिक लोकगीतों की पदावली में अनुवाद कर प्रार्थना सभाओं में श्रद्धा-भक्ति से गाते हैं। ऐसे ही भारत में दक्षिणपंथी विचारधारा जो इन सब के विरोध में भगवा ध्वज उठाये चलती है, उसका भी भारतीयता के सम्बन्ध में एक विशेष प्रकार का दृष्टिकोण है जिसे अनावश्यक कट्टरता उपजाने वाला कहा जा सकता है। इस दृष्टि से उन्हें भी पुरस्कृत नहीं किया जा सकता क्योंकि भारत के बौद्धिक ढाँचे में कट्टरता के लिए कोई स्थान नहीं है। यह एक मध्यवर्ती तथ्य के रूप में अकस्मात् उत्पन्न विजातीय प्रवृत्तियों को दबाने के लिए उपादेय तो हो सकता है लेकिन 'सम्पूर्ण' नहीं।

"अतएव ऐसी स्थिति में जो इस बात की आकांक्षा रखते हैं कि भारत केवल पश्चिमी सभ्यता के सागर में लुप्त एटलाण्टिस या फिर फिलीपीन्स, मैक्सिको आदि के समान न बने और जिन्हें भारत की नियति पर विश्वास है कि भारत अक्षय अध्यात्म विद्या का स्रोत है, उनके लिए यह अनिवार्य है कि स्वतंत्रता से पूर्व उजागर हुए उस मार्ग पर चलना बन्द न करें और भारतीय परम्परा के प्रश्न को आजकल के परिवेश में फिर से जाँचें।"[६] इतना ही नहीं उसी को "राजपथ" समझें और दृढ़ता के साथ उसी पर चलते हुए अपने भाषिक स्वराज और भाष्यधर्मी अभियान को क्रियान्वित करें ताकि राष्ट्रीयता, परम्परा, आध्यात्मिकता और भाषा का "चतुर्भुज" प्रकट हो सके। पश्चिमी अनुभव और पश्चिमी अस्मिता से

६. *उद्धृत-प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ. ६७.*

मुक्त अपने जातीय अनुभव और जातीय अस्मिता से युक्त सांस्कृतिक जीवन की गतिशीलता को फिर से प्राप्त करने के लिए ऐसे बौद्धिक पुरुषार्थ और तदनुरूप ही भाष्यधर्मी सर्जना को जगाना बहुत आवश्यक है।

यह कार्य व्यक्तिगत संकल्प और अकादमिक संस्थाओं के माध्यम से ही किया जा सकता है। व्यक्तिगत संकल्प की बात न कर यदि संस्थागत प्रयासों की बात करें तो भारत में आज ऐसी कोई पहल होती हुई दिखाई नहीं देती। स्वतंत्रता से पूर्व उपर्युक्त भाष्यधर्मी पुरुषार्थ को जगाने का प्रयास कई एक छोटी-छोटी संस्थायें निजी तौर पर कर रही थीं ; परन्तु उनका यह असंगठित प्रयास उन्हीं दिनों में फैल रहे ओरिएण्टलिज्म के संगठित प्रयास और स्वातंत्र्योत्तर पश्चिमीकरण की बाढ़ में बिना कोई पहचान बनाये काल-कवलित हो गया। स्वतंत्र भारत में जो विभिन्न राष्ट्रभाषा परिषदें और हिन्दी अकादमियाँ बनायी गईं उनकी बदहाली एवं भ्रष्टाचार की कथा उनके वर्तमान स्वरूप से सुनी और देखी भी जा सकती है। ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित जो भारतीय अनुसन्धान परिषदें स्थापित की गईं वे सभी अंग्रेजी के प्रति एकरेखीय निष्ठा का निर्वाह आज तक बड़ी जतन से कर रही हैं। वैसे ही ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न विधाओं से सम्बन्धित जो कांग्रेस, ऐसोसियेशन इत्यादि गठित हुए उनमें आज तक हिन्दी माध्यम के लिए कोई स्थान ही नहीं बन पाया। आज भी हिन्दी माध्यम से सोचने-विचारने वाले लोग उनकी नजर में अछूत नहीं तो दोयम दर्जे के जरूर समझे जाते हैं। कुछ समय बाद उनकी इस प्रवृत्ति ने एक प्रतिक्रिया को जन्म दिया और हिन्दी माध्यम वाले परिषद् भी गठित होने शुरू हो गये। द्रष्टव्य है कि यह कार्य विशुद्ध वैचारिक और भाषिक स्वराज के महान लक्ष्य को सामने रखकर स्वतंत्रता पूर्व समय में महामना मदनमोहन मालवीय और राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के माध्यम से बहुत पहले ही शुरू कर दिया था। ऐतिहासिक दृष्टि से उनका यह कार्य अतीव महत्त्व का समझा जाना चाहिए। साहित्य सम्मेलन के अन्तर्गत ही ज्ञान-विज्ञान की सभी शाखाओं में हिन्दी माध्यम से चिन्तन किये जाने के आह्वान के साथ विभिन्न विषयों की परिषदें गठित की गई थीं और बाकायदा उनके वार्षिक अधिवेशन इत्यादि हुआ करते थे। भारत में दार्शनिक चिन्तन के लिए भी हिन्दी एक सशक्त माध्यम बने, इस उद्देश्य के साथ प्रथमतया दर्शन परिषद् की स्थापना भी साहित्य सम्मेलन के द्वारा ही हुई थी। इसका प्रथम अधिवेशन १९३२ ई. में ग्वालियर में हुआ था और लाला कन्नोमल ने अधिवेशन के सभापति के रूप में हिन्दी माध्यम से दार्शनिक चिन्तन करने का विधिवत् संकल्प और आह्वान किया था। तब से लेकर १९५० ई. तक यह दर्शन परिषद् खूब सक्रिय रहा और अपने संकल्प पथ को प्रशस्त करता रहा। इसके आरम्भिक प्रयासों के महत्त्व और दायरे का अन्दाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि उन दिनों में भी इस दर्शन परिषद् के अधिवेशन समारोह पूर्वक ग्वालियर, जयपुर, उदयपुर, कराँची, बम्बई, मेरठ, हैदराबाद एवं कोटा इत्यादि स्थानों में क्रमशः आयोजित हुए और भगवानदास, पुरुषोत्तमदास टण्डन, काकासाहिब कालेलकर, गुलाबराय, भीखनलाल आत्रेय, रमाशंकर द्विवेदी, बलदेव उपाध्याय, क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, क्षितिमोहन सेन, उमेश मिश्र, कमलाकान्त मिश्र, गोपाल शास्त्री एवं गंगानाथ झा सरीखे मूर्धन्य व्यक्ति इन अधिवेशनों के सभापति हुआ करते थे।[७] इस प्रकार भारत में विशुद्ध स्वदेशी भावभूमि पर हिन्दी माध्यम से दार्शनिक चिन्तन को बढ़ावा देने वाली वस्तुतः प्राथमिक संस्था साहित्य सम्मेलन की दर्शन परिषद् ही थी।

१९५० ई. के बाद किन्हीं कारणों से साहित्य सम्मेलन की दर्शन परिषद् मृतप्राय सी हो गई और

---

७. *प्रो. संगमलाल पाण्डेय ने उपर्युक्त सभी सभापतियों के भाषनों का सम्पादन "भारतीय दर्शन के जीवन्त प्रश्न" शीर्षक से किया है जो हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से प्रकाशित है।*

मुझे मालूम नहीं कि आज यह जीवित है भी कि नहीं अथवा यह कहा जाये कि इसने अपना कायान्तरण कर दूसरे जीवन और नये युग में प्रवेश पा लिया है। १९५४ ई. में फरीदकोट के एक २४ वर्षीय हिन्दी के साधारण अध्यापक द्वारा बिलकुल एकल संकल्प से इस दूसरे अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की स्थापना हुई और साथ में दार्शनिक त्रैमासिक नामक पत्रिका का भी शुभारम्भ हुआ। वास्तव में पत्रिका का प्रकाशन पहले हुआ और परिषद् की स्थापना सम्बन्धी औपचारिकतायें बाद में पूरी की गईं। फरीदकोट का यह अध्यापक और कोई नहीं आचार्य यशदेव शल्य थे जो आज स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन के शलाका पुरुष के रूप में विख्यात हैं। आचार्य यशदेव शल्य को इस परिषद् के गठन एवं पत्रिका के संचालन हेतु तात्कालिक सहयोग एवं साहस राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, बाबू सम्पूर्णानन्द जी, आचार्य नरेन्द्रदेव, श्रीराम माधव चिंगले और संगमलाल पाण्डेय से प्राप्त हुआ था। इनमें से आचार्य शल्य जी बाबू सम्पूर्णानन्द जी को परिषद् का रक्त एवं मज्जा तथा संगमलाल पाण्डेय को सह-संस्थापक की संज्ञा से अभिहित करते हैं।[८] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उन दिनों पं. नेहरू साहित्य अकादमी के अध्यक्ष रहे और उन्होंने परिषद् और पत्रिका को किसी प्रकार का अनुदान देने से इन्कार कर दिया था। भारतीय-दर्शन एवं भाषीय राजपथ पर उसके विकास के प्रति पं. नेहरू की नीयत को प्रकट करने वाला यह एक ऐतिहासिक उदाहरण है। आज जबकि अखिल भारतीय दर्शन परिषद् साहित्य के अतिरिक्त किसी अन्य विधा या विज्ञान के क्षेत्र में हिन्दी या किसी और भारतीय भाषा को माध्यम बनाने वाली एकमात्र, सर्वाधिक लम्बे उम्र की अप्रतिम संस्था है। भारत में यदि हिन्दी माध्यम से हुए दार्शनिक चिन्तन का इतिहास लिखा जायेगा तो अखिल भारतीय दर्शन परिषद् ही उस इतिहास का विग्रह और आचार्य यशदेव शल्य का दार्शनिक योगदान एवं दर्शन ही उसका सबसे लम्बा अध्याय होगा।

यदि देखा जाय तो साहित्य सम्मेलन के दर्शन परिषद् और आचार्य यशदेव शल्य द्वारा संस्थापित अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के उद्देश्यों में कोई मूलभूत अन्तर नहीं रहा है। दोनों का उद्देश्य था वैचारिक स्वराज के लिए भाषिक राजपथ का निर्माण और उस पर चलते हुए मौलिक दार्शनिक चिन्तन को बढ़ावा देना। परन्तु दोनों के समक्ष देश-काल और परिस्थितियाँ एक जैसी नहीं थीं। एतदर्थ उनकी प्राथमिकताओं में फर्क का होना स्वाभाविक है। पूर्व का दर्शन परिषद् हिन्दी साहित्य के साये में पलता था जबकि उत्तरकालिक दर्शन परिषद् ने अपने को स्वायत्त रूप में पाया और अपने अन्तर्गत ही साहित्य, समाज, संस्कृति, धर्म, इतिहास, नीति, तर्क, भाषा एवं विज्ञान को स्थान दिया। पूर्व के दर्शन परिषद् के समय हिन्दी राष्ट्रीयता की प्रतीकभूत भाषा थी और उस समय हिन्दी से केवल भाषा के प्रयोग स्तर पर भी जुड़ना राष्ट्रीय स्वाभिमान का विषय माना जाता था। उत्तरकालिक दर्शन परिषद् के काल में भारतीय दार्शनिक वातावरण पर पाश्चात्य-दर्शन का प्रभाव और अंग्रेजी भाषा का आकर्षण इतना बढ़ चुका था कि भारतीय दर्शन का अध्ययन भी हिन्दी माध्यम से किया जाना पिछड़ेपन का प्रतीक बन गया था। उन दिनों यह सिद्ध करना एक दुस्साहसिक कार्य था कि हिन्दी भी सृजनात्मक, मौलिक एवं तुलनात्मक दार्शनिक चिन्तन के लिए सशक्त माध्यम हो सकती है। अतएव पूर्व के दर्शन परिषद् की प्राथमिकता केवल भाषा और उसके प्रचार की थी लेकिन उत्तरकालिक दर्शन परिषद् के समक्ष भाषा और दार्शनिक साहित्य सृजन की दोहरी चुनौती आसन्न थी। वास्तव में केवल हिन्दी भाषा का विकास अपने आप में प्रयोजन अथवा साध्य नहीं हो सकता। इसे केवल एक व्यापक उद्देश्य का

८. *द्रष्टव्य- दार्शनिक त्रैमासिक, (वर्ष -४६- अंक-२-२००२) "अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की स्थापना और उसके दो आरम्भिक वर्ष" शीर्षक से आचार्य यशदेव शल्य का आलेख।*

अंगमात्र अथवा चरण ही माना जा सकता है। व्यापक अर्थों में हिन्दी के उत्कर्ष का अर्थ वही है जिसे गाँधी ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने में कहा था - "भारत को उसकी आत्मा में, उसके अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित करना।" आचार्य यशदेव शल्य परिषद् के आरम्भिक दशक में इसी उद्देश्य को चरितार्थ करने के लिए डटकर प्रयास करते हुए दिखाई पड़ते हैं। समर्थन के लिए जनाधार विकसित करने के बजाय उन्होंने दार्शनिक त्रैमासिक पत्रिका के माध्यम से सीधी कार्यवाही करते हुए ऐसे लोगों को अपने अभियान से जोड़ा जो भारतीय और पाश्चात्य दर्शन से सम्बन्धित हिन्दी में उच्चस्तरीय दार्शनिक साहित्य का निर्माण करने में सहायक हो सकते थे। परिणाम स्वरूप कम समय में ही परिषद् के द्वारा हिन्दी में बहुआयामी दार्शनिक साहित्य का निर्माण और उनका प्रकाशन किया जाना सम्भव हुआ।[९] उन कृतियों में भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन से सम्बन्धित ऐसी सामग्री उपलब्ध करायी गयी है जो हमें एक ओर भारतीय दर्शन के प्रति हीन भावना से ऊपर उठाती है तो दूसरी ओर पाश्चात्य दर्शन से अपनी शर्तों पर संवाद स्थापित करने की दिशा और शक्ति प्रदान करती है। सचमुच परिषद् द्वारा हिन्दी में उत्कृष्ट दार्शनिक साहित्य सृजन का जो अभियान चलाया गया था उसे स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण स्वर्णिम उषाकाल कहा जा सकता है। आचार्य यशदेव शल्य मानो स्वयं उसके उत्प्रेरक और पथ प्रदर्शक भी रहे, स्वयं को उन्होंने इसके माध्यम से प्रशिक्षित और निर्मित भी किया और इस अभियान ने अपनी पूर्णता को भी सम्भवत: उन्हीं के दार्शनिक चिन्तन में प्राप्त किया है। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् को येन-केन प्रकार से आचार्य यशदेव शल्य का ऐसा नेतृत्त्व एवं सहयोग विभिन्न भूमिकाओं में १९८० ई. के लगभग तक मिलता रहा है और बाद के वर्षों में उन्होंने अपने को परिषद् की संगठनात्मक गतिविधियों से निवृत्त कर लिया लेकिन इस तरह निवृत्त होकर भी उसी संकल्प पथ पर आज भी अवान्तर और उत्तर प्रयासों के साथ चल रहे हैं जिस पर उन्होंने १९५४ ई. से चलना प्रारम्भ किया था। वास्तव में ऐसे ही ईमानदार और उत्कट प्रयास से कोई क्रान्त-चेता प्रकट होता है और वही परम्परा का नव सर्जन करता है। ऐसे नवसर्जक के साथ अक्सर एक विडम्बना लगी होती है कि उसके समकालीन प्राय: उसे अन्यथा ही समझते हैं, यहाँ तक की परम्परा भंजक रूप में भी, लेकिन होता है वह वस्तुत: परम्परानुसारी ही और बाद की पीढ़ी जब उसे सही अर्थों में देखती है तो पाती है कि परम्परा उसमें उपाधिभूत नहीं बल्कि मूलित है।

बाद के वर्षों में अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के ऐतिहासिक विकास पर विचार करने पर प्रतीत होता है कि १९८० ई. से १९९० ई. के दशक में परिषद् अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा का व्यय यथास्थिति को बनाये रखने में ही करती रही। यथास्थिति हर कदम पर न्यून होते हुए वर्तमान में भी यथास्थिति ही कही जाती है। १९९० ई. तक आते-आते तो परिषद् की आर्थिक स्थिति और संगठनात्मक ढाँचा भी चरमरा गया था। निरहंकार पूण्य संकल्प से भी संस्थापित संस्थाओं का काल-विशेष में पतन नहीं होता, ऐसी बात नहीं लेकिन अवसान से पहले ही उनमें उर्ध्वगति भी शुरू हो जाती है। यहाँ आचार्य रेवतीरमण पाण्डेय और प्रो. श्रीप्रकाश दुबे (वर्तमान अध्यक्ष) का उल्लेख अस्थाने नहीं होगा जिनकी

९. *उस काल में परिषद् द्वारा प्रकाशित पुस्तकों की सूची इस प्रकार है - बौद्ध विज्ञानवाद (अनु. यशदेव शल्य), अनुभववाद (सम्पा. यशदेव शल्य), दार्शनिक विश्लेषण (यशदेव शल्य), समकालीन भारतीय दर्शन (सम्पा. के. सच्चिदानन्द मूर्ति), समकालीन पाश्चात्य दर्शन (सम्पा. यशदेव शल्य एवं के.एल. शर्मा), भारतीय मनोविज्ञान (सम्पा. नारायण शास्त्री द्राविड़), नृतत्त्व का समाज दर्शन (९ खण्डों में), समकालीन दार्शनिक समस्यायें (सम्पा. यशदेव शल्य), अपोह सिद्धि (अनु. एवं हिन्दी व्याख्या, गोविन्दचन्द्र पाण्डे), न्याय बिन्दु (अनु. एवं हिन्दी व्याख्या, गोविन्दचन्द्र पाण्डे), विषय और आत्म (यशदेव शल्य)।*

जोड़ी ने परिषद् को अवसान के समीप से उबारने के लिए एक सशक्त नेतृत्व प्रदान किया। आचार्य पाण्डेय की महिमा और प्रो. दुबे की संगठनात्मक क्षमता एवं प्रबन्ध कौशल के फलस्वरूप परिषद् की आर्थिक स्थिति एवं संगठनात्मक ढाँचे में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। परिषद् देश के कोने-कोने तक फैलते हुए विदेश (एफ.आई.एस.पी. से सम्बद्धता) तक जा पहुँचा। प्राय: ऐसा देखा जाता है कि इस प्रकार के संस्थानों की गतिविधियाँ अन्तर-विश्वविद्यालयीय सीमाओं में ही होती हैं लेकिन प्रो. दुबे ने परिषद् को दर्शनशास्त्र से जुड़े सीमान्त व्यक्तियों तक पहुँचाया। भारतीय समाज एवं संस्कृति में दर्शनशास्त्र की जो व्याप्ति है, उस दृष्टि से यह कार्य निश्चय ही एक ऐतिहासिक महत्त्व का कार्य कहा जा सकता है। अकादमिक दृष्टि से यदि इस काल में परिषद् द्वारा संचालित दार्शनिक प्रवृत्तियों पर दृष्टिपात किया जाये तो कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन के शास्त्रीय पक्ष एवं युगीन समस्याओं के प्रति दार्शनिक अभिवृत्ति तथा स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन को रूपायित करने के प्रयासों को प्राथमिकता दी गई है। जनाधार में अभूतपूर्व वृद्धि होने के चलते दार्शनिक त्रैमासिक पत्रिका का परिषदीकरण हो गया जबकि होना यह चाहिए कि दार्शनिक त्रैमासिक ही परिषद् का दार्शनिकीकरण करती रहे।

आज अखिल भारतीय दर्शन परिषद् अपनी स्थापना के पचास वर्ष पूर्ण कर चुका है और अपनी स्वर्ण जयन्ती मनाने जा रहा है, उसे अपनी प्राथमिकताओं पर पुनर्विचार करते हुए एक नये युग में प्रवेश करना चाहिए। उससे जुड़े बहुसंख्यक दार्शनिकों एवं दर्शनशास्त्रियों के द्वारा उन नवीन प्राथमिकताओं को चेतना के स्तर पर क्रियात्मक संकल्प के साथ अपनाया जाना चाहिए। भावी प्राथमिकताओं का निर्धारण, इस रूप में, अपने अतीत की गहन समीक्षा से ही सम्भव है। भारत के नवजागरण से जोड़कर स्वातंत्र्योत्तरकालीन इस दर्शन परिषद् के इतिहास पर उपर्युक्त विमर्श से यह स्पष्ट ही विदित होता है कि वैचारिक स्वराज के भाषिक राजपथ पर दार्शनिक पहल करते हुए इसने कम समय में ही अधिक दूरी तय किया है। यदि आने वाले समय में अपने अन्यान्य दायित्व का उत्तरोत्तर निर्वाह करते हुए एक विशिष्ट भाष्यधर्मी बौद्धिक अभियान को परिषद् अपनी प्राथमिकताओं की परात्पर सूची में रखे और उसे इस रूप में क्रियान्वित करे कि पश्चिमी ओरिएण्टलिज्म के द्वारा भारत के बौद्धिक ढाँचे को कुत्सित करने जो प्रयास किये गये हैं, उनका श्रुत्यर्थपर्यालोचना रूप दार्शनिक कर्म के द्वारा भाजन किया जाये तो यह वैचारिक स्वराज के महान उद्देश्य के प्रति उतना ही महान कर्म हो सकेगा।

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की स्वर्ण जयन्ती के उपलक्ष्य में "स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण : समेकित दार्शनिक विमर्श" नाम से सम्पादित यह ग्रन्थ उपर्युक्त श्रुत्यर्थपर्यालोचना अथवा भाष्यधर्मी बौद्धिक पुरुषार्थ के ही नियोग निमित्त किया गया एक प्रतीकभूत कर्म है। इसी अन्तर्निहित उद्देश्य को सांकेतित करने के लिए हमने इस प्रस्तावना को प्रकृत ग्रन्थ के ही कुछ गवेषणात्मक एवं उदानपरक प्रसंगों को सन्दर्भ बनाकर निबद्ध किया है। इसका अवान्तर उद्देश्य स्वातंत्र्योत्तर भारत में राष्ट्रभाषा के माध्यम से दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में हुए सृजनात्मक, मौलिक एवं परिष्कारात्मक चिन्तन को इस रूप में सामने लाना है कि तज्जन्य ज्ञान की एक सार्थक गतिशीलता उत्पन्न हो सके। स्वातंत्र्योत्तर काल में राष्ट्रभाषा के माध्यम से पर्याप्त दार्शनिक चिन्तन हुआ है और उसकी गुणवत्ता भी अंग्रेजी में हुए चिन्तन से किसी भी मायने में कम नहीं आंकी जा सकती। वास्तविकता तो यह है कि अंग्रेजी के नाम पर ही यूरोपीय ज्ञान परम्पराओं का पिष्टपेषण अधिक हुआ है और भारतीय दर्शन को उसकी पारम्परिक विशुद्धता में प्रस्तुत नहीं किया गया है। राष्ट्रभाषा के माध्यम से सर्वांशत: नहीं तो कुछ ऐसे भी कार्य अवश्य हुए हैं जिनकी सृजनात्मकता अपेक्षाकृत अधिक रही है। ऐसे कार्यों को ही भारतीय दार्शनिक चिन्तन को

स्वारूढ़ विकास प्रदान करने वाला कहा जा सकता है। प्रकृत ग्रन्थ की सामग्रियों का चयन करते हुए इसी बात को ध्यान में रखकर उसे व्यक्तिश: परिच्छेदों में योजनाबद्ध करने का प्रयास किया गया है। इन व्यक्तियों की पहचान ऐसे अकादमिक दार्शनिक अथवा दर्शनशास्त्री के रूप में की जा सकती है जिन्होंने दार्शनिक कर्म को अन्तरिम वृत्ति के रूप में नहीं अपनाया, बल्कि उसमें अपने जीवन को खपाया है या खपा रहे हैं। इनका मन विशुद्ध भारतीय रहा है लेकिन अधिकांश ने अभ्यासवश अपने अधिकतर लेखन को अंग्रेजी में सम्पादित किया है। वैचारिक स्वराज के राजपथ को छोड़कर भटकने के सुख और उपलब्धियों से सन्तुष्ट होने के बाद अथवा सृजनात्मक अवकाश के क्षणों में आत्मलाभ के पथ पर उन्होंने जो कुछ हिन्दी में लिखा है उसे नितान्त स्वदेशी भावना से किये गये लेखन कर्म से अभिहित किया जा सकता है। अतएव ऐसे लेखन कर्म की सृजनात्मक विशिष्टता स्वाभाविक ही है। इस भावभूमि पर यह आवश्यक नहीं कि कोई भारतीय दर्शन पर ही अपने लेखन कर्म को केन्द्रित करे। यदि राष्ट्रभाषा के माध्यम से कोई पाश्चात्य दर्शन का प्रतिपादन भी ईमानदारी और उत्कृष्टता के साथ करता है तो वह भी दर्शन की भारतीय उपासना ही है।

परन्तु हमारे देश में विडम्बना यह रही है कि हिन्दी माध्यम से हुए इस प्रकार के चिन्तन को उस रूप में सन्दर्भित और प्रदर्शित नहीं किया जा सका जिस रूप में आंग्ल भाषा में हुए दार्शनिक चिन्तन को सन्दर्भित और प्रदर्शित करने में हमने उपलब्ध राष्ट्रीय संसाधनों का विनियोग किया है। परिणामस्वरूप हिन्दी माध्यम से हुए दार्शनिक चिन्तन की गतिशीलता अपेक्षाकृत कम रही है। हमारा यह सम्पादन कर्म इसी प्रकार के दार्शनिक चिन्तन जो प्रकीर्ण निबन्ध शैली में लिखे गये थे, उन्हें पहचानने और उचित रूप में सन्दर्भित एवं प्रदर्शित करने का एक प्रारम्भिक प्रयास है। यह ग्रन्थ जिस प्रकार अपने नाम से ही इस बात को प्रकट करता है कि यह स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दार्शनिक चिन्तन का 'सम्पूर्ण' नहीं बल्कि उसका एक 'प्रकरण' है, उसी प्रकार इसके परिच्छेद भी जिन-जिन व्यक्तियों पर केन्द्रित हैं, वे सभी परिच्छेद भी उन-उन व्यक्तियों के सम्पूर्ण दार्शनिक विग्रह के प्रकरण ही हैं। यह बात अलग है कि वे सभी प्रकरण इतने संवेदनशील एवं उत्प्रेरक हैं कि किसी भी जिज्ञासु पाठक को अपने-अपने सम्पूर्ण विग्रह की ओर ले जाने और उसे जानने, समझने के लिए प्रेरित कर सकते हैं। हमारा यह 'सम्पादन कर्म-क्लेश' दर्शनशास्त्र के विद्यार्थियों, शोध-अध्येताओं एवं सहधर्मी शिक्षकों के माध्यम से इसी रूप में फलित हो, इस कामना के साथ वैचारिक स्वराज के राजपथ पर इस ग्रन्थ को आरूढ़ कर रहा हूँ। तथास्तु।

हिन्दी दिवस : १४-९-२००४

अम्बिकादत्त शर्मा

***

आभार

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की स्वर्ण जयन्ती के उपलक्ष्य में "स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण : समेकित दार्शनिक विमर्श" नामक ग्रन्थ का सम्पादन एवं प्रकाशन करते हुए मुझे अतीव हर्ष हो रहा है। यह एक तथ्य है कि स्वातंत्र्योत्तर युग के अधिकांश भारतीय दार्शनिकों से मेरा दूर या निकट रूप में अन्तरंग लगाव रहा है। इसे मैं अपना सौभाग्य और स्वयं के अकादमिक जीवन का निर्मायक पक्ष समझता हूँ। इस ग्रन्थ को सम्पादित करते हुए मुझे उनके दार्शनिक व्यक्तित्व का एक 'प्रकरणात्मक विग्रह' बनाने का सुअवसर प्राप्त हुआ और ऐसा करते हुए हम अपनी प्रवहमान दार्शनिक परम्परा में और अधिक अन्त: प्रविष्ट होने के लिए एक छोटा सा मार्ग बना पाये, इसका मुझे संतोष है। सम्पादन कार्य का कोई पूर्व अनुभव नहीं होने के कारण यह कार्य मेरे लिए आसान नहीं था लेकिन- "मणौवज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गति:"-परम्परा में अन्वित कार्य को करते हुए कोई व्यक्ति कहाँ अकेला होता है। इस अर्थ में कोई भी मानवीय कृति वस्तुत: सामूहिक अवचेतन की ही उपज होती है। व्यक्ति, चूँकि, कार्य करते हुए अपने कर्मों का अनन्य साक्षी होता है, एतदर्थ कर्तापन का आत्मलाभ तो उसे प्राप्त होता ही है।

सामग्रियों का संचयन करते हुए विचार-भंग जैसी स्थिति उत्पन्न होने पर स्वयं कुछ लेखकों ने अपने महत्त्वपूर्ण सुझावों एवं कुछ एक आलेखों को उपलब्ध कराकर मेरा मनोबल बढ़ाया, इसके लिए मैं उनके प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ अन्यथा परिच्छेदों के विचार-वितान इतने सुन्दर नहीं बन पाते। डॉ. आलोक टण्डन (हरदोई) ने देवराज साहब के आलेखों को संकलित करने में ऐन मौके पर सहयोग किया जबकि "अभ्यर्थ की ज्ञानमीमांसा" से सम्बन्धित लेखों का संकेत मुझे बहुत पहले ही देवराज साहब से चर्चा के दौरान प्राप्त हुआ था। ऐसे ही सुरेन्द्र बारलिंगे साहब के आलेखों को डॉ. सुभाष भेलके (पुणे) ने न केवल उपलब्ध कराया बल्कि उन लेखों के प्रति बारलिंगे साहब की अन्तर्निहित वैचारिक योजना से भी अवगत कराया। इसके लिए मैं अपने दोनों वरिष्ठ मित्रों का विशेष आभार मानता हूँ। इसके साथ ही दार्शनिक त्रैमासिक के अतिरिक्त "उन्मीलन" एवं "परामर्श" के सम्पादकों के प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने कुछ एक पूर्व प्रकाशित आलेखों को इस ग्रन्थ-योजना में सम्मिलित किये जाने का सहर्ष अनुमोदन किया। इन सबके बावजूद भी मैं सम्पादन कार्य के लिए सर्वथा अपरिपक्व व्यक्ति ही रहा लेकिन प्रो. श्रीप्रकाश दुबे (अध्यक्ष-अखिल भारतीय दर्शन परिषद्) एवं हमारे प्रधान सम्पादक प्रो. सुरेन्द्र सिंह नेगी ने हर एक स्तर पर केवल मेरे कार्यों की निगरानी करते हुये उसे इस रूप में फलप्रद बनाया। मैं उनके इस योगदान के लिए हृदय से कृतज्ञ हूँ।

इस अवसर पर परिषद् के समस्त पदाधिकारियों - डॉ. संजीवन प्रसाद, डॉ. राजकुमारी सिन्हा डॉ. महेश सिंह, डॉ. जटाशंकर, डॉ. विभा मुकेश, डॉ. डी.आर. भण्डारी, डॉ. दीनानाथ शुक्ल, डॉ. अविनाश कुमार श्रीवास्तव, डॉ. नितिश दुबे, डॉ. गायत्री शर्मा, डॉ. आर.के. सिंह, कालीचरण

पाण्डेय, श्री ज्योति स्वरूप दुबे तथा परिषद् के विदेश प्रभाग के संयोजक प्रो. रामाराव पप्पू के प्रति धन्यवाद प्रकट करता हूँ जिन्होंने 'स्वर्ण जयन्ती प्रकाशन योजना' को बड़े उत्साह से क्रियान्वित किया।

अपने सहचर एवं तद्विद्य संभाषी मित्रों - डॉ. अच्युतानन्द दा (सागर), डॉ. अखिलेश्वर प्रसाद दुबे (सागर), डॉ. एच. थॉमस (मिजोरम) एवं डॉ. रजनीश शुक्ल (वाराणसी), डॉ. संजय शुक्ल (इलाहाबाद), डॉ. आनन्द मिश्र (वाराणसी), डॉ. प्रदीप खरे (भोपाल), डॉ. दीपनारायण यादव (मेरठ), डॉ. रामानन्द पाण्डेय (चतरा), डॉ. सत्यप्रकाश पाण्डेय (इन्दौर), डॉ. रज्जन कुमार (बरेली) के प्रति परोक्ष-अपरोक्ष सहयोग के लिए अपना शुभानुध्यान एवं शुभाचार प्रकट करता हूँ। अपने विद्यार्थियों में डॉ. शत्रुघ्न चतुर्वेदी, डॉ. राजेश चौरसिया, डॉ. मिथिलेश चौबे, डॉ. नरेन्द्र बौद्ध एवं डॉ. अल्पना जैन को उनकी मनोवांछित सफलता के लिए आशीष प्रदान करता हूँ। वस्तुत: इनके बीच ही रहकर कम समय में ऐसे श्रमसाध्य कार्य को पूरा करना सम्भव हो सका।

इस कार्य की पूर्णाहूति पर आचार्य यशदेव शल्य के प्रति कोटिश: आभार व्यक्त करना परमावश्यक समझता हूँ। यद्यपि यह ग्रन्थ उन्हें समर्पित किया गया है फिर भी पुरोवाक् लिखकर उन्होंने इस ग्रन्थ को मानों तिलक लगाते हुए वैचारिक स्वराज के राजपथ पर आरूढ़ किया है। यदि देखा जाय तो आचार्य प्रवर यशदेव शल्य ही इस कृति के आद्यन्त सर्वसम्भवन के पार्श्वपुरुष रहे हैं।

अन्त में श्री राजेश केशरवानी, प्रो. विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर को साधुवाद देता हूँ जिन्होंने इतने बड़े कार्य को निर्धारित समय में प्रकाशित करने का साहसपूर्ण सराहनीय कार्य किया है। आज प्रकाशन के व्यवसाय में विचार को कलात्मक रूप में प्रदर्शित करने वाले कम ही प्रकाशक हैं। उनमें से एक अपने राजेश जी का यह दर्शन एवं हिन्दी भाषा के प्रति विशेष लगाव ही कहा जायेगा और इसका मानवर्धन केवल इसी रूप में सम्भव है कि दर्शन से जुड़े प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति इस ग्रन्थ से अधिकाधिक लाभ उठावें। इसी के साथ श्री अजय जैन, प्रो. एक्टिव कम्प्यूटर्स को विशेष साधुवाद प्रदान करता हूँ जिन्होंने मनोयोग पूर्वक अक्षर-संयोजन का कार्य अपेक्षाकृत कम समय में सम्पन्न कराया। अन्तपर्यन्त डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय के प्रति भी यथासम्भव प्रकाशनार्थ अनुदान के लिए आभार व्यक्त करता हूँ।

इस ग्रन्थ को सम्पादित करते हुए सम्पाद्य सामग्री का अध्ययन-लाभ मुझे जिस रूप में प्राप्त हुआ है वैसा ही वैचारिक विस्तार इसके पाठकों को भी प्राप्त हो, इस सारस्वत् कामना के साथ अपनी ज्ञात-अज्ञात भूलों के लिए क्षमा-याचनापूर्वक एक बार फिर से समवेत कृतज्ञता।

अम्बिकादत्त शर्मा

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन के शलाका पुरुष

यशदेव शल्य

जन्म : 26 जून, 1928, फरीदकोट

सत्यानुसन्धान के दार्शनिक मार्ग पर विभिन्न कल्प एवं सोपान क्रम में मनस्तत्त्व (१९५७), दार्शनिक विश्लेषण (१९६१), ज्ञान और सत् (१९६७), संस्कृति : मानव-कर्त्तृत्व की व्याख्या (१९६९), विषय और आत्म (१९७२), चिद्विमर्श (१९८६), सत्ताविषयक अन्वीक्षा (१९८७), नागार्जुनकृत मध्यमकशास्त्र और विग्रहव्यावर्त्तनी: युक्ति-परीक्षा एवं सिद्धांत-विमर्श (१९९०), समाज : दार्शनिक परिशीलन (१९९२), मूल्य-तत्त्व मीमांसा (१९९४), युग चिन्तन एवं साहित्य चिन्तन (१९९८), मुख्य भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन धारायें (१९९९), तत्त्व-चिन्तन (२००३), काव्य-विमर्श (२००३) जैसे मौलिक ग्रन्थों के रचयिता। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् (१९५४) और दर्शन प्रतिष्ठान (१९८५) के संस्थापक। दार्शनिक त्रैमासिक, तत्त्व-चिन्तन, दर्शन समीक्षा, उन्मीलन इत्यादि पत्रिकाओं के संस्थापक एवं विभिन्न कालावधियों में रहे सम्पादक। डॉ. भगवानदास पुरस्कार (१९६२), स्वामी प्रणवानन्द दर्शन पुरस्कार (१९८८), शंकर पुरस्कार (१९९५), मंगलाप्रसाद पुरस्कार (२००२), नरेश मेहता वाङ्मय पुरस्कार (२००३), मूर्तिदेवी पुरस्कार (२००४) से सम्मानित। ऐसे महान दार्शनिक एवं चिन्तक "यशदेव शल्य" की दर्शन-साधना को, जो सच्चे अर्थों में आधुनिक भारतीय दर्शन-साधना कही जा सकती है, यह पुस्तक सादर समर्पित।

अनुक्रम

पुरोवाक् - यशदेव शल्य iii

प्रस्तावना - अम्बिकादत्त शर्मा ix

आभार - xxi

परिच्छेद - 1 - दयाकृष्ण

भारतीय दर्शन का रक्षण एवं पुनर्नवीकरण 1/49

1.1 भारतीय सभ्यता के योग्य पुरुषार्थ : बौद्धिक परम्पराओं का भविष्य 3

1.2 श्रुति की परस्पर दो विरोधी परम्पराओं के मूल प्रवर्तक : जैमिनि और बादरायण 16

1.3 अद्वैतवेदान्त की भेद-अभेद सम्बन्धी कुछ समस्यायें 23

1.4 अभाव, अपोह और अनेकान्त 34

1.5 दार्शनिकों के तर्क न प्रत्यक्ष न अनुमान न शब्द न उपमान 40

परिच्छेद - 2 - गोविन्द चन्द्र पाण्डे

मानवपर्येषणा एवं भारतीय परम्परा 51/88

2.1 मानवपर्येषणा एवं दार्शनिक विमर्श 53

2.2 सृजन, परिवेश एवं परम्परा 60

2.3 पुनर्जन्म की भारतीय अवधारणा 71

2.4 अद्वैत एवं मिथ्यात्व 82

परिच्छेद - 3 - जड़ावलाल मेहता

जीवन-लोक, भाष्य एवं भाषा चिन्तन 89/107

3.1 जीवन-लोक, पावनता और भाष्यात्मक चिन्तन 91

3.2 भाषा एवं तथ्य-चित्रण 105

परिच्छेद -4- नन्दकिशोर देवराज

अभ्यर्थ की ज्ञानमीमांसा 109-171

4.1 ज्ञान, भाषा और सम्प्रेषण 111

4.2 मूल्यबोध : तर-तम भाव का विकास 122

4.3 प्रतीक जगत् : इष्टार्थों (अभ्यर्थों) का उद्भव और विस्तार 132

4.4 नैतिक मूल्य : अवबोध और स्वरूप 140

4.5 मनुष्य एवं मानव जीवन : स्वरूप एवं नियति 155

परिच्छेद -5- सुरेन्द्र बारलिंगे

संज्ञान, सौन्दर्य एवं नैतिक मूल्य 173/216

5.1 संज्ञातता 175

5.2 ज्ञान-प्रक्रिया में निर्णय का स्थान 184

5.3 सामान्यता एवं आवश्यकता का तर्कशास्त्र 192

5.4 सौन्दर्यात्मक एवं नैतिक मूल्यों का स्वरूप 197

5.5 मार्क्सवाद और सौन्दर्य-मीमांसा 207

परिच्छेद -6- रामचन्द्र पाण्डेय

भाषा, अर्थ एवं प्रमाणों की प्रातिस्विकता 217/243

6.1 भारतीय अर्थविज्ञान की मूलभूत समस्याएँ 219

6.2 प्रत्यक्ष का प्रामाण्य 226

6.3 सामान्य और विशेष 233

6.4 विशेषण और विशेष्य 239

परिच्छेद -7- राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय

प्राच्य-पाश्चात्य दार्शनिक विश्लेषिकी 245/306

7.1 व्याख्या का तार्किक-स्वरूप 247

7.2 धार्मिक चेतना पर दार्शनिक दृष्टि - १ 257

7.3 धार्मिक चेतना पर दार्शनिक दृष्टि - २ 263

7.4 दर्शन में 'अवक्तव्य' की अवधारणा 276

7.5 विट्गिन्स्टाइन के परवर्ती दर्शन के मूलाधार 283

परिच्छेद -8- नारायण शास्त्री द्राविड़

अद्वैतवेदान्त का अधिमनोवैज्ञानिक विश्लेषण 307/352

8.1 भारतीय तर्कशास्त्र के विकास का सिंहावलोकन 309

8.2 अद्वैतवेदान्त सम्बन्धी कुछ मौलिक समस्यायें 321

8.3 प्रत्यक्ष की वेदान्तीय परिभाषा 329

8.4 सुषुप्ति का वेदान्तीय विश्लेषण- १ 337

8.5 सुषुप्ति का वेदान्तीय विश्लेषण- २ 347

परिच्छेद -9- सुरेशचन्द्र

संदेह की दार्शनिक संपरीक्षा 353/401

9.1 दार्शनिक संशयवाद - १ 355

9.2 दार्शनिक संशयवाद - २ 362

9.3 दार्शनिक संशयवाद - ३ 368

9.4 दार्शनिक संशयवाद - ४ 373

9.5 तात्त्विक प्राथमिकता 383

9.6 दार्शनिक विश्लेषण एवं नीतिमीमांसा 391

9.7 क्या अन्यों के अनुभव ज्ञेय हैं ? 398

परिच्छेद -10- राजेन्द्र प्रसाद

भाषा दर्शन एवं विश्लेषणात्मक भाषिकी 403/444

10.1 दर्शन, भाषा और भाषादर्शन 405

10.2 भाषा का स्वरूप 415

10.3 भाषा की सार्वजनिकता 428

10.4 सामान्य और कृत्रिम भाषा 436

परिच्छेद -11- बसंतकुमार लाल

अस्तित्ववादी स्वतन्त्रता एवं सार्त्रीय नास्तिकता 445/465

11.1 अस्तित्ववाद के अनुसार मानव का स्वरूप 447

11.2 सार्त्र की नास्तिकता – एक मूल्याँकन 455

11.3 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के दर्शन में सचेतन अप्रत्यक्ष 461

परिच्छेद - 12 - सभाजीत मिश्र

हुसर्ल की काण्टीय पृष्ठभूमि और मार्क्सवादी सार्त्र 467/481

12.1 काण्ट और हुसर्ल के दर्शन में वस्तु का स्वरूप 469

12.2 सार्त्र : अस्तित्त्ववाद से मार्क्सवाद तक 473

परिच्छेद - 13 - मुकुन्द लाठ

कला की काल-यात्रा का दार्शनिक विमर्श 483/507

13.1 कला चिन्तन का इतिहास और कला : एक विमर्श 485

परिच्छेद - 14 - अम्बिकादत्त शर्मा

अधिप्रामाण्य विश्लेषण 509/552

14.1 प्रमेयाश्रित प्रमाण द्वैविध्य 511

14.2 प्रमाण- सम्प्लव एवं प्रमाण-व्यवस्था 520

14.3 प्रमाणान्तर्भाव प्रकरण विमर्श 532

14.4 ज्ञान की स्वयंप्रकाशता 541

परिशिष्ट - 1 - परिसंवाद

क्या दर्शन भाषा विश्लेषण है ? 553/582

1.1 यशदेव शल्य 555

1.2 राजेन्द्र प्रसाद 565

1.3 नारायण शास्त्री द्राविड़ 570

1.4 याकूब मसीह 577

परिशिष्ट - 2 - परिसंवाद

अर्थ एवं प्रमाणीकरण 583/626

2.1 यशदेव शल्य 585

2.2 सुरेश चन्द्र 600

2.3 याकूब मसीह 618

परिच्छेद : एक

दयाकृष्ण

भारतीय दर्शन का रक्षण एवं पुनर्नवीकरण

1.1 भारतीय सभ्यता के योग्य पुरुषार्थ : बौद्धिक परम्पराओं का भविष्य

1.2 श्रुति की परस्पर दो विरोधी परम्पराओं के मूल प्रवर्तक : जैमिनि और बादरायण

1.3 अद्वैतवेदान्त की भेद-अभेद सम्बन्धी कुछ समस्यायें

1.4 अभाव, अपोह और अनेकान्त

1.5 दार्शनिकों के तर्क न प्रत्यक्ष न अनुमान न शब्द न उपमान

दयाकृष्ण

विचारित और अविचारित के मध्य विचार के असाधारण शिल्पकार प्रो. दयाकृष्ण का जन्म १९२४ में हुआ। दिल्ली विश्वविद्यालय से दर्शनशास्त्र में एम.ए. एवं पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त कर वे कुछ दिनों तक हिन्दू कालेज-दिल्ली, इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ फिलॉसफी-अमलनेर तथा दिल्ली विश्वविद्यालय से शोध सहायक रूप में सम्बद्ध रहे। तदुपरान्त वे सागर विश्वविद्यालय (मध्यप्रदेश) में नियुक्त हुए जहाँ उन्होंने १९५६ से १९६० तक अध्यापन कार्य किया। १९६०-६१ में वे रॉकफेलर अध्येता के रूप में उच्च अध्ययन के लिए विदेश गये। वहाँ से लौटकर उनकी पदस्थापना राजस्थान विश्वविद्यालय में दर्शन शास्त्र के प्रोफेसर और विभागाध्यक्ष के रूप में हुई। १९६६ से१९८४ तक राजस्थान विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रहते हुए न केवल उन्होंने अपनी दार्शनिक प्रतिभा को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विख्यात् किया बल्कि उस विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग को एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र के रूप में स्थापित भी किया। प्रो. दयाकृष्ण डायोजिनीज़ नामक अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिका के सम्पादक मण्डल में भी रहे और उनके अनेकों लघु शोध-प्रबन्ध "माइण्ड" एवं "ईस्ट एण्ड वेस्ट" जैसी पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे। उनमें से कुछ तो इतने विचारोत्तेजक स्थापनाओं के साथ प्रस्तुत हुए थे कि उन स्थापनाओं को लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एक संवाद का प्रारम्भ देखा जा सकता है। वास्तव में प्रो. दयाकृष्ण के लिए विचार की कला ही पुरुषार्थ है, न्यस्त स्वार्थों से प्रेरित लाभ के पदों की लालसा उनमें कभी देखी नहीं गई। एक बार उन्होंने ऐसे ही एक बड़े पुरस्कार को लेने से इन्कार कर दिया था। प्रो. दयाकृष्ण सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान परिषद् एवं भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् के नेशनल फैलो भी रहे और सम्प्रति भारतीय विज्ञान, दर्शन और संस्कृति का इतिहास नामक राष्ट्रीय प्रोजेक्ट के सम्पादकीय मण्डल के सदस्य एवं भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् की पत्रिका जे.आई.सी.पी.आर. के सम्पादक हैं। प्रो. दयाकृष्ण के चिन्तन एवं विचार इतने बहुआयामी रहे हैं कि उनके दर्शनशास्त्रीय, अर्थशास्त्रीय, समाजशास्त्रीय, राजनीतिशास्त्रीय एवं इतिहासशास्त्रीय शताधिक दार्शनिक निबन्धों को सूचीबद्ध करना यहाँ सम्भव नहीं फिर भी कुछ एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृतियों को इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है- नेचर ऑफ फिलॉसफी, सोशल फिलॉसफी : पास्ट एण्ड फ्यूचर, द आर्ट ऑफ कॉन्सेप्चुअल, डेवेलपमेंट डिबेट : *फ्रीड डब्लू रीग्स एण्ड दयाकृष्ण,* इण्डियन फिलॉसफी: ए न्यू पर्सपेक्टिव, इण्डियन फिलॉसफी : ए काउण्टर पर्सपेक्टिव, इण्डियाज इन्टेलेक्चुअल ट्रेडिशन *(सम्पा.),* संवाद : ए डायलॉग बिटविन टू फिलॉसफिकल ट्रेडिशन्स, ज्ञानमीमांसा, पाश्चात्य दर्शन *(सम्पा.),* भारतीय दर्शन-एक नई दृष्टि, प्रोलेगोमेना टू एनी फ्यूचर हिस्ट्रीयोग्राफी ऑफ कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन डिबेट एण्ड डिस्कशन्स इन इण्डियन फिलॉसफी *(सम्पा.) इत्यादि। प्रो. दयाकृष्ण की अधिकांश कृतियों को स्थापित विचार परम्परा की आत्ममुग्धता का भाजन करने वाला और विचार को भविष्योन्मुख गति प्रदान करने वाला कहा जा सकता है। पश्चिमी दार्शनिक परम्पराओं का मंथन कर चुकने के बाद भारतीय दर्शन में उनका प्रवेश तो एक "प्रश्न देवता" की तरह ठीक वैसे ही है जैसे "कौत्स" फिर लौट आया हो।*

⁂

भारतीय सभ्यता के योग्य पुरुषार्थ : बौद्धिक परम्पराओं का भविष्य

हम सभी जल्द ही बीसवीं सदी को लाँघकर इक्कीसवीं सदी में प्रवेश करने वाले हैं—यदि इस ईसाई काल-गणना को अपनी भी मान लें, तो। मगर हम सिर्फ एक नयी शताब्दी में ही नहीं, एक नयी सहस्राब्दी में भी प्रवेश करने जा रहे हैं : ईसा के बाद की तीसरी सहस्राब्दी में, भले, यह सच है, कि हममें से शायद ही कोई सहस्राब्दियों के हिसाब से सोचता होगा। आमतौर पर हम लोग अगले कुछ वर्षों या एक दशक के हिसाब से ही अपनी योजनाएँ बनाया करते हैं। शताब्दियों की शब्दावली में सोचना ही विरल है, सहस्राब्दियों की कौन कहे ! हाँ, यदि हम सभ्यताओं और सभ्यतागत पुरुषार्थों की बात करते हैं तो सहस्राब्दियों में सोचना इतना अजीब नहीं लगेगा—कम से कम उन सभ्यताओं के सदस्यों को तो बिलकुल नहीं जिनके पास अनेक सहस्राब्दियों का अनवरत और बाकायदा दर्ज किया गया इतिहास रहा है। और, भारतीय सभ्यता के पास तो कम से कम पाँच सहस्राब्दियों के प्रमाणपुष्ट इतिहास की धरोहर है। इसलिए, किसी सभ्यता को लेकर सहस्राब्दियों की शब्दावली में सोचना इतना अजीब नहीं है जितना पहली बार देखने पर लग सकता है।

जब हम स्वयं को भारतीय कहते हैं तो इसका मतलब यही होता है कि हमें सुदूर अतीत में गड़ी हुई अपनी जड़ों का अहसास है। जड़ें, जो ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व के आस—पास विद्यमान हड़प्पा सभ्यता तक फैली हुई हैं। भारतीय होना इस तरह इस सुदूर अतीत द्वारा संरचित होना है। अपनी बनावट की इस हकीकत की हमें न केवल पूरी—समूची, हालाँकि धुँधली चेतना होती है, बल्कि हम सभी को भविष्य में भी इसे निरन्तर बनाए रखने की जिम्मेदारी का अहसास भी होता है। मगर क्यों ? अपनी पहचान की रक्षा या नैरन्तर्य की यह चिन्ता हमें क्यों सताती है ? क्या इसलिए, कि हमें कोई खतरा भविष्य में इसके ऊपर—यानी इसके बचे रहने पर—मँडराता दिखाई दे रहा है ? हम क्यों पुनर्नवीकरण की और विकास की नयी दिशाओं की बात कर रहे हैं ?

इस तरह का प्रश्न पूछने का अर्थ है एक ऐसी समस्या को उठाना, जो हमारे समय की सबसे दुर्दान्त और विकट समस्याओं में से एक है। यदि हम कहीं अन्यत्र जन्में होते—अमेरिका में या किसी भी पश्चिमी यूरोपीय देश में, तो यह प्रश्न बिलकुल नहीं उठता। तब हम अपनी सभ्यता के भविष्य के बारे में एकदम निश्चित और आश्वस्त होते। किन्तु यदि हम चीनी होते, या पश्चिमी एशिया या इस्लामी सभ्यता से जुड़े होते, तब भी कदाचित हमारे भीतर अपनी उस सभ्यता के भविष्य को लेकर, जिसने हमें जैसे भी हम हैं वैसा बनाया है—उसी तरह की शंकाएँ और उलझनें खड़ी हो जाती। सारी अ—पाश्चात्य सभ्यताएँ आज संकट में पड़ी प्रजातियाँ हैं : वर्तमान भूमण्डलीकरण के चलते और विश्व के समस्त दूसरे मानव-समुदायों के ऊपर इन पाश्चात्य प्रजातियों के एकछत्र वर्चस्व के चलते। पृथ्वी का बहुत

** अनुवादक - रमेशचन्द्र शाह, एक प्रख्यात साहित्यकार जिनकी मेधा सृजनात्मक अन्तराल के क्षणों में ऐसे कार्यों में संप्लवित होती है।*

बड़ा हिस्सा पश्चिम के द्वारा पराजित और उपनिवेशीकृत हुआ, जिसके फलस्वरूप विगत कुछ ही शताब्दियों के भीतर उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया और अन्य देशों के आदिवासियों का बहुलांश एकदम विलुप्त हो चुका है।

इतना ही नहीं, बची-खुची अन्य सभ्यताओं के भी जीवित सदस्य, विशेषत: उनके प्रबुद्धजन अपनी लम्बी औपनिवेशिक तथा अर्द्ध-औपनिवेशिक दासता के दौरान एक बाहर से आरोपित शिक्षा-पद्धति में ढलकर इस कदर रूपान्तरित और इस कदर स्मृतिभ्रंश के शिकार हो चुके हैं कि अब वे दुनिया को अपनी सभ्यता और संस्कृति की आँखों से नहीं, पश्चिमी दृष्टि और पश्चिमी परिप्रेक्ष्य में ही देख पाते हैं। प्राचीनतर सभ्यताओं को भी साथ लपेटते हुए समूची पृथ्वी का इतिहास कुछ इस तरह लिखा गया है कि पढ़ने वाले पर यही छाप पड़े कि पाश्चात्य सभ्यता उन सभी को लाँघकर अपदस्थ कर चुकी है और अब वह मानव-मात्र के भविष्य का एकमात्र सच्चा प्रतिनिधित्व करने वाली सभ्यता के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी है– उन सबके लिए जो ऐतिहासिक कारणों से पिछड़ गये हैं। लगभग सभी ने मनुष्य के अतीत को देखने-समझाने की इस 'ऐतिहासिक' पद्धति को जाने-अनजाने पूरी तरह अपना और आत्मसात् कर लिया है। मात्र एक उदाहरण पर्याप्त होगा। कार्ल सैगन की प्रसिद्ध पुस्तक दि एसेण्ट ऑफ मैन में एक भी ऐसे गैर-पश्चिमी व्यक्ति का जिक्र नहीं मिलेगा जिसने सुदीर्घ कालावधियों के दौरान मनुष्य जाति द्वारा तय की गयी इस कठिन चढ़ाई के जबर्दस्त अभियान में रंचमात्र भी योगदान किया हो अथवा मामूली से मामूली भूमिका भी निबाही हो। किताब, बेशक, जोरदार है, मगर बुनियादी तौर पर यह मनुष्य का नहीं, पाश्चात्य मनुष्य के सभ्यता-शिखर पर आरोहण के अभियान की कथा है, जो जानते-बूझते मानव जाति की इस साझा उपलब्धि में समस्त अन्य सभ्यताओं के अकाट्य योगदान को नजर अन्दाज करती है : इस तथ्य को सर्वथा विस्मृत करते हुए कि समूची मानवजाति, जिस दिन से वह इस छोटे से ग्रह पर अवतरित हुई, तभी से, सभ्यता के इस अभियान में जुटी रही है। इसी प्रवृत्ति का एक दूसरा उदाहरण, अभी हाल ही में सन्-संवत् लिखने का ढर्रा जिस तरह चुपचाप बदल दिया गया है, उसमें दिखाई दिया है। ए.डी. यानी (ईसा के बाद) को अब 'सी.ई' यानी 'कॉमन एरा' (सबका काल-निर्णय) से विस्थापित कर दिया गया है, मानो सारी मानव-जाति इस बात पर सहमत हो चुकी है कि यही सबका सर्वनिष्ठ और सर्वाश्लेषी 'काल' है। उदाहरण तो इसके अलावा भी ढेरों गिना दिये जा सकते हैं किन्तु इस प्रलोभन में पड़ने से कोई लाभ न होगा। फिर, यह इस व्याख्यान का मुख्य उद्देश्य भी नहीं है। निस्सन्देह, जिस परिस्थिति में हम डाल दिये गये हैं, उसके प्रति जागरूक होना पड़ेगा ताकि हम अपनी सभ्यता के अतीत और वर्तमान का इकट्ठा एक साथ साक्षात्कार और मनन कर सकें और उसे सार्थक ढंग से वर्तमान के साथ जोड़ सकें।

बहरहाल, कथा कहाँ से आरम्भ करें ? पाश्चात्य इतिहासकार–या कहें, चीजों को देखने के पश्चिमी नजरिये में दीक्षित इतिहासकार–पहले ही तय कर चुका है कि आर्य लोग कहीं बाहर से आये और अपनी पूर्ववर्ती हड़प्पा सभ्यता को ध्वस्त करने की भूमिका उन्होंने अदा की। और, हालाँकि हम इस देश में रहने वाले अधिकांश लोग अपने अतीत को उसकी वैदिक जड़ों तक आसानी से पहचानते और स्वीकारते हैं, हमें हड़प्पाकालीन सभ्यता के साथ उसके जुड़ाव के बारे में कुछ खास मालूम नहीं है। हड़प्पा सभ्यता के साथ उस सभ्यता का जिसे हम भारतीय सभ्यता कहते-मानते हैं का जो भी रिश्ता है वह हमारे लिए बहुत करके भी अटकलबाजी का ही विषय है; सहज विश्वास या जानकर लगाव का नहीं। तथापि, धीरे-धीरे इस अतीत की इण्डो-यूरोपीय विद्वानों द्वारा पेश की गयी तस्वीर बदल रही है। आज कोई भी गम्भीरतापूर्वक 'हमलावर आर्यों' वाली थियरी को नहीं मानता। यद्यपि आर्य बाहर से भारत में आये होंगे–यह धारणा अभी भी सामान्यतया स्वीकार की जाती है; जबकि इस बात के पुष्ट

प्रमाण आये दिन उपलब्ध होते रहते हैं कि जिस सरस्वती नदी की वेदों में इतनी जीवन्त भूमिका दिखायी देती है, उसका हड़प्पा सभ्यता के विकास में भी उतना ही आधारभूत योगदान रहा था। सरस्वती के सूख जाने की भौगोलिक घटना ही उत्तर-हड़प्पाकालीन सभ्यता में प्रगट होने वाले परिवर्तनों का मूल कारण थी-ऐसा माना जाने लगा है। किन्तु यद्यपि सरस्वती नदी वैदिक वाङ्मय में वर्णित लोगों तथा पुरातत्त्ववेत्ताओं द्वारा खोजे गये हड़प्पा सभ्यता के लोगों के बीच की महत्त्वपूर्ण कड़ी जुटाती है, दोनों के बीच के सम्बन्धों पर निर्णायक रोशनी पड़नी अभी बाकी है।

वास्तव में जो दो विकट गुत्थियाँ अपनी सभ्यता के गहनतम स्रोतों तक जाने के रास्ते में हमारे आड़े आतीं हैं, वे इस तथ्य से जुड़ी हैं कि एक ओर जहाँ एक से एक विस्मयकारी पुरातात्त्विक प्रमाण हमने खोज निकाले हैं, वहाँ दूसरी ओर हम भाषा (सिन्धु घाटी सभ्यता की लिपि) की गुत्थी नहीं सुलझा पाये हैं। और इस कारण, हमारी विडम्बना यह है कि, बहुत कुछ जानते हुए भी हम निश्चयपूर्वक कुछ नहीं जानते। दूसरी तरफ जहाँ हमारे पास वेदों के प्रामाणिक पाठ तीन हजार बरसों से सुरक्षित और उपलब्ध हैं और उनके भाष्य और व्याख्या की भी उतनी ही लम्बी परम्परा है, इस ठोस साहित्यिक प्रमाण को पुष्ट करने के लिए आवश्यक पुरातात्त्विक सामग्री बहुत कम है। हो सकता है, किसी दिन दोनों के बीच का रिश्ता न केवल प्रमाणित हो जाये बल्कि एक अविच्छिन्न प्रवाह में उनकी सुसम्बद्धता भी उजागर हो जाये। किन्तु वह घटना भविष्य के गर्भ में ही है।

तथापि जो कुछ भी थोड़ी-बहुत जानकारी हमें उक्त प्रमाणों की है, वह चकित कर देने वाली है। हड़प्पा सभ्यता का विस्तार एवं व्याप्ति ही कल्पनातीत ढंग से चमत्कृत कर देने वाली है, और उसकी गुणवत्ता और समृद्धि अविश्वसनीय। मेसोपोटामिया के साथ उसके सामुद्रिक व्यापारिक सम्बन्धों का प्रमाण साफ जताता है कि इस अनोखी सभ्यता ने परिवहन, संगठन, लेखा-जोखा, मालगोदामों तथा अन्य आवश्यक संसाधनों और प्रणालियों का कैसा व्यवहारदक्ष तन्तुजाल विकसित कर डाला था जिसके बगैर इस तरह के क्रिया-कलाप किसी भी सभ्यता के लिए सम्भव ही नहीं हो सकते। दूसरी ओर वैदिक वाङ्मय न केवल यथार्थ की प्रकृति और उसके साथ मनुष्य के सम्बन्ध के बारे में गहन-गम्भीर चिंतन-मनन का प्रमाण प्रस्तुत करता है, बल्कि ऐसे खगोलीय पर्यवेक्षणों का भी जो बगैर सूक्ष्म निरीक्षणात्मक ज्ञान के और बगैर बिल्कुल अलग प्रकार की सामर्थ्य की अपेक्षा रखने की गणितीय कलनाओं के, सम्भव ही नहीं हो सकते थे। अलावा इसके, वैदिक ऋषि कवि कर्म को लेकर भी बड़ी सजग स्व-चेतना का प्रमाण देते हैं जिसके माध्यम से ही उनकी जिज्ञासाएँ, अन्तर्दृष्टियाँ और पर्यवेक्षण रूपायित हो पाते हैं। वैदिक अनुष्ठान या वैदिक यज्ञ के बारे में भी खासा विमर्श हुआ है। किन्तु उसमें प्राय: यह बात भुला दी जाती है कि यज्ञ सम्पन्न करने के लिए जो वेदी आवश्यक थी उसका निर्माण बड़ी जटिल ज्यामितिक जानकारी की अपेक्षा रखता था और साथ ही यज्ञ के लिए उचित मुहूर्त चुनने के लिए आवश्यक नक्षत्रों की गतिविधि का परिज्ञान भी। इतना ही नहीं, वैदिक वाङ्मय की प्राचीनतम ऋचाएँ अनुष्ठानों के अर्थ को लेकर, जो यज्ञ सम्पन्न किया जाना है, उसके यथातथ्य अभिप्राय को लेकर भी भरपूर चिंतन-मनन के प्रमाण देती हैं। प्राचीनतम ब्राह्मण ग्रन्थों में से एक में याज्ञवल्क्य से एक विचित्र प्रश्न किया गया है कि उस परिस्थिति में जब यज्ञ में आहुति देने के लिए कोई सामग्री उपलब्ध न हो तो क्या करना उचित होगा ? याज्ञवल्क्य का उत्तर प्रश्न से भी अधिक अद्भुत है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यदि कुछ भी देने को नहीं है, तो सत्य की ही आहुति श्रद्धा की अग्नि में दी जानी चाहिए। कितनी विचित्र लगती है यह बात-दुरूह पहेली सरीखी ! तनिक कल्पना कीजिए कि कोई मनीषी हमें सत्य का बलिदान करने को कह रहा है। क्या मतलब हो सकता है उसकी बात का ? जब पहली बार यह प्रसंग मेरे पढ़ने में आया, मुझे विश्वास ही नहीं हुआ कि कोई ऐसी बात कह सकता है।

परन्तु बाद में, विचार करने पर, मैंने याज्ञवल्क्य की उक्ति के अन्तर्निहित अभिप्राय को खोज ही लिया। याज्ञवल्क्य चरम आहुति की बात कर रहे थे—ऐन्द्रिक संवेदों और तर्कशक्ति से प्राप्त समस्त ज्ञान का बलिदान कर देने का आह्वान कर रहे थे और यह सुझा रहे थे कि अन्तत: इस सारे लौकिक ज्ञान को उस परात्पर सत्ता के प्रति श्रद्धा में विसर्जित कर देना आवश्यक होता है जो कालातीत और सनातन है और जिसे न तो प्रत्यक्ष संवेदन द्वारा जाना जा सकता है, न अनुमान द्वारा। यह वह चरम आहुति है जो तभी दी जानी चाहिए जब उसकी अनिवार्यता का क्षण आ पहुँचे। क्योंकि मनुष्य अपनी ज्ञानेन्द्रियों अथवा तार्किकता के द्वारा जिन सत्यों को उपलब्ध कर सकता है, वे पारमार्थिक नहीं, व्यावहारिक, कामचलाऊ सत्य ही होते हैं जिनका संशोधन-परिमार्जन होता आया है।

इन प्राचीन पाठों में और भी ऐसी चीजें हैं जो उस काल (ईसा पूर्व की तीसरी सहस्राब्दी) की जैसी और जो तस्वीर बनायी गयी थी उसमे काफी उलट-पुलट कर देने वाली है। आरम्भिक ब्राह्मण-ग्रन्थों में कवष की कथा इसे झलकाती है। यही बात छान्दोग्य उपनिषद् में सत्यकाम जाबाल के आख्यान के बारे में भी है। मगर इस सब पर जितना ध्यान देना चाहिए, उतना ध्यान नहीं दिया जाता। न इस तथ्य को ही उभारा जाता है कि वेद के साथ वेदांग अनिवार्यतया जुड़े हुए हैं जिनमें मुख्यत: गणित, खगोलविद्या और काव्यशास्त्र आदि क्षेत्रों से सम्बद्ध प्रायोगिक और तार्किक ज्ञान समाहित है। यह बात अकल्पनीय जान पड़ती है कि इस ज्ञान का हड़प्पाकालीन सभ्यता की ज्ञानात्मक उपलब्धियों से अथवा उसके बाद के ज्ञान-विकास के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं था। आखिर बन्दरगाहों का निर्माण अथवा सुदूर देशों के साथ समुद्री व्यापार का रिश्ता कायम करना बिना उच्चकोटि का यान्त्रिक कौशल विकसित किये और बिना नक्षत्रों की जानकारी के किस प्रकार सम्भव है? अलावा इसके, व्यापारिक सम्बन्धों में सिर्फ उत्पादों का ही विनिमय नहीं हुआ करता, विचारों का भी आयात-निर्यात अनिवार्यत: होता रहता है। प्राचीन अथवा आधुनिक व्यापार-मार्ग ही वे मार्ग भी हैं जिनके द्वारा विचारों का एक सभ्यता से दूसरी सभ्यता तक संक्रमण हुआ। भारतीय सभ्यता का फारस की सभ्यता के साथ, या जरथुस्त्र के धर्म और दर्शन के साथ सम्बन्ध तो सर्वविदित ही है।

यह कथा काफी जटिल है और इसके विभिन्न पहलुओं को आपस में जोड़कर शायद ही कभी देखने की कोशिश की गयी हो। एक बात मगर पक्के तौर पर कही जा सकती है कि ईसापूर्व की पहली ढाई सहस्राब्दियों की कथा मानवीय अभीप्सा के लगभग सभी आयामों में समृद्ध है जिसकी परिणति आकस्मिक विस्फोट की तरह भारत के पूर्वी हिस्से में दो महान व्यक्तित्वों-महावीर और बुद्ध के प्राकट्य में हुई। इन महापुरुषों ने न केवल वेद–प्रामाण्य को चुनौती दी, बल्कि मानवीय अवस्थिति को लेकर विचार करने की प्रक्रिया को पारलौकिक संदर्भ में वियुक्त करने की पहल की और यह सुझाया कि मानव जीव अपनी स्थिति को अपने ही प्रयासों के बल पर बुनियादी ढंग से रूपान्तरित कर सकता है। उन्होंने अपने लोगों से उनकी अपनी जुबान में बात की और इस तरह सन्तों की उस सुदीर्घ परम्परा की नींव इस देश में डाली, जो सदैव अपने लोगों से उनकी अपनी लोकभाषाओं के जरिये ही संवाद करते रहे हैं।

इसलिए, वर्तमान को यथातथ्य समझने के लिए हमें उसके साथ ही उस सुदीर्घ परम्परा की विरासत को भी भलीभाँति देखना पड़ेगा जो प्राक्-वैदिक, वैदिक, वेदविरोधी, वेदान्तर और अ-वैदिक परम्पराओं के रूप में हमारे यहाँ सहस्राब्दियों के दौरान निर्मित-विकसित होती रही और जिन्होंने, गहनतम अर्थों में हमारे जातीय स्वभाव और संस्कार को गढ़ा है; हमें वह बनाया है जो हम हैं। हममें से प्रत्येक एक साथ ही बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव, स्मार्त और वह सब हैं जो इस देश में पल्लवित हुआ है—भले चेतन स्तर पर हम इनमें से किसी एक पर अधिक बल दें।

वेदों के साथ अनिवार्य रूप से जुड़े 'उपवेद' हैं जिनमें से कुछ ज्यामिति और खगोल विद्या पर

केन्द्रित हैं। भारत की शेष समस्त आगम परम्पराओं में कदाचित ही ऐसी सहायक वैज्ञानिक उपविद्याओं का परिमण्डल अनिवार्यत: विद्यमान रहा हो। 'वेद' शब्द का अर्थ ही, कम से कम उस काल में ज्ञान हुआ करता था—जैसाकि धनुर्वेद, आयुर्वेद, नाट्यवेद इत्यादि शब्दों से प्रकट है। साथ ही, वैदिक पाठ को समझने के प्रयत्न के सिलसिले में उस सुदीर्घ भाष्य-परम्परा का भी सूत्रपात हुआ जो इस देश के बुद्धिजीवन को तमाम दूसरी सभ्यताओं के बौद्धिक क्रिया-कलापों से अलग वैशिष्ट्य प्रदान करता है। निघण्टु और निरुक्त इस विषय का प्रतिपादन करने वाले सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ हैं। पहला वेदों में प्रयुक्त पर्यायवाची और (homonyms) शब्दों पर केन्द्रित है और दूसरा उन सामान्य और अमूर्त समस्याओं पर, जो वैदिक पाठों की अर्थमीमांसा से ताल्लुक रखते हैं। निरुक्त में उन कई सारे चिंतकों की धारणाओं का उनके नामोल्लेखों सहित विशद विवेचन किया गया है जो या तो निरुक्तकार यास्क के समकालीन रहे होंगे या पूर्ववर्ती। तनिक, कौत्स सरीखे विचारक के साहस की कल्पना कीजिए, उसकी इस स्पष्ट उद्घोषणा के संदर्भ में, कि "यदि वेद जो कहते हैं, वह किसी अन्य तरीके से नहीं कहा जा सकता, तो फिर उन्हें निरर्थक ही मानना होगा क्योंकि किसी उक्ति की सार्थकता इस बात में निहित होनी चाहिए कि जो उसमें कहा गया है, वह किसी दूसरे रूप में, दूसरी शब्दावली में भी कहा जा सकता है। क्योंकि, जब मैं आपसे कह चुका हूँ कि मैं आपकी बात नहीं समझ पा रहा हूँ और आप मुझे दूसरे सही ढंग से समझाने के बदले, अपने कहे हुए को ही दुहराते चले जाएँ तो मैं आखिर कैसे किस तरह यह समझ पाऊगाँ कि आप कहना क्या चाहते हैं ? कोई बात सार्थक और समझ में आने लायक, बुद्धिगम्य हो, इसमें यह अनिवार्यत: निहित होता है कि उनका अभिप्राय कई भाषिक रूपों से व्यक्त हो सकना चाहिए, क्योंकि किसी बात की व्याख्या करने का मतलब यही होता है।" क्या आप बाइबिल या कुरान के संदर्भों में इस तरह के आलोचनात्मक साहस की कल्पना कर सकते हैं ? क्या वहाँ कोई यह कहने का साहस कर सकता है कि यह बेमानी है यदि उनके कथ्य को किसी और भाषा में सम्प्रेषित नहीं किया जा सकता, इसलिए कि वह स्वयं खुदा की जुबान है? तथापि यह तथ्य है कि कौत्स ने बहुत प्राचीनकाल में वेद के संदर्भ में ऐसा कहा और यास्क ने उसके इस दृष्टिकोण को बाकायदा उसके नामोल्लेख सहित अपने निरुक्त में दर्ज किया। उसने और भी कई प्रश्न उठाये जैसे यही, कि भाषा का अर्थ क्रिया में है या संज्ञा में। उन प्रश्नों पर उसके बाद भी निरन्तर वाद-विवाद-संवाद चलता रहा है। पाणिनि का प्रादुर्भाव उसके फौरन बाद होता है जिन्होंने न केवल संस्कृत भाषा के व्याकरण को सुव्यवस्थित किया, प्रत्युत एक आदर्श ढाँचा भी प्रस्तुत कर दिया। भारतीय परम्परा में रचे जाने वाले समस्त परवर्ती वैज्ञानिक ग्रन्थों के लिए।

ईसा पूर्व की तीसरी सहस्राब्दी के उत्तरार्द्ध में इस प्रकार ज्ञान के विविध क्षेत्रों में सूत्रबद्ध शास्त्रों की रचना का उपक्रम हुआ। इन सबके सब शास्त्रों के स्रोत और विकासबिन्दु 'उपवेदों' में निहित थे जो—जैसा कि हमने पहले कहा था—स्वयं वैदिक वाङ्मय का ही अंग थे। जो लोग भारत की आध्यात्मिक परम्परा की बहुत बात करते हैं वे भूल जाते हैं कि किस तरह—कम से कम आरम्भिक काल में—वेद का अर्थ कितना व्यापक—समावेशी था; उसमें वह सारा ज्ञान जुड़ा हुआ था जो अब प्रत्यक्ष और तर्कलभ्य ज्ञान समझा जाता है और पारमार्थिक ज्ञान से बलपूर्वक अलगाया जाता है। यह सच है कि परवर्ती काल में ज्ञान की शाखाओं का विभाजन और विशेषीकरण हुआ और हरेक को स्वायत्तता प्रदान कर दी गयी। किन्तु यह भी सच है कि इन विविध अनुशासनों की एकीकृत जड़ों को कभी भी विस्मृत नहीं किया गया। वस्तुत: देखा जाय तो, यह दावा कि सारे भारतीय शास्त्र अपना आध्यात्मिक आयाम रखते हैं, इसी जातीय स्मृति का अवशेष है। तथापि इस तथ्य को हमेशा स्मरण रखना चाहिए कि ज्यों ही कोई अनुशासन शास्त्र की तरह सूत्रबद्ध हो जाता है और अपनी स्वतंत्र—स्वायत्त हैसियत अख्तियार कर लेता है, त्यों ही उसका एक अपना ही जीवन-चक्र चल पड़ता है और उसमें आन्तरिक और बाह्य दोनों

ही स्तरों पर ऐसी समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनका उनके मूलोद्भव की परिस्थिति से कुछ खास लेना-देना नहीं होता। यह अपने आप में एक बड़ी समस्या है जिसके ब्यौरे में हम यहाँ नहीं जाएँगे।

ईसा के बाद की पहली सहस्राब्दी के आरम्भ में ही हम भारत में अनेकानेक ज्ञान-विज्ञान की शाखाओं तथा कलात्मक गतिविधियों का निरन्तर विकासक्रम देखते हैं। वैदिक वाङ्मय का औपनिषदिक चरण पूरा होता है, इसी परम्परा में उपवेदों का, धर्मसूत्रों, गृह्यसूत्रों और श्रौतसूत्रों का विकास अनन्तर अन्यान्य शास्त्रों के रूप में होता है जैसे, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, स्मृतिग्रन्थ और भी बहुत सारा सूत्र-साहित्य। अलावा इसके, दर्शन के क्षेत्र में मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, ब्रह्मसूत्रों और योगसूत्रों की भी रचना इसी दौरान अपनी परिणति को प्राप्त होती है। खगोलविद्या, गणित, औषधि-विज्ञान और व्याकरण, भाषा-शास्त्र इत्यादि का एक अलग ही समूह विकसित हो जाता है। यह वाङ्मय अत्यन्त विपुल और वैविध्यपूर्ण है; उनके अन्त: सम्बन्धों का कायदे से अध्ययन अभी तक किया ही नहीं गया। न उन बौद्धिक संस्थाओं का जिनकी संरक्षण तथा सम्प्रेषण सम्बन्धी व्यवस्थाएँ निश्चय ही बड़ी समृद्ध रही होंगी।

आमतौर पर इतिहासकारों का ध्यान भारतीय सभ्यता के इस अत्यन्त सृजनात्मक युग (ईसापूर्व की पहली सहस्राब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर ईसा बाद की पहली सहस्राब्दी के पूर्वार्द्ध तक) की उपलब्धियों या प्रक्रियाओं पर नहीं जाता। उनका ध्यान ज्यादातर बाहरी घटनाओं पर केन्द्रित रहा है- जैसे 343 और 340 बी.सी. के बीच इसी भारत पर हुए सिकन्दर के आक्रमण पर। जबकि वह आक्रमण भारत के एक सुदूर पश्चिमोत्तर प्रान्त तक सीमित था और उसमें भी ऐसी स्थिति निर्मित हुई थी जिसमें सिकन्दर की सेनाओं ने लड़ने से इनकार कर दिया और उसे वापस जाना पड़ा। ध्यान देने योग्य बात यह है कि उस युग की या बाद की भी किन्हीं भी रचनाओं में इस घटना का उल्लेख नहीं पाया जाता। जाहिर है, इसीलिए, कि भारतीय परिदृश्य में, भारतीय दृष्टि से देखने वालों को यह घटना महत्त्वपूर्ण क्या, उल्लेख योग्य भी नहीं लगी। सवाल यह है कि क्या भारत में रहने वाला आज का कोई भी इतिहासकार चीजों को भारतीय दृष्टिकोण से देखता है, या कि देखने की क्षमता है उसके पास ? पाश्चात्य चेतना में सिकन्दर का अभियान जरूर काफी बड़ा दीखता होगा और उसकी पश्चिम के इतिहास में महत्त्वपूर्ण भूमिका भी रही होगी। विडम्बना मगर यह है कि उनका इतिहास ही आज बाकी सारी पृथ्वी के निवासियों का इतिहास बन चुका है। सिकन्दर का आक्रमण बहुत अल्पजीवी था। उसका महत्त्व भी, भारतीय दृष्टि में केवल गान्धार-कला के संदर्भ में तथा सिकन्दर की मृत्यु के उपरान्त कई स्वतंत्र इण्डो-ग्रीक राज्यों की स्थापना तक सीमित था। इन्हीं राज्यों में भारतीय और यूनानी विचार-परम्पराओं के बीच कुछ सार्थक अन्त:-क्रिया हुई। पश्चिम एशिया के आर-पार उत्तरी भारत से ठेठ यूनान तक सिकन्दर के उत्तराधिकारियों के राज्य फैले हुए थे और उनमें जो विचारों का आदान-प्रदान हुआ होगा उसने भारत में ही क्यों, यूनान में भी दूरगामी परिणाम उपजाये होंगे। अरस्तू के बाद यूनानी चिंतन में हुए विकास को भारतीय प्रभाव के बिना समझना कठिन होगा। मसलन 'स्टॉइक' तथा 'एपीक्यूरियन' विचारधाराओं का विशिष्ट भारतीय विचारधाराओं के साथ जो आश्चर्यजनक साम्य दीखता है, उसे और कैसे समझेंगे ? यहाँ तक कि प्लेटो के चिंतन में भी विशिष्ट भारतीय गन्ध और स्वाद साफ पहचाना जा सकता है। और, वह कथा भी किसे मालूम नहीं जिसमें अरस्तू अपने शिष्य सिकन्दर से आग्रह करता है कि वह भारत से किसी मनीषी को जरूर लेकर आये। यह किस्सा सच्चा हो चाहे न हो, कम से कम इतना तो दर्शाता ही है कि उस समय भी भारत की तात्कालीन विश्व में पहचान आध्यात्मिक बुद्धि वैभव के कारण ही थी। महावीर एवं बुद्ध की कीर्ति भी तब तक दूर-दूर तक फैल चुकी होगी। यह अविश्वसनीय जान पड़ता है कि पश्चिमोत्तर भारत में चलने वाला यह सांस्कृतिक विनिमय सीमान्तों के पार नहीं पहुँचा होगा।

जहाँ तक यूनानी प्रभाव का प्रश्न है, यह गान्धार कला में तथा भारतीय कृतियों में आये यूनानी गणितज्ञों के उल्लेख से जगजाहिर है। कुषाण और शक साम्राज्यों ने उत्तर पश्चिमी भारत के बड़े हिस्से को मध्य और पश्चिम एशियाई प्रान्तों से मिला दिया था और भारत के पश्चिमी तट से रोम के साथ होने वाले व्यापार के जो प्रचुर प्रमाण 200 ए.डी. के आसपास के उपलब्ध हैं, उनसे विभिन्न सभ्यताओं के बीच फैले आदान-प्रदान के बड़े विस्तृत तन्तुजाल का पता चलता है। न केवल वस्तुओं के आदान-प्रदान का बल्कि विचारों के विनिमय का भी। इस सबकी धुँधली जानकारी भर हमारे लोगों को होती है। किन्तु उसकी व्यापक अर्थवत्ता में उतरने का उत्साह पता नहीं क्यों किसी को नहीं होता।

ईसा-पूर्व की पहली सहस्राब्दी के उत्तरार्द्ध की तथा ईसा-पश्चात् की प्रथम सहस्राब्दी की कथा अभी लिखी जानी है। जो तस्वीर अभी प्रचलित है—कम से कम दर्शन के क्षेत्र में—वह पूर्णत: गलत व भ्रामक जान पड़ती है क्योंकि वह बौद्ध चिंतकों के तात्कालीन दबदबे को बहुत घटाकर दिखाती है। इस विषय पर जो कुछ लिखा मिलता है उससे हमारे ऊपर यही छाप पड़ती है कि यह समूचा काल औपनिषदिक वेदान्त-दर्शन की धारा से अनुप्राणित रहा था। तथापि, आठवीं शताब्दी के शंकराचार्य से पहले ब्रह्मसूत्रों पर किसी भी भाष्य की सम्पूर्ण अनुपस्थिति कुछ और ही जताती है। यही हाल वेदों का है जिनके बारे में यास्क के निरुक्त के पश्चात् सातवीं-आठवीं सदी तक कोई ग्रन्थ नहीं लिखा मिलता, जब वल्लभी राज्य के अंतर्गत पहली बार उन पर सीधा काम किया गया। वैदिक अध्ययन का वास्तविक पुर्नजन्म केवल विजय नगर के साम्राज्य में ही सम्भव हुआ जो चौदहवीं शताब्दी के बाद फला-फूला था। यह सही है कि हमारे पास मीमांसा-सूत्र और शबर का भाष्य तथा कुमारिल और प्रभाकर की सुप्रसिद्ध कृतियाँ विद्यमान हैं। किन्तु ये कृतियाँ सीधे वैदिक पाठों से जुड़ी हुई नहीं हैं। तथ्य यही है कि भारतीय दर्शन की तथाकथित 'ऑर्थोडॉक्स' परम्पराओं के अन्तर्गत रची गयी समस्त दार्शनिक कृतियों को भी जोड़ दें तो उनका योगदान बौद्ध-दर्शन के ग्रन्थों की संख्या के आधे तक भी कदाचित ही पहुँचेगा।

किन्तु दर्शन इस सहस्राब्दी में सृजित भारतीय सभ्यता के बहुमुखी कृतित्व का केवल मात्र एक आयाम भर है और शायद आप लोगों को यह जानकर उतना ही अचम्भा होगा, जितना मुझे हुआ था, जब मैनें जाना कि सहस्राब्दी के अन्त में जो हमारे महानतम विचारकों में से एक हुआ था और जो स्वयं को आधुनिक कहता था, उसने स्वचेतन ढंग से अपने को पूर्ववर्ती आचार्यों से अलग किया था। इस विचारक का नाम था उदयन—महान दार्शनिक, जो दसवीं शती के आसपास सक्रिय था।

बेशक, इस सहस्राब्दी का अन्त महमूद गजनबी के लगातार एक के बाद एक किये गये आक्रमणों से होता है। सोमनाथ मंदिर को उसके द्वारा ध्वस्त किये जाने की कथा इस काल के इतिहास-लेखकों द्वारा खूब बखानी गयी है। सोमनाथ ध्वंस की समकक्ष बौद्धिक घटना के रूप में अलबेरूनी के यात्रा-वृत्तान्त की भी बहुत चर्चा हुई है जिसमें अलबेरूनी ने भारतीय विद्वानों की आत्म-तुष्ट और संगोपनशील मानसिकता की आलोचना की है। कहा है कि इन लोगों में बाहर वालों की ज्ञान-सम्पदा के प्रति कोई जिज्ञासा नहीं है। अलबेरूनी के वक्तव्य को इतना तूल दे दिया गया है कि वह विश्वभर में ब्राह्मण बुद्धिजीवियों के चरित्र का प्रामाणिक चित्र मान लिया गया है। मगर इस तथ्य को बड़ी आसानी से भुला दिया गया है कि यह उस आदमी की साखी है जो विजेता महमूद गजनबी के साथ भारत आया था जिसे भारत की धर्मप्राण संस्कृति से घृणा थी और जो उस सबको निरंकुश ढंग से नष्ट करने में जुटा हुआ था जो भारत के लोगों के लिए दिव्य और पावन था। ऐसी हालत में अलबेरूनी कैसे उन लोगों से यह अपेक्षा करता था कि वे उसे वह सब उत्साहपूर्वक बताने को प्रस्तुत होंगे जो वह उनसे जानना चाहता था? वास्तव में खुद अलबेरूनी ने ऐसी बात कही है जो किसी को धक्का पहुँचाने और

उसकी आँखें खोलने को पर्याप्त है। वह यह कि सिवा उन लोगों के जो किसी तरह भाग निकले- हमारी पहुँच के बाहर—हमने जो भी हमारे हाथ आ गये उन सभी को नष्ट कर दिया है। ठीक-ठीक शब्द भले यह न हो, किन्तु अर्थ कुल-मिलाकर उसके वक्तव्य का यही है।

तो भी, अलबेरूनी की भारत-यात्रा का एक-दूसरा आयाम भी है जिस पर हमारा ध्यान जाना चाहिए। वह यहाँ मनीषियादें की खोज में नहीं आया था, बल्कि गणित, खगोल, औषध-विज्ञान और इस तरह के व्यावहारिक उपयोग के ज्ञान-विज्ञान का पता लगाने आया था जिनके लिए भारत तब की सारी दुनिया में खासा जाना जाने लगा था। अरब लोगों पर यूनानी विद्वत्ता का प्रभाव तो सर्वविदित है परन्तु भारतीय विद्वत्ता ने अरबी दुनिया में ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में हो रहे विकास को कितना और किस तरह प्रभावित किया, इस बारे में बात बहुत कम हुई है। अरबी अंकों की बात जरूर होती है जो भारत से लिये गये थे। मगर उसके बाद.....मानों कहानी शून्य है। इसी तरह भारत पर अरबी विद्वत्ता के असर के बारे में भी कोई चर्चा नहीं करता। इतिहासकारों की दिलचस्पी तो लगता है, सिर्फ लड़ाईयों और तबाहियों के ब्यौरों में रहती है और हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष की शब्दावली में कहानी कहने में—भले यह जाना-माना तथ्य हो कि भारत में ही मुस्लिम शासकों के बीच आपस में युद्ध लड़े गये जिस तरह हिन्दू राजाओं के बीच भी।

ईसा के बाद की दूसरी सहस्राब्दी की कहानी को कई तरीकों से देखा जा सकता है। किन्तु इसे बलपूर्वक रेखांकित करना जरूरी है कि न केवल सोमनाथ के मंदिर का ध्वंस के बाद शीघ्र ही पुर्ननिर्माण किया गया, बल्कि इस घटना के बाद काफी अन्तराल से उड़ीसा और मध्यप्रदेश के विख्यात मंदिर-समूहों की रचना हुई। भुवनेश्वर और खजुराहों के भव्य मंदिर इस तथ्य के जीवित प्रमाण हैं कि गजनबी के विनाशकारी आक्रमणों का उत्तर भारत के कुछ हिस्सों को छोड़कर कहीं कोई खास असर नहीं पड़ा और जहाँ पड़ा, वहाँ भी थोड़े से समय के लिए। नालन्दा का महान बौद्ध विश्वविद्यालय दो सौ बरस आगे तक फलता-फूलता रहा जब तक बख्तियार खिलजी ने आकर न केवल विशाल भू-भाग में फैले उनके विहारों को धूल में मिला दिया, बल्कि लगभग उन सारे ही आचार्यों और स्थविरों की हत्या कर डाली जो वहाँ रहते और पढ़ाते थे। इतिहास में शायद ही कभी इतने सारे बुद्धिजीवियों का इतने कम समय के भीतर इतनी तेजी और आकस्मिकता के साथ कत्ले-आम हुआ होगा। भारत में बौद्ध दर्शन इस भयंकर विनाशलीला के बाद बचा नहीं रह सका क्योंकि इस तारीख के (1200 ए.डी.) बाद कोई बौद्ध विचारक प्रकट हुआ नहीं दीखता। जबकि 1000 ए.डी. और 1200 ए.डी. के बीच के दो सौ बरसों में वे काफी तादाद में मौजूद थे। वस्तुत: इस दौरान उनकी संख्या वेदान्तियों से कहीं अधिक थी जबकि यह शंकराचार्य से काफी बाद की बात है जिन्हें आठवीं सदी में ही भारत से बौद्ध दर्शन के उन्मूलन कर श्रेय दिया जाता है। विचित्र तथ्य यह भी है कि जैन धर्म भी 1000 ए.डी. के बाद खासा फलता-फूलता दिखाई देता है और जैन दर्शन के विद्वानों की संख्या भी वेदान्तियों से अधिक थी।

अद्वैत वेदान्तियों को जो चुनौती मिली, वह एक दूसरी जगह से। यमुनाचार्य से आरम्भ करते हुए एक पूरी श्रृंखला महान् वेदान्ती आचार्यों की दक्षिण में प्रगट हुई जिन्होंने शंकर कृत उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रों के भाष्य से असहमति प्रकट की। अब दार्शनिक गतिविधि का केन्द्र विन्ध्याचल के और नर्मदा के दक्षिण की ओर खिसक गया। यामुनाचार्य ने वेद के समकक्ष ही आगम-ग्रन्थों की प्रामाणिकता स्थापित करते हुए आगम-प्रामाण्य लिखा। इससे भी गम्भीर चुनौती वीर शैव सम्प्रदायों की ओर से प्रस्तुत हुई जिन्होंने खुले तौर पर वेद के प्रमाण को अस्वीकार किया और अपने ग्रन्थ तमिल भाषा में लिखे। दक्षिण में ही शैव सिद्धांत का आन्दोलन खड़ा हुआ। इसके अतिरिक्त तर्कशास्त्र और ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्रों में भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई जिसके केन्द्र पूर्वी भारत में—खासकर बिहार तथा

बंगाल में थे जहाँ गंगेश से गदाधर तक एक से एक बौद्धिक चमत्कारों का बोलबाला रहा। दक्षिण और पूर्व इस प्रकार महान बौद्धिक गतिविधियों के केन्द्र बने इसी सहस्राब्दी के पूर्वार्द्ध में। ठीक इसी वक्त, जिस वक्त उत्तरी भारत एक के बाद एक राजवंशों के मुस्लिम शासकों के आधिपत्य से गुजरता रहा और जिनका वास्तविक नियन्त्रण दिल्ली और आगरा के आसपास ही केन्द्रित रहा।

इस युग के इतिहासकारों ने अपना समूचा ध्यान उत्तरी भारत की राजनैतिक घटनाओं पर ही केन्द्रित किया है और इसीलिए उस काल का बड़ा एकांगी और विकृत चित्र ही वे प्रस्तुत कर सके हैं। समझ में नहीं आता यह किस तरह का इतिहास लेखन है, जो पूरी तरह दिल्ली आगरा में हुकूमत चला रहे गिने-चुने राजवंशों पर ही सिमटा रहता है और दक्षिण में चार सौ बरसों तक अत्यन्त सफलतापूर्वक सक्रिय चोल शासन की अद्‌भुत उपलब्धियों को बिल्कुल नज़रअन्दाज कर देता है। चोलों ने ही न केवल सीलोन जीता, बल्कि इण्डोनेशिया तक जा पहुँचे थे। हमें याद रखना चाहिए कि दक्षिण में न केवल हिन्दू राज्यों की एक गौरवशाली परम्परा ग्यारहवीं सदी से लगाके कोई पाँच-साढ़े पाँच सौ वर्षों तक फलती-फूलती रही—विजयनगर साम्राज्य के अन्त (1567 ए.डी.) तक, बल्कि ज्ञान और सर्जना के सभी क्षेत्रों में भारतीय सभ्यता के प्रगतिशील अभियान का सिलसिला अपने नैरन्तर्य और विकासशीलता का असंदिग्ध प्रमाण प्रस्तुत करता रहा। चोल-कांस्य मूर्तियाँ विश्वविख्यात हैं और इसी तरह विजयनगर साम्राज्य के अन्तर्गत सायणाचार्य द्वारा किया गया वेदभाष्य भी। केरल भी रचना की दृष्टि से बहुत समृद्ध रहा इस काल में, कहा जाता है कि न केवल साहित्य और कलाओं में, बल्कि गणित और व्याकरण जैसे ज्ञान-क्षेत्रों में भी वहाँ जबर्दस्त प्रगति हुई। किन्तु उस तरफ भी अपेक्षित ध्यान नहीं दिया गया है। इतिहास जो कथा कहता है वह गौरी वंश, गुलाम वंश, खिलजी वंश, तुगलक वंश, सैयद वंश, लोदी सल्तनत और मुगल सल्तनत की कथा है। यही वह तस्वीर है, खण्डित और विकलांग, जो इतिहासकारों ने बनायी है। जहाँ तक उत्तर भारत का सम्बन्ध है, शायद मात्र एक तुगलकों को छोड़कर वास्तविक सृजनात्मक गतिविधियाँ मुगलों के ही आगमन के साथ सम्भव हो पायीं जिनका प्रभावी शासनकाल 1527 ए.डी. में हुई पानीपत की लड़ाई से नहीं, बल्कि 1540 या 1500 ए.डी. के आसपास शुरू हुआ माना जाना चाहिए जब अकबर ने गुजरात विजय के साथ अपना साम्राज्य सुदृढ़ किया। तो भी, उत्तर भारत में इस्लामी शासन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ स्थापत्य, प्रशासन, चित्रकला और संगीत के क्षेत्रों में हुई है यद्यपि इतिहासकारों के वृत्तान्तों में उन पर बहुत कम ध्यान दिया गया है।

यही काल समस्त भारत वर्ष में सन्त कवियों के उत्कर्ष का भी स्वर्ण-युग है। देशी भाषाओं में साहित्य-रचना का एक नया युग तभी प्रारम्भ होता है। राष्ट्रीय पुनरुत्थान को समर्पित नये केन्द्रों की नींव भी इसी दौरान पड़ती है जैसे कि चैतन्य महाप्रभु के नेतृत्व में वृन्दावन में सोलहवीं सदी के अन्तिम दशकों में। नहीं भूलना चाहिए कि वृन्दावन न केवल मथुरा के बहुत निकट है, बल्कि आगरा भी वहाँ से पास ही है—वह आगरा जो वैभवशाली मुगल-साम्राज्य के मध्यान्ह के सूर्य की तरह चमक रहा था। अकबर निश्चय ही महान शासक था और उसने जो साम्राज्य खड़ा किया वह 1907 ए.डी. में औरंगजेब की मौत तक कायम रहा।

इसके बाद की कहानी सभी को मालूम है। 1757 ए.डी. में प्लासी का युद्ध होता है और 1857 ए.डी. में उत्तरी भारत का पहला संयुक्त और विफल अभियान अंग्रेजों को हिन्दुस्तान की सरजमीं से खदड़ने का। यह सपना 1947 में पूरा होता है—1857 में अंग्रेजों को अपनी सारी नयी टेक्नोलॉजी और शक्ति के साथ समूचे देश पर अपना आधिपत्य कायम करने में सौ साल लगे और यहाँ से जाने के लिए मजबूर किये जाने में सिर्फ नब्बे साल।

1947 के पहले की कथा अकल्पनीय सी जान पड़ती है। राजा राममोहन राय से लगाकर गाँधी

तक जो विलक्षण विभूतियों की पूरी पाँत की पाँत इस छोटे से कालखण्ड के भीतर एक के बाद एक हमारी आँखों के सामने गुजरती है, वह किसी भी अन्य सभ्यता के इतिहास में अनूठी और अतुलनीय कही जायेगी। अक्षरश:। फिर भी आज जब हम अपने चतुर्दिक के परिवेश पर निगाह डालते हैं या सुबह का अखबार पढ़ते हैं तो भीतर से विषण्ण और निस्तेज महसूस करते हैं। किन्तु हमें सभ्यताओं को दीर्घकालीन अभियानों की तरह देखना-सीखना होगा। पीछे मुड़कर देखें और इतिहास के समूचे दीर्घकालीन परिप्रेक्ष्य में अपने को रखकर सोचें तो हमें कुछ अलग तरह का अहसास होगा। आखिर 1947 के बाद के भारत की भी तो अपनी बड़ी उपलब्धियाँ है। उनका संक्षिप्त भी सर्वेक्षण करें तो हम पायेंगे कि हम पर जो भी गुज़री है, बुरी नहीं गुज़री है, बल्कि हमने सुनिश्चित ठोस प्रगति की है। जनसंख्या में अकल्पनीय वृद्धि के बावजूद हम इस पूरे समय के दौरान किसी बड़े पैमाने पर अकाल-भुखमरी के शिकार नहीं हुए। यही अपने आप में ऐसी उपलब्धि है जिसकी मिसाल ब्रिटिश राज या मुगल शासन दोनों में नहीं मिलेगी। द्वितीय महायुद्ध के दौरान पड़ा मनुष्य-निर्मित बंगाल का अकाल जरूर अंग्रेजी राज की उपलब्धियों में गिना जाएगा। स्वतंत्रता के बाद भारत की उपलब्धियाँ विस्मयजनक है, संख्या की दृष्टि से; हालाँकि प्रति नागरिक की आय के हिसाब से देखा जायेगा तो उपलब्धि नगण्य लगने लगेगी। विज्ञान के क्षेत्रों में, यथा न्यूक्लियर टेक्नालॉजी तथा अन्तरिक्ष विज्ञान में, जहाँ पश्चिमी ताकतें अपने ज्ञान को प्रगट करने के मामले में अत्यन्त गोपनीयता बरतती रही हैं, भारत दूसरे देशों के लिए ईर्ष्या का विषय बन गया है। इतना ही नहीं, वर्णपट के दूसरे छोर पर, गाँधी की विरासत भी नष्ट हुई ऐसा कदापि नहीं कहा जा सकता। उसे लेकर पहले विनोबा ने, तत्पश्चात् जयप्रकाश नारायण ने बड़े पैमाने पर प्रयोग किये ही। यद्यपि यह सही है कि उनके प्रयोग सफल नहीं हुए, तथापि यही तथ्य, कि वे आजमाये गये, यही जताने को काफी है कि लोग गाँधी को भूले नहीं थे। उनके बाद भी अभी हाल में ही पाण्डुरंग शास्त्री आठवले का स्वाध्याय आन्दोलन चुपचाप अपना काम करता रहा है। ऐसा नवीन प्रयोग जिसने लाखों देशवासियों की रोजमर्रा की जिन्दगी में अद्‌भुत रूपान्तरण सम्भव कर दिखाया। तो कैसे कहा जाय, वह गाँधीवादी आध्यात्मिक विरासत मिट गयी ?

परन्तु मैं आप लोगों को यह सब क्यों बता रहा हूँ ? शायद आप लोग कम से कम पाँच सहस्राब्दियों से अभी तक चली आ रही इस कहानी के ब्यौरों से उकता गये होंगे। नहीं ? मैं सिर्फ आपको याद दिलाना चाहता हूँ कि अब इस तीसरी सहस्राब्दी में प्रवेश करने के पूर्व हमें एक बार पीछे मुड़कर देख लेना चाहिए और अपनी सभ्यता की उस सुदीर्घ यात्रा की समूची झलक पा लेनी चाहिए कि कितनी दूरी हमने तय की है। ऐसा करने से हममें अपने अतीत से प्रोत्साहन और संकल्प-साहस बटोरकर भविष्य में संक्रमण करने का हौसला जागेगा। हाँ, नयी सहस्राब्दी में प्रवेश करते हुए उसकी दहलीज़ पर हमें एक और तर्क दिखाई देता है। इस प्रत्यवलोकन की अनिवार्यता का। वह यह, कि पिछले एक सौ पचास बरसों में कुछ ऐसा घटित हुआ है जो हमारी इस भारतीय सभ्यता के पाँच हजार बरसों के इतिहास में भी कभी नहीं घटा, जो सचमुच अभूतपूर्व घटना है। वह घटना यह है कि हम लोग पहली बार अपनी सभ्यता के ज्ञानात्मक अतीत की जातीय स्मृति से कट गये हैं—उस स्मृति से, जो आत्म-चेतना के स्तर पर इस सभ्यता के 'होने' की, उसके अस्तित्त्व की ही बुनियादी शर्त रही है।

सन् 1857 में अंग्रेजों ने भारत में अपने विश्वविद्यालय स्थापित किये थे और तब से वे बाढ़ की तरह फैलते रहे हैं और उन्होंने हिन्दुस्तानियों के भीतर एक नये ही वर्ग को पनपाया है—जिस वर्ग में हम और आप सभी आते हैं—जो अपने मुल्क और उसके लम्बे अतीत से कहीं ज्यादा पश्चिम के बारे में जानते हैं। ज्ञान के बारे में हम केवल वही जानते हैं जो पश्चिम ने उपजाया है—यूनानियों के वक्त से लगाकर आज तक। क्योंकि हमारे स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालयों में—जहाँ हमारे दिलोदिमाग की ढलाई होती

है—वही पढ़ाया जाता रहा है। इस प्रकार एक ऐसी मानसिकता का निर्माण हुआ है जिसमें हर आदमी भीतर से यही मानकर चलता है कि सारे ज्ञान की जड़ें पश्चिम में हैं कि भारतीय सभ्यता का या शायद किसी भी अन्य पश्चिमोत्तर सभ्यता का अतीत इस दृष्टि से शून्य है, उसका विश्व सभ्यता को कोई योगदान नहीं है और हमारे यहाँ अगर कुछ है जिससे हम थोड़ी-बहुत उम्मीद कर सकते हैं, तो वह है सिर्फ़ अध्यात्म, धर्म या विज्डम, जो भी उसे कह लें।

हमारी सभ्यता का यह सर्वग्रासी स्मृतिभ्रंश हमारे भीतर इतनी गहरी जड़ पकड़ चुका है कि हममें से अधिकांश इस तथ्य से बिलकुल भी अवगत नहीं होते कि हम अपने इतिहास के हजारों वर्षों के दौरान इन सब ज्ञानात्मक अभियानों से गुजर चुके हैं और उनसे गुजर कर ही यहाँ तक पहुँचे हैं। हमारी यह स्मृति-भ्रष्ट बदहाली उस शिक्षा-पद्धति की देन है जो अंग्रेजों ने इस देश में रोपी और जिसकी परिणति एक भयानक रंगभेद सरीखे पार्थक्य (अपार्थीड) में हुई है। एक तरफ वे लोग हैं जो अभी भी किसी तरह ज्ञान की परम्परागत पद्धतियों से चिपके हुए हैं, और दूसरी तरफ वे जो उन विषयों का उस पद्धति से अध्ययन करते हैं जिसे 'मॉडर्न' कहा जाता है। इन दो वर्गों के बीच किसी तरह के संवाद या सम्प्रेषण की गुंजाइश ही नहीं बची है। चूँकि ये 'मॉडर्न' ही देश के वास्तविक सत्ताधारी एलीट के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके हैं और चूँकि वही अपने को इस सभ्यता का एकमात्र प्रतिनिधि मानते-समझते हैं, इससे एक ऐसी विचित्र और असंगतियों से पटी हालत पैदा हो चुकी है कि इस देश का सभ्यतागत अतीत, जिसने अपने आपको पाँच हजार बरसों और उथल-पुथल से भरे बरसों में भी निरन्तर कायम और सक्रिय रचनाशील रखा, उसके सामने अब इतिहास की इस घड़ी में सम्पूर्ण आत्म-विस्मृति और पूरी तरह उजड़ जाने का खतरा उपस्थित है। यह खतरा पश्चिमी विद्वानों द्वारा प्रवर्तित और भारतीयों द्वारा बिना विचारे अपना लिये गये इण्डोलॉजिकल दृष्टिकोण से और गहरा गया है। उस दृष्टिकोण के अनुसार इस सभ्यता के बौद्धिक अतीत को अभिलेखागारों तथा पुस्तकालयों में सुरक्षित कर लेना चाहिए जिस तरह प्राचीन मिश्र में लोग शवों को ममी बनाकर दफ़नाते थे। ताकि वे अध्ययन और शोध के लिए उपयुक्त सामग्री की तरह सुलभ हो सकें, बस। इस तरह का दृष्टिकोण भारतीय अतीत को शव में बदल देता है और उसे पिरेमिड के लायक ही बना छोड़ता है।

हो सकता है, बहुतों को यही तरीका ठीक लगता हो, परन्तु सही बुद्धि यही कहती है कि इस सभ्यता को—अद्यावधि जीवित-प्राणवन्त सभ्यता को—बनाए रखने का, उसके रख-रखाव का, यह कोई उपाय नहीं है। जो इसे अपना रहे हैं, वे लोग हैं जो तरह-तरह के कोश तैयार करते हैं, हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज करते हैं और फिर उन्हें वातानुकूलित पुस्तकालयों-अभिलेखागारों में ले आते हैं और कभी-कभार उन्हें सम्पादित करके छपा भी देते हैं। इस किस्म की गतिविधियाँ ठेठ सन् 1784 से—जब 'एशियाटिक सोसाइटी' स्थापित की गयी थी—तब से चली आ रही है : इस देश में भी और विदेशों में भी। कई सारे हमारे विद्वान लोग इन ग्रंथों का अंग्रेजी में अथवा भारतीय भाषाओं में अनुवाद करने में जुटे हुए हैं। हो सकता है, उनके उद्देश्य निर्दोष हों, तो भी ये निर्दोष उद्देश्यों से प्रेरित विद्वज्जन सुविधापूर्वक भूल जाते हैं, इस बात को, कि भारतीय सभ्यता को अपना कोई भी उद्योग इस तरह 'प्रिज़र्व' करके रखने की नौबत कभी नहीं आयी—ज्ञात इतिहास की समूची अवधि में। वे यह भी भूल जाते हैं कि इस तरह के संरक्षणात्मक क्रियाकलाप जितने बढ़ते जाते हैं उतना ही लोगों का अपने देश की अतीत परम्पराओं का ज्ञान विस्मृत होता जा रहा है। विडम्बना यह है कि जितना ही प्राचीन ग्रन्थों के मुद्रण का कार्य बढ़ता जा रहा है उसी अनुपात में अपनी संस्कृति के सरलतम पाठों को सीखने-समझने की हमारी क्षमता क्षीण होती जा रही है। जहाँ तक पाण्डुलिपियों को समझने का सवाल है, उन्हें तो पढ़ने-समझने की कौन कहे, सुरक्षित रखने के लिए ही पाण्डुलिपि-विज्ञान के विभाग खोलने पड़ रहे हैं।

यह सारी वस्तुस्थिति सभी लोग जानते हैं। तथापि जिसका भी भारत के अतीत से जरा भी लेना-देना है, उसे इस संकट के इलाज या सुधार का इसके सिवा और कोई उपाय नहीं सूझता कि जैसे भी हो, यह संरक्षण वगैरह का काम ही तेज किया जाय और सरकारी संस्थान इसके लिए जितना हो सके, उतनी धनराशि मुहैया करें। इस विडम्बनापूर्ण कर्म को परम्परा का 'सरंक्षण' कहा जाता है। मैं जोर देकर इस बात को कहना चाहता हूँ कि अतीत-संरक्षण की इस धारणा को जब तक पूरी तरह त्याग नहीं दिया जाता, तब तक इस देश की अतीत परम्परा को बचाने या उसका जतन कर सकने की उम्मीद रखना बिल्कुल बेकार है। परम्पराएँ उनको जाग्रत साक्षात् जीवन से काट करके विच्छिन्न करके न तो बचायी जा सकती हैं, न चुस्त-दुरुस्त रक्खी जा सकती हैं। अनका सही रख-रखाव तभी सम्भव है जब वे उनका अध्ययन या शोध करने वालों के सक्रिय बुद्धिजीवन का साक्षात् जीवन्त अंग बन सकें। इसका तात्पर्य यही है कि उनका अनवरत आलोचनाप्रवण अनुशीलन होता रहे ; वे हमारे जीवन्त संवाद में शामिल हों और हमारे जीवन्त अनुभव की रोशनी में परखी जाती रहें; संशोधित परिमार्जित की जाती रहें। साथ ही जिन दिशाओं में विकास हमें अभीष्ट है उनके संदर्भ में भी वे हमारे जीते-जागते सरोकार बनें।

अर्थात् जिसे हम रख-रखाव या 'मेण्टेनेन्स' कह रहे हैं उसकी प्रक्रिया पुनर्नवीकरण से अलगायी नहीं जा सकती। और पुनर्नवीकरण को फिर उसी तरह विकास के प्रश्न से काटकर नहीं देख सकते। ये तीनों बातें एक ही क्रिया के तीन पहलू हैं : अर्थात् जो हमें मिला है, जो हमारी विरासत है, उसके साथ जीवन्त क्रिया-प्रतिक्रिया का सम्बन्ध और इस प्रतिक्रिया में उसे परिवर्तित करने की सहज तत्परता—ऐसी आत्म-चेतना के साथ जो कि आलोचना प्रवण भी होगी, गुण-स्वीकारी भी होगी और सृजनशील भी होगी। और तीनों एक साथ होगी। ये तीनों आयाम आपस में लगे-लिपटे हुए होते हैं फिर भी हमारी प्रवृत्ति उन्हें अलगाने की है। ग्रहण करनेवाली और निर्णय करने वाली आत्म-चेतना का अर्थ ही होता है —उस निर्णय का एक ओर हमारी भावनाओं पर प्रभाव पड़ना और दूसरी ओर सम्यक् कर्म की दिशा में हमें प्रेरित करना। तो वैसा ही सभ्यता के अतीत की हमारी समझ के साथ भी होना चाहिए। परम्पराओं को यथावत्, जैसी वह है या थी—मानना एक निरी भ्रान्ति है जो इस तथ्य से पोषित होती है कि हमें खुशफ़हमी है कि हम उसकी रक्षा को सुनिश्चित करने वाले काम में संलग्न हैं—उसे यथावत् अतीत की जैसी शुद्धता में कायम रख के। आखिर एक जीवित वस्तु एक मृत वस्तु से किस मायने में अलग होती है ? इसी में न, कि जहाँ मृत वस्तु को हम कुछ लक्षणों के आधार पर पहचानते हैं, जीवित वस्तु को हम उस तरह कभी नहीं समझ सकते। उसे हम केवल उसके उद्देश्य या पुरुषार्थ या अभीप्सा की शब्दावली में ही ग्रहण कर सकते हैं। कि वह किस तरह चरितार्थ होने की कोशिश करती है और अपने में किस अभीप्सा को साकार करने की उसकी अन्दरूनी माँग है। इस तरह उसका 'होना' उसके होते रहने यानी परिणमन की प्रक्रिया में ही सन्निहित है—वह परिणमन, जो कभी समाप्त होने वाली प्रक्रिया नहीं है। क्योंकि यदि कोई वस्तु निरन्तर जीवित रही आती है, तो वह अन्तर्विवश है उस आदर्श को साकार-चरितार्थ करने के लिए, जिसका उसे संज्ञान होता है। भारतीय परम्परा जिसे 'पुरुषार्थ' कहके पहचानती है, उसका यही अर्थ है, हालाँकि उसे इस तरह समझा या समझाया नहीं गया है।

मैं इसलिए भारत के अतीत को एक बार फिर से जीवन्त बनाने के लिए एक तिहरी रणनीति प्रस्तावित करना चाहूँगा। पहला कदम होगा उसके प्रति सचेतन-जागरूक हो जाना। लेकिन—जैसाकि मैंने अभी—अभी कहा—किसी जीवित वस्तु के बारे में जागरूक होना उसकी अभीप्सा के बारे में सचेतन होना है और यह अभीप्सा, यह खोज कई दिशाएँ अपना सकती है, कई रूप धारण कर सकती है। जागरूक होने का मतलब, इसीलिए उन अवधारणाओं, जिज्ञासाओं, समस्याओं और विचारों के प्रति जागरूक होना है जिनका अतीत में सामना किया गया, अनुधावन किया गया और फिर उन्हें

सूत्रबद्ध किया गया। परन्तु चूँकि यह सब उस विशेष संदर्भ में घटित हुआ जिसमें वह अपने उद्भव की प्रक्रियाओं द्वारा ही बँधा हुआ था, इसलिए उसका एक विशेषीकृत रूप रूढ़ हो चुका रूप है जिससे उसे मुक्त किया जाना जरूरी है। ताकि उसमें जो कुछ सचमुच सार्वभौम है, उसे स्वायत्त किया जा सके। जिससे वह हमारे उस नये जीवन-संदर्भ में चरितार्थ हो सके जिसमें हम आज जी रहे हैं। यह स्वायत्तीकरण,समझने का यह उपक्रम, इसे एक पुरुषार्थ की तरह हमारे लिए प्रस्तुत करता है। अर्थात् ऐसे नये से नये जीवन्त रूपों में, जो कभी नहीं चुकते, वह अपने को उद्घाटित और चरितार्थ करने की चुनौती हमारे सम्मुख पेश करता है। अपनी प्रकृति से ही कोई आदर्श या पुरुषार्थ कभी भी इस लोक में अपनी सम्भावनाओं को सौ फीसदी चरितार्थ नहीं कर सकता। इसीलिए वह आदर्श है और इसीलिए वह वरणीय है।

एक विपुल-विराट् सभ्यता की धरोहर—जैसी कि हमारी सभ्यता रही और है - इस तरह एक असमाप्य कार्य की तरह होती है, जिसे हमको अतीत की पीढ़ियों की ओर से सौंपे गये दायित्व की तरह अनुभव करना चाहिए। ऐसी धरोहर, जिसके प्रति हम ऋणी अनुभव करते हैं—उस सारी समृद्धि के लिए जो वह हमारे लिए छोड़ गयी है। जिसे उसने अभी अधूरे कार्य की तरह हमारे करने के लिए छोड़ा है—अपनी योग्यता, अपनी अन्तर्दृष्टियों के अनुसार।

वर्तमान का संदर्भ वह है जहाँ हम सिर्फ एक, मात्र एक सभ्यता द्वारा चारों तरफ से घिर गये हैं, आक्रान्त हैं। हमारी ही जैसी दुखद—विडम्बनापूर्ण नियति अन्य सभ्यताओं की भी है। शायद आगामी सहस्राब्दी में हमारी सबसे बड़ी जिम्मेदारी यही है कि हम अपने आपको इन तमाम अन्य सभ्यताओं के प्रति उनके पुरुषार्थों के प्रति खोलें और इसका यत्न करें कि किस तरह हम स्वयं अपनी सभ्यता के अन्तर्निहित और प्रेरक पुरुषार्थ को उनकी रोशनी में रूपान्तरित, परिवर्तित-संशोधित कर सकते हैं और इसी खुलेपन में अपने आर-आर सृजनशील भी बने रह सकते हैं।

***

श्रुति की दो परस्पर विरोधी परम्पराओं के मूल प्रवर्तक : जैमिनि और बादरायण

"इति श्रुति:" दर्शन का साधारण से साधारण विद्यार्थी इस वाक्य को अक्सर सुनता व पढ़ता है एवं यह भी मानता है कि कम से कम वैदिक परम्परा में श्रुति की सर्वमान्यता व सर्वप्रामाणिकता तो स्वीकृत है ही। और श्रुति क्या है, इसके बारे में भी उसे कोई संदेह नहीं है, न उसे कभी कोई संदेह करने का कारण ही बताया जाता है। यह स्थिति तब है जबकि उसी परम्परा में स्पष्ट तौर पर यह भी कहा गया है कि "एको न श्रुति: यस्य वच: प्रमाणाम्।" पर श्रुति क्या है, ऐसा पूछने पर सभी लोग एक स्वर से उत्तर देते हैं कि वेद। कोई यदि पूछे कि वेद क्या है, तो उसी दृढ़ आवाज में उत्तर मिलता है कि-ऋक्, यजु:, साम व अथर्व। वेदों के चार नाम जगत्-विख्यात हैं पर यदि कहा जाये कि तुम यजुर्वेद लाकर दो अथवा उसकी प्रति दिखाओ तो क्या ऐसा सम्भव है ? वास्तव में ऐसा असम्भव है, क्योंकि ऐसा कोई ग्रन्थ है ही नहीं, जो भी वह लायेगा वह केवल युजर्वेद ही नहीं कहा जायेगा वरन् उसके आगे अवच्छेदक लगा होगा। वह या तो शुक्ल शब्द से अथवा कृष्ण शब्द से विशेषित होगा। लगता है कि गोरे-काले का भेद वैदिक ऋषियों में भी प्रचलित था। इसलिए उन्होंने यज्ञों से संबंधित सबसे प्रधान वेद को काले और गोरे में बाँटा। जहाँ एक को शुक्ल कहा गया वहीं दूसरे को कृष्ण। किन्तु दोनों को आमतौर पर यजुर्वेद ही कहा जाता है और यदि कोई पूछ भी बैठता है कि इन दो यजुर्वेदों में, जो शुक्ल व कृष्ण नाम से जाने जाते हैं : क्या भेद है ? तो केवल यह कहकर टाल दिया जाता है कि एक का ब्राह्मण स्वतंत्र ग्रन्थ है जबकि दूसरे का ब्राह्मण ग्रन्थ मंत्रों के साथ ही जुड़ा हुआ है। शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण शतपथ ब्राह्मण के नाम से स्वतंत्र रूप से माना जाता है जबकि कृष्ण का ब्राह्मण उस संहिता के अभिन्न अंग के रूप में मिलता है। परन्तु यह बात ठीक होने पर भी कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती, क्योंकि यदि कोई चाहे तो सरलता से कृष्ण यजुर्वेद के ब्राह्मण अंशों को भी अलग कर सकता है, और यदि परम्परा में ऐसा नहीं किया गया तो यह अनिवार्य नहीं है कि अब भी ऐसा न किया जाए। पर अगर दोनों में केवल यह भेद होता तो इन दोनों को यजुर्वेद कहना कोई गलत बात न होती। परन्तु जैसा विद्वान लोग जानते हैं, दोनों में केवल यही भेद नहीं है। दोनों के मूल मंत्रों में भी अनेक भेद हैं, उनको हम यजुर्वेद की शाखा के रूप में भी स्वीकार नहीं कर सकते। क्योंकि यदि हम उनके स्वयं के परम्परागत भेदों को स्वीकार करें तो मंत्र व ब्राह्मण का संबंध जो शुक्ल यजुर्वेद में मिलता है वैसा ही कृष्ण यजुर्वेद में भी मिलना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं है। यदि हम कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता को लें और उसकी शुक्ल युजर्वेद की वाजसनेयी संहिता के शतपथ ब्राह्मण के अंशों से तुलना करें तो हमें ज्ञात होगा कि पहले के अनेकानेक मंत्र या ब्राह्मण दूसरे में मिलते ही नहीं हैं। तैत्तिरीय संहिता के ६५१ मंत्र व ब्राह्मण में से वाजसनेयी संहिता तथा शतपथ ब्राह्मण में केवल ३९२ मंत्र ही मिलते हैं। अगर इनमें से ब्राह्मण अंशों को हटाकर हम केवल मंत्रों की ही बात करें जो दोनों में समान हैं तो उनकी संख्या और भी कम नजर आयेगी। वाजसनेयी संहिता में मंत्रों की संख्या ३९८८ समझी जाती है जबकि उनमें पूरी कंडिकाएँ १९७५ ही होती हैं। कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता

के बराबर कंडिकाएँ ब्राह्मण अंशों को मिलाकर भी केवल ६५१ ही पायी जाती हैं। कीथ के अनुसार केवल ३९२ कंडिकाएँ ही दोनों में एक साथ पायी जाती हैं।

वेदों के संबंध में और भी अन्य बहुत से प्रश्न हैं जो मैंने अपने लेख ''दि वैदिक कॉर्पस: सम क्वेश्चंस्'' में उठाए हैं, यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जिसे हम श्रुति कहते हैं और उसमें यदि केवल वेद को ही श्रुति रूप में स्वीकार करें तब भी वह श्रुति क्या है, इसका निर्णय आसानी से नहीं किया जा सकता। यह बात तब और भी गहरी संदेहात्मकता ले लेती है, जब हम इस ओर ध्यान दें कि वेदों में अनेक अंश ऐसे भी हैं जिन्हें परम्परा स्वयं 'खिल' रूप में स्वीकार करती है। ''खिल'' का अर्थ है कि वे वास्तव में वेद के भाग नहीं हैं किन्तु येन-केन-प्रकारेण, अनधिकारी होते हुए भी, उन्हें शामिल कर लिया गया है। यह और भी आश्चर्यजनक लगता है जब वेद के वही मंत्र जो एक वेद में ''खिल'' माने जाते हैं, दूसरे वेद में ठीक समझे जाते हैं। यह बात हमारा ध्यान इस ओर भी दिलाती है कि वेद की अलग-अलग संहिताओं में उन्हीं मंत्रो की बार-बार पुनरावृत्ति होती है और इस प्रकार भिन्न-भिन्न कही जाने वाली संहिताएँ वास्तव में उतनी भिन्न नहीं हैं जितनी कि समझी जाती हैं।

इसके साथ ही यह भी ध्यान देने लायक बात है कि मूल संहिताओं के स्वयं अनेक शाखा-भेद परम्परा में ही स्वीकार किये जाते हैं और उस शाखा के मानने वालों के लिए वही पाठ प्रामाणिक होता है, किसी अन्य शाखा का पाठ नहीं। शाखाओं का परस्पर भेद कोई ऐसा-वैसा भेद नहीं है, परन्तु जिन शाखाओं के ग्रन्थ उपलब्ध हैं यदि उन्हें ध्यान से देखा जाए तो पता चलेगा कि उनमें कई बार तो इतना मौलिक भेद होता है कि उन्हें किसी एक वेद की शाखा के रूप में मानना 'शाखा' शब्द ही के साथ अन्याय करना है। इसके साथ ही अगर हम इस पर भी ध्यान दें कि मंत्र क्या है ? तो इसके बारे में भी कोई आम सहमति नहीं है। स्वयं सायण मंत्र का लक्षण बताने में अपनी असर्मथता व्यक्त करते हैं और इस संदर्भ में अपनी परिचर्चा यह कहकर समाप्त करते हैं कि जिसको याज्ञिक मंत्र मानता है उसे ही मंत्र समझा जाना चाहिए। संहिताओं के साथ कितनी ही समस्याएँ रही हों परन्तु उतने से भी अधिक ध्यान देने की बात यह है कि ''श्रुति'' शब्द को केवल संहिता मात्र से कभी भी सीमित नहीं किया गया,खासकर प्राचीन परम्परा में तो कभी नहीं, हालाँकि आधुनिक युग में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ऐसी चेष्टा की है एवं शायर भोगीराम अरविंद ने भी ऐसा ही किया है। अनिर्वाण जी की पुस्तक 'वेद-मीमांसा' भी शायद इसी परम्परा में है। पर ये लोग 'श्रुति' शब्द का प्रयोग या तो करते ही नहीं, या यदा-कदा ही करते हैं। परम्परा में तो 'श्रुति' का अर्थ केवल संहिता मात्र से कभी भी नहीं लिया गया। जैमिनि के लिए तो 'संहिता व ब्राह्मण' सम्मिलित रूप में ही 'श्रुति' के पर्यायवाची हैं। हालाँकि यह समझना मुश्किल है कि यदि वे ब्राह्मण' ग्रन्थों को श्रुति का अनिवार्य अंग मानते हैं तो साथ ही उन्हें अपौरुषेय कैसे मान सकते हैं ? पर इसमें भी अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि वे आरण्यक व उपनिषदों को 'श्रुति' का स्थान नहीं देते हैं एवं उनके लिए तो 'श्रुति' केवल मंत्र व ब्राह्मण तक ही सीमित रहती है। आरण्यक और उपनिषद् उनके लिए श्रुति की परिधि से बाहर हैं। यही नहीं वे श्रुति को प्रधानत: यज्ञ-केन्द्रित मानते हैं एवं इसीलिए उनके अनुसार वेद के मूल वाक्य केवल विधिपरक हैं। वाक्य में क्रिया-पद ही प्रधान है एवं केवल विधि-वाक्य ही वेद-वाक्य। 'अर्थवाद' कहने का अर्थ यह है कि जैमिनी के अनुसार विधि-वाक्यों को छोड़कर बाकी सब वैदिक वाक्यों का अर्थ अभिधा के रूप में न लेकर लक्षणा या व्यंजना के रूप में लेना चाहिए।

इसके बिल्कुल विपरीत बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में श्रुति का अर्थ प्रधानतया आरण्यक व उपनिषदों तक ही सीमित रखा। उनके लिए संहिता व ब्राह्मण-ग्रन्थ पूर्ण रूपेण गौण थे। यही नहीं, उनकी व्याख्या यज्ञकेन्द्रित न होकर 'ब्रह्मकेन्द्रित' थी। इसीलिए उन्होंने वैदिक वाक्यों को क्रियाप्रधान या विधि-

वाक्यों के रूप में ही स्वीकार नहीं किया बल्कि उनकी प्रधान चेष्टा यही दिखाने की प्रतीत होती है कि जहाँ कहीं भी उपनिषदों में ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य की चर्चा है वहाँ वास्तव में ऐसा नहीं है। यह सिद्ध करने के लिए उन्होंने दो नई विधियाँ अपनाई : एक यह कि जहाँ-कहां किसी वस्तु के वर्णन में एक ही प्रकार के गुण बताए जाएँ वहाँ उन वस्तुओं को एक सा ही समझना चाहिए, चाहे फिर उनके नाम भिन्न-भिन्न क्यों न हों। नामों की भिन्नता उसकी भिन्नता को नहीं बताती जिसके वे नाम हैं क्योंकि भिन्नता गुणों के ही कारण हो सकती है, किसी अन्य कारण से नहीं। एक प्रकार से यह उसी बात का विस्तार प्रतीत होता है जो वेद के अर्थों का स्पष्टीकरण करने वाले प्रथम ग्रन्थ निघण्टु में किया गया था। वहाँ भी यह कहने की चेष्टा थी कि वेद को समझने के लिए कई बार भिन्न-भिन्न नामों को एक ही अर्थ में लेना चाहिए। इसके अलावा बादरायण ने एक और सिद्धांत का भी सहारा लिया जिसके अनुसार अर्थ का निश्चय संदर्भ को देखकर ही करना चाहिए, वाक्यों को संदर्भ से विच्छिन्न करके नहीं। इस आधार पर उन्होंने उपनिषदों की ब्रह्म-केन्द्रित व्याख्या की एवं इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया कि उपनिषदों का प्रधान विषय ब्रह्म ही है अन्य कुछ नहीं। उपनिषदों में स्वयं संहिता और ब्राह्मणों में वर्णित अनेक बातों को प्रतीक के रूप में लेने की कोशिश की गई। यज्ञ का विचार स्वयं इसका उदाहरण है। क्योंकि यज्ञ को केवल वैदिक यज्ञ के रूप में ही न लेकर उसको विस्तृत रूप में लेने की चेष्टा की गई है, जिससे जहाँ कहीं भी ऐसा प्रतीत हो कि किसी भी वस्तु का त्याग किया जाता है उस त्याग को एक यज्ञ रूप ही समझा जा सकता है। दूसरी ओर उपनिषदों में यह भी प्रवृत्ति मिलती है कि वे एक ऐसी विद्या से सम्बन्धित हैं जो सबसे उच्च कोटि की है। वेद जिन विद्याओं से सम्बन्धित हैं वे अपरा विद्याएँ हैं, परा विद्या तो उपनिषद् की ही विषय है। परन्तु श्रुति को आरण्यक या उपनिषद् तक ही सीमित करने वाले बादरायण के सामने यह प्रश्न उपस्थित नहीं हुआ कि आखिर उपनिषद् है क्या ? एक तरह से देखा जाए तो यह प्रश्न उपनिषदों की महत्ता गाने वालों और उनको ही श्रुति का प्रधान अंग स्वीकार करने वालों के बारे में भी सही है। क्योंकि पहले तो उपनिषदों के नाम से जाने-जाने वाले ग्रन्थों की रचना करीब-करीब तरेहवीं शताब्दी तक होती रही जिससे कम से कम यह तो सिद्ध होता ही है कि परम्परा ने उपनिषदों को श्रुति के रूप में इस प्रकार से कभी भी स्वीकार नहीं किया कि उनमें कोई अन्य ग्रन्थ जोड़ा ही नहीं जा सके। जो बात एक समय तक वैदिक मंत्रों, ब्राह्मणों आदि के बारे में सत्य थी वही बात उपनिषदों के बारे में और भी अधिक काल तक सत्य रही। एक समय ऐसा आया जब नयी संहिताओं की सृष्टि रुक गई, नए मंत्रों, ब्राह्मणों व आरण्यकों का सृजन भी रुक गया एवं यह काल कम से कम ईसा से छठवीं शताब्दी पूर्व तक तो हो ही चुका था। किन्तु उपनिषदों के बारे में ऐसी बात नहीं है, उनकी रचना तो इसके कम से कम दो हजार साल बाद तक चलती रही, यदि हम यह मानें कि हमें जो अन्तिम उपनिषद् प्राप्त होती है वह तेरहवीं शताब्दी की रचना है। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उठना तो सहज ही प्रतीत होता है कि अन्ततः तेरहवीं शताब्दी के बाद भारतीय संस्कृति में ऐसा क्या हुआ कि नवीन उपनिषदों का सृजन बन्द हो गया ? इसी भाँति यह प्रश्न भी स्वाभाविक है कि मंत्र, ब्राह्मण आदि की रचना ईसा की छठवीं शताब्दी पूर्व क्यों बंद हो गयी ? और इसके साथ इस सवाल का उठना और भी महत्त्व का है कि आखिर उपनिषद्, जो प्रारम्भ से ही श्रुति के अंग माने जाते थे, उनकी स्वतंत्र रचना इतने दीर्घकाल तक क्यों नहीं रुकी ? ध्यान देने की बात यह है कि इसे न बादरायण रोक सके न शंकर, न रामानुज, न मध्व।

उपनिषदों के संबंध में एक दूसरी समस्या यह है कि बहुत सारे उपनिषद्, कम से कम वे जो अति प्राचीन समझे जाते हैं, स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं हैं। 'उपनिषद्' शब्द का प्रयोग इतना भ्रामक है कि बहुत से लोग (विद्वान्) इसे या तो जानते ही नहीं, या जानकर भी भुला देते हैं कि 'उपनिषद्' शब्द का प्रयोग कम से कम

उन ग्रन्थों के संदर्भ में, जो प्राचीन व सर्वमान्य हैं और जिन पर अनेकानेक भाष्य लिखे गए हैं एवं जिन पर आज भी अनेक विद्वान्, साधु, संत आदि प्रवचन देते रहते हैं, वे स्वतंत्र ग्रन्थ न होकर केवल संकलन मात्र हैं, जो किसी व्यक्ति ने कभी किये थे। परम्परा में इस व्यक्ति का नाम व्यास दिया जाता है परन्तु व्यास ने तो संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक आदि सबको ही एक व्यवस्थित रूप दिया था, ऐसा कहा जाता है। परन्तु उसके ही ऐसा रूप देने के बाद उपनिषदों का फिर संकलन किया गया हो, ऐसा सम्भव प्रतीत नहीं होता, हालाँकि तार्किक दृष्टि से उसके होने में कोई विरोधाभास नहीं है। ध्यान देने की बात तो यह है कि जिन ग्रन्थों में से उपनिषद् संकलित किये गए हैं वे क्या थे और इसके संकलन का आधार क्या था ? २५०० वर्षों की इस लम्बी अवधि तक यह प्रश्न किसी ने नहीं उठाया, यह आश्चर्य की ही बात है। इससे भी आश्चर्य की बात यह है जिन ग्रन्थों में से इनका संकलन किया गया है उनमें कई बार ऐसे अंशों को भी छोड़ दिया गया है जो एक प्रकार से सबसे प्राचीन माना जाता है। ऐतरेय उपनिषद् स्वतंत्र ग्रन्थ न होकर स्वयं ऐतरेय आरण्यक का एक भाग मात्र है। वास्तव में ऐतरेय आरण्यक के दूसरे आरण्यक के चौथे, पाँचवे व छठवें अध्यायों को साधारणतया ऐतरेय उपनिषद् का नाम दिया जाता है, परन्तु इन अध्यायों में कहीं भी न तो 'उपनिषद्' शब्द आया है न उसने अपने-आप में इन अंशों को उपनिषद् बताया है। यह कोई बड़े महत्त्व की बात नहीं होती यदि ऐसा न होता कि इसी ग्रन्थ का तीसरा आरण्यक अपने को उपनिषद् न कहता और अपना प्रारम्भ भी यह कहकर नहीं करता कि "मैं संहिता उपनिषद् हूँ ।" यही नहीं बल्कि तीसरे आरण्यक के दूसरे अध्याय के पाँचवें परिच्छेद (पैराग्राफ) का प्रारम्भ यह कहकर होता है कि वैसे तो ये सभी वाक् उपनिषद् हैं, परन्तु यह वाक् विशेष रूप में समझा जाता है। कीथ ने इसका अनुवाद इस प्रकार किया है : "सर्व वाक् रूपी उपनिषद् का प्रारम्भ होता है।" नि:संदेह ये सभी सर्वमान्य उपनिषद् हैं परन्तु इसको ऐसा विशेष रूप से कहते हैं। परन्तु ऐतरेय आरण्यक में ऐसा स्पष्ट कहने पर भी साधारणत: ऐतरेय उपनिषद् में इन भागों को सम्मिलित नहीं किया जाता है। वह तो केवल दूसरे आरण्यक के ४, ५, व ६ अध्यायों को ही अपने में संकलित मानता है। कीथ ने औरों की भाँति इस समस्या को नजर अंदाज नहीं किया है और इस संदर्भ में अपनी चर्चा के शीर्षक को ही इस प्रकार वर्णित किया है–"ऐतरेय आरण्यक के तीन उपनिषद् ।" उनके अनुसार ऐतरेय आरण्यक के तीसरे खण्ड का नाम संहिता उपनिषद् है, जैसा कि वह स्वयं अपने को कहता है और जिसको शंकर ने भी अपने भाष्य में स्वीकार किया है। परन्तु इसे स्वतंत्र रूप में कभी भी उपनिषद् नहीं माना गया हालाँकि यह स्वयं स्वयं को उपनिषद् की संज्ञा देता है, और न ही इसको उपनिषद् ग्रन्थों में विशेष महत्ता कभी दी गई। यही बात कुछ-कुछ महा ऐतरेय उपनिषद् के बारे में भी सही बैठती है। अधिकतर महा ऐतरेय उपनिषद् में ऐतरेय आरण्यक के खण्ड दो व तीन को सम्मिलित माना जाता है किन्तु कीथ के अनुसार कुछ लोग ऐसा भी मानते हैं कि वह केवल खण्ड दो तक ही सीमित है। परन्तु बात नाम की नहीं है, समस्या तो यह है कि केवल खण्ड दो को ही महा ऐतरेय माना जाए या खण्ड दो और तीन को मिलाकर उनके समन्वित रूप को ही वह नाम दिया जाए ? खण्ड दो पर न तो किसी ने भाष्य लिखा है न उसकी कोई स्वतंत्र चर्चा की है।

ऐतरेय उपनिषद् की चर्चा तो यहाँ केवल उदाहरण मात्र है। वास्तव में काफी हद तक तो यह अनेक उपनिषदों पर लागू होता है जिसकी चर्चा मैंने अपने लेख "दि उपनिषद्स: व्हाट आर दे ?" में विस्तार से की है।

केवल उपनिषद् को ही श्रुति मानने वाले या प्रधान रूप से ही उन्हें श्रुति स्वीकार करने वाले परंपरागत विद्वानों के लिये यह मूलभूत समस्या उठनी चाहिए कि यदि उपनिषद् स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं हैं तो वे श्रुति के रूप में कैसे स्वीकार किए जा सकते हैं और किस आधार पर किसी को भी यह कहने का

अधिकार हो सकता है कि उन ग्रन्थों का केवल वही भाग, जो उपनिषद् के रूप में संकलित है, श्रुति है और बाकी नहीं। ग्रन्थों की एक वाक्यता पर इससे गहरा आघात होता है। यदि श्रुति के अंगों में भी भेद किया जा सकता है और यह कहा जा सकता है कि कुछ प्रधान हैं और कुछ गौण, तो उनको श्रुति-रूप में कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? यह ठीक है कि (प्राचीनतम) प्रमाण रूप में माने जाने वाले उपनिषदों में भी कुछ उपनिषद् ऐसे हैं जो किसी अन्य ग्रन्थ के अंश नहीं हैं। मुण्डक, माण्डूक्य और प्रश्नोपनिषद् इस प्रकार के स्वतंत्र ग्रन्थ कहे जा सकते हैं, क्योंकि ये अन्य उपनिषदों की तरह किसी संहिता, ब्राह्मण या आरण्यक के अंग नहीं हैं। बाद में लिखे जाने वाले करीब-करीब सब उपनिषद् इसी प्रकार के हैं। उपनिषदों को अथर्ववेद से सम्बन्धित मानने की परंपरा केवल इसी पूर्वाग्रह को लक्षित करती है कि उपनिषदों को किसी न किसी वेद के साथ जोड़कर वैदिक परंपरा में ही रखा जाए। परन्तु स्पष्टत: शैव, शाक्त और वैष्णव माने जाने वाले उपनिषदों के बारे में तो यह सही नहीं माना जा सकता, क्योंकि ये सब साधारणत: आगम-परंपरा में ही सम्मिलित किये जाते हैं और आगम-परंपरा को आमतौर पर वैदिक परंपरा से भिन्न माना जाता है। मिसाल के तौर पर पाञ्चरात्र को कोई भी वैदिक परम्परा का अंग नहीं मानता और यदि कोई माने तो भी उसको इस सवाल का जवाब देना होगा कि अगर यह सच है तो यमुनाचार्य को फिर आगम प्रामाण्य लिखने की क्या जरूरत पड़ती ? आगमों के प्रामाण्य को लेकर परम्परा में बहुत चर्चा है और यह बात केवल जैन आगमों तक ही सीमित नहीं है बल्कि शैव, शाक्त व वैष्णव आगमों के लिए भी जैन आगमों जितनी ही सत्य है। बौद्ध परम्परा के मूल ग्रन्थों को साधारण तौर पर आगम की संज्ञा नहीं दी जा सकती परन्तु त्रिपिटक का स्थान उस परंपरा में वही है जो जैन आगम के आदि ग्रन्थों का। इस सबका अर्थ केवल इतना ही इंगित करना है कि ऐसे सब ग्रन्थ, जो उपनिषद् के नाम से जाने जाते हैं, उनको अथर्ववेद से जोड़कर वैदिक परंपरा में नहीं माना जा सकता।

यह सब सच होते हुए भी दो बातें तो स्पष्ट हैं कि जैमिनि ने जिन ग्रन्थों को प्रधान रूप से श्रुति के रूप में स्वीकार किया था बादरायण के लिए वे प्रधानत: श्रुति नहीं थे। दूसरे यह कि जैमिनि ने श्रुति के वाक्यों के अर्थ-निर्धारण की जो विधि अपनायी वह उस विधि के बिल्कुल विपरीत थी जो बाद में ब्रह्मसूत्र में बादरायण ने अपनायी। केवल मंत्र और ब्राह्मण को ही श्रुति मानने वाले जैमिनि के लिए यह समस्या उठनी चाहिए थी कि ईश उपनिषद् जो शुक्ल युजर्वेद का ४० वां अध्याय है और बृहदारण्यक उपनिषद्, जो शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण का अंतिम भाग समझा जाता है, श्रुति क्यों नहीं स्वीकार किये जाएँ। आचार्य शंकर ने तो ईशोपनिषद् पर अपना भाष्य यही कहकर शुरू किया है कि इसका कर्म या यज्ञ से कोई सीधा या टेढ़ा सम्बन्ध नहीं है और इसलिए जैमिनि आदि मीमांसकों का यह कथन कि वेद केवल यज्ञपरक ही हैं, गलत सिद्ध होता है। यही बात काफी हद तक बृहदारण्यक के बारे में भी सत्य प्रतीत होती है, हालाँकि इसमें कोई संदेह नहीं कि उसके बहुत से अंश, विशेषकर प्रारम्भिक अंश, उनका आत्मा या ब्रह्म की चर्चा से बहुत कम संबंध है। इसी प्रकार जैमिनि व उनकी परम्परा के आचार्यों के लिए यह समस्या उठनी चाहिए थी कि ऐसे ग्रन्थ जो ब्राह्मण और उपनिषद् दोनों नामों से जाने जाते हैं उन्हें किस प्रकार समझा जाए ! इसका एक उदाहरण जैमिनीय उपनिषद्-ब्राह्मण है जिसके नाम में ही उपनिषद् और ब्राह्मण दोनों स्पष्ट रूप से मिलते हैं। यदि यह ब्राह्मण है तो यह जैमिनि और उसके परवर्ती मीमांसकों के लिए श्रुति रूप में मान्य होना चाहिए, परन्तु यदि उसे उपनिषद् रूप में स्वीकार किया जाए तो यह उनके लिए मान्य न होकर केवल बादरायण के लिए ही मान्य रहेगा। बादरायण के लिए भी कुछ-कुछ ऐसी ही समस्याएँ उठनी चाहिए, क्योंकि जैसाकि हम पहले देख चुके हैं, अनेकानेक उपनिषद् स्वयं किसी संहिता या ब्राह्मण ग्रन्थ के भाग हैं। दूसरा विकल्प जो उनके लिए बचा रहता है वह केवल यही है कि वे सिर्फ मुण्डक, माण्डूक्य और प्रश्न को ही उपनिषद् के रूप में स्वीकार करें। परंतु न तो बादरायण ने, न ही वेदांत के परम्परागत विद्वानों ने इस समस्या की ओर कोई ध्यान दिया है।

इससे भी गहरी समस्या तो यह है कि जैमिनि के अनुसार श्रुति-वाक्य केवल क्रिया-प्रधान होते हैं और उनकी व्याख्या केवल यज्ञ के संदर्भ में ही की जा सकती है, बाकी सब वाक्य केवल आनुषंगिक हैं और उनको केवल अर्थवाद के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए। यदि यह मान लिया जाय तो ब्रह्म संबंधी सब वाक्य, जो बादरायण के लिए श्रुति का केन्द्र हैं, केवल अर्थवाद हो जाते हैं और इस प्रकार सारा वेदांत का वाङ्मय एक भंयकर भूल पर आश्रित दिखाई पड़ता है। इसके विपरीत यदि बादरायण की श्रुति-संबंधी व्याख्या करने की विधि को प्रधानता दी जाए, तो वेदों में आने वाले सब क्रियापरक वाक्य, जो प्रधानत: यज्ञ से संबंध रखते हैं, निरर्थक लगेंगे, या कम से कम वे श्रुति के प्रधान विषय के रूप में उपस्थित नहीं होंगे। इस संदर्भ में यह ध्यान देने योग्य बात है कि जबकि जैमिनि की परंपरा में स्पष्टत: ही अर्थवाद का सिद्धांत मिलता है और इस बात की भी चर्चा है कि श्रुति के यज्ञपरक अर्थों को छोड़कर बाकी अर्थों को किस प्रकार समझा जाए, बादरायण में ऐसा कोई विशेष प्रयत्न नहीं दिखता। कहने का आशय यह है कि बादरायण से नि:सृत होने वाली वेदांत-चिंतन की परंपरा में, जहाँ तक मुझे ज्ञात है, अर्थवाद जैसा कोई सिद्धांत नहीं है, परन्तु बिना किसी अर्थवाद के सिद्धांत के किसी भी श्रुति माने जाने वाले ग्रन्थ की व्याख्या हो ही नहीं सकती, क्योंकि उसमें कुछ ऐसे अंश तो होंगे ही जो व्याख्याकार के मत में श्रुति का केन्द्र-बिन्दु न होकर आनुषंगिक या गौण हैं और जिन्हें केवल लक्षणा या व्यंजना के रूप में ही समझा जाना चाहिए। यह बात और है कि व्यवहार किन अंशों को इस रूप में समझने का आग्रह करे, पर किसी न किसी अंश को तो उसे इस रूप में लेना ही पड़ेगा, क्योंकि साधारणतया यह असम्भव सा ही है कि श्रुति माने जाने वाले ग्रन्थ के सभी वाक्य एक स्वर से और एक ही तरह से उसकी व्याख्या को अनुमोदित करें। इस तरह से देखने पर अर्थवाद का तो अर्थ ही यह है कि जो अर्थ प्रतीत होता है वैसा वह वास्तव में नहीं है और इसको उसी प्रकार समझना एक भयंकर भूल है। अर्थ के सम्बन्ध में प्रतीति और सत् का यह भेद, जहाँ तक मुझे मालूम है, दार्शनिक चिंतन का विषय नहीं रहा है। पर इस ओर ध्यान दिया जाये तो अर्थ की अनैकांतिकता शब्दों में स्वयं ही निहित प्रतीत होगी। यही नहीं बल्कि वास्तव में अर्थ क्या है इसके बारे में मतभेद न केवल अनिवार्य ही होंगे बल्कि उनमें सदैव एक ऐसी अनिश्चिता रहेगी जिसका निराकरण सिद्धान्तत: असम्भव है।

अभी कुछ दिन पहले प्रो. रामचन्द्र द्विवेदी ने अपने एक भाषण में इस ओर इशारा किया था कि भर्तृहरि के अनुसार अर्थ एक प्रकार का विवर्त है जो शब्द में प्रतीत होता है। परन्तु उनके ही अनुसार भर्तृहरि में यह स्पष्ट नहीं है कि विवर्त से उनका अर्थ, साधारणत: उसका जो अर्थ अद्वैत वेदांत की परम्परा में लिया जाता है, वही है या उससे भिन्न। परंतु भर्तृहरि का स्वयं अपना मत कोई भी हो अर्थवाद को, या कहें अर्थाभास को अर्थ का अनिवार्य अंग मानने पर अर्थ एक प्रकार का अद्वैतीक विवर्त ही होगा। इस संदर्भ में उन्होंने यह भी कहा था कि भारतीय दार्शनिक परम्परा में शब्द के नित्यत्व की ही बात की गई है, अर्थ के नित्यत्व की नहीं। चाहे जो भी हो, इतना तो साफ ही है कि जैमिनि हों या बादरायण दोनों अपने मत को श्रुतिसम्मत सिद्ध करने के लिए इन सबको अर्थवाद या अर्थाभास मानते हैं जो दूसरे के लिए उसका सही अर्थ है।

परन्तु केवल इतना ही नहीं है, इससे भी अधिक आश्चर्य की बात तो यह कि जैमिनि और बादरायण दोनों एक प्रकार से इस बात को पूरी तरह नजरदांज करते हैं कि जिनको वे प्रधानत: श्रुति के रूप में स्वीकार करते हैं वे, स्वयं उनके ग्रन्थों के अभिन्न अंग हैं जिन्हें वे श्रुति के रूप में अस्वीकार करते हैं। जैमिनि इस बात की ओर बिल्कुल भी ध्यान नहीं देते कि बहुत सारे उपनिषद् या आरण्यक, संहिता या ब्राह्मण ग्रन्थों के अभिन्न अंग हैं। ईशोपनिषद् तो शुक्ल यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय सर्वसम्मति से माना जाता है। इसी प्रकार करीब-करीब सब प्रधान उपनिषद् ब्राह्मण या आरण्यक के भाग हैं, मुण्डक, माण्डूक्य तथा प्रश्न ही इसके अपवाद हैं। यदि हम उन्हें ही प्रधान-उपनिषद् के रूप में स्वीकार

करें जिन पर आचार्य शंकर ने अपना भाष्य लिखा है, तो भी केवल इन तीन को छोड़कर बाकी सब स्वतंत्र ग्रन्थ न होकर संहिता, ब्राह्मण या आरण्यक के भाग ही हैं जिन्हें किसी ने पृथक् रूप से उनमें से निकालकर अलग उपनिषद् की संज्ञा दे दी थी। परन्तु अलग संकलन करने से और उस संकलन को नया नाम दे देने से ही वे कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं हो जाते। परन्तु ऐसा लगता है कि जैमिनि और बादरायण ही नहीं उनके परवर्ती आचार्य भी इस भ्रान्ति से ग्रसित प्रतीत होते हैं। ऐसा लगता है कि शंकर से मध्य युग तक सब आचार्य उपनिषद् को स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में देखते हैं और यही बात राधाकृष्णन् प्रभृति अनेक आधुनिक विद्वानों के बारे में भी सही प्रतीत होती है, जिन्होंने उपनिषदों को स्वतंत्र ग्रन्थ मानकर उन पर नयी टीकाएँ लिखी हैं। इस भ्रान्ति के फैलने का शायद एक यह भी कारण था कि करीब-करीब सब लोग ऐसा मान बैठे कि वे ग्रन्थ, जो उपनिषद् के नाम से जाने जाते हैं, श्रुति, यानी संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक के अन्तिम भाग हैं। ऐसा मानने के कारण ही उनको वेदांत की संज्ञा भी दी गई है और उनमें जो मत प्रतिपादित किया गया है उसको भी वेदांत कहकर पुकारा गया है। परन्तु इन मान्यताओं का कोई सुदृढ़ आधार नहीं है। अनेक उपनिषद् कहे जाने वाले संकलन कई बार बीच में से ही संकलित किये गये हैं, जैसा कि एतरेय उपनिषद् के बारे में सर्वविदित है। ईशोपनिषद् तो किसी ब्राह्मण या आरण्यक का भाग है ही नहीं और जैमिनीय ब्राह्मण उपनिषद् जैसे अनेक ऐसे ग्रन्थ भी हैं जो ब्राह्मण और उपनिषद् का संकलित रूप हैं। प्राचीन काल से प्रचलित इन भ्रान्तियों को जब तक हटाया नहीं जायगा तब तक श्रुति रूप में माने जाने वाले ग्रन्थों के बारे में कोई स्पष्ट धारणा बनानी मुश्किल ही होगी। परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं है कि जैमिनि और बादरायण ने श्रुति को मूलत: विभाजित और खण्डित दृष्टि से देखा। यह एक प्रकार से श्रुति की एकवाक्यता पर कुठाराघात था जिसको परवर्ती चिन्तकों ने यह कहकर झुठलाने की कोशिश की कि एक पूर्वमीमांसा है और दूसरी उत्तरमीमांसा। वास्तव में इन शब्दों का कोई अर्थ ही नहीं है, क्योंकि अर्थ तो तब होता जब जैमिनि आरण्यकों व उपनिषदों को श्रुति रूप में स्वीकार करते या बादरायण मंत्र और ब्राह्मणों को श्रुति के रूप में मानते। परन्तु यदि ऐसा नहीं है तो फिर 'पूर्व' और 'उत्तर' कहने का क्या आशय है ? जैमिनि के लिए कोई 'उत्तर' नहीं है एवं बादरायण के लिए कोई 'पूर्व' नहीं है। उनके लिए केवल मात्र वही श्रुति है जिसे वे मानते हैं एवं जिसकी वे चर्चा करते हैं। यही नहीं, उनके श्रुति सम्बन्धी व्याख्यापरक सिद्धांतो में भी मूल भेद है एवं यह भेद सामान्य नहीं वरन् जमीन-आसमान का भेद है। श्रुति की व्याख्या यज्ञपरक हो या ब्रह्मपरक इन दो दृष्टियों में इतना गहन व मौलिक भेद हैं कि इन्हें 'पूर्व' व 'उत्तर' के रूप में मानना केवल उनके साथ ही अन्याय करना नहीं हैं वरन् स्वयं को भी धोखा देना है। आज के संदर्भ में किसी भी निष्पक्ष विचारक के लिए, जिसकी बुद्धि निस्संग है और जिसका स्वयं अपना कोई आग्रह नहीं हैं, उसको श्रुति-परंपरा के समस्त ग्रन्थों को समग्र रूप में देखने की चेष्टा करनी चाहिए। यही नहीं, श्रुति में जो विचार की विभिन्न धाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं उनको अपनी बुद्धि और सामर्थ्य के अनुसार प्रकट करने का प्रयत्न करना चाहिए। बादरायण व जैमिनि के एकांशी आग्रहों को अस्वीकार करते हुए भी इस बात को नहीं भुलाना चाहिए कि उन्होंने श्रुति को खण्डित रूप में ही नहीं देखा बल्कि उसके अर्थ में भी गहरा विरोध दर्शाया। इसके साथ ही यह प्रश्न भी अपने सामने स्पष्ट रूप में रखना चाहिए कि उपनिषदों को श्रुति रूप में स्वीकार करते हुए भी परम्परा में उपनिषद् के नाम से लिखे जाने वाले ग्रन्थों की रचना करीब-करीब तेरहवीं शताब्दी तक चलती रही और यदि ऐसा हुआ तो क्या उनको श्रुति रूप स्वीकार करना उचित है ? जब तक परम्परा को हम एक नयी, खुली व मुक्त दृष्टि से नहीं देखेंगे तब तक हम श्रुति के साथ जो अन्याय जैमिनि और बादरायण ने किया है उसकी ओर से अनभिज्ञ ही रहेंगे, और मंत्र की तरह बार-बार यह रटकर कि एक पूर्व-मीमांसा है एवं दूसरी उत्तर-मीमांसा, स्वयं को सांत्वना देते रहेंगे। पर यह सांत्वना केवल आत्मछलना ही होगी, इससे अधिक कुछ नहीं।

***

अद्वैत वेदान्त की भेद-अभेद सम्बन्धी कुछ समस्याएँ

शंकर के बाद की कहानी अजीब है। अद्वैत को ही लें तो उसका इतिहास अस्पष्ट ही नहीं बल्कि बहुत कुछ उलझा हुआ भी प्रतीत होता है। एक ओर शंकर के शिष्य पद्मपाद और सुरेश्वर थे, जिन्होंने स्वयं शंकर के विचार को अलग-अलग तरह से व्याख्यायित करने की चेष्टा की और दूसरी ओर मण्डन मिश्र थे, जिनकी कथा सर्वविदित है कि पहले वे मीमांसक थे और बाद में शास्त्रार्थ में शंकर से हारकर उन्होंने सन्यास ले लिया और वे अद्वैत वेदान्त के अनुयायी हो गए। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि मण्डन मिश्र और सुरेश्वर एक ही व्यक्ति हैं, सन्यास लेने के बाद मंडन मिश्र का नाम ही 'सुरेश्वर' हो गया था। जो भी हो, समस्या 'नाम' की नहीं है बल्कि इस बात की है कि अगर वे ब्रह्मसिद्धि के रचयिता हैं तो अद्वैत चिंतन की परम्परा में उन्हें किस प्रकार समझा जाय ? अगर वे वही मण्डन मिश्र हैं जो शंकर से मिलने से पहले प्रखर मीमांसक थे और जिन्होंने विधि-विवेक और भाव-विवेक की रचना की, तो ऐसा मानना पड़ेगा कि शंकर से शास्त्रार्थ होने के बाद उन्होंने मीमांसा के बारे में अपना मत बदल दिया था, क्योंकि ब्रह्मसिद्धि में उन्होंने मीमांसा की दृष्टि को अस्वीकार किया। दूसरी ओर, अगर यह मान लें कि शंकराचार्य से मिलने के बाद उनका अद्वैत में विश्वास हो गया था तो फिर आश्चर्य की बात है कि ब्रह्मसिद्धि में अद्वैत मत का जो प्रतिपादन है वह शंकर के 'अद्वैत' से भिन्न है। यही नहीं, अद्वैत की परम्परा में उसको कोई महत्त्व नहीं मिला है, वे 'शब्द ब्रह्म' को या 'शब्दाद्वैत' को स्वीकार करते दिखाई देते हैं और वे इस प्रकार भर्तृहरि के वाक्यपदीय की परम्परा में प्रतीत होते हैं, जो अद्वैत के आचार्यों को साधारणत: अमान्य है। यही नहीं, अपने ग्रन्थ में वे अद्वैत की उन सब परम्पराओं से परिचित प्रतीत होते हैं जो सुरेश्वर, पद्मपाद और वाचस्पति मिश्र प्रथम के नाम से जुड़ी हैं। बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद और आभासवाद, जो इन लोगों के नाम से जुड़े हैं, उनका निरूपण ब्रह्मसिद्धि में पाया जाता है। पद्मपाद और सुरेश्वर तो शंकर के शिष्य थे ही परन्तु वाचस्पति मिश्र प्रथम तो उनके बाद में हुए। अगर उनके मत का ज्ञान ब्रह्मसिद्धि में पाया जाता है तो इसका अर्थ यही होगा कि वे सभी मत ब्रह्मसिद्धि के रचयिता को मालूम थे और अगर ऐसा था तो यह मानना पड़ेगा कि शंकर से पहले भी कोई अद्वैत की परम्परा थी जिसके संदर्भ में ये सभी मत प्रचलित हो चुके थे। एक तरह से यह बात जैनाचार्य समन्तभद्र की उस युक्ति में भी प्रकट होती है जिसके द्वारा उन्होंने अद्वैत का खण्डन करने की चेष्टा की है। आप्त मीमांसा में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि अद्वैत को 'हेतु' और 'साध्य' में तो भेद मानना ही पड़ेगा, क्योंकि अगर ऐसा भेद नहीं मानते हैं तो फिर अपने मत के लिए न कोई युक्ति दे सकता है न तर्क।

अद्वैत चिंतन की परम्परा में 'अध्यास', 'अविद्या' और 'माया' ये मूल प्रत्यय हैं। अध्यास से तो शंकर अपना भाष्य प्रारम्भ ही करते हैं और अविद्या अध्यास का ही दूसरा नाम है। इसका एक अन्य नाम मिथ्या ज्ञान या मिथ्यात्व है जिसका अर्थ शंकर ने इस प्रकार किया कि किसी वस्तु को उस प्रकार जानना जैसी वह नहीं है मिथ्याज्ञान है। मिथ्याज्ञान का अर्थ ही यह है कि वस्तु के स्वरूप को न जानते हुए उसको किसी और रूप में देखना और उस देखने को 'सत्य' मानना। अध्यास का अर्थ यही है कि हम किसी वस्तु

पर वह आरोपित करते हैं जो उसका अपना स्वरूप नहीं है। कुछ-कुछ अविद्या का भी यही अर्थ है। शंकर ने भाष्य के प्रारम्भ में ही दो बातें कहीं हैं जिनकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। पहली यह कि अध्यास के लिए दोनों वस्तुएँ अनुभूत होनी चाहिए। अगर ऐसा नहीं हैं तो उनमें अध्यास किस प्रकार हो सकता है ? अगर हम एक चीज को बिल्कुल ही नहीं जानते तो उस पर किसी और चीज का आरोप कैसे कर सकते हैं ? यह बात उन्होंने इस पूर्वपक्ष के संदर्भ में कही है कि अगर आत्मा पूर्ण रूप से अविषय है तो फिर उसे अन्य विषय के रूप में देखा ही कैसे जा सकता है ? वे कहते हैं—नायमात्मा ह्येकान्तेनाविषय: आत्मप्रत्यय गोचरत्वात् ॥–ब्रह्मसूत्र-भाष्य, उपोद्घात ॥ अर्थात् आत्मा ऐकान्तिक रूप में अविषय नहीं है, क्योंकि वह अहं-प्रत्यय के रूप में जाना भी जाता है।

परन्तु जो इससे भी अधिक आश्चर्य की बात है, जिसकी ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है, वह यह है कि इसके तुरन्त बाद शंकर यह कहते हैं कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि अध्यास के लिए यह आवश्यक ही हो कि जिन दो चीजों के बीच में अध्यास है वे दोनों विषय रूप में उपस्थित हों। यही नहीं, इसका वे उदाहरण भी देते हैं और समझाते हैं कि अध्यास होने के लिए ऐसी कोई अनिवार्यता क्यों नहीं है ? वे कहते हैं कि आकाश के विषय नहीं होने पर भी हम उस पर तल-मलिनता का आरोप करते हैं परन्तु शंकर ने इस उदाहरण पर और इस उदाहरण से उत्पन्न होने वाली समस्याओं पर विशेष ध्यान नहीं दिया। आखिर आकाश यदि विषय रूप में उपस्थित नहीं हैं तो फिर वह किस रूप में उपस्थित है ? उसको मानने की या स्वीकार करने की आवश्यकता क्यों है ? 'आकाश' तो दिखाई नहीं देता-हाँ, 'मलिनता' अवश्य दिखाई देती है। पर यह मानने की जरूरत क्यों हुई कि यह मलिनता आकाश का गुण है या उस पर आरोपित है ?

साधारणत: आकाश को शब्द के आश्रय के रूप में देखा गया है, हालाँकि ऐसा शायद न्याय में ही स्पष्टत: स्वीकार किया गया है। परन्तु शंकर के उदाहरण के संदर्भ में प्रश्न यह नहीं उठता कि आकाश की मान्यता किस आधार पर हुई या उसको मानने की जरूरत क्यों पैदा हुई ? बल्कि यह कि यदि वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं है तो क्या वह अनुमान का विषय है या और किसी प्रमाण का ? अध्यास के संदर्भ में जैसे ही हम अप्रत्यक्ष विषयों को स्वीकार कर लेते हैं तब जो समस्याएँ उठती हैं उन पर भारतीय चिंतन में अधिक ध्यान नहीं दिया गया, क्योंकि साधारणत: वे उन्हीं विषयों को 'विषय' रूप में स्वीकार करते हैं जो अनुभव के विषय होते हैं और अधिकतर प्रत्यक्षात्मक अनुभव के। वैसे तो जो अन्तर अनुभव या अन्तरिन्द्रिय के विषय हैं उनको भी प्रत्यक्षों के विषयों के रूप में स्वीकार किया गया है, पर वे तत्त्व या वस्तुएँ, जिनकी मान्यता का आधार केवल बौद्धिक आवश्यकता है और जिनके विषय में हमारा ज्ञान मिथ्या हो सकता है, उनके संदर्भ में अध्यास की चर्चा नहीं की गयी है। लेकिन यदि मिथ्यात्व है तो शंकर के ज्ञान-विश्लेषण के आधार पर अध्यास होना जरूरी है, क्योंकि उनके लिए 'मिथ्यात्व' और 'अध्यास' एक ही बात के दो पहलू हैं, या एक ही बात को कहने के दो भिन्न-भिन्न तरीके हैं।

आकाश के उदाहरण में शंकर कम-से-कम मलिनता को तो प्रत्यक्ष मानते हैं, पर यह भी सोचा जा सकता है कि शुद्ध बौद्धिक आधार पर स्वीकार की हुई वस्तुओं या तत्त्वों में भी वे गुण आरोपित किये जाते हैं जो वास्तव में उनमें नहीं होते ! यह बात प्रथम दृष्टि में शायद बहुत ही अजीब लगेगी लेकिन थोड़ा अधिक विचार करने पर ऐसा शायद नहीं लगे। आखिर अद्वैत के ही संदर्भ में बात करें तो 'ईश्वर' किस प्रकार का सत्त्व है ? क्या वह अनुभूति का विषय है ? और उस पर जो गुण आरोपित किये जाते हैं वे गुण किस प्रकार के हैं ? अगर ईश्वर 'विषय-रूप' है तो अद्वैत के संदर्भ में तो वह अविद्याजन्य ही माना जायेगा और उसमें जो भी गुण आरोपित होंगे वे भी मिथ्यात्व से ग्रसित होंगे, और अगर वह बौद्धिक चिंतन की अनिवार्य पूर्वमान्यता है तो भी वह कुछ-कुछ उस आकाश की तरह ही होगा जिस पर

मलिनता आरोपित होती है। हालाँकि 'ईश्वर' पर जो गुण आरोपित होते हैं वे न प्रत्यक्ष के विषय हैं न अन्त: संवेद के। फिर उनके विषय में यह कैसे निश्चित हो सकता है कि उनमें कोई ऐसा दोष है कि वे ईश्वर पर आरोपित किये ही नहीं जा सकते ? यह बात उन गुणों के बौद्धिक विश्लेषण से प्रकट होगी। देखने में चाहे वे गुण कितने ही 'सत्य' प्रतीत हों, अधिक ध्यान से देखने पर वे अन्तर्विरोध से ग्रसित प्रतीत होंगे। ईश्वर पर आरोपित कुछ गुण ऐसे ही लगते हैं। जैसे उसको हम 'सर्वज्ञ' भी मानते हैं और सर्वशक्तिमान् भी। 'कर्त्तुं, अकर्त्तुं', अन्यथा कर्त्तुं शक्त:' उसका एक लक्षण दिया जाता है। पर थोड़ा सोचने पर थोड़ी समझ रखने वाले को भी यह स्पष्ट हो जायेगा कि जो सर्वज्ञ है वह सर्वशक्तिमान् कैसे हो सकता है, क्योंकि उसे तो पहले से ही पता है कि वह क्या करेगा या करने जा रहा है ! और अगर ऐसा है तो फिर उसके सर्वशक्तिमान् होने की बात करना किसी ऐसी चीज की बात करना है जो अपने-आप में कभी भी चरितार्थ हो ही नहीं सकती। यही बात बहुत से अन्य गुणों के बारे में भी सत्य है।

ईश्वर की बात छोड़ भी दें तो यह बात साधारण सन्दर्भों में बार-बार दिखायी देती है। आज का भौतिक विज्ञान तो ऐसी तात्त्विक कल्पनाओं से भरा पड़ा है जिन्हें बौद्धिक 'समझ' के लिए मानना जरूरी समझा गया। जब कोई यह बताने की कोशिश करता है कि ये 'तत्त्व' या 'पदार्थ' अन्तर्विरोध से भरे हैं तो वैज्ञानिक यही कहते हैं कि अभी तो कम-से-कम हमें इन अन्तर्विरोध-युक्त पदार्थों को स्वीकार करना ही पड़ेगा क्योंकि इनको स्वीकार किये बिना हम अपने भौतिकीय प्रयोगों में होने वाले अनुभवों को समझ ही नहीं सकते।

अद्वैत की दार्शनिक परम्परा इस प्रकार की बात नहीं कर सकती, क्योंकि वह अपनी बात आनुभविक प्रयोगों पर आधारित नहीं करती और न ही यह स्वीकार करती है कि इस प्रकार के अन्तर्विरोध स्वीकार्य हो सकते हैं। वेदान्त-परम्परा में तो एक और परेशानी की बात भी है : वह न अनुभव की बात करता है, न तर्क की, वह तो उपनिषदों के कुछ वाक्यों को लेकर, जिन्हें साधारणत: 'महावाक्य' कहा जाता है, पकड़े बैठा है और उसका चिंतन इनकी व्याख्या में ही लगा रहता है। अगर कोई पिछले डेढ़ हजार साल के वेदान्त-चिंतन पर गौर करे तो उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहेगा। एकमेवाद्वितीयं, नेह नानास्ति किंचन्, उपनिषद् के इन वाक्यों को लेकर कितनी खींचातानी हुई है और वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों ने इनके क्या-क्या अर्थ निकालने की कोशिश की है, इस पर कोई निर्लिप्त और नि:संग भाव से अगर ध्यान दे तो उसके लिए इनको अध्यात्म-चिंतन का केन्द्र-बिन्दु मानना मुश्किल होगा।

अनुभव और तर्क की बात वेदान्त के संदर्भ में अक्सर की जाती है। पर जो लोग यह बात करते हैं अगर उनसे यह पूछा जाये कि क्या वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों में भेद 'अनुभव' के आधार पर है, तो उनके लिए स्पष्ट उत्तर देना मुश्किल होगा। यही बात 'तर्क के सम्बन्ध में है। बात बार-बार मुड़कर उपनिषदों के महावाक्यों पर समाप्त होती है और झगड़ा इस बात का है कि इनका अर्थ क्या है ? यह ठीक है कि इस लम्बे झगड़े का एक बौद्धिक पक्ष भी है और उस बौद्धिक पक्ष को समझना आज के दार्शनिक संदर्भ में आवश्यक है। लेकिन जब तक इस दार्शनिक पक्ष को हम उस सबसे अलग करके नहीं देखेंगे जिसके साथ यह इस प्रकार घुला-मिला है कि उससे अलग करके इसको देखना मुश्किल है, तब तक हम इसके संदर्भ में दी गयी प्रखर तार्किक युक्तियों और उन शुद्ध बौद्धिक समस्याओं की, जिनके संदर्भ में यह चिंतन हुआ है, दार्शनिक सूक्ष्मता को समझ ही नहीं पायेंगे। व्यवहार और परमार्थ के भेद को ही लें या प्रातिभासिक और व्यावहारिक सत्ता के भेद का लें तो इसमें निहित और इनसे सम्बन्धित व संलग्न समस्याओं को हम तब तक देख ही नहीं पायेंगे जब तक उनको हम उस सारे संदर्भ से अलग करके नहीं देखेंगे जिसमें ये डेढ़ हजार साल तक बहस की विषय रही हैं।

'व्यवहार' का आखिर क्या अर्थ है ? वह उस सबसे अनिवार्य रूप से सम्बन्धित है जो हमारी

इन्द्रियों का विषय है और जिसके संदर्भ में ही हम कर्म करते हैं। शरीर पर आश्रित और आधारित जो जगत् है वही व्यवहार-जगत् है। यही नहीं, उसी जगत् में हम एक अन्य जगत् की रचना करते हैं जिसका मूल एक तरफ मन से उत्पन्न अनेक इच्छाएँ हैं, जिनको भारतीय परम्परा में साधारणत: 'काम' कहा जाता है और दूसरी ओर मूल्योन्मुख चेतना के वे कल्पनाजनित आदर्श, जो कर्म को रूप देने की चेष्टा करते हैं, और तीसरे, भाषा द्वारा रचित मायावी लोक, ये सब मिलकर उस व्यवहार-जगत् की रचना करते हैं जो शरीर के आधार पर बनता है और जिसमें मनुष्य रहता है। यही साधारणत: कर्म का जगत् है, भाव का जगत् और ज्ञान का भी। लेकिन जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ता है वैसे-वैसे जड़ जगत् का छिपा हुआ सत् उस रूप में प्रकाशित होता है जो हमारे इन्द्रियानुभूत जगत् से कहीं भी मेल नहीं खाता। मामूली सा उदाहरण लें तो सबको स्पष्ट दिखाई देता है कि सूर्य चलता है। पर यह जो हमें इन्द्रियों से अनुभूत होता है, प्रत्यक्ष रूप में सत्य दिखाई देता है, उसको वैज्ञानिक ज्ञान 'झूठा' ठहराता है और हमको यह मानने पर बाध्य करता है कि जो प्रत्यक्षानुभूत है, जिसके संदर्भ में हम हजारों साल से व्यवहार करते आये हैं और अब भी करते हैं, वह वास्तव में सत्य नहीं है। सत्य कुछ और है, जो उससे उल्टा है, उससे भिन्न है।

लेकिन इस भेद को कोई 'व्यवहार' और 'परमार्थ' का भेद तो नहीं कहेगा! पर क्या यह भेद वैसा ही नहीं है जैसा अद्वैत की परम्परा में और बहुत सारी अन्य दार्शनिक परम्पराओं में प्रत्यक्षानुभूत को मिथ्या या 'व्यवहार' कहने और कुछ अन्य को, जो परोक्ष है, उसे 'परमार्थ' कहने में है? इस संदर्भ में और अधिक सूक्ष्म भेद किये जा सकते हैं और करने चाहिए भी। लेकिन जब तक हम यह नहीं देखेंगे कि व्यवहार और परमार्थ का भेद अन्य संदर्भों में भी किया जा सकता है और उसको अन्य प्रकार से भी देखा जा सकता है तब तक हम भारतीय दार्शनिक चिंतन की वेदान्तिक परम्परा में हुए विचार की दार्शनिक गहराईयों को नहीं देख पायेंगे।

यही बात कुछ-कुछ प्रातिभासिक सत्ता के बारे में भी सत्य दिखाई देती है। आखिर प्रातिभासिक सत् को स्वप्न तक ही सीमित करने में क्या 'तुक' है? उसकी 'वास्तविकता' तो कला-जगत् में दृष्टिगोचर होती है। नाट्य को ही लें तो उसे हम 'सत्ता' की किस कोटि में रखेंगे? अद्वैत चिंतन ने जो चार कोटियाँ हमें दी हैं उनमें से किसी में भी उसे रखना मुश्किल है। वंध्यापुत्र के समान तो वह है ही नहीं और न उसे हम स्वप्न की संज्ञा दे सकते हैं, क्योंकि वह हमें जागृत अवस्था में ही दिखाई देता है। व्यवहार की कोटि में भी उसको रखना कठिन है, क्योंकि जिसे साधारणत: हम व्यवहार-जगत् कहते हैं उससे वह न केवल स्पष्टत: अलग है बल्कि जानबूझ कर उसे 'अलग' रचा गया है। मंच इसीलिए दर्शकों से थोड़ा दूर और अलग बनाया जाता है। यह ठीक है कि नाटक कभी-कभी दर्शकों के बीच भी खेले जाते हैं और आजकल तो नुक्कड़-नाटक भी बाजारों के मोड़ पर खेले जाते हैं। पर उनमें भी दर्शक अलग होते हैं और खेलने वाले अलग। कहने का अर्थ यह है कि उनको उस रूप में व्यवहारिक सत्ता का नाम नहीं दिया जा सकता जिस रूप में इस शब्द का अक्सर व्यवहार होता है। यह और बात है कि उसका एक और भी पक्ष है जो व्यवहार-जगत् से उसी रूप में सम्बन्धित है जिस प्रकार वह सब जिसे हम साधारणत: व्यवहार की कोटि में रखते हैं। आखिर नाटक के प्रदर्शन में समय भी लगता है और पैसा भी और उसके खेलने और खिलाने वाले उससे पैसा और यश कमाने की इच्छा भी करते हैं। पैसा खर्च करके पैसा न बने तो ज्यादा दिन कोई नाटक नहीं खेलेगा। कम्पनी बन्द हो जायेगी और खेलने वाले कुछ और धन्धा करने लगेंगे। लेकिन यह सब सत्य होते हुए भी उसका वह पक्ष जिसके कारण उसे 'नाटक' कहा जाता है, व्यवहार की कोटि में नहीं रखा जा सकता। वह तो व्यवहार-जगत् की अनुकृति मात्र होता है और भरत ने उसे ऐसा ही नाम दिया है। भरत ही नहीं अरस्तू भी उसके बारे में इस तरह की बात करता है और एक तरह से यही बात चित्र, साहित्य और कला के अन्य क्षेत्रों के बारे में भी सही मालूम होती है। हालाँकि यह कहना

कठिन होगा कि वास्तु या संगीत किसकी अनुकृति होती है या उन्हें अनुकृति के रूप में देखा जा भी सकता है ?

इस सब विचार के एक पक्ष की ओर ध्यान दिलाना जरूरी है, क्योंकि उसको समझे बिना जो कुछ कहा गया है उसको ठीक तरह से समझना कठिन होगा। दर्शन के इतिहास में विचार जो स्वरूप लेता है वह उन सब बौद्धिक और अन्य परिस्थितियों से 'बँधा' होता है जिसके संदर्भ में उसका उदय हुआ है। लेकिन उसकी अपनी भी एक स्वायत्तता होती है जो उसे उस बन्धन से मुक्त होने की प्रेरणा देती है। विचार के इतिहासज्ञ साधारणत: यह बात भूल जाते हैं और बार-बार उसी को दोहराते रहते हैं जो जैसा एक समय कहा गया था और उसमें किसी भी तरह की जरा सी तबदीली को इस तरह से देखते हैं जैसे उसको करने वाला कोई बड़ी भारी भूल कर रहा हो। विचार की मुक्ति की बात आश्चर्यजनक लगेगी, उस परम्परा में भी जहाँ सदैव 'मुमुक्षत्व' की बात कही गयी है। बन्धन से मुक्त होने की इच्छा सर्वत्र व्याप्त है और हर स्तर पर पायी जाती है। उसको किसी एक स्तर तक ही सीमित रखना उसके स्वरूप को समझने में सबसे बड़ी बाधा है।

इससे भी बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि जो 'इतिहास' की बात करता है वह यह नहीं देखता कि कोई भी विचार अपने इतिहास के क्रम में उससे कितनी दूर चला जाता है जहाँ उसका उद्गम या जन्म होता दिखाई देता है। वस्तुओं के बारे में यह कहना कि वे वैसी ही हैं जैसी पहले थीं, हमेशा मुश्किलें पैदा करता है, क्योंकि परिवर्तन हुए बिना अपने 'स्वरूप' में प्रतिष्ठित रहना असम्भव है। उसका एक कारण तो यह है कि किसी को यह पता ही नहीं कि वास्तव में उस वस्तु का 'स्वरूप' क्या हैं। दूसरे, अगर कोई 'वस्तु' वास्तव में वस्तु है, यानि उसकी कोई अपनी स्वतंत्र सत्ता है, तो वह सदैव दूसरी वस्तुओं के सम्बन्ध में आती है और उस सम्बन्ध से सहज रूप में परिवर्तित होती है।

एक तरह से यही बात 'विचार' के बारे में भी सत्य है। किसी विशिष्ट विचार के स्वरूप का पता लगाना उससे भी अधिक कठिन है जितना किसी वस्तु विशेष के स्वरूप का पता लगना। और विचार का अन्य विचारों से सम्बन्धित होना और उस सम्बन्ध के द्वारा उसमें सहज परिवर्तन आना उससे भी अधिक साधारण बात है जो किसी वस्तु और दूसरी वस्तुओं से उसके सम्बन्धों में पायी जाती है।

यही बात अद्वैत चिंतन में प्रसिद्ध कोटियों के बारे में भी सही है और उनको उसी प्रकार देखना जिस प्रकार वे परम्परा में प्रस्तुत की गयी हैं, उनके साथ अन्याय करना है। यह ठीक है कि एक समय वे एक प्रकार से परिभाषित की गयी थीं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उनको उसी प्रकार से समझते रहना कोई ठीक बात है। कुछ कोटियों की बात तो हम अभी-अभी कर चुके हैं। पर अद्वैत-चिंतन की एक कोटि, जिस पर कोई भी विचार करता दिखाई नहीं देता, उसकी ओर ध्यान दें तो जो बात हमने अभी-अभी कही है उसकी सत्यता पर शायद उतना ज्यादा अविश्वास नहीं होगा जितना कि साधारणत: जो अपने को भारतीय परम्परा में 'दार्शनिक' कहते हैं उनको होता है। बात 'तुच्छता' की कोटि की है। और एक तरह से स्वयं तुच्छ ही है, क्योंकि इस पर न शंकर ने विचार किया है न उनके सम्प्रदाय के किसी अन्य दार्शनिक ने। पहला प्रश्न तो यह सहज रूप में उठता है, या उठना चाहिए, कि आखिर यह 'कोटि' है क्या और इसको मानने की आवश्यकता आचार्य को क्यों प्रतीत हुई ? प्रातिभासिक और व्यावहारिक कोटियाँ तो सहज रूप में समझी जा सकती हैं। परमार्थ की कोटि को भी समझना अधिक मुश्किल नहीं है। लेकिन 'परमार्थ' है क्या, इसके बारे में कोई विशेष मतैक्य दिखाई नहीं पड़ता। आखिर अनुभव के अनेक प्रकार, स्तर और रूप हैं और हिन्दुस्तान में तो हर आदमी, या कम-से-कम हर परम्परा का गुरु, यह दावा तो करता ही है कि जो वह कह रहा है वह 'अनुभव-सिद्ध' है। यह सब होते हुए भी इस कोटि को मानने में अधिक कठिनाई नहीं होनी चाहिए। पर, 'वंध्यापुत्र' या 'आकाशकुसुम' या 'शशश्रृंग'

जैसी वस्तुओं के बारे में बात करने की क्या सार्थकता है ? इनकी सत्ता तो कोई भी, किसी भी रूप में मानता ही नहीं हैं। न ही कोई इनके अभाव की बात करता है। फिर, इनकी बात करने की जरूरत क्या थी ? लेकिन इससे भी अजीब बात यह है कि न किसी आचार्य को, न उनके किसी शिष्य को यह दिखाई दिया कि ये सब उदाहरण एक ही तरह के नहीं हैं और अगर इन पर गहराई से सोचा जाये तो लगेगा कि उदाहरण प्रस्तुत करने वाले ने इन पर शायद एक क्षण के लिए भी ध्यान नहीं दिया है। वंध्यापुत्र की असम्भावना एक तरह से पारिभाषिक है, या दूसरे प्रकार से कहें तो शब्दों के अर्थ के द्वारा उत्पन्न होती है। 'वंध्या' का अर्थ ही यह है कि वह स्त्री जिसको बच्चा हो ही नहीं सकता। इन दो में जो भेद है उसके बारे में किसी ने ध्यान दिया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। किन्तु अन्य उदाहरणों में वैसी बात नहीं है। 'वंध्यापुत्र' की जगह कोई 'वंध्यापुत्री' कहे तो उदाहरण में कोई फर्क नहीं पड़ेगा, लेकिन 'आकाशकुसुम' में सहज रूप से यह समझ में नहीं आता कि क्या आकाश में कुसुम के बजाय कोई और चीज नहीं हो सकती ? 'आकाश' शब्द कोई वंध्या शब्द की तरह नहीं है जिसके अर्थ में ही यह निहित हो कि उसमें कुछ हो ही नहीं सकता। यही नहीं, 'वंध्या' कहने से कम-से-कम यह तो पता चलता है कि किसी स्त्री की बात हो रही है, जबकि 'आकाश' कहने पर यह स्पष्ट नहीं होता कि किसकी बात हो रही है, आकाश शब्द का अर्थ क्या है और क्या उस अर्थ में यह निहित है कि उसमें 'कुसुम' जैसी चीज हो ही नहीं सकती ? 'आकाश' अक्सर शब्द का आधार माना जाता है लेकिन ऐसा 'आकाश' शब्द के अर्थ में निहित दिखाई नहीं देता। कहने का अर्थ यह है कि वंध्यापुत्र और आकाशकुसुम, ये दो उदाहरण एक ही कोटि के अन्तर्गत नहीं रखे जा सकते और इसलिए इन दोनों को 'तुच्छ' की कोटि में रखना सही प्रतीत नहीं होता। 'शशश्रृंग' की बात कहें तो वह और भी अजीब लगती है। आखिर बेचारे खरगोश के सींग क्यों नहीं हो सकते ? साधारणत: सींग नहीं होते हैं, ऐसा अनुभव में पाया जाता हैं। पर उसके 'सींग नहीं हो सकते' इसका आधार आचार्य को ही पता होगा और अगर उनके पास इसके लिए कोई आधार हो भी तो यह स्पष्ट ही है कि यह उदाहरण न वंध्यापुत्र की तरह का है न आकाशकुसुम की तरह का। अगर कल किसी को कोई ऐसा खरगोश मिल जाये जिसके सींग हो, तो फिर क्या हम यह कहेंगे कि उसे 'खरगोश कहा ही नहीं जा सकता या फिर हम यह मान लेंगे कि हमने जो बात कही थी कि 'शशश्रृंग' जैसी कोई वस्तु हो ही नहीं सकती, वह बात गलत थी ? आज तो जब जेनेटिक इन्जीनियरिंग की बात सब लोग करते हैं तब इस पर शायद ही किसी को आश्चर्य हो कि अगर आज तक 'शशश्रृंग' जैसी कोई वस्तु नहीं भी हुई है तो भी उसको उत्पन्न करना मनुष्य के लिए कोई असम्भव कार्य नहीं है।

तुच्छ कोटि के संदर्भ में दिये गये उदाहरणों पर चिंतन करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अद्वैत परम्परा में इस कोटि पर कोई विशेष विचार किया ही नहीं गया। लेकिन कम-से-कम आज तो हम इस पर विचार करने के लिए स्वतंत्र हैं, विशेषकर उस संदर्भ में जहाँ पश्चिमी दार्शनिक परम्परा में इस कोटि पर किया गया विचार हमें उपलब्ध है। पश्चिमी परम्परा में इस तरह की बात को 'सेल्फ कंट्रेडिक्शन' के नाम से इंगित करने की कोशिश की गयी है। भारतीय परम्परा में भी 'वदतोव्याघात' की बात की गई है और 'अर्थ' में 'स्वयं के व्याघाती' की बात करने से पहले दो प्रत्ययों को समझना जरूरी है जिन पर शायद पश्चिम की दार्शनिक परम्परा में भी ध्यान नहीं दिया गया है। पहली तो यह कि 'स्वयं' या 'आत्मा' या 'सेल्फ' का क्या अर्थ है ? दूसरा प्रश्न व्याघात के बारे में है जो सत्यासत्य की कोटियों को मानकर चलता है। व्याघात का अर्थ अक्सर ऐसा माना जाता है कि वह अनिवार्य रूप से असत्य है। लेकिन इसका एक अन्य अर्थ भी है जिसकी ओर ध्यान नहीं दिया गया। वह यह है कि अगर उसे सत्य मानें तो वह 'असत्य' ठहरता है और अगर उसे असत्य मानें तो वह 'सत्य' ठहरता है। इससे भी एक अन्य गहरे स्तर पर वह 'सत्य'-'असत्य' की धारणाओं को पूर्वमान्य करता है और इन्हें इतना 'स्वत:सिद्ध' मानता है जैसे इनके

बारे में कोई संदेह हो ही नहीं सकता। लेकिन जैसा सबको पता है, सत्य-असत्य की बात करते ही प्रमाण-प्रमेय की बात लानी पड़ती है और यह समस्या उठती है कि क्या कोई प्रमाण कभी भी किसी बात को पूर्ण रूप से असंदिग्ध करार दे सकता है ? प्रमाणों की 'प्रामाणिकता' कैसे सिद्ध होगी ? और अगर नागार्जुन, श्रीहर्ष और जयराशि की सोचें तो यह मानने में कठिनाई होगी कि प्रमाण-व्यापार कभी भी संदेह से मुक्त हो सकता है।

पश्चिमी परम्परा में इस कठिनाई को ध्यान में रखकर सत्य के भेद किये गये हैं जिनको साधारणत: 'विश्लेषणात्मक' (एनेलिटिक) और 'संश्लेषणात्मक' (साइंथेटिक) का नाम दिया जाता है। इनको भारतीय परम्परा में 'स्वत:प्रमाण'-'परत:प्रमाण' की संज्ञा दी गई है, हालाँकि दोनों में बहुत कुछ भेद भी है। इसी प्रकार भारतीय चिंतन में एक और भेद किया गया है जिसकी ओर पश्चिमी परम्परा में ध्यान नहीं दिया गया है, वह भेद 'स्वत:प्रकाश' और 'परत:प्रकाश' के नाम से जाना जाता है। 'प्रकाश' और 'प्रमाण' का सम्बन्ध क्या है इस पर कोई विशेष चर्चा नहीं है, क्योंकि इस बात की सम्भावना पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया प्रतीत होता कि अगर कोई ज्ञान स्वत:प्रकाश है तो क्या वह स्वत: प्रमाण नहीं होगा, और दूसरी तरफ अगर वह स्वत: प्रमाण है तो क्या वह स्वत: प्रकाश नहीं होगा, और अगर जो स्वत: प्रकाश है वही स्वत-प्रमाण हो सकता है तो फिर इन प्रत्ययों में भेद करने की आवश्यकता क्या है ?

'एनेलिटिक-साइंथेटिक' के भेद को कई तरह से समझा जा सकता है, लेकिन शायद सबसे आसान और सीधा तरीका इस भेद को समझने का यह है कि हम उस सत्य को 'एनेलिटिक' कहते हैं जिसकी सत्यता जानने के लिए हमको उस 'ज्ञान' से कहीं बाहर जाने जरूरत नहीं पड़ती। ज्ञान को समझते ही यह पता चल जाता है कि वह सत्य है या असत्य ? वाक्यार्थ के निर्धारण के साथ ही सत्य-असत्य का भी निर्धारण हो जाता है। दूसरी ओर, अगर 'ज्ञान' को समझने के बाद भी सत्य-असत्य का प्रश्न खुला रहता है और इसके निर्धारण के लिए किसी और बात की तलाश करनी पड़ती है तो उसे 'साइंथेटिक' कहा जाता है। इस तरह के ज्ञान की सत्यता या असत्यता उस ज्ञान में स्वयं निहित न होकर उससे स्वतन्त्र किसी अन्य पर आश्रित होती है और यही उसकी अपूर्णता का द्योतक है। परन्तु इस अपूर्णता के कारण ही उस ज्ञान में एक सतत् निरन्तरता उत्पन्न होती है क्योंकि उस ज्ञान की सत्यता का आधार उससे कहीं बाहर होता है और इसीलिए 'जानने वाले' को उस 'तलाश' मे प्रवृत्त होना पड़ता है जो धीरे-धीरे स्वयं एक ऐसी प्रक्रिया में बदल जाती है जिसका खात्मा कभी दिखाई नहीं देता। मनुष्य के ज्ञान की कहानी वास्तव में यही है और यह ज्ञान का प्रासाद अनेक लोगों के सामूहिक प्रयत्न से मिलकर बनता है जिसका कुछ अंश प्रत्येक को जन्म से ही विरासत में मिलता है। इस विशाल प्रासाद के अनेक खण्ड हैं और उनमें भी अनेक अलग-अलग कमरे हैं। कुछ लोग इसकी नींव की तलाश करते रहते हैं जिससे उन्हें यह आश्वासन हो जाये कि कोई भी भूचाल कभी भी इसे खण्डित नहीं कर पायेगा। पर ऐसा विश्वास उतना ही भ्रामक है जितना कि मनुष्य की बनायी गयी दूसरी इमारतों के बारे में। हालाँकि किसी को यह सोचना भी अजीब लगेगा कि ऐसा समय भी आ सकता है जब ये विशाल सत्तर मंजिली अट्टालिकाएँ खण्डहर का रूप ले लेंगी या इतनी भूमिगत हो जायेंगी कि कोई पुरातत्त्व का विद्यार्थी या अन्वेषक ही उनको खोज पायेगा।

हड़प्पा की कहानी सबको पता है और विजयनगर साम्राज्य की बात भी कम-से-कम हिन्दुस्तान के कुछ रहने वालों को तो मालूम ही है। वैसे पुरातत्त्व ने ऐसी अनेक संस्कृतियों और सभ्यताओं का पता लगाया है जो आदमी की स्मृति से पूर्णरूपेण विलुप्त हो चुकी थीं।

लेकिन ऐसा बहुत कम लोगों को पता है कि मनुष्य के ज्ञान की कहानी भी बहुत कुछ इन संस्कृतियों और सभ्यताओं जैसी ही है। बहुत कुछ जो मनुष्य ने अथक परिश्रम करके पाया था वह आज

उसकी स्मृति से भी लुप्त हो गया है। इस पर सहज विश्वास करना कठिन है लेकिन किसी भी विशाल पुस्तकालय की धूल भरी किताबों को देखकर सहज अनुमान हो सकता है कि इनमें छिपा हुआ ज्ञान का हाल आज कैसा है और अगर पाण्डुलिपियों के किसी भण्डार को देखने का कभी किसी को मौका मिले तो वह आश्चर्य में डूबे बिना नहीं रहेगा कि आखिर इन सबको कौन समझ पायेगा ? धीरे-धीरे पुरानी प्रसिद्ध भाषाओं का ज्ञान खत्म होता जा रहा है। संस्कृत की बात छोड़ दें, लैटिन व ग्रीक के कितने विद्वान आज बचे हैं ? यही बात अरबी, फारसी की भी है और चीन की उस पुरानी जुबान की भी जिसका नाम लेते ही एक ऐसी संस्कृति की याद आती है जिसकी बात सभी लोग करते हैं पर जिसके बारे में जानते शायद कुछ लोग ही हैं। कहने का सीधा-सादा मतलब यह है कि मनुष्य के ज्ञान की खोज का भी वही हाल है जो उसकी अन्य जिज्ञासाओं का है। जो कुछ पाया गया था उसमें से बहुत थोड़ा ही बच पाता है और वह थोड़ा भी काल में इतना बदल जाता है कि यह कहना मुश्किल होता है कि उसका रूप वही है जो प्रारम्भ में था।

फिर भी 'बुनियाद' की बता करना कोई इतनी बड़ी गलती नहीं है जितना आज लोग समझ बैठे हैं। नींव को स्वत:सिद्ध होने की जरूरत नहीं है। उसके लिए तो सिर्फ इतना ही काफी है कि उस पर कई मंजिले खड़ी हैं और अगर उसको कोई धक्का लगे या उनमें कोई तबदीली हो तो मंजिलों में दरारें आयें बिना नहीं रहेंगी। ज्ञान के बारे में भी यह काफी हद तक ठीक दिखाई देता है। आखिर गणित, भाषाशास्त्र और प्रमाणशास्त्र कुछ ऐसे ही शास्त्र हैं जो कुछ-कुछ ज्ञान की नींव का काम करते हैं। यही बात जड़ द्रव्य के सम्बन्ध में जो ज्ञान प्राप्त होता है उसके बारे में भी सच दिखाई देती है। ऐसे ज्ञान को आज भौतिकी कहा जाता है और रसायनशास्त्र की भी हालत कुछ-कुछ ऐसी ही है। ज्ञान के इन क्षेत्रों में जब कोई गहरा परिवर्तन होता है तो वह एक तरह से सभी अन्य ज्ञानों को इस तरह से हिला देता है कि वे अपने पूर्व स्वरूप को उस प्रकार स्वीकार नहीं कर सकते जैसे कि वे पहले करते थे। पिछले सौ सालों में भौतिकी के क्षेत्र में जो आमूल परिवर्तन हुए हैं और जो आईंस्टाइन और हाइजेनबर्ग के नाम से जुड़े हैं उनका किसे पता नहीं है ? यही बात उससे कुछ पहले रेखागणित के क्षेत्र में जो मूलभूल क्रांति हुई थी और जिसको नॉनयूक्लीडियन ज्योमेट्री के नाम से जाना जाता है उसके बारे में भी है। गणित के क्षेत्र में उन्नीसवीं शताब्दी में जो परिवर्तन हुए उनके दूरगामी प्रभावों का आकलन करना कठिन है, लेकिन धीरे-धीरे उन्होंने ज्ञान के अनेक क्षेत्रों की मूल दृष्टियों में ही परिवर्तन ला दिया। यही बात चेतना सम्बन्धी विचार की भी है और मनुष्य के समाज और राज्य सम्बन्धी विचार की भी। फ्रायड और मार्क्स का नाम सबको पता है। ज्ञान का कोई भी क्षेत्र आज इनके प्रभाव से नहीं बचा। यह कहना मुश्किल है कि गणित, भाषाशास्त्र और प्रमाणशास्त्र में होने वाले परिवर्तनों को अधिक महत्त्व दें या भौतिकी में होने वाले परिवर्तनों को या मनोविज्ञान और समाज और राज्य सम्बन्धी विचार में होने वाले परिवर्तनों को।

ज्ञान की कहानी को इस प्रकार देखने पर जो दृष्टि उत्पन्न होती है वह उस दार्शनिक दृष्टि से मूलत: भिन्न है जो ज्ञान की चर्चा में संलग्न होती है और जिसे साधारणत: ज्ञानमीमांसा कहा जाता है। परन्तु यह कहानी स्वयं उस भेद पर आश्रित है जिसे हमने एनेलिटिक-साइंथेटिक का नाम दिया था। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि आज स्वयं दार्शनिकों ने इस भेद पर प्रश्नचिन्ह लगाया है और यह मानने से इन्कार करने की कोशिश की है कि इनमें मूलत: कोई भेद है। क्वाइन का प्रसिद्ध लेख इस संदर्भ में सबको पता होगा परन्तु इससे भी अधिक आश्चर्यजनक बात यह है कि पिछले पचास-साठ वर्षों में ऐनेलिटिक के नाम से समझे जाने वाले ज्ञान के बारे में भी कुछ इस प्रकार का चिंतन हुआ है जो उसके बारे में भी कुछ नये प्रश्नों को उठाता है और उसके बारे में नयी तरह से सोचने को बाध्य करता है।

इस संदर्भ में जिन आधारभूत सिद्धांतों की ओर दार्शनिकों का ध्यान गया है उनमें एक ओर तो

अन्तर्विरोध से ग्रसित स्वयंव्याघाती वाक्य या ज्ञान के बारे में हैं और दूसरी ओर वह उस सम्बन्ध के बारे में जिसे पश्चिमी परम्परा में आइडेंटिटी रिलेशन कहा गया है और जिसको भारतीय दर्शन में साधारणत: तादात्म्य या सारूप्य की संज्ञा दी जाती है, हालाँकि तादात्म्य का सम्बन्ध जिस प्रकार से भारतीय दर्शन में समझा गया है वह उस आइडेंटिटी रिलेशन से पूर्णरूपेण भिन्न है जिसे अरस्तू ने लॉ ऑफ आइडेंटिटी का नाम दिया हैं।

अरस्तू के लिए 'अ अ है' विचार के उन तीन आधारभूत नियमों में से एक है जिनमें से अन्य दो का नाम 'लॉ ऑफ कंट्रेडिक्शन' और 'लॉ ऑफ एक्स्क्लूडिड मिडल' है। इन दो का आकारिक रूप है- 'अ इ और ~ इ दोनों एक साथ नहीं हो सकता' और' अ अनिवार्यत: या तो इ है या ~ इ है। इन्हें आज अन्य प्रकार से लिखा जाता है। इसके विपरीत न्याय में 'घटोघट:' वाक्य निरर्थक माना गया है क्योंकि ज्ञान का अर्थ ही यह हैं कि उसमें कोई नवीनता हो। यह वाक्य वास्तव में कुछ नया नहीं कहता। लेकिन हाल ही में प्रो. वी.एन. झा ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि न्याय की कुछ सर्वमान्य मान्यताओं के आधार पर इसको उनसे निगमित सिद्ध किया जा सकता है। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि यदि नैयायिक उन बातों को मानते हैं तो उनको इस वाक्य को भी अर्थपूर्ण मानना पड़ेगा, क्योंकि यह उनसे स्पष्टत: निगमित होता है। प्रो. झा की यह बात दूसरे नैयायिकों को मान्य नहीं है लेकिन इस चर्चा में भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् की पत्रिका में कई विद्वानों ने भाग लिया है जिनमें मत-वैभिन्न्य हैं।

बात एक तरह से इससे भी गहरी है और वह जहाँ एक ओर भेद की सत्यता से सम्बन्ध रखती है वहीं दूसरी ओर इस बात से भी सम्बन्ध रखती है कि क्या विचार के लिए भेद अनिवार्य है ? क्योंकि बगैर उसके विचार हो ही नहीं सकता। भेद-अभेद की चर्चा भारतीय दर्शन के मूल में हैं और अद्वैत चिंतन का अन्य सभी चिंतनों से भेद इसी पर आधारित है।

चिंतन, तर्कबुद्धि और प्रमाण-प्रमेय-व्यापार सभी 'भेद' को माने बगैर अपने कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकते। यह बात प्रसिद्ध जैनाचार्य आचार्य समन्तभद्र ने अपनी पुस्तक आप्त मीमांसा में बहुत पहले स्पष्ट रूप में कही थी। उनका कहना था कि 'हेतु' और 'साध्य' के बीच भेद माने बिना तर्क हो ही नहीं सकता और अद्वैत दार्शनिकों को कम-से-कम इस भेद को तो स्वीकार करना ही पड़ेगा, क्योंकि अगर वे इस भेद को स्वीकार नहीं करते तो फिर उनके दिय हुए तर्क स्वयं दोषग्रसित होंगे और उनको स्वीकार करने का कोई औचित्य नहीं रहेगा।

आचार्य समन्तभद्र का यह तर्क एक प्रकार से उस समस्या की ओर ध्यान दिलाता है जो सारे बौद्धिक व्यापार के लिए एक मूलभूत समस्या को उत्पन्न करती है। बुद्धि को माने बिना मनुष्य 'सही-गलत' का निर्णय करने में अपने को असमर्थ पाता है, लेकिन जब यह बुद्धि के बारे में विचार करता है तो उसको लगता है कि बुद्धि स्वयं 'आत्मव्याघाती' है, क्योंकि या तो वह 'अनवस्था' दोष से ग्रसित होती है या 'चक्रक' दोष से। किसी बात को माने बिना बात चल ही नहीं सकती और अगर कोई यह पूछे कि इस बात को मानने का आधार क्या है तो बात करने वाले को कोई और बात बतानी पड़ेगी और यह बात उस 'बात' के लिए फिर लागू हो सकती है। तंग आकर आदमी यही कहेगा कि तुम्हें दिखाई नहीं देता यह बात स्वयंसिद्ध है और इसके बारे में शंका नहीं की जा सकती ? पर अगर कोई भी बात संदेह या शंका से परे है तो फिर सभी बातों को ऐसा क्यों नहीं माना जाये ? इसका कोई आसान उत्तर है नहीं, कम-से-कम 'तार्किक' संदर्भ में। वैसे, मन अगर किसी बात को नहीं मानता तो फिर उसके बारे में तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता। दार्शनिक लोग इसको मनोवैज्ञानिक कहकर अलग कोटि में रखते हैं और उनके अनुसार ज्ञानमीमांसा के संदर्भ में इसकी बात करना अपने 'अदार्शनिक' होने का प्रमाण देना है।

भारतीय परम्परा में बुद्धि के बारे में इस कठिनाई को जहाँ एक ओर नागार्जुन ने व्यक्त करने की

कोशिश की थी वहीं दूसरी ओर श्रीहर्ष ने भी अपने खण्डनखण्डखाद्य में इसकी विशद चर्चा की है। इनके नाम प्रसिद्ध हैं लेकिन यह साधारणत: नहीं देखा गया कि प्रसिद्ध मीमांसक प्रभाकर ने भी कुछ-कुछ इसी प्रकार की बात बिल्कुल दूसरे दृष्टिकोण से कहने की कोशिश की थी। प्रभाकर के मत को साधारणत: इस प्रकार रखा जाता है कि सभी ज्ञान एक प्रकार से स्वयंसिद्ध ही होता है, या दूसरी प्रकार से कहें तो वह तब तक विश्वसनीय रहता है जब तक उस पर संदेह करने के लिए कोई आधार उत्पन्न नहीं हो। साधारणत: इस संदेह का आधार,जो हमें ज्ञात है उसके संदर्भ में उत्पन्न नहीं होता और इसीलिए हम विश्वास के सहारे जीवन बिताते हैं। लेकिन अगर कभी किसी कारणवश संदेह या शंका उत्पन्न हो भी जाये तो फिर उस कारण का निवारण भी आसानी से हो सकता है। कम से कम इतना तो स्पष्ट ही है कि वह संदेह या शंका कभी भी ऐसी नहीं हो सकती कि उसका निवारण अपने-आप में असम्भव हो।

प्रभाकर की यह बात अधिकतर दार्शनिकों को पसंद नहीं आयी, न उन्होंने ही इस पर कोई विशेष ध्यान दिया। इसी तरह की एक और बात जैन दार्शनिकों ने अपने स्याद्वाद और अनेकान्तवाद के सिद्धांत में प्रतिपादित करने की चेष्टा की थी, परन्तु उस ओर भी कोई अधिक ध्यान नहीं दिया गया। जैन दार्शनिकों के ये सिद्धांत इस बात को प्रतिपादित करने की चेष्टा करते हैं कि कोई मत अपने आप में न सम्पूर्णत: सत्य है न असत्य। वह संदर्भ विशेष और दृष्टि विशेष में ही सत्यासत्य ठहरता है और ऐसी कोई स्थापना हो ही नहीं सकती जो सभी संदर्भों और दृष्टियों में सत्य या असत्य पायी जाये।

बुद्धि और सत् के सम्बन्ध में जो प्रश्न उपस्थित होते हैं वे जहाँ एक ओर 'सत्' और 'बुद्धि' के अपने स्वरूप से सम्बन्धित हैं वहीं दूसरी ओर वे एक ओर चेतना और बुद्धि के सम्बन्ध से भी सम्बन्धित हैं और दूसरी ओर 'चेतना' और 'सत्' के सम्बन्ध से भी। इससे भी अधिक गहरा प्रश्न तो यह है कि चेतना का स्वयं सत् क्या है ? और जब भी चेतना की बात होती है तो ऐसा लगता है कि उसके सत् के सम्बन्ध में केवल सत्यता-असत्यता की बात करना निरर्थक है, क्योंकि चेतना होते हुए भी उसके बारे में यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह वैसी नहीं है जैसी उसे होना चाहिए, उसमें कोई कमी है जो दूर करनी चाहिए और जो दूर की जा सकती है। कहने का अर्थ यह है कि चेतना की बात करते ही 'मूल्य' की बात स्वयं सहज रूप में उत्पन्न होती है और ऐसा लगता है कि इस क्षेत्र में जो सत्य है उसको उससे अलग नहीं किया जा सकता जिसको अनेक ऐसे शब्द बताने की कोशिश करते हैं जिनका केन्द्र-बिन्दु यही है कि जो 'है' वह वैसा नहीं है जैसा उसे होना चाहिए। साधारणत: इस संदर्भ में शिव और सुन्दर की बात कही जाती है। परन्तु ये दो शब्द उसे अभिव्यक्त करने में असमर्थ हैं जिसकी मांग चेतना अपने स्वयं से सदैव करती दिखाई देती है।

सत् के संदर्भ में चेतना के इन दो पक्षों की बात साधारणत: नहीं की जाती। चेतना स्वयं सत् है और उसका जो भी विषय होता है उसके बारे में वह हमेशा एक प्रश्नसूचक दृष्टि अपनाती है जिसका एक आयाम इस बात से सम्बन्धित होता है कि क्या वह उस विषय को उसी प्रकार जानती है जिस प्रकार वह विषय स्वयं है ? दूसरी ओर वह इस विषय के प्रति प्रिय-अप्रिय या इष्ट-अनिष्ट की अभिवृत्ति अनुभव करती है। इस प्रेयता या श्रेयता के अनेक आयाम हो सकते हैं जिनकी चर्चा करना यहाँ अवान्तर है। दूसरी और चेतना अपने स्वयं के बारे में भी यह सदैव महसूस करती है कि वह शांत है या अशांत, प्रसन्न है या अप्रसन्न, उदात्त है या अनुदात्त, स्नेहपूर्ण है या राग-द्वेष-मोह से परिपूर्ण ? इस प्रकार के अनेक विशेषण उसके बारे में सहज उत्पन्न होते हैं जिनका वर्णन आसानी से नहीं किया जा सकता लेकिन जिनका सभी को सहज रूप में पता होता है। इसी से वह सत्य उद्भूत होता है जो एक ओर मनुष्य को सारे संसार को उस रूप में परिवर्तित करने की चेष्टा में प्रवृत्त करता है जो उसे उससे अधिक अच्छा

लगता है, जैसा वह उस समय प्रतीत होता है और दूसरी ओर यही चेतना उसे स्वयं अपनी चेतना में परिवर्तित करने के लिए भी प्रवृत्त करती है। लेकिन यह बात जो सहज रूप में सभी को सदैव अनुभूत होती रहती है दार्शनिक विचार का केन्द्र-बिन्दु नहीं बनती है, क्योंकि दार्शनिक चिंतन यह मान ही नहीं सकता कि 'सत्' का स्वरूप कभी ऐसा भी हो सकता है कि वह स्वयं अपने आप में और जो कुछ भी अन्य है उसमें परिवर्तन लाने की सतत् चेष्टा करता रहे। अद्वैत चिंतन इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है। वैसे यह बात अन्य दार्शनिक परम्पराओं में भी सहज रूप में प्राप्त होती है। अद्वैत दर्शन इस सत्य को इसीलिए स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि इसमें जो 'है' और जो 'होना चाहिए' उसमें सदैव 'भेद' रहता है। वास्तव में देखें तो दार्शनिक दृष्टि न कर्म को समझ सकती है न काल को, न परिवर्तन को, क्योंकि मनुष्य की बुद्धि इनको अपनी 'समझ' से बाहर पाती है। लेकिन आश्चर्य की बात तो यह है कि वह फिर भी श्रेय की बात करती है, प्रेय और श्रेय में भेद करती है, पुरुषार्थ की बात करती है, साधन और साध्य का भेद करती है। ये सब भेद मनुष्य के मूल में उपस्थित हैं और मनुष्य की सत्ता को एक प्रकार से परिभाषित करते हैं। जब तक मनुष्य की बुद्धि मनुष्य के इस सत् को स्वीकार नहीं करेगी तब तक वह मनुष्य को समझने में असमर्थ रहेगी।

दर्शन का इतिहास इस बात का साक्षी है कि उसने मनुष्य को उस प्रकार से देखा ही नहीं जिस प्रकार वह है। उसके लिए मनुष्य न पैदा होता है न मरता है, न कभी वह बालक था, न युवा और न वृद्ध। यही नहीं, इसमें लिंग-भेद को भी वह अस्वीकार करता है : उसके लिए न कोई स्त्री है न पुरुष, न युवती है न युवक और वह कभी प्रेम की बात करता है तो सिर्फ भगवान् से। बीमारी और पागलपन तो उसने शायद कभी देखे ही नहीं हैं और न उसने कभी चूल्हे-चौके की बात की है न झाड़ू-पोंछे की। कहने का मतलब यह है कि दर्शन के नाम पर जो हजारों साल से चिंतन हुआ है उसका आदमी से कोई लेना-देना नहीं है। शायद मनुष्य ने दार्शनिक चिंतन को इसीलिए जगह दी है कि वह उसे अपने वास्तविक जीवन से कुछ क्षण के लिए दूर ले जाकर किसी ऐसे कल्पित सत्य में 'रहने की' सुविधा दे। यह बात दूसरी है कि वहाँ रहना कुछ क्षणों के लिए ही हो सकता है। उपन्यास, कहानी, नाटक, कविता भी यह सब करते हैं। दार्शनिक शायद उसी बात को बुद्धि का जामा पहना कर मनुष्य को उस माया लोक में ले जाता है जहाँ उसके अनुसार चरम सत्य के दर्शन होते हैं- अनित्यता से नित्यता की ओर दु:ख भरे संसार से शाश्वत आनन्द की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर। इससे बड़ा 'छलावा' क्या हो सकता है ? वैसे क्या भगवान् ने स्वयं यह नहीं कहा था 'द्यूतं छलवतामस्मि' ? और दर्शन से बड़ा 'जुए का खेल' और क्या हो सकता है ?

***

अभाव, अपोह और अनेकान्त

'अभाव' 'अपोह' और 'अनेकान्त' ये अवधारणाएँ एक तरह से आपस में ऐसी मिली-जुली प्रतीत होती हैं कि एक को दूसरे से अलग करना मुश्किल मालूम होता है। पर इतिहास में जो चीजें हमको अलग दिखाई देती हैं, या नहीं भी दिखाई देती हैं, उनमें फर्क इतना कम होता है कि वह नहीं दिखने जैसा ही होता है। फिर भी, ऐसे फर्क को लेकर लोग आपस में खूब लड़े हैं, खून की नदियाँ बहायी हैं, और कुछ इस तरह व्यवहार किया है जैसे वह 'फर्क' ही सब कुछ हो। दुनिया में 'मज़हबों' की कहानी ऐसी ही दिखाई देती है। ईसाईयों को लें या मुसलमानों को, दोनों की कहानी ऐसी ही लगती है। इनके सम्प्रदायों के आपस के झगड़े वैसे नहीं थे जैसे भारत में उत्पन्न हुए, अलग-अलग सम्प्रदायों या मज़हबों के, हालाँकि यहाँ भी आपसी झगड़े कम नहीं थे। दर्शन की कहानी तो ऐसे 'बेकार' दिखाई देने वाले फर्कों के आधार पर ही खड़ी दिखाई देती है। जो लोग दार्शनिक नहीं होते उसमें उनको कोई मजा नहीं आता। उनकी यह समझ में नहीं आता कि आखिर क्या ये लोग जरा जरा सी बातों को लेकर आपस में बहस करते रहते हैं या जुबानी लड़ाई-झगड़ों में फंसे रहते हैं। 'अभाव', 'अपोह' और 'अनेकान्त' को लेकर कुछ कुछ ऐसा ही लगता है। अभाव की बात करो तो अनेकान्त, जो इसके साथ लगा-बँधा है, उसकी बात करते ही जैनियों की याद आती है जो उस पर अपना विशेषाधिकार मानते हैं और अपोह का ध्यान आता है तो बौद्धों की याद आती है जो अपोहवाद के प्रतिपादक हैं। और इन तीनों की आपसी लड़ाई जो हजारों सालों तक चली है और आज भी चलती है उसके बारे में सबको पता है। उन्हीं की बातें हम पढ़ते हैं और पढ़ाते हैं और इनके आपसी झगड़ों पर किताबें लिखते हैं और लड़के—लड़कियों से इम्तिहान में सवाल पूछते हैं। 'बेकार' समझी जाने वाली ऐसी बातों में ही पढ़ने-पढ़ाने का धन्धा चलता है। और ऐसा लगता है जैसे आदमी बेकार की बातों में ही इस तरह लगा रहता है जैसे कि जिन्दगी-मौत का सवाल हो। बाकी तो रोज-मर्रा की बातें हैं, वे तो उस बेचारे को जबर्दस्ती करनी ही पड़ती हैं। लेकिन उसको उनमें ज्यादा मजा नहीं आता।

अब अगर आपको अपनी अहमियत महसूस करनी है तो आप इन बेकार और बेवकूफी की बातों पर थोड़ा सा गौर करें। पहले अभाव पर सोचें। आखिर यह है क्या और इसको मानने की जरूरत क्या है ? इसको मानने से परेशानियाँ कितनी और क्या पैदा हुईं और फिर उन परेशानियों को खत्म करने के लिए आदमी ने क्या क्या तरीके अपनाये ? बात सीधी है। आप जहाँ भी बैठे हैं वहाँ बहुत कुछ है : दरी है, पलंग है, मेज है, कुर्सी है। मतलब यह है कि 'कुछ' है और जो भी कुछ आपको आँखों से, कानों से, नाक से, पता चलता है, दिखाई देता है या आप सूँघकर पता लगाते हैं, उस जगह आप इस 'कुछ' को रख सकते हैं, पर कभी-कभी ऐसा भी लगता है कि आपको वह दिखाई देता है जो वहाँ नहीं है। मिसाल के तौर पर, आपके घर में कोई चीज किसी जगह रहती है और एक दिन जब आप बाहर से आते हैं तो, एकाएक लगता है यहाँ कुछ था जो नहीं है। कोई चीज जो जहाँ थी वहाँ नहीं है और थोड़ी देर बाद आपको एकदम पता लगता है, 'दिखाई देता है कि जो लैम्प, कुर्सी या कोई और चीज, जो जहाँ रखी

रहती थी वह वहाँ आज नहीं है। कभी जब घड़ी की टिक-टिक बंद हो जाती है तो कुछ देर बाद लगने लगता है कि जो आवाज बराबर सुनाई दे रही थी वह आवाज अब नहीं है। फिर आप इस पर ध्यान देते हैं और ध्यान देने पर पता लगता है कि घड़ी बंद हो गई है।

हर आदमी की जिन्दगी में इस तरह की अनेक मामूली बातें होती हैं पर इनसे कोई सवाल या परेशानी नहीं उठती है। जो इन छोटी से छोटी बातों से परेशानियाँ पैदा कर लेते हैं या सवालों की झड़ी लगा देते हैं, दार्शनिक उन्हीं को कहा जाता है। अभाव के बारे में भी कुछ इसी तरह की कहानी है। वैसे 'अभाव' और भी अजीब तरह के हो सकते हैं, जैसे किसी आदमी का 'जाना', 'ना होना' आपको खटकता है, परेशान करता है। जो नहीं हैं उनकी याद बार बार आती है, वह याद उन लोगों से भी ज्यादा महसूस होती है जो आपके आसपास हैं। शायरी में तो इस तरह की बात बहुत होती है और शायरी के बारे में सोचें तो उन बातों के बारे में पता चलेगा जिन बातों को बताना मुश्किल होता है। पर इसकी बात बाद में करेंगे। अभी तो सिर्फ उन वस्तुओं की बात हो रही है जो आँख, कान, नाक आदि से दिखाई देती हैं या दिख सकती है।

जो चीज़ थी वह नहीं है, जो सुनाई देता था वह अब सुनाई नहीं देता है, और इस तरह से उनका 'नहीं होना' जैसे प्रत्यक्ष मालुम होता है। हालाँकि वह है नहीं फिर भी वह वैसी ही मालूम पड़ती है, दिखाई देती है, सुनाई देती है जैसी वह थी। लेकिन जो कभी था ही नहीं, कभी सुनाई ही नहीं दिया, उसके बारे में हम कहें कि वह नहीं है तो वह 'नहीं होना' एक दूसरे प्रकार का 'होना' है। पर वह 'होना' किस प्रकार का है ? यहाँ अभाव की समस्या है। एक कमरे में जहाँ हाथी नहीं है, घोड़ा नहीं है, मोर नहीं है, उनका नहीं होना किस प्रकार का नहीं होना है ? जरा ध्यान से देखें तो जो चीजें नहीं है उन सब को न गिनाया जा सकता है न बताया जा सकता है। लेकिन इस बात से यह कौन कहेगा कि वे सब हैं ! और थोड़ा और सोचें तो लगेगा कि जो वहाँ नहीं है, जिसका वहाँ अभाव है, वह हमें प्रभावित करता है। हम उस चीज को लाने की कोशिश करते हैं जो नहीं है और जब वह आ जाता है तब हमें खुशी होती है और हम अपने जीवन को सार्थक मानते हैं। अब जरा सोचिये मरना क्या है ? मृत्यु से ज्यादा अभाव की अनुभूति क्या होती है ? जो मर गया वह चला गया। पर उसके परिजनों के लिए तो वह तब उससे भी ज्यादा होता है जितना कि जब जिंदा था तब था।

यही नहीं, आदमी अपने बारे में हमेशा यही महसूस करता है कि वह वह 'नहीं' है जो उसे होना चाहिए, और यह 'वह नहीं होने जो उसे होना चाहिए' का बोध उसे जितना परेशान करता है उतना शायद कोई चीज परेशान कभी नहीं करती होगी। दूसरों के बारे में तो यह बात साफ नजर आती है। दूसरों के बारे में अक्सर लोग शिकायत करते हैं। बुराई करने का मतलब क्या है ? शायद ही कोई आपकी तारीफ करेगा, अक्सर लोग बुराई ही करते हैं। बुराई करने का मतलब क्या है ? कि वह है पर वैसा नहीं है जैसा उसे होना चाहिए। इस तरह दोनों तरह से सारी दुनिया 'अभाव' से भरी मालूम होती है।

कर्म के प्रसंग में तो यह बात सहज ही दिखायी दे जाती है किन्तु ज्ञान के संदर्भ में हमें अभाव की विद्यमानता को स्वीकार करने में कठिनाई होती है। लेकिन थोड़ा सोचने पर यह साफ जाहिर होगा कि ज्ञान के संदर्भ में भी 'अभाव' की बात करना उतना ही जरूरी है जितना कि भाव और कर्म के संदर्भ में। ज्ञान की खोज का आरम्भ उस संशय से होता है जिसमें आदमी को यह शक होने लगता है कि जो जिस ज्ञान को सच माने बैठा था वह वास्तव में सच है कि नहीं। न्यायसूत्र में तो 'संशय' को प्रमाण-व्यापार का मूलभूत पूर्वांग माना गया है जिसके बगैर ज्ञान की प्रक्रिया का प्रारम्भ ही नहीं हो सकता। विरासत में मिले हुए ज्ञान की जब तक हम अपूर्णता और दोषों को महसूस न करने लगें तब तक नये ज्ञान की खोज की शुरुआत ही नहीं हो सकती। यही नहीं, ज्ञान के संदर्भ में तो यह बात अक्सर ही की जाती

है कि अगर ऐसा हो तो क्या होगा ? या, अगर ऐसा हुआ होता तो क्या होता ? इतिहास में तो यह सवाल हमेशा ही उठाया जाता है। इतिहास का हर लिखने वाला यह सोचे बगैर नहीं रह सकता कि अगर औरंगजेब की जगह दारा जीतता, या गाँधी जी की हत्या नहीं हुई होती, या इंदिरा गाँधी को उस तरह नहीं मारा जाता... । पर इससे भी ज्यादा जरूरी बात तो यह है कि आज के विज्ञान के संदर्भ में परीक्षण की प्रक्रिया एक प्रकार से अनिवार्य है और परीक्षण का एक अंग हमेशा यह होता है कि अगर ऐसा करें तो क्या होगा या क्या नहीं होगा। 'नहीं होना' ज्ञान की प्रक्रिया के लिए उतना ही जरूरी है जितना होना। यही बात जिसे अन्वयव्यतिरेक कहा जाता है उसके ऊपर भी लागू होती है। इससे भी अधिक यदि आगे जाकर देखें तो विचार की प्रक्रिया में ही 'नहीं' या 'निषेध' का अनिवार्य स्थान है। ये निषेध अनेक प्रकार के होते हैं और इसे माने बगैर ज्ञान का स्वरूप समझा ही नहीं जा सकता। यही बात पूर्वपक्ष के खण्डन या मण्डन में लागू होती है। कहने का मतलब यह है कि अभाव का आभास ज्ञान की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिए उतना ही आवश्यक है जितना भावना या कर्म के जगत् में। इस तरह अभाव पर विचार का भारतीय दार्शनिक चिंतन में ऐसा महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है जिसकी ओर उन्हीं लोगों का ध्यान गया है जिन्होंने उस दर्शन का अध्ययन किया है और उस पर मनन और चिंतन किया है।

अपोह की बात प्रथम दृष्टि में इससे कुछ भिन्न लगती है, क्योंकि अपोह की चर्चा में किसी भी वस्तु के बारे में सोचने के संदर्भ में उन चीजों का आना अनिवार्य माना जाता है जिनके अस्तित्त्व का उस वस्तु का होना निषेध करता है। यह बात शुरू शुरू में तो अजीब लगती है कि आखिर जो चीज है सो है, उसको समझने की जरूरत ही क्या है जो वह नहीं है ? लेकिन अनेक संदर्भों में मनुष्य यह समझने की कोशिश करता दिखाई देता है। यही नहीं, जो नहीं है उसे उसका अभिन्न अंग मानता है जो है। इसके कुछ उदाहरण आसानी से दिये जा सकते हैं। हर चयन की प्रक्रिया में जो नहीं चुना गया, वह चुने गये के चुने जाने के लिए महत्त्वपूर्ण अर्थ में जरूरी है। आधुनिक अर्थशास्त्र में एक अजीब उदाहरण मिलता है जिसकी साधारण मिसाल यह है कि अगर आपके पास कुछ पैसे हैं और बाजार में जाकर आप कुछ खरीदते हैं तो एक तरह से आपने उन सब चीजों को 'नकारा' है जो बाजार में उपलब्ध थीं किन्तु आप ने नहीं खरीदी। यह सिद्धांत बहुत कुछ अपोह जैसा ही है।

आम तौर पर 'अपोह' को इस तरह नहीं समझा जाता, लेकिन उस दृष्टि में जिसने इस सिद्धांत को जन्म दिया है यह बात अनिवार्य रूप से अंतर्भूत है। आमतौर पर अपोह को इस तरह समझाया जाता है कि वह उन चीजों का निषेध करता है जिनका निषेध किसी विशेष वस्तु के होने में अन्तर्भूत है। पर, यह अन्तर्भूत होना क्या है ? मान लीजिये कि यहाँ इस समय इस कमरे में घड़ा है तो यह बात किसका निषेध करती है ? कुछ लोग कहते हैं कि यह उन सभी का निषेध करती है जो वहाँ उसके बजाय हो सकता था। लेकिन इस कहने का मतलब क्या है ? अगर कोई इस घड़े के बजाय कोई आदमी हो सकता था तो क्या यह उसका 'निषेध' होगा ?

इस बात पर थोड़ा और ध्यान दिया जाना जरूरी है क्योंकि परम्परा में इसकी चर्चा हुई है। 'घड़ा' एक वस्तु है जो देश-काल में होती है, जिसमें द्रव्य, गुण आदि की चर्चा की जा सकती है। पर कोई कहे कि वहाँ आकाश नहीं है तो इसका क्या अर्थ होगा ? यह बात कुछ-कुछ उस तरह की है जैसी कि जब हम किसी घटना के बारे में बात करते हैं तो उसके बारे में किस प्रकार के गुणों की चर्चा कर सकते हैं ? सब गुण सब चीजों में नहीं माने जा सकते। जैसे यदि कोई कहे कि 'संगीत नीला है' तो इसका कोई अर्थ नहीं है। 'नीला' पद का 'संगीत' पद के साथ प्रयोग नहीं किया जा सकता, न 'काला' का और न ही 'सफेद' का किया जा सकता है। अब, अगर हम 'संगीत' के संदर्भ में अपोह की बात करें तो इसमें पद-प्रयोग-विषयक उपर्युक्त परिस्थिति का क्या स्थान होगा ?

इन उदाहरणों से जो बात पता लगती है वह यह है कि शुद्ध निषेध की बात करना बिल्कुल बेकार है। अभाव व अपोह विषयक चर्चाओं में ऐसा किया गया है। अभाव के संदर्भ में कम, अपोह के संदर्भ में अधिक। अब अभाव की बात देखें। 'यहाँ कोई चीज नहीं है' इसमें 'नहीं होने' का क्या मतलब है ? इस पर हम पहले भी थोड़ी चर्चा कर चुके हैं, लेकिन अब इसे अनेकान्त के संदर्भ में देखें जो जैनियों का विशिष्ट सिद्धांत माना जाता है।

अनेकान्त की चर्चा अभाव और अपोह के संदर्भ में नहीं की जाती। भारतीय दार्शनिक, वे चाहे बौद्ध हों या नैयायिक या कोई और 'अनेकान्त' का प्रयोग तो वे ऐसे करते हैं जैसे वह कोई ऐसी मूलभूत गलती है जिसकी ओर इशारा करते ही उसकी बात समाप्त हो जानी चाहिए। 'अनेकान्तिक' होना उनके लिए एक ऐसी अक्षम्य भूल है जो कोई विचारक कर ही नहीं सकता। किन्तु जैन लोग इसे अपने सिद्धांत के रूप में मानते हैं, इसलिए जैन चिंतकों को अन्य दर्शन-सम्प्रदाय 'दर्शन' ही नहीं मानते। अगर ध्यान से देखें तो अनेकान्त की बात कुछ-कुछ वैसी ही लगती है जैसी अभाव और अपोह की। अनेकान्त के सिद्धांत में कहने की कोशिश है कि कोई भी वस्तु या वस्तुस्थिति एकांगी नहीं होती। उसके अनेक आयाम होते हैं और कालक्रम में उसमें परस्पर विरोध दिखायी देगा। जो आज है, या अब है वह कल नहीं होगा। कुछ संदर्भों में तो कुछ देर बाद भी ऐसा होता देखा जा सकता है। अब अगर हम उस चीज को या उस वस्तुस्थिति को वैसा ही मानें तो हमें यह मानना पड़ेगा कि उस वस्तु में परस्पर विरोधी दिखने वाले गुण विद्यमान हैं और इस तरह से जो अब उसमें नहीं है उसको भी इस दृष्टि से विद्यमान मानना पड़ेगा। किसी भी वस्तु में कई बार वे गुण उत्पन्न होते हैं जो उसके सम्बन्ध विशेष में आने पर प्रकट होते हैं। इससे उस वस्तु में क्या-क्या गुण हैं, इसका हमें ठीक ठीक पता ही नहीं लग सकता। वस्तु के उन गुणों का पता अन्य वस्तुओं के साथ उसके सम्बन्ध से ही चलता है किन्तु वस्तुओं के साथ संभावना रूप से उस वस्तु के अनेक सम्बन्ध होते हैं। इस प्रकार वस्तुओं की संबंध-जनित यह अनंतता का यह कथन ही अनेकांतवाद हैं। इसका सीधा सादा अर्थ यह है कि हरेक चीज में अनन्त गुणों की संभावना निहित रहती है जो एक समय तो दिखाई नहीं पड़ती है। यह वस्तुओं के अन्दर छिपी अनन्तता है। वह हमें दृष्टिगोचर तो नहीं होती लेकिन दार्शनिक चिंतन से हमें सहज रूप में उपलब्ध हो सकती है। इसीलिए जैन दार्शनिकों का कहना है कि अन्य दर्शन-संप्रदायों के सिद्धांत एकांगी हैं क्योंकि वे वस्तु के समग्र रूप को नहीं देखते हैं, केवल उस रूप को ही देखते हैं जो समय विशेष में दृष्टिगत है। किन्तु बुद्धि हमें बताती है कि वास्तव में उसमें अदृष्ट, अगोचर, अनन्त संभावनायें निहित हैं जो कभी न कभी हमें दिखेंगी।

इस तरह से देखने पर वस्तुओं में एक छिपी अनन्तता का ज्ञान हमें प्राप्त होता है और कुछ ऐसी भी प्रतीति होती है कि कोई वस्तु न पूर्ण रूप से जानी जा सकती है और न ही वर्णित की जा सकती है। और अगर हम ऐसा करने की कोशिश करेंगे तो ऐसा दिखेगा कि हम ऐसी अन्तर्विरोधी बात कर रहे हैं जो कभी भी सत्य नहीं हो सकती। इसी बात को उन्होंने 'अवक्तव्य' कहकर बताने की कोशिश की है। किसी भी चीज का असली सत्त्व या तत्त्व अपने आप में इस अर्थ में अवक्तव्य है कि भाषा में उसे पूर्ण रूप से पकड़ा ही नहीं जा सकता। यही नहीं, अगर हम ऐसा करने की कोशिश करेंगे तो जो हम करेंगे वह अन्तर्विरोधपूर्ण होगा।

अभाव, अपोह और अनेकान्त ये अलग–अलग दिखाई देने वाले सिद्धांत हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित करते हैं कि किसी वस्तु या वस्तुस्थिति को सत्य कहने का अर्थ क्या है। यही नहीं, ये हमारा ध्यान इस ओर भी दिलाते हैं कि जो सत्य है या जो वास्तव में है उसका काल से क्या सम्बन्ध है। चीजों का काल में होने का अर्थ ही यह है कि उनमें परिवर्तन होता है, और परिवर्तन होने का मतलब यह कि उसमें जो कुछ था वह बदल जाता है और कुछ नई चीज या गुण पैदा होते हैं। यही नहीं, यह निरन्तर

परिवर्तन वस्तु में अपने आप होता है या दूसरी चीजों के सम्बन्ध में आने पर होता है, इसकी चर्चा इस सिद्धांत में स्पष्ट रूप से नहीं देखी जा सकी। इस बात की चर्चा भी स्पष्ट की जानी चाहिए कि दो वस्तुओं का होना या एक दूसरे से अलग होना, क्या मायने रखता है। अनेकान्त के सिद्धांत में तो इस सवाल का जवाब बहुत ही मुश्किल होगा कि दो कही जाने वाली, या दो अलग–अलग दिखाई देने वाली वस्तुओं में किस प्रकार भेद किया जा सकता है ? यह बात कुछ–कुछ अपोह के बारे में भी है। जिन चीजों में अपोह की बात की जा रही है उनमें स्वयं की सत्ता क्या है या उनमें अपना सत्य क्या है ? जो लोग 'अभाव' की बात करते हैं उनके लिए भी यह सवाल उतने ही महत्त्व का है कि अभाव 'किसका' है और जब किसी का अभाव समाप्त हो जाता है तब क्या होता है ? संभावना, कल्पना या मानसिक और बौद्धिक रूप से सत्य होने और असली तरह के सत्य होने में भेद क्या सार्थक है ? क्योंकि भेद किये बिना तो इन सबकी चर्चा ही नहीं की जा सकती।

एक अन्य प्रश्न जो विचारकों को दूसरी दिशा में ले जाता है वह यह है कि क्या वे सब समस्याएँ भाषा के प्रयोग से उठती हैं ? भाषा अनेक भेद करती है। वह 'नहीं' के प्रत्यक्ष को जन्म देती है जिसको सत्य माने बगैर वह कुछ कह ही नहीं सकती। यही बात भाषागत विचार में भी दिखायी देती है। विचार भाषा के बगैर नहीं होता। लेकिन जहाँ भाषा है या विचार है वहाँ अभाव आदि को मानना पड़ेगा। और अगर अभाव और संभावना वस्तुगत नहीं है तो फिर इन्हें विचार की ही उपज मानना पड़ेगा। इस प्रकार कहने पर ऐसा लगता है कि चेतना का स्वरूप ही ऐसा है कि उसमें नकारने की शक्ति विद्यमान है। 'ऐसा हो सकता है' और 'ऐसा नहीं है' ऐसा कहते ही वह उसको सत्ता प्रदान करती है जो नहीं है। इस बात को भी दो तरीके से देखा जा सकता है। एक यह कि जब चेतना स्वयं से स्थित है तो उसके नहीं होने का प्रश्न नहीं किया जा सकता है। पर जैसे ही चेतना आत्म-चेतन होकर प्रश्न पूछती है या किसी क्रिया में संलग्न होती है या विमर्श करती है, तभी 'जो नहीं है' उसे अपनी परछाई के रूप में जन्म देती है। वही भाषा में अभाव के रूप में और चिंतन में नकारने के रूप में व्यक्त होता है। यह 'वह' है जिसकी सत्ता को न नकारा जा सकता है और न स्वीकार ही किया जा सकता है। यही चेतना की विडम्बना है और इसी से बचने के लिए दार्शनिक चिंतन या विमर्श चेतना के उस शुद्ध रूप की खोज करता है जिसमें न कोई प्रश्न उठता है न समस्या। ऐसी स्थिति में न अभाव होता है न अनेकान्त और न ही अपोह। जहाँ तक नैयायिकों व बौद्धों का प्रश्न है, वे तो शायद इस बारे मे एकमत हैं कि उस अवस्था में चेतना ही नहीं रहती। नैयायिकों के मोक्ष में तो चेतना ही नहीं होती अत: वहाँ प्रश्न उठने की कोई सम्भावना ही नहीं हो सकती। यही बात निर्वाण के बारे में भी है। वहाँ तो 'कुछ' भी नहीं है तो फिर अपोह या अभाव की बात बेकार ही नहीं असंभव भी है। यही नहीं, बौद्धों के 'चित्त' को 'क्षण-भंग' मानने पर अपोह की चर्चा ही नहीं हो सकती। जहाँ तक जैन दर्शन का सम्बन्ध है वहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या केवली का ज्ञान अनेकान्तिक है ? स्वयं महावीर से जब यह प्रश्न किया गया था कि सिद्धि सान्त है या अनन्त, तो उनका उत्तर कुछ इसी प्रकार का था। उन्होंने वहाँ पर कहा था कि द्रव्य की दृष्टि से सिद्धि या मोक्ष की अवस्था 'सान्त' है और इसी प्रकार देश की दृष्टि से भी सान्त है, किन्तु काल और पर्याय की दृष्टि से अनन्त है। इस उत्तर में दृष्टि-भेद निहित है और अगर महावीर की बात को सच मानें तो सिद्धि की अवस्था में 'भेद' रहता है और रहेगा। पर क्या वास्तव में उसे रहना चाहिए ? महावीर प्रश्न का उत्तर दे रहे थे पर उस अवस्था में नहीं जब वे परम केवली की अवस्था में पहुँच गये थे। क्योंकि वह तो देह-त्याग के बाद ही संभव हो सकती है। लेकिन क्या उस अवस्था में पहुँचने पर केवली की आत्म-चेतना इस प्रकार के भेद कर सकती है, या उसमें इस प्रकार की दृष्टियाँ 'उत्पन्न' हो सकती हैं ? उसके ज्ञान को तो 'सर्वज्ञ' का ज्ञान कहा जाता है और सर्वज्ञता में न ज्ञान अनेकान्तिक हो सकता है और न ही उसका रूप

'सप्तभंगी' । ये तो ज्ञान की अपूर्णता के परिचायक हैं और जिसे अभी सिद्धि प्राप्त नहीं हुई है वही अनिवार्य रूप से अपनी सीमित दृष्टि के परिपेक्ष्य में सत् और ज्ञान को इस रूप में देख सकता है। सीमित और सान्त चेतना का ज्ञान शब्द में, भाषा में बंधा होता है, और भाषा की सीमा ही उसके ज्ञान को एक प्रकार से अनेकान्तिक रूप में प्रस्तुत करने को बाध्य करती है। यही बात अपोह और अभाव के बारे में सत्य दिखाई देती है। निर्वाण की अवस्था में अपोह की बात करना बेकार लगता है और मोक्ष की अवस्था में 'अभाव' की। अपोह या अभाव या अनेकान्त तीनों आत्मचेतन प्राणी के ज्ञान में प्रतीत होते हैं जो सान्त है और अपूर्ण है और जिसका ज्ञान अनिवार्य रूप से आबद्ध है। इनमें आपस के भेद उस दृष्टि-भेद से उत्पन्न होते हैं जो इस अपूर्णता और सीमा को समझने की चेष्टा करती है। यह दृष्टि-भेद आत्मचेतना के तीन पक्षों की ओर ध्यान दिलाता है जो आत्मचेतना के ज्ञान में अनिवार्य रूप से संलग्न हैं। और यह तीनों एक दूसरे को समझने में सहायता ही नहीं करते बल्कि आत्मचेतन की अपनी अवस्था को समझने में भी मदद करते हैं। अभाव या अपोह या अनेकान्त न केवल हमारे ज्ञान की अपूर्णता के द्योतक हैं बल्कि उसको एक ऐसा आयाम भी देते हैं जिसके द्वारा हमारा अपूर्ण और सीमित ज्ञान पूर्णता की ओर निरन्तर अग्रसर होने की प्रक्रिया में संलग्न होता है। यह बात ज्ञानमीमांसा के संदर्भ में अधिक स्पष्ट नहीं दिखाई देती परन्तु जब हम कर्ममीमांसा, मूल्यमीमांसा और भाषामीमांसा की ओर बढ़ते हैं तब हमें अभाव, अपोह, और अनेकान्तिकता अपने नये रूपों में प्रकट होते दिखाई देते हैं। वहाँ 'भेद' दोष रूप में उपस्थित नहीं होता और न ही अनेकान्तिकता उस प्रकार दिखाई देती है जैसी वह ज्ञान के संदर्भ में अक्सर दीख पड़ती है। यहाँ तो वह ऐसे अनेक नई संभावनाओं को उत्पन्न करती प्रतीत होती है जो हमारे जीवन को अधिक सार्थक और चेतना को अधिक मूल्यवान् बनाते हैं। अभाव से हम जीवन में 'भाव' की ओर अग्रसर होते हैं और अपोह से 'अपने' को पाते हैं और अनेकान्त के द्वारा अनेक दिशाओं में सतत अग्रसर होते हैं।

इस प्रकार से देखने पर ये सिद्धांत हमें एक-दूसरे के पूरक प्रतीत होते हैं और हमें इनमें एक ऐसी नई सार्थकता दिखाई देती है जो स्वयं हमारे जीवन को भी सार्थक बनाती है।

***

दार्शनिकों के तर्क न प्रत्यक्ष न अनुमान न शब्द न उपमान

दार्शनिक चिंतन बुद्धिनिष्ठ है और उसका केन्द्रबिन्दु तर्क है। तर्क के सहारे ही दार्शनिक चिंतन बढ़ता और पनपता है। लेकिन तर्क के स्वरूप को शायद उस तरह से समझा नहीं गया है जैसे उसे समझना चाहिए। तर्क न अनुमान है, न प्रत्यक्ष, न शब्द है, न उपमान, और न उसमें प्रमाण है, उस अर्थ में जिस अर्थ में 'प्रमाण' शब्द का प्रयोग किया जाता है। तर्क क्या है और दार्शनिक चिंतन में वह अपने किस रूप में प्रकट होता है, जब तक हम इसको नहीं समझेंगे तब तक 'दर्शन' को शायद ही समझ पायेंगे। दर्शन के इतिहास को लें तो उसमें तर्क के अनेक रूप मिलते हैं, जिन पर अगर ध्यान से सोचें तो हमारे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहेगा। उदाहरण के लिए पश्चिमी दर्शन के इतिहास के प्रारम्भ में दो तर्क मिलते हैं जिनको तर्क कहना साधारण आदमी को ही नहीं बल्कि विद्वानों को भी बहुत अजीब लगेगा।

पहला तर्क कुछ इस प्रकार का है- 'अगर 'सत्' है और देश है तो वह सर्वव्यापक होगा ही। ऐसे रिक्त स्थान की कल्पना करना जहाँ वह नहीं है, असंभव है। और अगर कोई रिक्त स्थान है ही नहीं तो न अनेकता हो सकती है न गति। लेकिन हमें अनेक अलग-अलग पदार्थ दिखाई देते हैं और परिवर्तन और गति भी सबको सहज रूप में दिखायी देती है। तब यदि हमारा तर्क ठीक है तो यह जो प्रत्यक्षानुभूत होता है वह असत् है, यानि सत्य हो ही नहीं सकता। गति और नानात्व असंभव है, चाहे आपको वे कितने ही वास्तविक लगें। यह तर्क पारमेनिडीज के नाम से जोड़ा जाता है। लेकिन तर्क अपने आप में स्वतंत्र है, उसको किसी के नाम से जोड़ने की जरूरत नहीं है। इस तर्क पर चिंतन करने पर दर्शन के स्वरूप का आपको कुछ आभास मिलेगा, चाहे वह कितना ही 'क्षीण' क्यों न हो।

इसी तरह का एक अन्य तर्क जेनो के नाम से सम्बन्धित है। वह तर्क भी अजीब प्रकार का है। उस तर्क के अनेक रूप हैं लेकिन उसके एक रूप को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है-

गति का अर्थ है—"वहाँ होना जहाँ वह नहीं है, क्योंकि यदि कोई चीज वहीं है जहाँ वह है तो उसे गतिशील नहीं कहा जा सकता। लेकिन कोई चीज वहाँ हो ही नहीं सकती जहाँ वह नहीं है, और अगर ऐसा हो ही नहीं सकता तो गति असंभव है।"

ऐसा नहीं है कि इस प्रकार के तर्क पश्चिम में ही मिलते हैं। जहाँ भी दर्शन है वहाँ इस प्रकार के तर्क मिलते हैं। भारत में ही लीजिए, यहाँ क्या ऐसे तर्कों की कमी है ? "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।" गीता की यह प्रसिद्ध उक्ति गीता से पहले हजारों बार दोहराई या चुकी थी। जो सत् है वह कभी असत् नहीं होता और जो असत् है वह कभी सत् नहीं हो सकता। इसीलिए अगर किसी को ऐसा अनुभव होता है कि जो था अब नहीं है, या जो नहीं था वह अब विद्यमान है, तो वह भ्रम में है, उसका ज्ञान मिथ्या है। पर ऐसा मानने पर तो सारा अनुभव, सारा जगत्, जो कुछ भी हम देखते हैं, सुनते हैं, सब असत् कहा जायेगा। किन्तु तर्क देने वाले को और सुनने वाले को इससे कोई मतलब नहीं। उसने तो कह दिया "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" और उसके कहने के बाद हजारों लोग इसको दोहराते हैं, विद्यार्थियों को पढ़ाते हैं और समझते हैं कि वे उनको कोई उच्च कोटि का ज्ञान दे रहे हैं। इसी

का एक अन्य रूप लीजिए, वह भी भारतीय दर्शन में अनेक रूप लेकर अनेक बार मिलता है। "जो नित्य है, शाश्वत है, चिरन्तन है, वही सत् है, जो अनित्य, परिवर्तनशील है, क्षणभंगुर है, वह असत् है, मिथ्या है, दोषपूर्ण है, हेय है, त्याज्य है।" यह बात बौद्धों के लिए उतनी ही सत्य है जितनी उनके लिए जो बौद्ध नहीं कहे जाते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो 'निर्वाण' की तलाश किसे होती ? संसार से बुद्ध और उनको मानने वाले लाखों करोड़ों लोग संसार विमुख क्यों होते ?

इस प्रकार का तर्क और चिंतन साधारणत: 'अद्वैत' के नाम से जुड़ा है, पर वास्तव में ऐसा नहीं है। नित्य और अनित्य के भेद की बात वात्स्यायन अपने न्यायभाष्य में करते हैं और न्याय दर्शन में तो नित्य पदार्थों की अलग से चर्चा भी है, सांख्य में भी नित्य पुरुष और प्रकृति की बात है और इसी प्रकार दूसरे दर्शनों में भी है। लेकिन जहाँ भी भेद के संदर्भ में मिथ्या ज्ञान की चर्चा की गयी है वहाँ केवल एक ही प्रकार के नित्य ज्ञान को सत्य माना गया है और वह आत्मा सम्बन्धी ज्ञान है। बाकी नित्य पदार्थों को मानने वाले दर्शनों में उनके ज्ञान विशेष के सम्बन्ध में उन्हें न कोई रुचि है, न उनके सम्बन्ध में मिथ्या ज्ञान के बारे में कोई परेशानी।

तर्क का एक और रूप लें जो भारतीय परम्परा में भी मिलता है और पश्चिमी परम्परा में भी- जो कुछ भी हम जानते हैं वह एक ओर तो इन्द्रिय-सापेक्ष होता है और दूसरी ओर बुद्धि-सापेक्ष और तीसरी ओर वह उस विषय या वस्तु से सम्बन्धित होता है जिसके बारे में वह ज्ञान कहलाता है। अब अगर ऐसा है तो विषय या वस्तु का जो अपना स्वरूप है वह हमारी इन्द्रियों और हमारी बुद्धि से स्वतंत्र रूप में कभी जाना ही नहीं जा सकता, क्योंकि हमारे पास उसको ऐसा जानने का कोई साधन ही नहीं हो सकता। इस प्रकार जो विषय या वस्तु का जो 'स्व-रूप' है वह कभी जाना ही नहीं जा सकता, क्योंकि 'जानने' का अर्थ यह है कि वह अपने आप में 'ज्ञान-सापेक्ष' है। यह बात पश्चिमी दर्शन में कान्ट के नाम से जुड़ी है और एक अन्य प्रकार से लॉक के नाम से। लॉक इसको इस प्रकार से रखता है कि जो भी ज्ञान है वह केवल 'गुण-मात्र' का ही हो सकता है और जो गुणों का आधार है उसका अपना ज्ञान कभी भी नहीं हो सकता, क्योंकि उसके ज्ञान का अर्थ ही यह होगा कि हम उसको उस रूप में जाने जैसा वह उन गुणों से पूर्णत: स्वतंत्र रूप से है। लॉक ने इसको अपनी प्रसिद्ध उक्ति 'आई नो-नॉट व्हाट' कहकर बताने की कोशिश की थी और यही बात कान्ट ने 'थिंग इन इट्सेल्फ' कहकर बताने की कोशिश की।

इसी का एक अन्य रूप अद्वैत वेदान्त में मिलता है जहाँ उसको 'सोपाधिक' और 'निरुपाधिक' ज्ञान कहकर बताने की कोशिश की गयी है और यह कहा गया है कि जो भी सोपाधिक है वह ऐसा होने से ही मिथ्यात्व का रूप लेता है। कान्ट, लॉक और शंकर में भेद जरूर है पर तर्क की दृष्टि से देखें तो गहरा साम्य भी है और तीनों एक सीधा-साधा सवाल अपने से नहीं पूछते। वह सवाल यह है कि मनुष्य का ज्ञान कैसे होता है ? शरीर का ज्ञान कैसे होता ? इन्द्रियों का ज्ञान कैसे होता है ? बुद्धि का ज्ञान कैसे होता है ? और अगर यह भी 'ज्ञान' है तो उस ज्ञान के विषयों के 'स्वरूप' को आप कैसे जान सकते हैं ? और अगर यह मानें कि इनके स्वरूप का सही ज्ञान को सकता है तो फिर उनको यह मानना पड़ेगा कि ज्ञान के कुछ विषय ऐसे हैं जिनके स्वरूप का सत्य ज्ञान हो सकता है और कुछ अन्य ऐसे जिनके स्वरूप का सत्य ज्ञान नहीं हो सकता पर, फिर इस भेद का आधार क्या होगा ?

दर्शन के इतिहास में एक अन्य तर्क सहज रूप में सब ओर मिलता है जिसका स्वरूप यह है कि 'जो आत्म-व्याघाती है, या जिसमें दो परस्पर विरोधी गुण एक साथ परिलक्षित होते हैं, या जहाँ दो परस्पर विरोधी बातें एक साथ सत्य दिखाई देती हैं, वह हमेशा अनिवार्यत: असत् है, मिथ्या है, झूठ है, गलत' है। अंग्रेजी में इसको सेल्फ कंट्रेडिक्शन का नाम दिया गया है और अरस्तू ने इसको चिंतन या विचार का मूलभूत नियम माना है। इस तर्क का स्वरूप कुछ-कुछ प्रारम्भ में जो तीन तर्क दिये गये थे

उनमें परिलक्षित या प्रतिबिम्बित होता है और सारे दर्शन का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि अगर किसी प्रत्यय में, या वस्तु के विचार में, या विषय के चिंतन में आप उसको आत्म-व्याघाती दिखा दें तो उससे ही यह सिद्ध हो जायेगा कि वह पूर्णत: असत् या मिथ्या है। ऐसा सिद्ध हो जाने से दार्शनिक के अपने 'व्यवहार' पर या जीवन पर कोई फर्क नहीं पड़ता और उसे न इस बात पर कोई अचम्भा होता है, न आश्चर्य, शर्म आने की बात तो दूर की है। भारतीय दर्शन में व्यवहार और परमार्थ का भेद, संवृत्ति सत्य और परमार्थ सत्य का भेद सर्वविदित है, और वेदान्ती हों या बौद्ध सभी इसके सहारे ही सबको 'असत् ठहराने में कोई बाधा महसूस नहीं करते।

पश्चिमी दर्शन को लें तो वहाँ स्थिति कोई इससे बेहतर नहीं मिलती। बर्कले यह सिद्ध करने के बाद कि वस्तु या विषय का चेतना-निरपेक्ष होना आत्मव्याघाती है, इस बात को मानने में कोई संकोच अनुभव नहीं करता कि अगर विश्व मेरी चेतना से स्वतंत्र दिखाई पड़ता है तो वह किसी अन्य ऐसी सार्वभौम चेतना का विषय होगा जिसे ईश्वर कहा जा सकता है। क्योंकि वस्तु का चेतना के आश्रित होना परिभाषा से ही अनिवार्य है। इसी तर्क का एक दूसरा रूप है।

लेकिन बर्कले ने यह नहीं पूछा कि चेतना जब स्वयं विषय रूप में उपस्थित होती है तो क्या वह किसी अन्य चेतना पर आश्रित होती है ? और अगर ऐसा है तो वह ईश्वर के लिए भी उतना ही सत्य होगा जितना मनुष्य के लिए। उसने एक भेद अवश्य किया था जो भेद 'आईडिया' और 'नोशन' नाम से जाना जाता है। लेकिन यह भेद अन्य मनुष्यों के ज्ञान से सम्बन्धित है न कि अपनी चेतना के ज्ञान से। बर्कले के लिए विषय-वस्तुओं का ज्ञान और अन्य चेतनाओं का ज्ञान मूलत: भिन्न है और उसी को उसने इस भेद से दर्शाने की कोशिश की थी। लेकिन इस भेद को मानने पर उसके मूलभूत सिद्धांत 'एस्से एस्ट पर्सिपी' (विज्ञप्ति ही सत् है) पर क्या फर्क पड़ता है, इस पर न उसने सोचा न उसके व्याख्याकारों ने।

इस तर्क का एक अन्य रूप शंकर के अद्वैत वेदान्त में मिलता है जहाँ चेतना के विषय रूप ज्ञान को उतना ही मिथ्या माना गया है जितना किसी अन्य वस्तु के विषय-रूप ज्ञान को। लेकिन अगर चेतना स्वयं को भी नहीं जानती, अनुभव भी नहीं करती, तब फिर आनन्दमय कोष का क्या होगा ? जड़ और चेतन में भेद किस आधार पर होगा ? आनन्द की बात करते-करते वेदान्ती नहीं अघाते और साथ ही वे आत्मा में न कोई उपाधि मानते हैं न कोई विषय-रूप अनुभूति या ज्ञान।

बार-बार दार्शनिक अपने आपको इस मूलभूत बौद्धिक संकट में फँसा पाता है कि या तो वह अनवस्था दोष में फँसे या चक्रक दोष में। इन दोनों को अंग्रेजी में इन्फिनिट रीग्रेस और पिटीश्यों प्रिंसिपाई या आर्गूमेंट इन सर्कल कहा जाता है। दोनों दोष बुद्धि को स्पष्ट 'दोष-रूप' में दिखाई देते हैं, लेकिन उससे बचने का कोई रास्ता भी उसे समझ में नहीं आता ! ईश्वर की सिद्धि के लिए एक तर्क हमेशा दिया जाता है कि सृष्टि का कोई सृष्टा होना चाहिए, कार्य का कोई कारण होना चाहिए। परन्तु तब सृष्टा का भी कोई 'सृष्टा' होना चाहिए और कारण का भी कोई कारण होना चाहिए ! लेकिन यह श्रृंखला तो अनन्त है, कब रुकेगी और अगर रुकेगी ही नहीं तो फिर प्रारम्भ कैसे होगी ? इस कठिनाई से बचने के लिए सीधा-सादा तरीका यह है कि हम सृष्टि को स्वत:-सृष्ट मान लें। तब कार्य के कारण की खोज करने की कोई आवश्यकता नहीं। और अगर कोई यह कहे कि सृष्टि के अन्दर जो घटनायें घटित होती हैं उनके संदर्भ में कार्य-कारण की बात करना सार्थक है परन्तु समूचे ब्रह्माण्ड या सृष्टि के संदर्भ में उसकी बात करना निरर्थक है तो सीधा-साधा सवाल यह उठता है कि इस 'समूचे-ब्रह्माण्ड का क्या अर्थ होगा ?

कांट ने इस समस्या का एक समाधान देने की कोशिश की थी जो दर्शन के इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। उसका कहना था कि कालक्रम कोई वास्तविक प्रदत्त सत्य नहीं है बल्कि हमारे अनुभव के अनुभव होने की एक पूर्वापेक्षा है। पर अगर कांट की बात मान भी ली जाय तो भी

सवाल वैसा का वैसा ही रहता है। क्योंकि समस्या इस बात से नहीं उठती कि काल 'प्रदत्त' है या 'पूर्वपेक्षा' बल्कि इस बात से उठती है कि काल 'काल' है। काल के प्रत्यय में ही वह अन्तर्विरोध है जो समस्या को उत्पन्न करता है। एक ओर काल उन अनन्त क्षणों की शृंखला का नाम है। जिसका न कोई आदि है न अन्त, और जो इस प्रकार विभाज्य है कि उसके विभाजन का भी कभी अन्त नहीं हो सकता। यह कुछ-कुछ उसी प्रकार की समस्या है जो देश के सम्बन्ध में भी उपस्थित होती है। लेकिन काल के सम्बन्ध में यह समस्या एक और रूप लेती है, कि उसमें क्षणों का सह-अस्तित्त्व हो ही नहीं सकता। एक क्षण के नष्ट होने के बाद ही दूसरा क्षण उत्पन्न हो सकता है। पर यह बात न कांट ने देखी है न किसी और ने कि 'दूसरा' क्षण तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि विभाजन की प्रक्रिया में ही यह निहित है कि हम कभी भी, सिद्धान्ततः ही, 'दूसरा क्या है इसका निर्णय कर ही नहीं सकते। गणित में जिसको 'रेशनल नम्बर' या 'रेशियो' कहते हैं उसमें यह बात अनिवार्यतः निहित है। इसके बाद संख्याओं से जो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं उनकी चर्चा यहाँ करने की जरूरत नहीं है। लेकिन संख्याओं का वह रूप जिसको 'इर्रेश्नल' और 'इमेजिनरी' कहा जाता है, उसकी यहाँ याद दिलाना जरूरी है।

यही नहीं, दार्शनिक दृष्टि से जो समस्या इससे भी अधिक गहरी है वह यह है कि अगर 'काल' अनन्त क्षणों की एक ऐसी सतत प्रवाहमान श्रृंखला है जिसमें एक क्षण के नष्ट होने पर ही दूसरा क्षण उत्पन्न होता है, तो उसका ज्ञान कभी भी कैसे हो सकता है ? काल के 'काल' होने का ज्ञान ही उसके 'काल' होने को नष्ट करता है, क्योंकि हम कभी भी यह कैसे जान सकते हैं कि जो क्षण नष्ट हुआ है वह किसी न किसी रूप में अब भी 'सत्' है और वह उससे 'पूर्व' था जो अब है ? कांट ने इस समस्या को देखा जरूर था और यह कहने की कोशिश की थी कि चेतना का काल से जो सम्बन्ध हैं उसमें उसका जो काल के बारे में ज्ञान है वही यह सिद्ध करता प्रतीत होता है कि उसमें (चेतना में) कुछ ऐसा है जो काल से परे है और उसके आधार पर ही काल में वह समग्रता और एकता उत्पन्न होती है जिसके द्वारा उसका ज्ञान सम्भव होता है। पर अगर चेतना देश और काल दोनों से परे है तो फिर उस सबके ज्ञान का जो अनिवार्यतः देश और काल में उपस्थित हैं, या उसके रूप से रचित या रूपायित हैं, क्या होगा ? ये सब दार्शनिक तर्क से उत्पन्न समस्याएँ हैं।

दार्शनिक तर्क के अनेक रूप हैं। यहाँ एक और रूप पर ध्यान दें तो शायद हमको दर्शन के उस 'स्व-रूप' का पता चलेगा जिसका साधारणतः हमें आभास तक नहीं हो पाता। यह तर्क आधुनिक आंग्ल दार्शनिक युग के प्रारम्भ में मूर द्वारा दिया गया था। तर्क यह था कि किसी भी प्रत्यय का क्या कभी भी कोई लक्षण दिया जा सकता है ? क्योंकि लक्षण देने का अर्थ ही यह है कि जिसका लक्षण दिया जा रहा है उसको किसी अन्य लक्षण में पूर्ण रूप से समाहित करके परिभाषित करें। कहने का अर्थ यह है कि जब भी हम किसी बात को समझने की कोशिश करते हैं तो वह कोशिश यही होती है कि वह चीज वैसी नहीं है जैसी हमें दिखाई देती है, उसको अन्य उन 'चीजों' के द्वारा पूर्ण रूप से समझा जा सकता है जिनको हम पूर्ण रूप से 'जानते' हैं। परिभाषा देने का अर्थ ही यह है। लेकिन क्या कभी ऐसा हो सकता है ?

लेकिन ऐसा तो रोज होता है और मनुष्य की बुद्धि यह हमेशा से करती आयी है। लक्षण की खोज करना, 'परिभाषा देना', बुद्धि का ही कार्य माना गया है। फिर मूर ने ऐसा क्या तर्क दिया जो उसकी दृष्टि में उस बुद्धि के मूलभूत कार्य की असंगति बताता है ?

मूर का तर्क सीधा है कि अगर कोई किसी भी चीज की परिभाषा करता है तो उस परिभाषा का रूप अनिवार्यतः यही होता है कि "यह' 'यह है," जहाँ दूसरा 'यह' पहले 'यह' से भिन्न होता है। अब अगर परिभाषा वास्तव में परिभाषा है तो दूसरे 'यह' की जगह आप हमेशा पहला 'यह' रख सकते हैं।

लेकिन ऐसा करते ही आपका वाक्य अर्थहीन हो जायेगा। किन्तु उसका रूप तो यही होगा कि "यह, यह है" जहाँ दूसरे 'यह' और पहले 'यह' में कोई भेद नहीं है।

अर्थ होने के लिए जिसकी परिभाषा दी जा रही है और जिसके द्वारा उसको परिभाषित किया जा रहा है उसमें 'भेद' होना चाहिए, लेकिन परिभाषित करने का अर्थ ही है कि उनमें ऐसा कोई भी भेद कभी भी नहीं हो सकता, अगर यह ठीक है। अब परिभाषा अगर वास्तव में परिभाषा है तो वह सदैव 'अर्थ-हीन' होगी और अगर वह अर्थ-हीन है तो उसको 'परिभाषा' कहने का कोई अर्थ ही नहीं है। मूर ने यह तर्क एक विशिष्ट संदर्भ में दिया था जिसमें उसने गुड की परिभाषा की बात की थी और यह कहा था कि यह प्रत्यय उन मूल प्रत्ययों में से है जो अपने-आप में अपरिभाषेय हैं, जिनकी कोई परिभाषा सिद्धांतत: दी ही नहीं जा सकती। उसने इसको इस उदाहरण के द्वारा समझाने की कोशिश की थी कि अगर कोई कहे कि 'सुख शुभ है' या 'प्रेयस् श्रेयस् है' तो वह यह नहीं कह रहा है कि "प्रेयस् प्रेयस् है", क्योंकि इस दूसरी बात की सत्यता के बारे में तो कभी भी कोई प्रश्न उठ ही नहीं सकता, जबकि पहले वाक्य की सत्यता के बारे में हमेशा प्रश्न उठाया जा सकता है कि 'क्या प्रेयस् वास्तव में श्रेयस् है ?' जिसका अर्थ यह कभी नहीं हो सकता कि वह यह पूछ रहा है कि 'क्या प्रेयस् वास्तव में प्रेयस् है ?'

मूर के इस सीधे-सीधे तर्क ने आधुनिक नीतिशास्त्र सम्बन्धी चिंतन को एक ऐसी दिशा दी जिसकी विस्तार से चर्चा हम यहाँ नहीं करेंगे। एक तरह से किसी वस्तु के या किसी कर्म के उन सभी गुणों का वर्णन करना जो उसमें पाये जा सकते हैं और फिर यह कहना कि वह वस्तु या वह कर्म ठीक है, शुभ है, सुन्दर है, यानि जिसको 'स्वयं में शुभ' या 'स्वयं में मूल्यवान कहते हैं, तो उन दो बातों में क्या कोई भेद होना जरूरी है ? मूर के अनुसार भेद होना चाहिए वरना उन सभी समन्वित गुणों के बारे में यह कहना कि उनका समन्वित रूप उस वस्तु या कर्म को शुभ बनाता है, का केवल यही अर्थ होगा कि उनमें वह गुण विद्यमान है जिनके आधार पर हम उनको ठीक, शुभ या सुन्दर कहते हैं।

यह बात एक तरह से उन गुणों के सम्बन्ध में लागू होती है जो आश्रित गुण (सेकेंड्री क्वालिटीज) के नाम से जाने जाते हैं। या जो एक ओर रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि में गृहीत होते हैं और दूसरे सत्य, शिव, सुन्दर आदि में।

यही बात रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि, जिनको लॉक ने आश्रित गुण कहा था, उनके उन सम्बन्धों के बारे में उठायी जा सकती है जो उनका मूल गुणों (प्राइमरी क्वालिटीज) से है। मूल गुणों का अर्थ साधारणत: परिमाणात्मक गुणों से होता है जो लॉक के अनुसार मनुष्य की चेतना से स्वतंत्र हैं, परन्तु जो विज्ञान के अनुसार इन्द्रिय-प्रदत्त गुणों के आधार हैं। अब जो बात मूर ने शुभ की परिभाषा के सम्बन्ध में उठायी थी वह रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि के बारे में भी उठायी जा सकती है, क्योंकि उनकी 'परिभाषा' भी परिमाणात्मक गुणों की पदावली में दी जा सकती है, क्योंकि वे दोनों एक ही बात कहती हैं। और अगर उनमें भेद करना है तो फिर यह मानना पड़ेगा कि विज्ञान की बात गलत है, क्योंकि उनकी परिभाषा (रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि की) उन (परिमाणात्मक गुणों) की पदावली में दी ही नहीं जा सकती। मूर ने यह बात पीले रंग के बारे में कही थी और उसे अपरिभाषेय बताया था। उसके अनुसार यह अपरिभाषेयता उसी प्रकार की है जिसकी स्थापना उसने शुभ के सम्बन्ध में की थी, हालाँकि मूर के व्याख्याकारों ने उस पर अधिक ध्यान नहीं दिया। वास्तव में जैसा हमने पहले कहा है, मूर की मूल बात परिभाषा के बारे में है न कि शुभ की परिभाषा के बारे में, और अगर मूर के तर्क पर गहराई से विचारें तो यह पता लगेगा कि उसका तर्क मानने पर शायद ही कोई चीज परिभाषेय रहेगी, यानि किसी भी 'चीज' या 'प्रत्यय' की परिभाषा हो ही नहीं सकती। मूर ने इस संदर्भ में मिश्रित और सरल गुणों में भेद किया है

और यह कहने की कोशिश की है कि पहली तरह के गुण परिभाषित किये जा सकते हैं जबकि दूसरी तरह के गुणों की परिभाषा सिद्धान्ततः हो ही नहीं सकती।

मूर के इस भेद पर हम यहाँ विचार नहीं करेंगे, बल्कि कुछ ऐसे अन्य तर्कों की ओर ध्यान देंगे जो मूर के तर्क की ही तरह अन्य संदर्भों में दिये गये हैं।

भारतीय चिंतन में इस प्रकार का तर्क कौत्स ऋषि ने दिया था और वह वेदों की अर्थवत्ता के संदर्भ में था। ईसा के छः सात सौ वर्ष पूर्व यह तर्क दिया गया था और यास्क के ग्रन्थ निरुक्त में इसका उल्लेख है। वेदों के मंत्रों के बारे में यह कहा जाता था कि उनको किसी भी अन्य प्रकार से कहा ही नहीं जा सकता क्योंकि वे अपने-आप में स्वयं संपूर्ण हैं, उनकी स्वरानुपूर्वी, वर्णानुपूर्वी और शब्दानुपूर्वी में जरा सा भी फर्क या परिवर्तन नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसा करने पर उनकी अर्थवत्ता ही नष्ट हो जायेगी, वे पूर्ण रूप से 'अर्थहीन' हो जायेंगे। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि केवल शब्द की ही बात नहीं कही गयी है, वर्ण और उच्चारण की भी बात कही गयी है—मंत्र को लिखने की ही बात नहीं है बल्कि बोलने की भी बात है, उनके उच्चारण में जरा सा भी फर्क नहीं होना चाहिए, और अगर फर्क होता है तो मंत्र 'मंत्र' ही नहीं रहता।

कौत्स के इस कथन का अर्थ यह है कि 'अर्थवान् होने की अनिवार्य शर्त यह है कि किसी बात को अन्य प्रकार से भी कहा जा सकता है। अर्थ और भाषा का सम्बन्ध कोई ऐसा नहीं है कि एक अर्थ एक ही प्रकार से अभिव्यक्त हो सके। हम उसी बात को बार-बार समझने की कोशिश करते हैं और यह 'समझ' तभी हो सकती है जब उस बात को कई तरह से कहा जा सकता है।

वैदिक मंत्रों के बारे में जो बात हजारों साल पहले कही गयी थी और जिसका कौत्स ने खण्डन किया था वह आज के अत्याधुनिक दर्शन में मिले तो क्या किसी को आश्चर्य नहीं होगा ? पर अचम्भे की बात तो यह है कि ऐसा हुआ ही नहीं है बल्कि जिसने यह बात कही थी वह कम से कम अमेरिका के दार्शनिकों में सबसे अधिक विख्यात माना जाता है। क्वाइन के प्रसिद्ध लेख "टू डॉग्माज ऑफ एम्पिरिसिज्म" में समानार्थकता की चर्चा है और उस चर्चा का विषय यही है कि क्या पूर्ण रूप से समानार्थक उक्तियाँ या वाक्य हो सकते हैं ? दूसरे शब्दों में कहें तो समानार्थकता का अर्थ क्या है ? क्वाइन ने समानार्थकता के अर्थ को इस प्रकार परिभाषित किया है कि जो पद या वाक्य समानार्थक हैं उनको एक-दूसरे के स्थान पर हमेशा रखा जा सकता है और उनकी इस प्रकार 'स्थानापन्नता' से पहले पद या वाक्य की सत्यता पर कोई आँच नहीं आती, यानी यदि पहला वाक्य सत्य है तो दूसरा वाक्य भी सत्य होगा।

'सत्यता' की बात करते ही वाक्यों की परिधि सिमट जाती है और केवल उन्हीं वाक्यों तक सीमित हो जाती है जिनकी 'सत्यता' या 'असत्यता' की बात की जा सकती है। क्वाइन की इस बात पर किसी ने ध्यान नहीं दिया है। क्वाइन सब वाक्यों की समानार्थकता की बात नहीं कर रहा है- वह तो केवल उन वाक्यों की बात कर रहा है जिनके बारे में सत्यता या असत्यता का प्रश्न सार्थक रूप में उठाया जा सकता है और वाक्य साधारणतः वर्णनात्मक कहे जाते हैं, यानी वे किसी वस्तुस्थिति या घटना का वर्णन करते हैं।

क्वाइन ने इस संदर्भ में यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि अगर समानार्थकता का यह निकष माना जाये तो कोई भी वाक्य कभी भी पूर्ण रूप से समानार्थक नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसी अवस्था सोची जा सकती है जिसमें स्थानान्तरण से पहले वाक्य की सत्यता पर आँच आती है।

स्थानान्तरण की बात करना एक तरह से अनुवाद की बात करना है और अनुवाद की बात करना ट्रांसलेशन की बात करना है, हालाँकि संस्कृत में जिसे 'अनुवाद' कहा जाता है और अंग्रेजी में

जिसे 'ट्रांस्लेशन' कहा जाता है वे एक-दूसरे से पूर्णरूपेण भिन्न हैं। संस्कृत में 'अनुवाद' का अर्थ उसी बात को उसी तरह फिर दुबारा कहना है, जबकि 'ट्रांस्लेशन' में यह अर्थ कभी भी नहीं होता। इसलिए शायद मुकुन्द लाठ ने अपनी पुस्तक स्वीकरण में 'अनुवाद' शब्द का प्रयोग न करके स्वीकरण शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने यह शब्द राजशेखर की प्रसिद्ध पुस्तक काव्य मीमांसा से लिया है और इस शब्द के द्वारा यह बताने की कोशिश की है कि ट्रांस्लेशन का अर्थ वह कभी भी नहीं माना जा सकता है जो क्वाइन ने किया है, क्योंकि एक ओर तो क्वाइन का 'लक्षण' केवल एक ही प्रकार के वाक्यों पर सिद्धान्तत: लागू हो सकता है जबकि समानार्थकता की समस्या सभी क्षेत्रों में सभी वाक्यों पर एक ही समान लागू होती है। दूसरी ओर समानार्थकता की बात खाली अभिधेय (रेफरेंस) तक ही सीमित न होकर उससे भी सम्बन्धित है जिसे फ्रेगे ने अभिप्रेतार्थ (सेंस) कहा है, क्योंकि बिना अभिप्राय के अर्थ का प्रश्न ही नहीं उठता। भाषा का सम्बन्ध अभिप्रेतार्थ और अभिधेयार्थ दोनों से होता है और अर्थ की समानता की बात केवल एक ही संदर्भ में नहीं कीं जा सकती।

क्वाइन के कथन पर हम यहाँ विस्तार से विचार नहीं करना चाहते, लेकिन एक बात कहना चाहते हैं कि अगर क्वाइन वास्तव में समानार्थकता की बात को नहीं मानता तो फिर वह उन हजारों पुस्तकों के बारे में क्या कहेगा जो शब्दकोष के नाम से जाने जाते हैं और जिनके उपयोग वह स्वयं कभी न कभी जरूर करता होगा। क्वाइन के तर्क के संदर्भ में एक और बात पर ध्यान देना भी जरूरी है क्योंकि उसने भाषा के सम्बन्ध में अपने तर्क को केवल अभिप्रेतार्थ या अभिधेयार्थ तक ही सीमित नहीं किया बल्कि उसके उस स्थूल रूप को भी उसमें समाहित किया है जिसके आधार पर ही भाषा 'भाषा' होती है। शब्द वर्णों से बनते हैं ऐसा सबको पता है, लेकिन कोई भी वर्णों के विशिष्ट समूह को शब्द के उस अर्थ से नहीं जोड़ता जिसको अभिप्राय या अभिधान का नाम दिया जाता है। क्वाइन ने इस बात को स्वीकार नहीं किया, क्योंकि ऐसा लगता है कि वह भाषा के शरीर को भी, उसके प्राण और उसकी आत्मा से अलग नहीं करना चाहता है और अगर भाषा के शरीर को उसका अनिवार्य आवश्यक अंग मान लिया जाय तो एक वर्ण-समूह के स्थान पर दूसरे वर्ण-समूह को रखने पर उस लक्षण की कभी रक्षा नहीं हो सकेगी जो उसने समानार्थकता के लिए किया है, क्योंकि दो भिन्न शब्द या पद, जिसके वर्ण समूह अलग हैं, वे कभी भी समानार्थक नहीं माने जा सकेंगे, चाहे उनका अभिप्राय और अभिधान एक ही हो। लेकिन दो अलग-अलग शब्दों का अभिधान के अर्थ में एक ही अर्थ होने पर अभिप्राय के अर्थ में एक ही अर्थ कभी नहीं हो सकता। क्वाइन ने इसकी चर्चा नहीं की है, लेकिन फ्रेगे ने इनमें जो भेद किया है और जिसके लिए वह दर्शन के इतिहास में प्रसिद्ध है, उसकी ओर इस चर्चा के संदर्भ में ध्यान देना जरूरी है।

फ्रेगे ने यह भेद इस आधार पर किया था कि जहाँ एक ओर शब्द, शब्द-समूह और वाक्य उस 'वस्तु' या वस्तुस्थिति की ओर निर्देश करते हैं जिसके बारे में वे कुछ कहते हैं या जिसकी ओर संकेत करते हैं, वहीं दूसरी ओर वे उन अर्थों के संसार को भी सूचित करते हैं जो हमारे अपने भाव-जगत् से सम्बन्धित हैं लेकिन जो केवल किसी विशिष्ट व्यक्ति के 'भाव' तक ही सीमित न होकर उस भाषा के सभी जानने वालों के लिए सार्थक होता है और अपने प्रयोग द्वारा एक भाव-जगत् की संरचना भी करता है और उसकी ओर संकेत भी करता है। फ्रेगे ने स्वयं इस भेद को पूरी तरह नहीं समझा था, क्योंकि उसका ध्यान केवल स्थूल सत्य की समस्या तक ही सीमित था।

यह बात शायद कुछ अधिक स्पष्ट प्रतीत होने लगेगी अगर हम फ्रेगे के उस उदाहरण की ओर ध्यान दें जिसके द्वारा उसने इस भेद को समझने की कोशिश की थी। फ्रेगे ने कहा था कि 'भोर का तारा ही सन्ध्या का तारा है' इस वाक्य में 'भोर का तारा' और 'संध्या का तारा' एक ही चीज की ओर संकेत करते हैं, हालाँकि इनके 'अर्थ ' भिन्न-भिन्न हैं। दोनों उस ग्रह की ओर संकेत करते हैं जो शुक्र के नाम

से जाना जाता है और जो आसमान में शाम को भी दिखाई देता है और सुबह भी। यह ग्रह इतनी खूबसूरती से चमकता है कि देखने वाले का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता और पश्चिमी परम्परा में तो यह 'वीनस' के नाम से जाना जाता है जो मनुष्य को हमेशा प्रेम या श्रृंगार का स्मरण कराता है। वैसे भी यह तारा अपने आप में सुन्दर है और मनुष्य में हजारों भावनाएँ सहज रूप में जगाता है। लेकिन फ्रेगे का ध्यान इन सब बातों पर नहीं था, क्योंकि अगर होता तो उसके सामने 'वीनस' शब्द के सम्बन्ध में भी वही समस्याएँ उठतीं जो 'भोर का तारा' और 'संध्या का तारा' के बारे में उठी थीं। हाँ एक भेद अवश्य रहता, क्योंकि पहले में केवल एक ही शब्द है जबकि दूसरे में दो अलग-अलग दिखाई देने वाले शब्द हैं जिनका संकेत एक ही वस्तु की ओर है।

फ्रेगे के सामने दो अलग-अलग समस्यायें थीं जिनमें वह भेद नहीं कर पाया था। एक समस्या यह थी कि ये दो अलग-अलग दिखने वाले शब्द वास्तव में एक ही वस्तु की ओर संकेत करते हैं लेकिन अगर हमें यह पता न हो तो हमारे लिए अलग-अलग वस्तुओं का ही निर्देश करेंगे, और जब हमें यह पता चलेगा कि वास्तव मे ये दो अलग-अलग शब्द-चिन्हों का निर्देश 'एक' ही है तो हमारे ज्ञान में एक अजीब तरह की वृद्धि होगी जिसको तभी समझा जा सकता है जब हम फ्रेगे के बताये हुए भेद को अच्छी तरह समझें और आत्मसात् करें। दूसरी ओर उसके सामने यह समस्या थी कि ऐसा समझने पर भी इन दो शब्द-चिन्हों में भेद तो रहेगा और वह भेद केवल उनके 'वर्ण-समूह' के सम्बन्ध में ही नहीं होगा, बल्कि अर्थ से भी सम्बन्धित रहेगा। अब, अगर ऐसा है तो फिर इन अर्थों में जो एक-दूसरे से भिन्न हैं और उस 'निर्देश' में जो एक ही है, क्या भेद होगा ? भेद उस सब 'भाव-जगत्' से सम्बन्धित है जो फ्रेगे के उदाहरण में 'सुबह' और 'शाम' से इस तरह सम्बन्धित है कि वह उनसे अलग किया ही नहीं जा सकता।

लेकिन यह बात सिर्फ 'भोर का तारा' या 'संध्या का तारा' के बारे में ही नहीं है, यह उसके बारे में भी है जिसे हम 'वीनस' कहते हैं और जो एक तरह से उन दोनों शब्द-समूहों ('भोर का तारा' तथा 'संध्या का तारा') का निर्देश है। यह समस्या कुछ भिन्न है क्योंकि यह उस बात की ओर संकेत करती है जिसकी ओर फ्रेगे ने ध्यान नहीं दिया। वह बात यह है कि शब्द कोई भी हो उसमें हमेशा अभिप्राय और अभिधान का भेद रहेगा। यह बात उन शब्दों के बारे में भी सही है जिनका अपना अभिधान कोई अभिप्राय होता है, क्योंकि तब उस अभिप्राय में जिसने अब अभिधान का रूप ले लिया है और उस अभिप्राय में जिसने वह रूप नहीं लिया है, वह भेद नये रूप में विद्यमान है। मनोविज्ञान से सम्बन्धित बहुत से शब्द इसी प्रकार के हैं, और वे शब्द जिनका भाव-जगत् से सम्बन्ध है, उनमें तो यह उससे भी अधिक स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। लेकिन अगर यह बात ठीक है तो अभिप्राय और अभिधान का भेद सापेक्ष है- जो एक संदर्भ में अभिप्राय है वही दूसरे संदर्भ में अभिधान हो सकता है और जो अभिधेय है वह स्वयं अभिप्राय का रूप ले सकता है।

भाषा की यह समस्या जिस बात से उत्पन्न होती है उसकी ओर किसी ने अधिक ध्यान नहीं दिया। वह बात यह है कि भाषा का अपना कोई 'स्वरूप' ही नहीं होता, उसका अपना कोई 'सत्त्व' नहीं है। और जिसका न स्वरूप हो न सत्त्व हो उसकी सत्ता कैसे हो सकती है ? पर जिसका न 'स्वरूप' है न 'सत्त्व' है न 'सत्ता' है वह यह सब न रखते हुए भी अर्थवान् है और मानवीय जगत् को संरचित करता है, क्योंकि मनुष्य की 'सत्ता' बिना भाषा के समझी ही नहीं जा सकती। पशु-जगत् में या प्राणि-जगत् में 'भाषा' होती है या नहीं यह कहना कठिन है लेकिन जहाँ तक मनुष्य की सत्ता का सवाल है वहाँ इसके बारे में दो राय हो ही नहीं सकती कि भाषा के बिना न मनुष्य हो सकता है और न मनुष्य के बिना 'भाषा'। इस आत्म-विरोधाभासी रहस्य का मूल उस 'आत्मचेतना' में है जिसके बिना मनुष्य की सत्ता

को परिभाषित ही नहीं किया जा सकता। जो लोग उस चेतना को, किसी भी कारणवश, अस्वीकार करते हैं उन्हें भाषा को अस्वीकार करना पड़ेगा और मनुष्य को भी।

दार्शनिकों के तर्क अजीब होते हैं, इसके कई उदाहरण हम पहले दे चुके हैं। एक और उदाहरण गिलबर्ट राइल में मिलता है। उसका तर्क वाक्य की 'सार्थकता' और 'निरर्थकता' को मान कर चलता है। आधुनिक पश्चिमी दर्शन में एक समय इस भेद का बहुत महत्त्व था। क्योंकि जो वाक्य निरर्थक है उसकी सत्यता या असत्यता के बारे में बात करना फिजूल है, समय बर्बाद करना है। किन्तु इन दार्शनिकों के अनुसार, दार्शनिक हजारों साल से यह करते रहे हैं। ये वाक्य जिनका कोई अर्थ न है न हो सकता है, वे वास्तव में वाक्य हैं ही नहीं, वे तो वाक्य के आभास मात्र है, जिनकों वाक्य समझकर दार्शनिक लोग हजारों सालों से धोखा खा रहे हैं। लेकिन ऐसा मानने पर 'अर्थवान्' होने का कोई लक्षण तो बताना ही पड़ेगा ! और आधुनिक दर्शन का एक बहुत बड़ा भाग इस प्रश्न के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। अर्थ की कसौटी क्या हो, इसका एक उत्तर तो यह दिया गया था कि अगर वाक्य 'अर्थपूर्ण' है तो सिद्धान्ततः उसकी सत्यता या असत्यता सिद्ध करने का कोई न कोई तरीका होना चाहिए और सत्य या असत्य सिद्ध होने के लिए कम से कम कोई ऐसी वस्तुस्थिति का निर्देश होना चाहिए जिसके घटित होने पर उस वाक्य को हम सत्य या असत्य ठहरायेंगे। इसको अर्थ का प्रमाणीकरण–सिद्धांत कहा जाता है।

बाद में सत्यता और असत्यता के निर्धारण में मूलभूत भेद किया जाने लगा और प्रसिद्ध दार्शनिक कार्ल पॉपर के अनुसार किसी वाक्य की अर्थवत्ता केवल इसी से निर्धारित ही सकती है कि उसको असत्य सिद्ध किया जा सके। इसे अर्थ का असत्यापन सिद्धांत कहा जाता है। इसके मूल में पॉपर का तर्क यह था कि अगर हम वाक्य के सत्यापन की बात करें तो उसमें एक तार्किक दोष है और वह तार्किक दोष वास्तव में उस प्रक्रिया में भी परिलक्षित होता है जिसके अनुसार हम किसी वाक्य की 'सत्यता' निश्चित करने की कोशिश करते हैं। उस तर्क का साधारण रूप यह है कि यदि कोई बात सत्य है तो ऐसी 'वस्तुस्थिति' घटित होनी चाहिए। ऐसी वस्तुस्थिति घटित होती है, इसलिए यह बात सत्य है। यह तर्क स्पष्टत: गलत है क्योंकि इसमें यह दोष है जिसे निष्कर्ष को पूर्वसिद्ध मानना कहा जाता है। उसके अनुसार अगर हम इस तार्किक दोष से बचना चाहते हैं तो हमको इसके उस रूप को स्वीकार करना पड़ेगा जिससे वह इस दोष से मुक्त है, और यह रूप सर्वविदित है। तर्क का जो इस तार्किक दोष से मुक्त स्वरूप है, इस प्रकार का है- यदि कोई बात सत्य है तो ऐसी 'वस्तुस्थिति' घटित होनी चाहिए। ऐसी वस्तुस्थिति घटित नहीं हुई अत: ऐसी बात सत्य नहीं है।

वाक्यों के संदर्भ मे अर्थवत्ता के प्रश्न ने एक नयी दार्शनिक समस्या को जन्म दिया और वह दार्शनिक समस्या यह थी कि ऐसा हो सकता है कि सब तरह से 'सही' दिखने वाले वाक्य वास्तव में वाक्य हों ही नहीं। इससे बड़ा 'माया का उदाहरण और क्या हो सकता था ? व्याकरण की दृष्टि से वाक्य 'वाक्य' दिखाई देता है, प्रतीत होता है, परन्तु दार्शनिक दृष्टि से हम उसकों 'वाक्य' मानना ठीक नहीं मानते। इससे बड़ी विडम्बना क्या हो सकती है ?

राइल ने इस समस्या को एक नये तरह से सुलझाने की कोशिश की और यह कहा कि हर वाक्य में किसी चीज के बारे में कुछ कहा जाता है। अब, अगर हम इस बात पर ध्यान दें कि किस चीज के बारे में क्या कहा जा रहा है तो शायद हमें वाक्य के 'अर्थवान्' होने के सम्बन्ध में एक नयी 'कसौटी' प्राप्त हो सके। इसके संदर्भ में उसने दो विकल्प प्रस्तुत किये- एक यह कि हम जिस चीज के बारे में बात कर रहे हैं उस चीज को वैसा ही रखें, लेकिन उसके बारे में जो कह रहे हैं उसमें सतत् परिवर्तन करते जायें। ऐसा करने पर एक ऐसा बिन्दु आयेगा जहाँ हमको यह स्पष्ट आभास होगा कि अब वाक्य कुछ अजीब तरह का होने लगा है, यानी अब उसकी सत्यता या असत्यता का प्रश्न करना कठिन है। क्योंकि जो बात हम

वस्तु के बारे में कह रहे हैं वह उसके बारे में सार्थक रूप से कही ही नहीं जा सकती। दूसरे अर्थों में, उस वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि उसके बारे में उस प्रकार की बात कहने का कोई अर्थ ही नहीं है। और अगर अर्थ नहीं है तो फिर सत्यता-असत्यता की बात करने का क्या मतलब होगा।

यह बात एक उदाहरण से आसानी से समझी जा सकती है। अगर हम कहें "गुलाब का फूल लाल है" तो इसके बारे में कोई समस्या नहीं उठती, लेकिन अगर हम यह कहें कि "गुलाब का फूल ईमानदार है" तो हम परेशानी में पड़ जायेंगे कि आखिर ईमानदार होना तो आदमियों के लिए कहा जाता है, फूलों के लिए नहीं। इसी तरह का एक उदाहरण और लें- अगर हम कहते हैं कि "मेज टूट गयी है" तो बात सभी को आसानी से समझ में आती है, लेकिन अगर हम कहें कि 'मेज मर गयी' तो सब लोग हमारी तरफ देखने लगेंगे कि इन्हें क्या हो गया। आदमी मरते हैं, जानवर मरते हैं, पर कहीं मेज मरती है ? मेज के बारे में यह कहना कि वह 'जिंदा' है या 'मर' गयी है, बेमानी है। इसलिए व्याकरण की दृष्टि से यह वाक्य चाहे वाक्य हो किन्तु वास्तव में यह 'वाक्य' नहीं है।

इसी का दूसरा विकल्प उसने इस प्रकार प्रस्तुत किया कि हम जो बात किसी के बारे में कह रहे हैं उसको वैसा ही रखें और जिसके बारे में कह रहे हैं, उसमें परिवर्तन करते जायें। ऐसा करने पर हमें एक बिन्दु पर ऐसा लगेगा कि अब हम जिसके बारे में जो बात कह रहे हैं वह पहले सार्थक लगती थी पर अब वह निरर्थक लगने लगी है। इसका उदाहरण हम उसी तरह बना सकते हैं जैसा कि पहले बनाया था। हमने कहा था "गुलाब का फूल लाल है" और फिर 'लाल' में परिवर्तन किया था। अब हम लाल होने को रख लेते हैं और जिन चीजों के बारे में हम यह कहते हैं कि वे लाल हैं उनमें सतत् परिवर्तन करते हैं। ऐसा परिवर्तन करने पर हमारे सामने कुछ उदाहरण ऐसे जरूर आयेंगे जिनके बारे में हमें ऐसा लगेगा कि यहाँ इनके संदर्भ में यह कहना कि ये लाल हैं या लाल नहीं है, दोनों निरर्थक हैं। जैसे, अगर कोई कहे कि "कागज लाल है" तो इसकी अर्थवत्ता के बारे में किसी के सामने कोई सवाल कभी नहीं उठेगा। लेकिन अगर कोई यह कहे कि "ईमानदारी लाल है" तो इसे कोई भी अर्थवान् मानने के लिए तैयार नहीं होगा।

अब हम राइल के दोनों विकल्पों को एक साथ लें तो राइल के कथन को इस प्रकार समझ सकते हैं कि जैसे ही हम किसी भी विशिष्ट गुण की बात करते हैं तो एकदम संसार दो भागों में विभक्त हो जाता है, एक उन वस्तुओं का जिनके संदर्भ में कहना कि उनमें यह विशिष्ट गुण पाया जाता है या नहीं पाया जाता है, सार्थक है। इसके विपरीत वे सब वस्तुयें हैं जिनके बारे में यह कहना कि उनमें वह गुण विद्यमान है, या विद्यमान नहीं है, पूर्ण रूप से अर्थहीन है। इसी प्रकार किसी भी वस्तु को लें तो उसके संदर्भ में गुण भी सापेक्ष होने लगते हैं और अपने को दो भागों में बाँट लेते हैं। एक वह जो अपने वाचक शब्दों के द्वारा निर्मित वाक्यों को सार्थक बनाते हैं और दूसरे वे जो उनको अर्थ-शून्य बना देते हैं। दोनों हालतों में दूसरी तरह के वाक्य वास्तव में वाक्य हैं ही नहीं, केवल वाक्य का 'मुखौटा' पहनकर सबको धोखा देते हैं। दार्शनिक भी हजारों सालों से इन वाक्यों के धोखे में आकर दार्शनिक उलझनों के जाल में फँसते रहे हैं और उन उलझनों को सुलझाने की प्रक्रिया को 'दर्शन' का नाम देते रहे हैं।

दार्शनिकों के तर्कों के कुछ उदाहरण हमने ऊपर दिये हैं। इनके अलावा और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। अगर कोई इनकी नब्ज एक बार पहचान ले तो स्वयं इनको पहचान सकता है, इनका पता लगा सकता है। लेकिन इनका वास्तव में स्वरूप क्या है ? ये कैसे उत्पन्न होते हैं और मनुष्य को किन-किन बौद्धिक उलझनों में डालते हैं, इसका ब्यौरा देना मुश्किल है। लेकिन शायद दर्शन का 'स्वरूप' ही यह है कि वह इस प्रकार की तर्क-बुद्धि से उत्पन्न होता है और इनको सुलझाने में ही अपने को सार्थक मानता है।

***

परिच्छेद : दो

गोविन्दचन्द्र पाण्डे

मानवपर्येषणा एवं भारतीय परम्परा

2.1 मानव पर्येषणा और दार्शनिक विमर्श
2.2 सृजन, परिवेश और परम्परा
2.3 पुनर्जन्म की भारतीय अवधारणा
2.4 अद्वैत और मिथ्यात्व

गोविन्द चन्द्र पाण्डे

सरस्वती के वरद–पुत्र प्रो. गोविन्द चन्द्र पाण्डे का जन्म १९२३ ई. में इलाहाबाद में हुआ। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम.ए. एवं डि.फिल् (१९४७) की उपाधि प्राप्त कर प्रो. पाण्डे वहीं लेक्चरर, इतिहास विभाग में पदस्थापित हुए। विभिन्न कालावधियों में गोरखपुर, राजस्थान एवं इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य तथा प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष रहे। १९६४ से १९६६ तक राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के कुलपति का पदभार संभाला। भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद् के नेशनल फैलो, विजिटिंग गायकवाड़ प्रोफेसर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय एवं मानद् फैलो, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान-शिमला में रहे। राजस्थान इतिहास परिषद् एवं अखिल भारतीय दर्शन परिषद् (बड़ौदा अधि.) के अध्यक्ष रहने के साथ-साथ सम्प्रति इलाहाबाद संग्रहालय के अध्यक्ष एवं भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान-शिमला के चेयरमैन-कम-प्रेसिडेन्ट हैं। विद्यावारिधि, साहित्य वाचस्पति, वाक्पति, महामहोपाध्याय एवं शंकर पुरस्कार, मूर्तिदेवी पुरस्कार से सम्मानित प्रो. पाण्डे देश-विदेश में विशिष्ट व्याख्यानों के द्वारा भारती विद्या को वैश्वीय स्तर पर अपनी मेधा से प्रकाशमान करते रहे हैं। इतिहास, संस्कृति, दर्शन एवं साहित्य के क्षेत्र में- स्टडीज इन दि ओरिजिन्स ऑफ बुद्धिज्म, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, श्रमणिज्म एण्ड इट्स इम्पैक्ट ऑन इण्डियन कल्चर, लेक्चर्स ऑन जैनिज्म, जैन पॉलिटिकल थॉट, फाउण्डेशन्स ऑफ इण्डियन कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन, दि मीनिंग एण्ड प्रॉसेस ऑफ कल्चर, भारतीय परम्परा के मूलस्वर, एन एप्रोच टू इण्डियन कल्चर, शंकराचार्य-विचार और सन्दर्भ, मूल्यमीमांसा, अपोह सिद्धि, न्याय बिन्दु, भक्ति दर्शन विमर्श:, सौन्दर्य दर्शन विमर्श: वैदिक संस्कृति जैसे मौलिक और पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ एवं 'अग्नि बीज' और 'क्षण और लक्षण' जैसे काव्य ग्रन्थ तथा अनेकों महत्त्वपूर्ण सम्पादित कृतियाँ प्रो. पाण्डे को सुनीति कुमार चटर्जी, वासुदेव शरण अग्रवाल, गोपीनाथ कविराज, गंगानाथ झा एवं एच. नाकामुरा सदृश प्राच्यविद्, इतिहासविद्, दार्शनिक एवं अग्रकोटि के विचारक रूप में प्रतिष्ठापित करती हैं।

*

मानव पर्येषणा और दार्शनिक विमर्श

प्राणिमात्र अपने अस्तित्त्व के प्रति अभिनिवेश रखता है और 'मा न भूवम्, भूयासम् इस अन्तर्निहित प्रवृत्ति से प्रेरित होकर अपनी परिस्थिति के साथ आनुकूल्य सम्पादन की चेष्टा में निरत रहता है। मनुष्य में अपने भौतिक पर्यावरण के साथ जूझने की एक अपूर्व क्षमता है जोकि उसे इन्द्रियों और मस्तिष्क के विकास से उपलब्ध होती है। किन्तु जहाँ एक ओर उसमें अपने प्राकृतिक अस्तित्त्व का बोध है, वहीं दूसरी ओर उसमें मृत्यु का स्फुट बोध है और उसके साथ है एक अप्राकृत अस्तित्त्व का अस्फुट भान और अमृतत्त्व की अभीप्सा। प्राचीनतम मानव के अवशेष भी उसकी चेतना के इस द्वैत को प्रकट करते हैं। एक ओर हम उसे हथियार-औजार की खोज में अग्रसर पाते हैं, दूसरी ओर मृतक संस्कार और अदृष्ट शक्तियों की उपासना में निरत। असभ्य हो अथवा सभ्य, प्राचीन अथवा अर्वाचीन, मनुष्य मात्र की चेतना में ये दो परस्पर विभक्त आयाम लक्षित होते हैं। मनुष्य अपने को प्रकृति के राज्य में पाता है किन्तु खोजता है स्वाराज्य । यह सच है कि विभिन्न संस्कृतियों और युगों में इस द्वैत की अभिव्यक्ति समान रूप से नहीं हुई, किन्तु तब भी किसी न किसी रूप में लौकिक और आध्यात्मिक बोध का छायातप सर्वत्र उपलब्ध होता है। चेतना के विकास में लौकिक और आधिभौतिक स्तर उसकी निचली प्रान्तरेखा है और विशुद्ध आत्मबोध उसका लक्ष्य। जहाँ एक ओर प्रत्यक्ष जगत् और प्राकृतिक कार्य-कारण सम्बन्धों का ज्ञान लौकिक व्यवहार में समर्थ सिद्ध होता है वहीं इस प्रकार के ज्ञान से मनुष्य को आन्तरिक तृप्ति नहीं होती। ज्ञान के एक स्तर पर अव्यक्त आदर्श की प्रेरणा उसे अपनी लौकिक चेतना को जाँचने और आँकने को बाध्य करती है। इस प्रेरणा का पूर्वार्ध विचारात्मक है, उत्तरार्ध अतिक्रमात्मक। पूर्वार्धगत प्रतीयमान और व्यावहारिक सत् का विवेचन ही दार्शनिक अनुसंधान है जो लौकिक अनुभव और आध्यात्मिक साक्षात्कार के स्तरों के बीच का चिरन्तन सेतु है।

दार्शनिक अनुसन्धान प्रतीतिमात्र अथवा व्यवहार से उपलब्ध अर्थ के विषय में तात्त्विक संशय और जिज्ञासा होने पर लक्षण और प्रमाण के द्वारा उसकी परीक्षा के रूप में प्रवृत्त होता है और विप्रतिपन्न विषय के पारमार्थिक स्वरूप के निर्णय की ओर प्रयत्न करता है। प्रतीयमान अर्थों की दार्शनिक व्याख्या उनके विवेचन से उपलब्ध एक तात्त्विक विश्व के सन्दर्भ में होती है। दार्शनिक जिज्ञासा ऐसे सत्य की ओर उद्दिष्ट है जो सर्वाधिक व्यापक और गम्भीर है। 'यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।'

दार्शनिक विवेचन प्रतीति के स्तर से उत्पन्न होता है। सालम्बन बोध को प्रतीति कह सकते हैं और आलम्बन को कम से कम बोधोल्लेखी आकार अथवा प्रकार। बोधगत प्रकार के रूप में आलम्बन को प्रतीति-समवेत मानना होगा और उस रूप में वह सदा ही अपरोक्ष होगा। इसे प्रतीयमान सत् अथवा प्रतीतिमात्र से उपलब्ध अर्थ कह सकते हैं। नील, सुखादि और अपरीक्षित आकार-प्रकार मात्र प्रतीयमान सत् के उदाहरण हैं। जिन प्रतीतियों की सार्थकता लोकसिद्ध अथवा प्रवृत्तिसहचरित है, उनके अर्थ व्यवहारलब्ध कहे जा सकते हैं। जल, घट आदि वस्तुएँ एवं लौकिक विश्वासों में विकल्पित तथ्य इस प्रकार के उदाहरण हैं। व्यवहारलब्ध अर्थ प्रतीतिलब्ध उन अर्थों का एकदेश है जोकि प्रतीतियों के

संकलन और विश्लेषण से निष्पन्न होते हैं। अपरोक्ष अवभास हों अथवा प्रत्यक्ष वस्तुएँ या विकल्पित तथ्य अपातत: इन सभी को प्रतीयमान सत् के अन्तर्भुक्त किया जा सकता है। प्रतिभास और विकल्प दोनों को ही प्रतीति व्याप्त करती है।

चेतन सत्ता में वास्तविकता और मूल्यवत्ता का अन्वय अनिवार्य रूप से पाया जाता है। यदि इस तथ्य के साथ इस पर विचार करें कि विकास का क्रम सत् को जड़ता से अधिकाधिक उत्कृष्ट चैतन्य की ओर ले जाता प्रतीत होता है तो यह कल्पनासंगत प्रतीत होगा कि वास्तविकता और मूल्यवत्ता दोनों ही सत् के अन्तर्निहित आयाम हैं। प्रतीयमान अर्थ में मूल्य का स्फुरण चेतना को अपनी ओर प्रवृत्त करता है और प्रवृत्ति में साधक-बाधक के रूप में अर्थ के वस्तुपक्ष का बोध होता है। इन आयामों में अवभासमान अर्थों को विवेचन के द्वारा निर्धारित करना तथा इस प्रक्रिया के द्वारा एक व्यवस्थित विश्व में प्रतिपन्न होना मानव जिज्ञासा की सहज दिशा है। यदि वास्तविक अर्थों के विश्व को प्रकृति, मूल्यात्मक सत् के विश्व को आदर्श, और दोनों में व्याप्त स्वरूप-विश्रान्त सत् को परमार्थ कहा जाए तो हमारे समक्ष दार्शनिक विवेचन के तीन स्तर आभासित हो जाते हैं।

तीनों स्तरों पर दार्शनिक विवेचन या परीक्षण अनुभव और ज्ञान विकल्प की पृष्ठभूमि पर व्यापारित होता है। न अनुभवरहित कल्पना संभव है, न अविकल्पित अनुभव विचार का अंग बन सकता है। अनुभव की पहली व्याख्या दर्शन से आरम्भ नहीं होती है, बल्कि प्रचलित व्याख्याओं की समीक्षा से दर्शन का आरम्भ होता है। उपलब्ध अर्थों को नाम देना और पहचानना, उनकी तुलना के आधार पर उनका वर्गीकरण और उनके भूयोदृष्ट सहचार एवं क्रम के आधार पर उनके तादात्म्य, कार्य-कारण भाव आदि सम्बन्धों का निर्धारण और इन निर्धारित सम्बन्धों के आधार पर एक अर्थ से दूसरे का अनुमान, इस प्रकार की जिज्ञासा और चिंतन की प्रवृत्ति सामान्य लोक-व्यवहार में सहज रूप से विद्यमान रहती है। इसके फलस्वरूप सभी लोकव्यवहार अंशत: एक संकेत-विद्ध, व्यवस्थापित अर्थों के विश्व का पूर्वाक्षेप करता है। सामान्य भाषा और लोक-धारणाओं में इस अर्थ-श्लिष्ट विश्व का विवरण उपलब्ध होता है और इसके संस्थान या योजनाएँ हैं व्यावहारिक कल्पना के प्रकार। प्रत्यक्ष और आगम, अनुमान और संभावना, प्रतिभा, रूचि आग्रह आदि प्रमाण और प्रमाणाभास के द्वारों से नि:सृत होकर अनेकानेक अर्थ विकल्पों को आकारित करते हैं और लोकव्यवहार के घटक बनते हैं। प्रामाणिक और अप्रामाणिक का विभेद व्यवहार के अन्दर स्वीकृत है क्योंकि व्यवहार में प्रवृत्ति-साफल्य अभीष्ट होता है और सभी कल्पनाओं में प्रवृत्ति-सामर्थ्य न देखे जाने के कारण यह सर्वसम्मत है कि प्रामाणिक कल्पना ही प्रवृत्ति-सामर्थ्य होती है। किन्तु सामान्य व्यवहार में अपयोज्य कल्पनाएँ प्राय: अपरीक्षित अथवा अनियत या असम्यक् रूप से परीक्षित होती हैं। तब भी प्रवृत्ति-सामर्थ्य की दृष्टि से परीक्षित विकल्प सामाजिक परम्परा में अनायास स्वीकृत होने के कारण संकलित, विवर्धित, परिष्कृत और व्यवस्थित होते जाते हैं और उनकी इस प्रगति का वेग भी 'बरफ की गेंद' के समान बढ़ता जाता है। इसी प्रकार की कल्पनाओं से विकास की अवस्था विशेष में शास्त्र-रचना प्रारम्भ होती है और उसके साथ 'परिभाषा' और 'विधि' की मीमांसा के रूप में एक नयी द्वितीय स्तरीय परीक्षा जन्म लेती है जोकि नाना शास्त्रों के सम्बन्ध और व्यवस्था के प्रश्न को लेकर और अधिक तात्त्विकता और व्यापकता ग्रहण करती है।

लोक-संज्ञान के गर्भ से परीक्षा धात्री के हाथों विद्या का जन्म होता है। लोक-संज्ञान में वस्तु और मूल्य दोनों की ही प्रतिपत्ति होती है किन्तु इनकी परीक्षा और परिणाम पृथक् धाराओं में विकसित होते हैं। वस्तु-प्रतिपत्ति की परीक्षा भी दो विविक्त किन्तु संयुक्त दिशाओं में होती है। एक ओर प्रवृत्ति-सामर्थ्य के आधार पर तथ्य-परीक्षा सम्पन्न होती है जिसमें तर्क और अनुमान भूयोदर्शनात्मक प्रत्यक्ष से

समर्थित होते हैं। इस प्रकार से विशोधित और परीक्षित ज्ञान ही विज्ञान पद पर आरूढ़ होता है। प्रगतिशील समाज में व्यावहारिक आवश्यकता से विज्ञान की वृद्धि होती है और वह व्यवस्थित शास्त्रीय रूप ग्रहण करता है। इस प्रकार की व्यवहाराश्रित, तथ्यनिर्णयाभिमुख वैज्ञानिक परीक्षा के साथ, जो कि दृष्टिविषयक खण्ड सत्य की उपलब्धि करती है, एक अन्य प्रकार की परीक्षा भी संलग्न रहती है जो व्यवहारिक आवश्यकता से प्रवृत्त न होकर मन के स्वारसिक सत्य-पक्षपात और जिज्ञासा से प्रवृत्त होती है। जिज्ञासा मात्र में ज्ञान का एक आदर्श अन्तर्निहित है जिसके प्रकाश में उपलब्धि का विवेचन अग्रसर होता है। वैज्ञानिक विवेचन नूतन और व्यवहार्य तथ्यों की उपलब्धि करता है, दार्शनिक विवेचन उपलब्ध तथ्य में अन्तर्निहित तत्त्वों का अवधारण करता है। तत्त्वावधारण तथ्याविष्कार से भिन्न है किन्तु दोनों परस्पर निरपेक्ष नहीं हैं। यही स्थिति मूल्य प्रतिपत्तियों के विवेचन में भी है। वहाँ एक ओर मूल्यों की उपलब्धि और अभिव्यक्ति की सृजनात्मक धारा है, दूसरी ओर उनकी तात्त्विक आलोचना की। पहली धर्म, काव्य, कला आदि में प्रवाहित होती है, दूसरी तद्विषयक दार्शनिक आलोचना में। शास्त्र-रचना के स्तर पर ज्ञान के विभिन्न रूप, विधि और मूल पर विमर्श के साथ ज्ञान की तात्त्विक परीक्षा का एक शास्त्र के रूप में जन्म होता है। इस प्रकार दार्शनिक परीक्षा तथ्यविकल्प, मूल्यानुभूति एवं व्यवस्थित ज्ञान के तीन स्तरों पर तात्त्विक अवधारण के रूप में विकसित होती है।

यह निर्विवाद है कि दार्शनिक विमर्श संशयपूर्वक होता है। संशय की उत्पत्ति सादृश्यमूलक अनवधारण, विप्रतिपत्ति और अव्यवस्था से कही गई है। वस्तुत: सादृश्य और अव्यवस्था की प्रतीति से उत्पन्न संशय सामान्य व्यावहारिक चिंतन और वैज्ञानिक अनुसन्धान में विशेष उपयोगी होते हैं। साधारण अनुभव और उसके विश्व को लेकर लोक-संज्ञान की चिरन्तन विप्रतिपत्तियाँ ही दार्शनिक विमर्श की स्थिर भूमिका हैं। इन विप्रतिपत्तियों से उत्पन्न संशय व्यवहार के बाधक नहीं हैं किन्तु इस लोक-व्यवहार की आधारभूत उपलब्धियाँ ज्ञान के आदर्श की दृष्टि के सदा अधूरी रहती हैं और दार्शनिक विमर्श में यह आशा रहती है कि विचार की कीमियागरी प्रतीयमान सत् के अन्तराल से परमार्थ का स्वर्ण उपस्थित कर सकेगी जोकि आदर्श ज्ञान का गोचर होगा।

लोक-विदित इन चिरन्तन संशयों का निदान और उपाय क्या है, इस प्रश्न को लेकर साम्प्रतिक दर्शन में पर्याप्त चर्चा हुई है। प्राचीन यूनानी धारणा थी कि इन्द्रियगोचर सत् अपारमार्थिक होने के कारण दुर्निवार संशयों को जन्म देता है और परमार्थ केवल बुद्धिगोचर है। बौद्धिक ज्ञान तात्त्विक, परिभाषित, हेतुमत् और संशयमुक्त माना जाता था और उसका आदर्श गणित में चरितार्थ। दार्शनिक का कार्य है तार्किक विमर्श के सहारे ऐसी तत्त्व-व्यवस्था का प्रतिपादन जिसमें समस्त विश्व स्वरूपत: आदर्शित हो सके और यह आदर्श ज्ञान होना चाहिए बुद्धि के लिए नियत और अनिवार्य। मध्यकाल में बौद्धिक ज्ञान को सर्वोच्च ईश्वर-प्रदत्त ज्ञान से अवर किन्तु उसका अविरोधी माना गया और फलत: सही दर्शन को धार्मिक श्रद्धा का सहचर। आधुनिक युग में एक ओर पुरानी तर्क-प्रधान बुद्धिवादी आदर्श की धारा उन्मज्जित हुई, दूसरी ओर प्रयोगात्मक विज्ञान के साथ नये प्रत्यक्षवाद की। सम्यग्ज्ञान के रूप में विज्ञान के लोक-स्वीकृत होने पर प्रत्यक्षवाद की पूर्णत: अथवा अंशत: स्वीकृति अनविार्य थी। इस दृष्टि से परम्परागत दार्शनिक संशय या तो अतीन्द्रिय ज्ञान की दुरभिलाषा के कुपरिणाम हैं, या सर्वमान्य लौकिक प्रतिपत्तियों के विशदीकरण के प्रसंग में उत्पन्न हैं। फलत: अधिकांश परम्परांगत दर्शन को निरर्थक मानना पड़ेगा और इस निरर्थक वाग्जाल के उद्धार का उपाय खोजना पड़ेगा, सामान्य लौकिक भाषा के विश्लेषण अथवा परिष्कार में अथवा एक नई सांकेतिक भाषा के निर्माण में। इस दृष्टि से दार्शनिक संशयों से मुक्ति के लिए हमें वही जानने और कहने का प्रयास करना चाहिए जो सम्भव है, और सम्भवासम्भव का निर्णय अन्तत: प्रत्यक्षविश्रान्त समझना चाहिए।

इस प्रकार की धारणा वस्तुत: लौकिक और वैज्ञानिक प्रतिपत्तियों का मूर्धाभिषेक है और एक ऐसी सांस्कृतिक दृष्टि की उपज है जिसमें कोई दार्शनिक अनिवार्यता नहीं है। कांट को विज्ञान की प्रगतिशीलता ने प्रभावित किया किन्तु वैज्ञानिक धारणाओं की परिवर्तनशीलता की ओर उसने यथोचित ध्यान नहीं दिया। विज्ञान की व्यवाहारिक आश्वास्यता को प्रत्यक्षवादी सत्य के नाम से पुरस्कृत कर सकते हैं किन्तु वे स्वयं कांट की मूल समस्या का उत्तर नहीं दे सकते। वे यह नहीं बता सकते कि गणित में उपयोगिता और अनिवार्यता दोनों किस प्रकार समन्वित होकर उपलब्ध हो सकती हैं। और दर्शन का निषेध करते हुए वे स्वयं अपने निषेध की दार्शनिकता से मुक्ति नहीं पा सकते।

जिस इन्द्रियगोचर स्थूल जगत् में लोग साधारणतया प्रतिपन्न होते हैं उसी की सूक्ष्म कारण-व्यवस्था को विज्ञान संकेतित करता है। फलत: वैज्ञानिक ज्ञान से स्थूल जगत् में मनुष्य की व्यवहार-शक्ति बढ़ जाती है और यही उसकी वैज्ञानिक आस्था का मूल है किन्तु इससे दार्शनिक संशय निवृत्त नहीं होते क्योंकि वे मनुष्य के उभयलोकी होने के कारण उपजते हैं। जिस प्रकार इन्द्रिय-संवेदन प्राकृतिक ज्ञान का द्वार है उसी प्रकार सभी में न्यूनाधिक मात्रा में स्वानुभूति भी विद्यमान रहती है और वही परमार्थ के ज्ञान का सूत्रपात है। स्वभावत: मनुष्य अपने को केवल प्रकृति का अंग नहीं मानता। उदाहरण के लिए, वह यह जानता है कि सभी प्राकृतिक घटनाएँ नियत कारणों से होती हैं और परतन्त्र हैं, किन्तु वह अपने को स्वतन्त्र मानता है। सब ओर अस्थिर, और भंगुर जगत् के अन्दर भी वह अपने लिए अमृतत्त्व की आशा छोड़ना ठीक नहीं समझता। दृष्ट जगत् की व्यवस्था से वह अदृष्ट और पुरुषवत् शक्ति की उसके आधार के रूप कल्पना करता है और अपने जीवन की नियति को अपनी आत्मिक योग्यता से असंलग्न नहीं मानना चाहता। इन और ऐसी अन्यान्य सहज धारणाओं को सहसा भ्रान्ति नहीं कहा जा सकता। सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में वे समर्थित हैं। धर्म का प्रवर्तन अनुभूति के एक असाधारण स्तर पर प्राप्त ज्ञान के आधार पर माना जाता है। सामान्य लौकिक अनुभूति ही सत्य है, और यह असाधारण आध्यात्मिक अनुभूति, जिसकी कुछ कुछ झलक भावनात्मक स्तर पर जीवन में बहुधा उपलब्ध होती है, सर्वथा असत्य है, यह कोई सहज-सिद्ध मान्यता नहीं है। आध्यात्मिक और लौकिक प्रतीतियों का असामंजस्य अवश्य संशय उत्पन्न करता है और यही है चिरन्तन दार्शनिक संशयों की उत्पत्ति भूमि।

साधारण मानव-चेतना में स्वसंवेदन और इन्द्रिय-संवेदन अविविक्त रहते हैं और उनकी मध्यभूमि में विकल्प का छायातप रहता है जो संवेदन की अपरिच्छिन्न पर विशकल स्फुटता में अस्फुट स्वसंवेदन की इकाई और शब्द-संकेत की योजना के द्वारा परिच्छेद और व्यवस्था का निवेश करता है और गृहीत क्षण को लक्षण प्रदान करता है। इस सहज अविवेक पर प्रतिष्ठित साधारण ज्ञान में इस मौलिक अभ्यास के कारण एक और अनेक, नित्य और अनित्य, विषयी और विषय, शब्द और ज्ञान, ज्ञान और आकार, आकार और वस्तु आदि का भी अध्यास सिद्ध होता है। सभी व्यवहार में समान रूप से व्याप्त होने के कारण यह अध्यास व्यवहार का बाधक न होकर उसमें अनिवार्य रूप से पूर्वाक्षिप्त होता है। किन्तु चेतना की प्रान्तभूमिक अवस्थाओं में, जब वह प्रधानतया प्रत्यक्षविश्रान्त होती है अथवा आत्मविश्रान्त, तब व्यावहारिक और विकल्पसिद्ध प्रतीतियों का अन्तर्गत विरोध उभरने लगता है। इस विरोध को लक्षित कर जो संशय और जिज्ञासा प्रवृत्त होती है वह स्पष्ट ही न व्यवहार का अंग है न स्वरूप-स्थिति का, बल्कि उनके विवेक को निरूपित करने के लिए विचार का मन्थन है। इस प्रकार का विवेचन उपर्युक्त अध्यवसाय अथवा विकल्प से बहुत अलग है। मुख्य विकल्प इन्द्रिय-संवेदन के द्वारा वस्तु-सारूप्य की आकांक्षा रखता है और व्यवहार-समर्थ प्रमा के रूप में वैज्ञानिक ज्ञान का अंग बनता है। विवेकाभिमुखी विचार की अन्तर्बाह्य दशा होती है, उसका एकार्ध बाह्याभिमुख है, अपरार्थ

आत्माभिमुख। इसीलिए पारमार्थिक दर्शन अथवा अध्यात्मविद्या के प्रतिपादक वाक्यों में अभिघा के साथ शब्द के अन्य अभिव्यंजक व्यापार सम्पुटित रहते हैं।

तथ्याभिधान और आत्माभिव्यक्ति के इस संश्लेष को उद्धारातीत दोष भी माना गया है और इस अभियोग पर अध्यात्मविद्या को दर्शन-बाह्य विज्ञापित किया गया है। तथ्य, हेतु और मूल्य का पृथक् पृथक् विश्लेषण और व्यवस्थापन मानो विचार का मूर्धन्य सिद्धान्त हो। वास्तव में यदि तथ्य और हेतु सर्वथा पृथक् होते तो भौतिकी और गणित कभी सम्बद्ध न हो पाते, और न कभी तर्कशास्त्र कोई व्यावहारिक उपयोग पाता। तथ्य-सम्बन्ध में नियम की अनुपलब्धि और उपलब्ध नियम को आकार-मात्र-विश्रान्त मानना वास्तव में "नियम" की समस्त सार्थकता हर लेता है। ज्ञान का स्वत: कोई आकार नहीं होता है, ज्ञेय का आकार ही ज्ञान में भासित होता है। अन्यथा ज्ञान और कल्पना, अनुभव और भ्रान्ति का भेद ही मिट जाएगा। अर्थाव्यभिचारी ज्ञान का प्रकार ज्ञानातिरिक्त ज्ञेय के द्वारा नियत होता है और यही समस्त ज्ञानगत नियम का मूल है। अर्थात् ज्ञानाकारिक नियम को अन्तत: वस्तुमूलक ही मानना चाहिए, ज्ञानमूलक नहीं। जहाँ तक आहार्य ज्ञान का प्रश्न है, वह कल्पना से अभिन्न है और उसमें वही नियम उपलब्ध होता है जो परिभाषा के द्वारा अथवा प्रयुक्त संकेतों के आहार्य अर्थों के द्वारा उसमें पूर्वनिवेशित हो। इस प्रकार का कल्पना-विलास सम्भावनाओं के प्रकाश के रूप में उपयोगी होते हुए भी ज्ञानगत नियम के प्रकार में असमर्थ है।

हेतु और मूल्य का असम्बन्ध स्वीकार करना सभी सांस्कृतिक विकास और शिक्षण की सम्भावना पर कुठाराघात होगा। जैसे तथ्य का निर्णय प्रत्यक्षपूर्वक हेतु-प्रयोग के द्वारा होता है- और इस निर्णय के ज्ञापक हेतु अपना नियामक पाते हैं वस्तु-स्वभाव में, ऐसे ही मूल्य-निर्णय भी अनुभूतिपूर्वक हेतु-प्रयोग के द्वारा होता है। इसी पर विभिन्न सांस्कृतिक व्यापारों की समीक्षा और तद्गत विवेक का शिक्षण आधारित है। हेतु कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। जहाँ भी दो विषयों का अनौपचारिक सम्बन्ध उपलब्ध होता है वहाँ उनमें ज्ञाप्य-ज्ञापक-भाव भी व्यक्त हो जाता है। यह मूल्योपलब्धि में उतना ही सम्भव है जितना तथ्योपलब्धि में।

तथ्य और मूल्य का प्रविभाग साधारण तौर से इस धारणा पर आश्रित है कि वास्तविकता कारित्रमूलक और स्वतन्त्र होती है जबकि मूल्य पुरुषापेक्ष होते हैं। किन्तु मूल्य अभीष्ट या काममात्र नहीं कहे जा सकते, क्योंकि वे भी विवेक के विषय हैं। उन्हें एषणीय एवं प्रेयोव्यतिरिक्त श्रेयोरूप मानना चाहिए। रूप, राग, रस, और धर्म चित्तसापेक्ष होते हुए भी स्वभाव-प्रतिसंयुक्त हैं एवं एक बुद्धिगोचर व्यस्थित विश्व का आक्षेप करते हैं। अन्ततोगत्वा आत्मानुभूति अथवा ईश्वरानुभूति में सत् के दोनों आयाम वास्तविकता और मूल्यवत्ता-एकत्र हो जाते हैं। यदि वास्तविकता की व्याख्या केवल अर्थक्रियाकारिता की जाए तो प्रमेय-मण्डल वस्तु-मण्डल से विपुलतर हो जाएगा, क्योंकि उसमें कम से कम अतीत और अनागत, सम्भाव्य और सामान्य आदि विषयों को अन्तर्भुक्त करना होगा। कारित्ररहित होने के कारण इस प्रकार के विषय अवस्तु कहे जा सकते हैं, किन्तु वे पृथक् पृथक् सम्यग्ज्ञान के विषय होने के कारण प्रविभक्त प्रमेय भी हैं। यह कहा जा सकता है कि असत्-ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान है, तो क्या असत् को भी प्रमेय के अन्तर्गत माना जाएगा ? वास्तव में असत् स्वत: निरूपाख्य और अनुदाहार्य है। अन्तत: असत्व-प्रतिपत्ति प्रकार-व्यवच्छेद से अभिन्न है। फलत: यह मानना होगा कि प्रतीयमानता सत् के निरूपण में अपार्थक न होकर उसकी प्रथम और अन्तरंग सूचना है। विकल्प के द्वारा सत् के स्वरूप को जो हम व्यवस्थित करते हैं उसके लिए प्रतीति का अविरोध आवश्यक है। जब हम प्रतीतियों के साक्ष्य में विरोध-परिहार के लिए उनका बलाबल विचारते हैं तो हम वास्तव में प्रतीति-गोचर को एक बृहत्तर विश्व के अंग के रूप में आँकते हैं। प्रत्येक विकल्प या अध्यवसाय इस

विश्वावधारणात्मक अनन्त अनुसंधान की एक कड़ी है। इस अनिवार्य अनन्तता का ही परिणाम है कि कभी भी हमारा अवधारित विश्व समग्र रूप में एक समंजस इकाई नहीं बन पाता, क्योंकि वह तो जिज्ञासा का अन्त होगा। हम प्रयोजन और दृष्टि के भेद से खण्ड विश्वों की कल्पना करते हैं। किसी भी खण्ड में सत् पूरा नहीं समाता।

प्राकृतिक प्रवृत्तियों के लिये सार्थक अर्थक्रियाकारी वस्तुओं के विश्व में केवल औपाधिक मूल्य ही सामान्यत: स्थान पाते हैं। इष्ट-साधन अथवा उपयोगी वस्तुओं की मूल्यवत्ता स्वत: न होकर इष्ट-सिद्धि में उपकारण होने के कारण होती है। जो तत्त्व इष्टता के अन्तरंग हैं वही मूल्यस्वरूप हैं। साधारण तौर से इच्छा के विषय बदलते रहते हैं और उसी विषय में इष्टता और अनिष्टता का विरोध देखा जा सकता है। किन्तु यह विरोध तभी तक रहता है जब तक हम विषय के स्वरूप को उपर्युक्त अर्थ में केवल वस्तु-स्तर पर अथवा केवल शुष्कज्ञान के गोचर तत्त्वों के स्तर तक आलोचित करते हैं। वस्तुत: मूल्यस्वरूप अर्थ का अनुभव भाव-रहित नहीं होता। स्वरूपगत मूल्य भावनागम्य अर्थ है। यह सही है कि इस प्रकार का भावालम्बन अवास्तविक भी होता है और उसकी सार्थकता या विभावकता संस्कारोद्बोधन के द्वारा सम्पन्न होती है क्योंकि इच्छाएँ और भाव संस्कार के अंकुश के वश में रहते हैं। यहाँ पर यह संशय स्वाभाविक है कि इस दृष्टि से मूल्यबोध सदा ही एक अतर्क्य रुचि का व्यापार बन कर विवेक के लिए वर्जित-प्रवेश बन जाएगा। यह मत अवश्य ही उस अपराध्रुवीय मत से कम युक्तिसंगत नहीं लगता है जिसके अनुसार मूल्य एक शाश्वत अफलातूनी आदर्श-विश्व के निवासी और मानव-चेतना को अपने आकर्षण का सन्देश भेजते रहते हैं। किन्तु वस्तुत: इच्छा और भाव से असम्पृक्त, हृदय से असमर्थित अर्थ चेतना का लक्ष्य नहीं बन सकते और न पुरुषार्थ-पद पर आरूढ़ हो सकते हैं।

वास्तव में मूल्यों की भोगवादी व्याख्या उनके प्रति मनुष्य के प्राकृतिक अस्तित्त्व के सहज आग्रह का परिणाम है। प्रकृतिवादी दृष्टि से मूल्य केवल भोग्य अर्थ रह जाते हैं। दूसरी ओर उनकी आदर्शवादी व्याख्या भाव-संवित्ति की ग्राह्यतिक्रामी सघनता की ओर गजनिमीलिका बरत करके आलम्बनों का मानो वस्तुसात्करण सम्पादित करती हैं। आकार अपनी किसी स्वरूप-योग्यता के कारण भाव के आलम्बन नहीं बनते हैं और उनका प्रकट वैचित्र्य यह सूचित करता है कि उनके आलम्बन बनने की नियामकता वासना अथवा संस्कारों में निहित है। भाव के आलम्बन वस्तुत: भाव की आन्तरालिक संवित् के बाह्य प्रक्षेप मात्र हैं जोकि कल्पना और सम्प्रेषण के स्तर पर उसके प्रतिबिम्ब और संकेत बन जाते हैं। यह आन्तरालिक संवित् सविशेष, सवासन और सालम्बन किन्तु अपेक्षाकृत व्यवहार-निवृत्त और अव्यग्र स्तर पर आत्मानन्द का आभास अथवा चिदावरण-भंग है। नैतिक आयाम हो चाहे रसिक, ज्ञान का अनुसंधान हो चाहे देवोपासना सर्वत्र मूल्योपलब्धि में क्षुद्र अहं अथवा व्यक्तित्व का एक विकल्पातीत सत् के भान में विलयन होता है। उदाहरण के लिए, कर्म में कर्तव्यता का बोध अपनी ही सार्वभौम आत्मा की प्रेरणा के रूप में नैतिक स्वातन्त्र्य एवं नियम के विरोध को हर सकता है। साहित्य और कला की सार्थकता स्व-भाव को प्रतिबिम्बत कर स्वानुभूति की अभिव्यक्ति से ही होती है। ज्ञान के अनुसंधान में जिज्ञासु के नित्य गुरु के रूप में अखिल-साक्षि-भाव ही रहता है जोकि जिज्ञासु को स्वयं अपनी चैतसिक प्रवृत्तियों से तटस्थ कर देता है और सभी सापेक्ष प्रतीतियों और विकल्पों को उस प्रकार के अनिवार्य सत्य की कसौटी पर जाँचने की प्रेरणा देता है जो स्वानुभूति में झलकती है। ज्ञान का आदर्श वस्तुत: आत्मज्ञान ही है। देवोपासना की सिद्धि भी तभी होती है जब उपासक और उपास्य में एक रहस्यात्मक अभेद का उन्मीलन होता है।

नानास्तरीय और संकीर्ण प्रतीतियों में तरंगित मानव चेतना आधिभौतिक और आध्यात्मिक

तटों के अन्तराल में प्रवाहित होती है। व्यवहारिक आग्रह प्रतीयमान सत् को कारित्र की कसौटी पर परखता है तथा प्रत्यक्ष एवं अनुमान के संयोग से एक प्राकृतिक विश्व की कल्पना करता है। लौकिक प्रतिपत्ति एवं विज्ञान इसी प्रकार की कल्पना के अपरीक्षित और परीक्षित रूप हैं। लौकिक प्रतिपत्ति में बहुत से आध्यात्मिक विश्वास परम्परागत और रूढ़ रूप में मिले रहते हैं और इस कारण अल्प विमर्श से भी उसमें विप्रतिपत्ति और संशय उपजते हैं। विज्ञान सप्रयत्न केवल वस्तुपरक है और एक निरन्तर प्रमाण-परीक्षा के द्वारा अधिकाधिक संभाव्य सत्य की ओर अग्रसर रहता है। लौकिक और वैज्ञानिक प्रतिपत्तियों के स्पष्टीकरण, व्यवस्थापन और प्रामाण्य के परीक्षण की विधि के व्यस्थित विमर्श को न्यायविद्या के रूप में दार्शनिक विवेचन के अन्तर्गत चिरकाल से माना जाता है, किन्तु यह सत्य नहीं प्रतीत होता कि दार्शनिक विवेचन केवल इस प्रकार का परीक्षण अथवा कल्पना मात्र है- सामान्य भाषा और लोक-संज्ञान के स्तर पर, या विशुद्ध आकारिक स्तर पर। सत्यासत्य का निर्णय अंततः अनुभव पर निर्भर है यद्यपि अनुभव केवल ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष तक सीमित नहीं है। विशुद्ध कल्पना अथवा आहार्यविषयक तर्क इस प्रकार के याथार्थ्य-निर्णय की ओर चिर उदासीन हैं और सामान्य भाषा एवं लोकानुभव अपरिहार्य विरोधों से ग्रस्त होने के कारण पूर्णतः श्रद्धेय नहीं है। इस प्रकार के सामान्य अनुभव पर आधारित वस्तु-सम्बन्धाभिलाषी परम्परागत तर्कशास्त्रों की मूल अवधारणाएँ स्वयं भी अपरिहार्य प्रसंग उत्पन्न करती है। फलतः तर्कशास्त्र अर्थनियत अथवा आहार्य व्यावहारिक ज्ञान के संस्थान का निरूपण होते हुए भी सत् अथवा उसके आदर्श ज्ञान का निरूपण नहीं है। तर्कशास्त्र की यह सीमा उसके शुष्कज्ञान के अन्तर्गृहीत होने के कारण है। सत् केवल व्यावहारिक वस्तुमात्र नहीं है। और न उसका पूरा परिचय केवल प्रत्यक्ष और तदाश्रित अनुमान के सहारे सम्भव हे। 'अतिगभीरं भावयाथात्म्यम्' इस पारमार्थिक स्वभाव की झलक भाव के स्तर पर भी होती है। मूल्यात्मक सत् का विवेचन अध्यात्मविद्यारूपी दर्शन का उत्तरार्ध है। प्रकृतिपुरुषात्मक द्वैत से ग्रस्त अपने बोध का तात्त्विक विवेचन दार्शनिक को लोक-व्यवहार के परे अपने आध्यात्मिक स्वरूप की सूचना की ओर ले जाता है।'

***

सृजन, परिवेश और परम्परा

पश्यन्नेव सृजत्यर्थान् कविरेक: सनातन: ।
आत्मानं विमृशन्नीश: प्रेरयंश्च धियोऽपि न: ॥1॥
त्रिगुणां तन्वते सृष्टिं कवये वेधसे नम: ।
सदसदात्मिकां काले देशेऽब्धिबुद्बुदोपमाम् ॥2॥
भ्रमतो यत्समुत्पन्नं भ्रममापादयत्यपि ।
चित्रोपमाय चित्ताय तस्मै विश्वसृजे नम: ॥3॥
त्रासात्स्वनिर्मिताद् यद्वत् स्वप्नो भङ्गमवाप्नुयात् ।
मोहात्मापि भ्रमस्तद्वज्ज्वालेवात्मविघातक: ॥4॥
ऐन्द्रजालिकमुख्याय कवये मनसे नम: ।
वाचैव सृजते विश्वं विद्याविद्योभयात्मने ॥5॥

सृजन शब्द का मुख्य प्रयोग ईश्वरीय सृष्टि के लिए होता रहा है। "कविर्मनीषी परिभू: स्वयंभू: याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्य: समाभ्य: ।" "देवस्य पश्य काव्यं महित्वा"। "पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति"। ईश्वर स्रष्टा या कवि है और उसकी सृष्टि सनातन है। इस सनातन सृष्टि के विषयों को तत्त्वात्मक कहा जा सकता है, ये मूल चैतन्य के इच्छात्मक आत्मपरामर्श में अपरोक्षतया प्रतिभात होते हैं, जैसे स्वप्न स्वप्न-द्रष्टा के समक्ष। इस अवस्था में दृष्टि और सृष्टि का भेद नहीं रहता। ईश्वर के आत्मपरामर्श में समस्त तत्त्वों का अन्तर्निहित ज्ञान आविर्भूत होता है। यही पश्यन्ती वाक् का विश्व भी है। सृष्टि का एक दूसरा अर्थ ब्रह्मा या प्रजापति के द्वारा की गयी कालिक और प्राकृतिक सृष्टि है जो सदसदात्मक होती है। इसमें काल शक्ति से प्रत्येक वस्तु निरन्तर असत् से सत् और सत् से असत् में उपनीत होती है। इन प्राकृतिक वस्तुओं में सनातन तत्त्व या धर्म अधूरे रूप में ही प्रतिबिम्बित होते हैं। किन्तु ये अन्तर्निहित प्रतिबिम्ब न्यूनाधिक रूप में ज्ञानी अथवा विज्ञानी को ही विदित होते हैं।

मानवीय सृजन को अनुकृति कहा गया है, क्योंकि वह तत्त्वानुकारी अर्थों की प्रतिकृति होता है। पर उसका वास्तविक रूप अनुव्यवसाय बताया गया है जिसकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है : सृजन उन तत्त्वों अथवा अर्थों का अनुचिंतन, अभिव्यंजन अथवा अनुसरण है जो सर्जना मात्र में प्रतिमान के रूप से उपस्थित रहते हैं। आविष्कारक प्राकृतिक अर्थों में प्रतिबिम्बित तत्त्वों का अनुसरण करते हुए भौतिक निर्माण करते हैं, सामाजिक स्तर पर संस्थापक और प्रवर्तक तात्त्विक विधियों को संस्थागत रूप देने का दावा करते हैं, शास्त्रकार सनातन धर्मों का मनन करते हैं और प्रत्ययमयी विकल्पमयी भाषा में उन्हें व्यक्त करते हैं। कवि और शिल्पी संकेतों और प्रतीकों में अनुभूत सत्य को व्यक्त करते हैं।

अपूर्व निर्माण के रूप में मानवीय संरचना कई स्तरों में व्याप्त होती है। भौतिक स्तर पर वह प्राकृत उपादानों को उपयोगिता की दृष्टि से रूपान्तरित करती है, सामाजिक स्तर पर नवीन विधियों

और संस्थाओं की स्थापना करती है, शिल्प और कला के स्तर पर प्राकृतिक उपादानों को अन्तर्दृष्ट की अभिव्यक्ति के लिए बदलती है, वाक् के स्तर वाङ्मय की रचना करती है। इन सभी स्तरों में सर्जना का तत्त्वानुसंधान-व्यापार नि:संदेह रहता है। साहित्य और शिल्प में वस्तुत: मनोमय स्तर पर प्रतिभात मूल्यान्वयी रूप या अर्थ ही बाहरी उपादानों में व्यक्त होता है। इसीलिए सर्जना का मुख्य व्यापार मनोमय ही है। बाहरी कृति अंशत: मनोमय कृति की अनुकृति रहती है। यह अनुकृति रहती है। यह अनुकृति या अनुवाद इसलिए सम्भव होता है क्योंकि शब्द, नाद और रूप तीनों केवल ऐन्द्रिय स्तर पर गोचर नहीं होते बल्कि उनका सूक्ष्म रूप मन के द्वारा ही साक्षात्कारित होता है। एडीसर जैसे आविष्कारक, हम्मूरावी, हजरत मूसा, मनु अथवा नेपोलियन जैसे विधि-व्यवस्थापक, प्रॉक्सीतेलीस जैसे मूर्त्तिकार, तानसेन जैसे संगीतकार, नाना शास्त्रकार और साहित्यकार सभी के कार्यों में सर्जना के व्यापार का जो विविध उत्कर्ष प्रत्यक्ष होता है उसमें अन्तर्दृष्टि और बाहरी क्रिया का समवाय देखा जा सकता है।

सामान्यतया सृजन से न सिर्फ उसका गौण अर्थ बल्कि वह भी एक संकुचित रूप में लिया जाता है। साहित्यिक अथवा कलात्मक रचना को ही प्राय: सर्जना का विषय समझा जाता है। कला के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है कि वास्तुकला में, जिसे कला का प्रधान प्रकार कहा जा सकता है, विज्ञान और उपयोगिता के पक्ष कभी भी नगण्य नहीं रहते हैं। ऐसे ही संगीत न केवल सामाजिक उत्सव-अनुष्ठान आदि के संदर्भ में ही प्राय: विकसित हुआ है, उसकी एक निश्चित वैज्ञानिक पृष्ठभूमि भी रहती है। साहित्य में शक्ति और निपुणता और अभ्यास के अन्तर्गत शास्त्र और लोक का ज्ञान और सामाजिक योगदान आवश्यक है, यह अविदित नहीं है। कलाकृति के एक विस्तृत क्षेत्र में उपकरण और अलंकरण की सहयोगिता मिलती है। इससे यह अनुमेय है कि कलात्मक सर्जना केवल कर्त्तृ स्वातन्त्र्य का विषय न होकर वस्तु-विज्ञान और वस्तु-विनियोग की आवश्यकताओं के परतन्त्र भी है।

साहित्य के क्षेत्र में एक प्राचीन परम्परा है जो काव्य और शास्त्र में आत्यन्तिक भेद स्थापित करती है। काव्य कवि के स्वातन्त्र्य का क्षेत्र है और उसमें नियतिकृत नियमों का अभाव कल्पित किया गया है। शास्त्र ज्ञानात्मक है और प्रज्ञा का परिणाम है। शास्त्र प्रधानतया दृष्टि से परिगृहीत युक्ति-विन्यास के रूप में रहते हैं जबकि काव्य अनुभूति को प्रकाशित करने वाली प्रतीक-कल्पना है। एक सीमा तक इसी प्रकार का मत आधुनिक काल में भी 'एस्थेटिक्स' के विकास के साथ पनपा है। अनेक दार्शनिकों का यह विचार है कि काव्य ज्ञान-विज्ञान और वस्तु-जगत् से स्वरूपत: असंबद्ध है। उसके वाक्य वस्तुप्रदर्शक या तथ्यनिरूपक नहीं हैं। इस विभाजन का प्राचीन परम्परा में दुष्परिणाम यह था कि वेद, पुराण आदि साहित्य अपनी शास्त्रीयता के कारण काव्य से दूर कर दिये गये। आधुनिक युग में इसका दुष्परिणाम यह है कि काव्य आत्मपरक एवं अलंकरणात्मक बनकर तत्त्वदृष्टि से वंचित हो गया है।

यह सही है कि ज्ञान और क्रिया में एक निश्चित अन्तर है। ज्ञान वस्तुतंत्र होता है, क्रिया पुरुषतंत्र होती है, किन्तु यह प्रबल युक्तियों से प्रतिपादित किया गया है कि ज्ञान में कल्पनात्मक रचना का तत्त्व अनिवार्य रूप से रहता है। इस रचना का अपना एक निराला सौंदर्य भी है। बर्ट्रेंड रसेल का कहना है कि गणित का सौंदर्य संगीत की तरह आडम्बर और आटोप से अपने आपको प्रकाशित नहीं करता किन्तु उसमें संगमरमरी शिल्प की शीतल मोहकता मिलती है। दूसरी ओर साहित्यिक रचना से यह अपेक्षा की जाती है कि उसमें साहित्कार की स्वतन्त्र क्रिया नितान्त आत्मपरक और निरंकुश न हो। उत्तम रचना स्वतंत्र होते हुए यथातथ्य का अनुसरण करती है। रचना का यथातथ्य अथवा यथार्थता ही परम्परागत अनुकरणतावाद का वास्तविक तात्पर्य है। निष्कर्ष यह है कि तथ्य प्रधान शास्त्र और कल्पना-प्रधान काव्य में निश्चित भेद होते हुए भी उनमें सर्जनात्मक प्रतिभा अथवा रचना की व्याप्ति देखी जा सकती

है। ज्ञान और कल्पना को सर्वथा अलग कर देने से ज्ञान अव्यवसायात्मक हो जाता है और कल्पना निरंकुश हो जाती है। रोमैन्टिक आन्दोलन की विशेषता थी कि उसने साहित्यिक कल्पना अथवा प्रतिभा में तत्त्वदर्शिता का पक्ष उजागर किया।

साहित्य-रचना के संदर्भ में प्रतिभा एवं कल्पना के व्यापार की महिमा निर्विवाद है। सामान्यतया कल्पना को मन की उड़ान माना जाता है जो वस्तु-निरपेक्ष और स्वतंत्र होने के साथ-साथ वैयक्तिक और आत्मपरक होती है। उसके विषय में एक धारणा यह रही है कि वह सिर्फ स्मृतियों के आधार पर अनुभूत विषयों का अनुकरण अथवा उनको अन्यथा प्रस्तुत करने की शक्ति है। इस दृष्टि से संस्कारजन्य आभासों का अथवा स्मृतियों का संयोजन-वियोजन कल्पना कहलाता है। दूसरी ओर ऐन्द्रिय प्रतिभास के साथ शब्द-योजना भी कल्पना कहलाती है। संक्षेप में कल्पना अनुपस्थित अर्थों की प्रतीति कराने वाली मन की स्वाधीन शक्ति है। कल्पना के उदाहरणों में मानसिक चित्र और बिम्ब, भ्रम और स्वप्न, शाब्दिक विकल्प और आन्तरिक साक्षात्कार इन सभी को रखा जा सकता है। यदि भ्रम मुख्यतया कल्पना है तो ज्ञान में भी कल्पना का तत्त्व अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण होता है। उनमें भेद यह है कि ज्ञान में कल्पना नियत होती है। इस प्रकार कल्पना को अनेक रूपों और स्तरों में व्याप्त देखा जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी स्वतंत्रता उसे अनियत बनाकर भ्रामक बना देती है। दूसरी ओर उसकी स्मृति-सन्निकट अनुकरणात्मकता उसकी अपूर्वता को नष्ट करती है। इस प्रकार स्वतंत्र हो या परतंत्र, भ्रामक हो या सांव्यावहारिक प्रमाण का अंग, कल्पना सत्य और नवीन किस प्रकार हो सकती है, यह प्रश्न बना रहता है। वस्तुत: 'कल्पना' शब्द संश्लिष्ट व्यापारों और आयामों का वाचक बन जाता है। रचना की अपूर्वता और कविगत वैशिष्ट्य को लक्षित कर कर्तृ-स्वातंत्र्य का अनुमान होता है। किन्तु वस्तुत: व्यवहार-मुक्त संदर्भ में ही शब्दों और प्रतीकों के अनियत प्रयोग की संभावनाएँ उद्भूत होती हैं जिनमें रचना की स्वभाव-सहज शैली अपूर्वता का उन्मेष अनायास करती है। व्यावहारिक संदर्भ से मुक्त होने पर भाषा तथाकथित प्रमेयों और प्रसिद्ध संकेतों से नियन्त्रित अभिधान-सरणि की संकीर्णता से भी मुक्त हो जाती है। उन्मुक्त भाषा-प्रयोग के अनन्त सागर से अपनी स्वाभाविक सहजता में जिन तरंगों को रचनाकार सुनता-सुनाता है उन्हीं से उसकी रचना विशेषता प्राप्त करती है। फलत: कल्पना की स्वतंत्रता और रचना की अपूर्वता कवि-व्यापार की सहजता और वैयक्तिक विशिष्टता के ही पर्याय सिद्ध होते हैं। शब्द-प्रयोग की वक्रता और पदों की विशिष्ट रचना में ही कल्पना की अपूर्वता और स्वतन्त्रता व्यक्त होती है।

कल्पना को व्यावहारिक कर्त्तृत्व के तुल्य नहीं समझा जा सकता। न उसे प्रमाण-व्यापार के तुल्य ही मानना चाहिए। कल्पना में न व्यावहारिक कर्म-शक्ति है, न व्यावहारिक ज्ञान-शक्ति। वह न वस्तु-जगत् में कुछ करती है न उसे जताती है। वह स्वायत्तताकांक्षी अर्थों या आभासों को संकेतों के माध्यम से व्यक्त करती है। वस्तुसत्ता से रहित अर्थों और आभासों की कल्पना के द्वारा इस प्रत्युपस्थिति के कारण ही कल्पनामूलक कला और साहित्य में अनिवार्य रूप से एक भ्रम की प्रतीति का आयाम होता है। किन्तु जैसे कर्म और ज्ञान से विलक्षण होने पर भी कल्पना चैतन्य की सहज स्फूर्ति है ऐसे ही साहित्य और कला में वस्तु और अवस्तु की कोटियों में अनिर्वचनीय अर्थों की ही प्रतीति होती है। यह स्मरणीय है कि प्रत्यक्ष आभास के भी प्रथम क्षण में यह विशेषता रहती है। प्रत्यक्ष आभास में सत्यासत्य का निर्णय सविल्पक प्रामाण्य-विचार से ही होता है। प्राथमिक प्रत्यक्ष में आभास प्रमा और भ्रम की कोटियों में अविवेचन निमित्त मात्र होता है। सभी प्रमाणों में संगति की व्याप्ति और प्रमाणन्तर से पुष्टि परीक्षापूर्वक उपपादनीय होती है। सहज स्फुट प्रतीति या स्फूर्ति के रूप में कल्पना प्रमाणिक ज्ञान की खोज में परीक्षणीय दिशा का निर्देश कर सकती है। नाम-विकल्प से युक्त होकर वह भाषा की योजनात्मकता का

रूप ग्रहण करती है और उसके साथ ही अनादिवासनामूलक विकल्पों से युक्त होकर अध्यवसाय अथवा सम्प्रत्ययन के व्यापार के रूप में प्रत्यक्ष का परिग्रह और रूपान्तरण करती है। इन दोनों ही रूपों में कल्पना ज्ञानानुकूल मानसिक क्रिया का सहज रचनात्मक पक्ष है जिसके कारण ज्ञान अपनी परिनिष्पन्न वस्तुनिष्ठता के दावे के बावजूद अनादिवासनोपहित अन्त:करण की वृत्ति से अवच्छिन विषय-चैतन्य के रूप में अथवा विकल्पारोप्य प्रतिभास के रूप में अविसंवादी भ्रम की कोटि से उत्तीर्ण नहीं हो सकता। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्रमा वाग् विकल्प के द्वारा ही व्यावहारिक बनती है और उस रूप में वह संवादी भ्रम से अधिक नहीं होती। स्वरूपत: ज्ञान में भ्रम और भ्रम में ज्ञान के तत्त्व को देखे बिना सृजन का रहस्य और महिमा स्पष्ट नहीं हो सकती। मानव-चेतना की द्वन्द्वात्मक आध्यासिकता में ही वह रहस्य निहित है।

कल्पना का विकल्पनात्मक आयाम ज्ञानोपकारी सहज मानसिक क्रिया का है। "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य: शब्दानुगमादृते" "विकल्पनयोनय: शब्दा: विकल्पा: शब्दयोनय:" "अभिलाप संसर्गो विकल्प:।" वस्तु-नियत न होते हुए भी यह क्रिया नाम-जात्यादि योजनात्मक अनादिवासना से नियत है। जैसाकि भाषा और तर्क के अन्तर्योजनात्मक आयाम से स्पष्ट होता है, यह विकल्पनात्मक व्यापार सहज होते हुए भी प्रत्यक्ष के परोक्षीकरण का व्यापार है जिसमें व्यावृत्ति और संकेतानुवेध का उपयोग होता है। इसके विरीत कल्पना का प्रतिभात्मक आयाम है। प्रतिभा एक उच्चतर ज्ञान की शक्ति के रूप में अनेक दर्शनों में स्वीकृत है। प्रतिभा अपरोक्ष या साक्षात्कारात्मक ज्ञान है जो विषय के आकार अथवा तत्त्व का प्रतिवेध करती है। आकार-प्रतिवेधिनी प्रतिभा भाषा, गणित और संगीत के क्षेत्रों में सर्वाधिक प्रस्फुटित होती है। प्रतिभा की यह दिशा अनुभव पर साक्षात् रूप से निर्भर नहीं करती। किन्तु तात्त्विक अर्न्तदृष्टि के रूप में प्रतिभा प्राय: अनुभवपूर्वक ही देखी जाती है, भले ही यह माना जाय कि वह अनुभूत विषयों के अन्तर्निहित तत्त्वों का साक्षात्कार करती है। तात्त्विक प्रतिभा विषयों के द्वारा तत्त्वों को और तत्त्वों की स्वभावगत द्वन्द्वात्मकता को प्रदर्शित करती हुई तत्त्वातीत शून्यता का साक्षात्कार करती है और इस रूप में प्रज्ञा से अभिन्न होती है। प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि प्रतिभा तत्त्वों से उनके मूल द्वन्द्वातीत चैतन्य की ओर ले जाती है। जहाँ भाषा और प्रत्ययों के द्वारा अनुभूत यथार्थ को परोक्ष किन्तु परिच्छिन्न रूप में प्रस्तुत करती हुई विकल्पना बुद्धि की सहज रचना है, वहीं प्रमाणाश्रित याथार्थ्य से अनियत अर्थों की स्वच्छन्द प्रस्तुति कल्पना का दूसरा रूप है जो इच्छा और भावना से प्रेरित होती है। साक्षात्कारात्मक और अन्तर्दृष्टि रूप होने पर कल्पना प्रतिभा पद पर आरूढ होती है। विकल्पना प्रमाणनुग होती है और व्यवहार्य अर्थों को अस्फुटतया रचती है, भावना आत्मपरक अर्थों की स्वच्छन्द रचना है, प्रतिभा तात्त्विक अर्थों को अपरोक्षतया रचती है। तीनों ही संकेत-रचनाओं में व्यक्त होती है और उनके द्वारा नाना प्रकार के अर्थों को प्रकाशित करती हैं। तीनों ही बुद्धि की वृत्तियों के भेद हैं। पहली प्रमाणवृत्ति का ही एक अंग है, दूसरी वासनानुकूल भावना है जिसमें अर्थों का प्रतिभास होता है। तीसरी निर्मल बुद्धि के माध्यम से आत्मशक्ति का प्रकाशन है जिससे तत्त्वों का साक्षात्कार होता है।

साहित्यिक और कलात्मक सर्जना में भावना और प्रतिभा का सम्पृक्त रूप मिलता है जिसमें एक ओर भावना में वासनानुकूल स्वच्छन्दता होती है, दूसरी ओर प्रातिभ दृष्टि और विवेक। स्वच्छन्दता और विवेक, भाव और दृष्टि के संयोग से ही सृजन अपने मूल अर्थ के गौरव का अधिकारी हो सकता है।

प्रतीकों और बिम्बों के सहारे अर्थ-विकल्पों और आभासों की रचनामात्र से सृजन अपने आपको सार्थक नहीं कर सकता। उसके लिए यह आवश्यक है कि प्रातिभ तत्त्व-दृष्टि से वह उन्मीलित हो। यह प्राय: सोचा जाता है कि साहित्यिक और कलात्मक रचना के लिए इतना आवश्यक और पर्याप्त है कि वह सुन्दर और सरस हो, उसके लिए न यह आवश्यक है, न पर्याप्त है कि वह तात्त्विकता अथवा

सम्यक् दृष्टि से अभिषिक्त हो। इस पक्ष के खण्डन में यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि सरसता औचित्य से अलग नहीं की जा सकती, न सौंदर्य सरसता से। अत: औचित्य रचना की एक आवश्यक शर्त बन जाता है। औचित्य को विवेक अथवा सम्यक् दृष्टि से अलग नहीं किया जा सकता।

रचनागत विवेक सिर्फ शब्दों और प्रतीकों के प्रभावकारी संयोजन की विधि का ज्ञान ही नहीं है। साहित्यिक और कलाकृतियाँ अपने उपादानों के प्रयोग की विधि अथवा प्रविधि से चरितार्थ नहीं होतीं। उनके लिए रचना-सौष्ठव को मूल्यों से जोड़ना आवश्यक होता है। साहित्य की समाज में प्रतिष्ठा का मूल कारण उसकी आर्थिक अथवा राजनीतिक उपयोगिता न होकर सांस्कृतिक परम्परा का प्रतिनिधि होना है। सांस्कृतिक परम्परा मूल्यों के खोज की परम्परा है। मूल्य अन्ततोगत्वा औपाधिक आत्मबोध से अभिन्न हैं। जहाँ किसी को अपने को पाने की प्रतीति होती है वहीं उसे मूल्य की प्रतीति होती है, और मूल्य की सभी प्रतीतियों में प्रत्येता का आत्म-संदर्भ विद्यमान रहता है। इच्छामात्र में अपने अभाव की पूर्ति और चरितार्थता के साधन की प्रतीति होती है। किन्तु यह प्रतीति विश्वसनीय है या एक भ्रांतिमात्र यह विवेचनीय बना ही रहता है। इच्छा और विवेक दोनों के सहयोग से इष्ट विषय मूल्य के रूप में निर्धारित होते हैं। मात्र अभीष्ट विषय अथवा स्वार्थ मूल्य नहीं कहा जा सकता और न इच्छातीत स्वत:सिद्ध विषय ही मूल्य कहे जा सकते हैं। एषिता के अभाव का वास्तविक पूरक उसे अपने स्वरूप की ही पूर्णता की उपलब्धि करा सकता है।

साहित्यिक कृति में मूल्य की अभिव्यक्ति तीन स्तरों में होती है। पहले तो रचना-सौष्ठव के अन्तर्गत, दूसरे सामाजिक मूल्यों से संस्कृत व्यंग्य भावों के स्तर पर, तीसरे, अतर्क्य मूल्यों के स्तर पर, जो कृति के चरम व्यंग्य होते हैं। अलंकार, भाव और रस के पक्ष इनके समानान्तर हैं। भावों के उद्भव और औचित्य का निर्धारक सामाजिक मूल्य-निर्धारणों से जुड़ा रहता है। इनका निरूपण अनुवादात्मक अथवा रचनात्मक हो सकता है। साधारणीकृत भाव की साक्षिता एक प्रकार के भग्नावरण आत्मबोध को व्यक्त करती है, जिसे रस अथवा अतर्क्य मूल्य की स्थिति कहा जा सकता है।

रचना का साक्षात् उपादान शब्द, रूप, ध्वनि आदि प्रत्यक्ष विषय होते हैं। रचना उनमें समवेत आकार-प्रकार से तुलनीय है। रचना और रचना के अव्यवहित अर्थों से मूल्य व्यंग्य होता है। मूल्यों का व्यंग्य होना उनके ज्ञाप्यत्व और कार्यत्व दोनों का निषेध करता है। सृजन स्पष्ट ही न तो लौकिक अर्थ में निर्माण है, न प्रामाणिक ज्ञान। सृजन मूल्य-व्यंजक प्रतीकों की योजना है, व्यंजक व्यापार संस्कारों की अपेक्षा करता है। संस्कार व्यक्तित्व और परिवेश पर निर्भर करते हैं। चूँकि साहित्यिक अभिव्यक्ति सामाजिक सम्प्रेषण के लिए होती है, व्यक्तित्व उसमें या तो स्वयं एक व्यंग्य मूल्य के रूप में प्रासंगिक होता है अथवा वह रचना की ही अभिव्यक्ति का नामान्तर होता है। प्रेक्षक, पाठक अथवा सहृदय का व्यक्तित्व वहीं तक प्रासंगिक हो सकता है जहाँ तक भाषास्पर्शी सामाजिक संस्कारों से वे संस्कारित हैं। निष्कर्ष यह हुआ कि संस्कारों का मूलाधार सामाजिक परिवेश ही है, किन्तु परिवेश शिक्षा एवं अन्य परम्पराओं से ही बनता है। इस परिवेश के कितने भाग से कौन व्यक्ति किस तरह प्रभावित होता है, यह उस व्यक्ति के निर्माण के लिए महत्त्वपूर्ण है, किन्तु भाषानिहित व्यंजकता-व्यापार के लिए प्रासंगिक नहीं है।

जैसे परिवेश ऐतिहासिक-सामाजिक परम्परा का आसन्न कोण है, उसी प्रकार सामाजिक यथार्थ भी परम्परा के ही परिप्रेक्ष्य में सार्थक होता है। वर्तमान का बोध इतिहास की स्पर्श-रेखा के समान है और वह अतीत के बोध के बिना ठीक प्रकार से लक्षित नहीं हो सकती। समाज एक निरन्तर प्रवाह है। इसमें उपस्थित यथार्थ उन हेतुओं और आदर्शों से विच्छिन्न नहीं होता जिनसे सामाजिक कार्यकलाप प्रेरित होता है। इस सामाजिक यथार्थ का निरूपण किसी औसत घटना या चरित्र के द्वारा

हो सकता है, यह भी संदिग्ध है। जैसाकि सांख्यिकी में सुविदित है, जहाँ किसी जन-समुदाय में आन्तरिक भेद बहुत अधिक होता है वहाँ औसत से उसका ठीक निरूपण नहीं किया जा सकता।

अपूर्व निर्माण के रूप में सृजन जिस अपूर्वता का आक्षेप करता है वह भी परम्परा के संदर्भ में ही ठीक-ठीक समझी जा सकती है। अपूर्वता का क्षेत्र रचना अथवा मूल्य दोनों का ही हो सकता है। यह ध्यातव्य है कि मूल्यों के क्षेत्र में अपूर्वता का उन्मेष सामाजिक इतिहास में होता है। साहित्य में उसका अनुवाद मात्र होता है। जीवन-दर्शन, सामाजिक मूल्य, विश्व दृष्टि, सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य आदि के क्षेत्र में मौलिकता अथवा अपूर्वता का दावा ललित साहित्यकार के लिए प्राय: एक अतिवाद ही होता है और इस अतिवाद का जन्म नितान्त आधुनिक है। शेली ने कवि को नबी कहा था। स्वयं शेली की कविता को क्रांति का दूत ही कहा जा सकता है, क्रांति का द्रष्टा नहीं कहा जा सकता। क्रांति के द्रष्टा का पद रूसो के लिए ही सुरक्षित है। इसी प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के भारत के आदि द्रष्टा राममोहन राय थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर उन्हीं के दर्शन की प्रेरणा को अपने काव्य में चरितार्थ करते हैं। तुलसीदास का परमार्थ-दर्शन और जीवन-दर्शन एक अविच्छिन्न प्राचीन परम्परा को व्यक्त करता है। सार्त्र के उपन्यास अवश्य ही सार्त्र के दर्शन को व्यक्त करते हैं, पर सार्त्र मूलत: दार्शनिक विचारक थे, जो उनकी लेखकीय भूमिका से विविक्त है। वैसे यह आधुनिक युग का एक अन्दाज है कि हर एक व्यक्ति मौलिकता का दावा करता है। किन्तु यह दावा उतना ही गहरा होता है जितना उनकी वेशभूषा एवं बोलचाल के अन्दाज का वैशिष्ट्य है। विद्या के क्षेत्र में यह शोध एवं अनुसंधान का युग है। वैज्ञानिक अनुसंधान में प्रयत्नपूर्वक नयी उपलब्धियों को परम्परागत सिद्धांतों के द्वारा समझने का प्रयत्न किया जाता है और उतनी ही नवीनता स्वीकार की जाती है जितनी अनिवार्य हो, किन्तु मानव-विज्ञान के क्षेत्र में चमत्कारी नयी उपलब्धियों के अभाव में भी आग्रहपूर्वक नयी अभिकल्पनाएँ प्रस्तुत की जाती हैं क्योंकि उनका प्रत्यक्षीकरण के द्वारा समर्थन अथवा खण्डन प्राय: प्राय: संभव नहीं होता है। परिणाम यह है कि मानवीय सामाजिक विज्ञान नाना परस्पर विरूद्ध धारणाओं से भरपूर हैं। दर्शन, साहित्य और कला के क्षेत्रों में भी वैयक्तिकता और मौलिकता की खोज अल्प से अल्पतर काल स्थायी रचनाओं को जन्म देती है।

X X X

जिस परिवेश में मेरी शिक्षा-दीक्षा हुई वह अतिप्रश्न-तर्जन से अकुंठित जिज्ञासा, विचार और तर्क का था। उसकी नियामकता गुरुजनों के प्रति श्रद्धा में अथवा उनके निर्देशन में नहीं थी। उसकी एक प्रकार की अन्तर्नियामकता उस समय की उत्कट देश-भक्ति की धारा में अवश्य थी। एक ओर दयानन्द और श्रद्धानन्द के तर्कों का आकर्षण था, दूसरी ओर विवेकानन्द का वेदान्त विश्वधारा संस्कृति का उदात्त निदर्शन प्रतीत होता था। तिलक और अरविन्द के जीवन और दर्शन के परिचय से लगता था कि क्रांति की राष्ट्रीय अभीप्सा को चिरन्तन ज्ञान और योग की शक्ति प्राप्त होगी। गांधी जी के हिन्द-स्वराज और सत्याग्रह से लगता था कि तप की शक्ति उद्योग-तंत्र और साम्राज्य-तंत्र का सफल प्रतिरोध कर सकेगी। स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि जिस राष्ट्र में अपनी निष्ठा के लिए दु:ख झेलने की शक्ति है वह राष्ट्र कभी पराजित नहीं रह सकता। ऐसा लगता था कि गांधी जी के नेतृत्व में इतिहास इस नैतिक सत्य का साक्षी होगा।

उस समय राष्ट्रीयता, परम्परा और आध्यात्मिकता एक सूत्र के ही तीन गुण प्रतीत होते थे। पर इसके साथ ही दूसरी ओर रानाडे और गोखले एवं उनके अनुयायी, जिनमें अधिकांश विश्वविद्यालयीय प्राध्यापक भी शामिल थे, एक दूसरे प्रकार की राष्ट्रीय धारा को प्रावाहित करते थे जिसका आधार तात्कालिक पश्चिमी उदार व्यक्तिवादी विचारधारा थी। इस विचारधारा के अनुसार उदारवादी अर्थनीति और राजनीति के द्वारा लौकिक मानवीय हितों का साधन ही राष्ट्रीय लक्ष्य होना चाहिए। इस दृष्टि से न

केवल पश्चिमी विज्ञान ही उपादेय था, जिसका कि सभी मनीषियों ने समर्थन किया था, बल्कि पश्चिमी सामाजिक, राजनीतिक ज्ञान भी भारत के भविष्य-निर्माण के लिए आवश्यक था।

फ्रांसीसी क्रांति का आकर्षण तो टीपू और डेरोजियो के समय से ही चला आ रहा था। मनीषियों के द्वारा पारस्परिक आदर्शों के परिष्कार के प्रस्तुत होने पर इन दोनों धाराओं के संगम को शिक्षित और प्रबुद्ध वर्ग ने सहज ही स्वीकार किया और यह निष्ठा क्रमश: फैल गयी कि सहिष्णुता और अहिंसा जैसे पारस्परिक नैतिक आदर्शों के साथ स्वाधीनता, समता और प्रगति जैसे आधुनिक आदर्शों के समन्वय से ही सही राष्ट्रीय विचारधारा बन सकती है। उदारवादी चिन्तन के समानान्तर समाजवादी और साम्यवादी चिन्तन भी तीसरे दशक में अपेक्षाकृत अल्पसंख्यक लोगों को प्रभावित कर रहा था।

जिन दिनों मैं विश्वविद्यालय में पढ़ता था देश में माहौल राजनीतिक सरगर्मी का था। मुझे लगता था कि राजनीतिक विचारधारा के बुनियादी सिद्धान्तों की परीक्षा और उसकी पारम्परिक विचारों से तुलना महत्त्वपूर्ण कार्य है। क्रमश: मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यद्यपि राजनीति सामुदायिक स्वार्थों से प्रेरित होती है, उसके पीछे एक दार्शनिक दृष्टि अवश्य रहती है। भारतीय राजनीतिक चिन्तन की परम्परा के विषय में अपनी अवधारणा को मैंने पीछे जैन राजनीतिक चिन्तन पर लिखी पुस्तक में संक्षेप में उल्लेखित किया है। (शायद यह कहना असंगत नहीं होगा कि इलाहाबाद विश्वविद्यालय में उस समय लिखने और छापने पर किसी प्रकार का आग्रह नहीं था, बल्कि उदासीनता ही थी।) भारतीय आध्यात्मिक परम्परा में बौद्ध परस्परा अनेक प्रकार से आधुनिक के निकट है। उसके निरीश्वरवाद, अनात्मवाद और सामाजिक उदारता ने अनेक आधुनिक भारतीय और पश्चिमी जिज्ञासुओं को आकृष्ट किया है। बौद्ध परम्परा का विशेषतया वेदान्त से क्या सम्बन्ध है, इस प्रश्न पर विचार करते हुए मैंने बौद्ध धर्म और दर्शन पर तथा शंकराचार्य पर कुछ पुस्तकें लिखीं।

मुझे लगता है कि मूलभूत प्रत्यय एक साथ ही अनुभूति की संदर्भ-सापेक्ष व्यावृत्तियाँ भी हैं और अनुभूति में अन्त:प्रतिभासित तत्त्वों के संकेत भी। प्रातिभ अनुभूति का मौलिक प्रकाशन ऐतिहासिक स्तर पर आगमों में अथवा आप्तवाणी में मिलता है। इन अभिव्यक्तियों के विश्लेषण से शास्त्र-रचना होती है और शास्त्रों की अन्वीक्षा से दार्शनिक प्रस्थान जन्म लेते हैं। नाना दर्शनों और शास्त्रों की मौलिक एकता देखने के लिए अनुभूति की नाना भूतियों को और रचना के संदर्भों को देखना आवश्यक है। भारतीय धर्मों और सांस्कृतिक परम्परा के इस समन्वयवादी व्याख्यान का सूत्रपात 19वीं शताब्दी के सांस्कृतिक जागरण से प्रारम्भ हुआ था। यह सांस्कृतिक जागरण स्वाधीनता आन्दोलन को अनुप्राणित करती हुई विचारधारा थी किन्तु इसके साथ यह विचार भी जुड़ा हुआ था कि पाश्चात्य सभ्यता के सर्वोपयोगी उदार तत्त्व अपनाये जायें। इनमें विज्ञान, जनतंत्र सामाजिक समता आदि बौद्धिक और नैतिक उपलब्धियाँ शामिल हैं। संक्षेप में, प्राचीन भारत और आधुनिक युग के उदार और प्रगतिशील धाराओं को मिलाने के प्रयत्न से नयी राष्ट्रीय निष्ठा बनी थी। उदारता से मेरा तात्पर्य उस दृष्टि से है जो अपने आदर्शों के अनुसार ढालने के लिए तैयार हो और दूसरों के आदर्शों के प्रति सहनशील हो। विवेकानन्द ने वेदान्त को सार्वभौम धर्म के रूप में प्रतिपादित किया और हिन्दू धर्म को वैज्ञानिक योग-विद्या पर आधारित धर्म बताया। राधाकृष्णन् ने हिन्दू धर्म की मूलभूत आस्था को प्रातिभ साक्षात्कार पर आधारित बताया। श्री अरविन्द और रमण महर्षि ने भी आध्यात्मिक सत्य को स्वयं साक्षात्कार के योग्य विज्ञापित किया। रामकृष्ण परमहंस से अरविन्द और रमण महर्षि तक की परम्परा के अनुसार धार्मिक निष्ठा, अन्ध-विश्वास या पुराणपन्थी कट्टरता पर आधारित न होकर वैज्ञानिक विधि से प्रत्येक के द्वारा प्राप्य साक्षात्कार पर आधारित है। कुमार स्वामी ने सनातन आध्यात्मिक दर्शन के आलोक में भारतीय कला के तत्त्वों की व्याख्या की। अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने पारस्परिक भावों का

चित्रकला में नया उन्मेष प्रकट किया। डॉ. भगवानदास ने स्मृतियों की आधुनिक परिवेश में व्याख्या की। डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल ने जनतंत्र के तत्त्वों को प्राचीन इतिहास में उजागर किया। गांधी जी ने पारस्परिक निष्ठा पर आधारित नैतिक चेतना को सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में व्यावहारिक रूप देने का भागीरथ प्रयत्न किया। किन्तु यह प्रयत्न सब क्षेत्रों तक नहीं पहुँचा और न इसने सरकारी शिक्षालयों और विश्वविद्यालयों को गम्भीरता से प्रभावित किया।

यह आशा कि स्वाधीन भारत में उसकी प्राचीन परम्परा का गौरव फिर से प्रतिष्ठित होगा और भारत विश्व में अपना सही स्थान पाएगा, एक दुराशा सिद्ध हुई है। पिछले पचास वर्षों में सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि में बहुत अन्तर आ गया है। स्वाधीनता के पहले विदेश में भारत को ऐसी काल-जर्जरित पुरानी सभ्यता माना जाता था जो सामाजिक कुरीतियों, अंध-विश्वासों और जातीय वैमनस्य में निमग्न है। उसके लिए उद्धार का मार्ग केवल अंग्रेजी-शिक्षा, विचारधारा और गतिशील अंग्रेजी शासन की छत्रछाया थी। इस धारणा का स्वाधीनता के बाद क्रमश: विरोध क्षीण होता गया है। अब सरकारी स्तर पर भारतीय यह मानते हैं कि भारत उसी प्रकार का विकासशील देश है जैसा पश्चिमी राष्ट्र उसे बताते हैं। जातीय और साम्प्रदायिक भेदों से जर्जर भारत का एकमात्र मार्ग है विकसित देशों के अर्थतंत्र से जुड़कर अपना आर्थिक विकास सम्पन्न करना। न केवल यह एक नये उपनिवेशवाद का स्वीकार है बल्कि स्वाधीनता-आन्दोलन की धरोहर खोकर एक पूरी तौर से औपनिवेशिक मनोवृत्ति का स्वीकार है। प्राय: सत्तर वर्ष पूर्व आचार्य कृष्णचंद्र भट्टाचार्य ने बौद्धिक स्वराज्य की ओर बढ़ने का नारा लगाया था। किन्तु जैसे गांधी जी का हिन्द स्वराज भुला दिया गया है ऐसे ही बौद्धिक स्वराज्य की बात भी भुला दी गयी है। भारतीय जागरण के मनीषी और स्वाधीनता संग्राम के बलिदानी भी भुला दिये गये हैं। नवजागरण को अंग्रेजी शिक्षा की प्रेरणा मात्र मानकर और स्वाधीनता संग्राम के मर्म को केवल बदलती आर्थिक और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का परिणाम मान कर प्रस्तुत करने से समग्र डेढ़ सौ वर्षों के इतिहास का जादुई रूप उड़ जाता है, विश्व-इतिहास का एक अपूर्व चमत्कारी परिच्छेद सामान्य ऐतिहासिक अनिवार्यताओं में लुप्त हो जाता है। भारत में अब फिर से जोर-जोर से सभी अंग्रेजी सीखने में लगे हैं। शोधार्थी विदेश से उपाधियाँ प्राप्त करने में, अध्यापक विदेश में अपनी कृतियों को प्रकाशित-अनूदित कराने में और सामान्यतया सभी विचारक तात्कालिक विचारधाराओं के अनुसरण और उद्धरण में लगे हैं। इस बदले हुए वातावरण में भारतीय संस्कृति की चर्चा एक प्रकार का आग्रह मात्र या राजनीतिक चाल प्रतीत होती है। ऐसी स्थिति में जो इस बात की आकाँक्षा रखते हैं कि भारत केवल पश्चिमी सभ्यता के सागर में लुप्त एटलान्टिस या फिर फिलीपीन्स, मैक्सिको आदि के समान न बने और जिन्हें भारत की अपनी नियति पर विश्वास है कि भारत अक्षय अध्यात्मविद्या का स्रोत है उनके लिए यह अनिवार्य है कि वे 1947 के पहले उजागर हुए मार्ग पर चलना बन्द न करें और भारतीय परम्परा के प्रश्न को आजकल के परिवेश में फिर से जाँचें।

मुझे इस संदर्भ में दो विपरीत कोटियों का सामना करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। एक ओर पुरानी परम्परा को बीते युगों का ऐतिहासिक चरित्र मात्र समझने का दृष्टिकोण है, दूसरी ओर तथाकथित अनुवर्तमान पुरानी परम्परा को ही आद्य और सनातन संस्कृति मानने की दृष्टि है। पहले के उदाहरण के रूप में मैक्समूलर और खोंडा जैसे पश्चिमी प्राच्यविद् अथवा रूबेन, कोसाम्बी और देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय जैसे वामपंथी इतिहासकारों के नाम लिए जा सकते हैं, दूसरी दृष्टि के उदाहरण कट्टरपंथी शास्त्री है जो मध्यकालीन विचारों को ही वैदिक संस्कृति मान लेते हैं। वस्तुत: परम्परा के अन्दर विकास और ह्रास, सुधार और पुनर्जीवन युग-युग में होता रहता है। स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने योग-परम्परा के लोप और उद्धार का उल्लेख किया है। भगवान बुद्ध ने अपने धर्म के ह्रास की भविष्यवाणी

की है। खोज से यह सिद्ध होता है कि परम्परा का वर्तमान रूप उसका मूल रूप नहीं है; तो भी परम्परा की अविच्छिन्नता और जीवन्तता के कारण उस मूल रूप को पहचानने के लिए उसके वर्तमान रूप का आलोचनात्मक परिशीलन अपरिहार्य है।

भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में दो सजातीय पर विलक्षण धाराओं का संघर्ष और समन्वय देखा जाता है। प्राचीन काल में ये धारायें ब्राह्मण और श्रमण धाराओं के नाम से प्रसिद्ध थीं। मध्यकाल में सिद्ध सन्तों की परम्परा में उदारवादी दृष्टिकोण संरक्षित रहा। इसी चिरन्तन उदार आध्यात्मिक धारा से उन्नीसवीं शताब्दी का नवजागरण भी जन्मा। अंग्रेजियत की चुनौती उसके समक्ष एक निमित्त मात्र थी, न कि मूल प्रेरणाभूत अनुकरणीय आदर्श।

भारतीय संस्कृति एक मिली-जुली संस्कृति है, इस मत का क्षितिमोहन से दिनकर तक अनेक इतिहासकारों, नृतत्त्व वेत्ताओं और अन्य बुद्धिजीवियों ने प्रतिपादन किया है। इस मत को सरकारी समर्थन भी प्राप्त हुआ। भारतीय सभ्यता के लिए यह कहना अवश्य ही सही है कि इसमें प्रजाति, भाषा और धर्म पर आधारित अनेक समुदायों का संकर और समन्वय देखा जा सकता है, किन्तु प्रजातीय भेद भारत में कभी भी महत्त्वपूर्ण नहीं था, भाषाएँ संस्कृत के स्वर्ण सूत्र से एक परिवार में बँधी हुई हैं, धर्मों में सहिष्णुतापूर्वक स्वायत्तता ही रही है। इन सब भेदों की पृष्ठभूमि के रूप में एक चिरन्तन आध्यात्मिक संस्कृति बहुमुखी, द्वन्द्वात्मक और अंशतः असमन्वित होते हुए भी अपने केन्द्रीय साध्यों और साधनों में अपनी मौलिकता को अक्षत रखती है। अनेकता में एकता को देखना इस संस्कृति की विशेषता है।

भारतीय संस्कृति और अन्य संस्कृतियों के अभिसम्बन्ध के विषय में एक पश्चिम-केन्द्रित मत है जो विश्व-सभ्यता में भारत को मुख्यतया ऋणी ही पाता है। पश्चिमी इतिहास-लेखन के इस मत का यूनेस्को की प्रेरणा से लिखित बृहत्काय विश्व-इतिहास में दृष्टान्त देखा जा सकता है। कुछ भारतीय इतिहासकार भी इस इतिहास-लेखन में शामिल हैं, जिनके अनुसार सभ्यता की मुख्य धारा पश्चिम में विकसित हुई और हो रही है। अन्य सभ्यताएँ उसकी सीमित सहायक मात्र रहीं हैं। वस्तुतः यह दृष्टिकोण आग्रह और भ्रांतियों पर आधारित है। निश्चय ही एक मूल मानव-संस्कृति को स्वीकार करना होगा। किन्तु वह सनातन और आदर्श तत्त्वों की विधा की परम्परा है जो ऐतिहासिक स्तर पर अनेकधा विभक्त हो गई है और अंशतः एक विपरीत अविद्यामूलक परम्परा से आच्छन्न मिलती है। इसीलिए इतिहास के क्रम में स्वार्थ और सत्ता पर आधारित आसुरी सभ्यताओं का ही प्रताप लक्षित होता रहा है। संस्कृति और सभ्यता का जो भेद अनेक इतिहासकारों ने किया है वह इस संदर्भ में विचारणीय है। एक आध्यात्मिक धारा के रूप में भारतीय संस्कृति के नाना चरणों में अविच्छिन्नता बनी रही है। इस अध्यात्म-साधना के स्तर पर सभ्यता सामाजिक विधान, नीति और सांस्कृतिक कृतित्व के रूप में अधिष्ठित है। सभ्यता के इन स्तरों पर भारतीय परम्परा का अनेक परम्पराओं से ऐतिहासिक सम्बन्ध और आदान-प्रदान बराबर बना रहा है। किन्तु सम्प्रेषण की मर्यादाओं के कारण यह आदान-प्रदान पिछले युगों में बहुत गहराई और विस्तार प्राप्त नहीं कर सका। वर्तमान युग में शिक्षा-व्यवस्था के सरकारीकरण से और संचार-माध्यमों के बाल वर्ग पर प्रभाव के कारण अब असंस्कृति और अपसंस्कृति के फैलने से क्या दूरगामी परिणाम होंगे यह कह सकना कठिन है।

यह बहु प्रचलित मत है कि समाज स्वायत्त और मूलभूत संस्थान है जिसका विशेषण संस्कृति है। कुछ विचारक समाज के विकास-क्रम को एक स्थिर सार्वभौम योजना मानते हैं और सांस्कृतिक विशेषताओं को समाज-रचना के प्रकार्य। वस्तुतः संस्कृति समाज की पहचान है और प्राण भी।

मानव-समाज दस्यु-समुदाय की तरह सिर्फ स्वार्थों के संघर्ष एवं उपयोगिता परक सहयोग से नहीं बनता, उसके लिए भावना और निष्ठा का आधार चाहिए। नैतिक भावना और निष्ठा ही समाज को जोड़ सकती है। इन्हीं को पारम्परिक चिंतन में धर्म कहा जाता है और वही संस्कृति का अंतरंग है।

संस्कृति-विवेचना में एक बड़ी कठिनाई बनी रहती है सांस्कृतिक शब्दों के यथावत् अर्थ-निर्धारण की। व्याख्याता की अपनी संस्कृति और व्याख्येय संस्कृति के भिन्न होने पर यह कठिनाई बढ़ जाती है। तुलनात्मक संदर्भ में इसी कारण निरर्थक या भ्रामक निष्कर्ष निकाले जाते हैं। उदाहरण के लिए कीथ ने कालिदास की तुलना ऐसे वर्जिल से की है जिसके महाकाव्य से उसका छठा सर्ग निकाल दिया गया हो। संस्कृत काव्यों के अंग्रेजी अनुवादों की नीरसता विदित है। वेद के अनुवादों में वृष शब्द के अनुवाद की कठिनाई स्मरणीय है। वस्तुत: जो शब्द दृश्य पदार्थों के वाचक हैं वहाँ संकेत-ग्रह कठिन नहीं होता, किन्तु सांस्कृतिक पदार्थ स्वयं सिद्ध रूप में प्रत्यक्ष नहीं होते। उनका ज्ञान विशिष्ट सांस्कृतिक साधना और संस्कारों के द्वारा ही सम्भव होता है। इसलिए उसके विषय में लक्ष्य और लक्षण की सापेक्षता सी दिखायी देती है। उदाहरण के लिए ध्वनि सभी सुन सकते हैं किन्तु अपरिचित भाषा के वर्ण या संगीत के स्वरों को सुनते हुए भी सब पहचान नहीं सकते। पहचानने पर भी उसके सौष्ठव का आदर्श स्वर-साधना से ही क्रमश: पर अनन्तिम रूप से स्फुट होता है। यही स्थिति संस्कृति के अन्य विभागों में भी है। धर्म, साहित्य, कला आदि सभी क्षेत्रों में सांस्कृतिक पदों के अर्थ तटस्थतया प्रदत्त नहीं होते। वे सांस्कृतिक साधना की अपेक्षा रखते हैं। जहाँ जितनी अधिक साधना अपेक्षित होती है वहाँ तुलना उतनी ही कठिन हो जाती है।

यह ध्यातव्य है कि संस्कृति के आन्तरिक विभाजन सार्वभौम रूप से नियत नहीं होते। उदाहरण के लिए संस्कृतियों में धर्म और दर्शन का, ज्ञान और विज्ञान का, कानून और रीति का अलग–अलग भेद नहीं किया जाता। सबमें विद्या, कला अथवा साहित्य को समान रूप से विभक्त नहीं किया जाता। प्रकार-विभाजन की इस सापेक्षता को भूलने के कारण अनेक भ्रांतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। उदाहरण के लिए प्राचीन भारतीय साहित्य में ट्रेजेडी और कॉमेडी का विभाजन बुनियादी महत्त्व का नहीं माना जाता था जैसे यूनानी संस्कृति में। चीनी संस्कृति में रूपक और गीति-प्रधान उपरूपकों का भेद महत्त्वहीन है। आधुनिक साहित्य में निंदापरक विधाएँ महत्त्वपूर्ण हैं, नीतिपरक नहीं। मध्यकाल से पश्चिमी यूरोप में श्रद्धा और तर्क की अलग-अलग व्यवस्था किये जाने के कारण थियालॉजी और फिलॉसफी को बिल्कुल अलग माना जाता है। किन्तु इस प्रकार का विभाजन भारतीय शास्त्रों में नहीं दीखता।

संक्षेप में, सांस्कृतिक पद और पदार्थ न तो पारिभाषिक होते हैं, जहाँ लक्ष्य का निर्धारण सर्वथा लक्षण के अनुसार होता है जैसे रेखागणित का बिन्दु, न वे स्वतंत्र प्रत्यक्ष पदार्थ के समान होते हैं जैसे वृक्ष या जल, जहाँ लक्ष्य सुनिश्चित और प्राय: शब्द-निरपेक्ष लगता है। सांस्कृतिक प्रत्ययों और पदार्थों में लक्षण और लक्ष्य की तुल्यता और अन्योन्यापेक्षिता दीखती है क्योंकि दोनों ही एक साधनात्मक अनुभूति पर निर्भर करते हैं। यह ध्यातत्व है कि जहाँ प्राकृतिक पदार्थ चेतना मात्र की अपेक्षा करते हैं, सांस्कृतिक पदार्थ आत्मचेतना की अपेक्षा करते हैं। यही प्रकृति और संस्कृति का अन्तर है। प्रकृति नैसर्गिक मानव-चेतना के लिए प्रदत्तवत् होती है। संस्कृति उसके आत्मबोध की वृत्ति होती है। इस आत्मबोध से स्वगत अभाव और उसके पूरक साध्य की प्रतीति से मानव-चेतना एक अनन्त पर्येषणा अथवा साधना की ओर झुकी रहती है।

वस्तुत: यह द्वन्द्वात्मक साधना-क्रम ही संस्कृति का अंतरंग इतिहास है। किन्तु यह अंतरंग

इतिहास नाना साध्यों और साधनों से न्यूनाधिक रूप से सम्बद्ध होकर और असमंजस धाराओं में विभक्त होने के कारण तथा राजनीतिक, अर्थनीतिक एवं नितान्त व्यक्तित्व-परक कर्म-धाराओं के अनियत प्रवाह के कारण किसी एक निश्चित प्रत्यय-क्रम का समुचित दृष्टान्त नहीं बनता। स्वयं प्रत्ययों के अनूभूति-परतंत्र अथवा कम से कम अनूभूति-प्रकाश्य होने के कारण उनकी स्वत: द्वन्द्वात्मकता के आधार पर भी इतिहास का कोई आदर्श क्रम निर्धारित नहीं होता। इसका परिणाम यह है कि संस्कृति की साधना में लक्षण और प्रतिमान एक अतर्क्य इतिहास के संदर्भ और क्रम से जकड़े रहते हैं। वस्तुत: चित्त ही एकमात्र वस्तु है जो स्वरूप से ऐतिहासिकता का निदर्शन करती है, क्योंकि चित्त प्रतिक्षण अपने अनुभव से बनता रहता है। इसीलिए चित्त के अनुसंधान के नाते कोई भी सांस्कृतिक साधना ऐतिहासिकता का अतिक्रमण नहीं कर सकती, यह शर्त साहित्य और कला के सृजन पर भी लागू होती है।

***

पुनर्जन्म की भारतीय अवधारणा

वस्तुत: पुनर्जन्म की अवधारणा को 'भारतीय' पद से विशेषित करना एक अनावश्यक पुनरुक्ति है क्योंकि पुनर्जन्म की अवधारणा का मूल भारतीय ही है। उसकी यदाकदा अन्यत्र प्रतीति होते हुए भी वे सब प्रतीतियाँ भारतीय मूल पर ही आधारित मानी जानी चाहिए।[1] इस संदर्भ में यह स्मरणीय है कि पुनर्जन्म की अवधारणा और्ध्वदैहिक जीवन मात्र की अवधारणा नहीं है। आदिम काल से ही मनुष्य को यह आभास था कि मृत्यु ही जीवन का अन्त नहीं है। मृत्यु के बाद भी एक प्रकार का जीवन शेष रहता है।[2] स्थूल शरीर के नष्ट होने पर भी मनुष्य की सूक्ष्म रूप से सत्ता बची रहती है। इस सूक्ष्म सत्ता को प्राय: जीव, प्राण, जीवात्मा, सूक्ष्म देह, लिंग देह आदि नामों से कहा जाता था।[3] इस लोक में मनुष्य ने जीवन किस प्रकार बिताया है, उसका नैतिक आचार अथवा धार्मिक अनुष्ठान कैसे रहे हैं, इस पर उसके मृत्यु के बाद के जीवन की विशेषता निर्भर करती। इस लोक का आचारानुष्ठान परलोक का निर्धारण करता है। इस प्रकार की धारणाएँ बहुत से प्राचीन समाजों और जातियों में प्रचलित थी।[4] सभी धर्मों में ऐसी धारणाएँ मिलती है। वस्तुत: मृत्यु की प्रतीति से जनित संवेग ही सब धर्मिक खोज की मूल प्रेरणा है।[5] एक ओर जीवन के नानाविध कार्य-कलाप और उपभोगों की चकाचौंध, दूसरी ओर मृत्यु का दुर्निवार, सर्वापहारी अवसान। मृत्यु का भय न्यूनाधिक रूप में सर्वव्यापी है और सभी धर्म और्ध्वदैहिक जीवन और परलोक की कल्पना से मनुष्य को एक प्रकार की अमरता का आश्वासन देते हैं। उचित धार्मिक अनुष्ठान से मृत्यु के बाद भी मनुष्य सुख से जी सकता है, यह उनका आश्वासन है।

किन्तु पुनर्जन्म की अवधारणा सिर्फ इतनी नहीं है। वह एक सुनिश्चित सिद्धान्त है जो न भावनामूलक आशा है, न श्रद्धामूलक प्रत्यय,न तार्किक कल्पना मात्र। पुनर्जन्म के सिद्धान्त की प्राचीनकाल में प्रचलित आख्या संसारवाद थी और उसके अन्तरंग थे कर्मवाद और निवृत्तिधर्म। मानवीय सत्ता जीव रूप में अमर है और अपने कर्मों के अनुसार जन्म-मरण के अनादि चक्र में पड़ी हुई है। उसकी मुक्ति का मार्ग संसार से निवृत्ति का मार्ग है। इस सिद्धान्त का आधार भावनात्मक, श्रद्धात्मक या तार्किक कल्पना न होकर योग-जन्य साक्षात्कार था।[6] पुनर्जन्म की अवधारणा अनुभूतिसिद्ध थी और योग-साधन की परम्परा में जन्मी थी। यद्यपि योग और तंत्र बहुत प्रकार के हैं और उनके प्राणसाम्य अथवा भावोत्कर्ष पर आधारित रूप अनेक समाजों में पाये जाते हैं[7] तथापि देहादि समस्त उपाधियों का एक निश्चित क्रम से विवेकात्मक अतिक्रमण करने वाले अध्यात्मयोग की परम्परा भारत में विशेष रूप से पनपी, ऐसा प्रतीत होता है। उसी परम्परा के परिवेश में कर्मवाद, संसारवाद और नैष्कर्म्य का विकास हुआ। पुनर्जन्म की अवधारणा के योगमूलक होने के कारण ही उसका प्राय: सभी भारतीय सम्प्रदायों में समान रूप से स्वीकार था। अनन्त वाद-विवाद के चलते हुए भी पुनर्जन्म के ऊपर कोई मौलिक मतभेद नहीं था। जीव का स्वरूप क्या है, कर्म का स्वरूप क्या है, कर्म-फल का दाता कौन है, इत्यादि प्रश्नों की दार्शनिक व्याख्याएँ अवश्य ही अलग ढंग से मिलती हैं, पर दार्शनिक व्याख्याओं के कल्पना से अविलग होने के कारण उनमें ऐकमत्य असम्भव है। पुनर्जन्म का मूल सिद्धान्त

दार्शनिक तत्त्व न होकर तथ्यात्मक है और अनुभूति का विषय है। पर सभी तथ्यों के विषय में तात्त्विक प्रश्न उठाये जा सकते हैं और इन प्रश्नों के उत्तर दार्शनिक चिन्तन और विवादों के घेरे से नहीं निकल सकते। पुनर्जन्म के योग द्वारा सत्यापनीय वैज्ञानिक सिद्धान्त को उससे जुड़े हुए व्याख्यात्मक दार्शनिक सिद्धान्तों से अलग रखना आवश्यक है और दोनों को ही मात्र परलोक या और्ध्वदैहिक जीवन की धारणा से।

इस प्रकार तथ्य और अवधारणा के अनेक स्तर निश्चित किये जा सकते हैं। 'मनुष्य एक मरणशील प्राणी है' यह सार्वजनिक प्रत्यक्ष का गोचर तथ्य है। मनुष्य की सूक्ष्म सत्ता मृत्यु के बाद भी बनी रहती है और अपने वास्तविक स्वरूप में मनुष्य अमर है, यह भी तथ्य है, किन्तु इस तथ्य का आधार अलौकिक ज्ञान और उस पर आधारित नाना आगमिक परम्परायें हैं। मूलत: योग पर आधारित परम्परा में पुनर्जन्म एक वैज्ञानिक तथ्य के रूप में निर्धारित हुआ। इस विज्ञान को विषय बनाकर अनेक दार्शनिक मत उद्भावित हुए। दूसरी ओर जीव की अमरता और और्ध्वदैहिक सत्ता को तथ्य के रूप में स्वीकार कर पुनर्जन्म के तथ्य को बिना देखे अनेक शास्त्रीय व्याख्याएँ नाना धर्मों में प्रचलित हुई।

इस प्रकार टाइलर जैसे नृतत्त्ववेत्ता का यह मत कि पुनर्जन्म की अवधारणा आदिम जन-जातियों के अन्ध-विश्वास में उपजी, एक भ्रांति मानी जानी चाहिए।[८] प्रो. गार्वे ने यह स्पष्ट कर दिया है कि किसी आदिम जन-जाति में मरणोत्तर जीवन की कल्पना इससे अधिक नहीं मिलती कि मनुष्य मृत्यु के बाद किसी पशु या पौधे के रूप में बना रहे।[९] मिश्र और पश्चिम एशिया की पुरानी सभ्यताओं मे मरने के बाद जीवात्मा का परलोकवास स्वीकार किया जाता था किन्तु इस लोक में फिर जन्म नहीं माना जाता था। यह माना जाता था कि धार्मिक अनुष्ठान, बलिदान आदि से पारलौकिक जीवन इस जीवन के नमूने पर गढ़ा जा सकता है। इन धारणाओं में सूक्ष्म जीव–सत्ता का स्वीकार होते हुए भी उसे स्थूल देह से स्वतन्त्र जीवन का अधिकारी नहीं माना जाता था। पर यह माना जाता था कि मृत्यु के बाद जीव को आनुष्ठानिक कौशल से स्थूल देहोचित भोग उपलब्ध हो सकते हैं। प्राचीन यूनानियों में मरणोत्तर जीवन प्रेतलोक में निवास माना जाता था और प्रेतलोक एक छायोपम लोक समझा जाता था।[१०] उसके लिए कोई उत्कण्ठित नहीं हो सकता था। इस सभी धारणाओं में सूक्ष्म जीव-सत्ता स्थूल देह की छाया या प्रतिबिम्ब के समान मानी जाती थी और इस रूप में अमरता तभी वाँछनीय मानी जाती थी जब किसी प्रकार से स्थूल देह के सायुज्य के द्वारा उसमें अभीष्ट भोग की प्राप्ति सम्भव हो। जीव की स्थूल-परतन्त्रता और स्थूल की पुनरभीप्सा और लौकिक भोगों के प्रतिभान पर पारलौकिक सुख की कल्पना इस समस्त विचारविश्व में केन्द्रीभूत थे। इसीलिए होमर के वीरों के लिए यही जीवन वास्तविक था और शायद इसीलिए ईसा मसीह की अमरता की शहादत के रूप में मृत्यु के अनन्तर उनके सदेह स्वर्ग-गमन की कल्पना प्रस्तुत की गयी। प्रचलित मुस्लिम धर्म के अनुसार भी एक दिन सभी मृत व्यक्तियों का सशरीर उत्थान होगा।

इन सभी धारणाओं से पुनर्जन्म की धारणा नितान्त भिन्न है। उसमें स्थूल देह और उसके भोग वाँछनीय नहीं रहते। वे बन्धन और दु:ख के नाना रूप बन जाते हैं। परलोक और उसका सूक्ष्म जीवन, स्वर्ग और उसके सुख, सभी हेय माने जाते हैं। अमरता स्वरूपावस्थान मानी जाती है, न कि भोगों की अनन्त शृंखला। सुख-भोग के स्थान पर वाँछनीय होती है मुक्ति और मुक्ति का साधन होता है ज्ञान न कि किसी प्रकार का आनुष्ठानिक कर्म। जहाँ परलोक में मरणोत्तर जीवन की अन्य प्रचलित धारणाएँ इस लोक की कल्पना का ही क्षेत्र-विस्तार हैं, पुनर्जन्म का सिद्धान्त आत्मा, कर्म और पुरुषार्थ के निगूढ़ तत्त्वों के विमर्श पर आधारित है।

इस संदर्भ में ऐतिहासिक तथ्य के रूप में उल्लेखनीय है कि प्राचीनतम वैदिक साहित्य में पुनर्जन्म की चर्चा नहीं मिलती है।[११] उसमें मरणशील मनुष्य और अमर देवताओं का विभाजन आत्यन्तिक

है। ऋत और सत्य का पालन करने वाले मनुष्य एक नये सूक्ष्म शरीर से पितृलोक में निवास करते हैं।[12] पितृलोक ही यमलोक है।[13] वहाँ के जीवन में सुख की संभावना होते हुए भी उसकी वाँछनीयता मृत्यु की अनिवार्यता के कारण ही है। इस लोक में सुखी जीवन ही मनुष्य का मुख्य लक्ष्य है, न कि परलोक में[14] "जीवेद् शरद:शतम्" ।[15] ब्राह्मण-साहित्य में यज्ञ-विधि परलोक में सुख-प्राप्ति के साधन के रूप में प्रपंचित है। "स्वर्गकामो यजेत्", यह उसके चिन्तन-वितान का प्रधान सूत्र है।[16] परलोक में पुनर्मृत्यु की सम्भावना का डर भी उस युग में उद्‌भावित हुआ और यह कल्पना प्रस्तुत हुई कि सूर्य के इस पार के सभी लोक मृत्यु के अधीन हैं।[17] उपनिषदों में मनुष्य के स्वरूप की खोज ने इस वैचारिक स्थिति में एक क्रांति ला दी। मनुष्य की आत्मा उसकी देह या अंग नहीं है, न स्वप्नविहारी और प्रतिबिम्बोपम सूक्ष्म देह ही है।[18] मनुष्य की आत्मा स्वरूपत: नित्य है, अज और अमर है। नित्य आत्मा देही कैसे बनती है, यह प्रश्न स्वाभाविक है। इसका एक ही उत्तर सम्भव है कि अज्ञान से ही आत्मा और देह के तादात्म्य की प्रतीति होती है। इस प्रकार देह और मन एवं उनके धर्म आत्मा के लिए आगन्तुक उपाधिमात्र बन जाते हैं। इस स्थिति में आत्मा का सम्बन्ध केवल मानव देह से नहीं रहता। सभी योनियों और देहों से उसका सम्बन्ध केवल मानव देह से नहीं रहता। सभी योनियों और देहों से उसका सम्बन्ध बराबर ही तटस्थ रूप से रह सकता है। इस प्रकार देहादि से अछूती और स्वरूपत: निर्विकार आत्मा का नाना योनियों में देहादि से सम्बन्ध अज्ञान के द्वारा घटता है। परलोक का सूक्ष्म जीवन उसके लिए उतना ही अज्ञान-जनित है जितना कि इस लोक का स्थूल जीवन। लोक और लोकोत्तर में विचरण उसके लिए बन्धन मात्र है। उसकी वास्तविक स्थिति विदेह मुक्ति ही है।

आत्मा और पुरुषार्थ के विषय में इन विचारों के विकसित होने पर भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त के आविर्भाव के लिए वैदिक, औपनिषदिक विचारधारा के लिए प्राचीन मुनि-श्रमण धारा से सम्पर्क आवश्यक था।[19] उपनिषदों के ही कुछ तत्त्व सन्दर्भों में इस सम्पर्क का पता चलता है। जनक-सभा में जब याज्ञवल्क्य से जारत्कारव आर्तभाग ने प्रश्न किया कि मृत्यु के बाद क्या शेष रहता है तो याज्ञवल्क्य ने कर्म के तत्त्व का उल्लेख किया।[20] एक दूसरे संवाद में स्वयं याज्ञवल्क्य ने प्रश्न किया कि मृत्यु के बाद किस मूल से पुनर्जन्म होता है। इस प्रश्न का उत्तर उपस्थित विद्वानों में से कोई न दे सका।[21] एक अन्य संदर्भ में यह स्पष्ट कहा गया कि काम और कर्म ही पुनर्जन्म के कारण हैं।[22] इससे स्पष्ट है कि कर्मवाद ही पुनर्जन्म के सिद्धान्त का मूल है। कर्मवाद श्रमण-परम्परा का प्रधान तत्त्व था। उपनिषदों के काल से पुनर्जन्म का सिद्धान्त ब्राह्मण और श्रमण दोनों ही परम्पराओं में स्वीकृत हुआ। उनमें मूल अन्तर यह था कि आस्तिक ब्राह्मण-परम्परा में कर्म का फल-दाता ईश्वर माना जाता है जबकि नास्तिक श्रमण-दर्शनों में कर्म स्वयं अपने फल का दाता होता।

पुनर्जन्म विषयक प्राचीन व्याख्याओं पर विचार करने से पहले इस बात पर विचार करना आवश्यक है कि पुनर्जन्म के विषय में क्या प्रमाण है। भारतीय धर्म के अतिरिक्त और किसी भी धर्म में इस प्रकार की धारणा नहीं मिलती। बुद्धिवादी दर्शन और भौतिकवादी विज्ञान दोनों ही इस प्रकार की अवधारणा को अयुक्त मानते हैं। इस प्रकार पुनर्जन्म के पक्ष में न तो लौकिक प्रत्यक्ष, न बुद्धि और न अन्य धर्मों के आगम या उनसे अनुमत श्रद्धा ही प्रमाण के रूप में प्रस्तुत की जा सकती है। ऐसी स्थिति में सिर्फ भारतीय आगमों के आधार पर पुनर्जन्म पर विश्वास कहाँ तक युक्तियुक्त होगा ?

पहले तो प्रमाणों के विषय में ही कुछ विचार आवश्यक है। बाहरी जगत् के पदार्थ ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के आधार पर प्रमाणित किये जाते हैं। घट-पट आदि स्थूल पदार्थों को हम अभ्यस्त प्रत्यक्ष से ही सत्य मान लेते हैं, किन्तु उनके आधारभूत परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थों का इस प्रकार का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। भौतिकी की प्रगति अधिकाधिक ऐसे तत्त्वों को प्रकाशित करती है जिनके दृश्य चित्र की भी

कल्पना नहीं की जा सकती, जैसे कि कण और तरंगों की एकात्मकता या कि सम्भवना-तरंगे या कि स्वरूपत: अवच्छिन देश या देश-काल की एकात्मता।

भौतिक जगत् के भी मौलिक तत्त्व ऐन्द्रिय कल्पना से नहीं बल्कि विलक्षण गणितीय तर्क से ही समझे जा सकते हैं। भौतिक विज्ञान ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से आरम्भ होता है किन्तु वह जिस सूक्ष्म तत्त्वों को छूने लगता है, उनके स्वरूप की कल्पना अभ्यस्त लौकिक प्रत्यक्ष के आधार पर नहीं की जा सकती है। संक्षेप में यह कहना होगा कि जगत् को समझने के लिए किस प्रकार की कल्पना युक्तियुक्त है, यह दृष्ट जगत् के प्रतिमान पर नहीं हो सकती। इलेक्ट्रोन को अत्यन्त विभक्त पिण्ड के रूप में नहीं सोचा जा सकता, न देशगत आकुंचन को दैशिक पदार्थों के आकुंचन के समान। स्वत: आकुंचित, अवच्छिन्न देश क्या होता है, इसकी प्रत्यक्ष के आधार पर कल्पना ही नहीं की जा सकती। इस स्थिति में मनुष्य-तत्त्व को समझने के लिए स्थूलवादिता का,आग्रह अयुक्त प्रतीत होता है। मनुष्य विषय और विषयी दोनों है। विषय के रूप में इसकी व्याख्याएँ प्राणिविज्ञान के अनुरूप होनी चाहिए। किन्तु प्राणि-विज्ञान या मनोविज्ञान अभी उस अवस्था से बहुत दूर हैं जो भौतिकी ने प्राप्त की है। भौतिक पिण्ड शून्य की तरंगों में विलीन हो चुके हैं और ये तरंग-कण ही दृश्य प्रतिमाओं के अदृश्य हेतु हैं। पर प्राण-तत्त्व या मनस्तत्व केवल दृश्य प्रतिभास भी नहीं हैं जिन्हें भौतिक हेतु का विकास मात्र माना जाय। प्राण और मन दोनों ही में एक निगूढ़ पर उभरती विषयिता है जो उन प्रमाणों का विषय नहीं है जो विषयों केलिए पर्याप्त हैं। निर्जीव यंत्र-पुरुष को सजीव पुरुष से यान्त्रिक प्रत्यक्ष के आधार पर अलग करने की कोई निश्चित कसौटी निर्धारित करना अत्यन्त कठिन है। सजीव शरीर में जो भी परिस्पन्दात्मक लक्षण देखे जा सकते हैं उन्हें सिद्धान्तत: यंत्र-शरीर में भी व्यक्त किया जा सकता है, दोनों की भौतिक संरचना सिद्धान्तत: समान हो सकती है और अतएव उनके कार्य भी। पर इतने से प्राण का रहस्य उद्घाटित नहीं होता। प्राण की जो प्रतीति प्राणी को होती है वह यंत्रगम्य नहीं है। यंत्र में आलेखन संभव है, प्रतीति नहीं। प्राणियों का भौतिक पिण्ड मात्र देख पाना देखने की कमी ही हो सकती है। प्राण तत्त्व भौतिक तत्त्वों में विश्लेष्य है- यह कल्पना ही प्रमाणसिद्ध नहीं है। मन के बारे में तो यह बात और भी सटीक रूप से कही जा सकती है।[२३]

वस्तुत: पाँच इन्द्रियों के प्रत्यक्ष के अतिरिक्त मनुष्य में मानस प्रत्यक्ष और अपरोक्ष ज्ञान की क्षमता है। उसे अपनी सत्ता का ज्ञान अपने स्थूल शरीर को देखकर नहीं होता-न उसे अपने मन का ज्ञान अपने व्यवहार के आधार पर अनुमान से होता है—[२४] मनोवैज्ञानिक मन का अनुमान शरीर से करते हैं, किन्तु उनसे यह पूछा जा सकता है कि क्या वे अपने ज्ञान का अनुमान अपने लेखन से करते हैं ?

विषयी के रूप में मनुष्य को अपनी प्रतीति अपरोक्षताया होती है, भले ही इस प्रतीति के साथ देह की प्रतीति जुड़ी होती है। किन्तु अपनी प्रतीति में और देह की प्रतीति में विवेक विचारसिद्ध है।

मन की स्थिति मध्यवर्ती प्रतीत होती है। एक ओर वह दैहिक प्रतीतियों से आकारित होता है दूसरी ओर वह विषयी के सन्निकृष्ट होता है। यह स्वप्न में स्पष्ट हो जाती है जहाँ जागरित का अनुकरण करते हुए भी मन अपनी आपेक्षिक स्वतन्त्रता व्यक्त करता है। फलत: मनुष्य के स्वरूप को देह से अत्यन्त भिन्न और मन से भिन्न पर नात्यन्तासदृश समझना चाहिए।

इस प्रकार मनुष्य की स्वरूपभूत अभौतिक सत्ता ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष या उस पर आधारित अनुमान से प्रमाणित नहीं होती बल्कि स्वविषयक अपरोक्षानुभूति से और अनुभव मात्र पर विचारजन्य विवेक से सिद्ध होती है। सामान्यतया सभी को अपनी अपनी प्रतीति अविचारित और अपरोक्ष रूप से होती है, इस प्रतीति को भ्रान्त विचार से ही शरीरादि की प्रतीति से अभिन्न माना जा सकता है। भौतिक शरीर से भिन्न यह आत्मसत्ता ही मरणोत्तर जीवन का आधार है। उसका शरीर से जुड़ना ही जन्म है, शरीर से अलग होना ही मृत्यु है।

यद्यपि शरीर से भिन्न आत्मा की सत्ता का स्वीकार विवेक के अनुकूल है, इतने मात्र से यह पता नहीं चलता कि आत्मा का अपना स्वरूप क्या है, उसका शरीर से सम्बन्ध क्यों उपजता है और क्यों समाप्त होता है, किस युक्तिगति से वह नियत होता है। बल्कि भौतिक प्रतिमानों को और उन पर आधारित द्रव्यादि तार्किक विभाजनों को छोड़ देने से यह प्राय: निश्चित हो जाता है कि आत्म सत्ता के विषय में सामान्य भाषा में और प्रत्यक्षाश्रित तर्क के अनुरूप कुछ भी कहना प्राय: असम्भव है। यदि आत्मा का पता विवेकपूर्वक प्रत्येक चेतना से लगता है तो उसके बारे में शब्द लक्षणा के द्वारा ही प्रवृत्त हो सकते हैं। सामान्य भाषा में तर्क के अपर्याप्त होने के कारण आत्म सत्ता की चर्चा एक ऐसे कुहासे में आच्छन्न हो जाती है जिसमें कल्पना और सांकेतिकता को नियन्त्रित करने की आवश्यकता होती है। लौकिक तर्क की दृष्टि से इसे अज्ञेयता का क्षेत्र कहा गया है। परन्तु तो भी आगमिक परम्पराओं और सांस्कृतिक सांकेतिकताओं के आधार पर नाना धर्मशास्त्रीय कल्पनाएँ देखी जाती हैं।

देहभावापन्न आत्मा या चेतना ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष गोचर स्थूल सत्ता में निमग्न रहती है। जैसे जैसे वह विषय-विषयि-विवेक से स्वरूपबोध की ओर अग्रसर होती है वह सत्ता के नाना सूक्ष्म स्तरों का अनुभव करती है जिसका सर्वविदित निदर्शन मनोमय स्वप्नलोक है। अन्तत: उसका लक्ष्य विशुद्ध स्वरूपबोध है जहाँ विषयता की सभी कोटियाँ अतिक्रान्त हो जाने से अनिर्वचनीयता की स्थिति अनिवार्य है। विशुद्ध आत्म-तत्त्व को यदि पर-सत्ता कहा जाये और प्रत्यक्ष भौतिक तत्त्वों को स्थूल सत्ता तो नाना स्तरीय मनोमय सत्ता को सूक्ष्म सत्ता कहना युक्तियुक्त होगा। स्थूल सत्ता प्रत्यक्षसिद्ध है, सूक्ष्म सत्ता लौकिक और योगज मानस-प्रत्यक्ष से प्रमाणित होती है, पर-सत्ता अपरोक्षतया स्वत:सिद्ध है। यद्यपि सत्ता का पारमार्थिक लक्षण अभ्रान्त ज्ञान में नियत रूप से प्रकाशित होना है तथापि साँव्यवहारिक ज्ञान के स्तर पर सत्ता को कार्यक्षमता से परिभाषित किया जा सकता है और व्यावहारिक ज्ञान स्वयं कारणजन्य होता है अत: व्यावहारिक स्तर पर सत्ता के दोनों लक्षण अलग नहीं किये जा सकते। यह भी स्मरणीय है कि स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही सत्ताएँ व्यवहार के अन्तर्गत हैं। मरणोत्तर जीवन सूक्ष्म स्तरीय होते हुए भी व्यावहारिक ज्ञान का ही विषय है और उसका द्वार मानस प्रत्यक्ष ही है। पर पुनर्जन्म सूक्ष्म और स्थूल दोनों स्तरों को व्याप्त करता है और उसका ज्ञान न केवल ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से, न केवल मानस प्रत्यक्ष से संभव है और न वह दो भिन्न स्तरों के ज्ञानों को कल्पना या अनुमान से मिलाकर सम्पन्न होता है। उसके लिए इस जन्म की पहचान रखते हुए व्यक्ति के द्वारा अपने पूर्वजन्म का ज्ञान आवश्यक है।

इस मीमांसा का प्रयोजन सिर्फ भौतिकवादी आग्रह से उत्पन्न पुनर्जन्म की असम्भावना का निरास करना है। मानवीय वास्तविकता इन्द्रियगोचर स्थूल देह तक सीमित नहीं है। मनुष्य की मानसिक और आत्मिक अनुभूति स्थूल देह से भिन्न प्रकार की वास्तविकता का आभास देती है, जिसका सही ज्ञान योग के द्वारा सम्भव है। योग से चित्त की सहज ज्ञानशक्ति का विकास होता है जिसे प्रतिभा या समाधिजन्य प्रज्ञा कहा जाता है। इस शक्ति से सूक्ष्म, अतीन्द्रिय एवं अपरिदृष्य अर्थ करामलकवत् प्रत्यक्ष हो जाते हैं।[२७] इसी शक्ति से ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा माना जाता था। योगशास्त्र के अनुसार एक संयमविशेष से पूर्व जन्म का ज्ञान सम्भव है।[२८] बौद्ध परम्परा के अनुसार भगवान बुद्ध को सम्बोधि के पूर्व तीन विद्याएँ प्राप्त हुई जिनमें एक थी पूर्वनिवासानुस्मृतिज्ञान अथवा पूर्वजन्म का ज्ञान और एक थी च्युत्युपपात ज्ञान, अर्थात् मृत्यु के बाद जीवों के पुनर्जन्म का ज्ञान।[२९] जैनों के अनुसार तीव्रतप से कर्म का आवरण क्षीण होने पर इस प्रकार का ज्ञान सम्भव है।[३०] यह सही है कि वैदिक परम्परा में प्राय: पुनर्जन्म के सिद्धांत को आगम पर आधारित किया गया है पर इस परम्परा में आगम को ऋषियों के मानस में प्रकाशित ईश्वरीय अथवा नित्य ज्ञान माना गया है। इस प्रकार सभी मतों में पुनर्जन्म का ज्ञान

उस अलौकिक ज्ञान का अंग है जो सिद्ध पुरुषों की शुद्ध मनोऽवस्था, योग अथवा तप या ईश्वरानुग्रह से या स्वत: प्रतिभात होता है।

पुनर्जन्म की प्रामाणिकता के विरोध में भौतिकवादी आपत्ति पर ऊपर विचार किया जा चुका है। एक दूसरी आपत्ति अभारतीय धर्मों की ओर से हो सकती है। उनके आगमों में पुनर्जन्म का समर्थन नहीं मिलता है और आगम के अतिरिक्त अतीन्द्रिय विषयों के ज्ञान का कोई साधन मनुष्य के पास नहीं है। आगामों में अतीन्द्रिय विषयों में मतभेद देखकर यह भी शंका हो सकती है कि इन विषयों का कोई निश्चित ज्ञान है ही नहीं। वस्तुत: आगमों में मतभेद से यह सिद्ध होता है कि आगम का भी मूल खोजना चाहिए। यह मूल एक प्रकार का अलौकिक साक्षात्कार या प्रतिभा ही हो सकती है। किन्तु शब्दात्मक या विकल्पनात्मक होते ही यह ज्ञान अपने विशुद्ध रूप से हटकर सामाजिक संस्कारों में ढल कर नाना रूप धारण कर लेता है। इसीलिए आगमिक अभिप्राय अनिवार्यता व्याख्यासापेक्ष होते हैं और यह व्याख्या कभी भी अन्तिम नहीं हो सकती। अतएव आगमिक मतभेद न तो पुनर्जन्म के निराकरण में समर्थ हैं न उसे अनिवार्यतया संदिग्ध बना सकता है। इस प्रकार पुनर्जन्म की प्रामाणिकता मूलत: योगसमाधिजन्य ज्ञान पर आधारित है और उसका निराकरण भौतिकवाद अथवा आगमान्तरवाद के आधार पर न्यायसंगत नहीं माना जा सकता।

बहुत लोगों को पुनर्जन्म के लिए योग का सहारा एक संदिग्ध बात की पुष्टि के लिए अन्य संदिग्ध बात की दोहाई प्रतीत होगी। वस्तुत: योग की क्षमता पर सन्देह का व्यावहारिक उत्तर योग स्वयं है। योग का आधार चित्त की अन्तर्निहित असाधारण ज्ञान-शक्ति हैं। उस पर सामान्य अनुभव के आधार पर संशय न्यायसंगत नहीं है क्योंकि विशिष्ट अनुभव सामान्य अनुभव को बाधित करता है। वस्तुत: अधिकांश लोग अपने जीवन में कभी न कभी असाधारण अनुभव या ज्ञान की स्फूर्ति का परिचय पाते हैं पर उसे वे अपने परिचित परम्परागत सिद्धान्तों के अनुसार समझते हैं। आकाश की बिजली या चुम्बकीय पत्थर प्राचीन काल से विदित थे, पर उनके रहस्य को आधुनिक विज्ञान ने ही खोजा है। ऐसे ही मन की रहस्यात्मक शक्तियों का आभास प्रायिक है पर उनका गम्भीर अन्वेषण योगविद्या में ही मिलता है।

पुनर्जन्म की पुष्टि के लिए कुछ अन्य युक्तियाँ भी दी गयी हैं। एक तो नैतिक युक्ति है-पुनर्जन्म के अभाव में इस जन्म के अनेक भोग बिना अपने किये कर्म के ही प्राप्त होंगे, जैसे कोई विकलांग ही उत्पन्न होता है। इस प्रकार की अकारण प्राप्ति विश्व-व्यवस्था में कमी दिखाती है और कर्मनियम का विरोध करती है। इस दोष को अकृताभ्यागम कहा गया है। इसी प्रकार जन्मान्तर के अभाव में इस जन्म के अनेक कर्म अपना फल दे ही न पायेंगे। यह कृत-प्रणाश का दोष है। वस्तुत: ये युक्तियाँ कर्मसिद्धान्त को विश्व का नियामक सिद्धान्त मानने पर आधारित हैं। किन्तु नैतिक नियम विश्व का कार्यकारी नियम है, यह दृष्ट जगत् के आधार पर नहीं कहा जा सकता।

एक अन्य युक्ति यह है कि ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जहाँ छोटे बच्चों को अपने पूर्व जन्म का ज्ञान होता है। उन उदाहरणों में कुछ में भ्रान्ति अथवा धोखाधड़ी होते हुए भी ऐसा नहीं है। न्यूनाधिक रूप में ये जातिस्मर व्यक्ति पुनर्जन्म के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं।[31]

सैद्धान्तिक स्तर पर एक युक्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मनुष्य स्वभावत: अमृतत्त्व और पूर्णत्व का प्रार्थी है। जीवन के प्रति अभिनिवेश तो सभी प्राणियों में देखा जाता है किन्तु सभी मनुष्येतर प्राणी अपने पृथक् और नियत स्वभाव के संतुष्ट बन्दी हैं, सिर्फ मनुष्य ही ऐसा प्राणी जो सहज प्रवृत्तियों को अपने विवेक से और भूमा के सन्धान से नियंत्रित करता है।[32] उसे विवेकोज्ज्वल बुद्धि में अपने बुद्धि में अपने स्वातन्त्र्य का, दृष्टातिक्रामी स्वरूप का और उसके अनुरूप परमार्थ का आभास मिलता है।

स्वतन्त्र कर्त्तव्य के आभास से युक्त चेतन मनुष्य अपने को जड़ प्रकृति के परिचिछन्न और नियत विषयों में परिसमाप्त नहीं मान सकता, न वह निरर्थक मृत्यु को अपनी अन्तिम नियति मान सकता है क्योंकि चेतना अपनी विषयिता में नित्यत्व का संधान लिए रहती है। यह कहा जा सकता है कि मानव-चेतना की यह पूर्णता की अभीप्सा मानव-समाज के इतिहास में क्रमश: चरितार्थ होती है न कि मर्त्य मानव-शक्ति के जीवन में। यह बात विज्ञान, शिल्प और संस्कृति के क्षेत्र में सार्थक हो सकती है किन्तु नैतिक और आध्यात्मिक विकास स्वभावत: चेतन व्यक्ति का ही हो सकता है। किसी समाज या युग में नैतिक व्यवस्था या धर्म का विशुद्धतर रूप उस समाज या युग के व्यक्तियों के लिए एक सम्भावना व्यक्त करता है, वह उस समाज के व्यक्तियों की नैतिक स्थिति का प्रमाण नहीं है। नैतिकता या आध्यात्मिक अभीप्सा व्यक्ति के साथ अनिवार्यतया जुड़ी हुई है। इस अभीप्सा में यह माँग अन्तर्निहित है कि व्यक्ति की साधना मृत्यु से विच्छिन न हो। पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की साधना अपने कर्म और संस्कारों के अनुरूप देहान्तर में अग्रसर होती है। बोधिसत्त्वादि की साधना अथवा बुद्धत्व की प्राप्ति अन्यथा किस प्रकार सम्भव है ? जो लोग मृत्यु के पूर्व ईश्वर के प्रति समर्पण के एक क्षण को ही साधना का अन्त मान लेते हैं वस्तुत: साधना के आरम्भ को ही अवसान समझ लेते हैं और मनुष्य के लिए पूर्णत्व की प्राप्ति व्यक्तिगत रूप से सम्भव नहीं मानते। योगानुभूति पर आधारित पुनर्जन्म की अवधारणा कर्म-सिद्धान्तमूलक प्रत्याशा और आध्यात्मिक साधना में निहित आकाँक्षा से समर्थित होती है और उसकी पुष्टि जातिस्मरों के दृष्टान्तों से भी होती है। दूसरी ओर भौतिकवादी अथवा आगमान्तरवादी दृष्टि से प्रस्तुत युक्तियाँ पुनर्जन्म के निरास में सफल नहीं मानी जा सकतीं। यह कहना अनावश्यक है कि सभी तार्किक विमर्श किसी दृष्टि के घेरे के अन्दर ही बना रहता है। दृष्टि के बदल जाने पर तार्किक मूल्यांकन ही बदल जाता है। अतएव यह स्मरणीय है कि पुनर्जन्म की अवधारणा एक प्राचीन आध्यात्मिक दृष्टि के अन्दर विकसित हुई जिसमें आत्मा का बन्ध और मोक्ष मुख्य तत्त्व थे। यदि इस दृष्टि को ही छोड़ दिया जाए तो पुनर्जन्म के समर्थक प्राचीन तर्क भी निष्प्रभ हो जायेंगे। अस्तु।

ऊपर कहा जा चुका है कि पुनर्जन्म से सम्बद्ध प्रश्नों की अनेक शास्त्रीय और दार्शनिक व्याख्याएँ मिलती हैं। पहला महत्त्वपूर्ण प्रश्न तो यही है कि जन्म, मृत्यु एवं पुनर्जन्म किसका होता है ? प्राय: यह माना जाता है कि बीज से नवीन देह-रचना के आरम्भ के समय ही उस देह के साथ अतिरिक्त देही का तादात्म्य सम्बन्ध घटता है। साँख्य एवं वेदान्त में यह देही लिंग देह अथवा सूक्ष्म देह के साथ तादात्म्यापन्न जीव या पुरुष है। बौद्ध दर्शन के अनुसार यह देही क्षणिक विज्ञान-सन्तान के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जैन मत से कर्मावृत जीव ही नवीन देह से जुड़ता है। जिन अनेक दर्शनों में सूक्ष्म देह की कल्पना नहीं मिलती उनमें जीव ही नये देह से जुड़ता है। इस जीव को कुछ मन से युक्त, कुछ अंशत: परिणामी भी मानते हैं। सभी मतों में जीव स्वभावत: विशुद्ध है और उसका वास्तविक जन्म नहीं होता। उसका देह से सम्बन्ध एक मौलिक अज्ञान से ही सिद्ध होता है। देह-विशेष से सम्बन्ध कर्मवैशिष्ट्य के कारण होता है। चूँकि कर्म देह-परिग्रह के बिना नहीं होता और देह-परिग्रह कर्म के बिना नहीं होता अतएव यहाँ स्पष्ट ही अन्योन्याश्रय है। इसका उत्तर सभी मतों में अनादि जन्म-परम्परा के आश्रय के लिए जगत् को भी अनादि मानना पड़ता हैं। अत: कर्ममूलक अनादि संसार (जन्म-मरण) जागतिक सृष्टि-प्रलय के अनादि चक्र का आक्षेप करता है। सृष्टि-प्रलय का एक पर्याय कल्प कहलाता है।[33] संसार-प्रवाह और कल्प-प्रवाह समानान्तर हैं और दोनों ही व्यष्टि-समष्टि कर्मों की शक्ति से नियन्त्रित हैं। ईश्वरवादी भी न जीव की सृष्टि मानते हैं, न कर्म-निरपेक्ष जगत् की सृष्टि।

आत्मा को कर्म से जोड़ने के लिए अविद्या आवश्यक है और कर्म के समान वह भी अनादि है। अविद्या के विषय में अनेक मत हैं पर सबमें ही अविद्या आत्मा के स्वभाव को आवृत करती है और उसे

भ्रांति में डालती है। भ्रांति की भी अनेक व्याख्याएँ किन्तु सब में यह समान है कि भ्रांति में जो जैसा है वैसा नहीं दीखता। इस मौलिक भ्रांति के कारण आत्मा अपने को सीमित ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व से युक्त एक अपूर्ण पर पृथक् इकाई के रूप में मानती है। अनादि काल से अविद्यागर्भ में सुप्त जीव को वेदान्त अविद्यात्मक कारण-देह में तादात्म्यापन्न मानता है। काल से विक्षुब्ध कर्मशक्ति से वह सूक्ष्म और स्थूल देहों का परिग्रह करता है। सूक्ष्म शरीर या लिंग देह को साँख्य दर्शन में महत् से सूक्ष्म तन्मात्रों तक (बुद्धि, अहंकार, मनस्, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्र), १८ तत्त्वों का बना बताया गया है।[३४] लिंग देह धर्म, अधर्म आदि भावों से वासित होता है और नट के समान नाना स्थूल शरीरों की भूमिकाओं का ग्रहण करता है। वेदान्त के अनुसार भी लिंग शरीर परलोक यात्रा का निर्वाहक और मोक्ष पर्यन्त स्थायी होता है किन्तु वह १७ तत्त्वों का बना होता है : मन, बुद्धि, ५ इन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय और ५ प्राण : जो सभी अपंचीकृत भूतों से निर्मित हैं।[३५] आत्मा को सूक्ष्म शरीर से अविद्या जोड़ती हैं, सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर से कर्म जोड़ते हैं। अविद्या से अपने स्वरूप को, भूलकर उसमें अपूर्णता की प्रतीति होती है, इससे तृष्णा अथवा काम की उत्पत्ति होती है, उससे कर्म और उससे कर्मफल। इस प्रकार अविद्या, काम, कर्म और भोग की आनुपूर्वी से पुनर्जन्म अथवा संसार का अन्तर्नियामक सूत्र बनता है।

संसार की प्रक्रिया का शायद प्राचीनतम सजीव वर्णन बृहदारण्यकोपनिषद् में मिलता है।[३६] मरते समय जीव प्राण और इन्द्रियों के तेज को समेटकर हृदय में प्रविष्ट होता है और बाहरी विश्व की ओर उदासीन हो जाता है। 'हृदय' वास्तव में शून्याकाशवत् अन्तर्मुख बुद्धि का ही संकेत है जिसमें मन सुषुप्ति के समय प्रवेश करता है, पर उस समय इन्द्रियाँ पूरी तरह से सिमटती नहीं हैं।[३७] उस समय विज्ञानमय जीवात्मा लिंग देह की उपाधि से युक्त अपने ही प्रकाश के सहारे स्थूल देह से हट जाता है। वह आँखों से आदित्य लोक के लिए, सिर से ब्रह्मलोक के लिए अथवा शरीर के अन्य अवयवों से अन्य लोकों के लिए प्रस्थित होता है। इस समय उसकी चेतना स्वपनवत् और कर्मपरवश होती है। उसके साथ उसके कर्म, ज्ञान और उसके अनुभव के संस्कार चलते हैं। विद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञा के साथ जीव शरीर छोड़ता है। वेदान्त के अनुसार यद्यपि प्राण और करण स्वरूपत: व्यपाक हैं, उनका देहविशेष में परिच्छेद अथवा उससे विच्छेद कर्म, ज्ञान और वासना के अनुरूप होता है। जैसे जोंक घास के एक तिनके को छोड़कर दूसरे पर सरक जाता है ऐसे ही संसारी एक देह को छोड़कर दूसरों का आश्रय लेता है। जैसे पिछले गहने से सोना लेकर सुनार नया गहना गढ़ता है, ऐसे ही संसारी पिछले कर्म के आधार पर अनुरूप लोक में नयी देह गढ़ता है। यह संसारी बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रियाँ, पाँच भूत, वासनाएँ और कर्म को लेकर देहान्तर-गमन करता है। अपने कर्म और आचरण के अनुसार उसकी नयी स्थिति होती है। "यथाकारी यथाचारी तथा-भवति, साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापी भवति, पुण्य: पुण्येन कर्मणा भवति, पाप: पापेन्।"[३८] संसारी पुरुष काममय कहा गया है, कामना के अनुसार संकल्प, संकल्प के अनुसार कर्म और कर्म के अनुसार फल होता है।[३९]

भगवान बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त में इन्हीं तत्त्वों का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। पूर्व जन्म से चली आ रही अविद्या और संस्कारों से वासित विज्ञान से इस जन्म का नाम-रूप (मन और देह) उत्पन्न होता है। उस पर निर्भर षड़ायतन (मन और इन्द्रिय के विषय) के स्पर्श (अनुभव) से वेदनाएँ (सुख-दु:ख) जन्मती हैं। उनसे तृष्णा, उपादान (कर्म), भव, जाति और जरामरण।[४०] इस प्रकार द्वादश निदानों का संसार-चक्र चलता रहता है। किन्तु बौद्ध दृष्टि में सभी निदान नि:सत्त्व-निर्जीव धर्ममात्र हैं, निरात्मक संस्कारमात्र। संसार-प्रवाह किसी स्थायी आत्मा का जीवन-चरित नहीं है, वह अनेक क्षणिक भौतिक और चैतसिक शक्तियों के समूह का प्रवाह मात्र है। पर इसमें प्राधान्य मन का है और संसार मूलत: एक विज्ञान-सन्तान या अनुभव-सन्तति है।

ऐसा प्रतीत होता है कि किसका जन्म अथवा पुनर्जन्म होता है इस प्रश्न पर दो सर्वथा विरुद्ध उत्तर दिये गये हैं। एक उत्तर है कि जीव ही संसारी है, दूसरा कि जीव की सत्ता ही नहीं है, संसारी चित्त-प्रवाह मात्र है। किन्तु यह विरोध वस्तुत: उतना प्रबल नहीं है जितनी उसकी प्रतीति। जीववादी मत में भी जीव का संसरण अनित्य चित्ताभिमान पर ही आधारित है। दूसरी ओर अनात्मवादी बौद्ध मत में भी संसारी चित्त-सन्तान को एक प्रतिविशिष्ट इकाई मानना पड़ता है। संसरण मूलत: अहंभाव-केन्द्रित अनित्य मन:स्थितियों की लगातार धारा है इसमें कोई विवाद नहीं हैं, न इस पर कि इस प्रवाह का नियमन अविद्या, काम और कर्म से होता है। विवाद का विषय अहंकार के आश्रय का पारमार्थिक स्वरूप है। बौद्धगण इस आश्रय को द्रव्य सत् नहीं मानते। मतान्तर में यह आश्रय नित्य आत्मा है। पर यह स्मरणीय है कि नित्य आत्मा अहंकार का आश्रय स्वरूपत: न होकर अविद्यारोप के माध्यम से ही है। अत: संसार का मूल अहंकार ही रहता है न कि आत्मा। पर मुक्ति की तात्त्विक व्याख्या के प्रसंग में अवश्य आत्मा का प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो उठता है। अस्तु।

कर्म परिस्पन्द या क्रियामात्र नहीं है, न कर्म-फल-सम्बन्ध प्राकृतिक कार्य-कारण-सम्बन्ध मात्र है। कर्म मूलत: मानसिक संकल्प है जिसे बौद्ध पदावली में चेतना कहा जाता है।[८१] कर्म कहलाने के लिए चेष्टा का स्वेच्छापूर्वक एवं बोधपूर्वक होना आवश्यक है। सिर्फ इच्छा अथवा प्रकृति कर्म नहीं है बल्कि उनका कर्त्ता के अहंकार के द्वारा स्वीकार आवश्यक है। इस प्रकार कर्म स्वतंत्र, इष्टविषयक, क्रियाप्रवर्त्तक संकल्प है। क्रिया का स्वाभाव है कि यह क्रियान्तर को जन्म देती है, यही सहज कार्य-कारण भाव है। जहाँ क्रिया को द्रव्याश्रित माना जाता है वहाँ द्रव्य के स्वभाव को कारणता का अवच्छेदक माना जाता है। प्रकृत्त संदर्भ में वासना-राशि ही कर्त्ता का स्वभाव कही जा सकती है। विशिष्ट स्वभाव से युक्त कर्त्ता की क्रिया से उत्पन्न नियत क्रियात्मक फल प्राकृतिक कार्य-कारणात्मक नियम का दृष्टान्त होगा पर उसमें नैतिक गुणों की, पाप-पुण्य की, दूरापकृष्ट जन्मान्तर आदि की कोई भूमिका नहीं है। कर्म-फल-नियम धूम और अग्नि के सम्बन्ध के समान दृष्ट सम्बन्ध नहीं है। अच्छे-बुरे कर्मों का अच्छा-बुरा फल इस जन्म में नियम से नहीं देखा जा सकता। किन्तु कभी न कभी वह अवश्य भोक्तव्य होगा, यह नियम ही कर्म-नियम है। परिस्पन्दात्मक क्रिया के द्वारा कर्म बाह्य जगत् में परिणाम उत्पन्न करता है, कर्त्ता में यह स्मृति-संस्कार और भावनात्मक संस्कार उत्पन्न करता है। इन तीनों के अतिरिक्त वह एक अदृश्य शक्ति उत्पन्न करता है कर्त्ता को उसके संकल्प में निहित नैतिक गुण-अवगुण के अनुसार फल देती है।[८२] मीमांसक इस शक्ति को अपूर्व कहते हैं, आस्तिक दर्शन ईश्वरेच्छा, बौद्ध चित्त की सहज शक्ति।

यहाँ पर आधुनिक संदर्भ में एक तथ्य पर विशेष रूप से ध्यान देने की जरूरत है। धर्म का एक पक्ष शाश्वत और सार्वभौम है : जैसे सत्य और अहिंसा, करुणा और प्रेम, निरभिमान और सेवा, संयम और आर्जव आदि की वरणीयता। उसका दूसरा पक्ष सामाजिक-ऐतिहासिक है : जैसे राजभक्ति, देश-भक्ति, वर्ग-हित, स्वजन-पोषण आदि की कर्त्तव्य में गणना। सार्वभौमशील के लक्षण और कर्त्तव्यपालन, साधारण धर्म और स्वधर्म ये धर्म के शाश्वत पक्ष हैं जिनकी अपेक्षा कर्म-नियम की प्रवृत्ति में कोई अन्तर्विरोध या अयुक्तता नहीं व्यक्त होती। दूसरी ओर वर्णाश्रम धर्म आदि व्यवस्थापक धर्म अनेक, परस्पर विरुद्ध और सापेक्ष होते हैं। उनके संदर्भ में पाप-पुण्य का उद्भाव कर्त्तव्य-निष्ठा, सत्य, आर्जव आदि के पालन-अपालन आदि के माध्यम से ही हो सकता है। सरकारी कानून या विधान, अभिसन्धिपूर्वक अनुबन्ध, प्रचलित रीति-रिवाज, ये नियम स्वत: धर्म के नियम नहीं बनते। मानव-हृदय की सहज अनुशंसा अथवा आक्रोश के द्वारा ही वे धर्म अथवा अधर्म के हेतु बनते हैं।

धर्म का तत्त्व मनुष्य के हृदय में उसकी सहज विवेक-बुद्धि में निहित है। यह तत्त्व नियमात्मक

है और नैतिक तथ्य के रूप में कर्म को उसके फल से जुड़ा हुआ प्रकाशित करता है। इच्छा ही शक्ति है एवं स्व और पर की तुल्यता है, इन दो मूल सिद्धान्तों से हिंसा आत्मघाती सिद्ध होती है और हिंसा ही सब पाप का मूल है जैसे अहिंसा पुण्य का। "परोपकार: पुण्याय पापाय परपीड़नम्।" स्व-पर-तुल्यता से परपीड़न आत्मपीड़न बन जाता है। इसी कारण "जो जस करई सो तस फल चाखा।" यह नियम चित्त का स्वभाव है, इसीलिए चित्ताभिमानी जीव कर्म शेष रहने पर पुनर्जन्म ग्रहण करता है।

पुनर्जन्म की अवधारणा के तत्त्व इस प्रकार अन्त में कहे जा सकते हैं-स्थूल देह के अभिमानी मनुष्य की इस देह से पृथक् सत्ता है जो मरणोत्तर जीवन का आधार है और जिसे "जीव", "आत्मा" अथवा "चित्त-सन्तति" कहा गया है। चित्तात्मक अथवा चित्ताभिमानी सत्ता का पुनर्जन्म अथवा संस्करण होता है यह सत्ता अपनी वासना और कर्म के साथ उसके अनुरूप गति को प्राप्त होती है। कर्मफल-नियम ही व्यष्टि और समष्टि के इतिहास का नियामक है। इस नियम के पीछे एक सहज शक्ति अथवा ईश्वरेच्छा है। व्यक्तिगत जन्म-मृत्यु एवं जागतिक सृष्टि-प्रलय का चक्र अनादि है। स्थूल पार्थिव लोक के अतिरिक्त अनेक सूक्ष्म लोक हैं जो आवागमन के पड़ाव बनते हैं। कर्म का आधार इच्छा और उसका आधार अज्ञान है। अज्ञान के हटने पर पुनर्जन्म नहीं होता। कर्म-बन्धन से मुक्ति ही परम पुरुषार्थ है। उसके लिए अपने स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है।

पुनर्जन्म में मुख्य प्रमाण योगानुभूति है, उसका समर्थन इस युक्ति से होता है कि अच्छे-बुरे कर्मों का फल प्राप्त करने के लिए एक जन्म अपर्याप्त है। जातिस्मर व्यक्तियों का दृष्टान्त पुनर्जन्म का स्थूल सत्यापन है।[४३]

***

संदर्भ-सूची

१. *द्र. गो.च. पाण्डे ऑरिजिन्स ऑफ बुद्धिज्म, पृ. २८०-८५*

२. *मृत व्यक्ति को गाड़ने की प्रागैतिहासिक प्रथा इसका प्रमाण है।*

३. *अन्य संस्कृतियों में अन्य नाम मिलते हैं, उदा. प्राचीन मिश्री में ब. चीनी में शैन् ग्रीक में फसूखे, लैटिन में आनिमा इत्यादि।*

४. *तु. ब्रेस्टेड : डवलप्मेन्ट ऑफ रिलिजन एण्ड थॉट इन एन्शेन्ट इजिप्ट पृ.२९९*

५. *नचिकेता इस खोज का एक ज्वलन्त निदर्शन है।*

६. *इसका यह अर्थ नहीं है कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त विकल्पात्मक व्याख्याओं से मुक्त है। कोई भी सिद्धान्त केवल अनुभूति का अविकल्पित अनुवाद नहीं हो सकता।*

७. *उदाहरण के लिए चीनी ताओ सम्प्रदाय में प्राणसाम्य का योग मिलता है, ईसाई रहस्यवाद में भावोत्कर्ष का। नवीन प्लातोनीय सम्प्रदाय में, कुछ सूफियों में, एकहार्ट जैसे रहस्यवादियों में योग की प्रथा निश्चित रूप से पायी जाती है। इन सभी प्रकार के योगों को एक सार्वभौम और सनातन परम्परा के आभास मानना चाहिए।*

८. *उदा. प्रिमिटिव कल्चर, जि,२, पृ. १६*

९. *ई. आर.ई.जि. १२, पृ. ४३४*

१०. *तु. रोड, साइके*

११. *द्र. पाण्डे पूर्व, वहीं*

१२. *द्र. ऋ. ९.११३*

१३. *तु. कीथ, रिलिजन एण्ड फिलॉसफी ऑफ द वेद एण्ड उपनिषद्ज, जि २, पृ.४०८ प्र.*

१४. *द्र. पाण्डे फाउन्डेशन्स ऑफ इण्डियन कल्चर, जि, १, पृ. २४-२६*

१५. *वा. सं. ३६.२४*

१६. *मीमांसकों की यज्ञकर्म की व्याख्या प्रमाणिक मानी जाती है। मीमांसा दर्शन में मूलत: स्वर्ग एवं धर्म का महत्त्व था, न कि पुनर्जन्म से मोक्ष का।*

१७. *द्र. पाण्डे, ऑरिजिन्स, पृ. २८२*

१८. उदा. बृ. ४.३.७
१९. द्र. पाण्डे, ऑरिजिन्स, पृ. २८५, तथा श्रमणिज्म एण्ड इट्स इम्पैक्ट ऑन इण्डियन कल्चर
२० बृ.३.२
२१. वही, ३.९
२२. वही, ४.४
२३. प्राचीन दृष्टि से मन और प्राण वैसे ही संबद्ध हैं जैसे आधुनिक भौतिकी में वैद्युत् और चुम्बकीय शक्तियाँ।
२४. आधुनिक बिहेवियरिज्म अथवा पॉजिटिविज्म में इसी प्रकार के मत प्रचलित हैं।
२५. द्र. धर्मकीर्ति, न्यायबिन्दु, २.४८
२६. यही सत्ता का प्रसिद्ध बौद्ध लक्षण है-'अर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वम्'' द्र. वही, १.१५
२७. तु. गो. ना. कविराज, 'द डॉक्ट्रिन ऑफ प्रतिभा' सेलेक्टेड राइटिंग्ज पृ. १.४६
२८. योगासूत्र, ३.१८ : संस्कारसाक्षात्कारणात्पूर्वजातिज्ञानम्।
२९. द्र. ऑरिजिन्स, पृ. ४५८-५९
३०. द्र. मुनि नथमल, जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व, जि २, पृ. १०१-५६
३१. जिन आधुनिक वैज्ञानिकों ने इस प्रकार की घटनाओं का विशिष्ट अध्ययन किया है उनमें डॉ. स्टीवेन्स का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।
द्र. आयन स्टीवेन्सन, ट्वन्टी केसेज सजेस्टिव ऑफ इन्कार्नेशन, वर्जिनिया यूनि, १९७४
३२. तु.द्या, ७
३३. सृष्टि-प्रलय के कल्प सभी प्राचीन चिन्तन-धाराओं में स्वीकृत हैं सिवाय मीमांसकों के।
३४. साँख्यकारिका, ४०-४१
३५. वेदान्तपरिभाषा (चौखम्बा, १९३४) पृ. १६९
३६. बृ. ४.४
३७. सुषुप्ति में ज्ञानशून्यता होते हुए भी क्रियाशून्यता नहीं होती।
३८. बृ. पूर्व.
३९. वहीं 'स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।''
४०. द्र. ऑरिजिन्स, पृ. ४३२ प्र.
४१. तु. नागार्जुन मध्यमक (१.७.२) ''चेतना चेतयित्वा च कर्मोक्तं परमर्षिणा।''
४२. तु. योगभाष्य (३.१८) द्वये खल्वमीसंस्कारास्स्मृतिक्लेशहेतवो वासनारूपा:।
४३. पूर्वजन्म की विस्मृति का कारण लिंग देह की स्थूल देह के साथ तादात्म्यापत्ति मानी जाती है।

अद्वैत और मिथ्यात्व

मूल वेदान्त अथवा उपनिषदों में अद्वैत का प्रतिपादन विश्व की मौलिक एकता के रूप में मिलता है। समस्त विश्व एक दिव्य सत्ता से व्याप्त है, वह एक बृहत् और स्तुत्य सत्य है। इस प्रकार की धारणा का सूत्रपात सृष्टि-प्रक्रिया के संदर्भ में हुआ था। अतएव ब्रह्म की कल्पना जगत् के मूल उपादान के रूप में हुई। चूँकि ब्रह्म की कल्पना चेतन सत्ता के रूप में थी, उसे कालान्तर में जगत् के अभिन्न निमित्तोपादान कारण के रूप में स्वीकार किया गया। इस प्रकार की दृष्टि उपनिषदों में अनेकत्र व्यक्त है और ब्रह्मसूत्रों में व्यवस्थित रूप से प्रतिपादित है। यह अद्वैत दृष्टि समस्त विश्व और उसके असंख्य वैचित्र्य में एक अनन्त और अखंड, आत्मपर्याप्त चेतन सत्ता की लीलामय अभिव्यक्ति देखती है। मानव-चेतना इसी विराट् चेतना का सीमित प्रकाश है और इसीलिये विश्व का तत्त्वज्ञान मानवीय आत्मज्ञान में पर्यवसित होता है। यह आत्मज्ञान ही मनुष्य को अशेष दु:ख से निवृत्त कर सकता है और उसे मृत्यु के दंश से बचाकर वास्तविक अमृतत्त्व प्रदान कर सकता है। सामान्य मानव-चेतना अपने को शरीर-मन से अभिन्न समझती हुई उन्हीं की सीमाओं से बंधी रहती है। इन सीमित प्राकृत साधनों के द्वारा ही उसका अहं परिभाषित होता है। अपनी रचना एवं सीमाओं के कारण उस अहं-केन्द्रित चेतना का विश्व, प्राकृतिक एवं सामाजिक, उस सत्य के सर्वथा अनुरूप नहीं हो सकता जो अखंड ब्राह्मी चेतना में नित्य-प्रतिभात होना चाहिए। ऐन्द्रिय प्रतिभासों से सूचित एवं मानसिक विकल्पों से परिभाषित तथा व्याख्यात दृश्य विश्व के नाना जड़ और परिच्छिन्न विषय ज्ञानोदय होने पर किस प्रकार अपने नामरूपात्मक "हिरण्यमय" मुखौटों को छोड़कर पारमेश्वरी चेतना के अखंड आत्मबोध में विलय प्राप्त करते हैं इसको समझने-समझाने के लिए अनेक प्रकार की उपमाएं सुझाई गई हैं जिनमें सबसे प्राचीन परिणामात्मक सृजन और विलयन की ही है। किन्तु इन उपमाओं की तार्किक व्याख्या टेढ़ी खीर है।

यदि आदर्श ज्ञान ईश्वरीय ज्ञान है तो मानवीय ज्ञान को किसी न किसी अर्थ में अज्ञान ही ठहराना होगा। कहाँ नित्य और अखंड आत्मबोध, कहाँ अनित्य आत्मानात्म-संकीर्ण बोध: बहिर्मुख, भेदावगाही, संकल्प-विकल्पात्मक, प्रवृत्ति-सन्दृब्ध! मानवीय चेतना अज्ञान के कुहासे में ढँकी है और अपने विश्व को भी असत्य छायाओं से गढ़ती है। अद्वैत स्वानुभूति-सिद्ध है, भेद-जगत् व्यवहार-सिद्ध। दोनों के तार्किक अन्वयन के लिये ही वेदान्त की परम्परा में अज्ञान और मिथ्यात्व की अवधारणाओं के विविध परिष्कार की आवश्कता हुई।

मनुष्य अपने विषय में सहज रूप से अज्ञानी है, यह बात प्राय: सभी आध्यात्मिक दर्शनों में निर्विवाद है। आत्मा को देहादि से अभिन्न समझ कर मनुष्य विषय-तृष्णा और कर्म-जाल में बंधा रहता है, इस अज्ञान के छूटने पर ही उसे मुक्ति एवं नित्य स्वरूप-स्थिति का लाभ होता है- इस पर ऐकमत्य होते हुए भी जहाँ द्वैतवादी अथवा आगमिक अद्वैतवादी दर्शन यह मानते हैं कि अज्ञान-कल्पित आत्म-स्वरूप मिथ्या है वे यह नहीं मानते कि अज्ञान-दशा का विश्व भी मिथ्या है। विश्व में एक प्रकार की

कर्मसापेक्षता सर्वस्वीकृत है किन्तु ये सब दर्शन उसकी सत्ता को जीव के ज्ञानाज्ञान पर निर्भर नहीं मानते, क्योंकि वह स्वभाव अथवा ईश्वरेच्छा से नियत है। मानवीय ज्ञान-शक्ति अपने योग्य विषयों का समुचित ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ है। इसे न मानने पर तो ज्ञानमात्र की व्यवस्था संकटग्रस्त हो जाएगी। जगद्विषयक इस प्रमाणजन्य ज्ञान की सत्यता में आत्मविषयक अज्ञान के दूर होने से कोई अंतर नहीं आ सकता। नाना बाह्य विषयों का स्वरूप और सत्ता जैसे प्रामाणिक ज्ञान के द्वारा अवधृत है वैसे ही सदैव रहते हैं, उनका आत्मज्ञान से बाध नहीं हो सकता। आत्मज्ञान से अहं-केन्द्रित संसार की निवृत्ति होती है न कि विषयव्यवस्थात्मक जगत् की सत्ता का बाध। द्वैतवादी मतों में आत्मा जगत् के घटकों में एक है और अधिकांश में उसकी कल्पना एक विषय के रूप में ही है। चूँकि अज्ञानी आत्मा ही एक ऐसा विषय है जिसमें उसके स्वविषयक ज्ञानाज्ञान से अंतर पड़ता है फलत: आत्मविषयक अज्ञान की निवृत्ति से अन्यविषयक अज्ञान की निवृत्ति का प्रश्न नहीं उठता। अतएव उनमें आत्मज्ञान जहाँ आत्मा को अनात्म-सम्बन्ध से मुक्त करता है वह अनात्म-विश्व का स्वरूप नहीं बदलता। इसके विपरीत अद्वैतवाद में समस्त विश्व ही परमार्थत: आत्मस्वरूप है। अतएव उनमें आत्मज्ञान से न केवल अपना अपितु विश्व का ही ज्ञान परिवर्तित हो जाता है। आत्मविषयक अज्ञान ही जीव-कल्पना और विषय-कल्पना के मूल में है। अज्ञानमूलक इन कल्पनाओं पर आधारित ज्ञान क्रिया नहीं है और अपने विषय को बदलता नहीं है, उससे जो निवृत्त हो सकता है वह अज्ञान अथवा भ्रम ही हो सकता है। यह धारणा प्रमाण-निर्धारित प्रमेय-जगत् की व्यवहार-योग्यता का निषेध नहीं करती बल्कि समस्त व्यवहार को अज्ञान के अन्दर समेटती है जिसकी कि केन्द्रीय रचना अहं है। अहं से ही संबद्ध रूप में उसके समानान्तर भेदमय विषय-जगत् का उन्मीलन होता है।

इस प्रकार इसमें कोई सन्देह नहीं कि अद्वैत की प्रतिपत्ति में ज्ञान और अज्ञान के दो स्तरों के अनुरूप सत्यासत्य के भी दो स्तर अर्थत: अभ्युपगत होते हैं। किन्तु प्राचीन वेदान्त में चरमानुभूति का निरूपण अमृतत्त्व, आप्तकामत्व, भूमा, आनन्द आदि के रूप में किया गया है। ब्रह्म की सूचना यहाँ सघन भावात्मक रूप से होती है। इस अद्वैतवाद में मिथ्यात्व का स्थान नहीं है अथवा नहीं के बराबर है। इसमें अद्वैत की अनुभूति को प्रत्यक्ष द्वैत से जोड़ने के लिये धार्मिक विचारधारा के अन्तर्गत सृष्टि की पुरानी धारणा का सहारा लिया गया था। विश्व के रूप में ब्रह्म ने अपना स्वयं सृजन किया है इसलिये विश्व ब्रह्म से व्याप्त, उससे अनतिरिक्त है। इस दृष्टि में न तो सृष्टि को मिथ्या कहा गया है, न अविद्या को सर्जक शक्ति के रूप में स्थान दिया गया है। वेदान्त-सूत्रों में यही दृष्टि अपनायी गयी है। उनमें ब्रह्म को जगत् का स्रष्टा और जगत् को उससे अभिन्न प्रतिपादित किया गया है, किन्तु जगत् के मिथ्यात्व का उल्लेख नहीं किया गया है।

तार्किक दृष्टि से इस धारणा में आपत्ति अपरिहार्य थी। नित्य और निर्विकार ब्रह्म का परिणाम कैसे ? परिणाम पर निर्विकारता कैसे ? यदि एक के अन्दर अनेकता निहित नहीं है तो एक कैसे अनेक हो सकता है ? यदि अनेकता उनमें गर्भित है और परिणामिता भी तो ब्रह्म प्रकृति से भिन्न किस प्रकार होगा ? आप्तकाम ब्रह्म की सृष्टि में प्रवृत्ति क्यों होगी ? यदि प्रवृत्ति सहज है तो निवृत्ति कैसे होगी ?

एक और दिशा से भी सृष्टिवाद आपत्तिजनक था। मानवीय विषयताओं और दु:खों के उत्तरदायित्व से स्रष्टा की मुक्ति किस प्रकार होगी ? यदि वह उत्तरदायित्व कर्म पर डाला जाय तो कर्म संसार का विधाता बन जाता है और संसार अनादि। इस स्थिति में सृष्टि की कल्पना व्यर्थ हो जाती है। श्रमण दर्शनों में इसी विचार-धारा का प्रवाह देखा जा सकता है। इस प्रकार की संसारवादी श्रमण विचारधारा में अद्वैतवाद का विकास महायान में देखा जा सकता है। उसमें न केवल सृष्टिवाद का कोई स्थान नहीं है बल्कि किसी मूल उपादान की कल्पना के अभाव में धर्म-नानात्व का निषेध उनकी

स्वभाव-शून्यता के रूप में किया जाता है। धर्म-नैरात्म्य अथवा शून्यता को महायान का सार समझा जाय तो यह कहना होगा कि महायानिक अद्वैत का अर्थ केवल मिथ्यात्ववाद है। यदि औपनिषद वेदान्त में सब भेदों को कवलित करते हुए बृहत् भावात्मक सत्य की अनुभति मिलती है तो महायान एक विराट् शून्यता की अवधारणा के द्वारा सब नानात्व का मिथ्यात्व प्रतिपादित करता है। किन्तु इस माहायानिक शून्यता अथवा मिथ्यात्व को कोरी तार्किक प्रज्ञा की देन मानना चाहिए। जैसे उपनिषदों के अद्वैत के पीछे भूमा अथवा पूर्णता की अनुभूति निहित है जो कि प्राचीन वैदिक कर्मयोग का आधार थी, ऐसे ही शून्यता के रूप में निवृत्ति की चरम अनुभूति महायान में देखी जा सकती है। एक दिशा आत्मा के सर्वत्र अनुसन्धान की थी, दूसरी अनात्मा के सर्वत्र निषेध की।

इन दो दिशाओं के तात्त्विक अविरोध के आधार पर गौड़पाद ने माहायानिक मिथ्यात्ववाद के साथ औपनिषद अद्वैतवाद का समन्वय प्रस्तुत किया और शंकराचार्य इस समन्वित दर्शन के उत्तराधिकारी थे। उन्होंने श्रुतिसम्मत अद्वैततत्त्व के समर्थन के लिये मिथ्यात्व का एक तार्किक प्रत्यय के रूप में उपयोग किया। यही कारण है कि शारीरक भाष्य के उपोद्‌घात में उन्होंने मिथ्यात्व के प्रत्यय का निरूपण किया है। स्वयं वेदान्तसूत्रों में इस प्रकार के मिथ्यात्व का उल्लेख नहीं मिलता। इस स्थिति में शंकरचार्य ने दृष्टिभेद का सिद्धान्त अपनाकार भाष्य में व्याख्याभेद प्रस्तुत किया है। जहाँ सूत्रों का अनुसरण करते हुए उन्होंने सृष्टि को ब्रह्म का परिणाम स्वीकार किया है वहीं उन्होंने सृष्टि के मूल में ब्रह्म की अविद्याशक्ति का उल्लेख किया है। और जैसाकि सुविदित है, उन्होंने भाष्य के उपोद्घात में समस्त व्यवहार को अध्यासमूलक होने के कारण सत्य और मिथ्या की जोड़ी बताया है। इस प्रकार सभी लोक-व्यवहार मिथ्यात्व पर आधारित होकर परमार्थत: मिथ्यात्व का भागी बन जाता है।

परमार्थ और व्यवहार का विभाजन एवं जगत् की मायिकता तथा मिथ्यात्व का निर्धारण शांकर वेदान्त में महायान से अनुसन्तत हैं। शंकर ने माया और अविद्या में भेद नहीं किया है और न परिणाम और विवर्त में। न ही उन्होंने ब्रह्म के स्वरूप-लक्षण एवं तटस्थ-लक्षण में भेद किया है। सगुण ब्रह्म अविद्याशक्ति के द्वारा जगत् का कारण है। जब तक जीव पर अविद्या का प्रभाव है उसके लिये जगत् और ईश्वर सत्य हैं। सारा प्रमाण-प्रमेय व्यवहार, जिसमें शास्त्र और शास्त्रीय विधि-निषेध अन्तर्भुक्त हैं, अविद्यापूर्वक ही सिद्ध होता है। यद्यपि सृष्टि के प्रसंग में अविद्या को जगन्मूलक सगुण ब्रह्म की शक्ति के रूप में वर्णित किया गया है और इस रूप में वह समष्टि-नियामक अचिन्त्य सर्जन-शक्ति है, उसे जीव के स्तर पर एक अनादि और नैसर्गिक भ्रान्ति के रूप में विश्लेषित किया गया है। एक ओर अविद्या ब्रह्म की शक्ति है और जगत् का कारण है, दूसरी ओर वही अविद्या यह मौलिक भ्रान्ति है जो अहंकार से लक्षित जीव-कल्पना को जन्म देती है। इस भ्रान्ति को शंकर ने अध्यास-रूप बताया है। आत्मा और अनात्मा प्रकाश और अन्धकार के समान विरूद्ध स्वभाव वाले हैं। उनका परस्पर अध्यारोप तर्क की दृष्टि से असंभव है और मिथ्या माना जाना चाहिए, किन्तु वह अनादि-सिद्ध। इसी मिथ्याज्ञान पर अहंकार-ममकार आधारित हैं और उन पर समस्त लोक-व्यवहार।

अविद्या का स्वरूप, विषय और आश्रय, मिथ्यात्व का लक्षण, भ्रम की व्याख्या इत्यादि से संबद्ध विशुद्ध तार्किक प्रश्नों पर शंकराचार्य की रचनाओं में विस्तृत विवेचन नहीं मिलता। उन्होंने मानवीय बोध का विश्लेषण अनुभूति और युक्ति के आधार पर स्वतंत्र रूप से किया है किन्तु जगत् और सृष्टि के विषय में प्राय: श्रौत परम्पराओं की व्याख्या से ही सन्तोष किया है। इनके परवर्ती आचार्यों ने अविद्या, मिथ्यात्व आदि के प्रत्ययों का अधिकाधिक परिष्कार किया। इस परिष्कार की आवश्यकता मतान्तरीय आचार्यों के प्रश्नों का उत्तर देने के लिये विशेष रूप से थी। भक्ति के प्रसार के साथ वेदान्त के जो नये प्रस्थान उदित हुए : विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि : उनके आचार्यों ने केवलाद्वैत

के मिथ्यात्व-प्रतिपादक मायावादी पक्ष की प्रचुर आलोचना की, यह सुविदित है। शास्त्रार्थ के युग में इस चुनौती के समक्ष अद्वैती आचार्यों ने मिथ्यात्व-सिद्धि को अद्वैत-सिद्धि का द्वार ही बना दिया। मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि का प्रारम्भ ही इस प्रकार किया है: "तत्राद्वैतसिद्धेर्द्वैत-मिथ्यात्व सिद्धिपूर्वकत्वात् द्वैतमिथ्यात्वमेव प्रथममुपपादनीयम्" और अपने ग्रन्थ में उन्होंने मिथ्यात्व के अनेक लक्षण-प्रमाण संगृहीत और परिष्कृत किये हैं। निवृत्तिमार्गी मूल्यों के युग में इस प्रकार का निषेधात्मक वेदान्त वैदिक हिन्दू-समाज के लिये पर्यान्त आकर्षण रखता था। किन्तु आधुनिक काल में कर्मप्रधान समाज-केन्द्रित मानवीय मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में पुनर्गठित हिन्दू-समाज के लिये यह निवृत्तिपरक शास्त्रार्थी वेदान्त पर्याप्त अनुकूल नहीं रहा। विवेकानंद से राधाकृष्णन् तक विचारकों ने अद्वैत को समाज-सेवा के कर्मठ जीवन से समंजस पाया। जगत् के मिथ्यात्व के स्थान पर उन्होनें उसके व्यावहारिक सत्य को प्रमुखता दी। अद्वैत में उन्होंने मानव-स्वाधीनता और सार्वभौमता का सन्धान पाया। अद्वैतसिद्ध मानव-एकता का सूत्र वर्गीय और राष्ट्रीय संघर्षों से मुक्ति दिलाने का उपाय बन सकता है, इस धारणा को पुरस्कृत किया। आधुनिक विज्ञान विश्व में एकता का सन्धान पाना युक्तिपूर्वक मानता है। इस वैज्ञानिक दृष्टि की अद्वैत से संगति की ओर भी ध्यान दिया गया है। संक्षेप में यह कहना अयुक्तिक न होगा कि अद्वैत की नवीन व्याख्याएँ उसके भावात्मक पक्ष का महत्त्व देती हैं, न कि उसके निषेधात्मक पक्ष को। विवेकानन्द, रामतीर्थ, रमण महर्षि आदि मनीषियों ने अद्वैत को जिस प्रकार अपने जीवन में चरितार्थ किया उससे भी नवीन व्याख्या-प्रणाली पुष्ट होती है। इस संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि अद्वैत वेदान्त के भावात्मक और निषेधात्मक दो पक्ष हैं जिनका संतुलन विभिन्न युगों में बदलता रहा है।

अद्वैत वेदान्त न कोरी तार्किक प्रज्ञा पर आश्रित दर्शन है, न कोरी श्रद्धा पर आश्रित धर्म। अद्वैत का सत्य श्रुति और अनुभव दोनों से सिद्ध होता है। मनन के अन्तर्गत अनुकूल तर्क श्रुतिबोधित सत्य में असंभावना एवं विपरीत-भावना को दूर कर उसे साक्षात्कार के योग्य बनाता है। जैसे ईश्वर की सत्ता तर्क से सिद्ध नहीं हो सकती ऐसे ही आत्माद्वैत या ब्रह्माद्वैत भी सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष पर आश्रित तर्क से सिद्ध नहीं हो सकता। न ही जगत् का मिथ्यात्व तर्कसाध्य है, जिससे अप्रत्यक्ष रूप से अद्वैत सिद्ध किया जा सके। वास्तव में अद्वैत की सिद्धि आत्मज्ञान में ही होती है और जगत् के मिथ्यात्व का प्रत्यय यही सूचित करता है कि ज्ञानी के लिये तथा-कथित अनात्म-विषय पूर्ववत् सत्य नहीं रहते।

शांकरोत्तर अद्वैती तार्किकों ने मिथ्यात्व पर बहुत विचार किया है। उस विचार-सागर में दो बिन्दु निरन्तर उपलब्ध होते हैं। एक तो यह कि मिथ्यात्व का अर्थ है अनिर्वचनीयत्व और दूसरा यह कि दृश्यत्व मिथ्यात्व का साधक हेतु है। लौकिक व्यवहार में अर्थ और ज्ञान के संदर्भ में सत्य और मिथ्या का जिस प्रकार का विभाजन किया जाता है उससे अद्वैती असहमत नहीं है। अव्यभिचारित्व ही सत्य का नियामक है और यह नियम व्यवहार एवं परमार्थ दोनों ही स्तरों पर समान रूप से लागू होता है। व्यावहारिक वस्तु का सत्यत्व इस बात में है कि जिस रूप में वह जहाँ अवधारित होती है उस रूप में वहाँ व्यावहारिक ज्ञान से बाधित नहीं होती। व्यावहारिक रूप से सत्य होते हुए भी उस वस्तु का ब्रह्मज्ञान से अपने अधिष्ठान में बाधित होना ही उसका मिथ्यात्व है। इस प्रसंग में लौकिक भ्रम का विशेष रूप से विचार हुआ है। रज्जु में आरोपित सर्प भ्रम का विषय है और मिथ्या है तथा रज्जु प्रमा का विषय है और सत्य है, यह निर्विवाद है। किन्तु अद्वैती को इस भ्रम के स्थल में एक गम्भीर सत्य का निदर्शन प्राप्त होता है। भ्रम का विषय भ्रान्तिकाल में प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है किन्तु ज्ञान होने पर यह निश्चित हो जाता है कि वह किसी अन्य अधिष्ठान पर पूर्व अनुभव के संस्कार से और उपलब्धि-साधन के दोष से आरोपित था। भ्रान्तिकाल में उपलब्ध होने के कारण उसे सर्वथा असत् नहीं कहा जा सकता। दूसरी

ओर ज्ञानकाल में उसके अभाव के निश्चय से उसे सत् नहीं कहा जा सकता। विषय-पक्ष में "सर्प" सत्ता अधिष्ठान-सापेक्ष हैं, विषयि-पक्ष में प्रतीति, संस्कार और करण-दोष की सापेक्ष। उसकी स्वतंत्र सत्ता न होकर किसी अपेक्षाकृत स्वतंत्र अधिष्ठान में प्रतीति-सापेक्ष सत्ता है। इस प्रकार की सापेक्ष सत्ता जिसे न सत् कहा जा सकता है न असत्, अद्वैत परम्परा में अनिर्वचनीय या मिथ्या कही जाती है। चूँकि श्रुति और अनुभव के आधार पर यह माना जाता है कि जगत् भी ब्रह्मरूप अधिष्ठान पर अज्ञान के द्वारा आरोपित है और ज्ञान से निवृत्त हो जाता है, जगत् को भी "सर्प" के समान अनिर्वचनीय अथवा मिथ्या मान लिया जाता है।

भ्रम का विश्लेषण ज्ञान के विश्लेषण का अपरिहार्य अनुषंगी है और नाना दर्शनों ने अपनी-अपनी दृष्टि से उसका पटु विश्लेषण विभिन्न ख्यातियों के रूप में किया है। कुछ लोग भ्रान्ति को ज्ञान का अग्रहणात्मक अधूरापन मानते हैं, कुछ वस्तु की प्रकारान्तर से अपव्याख्या, कुछ उसमें मन की सृष्टि ही देखते हैं। वास्तव में न्यूनाधिक रूप में ये सभी आयाम ज्ञान मात्र में उपलब्ध होते हैं। विषय का ग्रहण कभी भी उसकी समग्रता में नहीं हो सकता और ज्ञान वस्तु को विषयरूप में उपस्थित करने के साथ ही उसकी विकल्प-योजना के द्वारा संरचना भी करता है। जब यह संरचना व्यवहार की अभ्यस्त प्रत्याशाओं में बाधा उपस्थित करती हैं तभी ज्ञान के स्थान पर भ्रान्ति का संशय सामान्यतया उपस्थित होता है। इस व्यवहार के संदर्भ को छोड़कर ज्ञान और उसके विषय का सत्यासत्य निर्णीत नहीं हो सकता। प्रतीयमानता सभी विषयों को व्याप्त करती है। केवल भावना के क्षेत्र में यह आकारिक प्रतीयमानता मात्र भी विषय को सार्थक सत्ता प्रदान कर सकती है। रंगमंच पर शकुन्तलादि की प्रतीति नाट्य के संदर्भ में किस प्रकार से भ्रान्ति कही जा सकती है ? रंगशाला के बाहर उसी अभिनेत्री में शकुन्तला - बुद्धि अवश्य भ्रान्त मानी जाएगी। उपासना के संदर्भ में प्रतिमा में विष्णु-बुद्धि की भी सही स्थिति है। शंकराचार्य ने कहा है कि यह आहार्य बुद्धि मानसिक क्रिया-रूप होने के कारण ज्ञान का उदाहरण नहीं मानी जा सकती। किन्तु यह अनुभवसिद्ध है कि भावना की परिणति प्रत्यक्ष में होती है। इस प्रत्यक्ष का विषय सत्य है अथवा असत्य, इस प्रश्न का निर्णय तद्विषयक व्यावहारिक प्रत्याशा की अपेक्षा करता है। स्वामी विवेकानन्द को काली के बालिकारूप में दर्शन हुए तो उन्होंने केवल उनकी प्रसन्नता ही चाही। किन्तु यदि किसी को कुर्सी का प्रत्यक्ष हो तो उससे यह व्यावहारिक प्रत्याशा होगी कि वह बैठने के शारीरिक व्यवहार के अनुकूल हो। विषय चाहे मानसिक हो अथवा भौतिक, ऐन्द्रिय अथवा अतीन्द्रिय, वह ज्ञान में अविनाभूत प्रदत्त के रूप में रहता है किन्तु उसकी सत्ता अथवा असत्ता व्यावहारिक साधकता-बाधकता के आधार पर अध्यवसेय रहती है। शारीरिक व्यवहार के संदर्भ में ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष एवं तदाश्रित अनुमान के सहारे भौतिक पदार्थों की सत्ता अथवा असत्ता का अध्यवसाय होता है। वैज्ञानिक प्रत्यक्षवादी तो सत्य ज्ञान एवं द्रव्य-सत्ता का क्षेत्र यहीं तक सीमित रखते हैं। जो अभौतिक द्रव्यों की सत्ता मानते है उन्हें भी साक्षात् या परम्परा इन द्रव्यों में शारीरिक क्रियाओं से सम्बन्ध की शक्ति माननी पड़ती है। आत्मा अथवा चित्त का कम से कम ज्ञान से सम्बन्ध जोड़ना पड़ता है जिसकी परीक्षा व्यावहारिक अविसंवादकता से सभी करते हैं। यह स्पष्ट है कि सत्ता न तो किसी धर्मी का स्वरूपगत धर्म है न स्वयं एक स्वतन्त्र धर्म। ज्ञान में भासमान वस्तुस्वरूप और व्यावहारिक अपेक्षा का आनुरूप्य-सम्बन्ध ही सत्ता है। उसे अर्थक्रियाकारिता, कारित्र, अविसंवादकता, व्यावहारिकता आदि की संज्ञा दी जाती रही है। किसी भी संदर्भ में सद्विषय उस संदर्भ में व्यवहार-योग्यता से ही जाँचा जा सकता है। उदाहरणार्थ शारीरिक संदर्भ में भौतिक द्रव्य सद्विषय हैं, सांस्कृतिक संदर्भ में संकेत, तार्किक संदर्भ में लक्षण, धार्मिक संदर्भ में देवता।

सभी ज्ञान के सविषयक होने पर भी सद्विषयक ज्ञान को सत्य और असद्विषयक ज्ञान को

मिथ्या कहा जाता है। जलाहरण के व्यवहार के संदर्भ में घट की नीरन्ध्रता का प्रत्यक्ष अभ्रान्त माना जाएगा किन्तु अग्नि के सम्पर्क से उत्पन्न अणु-विचलन के संदर्भ में उस प्रतीति को भ्रान्त ही मानना होगा। कपड़े धोने के संदर्भ में नदी-जल की स्वच्छता की प्रतीति अभ्रान्त ही है यद्यपि जलपान के संदर्भ में यही प्रतीति पर्याप्त रूप से प्रामाणिक नहीं है।

यद्यपि ज्ञान आवश्यक रूप से सविषयक होता है, वह कम से कम अपातत: अपने विषय को नहीं रचता बल्कि उसका आलम्बन अथवा अन्तर्वस्तु विषय से निर्धारित होती है। इस प्रकार की स्वालम्बन ज्ञान-जनकता को विषय की स्वरूपता कहा जा सकता है। उसे स्वरूप की न्यूनतम शक्ति अथवा सत्ता का न्यूनतम रूप कहा जाना चाहिए। जहाँ शारीरिक व्यवहार के संदर्भ में प्रत्यक्ष से अविसंवादी निर्देशन की अपेक्षा की जाती है वहाँ यह मात्र प्रतीयमानत्वरूप सत्ता प्रातिभासिक कही जाकर तिरस्कार के योग्य भी हो सकती है। किन्तु यह बात जागरित-काल के स्थूलाभिमानी प्रमाता के लिये ही सही है। स्वप्न के मनोमय प्रमाता के लिये प्रातीतिक विषय किस प्रकार असत्य कहे जाएंगे ? यद्यपि जागरित के संदर्भ में ज्ञान को वस्तु-तंत्र माना जाता है, यह निर्विवाद है कि जागरित कालिक ज्ञान मानसिक क्रिया-पुरस्सर होता है और उसके विषयावधारण में रचना का निश्चित अंश रहता है। जहाँ यह रचनांश अविदित रूप से नियत प्रतिभासों में व्यक्त होता है वहाँ स्वयं व्यवहार का आधार होने के कारण नैसर्गिक विकल्प-गर्भ होते हुए भी ये प्रतिभास सत्य माने जाते हैं। दैशिक स्थूलत्व, कालिक अनुवृत्ति, द्रव्य, गुण, कर्म आदि विकल्पों से विशेषित वस्तुओं का जगत् व्यावहारिक होते हुए भी वस्तुत: प्रातिभासिक ही है क्योंकि वे एक विशिष्ट प्रकार के प्रमातृत्व के संदर्भ में ही सत्तालाभ करते हैं। जागरित के प्रसिद्ध लक्षणों और रूपों से प्रतीयमानयतया युक्त होकर उन विषयों के मानस प्रतिबिम्ब स्वप्न-चेतना के लिए यथार्थ बन जाते हैं, चैतन्य के संदर्भ-भेद से वही प्रतिभास यथार्थ अथवा अयथार्थ हो जाते हैं। अन्तत: चैतन्य अथवा ज्ञान-व्यवहार के संदर्भों की प्रासंगिकता स्वयं चेतना के स्थायी आत्मस्वरूप के संदर्भ में ही निर्णीत होनी चाहिए। साक्षिभूत चेतन के लिए जागरित और स्वप्न के विषय प्रत्ययमात्र सिद्ध होते हैं जोकि सुषुप्ति में विलीन हो जाते हैं। द्रष्टा के लिए निस्सार प्रत्ययमात्र होने के कारण ही जगत् का दृश्यत्व उसके मिथ्यात्व का प्रधान साधक है। विषयत्व, जड़त्व, परिच्छिन्नत्व आदि इसी के द्वार से मिथ्यात्व से व्याप्त होते हैं।

यदि साक्षिता चैतन्य का स्वरूप है तो वही आत्मा का नित्य स्वरूप सिद्ध होता है। इस नित्य स्वरूप के संदर्भ में अनित्य प्रतीतरूप विषय सत् अथवा असत् नहीं कहे जा सकते, क्योंकि केवल प्रतीति का संदर्भ इस निर्णय के लिये अपर्याप्त है। अलबत्ता इस नित्य स्वरूप के साधक के लिये समस्त विषय-जगत् मिथ्या कहा जा सकता है क्योंकि उससे मुक्ति की साधना में अन्तत: वह उपेक्ष्य रहता है। किन्तु आत्मा को चैतन्य-मात्र और चैतन्य के नित्य-स्वरूप का साक्षित्वमात्र मानकर तो मुक्ति की अवस्था में वेदान्त-सम्मत आत्मा भी सांख्य-पुरुष के समान आत्मबोध से भी मुक्त हो जाएगी और मुक्ति सचमुच महासुषुप्ति से अभेद्य हो जाएगी। यदि यह कहा जाय कि मुक्ति में सुषुप्ति का अविद्यान्धकार न रहेगा तो यह बताना होगा कि इससे साक्षी में क्या अतिशय आएगा अथवा वह किस दोष से मुक्त होगा। यदि जीवनमुक्ति व विश्वात्मबोध ही लुप्त हो जाएगा तो ब्रह्मात्मभाव भी न रहेगा। इस प्रकार की मुक्त आत्मा को अनेक वृहत् सत्य के अनुसन्धाताओं ने उपेक्ष्य समझा है। साक्षिता उसकी न्यूनतम कला है जो कभी भी निमीलित नहीं होती, किन्तु वह पूर्ण आत्मस्वरूप नहीं है। आत्मा का अविद्यामुक्त स्वरूप ब्रह्म की पूर्णता के अतिरिक्त क्या हो सकता है ? आत्मभाव न्यूनतमशक्तिक

साक्षिता न होकर अनन्तशक्तिक होना चाहिए, जिसे भूमा या पूर्ण कहा गया है। साक्षित्व में प्रतिष्ठित होने की साधना में जो विश्व मिथ्या प्रतीत होता है उसे ज्ञानी की दृष्टि में आत्मभूत, ब्रह्मभूत ही प्रतीत होना चाहिए।

इस प्रकार साधना की दृष्टि से मिथ्यात्व की भावना अद्वैत मार्ग में एक पड़ाव भर हो सकती है। व्यावहारिक सत्य का बाधक न होने कारण और परमार्थ में सत् का और असत् का विरोध न होने के कारण तर्क की दृष्टि से मिथ्यात्व का प्रत्यय केवल भेदवादी दृष्टि के मन पर सहजप्रभाव के परिहास के लिये उपयोगी है।

***

परिच्छेद : तीन

जड़ावलाल मेहता

जीवन-लोक, भाष्य एवं भाषा चिन्तन

3.1 जीवन-लोक, पावनता और भाष्यात्मक चिन्तन

3.2 भाषा एवं तथ्य-चित्रण

जड़ावलाल मेहता

अपनी साधना के शिखर पर पश्चिमी ज्ञान परम्पराओं को पूरी तरह स्वायत्त कर चुकने के उपरान्त सांस्कृतिक आत्मविश्वास की स्वार्जित धरातल पर भारतीय धर्म एवं दर्शन परम्पराओं के गहरे मंथन में आजीवन जुटे प्रो. मेहता का जन्म १९१२ में हुआ था। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से दर्शनशास्त्र में एम.ए. की उपाधि प्राप्त कर वे लम्बे समय तक किशोरी रमण कॉलेज-मथुरा (१९३७-४४), महाराजा कॉलेज-जयुपर (१९४४-४८), एवं दर्शन विभाग-काशी हिन्दू विश्वविद्यालय (१९४८-७२) से सम्बद्ध होकर स्वाध्याय एवं अध्यापन कार्य में संलग्न रहे। १९४८ में जब प्रो. मेहता काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में लेक्चरर होकर आये तो मार्टिन हाइडेगर के दर्शन पर उन्होंने अपना बहुप्रतीक्षित शोध कार्य आरम्भ किया और १९६५ में उन्हें काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. की उपाधि प्रदान की गई। पद्मभूषण प्रो. टी.आर.वी. मूर्ति वहाँ उनके वरिष्ट सहयोगी एवं पदेन सुपरवाइजर भी रहे। बाद में उनका यह शोध कार्य "दि फिलॉसफी ऑफ मार्टिन हाइडेगर" शीर्षक से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के सेन्टर ऑफ एडवांस्ड स्टडीज इन फिलॉसफी से पहली बार प्रकाशित हुआ। आज इस पुस्तक की गणना उस विषय पर लिखी गयी विश्वप्रसिद्ध रचना के रूप में की जाती है। "ऑन वायलेन्स" नामक विश्वविख्यात कृति की लेखिका और प्रख्यात विदुषी हन्ना आरेण्ट ने प्रो. जे.एन. मोहन्ती को बातचीत के दौरान कहा था कि "तुम्हे पता है कि किसी भी भाषा में हाइडेगर के दर्शन पर सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ किसने लिखा है ? तुम्हारे अपने ही देशवासी ने अर्थात् जे.एल. मेहता"। प्रो. मेहता बी.एच.यू. में पदस्थ रहते हुए ही अलेक्जेन्डर वॉन हमबोल्ट फाउण्डेशन- जर्मनी के फैलो (१९५६-५८), अमेरिका में डब्लू फुलब्राइट विजटिंग लेक्चरर (१९६४-६५), अमेरिका के ही हवाई यूनिवर्सिटी में दो वर्ष के लिए प्रोफेसर एवं हावर्ड यूनिवर्सिटी में १९६२ से १९७२ तक विजटिंग प्रोफेसर जैसे अन्तर्राष्ट्रीय अकादमिक जगत् के सम्मानित पदों पर भी रहे। भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्-दिल्ली ने भी उन्हें सीनियर फैलो बनाकर अपने को गौरवान्वित किया है। उनकी प्रसिद्ध कृतियाँ-दि फिलॉसफी ऑफ मार्टिन हाइडेगर, मार्टिन हाइडेगर (वाल्टर बेइमेल की पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद), श्री अरविन्द : लाइफ, लैंग्वेज एण्ड थॉट, दि प्रॉब्लेम ऑफ अण्डरस्टैडिंग : इण्डिया एण्ड दि वेस्ट, कवि कर्म और चिन्तन : सर्जना के दो आयाम, फिलॉसफी एण्ड रेलिजन: एस्सेज ऑन इन्टरप्रेटेशन इत्यादि हैं। प्रो. मेहता की मेधा जितनी मर्मस्पर्शी और उनके विचारों के आयाम जितने विस्तार लिये हुए थे, वह वास्तव में एक वाङ्मय का रूप लेता है। इस दृष्टि से उन्होंने कम लिखा लेकिन जो भी लिखा वह अत्यन्त सृजनात्मक, मूलगामी एवं अपनाने योग्य लगता है। अपने सुचिन्तित वाङ्मय को कुछ लिखित एवं शेष अलिखित ही छोड़कर वह "श्री कृष्ण : दि लॉर्ड ऐज फ्रेण्ड" पर व्याख्यान देते हुए १९८८ में स्वर्गारोहण कर गये।

*

जीवन-लोक, पावनता और भाष्यात्मक चिन्तन*

'लाइफ-वर्ल्ड' शब्द-युग्म की उद्‌भावना दार्शनिक एडमंड हुस्सर्ल की है। 'यूरोपीय विज्ञानों का संकट' नामक उसकी अन्तिम कृति तक आते-आते हम देखते हैं कि, असंदिग्ध आधार की जीवन-व्यापी खोज से जुड़े उसके चिंतन में क्रान्तिकारी परिवर्तन आ चुका था। निश्चय ही, अभी भी वह अपने उस पूर्व दृष्टिकोण को कसके थामे हुए है जिसके अनुसार, वह सब जो विषय की भाँति ज्ञात है - जैसे विज्ञान की दुनिया—उस अतिक्रामी अहं में मूलित होता है जो कि स्वयं अपने-आप में प्रदत्त विषय-जगत् का हिस्सा नहीं है। अन्तर जो पड़ा है वह यह है कि सद्यः रूप से प्रदत्त और प्रत्यक्ष अनुभव के विषय इस जगत् को अब वह वैज्ञानिक या वस्तुपरक ज्ञान की उन सैद्धान्तिक संरचनाओं की तुलना में हीनतर सत्य करके नहीं आँकता : उन सैद्धान्तिक संरचनाओं की तुलना में जिन्हें हम अपने प्रत्यक्ष जीवनानुभव के आधार पर ही निर्मित करते हैं। साक्षात् जिया जा रहा यह जगत् न केवल अपने-आप में सत्य है बल्कि यह समस्त सैद्धान्तिक निर्मितियों का पूर्ववर्त्ती है और इसके सत्य को अब हुस्सर्ल मात्र विषयपरक सत्य के पूर्वाभास की तरह नहीं देखता। उलटे, वह तो बुनियाद है, समस्त सैद्धान्तिक निर्मिति के लिए अन्तिम प्रमाण-स्रोत-उस फ़ल्सफ़ाई ज्ञान-प्रणाली के लिए भी प्रमाण-स्वरूप जिसका आविष्कार यूनानियों ने किया था और जिसे आज हम विज्ञान की दुनिया के रूप में जानते हैं। तो सिद्धान्त-पूर्व ही ग्राह्य, अनुभूत और जिये गए इस जीवन-जगत् की प्राथमिकता को स्वीकार करते हुए अपने जीवन की सन्ध्या में हुस्सर्ल ने इस बात को अच्छी तरह देख लिया था कि 'फिनोमिनोलॉजी' का मुख्य कार्य इसी जीवन-जगत् के प्रागनुभविक रूप का गहन अनुसंधान है। यह कि फिनोमिनोलॉजी का काम सिर्फ यह बताना नहीं है कि सैद्धान्तिक ज्ञान का ताना-बाना किस तरह इस दृश्य जगत् के आधार पर निर्मित किया गया, बल्कि यह भी, और मूलत: यही, कि कैसे यह जीवन-जगत् स्वयं अतिक्रामी विषयिता के अनाम कृत्यों द्वारा रचा गया होगा। हमारे चतुर्दिक व्यापे हुए इस जगत् की अवधारणा, हुस्सर्ल के ही शब्दों में – "एक ऐसी अवधारणा है जो पूर्णत: और केवलमात्र हमारे मानसिक-आध्यात्मिक लोक में ही अवस्थित होती है। यही तथ्य - कि हम अपने विशिष्ट परिवेश में रहते हैं – उस परिवेश में जो हमारी समस्त चिंताओं और प्रयत्नों का आलम्बन है—यही एक ऐसे तथ्य की ओर इंगित करता है जो हमारी समस्त चिंताओं और प्रयत्नों का आलम्बन है—यही एक ऐसे तथ्य की ओर इंगित करता है जो विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक लोक में ही घटित होता है। हमारा यह जीवन लोक हमारे भीतर और हमारे ऐतिहासिक जीवन में एक आध्यात्मिक संरचना की तरह विद्यमान है। ......इस चतुर्दिक व्याप्त विश्व की प्रकृति को आत्मा से इतर एक अजनबी की तरह देखना और इसीलिए मानवीय विज्ञान को तथाकथित शुद्ध विज्ञान बनाने के लिए उसे प्राकृतिक विज्ञान से पुष्ट करने का प्रयत्न करना बिल्कुल अर्थहीन और अनर्गल बात है।" हुस्सर्ल आगे लिखता है : "प्रत्येक राष्ट्र का एक अपना विश्व होता है, उसे अनुप्राणित करने

** अनुवादक - रमेशचन्द्र शाह, एक प्रख्यात साहित्यकार जिनकी मेधा सृजनात्मक अन्तराल के क्षणों में ऐसे कार्यों में संप्लवित होती है।*

वाले राष्ट्रोपरि आदर्शों से एकीकृत जीवन-प्रणाली का अपना विश्व; और उस विश्व को एकत्व भी वहीं से मिलता है। योरोपीय मनुष्य का विश्व हिन्दू या चीनी मनुष्य की अपनी राष्ट्रीय विशेषताओं से युक्त विश्व से सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार हमें चारों ओर से घेरे हुए यह विश्व पूरी तरह एक आध्यात्मिक अवधारणा है और सम्बन्धित प्रजाओं के इतिहास और परम्परा की एक विशिष्ट संरचना को प्रकट करता है। उन्हीं-उन्हीं लोगों द्वारा अपना यह जीवन-लोक स्वयं अपने भीतर से, स्वयं अपने भीतर ही रचा गया है।''

'फिनोमीनोलॉजी' की आधारभूत और सार्वभौम समस्या को हुस्सर्ल अब इस जिज्ञासा के रूप में पहचानता है कि जीवन-लोक स्वयं किस प्रकार निर्मित होता है। अर्थात् जिज्ञासा का विषय अब विशिष्ट जीवन-लोकों का ऐतिहासिक प्रादुर्भाव और स्वरूप-वर्णन उतना नहीं है जितना यह कि जीवन-लोक मात्र निर्मित किस प्रकार होते हैं और किस तरह 'जीवन-लोक' के विज्ञान की नींव रखी जा सकती है। हुस्सर्ल इस जीवन-लोक के व्यवस्थित अध्ययन की संभावना को स्वीकार करता है ...... यानी, 'आनुभूतिक जगत् के रूप में लाइफ-वर्ल्ड' की 'ऑन्टोलोजी' की संभावना को। साथ ही, वह जगत् की अपरिवर्तनीय संरचनाओं के प्रति भी जिज्ञासु है। हालांकि उसकी अपनी रुचि मुख्यत: इस जगत् के अतिक्रामी स्वरूप में है।

प्रत्यक्ष-संवेद्य विश्व की संरचना के प्रति जिज्ञासा से प्रेरित इस दार्शनिक अनुशासन के विकास में हुस्सर्ल और हाइडेग्गर के परस्पर प्रेरक-योगदानों को साफ-साफ अलग करना असंभव है। यह जिज्ञासा उस विश्व के प्रति जिज्ञासा है जो सैद्धांतिक ज्ञान और विषय के द्वैत का भी पूर्ववर्ती है। यह विश्व मॉरिस मर्लो पोंती के शब्दों में ''मेरे द्वारा जिया जा रहा संसार है; मेरे द्वारा विचारित संसार नहीं।'' उसी के कथनानुसार बींग एण्ड टाइम पूरी तरह हुस्सर्ल के ही एक संकेत से पनपा है और अपने-आप में वह उस प्राकृतिक विश्व की अवधारणा, अर्थात् जीवन-लोक के ही प्रतिपादन से अधिक कुछ नहीं है जिसे हुस्सर्ल ने अपने जीवन के अन्तिम दिनों में फिनोमिनोलॉजी की केन्द्रीय विषय-वस्तु के रूप में पहचाना था।

जैसाकि हांस गेडामर ने भी कहा है, प्रश्न इसका उतना नहीं है कि किसने किसको और किस सीमा तक प्रभावित किया, क्योंकि दोनों एक-दूसरे के कृतित्व से अभिज्ञ थे, बल्कि समकालीन मानस में अन्तर्निहित उस प्रश्न के बारे में स्पष्ट होने का है जिसके सटीक उत्तर-स्वरूप ही 'लाइफ-वर्ल्ड' की अवधारणा सामने आई। तथ्य तो यही है कि जो बात हुस्सर्ल के यहाँ मात्र संकल्पना तक सीमित रही उसके व्यवस्थित ढंग से कार्य-रूप में परिणित होने की नौबत हाइडेग्गर के 'बींग एण्ड टाइम' में ही आई। इतना जरूर है कि यह काम हाइडेग्गर ने 'बींग' के अर्थ से सम्बद्ध स्वयं अपने प्रश्नों के परिप्रेक्ष्य में ही किया : बिना अतिक्रामी अहं के कारक माध्यम की परवाह किये, जैसाकि हम हुस्सर्ल के यहाँ देखते हैं। हाइडेग्गर के ग्रंथ में दजाइन का सारा विश्लेषणात्मक विवेचन उसी 'जीवन-लोक' की सत्ताविषयक अन्वीक्षा प्रस्तुत करने के उद्देश्य से प्रेरित है जिसकी बात हुस्सर्ल ने की थी - बेशक, उपर्युक्त सीमाओं के अन्तर्गत ही। इस अवधारणा में जगत् विषयि-सत्ताओं का योगफल अथवा मनुष्य को प्रस्तुत वस्तु-जगत् ही नहीं है, उसी तरह जिस तरह मनुष्य भी ऐसी समग्रता में ही अवस्थित एक वस्तु मात्र नहीं है। जगत् यहाँ अर्थों का एक क्षितिज है जिसके भीतर हम निवास करते है; जगत् मनुष्य के संसार में होने, अर्थात् उसके अस्तित्त्व की संरचना का अंश है। यदि हम हाइडेग्गरकृत अर्न्स्टकैसिरर के फिलॉसफी ऑफ सिंबॉलिक फॉर्म्स की तथा कार्ल यास्पर्स के फिलॉसफी ऑफ वर्ल्ड व्यूज की आलोचना को देखें तो हम पाएँगे कि हाइडेग्गर की आलोचना इन दृष्टियों की अपर्याप्तता का उद्घाटन करती है; और सार्त्रीय मानववाद की भी जो आलोचना उसने प्रस्तुत की, वह भी न केवल सभी प्रकार के अस्तित्त्ववादों

से उसकी दूरी का पर्याप्त संकेत करती है बल्कि हम जिन्हें अपना जगत् कहते हैं उन अर्थ-वितानों की भी समस्त मानव-केन्द्रित अवधारणाओं से उसका पार्थक्य स्पष्ट कर देती है।

यद्यपि हम हुस्सर्ल की 'ट्रांसेंडेंटल फिनोमिनोलाजी' की कुछ आधारभूत अन्तर्दृष्टियों की अनदेखी नहीं कर सकते, न हाइडेग्गर द्वारा अरम्भ से अन्त तक अपनाए गए चिंतन-पथ की ही, यहाँ हमारा प्रयोजन उन दर्शनशास्त्रीय और आलोचनात्मक हेतुओं की चर्चा करना नहीं है जिन्होंने इन विचारकों को प्रेरित किया। हमारा ध्येय तो यहाँ उस विधि की चर्चा करना है जिस विधि से धर्मतत्त्व जीवन-लोक में प्रवेश करता है, अर्थात् मनुष्य के जगत् में होने की प्रणाली में, यानि उसकी संस्कृति में - जैसाकि नृतत्त्वशास्त्री कहते हैं। दूसरे शब्दों में, समाजशास्त्रियों के लिए जो 'सामाजिक रूप से संरचित संसार' है, उसमें, अथवा विल्फ्रेड स्मिथ और मर्च्या एलियाद जैसे धर्म-इतिहासवेत्ता जिसे 'अनिवार्यत: धार्मिक मनुष्य' कहते हैं उस आधुनिक मानव के जीवन में धर्म किस तरह प्रवेश करता है, यही हमारी प्रस्तुत चिंता का विषय है। अपने इस असली विषय पर एकाग्र होने से पूर्व, अच्छा हो, यदि हम 'फिनोमिनोलॉजी' की दिशा वाले दार्शनिकों पर भी एक नजर डाल लें और देख लें कि वे इस बारे में क्या कहते हैं। जहाँ तक खुद हुस्सर्ल का सम्बन्ध है, उसकी चिंता तो मुख्यत: यही थी कि इस जीवन -लोक में -मनुष्य के प्रातिभत: ज्ञात प्राकृतिक अनुभव में ही - समस्त सैद्धान्तिक ज्ञान की पक्की नींव कैसे डाली जाय ? इतना तो वह पहचान ही चुका था कि 'जीवन-लोक' में 'मिथक' और ईश्वर में आस्था जैसी चीजें भी शामिल होती हैं; और परम्परा तथा ऐतिहासिकता भी उसकी चारित्रिक विशेषताएँ हैं। किन्तु दो-एक चलताऊ संकेतों को छोड़ दें तो अन्यथा उसके लेखन में धार्मिक प्रश्नों का कोई चिन्ह नहीं मिलता। उसकी एकमात्र अभिलाषा-या कहें उसका एकमात्र धर्म—'एक ईमानदार दार्शनिक' बनना ही था। सैद्धान्तिक सत्य की खोज ही उसके लिए धार्मिक कर्त्तव्य की तरह थी। हालांकि उसने परम्परा को जीवन-लोक के संघटक की तरह स्वीकार किया किन्तु इस परम्परा में भी उसका ध्यान केवल उसके ज्ञानात्मक पक्ष पर ही केन्द्रित रहा - जो पक्ष, यूनानियों की अवधारणात्मक तार्किकता में मूलित है। इतना ही एकांगी दृष्टिकोण उसका दूसरे मामलों में भी झलकता है : परम्परा की संवाहक भाषा को लेकर और उस रचनात्मक क्रिया को लेकर भी जिसके अन्तर्गत भाष्य और अनुवाद की निरन्तर प्रक्रिया परम्परा को एकसूत्रता प्रदान करती है और उसके ऐतिहासिक आयाम का भी आकलन करती है। मुख्य प्रश्न जो यहाँ पर उठते हैं इस प्रकार हैं :- क्या यह संभव अथवा सार्थक है कि 'लाइफ-वर्ल्ड' को अतिक्रामी पृच्छा के जरिए प्रत्यक्ष संज्ञान में प्रदत्त रूप में अपचित कर दिया जाए ? दूसरे, अव्याख्यायित अनुभव के एक ऐसे आधार की खोज का क्या कोई मतलब है जो भाषा-तत्त्व से सर्वथा अछूती हो ? तीसरे, हम चाहे जितना भी पीछे जाएँ, क्या हम नहीं पाते कि भाषा पहले ही हमारे समस्त बोध और प्रातिभों में प्रविष्ट हो चुकी हो चुकी होती है? विल्हेल्म डिल्थे ने जीवन-लोक को साकर करने में इतिहास की भूमिका पर पर्याप्त प्रकाश डाला है और उसके निर्माण में भाष्य-लेखन की भूमिका को भी पहचाना है। अलावा इसके, हाइडेग्गर और मैक्स शीलर ने 'लाइफ-वर्ल्ड' के अन्तर्गत हमारे दैनिक जीवन के धार्मिक आयाम पर समुचित ध्यान एकाग्र किया है। बीइंग एण्ड टाइम से भी बहुत पहले अपने आरंभिक व्याख्यानों में भी हाइडेग्गर ने 'फिनोमिनोलॉजी' के असली कार्य की संककल्पना जिस रूप में की थी वह यही था : इस बात को समझना कि कैसे हमारा यह यथार्थ अनुभूत तथ्यात्मक जीवन अपने भीतर ऐसी गहराइयाँ छिपाए हुए है जिन्हें हमें इसी जीवन में निहित स्वत: स्फूर्त आत्म-व्याख्यात्मक क्रिया द्वारा उजागर करना चाहिए। उन गहराइयों को जो धार्मिक परम्परा के लिए सुलभ रही हैं किन्तु दर्शन की पहुँच से बाहर ही रही हैं। चिंतन का महत्त्वपूर्ण कार्य इसीलिए उन तमाम तार्किक आवरणों पर सवालिया निशान लगाना हो जाता है जिन्हें पश्चिमी फल्सॅफा परम्परा ने यथार्थ में जिये जाते जीवन के ऊपर चढ़ा दिया

है। कोई ऐसा रास्ता निकलना ही चाहिए कि परम्परागत 'ऑन्टोलॉजी' के इस संचित भार को अलग करते हुए हमारे वास्तविक भुक्तभोगी जीवन की व्याख्या नए सिरे से उस तथ्यात्मकता की 'भाष्य-विधि' द्वारा की जा सके जिसका संकेत हाइडेग्गर ने अपने स्वाधीन चिंतन की दीर्घ जीवन-यात्रा के आरम्भिक चरणों में किया था। एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न, जो उसे उन दिनों उद्वेलित करता था कि मूल ईसाई जीवन की जीवनाभूति क्या है ;- उस पर किस प्रकार पिछले हजार बरसों में राशीभूत थियोलॉजिकल और फिलॉसॉफिकल अवधारणाओं के आवरण चढ़ चुके हैं ? किस तरह यह जीवनानुभव जीवन की ऐतिहासिकता के उससे भी गहनतर अनुभव को अपने में समाहित किये हुए है जिसकी बात मानवीय ऐतिहासिकता के सबसे अग्रणी सिद्धान्तकार डिल्थे ने की है ?

'इंट्रोडक्शन टु दि फिनोमिनोलॉजी ऑफ रिलीजन' नामक अपनी पहली व्याख्यान-माला में हाइडेग्गर ने उस तथ्यात्मक जीवनानुभव से जूझने का उपक्रम किया है जिसे सेण्ट पॉल के 'एपिसिल्स' में अभिव्यक्ति मिली है। अपने पहले पत्र में ही पॉल ईसा की वापसी की उम्मीद के बारे में बात करता है- उस उम्मीद के बारे में जो ईसाई जीवन की आधारशिला है, और ईश्वर के भविष्य के बारे में भी ("यह आवश्यक नहीं है, मेरे भाइयों - उस पुन:प्राकट्य के मुहूर्त के बारे में कुछ भी कहना; क्योंकि तुम जानते हो, भगवान् के प्राकट्य का मुहूर्त उतने ही चुपके से आएगा जैसे रात में तारे आते हैं") भविष्य का मुख्य गुण है-आकस्मिकता; और आकस्मिकता 'क्रोनोलॉजिकल' न होकर 'कैरोलॉनिकल' हुआ करती है। 'कैरोस' संकल्प रूपी छुरे की धार है - समय के सारे हिसाबी-किताबी नियंत्रण से परे' जीवन का वह पक्ष जिसे सिर्फ जिया जा सकता है, जिसका विषयकरण असंभव है। वह ऐसी घटना नहीं हैजिसे उसकी विषयसामग्री की शब्दावली में बयान किया जा सकता है - एक ऐसी गति, जो हमारे वश में नहीं है, जिसे हम घड़ी-घंटों के हिसाब से नहीं पकड़ सकते। तथ्यत: जिए जाने वाले जीवन की संरचना का सबसे प्रभावशाली पक्ष तो वास्तव में यही अनिर्वचनीय 'गति' ही है। इस प्रकार मूल ईसाई धार्मिकता हाइडेग्गर को जीवन के तथ्यात्मक अनुभव का वह नमूना पेश करती है जिससे वह तथ्यात्मक जीवन-संरचना की वे आधारभूत कोटियाँ निकालता है जो उसके महाग्रंथ 'बींग एण्ड टाइम' में अस्तित्त्व के विश्लेषण के रूप में आकार पाती हैं। कहने का तात्पर्य यह कि आरम्भिक ईसाईयत में जो जीवनानुभव की विशुद्धता थी उस पर बाद में मैटाफिजिकल अवधारणाओं के आवरण इस कदर अध्यारोपित होते गए कि वह विशुद्ध जीवनानुभव एक तरह से झुठला सा गया। कुछ जगह, जैसे ऑगस्टीन में, मध्यकालीन रहस्यदर्शियों लूथर तथा कीर्केगार्द में हाइडेग्गर को जिये गए अनुभव की यथा-तथ्यता को पुनरुपलब्ध करने के प्रत्यन दीखे किन्तु उसने यह भी लक्ष्य किया कि ऐसे हर प्रयत्न की राह में वे असंगत मैटाफिजिकल अवधारणाएँ रोड़े अटकाती रही हैं। 'ऑगस्टीन और नियोप्लेटोनिज्म' शीर्षक से अपनी व्याख्यानमाला में हाइडेग्गर ने कन्फेशन्स के दसवें अध्याय का पुनरीक्षण किया और यह दिखलाया कि किस तरह जीवनानुभव की यथातथ्यता में जड़ें रोपे होने के बावजूद ऑगस्टीन का चिंतन नियोप्लेटॉनिज्म से आयातित अवधारणाओं के मिश्रण के कारण अपने लक्ष्य से भटक गया है। मूल अनुभूति तक पहुँचने के लिए इसी कारण पहले यह अनिवार्य है कि हम उन अवधारणात्मक अध्यारोपों की इमारत को गिरा दें और तब उस अनुभव की व्याख्या मानवीय जीवन-लोक के एक सार्वभौम घटक के रूप में करें। दर्शनशास्त्रीय अवधारणा वास्तविक जीवनानुभूति के समकक्ष या पर्याप्त नहीं हुआ करती क्योंकि वास्तविक जीवनानुभव में जो बात महत्त्व की है वह उसकी विषय-सामग्री (यानी 'क्या') उतनी नहीं है। महत्त्व की बात है वह जीवन-भोग जिसका 'विषयकरण' नहीं किया जा सकता : जीवन की वह हलचल, वह अस्थिरता, जो सारत: एक प्रक्रिया या घटना है। दूसरे शब्दों में, समय में घटित होने वाली कोई चीज नहीं बल्कि स्वयं समय-तत्त्व। न केवल जीत संसार का घटनात्मक विचरित्र, बल्कि ईश्वर, सत्य और जगत्

भी इस आद्य, तथ्यात्मक जीवनानुभव के अन्तर्गत ही अपने मूल चरित्र में अनुभूत होते हैं। तत्त्वमीमांसात्मक चिंतन - चूँकि वह जो कुछ भी हमारे सम्मुख साक्षात् उपस्थित और जीवन्त है उसे अवधारणों में स्थिर और जड़ कर देने वाली प्रक्रिया है - अत: वह स्पंदनशील जीवन के हमारे संवेदन को झुठला सकता है या विद्रूप कर दे सकता है।

हमारे इस जगत् में होने का दूसरा अ-विषयकरणीय पक्ष इसमें निहित है कि हम जीवन को कैसे जीते हैं, हमारी सम्पूर्ण भावना कैसी है, अर्थात चीजों के साथ वह समस्वरता जो जीवन-लोक में हमारे सब कुछ को अनुभव करने के ढंग को निर्धारित करती है। मैक्स शेलर ने हमारी अनुभूति के इस भाव-पक्ष पर खासा जोर दिया था और लज्जा, सहानुभूति, राग-द्वेष इत्यादि भावों का परीक्षण करके दर्शाया था कि कैसे हमारा ज्ञानात्मक जीवन ही स्वयं इन भाव-दशाओं में मूलित होता है। 'बींग एण्ड टाइम' में हाइडेग्गर ने व्यवस्थित ढंग से इसकी जाँच की, कि किस प्रकार हमारे जगत् में होने का ढंग हमारी आधारभूत आत्म-संगति ('एट्यूनमेंट') से निर्धारित होता है - जैसे कि दुश्चिंता या शंका और सुनिश्चय या विस्मय, या सुरक्षा और शान्ति से। ये सारे भाव हमारे भीतर चलती रहने वाली विशेष मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के रूप में अभिप्रेत नहीं हैं बल्कि वास्तव में अनुभूत विविध भावों की सम्भावना की सत्ताविषयक प्रतिज्ञाओं के रूप में ग्राह्य हैं। साथ ही, यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि ये आधारभूत भावात्मक उन्मुखताएँ मानव-जाति के सामूहिक जीवन में युग-युगानुसार बदलती रहती हैं। इस बात को हाइडेग्गर ने पश्चिम के ऐतिहासिक जीवन को उदाहृत करते हुए दर्शाया भी है। 'बींग एण्ड टाइम' के उस प्रकरण में जो 'चिन्ता' के बारे में है, हाइडेग्गर एक दृष्टांत देता है - 'क्यूरा' नामक प्राचीन लैटिन बोध-कथा का। यह दृष्टान्त एक प्राक्-सैद्धांतिक बोध की साहित्यिक अभिव्यक्ति का है। इस तरह का साक्ष्य मनुष्य-जाति की सभी धार्मिक परंपराओं में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है और जीवन-लोक को आकार देने वाली परंपराओं के सम्यक् ज्ञान के लिए तर्क-प्रसूत सिद्धांतों से हजार गुना अधिक मूल्यवान् है। निश्चय ही ये दंतकथाएँ और पौराणिक आख्यान कई तरह की व्याख्याओं को भी आमंत्रित करते हैं। ये रचनात्मक-व्याख्यात्मक प्रयत्न उस जीवन-लोक की सही समझ के लिए तो जरूरी हैं ही जिससे ये कथाएँ उपजी होंगी साथ ही, सामान्य मानवीय जीवन-संसार के साक्षात् के लिए भी उनका महत्त्व है। इस साक्षात्कार का मार्ग जिस प्रक्रिया से होकर गुजरता है वह अवधारणात्मक अध्यारोपों को अलगाने तथा उनसे जुड़ी सत्तामीमांसात्मक व्याख्या को ध्वस्त करने के बाद नए सिरे से नए परिप्रेक्ष्य में उन कथाओं की व्याख्या करने की चुनौती से होकर गुजरता है। यह परिप्रेक्ष्य वही होगा जो हमारी वर्तमान परिस्थिति में हमारे लिए संभव है। काफी दूर तक वह हमारी अपनी साहित्यिक-धार्मिक परम्परा से निर्धारित होगा और इसलिए यह काम फिर भी बाकी रह जाएगा कि हम इन परिप्रेक्ष्यों को साथ लाएँ और एक अधिक गहरे सत्तामीमांसात्मक स्तर तक खुदाई करते हुए मानवीय जीवन-लोक की आधारभूत संरचना की खोज का लक्ष्य सामने रखें। इससे यह परिणाम निकलता है कि विभिन्न धार्मिक परंपराओं के जीवन-संसारों के बीच तुलना करने का काम और फिर एक ही सर्वाश्लेषी - सर्वव्यापी जीवन-लोक की खोज का काम-यदि सचमुच सफल होता है तो उसे अवधारणात्मक निर्धारण के स्तर पर किसी भी हालत में शुद्ध नहीं होना चाहिए। उस स्तर पर तो भेदों का ही प्राबल्य मिलेगा। मिथक, दंतकथा और प्रतीकों के प्राग अवधारणात्मक स्तर पर ही ऐसी खोज का आरंभ करना फलप्रद होगा। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए हमारे पास व्याख्या और रचना ही एकमात्र उपकरण हैं। किन्तु इन उपकरणों के सही इस्तेमाल के लिए - जो कि मात्र उपकरण न होकर हमारे मानवीय जीवन-लोक की सत्ता के ही संघटक और कारक हैं - यह अत्यावश्यक है कि हम एक ऐसे व्यापक सूत्र तक पहुँचने के लिए प्रस्तुत हों जो सबको स्वीकार्य हो सके, यानी ऐसा सूत्र जिसमें हम सब भागीदार बन

सकें। आरम्भ तो हम केवल ईसाई, हिन्दु और चीनी जीवन-लोकों के विवेचन से ही कर सकते हैं। धार्मिक प्राणी होने के नाते क्या यह अभीष्ट न होगा कि हम एक ऐसे सर्वनिष्ठ जीवन-जगत् की अभीप्सा करें जिसकी विविध विशिष्ट अभिव्यक्तियों के उदाहरण स्वरूप उपर्युक्त जीवन-लोक दिखाए जा सकें और जिसके भीतर से ये सब निकाले जा सकें ? मैं समझता हूँ ऐसा प्रयत्न सार्थक है क्योंकि हम सभी मानव-प्राणी हैं, और इसलिए भी कि हम सभी बोलने-बतियाने वाले जीव हैं जो कि न केवल एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद कर सकने में समर्थ हैं बल्कि अनिवार्यत: सारे समय यही करते रहते भी हैं। हाँ, यह भरोसा मुझे नहीं है कि यह कोई ऐसा काम है जिसे यहाँ और अभी हमेशा-हमेशा के लिए करके छुट्टी पा ली जा सकती है। जैसाकि सभी प्रकार के वार्तालाप में होता है, कुछ न कुछ तो सदैव अनकहा छूट ही जाता है, और चूँकि हम सभी सीमाबद्ध प्राणी हैं, यह प्रयत्न किसी भी क्षण समाप्त नहीं हो सकता। वह तो एक निरन्तर जारी रहने वाला अभियान ही हो सकता है : सदा ही अपर्याप्त और कभी भी पूर्णाहुति तक न पहुँचने वाला। इसलिए कि जीवन एक उड़ते हुए पक्षी के समान है जिसकी उड़ान को - जब तक पक्षी उड़ता रहता है - कभी भी विषयकृत नहीं किया जा सकता। न ही उससे एक ऐसे कर्त्तव्य की तरह निपटा जा सकता है जिसे बस अब कर ही डालना है।

'बींग एण्ड टाइम' लिख चुकने के एक बरस पहले ही हाइडेग्गर को यह बात अच्छी तरह समझ में आ गई थी कि तत्त्वमीमांसा की जमी हुई परतों को हटाकर जीवनानुभूति के तल तक पहुँचना और फिर उस तल का उद्घाटन करना कोई आसान काम नहीं है। इस काम के लिए एक ऐसी प्राक्-अवधारण प्रक्रिया पर आधारित व्याख्या और निर्माण अपेक्षित है जिसे अन्तर्ज्ञान से सिद्ध या सत्यापित नहीं किया जा सकता और इसीलिए वह एक ऐसी चक्राकार विधि की माँग करता है जिसे वह भाष्य-चक्र (हर्मेन्यूटिकल सर्किल) का नाम देता है। 'अस्तित्त्व' के अपने विश्लेषणात्मक विवेचन के प्रारम्भ में ही उसने लोक ('वर्ल्ड') मात्र के विचार को क्रियान्वित करने की केंद्रीय कठिनाई पर उँगली रख दी है। वह कहता है :-

''आज की तारीख में हमें संसार की सुदूर और विविध संस्कृतियों तथा जीवन-रूपों की बड़ी समृद्ध जानकारी सुलभ है और इस कारण हमें लगता है कि यह समय जगत् की प्राकृतिक अवधारणा तक सफलतापूर्वक पहुँचने के लिए बहुत अनुकूल है। मगर यह महज एक प्रतीति ही है। गहरे जाने पर पता चलेगा कि जानकारियों का यह अम्बार हमें असली समस्या की पहचान से ही भटका दे सकता है।''

वह असली समस्या क्या है ? वह है : 'लोक' या 'जगत्' के विचार का स्पष्टीकरण। 'बींग एण्ड टाइम' के सबसे जोरदार प्रकरण वे हैं जिनमें हाइडेग्गर ने 'समझ' और 'व्याख्या' का विवेचन किया है। इन अध्यायों की मूल्यवत्ता जीवन-जगत् के धार्मिक पक्ष की समस्या से जूझने में है। मनुष्य, हाइडेग्गर के कथनानुसार, एक 'प्रोजेक्ट' है। वह सदैव एक ऐसे संसार में जन्म लेता है जो पहले से अर्थवान् है; अर्थात् वह अर्थों के एक समूचे वितान में अवतरित होता है। वह एक-साथ इस अर्थ-वितान को जानने की अभीप्सा से भी प्रेरित होता है और अपने को जानने की उत्कण्ठा से भी। दोनों काम एक प्राक्-अवधारणात्मक समझ की अपनी कार्य योजनाओं (प्रोजेक्ट्स) के बल-बूते पर ही करना चाहता है। इस प्रकार इस जीवन लोक में उसका होना मात्र सम्भवत: भाष्यात्मक (हर्मेन्यूटिकल) है। हम सदा ही एक गतिशील परम्परा के भीतर अवतरित होते हैं और उसे खुद अपनी समझ की कार्य-योजनाओं के बूते हृदयंगम करना चाहते हैं। समझ की ये कार्य-योजनाएँ उस परम्परा में भी उतनी ही अन्तर्निहित और मूलित हुआ करती हैं जितनी कि वे उस परम्परा को समझने के प्रयत्न में स्वयं उसे प्रभावित करती हैं। परम्परा इसलिए स्वयं भी प्रभावित होती है कि हमें उसे समझने के लिए अपनी वर्तमान जीवन-स्थिति की शब्दावली में अनूदित करना होता है। दरअसल हाइडेग्गर के चिंतन के इसी पक्ष को हांस गेडामर ने

'फिलॉसॉफिक्ल हर्मेन्यूटिक्स' पर आयोजित अपनी विशाल कृति में पल्लवित किया है और जो मेरी समझ से विभिन्न जीवन-लोकों के धार्मिक आयाम के परीक्षण हेतु केन्द्रीय महत्त्व का कार्य है : स्वयं हमारे जीवन-लोक के संदर्भ में भी। यहाँ पॉल रिकोर की कृति भी उल्लेखनीय होगी : ईसाई पश्चिमी परम्परा के संदर्भ में।

अच्छा हो यदि मैं इस सारी बात को आत्मकथा की शब्दावली में समझने और इस तरह अपने विवेचन को सगुण-साकार करने की कोशिश करूं। मैं एक ऐसे देश में जन्मा और पला-बढ़ा हूँ जो अभी हाल तक ऐसी अनेक सभ्यताओं के बीच एक प्रमुख सभ्यता का वाहक था, जिनमें से प्रत्येक में धर्म किसी न किसी रूप में समग्र जीवन को व्यवस्थित करने और अर्थ प्रदान करने वाला केन्द्रीय नियामक तत्त्व था। मैं एक जाति विशेष और उपजाति विशेष में जन्मा और एक ऐसे जीवन-लोक के भीतर पला, जो उक्त प्रकार की संस्कार नियति से निर्धारित था। किन्तु, साथ ही मैं समय के एक विशिष्ट बिन्दु पर भी उत्पन्न हुआ था - अपनी सभ्यता, संस्कृति और धार्मिकता के ऐतिहासिक विकास के एक ऐसे विशिष्ट क्षण में जबकि एक विजातीय सभ्यता, यानी पाश्चात्य सभ्यता के साथ टकराहट की प्रक्रिया कोई सौ साल तक पूरे वेग से चल चुकी थी। अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा के जरिए मैं एक तरफ तो अपनी धार्मिक विरासत की अधिकाधिक स्पष्ट होती समझ की ओर बढ़ने लगा -वह विरासत जो न केवल विविध सामाजिक और वैयक्तिक रीति-नीतियों को अपने भीतर समाए हुए थी बल्कि उस भाषा को भी जिसमें वे रीति-नीतियाँ अपना सगुण-साकार रूप पा सकी थीं। दूसरी तरफ मैं विचार और भाव-बोध की उस सारी सम्पदा को तथा आधुनिकता के उन मानदंडों को भी जाने-अनजाने स्वायत्त करता जा रहा था जिन्हें अंग्रेजी भाषा ने मेरे लिए सुलभ किया था। इस तरह मेरे बोध-संवेदन के दायरे में दो नितान्त भिन्न जीवन-लोक एक-दूसरे के निकट आ रहे थे और एक तरह के सह-अस्तित्त्व की स्थिति में परस्पर अन्त:क्रिया कर रहे थे। मैं अपने जीवन के उस चरण पर अवधारणात्मक ढंग से सोचने-विचारने योग्य नहीं था। बात कुछ ऐसी थी कि जैसे मैं अपनी समझ की प्राग्-अवधारणात्मक चेष्टाओं के द्वारा दो-दो परम्पराओं को एक-साथ स्वायत्त कर रहा हूँ, एक तो स्वयं मेरी जन्मसिद्ध परम्परा और दूसरी एक अजनबी, विजातीय परम्परा। जहाँ तक संभव था मैं अवधारणा के धरातल पर इन दोनों की टकराहट से बचते हुए दोनों को ही जज्ब करने की समानान्तर प्रक्रिया को निर्विघ्न चलने दे रहा था। कुछ तो मेरी औरों से किसी कदर अलग प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा के फलस्वरूप और कुछ अपने जातिगत संस्कार-नैष्ठिक ब्राह्मण-परिवार में लालन-पालन के कारण मैं इस्लाम अथवा ईसाइयत के सीधे सम्पर्क में नहीं आया। ईसाई दुनिया की जितनी और जो कुछ भी छाप मैंने अनजाने ग्रहण की होगी : मुख्यत: तो अंग्रेजी साहित्य के माध्यम से, और काफी कुछ प्रचलित शिक्षा-पद्धति के कारण।

पहले-पहल ये दोनों जीवन-लोक मुझे सीधे संबोधित करते जान पड़ते थे। दोनों ही मेरे लिए विधिसम्मत थे और मैं दोनों के साथ सहज अनुभव करता था - बिना इसकी ज्यादा परवाह किये कि किस तरह दोनों एक-दूसरे को बड़े बारीक ढंगों से प्रभावित करते जा रहे हैं। मैं तो समझ लीजिए बस, एक ऐसे दुहरे जीवन-लोक को जीने की प्रक्रिया से गुजर रहा था जो दुहरा होने पर भी एक परस्पर-गुंफित सम्पूर्ण बनता था - बटी हुई रस्सी की तरह। यह तो बहुत बाद में हुआ कि मैंने अवधारणात्मक ढंग से सोचना शुरू किया और, जिस तरह के संसार में आज हममें से बहुत से भारतीय रह रहे हैं, उसके ऐतिहासिक प्रादुर्भाव के बारे में विचारना-सीखना आरम्भ किया। आज तो इस दुहरे संसार का जो पश्चिमी भाग है वह भारतीय जीवन-लोक का एक अभिन्न, कहना चाहिए प्रमुख, अंग बन चुका है। इस पश्चिमी घटक के अन्तर्गत ईसाइयत तो अपने अनेकमुखी लौकिकीकृत रूपाकारों में शामिल है ही और साथ में यूनानी बौद्धिक, वैज्ञानिक दृष्टि भी शामिल है। हमारे यह कहने का तात्पर्य इस तथ्य को

नकारना नहीं है कि ऐसे अनेक व्यक्ति और समूह भी विद्यमान हैं जो आस्था-प्रवण ईसाई, मुसलमान अथवा हिन्दू हैं और जिनका निजी जीवन-लोक आज भी उनकी धार्मिक परम्परा से ही प्रकाशित है। ऐसे व्यक्ति और समूह निश्चय ही विद्यमान हैं। किन्तु यह भी उतना ही सच है कि इनमें से किसी के भी पास अब एक विश्व-निर्माण, विश्व-संघटनकारी (धर्म-संस्थापक) शक्ति नहीं है। जहाँ तक हिन्दू बुद्धिजीवी का सम्बन्ध है, जिसने कि पिछली अर्द्ध-शताब्दी के भीतर अपने परम्परागत जीवन-संसार में न केवल एक भूकंपीय उथल-पुथल देखी और भुगती है बल्कि जो इस व्यापक परिवर्तन के बारे में प्रश्न उठाने को भी तैयार हैं - उसे तो अभी भी ऐसी बहुत सारी चीजों की जीवन्त स्मृति बनी हुई है जिनके तिरस्कार अथवा विस्मरण की घटना उसके लिए अभी कल की बात है। एक आधुनिक की हैसियत से अब उसके पास करने को और कौन सा कार्य बचा है, सिवा इसके कि वह अपनी परम्परा के पवित्र स्रोतों तक वापस लौटे- तीर्थयात्री की तरह, और उनके सृजनात्मक पुनर्भाष्य में प्रवृत्त हो ताकि वे पवित्र ग्रंथ, वे आदि-स्रोत, उसके इस वंचित वर्तमान के बीचों-बीच उससे अर्थवान् ढंग से बोलने लगें। उसे उन्हें बुलवाना ही है : उनसे नई जीवनी शक्ति प्राप्त करने के लिए। इस कार्य की सिद्धि के लिए एक ओर भाषिक निर्माण की प्रक्रिया चाहिए तो दूसरी ओर विसर्जन की प्रक्रिया भी, यानी आज के आलोचनात्मक मुहावरे में परम्परा के 'डिकांस्ट्रक्शन' की प्रक्रिया, ताकि परम्परा के जीवन्त सत्य का स्वाधीन स्वायत्तीकरण संभव हो सके।

संचित परम्परा के भारी बोझ से मुक्ति पाकर यदि कोई उसे वास्तविक सृजनात्मक शक्ति में परिणत करना चाहता है और उस अर्थ को सुनने की स्वतंत्रता उपलब्ध करना चाहता है जिस अर्थ को वह श्रुति परम्परा अब भी उस तक संप्रेषित कर सकती है - तो उस जीवनदायी श्रवण के तीन ही उपाय हैं : कवित्व, दार्शनिक चिंतन और धार्मिक ध्यान-योग। भारत का जीवन-लोक सदैव धार्मिक द्रष्टि से बहुवचनवादी रहा है और ऐसे बहुत्व की स्वीकृति उसकी समूची संरचना की ही विशिष्टता रही है। किन्तु न तो भारत में, और न कहीं अन्यत्र ही, धार्मिक बहुवचनवाद का मतलब विविध धार्मिक जीवन-संसारों के बीच संवाद का अभाव रहा है, भले ही ऐसे संवाद की प्रकृति अलग-अलग जगहों पर शैली, रीति-नीति और अन्तर्क्रिया की द्रष्टि से एक सी नहीं हो सकती हो। हमारे भारतवर्ष का लगभग प्रत्येक धार्मिक और दार्शनिक ग्रंथ ऐसे ही संवाद से उत्पन्न गतिशीलता और सर्जनात्मकता का प्रमाण देता है, और उस ऐतिहासिक आत्म-चेतना का भी, जिसका यहाँ कभी भी, किसी भी युग में अभाव नहीं रहा। तो, हमें अपने प्रत्येक गौरव-ग्रंथ को इसी रूप में देखना होगा : एक निश्चित ऐतिहासिक परिस्थिति के प्रति पूर्णत: सचेत और सुविचारित प्रतिक्रिया के रूप में और अपने-आप में भविष्य के परिप्रेक्ष्य में दिये गए ऐतिहासिक प्रत्युत्तर के रूप में भी। मेरा जीवन-संसार आज एक ओर तो मेरी उस बिरादरी के संस्कारपुंज से पूरी तरह निर्मित-निर्धारित नहीं है जिसमें कि मैं जनमा और पला-पुसा, यद्यपि मेरी सत्ता के अन्तरतम में उसका अ-विषयकरणीय अवशेष पूरे जतन के साथ सँजोई हुई निधि की तरह विद्यमान है। और दूसरी ओर, मैं इस तथ्य को भी नहीं भुला सकता कि मैं आज के हिन्दुस्तान के जीवन-संसार का भी भागीदार हूँ; और इसके अलावा, इससे परे, पश्चिमी प्रविधि की उस विश्वव्यापी घटना की भी जिसने अब समूची दुनिया को ही अपनी लपेट में ले लिया है : हाइडेग्गरी मुहावरे के 'वर्ल्ड सिविलाइजेशन' की शक्ल में। ऐसी परिस्थिति में, अब मेरे लिए करने को बचता ही क्या है सिवा इसके कि मैं पावनता (सैक्रेलिटी) के अवशिष्ट पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए एक ऐसी भाषा पाने का प्रयत्न करूँ जिसमें वे चिन्ह और वह आदि स्रोत आज अर्थोन्मेषक ढंग से मुखर हो सके ! प्रश्न यहाँ मेरी निजी धार्मिकता या श्रद्धा-भावना का नहीं है बल्कि सबके साथ बाँटी जा सकने वाली, व्यापक साझेदारी की भाषा में

अलौकिक-धार्मिक अर्थों के निर्वचन का है : उन धर्म-सजीव अर्थों का जो आज के मानवीय जीवन-संसार में समझे और स्वायत्त किये जा सकें।

धर्म की वर्त्तमान अवस्था उस प्रक्रिया से प्रभावित है जिसे लौकिकीकरण (सेकुलराइजेशन) का नाम दिया जाता है। इस बारे में क्या इतिहासज्ञ, क्या दार्शनिक, क्या सामाजिक और धार्मिक विचारक, सभी लगभग एकमत हैं कि मानवीय इतिहास में यह एक अभूतपूर्व घटना है और इसका उत्स तथा प्रस्फुटन यहूदी-ईसाई परम्पराओं में देखा जा सकता है। व्यक्तियों तथा समूहों में किसी न किसी रूप में धार्मिकता की उपस्थिति के बावजूद, और कभी-कभार इस उपस्थिति की उग्र और आक्रमक अभिव्यक्ति के बावजूद, तथ्य यही है कि मनुष्य-जाति आज एक निष्प्रभ-दैवी दीप्तिविहीन संसार में रह रही है और धर्म अब वह केन्द्रीय, सबसे जोड़ने वाला और ऐतिहासिक रूप से प्रभावशाली शक्ति नहीं रह गया है जिसने अतीत में संसार की सभी प्रमुख सभ्यताओं को खड़ा किया था और एकजुट रखा था। जैसाकि ऊपर कहा गया, निजी धर्मजीवन अब धर्म की पुरातन-परम्परागत भूमिका का निर्वाह नहीं कर सकता-सबके लिए सार्थक और सर्वव्यापी एक ऐसे लोक की रचना करने की भूमिका, जिसके अन्तर्गत जिया गया मनुष्य का सारा सामाजिक जीवन उसे जीवन का परमार्थ उपलब्ध कराता है और जो परमार्थ सभी को धारण करना होता है, जो सभी को एकसूत्र में बाँधता है। हम एक ऐसे युग में रह रहे हैं जिसे हाइडेग्गर ने मूलगामी नकारवाद (रैडीकल निहिलिज्म) की संज्ञा दी थी, और जो एक ऐसी दीर्घकालीन प्रक्रिया की परिणति है जो यूनानी दर्शन-शास्त्र के अभियान के साथ आरम्भ हुई - नीत्शे के शब्दों में, सुकरात की प्रलम्बित परछाईं के नीचे। तो, हाइडेग्गर के कथनानुसार पश्चिम की सभ्यता के विश्व-सभ्यता में प्रसृत और परिणत होने के साथ ही यह 'नकार' का अधिकार सम्पूर्ण पृथ्वी को निगल लेने को उतारू है। यदि हम फिलहाल इस विषय के विशुद्ध दार्शनिक पहलू को एक तरफ रख दें और मानवीय धार्मिकता पर ही ध्यान केन्द्रित करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि 'सेकुलराइजेशन' की इस विश्वव्यापी घटना पर - जो कि हमारे आधुनिक जीवन-संसार का एक महत्त्वपूर्ण घटक बन चुकी है - उस पर मनन करना कितना दुर्निवार्य हो उठा है। पश्चिम में इस 'सेकुलराइजेशन' के प्रस्फुटन की कथा कई बार दुहराई जा चुकी है और बहुत सारी बहस इसी सवाल के इर्द-गिर्द केन्द्रित हुई है कि कहाँ तक सेकुलराइजेशन के बीज पश्चिम की बाइबिली परम्परा द्वारा फैलाए गए, किस प्रकार वे 'प्रोटेस्टेंटिज्म' के अभ्युदय के साथ प्रस्फुटित हुए; किस तरह हाल के बरसों में कुछ धर्मतत्त्वज्ञों ने इस घटना का सकारात्मक मूल्याँकन करते हुए उसे शेष विश्व को पश्चिम की अद्वितीय देन बताया है, और किस तरह कुछ दूसरों ने पीटर बर्गर की तरह इस पर शोक प्रकट करते हुए 'पावनता की यथार्थ में सिकुड़ती पहुँच' का उल्लेख करते हुए इसका दोष 'प्रोटेस्टेन्टिज्म' पर डाला है कि उसी ने सर्वप्रथम धर्म को पावनता से अभिन्न तीन सर्वाधिक प्राचीन और शक्तिशाली विभूतियों से वंचित किया : रहस्य, चमत्कार और जादू से।

जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, इस्लाम : ओल्ड टेस्टामेण्ट वाले सेकुलराइजेशन के बीजों की विरासत के साथ भी : हिन्दुओं के सकलतावादी (होलिस्टिक) जीवन-लोक के भीतर ज्यादा नहीं भिद सका, जिस तरह कि, बौद्ध धर्म भी आधुनिकता नाम की चीज की धार्मिक परिवेश में दीर्घकाल तक उपस्थिति रहने के बाबजूद नहीं भिद सका था। मुख्यत: तो आधुनिकता नाम की चीज की 'प्रोटेस्टेण्ट' धारा का ही प्रभाव पड़ा : वह धारा जो उन्नीसवीं सदी में आ जुड़ी अन्य धाराओं के साथ पश्चिमी दुनिया के स्त्री-पुरुषों के जीवन में सबसे ताकतवर सिद्ध हुई। भारत में राममोहन राय के द्वारा प्रवर्तित सुधार-आंदोलन अपनी प्रेरणा मुख्यत: प्रोटेस्टेण्ट ईसाइयत से ही ग्रहण करता था-ठीक उसी तरह जिस तरह कि उसकी आधुनिकता भी उपयोगितावाद और बुद्धिवाद के समसामयिक विचार-प्रवाहों से पुष्ट हुई थी। राममोहन राय को पश्चिम के व्योहारोपयोगी ज्ञान और राजनीतिक स्वांतत्र्य के नए विचारों के प्रचार-

प्रसार की गहरी आवश्यकता अनुभव हुई। प्रोटेस्टेण्ट सुधार का मॉडल सिर्फ विल्बरफोर्स और ग्राण्ट के दिमागों में ही नहीं था जो कि अंततः सन् १८१३ में यहाँ ईसाइयत के प्रचार-प्रसार की छूट प्राप्त करने में कामयाब हुए; न वह केवल सीरामपुर के मिशनरियों तक ही सीमित था। वह तो राममोहन राय के मस्तिष्क में भी विद्यमान रहा भले फिर ऐसे पुनर्जागरण के आशय के बारे में उनकी व्याख्या इन लोगों से कितनी भी अलग क्यों न रही हो। भारत में प्रोटेस्टेण्ट उपस्थिति की 'लौकिकताकारक' प्रवृत्ति की प्रभावशालिता का प्रमाण है ब्रह्म समाज की स्थापना। इतना ही नहीं, दूसरे सुधार-आन्दोलनों का बीज भी वहीं समझना चाहिए। 'ओरिएण्टलिस्ट' विद्वानों के प्रति राममोहन राय के आकर्षण का कारण भी वही था। यों हम यह भी देख और दिखा सकते हैं कि प्रोटेस्टेण्ट मिशनरियों के साथ राममोहन राय का जो सम्बन्ध था उसमें वे यहाँ पश्चिम के लौकिक ज्ञान-विज्ञान के प्रसार में उनकी मदद भर चाहते थे। 'एनलाइटेनमेण्ट' लाने में उनके प्रभाव का उपयोग कर लेने में ही उनकी दिलचस्पी थी न कि उसकी धार्मिक सीखों में। ज्यादा से ज्यादा शायद यही कहा जा सकता है कि उन्होंने 'यूटिलिटेरियनिज्म' के प्रति थोड़ी सहानुभूति जताई। यों जहाँ तक धर्मदृष्टि का प्रश्न है, उनके लिए उनके देश की जरूरत की पूर्ति उसकी अपनी परम्परा के धर्मग्रंथों से ही अच्छी तरह हो जाती थी : हालांकि यहाँ भी उनकी चयनधर्मी व्याख्या एक ओर प्रोटेस्टेण्ट उदाहरण से प्रभावित हुई और दूसरी ओर इस्लाम की उनकी समझ से, जिसे कि उन्होंने मिशनरियों के सम्पर्क में आने से पहले ही पुख्ता कर लिया था। हेनरी वेयर को संबोधित एक पत्र में राय लिखते हैं :-"यूरोपीय" ज्ञान-विज्ञान तथा ईसाई नैतिकता के जितने भी सुयोग्य शिक्षक भारत आ सकें, उनका सहर्ष स्वागत है; हालांकि ईसाई नैतिकता को मैं ईसाई मतवादों से मुक्त पाना चाहूंगा, देशवासियों में ज्ञान के प्रसार हेतु। इस प्रकार,भारत के आधुनिक जीवन-संसार को आकार देने में ईस्ट इंडिया कम्पनी के आगमन से भी तीन सदी पहले यहाँ विराजमान कैथोलिकों ने भी वैसी भूमिका नहीं निभाई जैसी प्रोटेस्टेण्टों ने। और इसका कारण था प्रोटेस्टेंटिज्म में निहित लौकिकीकरण की शक्तियाँ। इस प्रकार आधुनिकता में दीक्षित होकर भारत भी लौकिकीकरण के एक विश्वव्यापी अभियान में भागीदार तो बन ही गया है।

पिछले दिनों इस विश्व-व्यापी घटना के विरुद्ध ईसाई जगत् में आवाजें उठने लगी हैं। विरोध का यह स्वर वहाँ धार्मिक विचारकों और दार्शनिकों की ओर से उठा है और भारत में भी हमारे अधिकतर चिंतकों की ओर से। इससे पूर्व कि हम विकास की दौड़ में और आगे छलाँग लगाएँ; इससे पूर्व कि हम रहस्य, दिव्यता और पावनता का जितना जो कुछ भी हमारे यहाँ अवशिष्ट है उसे भी 'अन्धविश्वासों' के खाने में पटक कर छुट्टी पा जाएँ; इससे पहले कि हम इस दिव्यता और पावनता को अपने जीवन-संसार से सदा-सदा के लिए निष्कासित करके उसे महज 'सांस्कृतिक विरासत' में घटा डालें-उसके साथ अपना सारा जीवित सम्बन्ध ही नष्ट कर दें, क्या यह अत्यावश्यक नहीं कि हम बैठकर अपनी इस संकटापन्न परिस्थिति पर गंभीरता से विचार करें : फरिश्तों की अफवाह को ही सही, जिन्दा रखने के लिए विचारकों की हैसियत से कुद कदम उठाएँ ? प्रश्न यही है कि हम कैसे क्या करें कि वह पावनता का आयाम हमारे जीवन-जगत् में झलकता रह सके-जहाँ से कि देवत्व का आलोक एक बार फिर प्रकट हो : 'जो है' उसके सत्य के साक्षात्कार तक हमारी पहुँच फिर से संभव बनाने के लिए। सौभाग्य की बात यह है कि लौकिकीकरण की प्रक्रिया, जब अपनी यहूदी-ईसाई आधारभूमि से स्थानान्तरित करके एक दूसरी धार्मिक मिट्टी में रोपी जाती है, तब वह एक भिन्न रूपाकार में प्रकट होती है; यानी, नई धार्मिक मिट्टी से उसका रिश्ता वैसा नहीं रह जाता जैसा वह पश्चिम में हैं। हिन्दू जिज्ञासु के लिए इस तरह समस्या का आकार-प्रकार भी भिन्न और विशिष्ट : हालाँकि अपरिभाषित ढंग से हिन्दू। मैं खुद अपने तई इस कार्य को करने का मार्ग नहीं जानता-सिवाय उसके जिसे भाष्य का मार्ग कहा जाता है अर्थात् मेरी

परम्परा के पावन वाङ्मय में से जो सार्थक और सत्य वाणी मुझे सुनाई पड़ती है उसके पुनर्भाष्य का मार्ग। यह कार्य-कहना न होगा कि एक दार्शनिक पुरुषार्थ की माँग करता है और इसे पुराणपंथी विद्वता को नहीं सौंपा जा सकता। न इसे भारतीय विश्वविद्यालयों में इस घड़ी जिस प्रवृत्ति का प्रभुत्व है-दर्शन-कर्म के लौकिकीकृत अवधारणा का-उसी से मनमाने ढंग से पृथक् किया जा सकता है। अपना ही उदाहरण लूं, मेरा खुद का जीवन-कार्य ही आधुनिक सेकुलर हवाओं से कहाँ अछूता रह सका है कि मैं नितान्त प्रश्नविहीन और निश्शंक भाव से अपने परम्परागत संस्कारों को अपने सोच-विचार और जीवन में लागू कर सकूँ ! किन्तु साथ ही, चूँकि परम्परा के साथ मेरा सम्बन्ध-सूत्र अभी पूरी तरह विच्छिन्न भी नहीं हुआ है अत: दूसरी ओर, मैं आधुनिक जीवन-जगत् को भी प्रामाणिक या मानकस्वरूप मानकर नहीं चल सकता। न उसमें भागीदार होने मात्र से मुझे यह अधिकार मिल जाता है कि उन परम्परागत प्रतिमानों पर फतवा दे सकूँ जो अभी भी अपनी समूची गरिमा और अधिकार के साथ मुझ तक पहुँच सकते हैं।

हमारे यहाँ संस्कृत में अभिव्यक्त धार्मिक और दार्शनिक परम्परा में भाष्यधर्मी चिंतन का बहुत लम्बा इतिहास रहा है, और इससे परे भी, इसका बहुत कुछ भाष्य-लेखन का इतिहास रहा है । इस भाष्यधर्मी प्रयत्न के इतिहास में हम तीन प्रमुख बिंदुओं को पहचान सकते हैं। पहला, ऋग्वेद-संहिता: वैदिक वाङ्मय का मूल ग्रन्थ, जिसमें उपनिषद् भी शामिल हैं। लेकिन प्राचीन विद्वानों की बहुत सारी भाष्यकारी ऊर्जा ब्राह्मण-ग्रंथों और औपनिषद् वाङ्मय पर खर्च हुई है जो मूलग्रंथ से ही प्रवाहित हुई और जिस प्रवाह में स्वयं संहिता की लगभग पूर्ण उपेक्षा हो गई। दूसरा नाभिकीय बिन्दु है महाकाव्य-परम्परा, विशेषकर महाभारत, का जो विस्तृत भाष्यात्मक परीक्षण की माँग करता है। इसलिए कि महाभारत काफी हद तक मिथक, प्रतीक और विचार-सामग्री की वैदिक निधि के स्थानान्तरण, भाषान्तरण और पुर्नव्याख्या को समाहित करता है : ठीक उसी तरह, जिस तरह यह कालान्तर में पौराणिक परम्परा में भी अन्त:प्रविष्ट हो गया। हम देखते हैं कि महाभारत तक आते-आते वैदिक काल की तुलना में काफी अन्तर आ गया है। एक समूचा जीवन-लोक रूपान्तरित हो चुका था और नए अर्थों के संप्रेषण के लिए एक नवगठित भाषा में सर्जनात्मक चिंतन की : नई अभिव्यंजना-प्रणालियों की: आवश्यकता भी अनुभव की जा रही थी।

इस समूची परम्परा का सारग्रहण और सर्जनात्मक भाष्य करने वाला तीसरा महाप्रयत्न है-भागवतपुराण, जो आठवीं सदी में रचा गया। हिन्दू धर्मजीवन का यह केन्द्रीय ग्रंथ है और वेदान्त के विविध संप्रदायों में भी इसकी भरपूर मान्यता और महिमा है। साथ ही यह भक्ति का, उसके समस्त वैष्णव संप्रदायों में, आधारभूत धर्मग्रंथ है। इसकी प्रभावशालिता का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि न केवल संस्कृत के धार्मिक साहित्य में, बल्कि संस्कृत-युग की समाप्ति के अनन्तर (पंद्रहवीं सदी के आस-पास) भी इसे हम उन देशी भाषाओं के साहित्यों में गहरे अनुप्रविष्ट देख सकते हैं जो कि कालान्तर में पनपीं और अभी तक निरन्तर रचनाशील चली आ रही हैं। एक तरह से देखा जाय तो, भागवत की मुख्य वस्तु और प्रेरणाओं के सृजनात्मक स्वायत्तीकरण द्वारा इन भारतीय भाषाओं में रचे गए धार्मिक साहित्य ने मूलग्रंथ को विस्थापित सा कर दिया : विद्वज्जनों को अब मूलग्रंथ पर एकाग्र होने की वैसी खास जरूरत नहीं रह गई। इसलिए भी अब यह उपयुक्त अवसर है कि हम वापस इस स्रोत तक लौटें और अपने 'आधुनिक' वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में इसकी पुनर्व्याख्या के महान दायित्व को हाथ में लें। यह महाग्रंथ, मेरा दावा है, समूचे विश्व के धार्मिक साहित्य में अद्वितीय है-इस अर्थ में कि यह इस सच्चाई का सर्वश्रेष्ठ निदर्शन है कि किस तरह हमारी प्राक्-सैद्धान्तिक भाव-वृत्तियाँ सब कुछ ('जो है')

से हमारे सम्बन्ध को नियंत्रित करती हैं। उसी बुनियाद पर बाद में हम अपनी सैद्धान्तिक इमारतें खड़ी करते हैं। महान् कवि-कर्म के द्वारा यह ग्रंथ न केवल मानव-हृदय के मूल भावों की आद्य-प्राथमिकता को पकड़ कर साकार करता है-पूर्व युगों के धार्मिक साहित्य की स्मृति जगाता हुआ, बल्कि यह भी दर्शाता है कि किस प्रकार (जैसा कि ऑगस्तीन और पास्कल का भी कहना है) "हम सत्य के गर्भगृह में केवलमात्र औदार्य (चैरिटी) के मार्ग से ही प्रवेश कर सकते है"; क्योंकि दिव्य और पावन के राज्य में वस्तुएँ, जैसी वस्तुत: वे हैं उन्हें वैसे ही जानने और अनुभव करने के लिए पहले उनके साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है, न कि इसका उलटा।

हाल के बरसों में मैंने इन तीनों क्षेत्रों में से प्रत्येक में थोड़ी बहुत खोजी घुसपैठ करने की कोशिश की है : उन मार्गों के अन्वेषण की चिंता करते हुए जिनका अवलम्बन करके मनुष्य इन सच्चाईयों के बारे में बात कर सकता है, उन दूसरों के साथ संवाद कर सकता है जो आधुनिकता के इस संकट में साझेदार हैं : फिर चाहे वे मानववादी हों चाहे संगठित धर्मों के अनुयायी। किन्तु इन प्रयत्नों के पीछे जो असली ध्येय है वह इस घटना को समझना है कि कैसे हिन्दू जीवन-लोक में उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के भारत में आधुनिकता के प्रवेश के साथ एक जबर्दस्त उथल-पुथल की शुरुआत हुई और इसके कारण धार्मिक चिन्तकों पर कैसा-क्या दायित्व आता है। यहाँ भी सबसे गहरी समस्या हमारी हजार बरस पुरानी सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था की धार्मिक बुनियादों में पैदा हुई उथल-पुथल का सूक्ष्म परीक्षण करना है : उन मूल्यों और मानदण्डों का भी जो हमारे सार्वजनिक और निजी जीवनों को अनुशासित करते रहे थे : न्याय-सम्बन्धी हमारे विचारों को भी और सार्वजनिक जीवन की हमारी व्यवस्था को भी। 'होमो इक्वालिस' की व्यापक पश्चिमी विचारधारा के बरअक्स 'होमो हायरार्किकस' की जो हमारी विलक्षण भारतीय धारणा है-सामाजिक जीवन के लिए सर्वोच्च सिद्धांत स्वरूप-वह भी एक ऐसे विचारणीय प्रश्न का उदाहरण है। वह भी ऐसे भाष्यात्मक जिज्ञासा और अन्वेषण का विषय है जो अपने दायरे में 'विचारधारा' की भी समुचित समीक्षा प्रस्तुत कर सके और वर्णाश्रम के प्रश्न के धार्मिक आयाम पर भी समुचित ध्यान एकाग्र कर सके। उस सीमा तक ये प्रश्न केवल सामाजिक व्यवस्था के ही नियामक सिद्धांत न होकर धर्म-जीवन की व्यवस्था के भी मूलभूत सिद्धान्त हैं। जैसाकि बहुत सारी केन्द्रीय महत्त्व की पश्चिमी अवधारणाओं के साथ हम देखते हैं, संस्कृत में ऐसा कोई शब्द नहीं जो 'सैक्रेड' या 'होली' की अवधारणा का एकदम सटीक पर्याय कहा जा सके। कई भारतविदों के कथनानुसार इस अभिप्राय का स्थान भारत में शुद्ध और अशुद्ध की ध्रुवीयता ने ले लिया है। और हममें से बहुत सारे लोग, जिन्हें परम्परागत कट्टरता का अनुभव है, वे जानते होंगे कि व्यवहार में इसके माने क्या हैं। प्रश्न यह है कि भारतीय परम्परा के कुल सन्दर्भ में ये शब्द क्या अर्थ रखते हैं-उस परम्परा में जो अपने वैदिक मूल से विकसित होकर ठेठ वर्तमान तक निरन्तर प्रवहमान है ? यह भी, कि क्या कोई भाष्यात्मक ढंग से सुसंगत विकल्प है : ईसाइयत के इस अकर्मण्य, अपरावर्तित स्वीकार का, उस ईसाइयत का, जो अपने वर्तमान संस्करण में 'सेकुलराइज्ड' और इसीलिए अनाम है ? क्या उस हल का भी कोई विकल्प है जिसे गाँधीजी ने सुझाया था ? क्या यह वाँछनीय नहीं होगा कि हम स्वयं गाँधीजी के जीवन और चिंतन में पवित्र की धारणा की भूमिका का परीक्षण करें और उसमें भी इस बात का कि विचार एवं आचार की जैन तथा वैष्णव परम्पराओं ने उनकी पवित्रता-सम्बन्धी मान्यताओं को किस तरह गढ़ा या प्रभावित किया ? क्या प्राचीन भारतीय परम्परा में 'नेचुरल लॉ' से मिलती-जुलती, उसके समकक्ष कोई चीज है ? यदि हाँ, तो उसके साथ किस तरह का धार्मिक विधि-विधान जुड़ा था, और आंग्ल-भारतीय कानून-व्यवस्था के इस देश में लागू किये जाने के बाद उसकी प्रभावशीलता को क्या हो गया है ? निश्चय ही ये बहुत बड़े प्रश्न हैं, जो बहुत विस्तृत विश्लेषणात्मक और आलोचनात्मक प्रयत्न की माँग करते हैं। हमारी धर्म-चेतना

में आए परिवर्तन को समझने के लिए हमें उन ताकतों की गहरी तहकीकात करनी होगी जिन्होंने यह सारा उलट-फेर घटित कर डाला। हमें अपनी उन सारी गति विधियों का पुनर्मूल्याँकन करना होगा जिनके चलते तर्कसंगति, आधुनिकता और मानवीय न्यायशीलता के सर्वथा वैध सरोकारों के नाम पर हमने जाने कितना कुछ जो अपना था, उसे उठाकर फेंक दिया। या फिर हम यही मानकर संतुष्ट हो जाएँ कि जीवन में पावन या दिव्य की हमारी स्मृति पूरी तरह नष्ट हो चुकी है और हम यह देख पाने तक में अक्षम हो गए है कि हम दैवी दीप्ति से रिक्त वंचित संसार में रह रहे हैं। अपने अंतिम दिनों मे हाइडेग्गर को जिन चीजों से सबसे ज्यादा खुशी होती थी उनमें एक वह चिट्ठी भी थी जो सोवियत यूनियन के एक दार्शनिक ने उसे लिखी थी। उस चिट्ठी में लिखा था कि सोवियत रूस में अब कुछ लोग हाइडेग्गर-होल्डरलिन की इस बात का मर्म कुछ-कुछ समझने लगे हैं कि "हम एक ऐसे युग में रह रहे है जिसमें से दैवी दीप्ति उड़ गई हैं।"

'विकासशील' भारत देश से श्रद्धालुता, पावनता और सदाचारी जीवन-बोध के चिन्ह न अभी पूरी तरह मिटे तो नहीं हैं, और कम से कम, जो भाषा हम बोलते हैं वह भी अभी तक अरिक्त नहीं हुई है। प्रश्न यह है कि दार्शनिक चिंतक उस सनातन प्रकाश को हम लोगों के जगत्-बोध से सर्वधा तिरोहित हो जाने से बचाने के लिए क्या कर सकता है और कैसे कर सकता है ? एक राष्ट्र के रूप में हमारी जो भी आकांक्षाएँ हों, उन्हें क्षति पहुँचाए बिना एक समूची प्रज्ञा के रूप में हम जो अनुभव करते रहे, उसकी लौ को हम बुझने से कैसे बचाएँ ?

अभी तक के हमारे विवेचन का परिप्रेक्ष्य मुख्यत: दार्शनिक ही रहा और विषय-निर्वाह भी अपेक्षाकृत एक अमूर्त स्तर पर ही हुआ है। किन्तु जिस प्रकार की समस्याओं से हम यहाँ जूझ रहे हैं उनकी अधिक मूर्त और सगुण चर्चा के लिए हमें समाज-चिंतकों के निकट जाना होगा। आल्फ्रेड शुल्ज ने, जिनका काम दैनिक जीवन के सहज बोध-परक संसार की संरचना पर एकाग्र है, ऐतिहासिक-सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन-लोक का अध्ययन किया है, और उनका अनुसरण करते हुए पीटर बर्गर ने भी सामाजिक धरातल पर संरचित और सुरक्षित 'लाइफ-वर्ल्ड' का विवेचन किया है। "किसी भी मानवीय समूह के दैनन्दिन यथार्थ को पूरी तरह समझने के लिए।" बर्गर के शब्दों में-

"यह पर्याप्त नहीं है कि व्यक्तिगत परिस्थितियों के प्रतीकों और आपसी क्रिया-प्रतिक्रिया के विन्यासों को समझ लिया जाय। हमें अर्थ की उस सम्पूर्ण संरचना को भी समझने का प्रयत्न करना होगा जिसके अन्तर्गत ये विशेष प्रतीक और विन्यास सन्निहित हैं और जहाँ से वे अपनी सामूहिक रूप से साझा की जाने योग्य सार्थकता प्राप्त करते हैं।.... दैनिक जीवन की प्राक्-सैद्धान्तिक चेतना ही अर्थों का वह वितान है जो व्यक्ति को सामान्य घटनाओं और दूसरों के साथ अपने जीवन की टकराहटों के बीच से अपनी नाव खे ले जाने की सामर्थ्य प्रदान करता है। इन्हीं अर्थों की वह सम्पूर्णता, जिसका कि वह अन्य लोगों के साथ साझा करता है, वही, कुल मिलाकर एक विशिष्ट सामाजिक जीवन-लोक है।"

मैक्स शीलर के सुझावों से प्रेरणा ग्रहण करते हुए कार्ल मैनहाइम और वोर्नर स्टार्क का कालान्तरवर्ती कृतित्व उस शास्त्र की नींव डालता है जिसे 'ज्ञान का समाजशास्त्र' कहते हैं, और इसी ने पीटर बर्गर के उस चिंतन को भी प्रेरणा दी है जिसमें आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की सहवर्तिनी धर्म-चेतना के उतार-चढ़ावों पर (पश्चिम में, अथवा विकासशील देशों में) ध्यान दिया गया है : खासकर आधुनिक चेतना की निर्मिति में निहित अवयवों के विशिष्ट एकत्रीकरण पर। आधुनिक चेतना को परिभाषित करने वाली इन चारित्रिक विशिष्टताओं में बर्गर जिन चीजों को गिनाता है वे इस प्रकार हैं : एक तो संकटापन्न अस्मिता का स्थायी सा रहने वाला भाव; दूसरे, सामाजिक जीवन-संसारों की बहुलता, जिसके कारण अब धार्मिक परम्पराओं के लिए इस बहुत्व को एकीकृत करना दिनोंदिन कठिन

होता जा रहा है :- एक व्यापक विश्व-दृष्टि के अन्तर्गत उन्हें समाहित करना उनके लिए सचमुच टेढ़ी खीर है; तीसरी और अन्तिम विशेषता है लौकिकीकरण की वह सर्वभौम घटना जिसने धर्म को व्यक्ति का निजी मामला बनाकर धर दिया है।

बर्गर के इस सारे विवेचन का उपसंहार, सच पूछा जाए तो उसके इस कथन में निहित है कि "आधुनिक मनुष्य गृहहीनता के ही गहराते संकट से ग्रस्त है : यह उसकी तत्त्वमीमांसीय क्षति है।" विकासशील देशों में हम देखते हैं कि परम्परागत सामाजिक जीवन में आधुनिकता की घुसपैठ और उन दो प्रतीकात्मक संसारों के बीच की टकराहट ने जो विचारधारागत प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न की हैं वे अलग-अलग संस्कृतियों में अलग-अलग तरह की हैं। औद्योगीकृत दुनिया में इस आधुनिकता से उपजे असंतोष की काफी चर्चा हुई है और अब लोग आधुनिकोत्तर चेतना की बात करने लगे हैं-जीवन-संसार के उन दूसरे विकल्पों की खोज आरंभ हुई है जिसमें धर्मजीवन की पुनरुपलब्धि मनुष्य के लिए संभव हो सकेगी और एक प्रभावसिक्त पावनता का लोक मनुष्य को फिर से सुलभ होगा। वास्तव में, उन्नत देशों में आधुनिकीकरण के साथ-साथ आधुनिकीकरण-विरोधी प्रवृत्तियाँ भी प्रकट हो रही हैं और विकासशील देशों में भी ये प्रवृत्तियाँ उभार पर है। जहाँ तक भारत का प्रश्न हैं, रुडोल्फ की 'दि मॉडर्निटी ऑव ट्रेडीशन' हमारी परिस्थिति को काफी यथातथ ढंग से विवेचित करती जान पड़ती है। भारत में अभी गाँधीजी की स्मृति अवशिष्ट है, जिनका अपना सामाजिक जीवन-संसार एक विशिष्ट आद्यबिम्ब प्रस्तुत करता है उस सब कुछ की तीक्ष्णतम चेतना का जिस पर विध्वंस और विस्मरण का खतरा मँडरा रहा था। दूसरे शब्दों में, मानवीय जीवन की पवित्रता और सत्याश्रितता का बोध, और उस अखंडता और पावनता के बोध को ठेठ सामाजिक राजनीतिक कर्म द्वारा वापस लौटा लाने का लगभग अतिमानवीय प्रयत्न आज के मानवीय जीवन-लोक की रक्षा के निमित्त अग्रसर है। किन्तु उन सरीखे कर्मज्ञ के बाद अब आज एक कवि या चिन्तक या विद्वान के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण ध्येय और कर्त्तव्य क्या हो सकता है ? निश्चय ही नए भाषिक विन्यासों, अभिव्यक्ति और संवाद की नई प्रणालियों की खोज। जैसा कि बर्गर ने लिखा है :

"संवाद का उपकरण यथार्थ की सुरक्षा का उपक्रम करता है।" यथार्थ से तात्पर्य यहाँ किसी भी काल में, किसी भी समाज में जिसे यथार्थ कहा जाता है, उसकी अनुभूति से है। तो अनुभव के विविध तत्त्वों के बीच संवाद के द्वारा ही यह सुरक्षा संभव होती है और इसी प्रकार संसार में उनकी सही जगह भी निर्धारित होती है। संवाद की यह यथार्थोत्पादनशक्ति भाषिक विषयकरण के तथ्य के रूप में पूर्वप्रदत्त है। भाषा ही किसी जीवन-लोक को साकार करती है : उसे ग्राह्य बनाने और उसे उत्पन्न करने के दुहरे अर्थ में।.......'

हमारे सन्दर्भ में, संवाद और सृजनात्मक भाषिक रचनाशीलता द्वारा एक सर्व सामान्य जीवन-जगत् में पावन की पुन:प्रतिष्ठा और पुनरुपलब्धि-जहाँ तक मैं देख पाता हूँ- हमारे अपने धर्म-ग्रन्थों के साथ एक अधिकाधिक जीवन्त और संवेदनक्षम वार्तालाप के रूप में प्रगट होनी चाहिए। यह एक ऐसा पुरुषार्थ है जिसके लिए 'हर्मेन्यूटिक्स' का विद्वत्तापूर्ण नाम सुझाया गया है। यही मेरी समझ में वह एकमात्र मार्ग है जिस पर चलते हुए हमारी अपनी प्रभासिक्त और पावन परम्परा की मूल शब्द-राशि और बीज-शक्ति हमारे लिए पुन: मर्मर्थोद्घाटकरूप में उजागर हो सकती है।

***

भाषा एवं तथ्य-चित्रण

परिसंवाद में पूर्व के विद्वानों ने अपने व्याख्यान में अत्यन्त योग्यता पूर्वक भाषा के चित्रण-सिद्धांत का तथा उसके पतन का विवरण दिया है। यह सिद्धांत आधुनिक दर्शन में तार्किक अणुवाद की तत्वमीमांसा के साथ, जिसका विकास रसल, विट्‌गिंस्टाइन तथा विज्डम के प्रारम्भिक ग्रन्थों में हुआ, संबद्ध है। श्री दयाकृष्णा ने इस तत्वमीमांसा की कुछ कमियों की ओर संकेत किया है और यह अपेक्षित नहीं की है और न ही उन्होंने यह दिखाया है कि चित्रण-सिद्धांत अणुवाद की तत्वमीमांसा के लिये किस प्रकार घातक सिद्ध हुआ। यदि वे तार्किक सिद्धांत तथा तत्त्वमीमांसा के निकट-सम्पर्क के प्रति सजग होते तो संभवत: उन्होंने चित्रण-सिद्धांत को इस प्रकार निरापत्तिक न पाया होता जिस प्रकार वे इसे समझते प्रतीत होते हैं। जैसा कि राइल तथा एयर ने बहुत पूर्व में ही यह दिखाया है, चित्रण-सिद्धांत ने पारम्परिक भाषीय रूपों के रूप को उचित महत्त्व नहीं दिया। इसने इस भ्रान्ति को जन्म दिया, कि कुछ भाषीय रूप स्वभावत: उपयुक्त हैं तथा भाषा और तथ्य में संस्थानात्मक (स्ट्रक्चरल) समता है। जैसा कि दार्शनिकों ने दिखाया है, स्वयं विट्‌गिंस्टाइन ने, तथा अन्य दार्शनिकों ने भी, इसके अनेक तार्किक दोष प्रदर्शित किये हैं। क्या यह कहना उचित है कि सामान्य विधानात्मक प्रकथन (आर्डिनरी इन्डीकेटिव स्टेटमेंट्स) संकेत के द्वारा अथवा अन्य किसी प्रकार से तथ्य का वाचक है ? क्या इसमें यह खतरा नहीं है कि हम इस प्रकार के तथ्य को भाषा के द्वारा निर्धारित करते हैं ? क्या यह समझने में कोई औचित्य है कि विश्व कुछ तथ्यों में विभक्त है जोकि हमारे प्रकथनों में चित्रित होने की प्रतीक्षा में प्रस्तुत रहते हैं ?

विट्‌गिंस्टाइन के लिये पहले भाषा विश्व का चित्र तथा दर्पण दोनों ही थी। एक वाक्य सम्भाव्य अवस्थाओं का चित्र था, और सत्य होने पर, यह तथ्य के तार्किक संस्थान को प्रतिबिम्बित करता था। उन्होंने ट्रक्टेटस में कहा है कि 'हम तथ्यों को चित्रित करते हैं और तब वह स्वयं भाषा के चित्र निर्माण में प्रवृत्त होता है। इन्वेस्टीगेशंस के काल में उसने अनुभव किया कि भाषा के चित्रण सिद्धांत ने एक चित्र रूप में हमें अपने सम्मोहन में रखा हुआ था। मूर द्वारा प्रदत्त निम्नलिखित विवरण से विटगिंस्टाइन के अपने ही पूर्व सिद्धांतों के प्रति आश्चर्य जनक रवैये का कुछ पता चलता है। वे कहते हैं 'ट्रक्टेटस में उसने कहा कि "यह कहते हुए कि तर्क-वाक्य 'चित्र' है मैने यह नहीं देखा कि 'चित्र पद' अस्पष्ट है, किन्तु इसके बावजूद १९३०-३३ काल के अन्त में भी उसने इस विचार को उपयोगी समझा कि 'तर्क-वाक्य चित्र अथवा ऐसा ही कुछ है' यद्यपि (पहले) उसने कहा था कि वह यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं देखता कि तर्क-वाक्य को 'चित्र' कहना भ्रामक है, कि तर्क-वाक्य किसी प्रचलित अर्थ में 'चित्र' नहीं है। और यह कहने में कि 'ये चित्र हैं' हम तर्क-वाक्य पद के व्याकरण के एक विशेष पहलू पर बल देते हैं, हम कहते हैं कि 'तर्क-वाक्य तथा चित्र शब्द के हमारे प्रयोग समान नियमों का अनुसरण करते हैं।"

आनुभविक तर्क-वाक्य तथा 'चित्र' की अनुरूपता के प्रसंग में उसने अनेक बार 'प्रोजेक्ट' तथा 'प्रोजेक्शन' शब्दों का प्रयोग किया है। यह प्रदर्शित करने के बावजूद कि यह कहना कि 'कमरे के बाहर जाओ' वाक्य बच्चे के व्यवहार की, यदि वह आज्ञा मानता है तो, क्रिया का चित्र है भ्रामक है, और कि

यह किसी भी प्रचलित अर्थ में बच्चे के व्यवहार का चित्र नहीं है। वह कहता है कि प्रोजेक्शन की विशिष्ट व्यवस्था के प्रसंग से यह बच्चे के व्यवहार का उतना ही चित्र है जितना '२+३' वास्तव में ही '५' का चित्र है। (मूर-विट्गिंस्टाइन्स लेक्चर्स इन १९३०-३३)

उर्मसन के शब्दों में, यह एक अत्यन्त उलझन पूर्ण सिद्धांत है, किन्तु आश्चर्य इस बात में है कि भाषा तथा इस के प्रयोग के प्रति इतना सजग होने पर भी विट्गिंस्टाइन ने अपना ध्यान पूर्णत: ऐसी अभिव्यक्तियों, जैसे तथ्य, तार्किक रूप, चित्र, दर्पण, मानचित्र, प्रोजेक्शन, प्रतिनिधित्व, संकेत, प्रतीक, कथन तथा प्रदर्शन के 'व्याकरण' की ओर नहीं दिया, यद्यपि ये पद उनके दर्शन में मूल तथा आधारभूत अवधारणायें हैं। जब उन्होंने 'चित्र सिद्धांत' का सब प्रकार से परित्याग भी कर दिया था तब भी उसके 'इन्वेस्टीगेशंस में चित्र तथा 'चित्र' पद सर्वत्र बिखरे मिलते हैं। और यद्यपि वह अन्य अवधारणों के विवेचन में इन अवधारणाओं का उपयोग करता है, उसने स्वयं इन अवधारणाओं को अपने विवेचन का विषय नहीं बनाया। विट्गिंस्टाइन 'चित्रों' की शब्दावली में ही सोचता तथा अभिव्यक्त करता है, क्योंकि, जैसाकि प्रतीत होता है, अभिव्यक्ति का यह ढंग उसके लिये व्यक्तिगत मुहावरा हो गया था, और यह ऐसा अगम्य साधन था जिस के लिये वह अभी स्पष्ट अभिव्यक्ति प्राप्त करना आरम्भ भी नहीं कर सका था।

भाषा की दार्शनिक समस्या की ओर विभिन्न दिशाओं से पहुँचा जा सकता है- हम इसे इसके अभिव्यंजक, संवाहक (कम्यूनीकेटिव) अथवा वर्णनात्मक किसी भी पहलू से देख सकते हैं। यहाँ चित्रण-सिद्धांत पर विचार करते हुये हमारी रुचि इसके वर्णनात्मक-तथ्य-बोधक व्यापार में है और वह भी केवल इसके तार्किक पहलू से। जैसा कि राइल ने दिखाया है, जब विट्गिंस्टाइन ने ट्रक्टेटस लिखा तब वह कहने तथा मानचित्र, स्केल, डायग्राम तथा मॉडल आदि बनाने के बीच स्वरचित अनुरूपता से बहुत अधिक प्रभावित था। जैसा कि हम ने देखा है, मूर द्वारा प्रकाशित अपने पेपरों में उसने स्वीकार किया है कि उसका 'चित्र' पद का प्रयोग अस्पष्ट तथा भ्रामक था, यद्यपि वह अब भी यह मानता था कि हमारे 'तर्क-वाक्य' तथा 'चित्र' पदों के प्रयोग समान नियमों का अनुसरण करते हैं। अब हमें संक्षेप में देखना चाहिये कि क्या वास्तव में यह ठीक है और क्या इन दो शब्दों का तर्क-रूप मूलत: ही भिन्न है ?

चित्र तथा चित्रित के बीच सम्बन्ध का विश्लेषण करते हुए हम पाते हैं कि 'चित्र' के अंश-तत्त्व 'चित्रित' के अंश-तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करते हैं और कि चित्र के तत्त्वों की व्यवस्था चित्रित के तत्त्वों की व्यवस्था को प्रदर्शित करती है, तथा यह कि चित्र के प्रत्येक अंशतत्त्व के अनुरूप चित्रित में एक अंश-तत्त्व विद्यमान रहता है। और फिर, चित्र के सम्पूर्ण अंश-तत्त्वों तथा चित्रित के अंश-तत्त्वों के बीच केवल एक प्रतिनिधित्व का सम्बन्ध है। इसी प्रकार के अन्य संकेतों, जैसे 'प्रतिबिम्ब' तथा 'मानचित्र' का भी वही अभिप्राय है जो कि चित्र का है, इनमें प्रथम द्वितीय की अपेक्षा 'चित्र' प्रयोग के अधिक निकट है। ऐसे संकेतों को, जो कम से कम एक ऐसा तात्पर्य व्यक्त करते हैं जोकि उनसे लागू होता है, सी.एस. पियर्स ने अन्य रूढ़ संकेतों से पृथक् करने के लिये, इकोन्ज (मूर्ति) की संज्ञा दी है, क्योंकि भाषा के संकेतों में व्यक्त के गुणों का द्वैधीकरण अनावश्यक है। उदाहरणत:, चित्र में कमरा उसमें दिखाये फर्नीचर से बड़े आकार का होना चाहिये, किन्तु वाक्य में इनके लिये प्रयुक्त पदों में वही सम्बन्ध नहीं होता। इसका कारण यह है कि इकोनिक संकेत चित्रों के समान ही अभिप्रेत को प्रदर्शित करते हैं, जबकि वाक्य प्रकथित करते हैं।

प्रदर्शन और प्रकथन के सम्बन्ध की तुलना करते हुए डाइज ने बताया है कि इनमें प्रत्येक के दो घटक हैं, प्रदर्शन का निर्माण संस्थान तथा प्रतिनिधित्व करते हैं तथा प्रकथन का निर्माण जोकि भाषा का निर्माण करते हैं, संकेतन तथा वर्णन करते हैं। चित्र में किसी रेखा की ओर संकेत कर कोई कह सकता

है-वह हाथी की दुख है किन्तु वाक्य में किसी पद की ओर संकेत कर वह ऐसा ही नहीं कह सकता। इसके अतिरिक्त, इकोन प्रतिनिधि तत्त्वों की व्याख्या आवश्यक रूप से चित्रित के तत्त्वों की व्यवस्था के अनुरूप होनी चाहिये जबकि वाक्य में पदों का क्रम व्याकरण के अनुसार रूढ़ होता है। जबकि वाक्य प्रकथित करता है, इसके पद प्रकथन नहीं कर सकते, और इसके विपरीत जैसाकि डाइज कहते हैं, इकोन प्रदर्शित करता है तथा इसके घटक तत्त्व भी प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि न केवल प्रकथन प्रदर्शन से भिन्न है प्रत्युत प्रतिबिम्बन तथा व्यवस्थापन का भी प्रदर्शन से सम्बन्ध संकेतन तथा वर्णन के प्रकथन से सम्बन्ध से भिन्न है। क्योंकि अनुकृति के तत्त्व प्रतिनिधित्व करते हैं अत: ये आकृति के तत्त्वों के समधिक अनुरूप होते हैं। किन्तु वाक्य के तत्त्व प्रतिबिम्बित नहीं करते, सब पद संकेत भी नहीं करते, अतएव उनके केस में अनुरूपता का प्रश्न भी उत्पन्न नहीं होता।

आनुकृतिकता तथा पारम्परिकता के बीच सार्थकता का अत्यधिक भेद है तथा भाषा से यह अपेक्षा करना कि यह अनुकृति के समान व्यवहार करे, राइल के शब्दों में, वर्गीकरण की भूल करना है। प्रकथन के प्रदर्शन में अन्तर्भाव के लिये कोई भी औचित्य नहीं है, सिवाय इसके कि 'चित्र' तथा 'तर्क-वाक्य' दोनों संकेत हैं और अतएव इस पद के सामान्य व्याकरण में दोनों का भाग है।

और फिर, यह देख लिये होने पर कि इन दोनों पदों का तर्क-रूप कितना भिन्न है, क्या हमें सामान्य प्रयोग से, जो एक को दूसरे में अन्तर्भूत करता है, इसलिये निर्णय नहीं मांगना चाहिये क्योंकि शायद 'चित्र' तथा 'भाषा' संकेत के व्याकरण के समान भागी हैं ? यदि वाक्य उस अर्थ में चित्र नहीं भी है जिस अर्थ में ये ट्रक्टेटस में समझे गये हैं, क्या ये उपन्यासों, ऐतिहासिक संग्रहों, विज्ञान तथा दर्शन में किसी भी अवस्था में चित्र रूप में प्रयुक्त नहीं होते ? कवि 'अपने काव्य-दर्पण में प्रकृति को प्रतिबिम्बत करता है', हेनरी जेम्स का उपन्यास 'एक स्त्री का चित्र अंकित करता है' तथा 'विट्गिंस्टाइन का 'इन्वेस्टीगेशंस' एक एल्बम है जिसमें विविध लैंड स्केपों के स्केच हैं' अपने ग्रन्थ 'रिमार्क्स आन मैथेमैटिक्स' में वे गणित के उदाहरण तक के लिये 'चित्र' पद का प्रयोग करते हैं। यदि हम 'भाषा के अनुपमेय सार' के लिये व्यर्थ खोज को और इसके साथ ही ट्रक्टेटस के चित्रण की धारणा को, भाषा के सिद्धान्त रूप में त्याग भी दें तो भी क्या भाषा को ऐसा साधन स्वीकार करने में, जिसका प्रयोग हम संसार का चित्र-निर्माण करने में करते हैं, कोई औचित्य नहीं है ? इनमें से कुछ चित्र, जो भाषा हमें प्रस्तुत करती है, भ्रामक हो सकते हैं। भाषा के द्वारा हमारी बुद्धिमत्ता की इस प्रवंचना को रोकने के लिये दर्शन को निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिये। किन्तु अन्य चित्र हमें जीवन के सम्पूर्ण विस्तार तथा व्यवस्था में और विश्व के विध्य तथा सौन्दर्य में एक नवीन अन्तर्दृष्टि देते हैं। तो क्या हमें भाषा को चित्र मानना चाहिये अथवा नहीं ? विट्गिंस्टाइन के शब्दों में, आप इसे जो भी कहें, जब तक कि यह आपके लिये तथ्यों के अनुसन्धान में बाधक नहीं होता।...

***

परिच्छेद : चार

नन्दकिशोर देवराज

अभ्यर्थ की ज्ञानमीमांसा

4.1 ज्ञान, भाषा और सम्प्रेषण

4.2 मूल्यबोध : तर-तम भाव का विकास

4.3 प्रतीक जगत् : इष्टार्थों (अभ्यर्थों) का उद्‌भव और विस्तार

4.4 नैतिक मूल्य : अवबोध और स्वरूप

4.5 मनुष्य एवं मानव जीवन : स्वरूप एवं नियति

नन्दकिशोर देवराज

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन में सर्जनात्मक मानववाद के प्रणेता प्रो. देवराज का जन्म १९१७ ई. में उत्तरप्रदेश के रामपुर कस्बे में हुआ था। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से स्नातक (१९३६) एवं वेदान्त शास्त्री की शिक्षा प्राप्त कर उन्होंने दर्शन शास्त्र में एम.ए. और डी.फिल्. की उपाधि इलाहाबाद विश्वविद्यालय से प्राप्त किया। अपने अध्यापकीय जीवन की शुरूआत उन्होंने छपरा (बिहार) से की और तदन्तर लखनऊ विश्वविद्यालय में नियुक्त हुए। इसी दौरान उन्हें लखनऊ विश्वविद्यालय से 'दर्शन एवं संस्कृति' विषय पर डी. लिट्. की उपाधि प्रदान की गई। १९६० में वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में गायकवाड़ प्रोफेसर ऑफ इण्डियन सिविलाइजेशन एण्ड कल्चर पद पर नियुक्त हुए जहाँ अपनी सेवा निवृत्ति पर्यन्त दर्शनशास्त्र के उच्चानुशीलन अध्ययन केन्द्र का निर्देशन करते हुए अपनी दार्शनिक साधना को उत्कर्ष प्रदान किया। इसके अतिरिक्त वे अमेरिका के हवाई विश्वविद्यालय तथा सागर विश्वविद्यालय (मध्यप्रदेश) में अतिथि प्रोफेसर भी रहे। भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् एवं भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान-शिमला के फैलो के रूप में भी उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के अध्यक्ष (जयपुर अधिवेशन) और विभिन्न कालावधियों में दार्शनिक त्रैमासिक, आन्वीक्षिकी, एवं युग साक्षी जैसी पत्रिकाओं के सम्पादक भी रहे। दर्शन में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के साथ-साथ साहित्य के क्षेत्र में विशेष योगदान के लिए उन्हें ज्ञानपीठ पुरस्कार से भी नवाजा गया था। दर्शनशास्त्र के हिन्दी एवं आंग्लभाषीय इतिहासपरक पुस्तकों के अतिरिक्त अपने सर्जनात्मक मानववादी चिन्तन के विभिन्न कल्प एवं सोपान के रूप में उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ-संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, भारतीय संस्कृति : महाकाव्यों के आलोक में, दर्शन: स्वरूप, समस्यायें एवं जीवन दृष्टि, दर्शन धर्म-अध्यात्म और संस्कृति, दि फिलॉसफी ऑफ कल्चर : एन इन्ट्रोडक्शन ऑफ क्रियेटिव ह्यूमेनिज्म, द माइण्ड एण्ड स्पीरिट ऑफ इण्डिया, हिन्दूइज्म एण्ड क्रिश्चियनिटी, फिलॉसफी, रेलिजन एण्ड कल्चर, हिन्दूइज्म एण्ड माडर्न एज, टूआर्डस् ए थ्योरी ऑफ परसन एण्ड अदर एस्सेज, फ्रीडम क्रियेटिविटी एण्ड वैल्यु, ह्यूमेनिज्म इन इण्डियन थॉट, लिमिट्स ऑफ डिसएग्रिमेन्ट इत्यादि हैं। प्रो. देवराज प्राप्त देह से न्यूनाधिक रूप में अपना काम पूरा करके १९९९ में इस दुनिया से विदा ले लिए।

*

ज्ञान, भाषा और संप्रेषण

प्राचीन भारतीय दर्शनों में प्रमाण-विचार का विशेष स्थान रहा था, इधर के दार्शनिक भाषा की चर्चा अधिक करते पाये जाते हैं। प्राचीन दार्शनिक निम्न दो मुख्य सवाल लेकर चलते थे : एक यह कि ज्ञान के स्रोत क्या हैं, और दूसरा यह कि ज्ञान का प्रामाण्य या प्रामाणिकता कैसे सिद्ध होती है। उनकी मान्यता थी कि ज्ञान के स्रोत और ज्ञान का प्रामाण्य के विधायक दोनों ही प्रत्यक्ष आदि प्रमाण हैं। यों इस संबंध में तथाकथित स्वत: प्रामाण्यवादी मीमांसकों और वेदांतियों तथा परत: प्रामाण्यवादी नैयायिकों के बीच मतभेद भी था। हमने अपने एक आलेख में यह मत प्रकट किया है कि दर्शन के प्रमेय प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों का विषय नहीं होते। हमारा यह मंतव्य भारतीय दर्शन की चिरकालिक परंपरा का विरोधी है। किन्तु यदि यह मानकर चला जाय कि दर्शन के मुख्य प्रमेय आत्मा-परमात्मा हैं तो अद्वैत वेदांत की और कुछ हद तक विशिष्टाद्वैत की भी गवाही हमारे पक्ष में होगी। शंकर और रामानुज दोनों के अनुसार ब्रह्म (अद्वैत मत में आत्मा भी) प्रत्यक्ष या अनुमान का विषय नहीं है। यहाँ प्रत्यक्ष से तात्पर्य है इन्द्रिय-प्रत्यक्ष। अद्वैत मत में तो आत्मा ज्ञान का विषय नहीं, वह इदन्तया अर्थात् विषय के रूप में ज्ञेय वस्तु नहीं है। प्रस्तुत लेखक किसी भी अस्तित्त्ववान पदार्थ को दर्शन का विषय नहीं मानता, इस तर्क से यदि आत्मा और परमात्मा अस्तित्त्ववान पदार्थ हैं तो वे दर्शन का विषय नहीं हो सकते। वैसे ही सांख्य की प्रकृति और वैशेषिक के भूततत्त्व या परमाणु दार्शनिक चिंतन के विषय नहीं हैं। इस विषय को यहीं छोड़ते हुए हम आगे ज्ञान और भाषा की चर्चा करेंगे।

अपने काव्यादर्श में दंडी ने भाषा और ज्ञान के लगाव या संबंध के बारे में एक बड़ी मार्मिक बात कही है - यह कि इन्द्रियग्राह्य संवेदन भाषा का विषय नहीं होते। काव्यादर्श में उनका प्रसिद्ध श्लोक है :

इक्षुक्षीर गुड़ादीनां माधुर्यस्यान्तरं महत्
न तथापि तदाऽख्यातुं सरस्वत्याऽपि शक्यते। १,१०२

तात्पर्य यह कि इक्षु (गन्ना), दूध और गुड़- इन तीनों के मिठास में बड़ा अंतर है; किंतु वह अंतर स्वयं सरस्वती भी शब्दों में प्रकट नहीं कर सकतीं। यह श्लोक संस्कृत के सबसे अधिक प्रसिद्ध टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने अपनी 'भामती' में उधृत किया है। वहाँ संदर्भ है, ब्रह्म की अवाच्यता का अर्थात् भाषा द्वारा अकथ्यता का। वाचस्पति मिश्र वहाँ यह सामान्य कथन करते हैं कि इन्द्रिय साक्षात्कार का कोई भी विषय भाषा द्वारा अभिधेय या कथ्य नहीं है। हम इस मंतव्य से सहमत हैं। किसी वर्ण या रंग के वाचक शब्द को लीजिए। जिसे हम लाल या हरा रंग कहते हैं उसकी अनेक छायाएँ होती हैं; उदाहरण के लिए विभिन्न पेड़ों की पत्तियाँ एक-सी हरी नहीं होतीं। यह बात लाल वस्तुओं की लाली पर लागू होती है। तब प्रश्न उठेगा कि 'हरा' या 'लाल' शब्द हरियाली या लालिमा की किस छाया को व्यंजित करता है ? इस जटिल प्रश्न का उत्तर देने की कोशिश में प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने और स्वदेश के मीमांसकों ने यह कल्पना की कि शब्दों का वाच्य जाति प्रत्यय (प्लेटो के मत में) अथवा सामान्य (मीमांसकों के अनुसार) होते हैं। किंतु सामान्य या जातियों के अस्तित्त्व का प्रकार क्या है, यह आसानी से समझ में

आने वाली बात नहीं है। यहाँ हम प्रश्न को ज्यादा व्यापक बनाते हुए पूछ सकते हैं- 'अभिज्ञान शाकुंतल' नाम के नाटक का अस्तित्त्व किस प्रकार का है ? उक्त नाटक छपे हुए पन्नों और अक्षरों के समूह का नाम नहीं हो सकता। एक छपी प्रति की हजारों प्रतियाँ हो सकती है, किंतु 'अभिज्ञान शाकुंतल' नामक नाटक एक ही है। दूसरे, मुद्रण में प्रयुक्त कागज ही नहीं, अक्षरों की लिपि भी बदली जा सकती है। उक्त नाटक बंग्ला, गुजराती अथवा रोमन लिपि में भी छापा जा सकता है। यहाँ एक और स्थिति ध्यातव्य है। 'शाकुंतल' नाटक की स्थिति संस्कृत (और प्राकृत) के ज्ञाताओं की सापेक्ष है। यदि धरती की सतह से मनुष्य जाति का अथवा संस्कृतज्ञों का लोप हो जाये तो संभवत: 'अभिज्ञान शाकुंतल' के अस्तित्त्व या यथार्थता की गवाही देने वाला कोई प्राणी नहीं रह जायेगा। और समस्त गायों के नष्ट हो जाने के बाद कहीं गोत्व नामक जाति की स्थिति या सत्ता रहेगी, यह मंतव्य संभवत: नैयायिक (या उनके समानधर्मा प्लेटो) के अलावा किसी की समझ में आने वाला नहीं है। तथाकथित प्रलय काल में 'शाकुंतल' या 'मेघदूत' का अस्तित्त्व किसी रूप में रहेगा, यह विचित्र मंतव्य शायद नैयायिक को भी स्वीकार नहीं होगा।

तो, प्रश्न है कि 'शाकुंतल' की यथार्थता, वास्तविकता, अस्तित्त्व या सद्भाव का प्रकार क्या है ? यदि हम सहज बुद्धि से विचार करें तो कहना होगा कि 'शाकुंतल' की यथार्थता या वस्तुगत स्थिति उन शब्दों या शब्दार्थों, वाक्यों या वाक्यार्थों और उनके पारस्परिक संबंधों में है जो उक्त नाटक का काव्य शरीर बनाते हैं। जिस समय कोई पाठक 'शाकुंतल' का पठन या स्मरण नहीं कर रहा होता, उस समय 'शाकुंतल' की यथार्थता एक प्रकार की संभावना या संभाव्य यथार्थ के रूप में होती है। किसी पाठक या स्मरणकर्त्ता की चेतना का विषय बनकर वह संभावना यथार्थ का रूप धारण कर लेती है। इस स्थिति से एक विचित्र परिणाम यह निकलता है कि अपने हर एक पाठक या स्मरणकर्त्ता की चेतना में 'अभिज्ञान शाकुंतल' का एक खास रूप प्रस्फुटित या प्रस्फुरित होता है। पाठक या स्मरणकर्त्ता जिस शाकुंतल का साक्षात्कार करता है- यानी शाकुंतल के कलेवर में निहित रसात्मक अनुभव या सौंदर्य का- वह एक सीमा तक ग्राहक या ग्रहण करने वाली चेतना की सांस्कृतिक योग्यता का, अर्थात् उसकी अर्थ एवं रसग्राहिणी बुद्धि या चित्त का, सापेक्ष होता है। इस दृष्टि से देखने पर जान पड़ता है कि प्रत्येक पाठक या अध्येता शाकुंतल का अपने-अपने ढंग से साक्षात्कार करता है। और जब वह नाटक अभिनीत होता है तो उसके साक्षात्कृत होने वाले कलेवर में एक दूसरी कोटि की सापेक्षता भी आ जाती है जिसका संबंध विभिन्न नटों और नटियों के विशिष्ट अभिनय-प्रकारों से होता है। प्रश्न उठता है, ऐसी स्थिति में कालिदास द्वारा रचित असली नाटक किसे कहा जायेगा ?

इस प्रश्न को यहीं छोड़ते हुए हम साक्षात्कार के 'शाकुंतल' जैसे कुछ और विषयों का उल्लेख करेंगे। वैसे विषयों के उदाहरण हैं : किसी भी विचारक का सिद्धांत, युक्तियों या तर्कों की कोई श्रृंखला, विवाद में उठनेवाले प्रश्न और उनके उत्तर इत्यादि को संक्षेप में कहा जाये तो किसी भी पुस्तक को पढ़ते हुए और किसी भी बातचीत को सुनते हुए हमारे ज्ञान या ज्ञान-क्रिया के जो विषय होते हैं, वे बहुत कुछ 'शाकुंतल' से मिलते-जुलते या उसी वर्ग के वस्तु-तत्त्व होते हैं।

कहा जाता है कि किसी वाक्य या वक्तव्य का विषय कल्पित या यथार्थ तथ्य होते हैं। यह भी कहा जाता है कि तथ्य के अनुरूप कथन सत्य कथन या सत्य प्रतिज्ञप्ति कहलाता है, और तथ्य से मेल न खाने वाला, विसंगत या अननुरूप कथन गलत कथन होता है। प्रश्न है, यह तथ्य नामक वस्तु किस प्रकार का यथार्थ या पदार्थ होता है ?

यहाँ एक बात निश्चित रूप में कही जा सकती है- तथ्य इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तुओं के समान नहीं होता। इन्द्रियग्राह्य वस्तुएँ प्राय: आकार और परिमाणवाली होती हैं, उन्हें छोटी-बड़ी, हल्की-भारी

आदि विशेषणों से वर्णित किया जा सक्रता है; किंतु जिन्हें हमं तथ्य कहते हैं वे न छोटे होते हैं न बड़े, न हल्के न भारी; देश की भाँति वे काल की उपाधियों से भी विशेषित नहीं होते। उदाहरण के लिए हम कहते हैं कि राम श्याम से अधिक लंबा या अधिक स्वस्थ है, या वह कि हाथी आकार में शेर से बड़ा होता है। ये वाक्य जिन तथ्यों को बताते हैं, वे तथ्य छोटे-बड़े या हल्के-भारी नहीं कहे जा सकते। यह तथ्य कि राम श्याम से बड़ा है, या श्याम से अधिक बुद्धिमान है इस दूसरे तथ्य की अपेक्षा में कि हाथी शेर से बड़ा होता है, बड़ा-छोटा नहीं है। तथ्यों का कोई आकार नहीं होता, यद्यपि वे आकारवाली वस्तुओं के संबंध में हो सकते हैं। तथ्यों और वस्तुओं का एक और अंतर देखिए। रसायनशास्त्र और भौतिक शास्त्र के अनुसार वस्तुओं को निर्मित करनेवाला द्रव्यतत्त्व नाशवान नहीं होता, उसका रूप भले बदलता हो। सोने को किसी गहने के रूप में गढ़ दिया जाये, उसका द्रव्य परिणाम वही रहता है। इसी प्रकार भौतिक शास्त्र के अनुसार इस ब्रह्मांड में ऊर्जा की मात्रा वही रहती है, वह न घटती है न बढ़ती है-यद्यपि उसके रूप में परिवर्तन होता रहता है। उदाहरण के लिए बिजली की ऊर्जा को ताप की ऊर्जा में परिवर्तित किया जा सकता है। फलत: भौतिकशास्त्र में द्रव्याक्षरत्व नियम है, और ऊर्जा के अक्षरत्व का नियम भी है। हम कहना चाह रहे हैं कि ऐसा कोई नियम तथ्यों पर लागू नहीं होता। जैसाकि हमने संकेत किया तथ्य का अर्थ है दो या अधिक वस्तुओं का संबंध या एक ही वस्तु की दो विशेषताओं या उसके दो पहलुओं के बीच संबंध। ध्यातव्य बात यह है कि ये संबंध द्रष्टा के सापेक्ष होते हैं, कुछ वैसे ही जैसे 'अभिज्ञान शाकुंतल' का कलेवर बनानेवाले शब्दार्थों के संबंध सहृदय पाठक या श्रोता की चेतना के लिए यानी उसके सापेक्ष होते हैं। निष्कर्ष यह कि तथ्यों का अस्तित्त्व दर्शक चेतना का अपेक्षी होता है।

तथ्य वस्तुद्रव्य अथवा ऊर्जा की भाँति अविनाश्य नहीं होता। एक-दो उदाहरणों से यह विचित्र दीखनेवाला मंतव्य स्पष्ट हो जायेगा। अपने हाथ की उंगली को एक खास स्थिति में खड़ा कीजिए। इस उंगली और सामने की मेज के विशिष्ट अंग के बीच कुछ दूरी है - मान लीजिए कि यह दूरी दो फुट चार ईंच है। और इस दूरी को एक वाक्य द्वारा प्रकट किया गया। इस वाक्य द्वारा जिस तथ्य का संकेत होता है-जो तथ्य उसका वाच्य है - वह यही है कि उंगली और मेज के बीच दो फुट चार ईंच की दूरी है' ; अथवा 'उंगली मेज के अमुक भाग से दो फुट चार ईंच दूर है'। अब आप उंगली को थोड़ा इधर-उधर कर दीजिए, स्पष्ट ही अब उंगली और मेज के उस भाग के बीच पहलेवाली दूरी नहीं है। तात्पर्य यह कि उंगली की स्थिति बदलने से दूरीवाला तथ्य भी बदल गया। इस स्थिति पर कुछ और विचार किया जाय। मेरी तर्जनी कहलाने वाली उंगली के सिरे और छत के प्रत्येक बिंदु-भाग के बीच एक खास दूरी है, जिसे नापकर वाक्य द्वारा प्रकट किया जा सकता है। किंतु छत की सतह में हजारों-लाखों बिंदुक्षेत्र हैं, उनमें से प्रत्येक की उंगली के अग्रभाग से दूरी अलग-अलग है। इन दूरियों को बताने वाले स्पष्ट ही, हजारों-लाखों वाक्य या कथन रचे जा सकते हैं जो अलग-अलग तथ्यों के वाचक या अभिधायक होंगे; किंतु मेरी उंगली की स्थिति बदलते ही वे सारे-के-सारे तथ्य नष्ट हो जायेंगे और उनका स्थान हजारों-लाखों दूसरे तथ्य ले लेंगे। निष्कर्ष यह कि अपनी उंगली की स्थिति बदलकर मैं लाखों पुराने तथ्यों को नष्ट और उतने ही नये तथ्यों को उत्सृष्ट कर सकता हूँ। जाहिर है ये तथ्य वस्तुओं से भिन्न कोटि के यथार्थ या पदार्थ हैं। किसी भी नयी वस्तु को बनाने या पैदा करने के लिए अवधान, प्रयत्न और समय अपेक्षित होता है, वैसे ही किसी वस्तु को नष्ट करना भी प्रयत्न माँगता है। इसके विपरीत तथ्यों को नष्ट और उत्पन्न करना अपेक्षाकृत सरल प्रक्रिया जान पड़ती है। यह जरूर है जिन तथ्यों का संबंध मुझसे भिन्न या इतर कारक तत्त्वों से है, उनका आविर्भाव और तिरोधान केवल मुझ पर निर्भर नहीं करता। लेकिन विचार करने पर जान पड़ेगा कि सब प्रकार के तथ्यों की स्थिति एक या दूसरे दर्शक की सापेक्ष होती है। आयरलैंड के प्रसिद्ध विचारक बिशप बर्कले ने कहा था कि वस्तुओं का अस्तित्त्व उनकी दृश्यमानता में निहित होता

है- अस्तित्त्ववान होने का अर्थ है, किसी भी प्रेक्षण-क्रिया का विषय होना। बर्कले का यह मंतव्य हमें मान्य नहीं। हम मानते हैं कि दर्शक मात्र की अनुपस्थिति में नद-नदी, वृक्ष-पर्वत आदि अस्तित्त्ववान बने रहते हैं। ऐसा नहीं है कि दर्शक के हटते ही नदी और पर्वत अदृश्य और नष्ट हो जाते हैं। किंतु वे अनेक तथ्य जिनका संबंध वृक्ष-पर्वत आदि से है, दर्शक की उपस्थिति में ही अस्तित्त्ववान होते हैं।

इस मंतव्य को विस्तार की अपेक्षा है। जीवशास्त्र के ज्ञाता बताते हैं कि विभिन्न जीवों में अलग-अलग तरह की इन्द्रियाँ या संवेदन शक्तियाँ होती हैं। जैन दर्शन के अनुसार भी कुछ जीव-शरीरों में एक इन्द्रिय रहती है, कुछ में दो या अधिक। एक ही इन्द्रिय की शक्ति अलग-अलग जीव शरीरों में भिन्न कोटि की होती है। उदाहरण के लिए कुछ जीवों की आँखें एक या दो रंग को देख पाती हैं, हमारी आँखों की भाँति सात या अधिक रंग नहीं। ऐसे भी जीव हैं जिन्हें रंग-भेद दीखते ही नहीं-उदाहरण के लिए मंडूक या मेढक वर्णांध होता है, उसे कोई भी रंग दिखायी नहीं देता। जाहिर है रंग-संबंधी तथ्य मेढक को गोचर नहीं होते।

तथ्यों का स्वरूप

तथ्य या तथ्यों के स्वरूप का अधिक सूक्ष्म विश्लेषण अपेक्षित है। ऊपर कहा गया कि तथ्य वस्तुओं से भिन्न और उनसे भिन्न धर्मोंवाले होते हैं। दो वस्तुएँ पास या दूर स्थित होते हुए पारस्परिक संबंध का अवलोकन या अनुभव नहीं करती; संबंध किसी दर्शक द्वारा देखा जाता है। दूसरी बात यह है कि कोई दो वस्तुएँ अपनी संपूर्णता में संबंध का जन्म नहीं देतीं; वस्तुओं के संबंध उनकी विभिन्न विशेषताओं की अपेक्षा में होते हैं। राम, श्याम से अवस्था में बड़ा है या उससे अधिक लंबा है, ये संबंध उनकी जन्म-तिथियों अथवा शारीरिक ऊँचाइयों से निरूपित होते हैं। राम और श्याम में कौन अधिक शिक्षित अथवा बुद्धिमान है, उनकी महत्त्वाकाँक्षाएँ क्या हैं, इन विशेषताओं का उनकी आपेक्षिक अवस्थाओं और लंबाइयों से कोई संबंध नहीं है। दो वस्तुओं के बीच संबंध-स्थापन के लिए यह जरूरी है कि उन्हें एक या दूसरी विशेषता की रोशनी में देखा जाये। प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता सर आर्थर एडिंग्टन ने विज्ञान के प्रश्न-पत्रों में पूछे जाने वाले एक प्रतिनिधि प्रश्न का उल्लेख करते हुए उस पर टिप्पणी की। प्रश्न कुछ इस प्रकार का होता है : एक पहाड़ी की ढलान पर एक हाथी नीचे की ओर सरक रहा है; उसका वजन दो टन है; इत्यादि। यहाँ बुद्धिमान परीक्षार्थी समझ लेता है कि प्रश्न में हाथी का उल्लेख कोई महत्त्व नहीं रखता, काम की बात है दो टन वजन। तात्पर्य यह कि विचाराधीन प्रश्न की दृष्टि से हाथी की व्यक्तिसत्ता अपने में कोई लंबा-चौड़ा अर्थ नहीं रखती, वह दो टन का वजन भर है। वैसे ही एक इतिहासकार को युद्ध में प्रयुक्त हथियारों के वजन, रासायनिक गुणों आदि से साक्षात् मतलब नहीं होता। उसकी दृष्टि में सारे अस्त्र शक्ति एवं हार-जीत की संभावनाओं के प्रतीक या संकेतक हैं।

वास्तव में तथ्य नाम की वास्तविकता का उदय तब होता है, जब हम वस्तुओं को अपने किसी प्रयोजन के मातहत एक या दूसरी विशेषता से संयुक्त करके देखते और संबंधित करते हैं। शायद इसीलिए अरस्तू और कणाद जैसे विचारक द्रव्य और गुण के प्रत्ययों को विशेष महत्त्व देते हैं। हम कल्पना करते हैं कि गोचर वस्तु एक प्रकार का द्रव्य पदार्थ है जिसमें गुण, कर्म आदि विशेषताएँ रहती हैं। इस प्रकार दो वस्तुओं में संबंध-स्थापन करते हुए किसी तथ्य का साक्षात्कार करने का अर्थ है - उन वस्तुओं को किसी विशेषता से संयुक्त करके देखना। वह विशेषता वस्तु से अभिन्न होती है, किंतु अपने प्रयोजन के लिए हमारी विश्लेषण-बुद्धि उसे वस्तु से विविक्त करके अनुचिंतन का विषय बनाती है। विचाराधीन विशेषता या विशेषताएँ कुछ संदर्भों में आरोपित भी होती हैं। खास विशेषता या गुणधर्म का उपयोग कैसे किया जाय, जैसे छुरे या बिजली के करेंट का हत्या के लिए, यह हमारी सूझबूझ पर भी निर्भर करता है। हम कुर्सी का उपयोग बैठने के लिए न करके कमरे में घुस आये आक्रमणकारी

मनुष्य या भालू-बंदर आदि के विरुद्ध अस्त्र रूप में भी कर सकते हैं, और आत्मरक्षा के लिए ढाल के रूप में भी। सच यह है कि किसी भी वस्तु को जानने-समझने का हमारे पास यही उपाय है। इस प्रकार विशेषित होने पर ही वस्तु हमारी भाषा की पकड़ में आती है और हमारा तत्संबंधी ज्ञान प्रेषणीय बनता है।

दंडी का उधृत श्लोक यह बतलाता है कि वस्तु के इन्द्रियग्राह्य धर्म अभिधेय नहीं होते। हमारे शब्द किसी विशेषता या वस्तु धर्म को उसके सामान्य रूप में-ऐसे रूप में जो किसी बुद्धिगम्य प्रयोजन से लगाव रखता है-अपना विषय बनाते हैं। जब हम बच्चे को 'गाय' अथवा लाल शब्द का अर्थ समझाते हैं तो प्राय: उस शब्द को किसी व्यक्तिवस्तु से संबंधित करते हैं, किंतु धीरे-धीरे बच्चा यह समझने लगता है कि गाय शब्द एक जाति के किसी भी जीव का संकेत कर सकता है; और वैसे ही लाल शब्द, अनेकानेक खास रंग की वस्तुओं को संकेतित करता या कर सकता है। गाय शब्द के वाच्य जीव विभिन्न आकारों और रंगों के हो सकते हैं, वैसे ही लाल शब्द एक खास रंग की अनेक छायाओं का वाचक बन जाता है। जब हम किसी बच्चे से कहते हैं कि 'मेज पर से लाल जिल्दवाली पुस्तक उठा लाओ' तो हम यह बताने को बाध्य महसूस नहीं करते कि पुस्तक की जिल्द की लालिमा ठीक-ठीक कितनी हल्की या तेज है, वैसा बताये बिना हमारा काम चल जाता है। यहाँ काम चलने से मतलब है बालक द्वारा लाल जिल्द की सफल पहचान हो जाना। यदि बालक छोटा है और पुस्तक बहुत भारी है तो उसके भार का विचार भी प्रासंगिक हो जायेगा। यदि पुस्तक एक हजार बड़े पृष्ठों का कोश है, तो उसे उठाने के लिए अपेक्षाकृत वयस्क बालक को प्रेरित करना उचित होगा।

ऊपर की विचारणाओं का एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि भाषा या वाक्यों द्वारा प्रकाशित और प्रेषित होने वाले तथ्य होते हैं, न कि वस्तुओं का निराला व्यक्ति-भाव। विभिन्न प्रयजनों की अपेक्षा में दो या अधिक वस्तुओं के संबंध विविध रूप लेते हुए अनेक तथ्यों को जन्म देते हैं। जहाँ वक्ता का प्रयोजन बहुत स्पष्ट नहीं होता, वहाँ उसके द्वारा किया गया वस्तु या व्यक्ति का वर्णन भी निश्चित अर्थों का वाहक न रहकर कतिपय भावों का संकेतक मात्र बन जाता है। काव्य के बारे में कहा गया है कि उसका भावबोध केवल सहृदय द्वारा ग्राह्य होता है। बात यह है कि किसी प्राकृतिक दृश्य या नायिका का सौंदर्य, स्थूल व्यावहारिक प्रयोजन से संबद्ध न होने के कारण, स्पष्टता से आख्येय या प्रेषणीय नहीं होता। कवि विशेष कोटि के संकेतों द्वारा उसे सहृदय पाठक तक पहुँचा पाता है, फलत: काव्यगत सौंदर्यबोध ऐसे पाठकों द्वारा गृहीत नहीं हो पाता जो सहृदय नहीं हैं। वस्तुत: यह बात काव्य-शरीर में प्रतिफलित या अभिव्यंजित सब प्रकार के भावाबोध और चमत्कार के अनुभव पर लागू होती है। वैसे ही सामने गोचर गतियों में रूपायित जो कर्म किया जा रहा है, उसकी नैतिक विशेषताएँ खास संवेदना वाले मनुष्यों को ही अनुभव-गोचर होती हैं, पशु-पक्षियों को नहीं। मेरा कुत्ता हत्या या बलात्कार के दृश्य से उस तरह प्रभावित नहीं होगा जिस तरह आप या मैं।

अब हम तथ्य या तथ्यों के स्वरूप से संबंधित अपने निष्कर्षों का सारांश प्रस्तुत करें। यदि मान लिया जाये कि भाषा की - उस भाषा की जो मनुष्यों के बीच प्रेषण या संप्रेषण का पुल बनाती है - इकाई वाक्य है, तो कहना होगा कि वाक्य का वाच्य तथ्य होते हैं। तथ्य का स्वरूप संबंध-निर्मित होता है, किंतु यह संबंध प्रकृति में उपस्थित वस्तुओं की ऐसी विशेषताओं के बीच होता है, जो वक्ता और श्रोता के भी विशिष्ट प्रयोजन के लिए अर्थवत्ता रखती है। ये प्रयोजन जितने ही सुनिर्दिष्ट होते हैं, संप्रेषण उतना ही सफल होता है। वस्तुओं की उक्त कोटि की विशेषताओं को हम अभिप्रेत या इष्ट विशेषताएँ कह सकते हैं, यह इष्टता संदर्भ द्वारा परिभाषित और नियंत्रित होती है। संक्षेप के लिए हम वैसी विशेषताओं को इष्टार्थ संज्ञा देंगे। इस प्रत्यय की सार्थकता समझने के लिए हम थोड़ा शब्दार्थ का विचार करेंगे।

शब्द और अर्थ

हमने कहा कि भाषा की इकाई वाक्य है। इस मंतव्य से विवाद करते हुए कुछ लोग कह सकते हैं कि भाषा की इकाई शब्द या पद हैं न कि वाक्य। यदि हम पदों या शब्दों का अर्थ नहीं समझते तो स्पष्ट ही उनके द्वारा गठित या रचित वाक्य का अर्थ नहीं समझ सकते। यहाँ हमें भारतीय दर्शन के एक प्रसिद्ध विवाद का स्मरण होता है जो दो शिविरों के मीमांसकों के बीच चला। एक शिविर के विचारक 'अन्विताभिधानवादी' हैं और दूसरे 'अभिहितान्वयवादी'। इस विवाद का लंबा-चौड़ा विवरण देना हमें अभीष्ट नहीं है। जब हम एक शब्द सुनते हैं, जैसे- 'अश्व' या 'जल' शब्द, तो संभवत: हमारे मन में एक विशिष्ट अर्थ का आभास आता है। यह अभास वाच्य वस्तु की प्रतिमा या बिंब हो सकता है, अथवा उसकी काई विशेषता, किंवा एक खास विशेषता से संयुक्त वस्तु-बिंब। यों यह जरूरी नहीं है कि हर श्रोता या वक्ता में बिंब-ग्रहण की एक-सी क्षमता हो। एक वक्ता या श्रोता के मन-चित्त में अश्व या जल शब्द का अक्षरात्मक बिंब मात्र आ सकता है। बाद में एक संदर्भ में निवेशित होने के अनंतर वह शब्द निश्चित अर्थ का वाहक बन जाता है। यहाँ अर्थ से तात्पर्य है, वाच्य, जो शब्द द्वारा संकेतित होता है। अश्व शब्द सुनने मात्र से हमें आनेवाले वाक्य के संदर्भ का ज्ञान नहीं हो जाता है। आगे वक्ता कह सकता है : 'अश्व एक शाकाहारी जीव है', या 'अश्व एक तेज दौड़नेवाला पशु है', अथवा 'अश्व सवारी के लिए पाला जाता है', या 'रथ' आदि वाहन खींचने के लिए, न कि मारकर खाने के लिए', या 'अश्व आकार में ऊँट से छोटा होता है', इत्यादि। यहाँ पूरे वाक्य का प्रत्येक संदर्भ हमें अश्व नामक जंतु की एक या दूसरी विशेषता के अनुचिंतन में संलग्न करता है। इसी प्रकार जल शब्द का प्रयोग अनेक संदर्भों में हो सकता है। रसायनशास्त्र की पुस्तक में हम पढ़ते हैं कि 'जल हाइड्रोजन और ऑक्सीजन का यौगिक है'। साधारण बोलचाल में कहा जा सकता है कि 'जल प्यास बुझाता है', अथवा 'जल देवता पर चढ़ाया जाता है', या 'संस्कृत में जल से अनेक शब्द बनते हैं, जैसे- जलद, जलधि, जलज, आदि'। 'जलपान' पद के अंतर्गत जल का और ही अर्थ बन जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी शब्द को सुनकर हम अनेक संभव संदर्भों की कल्पना करते हुए उत्सुकतापूर्वक वक्ता के मुख से पूरा वाक्य उच्चरित होने की प्रतीक्षा करते हैं। वैसा वाक्य सुनने के बाद ही हम संदर्भ-विशेष द्वारा वाँछित अर्थ या इष्टार्थ को पकड़ पाते हैं।

ऐसे इष्टार्थों के बीच संबंध स्थापन द्वारा उस वास्तविकता का संकेत किया जाता है जिसे तथ्य कहते हैं। इस विमर्श से यह जाहिर है कि तथ्य नामक वास्तविकता कहीं गोचर जगत् में पड़ी हुई या रखी हुई चीज नहीं होती; वह वक्ता के प्रयोजन के अनुरूप शब्दों द्वारा संकेतित वस्तुओं की प्रासंगिक विशेषताओं या इष्टार्थों के संबद्ध अनुचिंतन से श्रोता के ज्ञान का विषय बनती है। इसीलिए किसी तथ्य को समझने के लिए यह जरूरी नहीं होता कि हम संकेतित वस्तुओं का साक्षात्कार करें। यदि ऐसा हो तो हम इतिहास के ग्रंथों को और यात्रियों द्वारा प्रस्तुत किये गये देश-विदेश के विवरणों को बिल्कुल ही न समझ सकें। यही क्यों, वैसे विवरणों को वे श्रोता या पाठक भी समझ सकते हैं जो किसी कारण वर्तमान समय में देखने या सुनने की शक्ति से वंचित हो गये हैं। स्थिति यह है कि वह समस्त ज्ञान जो हमें शब्द प्रमाण-आप्त वचन-से होता है, प्रत्यक्ष जन्य नहीं होता; ऐसा ज्ञान संभव होता है इसलिए कि तथ्यों का कलेवर इष्टार्थों और उनके संबंधों से निर्मित होता है, भौतिक वस्तुओं से नहीं। निश्चय ही कोई वादी यह मान्यता लेकर नहीं चलेगा कि किसी इतिहास ग्रंथ या विज्ञान की पाठ्य-पुस्तक में भी उनमें लिखित वाक्यों के वाच्य या अर्थरूप में भौतिक वस्तुएँ रहती हैं। यों भी यह देखना कठिन नहीं कि हाथी या चींटी के संबंध में उच्चरित वाक्य और उनके द्वारा संकेतित तथ्य आकार में बड़े या छोटे नहीं होते।

तो फिर किसी वाक्य के सही या सच होने का क्या अर्थ हो सकता है ? कहा जाता है कि सही

या प्रामाणिक वाक्य वस्तु-संवादी (या तथ्य संवादी) होता है। किंतु यदि तथ्य कहीं बाह्य जगत में पड़े हुए नहीं हैं, तो किसी वाक्य या कथन के तथ्य-संवादी होने का कोई अर्थ नहीं रह जायेगा। इस समस्या का हल खोजते हुए हम एक दूसरा प्रश्न उठाएँगे : इतिहासकार जिन तथ्यों के बारे में चर्चा करता है, वे सब अतीत में घटित हुए माने जाते हैं; उन तथ्यों तक इस समय हमारी पहुँच संभव नहीं है। फिर इतिहास विशेष की प्रामाणिकता का क्या अर्थ हो सकता है ?

यहाँ हम प्रसंगवश कह दें कि कतिपय बड़े इतिहासकारों का यह कहना है कि कोई भी इतिहासलेख निश्चित सत्य या पूर्णत: सही होने का दावा नहीं कर सकता। यह अजीब बात है कि किसी देश या युग के बड़े इतिहासकार वही कहलाते हैं, जिनके आलेख का निजी व्यक्तित्व हो, ऐसा व्यक्तित्व जो उसे दूसरे इतिहासकारों के आलेखों से जुदा कर सके। यह भी कहा जाता है कि प्रत्येक युग अतीत को अपनी अलग नजर से या अपने ढंग से देखता है; फलत: प्रत्येक युग में अतीत का इतिहास अलग रूप धारण कर लेता है। इससे भी यह निष्कर्ष निकलता है कि इतिहासकार कहीं रखे या पड़े हुए तथ्यों का आलेख प्रस्तुत नहीं करता। वास्तव में जिन साक्ष्यरूप अभिलेखों, आलेखों या वक्तव्यों को आधार बनाकर इतिहास लिखा जाता है, वे तत्कालीन इष्ट घटितों की व्याख्या-रूप होते हैं; कभी-कभी तत्कालीन लेखकों के वक्तव्य दूसरे दर्शकों या सुने-सुनाये पर आधारित साक्ष्यदाताओं के बयानों पर निर्भर होते हैं। वैसे आधारसाक्ष्य के बल पर ही नये इतिहासकार कल्पना और तर्क बुद्धि का प्रयोग करते हुए समसामयिक अथवा यथार्थ अतीत का अपना, निजी लेखा या विवरण प्रस्तुत करते हैं। ऐसे विवरण या वृत्त की दो विशेषताएँ होती हैं। एक, वह अपने में सुसंगत, तर्कबुद्धि को संतोष देने वाला होता है; दूसरे वह उपलब्ध साक्ष्य (युग विशेष के दर्शक-लेखकों द्वारा प्रस्तुत विवरणों, अभिलेखों आदि) के प्रति न्याय करने की कोशिश में संलग्न दीख पड़ता है। यदि उपलब्ध विवरणों-अभिलेखों आदि को वस्तु-सामग्री के रूप में देखा जाये जो अनेकविध अर्थों, अभिप्रायों या इष्टार्थों की वाहक होती है, तो कहना होगा कि इतिहासकार अपनी रुचि एवं पक्षपातों के अनुसार अनेक संभव प्रासंगिक अर्थों या इष्टार्थों के बीच दृष्टि-समर्थक अर्थों का चयन करता है, और उनके बीच अपने निजी ढंग से संबंध-स्थापन करके ऐतिहासिक यथार्थ का विशिष्ट चित्र खड़ा करता है। प्राय: यह चित्र ऐसा होता है कि इतिहासकार के अपने पक्षपातों या अपनी दृष्टि को पुष्ट करे।

यहाँ एक और बात ध्यातव्य है। जैन दार्शनिक कहते हैं कि वस्तु अनेक धर्मात्मक होती है। यदि हम थोड़ी देर को इस पर ध्यान दें कि विभिन्न जीव एक ही वस्तु को (अपनी इन्द्रिय संरचना के अनुरूप भी) अलग-अलग ढंग से देखते हैं, तो जान पड़ेगा कि उक्त जैन मंतव्य निराधार नहीं है। हम कहना चाह रहे हैं कि कोई भी ऐतिहासिक परिस्थिति अनेकानेक अभिप्रायों या इष्टार्थों की वाहक या संकेतक होती है; ये इष्टार्थ एक-दूसरे को काटते, पुष्ट करते या उपेक्षित करते भी दिखायी दे सकते हैं। फलत: उन्हें संगति या संगतरूप देना दुष्कर कार्य हो सकता है। प्रत्येक इतिहासकार को यह दुष्कर कार्य संपादित करना होता है। अतीत के इतिहास की तरह वर्तमान का इतिहास लिखना भी कठिन कार्य होता है। जरूरी नहीं कि किसी वक्ता, नेता के चार श्रोता उसके वक्तव्य की एक ही रपट या विवरण दें। यही बात किसी घटना के अनेक दर्शकों द्वारा दिये गये विवरण पर लागू होती है। वास्तविकता यह है कि हर प्रकार का विवरण या प्रतिवेदन (रपट) वस्तुस्थिति की व्याख्या रूप होता है, और यह संभव नहीं कि देखे हुए का विवरण देते हुए कोई दर्शक व्याख्यात्मक प्रत्ययों का अवलंब न ले। इससे हम एक बार फिर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वाक्यों या प्रकथनों के विषयभूत तत्त्व भाषागत अवधारणाओं या प्रत्ययों के प्रयोग द्वारा अस्तित्त्व में आते या लाये जाते हैं- वे कहीं गोचर जगत् में पहले से मौजूद नहीं होते। यदि प्रकृति जगत् को हम यथार्थ जगत् कहें तो कहना होगा कि तथ्य नामक यथार्थ उस जगत् का अंग नहीं

हैं या होते नहीं। तथ्यों का अस्तित्त्व उनके किसी प्रयोजन वाले दर्शक या वक्ता द्वारा देखे जाने और कथित होने में निहित है। वक्ता या श्रोता की दृष्टि से वे दृश्यमान गतियाँ, संकेत आदि (अर्थात् वे भौतिक व्यापार या क्रियाएँ जिन्हें लोक में कर्म कहा जाता है) इष्टार्थों (अभिप्रायों, प्रयोजनों) के प्रकाशन का माध्यम मात्र होते हैं। सामने उपस्थित वक्ता अपना अभिप्राय शब्दों के अलावा मुखभंगिमा आदि से भी प्रकाशित करता है; किंतु इतिहासकार के सामने प्रत्यक्षदर्शी गवाहों या कर्म में संलग्न पुरुषों (या स्त्रियों) के बयान या वक्तव्य मात्र मौजूद होते हैं।

ऊपर कहा गया है कि किसी शब्द या पद के अनेक संभाव्य अर्थों में से एक का उपयोग या ग्रहण विशिष्ट संदर्भ द्वारा नियंत्रित होता है। किंतु शब्द के अनेक अर्थ संख्या में असीमित नहीं होते- यद्यपि उपमा आदि अलंकारों के नियोजन में अंगीभूत बनकर वे कोशगत अर्थों से अलग अभिप्रायों के वाहक बन सकते हैं। उसी प्रकार कोई वस्तु या स्थिति सीमित इष्टार्थों के ही संकेत दे सकती है; फलतः वह कुछ खास संदर्भों या प्रकरणों का ही अंग बन सकती है। इसीलिए व्याख्यात्मक मतभेद रखनेवाले इतिहासकारों को भी कतिपय तथ्यों के बारे में मतैक्य रखना पड़ता है-जैसे बाबर द्वारा राणा सांगा की पराजय का तथ्य या घटित; ब्रूटस ने सीजर की हत्या की, या वह सीजर की हत्या के षड्यंत्र और क्रियान्वयन में शरीक हुआ, यह घटना एक स्तर पर तथ्यरूप है। किंतु जहाँ हत्या की अवधारणा इष्टार्थों के विशिष्ट संघटन या संहति में निहित है, वहाँ वह संहति दूसरे इष्टार्थों को भी ध्वनित करती है। सीजर की हत्या किसलिए की गयी ? यहाँ इतिहासकारों के बीच मतभेद की गुँजाइश है। संभव है, ब्रूटस ने हत्या के षड्यंत्र और क्रियान्वयन में इसलिए हिस्सा लिया कि उसे सीजर से ईर्ष्या थी, अथवा दोनों के बीच व्यक्तिगत रंजिश थी, यह भी संभव है- जैसा कि ब्रूटस ने दावा किया- कि वह महत्त्वाकांक्षी सीजर से जनतंत्र की रक्षा करना चाहता था। इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि इष्टार्थ भौतिक वस्तुओं और गोचर व्यापारों में ही संलग्न, या उनके द्वारा ध्वनित, नहीं होते, वे दूसरे इष्टार्थों द्वारा भी संकेतित हो सकते हैं। इस श्रेणी के संकेत जानने के लिए विभिन्न कोटियों और स्तरों के इष्टार्थों के संबंधों की जाँच भी जरूरी होती है या हो सकती है। बात यह है कि मनुष्य नाम का प्राणी अनेक इष्टार्थों की अपेक्षा से जीवित रहता और कर्म करता है। इसका एक सरल उदाहरण देखा जाये। किसी रेस्तराँ में बैठकर मैं दोपहर के भोजन का ऑर्डर करता हूँ। भोजन में मैं कौन-से व्यंजन लूँगा, यह कई कारक स्थितियों पर निर्भर करेगा; यथा-१. रेस्तराँ में क्या-क्या खाद्य पदार्थ या व्यंजन उपलब्ध हैं; २. मेरी भोजन-संबंधी रुचियाँ क्या हैं; ३. मैं कहाँ तक स्वाद की अथवा पोषक भोजन की चिंता करता हूँ; ४. अपने धार्मिक या नैतिक विश्वासों के अनुरूप मैं अपनी पसंद किन भोजनों तक सीमित रखता हूँ; ५. मेरी भोजन के पोषक तत्त्वों के बारे में कितनी जानकारी है और मैं भोजन पर कितना व्यय करना चाहता हूँ। यहाँ एक रोचक बात ध्यातव्य है। ऊपर का प्रत्येक संकेतित विमर्श मेरे एक या दूसरे रूप में प्रासंगिक मूल्यबोध से संबंध रखता है। जिसे हम किसी वस्तु या स्थिति पर आरोपित इष्टार्थ कहते हैं, वह उपयोगिता नैतिकता आदि के किसी धरातल पर हमारे मूल्यबोध का द्योतक या उसका प्रतिफलन होता है। हम सिर्फ पेट भरने के लिए नहीं खाते; हम एक हद तक स्वाद के लिए खाते हैं और स्वास्थ्य के लिए भी। इसके अलावा हम रुचिकर वातावरण में सलीके से सुंदर ढंग से भी खाना चाहते हैं। आपातकाल या उतावली अथवा समय की कमी होने पर हमारा भोजन व्यापार एक प्रकार से अनुष्ठित होगा, और पर्याप्त समय और सुविधा रहते हुए दूसरे, अधिक सुघर ढंग से। इस उदाहरण से एक दूसरी बात भी जाहिर होती है; हमारा जीवन अथवा हमारे कर्म बहुत कुछ हमारे मूल्यबोध से नियंत्रित होते हैं। मनुष्य होने के नाते हम मूल्यों के अनेक उपायों में जीते हैं, और हम लगातार विभिन्न मूल्यों को एक दूसरे की अपेक्षा में आंकते और तौलते हुए विशेष अवसरों पर एक या दूसरा चयनात्मक निर्णय लेते हैं।

हमने कहा कि तथ्यों की वास्तविकता, उनका अस्तिभाव इष्टार्थों के संघटन या संहति में निहित होता है। इन इष्टार्थों में गोचर जगत् से निकटतम संबंध उनका होता है जो उपयोगितापरक हैं; और जिनकी उपलब्धि एवं उपयोग गोचर वस्तुओं को रूपांतरित या स्थानांतरित करने का रूप लेते हैं। आगे हम देखेंगे कि नैतिक मूल्य उपयोगितापरक मूल्यों से घना संबंध रखनेवाले होते हैं; तात्पर्य यह कि उपयोगितापरक इष्टार्थ नैतिक इष्टार्थों या प्रत्ययों से आवश्यक लगाव रखते हैं। सच यह है कि जब हम उपयोगितापरक मूल्यों की चर्चा विचाराधीन उपयोगिताओं के बँटवारे से जोड़ देते हैं, तो यह प्रश्न उठने लगता है कि किसी स्थिति में किया गया या संकल्पित बँटवारे का आयोजन नैतिक दृष्टि से उचित है या अनुचित। उपयोगितापरक और नैतिक मूल्यों के घने संबंध पर आगे विचार किया जायेगा। यहाँ हम इतना कह दें कि जिन्हें हम इष्टार्थ कहते हैं, वे दूर तक स्वयं में मूल्य रूप अथवा मूल्यों के संकेतक होते हैं। दूर तक इसलिए कि सदैव नहीं; यद्यपि यह सच है कि नितांत मूल्य निरपेक्ष दीखनेवाले इष्टार्थ भी किसी कोटि के क्रियाकलाप के प्रेरक होते हैं।

अब तक हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि तथाकथित तथ्य इष्टार्थों की संहतिरूप होते हैं। यह समझना भूल होगी कि सब प्रकार के तथ्य एक ही ढंग के भाषा प्रयोग से संकेतित हो जाते हैं। प्राचीन नैयायिक मानते थे कि संकेतग्रह का अर्थ शब्द और वस्तु के संबंध को ग्रहण करना है; इसके विपरीत हमारी मान्यता है। कि शब्द एक या दूसरे इष्टार्थ से संचालित या संयुक्त वस्तु का संकेत करते हैं। यही नहीं; शब्दों या वाक्यों के वाच्य ऐसे इष्टार्थ अथवा इष्टार्थ-संहतियाँ हो सकती हैं जो गोचर वस्तुओं से साक्षात्कार संबंध नहीं रखतीं। उदाहरण के लिए नैतिक विशेषताओं के वाचक शब्द, अथवा नैतिक स्थिति को बतानेवाले वाक्य साक्षात् रूप में गोचर जगत् के बारे में नहीं होते। वस्तुत: मूल्यबोध के वाहक वाक्यों या वाक्य-समूहों के वाच्य प्राय: गोचर वस्तुओं की संहतियाँ नहीं होतीं; वे प्राय: ऐसे इष्टार्थों की संहतियों को संकेतित करते हैं जो साक्षात् रूप में गोचर वस्तुओं से संबद्ध नहीं हैं। जिन्हें हम आलोचनात्मक कथन कहते हैं - जैसे यह कथन कि 'मेघदूत' एक सुंदर काव्य है, अथवा किसी पद्य या श्लोक में प्रयुक्त उपमा बड़ी मार्मिक या व्यंजक है, अथवा यह कि 'भामिनीविलास' की अपेक्षा 'मेघदूत' श्रेष्ठतर काव्य है, तो हमारा कथन किसी गोचर वस्तु के बारे में अथवा किसी गोचर वस्तु-संहति का द्योतक नहीं होता। यही कारण है कि ऐसे किसी कथन की परीक्षा गोचर वस्तुओं या स्थितियों की अपेक्षा में नहीं की जा सकती। इसी से संबंधित यह निष्कर्ष है कि समीक्षात्मक कथनों की परीक्षा उपयोगितापरक इष्टार्थों अथवा स्थितियों की कसौटी पर नहीं की जा सकती। साथ ही हम यहाँ फिर दोहरा दें कि विभिन्न इष्टार्थों और उनकी संहतियों को विषय बनाकर प्रवृत्त होनेवाली भाषा प्रत्येक क्षेत्र की अपेक्षा में अलग-अलग ढंग से व्यापृत होती है। मोटे शब्दों में प्रकट करें तो कहना होगा कि दैनंदिन क्रिया-कलापों की भाषा, विज्ञान की भाषा, नैतिक मूल्यांकन की भाषा, और कला-साहित्य, समीक्षा की भाषा-और स्वयं काव्य-साहित्य की भाषा-ये सब अलग-अलग कोटियों के व्याकरण अथवा तर्क से अनुशासित होती हैं।

एक दृष्टि से अनुभववादियों का यह कहना ठीक है कि तथ्यों की वाचक प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता की कसौटी इन्द्रियग्राह्य वस्तुएँ या वस्तु संघटन (संवेदन) होते है, किंतु सचाई यह है कि वस्तुएँ अपने में मूक होती हैं, वे न बोलती हैं, न किसी तरह की गवाही देती हैं। विचाराधीन प्रकथन या प्रतिज्ञप्तियाँ वस्तुओं या उनकी सहस्थिति से परीक्षित या सत्यापित नहीं होतीं - वे वस्तु संघटना के द्योतक दूसरे प्रकथनों या प्रतिज्ञप्तियों की अपेक्षा में परीक्षित-सत्यापित होती हैं। इस स्थिति का सटीक व्याख्यान एफ.एच. ब्रेडले की विचार-पद्धति में हुआ है। उसकी मान्यता है कि अंतत: किसी कथन की सचाई की कसौटी उसकी अन्य स्वीकृत (सत्य-) कथनों से संगति है। इस मंतव्य में सत्यता का काफी

अंश है। विज्ञान में किसी नयी परिकल्पना की स्वीकृति के लिए एक आवश्यक शर्त यह है कि वह अद्यावधि स्वीकृत सत्यों या सत्य-समष्टियों अथवा मंतव्यों से संगति रखती हो। किंतु यह भी सच है कि कभी-कभी एक संपूर्ण विचार-पद्धति किसी प्रयोगलब्ध तथ्य के बल पर त्याज्य घोषित कर दी जाती है। ऐसी दशा में कहा जाता है कि विज्ञान के किसी क्षेत्र में बड़ी क्रांति हो गयी। हम सब जानते हैं कि किस प्रकार आइजक न्यूटन द्वारा प्रचारित भौतिक सिद्धांत पद्धति, जिसमें कतिपय नये प्रयोगों द्वारा प्रस्तुत किये गये तथ्यों के समावेश की गुंजाईश नहीं थी, अंततः परित्यक्त हुई और क्वान्टम तथा सापेक्षता सिद्धांत द्वारा अपदस्थ कर दी गयी।

क्या इससे यह सिद्ध होता है कि किसी सिद्धांत की प्रामाणिकता (सचाई) की अंतिम कसौटी अनुभवात्मक तथ्य होते हैं, न कि स्वीकृत एवं सम्मानित सिद्धांत पद्धतियाँ ? इसका उत्तर देने से पूर्व हमें एक स्पष्टीकरण करना होगा। हमने कहा कि वस्तु में मानव दर्शकों द्वारा इष्टार्थों का आरोप किया जाता है; यह आरोप-क्रिया स्वयं मनुष्य के अनुभवतंत्र अथवा ज्ञानतंत्र की संरचना द्वारा नियंत्रित होती है। किंतु यह आरोप वस्तु पर अनियंत्रित ढंग से इष्टार्थों का आरोप नहीं करती- आरोपित इष्टार्थ में थोड़ा-बहुत परिवर्तन या विविधता संभव होती है, न कि असीमित अनियंत्रित विविधता। यही कारण है, कि (उदाहरण के लिए) वस्तुस्थिति की प्रत्येक व्याख्या को लेकर विचार और विमर्श संभव होता है; और इतिहासकार अपनी-अपनी व्याख्याओं की पुष्टि में तथ्यों की उद्धरणी कर पाते हैं। यह बात भौतिक विधाओं के क्षेत्रों पर भी लागू होती है। 'ब्रूटस ने सीजर की हत्या में भाग लिया'-यह कथन एक अधिक सामान्य धरातल पर घटना-विशेष की व्याख्या प्रस्तुत करता है। दूसरे उच्चतर व्याख्या-धरातल पर हम उन प्रेरक प्रयोजनों की समष्टि बनाते हैं जिनके संदर्भ में हत्या की घटना या तथ्य ऐतिहासिक महत्त्व को प्राप्त करता है। उक्त घटना या तथ्य को ब्रूटस आदि षड्यंत्रकारियों की जीवनियों या जीवन गाथाओं में भी फिट किया जा सकता है। यह भी संभव है कि उदाहरण के लिए ब्रूटस की जीवनगाथा में हत्या की घटना का उसके किसी व्यक्तिगत प्रयोजन से संबंध जोड़ा जा सके। ब्रूटस की जीवनगाथा एक स्वतंत्र घटना-पद्धति या इष्टार्थ संहति के रूप में देखी जा सकती है, और रोमन साम्राज्य के इतिहास के एक अंग के रूप में भी। घटना विशेष को (जो गोचर वस्तुगतियों का पुंज मात्र है) हत्या की संज्ञा देना उसकी व्याख्या का पहला धरातल और प्रयत्न है। इस व्याख्या को स्वयं व्याख्येय घटित मानकर उस पर दूसरे इष्टार्थों का आरोप करते हुए, नयी, उच्चतर धरातल पर विन्यस्त व्याख्या एक या दूसरे हत्यारे की जीवनी अथवा रोम के इतिहास के संदर्भ में की या दी जाती है। इस दूसरे धरातल पर व्याख्याता इतिहासकारों में मतभेद हो सकता है, भले ही वे सब हत्या की घटना के बारे में मतैक्य रखते हों। वैसे ही भौतिकशास्त्र अथवा नक्षत्र विद्या में किसी अणुवीक्षण अथवा दूरवीक्षण द्वारा प्रकाशित तथ्य के बारे में मतैक्य होने पर भी उसकी उच्चतर धरातलवाली व्याख्या को लेकर परीक्षकों में मतभेद हो सकता है। किंतु ज्यादा सही बात यह है कि उच्चतर धरातल के व्याख्या भेद मूल घटना या तथ्य को भी एक सीमा तक किंचित् विभिन्न रूप दे देते हैं। इतिहास के क्षेत्र में वैसे भेद साध्य प्रयोजनों अथवा प्रयुक्त साधनों की सापेक्षता में निरूपित होते हैं।

थोड़ी देर को हम भाषा और शब्दों की ओर लौटें। हमने कहा था कि एक ही शब्द विभिन्न संदर्भों में प्रयुक्त होता हुआ अलग-अलग अर्थ-छायाओं का वाहक बन जाता है। कागज सफेद होता है और बेला का फूल तथा बर्फ भी सफेद कहे जाते हैं; किंतु स्पष्ट ही उक्त तीन वस्तुओं कें संदर्भों में सफेद, श्वेत या कोई और शब्द एक ही रंग-छाया को द्योतित नहीं करता। इस प्रकार हम देखते हैं कि संदर्भ के अनुरूप शब्द की अर्थच्छाया बदलती है। किंतु यह भी स्पष्ट है कि वैसे बदलाव की एक सीमा होती है। श्वेत शब्द इंद्रधनुष के किसी रंग के लिए प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। विभिन्न विद्याओं के क्षेत्र में

दृश्यमान अथवा प्रयोगलब्ध घटित की व्याख्या भी, इसी प्रकार, एक सीमा तक ही मत विभिन्नता का सहन कर सकती है। एक उदाहरण साहित्य के क्षेत्र से लें। प्रेम और स्नेह जैसे शब्द अनेक संदर्भों में प्रयुक्त होते हैं; प्रेमी या प्रेमिका के संदर्भ में, मित्र के संदर्भ में, कला, ज्ञान आदि से लगाव के संबंध में भी प्रेम शब्द की अर्थच्छाया बदल जाती है। इसी प्रकार जहाँ तक हमारे युग की सुशिक्षित एवं स्वतंत्र व्यक्तित्वशाली नारी मध्ययुग की नारी से भिन्न है, वहाँ तक आज के कवि का प्रेमकाव्य रीति-काल के प्रेमकाव्य से भिन्न हो जायेगा। यह एक मुख्य कारण है कि प्रत्येक युग अपना नया निराला प्रेमकाव्य और वैसे ही नया-निराला प्रकृतिकाव्य उत्पन्न करता है; वैसे ही आज के लेखक द्वारा नैतिक स्थितियों और प्रश्नों का उपस्थापन एवं विश्लेषण पिछले युगों के लेखकों से भिन्न रूप धारण कर लेता है। वास्तविकता यह है कि जिन जीवनस्थितियों को अनुचिंतन का विषय बनाकर हमारे कवि और कथाकार साहित्य रचते हैं, वह जीवन बदलती परिस्थितियों में निरंतर बदलता रहता है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि ये बदलती हुई परिस्थितियाँ जहाँ कुछ हद तक भौतिक होती हैं, वहाँ कहीं अधिक सांस्कृतिक होती हैं। हमारे ज्ञान-विज्ञान की स्थिति, सामाजिक, राजनीतिक, नैति क विचारों के बदलते रूप-जिनका संबंध जैसा कि कार्ल मार्क्स का विचार था, बदलते आर्थिक संबंधों से भी हो सकता है- हमारे साहित्य को निश्चित रूप में प्रभावित करते हैं। यहाँ एक उदाहरण पर्याप्त होगा। प्राचीन महाकाव्यों और आख्यायिकाओं के नायक-नायिका प्राय: उच्चवर्गों के सदस्य होते थे; हमारे जनतंत्री युग में होरी जैसे किसान और मजदूर भी कथा-साहित्य के उपयुक्त पात्र बन गये हैं।

***

मूल्यबोध : तर-तम भाव का विकास

दर्शन की दो सार्वकालिक समस्याएँ यथार्थ के ज्ञान अथवा तत्त्वबोध तथा मूल्यबोध के क्षेत्रों से संबंधित रही हैं। हमारे उपनिषद् साहित्य में उक्त दोनों ही समस्याएँ या प्रश्न मुखर रूप में मौजूद हैं। वहाँ एक ओर ब्रह्म अथवा आत्मा के ज्ञान को लेकर लंबा-चौड़ा विचार-विमर्श मिलता है, तो दूसरी ओर मोक्ष-प्राप्ति की समस्या भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। यह भी कहा जा सकता है कि ज्ञान का विशेष महत्त्व मोक्ष का साधन होने में है। वास्तव में मोक्ष के साधन के रूप में ज्ञान की महत्ता का विशेष बखान उपनिषदों की चिंतनभूमि का प्रधान फल दिख पड़ता है; ज्ञान के बिना मुक्ति संभव नहीं है-ऋते ज्ञानान्नमुक्ति:- यह उपनिषदों के अध्यात्म-दर्शन अथवा दर्शन और अध्यात्म की प्रमुख मान्यता एवं आग्रह है। इस मान्यता ने भारतीय मनीषा को मूलत: चिंताप्रवण बनाया है। आगे चलकर प्रखर जिज्ञासा से सहचरित ज्ञान की खोज ने प्रमाणमीमांसा का सूक्ष्म आग्रही रूप धारण किया; साथ ही मोक्ष तत्त्व के अन्य साधनों एवं स्वरूप के निरूपण का प्रयत्न भी उतने ही आग्रह व लगन से चलता रहा। वैदिक व हिंदू दर्शनों में सांख्य तथा वेदांत ने मोक्ष तत्त्व के निरूपण में विशेष रुचि और सूक्ष्म विवेचन-शक्ति का प्रदर्शन किया। दूसरी ओर न्यायदर्शन के अंतर्गत प्रमाणशास्त्र का विशद निरूपण एवं विस्तार हुआ। यही बात कमोबेश जैन आगमों एवं जैन दर्शन पर तथा बौद्ध प्रमाणशास्त्र और उनके निर्वाण संबंधी चिंतन पर लागू होती है; बौद्धों की इन दोनों चिंतन दिशाओं का उद्गम भगवान बुद्ध के विचार-संवालित बौद्धिक एवं नैतिक-आध्यात्मिक उपदेशों में देखा जा सकता है। गौतम बुद्ध निश्चय ही मुख्यतया निर्वाण पथ के प्रदर्शक या शास्त्रा थे, पर वे साथ ही प्रखर विचारक भी थे। यदि वे क्रांतिकारी विचारक न होते तो उपनिषदों की तत्त्वमीमांसा का, उनके आत्मवाद का, तीखा विरोध करते हुए निर्वाण नाम की परिणति की एक नितांत नयी व्याख्या न दे पाते।

भारतीय दार्शनिक-आध्यात्मिक मनोवृत्ति व मनीषा के उक्त दोनों पक्षपात प्रस्तुत लेखक को अनुप्रेरित करते रहे हैं। कहा जा सकता है कि उसका मुख्य ध्येय व लक्ष्य जीवन-मूल्यों के संबंध में नयी, प्रामाणिक अंतर्दृष्टि पाना रहा है। किंतु इसका अर्थ ज्ञान संबंधी चिंतन की गौण स्थिति नहीं है। वास्तव में हम मानते हैं कि मूल्यबोध, अपने सौंदर्यबोध, नीतिबोध एवं अध्यात्मबोध के प्रमुख रूपों में, निश्चित ही बोध या ज्ञान कहलाने का अधिकारी है- केवल वस्तु-जगत् का ज्ञान ही ज्ञान नहीं होता, जैसाकि पश्चिम के अधिकांश विचारक मानते प्रतीत होते हैं। उक्त विचारकों के अनुसार मूल्यों या मूल्यांकन का क्षेत्र मुख्यतया भावना अथवा आवेगात्मक अनुभव का क्षेत्र है; वह विशुद्ध ज्ञान का क्षेत्र नहीं है। अपनी अंतश्चेतना में, शायद, हमारे प्राचीन भारतीय विचारक भी ऐसा ही कुछ मानकर चलते रहे। इसका एक बड़ा सबूत यह है कि हमारे प्राचीन तथा मध्ययुगीन वाङ्मय में नैतिक आदर्शों तथा मोक्ष-निर्वाण के संप्रत्ययों या अवधारणाओं को केवल ऋषि-मुनियों अथवा श्रुतियों व आगम ग्रंथों के उपदेशों के रूप में ग्रहण किया गया-उन्हें किन्हीं प्रमाणों द्वारा सिद्ध या प्रमाणित करने की कोशिश नहीं की गयी। उदाहरण के लिए महाभारत, योगसूत्र, मनुस्मृति आदि ग्रंथों में सत्य, अहिंसा आदि का जगह-जगह

उपदेश है; वैसे ही योगसूत्र में, चित्त प्रसादन के साधनों के रूप में,मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षा की संस्तुति है और बौद्धों के धर्मग्रंथों में उनका 'ब्रह्मविहार' अभिधान के अंतर्गत वर्णन है। उक्त धर्मग्रंथों व धर्म संप्रदायों के अनुयायी श्रद्धाभाव से उपरोक्त आदेशों-उपदेशों को मान्यता देते रहे। तात्पर्य यह है धर्म-अध्यात्म के क्षेत्रों से संबंधित उपदेशों को लेकर तर्कमूलक ऊहापोह नहीं किया गया-जैसा कि तत्त्व कहे जानेवाले पदार्थों को लेकर किया गया।

आज स्थिति यह है कि हम किसी आगम या श्रुति ग्रंथ से आचार-विचार के संबंध में उपदेश नहीं लेना चाहते; हम उनके बारे में तरह-तरह का तर्क-वितर्क करते हैं। उसी प्रकार राजनीति दर्शन नागरिकों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का विश्लेषणात्मक विवरण देने का प्रयत्न करता है। वैसे ही नैतिकता के क्षेत्र में हम व्यक्ति के आचार-व्यवहार के नियमों व आदर्शों का बुद्धिसम्मत विवेचन और व्याख्या देने की कोशिश करते हैं। प्रश्न है, उन क्षेत्रों में विवेचन या व्याख्या के बुद्धिसम्मत होने का क्या अर्थ होता है ? जैसा कि हम जानते हैं, पदार्थ-निरूपण के क्षेत्र में भी वैसी व्याख्या या विवेचन संभव है ? इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार-विमर्श की कोशिश आगे की जायेगी। यहाँ हम सब प्रकार के अन्वेषण से संबंधित एक तथ्य की ओर इशारा करके आगे बढ़ेंगे। वह तथ्य यह है कि दर्शन और विज्ञान दोनों क्षेत्रों में हम कतिपय सामान्य पूर्वमान्यताओं, परिकल्पनाओं अथवा प्राकल्पनाओं को लेकर अग्रसर होते हैं। यहाँ विज्ञान और दर्शन में मुख्य भेद यह है कि जहाँ विज्ञान की वैसी कल्पनाएँ अंतत: प्रयोगात्मक अवेक्षण या अवेक्षणों अथवा भविष्यवाणियों द्वारा परीक्षित या प्रमाणित होती हैं, वहाँ दर्शन (सौंदर्यशास्त्र, नीतिशास्त्र, अध्यात्म दर्शन) में कोटि का परीक्षण, सत्यापन (Verification) अथवा प्रमाणीकरण संभव नहीं होता।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि विज्ञान या दर्शन के किसी भी क्षेत्र में पूर्वमान्यता अथवा प्राकल्पना (Hypothesis) का संकेत एवं स्वीकार निराधार नहीं होता; वास्तव में वैसी कल्पना का उदय अनुभव की किसी विशेषता में, अथवा विशिष्ट अनुभव में, या अनुभूत तथ्य अथवा तथ्यसमूह में होता है। यह दूसरी बात है कि विभिन्न विज्ञानों, शास्त्रों या विद्याओं के क्षेत्र में वैसे तथ्य अलग-अलग श्रेणियों के होते हैं। इस दृष्टि से दर्शन तथा विविध विज्ञानों के तथ्यों में तो अंतर रहता ही है, भौतिक विज्ञानों एवं मानवीय विद्याओं के तथ्यों में भी दूरगामी भिन्नताएँ रहती और दिख पड़ती हैं। इन विभेदों से संबंधित प्रश्नों व समस्याओं पर आगे विचार किया जायेगा। फिलहाल हम अपने सर्जनात्मक मानववाद के दायरे में कतिपय सामान्य वैचारिक स्थितियों के संबंध में अपना अभिमत स्पष्ट करने की कोशिश करेंगे। यह कोशिश या प्रयत्न दर्शन की उस शाखा का अंग समझा जाना चाहिए जिसे 'मैटाफिजिक्स' कहते हैं। इधर, ब्रिटिश विचारक पी.एफ. स्ट्रासन ने दो प्रकार की 'मैटाफिजिक्स' में अंतर किया है एक प्रकार की मैटाफिजिक्स को वे संशोधक (Revisionary) और दूसरी को वर्णनात्मक (Descriptive) मैटाफिजिक्स कहते हैं।[1] प्रथम कोटि की मैटाफिजिक्स में हमारी सहज बुद्धि (Common Sence) द्वारा समर्पित चिंतन-प्रकारों का परित्याग करके हमारे विश्व-संबंधी अनुभव को, अथवा अनुभव में आने वाले विश्व को, नितांत नये ढंग से देखने का प्रस्ताव किया जाता है। उदाहरण के लिए यूनानी दार्शनिक प्लेटो इन्द्रिय-ज्ञान या अनुभव में प्रकाशित वस्तुओं को यथार्थ प्रत्यय-जगत् की अनुकृति या छाया कहता है। उसकी दृष्टि में इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थ या वस्तुएँ तात्त्विक न होकर तत्त्व का आभास मात्र हैं। वैसे ही अद्वैत वेदांत के अनुसार दृश्यमान जगत् उसी प्रकार मिथ्या है जिस प्रकार शुक्ति में दिखनेवाली रजत अथवा रज्जु में दिखनेवाला सर्प-दृश्यमान जगत् तात्त्विक ब्रह्म का विवर्तमात्र है। इस कोटि के दर्शन को हम कल्पनाधर्मी या कल्पना विलासी दर्शन कह सकते हैं। यों तो उस प्रकार के दर्शन का ग्रंथ भी किसी कठिन समस्या या प्रश्न के समाधान के लिए होता है; किंतु वह समाधान प्राय: सहजबुद्धि और उसके

पक्षपातों से दूर पड़ जाता है। इस अर्थ में वैसा दर्शन कल्पनाविलासी (Speculative) कहा जा सकता है।

वर्णनात्मक दर्शन अपेक्षाकृत सहजबुद्धि के निकट होता है, वह सहजबुद्धि को ग्राह्य व्याख्या देता हुआ परिचित अनुभव के संघटन का प्रयत्न जान पड़ता है। जिस 'मैटाफिजिक्स' या तत्त्वदर्शन का हम प्रतिपादन करना चाह रहे हैं, वह वर्णनात्मक होने का दावा करेगा। स्ट्रासन के अनुसार यूनानी दार्शनिक अरस्तू जो प्लेटो का शिष्य है, वर्णनात्मक मैटाफिजिक्स का पक्षधर एवं प्रणेता है। यहाँ हम यह जोड़ देना चाहेंगे कि दो प्रकार की तत्त्वमीमांसा का यह विभेद आत्यंतिक नहीं है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, दूसरी कोटि के अनुभव की दृष्टि से-उस अनुभव के जिसका संबंध आध्यात्मिक मूल्यबोध से है-प्लेटो तथा अद्वैत वेदांत वर्णनपरक 'मैटाफिजिक्स' के उदाहरण प्रस्तुत करते माने जा सकते हैं।

सर्जनात्मक एवं अनुभव की व्याख्या

पूर्व में हमने अपने तत्त्वदर्शन की दो केन्द्रीय अवधारणाओं की ओर संकेत किया है, एक यह कि जीवधारी अथवा प्राणी-मात्र अपने अनुभव जगत् या अनुभव के दायरे में आने वाली वस्तुओं में ऐसी विशेषताओं का, न्यूनाधिक सचेत भाव से, अहसास या अनुभव करता या करने की कोशिश करता है जो उसके ज्ञात या अज्ञात प्रयोजन को अग्रसारित करनेवाली हैं। उदाहरण के लिए अपनी संतान के पोषण के लिए, उसकी खुराक जुटाने के लिए हमारी परिचित गौरैया आदि चिड़ियाँ किसी रहस्यमय ढंग से यह जान जाती हैं कि जंतु विशेष-तरह-तरह के कीड़े-मकोड़े-उनके लिए उपयुक्त खाद्य हैं जिन्हें मारकर वे अपना और अपने बच्चों का पोषण कर सकती हैं। वास्तव में यह स्थिति समस्त जीव-जगत् में पायी जाती है। हमारे कमोबेश परिचित अधिकांश जीव-जंतु अपने से कमजोर जंतुओं का शिकार करके पेट पालते हैं। छोटे-बड़े समूहों में मिलकर काम करने वाली चींटी अपने से बड़े कीड़े के शव को खींचकर ले जाती है; हम छिपकली को भी बड़ी कुशलता से फतींगों आदि का शिकार करते देखते हैं। एक बड़ी विचित्रता यह है कि जहाँ अधिकांश पशु-पक्षी मांसाहारी दिख पड़ते हैं, वहाँ कतिपय पशु जैसे गाय, बकरी आदि शुद्ध शाकाहारी हैं, और कुछ उभयभोजी, जैसे गौरैया, कौवा आदि पक्षी एवं कुत्ता-बिल्ली जैसे पशु। पहले अध्याय में हमने देखा कि बर्र जैसे जीवधारी जहाँ एक ओर खाद्य क्षुद्र जंतु को उस रूप में पहचानने की क्षमता रखते हैं, वहीं दूसरी ओर वे ऐसे क्रियाकलापों एवं स्थितियों का आभास भी कर लेते हैं जो उनके लिए—उनके जीवन व्यापार के लिए—उपयोगी हैं। एक प्रकार से कहा जा सकता है कि मैक्डॉनल की बर्र कथंचित यह आभास पा लेती है कि कौन-सी स्थिति उसके प्रतिकूल पड़ सकती है, और उसकी गतियों व क्रियाओं में किस प्रकार का परिवर्तन-संशोधन उसे परिवेश या परिस्थिति के साथ सफल समायोजन करने में सहायक होगा। न जाने किस रहस्यमय प्रक्रिया या अंतर्दृष्टि से वह शिकार किये जानेवाले जंतु की अर्थवत्ता या उपयोगिता का ही नहीं, परिवर्तित प्रतिक्रिया अथवा क्रिया-कलाप का भी आभास पा लेती है। ऐसी ही किसी प्रक्रिया से बया पक्षी (और यह एक उदाहरण मात्र है) घोंसला बनाने में सहायक सामग्री की अर्थवत्ता को सूंघ लेती है, और उस अपेक्षाकृत कांटों से घिरे सुरक्षित स्थान की उपयोगिता को भी जहाँ वह घोंसला बनाना पसंद करती है।

अब हम जीवयोनियों में प्रमुख मनुष्य की चर्चा करें। इतर जीवों की अपेक्षा मनुष्य की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी भाषा की जानकारी और भाषा-प्रयोग की क्षमता। कई क्षेत्रों में मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ या प्रेरणाएँ (Instincts) वैसी सक्षम एवं सुनिश्चित व्यापार-व्यवहार की शक्ति से समन्वित नहीं दिख पड़तीं जैसी कि पशु-पक्षियों की। इसके बदले मनुष्य को देखने-सुनने-समझने की शक्तियाँ प्राप्त हैं; मनुष्य थोड़ी दूर तक ही अंतर्वृत्तियों द्वारा परिवेशगत वस्तुओं की उपादेयता-अनुपादेयता की अवगति पाता है। वह प्राय: वस्तुओं की उक्त विशेषताएँ अनुभव एवं विशेषत: आज के समुन्नत युग

में, विज्ञान के जैसे निरीक्षण व प्रयोगों द्वारा जानता है। वह उस जानकारी को भाषा में प्रकट करके अपनी समकालिक तथा आगे आनेवाली पीढ़ियों के हित में सुलभ बना देता है। वह सचेतभाव से वस्तुओं के स्वभाव का अध्ययन करता और उनके विशिष्ट गुणधर्मों को भाषिक अवधारणाओं में प्रकट करता है। इस प्रक्रिया में गुजरते हुए उसके लिए वस्तुविशेष एक या दूसरे इष्टार्थ अथवा अर्थवत्ता, प्रयोजन या इष्टार्थ की दृष्टि से वर्ग विशेष या श्रेणी विशेष के अंतर्गत आनेवाली कोई भी वस्तु या इकाई समान महत्त्व रखती है। यों तो प्रत्येक गाय का अलग व्यक्तित्व होता है, फिर भी दूध-दही आदि पाने के लिए हम किसी भी गाय का उपयोग कर सकते हैं। जहाँ तक यांत्रिक या दूसरी विधि से निर्मित वस्तुओं का सवाल है, हम स्टील के किसी भी ब्लेड, कुर्सी, अलमारी आदि से काम चला सकते हैं। यह इसलिए भी संभव होता है कि हम वस्तुओं तथा उनकी विशेषताओं को, उनकी पहचान के लिए, अलग-अलग नाम दे देते हैं। कालांतर में यह मुमकिन होता है कि हम अपने प्रयोजनों का हवाला देकर किसी के माध्यम से आवश्यक वस्तु या वस्तुओं की आपूर्ति करा लें। जिन्हें हम व्यापारी कहते हैं, वे प्राय: इसी प्रक्रिया से दूसरे नगरों और विदेशों से भी उपभोग्य सामग्री या सामान मंगाकर अपने ग्राहकों को उपलब्ध कराते हैं। यह भी ध्यातव्य है कि आज की दुनिया में पैसा या धन नाम की चीज तरह-तरह की अनगिनत उपयोगी वस्तुओं के क्रय या प्राप्ति का साधन बन गयी है। हम यह भी देखते हैं कि धनी या आवश्यक धन या पैसे से संयुक्त होने का अर्थ साथ में सिक्के, नोट अथवा बैंक की चेकबुक इनमें भी किसी का भी स्वामित्व हो सकता है। हम यह भी सुनते हैं कि दुनिया के शेयर बाजारों में काफी क्रय-विक्रय टेलीफोन पर बातचीत द्वारा अनुष्ठित हो जाता है। इस विधि से शेयर्स का व्यापार करने वाला व्यक्ति हाथों द्वारा स्पर्श किये बिना ही हजारों-लाखों की हानि-लाभ कर लेता है। ऐसा व्यक्ति किसी शेयर-बाजार के भावों में विशेष उतार-चढ़ाव होने की खबर मात्र से चिंतित, या हानि-लाभ से प्रभावित और इसलिए सुखी या दुखी हो सकता है। प्राचीन कहानियों में हम पढ़ते हैं कि व्यापारी सेठ किसी जहाज के डूब जाने की घटना से यकायक दरिद्र या दिवालिया हो जाते थे; शेयर-बाजार के व्यापारी आज भी उस तरह की हानि-लाभ से-उसकी सूचना-मात्र से प्रभावित होते हैं। वैसी ही सूचनाओं से युद्ध में संलग्न दो या अधिक देशों के शासक भी शोक या खुशी मना सकते हैं। यदि किसी पिता को यह खबर मिले कि कहीं विदेश में या युद्ध क्षेत्र में उसके बेटे की मृत्यु हो गयी है तो वह हजारों मील की दूरी पर स्थित हुआ भी शोकमग्न हो सकता है। और यहाँ हम पशु-पक्षियों तथा मनुष्यों का एक बड़ा अंतर देखते हैं : पशु-पक्षी भौतिक वस्तुओं के संपर्क में ही प्रतिक्रिया करते हैं, किंतु मनुष्य केवल भाषा द्वारा या प्रतीकबद्ध रूप में उपस्थित इष्ट-अनिष्ट अर्थों अथवा तत्संबंधी सूचनाओं से लगभग उतना ही प्रभावित होता है। हमारे देश या धर्म के इतिहास में यदि कभी और कहीं दुर्भाग्यपूर्ण स्थितियाँ उत्पन्न हुईं, या घटना घटित हुई, तो उनकी स्मृति या जानकारी हमारे कष्ट का कारण बन जाती है उदाहरण के लिए महमूद गजनी द्वारा प्रसिद्ध सोमनाथ मंदिर का ध्वंस हिंदुओं को उनके अप्रिय अतीत का स्मरण कराता हुआ कष्ट देता है। कहना चाहिये कि हमें अपने और दूसरे देशों का इतिहास आज मुख्यत: भाषा या शब्द-प्रतीकों के माध्यम से ही उपलब्ध है। इससे यह अनुगत होता है कि अपने भले-बुरे इतिहास का अनुचिंतन करते हुए हम वस्तु जगत् के संपर्क में न रहते हुए इष्टार्थों की दुनिया में संचरण करते होते हैं। विश्व साहित्य के कहानी-उपन्यास-नाटकों आदि को पढ़ते हुए भी हम वैसी ही दुनिया में भ्रमणशील होते हैं। आप लोग जो इस पुस्तक के पाठक हैं और इस प्रकार लेखकों के विविध विचार-विमर्श के सहभागी हैं,वे भी इष्टार्थों (Meanings) के खास वातावरण में रहते माने जायेंगे-न कि भौतिक जगत् के किसी इलाके में। हम कहना चाह रहे हैं कि सचेत् एवं ज्ञानवान मनुष्य भाषा नाम की संपत्ति का स्वामी होने के नाते बहुत कुछ उन इष्टार्थों की दुनिया में रहता है जो उसके लिए शब्दों में निबद्ध रूप में ही उपलब्ध हैं। कालिदास का

'मेघदूत' या 'अभिज्ञान शाकुंतल' पढ़ते हुए कुछ पाठक वर्णित स्थितियों का कल्पना द्वारा भले ही साक्षात्कार कर पाते हैं पर यह जरूरी नहीं है कि हर पाठक में वैसे साक्षात्कार की क्षमता हो। उस तरह की क्षमता का 'मेघदूत' या 'शाकुंतल' में निबद्ध अनुभवों के रसग्रहण से कोई आवश्यक लगाव नहीं रहता। निष्कर्ष यह है कि हम इष्टार्थों के विभिन्न प्रदेशों में विचरण करते हुए प्रकृति जगत् या भूतजगत् के साक्षात् संपर्क की अपेक्षा नहीं करते।

यहाँ हम इष्टार्थ की अवधारणा का कुछ और स्पष्टीकरण करना चाहेंगे। एक इंजीनियर किसी भवन के निर्माण के लिए दसियों तरह की सामग्री जुटाता हैं जैसे ईंटें, पत्थर, बालू-सीमेंट, सरिया गर्डर आदि। उड़ने वाले पक्षियों की दृष्टि में इनमें से अधिकांश चीजों का एक ही उपयोग है, टिकने या रहने की जगह पा जाना या पानी पीने की सुविधा हो जाना इत्यादि। इसके विपरीत रास्ते से गुजरने वाले मनुष्य अपनी-अपनी जानकारी की रोशनी में निर्माण स्थल पर जुटाये गये उपकरणों व सामग्री की अर्थवत्ता का आभास लेते हैं। अर्थवत्ता की विभिन्न कोटियाँ ही इष्टार्थ हैं। कहना न होगा कि विचाराधीन इष्टार्थों (या प्रसक्तार्थों) की जानकारी प्रत्यक्ष-सापेक्ष व्याख्या नहीं होती। किसी बढ़ई, लोहार, विद्युतकर्मी, रेडियो, टी.वी. आदि के मैकेनिक जिन औजारों या उपकरणों का प्रयोग करते हैं उनकी विशिष्ट, अलग-अलग अर्थवत्ता की जानकारी खास तरह के ज्ञान पर निर्भर करती है जो देखना-मात्र (प्रत्यक्ष जन्य) नहीं होता। यदि हम कोश द्वारा संकेतित अर्थ को वाच्यार्थ कहें, तो जाहिर है कि विशिष्ट इष्टार्थों (या प्रसक्तार्थों) अथवा इष्टार्थ संहतियों का अवबोध ऐंद्रियबोध से भिन्न और पृथक् प्रक्रिया द्वारा होता है। इस प्रसंग में खास ध्यान देने की बात यह है कि कथित इष्टार्थ (या प्रसक्तार्थों) अनेक श्रेणियों या वर्गों के होते हैं। जितनी तरह के हमारे रुचि रुझान (Interests) हैं उतनी तरह के इष्टार्थ भी हैं। कुछ इष्टार्थों का संबंध हमारी विविध उपयोगिताओं (Utilities) से होता है, कुछ का हमारे प्रामाणिता के बोध, सौंदर्यबोध, नैतिक-आध्यात्मिक बोध से। कहा जाता है कि अतिविचारशील गणितशास्त्री एवं दार्शनिक अपनी-अपनी दुनिया में खोये हुए अक्सर व्यवहार जगत् की कस्मकश से असंपृक्त या दूर रहते हैं, यही बात काव्य, कला आदि क्षेत्रों में रमे रहनेवाले व्यक्तियों पर लागू होती है। उसी तरह इतिहास-प्रेमी विद्वान व पाठक विभिन्न देशों के इतिहास की स्मृति में जीवन का अधिकांश समय बिताते हैं, वैसे ही जैसे काव्य आदि के प्रेमी विश्व के कवियों व दूसरे साहित्यकारों के सान्निध्य में। इसी प्रकार व्यापारियों और सट्टेबाजों का अलग-अलग संसार होता है। ऐसा नहीं कि विभिन्न अर्थक्षेत्रों से संबद्ध उक्त लोग भौतिक परिवेश में नहीं रहते, पर वह रहना बहुत कुछ अभ्यस्त चर्या के तहत होता है जहाँ बुद्धि और मन को सीमित अवधान ही देना पड़ता है। निष्कर्ष यह कि सभ्य मनुष्य, अपने मन-बुद्धि के रुझानों एवं सामर्थ्य के अनुरूप, दूर तक इष्ट या अभिप्रेत अर्थों अथवा मूल्यों के जगत् का अधिवासी होता है।

ऊपर हमने इष्टार्थ के पर्याय रूप में 'मूल्यों' (Value) शब्द का प्रयोग किया; वह शब्द इष्ट द्वारा साक्षात् बोधित होता है। इष्टार्थ अर्थात् अभीष्टार्थ (अभीष्ट+अर्थ); किंतु इष्टार्थ का दूसरा पर्याय प्रासंगिक या अभिप्रेत अर्थ हो सकता है जो आवश्यक रूप में मूल्य का द्योतक नहीं है। अभिप्रेत के संकेत के लिए मीमांसक लोग वक्ता के 'तात्पर्य' का जिक्र करते हैं जो अर्थबोध की अनेक शर्तों में एक है। वैसे ही तथाकथित लक्षणावृत्ति द्वारा भी तात्पर्य का बोध होता है। साधारणतया तात्पर्य से मतलब अभिप्रेत दोनों तरह का अर्थ कह सकते हैं। अभीष्टार्थ को संक्षिप्त करने से हमें अभ्यर्थ शब्द प्राप्त होता है जिसमें प्रत्यय लगाने से 'अभ्यर्थी' शब्द बनता है। अत: हम इष्टार्थ को अभ्यार्थ भी कह सकते हैं। ऊपर हमने कहीं-कहीं कोष्ठक में प्रसक्त शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ होता है प्रसंग या संदर्भ से नियंत्रित अर्थ। उदाहरण : संस्कृत का 'सारंग' शब्द अनेकार्थक है, वह संदर्भ-विशेष में मृग-मयूर-हंस आदि अनेक अर्थों का वाहक होता है।

मनुष्य द्वारा भाषा आदि प्रतीक-प्रणालियों का अवलंब लेने अथवा उन पर निर्भर रहने या होने के दो नाटकीय परिणाम ध्यान देने योग्य हैं : एक यह कि वस्तुओं या स्थितियों के द्योतक पद या पदसंहतियाँ अक्सर वक्ता या श्रोता में उन प्रतिक्रियाओं को उत्थित करती हैं जो मूलत: दृष्ट वस्तुएँ या वस्तु-संस्थान करते हैं। संवेदनशील पिता-माता-उदाहरण के लिए- अपने पुत्र की मृत्यु के समाचार से लगभग उतने ही विचलित हो सकते हैं जितने मृत्यु की घटना के साक्षात्कार से। परस्पर की बहस या झगड़े की स्थिति में उच्चरित अनादर व अवज्ञा-सूचक शब्द वैसे ही या अधिक चोट पहुँचाता है जैसे हाथ या छड़ी आदि से प्रहार। दूसरे, हम शब्दों या पदों की विविध संहतियों द्वारा ऐसी मनोदशाओं अथवा मन:स्थितियों को जन्म देते हैं जिनका कोई भौतिक या गोचर प्रतिरूप देखने में नहीं आता : उनका अस्तित्त्व पूर्णतया प्रयुक्त शब्दों या प्रतीकों में निहित रहता है। उदाहरण के लिए प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टाइन का सापेक्षता-सिद्धांत गणित के समीकरणों में ही अस्तित्त्व लाभ करता है; उसका कहीं गोचर जगत् में सद्भाव नहीं होता। कहा जा सकता है कि वह सिद्धांत भौतिक पदार्थों, प्रकाश-दिक् काल आदि के संबंधों में निदर्शित (Illusteate) होता है; किंतु उक्त संबंध भी गोचर कोटि में नहीं आते। यह भी सच है कि देश-काल के स्वरूप के संबंध में हमारी अवधारणाएँ नितांत अस्पष्ट व रहस्यगर्भित हैं। इस प्रसंग में एक महत्त्व की स्मरणीय बात यह है कि-जैसा कि भौतिकशास्त्र के इतिहास से प्रमाणित है- कालांतर में उसके अतिशय सम्मानित सिद्धांत, सूत्र भी परित्यक्त या संशोधित हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि उक्त रूप में संशोधित या परित्यक्त होने से पहले, विचाराधीन सिद्धांत-सूत्र किस बाह्य यथार्थ (अथवा यथार्थों के संबंध) को संकेतित कर रहे थे। सच्चाई यह है हमारी समस्त भाषिक या प्रतीकबद्ध संरचनाएँ स्वयं हमारी अवधारणाओं को रूपाकार देती हैं। इन अवधारणाओं या प्रत्ययों की पद्धतियाँ जिस यथार्थ अथवा जिन यथार्थों को संकेतित करना चाहतीं या कर पाती हैं, वे वस्तुओं से संबद्ध या उन पर आरोपित अर्थ (इष्टार्थ, अभ्यर्थ, कहीं-कहीं प्रसक्तार्थ) होते हैं। तात्पर्य यह कि : किसी भाषिक संरचना के लिए यह दावा करना कि वह यथार्थ को उसके, दृष्ट या कल्पित से भिन्न, निजी रूप को पकड़ती है, उचित नहीं है। जिसे हम इष्ट या अभिप्रेत अर्थ (अभ्यर्थ) कहते हैं उसका उद्भव हमारी अर्थात् ज्ञाता की विशिष्ट प्रकृति, उसके रुचि-रुझानों तथा वस्तु-प्रकृति की क्रिया प्रतिक्रिया में होता है। इसका मतलब यह हुआ कि वस्तु स्वयं अपने में कैसी है यह जान लेना हमारे वश की बात नहीं है। हम वस्तु को उसी रूप व उन्हीं रूपों में जान सकते हैं जैसी वह हमें प्रतीत होती है। आप चाहें तो अद्वैत वेदांत की भाषा में कह सकते हैं कि हमारा ज्ञान जिन इष्टार्थों अथवा अभ्यर्थों तक सीमित है, वे हमारे मानसिक-बौद्धिक गठन के तहत वस्तु सत् पर आरोपित या अध्यस्त किये जाते हैं। अद्वैत मत में प्रतीयमान विश्व की ब्रह्म में आरोपित सत्ता है न कि निजी यथार्थ सद्भाव। हमारी पदावली में वस्तु से संबंधित जो कुछ ज्ञान हमें होता है वह इष्ट या अभिप्रेत अर्थों का-और ये अर्थ, जैसा कि ऊपर कहा गया, हमारे रुचि-रुझानों अथवा अस्तित्त्व की विविध माँगों के सापेक्ष होते हैं।

दर्शन के विद्यार्थियों को यहाँ दर्शन के इतिहास में निरंतर चले आये वस्तुवाद (Realism) और प्रत्ययवाद (Idialism) के विवाद का स्मरण होना स्वाभाविक है। एक प्रकार से हम यहाँ तीसरा, मानववादी पक्ष या विकल्प प्रस्तावित कर रहे हैं। हम यह मानना जरूरी नहीं समझते कि हमारा ज्ञान जो अनिवार्य रूप में शब्द या भाषाश्रित होता है, वस्तु के निजी रूप को पकड़ने में सक्षम है; हम यह कल्पना करना भी जरूरी नहीं मानते कि वस्तु-सत् ब्रह्म या चैतन्यरूप है जिस पर हम विविध इष्टार्थों या अभ्यर्थों का आरोप करते हैं। हमारी मान्यता है कि हमारे लिए, हमारे समस्त प्रयोजनों की दृष्टि से, विश्व का यथार्थ वही है जो हमें आभासित होता है। इस आभासित विश्व की परिधि से बाहर जाना हमारे वश की बात नहीं है। आभासों से भिन्न वस्तुसत् के बारे में दार्शनिक तथा वैज्ञानिक विचारक तरह-तरह

की कल्पनाएँ करते रहे हैं, पर इन कल्पनाओं का निश्चित या चरम सत्यापन (Verificaton) संभव नहीं है। जो सत्यापन संभव है, उसके दो प्रकार हैं। सत्यापन का एक प्रकार यह है कि हमारे सिद्धांत विशेष का सत्य प्राय: व्यवहार-सत्य होता है। उसे वेदांत भी स्वीकार करता है। सत्यापन का दूसरा रूप है योग्य सहयोगियों की सहमति- या उनके द्वारा स्वीकार्यता। किसी काव्य-खंड या कृति का रसास्वाद और मूल्यांकन करते हुए हम अपने रसबोध संबंधी निर्णय के बारे में सहृदय पाठकों व समीक्षकों की सहमति या स्वीकृति की अपेक्षा करते हैं। ध्यातव्य है कि अतीत युगों की कृतियों के बारे में हमारे युग का रसबोध, कभी-कभी, अतीत के रसिक पाठकों से थोड़ा बहुत भिन्न भी हो जाता है। यह भी द्रष्टव्य है कि नैतिक निर्णयों के क्षेत्र में यह मतभेद और भी तीखा होकर दिखायी पड़ता है। उदाहरण के लिए आज हम नारी को पुरुष की समानता में देखते हुए उससे एकतरफा सतीत्व कहलाने वाली निष्ठा की आशा नहीं करते; हम मानते हैं कि वैसी निष्ठा पति-पत्नी दोनों के लिए समानरूप में वाँछनीय (या अवाँछनीय) है वैसे ही अन्य कई संबंधों के प्रसंग में हमारे युग का नैतिक बोध विगत युगों से भिन्न पड़ गया है। ऐसा ही परिवर्तन आध्यात्मिक जीवन के आदर्शों के संबंध में घटित हुआ है। प्राचीन विचारक जन्म-मरण से छुटकारे को मोक्ष कहते थे, उस अवधारणा के प्रतिपक्ष में दो आपत्तियाँ उठायी जा सकती हैं। प्रथमत: आज के स्वतंत्रचेता मनुष्य को पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धांतों में हमारे पूर्वजों जैसी आस्था नहीं है। एक उदाहरण : नीग्रो जाति के प्राय: सभी सदस्य काले रंग के होते हैं। इसके हेतु शिशुओं पर गर्भाधान के समय पड़ने वाले, आनुवांशिक, आगत प्रभावों में देखने चाहिए- जो प्रक्रिया हमारी जीवविज्ञान संबंधी वर्तमान जानकारी के अनुरूप होगी-अथवा नीग्रो जाति के समस्त शिशुओं के पूर्व जन्म के कर्मों में ? निश्चय ही उन समस्त शिशुओं की जन्म कुंडलियाँ ग्रहों की स्थितियों द्वारा उनके वर्ण की, वर्णगत समानता की, व्याख्या नहीं कर सकेंगी। एक महमूद गजनी, तैमूर या नादिरशाह जैसा आक्रमणकारी, और हिटलर जैसा नस्लवादी तानाशाह, हजारों-लाखों नर-नारियों के कष्ट का कारण बन जाता है; ऐसी स्थिति या स्थितियों में क्या यह कहना तर्कसंगत जान पड़ेगा कि उक्त सैनिक सरदारों व शासकों-और इधर के उग्रवादियों के भी-अत्याचार के शिकार नर-नारी सबके सब विगत जन्मों के समान पाप-कर्मों का फल भोग रहे थे ? उक्त स्थिति या स्थितियों की स्वाभाविक, सहज बुद्धिसहमत व्याख्या तो यही होगी कि विचाराधीन उत्पीड़ित नर-नारियों के कष्ट का कारण उक्त सरदारों, शासकों व उनके सैनिकों अथवा पुलिस-कर्मियों के कुत्सित क्रियाकलाप थे, न कि उनके स्वयं के विगत जन्मों के पाप-कर्म। और यहाँ यदि न्यायकारी ईश्वर की अवधारणा भी ले आई जाय, तो प्रश्न उठेगा : क्या उत्पीड़ित नर-नारियों को उनके कर्मों की सजा देने का-ईश्वरीय न्याय का-कोई दूसरा तरीका नहीं था ? परिवार विशेष के घर में घुसकर गोली मारकर हत्या करने या बलात्कार करने वाले उग्रवादी को, उसके जघन्य कर्मों को, उसका आखेट बने बच्चों-स्त्रियों आदि के कष्टों के लिए उत्तरदायी न ठहराकर, स्वयं उन स्त्रियों-बच्चों आदि के पूर्व जन्म के अपकर्मों का संकेत करना नितांत निर्दय व्यंग्य या मजाक जान पड़ता है। एक और उदाहरण : इधर खान-पान की चिकित्सा-शास्त्र सम्मत व्यवस्था तथा अनेक महामारियों पर नियंत्रण के कारण प्रबुद्ध देशों के नागरिकों की औसत उम्र बढ़ गयी है; निश्चित ही इसका हेतु उन नागरिकों की जन्म कुंडलियों से नहीं जाना जा सकेगा। इसी प्रकार वर्तमान युग की अनेक सुख-सुविधाओं (शीतोष्ण-नियंत्रक उपकरणों, दूरदर्शन आदि) का प्रत्यक्षगम्य कारण वैज्ञानिक जानकारी व प्रगति है, न कि विगत जन्म के कारनामे।

पुनर्जन्म एवं कर्मसंबंधी उक्त आस्थाओं की भाँति आज यह मानना संगत नहीं जान पड़ता कि मानव जीवन की उच्चतम या चरम परिणति, तथाकथित मुक्ति या मोक्ष का तात्पर्य जनम-मरण के चक्र या भवचक्र से छुटकारा है। अतएव यह अपेक्षित है कि हम मानवजीवन की कृतकृत्यता व परिणति

अथवा नियति की पुनर्व्याख्या का प्रयत्न करें। यही नहीं, हमें यह भी देखना-दिखाना होगा कि हमारी वैसी व्याख्या का कहीं, कोई अनुभवसिद्ध आधार है।

ऊपर के संक्षिप्त विषयांतर के बाद हम फिर अभ्यर्थों के संसार की ओर लौटें। हम यह स्थापना करना चाह रहे हैं कि उक्त संसार विविध प्रतीकों में आबद्ध रहता और मनुष्य या मनुष्यों के लिए उनके अलग-अलग बौद्धिक सामर्थ्य के अनुसार बदलता विकसित होता रहता है। एक ही भौतिक परिवेश में रहते हुए अपेक्षाकृत अशिक्षित या अल्पशिक्षित तथा सुशिक्षितजनों की दुनिया अलग-अलग होती है। हमारे प्राचीनता के पुजारी पंडित आज भी एक सीमा तक पौराणिक जगत् में रहते हैं। उनके बीच अशिक्षित या कम शिक्षित लोग संभवत: आज भी सूर्य व चंद्रमा के ग्रहण को राहु-केतु का कार्य मानते हैं। द्रष्टव्य है कि प्राय: सभी सम्मानित धार्मिक व श्रुतिग्रंथों में, कहीं-न-कहीं, ऐसे वक्तव्य मिल जाते हैं जो वर्तमान युग की वैज्ञानिक मनोवृत्ति और जानकारी के विरुद्ध पड़ते हैं। उदाहरण के लिए बाइबल के अनुसार भगवान द्वारा विश्व की रचना ईसा से केवल चार-एक हजार वर्ष पूर्व हुई, जबकि भूगर्भशास्त्र आदि के अन्वेषण हमारी पृथ्वी के आविर्भाव-अर्थात् गैस रूप में प्रदीप्त सूर्य से छिटककर पृथक् अस्तित्त्व पाने की घटना-को करोड़ों वर्ष पुरानी बात सिद्ध करते हैं। और विश्व ब्रह्माण्ड का उद्भव तो अरब-खरब वर्षों अथवा आलोक वर्षों की भाषा में ही प्रकट किया जा सकेगा। ऐसे ही अग्राह्य वक्तव्य इतर श्रुति ग्रंथों में भी मिल सकेंगे। इससे जाहिर है कि विभिन्न श्रुति ग्रंथों को अक्षरश: स्वीकार करके चलनेवाले विश्वासी जन, समान भौतिक परिवेश में रहते हुए भी, अपने अलग-अलग संसारों में रहते हैं - बौद्धिक एवं भावनात्मक दोनों दृष्टियों से। इसीलिए हम मनुष्य नामक प्राणी के लिए, उसकी अपेक्षा व अपेक्षाओं की रोशनी में, प्रतीक विश्वों अथवा प्रतीक परिवेशों की कल्पना करते हैं।

यह भी देखने की बात है कि प्रतीक-जगत् में पायी जाने वाली वस्तुएँ या वस्तुसत्त्व भौतिक-वस्तुओं की भाँति हमारी चेतना में क्रिया-प्रतिक्रिया रूप हलचल पैदा करते हैं। अधिक ध्यातव्य यह है कि हम वैसे सत्त्वों में अनेक गुणधर्मों का सद्भाव देखते या आरोपित करते हैं। उदाहरण : हम दो युक्तियों, काव्यखंडों, नाटकों आदि के आपेक्षिक सौंदर्य, शक्ति व महत्त्व पर निरंतर निर्णय देते रहते हैं। इन निर्णयों के आलोक में प्रामाणिकता का दावा करनेवाली शास्त्रीय विचारणाओं एवं सौष्ठव की दावेदार कलाकृतियों आदि का मूल्यांकन या पुनर्मूल्यांकन होता है। वैसे ही नैतिकता का भी प्रतीकाश्रित संसार है। एक प्रकार से जिसे हम इतिहास कहते हैं, वह हमें प्रतीकाश्रित अभ्यर्थ-जगत् के रूप में ही विद्यमान और उसी रूप में हमारे बौद्धिक एवं भावनात्मक जीवन का विषय या अंग बनता है। प्रतीक-संतान या संतानों के रूप में उपलब्ध अभ्यर्थ-जगत् के विभिन्न रूपों का उल्लेख हमारी चिंतनपरक रचना में पहली बार 'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन' (Philosophy of Culture) पुस्तक में हुआ था। उसके प्रकाशन के दसेक वर्ष बाद प्रसिद्ध वैज्ञानिक एवं दार्शनिक विचारक कार्ल पॉपर ने अपनी एक पुस्तक में यह अभिमत प्रकट किया कि प्रतीक संसार भौतिक जगत् एवं मन:स्थितियों की दुनिया से भिन्न जगत् एक अलग कोटि का अस्तित्त्व या सद्भाव रखता है जो, उदाहरण के लिए, भूतशास्त्र या भौतिकशास्त्र-संबंधी पाठ्यपुस्तकों या दूसरी रचनाओं में मौजूद रहता है। इस प्रतीकाश्रित संसार का, उसके अनेक रूपों का, सभ्य मनुष्य के लिए-भाषा का प्रयोग करने वाले मनुष्यमात्र के लिए-आत्यंतिक महत्त्व है। यदि किसी दानवीय दुरभिसंधि अथवा सांस्कृतिक भूकंप या विध्वंस के कारण उक्त प्रतीक संसार का लोप या विनाश हो जाये तो मनुष्य को विवश होकर आदिम सभ्यता के युग में लौट जाना पड़ेगा और वहाँ से अपनी विकासयात्रा फिर से शुरू करनी पड़ेगी। यह विचारणा सभ्य मनुष्य के अस्तित्त्व के लिए इतिहास की, विशेषत: कथित सांस्कृतिक इतिहास की महत्ता सिद्ध करती है।

महाकवि दंडी ने कहा था कि स्वयं सरस्वती गन्ना, गुड़, मधु आदि के अनुभवसिद्ध अंतर को

शब्दों द्वारा प्रकट नहीं कर सकती; कभी-कभी ऐसी ही विवशता की अनुभूति प्रतीकाश्रित वस्तुओं या रचनाओं के संबंध में होती है। एक उदाहरण : महाकवि तुलसी की प्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं :

गिरा नयन नयन बिन बानी,
सिय सुषुमा किमि जाय बखानी।

इसी से मिलता-जुलता उर्दू का शेर है :

बयाने दर्दे-मोहब्बत जो हो तो क्यों कर हो
जुबाँ न दिल के लिए है न दिल जुबाँ के लिए।

एक आलोचक के सामने प्रश्न उठता है : लगभग समान भावभूमि का स्पर्श करने वाले उक्त दो पद्यों के स्पष्ट अंतर को किस प्रकार भाषा में प्रकट किया जाय ? पहली बात यह है कि वैसे अंतर को देखने-प्रकट करने की कोशिश की उपयुक्त आशंसा व मूल्यांकन वही पाठक कर सकते हैं जो, शास्त्रीय भाषा में, सहृदय हैं और इस नाते दोनों पद्यों के आकर्षण का अंतरंग अनुभव करते हैं। पहली दृष्टि में जान पड़ता है कि उर्दू का शेर तुलसी की चौपाई से बीस पड़ता है, शायद इसलिए कि दर्द की अनिर्वचनीयता या अनाख्येयता का उल्लेख सुषमा या सौंदर्य को अभिव्यक्ति देने की अक्षमता से अधिक गंभीर बात है-मानव हृदय के लिए ज्यादा महत्त्व रखनेवाली। इस दृष्टि से उर्दू का शेर श्रेष्ठतर काव्य होने का दावा कर सकता है। किंतु दोनों पद्यों में एक और भिन्नता भी है : वे पाठक-चित्त में अलग-अलग तरह के 'मूड' जगाते हैं। तुलसी की पंक्तियाँ जहाँ एक सात्त्विक कोटि की भाववृत्ति का उन्मेष करती हैं, वहीं उर्दू का शेर भावबोध से अधिक हमारी बुद्धि वृत्ति में विचलन पैदा करता है। शायद-महसूस करते हुए भी इस उत्तरोक्त या अवरोक्त अंतर को शब्दबद्ध करना दुष्कर जान पड़ता है। यहाँ हम अपने इस वक्तव्य को दुहरा दें कि उक्त दो किस्मों के अंतर को प्रकट करने की कोशिश की सराहना सहृदय पाठक ही कर सकते हैं, जो, आलोचक के प्रवेश से पहले अथवा उसके इशारे भर से संकेतित अंतर को देखते-महसूस करते या करने लगते हैं। इसी प्रकार गन्ना, गुड़ एवं मधु के मिठासों के अंतर का संकेतभर किया जा सकता है, उन व्यक्तियों के लिए जो उक्त तीनों वस्तुओं की मिठास से परिचित हैं।

कुछ ऐसे ही तरीकों से हम दो युक्तियों, दो चिंतन-सरणियों अथवा विचार पद्धतियों के अंतर को हृदयंगम करते और आंकते हैं। हम आगे देखेंगे कि दो या अधिक कर्मों या कर्म-सरणियों के नैतिक अंतर एवं महत्त्व की अवगति व चेतना भी तुलनीय श्रेणी की होती है। ऐसी ही अनुभव प्रक्रिया से गुजरते हुए हम कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुंतल' तथा भवभूति के 'उत्तररामचरित' के अनेकायामी अंतर व महत्त्व को देखने और आंकने की कोशिश करते हैं। हमारे सौंदर्यनिष्ठ और शायद नीतिनिष्ठ (नैतिक) सांस्कृतिक जीवन के लिए उक्त नाट्य कृतियाँ वैसे ही अस्तित्ववती होती हैं जैसे क्रय-विक्रय के व्यवहार में विभिन्न बटखरों से तौली जानेवाली सोना-चांदी, मेवा-मिश्री आदि वस्तुएँ।

अब तक हमने यह बताने की कोशिश की कि प्रबुद्ध मनुष्य के सचेत जीवन को घेरनेवाला, विविध रूप धारण किये हुए, प्रतीक जगत् होता है जो उसके उस जीवन के लिए भौतिक परिवेश जैसी, और कभी-कभी उससे अधिक, सार्थकता रखता है। वास्तव में मनुष्य भौतिक परिवेश से अधिक-या तुलनीय रूप में-तथाकथित सामाजिक परिवेश में रहता है जिसका अर्थ होता है उन सारे संबंधों का संवलित-संकलित रूप, जो व्यक्ति-इकाइयों के भावात्मक एवं आचरणपरक जीवन को प्रभावित करते हैं। इन संबंधों को मूल्यबोध, विशेषत: नैतिक-सौंदर्यपरक मूल्यबोध के दबावों या प्रभावों से अलग करना संभव नहीं जान पड़ता। इसीलिए सामाजिक परिवेश को विशुद्ध भौतिक परिवेश से समीकृत नहीं किया जा सकता। किसी भी श्रेणी का सामाजिक आचरण मात्र भौतिक गतियों का समूह या संघटन नहीं होता। वास्तव में उक्त गतियाँ या उनका संघटन स्वयं में आचरण विशेष को परिभाषित नहीं

करता; वे गतियाँ और उनकी संघटनाएँ उन अभिप्रेत या प्रसक्त अर्थों (अभ्यर्थों)की वाहक-उनकी अभिव्यक्ति का साधन-मात्र होती हैं, जो सब प्रकार के संबंधों के आत्मभूत हैं। द्रष्टव्य है कि कथित गोचर, भौतिक गतियाँ विभिन्न कर्त्ताओं से, अनेक परिस्थितियों में, संपृक्त होती हुई प्राय: भिन्न रूप धारण कर लेती हैं। उदाहरण के लिए विभिन्न श्रोताओं की समक्षता में बातचीत करते या भाषण देते हुए हम सदैव समान ऊँचे-नीचे स्वर एवं स्वरघात के लहजे में नहीं बोलते-भले ही हमारी बातचीत का विषय एक या समान हो। इसीलिए हम कह रहे हैं कि व्यक्तियों या वैयक्तिक इकाइयों के पारस्परिक व्यवहार में बोलने-इशारे करने आदि की भौतिक क्रियाएँ अभिप्रेत अर्थों की वाहक या उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र होती हैं। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि हमारा कथित सामाजिक व्यवहार मूलत: अभिप्रेत अर्थों या अभ्यर्थों के आदान-प्रदान रूप में होता है। हम अपने ऋणदाता के कर्ज की अदायगी चेक द्वारा कर सकते हैं अथवा सिक्कों या नोटों के हस्तांतरण द्वारा। सामाजिक व्यवहार की दृष्टि से ऋण की अदायगी के ये विभिन्न गोचर, भौतिक रूप कहीं फर्क पैदा नहीं करते। इस स्थिति को यदि हम व्यापक तत्त्वदर्शन या तत्त्वदृष्टि के तहत देखें तो कहा जा सकता है कि सचेत मनुष्यों के समस्त व्यवहार जिन भौतिक उपकरणों की अपेक्षा करते हैं, वे अभिप्रेत अर्थों के प्रकाशन का माध्यम मात्र हैं। (पुराने कतिपय विचारकों का यह अभिमत था कि दृश्यमान सृष्टि की समस्त वस्तुयें किसी अंतर्निहित चैतन्य या चेतन सत् की अभिव्यक्ति के माध्यम हैं। शैव दर्शन के कुछ संप्रदाय, जैसे काश्मीर शैव सिद्धांत, इस मान्यता का निदर्शन है।)

ऊपर के वक्तव्य का यह अर्थ न लगाया जाय कि अभिमत या अभिप्रेत अर्थ का माध्यम महत्त्वपूर्ण नहीं होता- और यह इस स्थिति के बावजूद कि प्रत्येक कर्त्ता-भोक्ता की अपेक्षा में माध्यम विशेष का स्वरूप थोड़ा-बहुत बदल जाता है। माँ बच्चे के प्रति जिन क्रियाओं द्वारा स्नेह प्रकट करती है, वे सदैव एक ही ढंग से अनुष्ठित नहीं होतीं। किंतु प्रेम प्रकट करने के हर अवसर पर किसी-न-किसी प्रकार की भौतिक क्रियाएँ अपेक्षित रहती ही हैं। यह बात आँखों, भौंहों, हँसते -चूमते होंठों आदि के स्पंदनों पर भी उतनी ही लागू होती है जितनी कि अन्य अपेक्षाकृत अधिक मांसल स्पर्शों, खिलाने-पिलाने की क्रियाओं आदि पर। इसी तरह के वक्तव्य प्रेमी-प्रेमिका के पारस्परिक प्रेम-प्रकाशन के गोचर देहाश्रित रूपों पर लागू होते हैं। यहाँ यह विशेष रूप में उल्लेखनीय है कि प्यार प्रकट करने के तरीकों में वाणी के व्यवहार का भी विशेष योगदान होता है। वास्तव में प्रेम अथवा स्नेह प्रकाशन के प्रसंगों का वर्णन करते हुए सूर जैसे कवि संबद्ध व्यक्तियों द्वारा जो उक्तियाँ कहलाते हैं, वे भाव-प्रकाशन का उतना ही सक्षम माध्यम होती हैं जितनी कि कवि द्वारा संकेतित शारीरिक क्रियाएँ :

जसोदा हरि पालने झुलावै
हलरावै दुलराय मल्हावै, जोइ-सोइ कछु गावै।

उक्त पंक्तियाँ यशोदा के स्नेह या प्रीतिभाव को तो रूपाकार देती ही हैं, वे, न जाने किस प्रक्रिया से, सहृदय पाठक के लिए उच्चकोटि के काव्य का अथवा रसबोध का हेतु या उपकरण भी बन जाती हैं।

***

प्रतीक जगत् : इष्टार्थों (अभ्यर्थों) का उद्भव और विस्तार

हमारी मान्यता है कि सभ्य मनुष्य, विशेषत: बुद्धिजीवी वर्ग का मानव व्यक्ति, काफी हद तक प्रतीकों अथवा प्रतीकित अर्थों के संसार में रहता है। उक्त इष्ट या अभिप्रेत अर्थों के संदर्भ में हम बहुवचन का प्रयोग क्यों कर रहे हैं ? इसका उत्तर यह कि इष्ट, अभिप्रेत अर्थों के विश्व के अनेक कक्ष, स्तर व आयाम हैं, जिनके मध्य विचाराधीन व्यक्ति निरंतर संचरण करता रहता है। यदि हम उक्त इष्टार्थों या अभिप्रेत अर्थों (अभ्यर्थों) का वर्गीकरण करें तो मोटे तौर पर उनके निम्न विभाग दिखायी पड़ते हैं : (1) उपयोगितापरक अर्थों व मूल्यों का क्षेत्र; इसके अंतर्गत हमारे जैवी-सामाजिक जीवन को आधार देनेवाले साधनों व मूल्यों का समावेश होता है। अन्न-वस्त्र, मकान, सामाजिक प्रतिष्ठा आदि अभिप्रेत व इष्ट अर्थ उक्त श्रेणी में परिगणित किये जा सकते हैं। (2) नैतिक मूल्य तथा तत्संबंधी विचार, इनका लगाव, जैसा कि हम आगे देखेंगे, उपयोगिताओं व उपयोगी मूल्यों या वस्तुओं के उचित विभाजन, बँटवारे अथवा आवंटन से रहता है। यहाँ उचित या औचित्य शब्द न्यायपरता का द्योतक है। (3) सौंदर्यपरक गुणधर्म या विशेषताएँ। (4) आध्यात्मिक शुद्धता, आंतरिक स्वच्छता, श्रद्धाभाजन होने की योग्यता, पवित्रता आदि। उक्त चारों कोटियाँ इष्टार्थों या मूल्यों की हैं जिनका संकेत मनुष्यों के पारस्परिक वचन-व्यवहार का प्रमुख अंग है। मूल्यों से निरपेक्ष अर्थतत्त्व (अभिप्रेत अर्थ) उन विशेषताओं के वाचक या संकेतक होते हैं जो हमें वस्तुओं की पहचान कराती हैं। किसी वस्तु या स्थिति में अनुस्यूत मूल्यों की अवगति व निर्धारण से पूर्व हमें यह जानना जरूरी होता है कि उस वस्तु या स्थिति को पहचानना, इदंतया निर्देशित कैसे किया जाय। यहाँ भी प्रयोजनों की विविधता वर्णन या वस्तु निर्देश के अनेक रूपों को जन्म देती है। उदाहरण के लिए प्यास बुझाने के लिए जल को पहचानने की योग्यता एक प्रकार की होती है, और जल या किसी दूसरे द्रव की रसायनशास्त्र की दृष्टि से पहचान इतर ढंग से संभव होती है। समान-जैसे दीखनेवाले दो द्रव (जैसे दो अम्ल) रासायनिक परीक्षण द्वारा पहचाने जाते हैं।

अब हम शीर्षक वाला प्रश्न उठाएँ : विभिन्न इष्ट या अभिप्रेत अर्थों का उद्गम, उनकी विभिन्नता का रहस्य, क्या है ? यहाँ हम पाठकों का ध्यान इधर की एक अत्यंत प्रचलित मान्यता या मतवाद की ओर दिलाएँगे। मनोविज्ञान के पंडित संवेदन (Sensation) तथा आवेक्षण या प्रत्यक्षीकरण (Percetion) में अंतर करते हैं। जिस अवगति या चेतना को हम संवेदन कहते हैं वह, भारतीय दर्शन की पदावली में, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। इस तरह का प्रत्यक्ष भाषा द्वारा कथ्य या प्रेषणीय नहीं होता। प्रत्यक्षीकरण रूप आवेक्षण सविकल्पक ज्ञान देता है; वैसा ज्ञान भाषा के प्रयोग द्वारा संभव होता है-बौद्ध तर्कशास्त्री दिङ्नाग के शब्दों में नाम-जाति आदि की योजना से। वास्तव में दिङ्नाग के मत में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही शुद्ध प्रत्यक्ष है। वह ऐसा मूक प्रत्यक्ष है जो न प्रेषणीय हैं, न किसी तरह के व्यवहार को दिशा देनेवाला। जिस शिशु ने भाषा नहीं सीखी है उसके लिए रोटी, दूध, गाय आदि वस्तुएँ संवेदनों की पुंज मात्र हैं। धीरे-धीरे शिशु विभिन्न संवेदन-पुंजों को अलग-अलग वस्तुओं के रूप में देखना-पहचानना (और उन्हें कहे-सुने जानेवाले संज्ञा शब्दों से संबद्ध करना, जैसे दूध की बोतल, बिस्कुट, मम्मी-पापा

आदि) सीखता है। तात्पर्य यह हुआ कि विशुद्ध संवेदन अनुभव का रूप तब लेते हैं जब वे किन्हीं सामान्य प्रत्ययों (Categories) द्वारा व्याख्यायित कर लिये जाते हैं। उक्त कोटि की व्याख्या-प्रत्ययों द्वारा हम अनुभूत वस्तुओं और पूरे अनुभव जगत् को अपने ढंग से रचित या गठित (Construct) करते हैं। ज्ञातव्य है कि इधर चिंतकों व अन्वेषकों के बीच यह विचार कि हम अनुभवगोचर भौतिक अथवा सामाजिक यथार्थ को निर्मित या गठित अथवा पुनर्गठित करते हैं, विशेष प्रचलित-प्रचारित हुआ है।

यह विचार कि अनुभव के विषयभूत संवेदनों को हम बुद्धि के सामान्य संप्रत्ययों या अवधारणाओं के तहत व्यवस्थित करते हैं, महान दार्शनिक इम्मैनुअल कांट के नाम से जुड़ा है; रसेल जैसे इधर के विचारकों ने भी इस मान्यता का समर्थन किया है कि अनुभव का मूल विषय अंसबद्ध संवेदन होते हैं जो अधिक विकसित बोध या ज्ञान के घटक समझे जाने चाहिए। इसके विपरीत मनोविज्ञान के एक प्रसिद्ध निकाय 'गैस्टाल्ट' या समष्टि मनोविज्ञान स्कूल का अभिमत है कि हमारे साक्षात् अनुभव का विषय समष्टि अवयवी-रूप वस्तुएँ होती हैं, न कि उनके विधायक संवेदन जैसे अणु-परमाणु। मनोविज्ञान का यह स्कूल या निकाय काफी प्रसिद्ध हुआ है और उससे संबंधित विस्तृत साहित्य उपलब्ध है। इस निकाय के निष्कर्ष प्रयोगों द्वारा प्रमाणित किये जाते रहे हैं। कुल मिलाकर हमारी मान्यता उक्त निकाय के निकट और उससे समर्थित है। यहाँ हम वैसे प्रयोगों की चर्चा न करके अपने दिन-प्रतिदिन के निरीक्षण की गवाही पेश करेंगे। बच्चा गाड़ी में परिचारिका या माता के साथ जाता हुआ शिशु, आपके उसकी ओर देखने पर आपसे आँख मिलाता है। वह, न जाने किस प्रक्रिया से, आपके स्नेहिल मनोभाव को भाँप लेता है और आपके मुस्कुराने जैसी मुद्रा की प्रतिक्रिया में हल्के से हँस भी देता है। उसी भाँति आपके मुस्कराने जैसी मुद्रा या मनोभाव को भाँपकर सड़क का छोटा कुत्ता आपके पीछे या साथ चलने लगता है। ये उदाहरण समष्टि मनोविज्ञान की इस मान्यता को समर्थन देते जान पड़ते हैं कि हमारे अनुभव का मूल विषय किसी तरह के संवेदन रूप अंग न होकर अर्थवती इकाईयाँ या समष्टियाँ अथवा अवयवी होते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि नैयायिक विचारक घटकभूत अवयवों से भिन्न अवयवी का स्वतंत्र अस्तित्त्व मानते हैं।

कांट से हमारा उक्त विषय पर तो मतभेद है ही, दूसरा ज्यादा महत्त्वपूर्ण मतभेद है। इस दूसरे मतभेद के भी दो उपभेद हैं। प्रथम मतभेद व्याख्या के उपकरण या साधन रूप सामान्य संप्रत्ययों की प्रकृति व संख्या के बारे में है; दूसरा मतभेद वैसे संप्रत्ययों की कोटियों या प्रकारों के बारे में है। कांट ने अपने अभिमत व्याख्यात्मक संप्रत्ययों (Categories) की संख्या बारह मानी है जो स्थूल रूप में पारंपरिक तर्कशास्त्र के कथन प्रकारों पर आधारित हैं। परीक्षकों के मत में इन संप्रत्ययों में द्रव्य, गुण तथा कारण-कार्यभाव के प्रत्यय अधिक मौलिक हैं। कांट का विचार है कि संवेदनों को एकसूत्रता में पिरोनेवाले विचाराधीन संप्रत्ययों के अभाव में वस्तुओं का अनुभव संभव नहीं होगा। द्रष्टव्य है कि कांट के द्वारा परिगणित कोई भी संप्रत्यय उक्त बच्चे की मुस्कराहट का उकसाने वाले अनुभव की व्याख्या नहीं करता। ऐसे ही कुछ कारणों से, जिनमें नैतिकता, सौंदर्य आदि के अनुभव की उपेक्षा भी सम्मिलित समझे जाने चाहिए, कांट के परवर्ती उतने ही बड़े दार्शनिक हीगल को व्याख्यात्मक संप्रत्ययों की संख्या में लंबा-चौड़ा विस्तार करना पड़ा। बच्चे के उदाहरण में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। जहाँ एक ओर वे पास से गुजरते दर्शक-व्यक्ति के स्वतंत्र जीवरूप को देखता है वहाँ दूसरी ओर उसकी प्रसन्न मुद्रा में निहित या प्रतिफलित स्नेह भाव को भी-किसी रहस्यमयी प्रक्रिया से-हृदयंगम कर लेता है। शिशु ही नहीं, ऊपर संकेतित छोटा कुत्ता भी दर्शक-मनुष्य के अनुकूल मनोभाव को भाँप पाता है। कांट के द्वारा किया गया वस्तु अनुभव का विश्लेषण उक्त सुपरिचित अनुभवों की समुचित या सम्यक् व्याख्या देने में असमर्थ है।

वास्तव में किसी वस्तु के अनुभव के क्षणों में जिन विशेषताओं का हम आभास पाते हैं वे ज्ञाता और ज्ञेय की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया में अस्तित्त्व लाभ करती हैं। कांट की मान्यता है कि बुद्धि के व्याख्या -प्रत्ययों या संप्रत्ययों के ढाँचों में विन्यस्त होकर अनुभव का विषयभूत होनेवाला संसार तत्त्व जगत् न होकर किसी चरम तत्त्व व तत्त्वों का जिन्हें वह 'Things-in-themselve' कहता है, आभास अथवा आभासपुंज मात्र होता है। उक्त आभासों के जगत् को वह Phenomenal World नाम देता है। कांट के विचार में बौद्धिक संप्रत्ययों से निर्धारित या गठित विश्व तात्त्विक नहीं है; वेदांत के ब्रह्म की भाँति तत्त्वजगत् हमारे बौद्धिक संप्रत्ययों का अतिक्रमण करता है।

आज के अनेक विचारक, जैसे अस्तित्त्ववादी सार्त्र, तत्त्वजगत एवं आभासित संसार के द्वैत को स्वीकार नहीं करते। हमारे जीवन की दृष्टि से अनुभव में आभासित होने वाला विश्व ही एकमात्र यथार्थ विश्व है। प्रस्तुत लेखक का भी यही अभिमत है। विषय और विषयी, ज्ञाता और ज्ञेय परस्पर की सापेक्षता में स्वरूप लाभ करते हैं, इस सापेक्षता से उबरने का क्या कोई उपाय है ? माध्यमिक विचारक विचाराधीन सापेक्षता का संकेत करते हुए यह प्रतिपादित करते हैं कि वस्तुएँ स्वयं में स्वभावशून्य हैं। पिता और पुत्र, अग्नि और ईंधन इनकी स्थिति (या अस्तित्त्व ?) परस्पर सापेक्ष हैं, अतएव अपनी निराली निजी हैसियत में वस्तुएँ स्वभावशून्य हैं। यहाँ प्रश्न उठता है: यदि हमारा अनुभव सापेक्षता की दुनिया तक सीमित है, तो हम किसी अनुभवतीत निरपेक्ष की कल्पना क्यों करें- और क्यों उसके पीछे दौड़ें ? जाहिर है, हमारा समस्त प्रयोजनबद्ध व्यापार-व्यवहार सापेक्ष जगत् के दायरे में गतिशील होता है, फिर हम क्यों मानकर चलें कि सापेक्षता के दायरे से बाहर कहीं निरपेक्षता का क्षेत्र जहाँ हमें पहुँचना है ? उस क्षेत्र के बारे में जो परिभाषया निरपेक्ष-नि:संबंध है, हम यह भी कैसे कह सकते हैं कि उसमें अवस्थित होना, हो सकना, हमारे लिए श्रेयस्कर होगा ?

'विशुद्धिमग्ग' के रचयिता बुद्धघोष तथा 'वैराग्यशतक' के प्रणेता भर्तृहरि जैसे लेखक अपने पाठकों में वैराग्य-भावना उत्पन्न करने के उद्देश्य से मनुष्य जीवन, मानव शरीर, नारीदेह आदि के ऐसे वर्णन देते हैं जो अरुचि व जुगुप्सा की भावना उकसाएँ। किंतु जिसे हम मानव शरीर कहते हैं, वह अनेक प्रकार के सुख-दुख की अनुभूति का माध्यम है; वह हमारे चेतनामय जीवन का आवश्यक आधार भी है। इस तथ्य पर हमारे न्याय दर्शन के आचार्यों ने बल दिया था। उनकी तो यह भी मान्यता थी कि मोक्षावस्था में, शरीर का संयोग छूट जाने कारण, आत्मा चेतना शून्य हो जाता है। हमारा शरीर सब प्रकार की जैवी, प्राणधारक क्रियाओं का तो आश्रय है ही, वह सब प्रकार के मानसिक-बौद्धिक सचेत व्यापारों का भी आवश्यक आधार तथा साधन है; वर्तमान काल में मर्लोपोंती और सार्त्र जैसे विचारकों ने, हमारे जीवन के लिए, शरीर की केन्द्रीय स्थिति पर जोर दिया है। हमारा शरीर प्राणधारक व्यापारों का आधार और इतर दैहिक-मानसिक क्रियाकलापों का आवश्यक माध्यम है। यहाँ यह जोड़ देना चाहिए कि मनुष्य ने विशुद्ध मानसिक-बौद्धिक क्रियाओं के माध्यम बनने वाले विविध प्रतीकों के रूप में भाषा का आविष्कार भी कर लिया है।

हमारी धारणा है कि मानवीय व्यक्तित्व की अनेक विशेषताएँ उसके प्रतीक संसार से संबंध रखती हैं और प्रतीकों के माध्यम से ही रूपायित होती हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक वैयाकरण भर्तृहरि की मान्यता है कि जिन्हें हम विचार कहते हैं उनका अस्तित्त्व या सद्भाव शब्दों से अलग कल्पनीय नहीं है। सत् व आभास, तत्त्व और उसके आभास या विवर्त के द्वैत के संदर्भ में हम एक और महत्त्वपूर्ण मान्यता पर बल देना चाहेंगे। किसी वस्तु के समस्त गुणधर्म उसके विधायक घटकों, अणु-परमाणु जैसे द्रव्यों या दूसरे अवयवों से ही निर्धारित नहीं होते। द्रव्यों व उनसे निर्मित वस्तुओं की नयी-नयी संघटनाएँ प्राय: नये गुणधर्मों के आविर्भाव से सहचारित रहती हैं। उदाहरण के लिए भौतिकशास्त्र एवं रसायनशास्त्र

के मूलतत्त्व इलेक्ट्रॉन-प्रोटॉन-फोटॉन आदि अथवा परमाणु और उनके संग्रथनों से निर्मित द्वयणुक, त्र्यणुक (तथाकथित मॉलीक्यूल) विधायक परमाणुओं की संख्या मात्र से, नये गुणधर्मों से समन्वित भिन्न-भिन्न रासायनिक तत्त्वों (ऑक्सीजन, हाइड्रोजन, आदि) का रूप धारण कर लेते हैं। यह सर्वविदित है कि रसायन शास्त्र के विविध तत्त्व मूलत: समान परमाणुओं से निर्मित होने के बावजूद नितांत भिन्न गुणात्मक विशेषताओं से संयुक्त हो जाते हैं। विभिन्न जीवों के प्राणशरीरों में जहाँ कुछ समानताएँ रहती हैं वहाँ अनेक भिन्नताएँ भी देखी जाती हैं। हम इससे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि विभिन्न वस्तुओं व जीवों के गतिशील जीवन में नये गुणधर्मों का आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है। यही वजह है कि विकासोन्मुख बच्चे के शरीर तथा ह्रासोन्मुख वृद्ध शरीर में गुणात्मक दृष्टि से भिन्न प्रक्रियाएँ गतिशील रहती हैं; वैसे ही युवा शरीर में कुछ विशेषताएँ होती हैं जो पूर्वोक्त शिशुओं तथा वृद्धों के शरीरों में लक्षित नहीं होतीं। वास्तव में जीव शरीरों (पशु-पक्षियों, कीड़े-मकोड़ों आदि) की गोचर विविधता का अंत नहीं है; यही बात विविध रूप-रंगों, गंधों आदि से संयुक्त फूलों, फलों पत्तियों आदि पर लागू होती है। यह आश्चर्य की बात है कि बीज मात्र की भिन्नता से एक ही मिट्टी-पानी में पोषित होनेवाले पौधे अलग-अलग जातियों में विभाजित हो जाते हैं। भूतवैज्ञानिक (भौतिकशास्त्री) तथाकथित रूप, रस, गंध आदि को गौण गुण कहते हैं; उनकी दृष्टि में भूत जगत् के असली गुणधर्म वे ही हैं जो मात्रा-संकेतक गणितीय समीकरणों में प्रकट किये जा सकते हैं। किंतु जीव-जगत् की दृष्टि से मोर के पंखों के रंग और उन पर अंकित रेखाचित्र अपना खास महत्त्व रखते हैं; अपने नाच द्वारा मोर भिन्न-लिंगी साथी को प्रसन्न और आकृष्ट करता है। हम कहना चाह रहे हैं कि हम मानव-शिशु या नारी के शरीर को मात्र मांसमज्जा से समीकृत करें, यह उचित नहीं है। बच्चे की मुस्कराहट और हँसी भी रुचि-संपन्न दर्शकों तथा माता-पिता के लिए उतनी ही वास्तविक है जितना कि उसका भूखा हो जाना और रोना। किरातार्जुनीय काव्य के रचयिता महाकवि भारवि ने पांडवों से मिलने आये महर्षि व्यास की सात्त्विक मुख-भंगिमाओं, उनके देखने-बोलने की मुद्राओं का सटीक वर्णन किया है। यदि संत पुरुष की वैसी भंगिमाएँ- और राधा-कृष्ण की परस्पर आकृष्ट करनेवाली अदाएँ-भले लोगों की दृष्टि में मिथ्या नहीं हैं तो इतर शिशुओं व नारियों के प्रति वैराग्यभाव या उदासीनता का भाव रखने की शिक्षा कहाँ तक विवेक का सबूत मानी जाये ?

मूल घटकों की अपेक्षा में नये दीखनेवाले गुण धर्मों को शास्त्रीय भाषा में इमरजेंट (Emergent) या नवोत्क्रांत विशेषताएँ कहते हैं। ऐसी विशेषताओं या गुण-धर्मों को इसलिए आभास या विवर्त कहकर अवमूल्यित करना हमारे अनुभव पर बलात्कार करना है। निष्कर्ष यह कि सत् और आभास, तत्त्व एवं विवर्त अथवा तात्त्विक एवं अवभासित का विभेद, उस पर आत्यंतिक गौरव देना, जहाँ कुछ व्यावहारिक स्थितियों में, व्यावहारिक सफलता-असफलता की दृष्टि से उपयोगी हो सकता है वहाँ उस एकांत रूप में बल देना दार्शनिक दृष्टि से भी उचित नहीं है। द्रष्टव्य है कि जिस प्रकार संख्याभेद व अनुपात भेद से उन्हीं अणु-परमाणुओं से निर्मित वस्तुओं के गुणधर्म बदल जाते हैं-दूध आदि पोषक और पोटैशियम (सायनाइड) जैसे मारक विष उत्पन्न हो जाते हैं-वैसे ही शब्दों के विभिन्न संयोजन काव्य शरीर में (और यह एक उदाहरण है) तरह-तरह की विशेषताएँ पैदा कर देते हैं।

कांट कृत तात्त्विक व आभासित के भेद को अस्वीकार करते हुए हम उन सभी सामान्य प्रत्ययों या कोटि प्रत्ययों को विचार का विषय बनायेंगे जो हमारे विविधवर्णी (बहुरंगी) अनुभव की समझ एवं व्याख्या के लिए आवश्यक हैं। हम न केवल उन संप्रत्ययों का विचार करें जो भूत जगत् को समझने, और नियंत्रित करने में सहायक होते हैं -जैसे कार्यकारण भाव, देश-काल गति, वेग आदि-वरन् उनका भी जिनका संबंध हमारे सौंदर्यबोध, नीतिबोध एवं अध्यात्मचर्या के क्षेत्रों से है। कांट की यह अंतर्दृष्टि

सराहनीय और सही जान पड़ती है कि अनुभव जगत् को देखने तथा व्यवस्थित करनेवाले सामान्य प्रत्ययों या प्रत्यय कोटियों का उद्‌गम हमारी अर्थात् ज्ञाता की गठन या सरंचना में है। प्रश्न यह है कि उक्त संरचना की वे कौन-कौन सी विशेषताएँ, पहलू या पक्ष हैं जो विचाराधीन संप्रत्ययों को उत्सृष्ट या प्रक्षेपित करते हैं। संक्षेप में, मनुष्य नाम के प्राणी की जिस चेतन प्रकृति अथवा प्राणवती चेतना में विभिन्न व्याख्या-प्रत्ययों का उद्‌भव होता है, उसकी समग्र समझ कैसे प्राप्त की जा सकती है ? इस प्रकार की समझ ही वास्तविक अर्थ में आत्मज्ञान कहलाने की अधिकारिणी होगी।

जैसा कि ऊपर कहा गया, कांट ने अपने कोटि प्रत्ययों की तालिका पारंपरिक तर्कशास्त्र के कथन प्रकारों की सूची या तालिका से प्राप्त की-या वैसा करने का प्रयत्न किया। किंतु यह प्रक्रिया आपत्तिशून्य नहीं है। संक्षेप में हम कहेंगे कि हमारे दुनिया को देखने-व्याख्यायित करने के प्रकारों का उद्‌गम हमारे समग्र सचेत अथवा कमोवेश चेतना संयुक्त, जीवन-सत्त्व में होता है। यह जीवन या जीवन सत्त्व नामक वस्तु उन अनेक वृत्तियाँ अथवा प्रवृत्तियों की गत्यात्मक या गतिधर्मी (Dynamic) समष्टि है जो अपने को अनेक रूप-रंगों व प्रेरणाओं के रूप में व्यक्त करती है। तात्पर्य यह है कि हमारा अर्थात् मानव का व्यक्तित्व परस्पर न्यूनाधिक संबद्ध प्रेरक वृत्तियों की समष्टि मात्र है। दूसरे शब्दों में हम इस समष्टि को नाजुक संतुलन अथवा स्पंदनशील अंतरावलंबन की स्थिति कह सकते हैं। जिन्हें हम प्रेरक वृत्तियाँ कह रहे हैं उन्हें विज्ञानवादी विचार पद्धति में वासना शब्द से, अभिहित किया गया है। ध्यातव्य है कि जहाँ अद्वैत वेदांती ब्रह्मरूप चरम तत्त्व को, सांख्य के पुरुष की भाँति, निर्गुण-निष्क्रिय वर्णित करते हैं, वहाँ विज्ञानवादी दार्शनिक उसे निरंतर वासनाओं के स्पंदन में गतिशील, और एक प्रकार से विकासशील, प्रकल्पित करते हैं। इस प्रकार के स्पंदनशील विज्ञान सत्त्व को आलयविज्ञान की संज्ञा दी गयी है। विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान तत्त्व (या विज्ञान वस्तु) स्वयं संवेद्य है, वह एक साथ ज्ञाता और ज्ञेय है। जैसा कि सब जानते हैं विज्ञानवादी ज्ञाता से भिन्न अथवा विज्ञान से पृथक् भौतिक विषयजगत् की कल्पना अनावश्यक मानते हैं। इससे मिलता-जुलता मत आयरलैंड के प्रसिद्ध दार्शनिक विचारक बर्कले का है। वह भी बाह्य जगत् का निषेध करते हुए इस मान्यता को लेकर चलता है कि ज्ञाता (आत्मा) और उसके ज्ञान के विषयभूत प्रत्ययों (Ideas) या विज्ञानों से व्यतिरिक्त कोई भौतिक वस्तुओं का संसार नहीं है। उसके अभिमत को प्रकट करने वाला प्रसिद्ध वाक्य या वक्तव्य है : होने अथवा अस्तित्त्ववान होने का अर्थ देखा जाना या प्रेक्षण क्रिया अथवा ज्ञान क्रिया का विषय होना है। इसका मतलब यह हुआ कि मेरे सामने मौजूद या उस रूप में समझे जानेवाले वृक्ष अथवा पहाड़ का अस्तित्त्व मेरे देखने या दर्शन क्रिया का सापेक्ष है। तो क्या यह माना जाय कि मेरे आँख मूंदते ही वृक्ष या पर्वत का लोप हो जाता है ? बर्कले का उत्तर है वृक्ष या पर्वत का साक्षात्कार वास्तव में उक्त नामों से अभिहित किये जानेवाले प्रत्ययों (Ideas) का साक्षात्कार है। दो ही वस्तुएँ या पदार्थ अस्तित्त्ववान हैं, आत्मा या आत्माएँ और उनके संवेदित प्रत्यय। वृक्ष और पर्वत जो हमारी ज्ञान क्रिया या दर्शन क्रिया से स्वतंत्र अस्तित्त्व रखते दिखायी देते हैं उसका कारण यह है कि वे ईश्वर के प्रत्यय हैं। ईश्वर मे आश्रित प्रत्यय (Ideas) हमारे लिए अस्तित्त्ववान वस्तुओं की हैसियत रखते हैं। इसके विपरीत स्वप्न में कल्पना-क्रिया के क्षणों मे हम जिन प्रत्ययों का साक्षात्कार करते हैं, वे हमारी सृष्टि होने के कारण वृक्ष, पर्वत आदि की भाँति वास्तविक नहीं होते। जाहिर है, बर्कले का यह सिद्धांत ईश्वर की परिकल्पना से जुड़ा है और उसके इस मूल मंतव्य का विरोधी है कि मैं और मेरे प्रत्यय यही दो अस्तित्त्ववान हैं।

बर्कले और विज्ञानवाद दोनों के तत्त्वदार्शनिक सिद्धांत हमारी सहजबुद्धि एवं सहज विश्वासों पर बलात्कार करते जान पड़ते हैं। विज्ञानवादी ईश्वर की कल्पना नहीं करते, इसलिए वे बर्कले से अधिक संगत हैं। किंतु उनका आलयविज्ञान यदि अभौतिक है, तो प्रश्न उठता है कि हमें भौतिक जगत्

की प्रतीति क्यों और कैसे होती है। हमें ऐसा कोई वजनी नियामक हेतु दिखायी नहीं पड़ता जिसके दबाव में हम बाह्य, भौतिक सत्ता का निषेध करें। हम आगे देखेंगे कि उक्त मतवादों की सत्यता का अंश किस रूप में ग्राह्य हो सकता है।

कांट ने मानव बुद्धि को कोटि प्रत्ययों या प्रत्यय कोटियों का स्रोत माना था; उसकी प्रसिद्ध उक्ति है : हमारी बुद्धि प्रकृति का निर्माण करती है। कांट ने बर्कले का खंडन किया है ; वह बुद्धि के कोटि प्रत्ययों या व्याख्या प्रत्ययों के अलावा संवेदन समूहों का अस्तित्त्व स्वीकार करता है जो, अज्ञात प्रक्रिया से, परमार्थ वस्तु-जगत् से निःसृत उत्क्षिप्त या उद्भूत होते हैं। एक विचित्र बात यह है कि कांट के अनुसार परमार्थ वस्तुओं का जगत् हमारी बुद्धि की कार्य-कारण आदि प्रत्यय कोटियों से परे है- वेदांत के ब्रह्म की भाँति कांट का परमार्थ जगत् भी बुद्धि (उसके व्याख्या प्रत्ययों) की पकड़ के बाहर है। स्पष्ट ही, यहाँ कांट के तत्त्व दर्शन में गंभीर किस्म का अंतर्विरोध है।

अब हम एक दूसरे दार्शनिक शॉपेनहावर के मत का उल्लेख करेंगे जो कांट के अभिमत से व्यापक समानता रखता है। शॉपेनहावर का सिद्धांत बर्कले के केन्द्रीय मंतव्य के भी निकट है। बर्कले कहता है : बाह्य विश्व मेरे प्रत्ययों का समुच्चय मात्र है; शॉपेनहावर का कथन है : बाह्य विश्व मेरी इच्छा-संकल्पक्रिया एवं मेरा 'आइडिया' या विचार अथवा प्रत्ययात्मक बोध मात्र है। स्पष्ट ही यह सिद्धांत भी हमारी सहज बुद्धि का विरोधी है। किंतु शॉपेनहावर एक ज्यादा गहरी बात कहता या संकेतित करता है : हमारे व्याख्या प्रत्ययों या प्रत्यय कोटियों का स्त्रोत हमारी जीवनेच्छा, लक्ष्योन्मुख जीवन-क्रिया है। वह यह भी कहता है कि हमारी यह जिजीविषा या जीवनेच्छा जो हमें अनवरत तरह-तरह के कष्टकर प्रयत्नों में फंसाए रखती है, हमारे दुःखों का मूल कारण है। स्मरणीय है कि शॉपेनहावर भारतीय दर्शनों से, विशेषतः बौद्धों के दुःखवाद तथा उपनिषद्-दर्शन से विशेष प्रभावित था। वास्तव में विश्व को आभास या विवर्त मात्र मानने वाले किसी भी तत्त्व दर्शन को यह समझना पड़ेगा कि इस विविध, अनेकात्मक जगत् प्रपंच की अनेकरूपता का मूल या कारण क्या है। यहाँ जागरुक एवं जानकार पाठक यह सहज ही देख सकेंगे कि शॉपेनहावर की 'विल' (जीवनेच्छा या जीवन वासना) तथा बौद्ध विज्ञानवाद की भाँति शॉपेनहावर के दर्शन की भी मुख्य कठिनाई यह समस्या है कि यदि विश्व मेरी मूल वासनाओं की अभिव्यक्ति या क्रीड़ास्थली है, तो मैं उसकी बीहड़ शक्तियों -चक्रवात, वर्षा-बाढ़, भूकंप आदि-के समक्ष असहाय क्यों महसूस करता हूँ। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उक्त शक्तियों की जीवधारियों और सचेत मनुष्य से भी स्वतंत्र सत्ता है ? शॉपेनहावर का अभिमत, यह कि विश्व प्रपंच जीवनेच्छा (जिजीविषा) एवं/अथवा जिजीविषा से संवलित क्रिया प्रवृत्ति या कृति-शक्ति की अभिव्यक्ति या मूर्त आभास रूप है, कुछ अधिक युक्तिसंगत है। उक्त मत की व्याख्या करते हुए बिल ड्यूरेंड ने संकेतित किया है कि जीवधारियों की जीने-संघर्ष करने की अदम्य वृत्ति विभिन्न शरीरों में मारकाट रूप संघर्ष के लिए उपयोगी नख, दंत, सींग आदि अंगों को विकसित कर लेती है। उक्त अंगों का विकास कैसे घटित होता है इसकी संतोषप्रद व्याख्या संभवतः जीवविज्ञान के पास नहीं है। शॉपेनहावर के परवर्ती डार्विन ने अपने 'जीव योनियों की उत्पत्ति' ग्रंथ में यह प्रतिपादित किया है कि (1) जीवदेहों में, विभिन्न परिवेशों की भौतिक विशेषताओं एवं प्रभावक (कारक) शक्तियों से क्रिया-प्रतिक्रिया के तहत आकस्मिक परिवर्तन घटित होते हैं जिनमें कुछ जीवनरक्षा के लिए अनुकूल और दूसरे प्रतिकूल अथवा अनिर्दिष्ट प्रभाव वाले सिद्ध होते हैं। दूसरी जीव योनियों से और स्वयं अपने वर्ग के सदस्यों से खाद्य वस्तुओं आदि के लिए संघर्ष करते हुए वे सदस्य विजयी या सफल होते हैं जिनमें यदृच्छया अनुकूल परिवर्तन हुए हैं; प्रतिकूल परिवर्तनों के शिकार योनि-विशेष के सदस्य नष्ट हो जाते हैं तथा उपयोगिता की दृष्टि से अनिर्दिष्ट परिवर्तनों वाले कुछ नष्ट होते और कुछ बचे रह सकते हैं। कालांतर

में अनुकूल परिवर्तनों के जुड़ते चले जाने से एक नयी जीव योनि का आविर्भाव हो जाता है। इस प्रकार डार्विन ने जीव योनियों की विविधता अथवा अनेकरूप बहुलता को समझने-समझाने अथवा व्याख्यायित करने की कोशिश की। जीव योनियों के इस विकास की प्रक्रिया में शॉपेनहावर की जिजीविषा-संवलित क्रिया शक्ति का क्या योगदान है, कहना कठिन है। पर यहाँ एक बात स्पष्ट दिखायी पड़ती है : जीवन तत्त्व या प्राण तत्त्व की कारक भूत क्रियाशक्ति व जिजीविषा की ऊर्जा, बाह्य परिवेश की अपेक्षा में, सदैव विजयी ही नहीं होती : योनि विशेष के कमजोर सदस्य नष्ट भी हो जाते हैं। निष्कर्ष यह कि प्राणशक्ति अथवा जीवनशक्ति को किसी भी अर्थ में भौतिक जगत् की सृष्टि के लिए जिम्मेदार ठहराना-प्रकृति जगत् को कम या अधिक सचेत जीवन ऊर्जा का प्रस्फुरण या कार्य घोषित करना- कम-से-कम हमारी सहज बुद्धि द्वारा संपाद्य जानकारी की रोशनी में विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता।

जहाँ तक सचेत अर्थात् चेतना संपन्न मनुष्य का, उस मनुष्य का जिसने भाषा के प्रयोग द्वारा दिखनेवाली वस्तुओं एवं उनके संबंधों से निर्मित स्थितियों पर तरह-तरह के इष्टार्थों व अभ्यर्थों का प्रक्षेपण करना सीख लिया है (ऐसा प्रक्षेपण जो समानधर्मा स्वयोनि के सदस्यों द्वारा सहभोग्य व समर्थनीय बन जाता है), सवाल है हम कह सकते हैं कि विचाराधीन अभीष्ट व अभिप्रेत अर्थों (अभ्यर्थों) का संसार कितने दूर तक उसकी सृष्टि माना जा सकता है-इस संसार को ही हम मानव चेतना में संचित अथवा उसका निर्माण करनेवाले विज्ञानों से समीकृत कर सकते हैं। यहाँ भी यह द्रष्टव्य है कि वाणी या सरस्वती के विभिन्न कक्षों में विनिवेशित अभ्यर्थों का भंडार किसी एक चिद्‌बिंदु या चेतनाकेन्द्र की निर्मिति न होकर अनेकानेक प्रबुद्ध चेतना केंद्रों की सर्जनात्मक ज्ञान एवं संवेदन क्रियाओं का समन्वित कार्य है। भाषा प्रतीकों अथवा प्रतीकशरीर वाली भाषा के विविध अर्थव्यूहों में रूपायित यह अभिप्रेत व इष्ट अर्थों-अभिप्रायों का संसार इतना विस्तृत-वृहत् है कि अधिक से अधिक मेधा व प्रतिभा से संपन्न कोई एक चेतना केन्द्र उसे समग्रता में अपनी बोधक्रिया के वृत्त (दायरे) में समाहित नहीं कर सकता। होता यह है कि उक्त प्रतीकात्मक लंबी-चौड़ी, गहन, रहस्यमयी वेदना-बोधमयी रिक्थ-संपदा (सांस्कृतिक विरासत) की स्रोतस्विनी में डुबकियाँ लगाते हुए विभिन्न चेतना केन्द्र, अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुरूप स्वीय जीवन चैतन्य को निर्मित व पोषित करते हैं।

चलते-चलते हम यहाँ एक और प्रचलित-प्रचारित मंतव्य का, जो सहज बुद्धि द्वारा ग्राह्य नहीं जान पड़ता, उल्लेख और आलोचना करेंगे। विचाराधीन मंतव्य अस्तित्ववादी शिविर के अन्यतम विचारक ज्याँ पाल सार्त्र का है। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'बीइंग एंड नथिंगनेस' (सत् या सत्ता और नास्तिभाव) में स्वतंत्र मनुष्य की चेतना के बारे में यह वक्तव्य दिया है कि उसमें 'बीइंग के निषेध या निहिलेशन' (Nihilation) अर्थात् नास्तिभाव में निमज्जित या परिणत करने की शक्ति है। इस शक्ति का उपयोग उसकी अर्थात् चेतन मानव या कर्त्ता की स्वतंत्रता का सबूत है। स्वतंत्र, सचेत कर्त्ता अस्तित्ववान वर्तमान का निषेध करके नये अस्तिभाव या अस्तित्ववान यथार्थ को प्रकल्पित एवं बाद में उत्पन्न करता है। तात्पर्य यह है कि जो वर्तमान यथार्थ का निषेध या अपलाप करके नये यथार्थ का ग्रथन-उत्पादन व प्रक्षेपण हमारी माँगों या जरूरतों की पूर्ति के लिए होता है। मतलब यह है कि अर्थपूर्ण अथवा अर्थ समन्वित वस्तु-यथार्थ का संग्रथन करती हुई चेतना अपनी स्वतंत्रता का उद्घोष करती है।

दूसरे शब्दों में सार्त्र उक्त स्थिति को निम्न प्रकार से प्रकट करता है। जिसे हम कर्त्ता द्वारा अनुष्ठित कर्म कहते हैं वह उस (प्रकल्पित) यथार्थ की ओर उन्मुख होता है जो फिलहाल कहीं नहीं है। जो नहीं है, उसकी कारणता अकेले उसमें नहीं रह सकती जो है। तात्पर्य यह कि उस तरह की कारणता स्वतंत्र कर्त्ता अथवा कर्त्ता की स्वतंत्रता से संवलित वर्तमान में ही हो सकती है। दूसरी बात : कोई भी

वस्तु-स्थिति चेतना (चेतन कर्त्ता या कर्त्ता की चेतना) को इस रूप में प्रेरित या निर्धारित नहीं कर सकती कि वह वर्तमान यथार्थ या स्थिति को नास्तित्त्व या अभाव के रूप में देखे।

सार्त्र की तर्कणा प्रणाली उसकी चातुर्यपूर्ण प्रतिभा की द्योतक है; पर वह स्थिति पर सही रोशनी डालती है, उसमें संदेह किया जा सकता है। हम या हमारे प्रयत्न वर्तमान स्थिति से उबरना चाहते हुए उसकी ओर उन्मुख होते हैं जो नहीं है और इस प्रकार अपनी स्वतंत्रता का उद्घोष व उपभोग करते हैं, इस सार्त्रीय मंतव्य या व्याख्या के बदले हम भविष्योन्मुख कर्म को दूसरे ढंग से समझ सकते हैं। जिस वर्तमान चीज से हमें असंतोष है वह प्रसक्त अभ्यर्थों की एक संहति या संस्थान है; उसकी जगह हम इष्टार्थों की दूसरी संहति या संस्थान को प्रतिष्ठित देखना चाहते हैं। इस दूसरी संहति या संस्थान को हम नास्तित्त्व या अभाव के रूप में नहीं देखते, वरन् उन भौतिक वस्तुओं की नयी संहतियों या समष्टियों के रूप में प्रकल्पित करते (कल्पना द्वारा साक्षात्कार का विषय बनाते) हैं जो नये अभिप्रेत अर्थों या इष्टार्थों को अभिव्यक्ति दे सकें। उदाहरण के लिए हम अधिक जगह बनाने या किसी दूसरे प्रयोजन की सिद्धि के लिए कमरे के फर्नीचर को नये क्रम में व्यवस्थित करते हैं। वैसे ही हम बगीचे के गमलों को नयी संहति या क्रम में व्यवस्थित करते हैं- संभवत: नये ढंग के सौंदर्य की सृष्टि एवं अनुभव के लिए। इस प्रक्रिया को भावी स्थिति के नास्तिभाव का अनुभव कहना-फर्नीचर या गमलों की विभिन्न इकाइयों के नास्तित्त्व या अभाव का साक्षात्कार करना, संभवत: वस्तुस्थिति का सही प्रकाशन नहीं होगा। उसी प्रकार काव्य सृष्टि अथवा वैचारिक संप्रत्ययात्मक निर्मिति के (Conceptual Construction) क्षेत्रों में हम भाषा के पदों अथवा दूसरे प्रतीकों, जैसे अंकों आदि के नास्तिभाव या अभाव का साक्षात्कार नहीं करते; वहाँ नयी शब्द संहतियाँ या प्रतीक समष्टियाँ हमारे कल्पना क्षितिज पर कौंधती हुई हमारे सर्जन कर्म को प्रेरणा व गति देती हैं। हमारी समझ में यहाँ हमारे द्वारा प्रस्तावित व्याख्या स्थिति का अधिक संगत विवरण होने का दावा कर सकती है। इस विवरण या व्याख्या को स्वीकार कर लेने पर हम यह भी देख पाते हैं कि किस प्रकार हमारी परिचित वस्तुएँ (फर्नीचर की इकाइयाँ) या शब्द आदि प्रतीक (उनकी विस्तृत जानकारी या परिचय) हमारे सर्जनात्मक प्रयत्न या प्रयत्नों को गति देते हैं।

***

नैतिक मूल्य : अवबोध और स्वरूप

इससे पूर्व हमने अनुभवपरक तथा उपयोगितापरक अर्थ-तत्त्वों के भाषा द्वारा प्रकाशित और ग्रहण किये जाने की प्रक्रिया पर विचार किया। उक्त अर्थ-तत्त्वों के अलावा नैतिक, आध्यात्मिक एवं सौंदर्यपरक अर्थ-तत्त्व या इष्टार्थ भी होते हैं, जिनका संप्रेषण और ग्रहण भाषा के माध्यम से किया जाता है; किंतु इन कोटियों के इष्टार्थ या अभिप्राय अपनी अभिव्यक्ति तथा स्वरूप-प्राप्ति के लिए भी इष्टार्थों की पूर्वोक्त दो कोटियों पर निर्भर करते हैं। तात्पर्य यह कि अनुभव तथा उपयोगितापरक अर्थ-तत्त्व अपेक्षाकृत अधिक मौलिक हैं, दूसरे अर्थ या अभिप्राय उनकी मदद से ही स्वरूप लाभ और अभिव्यक्ति पाते हैं। यहाँ हम देखेंगे कि तथाकथित सौंदर्यपरक अर्थ या मूल्य अनुभवपरक अर्थों या इष्टार्थों में अनुस्यूत होते हैं, वैसे ही नैतिक अर्थ या मूल्य अपने स्वरूप लाभ और अवबोध के लिए उपयोगितापरक अर्थ-तत्त्वों की अपेक्षा करते हैं।

नैतिक विशेषण प्राय: मानवीय कर्मों के प्रति लगाये जाते हैं; कभी-कभी भाषण आदि की क्रियाओं को हम मधुर, ओजस्वी, स्पष्ट आदि विशेषणों या क्रियाविशेषणों से विशेषित करते हैं। उपरोक्त विशेषण सौंदर्यपरक कहे जा सकते हैं। नैतिक विशेषण उन कर्मों, प्रेरणाओं, मनोवृत्तियों, मनोभावों आदि के प्रति लगाये जाते हैं जिनका संबंध दूसरे (कर्त्ता से भिन्न) मनुष्यों या प्राणियों के उपयोगिता रूप हानि-लाभ से है। इसका मतलब यह हुआ कि यदि मेरा कर्म किसी दूसरे को लाभ पहुँचाता है तो वह शुभ कर्म है, और यदि हानि पहुँचाता है तो अशुभ कर्म है। हम धीरे-धीरे देखेंगे कि नैतिक-अनैतिक का प्रश्न नितांत जटिल है- उतना सरल नहीं जैसा कि ऊपर के वक्तव्य से जाहिर होता है। हानि-लाभ के प्रत्ययों के साथ एक चीज जो विचारणीय रहती है यह है कि जिस व्यक्ति के हानि-लाभ की चिंता की जा रही है, वह कहाँ तक हमारे कर्म द्वारा उपकृत या दंडित होने का हकदार है। उदाहरण के लिए सहकारी कानून हत्या के अपराधी व्यक्ति को मृत्यु या लंबे कारावास की सजा देता है; इस सजा या दंड को लागू करनेवाले अधिकारी या उनके क्रिया-व्यापार अनैतिक नहीं कहे जा सकते, इसलिए कि कारावास का कष्ट या मृत्यु भी अपराधी का प्राप्तव्य है-क्योंकि उसने किसी दूसरे की हत्या की है। वैसे ही एक वंचक व्यक्ति की ऐसे काम में मदद करना जिसके द्वारा वह दूसरों को धोखा देने में सफल हो सकता है, शुभ कार्य नहीं कहा जा सकता। उदाहरण दिया जाता है कि यदि कोई व्यक्ति तलवार हाथ में लिये किसी भागते हुए या भागे हुए व्यक्ति का पीछा कर रहा है, और कहीं तिराहे या चौरस्ते पर पहुँचकर वहाँ खड़े व्यक्ति से पूछता है कि पीछा किये जानेवाला व्यक्ति किस ओर गया है, तो उसे सही रास्ता बता देना और इस प्रकार उसकी मदद करना अशुभ कार्य होगा न कि पुण्य कर्म।

यहाँ हम उपयोगितावादी नीति-सिद्धांत जिसका प्रतिपादन आधुनिक काल में जॉन स्टुअर्ट मिलने किया, और अपने अभिमत के भेद को स्पष्ट करना चाहेंगे। मिल का सिद्धांत यह है कि श्रेष्ठ कर्म अर्थात् नैतिक दृष्टि से शुभ कर्म वह होता है, जिसका परिणाम स्वयं कर्त्ता के लिए अथवा अधिकतम मनुष्यों के लिए सुखप्रद हो। हम यहाँ इस सिद्धांत का अनुमोदन नहीं कर रहें हैं; यहाँ उसकी परीक्षा भी

इष्ट नहीं है। मिल कहते हैं कि नैतिक कर्म उपयोगी अथवा सुखोत्पादक कर्म होता है। इसके विपरीत हमारा कथन है कि सुख या दुख रूप उपयोगिता को जन्म देनेवाला कर्म ही नैतिक या अनैतिक हो सकता है। हमारा यह भी कहना है कि नैतिक-अनैतिक कर्मों का संबंध प्राय: कर्त्ता से भिन्न लोगों या प्राणियों के सुख-दुख से होता है।

अपने मंतव्यों को पल्लवित करने से पहले हम एक मौलिक प्रश्न उठाना चाहते हैं। जब हम किसी कर्म, कर्मसमूह अथवा क्रिया-संघात को नैतिक दृष्टि से भला-बुरा कहते हैं तो क्या हमारे सामने कोई ऐसा यथार्थ होता है जो हमारे मन-चित्त में अनुकूल-प्रतिकूल भावनाएँ जगाता है ? हमने पीछे कहा था कि हमारे वैसे निर्णय का विषय किसी कर्म को गठित करनेवाली भौतिक गतियाँ नहीं होतीं। वास्तव में कोई गतिसमूह कर्म तब कहलाता है, जब वह किसी चेतन व्यक्ति से संबंधित और उसके द्वारा संकल्पित होता है। जो क्रिया संकल्पित नहीं है, वह नैतिक निर्णय का विषय नहीं होती, जैसे तेज रोशनी से आँखों का झंपना, अथवा नींद के दबाव में आँखों का बंद होना। किंतु जहाँ (जैसे चौकीदारी में नियुक्त व्यक्ति के लिए) जागते रहना कर्तव्य है, वहाँ आँखों का बंद होना गलत माना जा सकता है। यदि चौकीदार की असावधानी से उसके द्वारा निरीक्षणीय स्थान में चोरी हो जाय तो उसका आँखे बंद करके सो जाना ज्यादा गंभीर अपराध बन जायेगा। यहाँ पाठक देखें कि किसी क्रिया-कलाप या कर्म की भलाई-बुराई उसका गठन करनेवाली गोचर भौतिक गतियों से निर्धारित नहीं होती; वह उन प्रयोजनामूलक इष्टार्थों या मूल्यों से निरूपित होती है, जो पूरी स्थिति में अनुस्यूत दीख पड़ते हैं। यदि चौकीदार अपने निगरानी के काम में असावधान है तो वह दोषी है; यदि उसकी असावधानी से किसी की आर्थिक हानि होती है, तो उसका दोष और भी गंभीर बन जाता है। निष्कर्ष यह कि हम चौकीदार की असावधानी को अनेकविध उपयोगिताओं या उपयोगी मूल्यों के संदर्भ में देखते और नैतिक निर्णय का विषय बनाते हैं। चौकीदार रखवाली के लिए जिस व्यक्ति या जिन व्यक्तियों से वेतन या पारिश्रमिक पाता है, उसके एवज में उससे खास तरह की सावधानी की उम्मीद या प्रत्याशा की जाती है; इस उचित प्रत्याशा को भंग करना नैतिक दृष्टि से गलत काम है। वैसे ही यदि किसी कार्यशाला या सरकारी दफ्तर का कोई कर्मचारी या अधिकारी आगंतुकों की वैध या उचित अपेक्षाएँ पूरी नहीं करता, उचित जानकारी या निर्देश देने अथवा अपेक्षित कार्य करने-निबाहने में प्रसाद या सौदेबाजी करता है, तो वह न्यूनाधिक मात्रा में नैतिक स्खलन का दोषी है। कभी-कभी परिस्थितियाँ इतनी जटिल होती हैं कि यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि व्यक्ति विशेष जानबूझकर कर्तव्य-विमुख हो रहा है या किसी मजबूरी अथवा कार्यभार की अधिकता के कारण प्रमाद करता दिखायी पड़ रहा है। ऐसी दशा में किसी आगंतुक या दूसरे रूप में संबद्ध व्यक्ति का नैतिक निर्णय गलत हो जाने की आशंका रहती है। उस स्थिति में हम संबंधित कार्यकर्त्ता के प्रमाद या असमर्थता की कैफियत माँगने या पाने के अधिकारी हो जाते हैं।

ऊपर के उदाहरण नैतिक स्थितियों की जटिलता का आभास देने के लिए पेश किये गये हैं। यह जटिलता कई चीजों का परिणाम होती है। प्रथमत: देखने की बात यह है कि नैतिक स्थिति में प्राय: दो या अधिक व्यक्तियों के बीच एक या दूसरी कोटि के पारस्परिक अपेक्षाभाव या प्रत्याशाओं का संबंध रहता है। जहाँ एक ओर नियोक्ता व्यक्ति चौकीदार या दूसरे किसी कर्मचारी से कुछ अपेक्षा रखता है, वहीं कर्मचारी यह आशा करता है कि नियोक्ता व्यक्ति उसे समय पर निश्चित पारिश्रमिक या वेतन देगा। यह देखना कठिन नहीं हैं कि उपरोक्त ढंग से संबद्ध व्यक्तियों की परस्पर अपेक्षाएँ पूरी करना समाज-व्यवस्था अथवा व्यवस्थित सामाजिक जीवन के लिए नितांत आवश्यक है। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि नैतिक-अनैतिक व्यवहार और तत्संबंधी निर्णय के प्रश्न मुख्यत: वहाँ उठते हैं जहाँ दो या अधिक व्यक्ति परस्पर एक या दूसरी कोटि के प्रत्याशा संबंधों अथवा अपेक्षाओं से जुड़े या जुड़ते हुए कार्य करते हैं।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि नैतिक कर्तव्याकर्तव्य के समुचित बोध और निर्णय के लिए अनेकविध जानकारी अपेक्षित होती है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस जानकारी का संबंध भौतिक गति-रूप क्रिया-कलापों से नहीं होता; हम जिन जानकारियों की अपेक्षा करते हैं, उनका विषय परस्पर प्रत्याशा के विविध रूप और उनसे बंधे हुए संबद्ध व्यक्तियों के वैध प्रयोजन होते हैं। इन प्रयोजनों की पूर्ति में जब कहीं बाधा पड़ती है, तो संबद्ध व्यक्ति या व्यक्तियों को कमोवेश कष्ट होता है। दूसरों के लिए कष्ट का हेतु बननेवाला कर्म या चरित्र प्रायः गर्हणीय समझा जाता है, पर सदैव नहीं। अपराधी को दिया जानेवाला दंड कष्टकर होते हुए भी नैतिक दृष्टि से अवाँछनीय नहीं समझा जाता। यही नहीं, यदि बालक के अपने हित में माता-पिता या शिक्षक उससे सख्ती का व्यवहार करते हैं तो वह आपत्तिजनक नहीं माना जाता। इसीलिए कहा जाता है कि किसी कर्म या क्रियासमूह की भलाई-बुराई का निर्णय करते समय यह देखना जरूरी होता है कि कर्त्ता का प्रेरक प्रयोजन (Motive) क्या था।

ऊपर हमने यह दिखाने की कोशिश की कि नैतिक निर्णय अनेकविध जानकारी का अपेक्षी होता है। इसका लगभग विरोधी मंतव्य कतिपय विचारकों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। तर्कनिष्ठ अनुभववादियों का कहना है कि नैतिकता-संबंधी निर्णयों का कोई ज्ञानात्मक आधार नहीं होता; किसी कर्म के संबंध में वैसा निर्णय देने का अर्थ केवल यह होता है कि उक्त कर्म की उपस्थिति या समक्षता में निर्णयकर्त्ता खास तरह की भावना या भावनाओं का अनुभव कर रहा है। कुछ उदाहरण लीजिए। एक कसाई को बकरी या गाय काटते हुए यदि कोई अहिंसावादी जैन या हिंदू देखता है तो उसे उक्त कर्म में प्रायः पाप या अधर्म का बोध होता है; इसके विपरीत एक मांसाहारी ईसाई या मुसलमान को वैसा आभास नहीं होता। इसी प्रकार अमेरिका के निवासी यदि किन्हीं दंपति को कहीं सार्वजनिक स्थान में परस्पर चूमते देखते हैं तो उन्हें अनौचित्य का आभास नहीं होता, जैसा कि भारत जैसे देश में होगा। इससे सिद्ध है कि नैतिक निर्णय का आधार कोई वस्तुगत धर्म या बाहरी तत्त्व नहीं होता- यह विशुद्ध रूप से हमारे आत्मगत मनोभाव की अभिव्यक्ति है। इसीलिए उक्त विचारकों के अनुसार नैतिक बोध संज्ञानात्मक न होकर भावना का क्षेत्र होता है।

उक्त सिद्धांत का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर उसकी अयुक्तता स्पष्ट होने लगती है। पिछले अनुच्छेदों में हमने यह दिखाने की कोशिश की कि कर्म विशेष की भलाई-बुराई का संबंध उससे संबद्ध उपयोगितापरक मूल्यों और उनके आगे-पीछे के मूल्यपरक संदर्भों से होता है, गतिरूप कर्म की गोचर रूपरेखा विशेष महत्त्व नहीं रखती। वास्तव में नैतिक बोध और सौंदर्यबोध का भी किसी संस्कृति के संपूर्ण मूल्यों के संदर्भ में स्थान होता है। विभिन्न मूल्य आपस में संबंधित रहते हैं, और संबद्ध रूप में एक समष्टि बनाते हैं। इस समष्टि के अंतर्गत दार्शनिक-धार्मिक मान्यताओं एवं आस्थाओं का स्थान होता है और नैतिक तथा सौंदर्य-संबंधी सिद्धांतों और पक्षपातों का भी। उक्त सभी तरह के सिद्धांत और पक्षपात बदलते भी रहते हैं। कुछ उदाहरणों से हमारी बात स्पष्ट हो सकेगी। प्राचीन भारत में वेदों को ईश्वरीय ग्रंथ माना जाता था, और वेदविहित कर्म को धर्म कहा जाता था। प्राचीन आर्य यज्ञ के अवसर पर पशु-बलि भी देते थे। बाद में महावीर और बुद्ध जैसे शिक्षकों ने अहिंसा धर्म का प्रचार किया। जब पशु-बलि को किसी देवी-देवता को प्रसन्न करने का साधन समझा जाता है, तब उसमें पापबुद्धि नहीं होती थी। इस प्रकार विभिन्न धर्मों और संस्कृतियों में पाप-पुण्य की अलग-अलग धारणाएँ बन जाती हैं। इसी प्रकार अच्छी या भली स्त्री को समाज में किस तरह रहना-बरतना चाहिए, इस बारे में विभिन्न समाजों मे अलग-अलग धारणाएँ प्रचलित हो जाती हैं। एक ही देश में दूरगामी आर्थिक-सामाजिक और शिक्षा-संबंधी परिवर्तन होने पर लोगों की सौंदर्य-असौंदर्य एवं व्यवहारगत औचित्य-अनौचित्य से संबंधित धारणाएँ बदलती रहती हैं। उदाहरण के लिए आज की शिक्षित युवती देहाती लड़कियों की

भाँति और पुरानी कुलवधुओं की भाँति घूँघट नहीं करती, और न उतनी लजाती ही है। हमारे देश में मुस्लिम स्त्रियाँ बुरका पहनती हैं, जबकि हिंदू स्त्रियाँ खुले मुंह घूमती हैं। यों भी नगरों में रहनेवाली विशेषत: पढ़ी-लिखी महिलाएँ मध्ययुगीन लज्जाशीलता से मुक्त होती जा रही हैं, उसी के अनुरूप पुरुषों की मनोवृत्तियाँ भी बदल रही हैं।

उक्त विचारणाओं का यह निष्कर्ष जान पड़ता है कि हमारी नैतिकता तथा सौंदर्य-संबंधी मान्यताएँ और मनोभाव बदलते रहते हैं। यहाँ प्रश्न उठता है, क्या नैतिक-अनैतिक के समस्त प्रभेद युग एवं संस्कृति-सापेक्ष हैं ? क्या धर्म और अधर्म के बीच कोई आत्यंतिक भेद नहीं हैं ? वैसे ही, क्या सौंदर्य-असौंदर्य के बीच कोई भेदक रेखा नहीं है ? यदि धर्म और अधर्म के भेद को मिटा दिया जाए तो जाहिर है कि हर तरह का सामाजिक जीवन असंभव हो जाये, और विभिन्न देशों और संस्कृतियों के बीच किसी तरह की पारस्परिक समझ और संबंध न बन सकेगा। नैतिक सापेक्षवाद और संशयवाद के मसले का लंबा-चौड़ा विवेचन यहाँ संभव नहीं है। इसके बदले हम संक्षेप में अपने सुचिंतित मंतव्य को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। जैसा कि हमने कहा, एक ही समाज और संस्कृति के इतिहास में नैतिक और सौंदर्य संबंधी मान्यताएँ थोड़ी-बहुत बदलती रहती हैं। कार्ल मार्क्स का विचार था कि हमारी नैतिक मान्यताओं और कानूनों का संबंध शासक वर्गों के हितों से होता है। वे मान्यताएँ और कानून उक्त वर्गों के हित में निर्मित और प्रचारित होते हैं। उदाहरण के लिए नमक-हराम होना अपराध या पाप है, यह धारणा मालिकों के हित में है, इसलिए उसका उपदेश और प्रचार किया जाता रहा है। द्रष्टव्य है कि कल-कारखानों में काम करनेवाले आज के युग के मजदूर उक्त मान्यता को स्वीकार न करते हुए प्राय: मालिकों के विरुद्ध विद्रोह और संघर्ष करते रहते हैं। इस प्रकार कुछ नैतिक मान्यताओं की सापेक्षता, समय-सापेक्षता अथवा बदलते सामाजिक ढाँचे की सापेक्षता स्पष्ट है। किंतु समस्त नैतिक सिद्धांत या मान्यताएँ सापेक्ष सत्य हैं, यह मंतव्य अतिवादी और भ्रामक भी है। उदाहरण के लिए किसी के साथ किये गये समझौते का पालन करना भला व्यवहार कहा जायेगा, और समझौते की अवहेलना करना गलत काम माना जायेगा। इसी प्रकार यदि लोग परस्पर किये गये वायदों और दिये गये आश्वासनों को भंग करते रहें तो सामाजिक जीवन संभव न होगा। नैतिकता सामाजिक जीवन की धारक शक्ति है, 'धर्म संज्ञा इसलिए है कि वह समाज को धारण करता है।' एक और उदाहरण लीजिए। शायद ही ऐसा कोई समाज या संस्कृति हो जहाँ जरूरतमंद की भोजन-वस्त्र, वचन आदि से मदद करना भला काम न समझा जाता हो; वैसे ही किसी को अकारण कष्ट देना, या धोखा देना अथवा किसी से उसके परिश्रम का फल छीन लेना बुरे काम समझे जायेंगे। तात्पर्य यह है कि समस्त सापेक्षताओं से परे कुछ ऐसे व्यवहार-नियम हैं जिन्हें सार्वभौम नैतिकता कहा जा सकता है, भले ही वैसे नियमों का निरूपण दुष्कर हो। इसी प्रकार शरीरिक सौंदर्य और व्यवहार सौष्ठव के कतिपय रूपों की सापेक्षता को मानते हुए भी यह आस्था प्रकट की जा सकती है कि व्यवहार और चरित्र की कुछ विशेषताएँ (जैसे शिष्टता, सहनशीलता, ईर्ष्या का अभाव, निष्कपटता, उदारता, साहस, वीरता आदि) समस्त समाजों और संस्कृतियों में प्रशंसनीय समझी जाती हैं- नैतिकता अथवा शील-सौंदर्य की दृष्टि से। यहाँ ध्यातव्य है कि साहित्य के अंतर्गत पात्रों की जिन अच्छाइयों का बखान होता है उनका गहरा लगाव नैतिक विशेषताओं से रहता है। साहित्य में नैतिक सद्‌गुण शील-सौंदर्य के घटकों के रूप मे दिखायी पड़ते हैं। दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि समझदार और सहृदय पाठक देश-काल की दृष्टि से दूरवर्ती और भिन्न संस्कृतियों में रचित साहित्यिक कृतियों के रसास्वादन में विशेष बाधा या कठिनाई का अनुभव नहीं करते। कभी-कभी विभिन्न साहित्यों के प्रचलित प्रतीकों को समझने में कठिनाई होती है, विशेषत: काव्य के क्षेत्र में; किंतु कथा साहित्य की भूमि में उक्त कठिनाई का उतना अनुभव नहीं

होता। यही कारण है कि हम होमर की 'इलियड' यूनान-फ्रांस आदि के नाट्य साहित्य और 'अलिफ लैला' जैसी रचनाओं को चाव से पढ़-समझ पाते हैं।

प्रश्न है, विभिन्न संस्कृतियों और युगों में लगभग समान रूप में स्वीकृति पानेवाले नैतिक व सौंदर्य-परक व्यवहार की सरणियों एवं प्रतिमानों का स्रोत कहाँ पाया जा सकता है ? पश्चिम जगत् में नैतिकता का एक प्रसिद्ध नियम प्रचलित है, जिसे स्वर्ण-नियम (Golden Rule) कहते हैं। इस नियम के अनुसार हमें दूसरों से वैसा व्यवहार करना चाहिए जैसा कि हम चाहते हैं कि वे हमारे प्रति करें। यदि हम चाहते हैं कि दूसरे लोग हमसे शिष्टता से बातचीत और व्यवहार करें, तो हमें भी उनसे वैसे ही बरतना चाहिए। द्रष्टव्य है कि ठीक यही नीति-नियम महाभारत के निम्न श्लोकार्ध में कथित पाया जाता हैं :

आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

अर्थात् जो अपनी अपेक्षा में प्रतिकूल या अप्रिय जान पड़ता है, वैसा आचरण या व्यवहार दूसरों के प्रति न करें। इसी नियम को दूसरे शब्दों में निम्न ढंग से प्रकट किया गया है :

आत्मवत् सर्वभूतेषु य: पश्यति स: पंडित:।

अर्थात् जो समस्त प्राणधारियों को अपनी समानता में देखता है वह (सच्चे अर्थ में) पंडित यानी समझदार अथवा विवेकशील है।

हमारा अनुमान है कि अन्य भाषाओं और संस्कृतियों में भी इस नीति-नियम के प्रतिरूप मिल सकेंगे। यहाँ देखने की बात यह भी है कि दूसरा श्लोकार्ध आत्म-सादृश्य की दृष्टि और व्यवहार के प्रंसग में समस्त प्राणधारियों का उल्लेख करता है, केवल मनुष्य का नहीं। भारतवर्ष में अहिंसा की शिक्षा भी प्राय: सब भूतप्राणियों की अपेक्षा से दी गयी है। अनेक समुन्नत संस्कृतियों में मनुष्य के द्वारा मनुष्य की हिंसा और भक्षण गर्हित कार्य समझे जाते हैं, किंतु भारतीय जैन धर्म और वैष्णव धर्म के अनुसार प्राणी-मात्र की हिंसा और सब प्रकार का मांसाहार वर्जित है।

हम फिर अपने ऊपर के प्रश्न को दोहराएँ : उक्त स्वर्ण नियम और उस कोटि के अन्य नियमों का उद्‌गम या मूल कहाँ है ? प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक कांट ने यह प्रतिपादित किया था कि ज्ञान के क्षेत्र में कुछ ऐसी अवधारणाएँ या कोटिप्रत्यय (Categories) हैं जिनका संवेदन रूप अनुभव-खंडों के संघटन अथवा एकीकरण में सर्वत्र, सार्वभौम उपयोग होता है। कांट ने वैसी अवधारणाओं का परिगणन किया है। उनमें प्रमुख हैं, द्रव्य, गुण, कारणता, परिणाम या मात्रा आदि। ध्यातव्य है कि इस प्रकार की अवधारणाओं का निरूपण और परिगणन वैशेषिक दर्शन में यहाँ और अरस्तू के ग्रंथों में यूनान में पाया जाता है। कांट का कहना है कि उसके द्वारा परिगणित बारह अवधारणाओं का मूल मनुष्य की बुद्धि अथवा चिंतनशक्ति में है। इसी प्रकार कांट की मान्यता है कि नैतिक नियमों अथवा आदेशों का स्रोत हमारी कार्य या व्यवहार-बुद्धि (Practical Reason) है। मनुष्य के मन-चित्त को इस प्रकार अलग-अलग शक्तियों में विभाजित करके देखना आज के चिंतकों को पंसद नहीं है। कांट के सिद्धांत को केवल इस रूप में लिया जा सकता है कि अनुभव जगत् तथा नैतिक आचरण को समझने, संघटित रूप में ग्रहण करने अथवा उनकी व्याख्या के लिए मानव जाति कुछ ऐसे प्रत्ययों या अवधारणाओं का उपयोग-प्रयोग करती है, जो उसे अपनी बौद्धिक-नैतिक गठन का अंग जान पड़ती हैं। इस दृष्टि से मानना चाहिए कि कांट ने एक नितांत महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत किया। उसके सिद्धांत में यह विश्वास निहित है कि चिंतन के नियमों और प्रकारों की भाँति नैतिकता के नियम भी स्वयं मानव-प्रकृति में अनुस्यूत हैं- वे बाहर से लादे गये या कृत्रिम नहीं हैं। मूल नैतिक मान्यताएँ वैसे ही हमारे मानवीय स्वभाव का अंग हैं जैसे ज्ञान के क्षेत्र में कार्य-कारण जैसे संबंधों को देखने की प्रवृत्ति। नैतिक प्रभेद देखना-करना हमारे लिए वैसे ही स्वाभाविक है जिस प्रकार बाह्य विश्व से क्रियात्मक संबंध जोड़ते हुए हम द्रव्य, कारणता

आदि प्रत्ययों का उपयोग करते हैं। हम अनिवार्य रूप में प्राकृतिक घटनाओं को (जैसा कि कांट का विचार है) कार्य-कारण श्रृंखला में व्यवस्थित करके देखते हैं। यहाँ कांट के सिद्धांत को उसकी संपूर्णता में स्वीकार करने और न करने का प्रश्न हमारे सामने नहीं है। हमें कांट का परमार्थ जगत् और व्यवहार जगत् का भेद स्वीकार्य नहीं जान पड़ता, पर यह अवांतर विषय है। प्रस्तुत प्रसंग में हम केवल इस बात पर जोर देना चाह रहे हैं कि मानव जाति सदा से स्वकृत कर्मों के संसार में भले-बुरे के प्रभेद देखती और तदनुरूप निर्णय करती आयी है। कहने की जरूरत नहीं कि इस कोटि के प्रभेद और निर्णय हर युग, हर संस्कृति और हर समाज-व्यवस्था में प्रचलित रहे हैं।

वास्तव में मनुष्य जाति की नैतिक निर्णय की प्रवृत्ति एक अधिक व्यापक प्रवृत्ति का अंग है; यह प्रवृत्ति है मनुष्य को गुणात्मक दृष्टि से उन्नतिशील मानते हुए व्यक्तित्व की निम्न और ऊँची कोटियों का अंतर देखना और करना। स्कूलों और कालेजों में कम और ज्यादा मेधावी छात्रों के बीच अंतर किया जाता है; सरकार तथा दूसरी संस्थाएँ अच्छे छात्रों को विशेष वृत्तियाँ देती हैं। वैसे ही वर या वधू की खोज करते हुए माता-पिता और दूसरे लोग सुंदरता, शील-स्वभाव, आर्थिक स्थिति या अर्जन-क्षमता आदि विशेषताओं की मांग करते हैं। तात्पर्य यह है उत्कर्ष के लिए प्रतियोगिता और प्रयत्न चलता है। दूसरे शब्दों में हम कहेंगे कि मानव जाति निरन्तर विविध मूल्यों के संधान में लगी रहती है और यह संधान-क्रिया प्राय: प्रतिस्पर्धा एवं प्रतियोगिता को जन्म देती है। बात यह है कि विभिन्न मूल्यों से संबद्ध उपलब्धियों में निरंतर तर-तम भाव की व्याप्ति दीख पड़ती है।

हमने कांट के सिद्धांत में पाये जाने वाले सत्यता के अंश को रेखांकित किया। किंतु विभिन्न अनुभव-प्रकारों को संघटित करनेवाले प्रत्ययों (अवधारणाओं) के उद्‌गम के संबंध में हमारे विचार कांट से भिन्न हैं। हम जानते हैं कि मनुष्य स्वभावत:-मूल्यान्वेषी है और मूल्यान्वेषण की प्रक्रिया कमोवेश स्वतंत्र क्रिया होती है। प्राय: हमारे सामने लक्ष्यों और साधनों दोनों की अपेक्षा में दो या अनेक विकल्प मौजूद रहते हैं; और निरंतर हमारे सामने विकल्पों के बीच चुनाव करने की समस्या भी उपस्थित रहती है। अधिकांश अवसरों पर, कम-से-कम एक कानून द्वारा रक्षित समाज-व्यवस्था में, हम चुनाव करने के लिए स्वतंत्र होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मूल्यों के संधान और चुनाव-क्रिया द्वारा स्वतंत्रता की चरितार्थता, इन दोनों में संबंध है। हमारा अनुमान है कि जिन्हें कांट अनुभव निरपेक्ष (A Priori) अवधारणाएँ या प्रत्यय कहता है, उनका मूल मनुष्य की सर्जनात्मक अर्थात् मूल्य-संधान-परक जरूरतों में है। भौतिक जगत् की अपेक्षा में कर्मशील होने के लिए हमारे लिए यह मानकर चलना जरूरी होता है कि भौतिक वस्तुओं और शक्तियों (ऊर्जाओं) के स्वभाव स्थिर हैं- कि जो आग कल गर्मी देती थी वह आज भी गर्मी देगी; पानी आज भी प्यास बुझाएगा और बर्फ आज भी ठंडी लगेगी। ये विश्वास संबंधित कर्म करने की आवश्यक शर्त है। ऐसी ही स्थिरता हम मनुष्य या सरकार द्वारा स्थापित रेल, तार, दंड आदि की व्यवस्था में खोजते और पाते हैं; उस व्यवस्था में विपर्यय होने पर हम रुष्ट या असंतुष्ट भी होते हैं। संभवत: द्रव्य की अवधारणा के मूल में हमारी वस्तुओं में स्थिरता की अपेक्षा है। व्यवहार जगत् में व्यवहार की दृष्टि से मेरी मेज और पुस्तक की पांडुलिपि या रजिस्टर हफ्तों, महीनों और वर्षों तक भी, वही बने रहते हैं, यद्यपि भौतिक विज्ञान के अनुसार उनके विधायक अणु-परमाणु निरंतर गतिशील हैं। विज्ञान के अंतर्गत हम स्वयं उन अणु-परमाणुओं अथवा विद्युत आदि ऊर्जा-प्रकारों को स्थायी गुण-धर्म वाले द्रव्यों जैसा मानते हुए उनके बारे में बातचीत करते हैं। इसी प्रकार भौतिक शास्त्र के अनुसार जहाँ भूत जगत् में नियम-परायणता और नियमित व्यवहार (Regularity of Behaviour) हैं। वहाँ कार्य-कारण संबंध की उपस्थिति की कल्पना आवश्यक नहीं जान पड़ती; किंतु चूँकि हम वस्तुओं के उपयोग में रुचि रखते हैं, इसलिए हम कार्य-कारण भाव की कल्पना करने को लाचार से महसूस करते हैं। यहाँ

हमारा सीमित उद्देश्य इस बात पर जोर देना है कि कर्मों, मनोभावों, चरित्रों आदि में भले-बुरे अथवा ऊँच-नीच के भेद देखना और तदनुकूल निर्णय लेना या बरतना हमारे मानव-स्वभाव की आंतरिक आवश्यकता या मजबूरी है।

यहाँ निश्चय ही यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि यदि हमारी उक्त मान्यता सही है, तो किसी कर्म के अच्छाई-बुराई के बारे में दुनिया के समस्त जनों में ऐकमत्य होना चाहिए- जैसा कि रंगो, आकारों आदि के देखने में होता है। इस समस्या पर आंशिक विमर्श पीछे आ चुका है। उक्त पहेली का पूर्ण हल, अथवा स्थिति की संपूर्ण व्याख्या इस प्रकार है। मनुष्य के जीवन में अनेक उपयोगी मूल्यों की खोज होती है : धन-संपत्ति की, पद की, यश की और दूसरों के प्रति होनेवाले अन्याय अथवा उनके कष्टों के निवारण की। वैसे ही कुछ लोग जीवन में अच्छा कवि, कथाकार, गणितशास्त्री अथवा दार्शनिक-विचारक बनने का लक्ष्य लेकर चलते हैं और अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए दूसरी कई चीजों का-अपने या परिवार के लिए सुख का, कभी-कभी न्याय और नैतिकता की माँगों आदि का भी परित्याग करने को तैयार रहते हैं। जब दो व्यक्तियों के स्वार्थ टकराते हैं तो उनके नीति-अनीति संबंधी अवलोकनों में भी भेद पड़ने लगता है। यदि पत्नी साड़ियाँ चाहती है और पति पुस्तकें, यदि पत्नी दान-पुण्य करना चाहती है और पति वैसे कृत्यों में आस्था नहीं रखता, तो परस्पर स्वार्थों में और नैतिक निर्णयों में भी विरोध की स्थिति का उत्पन्न होना निश्चितप्राय है। हमारी नैतिक संवेदना पर हमारी आस्थाओं तथा विश्वासों का प्रभाव पड़ता है। दो या अधिक व्यक्तियों के बीच नैतिक या दूसरे मूल्यों से संबंधित विरोध इसलिए होता है कि प्रत्येक आकाँक्षित मूल्य की स्थिति एक मूल्य समष्टि (System of Values) के बीच होती है और कुछ मूल्यों (स्वर्ग-नरक, मोक्ष-निर्वाण) का संबंध, धार्मिक, दार्शनिक आस्थाओं अथवा उच्चतर जीवन-विवेक की माँगों से होता है। वस्तुत: नैतिकता का मूल संबंध, जैसा कि हमने प्रारंभ में संकेत किया, उपयोगिताओं के ही सही वितरण से है, जबकि आध्यात्मिक खोज उपयोगिता की भूमि से बाहर या ऊपर अग्रसर होती है। जहाँ तक नैतिकता का प्रश्न है, उसका मुख्य रूप उपयोगी मूल्यों का न्याय-सम्मत आवंटन है। यहाँ न्यायसम्मत के दो अर्थ या रूप प्रमुख दीख पड़ते हैं। अपने प्रयत्न और कर्म द्वारा हम कुछ चीजें पाने के अधिकारी बनते हैं; उन चीजों से किसी व्यवस्था, स्थिति या व्यक्ति द्वारा वंचित किया जाना न्याय-विरोधी, और इसलिए अनैतिक जान पड़ता है। कार्ल मार्क्स ने पूंजी का विश्लेषण करते हुए अपना प्रसिद्ध अतिरिक्त मूल्य (Surplus of Values) का सिद्धांत प्रतिपादित किया था। सिद्धांत यह है कि किसी कारखाने में काम करने के पारिश्रमिक के रूप में एक मजदूर जो पाता है, वह उस समग्र मूल्य से कम होता है, जो उसके परिश्रम द्वारा उत्पन्न किया जाता है। उदाहरणार्थ यदि एक श्रमिक या मजदूर अपने परिश्रम से तीस रुपये मूल्य का सामान बनाता है और बीस रुपये मजदूरी पाता है, तो दस रुपये की राशि को अतिरिक्त मूल्य कहा जायेगा। मार्क्स का कहना है कि यह अतिरिक्त मूल्य लाभ के रूप में कारखाने के मालिक द्वारा हस्तगत कर लिया जाता है। मार्क्स के अनुसार यह अन्याय की स्थिति है, क्योंकि अपने परिश्रम के फल पर श्रमिक अथवा श्रमिक वर्ग का संपूर्ण अधिकार होना चाहिए। यहाँ ध्यातव्य है कि हम बैंक में रुपया जमा करके बिना किसी परिश्रम के सूद या ब्याज के रूप में लाभ उठाते हैं। वैसे ही पूंजीपति लोग किसी उद्योग में पूंजी लगाकर लाभ की आशा करते हैं। यहाँ स्पष्ट ही कार्ल मार्क्स के दृष्टिकोण और पूंजीवादी दृष्टिकोण में मतभेद की स्थिति है। शायद सही, अधिक न्यायपूर्ण व्यवस्था में पूंजीपतियों द्वारा कमाये जानेवाले लाभ की निम्नतम सीमा निश्चित करनी होगी। हर हालत में सही व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति और पार्टी को अपने परिश्रम के अनुरूप लाभ मिलने का प्रबंध होना चाहिए। यहाँ प्रसंगवश उक्त स्थिति का एक महत्त्वपूर्ण पहलू और देख लिया जाय। यदि किसी व्यक्ति को अपने अमीर बाप की ढेर सारी संपत्ति विरासत में मिली है, तो वह बैंक में बहुत-सा

रुपया जमा करके बिना किसी तरह का परिश्रम या काम किये सुख से जीवन बिता सकता है। ऐसी संभावना को देखते हुए मार्क्स की सिफारिश निजी संपत्ति को खत्म करने की है। रूस की विगत समाजवादी या साम्यवादी आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था में किसी नागरिक की निजी कहलायी जानेवाली संपत्ति बहुत थोड़ी होती थी; मकान आदि सरकारी संपत्ति समझे जाते थे। वैसे ही किसानों के निजी खेत नहीं होते थे और उद्योग-धंधे भी राष्ट्र की संपत्ति माने जाते थे। किंतु व्यावहारिक दृष्टि से रूस की व्यवस्था मार्क्स की कल्पना के अनुरूप आदर्श नहीं बन सकी। वहाँ पंचायती होने के कारण अनाज आदि की उपज अमेरिका जैसे देशों की तुलना में कम होती है। आम जनता का जीवन स्तर नहीं बढ़ पा रहा था और कम्युनिस्ट पार्टी के वे सदस्य जिनका संबंध शासन से है, जो शक्तिशाली हैं, वे पूंजीवादी देशों के समृद्ध लोगों की भाँति अपने और अपनों के लिए समस्त सुख-सुविधाएँ जुटा लेते रहे। तात्पर्य यह है कि मूल समाजवादी विचारकों की कल्पना का आदर्श समाज कहीं भी स्थापित नहीं हो सका है। न केवल अमेरिका, जापान, पश्चिम जर्मनी, फ्रांस, ब्रिटेन आदि की आम जनता रूस की जनता से अधिक सुख-सुविधाओं का उपयोग करती रही है, वहाँ जनतांत्रिक स्वतंत्रता भी है, जो रूस आदि कम्युनिस्ट पार्टियों द्वारा शासित देशों में उपलब्ध नहीं रही।

यहाँ न्याय के प्रत्यय पर विचार करते हुए एक बात का उल्लेख और आवश्यक है। विभिन्न युगों और संस्कृतियों में भिन्न-भिन्न कोटि की क्षमताओं एवं योग्यताओं को न्यूनाधिक महत्त्व दिया जाता रहा है। उदाहरण के लिए जो समुदाय शिकार करके जीवन-यापन करते थे वहाँ साहसी शिकारी को नेता मान लिया जाता था। पुराने युगों में जब खानाबदोश लोग कबीलों के रूप मे घूमते रहते थे, कबीला-विशेष के सरदार की बड़ी हैसियत होती थी। रामायण-महाभारत के युग में भीम, अर्जुन जैसे युद्धपटु, देह-बल से संपन्न साहसी वीरों का विशेष महत्त्व था। जनतांत्रिक राज्यों की स्थापना से पूर्व विशिष्ट शासकों आदि के कुलों से संबद्ध युद्ध-वीर युवकों और राज्याश्रित भूमिपतियों का (जो युद्ध में राजा की मदद भी करते थे) दबदबा और आदर था; किंतु इधर विभिन्न विज्ञानों की प्रगति के साथ, जिन्होंने आधुनिक तकनीकी सभ्यता को संभव बनाया है, बुद्धिजीवियों का महत्त्व बढ़ा है। आजकल सेना में काम करनेवाले अफसरों का नाम प्राय: नहीं सुना जाता। अपने जनतंत्र में केंद्र और राज्यों के मंत्री-उपमंत्री तथा लोकसभा और विधानसभाओं के सदस्य महत्त्वपूर्ण बन गये हैं। लेकिन स्तालिन आदि के रूप में भी बुद्धिजीवियों-विशेषत: वैज्ञानिकों का- और शासक वर्ग का कार्य अधिक सराहा जाता रहा; उन्हें वेतन के अलावा दूसरी बहुत-सी सुविधाएँ दी जाती रहीं। तात्पर्य यह है कि किस कार्य अथवा श्रम का कितना मूल्य लगाना चाहिए, इस बारे में इतिहास के अंतर्गत मान्यताएँ बदलती रही हैं। वैसे भी श्रम का अर्थ केवल शरीरिक काम नहीं है। एक आइंस्टाइन के बौद्धिक कार्य और एक मजदूर के शारीरिक श्रम की परस्पर तुलना के लिए एक सामान्य मापक को पा जाना संभव नहीं दीखता। फलत: 'कार्य के अनुरूप वेतन या मानदेय' न्याय की अवधारणा का पूरा-पूरा स्पष्टीकरण संभव नहीं दीखता। 'जैसी करनी वैसी भरनी' का नियम सिद्धांत में ठीक और उचित है, पर उसकी व्यावहारिक व्याख्या सहज नहीं है। इस नियम या सिद्धांत के अनुसार ही दुष्कर्म करनेवाले के लिए दंड का विधान है।

हमने अब तक नैतिकता के एक सिद्धांतसूत्र का उल्लेख किया अर्थात् व्यक्ति-विशेष के स्वेच्छा से किये प्रयत्न के अनुरूप फल का विधान। इसी से यह भी अनुगत होता है कि यदि कोई हमारी भलाई करे तो हम उसके प्रति कृतज्ञता महसूस करें और यथासंभव प्रत्युपकार करने की कोशिश करें। सामाजिक संबंधों के संदर्भ में लोग प्राय: सामाजिक व्यवहार के नियमों की अनुरूपता में एक दूसरे के लिए उपयोगी कार्य करते हैं। यदि हम किसी दफ्तर में काम करते हैं तो हमारा यह कर्त्तव्य बनता है कि वहाँ आनेवाले कार्यार्थियों को उचित सलाह दें और सेवा द्वारा तुष्ट करें। किसी बैंक, डाकघर, स्टेशन

आदि के कार्यकर्त्ताओं का यह कर्तव्य माना जाता है कि वे अपने-अपने ग्राहकों की उचित माँगे या प्रत्याशाएँ पूरी करें। सच यह है कि सामाजिक जीवन में लोग प्राय: एक दूसरे से उचित अपेक्षाएँ रखते हुए बरतते हैं। एक ओर माता-पिता और गुरूजन संतान और छात्र-समुदाय से सेवा और आदर के रूप में प्रत्याशाएँ पालते हैं। इस स्थिति को प्राचीन स्मृतियों में ऋणों की अवधारणा द्वारा प्रकट किया गया था। समाज के समस्त सदस्य परस्पर ऋणी बनते हैं और परस्पर अपनी सेवाएँ अर्पित करते हुए सामाजिक सुख-समृद्धि को संभव बनाते हैं। समाज-व्यवस्था का मुख्य रूप है, नागरिकों के पारस्परिक कर्त्तव्यों अथवा सेवा-विनिमय के तरीकों को परिभाषित करना और इन्हें न्यूनाधिक आवश्यक या अनिवार्य नियमों का रूप देना।

किंतु सब प्रकार के अपेक्षित और प्रत्याशित कर्त्तव्य-कार्यों को निश्चित नियमों का रूप नहीं दिया जा सकता। एक छोटे बच्चे को आग या सड़क पर चलते वाहन के खतरे से बचा लेना उस किसी भी वयस्क व्यक्ति का, जो बच्चे को बचाने की स्थिति में है, कर्त्तव्य समझा जायेगा; इस कर्त्तव्य को बाध्यता का रूप नहीं दिया जा सकता। कर्त्तव्य-क्षेत्र में बाध्यताओं का निर्देश करना सरकार और कानून का कार्य समझा जाता है; कुछ बाध्यताएँ व्यक्ति पर समाज द्वारा आरोपित होती हैं। किंतु कुछ भले लोग कानून और समाज दोनों की परिधि से परे जाकर दूसरों का हितसाधन करते हैं। वास्तव में कानून जिन बाध्यताओं को नागरिकों पर लागू करता है, वे न्यूनतम नैतिकता की वाहक होती हैं। लोक में नैतिकता की दृष्टि से उच्चतर लोग वे हैं जो कानून और समाज की माँगों से आगे जाकर दूसरों का हित-साधन करते हैं। इसीलिए कहा जाता है कि नैतिकता का दायरा कानून से कहीं अधिक बड़ा है। मार्क्सवाद के अनुसार (अधिकांश) कानून प्राय: उच्च वर्गों के हित में बनाया जाता है, मुख्यत: अमीरों की निजी संपत्ति को सुरक्षित बनाने के लिए। फलत: कभी-कभी कानून निम्न वर्गों के स्वार्थों का विरोधी, उनके लिए अहितकर भी हो जाता है। इसका एक निहित अभिप्राय यह है कि नैतिकता की उच्चतर माँगों की रोशनी में समय-विशेष के प्रचलित कानून की आलोचना और उसमें परिवर्तन भी किया जा सकता है। इधर के मनोविज्ञान ने यह अन्वेषण किया है कि व्यक्ति विशेष में अपराधवृत्ति के विकसित होने और उसके द्वारा अपराध-कर्म किये जाने की जिम्मेदार बहुत कुछ उसके पालन-पोषण और जीवनयापन की परिस्थितियाँ भी होती हैं। कई तरह के अपराध करने की प्रवृत्ति आर्थिक तथा दूसरी तरह के अभावों जैसे बच्चे का माता या पिता के प्यार से वंचित होना आदि में पनपती है; इसके लिए केवल व्यक्ति को दंडित करना उचित और पर्याप्त नहीं है। वैसी वृत्तियों के प्रसार को रोकने के लिए गरीबी का उन्मूलन, सबके लिए उपयोगी काम पाने की सुविधा आदि के रूप में समाज-व्यवस्था का सुधार भी नितांत आवश्यक है। इस प्रकार देखा जा सकता है कि युग-विशेष की नैतिक चेतना किस प्रकार मौजूदा कानून की पर्यालोचना और उसमें परिवर्तन की माँग कर सकती है। कुल मिलाकर जनतांत्रिक व्यवस्था में बनाये जानेवाले कानून क्रमश: अपराधी के प्रति अधिक उदार होते गये हैं। यहाँ प्रसंगवश हमने यह भी देखा कि किस प्रकार ज्ञान-विज्ञान (विशेषत: मनोविज्ञान) की प्रगति कानून-व्यवस्था को प्रभावित कर सकती है। वास्तव में अपराधी व्यक्ति अपने दुष्ट कर्मों के लिए कहाँ तक स्वयं जिम्मेदार होता है और कहाँ तक परिस्थितियों का शिकार, यह एक नाजुक सवाल है जिसका संबंध इस बड़े प्रश्न से है कि कोई भी कर्त्ता कर्म करने में कहाँ तक स्वतंत्र होता है।

अब तक हमने नैतिकता के दो सिद्धांत-सूत्रों का निरूपण किया। एक के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने सचेत भाव से किये कर्म का उपयुक्त एवज, दंड या पुरस्कार मिलना चाहिए; दूसरे के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को समाज-व्यवस्था के अंतर्गत दूसरों के प्रति आवश्यक कर्त्तव्य का निर्वाह करना

चाहिए। अपने देश में धर्म के प्राणतत्त्व के रूप में अहिंसा का उपदेश दिया गया था। महाभारत के शब्दों में अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए धर्म का उपदेश किया गया है :

अहिंसार्थ हि भूतानां धर्म प्रवचनं कृतम्।

बात यह है कि जिन मूल्यों के लिए जिया जाता है, उनकी संप्राप्ति और उपभोग जीवित प्राणियों के लिए और उनके द्वारा होता है। इस प्रकार जीवन स्वयं में महत्त्वपूर्ण मूल्य बन जाता है। दुनिया के सारे सुख-भोग जीवित प्राणी के लिए होते हैं। पशु-पक्षी भी सुख-दु:ख का अनुभव करते हैं। उनकी हत्या करने का अर्थ है उनके द्वारा अनुभव किये जानेवाले सुखों की संभावना का विनाश। यहाँ के धर्म-शिक्षकों ने इसीलिए प्राणी-मात्र की हिंसा का निषेध किया। किंतु हमारी राय में तब प्राणियों की हिंसा समान अपराध या पाप का कारण नहीं बनती। जिस प्राणी की चेतना अर्थात् सुख-दु:ख के अनुभव की क्षमता जितनी ही अधिक है, उसका जीवन उतना ही अधिक मूल्यों से संबद्ध है। इस तर्क से सबसे कम बुराई मच्छर, खटमल आदि ऐसे जीवों के विनाश में है जो बहुत-थोड़ी सुख-दु:ख की संवेदना रखते हैं; वैसे ही जो मनुष्य समाज या मानवता का जितना ही अधिक उपकार करने की क्षमता रखता है, उसकी हत्या उतना ही बड़ा अपराध है। इसलिए एक हत्यारे, डाकू और किसी परोपकारी संत अथवा उच्चकोटि के विचारक या लेखक की हत्या बराबर अपराध नहीं हैं।

मनु जैसे धर्म-शिक्षकों ने अनेक सद्‌गुणों की चर्चा की है। एक श्लोक में धैर्य, क्षमा, मन और इन्द्रियों को नियंत्रण में रखना, चोरी न करना, स्वच्छता, विद्या और बुद्धि को बढ़ाने का प्रयत्न, सत्य और अक्रोध ये धर्म के दस लक्षण बताये गये हैं। मनु ने इन सद्‌गुणों के संपादन की सिफारिश करते हुए उन्हें किसी तारतम्य-मूलक क्रम में नहीं रखा है। स्पष्ट ही उक्त सद्‌गुणों में कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, कुछ कम; कुछ का संबंध व्यक्ति के निजी जीवन से अधिक है जैसे स्वच्छता और धैर्य तथा मन-इन्द्रियों का निग्रह और विद्या-बुद्धि का संपादन। इसके विपरीत अक्रोध, क्षमा और सत्य का संबंध दूसरों को प्रभावित करनेवाले व्यवहार से अधिक है। यों व्यक्तिपरक और समाजपरक सद्‌गुणों में आत्यंतिक भेद करना कठिन है। क्रोध स्वयं क्रोधी व्यक्ति को भी जलाता है और क्रोध के पात्र के कष्ट का कारण भी बन सकता है। वैसे ही हमारा अज्ञान कहीं न कहीं सामाजिक जीवन पर कुप्रभाव डालता है। एक धर्मांध व्यक्ति ने स्वामी श्रद्धानंद की और दूसरे ने महात्मा गांधी की हत्या की। अपने विचार में दोनों ने अपने-अपने धर्म (इस्लाम और हिंदू धर्म) का हित साधन किया, पर समझदार लोगों की दृष्टि में वे दोनों व्यक्ति अविवेक के शिकार थे। इस प्रकार ज्ञान अथवा समझ और नैतिक जीवन में संबंध देखा जा सकता है। विचार करने पर जान पड़ेगा कि क्षमा और अक्रोध भी निरपवाद रूप में सद्‌गुण नहीं हैं; अन्यायी पर क्रोध और अत्याचारी को क्षमा न करके दंड देना उचित कर्म कहे जायेंगे। वैसे ही कुछ स्थितियों में सत्य बोलना पाप भी हो सकता है-जैसे अपने शिकार का पीछा करते हुए किसी कसाई या डाकू को सही रास्ता बता देना, अथवा देश के शत्रु को अपनी सरकार से संबंधित गुप्त सूचनाएँ देना।

निष्कर्ष यह कि नैतिक चिंतन की दृष्टि से सद्‌गुणों का उल्लेख काफी नहीं है। ज्यादा महत्त्व उन मूल सिद्धांतों के स्पष्टीकरण का है जिनसे सद्‌गुणों का आपेक्षिक महत्त्व और उनके व्यावहारिक अनुवाद की सीमाएँ देखी जा सकें। कानून की नजर में किसी भी व्यक्ति की हत्या अपराध है, पर नैतिकता की दृष्टि से एक गलत किस्म के व्यक्ति, नेता या शासक को भी मार देना निश्चित अपराध नहीं है। कई बार कुछ सैनिक अफसरों द्वारा हिटलर की हत्या का प्रयत्न किया गया था; यदि वह प्रयत्न दूसरे महायुद्ध के पहले या उसके शुरू वर्षों में सफल हो गया होता तो लाखों यूरोपीय सिपाहियों और नागरिकों की जानें बच जातीं। राजनीतिक दृष्टि से हम उस शासन-व्यवस्था और उस अंतर्राष्ट्रीय स्थिति को अच्छा कहेंगे जिसमें अधिकतम लोगों को जीविका के साधन उपलब्ध हों और उच्चतर मूल्यों के संधान

की आजादी तथा सुविधाएँ हों। जिसे हम तानाशाही शासन कहते हैं, फिर चाहे वह शासन हिटलर अथवा मुसोलिनी जैसे एक व्यक्ति का हो या एक पार्टी अथवा दल का, उसमें शासकों की ओर से जन-जीवन पर पूरा नियंत्रण रखने की कोशिश की जाती है। शासक लोग अपने को सर्वज्ञ जैसा मानकर चलते हैं और अपने विरोध में कुछ भी सुनना पसंद नहीं करते; वे बड़े से बड़े लेखक या विचारक की जबान पर ताला लगा देना चाहते हैं। यही कारण है कि हिटलर के जर्मनी से आइंस्टाइन जैसे अनेक वैज्ञानिक और टामसमान जैसे कथाकार-लेखक स्वदेश छोड़कर बाहर चले गये। वैसी ही तानाशाही रूस में भी पनपती रही। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि ब्रिटेन और अमेरिका जैसे देश जहाँ अपनी-अपनी सीमाओं में जनतंत्र की रक्षा करते हैं, वहाँ इसकी परवाह नहीं करते कि उनसे संबंधित दूसरे देशों में क्या हो रहा है। ब्रिटेन के काफी अच्छे जनतंत्र ने अरसे तक भारतवासियों को जनतांत्रिक अधिकारों से वंचित रखा और स्वतंत्रता-सेनानियों पर घोर अत्याचार किये; वैसे ही अमेरिका पाकिस्तान में और अन्यत्र भी बराबर जनतंत्र-विरोधी शासन और शक्तियों की मदद करता रहा।

अंत में हम नैतिक जीवन के उच्चतर रूपों या आयामों का किंचित् निर्देश करेंगे। प्रत्येक मूल्य के क्षेत्र में उत्कर्ष के स्तर या दर्जे होते हैं। शरीर और शील संबंधी सौंदर्य की दृष्टि से कुछ लोग अधिक सुंदर दिखायी पड़ते हैं, कुछ कम। तुलसीदास के राम शील और सौंदर्य दोनों में अप्रतिम हैं; यों वे शक्तिशाली भी चित्रित किये गये हैं। नैतिक उत्कर्ष में तारतम्य के निर्णय का प्रश्न विभिन्न लोगों के पारस्परिक व्यवहार से जुड़ा रहता है। अपने प्रयत्न और कर्म के अनुसार व्यक्ति के लिए कुछ पाने की योग्यता या प्राप्यता की स्थिति बनती है; यह प्राप्यता पुरस्कार और दंड दोनों रूप धारण कर सकती है। यदि मुझसे किसी को कुछ मिलना चाहिए, तो मेरे द्वारा उस कुछ का दिया जाना (मजदूरी, ऋण-शोधन, कृतज्ञता-ज्ञापन आदि के रूप में) नैतिक दृष्टि से भला कर्म कहा जायेगा; इसके विपरीत यदि मैं किसी को उसका प्राप्य नहीं देता तो मैं दोषी बनता हूँ। संक्षेप में नैतिकता का यह सामान्य और व्यापक रूप है। किसी दफ्तर में पहुँचकर मैं आशा करता हूँ कि वहाँ के बाबू लोग और अफसर मेरी उचित जरूरत या कठिनाई पर ध्यान देंगे और उसके अनुरूप कार्यवाही करेंगे। यदि वे ऐसा नहीं करते या करने के लिए घूस माँगते हैं, तो वे नैतिक अपराध के दोषी होते हैं। यहाँ यह देखा जा सकता है कि सब ओर से नैतिक औचित्य का पालन समाज की स्वास्थकर स्थिति और जीवन-यात्रा के लिए नितांत आवश्यक है। जिस समाज या देश में लोग, विशेषत: अधिकारी लोग, अपने-अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह नहीं करते-जैसी कि इस समय हमारे देश में हालत है-वहाँ जनजीवन में तरह-तरह के कष्ट और अशांति छायी रहती है।

ऊपर हमने कर्त्तव्य-पालन के आवश्यक सामान्य रूपों का विवरण दिया। नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठतर व्यक्ति उसे कहेंगे जो दूसरों को, अपनी ओर से, उनके प्राप्य से अधिक देने की कोशिश करे। ऐसे व्यक्तियों को हम सज्जन, परोपकारी जैसे विशेषणों से विभूषित करते हैं। थोड़ी-बहुत सज्जनता और दूसरों की मदद करने की प्रवृत्ति प्राय: सभी में होती है, किंतु कुछ लोग स्वयं कष्ट या असुविधा उठाकर भी दूसरों की सहायता करते हैं। इस दृष्टि से सबसे उच्च कोटि का व्यक्ति संत पुरुष होता है। भारतीय अवधारणा में संत व्यक्ति वह है, जिसने धन, पद यहाँ तक कि मान-सम्मान आदि की एषणाओं को भी छोड़ दिया या जीत लिया है; ऐसा व्यक्ति स्वभावत: प्राणी-मात्र का मित्र और सबका हितैषी होता है। अमेरिकी विचारक विलियम जेम्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'वैरायटीज ऑफ रेलीजस एक्सपीरियेंस' में एक जगह संत चरित्र का विवरण देते हुए कहा है कि जब आपको मदद की जरूरत हो तो आप अपने संबंधियों और मित्रों की अपेक्षा किसी संत व्यक्ति के पास सहायता पाने का अधिक विश्वास लेकर जा सकते हैं। तात्पर्य यह है कि जहाँ मित्र और संबंधी मदद से इन्कार कर दें, वहाँ संत पुरुष पर निश्चित ही

निर्भर किया जा सकता है। कहा जा सकता है कि संत चरित्र में नैतिक उत्कर्ष की पराकाष्ठा होती है। साधारणतया लोगों में भलाई का बदला देने और उसके लिए कृतज्ञ होने की वृत्ति भी होती है; जिनमें ये विशेषताएँ नहीं होतीं वे नैतिक दृष्टि से घटिया लोग होते हैं, भले ही दुनिया की नजरों में वे उच्च पदों पर आसीन हों। ऐसे लोग स्वार्थ के लिए निकटता और दोस्ती बढ़ाते हैं और अपना काम बन जाने पर आँख फेर लेते हैं। नैतिक दृष्टि से ऐसे लोग अच्छाई के निम्न बिंदु पर स्थित होते हैं, और संत पुरुष उच्चतम बिंदु पर। अधम लोग वे हैं, जो भलाई का बदला बुराई से देते हैं अथवा अकारण ही किसी को हानि पहुँचाते हैं। नैतिकता की उच्चतम भूमि अकारण परहित-साधन की प्रवृत्ति है।

यहाँ जिसे हमने संत चरित्र कहा, उसमें दो कोटियाँ देखी जा सकती हैं। दूसरों का हित करने के दो रूप हैं : एक अपनी समस्या लेकर आये हुए व्यक्ति की यथासंभव सहायता करना, ऐसी समस्या जो सहायक व्यक्ति द्वारा समय या धन के दान द्वारा हल की जा सकती है। दूसरा रूप होता है पीड़ित व्यक्ति के कष्ट-निवारण के लिए, ऐसे व्यक्ति के जो किसी शक्तिशाली पुरुष के अन्याय का शिकार है, छोटे-बड़े संघर्ष में लिप्त होना। दूसरी कोटि के परोपकारी पुरुष लौकिक नेता भी हो सकते हैं और कर्मयोगी संत भी। इधर के हमारे इतिहास में जवाहरलाल नेहरू और महात्मा गांधी उक्त दो कोटियों के नेता थे। इन दो में प्राय: संत कोटि का व्यक्ति जहाँ पद, यश आदि के लोभ से पूर्णतया मुक्त होता है, वहाँ लौकिक नेता उच्चतर कोटि के निजी स्वार्थों से वैसा मुक्त नहीं होता। संभवत: उसमें और नहीं तो जनता द्वारा प्रशंसित होने या मान्यता पाने की प्रच्छन्न कामना रहती है। जनता की रक्षा में तत्पर और उसके लिए जोखिम उठानेवाला नेता या शासक वीर पुरुष कहलाता है, जबकि उच्च कोटि के कर्मयोगी संत और शिक्षक पैगम्बर या महापुरुष कहलाते हैं। महात्मा बुद्ध, ईसा मसीह और महात्मा गांधी इस कोटि के महापुरुष हैं। ऐसे महामानव और महात्मा जीवन में कभी किसी निजी स्वार्थ से प्रेरित दिखायी नहीं पड़ते; वे केवल मानव जाति के कष्ट-निवारण या कल्याण-कामना से कर्म में प्रवृत्त होते दीख पड़ते हैं।

सारांश यह कि जहाँ जनसाधारण की नैतिकता पारस्परिक व्यवहार में लेन-देन के उचित सामंजस्य में निहित रहती है और इस प्रकार अपेक्षित कर्त्तव्यों के पालन में चरितार्थ होती है, वहाँ नैतिक उत्कर्ष का स्तर परहित-साधन की प्रवृत्ति की शक्ति और उससे नि:सृत कर्मों में न्यूनाधिक व्यापक परिणामों से निर्धारित होती है।

यहाँ नीति-दर्शन के संदर्भ में उठनेवाले दो बड़े प्रश्नों का उल्लेख जरूरी है। पहला प्रश्न कर्त्ता की स्वतंत्रता का है जिसका जिक्र पीछे आ चुका है। उस जटिल प्रश्न या समस्या पर सम्यक् विचारणा स्वतंत्र रूप में किये जाने की अपेक्षा रखती है। दूसरा प्रश्न परोपकार वृत्ति के बौद्धिक मंडन का है। ऊपर कहा गया है कि नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ या उच्च श्रेणी का व्यक्ति वह होता है जो दूसरों को प्राप्य से अधिक देता है, अथवा बिना किसी स्वार्थ के, बिना किसी तरह का हिसाब लगाये, अभावग्रस्त या जरूरतमंद जनों का हित-साधन और अन्याय-पीड़ितों की मदद करता है। प्रश्न यह है कि कोई व्यक्ति निजी स्वार्थों को भूलकर दूसरों के हित-साधन या सहायता में क्यों अपनी शक्ति, समय आदि का व्यय करे? महाकवि तुलसीदास ने लिखा है, 'परहित सरिस धरम नहि भाई परपीड़ा सम नहि अधमाई।' उक्त प्रश्न के अलावा दूसरा प्रश्न भी पूछा जा सकता है, अपने स्वार्थ के लिए हम दूसरे का अहित क्यों न करें? इसके उत्तर में पुराने लोग ईश्वर तथा स्वर्ग-नरक की दुहाई देते हैं। किंतु आज का आदमी खुले नहीं तो प्रच्छन्न रूप में स्वर्ग-नरक में विश्वास नहीं रखता; कतिपय महत्त्वपूर्ण विचारकों और उनके समर्थक बुद्धिजीवियों को- उनमें कार्ल मार्क्स और बर्ट्रेंड रसेल जैसे विश्व हितैषी विचारकों और उनके प्रशंसकों को गिना जा सकता है- ईश्वर का अस्तित्त्व अनिश्चित लगने लगा है। बुद्ध जैसे महान धर्म शिक्षक ईश्वर में विश्वास नहीं रखते थे, जिसका मतलब है ईश्वर में आस्था धार्मिक-आध्यात्मिक जीवन का आवश्यक अंग नहीं

है। ज्ञातव्य है कि स्वदेश के जवाहरलाल नेहरू और आचार्य नरेंद्रदेव जैसे जनता के शुभचिंतक नेता सामान्य जनों के ईश्वर को स्वीकार नहीं कर पाते थे। हिंदुओं के छह प्रसिद्ध दर्शनों में से तीन अर्थात् सांख्य दर्शन, मीमांसा और योग दर्शन भी सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को स्वीकार नहीं करते। इनमें केवल योग दर्शन नित्य मुक्त पुरुष के रूप में ईश्वर को मानता है, पर योग का ईश्वर भी जगत् का रचयिता नहीं है। वैसे ही जैन दर्शन सृष्टिकर्त्ता और कर्म-फल दाता ईश्वर की स्वीकृति जरूरी नहीं समझता। इसके अलावा एक और बात ध्यान देने की है। जो आदमी ईश्वर, नरक या शासन (पुलिस) के भय से अपराध कर्म से बचता है, उसे वास्तव में धार्मिक या नीतिपरायण नहीं कहा जा सकता। सही अर्थ में धार्मिक अथवा नीतिपरायण व्यक्ति वह है, जो अपनी सद्बुद्धि या विवेक-बुद्धि की प्रेरणा से नैतिक-धार्मिक कर्मों में प्रवृत्त होता है। तात्पर्य यह है कि तर्कबुद्धि की भाँति नैतिक चेतना (नैतिक औचित्य-बुद्धि) भी मानव प्रकृति की अंतरंग गठन का हिस्सा है, बाहर से लादी गयी कृत्रिम मनोवृत्ति नहीं।

यदि हम स्वर्ग नरक को छोड़ दें, तो उचित तथा ज्यादा भले काम करने की प्रेरणा का हेतु यहीं के, अर्थात् धरती के, जीवन में खोजना होगा। ऊपर उठाए प्रश्नों के हल के लिए हम यहाँ एक और सवाल उठायेंगे : हम अपने रहन-सहन और व्यवहार में स्वच्छता, सुघड़ता, सौष्ठव और मधुरता का संधान क्यों करें? उक्त चीजों के बदले हम गंदगी, कुरूपता और रुक्षता को तरजीह क्यों न दें? संभवत: इस प्रश्न के उत्तर में कहा जायेगा कि स्वच्छता और सौष्ठव तथा व्यक्तित्व की मधुरता अपने में साध्य हैं, वे किसी दूसरे साध्य के साधन मात्र नहीं हैं। रहन-सहन की स्वच्छता केवल स्वास्थ्य के लिए नहीं होती है, वह स्वयं में भी साध्य प्रतीत होती है। जिसे हम नैतिकता कहते हैं, वह भी स्वयं में साध्य मूल्य है; स्वच्छता और सौष्ठव की भाँति वह संभवत: हमारे स्वभाव की आवश्यक माँग है। ऐसी माँगों को ठुकराते हुए हम स्वयं अपनी नजर में हीन बन जाते हैं।

वास्तव में, एक सर्जनशील प्राणी होने के नाते मनुष्य साधारणतया अपनी समस्याओं को अपने परिश्रम और बुद्धि से हल करके संतोष और प्रसन्नता का अनुभव करता है। यह संतोष और प्रसन्नता उस व्यक्ति को नसीब नहीं होती जिसे अपनी समस्याएँ हल करने के लिए कम या अधिक दूसरों पर निर्भर करना पड़ता है। यों तो सामाजिक जीवन में हम सब एक दूसरे के अपेक्षी होते हैं किंतु इस प्रकार की सापेक्षता स्वयं समाज-व्यवस्था में अनुस्यूत या निहित रहती है। यद्यपि अपने देश में इस समय दफ्तरों के बाबू और अधिकारी भी अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करके जनता को कष्ट पहुँचाते हैं। किंतु सामान्य समाज-व्यवस्था में हमें वैसी निर्भरता का कटु अनुभव नहीं होना चाहिए। वैसी व्यवस्था में आत्मनिर्भर न होना किसी को प्रिय नहीं लगता। यदि अपनी बुद्धि और साधन-संपन्नता की कमी से किसी व्यक्ति को दूसरों की खुशामद करना और उन पर निर्भर होना पड़ता है, तो उसे अपनी स्थिति से क्षोभ होता है। ऐसा व्यक्ति यदि अनैतिक कार्य करता है और फिर ग्लानि का अनुभव नहीं करता, तो हम कहेंगे कि वह घटिया किस्म का आदमी है। नैतिक दृष्टि से घटिया व्यक्ति वह है जो अपनी समस्याओं का हल सही, न्यायोचित तरीकों से नहीं कर पाता। नैतिकता के प्रसंग में जो व्यक्ति अपनी बुद्धि और साधन-संपन्नता द्वारा अपनी ही नहीं, दूसरों की समस्याओं के समाधान में भी सहायक हो पाता है, वह अपनी सहायशीलता के अनुपात में श्रेष्ठ व्यक्ति कहलाता है। इस प्रकार नैतिक श्रेष्ठता इसकी द्योतक होती है कि व्यक्ति विशेष में बुद्धि अथवा सर्जनशील प्रतिभा या क्षमताओं का अतिरेक है।

सर्जनशीलता का अतिरेक जो व्यक्तित्व को उत्कर्ष प्रदान करता है, अपने को विविध रूपों में प्रकट करता है। कर्मठ, उदार मनोवृत्तिवाले व्यक्ति के जीवन में वह पर-हित-साधन के अथवा दूसरों के प्रति होनेवाले अन्याय के प्रतिरोध में प्रकट होता है; सौंदर्य के क्षेत्र में वह कलासृष्टि के छोटे-बड़े प्रयत्नों

में चरितार्थ होता है। इस स्थिति को लक्ष्य करके ही कविवर रवींद्रनाथ ने मनुष्य की इस अतिरिक्त ऊर्जा को जो सर्जनात्मक प्रयत्नों में अभिव्यक्ति पाती है, 'सरप्लस इन मैन' अर्थात् जीवन-संघर्ष के बाद शेष रह जानेवाली अतिरिक्त सर्जन-क्षमता नाम दिया है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि सर्जनशीलता सदैव केवल उन्हीं मूल्यों के निर्माण में व्यापृत होती है, जो सबके लिए हितकर हैं। कर्मठ और सर्जनशील व्यक्ति स्वार्थ-परायण भी हो सकता है और अपने कृत्यों से दुनिया का अहित भी कर सकता है। वैसे कुछ व्यक्तियों के कर्म जहाँ कुछ क्षेत्रों में राष्ट्र या समाज को हानि पहुँचाते हैं, वहाँ अन्यत्र उनका हित-साधन भी करते हैं। सिकंदर, सीजर और नेपोलियन जैसे वीर सेनानी तथा स्तालिन जैसे बड़े नेताओं के जीवन हमारे उक्त वक्तव्य का समर्थन करते हैं। नेपोलियन ने जहाँ एक ओर, अपने योद्धा जीवन के प्रारंभ में. फ्रांस के जनतंत्र को बल दिया और रूस में और बाद में जर्मनी में परास्त होने के बाद उसे धन-जन और अंतर्राष्ट्रीय स्थिति इन सभी दृष्टियों से हानि पहुँचायी। वैसे ही स्तालिन ने जहाँ अनेक निर्दोष साथी नेताओं की हत्याएँ करायीं और डेढ़-दो करोड़ कृषकों की जमीनें छीनकर उन्हें बेघर मजदूरों की श्रेणी में पहुँचाया, वहाँ दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान हिटलर से सिद्धांत-विरोधी संधि करके रूस को क्रमश: दुनिया की दूसरी बड़ी शक्ति बना दिया। अपने सारे अपराधों के बावजूद भी यदि नेपोलियन और स्तालिन हमें महान दिखायी देते हैं तो इसलिए कि उनकी सर्जनशील प्रतिभा में बड़े-विशाल परिवर्तन लाने की क्षमता थी। दोनों में मुख्य कमी यह थी कि वे अपने-अपने देश की अपेक्षा निज के लिए शक्ति-संचय की विशेष चिंता करते थे। सर्जनशीलता का अतिरेक जहाँ एक ओर मानव व्यक्ति को बुद्धि मन पर छा जानेवाले तेज और दीप्ति से संयुक्त करता है वहाँ उसका गलत उपयोग व्यक्ति की मानवता और प्रियता-मानव साथियों की अपेक्षा में स्नेह देने और पाने की योग्यता को छीन करके उसके जीवन को रसहीन बना देता है। ध्यातव्य है कि स्तालिन के कठोर रवैये से दु:खी होकर उसकी पत्नी ने आत्महत्या कर ली थी। इसी प्रकार नेपोलियन की सम्राट बनने और अपना वंश चलाने की महत्त्वाकांक्षा ने उसे अपनी पहली पत्नी जोसेफीन को, जो उसे विशेष प्रिय थी, तलाक देने को प्रेरित किया।

निष्कर्ष यह कि सर्जनशीलता का और उसे आधार देनेवाली अतिरिक्त ऊर्जा का उपयोग सही और गलत नैतिक और अनैतिक दिशाओं में किया जा सकता है। उसका सही उपयोग समुचित जीवन-दर्शन और विवेक-बुद्धि की अपेक्षा करता है। यह बात व्यक्तियों और समाजों सब पर लागू होती है। नैतिकता या धर्म सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन की रीढ़ है। जनता के अधिकांश कष्टों का कारण राष्ट्रीय जीवन में न्याय-धर्म की अवहेलना या अनिश्चित स्थिति होती है। यह स्थिति हर क्षेत्र में योग्यता को उसके प्राप्य से वंचित रखनेवाली होती है। यदि कोई समाज-व्यवस्था समस्त नागरिकों को उपयुक्त योग्यता के संपादन का और उसके अनुरूप काम पाने का अवसर नहीं देती, तो वह नैतिक दृष्टि से संतोषप्रद होने का दावा नहीं कर सकती। यदि किसी नागरिक को जाति, धर्म अथवा भाई-भतीजावाद के कारण योग्यता-संपादन के अवसर और नौकरी आदि से वंचित रखा जाता है तो मानना चाहिए कि व्यवस्था में कहीं नैतिक गड़बड़ी है। वैसे ही नागरिकों के किसी वर्ग की गरीबी, ऐसी गरीबी जो परिवार के सदस्यों द्वारा शिक्षा आदि की प्राप्ति में बाधक होती है, समाज-व्यवस्था की नैतिक दुर्बलता की द्योतक कही जायेगी। जाहिर है कि सच्चे जनतंत्र की स्थापना के लिए नागरिकों के बीच धन-संपत्ति और सुविधाओं की दृष्टि से बड़े भेद नहीं होने चाहिए। वह जनतंत्र जिसमें विभिन्न वर्गों की आर्थिक स्थितियों में बड़े अंतर और अलंघनीय दूरियाँ होती हैं - जैसा कि पूंजीवादी देशों में पाया जाता है-सच्चा जनतंत्र नहीं कहला सकता। सच्चा जनतंत्र एक सीमा तक समाजवादी जनतंत्र ही हो सकता है। ऐसे जनतंत्र में किसी भी वर्ग के कर्मठ एवं प्रतिभाशाली सदस्य के लिए प्रगति के उच्चतर सोपानों तक पहुँचना असंभव या विशेष कठिन नहीं होना चाहिए।

हमने कहा था कि नैतिकता सामाजिक जीवन की अर्थात् समाज-शरीर की रीढ़ है। इसी को मन में रखकर महाभारत के भीष्म पितामह ने कहा : 'मैं बांह उठाकर उच्च स्वर में कह रहा हूँ कि धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति संभव है, इसलिए धर्म का सेवन करो;' कष्ट का विषय है कि कोई मेरी बात नहीं सुनता। अन्याय एवं स्वार्थपरता के व्यवहार से कभी-कभी कुछ व्यक्तियों को लाभ हो सकता है, किंतु पूरे समाज की प्रगति और समृद्धि के लिए न्याय-नीति की व्यवस्था अनिवार्य आवश्यकता है।

हमारे विमर्शों का दूसरा निष्कर्ष यह है साधारणतया स्वार्थपूर्ण व्यवहार में वे लोग प्रवृत्त होते हैं जिनमें सर्जनात्मक योग्यता और साधन-संपन्नता की कमी होती है, जिस कमी के कारण वे अपनी समस्याओं का समाधान उचित और वैध तरीकों से नहीं कर पाते। ऐसे व्यक्ति प्राय: स्व केंद्रित और स्वार्थी भी बन जाते हैं। इसके विपरीत विकसित बुद्धि और समृद्ध सर्जनशीलता से संपन्न श्रेष्ठ पुरुष अपनी समस्याएँ हल करके और कभी-कभी उनकी उपेक्षा करके दूसरे लोगों की मदद कर पाता है। तात्पर्य यह कि नैतिक दृष्टि से हीन व्यक्ति प्राय: एक घटिया किस्म का मनुष्य होता है; जो व्यक्ति जितना ही श्रेष्ठ और वरेण्य होगा, वह उतना ही स्वार्थपरता से दूर और दूसरों को सरंक्षण तथा सहायता देने वाला दीख पड़ेगा।

●●●

मनुष्य एवं मानवजीवन : स्वरूप एवं नियति

औपनिषद् काल के ऋषियों तथा बाद के भारतीय दार्शनिकों के मत में दर्शन का लक्ष्य आत्मज्ञान था जैसा कि 'आत्मानं विद्धि', 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:' जैसे आदेश वाक्यों या विधि वाक्यों से प्रकट है। जिन्हें हम वेदांत संज्ञा देते हैं, उन दर्शनों का मुख्य प्रतिपाद्य ब्रह्म एवं आत्मा और उनका द्वैत-अद्वैत परक संबंध है; उक्त ज्ञान से संबंधित या उसका फलभूत दूसरा प्रमुख प्रतिपाद्य मोक्ष तत्त्व है जो मानव-जीवन के चरम ध्येय अथवा परम पुरुषार्थ का वाचक शब्द है। न्याय-वैशेषिक तथा सांख्य में भूतजगत् के विधायक तत्त्वों आदि का भी विवेचन है। किंतु आत्मज्ञान एवं मोक्षविचार वहाँ भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। यह भी ध्यातव्य है कि वेदांत कहे जानेवाले दर्शन के निकायों में सर्वप्रधान अद्वैत वेदांत के अंतर्गत आत्मेतर पदार्थों, सृष्टि की उत्पत्ति तथा विलय आदि का अनुचिंतन महत्त्वपूर्ण नहीं है, इसलिए भी कि अद्वैतमत में भूतजगत् या विश्वप्रपंच मायिक है, माया की सृष्टि, मिथ्या, अध्यास अथवा अविद्याग्रस्त जीव की कल्पना। दूसरे दार्शनिक निकाय जगत् को मिथ्या नहीं मानते फिर भी वे मानव जीवन के परमपुरुषार्थ के रूप में मोक्ष-संबंधी चिंतन को और मोक्ष के साधनों के विचार को अतिरिक्त महत्त्व देते हैं। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि बौद्ध दर्शन के विभिन्न संप्रदाय किसी स्थिर, नित्य या शाश्वत आत्मतत्त्व और ईश्वर को भी स्वीकार नहीं करते किंतु मोक्ष या निर्वाण के अनुचिंतन में उनकी भी गहरी रुचि है।

हम दर्शन का प्रमुख कार्य जीवन-मूल्यों का अनुचिंतन मानते हैं। आज के विचारक मानवीय विधाओं तथा दर्शन के प्रसंग में भी आत्मा व मोक्ष जैसे प्रत्ययों को बचाते हुए मनुष्य तथा मनुष्य जीवन की अवधारणाओं का आश्रय लेते हैं। संक्षेप में, आज हम यह कहना पसंद करेंगे कि दार्शनिक अनुशीलन का प्रमुख विषय मानव-जीवन है अर्थात् मानवता का जीवन। यह जीवन वर्तमान समय और युग तक ही सीमित नहीं है, वह अपने पूरे इतिहास में प्रतिफलित और प्रसारित है। इसमें कुछ संशोधन करते हुए मेरा यह अभिमत है कि दार्शनिक जिज्ञासा और विश्लेषण तथा व्याख्या का विषय मनुष्य का इतिहास क्रम में विकसित सांस्कृतिक जीवन, उसकी गति और दिशा है। मनुष्य का प्रमुख जिज्ञास्य आत्मा है और उसकी नियति; किंतु यह आत्मा तत्त्वविशेष न होकर मनुष्य का सांस्कृतिक आत्म है। इस आत्म का अस्तित्त्व भाषा आदि प्रतीकों में आश्रित है। किंतु संस्कृति शब्द का अर्थ भी उतना स्पष्ट नहीं है। नृ विज्ञान तथा समाजशास्त्र के अनुसार संस्कृति शब्द मनुष्य की समस्त विरासत का द्योतक है; इस विरासत के दो मुख्य अंग हैं -एक प्रत्ययात्मक बोध या ज्ञान जो निरन्तर वर्धित-संशोधित होता आया है और हमें भाषा, गणित, आदि के प्रतीकों के रूप में उपलब्ध है। इसी बोध-परंपरा का दूसरा महत्त्वपूर्ण अंग हमारा ललित साहित्य है। साहित्येतर कलाओं जैसे संगीत और चित्रकला की रचनात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम स्वर-ध्वनि एवं रंग-रेखा आदि भिन्न कोटि के प्रतीक हैं। वैसे ही गणितशास्त्र के और कुछ हद तक भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र जैसे शास्त्रों की भी रचनात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम अंक आदि प्रतीक हैं। मनुष्य का अवबोध और सर्जनात्मक विकास में विभिन्न प्रतीकों की

कितनी अहम भूमिका है, इसका विस्तृत उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ स्मरणीय है कि गणित नाम की विद्या का नाटकीय विकास संख्या को लिखने की भारतीय शैली को, जिसमें शून्य के लिए स्वतंत्र प्रतीक कल्पित किया गया था, अपनाने से संभव हुआ। प्रतीकों की उपादेयता का यह महत्त्वपूर्ण प्रमाण है।

हमने कहा कि हमारे द्वारा स्वीकृत दर्शन की परिभाषा आत्मा तथा मोक्ष जैसे प्रत्ययों के स्थान पर मानव जीवन और उसकी नियति के प्रश्नों को रखती एवं रेखांकित करती है। मनुष्य के स्वरूप का विचार करते हुए जहाँ कुछ विचारक आत्मा का उल्लेख आवश्यक समझते हैं, वहाँ दूसरे चिंतक जैसे बौद्ध दार्शनिक नित्य-शाश्वत आत्म तत्त्व की स्वीकृति को आवश्यक नहीं समझते। निश्चय ही आत्मा और उसकी अमरता का सिद्धांत हमारी मन-बुद्धि को आकर्षक जान पड़ता है, पर वह सुप्रमाणित नहीं है। यह भी ध्यातव्य है कि जहाँ स्वदेश के वेदानुगामी और जैन विचारक विश्व के क्षुद्रतम जीवों में आत्मा की उपस्थिति मानते हैं वहाँ ईसाई धर्म और इस्लाम में केवल मनुष्य में आत्मा की उपस्थिति स्वीकार की जाती है। उक्त दोनों धर्म पुनर्जन्म के सिद्धांत को भी स्वीकार नहीं करते। वे विगत जन्मों को नहीं मानते, और भावी जन्म परंपरा को भी स्वीकार नहीं करते। इसके बदले वे एक 'निर्णय दिवस' (Day of Judgement) की कल्पना करते हैं जब ईश्वर द्वारा (केवल) सचेत-मनुष्यों के भले-बुरे कर्मों का निर्णय किया जायेगा और मानव-आत्मा को उसके कर्म के अनुरूप पुरस्कार या दंड दिया जायेगा। सेमिटिक या सामी धर्मों की यह मान्यता बड़ी स्थूल जान पड़ती है। ऐसी ही स्थूल अवधारणा इस्लाम सम्मत जन्नत की है। स्मरणीय है कि कठोपनिषद् के नचिकेता ने इहलोक और स्वर्ग के सुखों के भी प्रलोभनों को ठुकराकर यम देवता या यमाचार्य से आत्मज्ञान की याचना की थी।

भारतीय धर्मों की एक विशेषता यह है कि वे मोक्ष को परिचित सुख-भोगों से समीकृत नहीं करते। आदि शंकराचार्य के अनुसार अद्वैत वेदांत जैसे मोक्षशास्त्र की जिज्ञासा का अधिकारी वह व्यक्ति है जिसे इहलोक तथा परलोक दोनों के सुख-भोगों के प्रति विरक्ति है। इसलिए कि सुखभोग अस्थायी व अनित्य है, जैसाकि नचिकेता ने यम द्वारा प्रस्तावित ऐश्वर्य आदि के वरों की उपेक्षा दर्शित करते हुए कहा। भारतीय दर्शन-सम्मत मोक्ष एक ऐसी स्थिति है जो आत्मा के लिए नित्य प्राप्ति या शाश्वत लाभ रूप है। इस तरह की प्राप्ति या लाभ का संबंध किसी बाहरी वस्तु के संयोग में निहित नहीं हो सकता, यह सांख्य और वेदांत दोनों का निश्चित विचार है। इसलिए उक्त दोनों दर्शन मोक्ष का अर्थ पुरुष या आत्मा द्वारा स्वरूप लाभ, अपने मूल शुद्ध-बुद्ध स्वरूप में स्थिति मानते हैं। ऐसा ही अभिमत जैनियों का भी है। महायानी बौद्धों के अनुसार भी जिस बुद्धत्व की प्राप्ति जीवन का लक्ष्य है वह मनुष्य का निजी स्वरूप है। बुद्धत्व नाम की परिणति स्वयं हमारे अस्तित्त्व में अंतर्निहित है। जिसे हम आध्यात्मिक साधना कहते हैं उसका लक्ष्य हमारे भीतर ही छिपे हुए बुद्धत्व को अनुभवगम्य बना देना है।

यहाँ सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और विचारणीय बात उक्त सारे भारतीय दर्शनों का जीवनमुक्ति का सिद्धांत है। इस सिद्धांत के अनुसार तथाकथित मुक्ति की अवस्था का अनुभव यहीं धरती के जीवन में किया जा सकता है। यह मंतव्य मुक्ति की प्राप्ति को विशुद्ध अनुमान एवं असमीक्षित विश्वास-भावना के क्षेत्र से हटाकर अनुभव या साक्षात्कार के दायरे में ले आता है। इस दृष्टि से वह मानववादी जीवन दर्शन के लिए गहरी प्रासंगिकता रखता है।'

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि कथित जीवमुक्ति के अनुभव का अभिप्राय और स्वरूप क्या है ? हम जीवनमुक्त साधक को किस तरह पहचान सकते हैं ? उसके चरित्र और व्यवहार की क्या विशेषताएँ होती हैं ? क्या जीवनमुक्ति नाम की दशा और उसमें स्थित व्यक्ति सब एक ही तरह

के आचरण-व्यवहार वाले होंगे या होने चाहिए, अथवा वे अनेकरूप भी हो सकते हैं ? हमारे देश में ज्ञानी ऋषि-मुनियों और संतों के बारे में कई धारणाएँ प्रचलित रही हैं। हम जानते हैं कि उपनिषद्काल के ऋषि ज्ञानवान गृहस्थ होते थे। इसके विपरीत बौद्ध भिक्षु और मध्ययुगीन संत गृहस्थी के झंझटों से अलग विहारों अथवा आश्रमों में रहते थे, या फिर दुनिया की नजरों से ओझल पर्वतीय खोहों में रहते तपसाधना करते थे। हमारे मध्ययुग के तुलसीदास, ज्ञानेश्वर, रैदास आदि भक्त कवि और संत, समाज के अंतर्गत साधारण स्त्री-पुरुषों के बीच विचरण तथा भजन-कीर्तन करते हुए विरक्त जीवन बिताते थे। द्रष्टव्य है कि हमारे अनेक मध्ययुगीन भक्तिमार्गी संत श्रेष्ठ कवि भी थे, वैसे ही जैसे उपनिषदों के गृहस्थ ऋषि उच्चकोटि के चिंतक और आध्यात्मिक साधक व शिक्षक थे। इस कोटि के साधकों, भक्तों और संतों को हम जीवनमुक्त संज्ञा से विभूषित कर सकते हैं। ज्ञातव्य है कि उपनिषद्कालीन ऋषियों के दार्शनिक उत्तराधिकारी, शंकर, रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ, चैतन्य महाप्रभु आदि विरक्त जीवन बिताते हुए भी महत्त्वपूर्ण शास्त्रों अथवा शास्त्रीय ग्रंथों के प्रणेता बने। इस विवरण से जाहिर है कि जीवनमुक्त कहलाने के अधिकारी महापुरुष अनेक श्रेणियों के हो सकते हैं। भगवान बुद्ध और महात्मा ईसा भी उक्त कोटि के विरक्त महापुरुष थे। उनमें से अधिकांश प्राय: किसी न किसी रूप में मानव-कल्याण की दिशा में कार्यरत रहे। महायान बौद्धदर्शन में बोधिसत्त्व की अवधारणा का विशेष स्थान है। निर्वाण में प्रविष्ट होने की योग्यता रखते हुए भी कथित बोधिसत्त्व, उस अभियान का अधिकारी महापुरुष, विश्व के पीड़ित प्राणियों को सुख-शांति का मार्ग दिखाने के लिए उनके बीच ही विचरना पसंद करता है।

मानववादी दृष्टि से जीवन के विभिन्न मूल्यों के बारे में विचार करते हुए हम मनुष्य के वास्तविक जीवन और इतिहास की उपेक्षा नहीं कर सकते। अपने लंबे सांस्कृतिक इतिहास में मानव जाति विभिन्न रूढ़ियों के उत्सर्जन या उत्पादन में संलग्न तरह -तरह के पुरुष-पुंगवों के प्रति आदरभाव का प्रदर्शन करती आयी है; इस प्रदर्शन के विविध रूपों और पात्रों के बारे में सोचते हुए ही हम मानव-जीवन के विभिन्न आदर्शों या आदर्श रूपों के संबंध में विश्वसनीय निर्णयों पर पहुँच सकते हैं।

यहाँ हम भारतीय दर्शनों के एक बहुश: उच्चरित व पल्लवित मंतव्य का उल्लेख करना चाहेंगे, यह मान्यता या विचार कि मानवजीवन मुख्यत: दु:खमय है। इसी से संबंधित यह मान्यता है कि दु:ख की स्थिति आवश्यक रूप में जन्म-मरण के चक्र से जुड़ी हुई है। तात्पर्य यह है कि धरती पर जन्म लेने और जीवन-यापन करने के व्यापार मूलत: दु:खमय हैं जिनसे छुटकारा पाने के लिए आध्यात्मिक साधना आवश्यक है, वह साधना जो हमें उक्त चक्र से जिसे बौद्ध दर्शन भवचक्र कहता है, छुटकारा दिलाती है। जैसाकि सब जानते हैं, भारतीय दर्शन के अनुसार मुक्ति होना है। जहाँ मोक्षावस्था के भावात्मक पक्ष की अनेक परिकल्पनाएँ हैं वहाँ उक्त निषेधपरक पक्ष के संबंध में लगभग सभी दार्शनिक निकाय एकमत हैं। दूसरी व्यापक सहमति इस मान्यता को लेकर रही है- विशेषत: जैन मत तथा हिंदू दर्शनों में- कि जिसे हम मोक्ष की स्थिति या परिणति कहते हैं वह नित्य और शाश्वत है। मुक्त जीव आनेवाले अनंतकाल तक मोक्ष सुख का उपभोग करता है; वह सुख स्वरूप लाभ स्वरूप में अवस्थिति अथवा ईश्वर या ब्रह्म की सार्वकालिक निकटता या उससे तादात्म्य में निहित होता है।

हमने ऊपर कहा था कि मानववादी होने के नाते हम जीवनमुक्ति के लक्ष्य को ही महत्त्व दे सकते हैं। उक्त लक्ष्य की वरणीयता अनुभवसिद्ध है, अतएव उसकी स्वीकृति के लिए पुनर्जन्म और आत्मा की अमरता के सिद्धांत को भी मानना जरूरी नहीं है। अगला जन्म हो तो उससे हमें परहेज नहीं, न हो तो भी कोई चिंता नहीं। हमारा सही अनुभवसिद्ध लक्ष्य यह होना चाहिए कि हम अपना सीमित धरती का जीवन सार्थक ढंग से जिएँ। स्मरण रहे कि हमारे मत में सार्थक जीवन का अर्थ किसी स्थूल अर्थ में सुखी

जीवन नहीं है। सुखी और सुतंष्ट जीवन भी सार्थक जीवन का पर्याय नहीं है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने इस तथ्य या सच्चाई को बड़े सटीक शब्दों में प्रकट किया है। वे कहते हैं, एक सुअर (जैसे प्राणी) के संतुष्ट जीवन की अपेक्षा एक मनुष्य का असंतुष्ट जीवन अधिक काम्य है; और एक मूर्ख व्यक्ति के संतुष्ट जीवन की अपेक्षा सुकरात जैसे (सतत जिज्ञासु) पुरुष का जीवन अधिक वरणीय है। तात्पर्य यह कि विभिन्न जीवन-सरणियों में केवल सुख-दुख की मात्रा का भेद ही नहीं होता, अनेकविध गुणात्मक भेद भी होते हैं जो ज्यादा अहम या महत्त्वपूर्ण हैं।

अपने विचारों को आगे बढ़ाने से पहले हम भारतीय दर्शन (या दर्शनों) की एक व्युत्प्रेक्षा या मान्यता का उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं; जैसा कि पहले संकेत किया गया, हमारे दार्शनिक प्राय: यह महसूस करते थे कि जीवन दु:खमय है। उदाहरण के लिए 'सांख्यकारिका' की पहली पंक्ति में तीन प्रकार के दु:खों का संकेत है जिनके हेतु की जिज्ञासा दार्शनिक चिंतन की अन्यतम प्रेरक है। सांख्य की दृष्टि में उक्त दु:खों से आत्यंतिक वियोग या छुटकारें को अपवर्ग नाम दिया गया है। इसी प्रकार बौद्ध धर्म और दर्शन में भी जीवन की दु:खमयता पर विशेष गौरव दिया गया। तात्पर्य यह कि उक्त निकायों के अनुसार दार्शनिक चिंतन की मूल प्रेरणा दु:ख की अनुभूति, उसके हेतु की जिज्ञासा, और उससे मुक्ति पाने की लालसा या ललक में है। इस तरह के विचारों को देखकर कुछ पश्चिमी प्रेक्षकों ने भारतीय दर्शन पर निराशावादी होने का अभियोग लगाया था। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि वैसा अभियोग लगानेवाले प्राय: यूरोपीय लेखक-विचारक थे जो औद्योगिक क्रांति द्वारा विशेषत: पश्चिमी जगत् में लायी गयी भौतिक समृद्धि की चकाचौंध में यह मानने लगे थे कि मानवीय सभ्यता आवश्यक रूप में - अर्थात् विश्व सृष्टि के आंतरिक विधान के तहत - प्रगतिशील थी। इस मान्यता के मूल में जहाँ एक ओर हेगेल का यह दर्शन था कि विश्वसृष्टि में निरंतर मूल चरम तत्त्व, जिसे उक्त दार्शनिक ने बुद्धितत्त्व (Reason) या Idea की संज्ञा दी थी, अपने को क्रमश: उच्चतर रूपों में व्यक्त या प्रकाशित कर रहा है, वहाँ दूसरी ओर डार्विन का विकासवाद का मंतव्य था जिसके अनुसार जीव जगत् में क्रमश: अधिक सक्षम, उच्चतर श्रेणी की जीव योनियों का विकास हो रहा है। स्मरणीय है कि विश्व प्रक्रिया की आवश्यक प्रगतिमानता की यह अवधारणा यूरोपीय संस्कृति के लिए भी नयी चीज थी, जिसका उदय विज्ञान और तकनीक की लगातार घटित होती प्रगति की छाया में हुआ। इसके पूर्व, जब यूरोपीय मनीषा पर ईसाई धर्म का प्रभाव हावी था, यूरोपीय सभ्यता का स्वर भी निराशावादी था। ईसाई धर्म मानता है कि मनुष्य शुरू से या जन्म से ही पापग्रस्त होता है-मूल पाप (Original Sin) से अनुलिप्त; प्रारंभिक ईसाई धर्म के अनुयायियों या प्रवक्ताओं में यह भावना भी थी कि दुनिया का अंत निकट है। यूरोपीय मस्तिष्क को उक्त निराशावाद से उबरकर प्रगति के विचार को स्वीकृति देने में काफी समय लगा।[१] किंतु ईसाई धर्म के बाद के प्रचारकों ने अपने धर्म के विस्तार की महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित होकर भारतीय धर्म और दर्शन के विरुद्ध दु:खवाद तथा निराशावाद का दोषारोपण किया।

प्रश्न है, क्या भारतीय दु:खवाद के मूल में जीवन-संबंधी किसी गहरी सचाई का साक्षात्कार है ? द्रष्टव्य है कि बीसवीं शती के आते-जाते, विशेषत: दो विश्वयुद्धों की विभीषिका, हिटलर जैसे तानाशाहों के उदय-उत्थान और अत्याचारों से परिचित होने के बाद आज पश्चिम में कोई ऐसा जिम्मेदार विचारक नहीं है जिसका सभ्यता और संस्कृति की आवश्यक, नियमबद्ध प्रगतिशीलता में आस्था और विश्वास हो।[३] उन्नीसवीं शती के अनेक समाजवादी विचारकों ने, जिनमें सेंट साइमन प्रूधां, रावर्ट ओवेन, फर्डीनेंड लसाल तथा सबसे ऊपर कार्ल मार्क्स के नाम मुख्य हैं, अनेक रूपों में समाज और सभ्यता के नवनिर्माण के सपने देखे। इन सबका यह विचार था कि अपनी धरती के जीवन को, वैज्ञानिक तकनीकों और वैज्ञानिक ज्ञान व बोध की मदद से, स्वर्ग जैसा बनाया जा सकता है। कार्ल

मार्क्स और उसके लेनिन जैसे अनुयायियों ने यह विश्वास पाला कि समाजवादी और उससे भी आगे बढ़कर साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना से मानव जीवन को पूर्ण स्वतंत्र या सुखमय बनाया जा सकता है। यही नहीं, उक्त विचारकों का यह भी विश्वास था कि कथित साम्यवादी व्यवस्था का आना व प्रतिष्ठित होना सुनिश्चित था - और शोषण पर आधारित तथाकथित पूंजीवादी व्यवस्था का विघटन और विनाश भी वैसा ही निश्चित सत्य था। कहना न होगा कि हमारे देखते-देखते, खासकर सोवियत संघ के व्यापक विघटन के बाद, उक्त विचारकों की वैचारिक इमारत आपातत: ध्वस्त हुई दिख पड़ रही है। स्पष्ट ही, ऐसे वातावरण में मानवीय सभ्यता की नियमबद्ध, निश्चित प्रगतिशीलता का विचार हास्यास्पद जान पड़ता है।

सच यह है कि मानव-जीवन में सुख-दु:ख दोनों की संभावनाएँ निहित हैं। मनुष्य की वैज्ञानिक तकनीकों पर आश्रित औद्योगिक प्रगति ने निश्चय ही जीवन के सुख-साधनों में, और अप्रिय श्रम से मुक्ति के साधनों में भी, अभूतपूर्व वृद्धि की है। किंतु उसके साथ ही मनुष्य की जरूरतें भी बढ़ी हैं और उसकी स्पर्धामूलक वृत्तियों को बढ़ावा भी मिला है। आज का मनुष्य जीवन स्तर को ऊँचा बनाने-रखने के मोहचक्र में पड़ा न केवल मानवोचित स्नेह संबंधों से दूर होता जा रहा है, वरन् सुख-संपत्ति के साधनों को जुटाने की चिंता और होड़ में जीवन के रस-उल्लास के इतर साधनों और रूपों को भूलता और उनकी उपेक्षा भी करता जा रहा है। बात यह है कि न विज्ञान व तकनीक और कोई दूसरी ऐसी ताकत और व्यवस्था है जो सब मनुष्यों के लिए सब-कुछ मुहैया करा सके।[8] जिन्हें हम उपभोग की वस्तुएँ कहते हैं, उनकी मात्रा हमेशा सीमित रही है और रहेगी। इसीलिए भी मनुष्यों, व्यक्तियों तथा व्यक्ति समूहों, विभिन्न वर्गों, राष्ट्रों आदि के बीच निरंतर स्पर्धामूलक संघर्ष की स्थिति रही है और रहेगी। आज यह मान्यता सर्वस्वीकृत हो चली है कि एक अच्छे राष्ट्र और शासन-व्यवस्था में प्रत्येक नागरिक को कतिपय मौलिक अधिकार, और उचित मात्रा में जीवन निर्वाह के साधन उपलब्ध होने चाहिए। किंतु इसके साथ ही यह द्रष्टव्य और विचारणीय बात है कि धरती पर हमारी जनसंख्या में बेहद वृद्धि हुई है जिससे सब प्रकार के सुख-साधनों की माँग अपेक्षित सीमाओं से आगे बढ़ गयी है। ऐसी स्थिति में योगदर्शन जैसे ग्रंथों की यह शिक्षा कि संतोष से अनुत्तम सुख मिलता है, पुन: आवश्यक और उपादेय दिख पड़ने लगी है।

ऊपर की लंबी भूमिका के बाद अपनी केन्द्रीय मान्यताओं की रोशनी में मानव जीवन की मूल जरूरतों एवं प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए उसकी अनेकविध समस्याओं का संभाव्य, समग्र समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे। जैसाकि हम संकेत करते आये हैं, मनुष्य के रुचि-रुझान और आवश्यकताएँ अनेकरूप हैं। जहाँ जीवन-स्थिति के लिए जरूरी वस्तु-सामग्री मुहैया कराना उसकी मजबूरी है, वहाँ दूसरी रुचि-वृत्तियों (Interests) के अनुरूप विविध मूल्य सत्त्वों का संधान और उसके लिए सर्जनात्मक वृत्तियों का पोषण-प्रोत्साहन उसकी गुणात्मक प्रगति की आवश्यक शर्त है। मानवीय जीवन-क्रिया की एक अनुभवगम्य, संवेदित विशेषता यह है कि उचित मात्रा में विश्राम पा लेने के बाद वह किसी-न-किसी दिशा में सर्जनशील होने को उन्मुख हो जाती है। सामान्यत: स्वस्थ शरीर एवं मनचित्त वाले व्यक्ति खाली रहना या बैठना पसंद नहीं करते, अपनी वय-बुद्धि एवं रुचियों के अनुरूप वे एक या दूसरे काम या मनोरंजन में संलग्न होना चाहते हैं। किसी भी तरह के मनोरंजन का अर्थ व लक्ष्य उबाऊ रुटीन अथवा एकरसता से मुक्ति पाकर नये, रोचक परिवेश के साक्षात्कार और उससे अभिप्रेरित जीने-महसूस करने के नये प्रकारों से परिचित होना, उनमें रमना-रस लेना होता है। अपने-अपने अनुभव, शिक्षा, अध्ययन-अनुशीलन के अनुसार विभिन्न स्त्री-पुरुष अलग-अलग कोटियों के प्रत्यक्ष अथवा प्रतीक-निर्मित परिवेशों में रुचि लेते-रमते मन -बुद्धि का रंजन करते हैं।

मनोरंजन के निरुपयोगी क्षेत्र के बाहर हमारे अर्थात् सचेत, बुद्धि-संपन्न मनुष्य के प्रयत्नों की दो दिशाएँ होती हैं। एक, प्रमुख और आवश्यक दिशा उन क्रिया-कलापों की है जिनके द्वारा हम जीविका के साधनों और सामाजिक मान-सम्मान के अर्जन व प्राप्ति की ओर बढ़ते हैं। उक्त कोटि के क्रिया-कलापों द्वारा प्राप्य, उनके साक्ष्यभूत मूल्यों या पदार्थों को हमने अन्यत्र प्रतियोगितापरक प्रेय पदार्थों (Goods) की संज्ञा दी है। जैसा कि हमने संकेत किया, उक्त श्रेणी की प्रेय वस्तुओं के लिए संघर्षरत होना और रहना हमारी मजबूरी है। 'रोटी, कपड़ा और मकान' के लिए अपनी संपूर्ण बुद्धि, संकल्प और कार्यक्षमता व ऊर्जा के साथ क्रियाशील होना व रहना मनुष्य की, जीवधारी होने के नाते, अनिवार्य नियति है। इस नियति से संबंधित कर्तव्य-कर्मों का निर्वाह प्राय: मिश्रित कोटि का होता है। हमारी सर्जनात्मक वृत्तियों को व्यापृत होने के अवसर देता हुआ कर्तव्य रूप कर्म-चक्र एक सीमा तक सुखकर भी होता है; किंतु अधिक दबाव डालते हुए, हमसे सामर्थ्य से अधिक परिश्रम की माँग करता हुआ उक्त, मुख्यत: सामाजिक अर्थात् समाज की अनेक अपेक्षाओं, और उसके मान-अपमान की कटु-कठोर शर्तों से संबंधित कर्म-चक्र कुल मिलाकर क्लान्तिकर तथा कष्टकारक सिद्ध होता है। हम संकेत कर रहे कि जीवन की दु:खमयता की व्यापक अनुभूति के पीछे जीविका तथा सामाजिक मान-सम्मान के अर्जन प्रयत्नों में निहित उक्त क्लान्ति-भावना का निश्चित स्थान और हाथ है। खेतों में, फैक्टरियों में और विभिन्न ऑफिसों या कार्य-स्थलों में जीने के साधनों को जुटाने में संलग्न मनुष्यों को लगातार परिश्रम करना पड़ता है। इस दृष्टि से कार्ल मार्क्स तथा अन्य समाजवादी विचारकों के आदर्शों के प्रोपेगेंडा-प्रचार के बाद विभिन्न वर्गों के श्रमिक समुदाय की स्थिति में कुछ सुधार हुआ है; ट्रैक्टर जैसे आविष्कार और नलकूपों तथा नहरों के निर्माण द्वारा किसानों को थोड़ी-बहुत राहत मिली है। पर इसके साथ ही निरंतर बढ़ती जीवन स्तर ऊँचा करने की आकांक्षा ने लोगों की व्यस्तता को दूसरे रूपों में बढ़ावा दिया है। इस दृष्टि से नगरवासियों की व्यस्तता व परेशानी बढ़ने का एक प्रमुख हेतु उनकी बढ़ती हुई महत्त्वाकांक्षायें हैं जो उन्हें राजनीति और शासन की संचालक शक्तियों से जुड़ने, और उनकी अनुकूलतर प्राप्त करने की दिशा में बढ़ने के लिए तरह-तरह के तरीके अपनाने को मजबूर करती हैं। स्वयं राजनीति और शासन से संबद्ध अफसर-अधिकारी भी, भाँति-भाँति के प्रलोभनों की मृगमरीचिका में पड़े, जहाँ एक ओर अपने निजी जीवन को उचित-अनुचित प्रयत्नों की पंरपरा बना लेते हैं, वहाँ दूसरी ओर अपने संपर्क में आनेवाले नागरिकों के शोषण-उत्पीड़न कर उपकरण भी बन जाते हैं।

ऊपर निर्देशित जीवन के संबंध में दो बातें खास तौर पर उल्लेखनीय हैं। जीवन-स्तर को ऊँचा करने की अंधाधुंध स्पर्धापरक कोशिश व संघर्ष में लगे महत्त्वाकांक्षी लोग प्राय: राज्य और समाज की वैधानिक सीमाओं का उल्लंघन करते हुए अन्याय व अनौचित्य से संहचरित अराजकता का वातावरण पैदा कर देते हैं, जो भले नागरिकों की शांतिभंग का हेतु बन जाता है। हमारी मान्यताओं के आलोक में अन्याय का मुख्य रूप है वर्गों व व्यक्तियों को उनके श्रम के उचित फल से वंचित करना या रखना। इस वंचन-क्रिया पर रोक लगाना शासन का विशिष्ट कार्य और कर्तव्य है। किंतु जब स्वयं शासन तंत्र में आपाधापी एवं लूट खसोट अथवा घूसखोरी का वातावरण बनने लगे तो सामाजिक नैतिकता की जड़ें हिलने लगती हैं, और क्रमश: ईमानदार परिश्रमशीलता का स्थान किस्म-किस्म की तिकड़मबाजी लेने लगती है, इस तिकड़मबाजी से कुछ समय के लिए कुछ व्यक्ति या वर्ग सफल या लाभान्वित होते दिख पड़ते हैं; किंतु इस सफलता की कीमत प्राय: उन भले, शांत स्वभाव वाले नागरिकों को चुकानी पड़ती है जो वैसे माहौल में अपने को फिट नहीं कर पाते और स्वभावत: सिद्धांतहीन या गैर नैतिक और झूठी-सच्ची निंदा-स्तुति व चापलूसी की व्यवहारसरणि अपनाना संभव नहीं पाते। ऐसे व्यक्ति इस बात को लेकर विस्मित और बेचैनी भी महसूस करते हैं कि सदियों से प्रशंसित और उपदेशित सच्चाई व

ईमानदारी का रास्ता सफलतादायक क्यों नहीं सिद्ध हो रहा है। इससे भी अधिक मोहभंग की स्थिति उन लोगों के मन-चित्त को आक्रांत करने लगती है जो अपने लाभ के लिए उल्टे-सीधे तरीके अपनाने के बावजूद अपेक्षित सफलता से वंचित रह जाते हैं। देखने की बात यह है कि उक्त कोटि के मोहभंग और निराशा की स्थिति पैदा होने का आवश्यक लगाव किसी खास देश, समाज या राज्य-व्यवस्था और युग से नहीं रहता या रहा है। वैसी स्थितियाँ प्राय: सभी तरह राज्य-व्यवस्थाओं, अधिकांश सभ्यताओं और युगों में कमोवेश पैदा होती रही हैं। हम कल्पना करते हैं कि मनुष्य के इतिहास में कभी सतयुग और रामराज्य की व्यवस्था रही होगी, पर इसके सुनिश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है। निश्चय ही वैसे युग और समय में भगवान बुद्ध और उनसे पूर्व महामुनि कपिल जैसे विचारक व शिक्षक अपने दार्शनिक उपदेशों का प्रारंभ जीवन की दु:खमयता के संकेत से नहीं करते। स्वयं भगवान राम के राज्य में, और उनसे पूर्व उनके पिता के शासनकाल में, ऐसी विमाताएँ थीं जो सौतेले बेटों के बनवास के लिए षड्यंत्र रच सकती थीं और ऐसे लक्ष्मण जैसे भाई थे जिन्हें भरत के चरित्र को लेकर पूरा-पूरा संदेह था। महाभारत के कौरवों का चरित्र तो सर्वविदित है। उन दिनों द्यूत-क्रीड़ा की कुत्सित प्रथा का कितना प्रचार था, यह युधिष्ठिर की दो बार की अपमानपूर्ण पराजय से जाहिर है; दुर्योधन की कुटिलता और नीचता भी जहाँ द्रोपदी के भयंकर अपमान के प्रयत्न से प्रमाणित है, वहाँ लाक्षागृह के निर्माण द्वारा पाण्डवों के विनाश के षड्यंत्र से भी कम जाहिर नहीं है।

प्रश्न है, क्या समाज और सभ्यता की वैसी जहमतों का एक मात्र प्रतिकार विरक्त जीवन और एकांत तपश्चर्या का मार्ग है ? महाभारत के भयंकर युद्ध के प्रारंभ और अंत में इस तरह के प्रश्न क्रमश: अर्जुन और युधिष्ठिर के मन में उठते दिखाये गये हैं और उनके समाधान के लिए भगवान कृष्ण तथा भीष्म पितामह जैसी महान प्रतिभाओं का अवलंब लिया गया है। यहाँ हम विशुद्ध मानववादी मान्यताओं की रोशनी में उक्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न या प्रश्नों का समाधान खोजने की कोशिश करेंगे।

ऊपर हमने देखा कि अपनी अस्तित्त्व-रक्षा और सफल जीवन-यात्रा के लिए अपेक्षित मूल्यों या मूल्य स्थितियों को देखने-पहचानने और उनकी प्राप्ति के लिए कमोवेश सर्जनात्मक ढंग से प्रतिक्रियाशील होने की प्रवृत्ति जीवमात्र में पायी जाती है; इस प्रवृत्ति का चरम विकास बुद्धिसंपन्न मनुष्य के क्रियाकलापों में दृष्टिगोचर होता है। प्राणधारी जीव होने के नाते ससम्मान जीने के उपकरणों को जुटाना है। फलत: उसकी सृजनशीलता का एक प्रमुख ध्येय अनेक रूप धारण करनेवाली धनसंपत्ति की उपलब्धि और संचय बन जाता है। किंतु सचेत और कल्पनाशील मनुष्य, अपने में निरंतर जागृत अर्थवती चेतना की माँग तथा समग्र देशकाल में प्रसारित होनेवाली कल्पनाशक्ति के आग्रह व दबाव से, उक्त उपलब्धि और संचय से भी स्थायी संतोष की स्थिति पाने में असमर्थ रहता है। सर्जनात्मक मानववाद के अनुसार विविध मूल्यों के अनुचिंतन और उनके अन्वेषण या संधान में संलग्न होना या रहना मनुष्य का स्वभाव है; इस स्वभाव का दमन करके विशुद्ध विरक्ति का जीवन बिताना उसके लिए न संभव है, न उचित। उचित इसलिए नहीं कि जीवन-निर्वाह के लिए समाज के लिए स्वयं कुछ न करते हुए उसके अनुदान पर निर्भर करना, समाज पर बोझ बनकर रहना, वांछनीय नहीं माना जा सकता। प्राचीन काल में बौद्ध भिक्षु और हिंदू संन्यासी भिक्षावृत्ति से निर्वाह करते थे, पर उनसे यह आशा की जाती थी कि वे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में धर्मोपदेश द्वारा अपना सत्कार करने वाले गृहस्थों को लाभान्वित करेंगे। दूसरी ओर हम देखते हैं कि विरक्त साधुओं के बीच शिरोमणि समझे जानेवाले ज्ञानी संत ज्ञान के संचय और प्रचार के क्षेत्रों में विशेष क्रियाशील रहते थे। इसका उदाहरण उपनिषद्काल के गृहस्थ ऋषि-मुनि जैसे याज्ञवल्क्य, आरुणि जनक जैसे राजर्षि ही नहीं, उत्तरकाल के शंकर, मध्व, रामानुज आदि आचार्य भी हैं। विविध भाष्यों तथा अन्य ग्रंथों के प्रणेता उक्त तेजस्वी आचार्य बौद्धिक दृष्टि से विश्व के श्रेष्ठतम

दार्शनिकों के समकक्ष हैं; यही बात नागार्जुन, दिङ्नाग और धर्मकीर्ति जैसे बौद्ध आचार्यों तथा अकलंक देव, समंतभद्र, हेमचंद्र आदि जैन आचार्यों पर लागू होती है। हमारे मध्यकालीन अधिकांश संत, कबीर और गुरूनानक, तुलसीदास, शंकरदेव, ज्ञानेश्वर आदि उच्चकोटि के संत होने के साथ-साथ श्रेष्ठ कवि भी थे। इसी तरह आधुनिक काल के अनेक लेखकों और विचारकों को गृहस्थ संतों की कोटि में रख सकते हैं, यथा आइजक न्यूटन, गेलेलियों, अल्बर्ट आइंस्टाइन जैसे वैज्ञानिक; स्पिनोजा, बर्गसाँ, बर्ट्रेंड रसेल और ए.एन. हाइटहेड जैसे चिंतक और वर्ड्सवर्थ, टाल्सटॉय, रोमां रोलां और रवींद्रनाथ जैसे कवि-कथाकार।

उक्त महापुरुषों के जीवन वृत्तों का अनुचिंतन करते हुए हम दो प्रकार के मूल्य सत्त्वों में अंतर करेंगे। एक प्रकार के मूल्यसत्त्व हैं जिनकी उपलब्धि और संचय मनुष्यों के बीच प्रतिद्वंद्विता, संघर्ष या स्पर्धापरक असहिष्णुता तथा रागद्वेष को जन्म देते हैं। ये मूल्य जिनका मूर्तरूप रोटी-कपड़ा-मकान, यश और मान-सम्मान है मूलत: प्रतियोगितापरक हैं; वे सहभोज्य या सहभोग्य न होकर एक व्यक्ति या परिवार में आश्रित, अन्यापवर्जी (Exclusive) होते हैं और इसलिए निरंतर संघर्ष की भूमि या कारण। इसके विपरीत साधनासंपन्न लेखकों व चिंतकों के प्रयत्न अपनी निष्पत्ति में उन सबके लिए उपयोग या उपभोग योग्य होते हैं जो विशेष अर्थ में अधिकारी बन सके हैं।

प्रश्न उठता है : उक्त दो श्रेणियों के सर्जनशील मनुष्यों के बीच उस अतिशायी मूल्यसत्त्व की जिसे आध्यात्मिक खोज या परिणति कहते हैं, स्थिति कहाँ है ? हमारी वर्णाश्रम-व्यवस्था के अंतर्गत यह नियम बनाया गया था कि पचास की उम्र तक ब्रह्मचारी तथा गृहस्थ के कर्तव्यों को पूरा करके व्यक्ति को अकेले या सपत्नीक वानप्रस्थ में प्रवेश करना चाहिए और उसके बाद अंतिम, चौथे संन्यस्त जीवन में, जहाँ पत्नी का साहचर्य भी खत्म हो जाना चाहिए। इसके विपरीत महात्मा गांधी ने यह अभिमत प्रकट किया है कि जिसे आध्यात्मिक जीवन कहते हैं उसकी गंध मनुष्य के समस्त जीवन-व्यापारों में रहनी चाहिए : धर्म-अध्यात्म की चर्या जीवन की खास अवधि, उसके खास अंतिम चरण के लिए छोड़ दी जानेवाली वस्तु नहीं है। गांधीजी एक महान कर्मयोगी थे। कर्मयोग का सक्रिय निर्वाह समाज और विश्व से जुड़े हुए जीवन में ही संभव है- वह एकांतवास के लिए किसी निर्जन आश्रम या पर्वत की कंदरा या गुफा में रहते हुए साधने की चीज नहीं है। जिस प्रकार हमारी नैतिक चेतना तथा सौंदर्य भावना जीवन के समस्त कर्मों और चयन या वरण की क्रियाओं को प्रभावित करती है वैसे ही हमारी धर्म-आध्यात्मिक दृष्टि को भी हमारे समग्र जीवन व्यापार को प्रभावित या विशेषित करना चाहिए- एक मीठी सुगंध की भाँति उसे और सौंदर्य भावना का भी जीवन के प्रत्येक क्षण को खास तरह की स्वच्छता व शुचिता के सौरभ से आमोदयुक्त बना सकना चाहिए। हमारा अपना वोट गांधीजी के पक्ष में है। जिसे आध्यात्मिक मनोभाव कहते हैं उसका अर्जन, अधिगति-अवाप्ति या प्राप्ति अवस्था विशेष के पहुँचने पर निर्भर नहीं करती; वह यकायक हमारी मानसिक संरचना में घुसपैठ करके उसे विशेषित नहीं करता। वास्तव में वह जीवन और उसकी समस्याओं की गहरी छानबीन और लंबी पर्यालोचना में उगता-पनपता है। प्रसिद्ध जर्मन विचारक हाइडेगर का कहना है कि सचेत व विचारशील जीवन में मृत्यु नाम की चरम परिणति की भावना निरंतर मौजूद रहनी चाहिए। भारतीय परंपरा की भाषा में उक्त भावना को नित्यानित्य विवेक का नाम दिया गया है। शंकर के 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' में इस प्रकार के विवेक को वेदांत अथवा ब्रह्मज्ञान-विषयक जिज्ञासा और उसके अध्ययन अनुशीलन की आवश्यक पूर्वपीठिका घोषित किया गया है।

हमारी निजी जीवन दृष्टि के अंतर्गत सार्थक व संतोषप्रद जीवन के निम्न नियामक सूत्र हैं :

१. सुखी-संतुष्ट और उदात्त जीवन के लिए भी यह जरूरी है कि मानव व्यक्ति निरंतर सर्जनशीलता

का जीवन यापन करे। चूँकि हर प्रकार की सर्जनक्रिया का लक्ष्य किसी श्रेय या शुभ की प्राप्ति अथवा उत्पादन-संपादन तथा अशुभ की निवृत्ति या विनाश है, इसलिए कहना चाहिए कि सार्थक जीवन निरंतर मूल्यों के अन्वेषण-अनुचिंतन एवं उपभोग तथा सर्जना या सृष्टि का जीवन है। यह स्वीकार करते हुए कि मनुष्य को निद्रा या दूसरे रूपों (जैसे एक या दूसरे प्रकार का मनोरंजन) में विश्राम की जरूरत होती है, कहना चाहिए कि जीवन की अर्थवती घड़ियाँ किसी-न-किसी रूप में मूल्यानुसंधान से जुड़ी हुई होती हैं।

२. ऊपर यह दर्शित किया गया कि जीवन की दु:खमयता का अनुभव उन क्षणों में विशेष तीव्र हो उठता है जब हम मात्र जीविका के अर्जन के लिए श्रम करते हुए संघर्षजन्य क्लान्ति का अनुभव करते हैं। वैसे सही प्रयत्न की परिणति यदि, समाज में परिव्याप्त नैतिक अस्थिरता तथा अनीति के माहौल में विफलता व निराशा में होती है, तो खास तरह की खिन्नता तथा अवसाद मनचित्त को आक्रांत करने लगते हैं। अतिशयी महत्त्वाकांक्षा भी अक्सर वैसे अवसाद और खिन्नता का कारण बन जाती है। इन मन:स्थितियों से उबरने के दो उपाय हैं। जीविका के अर्जन के लिए किये गये कर्म-प्रयत्न किसी रूप में समाज के लिए उपयोगी, उसकी सेवा रूप होते हैं। न्याय-नीति पर आधारित समाज-व्यवस्था में वैसे सेवा-कर्म का उचित एवज या प्रतिकार जीवन-साधनों या धनसंपत्ति के रूप में मिलता है। ईमानदारी से जीविका कमाने के लिए हम किस तरह का व्यवसाय-कर्म करेंगे यह निश्चित करना, गीता की पदावली में, हमारे गुण-कर्म-स्वभाव पर निर्भर करता है। प्राचीन काल में व्यक्ति-विशेष का व्यवसाय उसके वर्ण या कुल-धर्म से निर्धारित होता था; आज किसी के लिए वैसा बंधन नहीं है। ध्यान में रखने की बात यह है कि स्वेच्छा से वरण किये हुए व्यवसाय-कर्म का अनुष्ठान कर्त्तव्यभावना से किया जाना चाहिए- और निष्काम भावना से भी। गीता के अनुसार उक्त भावना का अभिप्राय यह है कि मनुष्य अपने कर्तव्यकर्म फलाकांक्षा से मुक्त होकर करे। गीता की वैकल्पिक शिक्षा यह है कि वैसे कर्म के फल को ईश्वरार्पित करते हुए मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होता है। भारतीय परंपरा में यहाँ सिद्धि का अर्थ है मोक्ष की संप्राप्ति। गीता का निश्चित मत हैं : स्वे स्वे कर्मण्यभिरत:संसिद्धिं लभते नर:। १८.४५

अर्थात् अपने-अपने (विहित) कर्म में संलग्न मनुष्य उत्तम सिद्धि को प्राप्त होता है। गीता में ही भगवान के भक्तों को लक्ष्य कर निम्न रूप में कर्म मार्ग का उपदेश किया गया है :

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव:। १५.४६

अर्थात् अपने विहित कर्मों के अनुष्ठान द्वारा भगवान की अर्चना या पूजा-उपासना करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होता है। गीता में ही अन्यत्र कहा गया है कि यज्ञकर्म या यज्ञार्थ कर्म से भिन्न अथवा इतर कर्म ही बंधन का कारण होता है।[५] तात्पर्य यह कि यज्ञरूप कर्म बंधन, आधुनिक पदावली में, दु:ख-अवसाद व पश्चाताप, का कारण नहीं होता। मनुष्य को अपने प्रयत्नों अथवा कर्मशील जीवन को लेकर अवसाद और ग्लानि तब होती है जब वह उक्त प्रयत्नों व जीवन में संलग्न होते हुए लोक सेवा के बड़े उद्देश्य को भुलाकर निजी स्वार्थ की तराजू में तौलने लगता है।

सच्चाई यह है कि मात्र जीविका के उपार्जन का लक्ष्य हमारे चेतनामूलक जीवन को, स्वयं हमारी नजर में विशिष्टताहीन व साधारण जीवन बना देता है। न जाने क्यों मामूली व्यक्ति भी जिंदगी के इस साधारणपन की अनुभूति से मन-ही-मन असंतुष्ट महसूस करता है। इस तरह के असंतोष से उबरने का एक प्रचलित उपाय यह है कि हम भले-बुरे किसी भी तरीके से संपत्ति या शक्ति का अर्जन करके समाज या 'दुनिया' की नजर में प्रतिष्ठित बन जायें। इस कोटि की प्रतिष्ठा के बारे में विचार करने पर दो बातें सामने आती हैं। एक यह कि उक्त श्रेणी की प्रतिष्ठा की कोई उच्च्तम कोटि नहीं है। वह प्रतिष्ठा मूलत: स्पर्धाधर्मी या प्रतियोगितापरक होती है। इस प्रतियोगिता की भूमि प्राय: उस वर्ग या समुदाय का

जीवन होता है जिसके अंतर्गत आप रहते-बरतते हैं, स्पर्धा की भावना प्राय: उन लोगों की प्रगति व उपलब्धियों से जुड़ी रहती है जिनके संपर्क या निकटता में हम अपना जीवन जीते हैं। ऐसे ही लोग हमारी ईर्ष्या के पात्र भी होते हैं; हम प्राय: इतर नगरों या देशों में रहनेवाले कमोवेश समृद्धि व प्रसिद्धिवाले व्यक्तियों के प्रति भी ईर्ष्या व स्पर्धा की भावनाएँ नहीं रखते-न दूसरे, हमसे भिन्न पेशे वालों या व्यवसायियों के प्रति। यह संभव है कि एक या दूसरे क्षेत्र में देशव्यापी सफलता अथवा अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिवाले व्यक्तियों को देश-विदेश के समानधर्मा व्यक्तियों की अपेक्षा में स्पर्धा का भाव हो। जाहिर ही उक्त कोटि के व्यक्ति किसी भी देश में बहुत कम होते हैं।

सामाजिक मान-सम्मान के संबंध में दूसरी विचारणीय स्थिति यह है कि वह प्राय: सदैव इतर जनों अथवा जन समुदायों की सम्पत्ति पर निर्भर होता है। उदाहरण के लिए राजनीतिक नेताओं की सफलता और अभ्युदय दूर तक साधारण जनों की प्रशंसा अथवा निंदा की भावनाओं पर निर्भर रहता है। दुर्भाग्यवश जिसे हम जनता-जनार्दन कहते हैं, उसकी मनोवृत्तियाँ बड़ी चंचल, द्रुत परिवर्तनशील होती हैं। फलत: कोई भी नेता यह मानकर नहीं चल सकता कि किसी जनसमुदाय का उसके प्रति जो मनोभाव आज है, वही कल और आगे भी रहेगा। दूसरे क्षेत्रों में भी स्थिति अधिक भिन्न नहीं है। आज के समीक्षक जिस लेखक या विचारक की अतिशय प्रशंसा करते हैं, कुछ काल बाद स्वयं वे या दूसरे समीक्षक उसी लेखक का अवमूल्यन भी कर सकते हैं। यों इतिहास में इससे विपरीत स्थिति भी रही है, और वह कुछ अधिक ही। देखा जाता है कि अधिक मौलिक लेखकों-विचारकों और उनके द्वारा शुरू किये गये आंदोलनों को अरसे तक सहानुभूति नहीं मिलती; प्राय: उन्हें समकालीनों की प्रतिकूल आलोचना का शिकार होना पड़ता है। उदाहरण के लिए जब कवि वर्ड्सवर्थ ने प्रचलित कथित नव्य क्लासिकी काव्यभाषा एवं काव्यशैली के विरोध में यह विचार और तदनुरूप काव्य प्रस्तुत किया कि काव्यभाषा को बोलचाल की भाषा के निकट होना चाहिए, तो प्रचलित काव्य के प्रेमियों और उसके समर्थक समीक्षकों ने उसका विरोध किया। धीरे-धीरे रोमांटिक काव्य की प्रियता तथा मान्यता बढ़ी और कालातंर में उसने भी स्थिर रूढ़िवादी आग्रहों को जन्म दिया। जैसा कि सब जानते हैं, बीसवीं शती के तीसरे दशक के प्रारंभ में प्रसिद्ध कवि और समीक्षक टी.एस. इलियट ने कविता और समीक्षा के संबद्ध क्षेत्रों में रूमानी प्रवृत्तियों का विरोध किया। हम कहना चाह रहे हैं कि मौजूदा रूढ़ियों और समीक्षकों के मतामत की अधिक चिंता करनेवाले लेखक और विचारक संभवत: उच्चतर कोटि का कार्य नहीं कर सकते। ज्यादा वाँछनीय यह है कि साधनाशील लेखक-विचारक विश्व वाङ्मय और साहित्य की अनेक श्रेष्ठ परंपराओं की अवगति रखते हुए और उस अवगति के अंतर्गत गहरे आत्मविश्वास का अर्जन करके, अपने सृजन कार्य में अग्रसर रहें। तात्पर्य यह कि साधनाशील लेखकों और विचारकों को दूसरों की सम्मति पर अतिशय निर्भरता से मुक्त होने की चेष्टा करनी चाहिए। यह भी द्रष्टव्य है कि समकालीनों द्वारा अनुकूल सम्मति व प्रशंसा को राजनीति के हथकंडों या दूसरे तरीकों से, कुछ समय के लिए ही सही, पाया-जुटाया और खरीदा भी जा सकता है। यों किसी भी समझदार लेखक-विचारक को वैसे तरीकों से पायी हुई प्रशंसा, और उससे सहचरित सम्मान भी, वास्तविक संतोष नहीं दे सकते। वैसा संतोष सुशिक्षित आलोचना-वृत्ति से सहचरित आत्मविश्वास ही दे सकता है जिसकी जड़ें व्यापक इतिहास-बोध अथवा मुल्यांकन के इतिहास-पुष्ट मानदंडों की मिश्रित जानकारी और गहरे अवबोध में सुस्थित-प्रतिष्ठित है।[६] मूल्यांकन और निंदा स्तुति के हर तरह के वातावरण में संवेदनशील रचनाकारों के लिए व्यापक अर्थ में सही और कल्याणकारी रास्ता यह है कि वे सर्जनात्मक कार्य निष्कामता की मनोवृत्ति के साथ करते रहें। कहा जा सकता है कि उक्त मनोवृत्ति गहरे अर्थ में आध्यात्मिक (Religious) मनोवृत्ति है। इस मनोवृत्ति के संबंध में अधिक गहरी छानबीन अपेक्षित

है। हमने ऊपर मानवीय अन्वेषण व प्रयत्नों का विषय बननेवाले मूल्यों का दो वर्गों या श्रेणियों में वर्गीकरण किया था अर्थात् वे मूल्य सत्त्व जो मूलत: प्रतियोगितापरक तथा असहभोज्य और इसलिए मनुष्यों के बीच स्पर्धा, प्रतिद्वंद्विता एवं संघर्ष की स्थितियाँ उत्पन्न करनेवाले हैं और वे मूल्य जो सहभोज्य हैं। अनेक तरह की धनसंपत्ति के संबंध में विचार करते हुए कहा गया है कि केवल विद्या-धन ऐसा है जो देने या दान करने से घटने के बजाय बढ़ता है। यह वक्तव्य उन सब उत्सृष्ट वस्तुओं पर लागू है जिनके विधायक घटक प्रतीक रूप होते हैं और जो स्वयं में रोचक या रसात्मक होती हैं। काव्य-साहित्य तथा अन्य कला-सृष्टियाँ उक्त रसात्मक निर्मितयों की कोटि में आती हैं। जिन्हें हम एक या दूसरी तरह की विधाएँ कहते या विद्या का नाम देते हैं उनसे संबंधित सृष्टियाँ दूसरे रूप या रूपों में रोचक व आनंददायक होती हैं-उनके लिए जिनमें विभिन्न विद्या क्षेत्रों से संबंधित जिज्ञासावृत्ति सजग और क्रियाशील है। हमने अन्यत्र यह प्रतिपादित किया है कि विभिन्न विद्याएँ तथा काव्य-साहित्य और कलाएँ, अपने-अपने ढंग से, हमारी चेतना या चेतना संयुक्त जीवन को समृद्ध करती हैं।[7] जिसे इधर फिनामिनॉलॉजी नाम दिया गया है वह मानवीय अनुभव के विश्लेषण और व्याख्या की एक प्रणाली है। दर्शन के क्षेत्र में उसने एक आंदोलन का रूप धारण कर लिया है। जिसके प्रवर्तक तो एडमंड हुसर्ल (Edmund Husserl) हैं, किंतु जिसके अधिक प्रसिद्ध प्रतिनिधि जर्मन दार्शनिक हाइडेगर (Msrtin Heidegger) तथा सार्त्र (J.P. Sartre) समझे जाते हैं। यद्यपि सार्त्र का नाम मुख्यत: अस्तित्ववाद से जुड़ा है, पर स्वयं उसने अपने मुख्य ग्रंथ 'बीइंग एंड नथिंगनेस' को 'एन् एस्से ऑन् फेनामिनॉलॉजिकल ऑन्टॉलॉजी' कहकर वर्णित किया है। उक्त चिंतन-निकाय की मुख्य मान्यता यह है कि प्रत्येक चित्त या चेतना की दशा का कोई न कोई विषय होता है। यह जरूरी नहीं कि वैसा विषय चेतन ज्ञाता के सम्मुख मौजूद हो, वह विषय कल्पित या कल्पना की निर्मिति भी हो सकता है। हमारी अपनी पदावली में चेतना का विषय, सदैव नहीं तो प्राय: अभ्यर्थों (अभिप्रेत या इष्ट अर्थसत्त्वों) की संहति या पुंज होता है। इस प्रकार की संहतियाँ या समष्टियाँ प्राय: वस्तुजगत् से सीधे संबद्ध न होकर परोक्ष रूप में लगाव रखनेवाली होती हैं। सच यह है कि हमारी प्रत्ययों या संप्रत्ययों से निर्मित संहतियाँ कथित अनुभव-जगत् का संभाव्य चित्र रूप होती हैं। विशेषत: वे प्रतीक-संहतियाँ जिनका विषय मनुष्य का जीवन है, अधिकांश में उस जीवन की संभावनाओं को खड़ा करती हैं, स्पष्ट ही ये संभावनाएँ वर्तमान से अधिक भविष्य के गर्भ में रहती या विचरती जान पड़ती हैं। यह बात .काव्य तथा कथासाहित्य में प्रकल्पित जीवन-स्थितियों पर ही नहीं, विभिन्न मानवीय विद्याओं द्वारा अनुशीलित कथित यथार्थ की संभाव्य स्थितियों पर भी उतनी ही लागू होती है। इस प्रसंग में हमें मैक्सबेवर द्वारा संकेतित आइडियल टाइप (Ideal Type) की अवधारणा का स्मरण होता है। मानवीय विद्याएँ, जैसे समाजशास्त्र, किसी सामाजिक स्थिति या संस्था अथवा संस्थाबद्ध जीवन के गोचर यथार्थ रूप का अध्ययन-अनुशीलन नहीं करते या कर पाते; वे उस रूप या प्रकार के आदर्शीकृत संप्रत्ययात्मक अवयवी या संस्थान की विश्लेषणात्मक अनुशीलन और व्याख्या को विषय बनाकर अग्रसर होते हैं। इस दृष्टि से जहाँ काव्य-साहित्य तथा कलाएँ और मानवीय विद्याएँ तथा भौतिक विज्ञान भी हमें यह योग्यता देते हैं कि हम अपनी चेतना द्वारा अनुभूत भौतिक-गैर भौतिक, मुख्यत: प्रकल्पित अभ्यर्थों के रूप में उपलब्ध, अनुभव-संसार के एक या दूसरे प्रखंड को आत्मसात् कर लें- अर्थात् अपनी चेतना के जादुई जाल में फंसा लें- वहाँ आत्मसात् करने की उक्त क्रिया प्रक्रिया कला-साहित्य के अंतर्गत हम चेतना के विषयभूत अनुभव जगत् से रागात्मक संबंध स्थापित करते हैं, जबकि विज्ञानों या विद्याओं के विभिन्न क्षेत्रों में यह संबंध कार्यकारणमूलक अथवा वैसा ही कुछ होने के कारण ऐसा रूप धारण करता या कर पाता है जो हमारे द्वारा साक्षात्कृत विश्व या यथार्थ पर थोड़ा-बहुत नियंत्रण पाने में सहायक होता है। यहाँ 'थोड़ा-बहुत'

विश्लेषण का प्रयोग साभिप्राय है। हमारा विज्ञानबोध सर्वत्र हमें वैसे नियंत्रण की योग्यता नहीं देता। इसका एक सटीक उदाहरण खगोलशास्त्र (Astronomy) है। वह शास्त्र हमें सूर्य जैसे तारकों, उनके ग्रह-उपग्रहों तथा तारक-गुच्छों से निर्मित अरबों-खरबों नीहारिकाओं के बारे में रोचक, विस्मयावह जानकारी देता है। वह जानकारी हमारी विस्मयवृत्ति को उभारती-उत्कलित करती खास तरह के सुख का कारण बन जाती है; पर हममें से अधिकांश उसका कोई बुद्धिगम्य उपयोग नहीं कर पाते। ऐसी ही जानकारी या बोध हमें जीव-जगत् के इतिहास में घटित क्रम विकास के संबंध में पढ़ते हुए होता है। हम दूरदर्शन के परदे पर विविध पशु-पक्षियों व धरती पर रेंगने-दौड़नेवाले कीड़े-मकोड़े तथा भाँति-भाँति के सरीसृपों का परिदृश्य देखकर विस्मय भावना से संवलित अद्भुत रस का अनुभव करते हैं। ये उदाहरण यह दर्शित करते हैं कि अर्थवती चेतना का संपादन स्वयं में भी साध्य रूप होता है- वह सर्वत्र और सदैव किसी उपयोगिता या प्रयोजन-सिद्धि के लिए नहीं होता। यहाँ यह भी अनुगत होता है कि हम विश्व की विपुल छवियों से उपयोगिता की भूमि से बाहर तरह-तरह के ऐसे संबंध बनाते हैं जिन्हें सौंदर्यधर्मी कहा जा सकता है।

ऊपर हमने यह दिखाने की कोशिश की कि मनुष्य केवल उपयोगिता के धरातल पर जीवित और क्रियाशील नहीं रहता, वह विभिन्न कोटियों के निरुपयोगी मूल्यों की तलाश और उनके साक्षात्कार व निर्माण में भी रस लेता है। यही नहीं, वैसे अनुभव और निर्माण की क्रियाएँ दूसरे मानव-साथियों के सहभोग व समर्थन से अधिक रसमय बन जाती हैं। यह सहभोग और संयुक्त अनुभव की भूमि सभ्य मनुष्यों को रसमय सहअनुभूति और स्थूल प्रयोजनों से वियुक्त निकटता व मैत्री के संबंध-सूत्रों से जोड़ती है। यही नहीं, उक्त कोटि के मूल्यों के अनुसंधान एवं अनुभव की वृत्तियाँ हमें प्रतियोगितापरक, संघर्षसाध्य मूल्यों के क्षेत्र से बाहर नये रसार्णव से परिचित करातीं, उच्चतर मानवीयता से अनुप्राणित संबंधों की छाया में जीने की प्रेरणा व उत्साह देती हैं। ऐसे ही तथ्यों को मन में रखते हुए किसी सुभाषितकार ने यह अभिमत प्रकट किया है कि बुद्धि एवं विवेकसंपन्न मनुष्यों का समय प्राय: 'काव्यशास्त्र विनोद' में व्यतीत होता है, जबकि उक्त योग्यता से वंचित मूर्खों का समय तरह-तरह के व्यसनों या दुर्व्यसनों, निद्रा और कलह में नष्ट होता है।

यों जहाँ यह संभावना के निकट है कि काव्यशास्त्र के प्रेमी परस्पर प्रेम एवं सहयोग के मनोभाव रखते हुए बर्ताव करें, यह अनिवार्य रूप में आवश्यक नहीं है। काव्यशास्त्र के प्रेमी भी परस्पर ईर्ष्या-द्वेष आदि वृत्तियों से संचालित हो सकते हैं। विशेषत: यश आदि की कामना श्रेष्ठ कलाविदों-कलाकारों तथा शास्त्रों के समर्थ अन्वेषकों व ज्ञाताओं को रागद्वेष की राजस व तामस भूमियों में ले जाती है। यों, जैसाकि हमने पहले संकेत किया, कला-साहित्य और विद्या के किसी भी क्षेत्र में उच्चतर कोटि का काम करने के लिए उपयोगी मूल्यों के प्रति कमोवेश अनासक्ति का भाव अपेक्षित हैं; किंतु यह अनासक्ति भावात्मक प्रेरणा तभी बनती है जब वह संस्कृति और मानवता की प्रगति की नि:स्वार्थ कामना से संयुक्त हो। नैतिक-आध्यात्मिक आयामों में प्रसरित-पल्लवित रूप में उक्त कामना साधक व्यक्ति को निष्काम कर्म योग की भूमि में ले जाती है। महाकवि मिल्टन ने यश की कामना को उच्चाशय मनचित्त की अंतिम दुर्बलता कथित किया है। देखा जाता है कि यह दुर्बलता कला सेवियों एवं ज्ञान-विज्ञान के अन्वेषकों में ही नहीं, आश्रम बनाकर रहनेवाले आधुनिक साधु-सन्यासियों में भी दृष्टिगोचर होती है। हमारे समय में 'भगवान' रजनीश संभवत: इसी श्रेणी के साधु व साधक थे। किंतु भारतीय मनीषा जिन ऋषि-मुनियों का नाम विशेष आदर से लेती है उनमें उक्त कोटि की दुर्बलता न थी।

भारत की उदात्त आध्यात्मिक परंपरा के अनुसार, और विलियम जेम्स जैसे विचारक के अनुसार भी, जिन्हें हम संत पुरुष कहते हैं, वे प्राणिमात्र के अहेतुक मित्र होते हैं जो मन-वचन-कर्म से

जीवमात्र के कल्याण की भावना से अनुप्राणित रहते-बरतते हैं। ऐसे संतों के बारे में सोचते हुए हमारा ध्यान बरबस रामकृष्ण परमहंस और रमन महर्षि जैसे साधु-पुरुषों की ओर जाता है। इन महापुरुषों के व्यक्तित्व में विशुद्ध सात्विकता का प्राधान्य था और राजसवृत्ति की अनुपस्थिति। ऐसे साधु-पुरुष उन सभी को सात्त्विक भावों से अनुप्राणित करने की क्षमता रखते हैं जो उनके प्रभाववृत्त में प्रविष्ट होते उनके सत्संग-साहचर्य से लाभान्वित होने की योग्यता रखते हैं। दूसरी कोटि के संत महापुरुष विश्व संस्कृति व सभ्यता के इतिहास में प्रभावशाली, अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय उपदेशकों व शिक्षकों के रूप में व्यवहार करते देखे गये हैं। भगवान बुद्ध, ईसा मसीह और कबीर-नानक जैसे संत महापुरुष इस श्रेणी के थे। उपदेश की भूमिका से आगे बढ़कर आधुनिक युग के महान कर्म योगी महात्मा गाँधी ने जीवनपर्यंत तरह-तरह के अन्यायों से पीड़ित जनसमुदायों को नैतिक न्याय दिलाने के लिए संघर्ष किया और इस तरह महायानी बौद्धों द्वारा प्रकल्पित बोधिसत्त्व के उदात्त आदर्श को अपने जीवन में चरितार्थ किया। यह देखने की बात है कि सिर से पैर तक संघर्ष के वातावरण में जीते व सांस लेते हुए भी महात्मा गाँधी हमारे देश के प्रख्यात, प्रशंसित सिद्ध पुरुषों की भाँति अपने इर्द-गिर्द परिपूर्ण मैत्री एवं सौहार्द का सौरभ-सुगंध बिखेरते थे।

अब हम अपने मूल प्रश्न की ओर लौटें, इस प्रश्न की ओर कि अंततः इस मनुष्य नाम के चेतना-संपन्न व चिंतनशील प्राणी की चरम परिणति व नियति क्या है, हो सकती है या होनी चाहिए? भगवान बुद्ध ने कुछ प्रश्नों व समस्याओं के बारे में कहा था कि वे अव्याकृत श्रेणी की हैं। तात्पर्य यह कि उनका सर्वस्वीकृत या सुप्रमाणित समाधान संभव नहीं है। उन्हें लेकर भगवान बुद्ध ने यह सत्परामर्श दिया कि इनके बारे में निरंतर ऊहापोह करते रहने के बदले हमें सहजबुद्धि और अनुभव द्वारा संवेद्य ऐसी जीवन-सरणि को अपनाकर चलना चाहिए जिसमें अनेकविध कष्टों का निराकरण हो सके। ऐसा ही कुछ विचार महाभारतकार का भी है। वहाँ कहा गया है कि श्रुतियाँ एवं स्मृतियाँ परस्पर भिन्न दृष्टियों का प्रतिपादन करती हैं; वैसे ही मुनि भी अनेक हैं। एक कोई ऐसा मुनि नहीं है जिसके वचन को प्रमाण मान लिया जाय। नतीजा यह कि धर्म का तत्त्व कहीं रहस्यमयी गुफा में अदृश्य हो गया है; इसलिए बड़े या पूज्य जन जिस मार्ग से गये हैं वही हमारे लिए भी सही मार्ग है। तात्पर्य यह है कि सत् या प्रशस्त आचरण की जानकारी के लिए हमें महापुरुषों के जीवन की ओर देखना चाहिए- वह जानकारी मात्र बुद्धि विलास की चीज नहीं है। बुद्धि की इस विफलता का सबसे बड़ा सबूत विभिन्न विचारकों के बीच निरंतर चली आयी मतभेद की स्थिति है। सच्चाई यह है कि अनुभव का अतिक्रमण करनेवाले लोक-परलोक के संबंध में सोचती हुई हमारी बुद्धि ऐसे सिद्धांतों की परिकल्पना करने लगती है जिनका हमारे जीवन संबंधी अनुभव से सीधा लगाव नहीं होता। यह सचमुच ही आश्चर्य की बात है कि जहाँ उपनिषदों में एक नित्य-शाश्वत, अविकारी आत्मतत्त्व की परिकल्पना है, वहाँ बौद्ध विचारक वैसी कल्पना को निराधार मानते हैं। अद्वैत वेदांत के ब्रह्म में, उस ब्रह्म में जो एक मात्र तात्त्विक वस्तु समझा जाता है, कारणता का पूर्ण अभाव है। जहाँ कारणता है वहाँ परिवर्तन है; और परिवर्तन अनित्यता का द्योतक है। फलतः सांख्य और वेदांत पुरुष अथवा ब्रह्म में कारणता या किसी भी प्रकार की क्रिया स्वीकार नहीं करते। उपनिषदों का ब्रह्म कूटस्थ नित्य है। इसके विपरीत बौद्ध मत में सत् अथवा अस्तित्ववान् पदार्थ का व्यावर्त्तक गुण यह है कि उसमें कारणता हो-अर्थात् किसी न किसी रूप में कुछ उत्पन्न करने या कहीं किसी तरह का परिवर्तन लाने की क्षमता। यहाँ हम दो महत्त्वपूर्ण विचार-परम्पराओं में स्पष्ट विरोध देखते हैं। और यदि हमारे मन में उक्त दोनों परम्पराओं के प्रवर्तकों एवं समर्थकों के प्रति आदर का भाव है, तो हमारी मनबुद्धि में भ्रम या मोह की स्थिति पैदा होना स्वाभाविक है। ऐसे ही भगवद्गीता के अर्जुन ने कृष्ण द्वारा कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग की समान प्रशंसा सुनकर दिग्भ्रमित होने का अनुभव किया था।

इस प्रसंग में प्राय: सभी महत्त्वपूर्ण हिंदू दर्शनों के टीकाकार सर्व तंत्र स्वतंत्र आचार्य वाचस्पति मिश्र के इस अर्थपूर्ण वक्तव्य का स्मरण होता है कि गंभीर सैद्धांतिक मतभेदों के रहते हुए भी साधना अर्थात् मोक्ष-साधना के बारे में बौद्धों और वेदांतियों में दूर तक मतैक्य है। यहाँ हमने बौद्धों तथा वेदांतियों के बीच सैद्धांतिक मतभेद का उल्लेख किया; वस्तुत: स्वयं हिंदू दर्शनों में भी वैसे ही तीखे व गहरे सैद्धांतिक मतभेद हैं। उदाहरण के लिए वेदांत के भक्तिमार्गी व्याख्याता, रामानुज-वल्लभ-मध्व-चैतन्य आदि ब्रह्म के स्वरूप और उसके जीव से संबंध को लेकर अलग-अलग मंतव्य प्रतिपादित करते हैं; भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग के बीच भी मतभेद की स्थिति है। किंतु उक्त सारे भारतीय विचारक एक बिंदु पर सहमति रखते हैं, इस पर कि मोक्ष की साधना करनेवाले व्यक्ति में संसार के भोगैश्वर्यों के प्रति अनासक्ति या विरक्ति का भाव होना चाहिए। यूरोपीय दर्शन में भी तरह-तरह के मतवाद और अर्थपूर्ण जीवन की अनेक धारणाएँ पायी जाती हैं, भले ही वैसे जीवन को मोक्ष कामना से उस भाँति संयुक्त न किया गया हो जैसे हमारे देश में।[८] यों ईसाई दर्शन में मोक्ष या Salvation का विचार काफी महत्त्वपूर्ण रहा है। पाश्चात्य चिंतन के इतिहास में, विशेषत: यूनानी तथा आधुनिक यूरोप की विचारधाराओं के अंतर्गत, धर्म संप्रत्ययों की अपेक्षा दार्शनिक विचारकों का स्थान प्रमुख रहा है। यूरोप के सांस्कृतिक इतिहास में महात्मा सुकरात, प्लेटो और अरस्तू जैसे चिंतकों का ऊँचा स्थान है; उसी प्रकार विज्ञान युग के आगमन के बाद आधुनिक यूरोप में स्पिनोजा, कांट, हेगल, शॉपनेहावर, नीत्शे तथा कीर्केगार्द और उसके परवर्ती अनेक अस्तित्ववादी विचारकों ने मनुष्य और उसकी संभाव्य नियति को लेकर अनेकविध नयी दृष्टियों का प्रतिपादन किया है। उक्त विचारकों में अधिकांश, विशेषत: इधर के चिंतनशील लेखक, प्राय: विचाराधीन दृष्टियों का प्रतिपादन ईश्वर, परलोक आदि पारंपरिक धार्मिक प्रत्ययों से निरपेक्ष होकर करते हैं। इस दृष्टि से अपने देश के अद्वैत वेदांत की बड़ी विशेषता यह है कि वह आत्मा-परमात्मा के द्वैत को स्पष्ट रूप में नकार देता है। हिंदुओं का यह प्रमुख दर्शन भारतीय धर्म दृष्टि को सेमिटिक (सामी) धर्म-संप्रदायों से पूर्णतया विच्छिन्न कर देता है; उक्त धर्मों में ईश्वर और जीव के बीच आत्यंतिक भिन्नता या भेद को स्वीकार किया जाता है। क्योंकि वेदांत उक्त भिन्नता को स्वीकार नहीं करता, इसीलिए यहाँ मनुष्य का महत्त्व बढ़ जाता है जो मानववादी दृष्टि की भी अहम विशेषता है। मानववाद के अनुसार मनुष्य के अपने ही व्यक्तित्व में उच्चतम दैवी भाव और पशुभाव दोनों की सहस्थिति है। मनुष्य स्वयं उक्त भावों अथवा जीवन और चेतना के संबद्ध, द्वंद्वपरक रूपों में अंतर करता है और यह कल्पना व लालसा करता है कि उसके जीवन की गति दैवी-भाव की ओर उन्मुख हो। यहाँ हमें भगवद्गीता में वर्णित दैवी तथा आसुरी सम्पत् के अभिधानों के तहत वर्णित दो विरोधी जैसी दीखने वाली मनुष्य की प्रवृत्तियों एवं तदनुरूप जीवनसरणियों का स्मरण होना स्वाभाविक है। ध्यातव्य है कि हमारे प्रमुख दर्शनों की अंतर्दृष्टियों का अनुसरण करती हुई भगवद्गीता अपने ढंग से जगह-जगह जीवनमुक्ति के आदर्श का समर्थन प्रस्तुत करती है। यह समर्थन कहीं स्थितप्रज्ञ अथवा ज्ञानी पुरुष की, कहीं योगी की प्रशंसा के रूप में प्रतिपादित होता है। गीता का स्पष्ट मत है कि जिनका मत साम्य में स्थित है उन्होंने यहीं, इस धरती के जीवन में, स्वर्ग अथवा मोक्ष की दशा को प्राप्त कर लिया है :

इहैव तैर्जित: स्वर्गो येषां साम्येस्थितं मन:। ५, १९

गीता के दूसरे अध्याय में किया गया स्थितप्रज्ञ का वर्णन अपने ढंग का अनूठा है। संभवत: ज्ञानी संत पुरुष का ऐसा सटीक वर्णन विश्व साहित्य में अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं है। यों लाउत्से की कृति के रूप में प्रख्यात 'ताउ तेह किंग' पुस्तक में भी संतोचित मनोभावों के अच्छे संकेत मिलतें हैं। वैसे ही 'न्यू टेस्टामेंट का पर्वत पर उपदेश'(Sermon on the Mount) आध्यात्म भावना से अनुप्राणित उच्च कोटि की नैतिकता का निर्देश करता है। वहाँ भी प्रकारांतर से यह संकेतित किया गया है कि संत कोटि

का धार्मिक या आध्यात्मिक पुरुष किसी के प्रति बैर-भाव नहीं रखता। किंतु गीता के स्थितप्रज्ञ में ज्ञान दृष्टि की प्रधानता है जो उसे सुख-दुख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि, द्वंद्वात्मक परिस्थितियों में समान संतुलन-समत्व की स्थिति से च्युत नहीं होने देती। बौद्ध धर्म में संत-प्रकृति की ओर बढ़ते या बढ़ने के इच्छुक साधक के लिए ब्रह्मविहार कहलाने वाली मनोवृत्तियों के संपादन का उपदेश है। ये चार मनोवृत्तियाँ मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा हैं जिनका उल्लेख 'योग सूत्र' में भी किया गया है। योग सूत्र के अनुसार उक्त मनोभाव चित्त के प्रसादन, गहरी प्रसन्नता अथवा शांति-संतुष्टि के साधन हैं। बौद्धधर्म के आचार्यों ने मैत्री नाम की वृत्ति का बड़ा ही विशद व्याख्यान किया है। धम्मपद की प्रसिद्ध उक्ति है :

नहि वैरेण वैराणि शाम्यन्तीह कदाचन,
अवैरेण हि शाम्यन्ति, एष धर्म: सनातन: ।

अर्थात् बैर-बैर से शांत नहीं होता; अबैर से ही शांत होता है, यह मानव स्वभाव का शाश्वत नियम है। मैत्री के मनोभाव की विस्तृत व्याख्या करते हुए कहा गया है कि आर्य साधक जिसने तृष्णा और द्वेष की भावना को जीत लिया है, अपने हृदय-चित्त या मन-चित्त के प्रेम भाव को सर्वत्र, सब दिशाओं में प्रसरित करता है-विश्व के समस्त क्षेत्रों में। इन सब मनोवैज्ञानिक दृष्टि-संपन्न उपदेशों का सार यही है कि दूसरों के प्रति सब प्रकार की दुर्भावनाओं का परित्याग तथा सद्भाव या मैत्रीभाव का संपादन करके मनुष्य आंतरिक शांति प्राप्त करता है। भगवद्गीता में उक्त कोटि की सात्त्विक साधुचर्या को भगवान के प्रिय भक्त की विशेषता कहकर वर्णित किया गया है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्र:करुणा एव च
निर्ममो निरहंकार: समदु:खसुख: क्षमी।
संतुष्ट: सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चय:
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्त: स मे प्रिय: । १२,१३-१४

उक्त दो श्लोकों में अध्यात्मचर्या के प्राय: सभी तत्त्वों का समावेश है। ये तत्त्व बौद्ध आचार्यों एवं संतों के उतने ही परिचित हैं जितने अनेक वैदिक धर्म संप्रदायों के शिक्षकों एवं साधकों के-भले ही उक्त अनेक आचार्यों की तात्त्विक मान्यताओं में मतभेद हों। द्रष्टव्य है कि हिंदू धर्म के अधिकांश आचार्य और स्वयं बुद्ध भी (जैसा कि पीछे कहा गया) साधकों को राज्यसत्ता से झगड़ा मोल लेने की प्रेरणा नहीं देते, उल्टे उससे बचे रहने की सलाह देते हैं। यद्यपि महायान संप्रदाय सिद्धांत में बोधिसत्त्व के आदर्श को सामने रखता है, पर बौद्ध धर्म की परंपरा ने किसी वैसे क्रियाशील बोधिसत्त्व को उत्पन्न किया, इसका प्रमाण भारतीय इतिहास में नहीं मिलता। जब यहाँ यवन आक्रमणकारियों व शासकों ने मंदिरों तथा विहारों को ध्वस्त करने के साथ-साथ निर्दोष जनसमुदाय पर तरह-तरह के अत्याचार किये तो संत पुरुष ने उन अत्याचारों के प्रतिकार के लिए तेजस्वी नेतृत्व नहीं दिया। बीसवीं शती में ऐसे धर्मप्राण का महत्त्वपूर्ण उदाहरण एकमात्र महात्मा गांधी का है जो सर्वत्र साधनों की शुद्धता पर उतना ही जोर देते थे जितना साध्य या साध्यों की उच्चता पर।

ध्यातव्य है कि हमारे शास्त्रों के अनुसार चित्त की शुद्धि और शांति का सबसे प्रभावी उपाय उन भोगैश्वर्यों के प्रति विरक्ति की भावना है जो हमें इतर मनुष्यों से संघर्ष की स्थिति में खड़ा कर देते हैं। इस प्रकार की भोग-सामग्री को हमने प्रतियोगिता या प्रतिस्पर्धापरक मूल्यों को कोटि में परिगणित किया है। इस तथ्य के संकेत के साथ हम अपने मानववादी जीवन-दर्शन के प्रमुख निष्कर्षों का सारांश प्रस्तुत करेंगे। जैसा कि हमने पहले भी कहा, जीवन-रक्षा के न्यूनतम साधनों की अपेक्षा हर व्यक्ति को होती है। फलत: जीविका का अर्जन हर किसी के लिए आवश्यक कर्म बन जाता है; इस अर्जन के लिए प्रत्येक

व्यक्ति को कमोवेश दूसरों से प्रतियोगिता की भूमि में चलना पड़ता है। किंतु उस तरह की प्रतियोगिता में पड़ते हुए भी यह जरूरी नहीं कि हम किसी दूसरे के प्रति सक्रिय ईर्ष्या और बैर का भाव रखें। साथ ही जीविका के लिए कर्तव्य-भावना से विहित कार्य करते हुए हम उस कार्य की क्षुद्रता या साधारणपने को नैतिक महत्त्व से मंडित कर देते हैं।

समाज, देश अथवा मानवता की कल्याणभावना से अनुष्ठित हर तरह की कर्मचर्या एक प्रकार की उदात्त साधना या वीरचर्या बन जाती है जो कल्पनाशील मनुष्य के जीवन के लिए आवश्यक आत्म संतोष का संबल बनती है। इसी को गीता ने निष्काम कर्मयोग की संज्ञा दी है। अधिक प्रतिभाशाली लोग जीविका के अर्जन के साथ-साथ किसी दूसरी दिशा में भी महत्त्वपूर्ण कार्य कर पाते हैं जो नैतिक-सांस्कृतिक भूमियों में विभिन्न, विविध रूप धारण करता है। भिन्न श्रेणियों के लेखक-विचारक, समाज सुधारक तथा क्रांतिकारी नेता उक्त श्रेणी के प्रतिभा पुरुष होते हैं। हम संकेत कर रहे हैं कि यथासंभव प्रतियोगिता के संकीर्ण क्षेत्र से, कम-से-कम मन-बुद्धि के धरातल पर, अपने को अलग रखते हुए मनुष्य अपनी जीवनचर्या को उदात्त मोड़ दे सकता है और इस प्रकार, सार्त्र के शब्दों में, अपनी नियति का स्वयं निर्माण कर सकता है। ध्यातव्य है कि अर्थपूर्ण जीवन किसी भी दशा में आलस्य व अकर्मण्यता का जीवन नहीं होता; इस आशय की शिक्षा के रूप में बौद्ध विचारक अप्रमाद नामक सद्गुण के संपादन पर विशेष जोर देते हैं।

इस प्रकार द्रष्टव्य है कि सभी प्रकार की क्रियाशीलता वास्तव में विविध मूल्यों के अनुसंधान की ओर उन्मुख और उसमें कुछ सहयोगी भी होते हैं परन्तु अनुसंधान की उक्त प्रक्रिया आवश्यक रूप में सर्जनात्मक होती है अर्थात् सर्जनशील जीवन-क्रिया व कर्मशीलता की अभिव्यक्ति। हमारे प्रयत्नों की लक्ष्यभूत मूल्य गुणात्मक दृष्टि से तर-तम भाव से विशेषित किये जाने चाहिए। उक्त मूल्यों के अन्वेषण-अनुसंधान की क्रिया न्यूनाधिक उस मनोवृत्ति से सहचरित रहनी चाहिए जिसे हमारे धर्म अध्यात्म के ग्रंथों में अनासक्ति भाव अथवा निष्काम वृत्ति कहा गया है। उक्त मनोभाव का सतर्क संपादन और व्यवहार में आकलन-अभिव्यक्ति निश्चय ही हमारे जीवनक्रम को श्लाघनीय अर्थवत्ता से मंडित करते हुए उसे लोकोत्तर ऊँचाई एवं औदात्त्य का आयाम (हीरोइक डाइमेंशन) प्रदान करते हैं।

***

संदर्भ-सूची

१. *मुक्ति का अर्थ स्वरूपलाभ है और वह, जीवनमुक्ति के रूप में, यहीं धरती के जीवन में संभव है। इस दोहरी भारतीय अवधारणा का विशद् उल्लेख प्रस्तुत लेखक की Humanism in Indian Thougnt (New Delhi : 1968) पुस्तक में हुआ है। अद्वैत मत के विस्तृत, शंकर के भाष्यों पर आधारित विवेचन के लिए हमारी An Introduction to Sankara's Theory of Knowledge (Motilal Banarsidass, Delhi ; Second Edition 1972) का दूसरा अध्याय द्रष्टव्य है।*

२. *यूरोपीय मनीषा ने किस प्रकार धीरे-धीरे विश्व-प्रक्रिया अथवा मानवीय संस्कृति की आवश्यक प्रगतिशीलता की अवधारणा को स्वीकृति दी, इसके सटीक विवरण के लिए देखिए : B. Bury, The Idea of Progress (New york :Dover Publication Ine, 1960)*

३. *बीसवीं शती के मोहभंग और उक्त परिवर्तित मनोभाव के सटीक विवरण के लिए देखिए, पितरिम ए. सोरकिन का आलेख Sociocultural Dynamics And Evolution", Twenteeth Century Sociology (eds. George Gurvich and Wilbert E. Moore), New York, 1948. इसमें प्रथम विश्वयुद्ध के बाद लिखित स्पेंगलर की प्रसिद्धि प्राप्त-पुस्तक Decline of the West का उल्लेख भी प्रासंगिक है।*

४. *इस स्थिति को लेकर महाभारतकार ने इस सटीक वक्तव्य या सम्मति को शब्दबद्ध किया है :*
यत्पृथिव्यां व्रीहि यवं हिरण्यं पशव: स्त्रिय:

नाडलमेकस्य तत्सर्वमिति पश्यन्न मुह्यति। (उद्योग पर्व)
यह धृतराष्ट्र के प्रति विदुर की उक्ति है। तात्पर्य यह कि 'धरती पर जितनी धन-धान्य-स्वर्ण आदि, और स्त्रियाँ भी (अर्थात् भोग्य वस्तुएँ) हैं, वे सब एक व्यक्ति के लिए भी पर्याप्त नहीं हैं। मनुष्य के लोभ का, कथित उपभोक्तावादी संस्कृति में पले और उसमें रमे व्यक्ति की कामना व जरूरतों का अंत नहीं हैं।
दे, चिंतामणि विनायक वैद्य द्वारा संकलित 'संक्षिप्त महाभारत', बंबई तीसरी आवृत्ति, 1912 ; पृ. 216

५. *भगवद्गीता 3, 9 गीता की यह अवधारणा कि कर्त्तव्य कर्म यज्ञरूप होता है, बड़ी उदात्त है। अन्यत्र कहा है, यज्ञ-दान-तप रूप कर्म मनीषी जनों को पवित्र करनेवाले अतएव त्याज्य नहीं हैं, वरन् कर्तव्य कार्य है। 18/3,5*

६. *स्वामी विवेकानंद ने एक व्याख्यान में कहा था कि नास्तिक वह नहीं है जो ईश्वर को नहीं मानता, वरन् वह जिसमें आत्मविश्वास नहीं है। (दे. Call to The Nation, Advaita Ashram Calcutta, 1971, p.26.)*

७. *दे. 'युगसाक्षी, अंक संख्या 6 और 8 (वर्ष 2), 'साहित्य किसलिए, किसके लिए?'*

८. *मनुष्य के अर्थपूर्ण जीवन और नियति के बारे में विविध मतवादों की जानकारी के लिए देखिए, जॉन पासमोर की कृति (The Perfectibility of Man (New york,1970)*

परिच्छेद : पाँच

सुरेन्द्र बारलिंगे

संज्ञान, सौन्दर्य एवं नैतिक मूल्य

5.1 संज्ञातता
5.2 ज्ञान-प्रक्रिया में निर्णय का स्थान
5.3 सामान्यता एवं आवश्यकता का तर्कशास्त्र
5.4 सौन्दर्यात्मक एवं नैतिक मूल्यों का स्वरूप
5.5 मार्क्सवाद और सौन्दर्य-मीमांसा

सुरेन्द्र बारलिंगे

१९१९ में जन्मे सुरेन्द्र शिवदास बारलिंगे अपने समय के गणमान्य स्वतंत्रता सेनानी, समाज चिंतक एवं दर्शनशास्त्री थे। नागपुर विश्वविद्यालय से एम.ए. (१९४२) एवं पी-एच.डी. (१९५६) की उपाधि प्राप्त कर वे उच्च अध्ययन के लिए ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय (१९५८-५९) पोस्ट डॉक्टोरल फैलो के रूप में गये। उन्होंने तिरुपति (१९५९-६२) और दिल्ली (१९६४-६८) में एशोसियेट प्रोफेसर के रूप में अध्यापन कार्य भी किया था। तदन्तर पुणे विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर के रूप में पदस्थापित हुए (१९७०-७९)। कुछ समय तक वे आस्ट्रेलिया में विजिटिंग प्रोफेसर एवं युगोस्लाविया में प्रोफेसर ऑफ इण्डियन फिलॉसफी भी रहे। ऐसे ही चीन, मारिशस, जापान, जर्मनी एवं अमेरिका इत्यादि देशों के प्रतिष्ठित विद्या संस्थानों में व्याख्यान देकर उन्होंने भारती विद्या को प्रसारित किया। प्रो. बारलिंगे पिपुल्स कॉलेस-नान्देड़ के संस्थापक प्राचार्य भी रहे। उन्होंने ही प्रताप सेन्टर ऑफ फिलॉसफी-अमलनेर एवं इण्डियन फिलॉसफिकल क्वाटर्ली पत्रिका को पुनर्जीवित किया था। परामर्श-हिन्दी एवं मराठी के वे संस्थापक सम्पादक भी रहे। महाराष्ट्र सरकार के साक्षरता एवं संस्कृति बोर्ड के चेयरमैन के रूप में उन्होंने १९८० से १९८८ तक सेवा प्रदान की थी। प्रो. बारलिंगे भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् के फैलो भी रहे। उनकी अनेकों कृतियाँ एवं लघुशोध-प्रबन्ध हिन्दी, अंग्रेजी एवं मराठी में प्रकाशित हुए हैं, उनमें ए मॉडर्न इन्ट्रोडक्शन टू इण्डियन लॉजिक, ए क्रिटिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न फिलॉसफी, पोवर्टी एण्ड प्रोग्रेस, बिलीफ, रिजन्स एण्ड रिफ्लेक्शन्स, भारतीय सौन्दर्य शास्त्र की नयी परिभाषा, सौन्दर्य तत्त्व और काव्य साहित्य इत्यादि प्रमुख हैं। राष्ट्रभाषा के प्रति उनके मन में अगाध प्रेम था। एतदर्थ वे अपनी मौलिक रचनाओं को समानान्तर रूप से हिन्दी में भी प्रस्तुत करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। तर्कशास्त्र एवं सौन्दर्य दर्शन पर उनकी स्थापनायें बहुत मौलिक रही हैं। प्रो. बारलिंगे अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के अध्यक्ष (राँची अधि.) भी मनोनीत हुये थे। उनका स्वर्गवास १९९७ में हुआ।

*

संज्ञातता

यद्यपि दार्शनिक इस जगत् के परस्पर विरुद्ध स्पष्टीकरण देते आये हैं। जैसे कि यह जगत् अचेतन और जड़ वस्तु है या वह जगत् संचालन (स्पोरुचिउल) वस्तु है, फिर भी हमें इस जगत् में भिन्न स्वभाव वाली घटनाएँ मिलती हैं, इसमें संदेह नहीं है। चाहे प्रतिवाद के लिए भी अगर हम मानें कि कुर्सी और उसपर बैठे मनुष्य या तो जड़ वस्तु हैं या चेतन, फिर भी वहाँ कुर्सी और उस पर बैठे मनुष्य में भेद करना पड़ेगा जैसे कि कुर्सी पर बैठे मनुष्य से बातचीत की जा सकती है, लेकिन उस कुर्सी से किसी भी तरह का वार्तालाप नहीं हो सकता। कुर्सी तो उपयोगी हैं, लेकिन औरों के लिए। वह मनुष्य भी औरों के लिए उपयोगी हो सकता है, परंतु उसका व्यक्तित्व उपेक्षित नहीं किया जा सकता। वह आपसे क्रुद्ध हो सकता है, खुश हो सकता है, खुद के लिए किसी वस्तु की चाह भी कर सकता है। कुर्सी का बर्ताव इस तरह से नहीं होता। अत: मूलत: दोनों कुर्सी और उस पर बैठे मनुष्य, किसी द्रव्य (तत्त्व) से बने हों-जड़ या चेतन, फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि मूलत: मनुष्य और कोई कुर्सी जैसी वस्तु में भेद है। यह भेद कैसे होता है ? एक उत्तर है कि मनुष्य जीता है, वह चेतन है, जैसे कि कुर्सी न तो जीती है न उसमें चेतनता है, यद्यपि कोई दार्शनिक अभ्युपगम के द्वारा यह कहा जा सकता है कि कुर्सी तो चेतन नहीं है और न वह चेतन अवयवों से बनी है। मनुष्य की यह चेतनता क्या चीज है ? क्या उसे स्वतंत्र अस्तित्वशाली कुछ चीज या ऐसी चीज माना जा सकता है जो शरीर से पृथक् न की जा सके ? देकार्त जैसे दार्शनिकों ने चेतनता को ऐसा द्रव्य माना है जो स्वयं अस्तित्त्ववान् होता है। इसका अर्थ है कि ऐसे दार्शनिकों के अनुसार चेतनता और जड़ शरीर पृथक् किये जा सकते हैं, यानी बिना शरीर के चेतनता रह सकती है, और बिना चेतनता के होते हुए शरीर का अस्तित्व है। दूसरे पर्याय का अनुभव मनुष्य की मृत्यु के समय होता है। अवश्य ही यह सच है कि मनुष्य की मृत्यु के समय उसकी चेतनता नष्ट हो जाती है, लेकिन उसका शरीर नहीं। लेकिन इस पर्याय से यह तो सिद्ध नहीं होता कि चेतनता का अपने आप में अस्तित्व है। पहले पर्याय का कोई अनुभव नहीं होता, लेकिन ऐसा प्रतिपादित किया जाता है कि आत्मा और भूत (पिशाच) देहविहीन अवस्था में अस्तित्व में रह सकते हैं और मृत्यु के उपरांत ऐसा अस्तित्व रहता है। यहाँ भी इस बात की ओर जरूर ध्यान देना चाहिए कि जो बहुत से लोग मृत्यु के बाद जीवन मानते हैं वे चेतनता को लिंग शरीर या कारण शरीर जैसे किसी शरीर की उपाधि मानते हैं। प्रस्तुत लेख का उद्देश्य न तो ऐसे भूत-पिशाचों का अस्तित्व मानना है न त्यागना है। इस तरह का खोज कार्य तो वितर्कात्मक (स्पेकुलेटीव), सत्ताशास्त्र (मेटाफिजिक्स) से संबंधित है। हमारे अनुभव के आधार पर हम इतना ही कह सकते हैं कि जब आदमी जीता है, उसके शरीर और चेतनता एक-दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते और वास्तव में लिंगदेह या कारणदेह में किया जाने वाला विश्वास इस अभ्युपगम को ही पुष्टि देता है। लिंग देह या कारणदेह के अभ्युपगम के समर्थक सिर्फ यही बतलाते हैं कि यद्यपि कोई स्थूल शरीर (ग्रोस बॉडी) और चेतनता में भेद किया जा सकता है, चेतनता कम से कम हरेक तरह के शरीर से विभक्त नहीं की जा सकती। कम से कम सूक्ष्म शरीर को तो उससे अविभक्त ही रहना

चाहिए। अत: अपने-आपमें अस्वित्ववान् चेतनता का अनुभव आपको नहीं होता। अतएव, चेतनता का अपने-आपमें अस्तित्व है या नहीं, इस बात का विचार-विमर्श हम नहीं करेंगे। हम सिर्फ इतना ही भेद करेंगे कि किसी वस्तु की चेतनता है और किसी वस्तु की चेतनता नहीं है या भासमान नहीं होती है। कभी-कभी यह चेतनता अस्तित्व में है, या नहीं है, इस प्रकार की क्रिया से व्यक्त की जाती है, जब है का प्रयोग सजीव वस्तुओं के साथ किया जाता है।

चेतनता या चेतन यह शब्द तो काफी संदिग्धता से प्रयोग में आता रहा है। एक तो इस शब्द से अमूर्तता की गंध आती है। जब हम कहते हैं कि मृत शरीर में चेतनता नहीं होती तो इसका अभिप्राय यह है कि मृत शरीर में चेतनता हो ही नहीं सकती। लेकिन जब कोई मूर्च्छित होता है तब भी हम कह सकते हैं कि वह अचेतन है, उसमें चेतनता नहीं है। लेकिन जब हम कहते हैं कि मूर्च्छित आदमी में चेतनता नहीं होती तो हमारा यह अभिप्राय नहीं होता कि वह मृत हुआ है, यद्यपि एक तरह से हम उसमें चेतनता का होना स्वीकार करते हैं। दूसरी दृष्टि से हम उसमें चेतनता सर्वत: स्वीकार नहीं कर पाते हैं फिर कौन से ऐसे भिन्न-भिन्न अर्थ हैं जिनमें हम चेतनता का व्यवहार करते हैं ? जब आदमी मृत होता है और हम कहते हैं कि उसमें चेतना नहीं है, इसका मतलब है कि शरीर कोई ऐसा ज्ञेन्द्रिय द्रव्य है जिसमें जीवन नहीं है (शरीर एक जीवनविहीन ज्ञेन्द्रिय द्रव्य है)। जब आदमी मूर्च्छित होता है, हम समझते हैं कि न तो वह जान सकता है, न याद कर सकता है,न कामना कर सकता है या चेतनता से कुछ कर नहीं सकता है, यद्यपि वह सजीव है और उसके शरीर में कुछ अनित्यवर्ती क्रियाएँ बिना किसी रुकावट के हो सकती हैं। उदाहरण के लिए वह श्वसन करता हो, उसके हृदय की गति अविरल रहे और उसके फेफड़े तथा कर्मेंद्रिय कार्यरत हों। यद्यपि आदमी मूर्च्छित हो, एक तरह से वह चेतन है अर्थात् जीवित है। दूसरी तरह से आदमी चेतन है और बिना जीवित हुए या चेतनता के रहते हुए कोई भी चेतन नहीं कहला पाता। लेकिन चेतन होना और सिर्फ कुछ मात्रा में चेतनता होना, इसमें अंतर है। इस प्रकार चेतन होना आदमी की संज्ञानता (अवेयरनेस) सूचित करता है। चेतन या चेतनता इस शब्द के पहले प्रयोग का सिर्फ जैविक (बायोलोजिकल) महत्त्व ही है तो दूसरा प्रयोग ज्ञानात्मक (एपिस्टेमिक) महत्त्व रखता है।

यह तो सर्वसम्मत ही होगा कि जब कोई मूर्च्छित होता है तब वह न तो जानता है और न यह जानता है कि वह जानता है या नहीं। अत: किसी के (1) जानने और (2) किसी के यह जानने कि वह जानता है, इन दोनों में भेद करना पड़ेगा। इनमें से दूसरे को ही कभी-कभी आत्म-चेतनता (सेल्फ-कॉन्शसनेस) से संबोधित किया जाता है। यह तो कोई आवश्यक नहीं कि जब आदमी जानता है, तब वह चेतन से यह जानता है कि वह जानता है। लेकिन कभी-कभी तो वह जानता है, तब वह चेतन से यह जानता है कि वह जानता है लेकिन कभी-कभी तो वह जानता है कि वह नहीं जानता है। अत: आदमी अपने जानने को जानता है, इस बात की संभावना है। जब वह सिर्फ जानता है या किसी वस्तु का प्रत्यक्ष उसे होता है तब क्या उस दूसरी अवस्था, आत्म-चेतनता का उसमें संपूर्ण अभाव ही रहता है ? प्राय: ज्ञान की अवस्था (सिचुएशन) या प्रत्यक्ष की अवस्थाएँ संगुम्फीत या मिश्रित (कंप्लेक्स) होती हैं और ऐसी अवस्थाओं में पहचान (रिकगनीशन) का तत्त्व होता है। क्या पहचान में किसी की संज्ञानता (अवेरनेस) गृहीत है ? (इस स्मृति की स्थिति (स्टेट्स) के बारे में भी प्रश्न हो सकता है। क्या, बिना किसी के चेतन हुए स्मृति हो सकती है ?) जैसे अध्यवसाय को लीजिए। क्या इस अवस्था में (1) अहं या ज्ञाता या (2) अहं या ज्ञाता का ज्ञान ये दोनों ही ग्रहीत हैं ? देकार्त की युक्ति मैं सोचता हूँ, अत: मैं हूँ, पहले पार्यय पर खड़ी रह सकती है। बिना अहं के संज्ञात अहं हो सकता है। लेकिन यदि यह अहं चेतनता से भिन्न नहीं हैं, तो उस स्थिति में क्या हम यह कह पायेंगे कि हमारी चेतनता हमारे संज्ञान से रहित है ? दूसरे शब्दों में, अगर किसी ज्ञान-अवस्था में अहं गृहीत है और अगर यह अहं संज्ञान से भिन्न नहीं

है तो क्या मैं यह कह सकता हूँ कि अहं है लेकिन यह अहं ज्ञान-अवस्था में ज्ञात नहीं है ? (क्योंकि, अहं किसी सत्ताशास्त्रीय वस्तु को इंगित करने के बिना किसी ज्ञान-अवस्था को ही सूचित करेगा। ज्ञान के लिए सचेतन देह का गृहीत होना और न होना संभवनीय नहीं है) । मुझे ऐसा लगता है कि जब देकार्त ने कहा कि मैं सोचता हूँ अत: मैं हूँ, उसके मन में शायद यह ज्ञान विषयक अहं, यानी संज्ञानता हो या यद्यपि उसके बदले में गल्ती से उसने सत्ताशास्त्रीय अहं को स्वीकारा। सत्ताशास्त्रीय अहं (यानी जैविक चेतनता) शरीर से अलग नहीं किया जा सकता। ज्ञानात्मक अहं को शरीर से अलग करने का तो सवाल ही नहीं उठता। वस्तुत: सच बात तो यह है कि जब मैं वस्तुओं के बारे में चेतन हूँ, यानी मैं उन्हें जानता हूँ, अभिज्ञ हूँ, क्या मैं वस्तुओं के बारे में इस अर्थ में भी चेतन हूँ कि मैं उनके बारे में संज्ञान हूँ, यानी मैं जानता हूँ कि मैं जानता हूँ। लेकिन मैं अपने बारे में या चेतनता के बारे में संज्ञात हूँ या नहीं, मेरी वस्तु संबंधित चेतनता अवश्य ही चेतनता को गृहीत समझती है। और यह चेतनता तथा संज्ञानता इन दोनों को एक-दूसरे से पूरी तरह से भिन्न नहीं माना जा सकता। इसी कारण से मैं अपनी चेतनता के बारे में चेतन हूँ और मैं अपनी चेतनता से चेतन हूँ, इसके बारे में भी चेतन रहता हूँ। लेकिन हरेक समय आप यह तो नहीं कह सकते कि अहं विभिन्न है। अत: जबकि मेरा शरीर और मेरी जैविक चेतनता इनमें भेद किया जा सकता है और मेरी जैविक चेतनता तथा ज्ञानात्मक चेतनता में भी भेद किया जा सकता है, मेरी ज्ञान विषयक चेतनता मेरी जैविक चेतनता से संपूर्ण रूप में अलग और भिन्न नहीं मानी जा सकती। यह ज्ञानात्मक चेतनता ही संज्ञानता है और मेरी दृष्टि से यही आत्मचेतना का केंद्र-बिंदु है।

(अर्थात् हमें, आत्मचेतनता (सेल्फकॉन्शसनेस), चेतनता और चेतनता की ऐसी अंतिमावस्था कि जहाँ जीवितता और चेतनता एकरूप है, ऐसी सभी अवस्थाओं में अवश्य ही भेद करना चाहिए)।

मुझे अपनी इस बात को और अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है। आदमी और अन्य प्राणियों में क्या अंतर है ? इस प्रश्न को ही लीजिए। एक तरह से दोनों चेतन हैं- यानी सजीव हैं। जहाँ तक प्रेरणाओं (ड्राईम्स) तथा वासनाओं (अरजेज) का सवाल है, आदमी और प्राणियों में कोई भेद दिखाई नहीं देता। प्यास, काम-वासना, भय, निद्रा तथा क्षुधा तो आदमी और अन्य प्राणियों के लिए एक जैसी ही है। एक ही महत्त्वपूर्ण भेद दिखाई देता हैं कि प्राणियों में होने वाली अंध-प्रेरणा की जगह आदमी में अपने कार्य की जानकारी होती है। मनुष्य की यह क्रिया प्रयोजनात्मक है। यह चेतन क्रिया है क्योंकि आदमी तर्क द्वारा चिंतन करके अपनी भावनाओं को तृप्त कर लेता है। लेकिन प्राणी उसे अधिकतर अंधता से अविवेकपूर्णता से करते हैं। आदमी तो अपने कृत्यों के बारे में संज्ञात है और इसी संज्ञातता से उसे सुख या आनंद का अधिकांश प्राप्त होता है। आदमी और प्राणियों में होने वाला यह अंतर इस तरह से दिखाया जा सकता है। पशु अपनी कामवासना विशिष्ट काल में ही पूर्ण कर सकता है। आदमी तो किसी भी समय इसे कर लेता है। उसी तरह, चाहे आदमी कामवासना से आकृष्ट हो, रति के कर्म से दूर हो सकते हैं। विरक्त हो सकते हैं। वे अपने कर्म के प्रति संज्ञात हैं और यही संज्ञात उन्हें अपने से किये जाने वाले कर्मों से परावृत करने में मदद देता है। जिन लोगों में यह संज्ञानता नहीं है, वे न तो ऐसे कर्म कर सकते हैं और न कर्म करने से स्वयं परावृत हो सकते हैं। मनुष्य में होने वाले चेतनता का यह विशेष (अधिक) तत्त्व उनके शिक्षा तथा अनुशासन में काफी महत्त्व रखता हैं, और जब उनके अनुकूल समय आता है तब आदत से सीखी बातों को वे प्रयोग में लाते हैं। तोता और बच्चा दोनों को कुछ शब्द सिखाये जा सकते हैं। लेकिन कुछ देर बाद बच्चा ठीक तोते के विरुद्ध अपने सीखे शब्दों का औरों से बोलने के लिए प्रयोग कर सकता है। इस बात को और भी स्पष्ट करना आवश्यक है। अपने हाथ-पैर हिलाने वाले शिशु अवश्य ही चेतन हैं। मैं नहीं समझता कि इन क्रियाओं को आत्मचेतन क्रियाएँ कहा जायेगा। हम यह भी देखते हैं कि बालक कभी-कभी हंसता है। क्या यह असल में हंसना है या मात्र

शारीरिक क्रिया है ? क्योंकि, उसका हंसना इस बात की ओर तो लक्ष्य नहीं करता कि वह अपनी क्रिया के प्रति संज्ञात है। शायद सुस्पष्ट संप्रेषण तो दूर की बात रही कुछ अधिक आयु के किशोर बालक की हंसी की तुलना करके देखिए। यह हंसी इस बात को सूचित करती है कि किशोर अब पहचान सकता है। यही ऐसी हंसी जो सिर्फ चेहरे की हलचल है और किसी तरह की पहचान से रिक्त है उससे ऐसी हंसी, जिसमें पहचान सूचित है, को भिन्न मानना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि किशोर न मात्र हंसता है बल्कि औरों को जानता भी है, पहचानता है और इसी को सूचित करने के लिए हलचल करता है। उसकी हंसी एक ऐसी ही क्रिया है। मानव व्यवहार तथा पशुओं के व्यवहार के भेद को हम और भी विस्तार से कहें। कभी-कभी हम कहते हैं कि बंदर अनुकरण करता है या नकल उतारता है। यदि हम उसे अपनी जीभ दिखाएँ तो वह वही करता है, अगर दांत दिखाएँ तो तुरंत वह वैसा ही करता है। शायद बंदर अपनी कृतियों के प्रति चेतन है। इसीलिए जब कोई किसी के ढंग तथा आचरण का अनुकरण करता है तब हम कहते हैं कि वह बंदर की तरह व्यवहार करता है- मर्कटचेष्टाएँ करता है। किंतु बंदर के अनुकरण की अभिनेता की क्रियाओं से तुलना करके देखें। कोई कहेगा कि अभिनेता भी अनुकरण करता है। लेकिन क्या अभिनेता के अभिनय तथा बंदर के अनुकरण में कोई अंतर नहीं ? क्या हम बंदर को अभिनय करा पायेंगे ? क्या आदमी बगैर बंदर या कोई भी पशु ढोंग कर सकेगा या झूठ बोल सकेगा ? मुझे यह अवश्य ही सूचित करना चाहिए कि प्रतिशिक्षण (कंडीशंड) क्रिया तथा चेतनता से नियंत्रित क्रिया में हमें भेद करना चाहिए। कहा जाता है कि घोड़ा दौड़ता है न कि दौड़-प्रतियोगिता लगाता है। पशुओं में होने वाली आत्मचेतनता के उदाहरण कोई बता सकता है। लेकिन आदमी की आत्मचेतना तथा पशु की आत्मचेतनता में महत्त्वपूर्ण अंतर है। गाय अगर चाहे कि वह दूध न दे, तो ग्वाला दूध दुह नहीं पाएगा। शायद इस बात को आत्मचेतनता का उदाहरण माना जाएगा। लेकिन आदमी के व्यवहार तथा गाय के व्यवहार में काफी भेद है। निश्चयपूर्वक कोई ऐसा नहीं कह सकता कि गाय को स्मृति है, ठीक आदमी जैसी स्मृति। अत: यह तो शंकास्पद ही है कि क्या गाय लंबे अर्से के लिए ठीक एक तरह के व्यवहार में अपने को जुटा पायेगी। किसी साधन या हथियार को उपयोग में लाने की संभावना भी हमारी पूछ-ताछ में उतना ही साधन-हथियार का उपयोग करने की क्षमता प्राप्त कर देती है। अर्थात् कोई ऐसे भी कह सकता है कि पशु भी हथियार इस्तेमाल करते हैं। मैक्डूगल अपने मनोविज्ञान में ऐसे तितैया की कहानी उद्धृत करता है कि जो हथियार इस्तेमाल करता है। लेकिन साधन या हथियार को उपयोग में लाने वाले तितैये और मानव में काफी फर्क है। क्या पशु आत्महत्या करते हैं ? अर्थात् कुछ कुत्तों तथा बैलों की कहानियाँ सुनने में आती है जो अपने पालनकर्त्ता स्वामी के पश्चात् जीवित नहीं रह पाते। लेकिन सवाल तो यह है कि क्या वे जानते थे कि वे क्या कर रहें हैं ? क्लावा (एलीनेशन) की घटना भी उतनी ही जटिल (इंट्रोजोम) है। कल्पना कीजिए कि कोई आदमी सोचता है कि वह औरत हो। किसी औरत को लिंग परिवर्तन की चाह हो सकती है। ऐसी घटना भी बताई जाती है कि कोई मत्स्य अपना लिंग बदल देता है। लेकिन यह तो निश्चयपूर्वक बिना किसी हिचकिचाहट से नहीं कहा जा सकता कि मत्स्य का यह कर्म उसके लिए संज्ञानता है। आत्मचेतनता का निर्णय करने में संप्रेषण ही प्रमुख तत्त्व दिखाई देता है। उदाहरणार्थ कोई पूछेगा कि तुम कैसे जानते हो कि वनस्पतियों में आत्मचेतनता नहीं होती ? मुझे लगता है यदि उनमें चेतनता होती तो हमें वह ज्ञान हो जाता। मेरी धारणा है कि आत्मचेतन ही प्राण से संप्रेषण करने में समर्थ होते हैं। मनगढंत कहानियों या परियों की कथाओं या दंतकथाओं में पशु-पक्षियों के संभाषण की बात कही जाती हैं। अगर सचमुच ही उनकी कोई भाषा होती तो, जैसे दो विभिन्न भाषाओं के लोगों में संप्रेषण होता है, पशु-पक्षियों तथा आदमियों में भी वैसा ही संप्रेषण होता। मैं यह नहीं कहता कि यह सर्वथा असंभव

है। वैसे देखा जाए तो तोता और मनुष्य में थोड़ा संप्रेषण होता है। उसी तरह हमारा कुत्ते के साथ भी संप्रेषण हो सकता है लेकिन इस तरह का संप्रेषण अत्यंत प्राथमिक कोटि का है। अतएव ऐसा कहना चाहिए कि पशुओं का व्यवहार प्राय: सहज प्रवृत्त या वासनाप्रवृत्त (इन्सटिक्टिव) है, जबकि मानव व्यवहार अविकार आत्मचेतन है। उसका आत्मचेतन व्यवहार उसे अपने व्यवहार को नियंत्रित करने में समर्थ करता है। फिर भी मैं यह नहीं कहना चाहता कि नियंत्रण और आत्मचेतनता में तादात्म्य है अथवा वे एक दूसरे से भिन्न हैं। जब सहज प्रवृत्यात्मक या वासना प्रवृत्यात्मक क्षुधाएँ (इन्सटिक्टिव ड्राईम्स) हमारे चेतन व्यवहार से या आत्मचेतनता से संशोधित की जाती है तब हम विल की संकल्पना करते हैं। बहरहाल, मैं मानता हूँ कि यह नियंत्रण आत्मचेतनता से अलग नहीं किया जा सकता। (वस्तुत: मैं ऐसा ही कहना चाहता हूँ कि यह नियंत्रण पिच्युएटरी ग्रंथि जैसा निरोध का कार्य करता है और सभी चेतन क्रियाओं को नियंत्रण में रखता है।) मैं ऐसा भी सोचता हूँ कि आत्मचेतनता का यह निरोधतत्त्व ही मनुष्य की स्वतंत्रता का सार है, मूल है। सिर्फ इसी के कारण आदमी चयन (च्वाइस) कर सकता है, इच्छा कर सकता है, कामना कर सकता है (इंटेंड) तथा अभिलाषा या आकांक्षा (डिजायर) कर सकता है, आत्मनिर्णय कर सकता है। योगसूत्र में पतंजलि योग को चित्तवृत्ति निरोध कहते हैं। चित्त, चित्तवृत्ति या चित्तवृत्ति निरोध, इनमें होने वाले भेद को देखना उपयुक्त बात होगी। पहले, चित्त तथा वह जो चित्त नहीं उनमें अंतर करना चाहिए। जो केवल जड़ द्रव्य है, जहाँ किसी भी रूप में चेतनता की अभिव्यक्ति नहीं है उसको हम अचित्त कहें। चित्त, चित्तवृत्ति तथा चित्तवृत्तिनिरोध ये दोनों अवस्थाएँ चेतन की अवस्थाएँ हैं। लेकिन मानचित्र तो चित्तवृत्ति से भिन्न है। वनस्पति जीवन को चित्त कहा जा सकता है, चित्तवृत्ति नहीं। वनस्पति में क्रोध, भावना, वासना, रतिक्रिया जैसी चेतनता की विविधताएँ या विभिन्नता दिखाई नहीं देती हैं। यह तो केवल प्राणियों में ही पायी जाती है। किंतु प्राणी उन अवस्थाओं के अधीन होते हैं, प्राणियों का उन अवस्थाओं पर नियंत्रण नहीं रहता। यह नियंत्रण निरोध शब्द से बताया गया है। भूखे आदमी को जो दिया गया है उसे वह खाएगा। लेकिन यदि उसकी स्वतंत्रता को ठेस पहुँचे तो वह अनशन का निर्णय लेगा। जब महात्मा गाँधी अनशन करते थे, तब वे कोई बदहजमी से परास्त होने के कारण नहीं करते थे। उसी तरह जब मैं कुछ भी लेना चाहता, सभ्यता के नाते एकाध कप चांय ले लेता हूँ। ये दोनों बातें प्राथमिक निरोध ही हैं। अतएव मुझे लगता है कि निर्णायक इच्छा की कटुसंकल्पना या निरोध (नियंत्रण) की संकल्पना और आत्मचेतनता इनको पृथक् सिद्ध नहीं माना जा सकता, चाहे उनके कार्यों में भेद किया जा सके। यह बड़े मजे की बात है कि अरस्तु (अरिस्टोटिल) ने ठीक इसी तरह का भेद किया है, जब उसने मानव जगत्, पशु जगत्, वनस्पति जगत् तथा खनिज जगत् के बारे में कहा है। यह अवश्य जानना चाहिए कि यह वर्गीकरण वस्तुओं का है, संकल्पनाओं का नहीं। जड़ या अचेतन जगत् को छोड़कर बाकी सभी जगत् में जड़द्रव्य तथा चेतनता एकत्र है और इसी करण यह वस्तुगत विभाजन (फिजीकल डिवीजन) है और वर्गीकरण नहीं है, जैसा वर्गीकरण जड़ तत्त्व और चेतनता को दो अलग द्रव्य मान करके देकार्त ने किया है। लेकिन यदि दो तत्त्व भिन्न-भिन्न अस्तित्त्व में नहीं हैं तो यह मात्र अमूर्तीकरण ही होगा। अब तक जो कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि मनुष्य के अनुभव के तीन स्तरों में हम भेद कर सकते हैं और इन तीन स्तरों से चेतनता के तीन प्रकार भी जुड़े हुए हैं, यद्यपि वे मात्र एक ही चेतनता की- जैविक चेतनता की अभिव्यक्तियाँ हैं। पहला है, जब आदमी का बाह्य जगत् का, बिना इसके प्रतिसंज्ञान हुए, अनुभव होता है, दूसरा, जब वह या तो अपने आंतरिक अवस्थाओं के प्रति या बाह्य जगत् के प्रति संज्ञात है। अर्थात् उसका बाह्य जगत् के प्रति संज्ञात होना और वह बाह्य जगत् के प्रति संज्ञात है, इस बात के प्रति संज्ञात होना-इनमें कोई विशेष भेद नहीं है, जहाँ तक कि दोनों अवस्थाएँ एक ही संज्ञातता की ओर निर्देश करती है। स्वप्न की बात तो और

ही जटिल है। स्वप्न में ऐसा लगता है कि हम अनुभव के प्रति संज्ञात हैं। लेकिन जब हमारा स्वप्न खुल जाता है, या तो हमें स्वप्न का कुछ हिस्सा ही याद आता है या कुछ भी याद नहीं आता। लेकिन स्वप्नावस्था में या तो बाह्य पदार्थ अपूर्ण प्रतिसाद देते हैं या बिल्कुल अस्तित्व में ही नहीं होते। बहराहाल, ऐसा कहा जा सकता है कि स्वप्नावस्था में ज्ञाता तथा ज्ञेय ये केवल चेतनता-सी ही अवस्थाएँ होती हैं, हमें तीसरी विधि मिलती है जब आदमी इस अर्थ में चेतन होता है कि वह जीवित है बल्कि न तो इस दृष्टि से चेतन है कि उसके बारे में बाह्य जगत् का प्रत्यक्ष संभव है, न इस अर्थ में कि उसे आंतरिक अनुभव प्राप्त है। जीवित आदमी के सम्बन्ध में ऐसी हालत तब आती है जब वह या तो गाढ़ निद्रा में हो या पूर्णतया अचेतन मूर्च्छित हो। इन तीन अवस्थाओं की कारण-मीमांसा में मुझे रुचि नहीं है, इतना जानना काफी है कि ये तीन अवस्थाएँ होती है। पुन: यद्यपि वे किसी वस्तुस्थिति की अभिव्यक्तियाँ हैं, अपने अस्तित्व के लिए वे शरीर पर निर्भर हैं। यदि इन तीनों अवस्थाओं का निर्णय किया जाए तो जीवित मनुष्य तथा मृत मनुष्य में कोई भेद नहीं होगा। संक्षेप में, किसी भी तरह से ज्ञान की संभावना ही हट जाएगी। वहाँ सिर्फ वस्तुस्थिति (स्टेट ऑफ अफेयर्स) रहेगी, ज्ञान की अवस्था नहीं रहेगी। ज्ञान की अवस्थाएँ अस्तित्व की अवस्थाओं में विलीन हो जाएँगी।

अब तक किए विवरण के संबंध में निम्नलिखित प्रकथनों का विचार किया जाए-

1. यह फूल है।

2. मैं जानता हूँ (कि) यह फूल है।

3. इस फूल को हासिल करने की मेरी कामना है।

4. मेरा निर्णायक संकल्प है कि ऐसा ही प्रथम प्रकथन यह फूल है यदि सच है तो ज्ञान-अवस्था का द्योतक है। इस अवस्था के सदृश (कोरेस्पोडिंग) कोई वस्तुस्थिति या स्टेट ऑफ अफेयर्स अवश्य होगी। चाहे ज्ञाता को मालूम हो या न हो कि यह फूल है, या अवस्था (अस्तित्व में) जरूर होनी चाहिए। जब कोई कहता है कि यह फूल है, तब ज्ञाता के मन पट ल पर किसी प्रकार की छाप उठती है। लेकिन एक बात तो स्पष्ट दिखाई देती है कि फूल का होना (देयर बींग ए फ्लावर) फूल है (देयर इज ए फ्लावर) से अलग है। यह भेद किसी तरह से सत्ताशास्त्रीय अवस्था तथा ज्ञानविषयक-अवस्था के भेद को बताती है। जब कोई कहता है कि यह फूल है, अवश्य ही वहाँ कोई सच का दावा है। यह सच का दावा सत्ता-शास्त्रीय अवस्था पर निर्भर है। पर, क्या वह ज्ञाता पर भी निर्भर नहीं है ? मान लिया जाए कि जानने वाला अपने ज्ञान के प्रति संज्ञात नहीं हैं, क्या बिना यह जाने कि ज्ञाता कुछ करता है, ज्ञान संभव है ? क्या यह बात नहीं कि ज्ञाता की क्रिया से ही यह ज्ञान विषयक अवस्था उत्पन्न होती है। चाहे ज्ञान सत्ताशास्त्रीय अवस्था की केवल अकर्मण्य ध्वनि ही क्यों न हो, ज्ञेयवस्तु को ज्ञान से भिन्न मानना ही चाहिए। यदि वहाँ ज्ञाता तथा ज्ञेय की छाप ज्ञाता में प्रविष्ट होनी चाहिए, ज्ञाता का अंग बननी चाहिए जो आदमी या तो गाढ़ी निद्रा में सोया है या मूर्च्छित है, ज्ञेय के साथ रहता है, लेकिन हम यह नहीं कहते कि वह ज्ञेय को जानता है। यद्यपि ज्ञान ज्ञेय से नियंत्रित है, यदि इस ज्ञेय को छायाचित्रण -पटल पर छायाचित्रित किया जाए, वह ज्ञान नहीं होगा। इस संपूर्ण अवस्था में ज्ञाता की भूमिका कितनी भी छोटी क्यों न हो, वर्जित नहीं की जा सकती। बिना ज्ञाता की विशिष्ट क्रिया से ज्ञान संभव नहीं है। कम से कम संस्कार (इम्प्रेशन) ग्रहण करन के लिए उसे अवधान (अटेंशन) देना चाहिए। बिना अवधान के ज्ञेय का ज्ञाता से संबंध प्रस्थापित नहीं हो सकता, और जहाँ तक ज्ञेय उस तरह से संबंधित नहीं होता, ज्ञान संभव नहीं होता। ज्ञाता का यह अवधान न तो उसका विशेषण है न विधेय। वह स्वयं ज्ञाता ही है। वह संज्ञानता है। इसका क्या स्वरूप है ? मुझे ऐसा लगता है कि क्रिया में कोई कोई प्रयोजन या कोई उद्देश्य या कोई निर्देशन सम्मिलित है, यद्यपि इस संज्ञानता के प्रति कोई संज्ञात न हो। इस संदर्भ में अवधान का अर्थ है एक

के स्थान पर किसी दूसरे को चुनना। मैं सोचता हूँ कि निर्णायक इच्छा या स्वतंत्रता का यही सार है। भले ही कोई अपने कार्य के प्रतिक्रियाओं के प्रति अथवा निर्णायक इच्छा के प्रति, संज्ञान न हो, किंतु वस्तु प्रत्यक्ष की क्रिया में उसका कुछ तो प्राथमिक अंश अवश्य ही मौजूद होना चाहिए। जब कोई सोचता है तब क्या होता है ? सोचने के लिए कोई विषय होगा, स्मृतिचित्र तथा संकल्पनाएँ होंगी। परंतु स्मृतिचित्र तथा संकल्पनाएं अपने में विचार-प्रक्रिया नहीं होंगे। अगर कोई सुयोग्य चयन (सेलेक्शन) तथा वरण है, वहाँ विचार-प्रक्रिया है, अन्यथा वह मात्र स्वप्न है, मात्र कल्पनाओं की लंबी शृङ्खला (चेन ऑफ आइडियाज) है। अर्थात् मैं यह नहीं कहना चाहता कि कल्पना की लंबी शृंखला या स्वप्न ये सब बिना किसी निर्देशन (डाइरेक्शन) के अकर्मण्य घटनाएँ हैं, और यदि वे अकर्मण्य नहीं हैं तो असल में मेरे सिद्धांत की पुष्टि करती हैं।

जब कोई अपने ज्ञान के प्रति या स्वयं के प्रति संज्ञात होता है तब क्या होता है ? मान लें कि मैं जानता हूँ कि वह फूल है। इस आत्मचेतनता का क्या स्वरूप है ? यह तो कोई इत्तफाक की बात नहीं कि मैं फूल के अस्तित्त्व के प्रति संज्ञात हूँ। यह संज्ञातता तो मेरे अवधान अथवा मेरी चेतनता का निश्चयात्मक उदाहरण है। लेकिन अवधान तथा चेतनता एक-दूसरे से पृथक् नहीं किए जा सकते। अवधान ही आत्म-चेतनता में चेतन बनता है। इस बात को ऐसा भी कहा जा सकता है कि हम फूल विषयक अपने ज्ञान की ओर अवधान देते हैं। मेरी दृष्टि में यह अवधान-तत्त्व ही निर्णायक या संकल्प का तत्त्व है। या दूसरे शब्दों में कहा जाए तो आत्मा से निर्णायक इच्छा या चेतनता को अलग नहीं किया जा सकता है। जब कोई बात करता है, इच्छा के निर्णायक, इच्छा के इस अंग को भूल नहीं सकता। देख लें कि जब मैं कहता हूँ मुझे किसी वस्तु की चाह या अभिलाषा (डिजायर) है तब क्या होता है। यहाँ सच का दावा बिल्कुल गायब है। मैं सिर्फ इस बात के प्रति संज्ञात हो सकता हूँ कि मुझे कुछ प्राप्त करने की चाह है, चाहे वह अस्तित्त्व में हो या न हो। यहाँ कुछ दावा किया गया है, लेकिन संज्ञानता का या अवधान का दावा नहीं है। ज्ञाता ने चयन अवश्य ही किया है। अर्थात् यहाँ चेतन चयन का दावा है। इस अवस्था को विश्वास (बिलीफ) या श्रद्धा से संतुलित किया जा सकता है। विश्वास अवस्था में, ऐसा लगता है कि चयन का दावा है लेकिन यह अचेतन है। अगर इस विश्वास के दावे को सच के दावे से पुष्ट किया जाय तो यह विश्वास का दावा अचेतन नहीं होगा और उसे विवेकपूर्ण विश्वासों या गृहीतों का स्थान प्राप्त होगा। यह कामना अवस्था की क्षुधा अवस्था से तुलना करना ठीक होगा। क्षुधा अवस्था में आप अपनी भूख तथा खाद्य के प्रति संज्ञात होते हैं पर वहाँ चयन के लिए कोई अवकाश नहीं है। वासनाएँ या प्राथमिक प्रेरणाएँ हों, तुम्हारे लिए वह चयन कर देता है। आदर्शवादियों (आडिओलोजिस्ट्स) की निर्णय अवस्थाएँ (जजमेंट सिचुएशन) इस क्षुधा अवस्था जैसी ही है। जब आपको निर्णय करना पड़ता है तब विशिष्ट निर्णय करने के बगैर कोई पर्याय नहीं होता। जब मैं कोई चीज चाहता हूँ (डिजायर), मैं अपनी चाह के प्रति तथा अन्य वस्तुओं के प्रति भी सतर्क रहता हूँ। और अन्य चीजों से मेरी चाह के विषय (आब्जेक्ट) से तुलना भी करता हूँ, मूल्याँकन भी करता हूँ, यानी कि, जहाँ तक हो सके, मेरी चाह का विषय मेरे लिए, केवल मेरे लिए अच्छा है, ऐसा समझ लेता हूँ। सिर्फ इन बातों का सामान्यीकरण नहीं होता है। बहरहाल मैं कोई चीज चाहता हूँ, मेरी चाह, काल और अवस्था से निर्धारित रहती है। और साधारणतया हम कह सकते हैं कि मेरी चाह का मतलब मैं नहीं है। यानी मेरी चाह मेरा स्वरूप नहीं है। वह मेरे लिए बाहरी हो सकती है। कामनाएँ नित्य और निर्णायक नहीं होती। कामना में यदि कोई नित्य निर्णायक है तो, मैं कहता हूँ, वह मेरी निर्णायक इच्छा है। मरणासन्न आदमी अपनी वसीयत करता है। यह उसकी नित्य-निर्णायक कामना का दस्तावेज है। संक्षेप में, निर्णायक इच्छा, कामना तथा संज्ञातता में कोई अविरल एक अपना है यद्यपि पूर्ण वस्तुनिष्ठ ज्ञान अवस्था में यह संज्ञातता या निर्णायक

इच्छा का अंश अभिव्यक्त नहीं है। यहाँ है वह निर्णायक तत्त्व जिसके कारण आदमी पशु तथा वनस्पति या एकेंद्रिय पदार्थों से भिन्न है। यद्यपि में यह नहीं कहता कि यह निर्णायक इच्छा या संज्ञातता जड़ द्रव्य से भिन्न होकर अपना अस्तित्त्व रखती है, मुझे लगता है कि व्यक्तित्व के अन्य तत्त्वों से इसका भेद करना चाहिए और इसी तत्त्व को आत्मा या अहं की संज्ञा देना चाहता हूँ। मेरा विचार है कि आत्मन् कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है, यद्यपि इसका ज्ञानशास्त्र तथा समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

यह दुर्दैव है कि दार्शनिकों ने अहं या आत्मन् को संपूर्णतया स्वतंत्र अस्तित्त्व वाली वस्तु मानकर तथा सत्ताशास्त्रीय स्वरूप देकर गूढ़ बना दिया है। मानव के अज्ञान के कारण ही यह गूढ़ता आ जाती है और मानव की धार्मिकता (रेलिजीओसिटी) उसे तुरंत स्वीकार कर लेती हैं और मानते हैं कि हमारा कर्म ही संचित और प्रारब्ध ही पुर्नजन्म को निर्धारित करते हैं। हम ऐसा भी मानते हैं कि यह कर्म तथा आत्मा मिलकर लिंग देह बनता है और मृत्यु के बाद उसे (कर्मानुरूप) फल भुगतना पड़ता है- दंड या पुरस्कार मिलता है। इस तरह की अनेकों कहामियाँ गरुड़-पुराण में पायी जाती हैं। लेकिन जहाँ आत्मा का विचार किया गया है ऐसे दर्शन ग्रंथों से भी अर्थात् किसी कारणवश शब्दों का विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया जा सकता है। गौड़पाद कभी-कभी आत्मन् को ब्रह्म के ही अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। आत्मचेतनता का स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है और जो सिद्ध होता है उसकी उपयुक्तता केवल ज्ञान विषयक क्षेत्र से संबंधित है। मेरे कथन की पुष्टि देने के लिए वृहदारण्यक उपनिषद् का उदाहरण उपयुक्त होगा। याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयी के संवाद में दिखाया गया है, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति, न तु पत्युः कामायः। सामान्यतया इसका अनुवाद किया जाता है कि हमारी आत्मा (स्पिरिट) की कामना की पूर्ति के लिए पति प्रिय होता है। यह तो स्पष्ट है कि आत्मन् यहाँ आत्मन् इस सर्वनाम की षष्ठी विभक्ति है, और इसे नाम संज्ञक नहीं माना जा सकता। आत्मन् तथा अस्मत् में भेद है, यह भी समझना अवश्यक है। मैं इस तरह नहीं अनुवाद करूंगा कि मेरी कामना के लिए पति प्रिय होता है। मुझे तो अनुवाद करना चाहिए, अपनी कामनापूर्ति के लिए। संस्कृत में आत्मन् और अस्मत् में यह भेद है। आत्मन् यह यद्यपि उत्तम पुरुष का सर्वनाम है और मैं या अहं को सूचित करता है, लेकिन यह कोई विशेष (पर्टिकुलर) अहं या मैं नहीं है, वह कोई भी अहं या मैं हो सकता है। किन्तु अस्मत् (मम) अहं मैं को सूचित करता है, यानी किसी विशेष अहं। लेकिन आत्मन् का स्थान तो सर्वनाम का है, यह दार्शनिक बोले जाते हैं और उसे संज्ञात मानकर आत्मन् की संकल्पना को गूढ़ बना देते हैं, सत्ताशास्त्रीय अस्तित्ववान् वस्तु मान बैठते हैं। जीव चैतन्य, आत्मन्, साक्षी, विषयी , पुरुष, आनंद, रस, चेतनता, अहं, स्पिरिट जैसे कई तरह के शब्दों का हम भाषा में प्रयोग करते हैं। अगर हमें उलझनें हटानी हैं तो उनकी कोई निश्चित कला जरूरी है, और यह भी खोज लेना चाहिए कि किन शब्दों का ज्ञानशास्त्रीय महत्त्व है और किन का नहीं। मुझे ऐसा लगता है कि चैतन्य तथा जीव इन शब्दों का ज्ञानशास्त्रीय महत्त्व नहीं है, यद्यपि उन्हीं के आधार पर आत्मन्, साक्षी या आत्मचेतन जैसी संकल्पनाएँ ज्ञान क्षेत्र में अर्थपूर्ण बनी हैं।

मैं सोचता हूँ कि यह आत्मन् अहं या किसी प्रकार की संज्ञातता मनुष्य के क्रिया-कलापों में बहुत महत्त्व रखती हैं। विश्वास करना, जानना, निर्णय करना, पसंद करना, देखना, अपेक्षा करना, मूल्यांकन करना जैसे क्रिया-कलाप हैं। मुझे लगता है तर्कशास्त्र, गणित, सौंदर्यशास्त्र तथा नीतिशास्त्र जैसे मानव केंद्रीय शुद्ध शास्त्र (प्योर साइंसेस) भी इस अहं या आत्मचेतनता या संज्ञान की अभिव्यक्याँ हैं।

क्या संज्ञातता और आत्मचेतनता एक ही है ?

मेरी दृष्टि में चेतनता और संज्ञातता के विश्लेषण से आत्मचेतनता का स्वरूप भी स्पष्ट होता है। आत्मचेतनता कोई केवल एक स्थिति के लिए संज्ञा नहीं है, वह एक उत्पन्न होने वाली संकल्पना है और जैविक चेतनता और जिसे सामान्यतः चेतनता कहते हैं, उससे भिन्न है। एक अर्थ में आत्मचेतनता

तथा चेतनता दोनों ही शरीर नामक किसी संगठन के कार्य हैं, अत: आत्मचेतनता एवं चेतनता शरीर पर अवलंबित है। आदमी जब मरता है तब यह बात स्पष्ट होती है, लेकिन यह एक ऐसी दशा है जब न चेतनता न आत्मचेतनता दिखाई पड़ती है बल्कि शरीर तो अवश्य ही दिखाई देता है। लेकिन जीवन के अन्य हरेक क्षणों में चेतनता तथा आत्मचेतनता शरीर के क्रियाकलापों का मार्ग-निर्देशन करते नजर आते हैं। शायद यही घटना है जिसके कारण लोग सोचने लगते हैं कि चेतनता शरीर जैसा ही कोई द्रव्य है, और यद्यपि चेतनता एवं आत्मचेतनता में भेद है, लोग समझते हैं कि दोनों एक ही है। मेरी चेतनता तथा आत्मचेतनता को उनके आधारभूत शरीर से और एक-दूसरे से भिन्न मानना इसका यह अर्थ नहीं कि मैं उनको एक-दूसरे से पृथक् एवं स्वतंत्र मानता हूँ। शरीर के बिना न चेतनता रह सकती है न आत्मचेतनता, लेकिन उसके माने यह नहीं कि चेतनता, आत्मचेतनता और शरीर इनका एक आत्मचेतनता से नियंत्रित किया जानेवाला पूर्ण संगठन (होल) नहीं होता है। ज्ञाता स्वयं के बारे में सोचने लगता है तब वह आत्मचेतन होता है। किंतु ज्ञान के बारे में सोचते समय भी उसको कुछ अंश तक आत्मचेतन होना आवश्यक है। वस्तुत: आत्मचेतनता की अवस्था संज्ञानता की अवस्था का ही परिपाक है। अर्थात् कोई पूछ सकता है कि ज्ञाता के आत्मचेतन हुए बिना ज्ञान संभव है या नहीं। अर्थात् कोई ऐसी भी युक्ति दे सकता है कि किसी प्रकार के ज्ञान के लिए यह आत्मचेतनता अटकाव बनती है। लेकिन इस बात से तो इतना ही साबित होता है कि आत्मचेतनता एक प्रकार की नहीं है और वह संज्ञानता से ही परिपुष्ट होती रहती है। इसी आत्मचेतना के कारण मनुष्य साहित्य की भी निर्मिति कर सकता है। एक दृष्टि से आत्मचेतना तथा साहित्य निर्मिति 'जुगाली' की प्रक्रिया का ही आविष्कार है।

***

ज्ञान-प्रक्रिया में निर्णय का स्थान

तर्कशास्त्र के साहित्य में वाक्य, प्रकथन और विधान ये शब्द प्राय: प्रयुक्त किये जाते हैं। आदर्शवादी तर्कशास्त्रियों ने प्रकथन (proposition) के बदले विधान (judgement) शब्द पसंद किया, जबकि वास्तववादी प्रकथन या कभी-कभी वाक्य (statement) (और वचन-sentence) के प्रयोग को पसंद करते हैं। कांट ने भी अपनी दोनों मीमांसाओं में (Critiques) निर्णय इस शब्द का प्रयोग किया है। दार्शनिक जगत् के प्रति होने वाली प्रवृत्ति पर ही प्रकथन या विधान इस शब्द का प्रयोग निर्भर करता है। कांट अपने Critique of Judgement में दो तरह के विधानों में भेद बतलाते हैं, इन्द्रियानुभव का विधान एवं अभिरुचि का विधान। यहाँ प्रकथन और विधान के बीच का भेद स्पष्ट करना और आगे इन्द्रियानुभव का विधान तथा अभिरुचि का विधान इनका भेद बताना और विधान की संकल्पना से विधिनियम (rule) की संकल्पना का विरोध दिखाना हमारा इष्ट होगा। इससे हमें यह समझने में मदद होगी कि क्यों कांट सौदर्यवाचक विधानों की बात करते हैं और सौंदर्यवाचक नियमों की बात नहीं करते।

बोसांके; जिन्हें आदर्शवादी परंपरा का प्रतिनिधि माना जा सकता है, सोचते हैं कि सत् (Reality) हमारी ज्ञान की क्रिया से भिन्न नहीं हैं या उससे सतत् परिष्कृत होती जाती है। हमारे ज्ञान में हम ज्ञान का विषय तथा ज्ञान के विषय को समृद्ध बनाने वाली कल्पनाएँ इनमें भेद करते हैं। ज्ञान का विषय तार्किक उद्देश्य होता है और हमारी कल्पनाएँ तार्किक विधेय होती हैं। हम विधेयों के सहारे सतत् निर्णय करते हैं (judging), यानी उद्देश्य को समृद्ध करते हैं, इस तरह हमारे ज्ञान का संसार सतत् वृद्धिगत होता है। ऐसे विधान के उद्देश्य जो अर्थात् ही ज्ञान का उद्देश्य होता है, अनिर्धारित सत् होता है और विधेय के सहारे हम उसे अधिकाधिक निर्धारित करते जाते हैं। जिसे हम विधेय कहते हैं वह केवल उद्देश्य का गुण (attribute) होता है और एक अर्थ में कोई कह सकता है कि जितना अधिक हम उद्देश्य को देखें या अनुभव करें उसके विधेय स्पष्ट होते जाएँगे। इसका मतलब है एक तरह से उद्देश्य के विश्लेषण से हमें विधेय प्राप्त होते हैं; दूसरे अर्थ में हम कह सकते हैं कि हम सतत् अपनी कल्पनाएँ उद्देश्य पर अध्यवसित करते जाते हैं। लेकिन हालांकि ज्ञान का विश्व सत् या अस्तित्व के विश्व से भिन्न नहीं है, उद्देश्य का विश्लेषण या उद्देश्य पर हमारी कल्पनाओं का आध्यरोप उद्देश्य पर कोई असर नहीं करता, क्योंकि उद्देश्य सत् हैं और जिसका हम उसे विधेय बनाते हैं वह स्पष्ट ही सत् का अंगभूत घटक होता है। सामान्य बोध (Common sense) का दार्शनिक या साधारण आदमी इस हालत का अलग ढंग से विश्लेषण करेगा, वह कहेगा कि हमारी जानने की या प्रत्यक्ष की क्रिया में हम उद्देश्य में कुछ भी नहीं मिलाते। प्रत्यक्ष में हम जिन गुणों को ठीक रूप से जानते हैं वे तार्किक प्रकथन के उद्देश्य से प्रदर्शित विषय में होते हैं। हम केवल क्रमश: धर्मों को जान पाते हैं। विश्लेषक और संश्लेषक के भेद में जाने की मेरी इच्छा नहीं है। उद्देश्य को लागू किये धर्म संश्लेषक हो सकते हैं और वस्तुत: वे ठोस विषय के हो सकते हैं यानी, उनका केवल प्रत्यक्ष होता है और ज्ञान की प्रक्रिया में क्रमश: वे स्पष्ट होते जाते हैं। अत: साधारण आदमी के लिए ज्ञाता का कोई खास स्थान नहीं होता। उसका प्रत्यक्ष इस अर्थ में उदासीन

होता है कि उसे ज्ञात विधेयों में पहले से ही उद्देश्य के गुण या धर्म होते हैं। सामान्य आदमी के लिए इस तरह का विधान ऐंद्रियानुभवात्मक होगा, यद्यपि कांट कहेगा कि ऐसे विधानों में भी अंत:प्रज्ञा के पद्यबंध तथा बोध के स्तर गृहीत होते हैं। हालांकि पद्यबंध और स्तर हरेक आदमी को गृहीत होते हैं, एक विशेष ज्ञाता उसमें कुछ मिलाएगा नहीं और अत: इन विधानों को ऐंद्रियानुभवात्मक विधानों का वही दर्जा होता है जो प्रकथन का होता है। यद्यपि ये विधान ज्ञाता के विधान हैं, उसमें जो वर्णित किया जाता है वह परिस्थिति होती है और अत: ऐसे विधानों से ज्ञाता को पूर्ण रूप से हटाया जाता है और ज्ञाता के निर्णय का परिणाम इस आकार में दिया जा सकता है : "यह हालत है कि ......", "यह निर्दिष्ट किया है कि ......" आदि। इसका मतलब है कि निर्णय करने का मूल पद्यबंध कि 'मैं जानता हूँ ' उ वि है' दूसरे 'यह हालत है कि उ वि है' पद्यबंध 'है' में परिवर्तित कर दिया जा सकता है। यह भी देखा जा सकता है कि यह नहीं बल्कि 'वि' की कल्पनाएँ उ' पर अध्यस्त होती हैं। 'वि' कल्पना के आरोपण से 'उ' सतत् वृद्धिगत होता जाता है। हालांकि संवेदनशील व्यक्ति के बिना कल्पनाएँ हो नहीं सकतीं, प्रकथन जैसा कुछ भी नहीं होता, केवल विधान ही होता है। जिसे हम होना (Being) कहते हैं वह और कुछ नहीं बल्कि जानना है। अर्थात् आदर्शवादी तार्किकों को जानना और मूल्यांकन करना इसमें भेद करना होगा। यहाँ महत्त्वपूर्णता से जानना यह है कि विधान न केवल उद्देश्य और विधेय के बीच का द्विध्रुवीय संबंध होता है बल्कि त्रित्वरूप संबंध है जहाँ ज्ञाता, उद्देश्य और विधेय ये घटक होते हैं। ऐंद्रियानुभवात्मक विधान में ज्ञाता पद की उपेक्षा ही होती है।

बहराहाल, जब हम 'अभिरुचि का विधान' इस पद को देखते हैं, तब 'ज्ञाता' इस पद को दुर्लक्षित नहीं किया जा सकता और इसलिए जिस तरह ऐंद्रियानुभवात्मक विधान प्रकथन में परिवर्तित कर दिया जा सकता है, उसी तरह अभिरुचि का विधान परिवर्तित नहीं किया जा सकता। ऐंद्रियानुभवात्मक विधान में यद्यपि ज्ञाता उद्देश्य पर निर्णय करता है, निर्णय के लिए जिन विधेयों का वह उपयोग करता है वे वस्तुनिष्ठ विधेय होते हैं। एक अर्थ में हम विश्वास करते हैं कि वे धर्म हैं जिन्हें उद्देश्य अंतर्निहित करता है; अभिरुचि के विधान में जिस विधेय से वह उद्देश्य पर निर्णय करता है वे उद्देश्य में अंतर्निहित होने वाले धर्म नहीं होते हैं। वे ज्ञाता की खुद की उद्देश्य के परस्परोन्मुख अभिवृतियाँ या प्रवृत्तियाँ होती हैं। वह केवल उद्देश्य का मूल्याँकन मात्र नहीं होता है, एक तरह से वह ज्ञाता का मूल्याँकन या वर्णन भी होता है। मैं अपनी बात उद्धरण देकर स्पष्ट करता हूँ। 'नैतिक एवं सौंदर्यात्मक मूल्यों का स्वरूप' नामक अपने लेख में मैंने तीन वाक्यों में भेद किया है: (1) जोरों से बरसात हो रही है, (2) दुर्दैव से बरसात हो रही है, और (3) शायद बरसात हो रही है। जब कोई कहता है कि जोरों से बरसात हो रही है तब वह हालत का वर्णन करता है, 'जोरों से' यह क्रियाविशेषण बरसने की हालत का बयान देता है, लेकिन जब ऐसा कहा जाता है के दुर्दैव से बरसात हो रही है तब न केवल बरसने की हालत का ही वर्णन होता है बल्कि हमारे मन की हालत का भी वर्णन होता है। 'जोरों से' यह शब्द हमारे अनुभव की अभिव्यक्ति है, 'दुर्दैव से' यह शब्द हमारे मन की, व्यक्तिनिष्ठता की अभिव्यक्ति है। तीसरे विधान के स्वरूप की चर्चा करने की कोई जरूरत नहीं हैं, क्योंकि उसका यहाँ कोई संबंध नहीं है। अत: अनुभवात्मक विधान एवं अभिरुचि का विधान इन कम-से-कम दो तरह के विधानों में भेद करने में कांट ने ठीक बात की है। आदर्शवादी तार्किक अनुभवात्मक विधान का ऐसा स्पष्टीकरण देंगे कि मानो वे अभिरुचि या व्यक्तिनिष्ठता के ही विधान हैं। क्योंकि, उनके लिए बाह्य जगत् (अस्तित्व में) नहीं है, जगत् केवल कल्पनाओं की प्रणाली है, कल्पनाओं की संगत उत्क्रांति है अत: जब 'सत्' के बारे में विधान किया जाता है तब अधिक अनिश्चित कल्पनाओं को निश्चित कल्पना रूप होने वाले विधेय के सहारे सुनिश्चित बनाना होता है। अत: विधान ही अपने स्वरूप में व्यक्तिनिष्ठ होता है और सही अर्थ में वह वस्तुनिष्ठ नहीं होता,

यानी, उद्देश्य के परे वह और किसी (बात) का निर्देश नहीं करता (यद्यपि उद्देश्य का यहाँ कोई व्यक्तिगत मत होना जरूरी नहीं हैं) दूसरी ओर यथार्थवादी सौंदर्यवाचक विधान को गलती से अनुभवात्मक विधान समझ बैठे, यह संभव है। उदाहरणार्थ, यथार्थवादी ऐसा सोच सकते हैं कि 'यह फूल सुंदर है' या 'वह अच्छा है' इनमें 'सुन्दर' या 'अच्छा' ये ठीक ऐसे ही धर्म हैं जैसे 'लाल' और 'मनुष्य'। ये फूल लाल है' और 'वह मनुष्य है' इन शब्दों में 'लाल' और 'मनुष्य' धर्म हैं। आदर्शवादी अनुभवात्मक विधान के बारे में गलती कर सकता है और मूढ़ यथार्थवादी अभिरुचि के विधान के बारे में गलती कर सकता है। यह कहना अधिक उचित होगा कि अनुभवात्मक विधान परिस्थिति की अभिव्यक्ति होते हैं और अत: प्रकथन के दर्जे से वर्जित किये जा सकते हैं। अभिरुचि के विधान एक तरह प्रकथन में रूपांतरित नहीं किये जा सकते। अर्थात् अभिरुचि का विधान एक गोल-माल का पद हो सकता है जिसमें कि अनेक तरह की विविधाताओं में भेद किया जा सकता है; सौंदर्यात्मक विधान उसी में से एक होता है।

जब कोई कहता है कि 'क्ष' आदमी है या 'य' खम्भा है, आदमी या खम्भा दोनों वस्तुनिष्ठ अवस्था का वर्णन करने वाली संज्ञाएँ हैं। यह सामान्य या संकल्पना है। इस तरह क्ष, य, झ जैसे अनेकों सामान्यों का आदमी के रूप में वर्णन किया जा सकता है या अ, ब, क इनका खम्भा इसी तरह वर्णन किया जा सकता है। आदमी और खम्भा ये शब्द हमें अनेक व्यक्तिगत विषयों में समान रूप से रहने वाले धर्म बताते हैं। लेकिन जब हम कहते हैं कि 'क्ष' सुंदर है तब क्या हम इसी तरह की क्रिया करते हैं ? क्या हम सुंदर कहे जाने वाले ऐसे सामान्य धर्मों को खोज निकालते हैं जो बहुविध 'सुंदर' विषयों में सामान्य रूप से रहते हैं ? ऐसे विधानों से कांट सहमत नहीं होंगे, और मेरा ख्याल है कि कांट सही है। इसका मतलब है कि 'यह सुंदर है' इसका विश्लेषण बहुत ही अधिक संमिश्र है। अर्थात् यह हमारी वृत्तियों को खुला कर देता है लेकिन यह ध्यान में रखना होगा कि हमारी वृत्ति केवल प्राथमिक वृत्ति नहीं है, वह समाज और संस्कृति के विकास के साथ उत्क्रांत होती जाती है। इस तरह, जब हम कहते हैं 'कोई चीज सुंदर है' तब वह किसी विषय के बारे में किया गया विधान होता है लेकिन वह भी हमारी वृत्तियाँ चित्रित करता है जो अपने में कम-से-कम अंशत: ही क्यों न हो, इतिहास और संस्कृति से निर्धारित होती हैं। जैसा कि प्लेखॅनोव्ह ने दिखाया है- किसी विशेष गुणों से युक्त कोई आर्य स्त्री को गोरा आदमी सुंदरता की परिसीमा मान सकता है और अनार्य जगत् में किसी भी चीज को सुंदर नहीं मानता। यद्यपि विधानों का हमारी वृत्तियों से संबंध होता है, हमारी वृत्तियाँ ही अपने में किसी वस्तुनिष्ठता और इतिहास से निर्धारित होती है।

पारंपरिक और आदर्शवादी तर्कशास्त्री विधान तथा प्रकथन में भेद नहीं करते। उदाहरणार्थ, जोसेफकृत 'Introduction to logic' जैसी पाठ्यपुस्तक में जहाँ प्रकथन शब्द का प्रयोग करना चाहिए वहाँ विधान शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस तरह A.E.I.O. इन पारंपरिक प्रकथनों को विधान माना गया है। (अगर वे विधान हैं तो वे केवल अनुभवात्मक विधान हैं।) 'सब मानव मर्त्य हैं', 'कुछ मानव मर्त्य हैं', 'कोई भी मानव मर्त्य नहीं है', 'कुछ मानव मर्त्य नहीं हैं' ये वे विधान होंगे। इन विधानों (प्रकथनों) का गुण और संख्या के अंतर्गत वर्गीकरण किया गया है। बहरहाल, सही अर्थ में निषेधात्मक विधान को विधान मानना जरूरी नहीं है, क्योंकि जब हम निर्णय करते हैं तब हम किसी अनिश्चित को निश्चित एवं विधायक बनाते हैं 'कोई भी आदमी मर्त्य नहीं है' इसे विधान मानना जरूरी नहीं है, यद्यपि तर्कशास्त्र में हम ऐसा करते हैं। वैसे ही एकवाची कहे जाने वाले विधान भी उचित रूप से विधान नहीं हैं। प्रश्न यह है कि सभी मानव मर्त्य हैं इस आकृतिबंध का वाक्य विधान है या नहीं। यहाँ मुझे लगता है कि सब मानव मर्त्य हैं यह अगर क्ष मर्त्य है, य मर्त्य है, झ मर्त्य है इनकी कुल राशि मान ली जाए तो सब मानव मर्त्य हैं। इसे अगर सामान्य भाषा में अनूदित किया जाए जैसा कि, किसी भी क्ष को,

अगर क्ष मानव है तो क्ष मर्त्य है, तो हम क्ष बारे में कोई विधान नहीं कर रहें हैं। यह हमें मानव की मर्त्यता के बारे में सन्निहित नियम बता सकता है। विधान विशेष विषय के बारे में ही किया जाना चाहिए। विशेष से मेरा मतलब एकवाची विषय से है। इस तरह मुझे लगता है, यह और वह जैसे निर्देशक सर्वनाम तथा विशेष विषय ही विधानों के विशेष होने चाहिए। जब तक ऐसा नहीं होता; कोई विधान नहीं हो सकता। क्योंकि विधान की पहली अपरिहार्य शर्त है कि वह हमें कुछ विधायक तथा निश्चित बात दे, फिर इस अर्थ में ही केवल एकवाची प्रकथन विधान के लिए आवश्यक शर्त को पूरा करते हैं। मुझे लगता है कि जब कोई सौंदर्यवाचक विधानों के बारे में बोलता है, जिस विषय के बारे में विधान किया होता है उस विषय को अस्तित्व में अवश्य होना चाहिए; वाक्य का कोई यदि.....तो.....यह पद्यबंध उन्हें विधान का दर्जा नहीं दे पाएगा अगर कोई विषय अस्तित्व में नहीं है तो हम उसे सुंदर नहीं कह सकते। यदि.....तो ....इस पद्यबंध के वाक्य हमें नियम देते हैं, लेकिन विधान नहीं दे पाते। बहरहाल, इस बात को बताना चाहिए कि विधान या तो साक्षात् किया होगा या किसी अन्य आधार वाक्यों से निष्कर्ष के रूप में अनुमानित किया होगा। इस तरह 'सुकरात मर्त्य है' यह या तो साक्षात् विधान हो सकता है या 'सब मानव मर्त्य हैं', 'सुकरात मानव है' इन आधारवाक्यों का निष्कर्ष हो सकता है। सौंदर्यवाचक विधान किस तरह का विधान होता है ? क्या वह विधान है या किन्हीं आधार वाक्यों का निष्कर्ष है ? यानी, क्या वह कुछ नियमों या सिद्धांत वाक्यों या सूत्रों से अनुमानित किया जा सकता हैं ? मुझे लगता है कि इसी आधार भूमि पर कांट ने नैतिक एवं सौंदर्यवाचक विधानों में भेद किया है। उसने सोचा कि 'वह अच्छा है' या 'वह सही है' इस पद्यबंध के विधान या तो एकवाची प्रकथन के रूप में साक्षात् विधान हो सकते हैं या वे सामान्य प्रकथन का पद्यबंध होने वाले किसी नियमों से तार्किक अनुमान के सहारे अनुमानित किये जा सकते हैं। जब इस तरह के अनुमान संभव होते हैं तब इन अनुमानों के निष्कर्षों का असल में एकवाची का पद्यबंध होता है, उसका अस्तित्त्व में होना जरूरी नहीं होता, यानी, उसका अस्ति रूप अर्थ नहीं होता। दूसरी ओर, जब विषय के बारे में किया हुआ विधान होता है वह विषय अवश्य रूप से अस्तित्व में होना चाहिए और निश्चित या निर्धारित भी होना चाहिए। मुझे लगता है कि कांट सोचते हैं कि सौंदर्यवाचक विधान इस तरह के विधान होते हैं और अत: सौंदर्यमीमांसा की अपनी पुस्तक को 'A Critique of Judgement' 'विधान की मीमांसा' कहते हैं। वे स्पष्ट रूप से बताते हैं कि सौंदर्यमीमांसा के कोई विशेष नियम नहीं होते हैं।

कांट के मुताबिक यद्यपि हम नीतिशास्त्र में 'क्ष अच्छा है' और 'वह कृति सही है' ऐसे विधान करते हैं, ये विधान या तो तत्त्वों या सूत्रों से साक्षात् अनुमानित होते हैं या इस तरह अनुमानित न होने पर भी निहित रूप से तत्त्वों या सूत्रों से गृहीत होते हैं। लेकिन जहाँ तक सौंदर्यमीमांसा की बात है, हम केवल विधान कर सकते हैं और विधान किसी सूत्र या नियम से न तो अनुमानित होता है न अनुमान करने योग्य होता है। सौंदर्यवाचक विधान में कोई तत्त्व निहित होता है या नहीं इस बात पर कांट मौन धारण करते हैं; अत: 'सुंदर' यह संकल्पना है या नहीं यह प्रश्न उठता है। इस संकल्पना को हम अन्य जगह स्पष्ट कर देंगे। यहाँ जानने योग्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कांट के अनुसार सौंदर्यमीमांसा की कोई प्रणाली या शास्त्र नहीं हो सकता है। जैसा कि वूल्फ (जर्मन) की बुद्धिवादी परंपरा में पले हुए बॉम्गार्टन ने सोचा था, बिना किसी नियम को गृहीत किये हम केवल सौंदर्यवाचक विधानों का संग्रह प्राप्त कर सकते हैं। सौंदर्यमीमांसा के बारे में कुछ अनुभवपूर्व नियम बनाना यह अगर हमारे बस की बात नहीं थीं, ऐसा प्रयत्न किया जाने पर भी वह केवल निगमनात्मक होता और सामान्यता एवं आवश्यकता या तो उससे संलग्न न होती या अगर संलग्न होती तो केवल आपादिक स्वरूप की ही होती।

जिसके बारे में सौंदर्यवाचक विधान किया जा सके ऐसी सौंदर्यात्मक परिस्थिति हो सकती है,

इस वाक्य के महत्त्व की परीक्षा की जाए। सौंदर्यवाचक विधान किसी भी घटना या विषय के बारे में किया जा सकता है और अत: ऐसे विधान का विधेय सुंदर या भद्दा (और उदात्त आदि भी) हो सकता है। ऐसे विधान का योजक (Copula) 'है' या 'नहीं है' हो, और ऐसे विधान का उद्देश्य ऐसी ही घटना हो। मान लो अगर ऐसे विधान का उदाहरण है 'व्हीनस सुंदर है' या 'व्हीनस की मूर्ति सुंदर है' या 'मेडोना नाम से ज्ञात चित्र सुंदर है' या 'अजंता की खुदाई-सुंदर है'। यहाँ ध्यान देने लायक बात है कि व्हीनस, व्हीनस की मूर्ति, मेडोना का चित्र और अजंता की गुफाएँ न होते हुए भी क्या हम ऐसे विधान कर सकते हैं। अर्थात्, व्हीनस जैसी कोई चीज नहीं है, न किसी ने उसे देखा है। लेकिन जब हम व्हीनस के बारे में बोलते हैं तब हम ऐसी रचनाओं के बारे में बोलते हैं जो एक अंश में एक-दूसरे से जुड़ी हुई है। और यद्यपि वह जीवित स्त्री के रूप में प्राप्त नहीं है, हमारे सामने कोई सामान्य चित्र आता है, यह सर्वाधिक सुंदर स्त्री का चित्र है। जब हम ऐसे चित्र की कल्पना करते हैं तब हम अलग-अलग रचनाओं का एक साथ 'प्रत्यक्ष करते हैं' और यदि वह आदर्श प्रतिरूप है फिर भी वह किसी साक्षात् (actual) का प्रतिरूप है। इसी कारण लोगों की सांस्कृतिक धारणाओं के अनुसार रचनाओं का ढाँचा बनता है। अगर नीग्रो अपने स्वप्न की व्हीनस की कल्पनाकर सकता है, अगर उसका आर्यसंस्कृति से कोई संपर्क नहीं है, वह विशेष तरह के नाक, रूप, ऊँचाई तथा सुडौलपन की कल्पना नहीं करेगा। इसका मतलब है कि जब हम केवल कल्पना ही करते हैं तब हमारे विधान का उद्देश्य मानसिक रूप से हमारे सामने ठोस रचना में प्रस्तुत होता है। 'अगर ऐसे अंश किसी विशेष रूप में एक साथ मिलाए जाएँ तो रचना सुंदर होगी' इस तरह का वह नहीं होता है। यह दूसरा प्रकथन सामान्यवाची प्रकथन की तरह होगा, और पहला प्रकथन भी होता है लेकिन उसके उद्देश्य की ठोस रचना होती है। उसे किसी परिकल्पित आकार में वर्जित नहीं किया जा सकता। यद्यपि रचना के विभिन्न अंश, चाहे सत् हो या काल्पनिक, किसी आवश्यक तरीके से एक साथ जुड़े होते हैं, (ऐसे प्रकथनों का कोई अस्तिवाची अर्थ है या नहीं इस बात को यहाँ देखने की मुझे जरूरत नहीं है) फिर भी जानने योग्य महत्त्व की बात है कि जिस रचना की हम कल्पना करते हैं वह अमूर्त्त नहीं होती, ठोस होती है। जब हम व्हीनस जैसे काल्पनिक विषयों के बारे में नहीं बोलते और 'व्हीनस की मूर्ति', 'मेडोना नाम का चित्र', 'अजंता की गुफाएँ' जैसी चीजों से परिचित होते हैं, कोई भी आसानी से देख सकता है कि ये घटनाएँ सत् हैं, यानी, अगर घटनाओं को तार्किक विधान के उद्देश्य की जगह रखा जाए तो उन्हें अस्तित्वात्मक अर्थ देना होगा। शायद आदर्शवादी तर्कशास्त्री कहें, अपने संदर्भ -विश्व में काल्पनिक घटनाओं का भी अस्तित्वात्मक अर्थ होगा। यह साफ है कि जिसे मेडोना का चित्र कहा जाता है उसके न होने से उस विशिष्ट चित्र के बारे में हम विधान नहीं कर सकते। उसी के सदृश, गुफाओं को साक्षात् देखे बिना हम उनके बारे में विधान नहीं कर सकते। फिर इसका मतलब है कि जिस विषय के बारे में विधान किया जाता है उस विषय का अस्तित्व में होना या प्रस्तुत होना, यह इस तरह का विधान करते समय आवश्यक शर्त है, अगर ऐसा विधान किसी नियम से निष्कासित न किया गया हो। जब कांट कहते हैं कि सौंदर्यवाचक विधान एकवाची होते हैं, उनका मतलब है या कम-ये-कम होना चाहिए कि विधान करने की प्रक्रिया में किसी अर्थ घटना का होना आवश्यक घटक है। पारंपरिक तर्कशास्त्रियों ने एकवाची विधान को समान्यवाची विधान माना है। 'सुकरात मर्त्य है' यह सही निष्कर्ष पारंपरिक तर्कशास्त्र (Syllogism) के पद्यबंध में हमें 'सब मानव मर्त्य हैं' और 'सुकरात मानव है' इन आधार-विधानों से अवश्य मिलता है। सुकरात मानव है या सुकरात मर्त्य है ये दोनों एकवाची प्रकथन हैं। सुकरात मानव है इस जैसे एकवाची प्रकथनों को सब मानव मर्त्य हैं इससे मिलकर सुकरात मर्त्य है ऐसा सामान्य एकवाची निष्कर्ष हमें मिल सकता है। लेकिन, तर्कशास्त्र की कितनी भी खींचातानी करने पर भी 'सुकरात मानव है' और 'सुकरात मर्त्य है' इसे 'अगर किसी क्ष को,

यदि क्ष सुकरात है तो क्ष मर्त्य है' या अगर किसी क्ष को, यदि क्ष सुकरात है तो क्ष मानव है, इस आकृतिबंध में वर्जित नहीं किया जा सकता। इन दोनों प्रकथनों में यदि.... तो......यह अंश अयुक्त है, यानी, एकवाची प्रकथन सामान्य होने पर भी परिकल्पित आकार में वर्जित नहीं किये जा सकते। इसका मतलब है कि 'सुकरात मानव है, मर्त्य है' जैसे प्रकथनों पर जो सामान्यता (universalily) हम आरोपित करते हैं वह निरुपाधिक (Categorical) प्रकथनों के ढाँचे (परिधि) में ही होती है। इस बात को मन में रखना चाहिए कि जब कांट तर्कशास्त्र के बारे में बोलते हैं, उन्होंने पारंपरिक तर्कशास्त्र के बारे में कहा है। कांट की तर्कशास्त्र पर लिखी पुस्तक इस बात का सबूत दिलाती है। अत: कांट के द्वारा प्रयुक्त की हुई संकल्पनाओं को स्पष्ट करते हुए जो तर्कशास्त्र कांट के मन में है उसी का प्राथमिक रूप से हमें प्रयोग करना चाहिए और हमें अपनी संकल्पनाओं को कांट पर लादना नहीं चाहिए। पारंपरिक तर्कशास्त्रियों ने यह जरूर कहा है कि जब हम कहते हैं कि सुकरात मानव है तब मानवता नामक विधेय सुकरात के हरेक अंश को व्यापता है। इसीलिए वे मानते हैं कि सुकरात यह पद 'सुकरात मानव है' और 'सुकरात मर्त्य है' इन प्रकथनों में वितरित है। इस बात की ओर ध्यान देना चाहिए कि सौंदर्यवाचक विधान के संदर्भ में कांट व्यक्तिगत आवश्यकता तथा सामान्यता के बारे में बोलते हैं। मेरी राय में, जब हम कहते हैं 'सुकरात मानव है' या 'सुकरात मर्त्य है' तब मानवता और मर्त्यता सुकरात से असंयुक्त होने की वस्तुस्थिति के कारण व्यक्तिगत आवश्यकता पैदा होती है। यह भी हो सकता है कि लोग कहें कि वह असंयुक्त निमित्त है। लेकिन निमित्त एक ऐसी कल्पना है जिसके वर्ग (Class) के बारे में उचित प्रयोग किया जा सकता है। जब व्यक्तियों के बारे में इस कल्पना का प्रयोग किया जाता है, वह निमित्त नहीं रहता, अगर वह असंयुक्त है तो पारंपरिक तर्कशास्त्र में जिसे असंयुक्त निमित्त माना गया है वस्तुत: वह व्यक्ति के संदर्भ में आवश्यक अंश होता है। शायद व्यक्तिगत आवश्यकता से कांट का यही अभिप्राय था। जब हम अनोखेपन या विशेषता की बात करते हैं, तब हम किसी जैविक एकता या मिलावट की बात करते हैं, लेकिन अगर वह मिलावट आवश्यक नहीं है तो वह जैविक नहीं बनती, वह केवल यांत्रिकता से एक साथ जुटाए गए घटकों की मिलावट होती है।

पहले मैंने कहा है कि जो अस्तित्व में (सामने) प्रस्तुत नहीं है उसके बारे में एक भी सौंदर्यवाचक विधान किया नहीं जा सकता। जो अस्तित्व में है और जो (सामने) प्रस्तुत है, इसमें भेद करना आवश्यक है। जो अस्तित्व में है वह प्रस्तुत हो सकता है, लेकिन प्रस्तुत अस्तित्व में नहीं हो सकता। हमारी स्मृति के बल पर हमारे अंत:चक्षुओं के सामने सुस्पष्ट प्रतिमान लाया जा सकता है और हम अपनी कल्पना में उससे नया प्रतिरूप बना सकते हैं जिसके अंश हमारी अपनी इच्छा के अनुसार हमारे अनुभव से ही चयन किये होते हैं। वस्तुत: शिल्प, चित्र, काव्य तथा स्थापत्यकला में भी कलाकार यही करता है। लेकिन यहाँ आवश्यक घटक यह होता है कि, विषय को अंशों में विभाजित किये जाने पर भी अंशों का ठोसपन वैसा ही बना रहता है। उदाहरणार्थ, इस तरह कलाकार एशिया की कन्या की ऊँचाई को चुनकर कंबोडिया की कन्या की कटि के साथ मिला सकता है और दोनों का रूप एक-दूसरे में मिला सकता है और उसमें नीग्रो के बालों का जरा-सा घुंघरालापन भी मिला सकता; लेकिन जिनकी वह मिलावट करता है वे संकल्पनाएँ नहीं बल्कि कल्पना में अलग किये विषय के असली अंश है। दिक् और काल में जानी गई वे 'संकल्पनाएँ है। वे कुछ कांट के ढाँचे की तरह हैं। केवल अमूर्त्तीकरणों की मिलावट या पुनर्रचना नहीं की जा सकती। कठिनाई तो इस बात की है कि ठोस आकृतिबंध और अमूर्त्त संकल्पनाएँ इनको गलती से एक ही माना जाता है।

अरस्तु तथा प्राचीन नैयायिकों ने पद्मबंध तथा संकल्पना में भेद किया है। अरस्तु स्पष्ट रूप से ही Idea- कल्पना एवं पद्मबंध में भेद करता है। उसी के सदृश नैयायिक भी एक ओर जाति तथा

सामान्य में भेद करते हैं तो दूसरी ओर आकृति में। जब हम आकृति के बारे में बोलते हैं, उसके दैशिक और कालिक धर्म सुरक्षित रखे जाते हैं, यानी उसके ठोसपन का वर्जन नहीं किया जाता, विशेष गुणों का वर्जन किया जाता है। ऐसी बातों का सम्मिश्रण, पुनर्रचना या अलगाव करना संभव होता है क्योंकि यद्यपि वे हमारी कल्पना के अंश हैं फिर भी वे अंश हैं और वस्तु की भाँति सुस्पष्ट होते हैं। यानी, उनको चित्रित किया जा सकता है। यह देखा जा सकता है कि जब हम शब्दों का प्रयोग करते हैं तब कोई विशिष्ट शब्द होते हैं जो हमारे सामने कुछ चित्र उद्दीपित करते हैं। उदाहरणार्थ, जब मैं घोड़े के बारे में बोलता हूँ, तब घोड़े का चित्र मेरे सामने होता है और जिस तरह घोड़े के टुकड़े किये जा सकते हैं ठीक उसी के सदृश हम घोड़े के चित्र के अलग-अलग घटकों के बारे में सोच सकते हैं। उदाहरणार्थ, जब हम रंगमंचीय नाटक के बारे में सोचते हैं तब हम अभिनेता पर किसी विशिष्ट व्यक्तित्व का और क्रियाओं का अध्यास करते हैं। यह संभव है क्योंकि यद्यपि हम क्रिया के बारे में बोलते हैं, हम अमूर्त्त के बारे में नहीं बोलते। अब यह स्पष्ट होगा कि किस तरह हम व्हीनस के बारे में सोचते हैं यद्यपि व्हीनस जैसी सर्वाधिक सुंदर स्त्री हमारे सामने नहीं होती। जब हम व्हीनस के बारे में बोलते हैं तब हम अपने सामने की स्त्रियों के सर्वाधिक सुंदर अवयवों को एक साथ मिलाते हैं, लेकिन स्त्री के ठोस आकार का त्याग नहीं करते। अभी तक हम स्त्री के बारे में ही बोलते हैं, स्त्रीत्व के बारे में नहीं जो अमूर्त्त होता है। जब हम स्त्रियों के बारे में बोलते हैं तब ऊँचाई, रंग आदि विभिन्न अंशों की अनोखेपन से कल्पना की जाती है और उन्हें एक साथ रखा जाता है। यह अनोखापन आवश्यक है, अगर इस अनोखेपन की उपेक्षा की जाए और उसके बजाय और किसी चीज को रखा जाए तो उसका विसंवादी या विपरीत परिणाम होगा। इस आवश्यकता को मैं व्यक्तिगत आवश्कता मानता हूँ। इस तरह की आवश्यकता को अगर प्रस्तुत न किया जाए तो सुंदर इस विधेय का प्रयोग नहीं किया जा सकता। अत: एकत्व (सामान्यत्व) तथा आवश्यकता ये सौंदर्यवाचक विधान के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है।

अब, सौंदर्यवाचक विधान की विशेषता ऊपर दिये दो उदाहरणों के संदर्भ में अच्छी तरह से समझी जा सकती है : (1) व्हीनस की मूर्ति सुंदर है और (2) व्हीनस सुंदर है। मूर्ति के उदाहरण के संबंध में अस्तिरूप के अंश की यानी मूर्त्ति की उपेक्षा नहीं की जा सकती। मूर्त्ति का अंश तो पूरे विन्यास का एक घटक है और 'व्हीनस की मूर्त्ति सुंदर है' इस विधान का विश्लेषण करते समय मूर्त्ति का ज्ञान, उस विशेषमूर्त्ति को दूर नहीं रखा जा सकता। जब हम कहते हैं कि व्हीनस सुंदर है तब भी यह विशेषता या एकता वहाँ मौजूद होती है। व्हीनस यह काल्पनिक विशेष अंशों का विन्यास है, यानी, ऐसे अंशों के बारे में हम अर्थपूर्ण रूप से 'यह' ऐसा कह सकते हैं, इन सभी अंशों को (अंगुली निर्देश से) दिखाया जा सकता है। मैं सोचता हूँ कि पद्मबंध एवं संकल्पनाओं में यही मूलभूत भेद है। संकल्पना को दिखाया नहीं जा सकता। संकल्पना के बारे में विशेषता या एकता नहीं होती हैं, पद्मबंध के बारे में विशेषता या एकता होती है। शायद इन पद्मबंधों में श्रेणियाँ भी होती है। कुछ पद्मबंध दैशिक-कालिक होते हैं, कुछ पद्मबंध दैशिक या कालिक होते हैं और जैसा कि सुसान लंगर ने सुझाया है, कुछ पद्मबंध प्रतीकात्मक होते हैं। लेकिन पद्मबंध कैसे भी हों, इन पद्मबंधों के बारे में अगर हम किसी श्रेणिक्रम या श्रेणियों का उपयोग करें फिर भी इन पद्मबंधों की एकता या मौलिक विशेषता कभी भी नष्ट नहीं होती हैं। जिस तरह संकल्पना या वर्ग का साधारणीकरण किया जाता है उस तरह इन पद्मबंधों का साधारणीकरण नहीं किया जा सकता। जिस तरह समद्विभुज त्रिकोण के बारे में अगर हम जानते हैं कि उसके तल के दोनों कोण समान हैं और कोणों के सामने की भुजाएँ समान हैं तो इस सूत्र को हम अन्य किसी भी समद्विभुज त्रिकोण पर लगा सकते हैं, उसी के सदृश यह जानकर कि एक विन्यास सुंदर है, हम ऐसा कोई नियम नहीं बना सकते कि इस जैसा अन्य कोई भी विन्यास सुंदर ही है। इसका कारण यह है कि सुंदर विन्यास निश्चित

विशेषता से बद्ध होते हैं और इस विशेषता से अगर वे अलग कर दिए जाँए तो वे सुंदरता के विन्यास नहीं रहते। अत: वे विधान के स्वरूप जैसे रह जाते हैं और किसी नैतिक विधानों की तरह किसी आधार वाक्यों या नियमों या सूत्रों से निष्कर्ष के रूप में निष्कासित नहीं किये जा सकते। हरेक विधान में सुंदरता के मापदंड या सूत्र को प्लेटों के आकारिक कारण की तरह कल्पना की जा सकती है, यानी, अस्पष्ट रूप से बनाया गया सुन्दरता के तत्त्व, जिस तरह हमें संकल्पनायें प्राप्त होती हैं उस तरह नहीं बनाया जाता, जैसे मानव, मर्त्य आदि संकल्पनाएँ हैं। विन्यास में हम केवल तत्त्व पाते हैं उसके साथ संस्कृति का दिया हुआ अस्पष्ट-सा अंश होता है।

सौंदर्यवाचक विधान को अन्य तरीके से भी अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक हैं। मैंने कहा है कि सौंदर्यवाचक विधान का बर्ताव भूमिति के प्रकथनों जैसा नहीं होता है। उसका कारण यह है कि जैसा कांट ने सूचित किया है, विधान दो प्रकार के होते हैं। 'मैं जानता हूँ कि यह मेज है'। जैसा कि मैंने अपने A Modern Introduction to Indian Logic इस पुस्तक में लिखा है, विधान का आकार होता है 'मैं जानता हूँ कि....'। आदर्शवादी तर्कशास्त्रियों ने कहा था कि विधान का उद्देश्य सत् होता है। मैं सोचता हूँ कि सत् या सत् का अंश विधान का नहीं अपितु तार्किक प्रकथन का उद्देश्य होता हैं। अब, जैसा कि पहले बताया है, कुछ विधानों को प्रकथन में रूपांतरित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, 'मैं जानता हूँ, यह मेज हैं' इस विधान को 'यह मेज है' या 'यह हालत/वास्तविकता है कि यह मेज हैं' इसमें रूपांतरित किया जा सकता है। इसका मतलब है कि 'मैं जानता हूँ' इस अंश को उपेक्षित किया जा सकता है। उसकी उपेक्षा की जाती है क्योंकि हम केवल वास्तविक को बताते हैं। यह हमारी धारणा होती है कि मेरा जानना या मेरा निर्णय करना वास्तविकता में कोई फर्क नहीं लाता, मेरा जानना या निर्णय करना मानवी अभियांत्रिकी का घटक नहीं है, वह मानवी रचना है। लेकिन यह सुंदर, ऐसे वाक्यों के बारे में हम स्पष्ट रूप से बताएँ या नहीं, 'मैं जानता हूँ' यह भाग उसी में सम्मिलित होता है, उससे असंयुक्त होता है, यानी 'क्ष सुंदर है' ऐसा कहने पर भी हमेशा उसका आकार रहता है, 'मैं जानता हूँ' या 'मुझे लगता है' कि क्ष सुंदर है। यह हमेशा के लिए विधान ही रहेगा और कभी भी उसे प्रकथन का दर्जा प्राप्त नहीं होगा। अगर कोई प्रकथन का दर्जा प्राप्त नहीं करता है तो उससे व्यक्तिनिष्ठता का अंश हटाया नहीं जा सकता और जहाँ व्यक्तिनिष्ठता हटाई नहीं जा सकती वहाँ अनुमान या साधारणीकरण संभव नहीं होता है। व्यक्तिनिष्ठता का संप्रेषण प्रस्थापित करने पर भी, यानी, मैं दूसरों को 'मुझे लगता है कि क्ष सुंदर है' ऐसा संप्रेषित कर सकूं, फिर भी मैं ऐसा कोई नियम प्रस्थापित नहीं कर सकता कि क्यों किसी को कोई चीज सुंदर लगे। सौंदर्यवाचक विधानों को अभिरुचि के विधानों के विपरीत हमेशा विधान का दर्जा होता है और कभी भी प्रकथन का दर्जा नहीं होता जिसका कोई नियम बनाने के लिए या किसी तर्कशास्त्र या नियम के बारे में बोलने के लिए जरूरत होती है।

***

सामान्यता एवं आवश्यकता का तर्कशास्त्र

कांट के दर्शन में सामान्यता (universality) तथा आवश्यकता ये शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। ज्ञान तथा सूत्र या निदेश (maxim) का दर्जा निश्चित करने के लिए वे सामान्यता और आवश्यकता को निकष के रूप में उपयोग करते हैं। कौन-सी चीज सुंदर या अन्य प्रकार की है, यह तय करने में भी वे इनका उपयोग करते हैं। ऐसा दिखाई देता है कि यद्यपि कांट उन्हीं शब्दों को तीन अलग-अलग संदर्भ में उपयोग में लाते हैं, फिर भी इन शब्दों में निहित संकल्पनाओं में भी विभिन्न संदर्भों के अनुसार परिवर्तन या रूपांतरण होते जाते हैं। उदाहरणार्थ, जब कांट अनुभवपूर्व ज्ञान की बात करते हैं तब उनके मन में मूलत: यह बात होनी चाहिए कि सामान्यता यह विश्व की विभिन्न वस्तुओं में होने वाला समान अंश है। लेकिन अपने विश्लेषण में वे सोचने लगते हैं कि सामान्यता का यह अंश अंत:प्रेरणा के पद्यबंध तथा ज्ञान की श्रेणियों से दिया जाता है, जिसे आधुनिक भाषा में जीवनाकार (Forms of Life) कहा जाता है। इससे वे ऐसा सोचने लगे कि सामान्यता और आवश्यकता के अंश मानव के अपने ही दिये हुए हैं। इसलिए वह उन्हें अनुभवपूर्व मान सकता है। इसका मतलब है कि सामान्यता और आवश्यकता के अंश मानवी जगत् के होते हैं। असल में यह हमारे विचार में बड़ी पलट है। क्योंकि, सामान्य रूप से जब हम सामान्यता के बारे में सोचते हैं तब हमारे संदर्भ में विश्व में सभी वस्तुएँ अस्तित्व में होती हैं। सामान्यता (और आवश्यकता भी) समूह कल्पना है। उसका विश्व की ओर संदर्भ है। यद्यपि हम सामान्यता की बात करते हैं, यह अमूर्त्त धर्म इस बात को गृहीत करता है कि जिस विषय का यह धर्म है वह सामान्य है, यानी, विश्व के सभी विषयों के बारे में वह सच है। ऐसा धर्म असल में वस्तु का, पूरे विश्व में निर्देशित समूह के सदस्य का धर्म होता है। सभी तरह के वास्तववादी इसे मूलत: कोई भी विश्व या सामान्यता का धर्म मानेंगे। लेकिन अर्थात् ही इस बात के अपवाद हैं और मनुष्य का असल में सामान्यीकरण और अमूर्त्तीकरण या सामूहिकीकरण में भेद करना चाहिए। विश्लेषण यह निश्चित रूप से बताता है कि जिस तरह हम किसी नैसर्गिक सदृशता और वस्तुनिष्ठ का समूह बना सकते हैं, उसी तरह हमारी अपनी रचना से जो पैदा होता है उसका भी कोई समूह बना सकते है। उदाहरणार्थ, हम रक्तत्व और नीलत्व की कल्पनाओं को इकट्ठा कर सकते हैं और आगे चलकर यह भी कह सकते हैं कि हमारी नीलत्व की कल्पना रक्तत्व की कल्पना से भिन्न है। हम ऐसा भी कह सकते हैं कि भिन्नत्व अभाव सें भिन्न है। इसका मतलब है कि मनुष्य जगत् के संदर्भ में भी हम सामान्यता (और आवश्यकता) जैसी संकल्पनाओं का उपयोग कर सकते हैं। जब हम नियम बनाते हैं तब वे वस्तुजगत् के माध्यम से वस्तु के नहीं होते हैं। तथापि हम कह सकते है कि वे हरेक परिस्थिति में सच हैं, यद्यपि अस्तित्व में होना उनके लिए आवश्यक नहीं। जब हम कहते हैं कि अतिक्रमणकारियों को सजा होगी, तब हमारा नियम हरेक अतिक्रमणकारी के लिए होता है, यद्यपि वहाँ कोई भी अतिक्रमणकारी या अन्य कोई हो यह जरूरी नहीं। और, वस्तुजगत् में अतिक्रमणकारी जैसी कोई चीज नहीं होती है। अतिक्रमणकारी यह मानवी जगत् की कल्पना है, यह मानवी सृष्टि है। हमारा नैतिक जीवनक्रम बनाते

हुए मनुष्य ऐसी रचित कल्पनाएँ उपयोग में लाता है। हम सोचते हैं कि जो एक हालत में सच है वही सभी हालतों में सच होना चाहिए। एक से हरेक तक जाने के साक्षात्कार में सामान्यता पैदा होती है। लेकिन 'हरेक'सर्व 'एक' है, अर्थात् यहाँ एक का मतलब 'कोई भी नहीं' ऐसा भी हो सकता है। और ऐसी हालत में 'सर्व एक' का मतलब होना चाहिए' सर्व एक भी नहीं ' यानी कोई भी नहीं। तथापि, नियम इस तरह बनाये जाते हैं कि वे सभी संभाव्य के बारे में सच होने चाहिए। यहाँ हम 'सर्व' की अलग-अलग एक के समूह के रूप में कल्पना करते हैं। हम सोचने लगते हैं कि संभाव्य एक के जगत् में सामान्यता का समान अंश होता है। जब हम समान अंश की सोचते हैं तब हम मानते हैं कि समान अंश नैमित्तिक नहीं हो सकता, उसका वहाँ होना पूर्वनिर्दिष्ट होता है। इस पूर्वनिर्देश के विवेकीकरण का (rationalization) आवश्यकता में स्पष्टीकरण किया जाता है। इसके बारे में हम आगे चलकर बात करेंगे, लेकिन यही न्याय सभी एक के बीच का संबंध स्पष्ट करता है। और 'सर्व' को 'एक' के मनोज्ञेय (Conceivable) अंश के न्याय को और मनोज्ञेय अंशों पर भी लागू किया जाता है। इस बात का यहाँ स्मरण करना होगा कि न केवल हम एक, दो, तीन....अनंत आदि अंकों के बारे में बोलते हैं बल्कि उनके एक द्वितीयांश, एक चतुर्थांश आदि अपूर्णांकों के बारे में भी बोलते हैं। इस तरह हमें (rational) अंक प्राप्त होते हैं। जब हम अपूर्णांकों के बारे में बोलते हैं तब हम एक यह अंक तथा उसके विभाग के बीच के संबंध को समझने की कोशिश करते हैं। अगर हम सोचने लगें कि वस्तु और उसके विभाग उसी तरह एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं तब हम वस्तु को एक विश्व तथा उसके विभाग को सदस्य के रूप में सोच सकते हैं। और जब हम वस्तुओं को संपूर्णरूप से देखते हैं तब हम वस्तु को सामान्यता लगाते हैं। इस तरह एकवाची प्रकथन सामान्य बन जाते हैं। जब हम सुकरात को एक संपूर्ण के रूप में देखते हैं तब हम उसे एक संपूर्ण मानते हैं और उसके प्रत्येक विभाग को सुकरात का सदस्य मानते हैं। इसे हम जैविक अंशी कह सकते हैं, लेकिन वह दूसरी बात है। हम सुकरात पर सामान्यता आरोपित करते हैं क्योंकि हम सोचते हैं कि जो सुकरात के बारे में सही है वह सुकरात के प्रत्येक विभाग के बारे में सही होगा, और यहाँ हमारा तर्कशास्त्र होता है कि सुकरात का कोई भी विभाग सुकरात इस संपूर्ण अंशी से स्वतंत्र नहीं हो सकता, अत: अस्तित्व में न होने वाले प्रत्येक सदस्य के बारे में भी वह सच होता है। सामान्य संपूर्ण में यांत्रिक एकता, सामूहिकता होती है, और जब हम एक के बारे में बोलते हैं तब सर्वत्व को सीधा सामान्य माना जाता है। अस्तित्व में न होने वाले बहुत्व को (विभाग) बहुत्व माना जाता है। इस तरह सामान्यता का तथा एकता का तर्कशास्त्र मूलत: वही होता है। जब गणितशास्त्र rational अंकों को स्वाभाविक अंक मानता है तब यही तर्कशास्त्र होता है। सुकरात जैसे एकवाची पद या 'यह' या 'वह' जैसे निर्देशक सर्वनामों का तर्कशास्त्रियों ने उचित प्रयोग किया है। अपने विधानमीमांसा में कांट इसी तर्कशास्त्र का उपयोग करते हैं जब वे 'सुंदर' के बारे में बोलते हैं। वस्तुत: जब वे 'यह इस अनिश्चित' के बारे में विधान करते हैं तब हम विधान में पायी जाने वाली जो सामान्यता प्राप्त करते हैं वह 'यह अनिश्चित यह' जैसी होती है। यह 'अनिश्चित' शायद हमें नियम दे सकता है लेकिन विधान नहीं दे सकता। विधान करने के लिए जिस वस्तु के बारे में विधान किया जाता है उसका हमें ज्ञान होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, विधान का उद्देश्य एकवाचक पद होना चाहिए और उसका बर्ताव सामान्यवाचक पद की तरह होना चाहिए।

अनुभवपूर्व ज्ञान के निकष के रूप में कोई चीज निरपेक्ष आदेश है या नहीं इस बात का निर्णय करने के लिए काण्ट ने सामान्यता इस शब्द की भाँति आवश्यकता इस शब्द का भी उपयोग किया है। सौंदर्यवाचक विधान के संदर्भ में भी कोई चीज सुन्दर है या नहीं, इस बात का निर्णय करने के लिये वे आवश्यकता को जरूरी निकष मानते हैं। वे निकष में सिर्फ थोड़ा बदल करके कहते हैं कि सौंदर्यवाचक

विधान के संबंध में आवश्यकता व्यक्तिनिष्ठ होती है। अत: काण्ट के आवश्यकता के अर्थ का परिशीलन करना इष्ट होगा। शायद ऐसे परिशीलन का सबसे अच्छा उपाय होगा विट्गेंस्टाइन का अनुकरण करके पूछना कि किस तरह हम अपनी भाषा में आवश्यकता इस शब्द का उपयोग करते हैं। बहरहाल, यह मैं स्पष्टरूप से बता दूँ कि इस तरह का परिशीलन सर्वसमावेशक हो यह जरूरी नहीं है, चूँकि अरस्तु से लेकर आज के तर्कशास्त्रियों तक जिन्होंने आवश्यकता की संकल्पना का काफी पारिभाषिक रूप से विकास किया, दार्शनिक परिशीलन में आवश्यकता इस शब्द के अनेकों पारिभाषिक प्रयोग प्रचलित हैं।

यद्यपि हम कभी-कभी आवश्यकता के बारे में बोलते हैं, उसके 'आवश्यक' और 'आवश्यक रूप से' ये रूप भाषा में अधिक प्रचलित हैं। मुझे लगता है कि आवश्यकता इस शब्द की रचना क्रियाविशेषण को संज्ञा में बदल देने के यत्न से हुई है। जब कभी हम आवश्यकता इस शब्द का प्रयोग करते हैं, उसका आवश्यक या आवश्यकरूप से इस तरह फिर उल्लेख किया जा सकता है। अत: आवश्यक और आवश्यकरूप से इन शब्दों का जिस तरह प्रयोग किया गया है उसका अब मैं परिशीलन करूंगा। शुरू में यह बताया जा सकता है कि एक ओर आवश्यक और आवश्यक रूप हो-इनमें संबंध है और दूसरी ओर 'निश्चित रूप से' तथा 'स्वयंसिद्ध' इनमें संबंध है। अरस्तु ने इस संदर्भ में जिस शब्द का प्रयोग किया है उसका अनुवाद स्वयंसिद्ध ऐसा किया जाता है।

अब निम्नांकित वाक्यों को देख लें-

(1) यह मेज है।

(2) निश्चय ही यह मेज है।

जब किसी चीज को देखकर कहता हूँ कि मेज है, तो क्या मैं कह सकता हूँ कि यह मेज है ? वस्तुत: मेज स्वयं ही अस्तित्व में होता है और अगर हमें आवश्यक या आवश्यकता इनका 'मेज' के बारे में प्रयोग करना है तो हमें वस्तुस्थिति के सभी प्रत्यक्षों के संबंध में आवश्यक और आवश्यकरूप से इन शब्दों का प्रयोग करना पड़ेगा। इसका मतलब है कि दार्शनिकों ने अनुभवपूर्व ज्ञान और अनुभवात्मक ज्ञान में जो भेद किया है वह एक तरह से अप्रस्तुत हो जाता है। जब यह कहा जाता है कि 'यह मेज है' तब साधारणतया हम वाक्य में आवश्यक या आवश्यकरूप से इन शब्दों का प्रयोग नहीं करते। इसी कारण 'यह मेज है' इस आकार के प्रकथन को हम नैमित्तिक मानते हैं और आवश्यक नहीं मानते। बहरहाल, अशास्त्रीय व्यक्ति के लिए (मेज को देखकर) 'यह मेज है' यह विशेष प्रकथन है और अत: 'यह निश्चय ही मेज है' और 'यह अवश्यरूप से मेज है' इन दो वाक्यों के प्रयोग में भी भेद होगा। यह मेज है, ऐसा कहने पर दूसरा प्रश्न कर सकता है, 'क्या यह मेज है ?' और पहला व्यक्ति उत्तर देगा 'हाँ, निश्चय ही यह मेज है, जब कोई कहता है कि यह निश्चय ही मेज है तब वह उसकी रचना की खोज नहीं करता कि क्यों वह मेज है, 'वह निश्चय ही मेज है' ऐसा कहने के लिए उसे उसका अपना प्रत्यक्ष से होने वाला संपर्क काफी है। लेकिन जब कोई कहता है कि यह अवश्य ही मेज है तब उसने वह क्यों मेज है ? इस प्रश्न का गंभीर विचार किया होता है। इसका मतलब है कि जो कोई कहता है कि 'यह मेज है' उसे पहले से ही मेज की निश्चित कल्पना होती है और चूँकि उसका प्रत्यक्ष उसकी इस कल्पना को पक्का कर देता है वह कहता है कि यह अवश्य ही मेज है। इसका मतलब है- (1) अवश्य (आवश्यक) या अवश्यरूप से यह शब्द उसके ज्ञान-जगत् में होता है और 'मेज' की तरह वस्तु का अंश नहीं होता जैसे कि मेज होता है, अवश्य मेज नहीं होता और (2) वह सोचता है कि वह मेज है ऐसा आवश्यक ज्ञान होने के लिए मेज के अंश एक-दूसरे से किसी विशिष्ट रूप में जुड़े होने चाहिए, यानी (अ) (मेज के) अंश होने चाहिए और (ब) जिनकी अन्य रूप से कल्पना न की जा सके, ऐसा उनके बीच एक तरह का संबंध होना चाहिए। चूँकि इस संबंध की अन्य तरह से कल्पना नहीं कि जा सकती, हम कह पाते हैं कि उसमें कुछ 'विवेकशीलता'

(rationality) होती है। अंशों में एक व्यवस्था होती है जो उनको एक साथ धारण करती है। इसी 'विवेकशीलता' या 'व्यवस्था' को हम 'आवश्यकता' इस शब्द से वर्णन करते हैं। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि यह व्यवस्था वस्तुओं के जगत् में होती है और ज्ञान के जगत् में नहीं होती। इस हालत में हमें पहले गृहीत को छोड़ देना पड़ेगा। लेकिन इसका यह भी मतलब है कि 'आवश्यक' या 'आवश्यकरूप से' यह शब्द जिन अंशों को 'एक संपूर्ण' या 'एकत्व' में देखता है उनके बीच के संबंध को बताता है। इस तरह अगर संसार में कोई सरल चीज है तो हम उसकी आवश्यकता के बारे में बोल नहीं सकते या उसके बारे में आवश्यक या आवश्यरूप से इन शब्दों का प्रयोग नहीं कर सकते। जो कुछ भी हम कह सकते हैं वह यह है कि कोई आवश्यक नहीं है, और यह कहना वह नैतित्तिक है, इस कहने के बराबर ही है। जब हम कहते हैं कि आवश्कता है या कोई आवश्यक है, तब हमें कहना होता है कि (अ) वस्तु संमिश्र है, (ब) उसके अंश एकत्व पैदा करते हैं, और (स) अंशों के बीच के संबंध के कारण यह एकत्व संभव होता है, नहीं, अपरिहार्य होता है। मुझे लगता है कि जब कभी हम आवश्यकता यह शब्द या उसके रूप-आवश्यकरूप से और आवश्यक का प्रयोग करते हैं, तब हमारे मन में ऊपर वर्णित संश्लिष्ट पार्श्वभूमि होती है। उदाहरणार्थ निम्नांकित प्रकथनों को देखें।

अब मंगल सिंहराशि में है लेकिन दो महीनों के बाद वह अवश्य ही कन्याराशि में होगा। यहाँ हम कुछ भविष्यकथन कर रहें हैं और कहते हैं कि उसमें आवश्यकता निहित है। इस घटना का हम कैसे भविष्यकथन करते हैं ? पहले, हम मंगल की गति और उसे अपनी कक्षा में एक प्रदक्षिणा के लिए जो समय लगता है इसका निर्णय कर सकते हैं। हम मान लेते हैं कि मंगल की कोई निश्चित कक्षा और गति होती है। मंगल के सौरप्रणाली में होने वाले विशिष्ट स्थान के कारण उसकी वक्र गति का भी हम विचार कर सकते हैं। और हम मानते हैं कि विश्व, दिक्, अंतरिक्ष के ग्रह-तारे, जिनमें मंगल का भी समावेश है, उनकी गति आदि में एक व्यवस्था है, वह किसी निश्चित तर्कशास्त्र का अनुसरण करती है और जब हम इस व्यवस्था के किसी अंश के बारे में बोलते हैं तब गति में कोई अव्यवस्था नहीं होती है। व्यवस्था के संबंध में हम कहते हैं कि वह आवश्यक हैं। उससे हमारा मतलब होता हैं या होना चाहिए कि अंशों का व्यवस्था के बाहर कोई स्थान नहीं है। अंश या अंशों का संपूर्ण या समूह या व्यवस्था से जो विशेष संबंध होता है उसका हम आवश्यकता कहकर वर्णन करते हैं। काण्ट के द्वितीय उपमान के दृष्टांत का यहाँ उपयोग होना चाहिए। वास्तविकता में होने वाली आवश्यकता के अंश को बताने के लिए प्रवाह में नीचे जानेवाले जहाज का वे दृष्टांत देते हैं। जहाज की नीचे जाने वाली गति मनुष्य की सनक से निर्धारित नहीं बल्कि संपूर्ण परिस्थिति में होने वाली व्यवस्था के कारण निर्धारित होती है। इस व्यवस्था के कारण हम कह सकते हैं कि जहाज समुद्र में अवश्य जाएगा। आवश्यकता ज्ञाता से निर्धारित नहीं है, अपितु वह उसके ज्ञान का अंश नहीं होगी, विश्व के तथा उसके ज्ञानविश्व के अंश एक व्यवस्था में जुड़े हुए हैं, इस विश्वास से उस आवश्यकता का अनुमान होता है।

जब मैं मेज के बारे में बोलता हूँ और कहता हूँ कि वह अवश्यरूप से मेज है तब मैं ऐसी रचना के बारे में बोलता हूँ जहाँ उसके अंश तथा उसके प्राथमिक और गौण धर्म भी जो उस संपूर्ण को बनाते हैं, उनकी मैं कल्पना करता हूँ। जब मैं मंगल की गति का विचार करता हूँ, यद्यपि बहुत्व या वस्तु मेरे मन में होता है, वस्तुओं का बहुत्व उसके पीछे का एकत्व दिलाता हैं। और बहुत्व का एकत्व के साथ जो विशेष संबंध हैं, उसके कारण हम उसे आवश्यक मानते हैं। फिर निश्चय और आवश्यकता में भेद होता है जो आवश्यक है वह निश्चित हो सकता है, लेकिन जो निश्चित है वह आवश्यक नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, जब कभी हम कह सकते हैं कि यह अवश्य ही होगा, हम ऐसा भी कह सकते हैं कि निश्चय ही वह होगा। लेकिन जब हम कहते हैं कि निश्चय ही यह होगा, हम ऐसा नहीं कह पाते कि हमने

निश्चितता के न्याय का अवश्य विचार किया होगा। अर्थात् उसके पीछे के तर्कशास्त्र का विचार किये बिना ही हम यह कह सकते हैं कि निश्चय ही यह होगा या अवश्य ही यह होगा। लेकिन उस हालत में वह केवल हमारे संपूर्ण या इच्छा का प्रदर्शन होगा और आवश्यकता या निश्चितता पर आधारित प्रकथन नहीं होगा।

काण्ट जब मानवी वर्तन के लिए अनुभवपूर्व ज्ञान और निदेश (maxim) के संबंध में आवश्यकता की बात करते हैं तब उनके मन में विश्वव्यवस्था का पूरा वितान होता है। दिक्काल, दिक्काल में होने वाले अंशों की व्यवस्था का पालन करना, विशिष्ट नियम जिसके कारण पूरा भौतिक-विज्ञान संभव है। नैतिक मापदंडों के अनुसार भी मानवी वर्तन संभव होता है क्योंकि उसकी पार्श्वभूमि में पूरी नैतिक व्यवस्था हैं, नैतिक व्यवस्था के विभिन्न अंश नैतिक नियम से एक विशेष संबंध से जुड़े हुए हैं, जिनमें एक निश्चित आवश्यकता अनुस्यूत होती है। जब हम सौंदर्यवाचक विधान के बारे में बोलते हैं तब क्या ऐसी आवश्यकता उसमें अनुस्यूत होती है? सामान्यता की चर्चा करते हुए हमने देखा है कि सौंदर्यवाचक विधान के संदर्भ में कांट के मन में एकवाचकता है। वे सोचते हैं कि सौंदर्यवाचक विषय एकता है (विषय के बारे में हम उचितरूप से 'यह' इस शब्द का प्रयोग कर सकते हैं)। लेकिन यद्यपि विषय एक होता है कल्पना से देखने की हमारी मानसिक शक्तियों के आधार पर हम इस विषय को संपूर्ण मानते हैं और ऐसी एकता मानते हैं जो उसके अंशों से बनी है। 'यह' का अंश उसे एकत्व दिये देता है। इस तरह सुकरात या एकवाची प्रकथन के किसी भी उद्देश्य को सामान्यता का दर्जा प्राप्त होता है। मुझे ऐसा लगता है कि कांट के अनुसार 'यह' का अंश सौंदर्यात्मक परिस्थिति पर हावी होता है और व्यक्तिनिष्ठ होता है। यह मनोवैज्ञानिक अर्थ में व्यक्तिनिष्ठ नहीं होता, बल्कि इसलिए व्यक्तिनिष्ठ होता है कि ज्ञाता उस पर एकता को आरोपित करता है। जब हम कहते हैं कि क्ष सुंदर है तब हमने उस क्ष का चयन किया होता है क्योंकि क्ष के विभिन्न अंशों को हम उससे अविभाज्य मानते हैं, समूची हालत में हम उसकी स्वतंत्रता से कल्पना नहीं कर सकते। वैसे भी कहा जाए तो हमें लगता है कि कोई पद्यबंध उसको एक साथ धारण करता है और उसे हम सुंदर यह संज्ञा देते हैं। सौंदर्यात्मक परिस्थिति में उसका सुंदर ऐसा निर्णय करने के पहले हम एक घटना को स्वीकार करते हैं। मान लो कि हम कहते हैं कोई युवती सुंदर है तो प्रतीकात्मक तर्कशास्त्रियों के मुताबिक उसका तार्किक विश्लेषण होगा, ऐसा क्ष है कि वह क्ष युवती हैं और वह क्ष सुंदर है। अगर कांट को इसका विश्लेषण करना होता तो उन्होंने कहा होता कि जब हम कहते हैं कि कोई युवती सुंदर है तो 'किसी युवती' को हम 'यह युवती' स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि यह युवती सुंदर है। 'यह' और 'युवती' एक अविभाज्य एकत्व बनाते हैं। और वह सुंदर है ऐसा निर्णय करने के पहले ही 'यह युवती' इसको विधान के उद्देश्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। तर्कशास्त्र की भाषा में यह 'क्ष' प्रकथन का argument नहीं होता बल्कि 'यह युवती' प्रकथन का argument या अवच्छेद होता है। कांट के अनुसार ऐसा अवच्छेद घटनात्मक या वास्तविक जगत् में होता है और इस कारण जिस दूसरी आवश्यकता को हम देखते हैं वह उस आवश्यकता से भिन्न होती है। जो आवश्यकता यह युवती सुंदर है ऐसा कहने से प्राप्त होती है और जो आप अनुभवपूर्व ज्ञान के नैतिक नियम में पाते हैं वह दूसरे स्तर की आवश्यकता होती है। यह आवश्यकता एकता से जुड़ी होती है और केवल सामान्यता से नहीं। जब कांट सौंदर्यवाचक विधान के बारे में या उससे संबंधित आवश्कता के बारे में बोलते हैं तब उनके मन में एकवाची प्रकथन का तर्कशास्त्र होता है।

***

सौंदर्यात्मक एवं नैतिक मूल्यों का स्वरूप

साधारणतया मूल्य को अर्थशास्त्रीय संकल्पना माना जाता है। अर्थशास्त्र में मूल्य का संपत्ति से विरोध बताया जाता है। उपयुक्तता इस गुण से युक्त हरेक वस्तु को 'संपत्ति' कहा जाता है। अर्थशास्त्र में 'प्याला भर पानी' संपत्ति है। संपत्ति की कल्पना मनुष्य और वस्तु के बीच के संबंध को उपलक्षित करती है तो 'मूल्य' वस्तुओं के बीच का संबंध उपलक्षित करता है, वह संबंध वितरण में साकार होता है। वजन और आकार की तरह वह सापेक्ष कल्पना है और अर्थशास्त्रज्ञ कहते हैं कि संसार में यदि एक ही वस्तु होती तो उसका कोई मूल्य होता या नहीं, यह कहा नहीं जा सकता। रिकार्डों के अनुसार संपत्ति की कल्पना दुर्लभता की कल्पना से अपरिहार्य रूप से जुड़ी है तो दूसरी और मूल्य कल्पना दुर्लभता की कल्पना से संबंधित है। इस तरह मूल्य शब्द एक संबंध, एक तुलना, एक पसंद उपलक्षित करता है। बिना कोई कठिनाई के यह देखा जा सकता है कि अर्थशास्त्रियों ने 'मूल्य' शब्द का प्रयोग साधन के अर्थ में किया है। अर्थशास्त्र में मूल्य को मूल्य माना जाता है क्योंकि जो अपने में मूल्यावान् है उस तक वह 'ले जाता है'। यानी, इस दूसरी वस्तु का एक धर्म होता है जिसका 'अन्य किसी' से संबंध नहीं होता, लेकिन 'स्वयं अपने से' कुछ संबंध होता है। मूल्य के इस दूसरे अर्थ को मैं प्रारंभिक या प्रधान मानता हूँ ; और जब दार्शनिक 'अंतर्निहित मूल्य' की बात करते हैं तब वे इसी अर्थ में मूल्य शब्द का प्रयोग करते हैं।

मूल्य की इस संकल्पना का प्रो. मूर ने नीतिशास्त्र में पहली बार उपयोग किया। उनसे पहले नीतिशास्त्र तथा सौंदर्यमीमांसा जैसे विषय या तो (अच्छे) वर्तन तक सीमित थे या (सुंदर) वस्तुओं तक। प्रो. मूर ने, दूसरी ओर, मूल्य की संकल्पना पर जोर दिया। उन्होंने लिखा : "नि:संशय" ही नीतिशास्त्र 'अच्छा वर्तन क्या है' इस प्रश्न से संबंधित है; लेकिन उससे संबंधित होने की वजह से जब तक वह 'अच्छा' तथा 'वर्तन' के बारे में कहने के लिए तैयार नहीं है, तब तक, स्पष्टतया, वह आरंभ में शुरू ही नहीं होता है। क्योंकि अच्छा वर्तन यह मिश्र कल्पना है- सभी वर्तन अच्छा नहीं होता....। दूसरी ओर, वर्तन के बिना अन्य वस्तुएँ अच्छी हो सकती हैं।" (P.E. पृ. 2) इस 'अच्छा' या 'शुभ का स्वरूप क्या है ? 'प्रो. मूर ने प्रतिपादित किया कि जब हम कहते हैं कि अनुभव अच्छा है तब हम केवल यही बताते हैं कि वह किसी अस्वाभाविक धर्मों से प्रदत्त है जो किसी स्वाभाविक या इच्छा किया हुआ, पसंद किया हुआ ऐसे मानसिक धर्म में वर्जित नहीं हो सकता। यह धर्म सरल है और उसका आगे विश्लेषण नहीं किया जा सकता। "इस भूमिका से अच्छा यह किसी भी तरह किसी स्पष्ट ब्यौरे के लिए संक्षिप्त पद नहीं है। अच्छी वस्तुएँ, बस, अच्छी हैं, यह सब ऐसा धर्म है जो अपरोक्ष अंत:प्रज्ञा से पहचाना जा सकता है और यहाँ बातें खत्म होनी चाहिए" (आय् रिचर्ड्स कृत P.L.C., मूल्य पर लिखा प्रकरण)। अगर आप कोई नैतिक विधान लें, जैसे 'क्ष अच्छा है' तो यहाँ अच्छा यह अभिधान करता है जो यह धर्म दिखाता है और प्रो. मूर के लिए यह धर्म 'मूल्य' से एकरूप हैं। मूर स्वयं लिखते हैं, "वस्तुत: हर कोई 'क्या वह अच्छा है ?' इस प्रश्न को समझता है। जब वह उसके बारे में विचार करता है तब उसके मन

की अवस्था अलग ही होती है अगर उसे पूछा गया होता 'क्या यह सुखद या ईप्सित या पसंद किया हुआ है?' यद्यपि वह पहचान नहीं सके उसके लिए उसका अर्थ भिन्न है। जब-जब वह 'अंतर्निहित मूल्य' या 'अंतर्निहित मोल' की सोचता है या कहता है कि 'वस्तु को अस्तित्व में होना चाहिए' उसके सामने अनोखी वस्तु होती है-वस्तु के अनोखे धर्म- जिसे मैं 'अच्छा' पद से समझता हूँ।" (P.E.पृ. 16-17)' कुछ खींचातानी से मूल्य शब्द का अर्थ 'सुंदर' इस अर्थ तक खींचा जा सकता है और 'अच्छा' तथा 'सुंदर' इन शब्दों को मूल्यात्मक शब्द माना जा सकता है।

Good तथा the good में प्रो. मूर ने जो भेद बताया वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। लेकिन फिर भी मुझे ऐसा लगता है कि 'अच्छा' इस धर्म के स्वरूप तथा दर्जे के बारे में उनके मन में कुछ गड़बड़ी थी। उस जमाने के आरंभिक रसेल, आरंभिक फ्रेगे और मायनांग जैसे दार्शनिकों के साथ प्रो. मूर की धारणा के पीछे एक ऐसी कल्पना थी कि शब्द को अर्थपूर्ण होने के लिए किसी वस्तु का किसी तरह, चाहे अनैसर्गिक रूप में भी क्यों न हो, अस्तित्व में होना जरूरी है। इस तरह प्रो. मूर के मतों की युक्तिसंगति, जैसा कि रिचर्ड्स दिखाते हैं, अस्तित्व में रहने के अर्थ में धर्म रहते हैं जो अस्तित्व में होने वाले विशेषों से जुड़े हुए रहते हैं लेकिन जो बिना विसंगति के किसी से भी जुड़े हुए माने नहीं जाते। ये सत्ताशास्त्रीय गृहीति पर मूलत: 'निर्भर करते हैं। ये सत्ताशास्त्रीय वस्तुएँ जिन्हें कल्पना (Ideas, Notions), संकल्पना या सामान्य आदि" अनेकाविध नाम दिये जाते हैं, ऐंद्रिय तथा अतींद्रिय इन दो वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं। जिनका इंद्रियों से ग्रहण हो सके वे ऐंद्रिय हैं, जैसे लाल, शीत, गोल, जल्दी और वेदनापूर्ण और जिनका ग्रहण इंद्रियों को छोड़ अन्य तरीके से हो सके वे अतींद्रिय हैं। तार्किक संबंध, आवश्यकता या अनावश्यकता और इच्छा, अंत, कारण, तीन की तादाद में होना ऐसी कल्पनाएँ सीधे अंत:कला से ग्रहण की जाती है, ऐसा माना जाता है। ऐसी अतींद्रिय कल्पनाओं में 'अच्छा' पाया जाता है। (पृ.39-40, P.L.C.) खुद प्रो. मूर इस बात पर नि:संदिग्धतया स्पष्ट हैं। प्रिंसिपिया एथिका (पृ. 110-111) में वे लिखते हैं : "दार्शनिक (सत्ताशास्त्री) हमेशा न केवल मानसिक वस्तुस्थितियों में समाविष्ट अन्य प्राकृतिक वस्तुओं की जाति से काफी व्यस्त थे बल्कि उन वस्तुओं की या धर्मो की जातियों से व्यस्त थे जो काल में तो नहीं होते और अंत:सृष्टि का भाग नहीं होते और जो वस्तुत: अस्तित्व में नहीं होते (यानी दिक्काल में नहीं होते)। 'अच्छा' इस विशेषण का अर्थ इस जाति का होता है।....दो और दो मिला के चार होते हैं, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि दो या चार अस्तित्व में रहते हैं। फिर भी अवश्य ही उसका कोई अर्थ होता है।".... किसी तरह दो हैं यद्यपि वह अस्तित्व में नहीं रहता है।"

प्रो. मूर को लगता है कि दो और चार ये संख्याएँ पद के सामान्य अर्थ में अस्तित्व में नहीं रहती हैं; फिर भी पद के किसी अधिक महत्त्वपूर्ण अर्थ में वे अवश्य अस्तित्व में रहती हैं। वे 'हैं' : शब्द उन्हें दिखा देते हैं, बता देते हैं, उनका अर्थ बताते हैं। प्रो.मूर के लिए denote और mean एक ही है यह (उनके P.E. के पृ. 36 पर के विधान से) स्पष्ट है। यहाँ 'अर्थ' और कोई नहीं बल्कि 'अभिधेयत्व' है। (पहले उन्होंने खुद ही अभिप्रेय- naming शब्द का प्रयोग किया है।) और फिर अगर ये सत्ताशास्त्रीय वस्तुएँ काल में नहीं होती हैं तो वे "कहीं और जगह जरूर अस्तित्व में होनी चाहिए।" (पृ. 111, P.E.) यह स्पष्ट है कि प्रो. मूर के लिए 'अच्छा' और 'मूल्य' किसी धर्म के नाम भी है, जो (धर्म) हैं और किसी अतींद्रिय अर्थ में अस्तित्व में रहते हैं।

यद्यपि मैं अधिकतया प्रो. मूर से उद्धत कर रहा हूँ मैं उन्हें उन दार्शनिकों का प्रतिनिधि इस रूप में ले रहा हूँ जो समझते हैं कि किसी शब्द या वर्णन के अर्थपूर्ण होने के लिए उन्हें किसी अस्तित्व में होने वाली वस्तु का नाम होना चाहिए। फिर, इस संबंध में उत्पन्न होने वाला प्रश्न है: क्या किसी प्राकृतिक या अतिप्राकृतिक वस्तु को नाम देने में ही अर्थ होता है? असल में यह सच है कि इस तरह हम कुछ शब्द

सीखते हैं। लेकिन क्या इसका मतलब यह है कि इसी तरह हम सभी शब्द सीखते हैं ? क्या वाक्य का प्रत्येक शब्द नाम शब्द है जहाँ शब्द का अर्थ होने वाली वस्तु का वह शब्द नाम है ? स्पष्ट ही है कि यह बात सच्चाई से काफी दूर है, सभी शब्द एक ही तरह से बर्ताव नहीं करते- वस्तु को नाम देने की तरह बर्ताव नहीं करते। वस्तुत: वस्तुओं को बताने वाले शब्दों के बारे में भी हम शब्दों के अर्थ वस्तुओं से एकरूप कर देते हैं क्योंकि वे शब्द अर्थों के होते हैं जो वस्तुओं को सूचित करने के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं। इसमें भेद करने में असफल हो जाते हैं। विट्गेंस्टाइन ने दिखा दिया है कि प्राथमिक भाषा में भी जहाँ 'पाँच लाल सेब' जैसी पदावली प्रयुक्त होती है वहाँ हरेक शब्द एक ही तरह से सीखा नहीं जाता। जिस तरह हम 'सेब' शब्द का अर्थ पूछते हैं उसी तरह हम 'पाँच' शब्द का अर्थ नहीं पूछते। 'सेब' यह शब्द सेब के लिए होता है। लेकिन किस तरह हम शब्द का 'प्रयोग' करते हैं यह बात 'पाँच' के बारे में प्रसंगोपात्त होती है। जिस तरह विट्गेंस्टाइन टीका-टिप्पणी करता है, 'शब्दों के कार्य हथियार की पेटों में होने वाले हथियारों के कार्य की भाँति विरुद्ध होते हैं' (P.I.) विधान आज्ञाओं से भिन्न होते हैं और अपेक्षाएँ इच्छाओं से अलग होती हैं। आगे, हरेक प्रकथन के अनुरूप किसी बात का अस्तित्व में होना जरूरी नहीं है। विट्गेंस्टाइन ने बहुत अच्छी तरह से कहा है : ''अगर आपको 'अर्थ' इस शब्द का प्रयोग समझना है तो जिन्हें 'अर्थ के स्पष्टीकरण' कहा जाता है उन्हें ढूंढो।... हमें इस बात की प्रतीति नहीं होती कि हम शब्दों के साथ फलन करते हैं, परिचालन करते हैं, और काल की अवधि में कभी-कभी एक या अन्य चित्र में अनूदित करते हैं। यह ऐसा होता है कि मानो कोई सोचता है कि गाय के लिए लिखित आदेश मुझे देना है तो वह हमेशा गाय की प्रतिभा के साथ ही हो, नहीं तो आदेश अपना अर्थ गंवा बैठे।'' (P.I.पृ. 131-32) अत: शब्द का प्रत्येक प्रयोग 'नाम देने' का या 'के लिए होने' का कार्य सूचित नहीं करता। अत: वाक्य के हरेक शब्द के लिए वस्तुएँ खोजना और झुठे सत्ताशास्त्र को पैदा करना व्यर्थ है। फिर, मूल्य शब्दों के साथ (अनुरूप) किसी वस्तु का होना जरूरी नहीं है।

मैं सोचता हूँ कि इस अवस्था में अर्थ तथा अस्तित्व में भेद दिखाना आवश्यक है। किसी व्यापक अर्थ में अस्तित्व वस्तु का धर्म है। वैसे तो वह सत्ताशास्त्र के क्षेत्र में आता है। दूसरी ओर (किसी भी अर्थ में व्यक्तिनिष्ठ किये बिना) 'अर्थ' हमारे लिए होता है। वह वस्तु का धर्म नहीं है, यद्यपि वह वस्तु के बारे में हो। और जो वस्तु के बारे में है उसे वस्तु या वस्तु का घटक होना जरूरी नहीं है। मुझे लगता है कि केवल वस्तु या वस्तु का घटक या गुण या वस्तु की क्रिया ही 'अस्तित्व' में है ऐसा कहा जा सकता है। 'अर्थ' की संकल्पना 'अस्तित्व' की संकल्पना से अधिक व्यापक है। अस्तित्व बताया जाए यह केवल अर्थ का एक विशेष प्रकार है और ऐसे ही प्रकारों में अर्थ का नाम सिद्धांत सार्थकता से प्रयुक्त किया जा सकता है। मेरा आशय है कि 'अच्छा' और 'सुंदर' ये मूल्य शब्द एक अर्थ में अर्थपूर्ण हैं यद्यपि अपने में न वे वस्तु का कोई गुण या धर्म दिखा सकते हैं न उसका नाम लेते हैं।

'अच्छा', 'सुंदर', 'सही' ऐसे शब्दों को नाम-शब्द समझने में केवल अर्थ का नाम सिद्धांत जिम्मेदार नहीं है। ऐसी कल्पनाओं के लिए 'होना' क्रिया का संदिग्ध प्रयोग भी उतना ही जिम्मेदार है। जब हम 'क्ष अच्छा है', 'क्ष सुंदर है', या 'क्ष सही है' ऐसे निर्णय करते हैं तब 'होना' क्रिया का व्याकरण पूछना आवश्यक है। कभी-कभी 'होना' यह 'अस्तित्व' के लिए होता है और कभी-कभी वह केवल उद्देश्य और विधेय के बीच का 'संयोग' होता है। विट्गेंस्टाइन ने (1) 'गुलाब का फूल लाल है' और, (2) 'दुबारा दो चार है' इन वाक्यों में 'होना' क्रिया के दो विभिन्न प्रयोग दिखाये हैं। वे लिखते हैं : ''इन वाक्यों में 'है' शब्द के भिन्न अर्थ हैं इसे दिखाने वाला नियम वह है जो दूसरे वाक्य के 'है' शब्द की जगह समरूपता के चिन्ह को रखने की अनुमति देता है और इस बदली को पहले वाक्य में रोक देता है (P.I.

पृ. 149) । 'है' इस शब्द के बहुतेरे प्रयोग हैं और हमारे लिए यह समझना काफी है कि ''.....अच्छा है' या '.....सुंदर है' ऐसे प्रकथनात्मक फलन से बने विधानों में 'है' यह शब्द किसी भी तरह अस्तित्व के लिए नहीं होता है।

'होना' क्रिया का व्याकरण जितना आवश्यक है, ऐसे वाक्यों में आने वाले 'में' जैसे विभक्ति प्रत्ययों का व्याकरण जान लेना उतना ही आवश्यक है। 'गुलाब के फूल 'में' सौंदर्य है।' व्याकरण की रचना के कारण हमें यह सोचने की गलती नहीं करनी चाहिए कि यह वाक्य 'फूल' 'में' दस पंखुड़ियाँ हैं', 'अलमारी 'में' वर्तन हैं' ऐसे वाक्यों जैसा है।

मैं सोचता हूँ कि नैतिक या सौंदर्यवाचक विधानों की किसी अन्य तरह के विधानों के साथ तुलना करना बड़ा दिलचस्प होगा। जहाँ हम क्रिया विशेषण के विभिन्न प्रयोग पाते हैं, ऐसे निम्नलिखित वाक्यों की तुलना करें। 'बड़े जोरों से बरसात हो रही है' इसका 'शायद बरसात हो रही है' इससे विरोध देख लें। जब मैं कहता हूँ, 'बड़े जोरों से बरसात हो रही है' मेरा अभिप्राय है कि एक खास तरह से बरसात हो रही है, लेकिन जब मैं कहता हूँ 'शायद बरसात हो रही है' मुझे निश्चय ही नहीं बताना होता कि किसी खास तरीके से बरसात हो रही है, मैं जिसे 'शायद बरसात' कहता हूँ (नील Kneale कृत P.I. पृ. 3)। इसके विरुद्ध शायद यह क्रियाविशेषण व्यक्तिनिष्ठ अस्तित्व बताता है। इस दूसरे सिरे तक छलांग भरना उतना ही आसान है। यह 'शायद बरसात हो रही है' 'दुर्दैव से बरसात हो रही है' इस वाक्य से तुलना करना लाभप्रद है। इस बात की ओर ध्यान देना चाहिए कि 'दुर्दैव से' यह ज्यादा टीका उसके अपने मन की अवस्था के बारे में है, जहाँ तक 'शायद' इस तरह नहीं है। क्रियाविशेषण की तरह विशेषण का प्रयोग भी विस्तार से भिन्न होता है। 'यह सुखद है' यह 'यह पीला है' से भिन्न है, और दोनों 'यह अच्छा है' या 'यह सुंदर है' से भिन्न हैं। जब मैं कहता हूँ 'कोई अच्छा या सुंदर है' न मैं मनोवस्था व्यक्त करता हूँ जैसा कि यह सुखद है या मैं मजे में हूँ ऐसा कहने में होता है, न मैं इस बात को बताता हूँ कि अच्छा या सुंदर जो अच्छा या सुंदर है उसके घटक हैं। 'यह अच्छा है' और 'यह सुंदर है' ये अर्थपूर्ण वाक्य है। लेकिन जैसे ही निश्चय से कहा जाए कि अर्थपूर्ण वाक्यों का 'अस्तित्व' बनाना ही होगा, तो जो 'अच्छा' या 'सुंदर' जैसे तथाकथित गुणों को सहारा देने वाले आधार की खोज शुरू हो जाती है, परिणामत: 'अच्छा और सुंदर के वस्तुनिष्ठ या व्यक्तिनिष्ठ सिद्धांत प्रतिस्थापित किये जाते हैं। इस तरह लोग सोचने लगते हैं कि मूल्य करीब-करीब वस्तु या मनोवस्था के घटक हैं। अर्थात् 'अच्छा' के बजाय 'सुंदर' के बारे में यह अधिक स्पष्ट है। लेकिन 'अच्छा' के बारे में नीति दर्शन के दार्शनिकों में कुछ ऐसी कल्पनाएँ होती हैं जब वे नीचे दिये जैसे वाक्यों का प्रयोग करते है : ''किसी विशिष्ट वर्तन में भलापन अंतर्निहित होना चाहिए।'' मुझे ऐसा लगता है कि प्रो. मूर भी जब 'कुरूप' और 'सुंदर' इन दो शब्दों का Principia Ethica में सविस्तार विवरण करते हुए करीब-करीब शब्दश: सोचते हैं कि 'सुंदर' यह वस्तु का घटक है और पूछते हैं : 'अच्छा', ऐसा होते हुए भी, क्या, मनुष्यों के किसी भी संभाव्य चिंतन से उन्हें पूरा भिन्न मानने पर भी यह मानना अविवेकी होगा कि भद्दे संसार के बिना सुंदर संसार का अस्तित्व में होना बेहतर है ? किसी अन्य से उसे निर्माण करने में हम जो कर सकें वह करना क्या किसी भी हालत में अच्छा नहीं होगा ? (P.E. पृ. 83-84) मैं सोचता हूँ कि मूल्य शब्दों के दर्जे का भाषा में ठीक फैसला करने में उनका विशेषण का रूप धारण करना हमें गुमराह बनाता है।

'सुंदर' और 'अच्छा' जैसे मूल्य शब्द अगर किसी विशेष धर्मों के नाम के लिए नहीं होते हैं तो क्या हम कह सकते हैं कि मूल्य वस्तुनिष्ठ है ? एक अर्थ में वे निश्चय ही वैसे नहीं हैं; लेकिन दूसरे अर्थ में उन्हें वस्तुनिष्ठ कह सकते हैं क्योंकि जब अलग-अलग लोग मूल्यात्मक विधान करते हैं तब उनके मन में मूल्य शब्द का एक प्रयोग होता है या हो सकता है। एक ही वस्तु के बारे में किये ऐसे दो मूल्यात्मक

विधान मूल्य शब्द का एक ही अर्थ व्यक्त करते हैं। मान लो अ और ब किसी क्ष वस्तु के बारे में सौंदर्यवाची विधान कर रहें हैं। मान लो अ कहता है 'क्ष सुंदर है' और अगर उन दोनों में संप्रेषण हो तो ब उसका व्याधान करता है 'क्ष सुंदर नहीं है' तो संभव है कि इस संदर्भ में दोनों के मन में सुंदर इस शब्द का केवल एक ही अर्थ है, चाहे वे आपस में कितने भी भिन्न हों कि क्ष सुंदर है या नहीं। जिस तरह 'मेज' यह शब्द दो अक्षरों का है, इस वाक्य में हम केवल शब्द की हैसियत में ही शब्द के बारे में बोल सकते हैं उसी तरह उसी संदर्भ में मूल्यों या मूल्यशब्दों के बारे में हम बोल सकते हैं। ऊपरी वाक्य का 'मेज' यह शब्द किसी की व्यक्तिगत निजी भाषा का नहीं हैं, नहीं तो उसका संप्रेषण असंभव होगा, न ही वह वस्तु है। मूल्य शब्दों को इसी तरह समझना चाहिए। अस्तित्व में होने वाले धर्म को बता देना सामान्य संदर्भ के लिए जरूरी नहीं है।

मूल्य शब्दों के बारे में फिर भी दो प्रश्न उठ सकते हैं। ऐसा कहा जा सकता है कि यद्यपि हरेक शब्द का मूल्य शब्द होना जरूरी नहीं है, वास्तविकतया मूल्य शब्द किसी धर्म के लिए हो सकता है। ऐसा आरोप किया जा सकता है कि जो कुछ मैं कह रहा हूँ वह सब यह है कि कुछ शब्द ऐसे होते हैं जो किसी के लिए भी नहीं होते। इसको मान्य किया जा सकता है। लेकिन जिस तरह विशेष नाम किसी चीज के लिए होते हैं उसी तरह मूल्य शब्द भी किसी चीज के लिए होते हैं और इस भूमिका का मैनें खंडन नहीं किया है। इसके उपसिद्धांत के रूप में इस बात की ओर ध्यान दिया जा सकता है कि कुछ मूल्यात्मक विधान गलत (या असत्य ?) हो सकते हैं। अगर मूल्य वस्तुओं में वास नहीं करता, तो असत्य मूल्यात्मक विधान कैसे हो सकता है ?

मुझे कबूल करना चाहिए कि पहले प्रश्न का मैं ठीक जवाब नहीं दे सकता हूँ। मुझे लगता है कि अगर सौंदर्य या अध्यापन किसी सत्ताशास्त्रीय वस्तु का नाम होता तो केवल ऐंद्रियबोध उसे जानने के लिए काफी था। ऐसी हालत में, अगर आदमी को मालूम न हो कि कोई बर्तन अच्छा है तो उसका मतलब है कि उसके ऐंद्रियबोध के साधन सदोष हैं। लेकिन जहाँ तक दो आदमी समान ऐंद्रियबोध की क्षमता से रंग, लंबाई, आकार, समरूपता आदि को पहचान सकते हैं, एक आदमी वस्तु को सुंदर पहचान सकता है तो दूसरा नहीं। जब आदमी कहता है कि क्ष सुंदर है, वह केवल क्ष को जानता नहीं या क्ष के गुणों को जानता नहीं है। वहाँ उससे कुछ 'अधिक' होता है, चाहे किसी भी नाम से आप उसे संबोधित करें। सौंदर्यात्मक विशेषणों के बारे में जो सच है उतना ही 'अच्छा' के बारे में भी सच प्रतीत होता है। इससे मैं सोचने लगता हूँ कि 'सुंदर' या 'अच्छा' जैसे विशेषण धर्म या गुणधर्म के नाम नहीं है।

गलत या असत्य मूल्यात्मक विधान का क्या स्पष्टीकरण होता है ? मुझे लगता है, उसका सीधा अर्थ है : मान लो मैं निर्णय करता हूँ कि 'क्ष सुंदर है'। अब, जहाँ तक यह मूल्यात्मक विधान है वह क्ष के ऐन्द्रियबोध से कुछ अधिक है और किसी व्यापक अर्थ में इसे 'व्याख्या' माना जा सकता है। (किसी अन्य उचित शब्द के अभाव में ही मैंने शब्द का प्रयोग किया है।) तथापि, यह क्ष से संबंधित है जो धर्मों से युक्त वस्तु है या अंशों से बना अंशी है। मान लो कि गुणों के दो जोड़े हैं -

(1) अ.... $अ_1$.... $अ_2$.... अ न

(2) ब.... $ब_1$.... $ब_2$.... ब न

और यह भी मान लो कि जब हम क्ष सुंदर है ऐसा ठीक तरह से विधान करते हैं तब 'अ....अ न' यह गुणों का समूह 'क्ष' ये जुड़ा होता है। अब, जब हम गलती से क्ष को सुंदर कहते हैं तो उसका मतलब है कि 'यह 'ब न' इस गुणसमूह के घटकों से या संपूर्ण गुण समूह से जुड़ा होता है और उसे 'क्ष सुंदर है' ऐसा विधान हम में नहीं उत्पन्न कर देना चाहिए। 'सुंदर' यह किसी गुण का नाम नहीं है। इससे हम यह न सोंच बैठें कि 'अ.....अ न' ये गुण नहीं हैं। मूल्यात्मक विधान हमेशा वस्तुओं या क्रियाओं के बारे में

किया जाता है; वह किसी अस्तित्व में होने वाले उद्देश्य के बारे में होता है। विट्गेंस्टाइन के सुझाए निर्देश को यहाँ उपयुक्तता से लागू किया जा सकता है। विट्गेंस्टाइन लिखते हैं, "ऐसी कठिनाइयों में अपने आपसे पूछो, किस तरह शब्द (उदा. अच्छा) का अर्थ तुमने सीखा है ? किस तरह के उदाहरणों से ?" (P.I. पृ. 77) 'अच्छा' इस शब्द का प्रयोग हम केवल मूल्यात्मक विधान के उद्देश्य से सीखते हैं। अत: उद्देश्य के संदर्भ बिना 'अच्छा' (या सुंदर) के बारे में कुछ तय करना गलत होगा।

यहाँ एक आक्षेप किया जा सकेगा कि मूल्य शब्द के अनुरूप यदि कोई सत्ताशास्त्रीय वस्तु नहीं है, तो मूल्य शब्दों के जाँच-पड़ताल की जरूरत ही कहाँ है ? बहरहाल, यह आक्षेप कुछ नहीं कर सकेगा, यह गृहीत करता है कि 'अर्थ' 'नाम' है। इसका मतलब है कि जो शब्द किसी गुणधर्म के लिए नहीं होते और जो नाम-शब्द हथियार के पेटों के हथियारों जैसे हैं।

'अच्छा' और 'सुंदर' ये मूल्य शब्द हैं। उनमें से कोई भी किसी (अस्तित्व में होने वाले) धर्म का नाम नहीं बताता। लेकिन दोनों में क्या फर्क है ? मुझे लगता है कि विभिन्न तरह के मूल्यात्मक विधानों का परीक्षण करके यह भेद जाना जा सकता है। '...अच्छा है', '....सही है', '.....होना चाहिए' और '.....सुंदर है', ऐसे प्रकथनात्मक फलन से विधान करो। पहले तीन का चौथे से कि जो सौंदर्यात्मक विधान है, विरोध में देखो। जब मैं कहता हूँ कि कोई बर्तन सही है, या कोई चीज अच्छी हैं या कोई चीज होनी चाहिए तब मैं ऐसी वस्तुओं या बर्तनों के किसी प्रकार या वर्ग की ओर सूचित करता हूँ। सामान्य नियम से मेरा संबंध होता है अत: मेरे विधान आनुभविक क्षेत्र के परे जाते हैं। इसे किसी सापेक्ष आकार में व्यक्त किया जा सकता हैं। ऐसे-नैतिक विधानों के उद्देश्य का अस्तित्व में होना जरूरी नहीं है या जब विधान किये जाते हैं और दूसरों को संप्रेषित किये जाते हैं तब उस उद्देश्य का होना जरूरी नहीं है। ऐसे विधानों के बारे में universal qualification संभव है। मान लो कि 'F' क्रिया या वस्तु के लिए है और 'G' 'अच्छा' इस मूल्य शब्द के लिए है, तो नैतिक विधानों का तार्किक पद्मबंध होगा (x) [Fc ↄGx]। नैतिक विधान सर्ववाची प्रकाशन का आकार धारण कर सकता है और जिसे अच्छा कहा है ऐसा बर्तन अस्तित्व में हो या न हो, वह नैतिक प्रकथन सच होता है। दूसरी ओर कोई ऐसा कभी भी नहीं कह सकता कि जब तक विधान का उद्देश्य सामने नहीं है, कोई चीज सुंदर है। सौंदर्यात्मक विधान आनुभविक विधान है, विशेषवाची विधान है; वह परिकल्पित आकार में व्यक्त किया जा सकता है। 'क्ष सुंदर है' यह नि:संशय ही प्रकथनात्मक फलन है जिससे सौंदर्यात्मक विधान बनते हैं। लेकिन मैं यह नहीं सोचता कि विधान परिकल्पित आकार में व्यक्त किये जा सकते हैं। किसी चीज के सौंदर्य का निर्णय करने के लिए जो सुंदरता का निर्णय करता है उस व्यक्ति के सामने कम-से-कम एक मानसिक चित्र तो होना चाहिए। अब सौंदर्यवाचक विधान दूसरों को संप्रेषित किया जाता है तब इस बात की अधिक जरूरत होती है। फिर, सौंदर्यवाचक विधान को विशिष्ट शब्दचित्र की या विशिष्ट प्रतिमान की या विशिष्ट वस्तु की जरूरत होती है। यह नैतिक विधान जैसा नहीं होता जहाँ किसी अमूर्त्त पर विधान किया जाता है। अत: सौंदर्यवाचक विधानों का तार्किक आकार कुछ इस तरह का होगा : (∃X) (Fx Gx) and ∃x= some definite object हम मान लेते हैं कि F वस्तु के लिए और G सुंदर इस विधेय के लिए है। मैं सोचता हूँ कि दोनों मूल्य शब्द दो विभिन्न तरह की प्रवृत्तियों को सूचित करते हैं। इस वस्तुस्थिति को छोड़कर भी नैतिक और सौंदर्यवाचक विधानों के बीच एक महत्त्वपूर्ण संरचनात्मक भेद है।

मेरी जाँच के परिणामों को मैं सारांश में देखता हूँ। यहाँ मैंने दो प्रश्नों की चर्चा करने का यत्न किया है-

(१) किस तरह 'मूल्य' वस्तु से भिन्न होता है ? और

(२) कौन-सी तार्किक हैसियत में सौंदर्यवाचक विधान नैतिक विधान से भिन्न होता है ? पहले प्रश्न के संदर्भ में मैंने यह दिखाने का यत्न किया है कि जहाँ तक वस्तु की बात है वह अस्तित्व में है (और शायद किसी अर्थ में अर्थ भी), मूल्यों का केवल अर्थ होता है बल्कि अस्तित्व नहीं। वे मात्र 'उपयुक्त' कल्पनाएँ हैं। अत: प्रो. मूर अपने प्रश्न के सुलझाव में अंशत: सही थे जब उन्होंने कहा कि सुख जैसे किसी प्राकृतिक धर्म से सत्ताशास्त्रीय संकल्पना से 'अच्छा' एकरूप नहीं किया जा सकता। लेकिन उसे किसी धर्म का नाम मानने में और फिर उससे गैर सत्ताशास्त्र पैदा करने में उन्होंने गलती की।

मैंने यह भी दिखाने की कोशिश की है कि यद्यपि मूल्यात्मक संकल्पनाएँ उपयुक्त हैं, मूल्यात्मक विधानों से अलग अकेलेपन में उनका विचार नहीं किया जा सकता। प्राय: मूल्यात्मक विधान व्याकरण की दृष्टि से indicative mood में होते हैं। इससे ऐसा सोचा जा सकता है कि 'अच्छा और सुंदर और सही' जैसे विधेय उद्देश्य में शब्दश: अंतर्निहित होते हैं जैसे 'गुलाब का फूल लाल है' इसमें 'लाल' यह 'गुलाब का फूल' इस वस्तु में अंतर्निहित है। अर्थ के नाम सिद्धांतों के पीछे ऐसी गलत धारणाएँ होती हैं। बहरहाल, भाषा के एक से कई ज्यादा कार्य होते हैं और जब मूल्य शब्दों का प्रयोग किया जाता है तब non-indicative function सूचित किया जाता है।

मैंने यह भी दिखाने की कोशिश की है कि सौंदर्यवाचक विधान का उद्देश्य निश्चित तथा सामने होने के बिना वह विधान किया नहीं जा सकता। फिर एक अर्थ में सौंदर्यवाचक विधान एकवाची विशेष विधान होता है। दूसरी और नैतिक विधान समान्यवाची हो सकता है; अत: नैतिक विधान का उद्देश्य अस्तित्व में हो या न हो यह अनावश्यक होता है।

कांट ने दो तरह के विधानों में भेद बताया, ऐंद्रियानुभवात्मक (Cognitive) विधान और अभिरुचि (taste) के विधान। अभिरुचि से उनका मतलब है, ''सुंदर के मूल्य निर्धारण की मानसिक क्षमता''। (पाद-टिप्पणी, Critique of judgment पहला भाग, प्रथम क्षण, विभाग 203) इसका मतलब है कि सौंदर्यवाचक विधान के स्वरूप तथा स्थान के बारे में कांट अपने विचार पहले बना नहीं सके, यद्यपि उन्हें लगा कि सौंदर्यवाचक विधान ऐंद्रियानुभवात्मक विधानों से बहुत भिन्न हैं। ऐंद्रियानुभवात्मक विधान भी दो तरह के हैं। पहले, वास्तविकता से संबंधित प्रकथन और वास्तविकता के बारे में हमारे दृष्टिकोण का विधान इनमें हमें भेद करना चाहिए। सामान्यत: हम मान लेते हैं कि वास्तविकता अपने आप ही अस्तित्व में रहती है और मनुष्य के ज्ञान से स्वतंत्र होती है। इस तरह हम मान लेते हैं कि विषय हमसे स्वतंत्र अस्तित्व में होने के कारण हमारा प्रत्यक्षात्मक ज्ञान उत्पन्न होता हैं। अगर 'क्ष लाल है' तो हम क्ष को लाल का अभिधान करते हैं। यह संभव है कि जब मैं कहता हूँ 'क्ष लाल है, मैं क्ष का केवल वर्णन करता हूँ और उसमें मेरी मिलावट बिल्कुल नहीं होती। यह भी संभव है कि जब मैं कहता हूँ क्ष लाल है तब प्रभाववादी चित्रकार की तरह मैं कुछ मिला रहा हूँ।

दूसरी बात विधान (judgement) की है। जो है उसकी वह हालत नहीं, लेकिन जिसका प्रत्यक्ष किया है उसकी है।

आदर्शवादी विचारक अर्थात् ही इन दोनों में कोई भेद नहीं करेंगे और 'अस्तित्व में होना दिखाई देना है' इस अभ्युक्ति को मानेंगे। लॉक जैसे अनुभववादी भी सोचेंगे कि लाल जैसे दोयम गुण हमारे अनुभव में मिलाये जाते हैं और उनका कोई वस्तुनिष्ठ अस्तित्व नहीं होता। लेकिन ऐसे विधान को वह हालत ऐंद्रियानुभविक विधान बनाती है कि हम मान लेते हैं कि जिन शब्दों को हम विधान के तौर पर प्रयोग करते हैं, मान लो उदाहरणार्थ लाल, उनके अनुरूप वस्तुनिष्ठ जगत् में कोई होता है और लाल यह शब्द उसका प्रतीक होता है। वस्तुत: विधेय के रूप में प्रयुक्त हरेक शब्द, जैसाकि लाल, हरा, पीला, बड़ा, घना, मेज कुर्सी आदि पहले सामान्य होता है और ऐसे सामान्यों का हम निर्णय करते हैं और इस

निर्णय में हमारी श्रद्धा होती है कि एक साथ धारण की हुई अनेकों विशेषों के कुछ धर्म ढूंढने का हम यत्न करते हैं। इस तरह जब हम 'लाल' इस शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमारा मतलब होता है कि लाल यह अनेकों लाल वस्तुओं में समान (Common) है। यह कहा जा सकता है कि वस्तुनिष्ठ जगत् में लाल न भी हो लेकिन हम कम से कम गृहीत मानते हैं कि लाल शब्द के अनुरूप वस्तुनिष्ठ जगत् में कुछ होना चाहिए, जैसा कि क्ष, जिससे क्ष और लाल के बीच का संबंध वस्तु और प्रतीक के बीच के संबंध जैसा है। लेकिन विधानों की ये क्रियाएँ मात्र अविधानों की क्रियाएँ हैं और अत: कांट उन्हें ऐंद्रियानुभवात्मक विधान कहते हैं। लेकिन जब हम 'यह अच्छा है' या 'यह सुंदर है' इस तरह के विधान करते हैं तब हम अच्छा या सुंदर इन प्रतीकों का वस्तुनिष्ठ जगत् के किसी चीज से परस्पर संबंध स्थापित करते हैं। जब हम 'अ अच्छा है, ब अच्छा है, क अच्छा है' ऐसे विधान करते हैं तब स्पष्ट ही है कि संबंध उतना सरल नहीं होता जितना दिखाई देता है। जिसे अच्छापन कहा जाता है और अ, ब, क साथ में धारण करते हों ऐसे कोई विशेष धर्म हम खोज नहीं निकालते। अ सुंदर है, ब सुंदर है या क सुंदर है ऐसे विधानों के बारे में इसी सदृश हालत दिखाई देती है। यद्यपि इन सभी तीनों हालतों में हम सुंदर यही शब्द प्रयुक्त करते हैं, हम अ, ब, क में होने वाला कोई समान तत्त्व खोजने का कभी भी यत्न नहीं करते। इसका मतलब है कि अ सुंदर है, ब सुंदर, या क सुंदर है ऐसा कहने में हम अ, ब, क के लिए सुंदर इस धर्म का अभिधान करते हैं, लेकिन सुंदर यह विधेय कोई ढूंढ निकाली चीज नहीं होती बल्कि 'मिलाई हुई' चीज होती है। कम-अधिक मात्रा में यह 'हमारी उक्ति,' 'हमारा मन,' 'हमारा मूल्यांकन' के स्वरूप का होता है। मूल्यांकन अगर श्रेणी है तो वह व्यक्तिनिष्ठ श्रेणी या स्तर है। कांट इसे अभिरुचि का विधान मानते हैं। कांट की भाषा में अभिरुचि के ऐसे विधान जहाँ तक वस्तुनिष्ठ वास्तविकता को प्रदर्शित नहीं करते, संश्लेषक (Synthetic) होते हैं।

लेकिन अधिक महत्त्वपूर्ण बात है कि ऐसे विधानों को व्यक्तिनिष्ठ अनुभव का निर्धारित या निर्धारक क्षेत्र नहीं होता। जो कोई एक अच्छा है या जो दूसरा अच्छा है या जो एक सुंदर है या अन्य जो सुंदर है इनमें अपरिहार्य रूप से कोई समान धर्म दिखाई नहीं देता।

कांट अपने Critique of Judgement (विभाग 56) के दूसरे विभाग में अभिरुचि के असत्याभास के बारे में अभिरुचि के असत्याभास को प्रदर्शित करते हुए इस बात को स्पष्ट करते हैं। कांट लिखते हैं, ''अभिरुचि के तत्त्व निम्नांकित असत्याभास दिखाते हैं: प्रतिज्ञा-अभिरुचि का विधान संकल्पना पर आधारित नहीं होता है, क्योंकि अगर वैसा होता तो मतभेद के लिए रास्ता खुला होता। व्यतिक्रम अभिरुचि का विधान संकल्पनाओं पर आधारित होता है क्योंकि नहीं तो विधानों का विरोध होते हुए भी आशय के लिए कोई जगह नहीं होती।

देखें किस तरह कांट असत्याभास को सुलझाते हैं। कांट कहते हैं कि ऊपर की प्रतिज्ञा और व्यतिक्रम के बीच का संघर्ष हटाने की संभावना इस बात में होती है कि ''जिस संकल्पना की ओर ऐसे विधान के विषय को सूचित किया जाता है वह सौंदर्यवाचक विधान के दोनों तत्त्वों में एक ही अर्थ से लिया नहीं जाता।'' (पृ. 204, विभाग 57) इसका मतलब है कि संकल्पना इस शब्द को एक से अधिक अर्थों में हम प्रयुक्त करते हैं, इस बात को कांट पहचानते हैं। ऐंद्रियानुभवात्मक विधान को अभिरुचि के विधान से अलग बताते हुए उन्होंने इस बात को स्पष्ट रूप से कह दिया है। पहले, एक निश्चित विषय सूचित किया जाता है जब हम प्रतीक के रूप में ऐंद्रियानुभव के विषय के लिए होने वाले किसी विशिष्ट शब्द का प्रयोग करते हैं। इसके विरुद्ध अभिरुचि के विधान में उपयोजित संकल्पना को निश्चित संकल्पना में वर्जित किया जा सकता है (पृ. 204, वि. 56)। इससे (अभिरुचि के) विधान के संबंध में ही युक्तियों के आधार पर किसी भी निर्णय तक पहुँचा नहीं जा सकता यद्यपि इन बातों पर दलीलें लगाना

और सही बात पर विवाद करना हमारे लिए काफी खुला है (पृ. 204, वही) । इसका मतलब है कि जिस तरह प्रो. नेल (Neil), प्रो. वेजमान (Waismann) कह सकते हैं, इस तरह की संकल्पनाएँ मुक्त-विन्यास (open texture) संकल्पनाएँ होती हैं। कांट ने यह स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं ''अभिरुचि का विधान निर्धारक संकल्पनाओं के आधार पर नहीं होता लेकिन व्यतिक्रम अनिर्धारित संकल्पना पर आधारित होता है'' (पृ. 206, वही) । यह स्पष्ट रूप से सूचित करता है कि कांट को खुद इस बात का पता है कि संकल्पनाएँ एक से अधिक प्रकार की होती हैं। विट्गेंस्टाइन जैसे अर्वाचीन दार्शनिक बताते हैं कि अनुभवात्मक संकल्पनाएँ ज्यादा करके परिवार साम्य जैसी होती हैं और ऐसी बातों में जो सभी विशेषों के लिए समान होता है उसे हमें अपरिहार्य रूप से देखना नहीं होता । वस्तुत: सार्वजनिकता (publiicaness) और सामान्यता (universality) में भेद करना आवश्यक है। संकल्पनाएँ संप्रेषण, संवाद के लिए आवश्यक होती हैं और अत: संकल्पनाओं के लिए असल में सार्वजनिक होना आवश्यक होता है। जब मैं सार्वजनिक कहता हूँ तब मुझे इस बात का ध्यान रहता है कि वे न केवल दो आदमियों से प्रयुक्त की जाती है बल्कि संसार में सभी लोगों से प्रयुक्त की जाती है, लेकिन यह जरूरी नहीं है संसार में सभी लोगों को उनका प्रयोग करना ही चाहिए, ठीक उस तरह जिस तरह हथियारों की पेटी के हथियारों में हथियार हैं, इस बात को छोड़कर और कोई बात समान नहीं होती है । उसी सदृश संकल्पनाओं का कोई समान धर्म होना जरूरी नहीं, जिस (धर्म) में सभी विशेष सहभागी हो सकें, बिना एक बात के कि वे विशेष रूप में प्रयुक्त किये जा सकें या जाने जा सकें। कांट के अनुसार विशेषकर जब वे अभिरुचि के विधान के बारे में बोलते हैं, संकल्पना के लिए मूलत: संप्रेषणीयता की शक्ति होनी चाहिए। अभिरुचि के विधान में प्रयुक्त संकल्पनाएँ ''निश्चित संकल्पनाओं में वर्जनीय नहीं'' (पृ. 204, वही) हैं।

सिखाने की रीति और पद्धतियों के आधार पर निश्चित तथा अनिश्चित संकल्पनाओं में कांट ने भेद किया है, इस बात को मानने के लिए कारण हैं। शायद कांट को कहना है कि दोनों संकल्पनाओं की एक ही रीति है लेकिन जहाँ तक एक को निश्चित वर्णन का कार्य करना है तो दूसरे को यानी अभिरुचि के विधान में प्रयुक्त संकल्पनाओं को इस तरह का कोई काम नहीं होता।

विधानों में प्रयुक्त संकल्पनाएँ लाल, हरा आदि जैसी संकल्पनाओं से क्यों भिन्न हैं ? यह देखना महत्त्वपूर्ण है। लाल और हरी इन संकल्पनाओं के विरुद्ध विधानों में प्रयुक्त संकल्पनाएँ हमारी प्रवृत्तियों से संबंधित होती हैं और अत: वे मूलत: व्यक्तिनिष्ठता की अभिव्यक्तियाँ होती हैं। जब यह व्यक्तिनिष्ठता संप्रेषणीय होती है तब वह आंतर व्यक्तिनिष्ठता हो जाती है । आंतर व्यक्तिनिष्ठता की सामान्यता वस्तुनिष्ठता से प्राप्त होने वाली सामान्यता से भिन्न प्रकार की होती है। इसी आंतर व्यक्तिनिष्ठता को कांट आंतरिक (self) की अभिव्यक्ति मानते हैं। उसकी खासियत उसकी रीति में होती है, उसकी प्रवृत्ति में जो उसे उत्पन्न करती है और ऐसी संकल्पाओं का आशय मानवी समाज एवं संस्कृति के इतिहास में वृद्धिगत होता जाता है। साम्यवादी लेखक कहते हैं,.......''मानवी समाज में साकार होता है'' इसका मतलब है कि व्यक्तिनिष्ठ न होने वाली संकल्पनाएँ जो आंतर व्यक्तिनिष्ठ हैं वे इतिहास के माध्यम से समृद्ध होती जाती हैं। ऐसी संकल्पनाओं की पद्धति या रीति न केवल पद्यबंध देती है बल्कि उसका आशय भी देती है। (देखें-Plekhanor The Nature of Art and Literature.) जिसे हम मानदंड कहते हैं और निर्णय में यही जरूरी होता है, वह जानकर या अनजाने में पूर्वानुभव से दिया जाता है जो स्व इतिहास के माध्यम से पाता है और इस मानदंड के आधार पर मनुष्य किसी चीज का अच्छा या सुंदर इस तरह निर्णय कर सकता है। अभिरुचि का विधान प्राथमिकत: व्यक्तिनिष्ठ और व्यक्तिगत

होता है। लेकिन शायद इतिहास और संस्कृति के कारण उसमें नैतिकता घुल-मिल जाती है। कांट का इस बात पर ध्यान है कि अभिरुचि का विधान उसके अंतर्गत होने वाले नैतिक तत्त्व के कारण सामान्य बनता है। लेकिन चाहे वे नैतिक या सौंदर्यवाचक हों, वे मूलत: व्यक्तिनिष्ठ होते हैं और व्यक्तिनिष्ठता के आधार पर भी उनमें एक अनिश्चितता उत्पन्न होती है। कांट खुद ही इस बात को बताते हैं और इसका उद्धरण देना अच्छा होगा, "There was an age... (p. 6-27 Ibid)....sensible upto its proper worth." कांट और भी कहते हैं, However taste is....for only when sensibility is brought into how many with moral feelings can genuine taste assume a definite unchangeable form (Ibid, 27)

इस तरह मैं निष्कर्ष निकलता हूँ कि सुंदर यह सौंदर्यवाचक संकल्पना निश्चित संकल्पना नहीं हैं जैसी वस्तु के वर्णन में हम प्रयुक्त करते हैं, बल्कि वह संकल्पना है जो हमें समान संकल्पनाओं का परिवार देती है। और ज्यादा करके वह विधान से संबंधित संकल्पना है जिसकी उत्पत्ति उसकी अपनी रीति में है, आशय में नहीं है।

***

मार्क्सवाद और सौन्दर्य-मीमांसा

: 1 :

सौंदर्य एवं कला के विषय में मार्क्सवादियों का भी एक विशेष दृष्टिकोण है, ऐसा माना गया है। मार्क्सवाद से प्राप्त दृष्टिकोण के कारण सौंदर्यशास्त्र के मूलभूत सिद्धांतों में कुछ फर्क पड़ता है, यह मैं नहीं मानता। मैं यह भी नहीं सोच पाता कि सौंदर्यशास्त्र के पूंजीवादी तथा मार्क्सवादी इस तरह के दो प्रकार किये जा सकते हैं। सौंदर्य की कल्पना पूंजीपति के लिए कुछ और, सामान्य आदमी-किसान या मजदूर- के लिए कुछ और ही इस तरह कभी नहीं होती, ऐसा होना भी नहीं चाहिए, इस बारे में मेरे मन में बिल्कुल शक नहीं है। हां, यह जरूर हो सकता है कि मार्क्सवादी लेखकों ने सोचा होगा कि सौंदर्यशास्त्र की समस्याओं की ओर किसी खास दृष्टिकोण से जोर देकर देखना चाहिए। शायद मार्क्सवादी लेखक सैद्धांतिक सौंदर्यशास्त्र को मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र मानते हों। पुन: सौंदर्यशास्त्र को किसी डायलेक्टिक के नियमों के आधार पर रचा जाए और इस तरह की रचना करना कैसे गलत होता है यह बात भी दिखाने का मेरा विचार नहीं है। जिस तरह विज्ञान के पूंजीवादी विज्ञान तथा समाजवादी (साम्यवादी) विज्ञान ऐसा भेद नहीं किया जा सकता उसी तरह मार्क्सवाद का कुछ ऐसा नियम भी नहीं हो सकता जिसके अनुसार जो संसार साम्यवादी नहीं है वहाँ जो कुछ सुंदर समझा जाएगा वह सब असुंदर ही समझना है। यहाँ एकाध प्रश्न का शास्त्रीय विश्लेषण करना यही हमें अभिप्रेत है, और इतना भी अगर कुछ अनुपात में मैं कर सकूं तो खुद को कृतकृत्य समझूंगा। जब मैं छोटा था तब मैंने कॉमरेड पेंडसे जी का गुनहगार यह ग्रंथ पढ़ा था। जिन अनेक ग्रंथों के कारण मेरी सामाजिक विचारधारा पनप उठी, उनमें से वह भी एक ग्रंथ है। कॉमरेड पेंडसे मार्क्सवादी होने के कारण उन्होंने वह ग्रंथ उस तरह से लिखा है, नहीं तो वे वैसा नहीं लिखते, ऐसा मैं नहीं समझता। किसी भी समस्या पर सोचते समय हमारा समाज-दर्शन हमारे पीछे दीपस्तंभ की तरह खड़ा रहता है और अगर मार्क्सवादी लेखकों को सौंदर्य-शास्त्र के प्रश्नों की समीक्षा करते हुए मार्क्सवादी दर्शन की पार्श्वभूमि मिली हो तो मैं उसे एक इष्टापत्ति ही मानूंगा।

: 2 :

सौंदर्यशास्त्र पर सोचते हुए पहला तथा महत्त्वपूर्ण सवाल होगा सौंदर्य यानी क्या है ? वह हम कहाँ खोजते हैं या किस तरह निर्माण करते हैं ? हिंदी में सुंदर इस विशेषण से सौंदर्य यह शब्द निष्पन्न होता है। अंग्रेजी में Beauty यह मूल शब्द है और उससे Beautiful यह विशेषण उत्पन्न होता है। मुझे ऐसा लगता है कि सुंदर तथा सौंदर्य इन शब्दों में सुंदर शब्द 'अनुभव' के अधिक नजदीक है। अत: इससे अधिक गर्त में जाने के बजाय हम देखेंगे कि 'सुंदर' इस शब्द का प्रयोग हम किस तरह करते हैं।

पहले, सुंदर इस शब्द का प्रयोग हम कोई प्राकृतिक तथा मानव-अनिर्मित हालतों के (दृश्यों के) संदर्भ में करते हैं। जैसे कि, सूर्यास्त, आसमान का रंग, भ्रमरों का गुंजारन, फूलों के आकार और रंग, निर्झर की आवाज, चंद्र का प्रकाश, हरी दूब, सागर की लहरें, सागर के किनारे के बालू के तट आदि के संदर्भ में हम सुंदर शब्द का प्रयोग कर सकते हैं, और इस तरह का प्रयोग अनुचित (गैर) है, ऐसा हम कह

नहीं पाएँ, ऐसा भी मैं सोचता हूँ। मोनालिसा का चित्र सुंदर है, व्हेदिमीर के चित्र सुंदर हैं, ताजमहल सुंदर है, किसी एक संग्रहालय में व्हीनस का शिल्प सुंदर है, अजंता और वेरुल के शिल्प सुंदर हैं, हुसेन की रचनाएँ सुंदर है, नारायण सुर्वे की कविताएँ सुंदर हैं, इस तरह के विधान भी हम कर सकते हैं। पहले तथा दूसरे वाक्य-प्रयोग प्राकृतिक हालत के बारे में है। उसमें दिखाई पड़ने वाला मनुष्य का सहयोग इतना ही है कि केवल देखने वालों की दृष्टि में वे वस्तुएँ सुंदर हैं। दूसरे वर्ग में मनुष्य का सहयोग केवल इतना ही नहीं है। जिन वस्तुओं को हम सुंदर कहते हैं उनका निर्मातृत्व भी मनुष्य का है। ऐसे ही, दूसरे वर्ग की वस्तुओं के बारे में जब हम बोलते हैं कि वे सुंदर हैं तब हमारे मन में मनुष्य और उस वस्तु के बीच होने वाला रिश्ता ही सिर्फ नहीं होता बल्कि मनुष्य-मनुष्य और उस मनुष्य की निर्मित की हुई वस्तु इस तरह का त्रिस्थली रिश्ता हमें अभिप्रेत होता है। पहले वर्ग में इस तरह का रिश्ता दिखाई नहीं देता। कभी-कभी हम कहते हैं कि लता मंगेशकर, सुब्बलक्ष्मी या नूरजहाँ इनकी आवाज सुंदर है। इन उदाहरणों को पहले वर्ग में समाविष्ट किया जाएगा या दूसरे वर्ग में, ऐसा प्रश्न उठ सकता है। अगर हम जानते हैं कि आवाज प्राकृतिक देन है तो इन उदाहरणों को पहले वर्ग में समाविष्ट करूंगा; और अगर हमारा प्रयोग अधिक अर्थवाहक हो तो दूसरे वर्ग में भी हम इन उदाहरणों को ले सकते हैं।

अत: हम सिर्फ पहले तथा दूसरे वर्ग के उदाहरणों का ही विचार करेंगे। अब विमर्श के लिए प्रश्न उठता है कि पहले वर्ग में क्या केवल मनुष्य और वस्तु के बीच का रिश्ता होता है ? मार्क्स तथा मार्क्सवादी कहते हैं कि मनुष्य हरेक वस्तु को भोग्य की (Commodity) हैसियत से देखने लगता है। यह पूंजीवाद की प्रक्रिया का ही एक अपरिहार्य अंश है। वैसे तो पूंजीवादी दृष्टिकोण से ऐसा होता है या मूढ़ वास्तववाद की (Naiverealistic) दृष्टि के कारण होता है, इसका विचार अभी छोड़ देंगे। लेकिन यह बात तो सच है कि सूर्यास्त सुंदर है या हरियाली सुंदर है, ऐसा जब हम कहते हैं तब हम यथातथ्य वर्णन का अभिनिवेश धारण करते हैं। मर्ढेकर जब अपने सौंदर्यशास्त्र में कहते हैं कि मोती की सीपियाँ अगर सुंदर हों तो वे आदमी को कभी भी दिखाई न पड़ने पर भी सुंदर ही होंगी। मर्ढेकर की सौंदर्यमीमांसा एक तरह से अतिव्यक्तिवादी, वास्तववादी सौंदर्यमीमांसा है। मार्क्सवादी लेखक ऐसे विचारों को पूंजीवादी विचार कहेंगे। मतलब, मर्ढेकर सौंदर्य को वस्तु का गुण, शरीर का अंश समझते हैं। और अगर कोई ऐसा समझने लगे तो उसका हम खंडन भी नहीं कर पाएँगे ऐसा मुझे लगता है, लेकिन अगर हम ऐसा मानने लगें तो वस्तु की लंबाई-चौड़ाई और सुंदरता इनको एक ही नाप से नापना पड़ेगा। और कुछ लोग ऐसा भी पूछ सकते है कि ऐसा करने में क्या हर्ज हैं ? और उसके लिए मेरे पास कोई उत्तर नहीं है। मैं सिर्फ इतना ही कह सकूंगा कि सूरज लाल है या सूरज गोल है, ऐसा कहना और सूरज सुंदर है, ऐसा कहना एक ही प्रकार का दिखाई नहीं देता। जब हम हर रोज के वाक्यप्रयोग में कहते हैं कि मेरा रेडियोसेट बड़ा, वजनदार तथा लाल रंग का है और मेरे रेडियो से सुनाई देने वाली आवाज अच्छी है, तब भी हम अच्छा और बड़ा इनको एक ही नाप से नहीं तौलते। जब हम किसी फूल को देखकर यह सुंदर लाल गुलाब का फूल है ऐसा कहते हैं तो क्या हम सुंदर और लाल को एक जैसा ही मानते हैं ? मुझे लगता है कि हम ऐसा नहीं मानते। तो फिर उन दोनों में क्या फर्क है ? मुझे लगता है कि जब हम कहते हैं कि यह गुलाब का फूल सुंदर है या मेरे रेडियो की आवाज सुंदर है तब हम एक तरह के गुलाब के फूल की कीमत करते हैं। और इस तरह कीमत करना मनुष्य का या मनुष्य समाज का विचार किये बिना नहीं किया जा सकता। मार्क्स के ही शब्दों में अगर कहना है तो यह एक 'एलिएनेशन' का तरीका होगा। जिससे कोई वस्तु, कमोडिटी और उस वस्तु का निर्माता, इनका संबंध हम भूलने लगते हैं। सौंदर्य को परम्परा से या दूरान्वय से भी मूल्य माना गया है। और जब हम किसी वस्तु की कीमत करते हैं, मोल करते हैं तो वह किसी न किसी के लिए होता है, किसी के लिए इस अंश को अगर मिटा दिया जाए तो किन्हीं दो

वस्तुओं की कीमत करना असंभव हो जाएगा, बार्टर या एक्सचेंज असिद्ध हो जाएगा। कोई वस्तु मूल्यावान है ऐसा प्रयोग करने पर भी दार्शनिक व्याकरण में वह एक अधूरा वाक्य रह जाएगा। जब हम कहते हैं कि कोई वस्तु मूल्यवान है तो किसके लिए मूल्यवान ऐसा भी प्रश्न उठना अवश्यंभावी हो। जब हम कहते हैं कि कोई वस्तु सुंदर है तो हमें समझना चाहिए कि मूल्यीकरण संभव नहीं है। इस तरह का मूल्यीकरण निजी या स्वीय हो सकता है या नहीं, ऐसा भी एक प्रश्न पूछा जा सकता है। उसका उत्तर देना पड़ेगा कि जो भी कुछ हम भाषा में अभिव्यक्त कर सकते हैं वह कभी निजी रह नहीं सकता। जब हम कहते हैं कि 'सूर्यास्त सुंदर है' तब यह विधान 'मनुष्य के संज्ञान से' अलिप्त नहीं होता है। अजंता के शिल्प सुंदर हैं और सूर्यास्त सुंदर है इनमें सुंदरता के बारे में, मूल्यीकरण के बारे में तो कोई फर्क नहीं है ऐसा मुझे लगता है। होना, देखना और दिखाई पड़ना इन तीन शब्दों के उपयोग के संबंध में अधिक विमर्श होने की जरूरत है। देखना और दिखाई पड़ना इन दो 'क्रियाओं में' देखने वाला या जिसे कोई दिखाई पड़ता है वह व्यक्ति गृहीत हैं। लेकिन इन दो क्रियाओं के कर्त्ता में भेद है। दिखाई पड़ने की क्रिया का कर्त्ता यह कर्ता होने पर भी अकर्तृत्वशाली है। इसके विपरीत, किसी बात के होने के लिए कोई देखने वाला या जिसे दिखाई पड़ता है ऐसे व्यक्ति की जरूरत नहीं होती। इस तरह जब देखने वाला व्यक्ति अस्तित्व में होता है तभी होने वाली वस्तु देखी जाती है या दिखाई पड़ती है। 'दिखाई देने की' प्रक्रिया में क्रिया इतनी हल्की है या ठीक तरह से समझ में न आने वाली है कि धीरे-धीरे दिखाई देना और होना इनमें होने वाला भेद कम होता जाता है। उसी कारण कोई वस्तु सुंदर दिखाई देती हैं ऐसा कहने के बजाय हम कहते हैं कि कोई वस्तु सुंदर है। और मार्क्सवादी सौंदर्यमीमांसक और कलामीमांसक कहते हैं कि अपूर्णता का बोध होने के कारण भ्रम के रूप में इस पूर्णता को पूरा करना होता है। सौंदर्य के विश्व को कल्पना से रचने में हमें मजा आता है और यह विश्व अस्तित्व में है ऐसा हम आभास कर बैठते हैं।

: 3 :

असल में मूल्य नाम की कोई चीज नहीं है। मूल्यीकरण की क्रिया को 'अपोधृत' करके उसका संज्ञा में रूपांतर करने से मूल्य हो जाता है। यह प्लेटोनिज्म का एक तरीका है। मार्क्सवादी कहेंगे कि एलिएनेशन के तत्त्वों का ही यह एक आविष्कार है। लेकिन जब हम कहते हैं कि कोई चीज सुंदर है तब हम उस चीज को उस चीज में होने वाले द्रव्य और पद्मबंध को स्वीकृति देते हैं। मूल्यांकन की प्रक्रिया यानी यह स्वीकृत करने की प्रक्रिया है। कभी-कभी यह स्वीकृति सामाजिक इतिहास का भी अंग बन जाती है। इसीलिए पारंपरिक मूल्य भी उत्पन्न होते हैं। लेकिन द्रव्य, पद्मबंध और स्वीकृति इनका एक अविच्छेद अवयवी बन जाता है और उसके अवयव एक-दूसरे से विभक्त नहीं किये जा सकते। लेकिन वस्तुमात्र के जगत् का द्रव्य और कभी-कभी पद्मबंध इनकी स्वीकृति के अंश के कारण मनुष्य-केंद्रित दुनिया में परिवर्तन होता है। अत: जिस-जिस को हम मूल्य मानते हैं वे सब मनुष्य की दुनिया के अंश होते हैं। मनुष्य-केंद्रितता एक ही तरह की रहेगी ऐसा मानने की जरूरत नहीं है। सत्य, शिव तथा सुंदर को मूल्य समझने की मनुष्य की परंपरा है और मनुष्य के इतिहास में इन मूल्यों का संबंध तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र एवं सौंदर्यशास्त्र से जुड़ा हुआ है। मुझे लगता है कि वस्तुत: इन तीन तरह के मूल्यों से तीन तरह की मनुष्यकेंद्रितता दृग्गोचर होती है। मनुष्य की स्वीकृति केवल वस्तु के स्वरूप के ज्ञान से ही जुड़ी रह सकती है; उसी तरह वह वस्तु की आकृति या पद्मबंध से भी जुड़ी रह सकती है। मेरी राय में इसी से तर्कशास्त्र एवं गणित उत्पन्न होते हैं। कोई मानवेतर वस्तु ही मनुष्य की मान्यता का विषय हो, ऐसा नहीं है। मनुष्य की समझ-नासमझ में होने वाली यह क्रिया, जो दिखाई देता है उसको स्वीकार करने में है। कोई चित्र सुंदर है यानी उस चित्र की हमें दिखाई देने वाली आकृति को स्वीकृति करना है, उसे मान्यता देना है। जब हम काव्य को सुंदर कहते है तब हम शब्द की पंक्तियों से मालूम होने वाले अर्थ को

स्वीकार करते हैं। एक तरह से हम वास्तव में भ्रम की ओर चलते हैं। मनुष्य की अपूर्णता के कारण उसकी स्वीकृति का विषय वह खुद या उसके भाई लोग भी हो सकते हैं। एक तरह से देखा जाए तो यह शुद्ध मनुष्य-केंद्रित विश्व होगा। लेकिन मनुष्य विश्व का ही अंश होने के कारण यहाँ भी विश्वकेंद्रित दुनिया और मनुष्यकेंद्रित दुनिया इनमें संबंध निर्माण होता है, ऐसा मानने में कोई कठिनाई दिखाई नहीं देती। उसी तरह वस्तु के अनुभव के बारे में मनुष्य की जो प्रतिक्रियाएँ (उदाहरण-भावनात्मक प्रतिक्रिया) होती हैं उनके बारे में मनुष्य की स्वीकृति हो सकती है। मनुष्य की यह प्रतिक्रिया केवल व्यक्तिगत नहीं होती, वह सामाजिक होती है। इसका एक सबूत है कि मनुष्य अपनी प्रतिक्रिया या स्वीकृति भाषा में प्रकट कर सकता है। भाषा में होने वाली बात हमेशा आंतर-वैयक्तिक या आंतर-विषयी होती है। मान लीजिए कि अ, ब, क ये तीन लोग क्ष इस वस्तु के बारे में बोलते हैं। अगर इनमें से हरेक व्यक्ति क्ष को क्ष कहकर ही पुकारेगा तो हम कहेंगे कि उनका दृष्टिकोण वस्तुनिष्ठ है। लेकिन इस वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से हमें केवल अ-क्ष, ब-क्ष या क-क्ष इतना ही रिश्ता अभिप्रेत नहीं होता है। बल्कि इस रिश्ते के साथ ही (अ-ब-क-क्ष) अ, ब और क इनका क्ष के साथ होने वाला रिश्ता भी हमें अभिप्रेत होता है। यानी वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण में भी आंतर-व्यैक्तिक दृष्टिकोण अभिप्रेत होता है। फिर, दो आदमियों का रिश्ता हो या आदमी और वस्तु का रिश्ता हो, उनमें आंतर-वैयक्तिकता आ ही जाती है, चाहे आंतर-वैयक्तिकता शब्द का प्रयोग वहाँ हो या न हो। तर्कशास्त्र और गणित, नीति और अन्य समाजशास्त्र तथा कला और सौंदर्यशास्त्र इन सभी जगहों पर आंतर-वैयक्तिकता दिखाई पड़ती है। जब हम कहते हैं कि क्ष भारी है (यहाँ उथला, लाल, लोहे का आदि शब्द प्रयोग भी किये जा सकते हैं) यह 'सच' है तब उस विधान का धर्म यानी सत्यता असल में जो हालत होगी उससे निर्धारित होती है। मनुष्य उस हालत का अंश नहीं होता। लेकिन जब हम किसी के बर्ताव के बारे में अच्छा-बुरा कहते हैं तब जिस व्यक्ति के बारे में बोलते हैं वह व्यक्ति उस हालत का अंश होता है। क्ष भारी है इस वाक्य की क्ष यह वस्तु उस हालत का अंश होती है और क्ष अच्छा है इस वाक्य का क्ष यह व्यक्ति भी उस हालत का अंश होता है। लेकिन फिर भी 'क्ष भारी लोहे का है' और 'क्ष अच्छा है' इनका विश्लेषण एक जैसा नहीं होगा। 'क्ष लोहे का है' यह तथ्य कोई भी मानवमात्र या ज्ञानशक्ति रखने वाला प्राणी के अस्तित्व में न होने पर भी 'तथ्य हो सकता है।' लेकिन 'क्ष अच्छा है या बुरा है' यह बात क्ष के बिना और कोई व्यक्ति के अस्तित्व में न होने पर रह नहीं सकती। मतलब, क्ष लोहे का है ऐसा क्ष का मूल्याँकन करते हुए जिस हालत के बारे में हम बोलते हैं वह हालत हमारे नियंत्रण में नहीं होती, उस हालत पर हमारा अधिकार नहीं होता है। जब हम नीतिविषयक, समाजविषयक या सौंदर्यविषयक घटना के बारे में बोलते हैं तब ऐसा नहीं होता। सूर्यास्त मनुष्य को सुंदर लगा इसका मतलब यह नहीं कि गाय, बकरी, जूं या किसी कीड़े-मकोड़े को भी वह सुंदर ही लगे। क्योंकि सुंदरता उस हालत का अंश नहीं है कि सब लोगों को वह सुंदर ही लगेगा, ऐसा भी नहीं है। लेकिन वह वैसा लग सकता है। क्योंकि मनुष्य का अनुभव आंतर-वैयक्तिक होता है, केवल निजी नहीं होता। 'यह फूल सुंदर है' और 'यह फूल है' ऐसा कहने में यही भेद है कि एक फूल का स्थान है तो दूसरे में मेरी यानी मनुष्य की प्रतिक्रिया का भी स्थान है। मान लीजिए कि मेरे सामने एक पेड़ है और 'पेड़ है' ऐसा मैं विधान करता हूँ (चाहे तो मूल्य करता हूँ ऐसा कहिए) संभव है कि मेरे सामने वाली वस्तु को पेड़ कहने में या पेड़ से वनस्पतिशास्त्र के नियम खोज निकालने में मैंने मानवी भाषा या संकेतों का उपयोग किया हो। लेकिन उस वस्तु को यानी पेड़ को संज्ञा देना या उसके बारे में कुछ नियम खोज निकालना यह केवल मेरी कल्पना का विकास नहीं होता है। मेरी कल्पना को उस वस्तु का आधार प्राप्त होता है। लेकिन मान लीजिए कि हम एक-पत्नीत्व या बहु-पत्नीत्व के बारे में बोल रहे हैं तो इसके बारे में होने वाले नियम पूरे तौर से मनुष्य पर ही निर्भर करते हैं। वे पूरे तौर से सामाजिक होते हैं। ऊपर हमने

सूर्यास्त जैसे निसर्ग रमणीय तथा अजंता के शिल्पों जैसे मनुष्य-निर्मित रमणीय सुंदर वस्तुओं का वर्गीकरण किया है। इन दोनों उदाहरणों में मनुष्य केंद्रितता समान होने पर भी मनुष्य निर्मित रमणीय वस्तु में मनुष्य की सामाजिकता अधिक प्रतीत होती है। यानी अगर हम पहले वर्ग की वस्तुओं का सौंदर्य के मानदंड से मूल्याँकन करते हैं तो दूसरे वर्ग की वस्तुओं के लिए केवल सौंदर्य का मानदंड नहीं चलेगा।

:4:

मार्क्सवाद के विचारक कला की मीमांसा और सौंदर्य की मीमांसा इस तरह दो भिन्न मीमांसाएँ प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि जो व्यक्तिगत या निजी है वह कला ही नहीं है। दिवास्वप्न या कल्पनारम्य (Phantasy) कला नहीं हो सकती चाहे वह कितनी भी सुंदर हो। उसी तरह सुंदर सूर्यास्त भी कला नहीं है। जिससे कला की निर्मिति हो सके ऐसी वह कला व्यापार की सामग्री मात्र है। Codwell कहता है, 'The personal Phantasy or day-dream is not an art, however beautiful. Nor is the sunset. Both are only the raw-material for art.' (Studies in dying Culture. P. 38) उनकी राय में सामाजिकता ही कला का व्यवच्छेदक धर्म है। इसलिए मार्क्सवादी विचारधारा में कलामीमांसा के संबंध में दो अलग-अलग प्रश्न उठते हैं। एक है कला के स्वरूप के बारे में तो दूसरा है पूंजीवादी, बुर्जआ समाज में कला किस तरह रूप धारण करती है। यही मार्क्सवादी लेखक कला के स्वरूप के बारे में कहते समय मार्क्सवादी भाषा का प्रयोग करते हैं, फिर भी मुझे ऐसा लगता है कि कला के स्वरूप के संबंध में मार्क्सवादी लेखक और अन्य लेखकों में कोई मौलिक भेद नहीं है। जब मार्क्सवादी कलामीमांसा पर अभियोग लगाया जाता है कि कला उनके लिए मात्र प्रचार का साधन है तो वह भी एक इश्तिहार का ही मामला है। हां, यह बात अलग है कि कला का रूपांतरण क्राफ्ट में बिना कोई कष्ट उठाये हो सकता है अत: कला का उपयोग प्रचार कार्य के लिए किया जा सकता है।

प्राय: कहा जाता है 'कला के लिए कला' यह सूत्र मार्क्सवादी स्वीकृत नहीं करते हैं। एक-तरह से उनमें काफी तथ्य भी हैं लेकिन जो मार्क्सवादी नहीं हैं ऐसे बहुत मीमांसकों को भी 'कला के लिए कला' इस तत्त्व से अस्वीकृति है। एक जमाने में कला और नीति के बारे में महाराष्ट्र में बड़ा भारी वाद चल रहा था और उस वाद के नीति पक्ष के लोग मार्क्सवादी नहीं थे। इस बात का यहाँ ध्यान करना चाहिए। बल्कि नीतिवादियों की ओर से मार्क्सवादी नीतिवादी नहीं होते हैं, ऐसा भी आरोप लगाया जा सकता है। उल्टे मार्क्सवाद की विचारधारा में भी 'कला के लिए कला' ऐसा कहने में कला का प्रश्न पूछने के पहले कला के बारे में अधिक मौलिक प्रश्न पूछना चाहिए और मेरी राय में मार्क्सवादी लेखक इस प्रश्न पर ठीक तरह से उंगली रखते हैं। यह प्रश्न है कि सामाजिक संदर्भ के बिना कला हो सकती है या नहीं। इसका ऐसा मतलब तो नहीं है कि यह प्रश्न पूछने के लिए किसी को मार्क्सवादी होना चाहिए। जो मार्क्सवादी नहीं हैं ऐसे मीमांसकों ने भी यह प्रश्न उठाया है....? जब कला की संप्रेषणवादी मीमांसा की जाती है तब उसमें सामाजिकता की आत्मा अवश्य ही रहती है। उस पर हम जान कर उंगली नहीं रखते, इतना ही है। मतलब, 'कला के लिए सामाजिकता का आशय होना चाहिए' यह मार्क्सवादी मीमांसकों का कलामीमांसा की बड़ी भारी और पहली देन है।

कला का सामाजिक आशय कब हो सकता है ? जब कलाकार के मन में जो कुछ होगा उसको कलाकार-निरपेक्ष आकार प्राप्त होगा तभी कला का सामाजिक आशय हो सकता है। हम भाषा को उदाहरण के तौर पर लेंगे। अगर मेरे मन में अनुभवों का.....होता है लेकिन वे किसी तरह भी अभिव्यक्त न होते हों तो क्या हमारे मन के विचार या भावनाएँ दूसरों तक पहुँच सकते हैं ? हमारी भावनाएँ शब्दों का, चिन्हों का, मुद्राओं का आकृतियों का कोई भी रूप धारण किये बिना एक आदमी के मन में आने

वाले विचार-भावनाएँ दूसरे आदमी तक कैसे पहुँच सकते हैं ? अगर आदमी बोल नहीं सके, वह कुछ इशारे भी नहीं कर सके, न उसके चेहरे पर कोई भाव ही प्रकट हो सके तो आदमी और पत्थर में क्या फर्क पड़ेगा ? किसी पत्थर की भावनाएँ होती हैं या नहीं, यह प्रश्न हम पूछते नहीं है। इसका कारण यही है कि पत्थर हमारी सामाजिकता के संदर्भ में आता ही नहीं है। गाय, कुत्ता जैसे जानवरों के बारे में यह प्रश्न हम अवश्य ही पूछते हैं। इतना ही नहीं, शेर, साँप आदि का भी आदमी की जिंदगी में सामाजिक संदर्भ है; इसीलिए हम कहते हैं शेर को मत चिढ़ाना और सांप को मत उकसाना। यंत्र के बारे में हम ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं करते और कम्प्यूटर के बारे में अगर ऐसी भाषा का प्रयोग हम करते हैं तो वह काव्य का एक तरीका है।

: 5 :

कला की सामाजिकता के कारण ही, उसको सामाजिकता का संदर्भ होने के वास्ते ही, कलावस्तु का निर्माण होता है। कलावस्तु यह कलाकार और सामाजिक इनके बीच की शृंखला है। कलावस्तु का स्वरूप माध्यम का होता है। लेकिन कलावस्तु कुदरती वस्तुओं जैसी लौकिक वस्तु नहीं होती है। पत्थर, पेड़, शिल्प तथा चित्र इनमें जरूर ही कोई भेद है। कलावस्तु भाषा जैसी होती है, कमॉडिटी जैसी नहीं होती। मार्क्सवादी दार्शनिकों के मन में पूंजीवादी समाज-रचना में कलावस्तु का भी कमॉडिटी में, लौकिक वस्तु में रूपांतरण हो जाता है।

कला का सामाजिक आशय होता है यह एक बार मान लेने पर कला का सामाजिक आशय उस समाज रचना पर निर्भर करता है यह स्पष्ट है। पहले हमने देख लिया है कि सौंदर्य की भी सामाजिकता होती है। सौंदर्य की सामाजिकता और कला की सामाजिकता में और भी कुछ भेद जरूर होगा। सौंदर्य के सिवा कला में और भी कुछ होगा। सौंदर्य की सामाजिकता यानी मनुष्य-केंद्रितता। यह मनुष्यज्ञातृता में होती है। कला में इसके सिवा और भी कुछ होना चाहिए। वह मनुष्य निर्मातृता है। यह निर्मातृता मनुष्य की स्वंतत्रता से पैदा होती है। मार्क्सवाद के दार्शनिक कहते हैं कि मनुष्य की स्वंतत्रता कला से अभिव्यक्त हो, यही कला का सामाजिक आशय है। एक तरह से यह भी सच है। प्रश्न है, मनुष्य की स्वतंत्रता क्या है ? इस बारे में मार्क्सवादी और अन्य लोगों के मत में भेद है।

कॉडवेल कहते हैं "What to the Proletarian, is liberty-extermination of those bourgois institutions and relations which bold them in captivity is necessarily compulsion and restraint to the bourgois, just as the bourgois liberty generates the compulsion for the worker. The two nations of liberty are irrerconciable." (S.I.D.C.p. 114) | कॉडवेल का उत्तर हम स्वीकारेंगे नहीं। लेकिन जैसा कि कॉडवेल आगे चलकर कहते हैं उस तरह से अगर श्रमिक या मजदूर काम न करें तो धनवानों को खाली बैठने का सुख चखने को नहीं मिलेगा। मार्क्सवादियों के कहने के अनुसार Socity is the creation by which man attains a fuller measure of freedom than the beasts. (Ibid p. 119) | मुझे लगता है कि Freedom इस शब्द के बारे में हमारा मतभेद होने पर भी, मनुष्य की स्वतंत्रता समाज ही में पनपती है, यह मार्क्सवादियों का कहना नामंजूर करने लायक नहीं है। मनुष्य का विकास अनिर्बंध व्यक्तिगत स्वतंत्रता से होगा यह ठीक नहीं लगता और कला का निर्माण या उस निर्माण के विकास की मानव-इतिहास से पूरे तौर पर स्वतंत्रता की कल्पना भी नहीं की जा सकती। मानवी स्वतंत्रता से ही कला का आविष्कार होता है और मानवी स्वतंत्रता एवं कला का मूल व्यक्तिगत या निजी होने पर भी उसकी परिणति सामाजिकता में हुए बिना अनेकों उसकी अनुभूति ले सकें, ऐसा सार्वजनिक रूप धारण किये बिना कला का कलात्व उत्पन्न नहीं होगा।

:6:

असल में हम जरा और गहराई में उतरेंगे। एक तरह से कला और हमारी कल्पना-शक्ति का चोली-दामन का साथ है। लेकिन यह बेलगाम कल्पनाशक्ति कला में परिणत होती है यानी क्या है ? यानी इन कल्पनाओं पर लगाम चढ़ाया जाता है। यह लगाम चढ़ाना यानी उनको आकार देना है। उनको किसी एक खास चौखट में बंद करना, बद्ध करना है। इस बंधन के लिए कलाकार कभी स्वर, कभी शब्द, कभी रंग और रेसा तो कभी ठोस माध्यम का इस्तेमाल करता है। उसके लिए वह लेह, अर्थ या ब्रश और कैनव्हास या छैनी और हथौड़ी को भी उपयोग में लाता है। इन सारे प्रयोगों से वह अपनी कल्पनाओं को दिक् और काल के ढाँचे में बिठाता है। और जैसा कि मर्ढेकर कहते हैं उस तरह उससे वह संवाद, विरोध, समताल, लय या कि जैसा सुसान लंगर कहती है उस तरह दिक्-काल के पद्यबंध बनाता है। यानी ऐसे पद्यबंधों को वह स्वीकृति देता है (उनको मंजूर या कबूल भी करता है)। इन सब घटनाओं पर सोचने पर यह बात समझ में आ सकती है। अमूर्त कल्पनाएँ मूर्त होते समय कल्पनाओं के निजीपन (रवानगीपन) का विलय होकर उनका सार्वजनीकरण होता है। यानी केवल स्वतंत्रता का हम घटना के रूप में अनुभव करते हैं जो स्वंतत्रता और बंधन इनके द्वन्द्व से पैदा होता है। जिसे हम स्वतंत्रता कहते हैं वह इस तरह बंधयुक्त स्वतंत्रता होती है। अनिर्बंध स्वतंत्रता यानी एक तरह का पागलपन होगा। जिसका नियंत्रण हमारे सिवा और कोई नहीं कर पाए वही असली स्वतंत्रता है। स्वतंत्रता शब्द से यही अभिप्रेत है और इसीलिए मार्क्सवादियों का सिद्धांत कि असली व्यक्तिगत स्वतंत्रता यह सामाजिक विकास में पनपती है, सही दिखाई देता है। (Society is a creation by which man attains a fuller measure of freedom then beasts p.119 S IDC) ऐसा जब कॉडवेल कहता है तो वह इसी अर्थ में है।

इस भूमिका से, पूंजीवादी समाज में कला का क्या स्वरूप होता है या वह किस तरह पलट जाता है, इस बात का मार्क्सवादियों द्वारा किया हुआ विवेचन भी सोचने लायक है। पूंजीवादी पूर्व जमाने में कलाकार और उसकी कला या कारगिरी एक-दूसरे से अविभाज्य होते हैं। किसी कलाकृति का निर्माण करते हुए कलाकार को पुत्र प्राप्ति में जितनी खुशी मिलती है, उतनी खुशी होती है। लेकिन पूंजीवाद के विकास के साथ ही साथ इस हालत में अंतर पड़ जाता है। कलाकार का अपनी कला से अलगाव हो जाता है। असल में यह अलगाव की क्रिया ही निजीपन से सार्वजनिकता तक जाने की क्रिया है। लेकिन इसी क्रिया की परिणति जिसे मार्क्स alienation कहता है, उसमें हो जाती है। (Alienation शब्द का प्रयोग पहले रूसी ने किया है।) यानी आदमियों के बीच होने वाले रिश्ते कम होकर ऐसा लगता है कि अंत में वे नष्ट हो जाते हैं और धीरे-धीरे आदमी और वस्तु इनके बीच रिश्ते पैदा हो जाते हैं। यानी, निजीपन में परागति शुरू हो जाती है। अनिर्बंध स्वतंत्रता एवं निजी संपत्ति ये संकल्पनाएँ भी इसी से उत्पन्न होती हैं। हम देखते हैं कि बंबई जैसे शहर में पास के कमरों में रहने वालों की भी पहचान नहीं रहती है। लेकिन आदमी-आदमियों के बीच का रिश्ता कम होकर आदमी और वस्तु के बीच रिश्ता पैदा होता है, ऐसा मानना भी एक भ्रम है। वस्तुत: ये संबंध व्यक्तियों में ही होते हैं, लेकिन वे उस तरह रहते हैं इसका पता हमें नहीं लगता है।

ऊपर जो पूंजीवादी उत्पादन की प्रक्रिया का जिक्र हुआ है उसके लिए कलाकार भी अपवाद नहीं होता है। अपनी कलाकृति की अपनी कल्पनाओं के संप्रेषण के माध्यम की हैसियत से देखने के बजाय वह उसकी ओर एक तैयार हुई वस्तु (माल) की भावना से देखने लगता है। मुद्राचलन की पैदाईश से जिस तरह दो आदमियों का साक्षात् वस्तुविनिमय बंद हो जाता है, जिस तरह वस्तु के मालिकों को यह मालूम नहीं पड़ता कि अपनी वस्तु का खरीददार कौन है, उसी तरह कलाकार को भी मालूम नहीं

होता कि अपनी कलाकृति का कौन ग्राहक है। यानी, कलाकार तथा सामाजिक इनका रिश्ता खत्म होकर एक प्रक्रिया के सिवा-संप्रेषण प्रक्रिया के सिवा-कलानिर्मिति की प्रक्रिया एवं कला आस्वादन (?) की प्रक्रिया ऐसी दो स्वतंत्र प्रक्रियाएँ निर्माण होने लगती हैं और उससे एक कल्पना उदित होती है कि कला खरीदने लायक वस्तु है। आज हमारे बहुतेरे कलाकार कॉमर्शियल आर्ट सीखने को जाते हैं। लेकिन इस पूंजीवादी प्रक्रिया में समूची कला को ही व्यापारिक बनाया जाता है। कहते हैं कि साम्यवाद की दुनिया में कला को प्रचार के साधन के रूप में उपयोग में लाया जाता है, और वह प्राय: सच भी है। लेकिन इस प्रक्रिया का आरंभ ही पूंजीवादी संस्कृति में है, यह नाकबूल नहीं किया जा सकता। इस कला को व्यापारिक बनाने की और भी शृंखलाएँ हैं : (1) व्यापारिक बनाने के साथ ही कला कलाकार की रवानगी जायदाद (निजी संपत्ति) है यह कल्पना रूढ़ हो जाती है। यानी कला का निजीकरण और कलाकार का अबाधित व्यक्तिगत स्वातंत्र्य यह कल्पना आती है और (2) कला को उसकी सार्वजनिकता के कारण जो मूर्तरूप प्राप्त होता है उससे कला का वस्त्वीकरण होता है। इसके भी दो परिणाम होते हैं : (अ) कला यह बाजार में बिकने वाली वस्तु बन जाती हैं और (ब) कल्पना का वस्त्वीकरण होना यानी फिर एक बार प्लेटोनिज्म की नयी शुरूआत होना। कला वस्तु के रूप से अपना कुछ आशय समाज तक पहुँचती है, यह कल्पना भी नष्ट होती है और ऐसा होने पर कला का मूल्यत्व भी घटने लगता है। सामाजिक प्रक्रिया से उत्पन्न होने वाली कला मूल्य के नष्ट होते ही हम केवल 'ज्ञान प्रक्रिया की' सौंदर्य जैसी कसौटी पर कलावस्तु का मूल्य निश्चित करने लगते हैं। यानी किसी एक मोनालिसा को और सूर्यास्त को हम एक ही नाप से तोलने लग जाते हैं।

: 7 :

जब हम कहते हैं कि कलावस्तु सुंदर हो तब हमें मनुष्यकेंद्रित सामाजिकता (मनुष्यज्ञातृता) अभिप्रेत रहती है। लेकिन मनुष्य-ज्ञातृता के सिवा मनुष्य-निर्मातृता भी कला में होनी चाहिए। ये दोनों सामाजिकताएँ अलग-अलग तरीके की हैं। मनुष्य-निर्मातृता के कारण कलाकार की 'मानसी सृष्टि' की कला यह कलावस्तु बनती है, मनुष्य-निर्मातृता के कारण कला को आकार तथा माध्यम मिलता है। लेकिन कला की सामाजिकता मात्र आकारिक गुणों पर ही निर्भर करती है, ऐसी बात नहीं है। किसी भी कलावस्तु के लिए विषय का होना जरूरी है। यही विषय कला के आशय के रूप में व्यक्त होता है। इस विषय को कलाकार अपनी पूर्णत: कल्पना से नहीं निकालता है। इस कलाविषय के अंश इर्द-गिर्द की हालात, समाज की स्थिति इनसे इकट्ठे होते हैं। कलाकार अपने इस संचित अनुभव को मूर्त्तरूप में व्यक्त करता है। कलाकार के सामने, गोया, इस अनुभव से पैदा हो सकने वाले अनेकों आकार उठ खड़े होते हैं और उनमें एक को वह पसंद करता है। इस आकार को, अनुभव का रसिक तक, सामाजिक तक पहुँचाना यह कलाकार का कार्य रहता है। रसिक तथा कलाकार में मुख्य भेद यही दिखाई देता है कि रसिक अनुभवों के (कलाकार के) केवल एक ही आकार को जानता है और वह भी उसके सामने आने पर ही, उल्टे कलाकार को अनुभव के अनेकों आकार दिखाई देते हैं। मेरे मित्र श्री दि. के. बेडेकर का उदाहरण मैं यहाँ देना चाहता हूँ। वे पत्थर, कंकड़, पौधे की डालियाँ आदि लेकर उनके सहारे तरह-तरह की रचनाएँ बनाते थे। उनको वे 'विचित्र' कहते थे। अनेक वस्तुओं की एक ही तरह से वे कैसे रचना करते, यह एक प्रश्न है। लेकिन उनकी आँखों के सामने रचना के विभिन्न आकार अकस्मात् आते होंगे। मतलब, कलाकार अपने मन में जमा किए हुए अनुभवों का कलावस्तु का निर्माण करने के लिए उपयोग करता है। शायद इसीलिए अरस्तु, भरत आदि लोगों ने कला यानी अनुकृति ऐसा कला का लक्षण किया होगा। लेकिन कलावस्तु निर्माण करते हुए कलाकार अपना जमा किया अनुभव जैसा का तैसा नहीं देता। उसे उसमें चयन करना पड़ता है। कलाकार की स्वतंत्रता की यहाँ भी जरूरत रहती

है। कलाकार का यह जो आशय या विषय होता है वह केवल आकारात्मक नहीं होता, वह असल में अनुभवों के पुद्गलों का बना होता है। यह आशय आदमी के सुखदुखात्मक अनुभवों का बना होता है। इसीलिए कला के आस्वादकों को लगता है कि अपने जीवन के न्यूनों की पूर्ति कलासृष्टि में ही कर लें। हमें होने वाला दुख सिर्फ हमें ही नहीं होता है, इस अनुभव से भी आदमी को शांति मिलती है। हमारे मन में खलबली मचा देने वाली कलाकृतियाँ साधारणतया सामाजिक विषमता की पृष्ठभूमि पर उत्पन्न हुई होती हैं यह कोई खाक ही नहीं होता। जैसे समाज-रचना बदलती जाती है वैसे ही यह सामाजिक आशय भी बदलता जाता है। जिस पैमाने में विषमता से निर्मित दुख समाज से कम होता जाएगा उसी पैमाने में कला की गंभीरता और गहराई भी कम होती जाएगी, इसमें कोई शक नहीं है। अत: कभी-कभी एक ऐसी आशंका उठायी जाती है कि जिस पैमाने में व्यक्तिगत और सामाजिक दुख या न्यूनताएँ घटती जाएँगी उसी पैमाने में कला हीन (निम्न दर्जे की) होती जाएगी। कभी-कभी सोवियत यूनियन की कला के बारे में यह युक्ति दी जाती है। लेकिन मुझे यह युक्ति ठीक दिखाई नहीं देती। एक तो, आदमी कितना भी उन्नत होने पर भी पूर्णता हासिल कर पाना उसके लिए असंभव है। उसने पूर्णत्व प्राप्त कर लिया इसका मतलब ही है कि उसकी गतिमानता, उसका विकास खत्म हो गया है और मनुष्य को हमेशा के लिए रहने वाली अपूर्णता को कबूल करने से व्यक्तिगत तथा सामाजिक समस्याएँ, उससे निर्माण होने वाली कठिनाइयाँ, ज्यादा या और तरह की प्रगति की इच्छा, सामाजिक स्तर के झगड़े आदि सब बातें अच्छी समाज-रचना में भी जरूर रहेंगी। इन सब विषयों से श्रेष्ठ कला की सामग्री न मिले यह सच नहीं मालूम पड़ता। दूसरे, यह कहना भी गलत है कि पूंजीवादी समाज में उत्पन्न होने वाली समूची कला पहले दर्जे की होती है। मनुष्य में आदर्शों की ओर जाने की हमेशा ही तीव्र इच्छा होती है यह कहना भी उतना सही मालूम नहीं पड़ता। मनुष्य की अच्छी और हीन ऐसी दोनों प्रकार की इच्छाएँ होती हैं। अपनी अतृप्त इच्छाओं को कला के माध्यम से पूर्ति करने का यत्न मनुष्य हमेशा करता रहता है। उससे भी कला को हीनता प्राप्त हो जाती है। कला को मनोरंजन के लिए भी उपयोग में लाया जाता है। 'काउ बॉय' या 'बंग बंग' जैसे चित्रपट या दशम दर्जे के जासूसी उपन्यास ऐसी ही अतृप्त इच्छाओं से उत्पन्न होते हैं और सामाजिक या पूंजीवादी समाज-रचना में भी उत्पन्न होते हैं। हम कितना भी न कहने पर आज सामंतिक और पूंजीवादी समाज-रचना में रहते हैं। हमारा आदर्श है अधिक धनवान कैसे बनें, अधिक सत्ताशाली कैसे बनें। उसी तरह हममें दूसरों के दुख के प्रति दया भी है। इसी से हमारी कला को सामग्री दी जाती है और उसी से हमारे कला के बारे में होने वाले आदर्श उत्पन्न होते हैं। बहुत बार हमारे प्रश्न मध्यमवर्गीय ही होते हैं। कितनी भी नयी लिबास चढ़ाकर उसे सजाने पर भी हम रविकिरण मंडल की लक्ष्मण रेखा लांघ नहीं सकते। इस कारण समाज में उत्पन्न होने वाली नयी समस्याओं से हम प्रभावित नहीं होते और उनको हम चख भी नहीं पाते। समाजवादी समाज की श्रेष्ठ कला कैसी होगी इसका चित्र भी निकालना हमारे लिए मुश्किल है। इसके सिवा, प्रचार के लिए भी कला को उपयोग में लाया जा सकता है। लेकिन इस तरह उपयोग में लाने के लिए कोई हर्ज भी न हो। अण्णाभाऊ साठे और अमरशेख इनके उदाहरण हमारे यहाँ हैं ही। इसके वास्ते अच्छी कला पर भी प्रचार का मैल चढ़ जाता है। और, कला में सामाजिकता है इतना कहने से काम नहीं चलता है। जैसा कि कॉडवेल, लुकाझ, फिशर आदि लोगों ने कहा है, यह सामाजिकता भी अलग-अलग तरीके की हो सकती है। कुछ कलाएँ आशय-अर्थ-प्रधान होती हैं तो कुछ आकारिकताप्रधान होती हैं। सामाजिक-व्यक्तिगत चेतना उपन्यास-नाटकों में जितनी दिखाई देगी उतनी वह संगीत, चित्रकला, शिल्पकला, नृत्य, बैले नृत्य, प्रेम के गीत आदि में दिखाई पड़ेगी ही, ऐसा नहीं है। इस दूसरे वर्ग की कलाओं के भेद पूंजीवाद-सामंतवाद के खिलाफ समाजवादी समाज-रचना में भी मनुष्य की मूल प्रेरणाएँ वे ही रहती हैं, इस बात की ओर ध्यान देने से

इंकार करना ठीक नहीं होगा। सोवियत यूनियन में भी संगीत, चित्रकला, शिल्पकला, नृत्य या बैले नृत्य या प्रेमगीत इनका ढाँचा बदला हुआ दिखाई नहीं देता; बल्कि वह बदल ही नहीं सकता। जो आम आदमी के यहाँ पहुँचाने का पैगाम होता है वह बदलता है। पुराने जमाने में राजा लोग हमारे नायक और नायिकाएँ रहे होंगे। आज वे नहीं होंगे। वाल्मीकि ने रामायण लिखते हुए राम, सीता, रावण इनको चुना। मामा वरेरकर ने 'धावता घोटा' लिखते हुए बिजली को चुना। (उन्होंने 'भूमिकन्या सीता' भी लिखा लेकिन उसका विचार यहाँ अप्रस्तुत है।) नारायण सुर्वे ने 'माझे विद्यापीठ' में इस Heroism को ही छोड़ दिया है। समाजवादी समाज के श्रेष्ठ कलाकार कौन से विषय चुनेंगे, इस बात का भविष्य-कथन तो कलामीमांसा के अंतर्गत नहीं होता है। लेकिन मार्क्सवाद का या मार्क्सवादी लेखकों का ऐसा कोई सिद्धांत नहीं है कि समाजवादी समाज-रचना में ही सारे ऊँचे दर्जे के या सारे दूसरे दर्जे के कलाकार होंगे। जीवन के असमतोष से कला निर्माण होती है इसको नकारा नहीं जा सकता। अत: जैसे-जैसे जीवन में समतोष बढ़ता जाएगा वैसे-वैसे कला नष्ट होती जाएगी। यह चित्रकार मोनड्रेन की आशंका (Art will disappear as life gains more equilibrium) को उपेक्षित नहीं किया जा सकता। लेकिन जैसा कि मार्क्सवादी लेखक फिशर कहते हैं, कला को जीवन के मात्र एक प्रतिरूप (Substitute) की दृष्टि से देखा नहीं जाएगा। एक तो ऐसा नहीं कह सकेंगे कि ऊपर कहे हुए अत्यंत प्रगत समाज में भी जीवन का संतुलन टिकने वाला होगा। और कला को जीवन का प्रतिरूप देखना भी कितना उचित होगा ? क्या कला और मनुष्य का नाता केवल जीवन का एक पर्याय, उससे पलायन का रास्ता इतना ही मानना है ? आदमी कला की ओर जाता है अपनी अपूर्णता के कारण। आदमी का यह अधूरापन समाज में ही पूरा होता है। इसीलिए वह कला के रूप से अन्य न होने वाले संभाव्य मनुष्यों का आह्वान करता है। वह अपने 'मैं' से अधिक व्यापक 'मैं' चाहता है और यह 'मैं' कला के रूप से उसे मिलता है। इसी 'मैं' से बड़ा 'मैं' समाजवादी समाज-रचना में संभव हो सकता है। अधिक ब्यौरा न देते हुए मैं इतना ही कह सकता हूँ कि फिशर की कला के बारे में जो मीमांसा है वह मूलत: अग्राह्य नहीं मानी जा सकती। यह 'मैं' से बड़ा प्रतीत होने वाला 'मैं' कला में शुरुआत से ही रहता है। Identification तथा adication (विकल्प और समाधि) के जरिये कलाकार सदा उसे भुलाता रहता है। एक तरह से यह जादू का तरीका है। इस जादू के कारण आदमी अब तक हासिल न हुए सत्य पर अपना स्वामित्व जमा सकता है। (A magic-aid towards mastering a real but unexpored world.)

***

परिच्छेद : छह

रामचन्द्र पाण्डेय

भाषा, अर्थ एवं प्रमाणों की प्रातिस्विकता

6.1 भारतीय अर्थविज्ञान की मूलभूत समस्याएँ

6.2 प्रत्यक्ष का प्रामाण्य

6.3 सामान्य और विशेष

6.4 विशेषण और विशेष्य

रामचन्द्र पाण्डेय

पदशास्त्र, पदार्थशास्त्र और प्रमाणशास्त्र के मर्मज्ञ प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय का जन्म १९३२ में काशी में हुआ था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा पारम्परिक विधि से काशी के पारम्परिक वातावरण में ही सम्पन्न हुई थी। तदुपरान्त उन्होंने दर्शनशास्त्र में एम.ए., पी-एच.डी. तथा व्याकरणाचार्य की उपाधि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्राप्त किया था। व्याकरण दर्शन पर पी-एच.डी. करते हुए उन्हें प्रो. टी.आर.वी. मूर्ति का भरपूर सान्निध्य प्राप्त हुआ, और इसका प्रभाव उनके सम्पूर्ण अकादमिक व्यक्तित्व पर आद्यन्त देखा जा सकता है। अपने वियतनाम (१९६३) की अकादमिक यात्रा से लौटकर प्रो. पाण्डेय १९६६ से १९७३ तक दिल्ली विश्वविद्यालय के बौद्ध अध्ययन विभाग में पदस्थ रहे। उसी दौरान उन्होंने अमेरिका के हवाई विश्वविद्यालय (१९६८) की महत्त्वपूर्ण अकादमिक यात्रा भी किया। दिल्ली विश्वविद्यालय में ही प्रो. पाण्डेय पुन: दर्शन विभाग में प्रोफेसर ऑफ इण्डियन फिलॉसफी नियुक्त हुए और वहीं से अध्यक्ष के रूप में सेवा निवृत्त हुए। सेवा निवृत्त काल में प्रो. पाण्डेय का अधिकांश समय विदेश यात्राओं में ही बीता क्योंकि व्याकरण शास्त्र एवं बौद्धविद्या के निष्णात् विद्वान के रूप में उनकी ख्याति अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित हो चुकी थी। वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में गायकवाड़ विजिटिंग प्रोफेसर भी रहे। भारतीय दार्शनिक महासभा के मंत्री एवं अध्यक्ष तथा अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के अध्यक्ष (जयपुर अधि.) रूप में और भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् की स्थापना के प्रारम्भिक उपक्रमों के उपस्थापक रूप में प्रो. पाण्डेय ने भारत में दर्शन के संस्थागत विकास को भी अपना उल्लेखनीय योगदान प्रदान किया था। प्रो. पाण्डेय की प्रमुख एवं प्रसिद्ध कृतियाँ-प्रॉबलेम्स ऑफ मीनिंग इन इण्डियन फिलॉसफी, इण्डियन स्टडीज इन फिलॉसफी, पैनोरमा ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, नि:स्वभावता दर्शन, वादन्याय: वाद प्रक्रिया का तार्किक विश्लेषण इत्यादि रही हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेक दुरूह ग्रन्थों का आलोचनात्मक सम्पादन एवं अनुवाद भी किया है। इन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से भारतीय व्याकरण दर्शन एवं भाषिकी तथा माध्यमिक दर्शन की भाषा विश्लेषणवादी व्याख्या एवं भाषा, अर्थ तथा प्रमाणों की प्रातिस्विक दृष्टि को मौलिक ढंग से उपस्थापित करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है। इनका निधन गृहनगर काशी में १९९७ में हुआ।

भारतीय अर्थ विज्ञान की मूलभूत समस्याएँ

शब्द से अर्थ का बोध होता है। 'मनुष्य' शब्द है जिसका अर्थ है "दो पैरों वाला विचारशील पशु"। यदि हम शब्द और अर्थ को वाचक और वाच्य कहें तो ठीक होगा। सभी शब्द सबके लिए सर्वदा वाचक नहीं होते और न सभी अर्थ वाच्य हो सकते हैं। यह वाच्य-वाचक भाव कुछ निश्चित सीमाओं के भीतर ही होता है। वाचक होने के लिए शब्द को वाच्य अर्थ के साथ संबद्ध होना चाहिए और साथ ही जिस व्यक्ति के लिए वह वाचक है उसको उन दोनों के इस सम्बन्ध का ज्ञान भी होना चाहिए। जिसका अभिप्राय यह है कि शब्द और अर्थ के वाचक-वाच्य सम्बन्ध का ज्ञान शब्द की सार्थकता के लिये आवश्यक है। इस प्रकार हम "दो पैरों वाले पशु" को और 'मनुष्य' शब्द के उस वाच्य के साथ सम्बन्ध को अर्थ कहते हैं। स्पष्टता के लिये हम पहले अर्थ को 'वाच्य' और दूसरे को 'अर्थ' कहेंगे। वस्तु शब्द का वाच्य है और शब्द तथा वस्तु के सम्बन्ध का ज्ञान शब्द का अर्थ है। यहाँ हमें 'ज्ञान' शब्द के बारे में भी स्पष्ट हो जाना चाहिए। ज्ञान का तात्पर्य केवल जानने से ही नहीं है। केवल 'जानना' एक सामान्य शब्द है। यदि शब्द का वाच्य के साथ सम्बन्ध तत्काल गृहीत न भी हो तो भी हमें शब्द के वाच्य का ज्ञान है। इस समय हजारों शब्दों के साथ ही कुछ वाच्यों का ज्ञान हो रहा है। जब हम शब्द और वाच्य के सम्बन्ध के ज्ञान की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य दूसरे प्रकार के ज्ञान से है। हमें उस सम्बन्ध का ज्ञान तत्काल प्रयोगावस्था में होना चाहिए। संभावित ज्ञान का अर्थ बोध में विशेष उपयोग नहीं है। दूसरी बात 'ज्ञान' और 'बोध' में अन्तर की है। जब हम प्रयोगावस्था के ज्ञान को ज्ञान कहते हैं तो उससे स्पष्ट हो जाता है कि सम्बन्धज्ञान के परिणाम स्वरूप हमारी बुद्धि में एक विशेष परिवर्तन होता है जिससे हमारा चेतन शब्द और वाच्य सम्बन्ध को अपने आप में ले लेता है। यह ज्ञान से कुछ भिन्न है क्योंकि ज्ञान होने के कारण ही अर्थ बोध की उत्पत्ति होती है। बोध ज्ञान का परिणाम है। वाच्य-वाचक का सम्बन्ध चूँकि शब्द के द्वारा गृहीत होता है, अत: उसे हम शब्द का अर्थ कहते हैं और शब्द के सम्बन्ध ज्ञान से अर्थ का बोध होता है, अत: बोध को शाब्दबोध कहते हैं।

जब हम शब्दार्थ का विचार करते हैं तो हमारे सामने शब्द सम्बन्धी समस्याएँ, अर्थ सम्बन्धी समस्याएँ, उन दोनों के परस्पर सम्बन्ध की समस्याएँ तथा अर्थबोध की समस्याएँ आती हैं। शब्द क्या है ? निश्चय ही यह अक्षरों का समूह है। ये अक्षर यदि कहे जाँय तो विशेष ध्वनियाँ हैं और यदि लिखे जाये तो विशेष आकृतियाँ हैं। ध्वनियों का समूह सम्भव ही नहीं है। ध्वनियाँ उच्चारण के बाद ही नष्ट हो जाती हैं। समूह एक साथ रहने वाली वस्तुओं का ही होता है। अक्षर एक साथ नहीं रह सकते, अत: इनका समूह सम्भव नहीं है। परन्तु अक्षर-ध्वनि उत्पन्न होने के साथ ही श्रोता के मन पर अपना संस्कार छोड़ जाती है। इस प्रकार के बहुत से संस्कारों को एक करके शब्द बनता है। अब प्रश्न है कि ध्वनियों को येनकेन प्रकारेण इकट्ठा कर देने से तो शब्द नहीं बनता। ध्वनियाँ जब एक विशेष क्रम में होती हैं तभी उनसे शब्द का निर्माण होता है। ध्वनि के व्यतिक्रम से शब्द में भी व्यतिक्रम हो सकता है जिससे अर्थबोध भी प्रभावित होगा। 'सर' और 'रस' ये दो शब्द हैं क्योंकि पहले में स पहले और र बाद में और

दूसरे में इससे विपरीत क्रम है। अब यदि संस्कार को ही शब्द का जनक मानें तो ध्वनि-क्रम में बाधा पड़ सकती है। संस्कार उद्बुद्ध होकर स्मृति को जन्म देता है जिससे हमें ध्वनियों के क्रम का ज्ञान होता है। पर, स्मृति में क्रम का नियम नहीं होता। पहले अनुभूत विषय का बाद में, तथा बाद में अनुभूतविषय का पहले, स्मरण होना कोई अनहोनी बात नहीं हैं। अत: यह संभव है कि श्रोता को 'रस' शब्द सुनने के बाद 'सर' शब्द का ज्ञान हो। वाक्य में, जहाँ कि अनेक शब्द प्रयुक्त होते हैं, इस प्रकार के व्यतिक्रम की संभावना अधिक है। कुछ लोग इस दोष को दूर करने के लिये अक्षरों को नित्य मानते हैं। नित्य अक्षरों के समूह की बात संभव है, पर अनुभव का क्या होगा ? अनुभव तो यह बतलाता है कि अक्षर सुनाई पड़ते हैं पर स्थिर नहीं हैं। यदि अक्षर नित्य हों तो उन्हें सर्वदा उपलब्ध होना चाहिए। यदि अनुभव को ही प्रबल प्रमाण माना जाये तो यह आक्षेप ठीक नहीं लगता। 'क' सौ बार उच्चारित किया गया'' यह अनुभव इस बात की ओर इंगित करता है कि 'क' एक है पर इसका उच्चारण अनन्त बार किया जा सकता है। अत: 'क' और इसके उच्चारण में भेद है। उच्चारण केवल अक्षर का अभिव्यंजक है, उच्चारण ही अक्षर नहीं है।

अक्षर नित्य हों या अनित्य परन्तु अर्थ विज्ञान में हमारा प्रयोजन शब्द की उस इकाई से है जिससे अर्थबोध होता है। कितने अक्षरों का हम उच्चारण करें जिससे अर्थबोध हो ? दूसरे शब्दों में, हम पूछ सकते हैं कि शब्द क्या है ? पतंजलि कहते हैं कि जिसके उच्चारण से पूँछ, डील, खुर और सींग वाले जानवर का ज्ञान होता है वही 'गौ' शब्द है। अत: शब्द की सामान्य परिभाषा यों की जा सकती है कि शब्द वह इकाई है जिससे कम में हमें अर्थबोध नहीं होता। इस इकाई को 'पद' कहा जा सकता है। पद में अक्षर की संख्या निश्चित नहीं की जा सकती परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि पद में एक से कम अक्षर नहीं होते। अक्षरों की संख्या अथवा पद का स्वरूप वाच्य के आधार पर निर्धारित होता है। पद और वाच्य का यह सम्बन्ध परम्परा पर आधारित है। न तो पद में कोई ऐसी विशेषता निहित है जिससे वह वाक्य विशेष का बोधन करे, न ही वाच्यगत कोई विशेषता उसके लिये पद विशेष के प्रयोग की नियामक है। यह बात अनुरणनात्मक पदों के साथ नहीं लागू होती, पर जब व्यवहार आदि के कारण पद विशेष वाच्य विशेष का बोधक हो जाता है तब पदगत अक्षरों की संख्या निश्चित हो जाती है, उससे कम या अधिक अथवा व्यतिक्रमित अक्षरों से वह पद नहीं बनता। अर्थात् पद की इयत्ता वाच्य के साथ उसके सम्बन्ध पर निर्भर है। अत: भाषीय इकाई का प्रश्न मुख्यत: आर्थीय इकाई के साथ जुड़ा है। प्राय: सभी मानते हैं कि पद ही वास्तव में भाषा की इकाई है क्योंकि यह स्वतन्त्ररूप में वाच्य का बोधन करने में समर्थ है। 'आदमी', 'कलम' 'कमल', 'गाय', 'पीला', 'दु:ख', 'चलना', 'विचारना' आदि पद हैं क्योंकि वे बिना अन्य पदों की सहायता के अर्थबोध कराते हैं। पर विचार करके देखा जाय तो पद को भाषा की वास्तविक इकाई नहीं कहना चाहिये। भाषा अर्थबोध कराने के लिये है। भाषा की स्पष्टता और अस्पष्टता इसके अर्थबोधन की क्षमता पर निर्भर है। यदि 'कलम', 'गाय' आदि शब्दों का अकेले प्रयोग किया जाय तो भाषा का अर्थबोधन कराने का उद्देश्य सफल नहीं हो सकता। क्योंकि श्रोता के मन में सर्वदा यह प्रश्न बना रहेगा कि कलम के बारे में, क्या ? या गाय के बारे में, क्या ? अत: अर्थबोध एक स्वतन्त्र पद से नहीं होता, इसको अनेक पदों की अपेक्षा रहती है। स्पष्ट ही वे सारे पद, जो श्रोता की आकांक्षा को तृप्त करने के लिए आवश्यक हैं, एक दूसरे से अलग असंबद्ध नहीं हैं। पद साकांक्ष होते हैं और वे स्वतन्त्र बोधक न हो सकने के कारण भाषा की इकाई नहीं कहे जा सकते। भाषा की इकाई साकांक्ष शब्दों का स्वत: निराकांक्ष समूह ही हो सकता है। यही निराकांक्ष समूह 'वाक्य' कहलाता है। वाक्य को नाम और क्रिया का समूह कहना ठीक नहीं है क्योंकि तब तो परस्पर निराकांक्ष नाम-क्रियाओं का निरर्थक समूह भी वाक्य कहलाने लगेगा। वाक्य के लिए पदों का परस्पर साकांक्ष होना ही

एक मात्र लक्षण है। वाक्य ही यदि भाषा की इकाई माना जाय तो कई प्रश्न सामने आते हैं। यदि वाक्य ही चरम अर्थबोधक है तो फिर स्वतन्त्र पदों से अर्थबोध कैसे होता है ? 'कलम' पद को सुनने वाला पहले उस पद का अर्थ जान लेता है तब पूछता है कि कलम के बारे में क्या ? यदि वह उसका अर्थ न जानता तो वह उसके बारे में साकांक्ष कैसे होता ? अत: आकांक्षा की पूर्ति और बोध दो भिन्न वस्तुएँ हैं। बोध आकांक्षा रहने पर भी होता है और न रहने पर भी। अत: यह आकांक्षा से स्वतंत्र है। आकांक्षा वाक्य-बोध के लिये आवश्यक भले ही हो पदार्थबोध के लिये इसकी आवश्यकता कतई नहीं है। इसी प्रकार प्रकरण के कारण कभी-कभी पद का अर्थ निर्धारित होता है। भोजन के प्रकरण में 'सैन्धव' का वाच्य नमक है पर यात्रा के प्रकरण में इसका वाच्य घोड़ा है। पर यह प्रकरण भाषा से बाहर की वस्तु है और भाषा का विचार करते समय इसके विचार की आवश्यकता नहीं है। साथ ही, प्रकरण पद की तरह वाक्य के बोध का भी निर्धारण करता है, अत: इससे पद को भाषा की इकाई मानने पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अत: पद वाच्य का बोध स्वतन्त्र रूप से कराते हुए साकांक्ष होने के नाते वाक्य में अन्वित होते हैं। परन्तु यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि पूर्ण बोध वाक्य से ही होता है तो पद से उत्पन्न बोध अपूर्ण है। बोध की पूर्णता और अपूर्णता आकांक्षा पर निर्भर है। अत: पद वास्तव में वाच्य के एक भाग का ही बोध कराता है समग्रवाच्य का नहीं। यदि पद समग्र वाच्य का ही बोध करा देता तो फिर वाक्य की आवश्यकता ही क्या रहती है ? भाषा की इकाई वास्तव में वाच्य की इकाई है और निश्चय ही पद इकाई का बोधक न होने से अधूरा वाचक है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि पद एकदम अवाचक भी नहीं है, जैसे अक्षर। यदि अक्षर अवाचक हैं तो वाक्य पूर्ण वाचक। पद इन दोनों के बीच की कड़ी हैं। पद से ही भाषा की बोधकता का व्यापार आरंभ होता है। अत: पद की वाचकता का मूल वाक्य है और वाक्य की वाचकता का मूल वाक्य में निहित है। इसलिये पद बिल्कुल स्वतन्त्र नहीं है, यह वाक्यगत अन्य पदों से शासित है। इसकी अपूर्ण बोधकता भी वाक्य के कारण ही सम्भव है जिसका कि वह पद एक अंग है। वाक्य में अन्वित होकर ही पद बोधक होता है, वाक्य से बाहर नहीं। चूँकि वाक्य साकांक्ष शब्दों में विभाजित किया जा सकता है, अत: वाक्य अपने आप में पदों से अलग कुछ भी नहीं है। इस मत में बोध की दृष्टि से वाक्य मुख्य है पर सत्ता की दृष्टि से पद प्रधान है, क्योंकि वाक्य पदों से भिन्न कुछ भी नहीं है। इन दो मतों को हम क्रमश: अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद कहते हैं। विचार करें तो लगता है कि दूसरा मत भी अपूर्ण है। यदि पद अन्य वाक्यगत पदों के साथ अन्वित होकर ही बोधक होते हैं तो स्पष्ट ही मुख्य बोधकता वाक्य की हुई, पद की नहीं। पद को अपूर्ण बोधक कहना और फिर भी उसको भाषा की इकाई मानना परस्पर विरुद्ध बातें हैं। यदि वाक्य को ही इकाई मान लें तो यह विरोध मिट जायेगा। परन्तु पद की बोधकता का क्या होगा ? इसे स्वीकार करना कठिन होगा कि पद वाचक नहीं है। उत्तर में निवेदन है कि पद में बोधकता वास्तविक बोधकता नहीं है, पद में आरोपित बोधकता है। चूँकि वाक्य ही बोधक है अत: उसके सारे अवयव भी बोधक मालूम पड़ते हैं। वाक्य पदों का समूह नहीं है, यह पदों से अलग स्वतन्त्र सत्ता है। पद वाक्य के अवयव हैं पर वाक्य पदों का अवयवी नहीं है। पद वाक्य के वास्तविक अवयव नहीं हैं क्योंकि वाक्य स्वयं में अविभाज्य सत्ता है, किन्तु वाक्य को वास्तव में पदों से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता।

चाहे हम वाक्य को पदों का समूह मानें, चाहे पदों को वाक्य का काल्पनिक भाग मानें, पर वाक्यगत पदों का साकांक्ष होना सब अवस्थाओं में मानना पड़ेगा। तब इन साकांक्ष पदों में परस्पर सम्बन्ध किस तरह होता है ? इसका विचार आवश्यक है। एक पद दूसरे पद के प्रति साकांक्ष है, इसका ज्ञान साधारणत: पदों के साथ जुड़ी विभक्तियों से होता है। ये विभक्तियाँ एक पद का दूसरे से सम्बन्ध व्यक्त करती हैं। विभक्तियाँ सम्बन्ध की वाचक होती हैं या द्योतक होती है, इस समस्या के अलावा

एक बड़ी समस्या है सम्बन्ध के स्वरूप के बारे में। पदों को दो प्रकार का कहा गया है। नाम के अन्तर्गत वे पद आते हैं जो यथाभूत वस्तु का बोध कराते हैं; क्रियापद वस्तुगत क्रियाओं का बोध कराते हैं। पद के ये भेद स्थित्यात्मक और गत्यात्मक जगत् के कारण माने गए हैं, अथवा वस्तु के स्थिर और चल रूपों का बोध कराने के लिए क्रमश: नाम और क्रिया का प्रयोग होता है। सर्वनाम, विशेषण, अव्यय आदि नाम के अन्तर्गत तथा क्रिया, विशेषण, क्रिया के अंतर्गत माना गया है। पदों के परस्पर सम्बन्ध की बात होने पर हम यह कह सकते हैं कि नाम का नाम के साथ और नाम का क्रिया के साथ क्या सम्बन्ध है। नाम का नाम के साथ सम्बन्ध 'सम्बन्ध' शब्द से व्यक्त होता है परन्तु नाम का क्रिया से सम्बन्ध व्यक्त करने वाली विभक्तियों को 'कारक' कहते हैं। इसी प्रकार क्रिया में लगी नाम से सम्बन्ध को व्यक्त करने वाली विभक्ति को 'क्रिया-विभक्ति' कह सकते हैं। ये सम्बन्ध कितने प्रकार के हो सकते हैं, इन सम्बन्धों से सम्बन्धित पदों का क्या अर्थ होता है, इन प्रश्नों का अलग-अलग विवेचन भारतीय अर्थ विज्ञान का एक आवश्यक अंग है। परन्तु हम उन्हें यहाँ नहीं स्थान दे सकेंगे। यहाँ हम थोड़ा सा वाक्य के बोध पर विचार करेंगे। वाक्य से उत्पन्न अर्थबोध में नाम प्रधान है या क्रिया ? यदि नाम प्रधान है तो कौन सा प्रधान है ? एक वाक्य में एक क्रिया अवश्य होती है, नाम अनेक हो सकते हैं। इन अनेक नामों में से कर्ता को ही प्रधान माना जा सकता है क्योंकि वही क्रिया से मुख्य होता है। अत: शब्दबोध भी नाम प्रधान होता है। 'राम जाता है' इस वाक्य से जो शब्दबोध होगा वह 'गमन क्रियावान् राम' इस रूप में होगा। परन्तु दो क्रियाओं वाले वाक्य में कठिनाई हो सकती है। 'देखो हिरण दौड़ता है' यह वाक्य एक है पर इसमें 'देखो' और 'दौड़ता है' ये दो क्रियाएँ हैं। यदि कर्ता प्रधान हो तो इसका शब्दबोध होगा 'दौड़ने की क्रिया वाला हिरण', 'देखने की क्रिया करने के लिए आज्ञापित तुम'। यहाँ इन दो बोधों को जोड़ने के लिये किसी शब्द का प्रयोग नहीं है, अत: या तो एक वाक्य से दो परस्पर असंबद्ध शब्दबोध होंगे या फिर दोनों बोधों को जोड़ने वाले शब्द (उसे) की कल्पना करनी होगी। यहाँ वास्तव में कर्ता है - 'देखो' का कर्ता 'तुम' और 'दौड़ता' का कर्ता 'हिरण'। चूँकि एक ही वाक्य में दो कर्ता प्रधान नहीं हो सकते अत: एक को गौण बनना पड़ेगा। यदि 'देखो' क्रिया के कर्ता (तुम) को प्रधान माना जाय तो 'हिरण दौड़ता है' इसके वाक्यांश को 'तुम' का विशेषण बनना पड़ेगा। इस प्रकार 'हिरण' 'देखता' का कर्म हो जायगा। तब 'हिरण को देखो' ऐसा कहना चाहिये। यदि हिरणागत दौड़ने की क्रिया 'देखों' का कर्म हो तो 'दौड़ता है' इस तिङन्त विभक्ति के स्थान पर 'दौड़ते हुए' इस कृदन्त प्रत्यय का प्रयोग होना चाहिये। इन कारणों से नाम प्रधान शब्दबोध के स्थान पर क्रियाप्रधान शब्दबोध माना गया है।

किसी क्रिया में दो बातें प्रतिभासित होती हैं। क्रिया अपने-आपमें पूर्ण नहीं है, इसके साथ क्रिया से निष्पाद्य फल भी जुड़ा रहता है। 'जाना' एक क्रिया है। इसमें गति के बोध के साथ-साथ एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान का साथ सम्बन्ध भी भासित होता है। पहले को हम 'क्रिया' कह सकते हैं, और दूसरे को 'क्रियाफल'। सभी क्रियापद इन दोनों का बोध कराते हैं। यदि हम क्रिया को प्रधान मानते हैं तो प्रश्न है कि क्या क्रिया प्रधान है या क्रियाफल ? क्रियाफल को प्रधान मानने पर 'राम भोजन करता है' इस वाक्य का बोध यों होगा ; 'राम कर्तृक वर्तमान कालिक-व्यापार-जन्य भोजन'। क्योंकि भोजन की क्रिया भोजन के फल की विशेषता है। कर्ता आदि नाम भी उसी के विशेषण होंगे। 'राम घर जाता है' यह वाक्य कुछ कठिनाई उत्पन्न करेगा। कारण यह है कि 'जाना' क्रिया का फल है 'संयोग' (एक स्थान को छोड़ कर दूसरे स्थान से संयोग) यह संयोग जैसे राम में है वैसे ही घर में भी है। यदि संयोगरूप फल को क्रिया का मुख्य अर्थ मानें तो 'राम घर जाता है' इस वाक्य की तरह 'घर जाता है' यह वाक्य भी संभव है क्योंकि संयोग राम और घर दोनों में है। परन्तु घर का जाना संभव नहीं है अत: वास्तव में फल (संयोग) क्रिया का मुख्य अर्थ न होकर क्रिया ही मुख्य अर्थ होगा। 'राम घर जाता है' इस वाक्य में संयोग के अनुकूल

व्यापार राम में ही है न कि घर में। अत: व्यापार का आश्रय होने के नाते राम कर्ता है और संयोग रूप फल का आश्रय होने के नाते घर कर्म है। ये कर्ता और कर्म क्रमश: व्यापार और फल के विशेषण हैं और फल व्यापार का विशेषण है। 'देखो हिरण दौड़ता है' इस वाक्य में भी हिरण कर्तृक ''दौड़ने के व्यापार'' को 'देखो' इस क्रियागत व्यापार का विशेषण मान लेते हैं जिससे उक्त वाक्य का अर्थ होगा 'हिरण के दौड़ने को देखो'। शब्दबोध के ही प्रसंग में आसक्ति, योग्यता, आकांक्षा और तात्पर्य की भी चर्चा होती है। ये मूलत: शाब्दबोध के मनोवैज्ञानिक कारण हैं। दो पदों के उच्चारण में दूरी नहीं होनी चाहिये। दो पद यदि परस्पर अन्वित नहीं हो सकते (जैसे - 'आग' और 'सींचना') तो भी शब्दबोध में बाधा उपस्थित होती है। आकांक्षा की चर्चा ऊपर कर दी गई है। प्रकरण से तात्पर्य का निर्धारण होता है, कौन से पद का किस प्रकरण में प्रयोग किया गया है उसी प्रकरण के अनुसार शब्दबोध होता है।

पद अर्थबोधक क्यों होता है, इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि यद्यपि पद में ऐसी कोई बात नहीं होती जिससे वह अर्थविशेष का बोधक हो। परन्तु, परंपरा से एक पद एक वाच्य के लिये निश्चित होता है। इस परंपरा का आरंभ होने वाला कोई न कोई व्यक्ति होता है जो नये शब्द को वाच्य के साथ जोड़ते समय वह सोचता है कि इस पद से इस वाच्य का बोध हो। सभी पद इस तरह किसी व्यक्ति के द्वारा विशेष वाच्य के साथ जोड़े जाते हैं। कुछ लोग ईश्वर को ही सर्वप्रथम भाषाप्रवर्तक मानते हुए कहते हैं कि वेद के शब्द ईश्वरीय इच्छा से प्रयुक्त हैं अत: वे 'साधु' शब्द हैं। हम मनुष्यों के शब्द साधु नहीं हैं। जो ईश्वर को नहीं मानते उनके अनुसार वैदिक शब्द अनादि काल से सार्थक हैं अत: वैदिक शब्द ही 'साधु' और वास्तविक वाचक हैं। अवैदिक शब्दों का प्रयोग अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि वे अपनी बोधकता के लिये पुरुष-व्यापार-सापेक्ष हैं। साधुत्व और वाचकत्व एक दूसरे के साथ जुड़े हैं। असाधु शब्द वाचक इसलिये माने जा सकते हैं कि असाधु शब्द से साधु शब्द का अनुमान होता है। परन्तु साधुत्व और वाचकत्व ये दो भिन्न कल्पनाएँ हैं। साधु शब्द वे हैं जिनके प्रयोग से पुण्य होता है। अत: साधु शब्द पुण्यजनक और वाचक भी हैं। असाधु शब्द वाचक तो हैं पर पुण्यजनक नहीं हैं। यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि बिना किसी व्यक्ति के भाषा की उत्पत्ति नहीं होती। वह व्यक्ति ईश्वर हो या मनुष्य, भाषा की वाचकता में इससे अन्तर नहीं पड़ता। पर एक बात ध्यान देने की है। मान लीजिये कि सृष्टि के आदि में एक व्यक्ति शब्दों का प्रवर्तन करने बैठता है। वह शब्द बोलता है और वस्तु विशेष के साथ उस शब्द को जोड़ता है और बाद में लोग उसका अनुसरण करते हुए उस शब्द से उस वस्तु को जानते और व्यवहार करने लगते हैं। वह पहला व्यक्ति कम से कम इतना तो जानता ही है कि शब्द में ऐसी शक्ति है जिससे वह किसी वस्तु का बोध करा सकता है। यदि शब्द में पहले से ही यह शक्ति वर्तमान न होती तो वह व्यक्ति शब्द को वह बोधकता-शक्ति प्रदान न कर सकता। शब्द में असीम शक्ति है अत: किसी शब्द से किसी अर्थ का बोध हो सकता है। परन्तु व्यवहार की सुगमता के लिये एक शब्द से एक ही अर्थ का बोध होना आवश्यक है। अत: वह व्यक्ति शब्द की असीम शक्ति को वस्तु विशेष में सीमित कर देता है। अत: व्यक्ति शब्द को अर्थ नहीं देता, वह शब्द के प्रयोग को सीमित करता है। इसी अर्थ में व्यक्ति भाषा का प्रवर्तक कहा जा सकता है। व्यक्ति का कार्य पहले से ही बोधक शक्ति सम्पन्न शब्द को वस्तु विशेष के लिये सीमित करना है न कि शब्द को शक्ति देना। इसलिये शब्द की शक्ति अनादि है, वस्तुएँ अनादि हैं और शब्द भी अनादि हैं। शब्द और वस्तु का सम्बन्ध भी नित्य है। यही कारण है कि आज एक शब्द एक वाच्य के लिए प्रयुक्त होता है और कालान्तर में वही शब्द दूसरे वाच्य के लिये प्रयुक्त होने लगता है। जिसे हम लक्षण कहते हैं वह भी वस्तुत: एक वाच्य के लिये निश्चित शब्द का उस वाच्य से सम्बन्धित अन्य के अर्थ वाच्य में प्रयोग ही तो है।

वाच्य के स्वरूप के बारे में विवाद है। यदि केवल वाच्य हो तो हर व्यक्ति के लिए अलग शब्द

होने चाहिए। यदि केवल सामान्य ही वाच्य हो तो हमारा व्यवहार नहीं चल सकता। 'कलम लाओ' इस वाक्य को सुनने पर सामान्यभूत कलम नहीं लाई जा सकती, विशेष कलम (व्यक्ति) का ही लाना संभव है। अत: सामान्य युक्त विशेष ही वाच्य है, केवल सामान्य या केवल विशेष नहीं। कुछ लोग मानते हैं कि वास्तव में शब्द केवल सामान्य की ओर इंगित करता है, और विशेष चूँकि सामान्य के साथ लगा हुआ है अत: विशेष कलम लाई जाती है। विशेष शब्द का वाच्य नहीं है वह सामान्य के साथ, जो कि शब्द का वाच्य है, संयुक्त है। यह सामान्य भी वस्तु की तरह अनुभवगम्य है और वस्तु में रहता है। सामान्य को वस्तु की तरह ही सत् मानने पर अनेक कठिनाइयाँ हैं। यदि सामान्य वस्तुओं में रहने वाला एक धर्म है तो क्या वह अनेक वस्तुओं में विभाजित हो कर रहता है या एक ही में ? यदि विभाजित है तो वह अनेक है, जिससे सामान्य को मानने का अर्थ ही नहीं सिद्ध होता। यदि एक है तो वस्तु के नष्ट होने पर उस सामान्य का क्या होता है ? इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए कुछ लोगों ने माना कि सामान्य केवल कल्पना है। वास्तव में वस्तु विशेष ही सत् है। पर शब्द का व्यवहार करने के लिये सामान्य आवश्यक है। यह सामान्य भाषा का आवरण है - सत् नहीं है। सही तो यह है कि भाषा का प्रयोग, सामान्य के निर्देश के लिए नहीं करते। शब्द जिस विशेष के लिए प्रयुक्त होता है उस वस्तु से अन्य वस्तुओं का वह शब्द निषेध करता है। 'कलम' शब्द वास्तव में कलमरूप सामान्य का वाचक नहीं है। उसका अर्थ है कि कलम कलम से भिन्न वस्तु नहीं है। शब्द की इस निषेध प्रक्रिया को 'अपोह' कहा जाता है। इस अपोहवाद का भी विश्लेषण करके देखें तो लगता है कि अपोहवाद वास्तव में वाच्य की स्थिति को मानकर ही 'अन्य' का निषेध करता है। 'कलम' का 'अन्य' कलम नहीं पुस्तक, मनुष्य आदि हैं। अत: 'कलम' की सामान्य सत्ता को स्वीकार करके ही अन्य सामान्यों से उसको पृथक् किया जा सकता है। बिना इस सामान्य के माने किससे अन्य का निषेध होगा ? पर यह सामान्य वस्तुगत नहीं बुद्धिगत है। हमारी बुद्धि बिना इस सामान्य के चल नहीं सकती। यह बुद्धिव्यापार या ज्ञान की पृष्ठभूमि है।

यदि शब्द नित्य है, वस्तु के साथ उसका सम्बन्ध नित्य है और यह वस्तु सामान्य से भिन्न नहीं है, और सामान्य बुद्धिगत है, तो क्या शब्द बुद्धिगत वाच्य का ही बोधक है ? अथवा, क्या हम बुद्धि से बाहर की वस्तु को शब्द से निर्दिष्ट नहीं कर सकते ? स्वगत सत्ता से भिन्न बाह्य विषय की सत्ता को भी शब्द का वाच्य मानने का प्रयत्न करते हुए कहा जाता है कि वाच्य का स्वरूप शब्दमय ही है। कोई पूछता है कि "कलम क्या है ?" उत्तर मिलता है कि "कलम वह पदार्थ है जिससे लिखने का कार्य सम्पादित होता है।" यहाँ प्रश्न वास्तव में कलम (वस्तु) के बारे में नहीं है, अपितु 'कलम' शब्द के बारे में है। इसीलिए उसका उत्तर भी शब्द में ही दिया जाता है। प्रश्न और उत्तर का विषय एक होना चाहिए। यदि प्रश्न कलम के बारे में हो पर उत्तर 'कलम' के बारे में नहीं हो तो प्रश्नकर्ता का समाधान नहीं होगा। यदि प्रश्न वस्तु के बारे में है तो उत्तर में शब्द प्रयोग नहीं करना चाहिए। शब्द के बदले वस्तु को सामने रख देना चाहिए। पर ऐसा नहीं होता। शब्दबोध की चर्चा करते समय यह भी कहा जाता है कि शब्द का वाच्य शब्द ही होता है। वस्तु वाच्य नहीं है। अत: वास्तव में शब्द का अर्थ शब्द का दूसरे शब्दों में अनुवाद मात्र है। कोई भी ज्ञान, यदि वह ज्ञान है तो, शब्द में व्यक्त किया जा सकता है। अथवा, यह भी कहा जाता है कि इस लोक में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो बिना शब्द के अनुगम के हो। मानो सारे ज्ञान शब्द की लड़ी में पिरोए हुए से प्रातिभासित होते हैं। ज्ञान शब्दमय है, वस्तु को शब्द से अलग करके कहा नहीं जा सकता। तो फिर यही निष्कर्ष निकलता है कि शब्द ही सब कुछ है, शब्द से परे कुछ भी नहीं। एक शब्द वाचक है, दूसरा शब्द वाच्य है। वाचक और वाच्य एक ही तत्त्व के दो प्रतिभासिक रूप हैं। इसी कारण से हम शब्द और अर्थ में कभी-कभी तादात्म्य भी अनुभव करते हैं। जो शब्द है वही

अर्थ है, जो अर्थ है वही शब्द है। वह तत्त्व जो शब्द (सुना जाने वाला शब्द) और अर्थ (अलग से प्रतीयमान पदार्थ) का मूल है शब्दब्रह्म कहा गया है। आदि और अन्त से रहित ब्रह्म नित्य अपरिणामी तत्त्व है। यही अपरिणामी अद्वय तत्त्व जब बुद्धि का विषय होता है तो 'स्फोट' कहलाता है। स्फोट ही नित्य शब्द है, श्रुति गोचर शब्द जिसके बिम्ब मात्र हैं। वही स्फोटात्मक तत्त्व ज्ञान का भी मूल उत्स है, अत: ज्ञानाश्रय आत्माएँ शब्द के बिना नहीं रह सकतीं। जब स्फोट अज्ञान के कारण प्रतिभासित होता है तो वाच्य का जन्म होता है। चूँकि स्फोट वाच्य से भी अधिक सत्य है और सत् है अत: स्फोट ही महासत्ता या महासामान्य कहलाता है। वाच्य स्फोट के विवर्त हैं अत: कम से कम वे स्फोट की सत्ता को आंशिक रूप में लिए हुए हैं। इसी सत्ता को शब्द व्यक्त करते हैं क्योंकि वाच्य इस सत्ता से अलग और क्या है ? यही कारण है कि शब्द सामान्य के वाचक हैं।

इस निबन्ध का उद्देश्य किसी विषय पर अपने विचार प्रकट करना नहीं है। प्रत्युत यह दिखलाना है कि भारतीय दर्शन में ऐसी विचारधारा है जिसमें शब्द, वाच्य, अर्थ, या उनके सम्बन्ध का विशद विवेचन किया गया है। न्याय, मीमांसा और व्याकरण दर्शन इन बातों पर पूर्ण विचार करते हैं। ऊपर जो कुछ कहा गया है वह इन दर्शनों के मतों का यथासंभव तथ्यत: उपस्थापन मात्र है। ऐसे युग में जबकि दर्शन भाषा का विश्लेषण मात्र बन गया है और तत्त्वमीमांसा के अनर्थक तथा मूल्यात्मक वाक्य केवल मनोभावों के प्रतिपादक हो रहे हैं, भारतीय विचारधारा कुछ नई दिशा की ओर संकेत कर सकती है। यदि समय मिला तो इनमें से किसी एक समस्या पर विस्तारपूर्वक विचार प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जायेगा।

***

प्रत्यक्ष का प्रामाण्य

मैं आपके सामने प्रत्यक्ष और इसके प्रामाण्य के बारे में कुछ चर्चा करना चाहूँगा। मेरा मुख्य उद्देश्य प्रामाण्य का विश्लेषण होगा और इस विश्लेषण के परिपोषक उदाहरण के रूप में ही मैं प्रत्यक्ष पर विचार करूँगा।

प्रत्यक्ष ज्ञान के सन्दर्भ में जब यह प्रश्न उठाया जाय कि "सामने एक फूल है, इसका क्या प्रमाण है ?" तो इसका जो ठीक उत्तर दिया जा सके उसका विश्लेषण करके हम प्रत्यक्ष के प्रामाण्य के बारे में कुछ उपयोगी बातें मालूम कर सकते हैं। उत्तर देने की प्रक्रिया के प्रारम्भ में ही हम यह नहीं मान सकते कि सामने एक फूल है। "क्या मेज लाल है ?" इस प्रश्न में हम मेज की स्थिति के बारे में कुछ जिज्ञासा नहीं करते, क्योंकि उस स्थिति में हमारा उत्तर होगा "मेज है या मेज नहीं है।" हम तो जिज्ञासा करते हैं एक प्रदत्त मेज के रंग के बारे में और हमें उत्तर भी रंग के बारे में ही मिलता है। प्रमाण के बारे में हमारी जिज्ञासा इसी से मिलती जुलती है। उक्त प्रश्न में प्रमाण देते समय हम मान लेते हैं कि सामने कुछ है और तब ढूंढते हैं कि सामने जो कुछ है क्या वह वास्तव में फूल है ? हम कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष में प्रदत्त के बारे में हम प्रमाण नहीं ढूंढते बल्कि प्रदत्त के बारे में जो हमने अपनी धारणा निर्मित की है उसके बारे में हमें निर्धारक की आवश्यकता होती है। "सामने कुछ है" इसके लिए नहीं बल्कि "सामने फूल है" इसके लिए हमें प्रमाण की आवश्यकता होती है।

इसी प्रश्न को दूसरे रूप में यों भी रख सकते हैं "क्या सामने फूल है ?" पर इस प्रश्न से कुछ दूसरा ही तात्पर्य ध्वनित होता है। यदि सामने कुछ भी न हो और फूल केवल हमारी कल्पना में हो तब भी हमारा उक्त प्रश्न सार्थक होगा और उस स्थिति में उत्तर होगा "सामने कुछ भी नहीं है" दूसरी ओर, यदि हमें "सामने कुछ है" इसका ज्ञान हो पर वह कुछ क्या है इसका निर्णयात्मक ज्ञान न हो तब भी हम उक्त प्रश्न पूछ सकते हैं। उस अवस्था में हमारा उत्तर होगा : "सामने फूल है" या "सामने फूल नहीं है", न कि "सामने कुछ भी नहीं है।" पहले रूप में प्रश्न का विश्लेषण होगा - "क्या सामने कुछ है जिसको हम फूल कह सकते हैं ?" दूसरा प्रश्न "सामने जो कुछ है क्या वह फूल है" के रूप में विश्लेषित होता है।

"क्या सामने कुछ है ?" यह प्रश्न सीधे-सीधे किसी बाह्य अस्तित्त्व के बारे में है। प्रश्न का दूसरा रूप अस्तित्त्व के ऊपर आरोपित आकार के बारे में है। दोनों अवस्थाओं में प्रमाण की जिज्ञासा उत्पन्न होने पर हमारे सामने एकाधिक विकल्प उपस्थित होते हैं। यह स्थिति संदेह की दोलायमान स्थिति से भिन्न नहीं है और जब प्रमाण मिल जाता है तब अनेक विकल्पों में से एक का निर्धारण हो जाता है। इसलिए प्रमाण की खोज वास्तव में निर्धारण या निश्चयात्मकता की खोज है।

निर्धारण वस्तु का नहीं वस्तु के बारे में हमारे विकल्प का होता है। जब हमारे सामने कुछ है तो वह "कुछ" अपने आप में निश्चित वस्तु है ही। हाँ, उसको हम जैसी वस्तु है वैसा जानने का प्रयत्न करते हैं। जितने विकल्प मन में उठेंगे वे सारे विकल्प वस्तु के बारे में तो होंगे, पर विकल्प और वस्तु में तादात्म्य नहीं माना जा सकता। अत: निर्धारण रूप प्रमाण की स्थिति में वस्तुत: प्रमाण किसी वस्तु के बारे में उठे

अनेक विकल्पों में से किसी एक विकल्प की निश्चयात्मकता में निहित है न कि वस्तु में। यह बात दूसरी है कि वस्तु और प्रमाण अनुबद्ध हैं। पर इस अनुबद्धता का अर्थ यह नहीं है कि वस्तु और प्रमाण में हम वस्तु का निर्धारण करते हैं।

ज्ञान निश्चयात्मक होता है, अत: ज्ञान को हम सर्वदा प्रमाण से अपृथक् करके ही सोचते हैं। ऐसा कुछ भी संभव नहीं है जो ज्ञान हो पर प्रमाण न हो, या प्रमाण हो पर ज्ञान न हो। इसके विपरीत, विकल्प प्रमाण नहीं है। विकल्प की अवस्था अनिश्चयात्मक मन:स्थिति की अवस्था है। विकल्पों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है- वस्तुतन्त्र विकल्प वे हैं जो सत् वस्तु को आधार मानकर उत्पन्न होते हैं। इस श्रेणी में मैं उन सारे विकल्पों को रखना चाहूँगा जो प्रदत्त को आधार मान कर विचार के विषय बनते हैं। इस श्रेणी में भी दो अवान्तर भेद हो सकते हैं :

(१) ऐसे प्रदत्तमूलक विकल्प जो प्रमाण में पर्यवसित होते हैं और

(२) ऐसे प्रदत्तमूलक विकल्प जो विकल्पांतर में पर्यवसित होते हैं।

ऊपर मैंने "क्या सामने फूल है ?" इस प्रश्न के दो विश्लेषण दिये हैं। इनमें से दूसरा विश्लेषण प्रथम श्रेणी में आएगा यदि सामने सचमुच में फूल हो। "सामने सांप है" (जबकि वहाँ रस्सी का एक टुकड़ा ही है) इस वाक्य का प्रयोग ज्ञान की स्थिति का द्योतक नहीं है और "साँप ही है" ऐसा निर्धारण करने पर भी हम वस्तुत: विकल्प से आगे नहीं बढ़ पायें हैं। दो अवान्तर भेदों वाले वस्तुतन्त्र विकल्पों की श्रेणी से भिन्न दूसरे श्रेणी में उन विकल्पों को रखा जा सकता है जिनकी उत्पत्ति में प्रदत्त का आधार नहीं है। ये कल्पनाजन्य विकल्प कहे जा सकते हैं। जहाँ प्रदत्त के न होने पर भी प्रदत्त की कल्पना कर ली जाय वहाँ इन विकल्पों का उदाहरण घटित समझना चाहिये।

यहाँ 'प्रदत्त' का मैं एक सीमित अर्थ में ग्रहण कर रहा हूँ। इस सन्दर्भ में प्रदत्त वही होगा जो हमें इन्द्रियों से उपलब्ध है-जो कुछ इससे अन्य होगा वह विकल्प होगा। पर प्रदत्त और वस्तु में भी भेद किया जा सकता है - प्रदत्त वस्तुतन्त्र होगा पर वस्तु प्रदत्त तन्त्र नहीं हो सकती। प्रदत्त से अलग करके क्या हम वस्तु को जान सकते हैं, इस प्रश्न का उत्तर देना सरल नहीं है। पर इतना कहना हमारे लिए पर्याप्त होगा कि प्रदत्त और वस्तु का भेद एक चीज है, प्रदत्त और वस्तु का पार्थक्येन ज्ञान दूसरी बात है। जो लोग प्रदत्त को ही ज्ञेय की चरम सीमा मानते हैं वे प्रत्यक्ष ज्ञान के आलोक में ही सब कुछ देखना चाहते हैं, पर दूसरी ओर, कुछ दार्शनिक प्रदत्त के मूल के रूप में वस्तु सत् को स्वीकार करके प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रदत्तातिरिक्त मूलक ज्ञान के रूप में व्याख्यान करते हैं।

प्रदत्त को ज्ञेय की चरम सीमा मानकर उसके आधार पर प्रत्यक्ष की व्याख्या करना आत्माश्रय दोष को निमन्त्रण देना है। प्रदत्त स्वसंवेद्यता के आधार पर माने जाते हैं और स्वसंवेद्यता प्रत्यक्ष ज्ञान का सब से सुन्दर उदाहरण है। इस तरह प्रत्यक्ष स्वसंवेद्य होगा और स्वसंवेद्य का ही प्रत्यक्ष होगा। दोनों, प्रत्यक्षज्ञान और स्वसंवेद्य प्रदत्त एक-दूसरे पर आधारित होंगे। 'प्रत्यक्ष' शब्द का प्रयोग, इस प्रसंग में, हम दो भिन्न अर्थों में कर रहे हैं-स्वसंवेद्य प्रदत्त प्रत्यक्ष है और प्रत्यक्ष ज्ञान स्वसंवेद्य प्रदत्त के कारण उद्‌भूत होता है। परन्तु इस मत में स्वसंवेद्य प्रदत्त का मूल क्या है, यह प्रश्न अस्थाने होगा, क्योंकि स्वसंवेद्य से अतिरिक्त किसी वस्तु का ज्ञान हमें संभव नहीं है। इस का अर्थ यह हुआ कि स्वसंवेद्यता अपने आप में विकल्प की निर्धारक होगी, इससे अतिरिक्त अन्य निर्धारक की बात करना व्यर्थ है। प्रत्यक्ष स्वत:प्रमाण है-यदि किसी स्वसंवेद्य के बारे में संदेह हो तो उसका निराकरण करने के लिए दूसरे संवेद्य ही उपस्थित किए जा सकते हैं। संवेद्य से अतिरिक्त किसी इतर या संवेद्यातिरिक्त वस्तु को निर्णायक नहीं माना जा सकता।

अब हम भाषीय प्रयोग की दृष्टि से भी इस पर थोड़ा विचार कर लें तो बात कुछ और स्पष्ट हो

जाएगी। '''सामने मेज है' इसमें क्या प्रमाण है ?'' यह प्रश्न दो अवस्थाओं में उठ सकता है। (१) मैं स्वयं निर्णय नहीं कर पा रहा हूँ कि सामने मेज है या नहीं। मैं छूकर, ठोक-पीटकर, पुस्तक रख कर देखता हूँ और अन्त में एकाधिक संवेदनों में सामंजस्य पाकर कहता हूँ कि सामने मेज ही है। अत: इस प्रश्न का मेरे स्वयं के लिए उत्तर होगा, सामने मेज ही है, क्योंकि मुझे मेज दिखाई दे रहा है। प्रमाण के रूप में मैं मेज के दिखाई देने को ही रखता हूँ। (कुछ दार्शनिकों ने इस प्रमाण को स्फुटाभ की संज्ञा दी है) परन्तु भ्रम और स्वप्न में भी मेज दिखाई दे सकता है। भ्रम में हम कह सकते हैं कि विभिन्न संवेदनों में सामंजस्य का अभाव प्राप्त हो जाएगा और इस तरह बाध के कारण मेज की हमारी कल्पना को प्रमाण का पद नहीं प्राप्त होगा। पर स्वप्न में सामंजस्य का अभाव ढूंढ़ना कठिन होगा। उसके लिये पहले में अपने सोए होने के बारे में प्रमाण ढूंढ़ना होगा। पर यह समस्या कठिन है क्योंकि स्वप्न में भी हम अपने को जागृत मानकर व्यवहार करते हैं। जागृति से स्वप्न का बाध होने की बात उठाई जाती है, पर यदि हमारे पास स्वसंवेद्यता ही एकमात्र आधार है तो हम किसे मुख्य स्वसंवेदन मानें और किसे गौण ? बाध के लिए आवश्यक है कि मुख्य का ज्ञान हो जिसके बल पर गौण का बाध हो सके। मुख्यत्व के ज्ञान के अभाव में हमें स्वप्न से जागृति का बाध होने की बात मानने का उतना ही अधिकार है जितना जागृति से स्वप्न के बाध होने का। या फिर जागृति और स्वप्न एक-दूसरे का बोध करके नष्ट हो जाएंगे और उस अवस्था में प्रमाण का निर्णय किया ही नहीं जा सकेगा। अत: स्वसंवेद्यता में भी गौण-मुख्य का निर्णायक ऐसा तत्त्व ढूंढ़ना पड़ेगा जो स्वसंवेद्य से अतिरिक्त हो। इसके अभाव में स्वसंवेद्यता को प्रमाण कहना नितांत असंगत होगा।

स्वसंवेद्यता को प्रमाणाघातक मानने में दूसरी कठिनाई सार्वजनिकता के अभाव से उत्पन्न होती है। यदि '''सामने मेज है' इसमें क्या प्रमाण है ?'' यह प्रश्न मेरे मन में न भी उठे (क्योंकि मैं स्वसंवेदन के आधार पर निश्चय रूप में जानता हूँ कि वहाँ मेज ही है) तब भी किसी दूसरे व्यक्ति को इस प्रश्न का उचित उत्तर देना कठिन होगा। स्वसंवेदनवादी इसका उत्तर अन्ततोगत्वा चुनौती के रूप में देगा और वह कहेगा ''आइए, आप स्वयं देख लीजिए कि सामने मेज है या नहीं''। इसका तात्पर्य होगा कि यद्यपि प्रत्यक्षद्रष्टा को स्वसंवेदन होता है तथापि वह अपने स्वसंवेदन को दूसरे के सामने प्रमाण रूप में नहीं रख सकता। दूसरे शब्दों में, मैं जिसे प्रत्यक्ष समझ रहा हूँ वह मेरा और सिर्फ मेरा प्रत्यक्ष है। मैं यह भी नहीं जान सकता कि कोई दूसरा व्यक्ति उस प्रकार का प्रत्यक्ष प्राप्त करता है या नहीं, क्योंकि दूसरे व्यक्ति के स्वसंवेदन का मुझे स्वसंवेदन नहीं हो सकता। अत: ''आइए, स्वयं देख लीजिए'' इस प्रकार की चुनौती के पीछे केवल एक संभावना काम कर रही होती है कि शायद आपको भी उसी तरह का स्वसंवेदन हो जैसा मुझे हो रहा है। रहस्यवादियों को इस चुनौती पर बड़ा भरोसा है, पर उन्हीं के मत को थोड़ी देर के लिए स्वीकार करके उन से पूछा जा सकता है कि, उदाहरणार्थ, आप जिसे ब्रह्म का अनुभव कह रहे हैं क्या वही अनुभव मेरा भी है ? रहस्यवादियों के पास इसका कोई उत्तर नहीं है।

स्वसंवेदन को किसी तरह व्यक्ति प्रमाण का निर्धारक मान भी लें, पर यह सार्वजनिक अथवा एकाधिक व्यक्ति से संबद्ध प्रमाण के प्रश्न का निर्णय नहीं कर सकता। क्या हम ऐसी मन:स्थिति को प्रमाण कह सकते हैं जिसमें हम स्व से बाहर जा ही नहीं सकते ? मैं समझता हूँ कि 'प्रमाण' के प्रयोग में सार्वजनिकता का प्रत्यय अन्तर्निहित है। न्यायालय में जाने पर हमें पता चल जाएगा कि व्यवहार में प्रमाण का क्या स्वरूप होता है। किसी का लेख या किसी की बातचीत का टेपरिकार्ड इसलिए प्रमाण माना जाता है कि उन वस्तुओं को हम सबके सामने रख सकते हैं। पर यदि किसी हत्या के मुकदमे में मुझे साक्षी के रूप में खड़ा किया जाय और प्रश्न पूछे जाएं और मैं ''मुझे लगता है'' कि - 'की 'भूमिका के साथ उत्तर दूँ तो मेरी बातें प्रमाण नहीं होंगी। साथ ही मेरा साक्षी के रूप में वहाँ उपस्थित होना ही इस

बात का द्योतक है कि मैं तथ्य के अपने अनुभव को सार्वजनिक रूप में रख सकता हूँ और मेरे वाक्यों की तथ्य के साथ (न कि मेरे अपने संवेदन के साथ) संगति की कोई व्यक्ति परीक्षा कर सकता है। इससे यह बात भी ध्वनित होती है कि व्यक्ति के लिये स्वयं में जो प्रमाण हो वही, उसी रूप में, पर के लिए भी प्रमाण है, ऐसा नियम नहीं बनाया जा सकता।

स्वसंवेदन की पर के प्रति प्रामाणिकता की चुनौती दो प्रकार से दी जाती है। एक प्रकार का उल्लेख तो मैंने ऊपर किया है जिसमें स्वसंवेदन की प्रामाणिकता की आलोचना स्वसंवेदन को स्वीकार करने से उत्पन्न कठिनाइयों के आधार पर की गई है। दूसरा प्रकार संदेहवादियों का है। पहले प्रकार में हम व्यक्तिगत रूप में स्वसंवेदन को प्रमाण कहने की छूट दे सकते हैं। हमारा आक्षेप मूलत: स्वसंवेदन को, उसकी असार्वजनिकता के कारण, सामान्य अर्थ में प्रमाण कहने के बारे में है। दूसरे शब्दों में हम, प्रमाण के प्रत्यय का तिरस्कार नहीं करते, बल्कि स्वसंवेदन की सार्वजनिक प्रामाणिकता के अभाव की आलोचना करते हुए प्रमाण की सार्वजनिकता का अभ्युपगम ही करते हैं। इसके विपरीत संदेहवादी अन्तत: प्रमाण मात्र की प्रामाणिकता के ऊपर ही प्रश्नवाचक चिह्न लगा देता है। '''सामने मेज है' इसमें क्या प्रमाण है ?'' इस प्रश्न का संदेहवादी विश्लेषण होगा ''प्रमाण में क्या प्रमाण है ?'' इस प्रकार प्रत्यक्ष के लिये अन्य प्रत्यक्ष या अनुमान आदि प्रमाण बताने पर संदेहवादी अन्य किसी प्रमाणवादी को अनवस्था दोष से ग्रस्त सिद्ध कर देगा। पर जब संदेहवादी स्वयं प्रमाण को मानता ही नहीं तो उसे स्वयं दूसरों से प्रमाण-प्रदर्शन की अपेक्षा करने का कोई अधिकार नहीं रह जाता। सन्देहवादी से हम स्पष्टीकरण के तौर पर पूछ सकते हैं कि 'प्रमाण' से उसका क्या अभिप्राय है - जिस अभिप्राय को जान कर हम कह सकें कि उस अर्थ में हम प्रमाण मानते हैं या नहीं। पर सन्देहवादी इस परिपृच्छा का कोई उत्तर नहीं दे सकता। अत: स्वसंवेदन का निराकरण वस्तुत: उसी मार्ग से किया जा सकता है जिसमें प्रमाण का प्रत्यय स्वीकृत हो। संदेहवादी का निराकरण उसी प्रकार का होगा जिस प्रकार कोई व्यक्ति सामने वस्तु को देख कर भी कहे कि मुझे वस्तु दिखाई नहीं पड़ रही है अत: वस्तु मुझे दिखा दो।

अब तक हमने, स्वसंवेदन को किस अर्थ में प्रमाण कहा जा सकता है, इस पर विचार किया है। हमने पाया कि प्रदत्त मात्र को ही प्रत्यक्ष का आधार मानने के कारण इस मत में प्रत्यक्ष को प्रत्यक्षान्तर से पुष्ट करने में ही प्रमाण की संभावना है। दूसरी ओर वे दार्शनिक आते हैं जो प्रदत्त को वस्तुसत् से जोड़कर बतलाना चाहते हैं कि प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता प्रत्यक्षान्तर से पुष्ट होने में नहीं बल्कि प्रत्यक्ष के वस्तुसत् से साक्षात् या परंपरया संलग्न होने में है। चूँकि यहाँ प्रत्यक्ष को प्रत्यक्षेतर से संबद्ध करके ही देखा जाता है, इसलिए प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता परत:, अर्थात् प्रत्यक्ष से अतिरिक्त वस्तु सत् के कारण, होती है।

इस मत में सबसे बड़ी कठिनाई उत्पन्न होती है वह स्वसंवेदन की सीमारेखा से बाहर जाने के हमारे असामर्थ्य से संबद्ध है। यदि कोई वस्तुसत् हो भी तो उसको जाना नहीं जा सकता, अत: प्रमाणीकरण की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष को निर्णीत करने के लिए किसी अप्रत्यक्ष या अज्ञात मूल्यापेक्षी (वेरीयेबल) का सहारा लेना पड़ेगा। पर क्या अज्ञात से हम ज्ञात की पुष्टि कर सकते हैं ? कहा जा सकता है कि जिसे हम अज्ञात कहते हैं वह अपने आप में एक सार्वजनिक सम्पत्ति है, स्वसंवेदन की तरह उसमें वैयक्तिकता की गंध नहीं है। पर इस सार्वजनिकता का भान कैसे हो ? एक ही मेज मेरे संवेदनों का तथा आपके संवेदनों का मूल है, इसे कैसे माना जाय ? अर्थक्रिया की पद्धति से इस प्रश्न को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है और कहा गया है कि वस्तुसद्मूलक संवेदनों के संकेत पर चल कर यदि हम व्यवहार करें तो अनेक व्यक्ति एक ही प्रकार का परिणाम प्राप्त कर सकते हैं। पर प्रश्न तो यह है कि अनेक व्यक्तियों की अर्थक्रिया एक जैसी है इसका निर्धारण करने के लिए हमें किसी ज्ञात मानदंड का प्रयोग

करना होगा। अन्यथा मेरी अर्थक्रिया आपकी अर्थक्रिया जैसी है क्योंकि दोनों अर्थक्रियाएँ हैं, यही एकमात्र उत्तर संभव होगा। वस्तु को अर्थक्रिया द्वारा सत् मानना और वस्तु के कारण अर्थक्रिया को संभव मानना, चक्रक दोष का उदाहरण होगा।

जाग्रत, स्वप्न और भ्रम में परस्पर भेद करना भी इस वस्तुवादी मत में कठिन होगा। सामान्यत: जाग्रत में वस्तु को प्रत्यक्षाधारित मानते हैं, स्वप्न में ऐसे आधार का नितान्त अभाव है, भ्रम में आधार होते हुए भी विकल्प का अनुचित निर्धारण होता है। परन्तु हमें पहले यह निर्णय करना है कि क्या किन्हीं दो प्रदत्तों में अपातत: हमें यह भेद ज्ञात हो जाता है कि एक प्रदत्त वस्तुमूलक है और दूसरा नहीं ? यदि प्रदत्त मात्र से ऐसा ज्ञान नहीं होता और इस मत में स्वसंवेदन रूप प्रदत्त अस्वीकार नहीं किया जा सकता तो फिर अज्ञात वस्तुसत् के आधार पर हम किस प्रकार इन दो प्रदत्तों में भेद कर सकते हैं। समस्या यह है कि हम प्रदत्तों के स्वसंवेदन से आगे जा नहीं सकते और अज्ञात वस्तुसत् को अपने प्रत्यक्ष के निर्णय का आधार भी नहीं बना सकते।

जिस प्रकार स्वसंवेदनवादी प्रमाण का प्रश्न उठाने पर हमें स्वयं स्वसंवेदन करने के लिए आमंत्रित करता है उसी प्रकार वस्तुसद्वादी हमें अर्थक्रिया प्राप्त करने का आमंत्रण करता है। उसका दावा है कि इस प्रयोग से वह काल्पनिक संवेदनों को वस्तुमूलक स्वसंवेदनों से निश्चयरूपेण पृथक् कर सकता है। स्वप्न में पीया गया पानी प्यास नहीं बुझाता, अत: वहाँ अर्थक्रियाकारित्व नहीं है। विचार कर देखें तो इस मत में भी विसंगति मालूम हो जायगी। जब हम स्वप्न में पीये गए पानी को प्यास बुझाने में असमर्थ कहते हैं तो हमारा अभिप्राय है कि वह पानी जाग्रत की प्यास बुझाने में असमर्थ है। क्योंकि स्वप्न में पीया गया पानी स्वप्न की प्यास को बुझाता ही है। अत: जाग्रत की प्यास स्वप्न के पानी से उसी प्रकार नहीं बुझ सकती जिस प्रकार स्वप्न की प्यास जाग्रत के पानी से नहीं बुझ सकती। इस प्रकार स्वप्न और जाग्रत् में अर्थक्रिया के कारण भेद मानने में व्यामिश्र उत्पन्न हो जाएगा। अत: यदि अर्थक्रिया को ही प्रत्यक्ष के प्रमाण में उपस्थित किया जाए तो दोनों अवस्थाओं में अवस्था के अनुरूप अर्थक्रिया की निष्पत्ति होने के कारण दोनों को समान रूप से प्रमाण की संज्ञा दी जानी चाहिए। जाग्रत के प्रति पक्षपात उचित नहीं प्रतीत होता।

प्रत्यक्ष के लिए प्रमाण ढूंढ़ने का प्रयत्न तब तक व्यर्थ होगा जब तक किसी प्रत्यक्षातिरिक्त माध्यम से वस्तु की स्थिति सिद्ध न हो। जब वस्तु की स्थिति का पूर्व-निश्चय हो और इन्द्रियव्यापार द्वारा उसका ज्ञान होने पर पूर्व निश्चित वस्तु को सामने रखा जा सके तभी सही माने में प्रत्यक्ष को प्रमाणित किया जा सकता है। अन्यथा चाहे स्वसंवेदन को ही मानें या अतिरिक्त वस्तुसत् को भी स्वीकार करें, हम प्रत्यक्ष को बिना प्रत्यक्ष का अभ्युपगम किये प्रमाणित नहीं कर सकते।

कुछ लोग मानते हैं कि ज्ञान स्वयंप्रकाश होता है इसलिए ज्ञान को जानने के लिए ज्ञानान्तर की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसीप्रकार अपनी मन:स्थिति का आभास उस तरह नहीं होता जिस तरह बाह्य वस्तु का आभास होता है। सामने रखे फूल को जानने के लिए आवश्यक है कि फूल और जानने वाले में भेद हो। पर यदि किसी व्यक्ति के सिर में पीड़ा हो रही है तो पीड़ा और उसका अनुभव करने वाला ये दो भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं, अनुभव ही पीड़ा से अनुस्यूत होता है। पीड़ा अनुभव का ही एक आयाम है। तात्पर्य यह कि मुझे कोई प्रत्यक्ष हो रहा है या नहीं, इस बात को जानने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। यदि दूसरा व्यक्ति जानना चाहता है कि मुझे कोई प्रत्यक्ष-विशेष हो रहा है या नहीं, इस बात को जानने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। यदि दूसरा व्यक्ति जानना चाहता है कि मुझे कोई प्रत्यक्ष-विशेष हो रहा है या नहीं तो उसके पास मेरे व्यवहार (जिसमें मेरी भाषा भी अन्तर्भुक्त है) को देखने के अलावा कोई दूसरा मार्ग नहीं है। व्यवहार को देखकर मेरे प्रत्यक्ष का अनुमान

लगाया जा सकता है, क्योंकि मेरा प्रत्यक्ष दूसरे के प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष ज्ञान के होने के प्रमाण का प्रश्न उठाना ही निरर्थक है। अत: प्रत्यक्ष के संदर्भ में प्रमाण का प्रश्न प्रत्यक्ष के अस्तित्त्व के बारे में नहीं बल्कि या तो प्रत्यक्ष के विषय के बारे में होगा या प्रत्यक्ष और विषय के सन्बन्ध के बारे में होगा। प्रथम विकल्प के बारे में मैंने पहले ही कह रखा है कि प्रत्यक्ष में जो निश्चयात्मकता होती है वह वस्तु की नहीं बल्कि विकल्प की होती है। वस्तु के निश्चय करने या होने का प्रश्न ही नहीं उठता। भ्रान्ति में भी वस्तु का निश्चय करने या होने का प्रश्न ही नहीं उठता। भ्रान्ति में भी वस्तु निश्चित है, अत: भ्रान्ति वस्तु के कारण नहीं होती। यदि निश्चित वस्तु को प्रमाण माना जाय तो भ्रान्ति में भी अवश्यमेव कोई निश्चित वस्तु रहती है, अत: भ्रान्ति प्रमाण की कोटि में आ जाएगी। इसलिए प्रमाण का प्रश्न अन्तत: प्रत्यक्ष ज्ञान और विषय के सम्बन्ध के बारे में ही उठाया जा सकता है। स्वसंवेदनवाद केवल प्रत्यक्ष के रूप का व्याख्यान करता है, वह बतलाता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान का मूल स्वसंवित्ति है और इसका संवित्त के रूप में विश्लेषण हो सकता है। परन्तु इतने ही आधार पर जब संवेदनवादी यह निष्कर्ष निकालता है कि विषय संवेदनों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, तो वह प्रमाण का नितरां खंडन नहीं है। उस स्थिति में वह प्रत्यक्ष और विषय के सम्बन्ध में उठाए गए प्रश्न को ही निरर्थक करार देगा। प्रमाण का खंडन करना एक बात है, प्रमाण को निरर्थक बतलाना दूसरी। संदेहवादी प्रमाण का खंडन करता है, संवेदनवादी प्रमाण की निरर्थकता बतलाता है। सत्यापन की विधि का उपयोग संवेदनवाद में संवेदनों के अस्तित्त्व के प्रमाण के लिए नहीं किया जाता बल्कि संवेदन के प्रकार का निर्धारण करने के लिए किया जाता है। जहाँ वस्तुसत् की स्वीकृति है वहाँ भी प्रत्यक्ष के अस्तित्त्व के बारे में नहीं बल्कि प्रत्यक्ष के प्रकार के बारे में प्रमाण की माँग की जाती है। पहले पक्ष में संवेदन के प्रकार का निर्धारण और दूसरे पक्ष में इसका निर्धारण वस्तु के आधार पर होता है। दूसरे शब्दों में, प्रमाण का प्रश्न अस्तित्त्वपरक नहीं बल्कि सम्बन्धपरक है।

इसलिए सामने मेज है, इस प्रत्यक्ष के बारे में प्रमाण की जिज्ञासा वस्तुत: संवेदनवाद में क, ख, ग .... न संवेदनों में से मेज के संवेदन के चुनाव का आधार जानने के लिए होती है। वस्तुसद्‌वादी प्रमाण का प्रश्न उठाकर मेज के प्रत्यक्ष और मेज के सम्बन्ध के बारे में आश्वस्त होना चाहता है। जब मेज के संवेदन के चुनाव का आधार मेज-संवेदन को ही माना जाय तो स्वत: प्रमाणवाद की, और जब मेज के प्रत्यक्ष को वास्तविक मेज से संबद्ध माना जाय तो परत: प्रमाणवाद की स्थिति होती है। दूसरों द्वारा उठाए गए प्रमाण सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर देते हुए हम दो में मे एक पद्धति अपनाते हैं :

(१) अपने अन्य संवेदनों से मेज के संवेदन का सामंजस्य बतलाकर हम पुष्टि करते हैं कि संवेदनमात्र मूलक प्रत्यक्ष अन्यथा नहीं है, या

(२) अर्थक्रिया आदि के द्वारा दिखाकर हम पहले मेज के अस्तित्त्व को सिद्ध करते हैं और इसकी सिद्धि हो जाने पर व्यंजना द्वारा, या कभी-कभी अभिधा में भी, मेज और मेज के प्रत्यक्ष के सम्बन्ध को सिद्ध करते हैं।

हमने स्वसंवेदनवाद की आलोचना करते हुए कहा था कि संवेदन वैयक्तिक होते हैं, अत: सार्वजनिकता रूप प्रमाण उनके विषय में संभव नहीं है। अब हम इस दोष का थोड़ा परमार्जन कर सकते हैं। जहाँ तक प्रत्यक्ष के अस्तित्त्व का सम्बन्ध है, प्रत्यक्ष मात्र वैयक्तिक ही होगा, अत: इस आधार पर संवेदनवाद को ही क्यों दोष दिया जाए ? इसलिए ''प्रत्यक्ष है - इसमें क्या प्रमाण'' की तरह का प्रश्न ही अनुचित है। परन्तु इससे प्रमाणमात्र का निराकरण किया जा रहा है, यह समझना भी भूल होगी, क्योंकि हम फिर भी '''य का प्रत्यक्ष है' इसमें क्या प्रमाण''? जैसा प्रश्न सार्थक रूप में पूछने के लिए स्वतन्त्र हैं। य बाह्य हो या वैयक्तिक परन्तु संवेदनवादी कहता है कि य का प्रत्यक्ष भी प्रत्यक्ष के अस्तित्त्व की

तरह आभ्यन्तर ही हो सकता है, क्योंकि इस मत में प्रत्यक्ष-संबद्ध जो कुछ भी होगा वह प्रत्यक्षवत् आभ्यन्तर ही होगा। संवेदन संवेदनगत सम्बन्ध को अपने भीतर ही समाविष्ट करता है। संवेदन और संवेदन-सम्बन्ध का पार्थक्य तो नहीं हो सकता परन्तु दोनों में भेद किया जा सकता है। इसी भेद को दृष्टि में रखकर य के प्रत्यक्ष के बारे में सार्थक प्रश्न पूछे जा सकते हैं। परन्तु भेद की सिद्धि के लिए संवेदन और प्रत्यक्षभूत य का भेद स्वीकार करना पड़ेगा। संवेदनवादी ने विकल्प की स्वीकृति करके अभिलाप्य और निरभिलाप्य प्रत्यक्षों का भेद माना ही है। जब तक संवेदन भाषीय उपादानों से संबद्ध नहीं होते तब तक वे केवल अस्तित्त्ववान् या अनुभवगम्य हैं, अत: प्रमाण की कोटि से भी मुक्त हैं। उनके बारे में कोई प्रश्न नहीं उठाया जा सकता। जब संवेदन भाषीय उपादानों से संसर्गित होते हैं तब भाषा की सार्वजनिकता के कारण उससे संसृष्ट संवेदन भी सार्वजनिक व्यवहार के विषय होते हैं। प्रमाण का प्रश्न इसी अवसर पर उठाया जा सकता है और इस प्रश्न की व्याप्ति उतनी ही दूर तक होगी जितनी दूर भाषा हमें आज्ञा देगी।

वस्तुसद्वादी वस्तु के अस्तित्त्व को प्रत्यक्ष से पहले ही मान लेता है। प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता उसके लिए भी वस्तु के अस्तित्त्व की प्रामाणिकता नहीं हो सकती अपितु प्रमाण का प्रश्न प्रत्यक्ष निरपेक्ष वस्तु और मनोगृहीत वस्तु-बिम्ब (व्यापक अर्थ में) के सम्बन्ध के बारे में उठता है। हम चाहें तो कह सकते हैं कि स्वसंवेदनवाद के विपरीत यहाँ सम्बन्ध वस्तुमूलक है, अत: प्रत्यक्ष में प्रदत्त वस्तु अपने सम्बन्ध के साथ बाहर से आई है। यह सम्बन्ध प्रत्यक्ष में समाविष्ट नहीं है। जब भी हमें प्रत्यक्ष का प्रामाण्य जाँचना होगा, हम प्रत्यक्ष के बाहर जाकर वस्तु की परीक्षा करने का प्रयत्न करेंगे। पर इसमें हम कदापि सफल नहीं हो सकते क्योंकि प्रत्यक्ष से स्वतंत्र होकर हम वस्तु के बारे में ही जान नहीं सकते। इस तरह वस्तुसत् मानकर भी अन्त में हमें उसी स्थिति में लौटना पड़ेगा जिस स्थिति में संवेदनवादी है।

"य के प्रत्यक्ष में क्या प्रमाण है" यह प्रश्न न तो य के बारे में है और न प्रत्यक्ष के होने के बारे में है। यह प्रश्न ऐसे प्रत्यक्ष के बारे में है जिसमें य प्रकारतया भासित होता है। लाल कलम के बारे में उठाया गया प्रश्न न तो कलम के बारे में होता है और न कलम के अस्तित्त्व के बारे में। यह प्रश्न ऐसी कलम के बारे में होगा जो लाल होगी। अर्थात् सामान्य कलम के अस्तित्त्व की तरह प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में प्रमाण का प्रश्न नहीं उठाया जा सकता। विशिष्ट प्रत्यक्षों के ही प्रमाण की जिज्ञासा की जा सकती है और उन्हीं का समाधान किया जा सकता है।

***

सामान्य और विशेष

किसी वस्तु को इकाई के रूप में जानते समय हम उसको एक साथ दो रूपों में देखते हैं। वह वस्तु अपने सामान वस्तुओं जैसी ज्ञात होती है और साथ ही वही वस्तु अपने समान दिखाई देने वाली अन्य वस्तुओं से पृथक् भी। एक गुलाब का फूल अन्य गुलाब के फूलों जैसा भी है और अपने से पृथक् अन्य फूलों से भिन्न भी। जिसके कारण वस्तु अन्य वस्तुओं के समान ज्ञात होती है उसे सामान्य तथा जिसके कारण वह अन्यों से पृथक् मालूम होती है उसे विशेष कहा जाता है।

व्यवहार में हम विशेष का ही उपयोग कर सकते हैं, सामान्य का नहीं। हम किसी खास कलम से लिखते हैं और कोई खास पुस्तक पढ़ते हैं। न तो सामान्य कलम से लिखा जा सकता है और न सामान्य पुस्तक पढ़ी जा सकती है। इसका कारण यह है कि व्यवहार के लिए विशेष से अतिरिक्त कोई सामान्य उपलब्ध नहीं है। यही कारण हैं कि इन कलमों को गिनते समय हम कलम-सामान्य को ग्यारहवाँ करके नहीं गिनते, क्योंकि गणना भी लिखने या पढ़ने जैसा एक व्यवहार ही है। अब प्रश्न उठता है कि यदि व्यवहार सामान्य से सम्बन्धित नहीं है तो फिर सामान्य का अलग अस्तित्त्व मानने की आवश्यकता क्या है ?

यह आवश्यकता ज्ञान के क्षेत्र में मालूम पड़ती है। जहाँ हमें स्पष्ट ज्ञान होता है वहाँ हम वस्तु को तत्समान अन्य वस्तुओं के प्रसंग में ही जान पाते हैं। यदि हर फूल का ज्ञान विशेष फूल के रूप में ही हो तो, सामान्य फूल के ज्ञान के अभाव में हम उसे फूल के रूप में जान ही नहीं सकेंगे। हमें 'क' तीन बार दिखाई पड़ा और तीनों बार हमने उसे 'क' के रूप में जाना। अर्थात् काल और स्थान के भेद होने पर भी "यह वही है" ऐसा ज्ञान इस बात की ओर इंगित करता है कि वस्तुएँ भिन्न होने पर भी अपने आप में सामान्य से युक्त हैं। अत: हम वस्तुओं को अन्य वस्तुओं से समान तथा अपने से भिन्न वस्तुओं से भिन्न करके ही जानते हैं।

चूँकि सामान्य पृथक् दिखाई नहीं पड़ता और बिना उसके ज्ञान संभव नहीं मालूम पड़ता इसलिए हमें सामान्य की पूरी छान-बीन करके उसका स्वरूप निर्धारित करना होगा। कुछ दार्शनिक कहते हैं कि अनेक में समान रूप से रहने वाला सामान्य एक और नित्य है। सामान्य एक है इसके बारे में विवाद उठाना अनुचित हैं क्योंकि इसको अनेकता में एकता स्थापित करने वाला माना गया है, अर्थात् यह विशेष से अभिन्न नहीं है। सामान्य के लक्षण से ही इसकी एकता सिद्ध है। नित्यता भी इसी तरह सिद्ध हो जाती है क्योंकि यदि सामान्य अनेक व्यक्तियों में एकता स्थापित करने वाला एक पदार्थ है तो जिन व्यक्तियों में यह रहता है उसका नाश हो जाने पर भी सामान्य का नाश नहीं होगा। यदि नत्थू मर जाता है तो उसमें रहने वाला मनुष्य-सामान्य नहीं मरता, वह सामान्य अन्य मनुष्यों में विद्यमान है। इसी तरह कोई नया मनुष्य होता है तो मनुष्य-सामान्य पैदा नहीं होता, वह पहले से ही है। अत: विशेषगत परिवर्तनों से सामान्य अप्रभावित रहता है। पर इस एक और नित्य सामान्य का अस्तित्त्व विशेषों से पृथक् रूप में जाना नहीं जा सकता। सामान्य और विशेष में पार्थक्य संभव नहीं हैं पर उनमें

भेद किया जा सकता है। अत: सामान्य का अस्तित्त्व है और यह सामान्य विशेषों से परे होकर भी उनमें पृथक् अवस्थित नहीं है। ज्ञान हमें सामान्ययुक्त विशेष का होता है, केवल विशेष या केवल सामान्य का ज्ञान संभव नहीं है।

कुछ दूसरे दार्शनिक यह मानते हैं कि जब हम सामान्यों से पृथक् किसी विशेष को जान ही नहीं सकते, हमारा ज्ञान सर्वदा सामान्य का होता है, तो फिर विशेष को सामान्य का एक रूप क्यों न मान लिया जाय ? ऐसे लोग सोचते हैं कि ज्ञान का कोई न कोई संवादी तथ्य अवश्य होगा और यह ज्ञान सामान्य का होता है अत: सामान्य अस्तित्त्ववान् है, विशेष उसका प्रतिबिम्ब है। ऐसे लोग व्यवहार की उचित व्याख्या करने के लिए विशेष को एकदम अस्वीकार तो कर नहीं सकते पर विशेष को सामान्य का विकृत रूप मान लेते हैं।

उपर्युक्त दोनों मत सामान्य के अस्तित्त्व को मानते हैं। भेद केवल इतना है कि पहले मत में सामान्य और विशेष का समान अस्तित्त्व है और दूसरे मत में सामान्य की तुलना में विशेष का अस्तित्त्व गौण हो जाता है। एक तीसरा मत सामान्य को गौण और विशेष को मुख्य मानता है। इसके अनुसार सामान्य अनेक में एकता स्थापित करने के लिए आवश्यक है। यदि यह एकता स्थापित कर भी दी जाय तो विशेष अस्तित्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि चाहे कोई भी दर्शन-प्रस्थान बनाया जाय पर उसे व्यावहारिक जगत् के अनुकूल होना ही होगा। यही सही है कि सामान्य के बिना विशेष का ज्ञान नहीं होता पर साथ ही यह बात भी उतनी ही सही है कि विशेष के बिना सामान्य भी नहीं ज्ञात हो सकता। अत: विशेष का अस्तित्त्व ज्ञान और व्यवहार दोनों दृष्टियों से मानना ही पड़ेगा। यदि ज्ञान के लिए सामान्य मान भी लिया जाय तो अस्तित्त्व की दृष्टि से उसका स्थान विशेष की तुलना में गौण होगा। ये दार्शनिक सामान्य को विशेषों की समानता के रूप में कल्पित करते हैं। 'क' 'ख' 'ग' में यत्किंचित्, समानता दिखाई देती है, अत: यदि उनमें एक सामान्य वर्तमान मान लिया जाय तो कोई आपत्ति नहीं।

सामान्य को विशेष के समान मानने वाले या सामान्य को मुख्य मानने वाले सामान्य की वास्तविक सत्ता मानते हैं और किसी न किसी प्रकार उसका प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं। पर सामान्य को गौण मानने वाले सामान्य को उस अर्थ में वास्तविक मानने के लिए तैयार नहीं हैं जिस अर्थ में वे विशेष को वास्तविक मानते हैं। हमारी भाषा यदि यथार्थ का परामर्श करती है तो यह यथार्थ विशेष ही हो सकता है। पर चूँकि ज्ञान की तरह भाषा भी सामान्य के बिना संभव नहीं है इसलिए सामान्य का एकदम खंडन तो किया नहीं जा सकता, हाँ, यथार्थ न मानकर केवल भाषीय विशेषता के रूप में उसका व्याख्यान किया जा सकता है।

य, र, ल, सभी लाल हैं। लाल होना कोई विशेष वस्तु नहीं है, वह य, र, ल सभी में सामान्य रूप से वर्तमान है। अत: कहा जाता है कि लाल होना सामान्य की श्रेणी में आता है। य, र, ल से अतिरिक्त लाल-सामान्य को मानने के लिए जो तर्क दिया जाता है उसका विश्लेषण करें तो मालूम होगा कि (१) य, र, ल के बारे में विधेयपद 'लाल' का प्रयोग हुआ है जो उनमें रहने वाली लाल होने की सामान्य विशेषता का परामर्श करता है। यह बात इस धारणा पर आधारित है कि प्रत्येक पद किसी अर्थ का परामर्श करते हैं, जो ठीक नहीं है। भाषा के प्रयोगमात्र से किसी पदार्थ की सत्ता मान लेना एक ऐसा साधारण भ्रम है जिसके कारण दर्शन के इतिहास में अनेक भ्रान्त मत और मान्यताएँ उत्पन्न हुई हैं। अत: केवल भाषा का प्रयोग सामान्य के अस्तित्त्व को सिद्ध करने में असमर्थ है। (२) य, र, ल जब भी हमारे सामने आते हैं, हम उन्हें लाल रूप में देखते हैं। केवल भाषा ही नहीं हमारा प्रत्यक्षज्ञान भी य, र, ल को समान रूप से लाल बतलाता है। य लाल है, र लाल है, ल लाल है। यहाँ य, र, ल के लाल भिन्न नहीं हैं

अन्यथा हमें उनके लाल रंगों में भेद दिखाई पड़ता, जैसा कि नहीं होता। हम एक लाल देखते हैं न कि तीन लाल। यह तर्क भी हमें सामान्य के अस्तित्त्व को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं करता। य, र और ल ये तीन पृथक् सत्ताएँ हैं। इसके साथ हमारी आँख का संयोग होने पर हमारा नेत्र पटल विशेष प्रकार से उत्तेजित होता है। हम य, र और ल को देखने से उत्पन्न उत्तेजना की स्मरण के द्वारा तुलना करते हैं। यदि ऐसा न हो तो सामान्य के अस्तित्त्व को मानने वाला भी य, र और ल के लाल दिखाई देने के तथ्य की व्याख्या नहीं कर सकेगा। पर यदि हमें सामान्य का बोध तुलना के माध्यम से होता है तो फिर क्यों न हम हर लाल को एक दूसरे लाल से भिन्न मानें। जैसे य, र से भिन्न है वैसे ही य का लाल रंग र के लाल रंग से भिन्न क्यों नहीं ? भिन्न होने पर भी य और र दोनों लाल इसलिए कहे जाते हैं कि तुलना से हमें उनके सादृश्य का ज्ञान होता है। अत: लाल कोई सामान्य पदार्थ नहीं अपितु सादृश्य से उत्पन्न होता है। मूलत: सामान्य सादृश्य-ग्रह पर आधारित है। भाषा के प्रयोग में हर लाल के लिए हम अलग-अलग शब्द का प्रयोग इसलिये नहीं कर सकते क्योंकि उस अवस्था में भाषा का व्यवहार कठिन हो जायगा। अत: सादृश्य के आधार पर समानता आरोपित करके भाषा में हम एक प्रकार की समानता के लिए एक शब्द का प्रयोग करेंगे पर हमारा अर्थ वास्तव में विशेषपरक ही होगा। इस दृष्टिकोण के अनुसार सामान्य भाषा की प्रकृति से उत्पन्न होता है। यह कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है जिसका हम या तो प्रत्यक्ष करते हों या भाषा के द्वारा परामर्श करते हों।

सामान्य की सादृश्यपरक व्याख्या की आलोचना विस्तार से हुई है। (१) यदि हम सामान्य को सादृश्य पर आधारित मानते हैं तो केवल वर्ग के बारे में ही विचार हो सकता है जिसके सदस्य सीमित हों क्योंकि उसी अवस्था में हम उनका सादृश्य ज्ञात कर सकते हैं। असीमित वर्ग के बारे में इसलिये विचार करना असंभव होगा कि हम उस वर्ग के सारे सदस्यों के सादृश्य का ज्ञान नहीं कर सकते। पर यह दोष सदृश्यपरक मत पर इसलिए लागू नहीं होगा कि हम किसी दी गई वस्तु के सदृश अन्य वस्तुओं के बारे में विचार कर सकते हैं, भले उन अन्य वस्तुओं का हमें ज्ञान नहीं है। किसी खास कलम को देख कर हम 'इस कलम जैसी अन्य कलम' के बारे में बिना किसी बाधा के बात कर सकते हैं भले ही इस खास कलम के अलावा किसी अन्य कलम से हमारा परिचय न हो। बालक इसी तरह कुछ वस्तुओं का ज्ञान करके उसके आधार पर उस जैसी अन्य वस्तुओं के बारे में सोचते हैं। सादृश्य के लिए आवश्यक नहीं कि यह किन्हीं दो ज्ञात वस्तुओं में ढूंढ़ा जाय। किसी एक ज्ञात वस्तु की विशेषताओं के ज्ञान के आधार पर हम उन विशेषताओं को अज्ञात वस्तु पर आरोपित करके भी सोच सकते हैं। (२) सादृश्य-परक व्याख्या का दूसरा दोष सादृश्य और तादात्म्य पर आधारित है। य और र में सादृश्य है, अत: उनमें कोई समान तत्त्व होना चाहिए। मान लीजिए कि यह समान तत्त्व लाल है जिसके कारण य और र को सदृश कहा जाता है। हम दो वस्तुओं को सदृश तब तक नहीं जान सकते जब तक हम जिस माने में ये सदृश हैं उसको नहीं जान लेते। इसका अर्थ यह हुआ कि दो सदृश वस्तुओं में किसी समान तत्त्व की स्थिति होनी चाहिये नहीं तो सादृश्य संभव नहीं होगा। यह समान तत्त्व सभी सदृश वस्तुओं में एक होना चाहिए। यही एक समान तत्त्व वास्तविक सामान्य होगा। अत: सामान्य के बिना सादृश्य संभव नहीं है। पर यह आक्षेप सादृश्यपरक व्याख्या पर इसलिए लागू नहीं होता कि दो सदृश वस्तुओं में हम भूल कर भी तादात्म्य नहीं मानते। "जिस रामू को मैंने परसों देखा था, यह वही है" इस वाक्य में परसों दिखाई देने वाले तथा वर्तमान रामू में तादात्म्य है पर सादृश्य नहीं है। इसीतरह लाल के कारण य और र सदृश हैं पर य का लाल और र का लाल दोनों एक नहीं हैं अपितु दोनों बिल्कुल समान हैं। अत: जहाँ सादृश्य हो वहाँ बिना किसी समान तत्त्व के स्वीकार किए भी काम चल सकता है (३) तीसरा आक्षेप बहुत घिसा-पिटा और सर्वविदित है। इसके अनुसार सादृश्य भी एक सामान्य है। सारे सामान्यों की

व्याख्या सादृश्य के आधार पर की जा सकती है पर सादृश्य की व्याख्या सादृश्य के आधार पर नहीं हो सकती। सादृश्य एक है, इसके उदाहरण अनेक हो सकते हैं। य और र में सादृश्य है और ल तथा व में सादृश्य है। ये दोनों सादृश्य इसलिए समान हैं कि दोनों एक सादृश्य-सामान्य के उदाहरण है। यदि ऐसा न हो तो सादृश्यों की सिद्धि के लिए तीसरे सादृश्य को मानना होगा जिससे अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा। इसलिए यदि हमने सादृश्य को सामान्य मान लिया तो दूसरे सामान्य भी मान लिए जाने चाहिये। एच.एच. प्राइस ने इस आक्षेप के समाधान को कठिन बताया है।[1] पर ध्यान से देखा जाय तो यह आक्षेप य और ल और व के सादृश्यों को एक मानने पर आधारित है। यदि दो सादृश्य समान हों तभी उक्त आक्षेप सही होगा। पर समान का क्या अर्थ होगा ? यदि य, र, ल और व चारों लाल हों तो उनके सादृश्य को समान कहने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि एक ही लाल उन सब में वर्तमान है। हम इतना ही कह सकते हैं कि उनका रंग एक जैसा है। एक जैसा कहने से उनमें तादात्म्य नहीं सिद्ध होता। इसी प्रकार, यदि दो युग्म वस्तुओं में सादृश्य है तो इसका अर्थ इतना ही है कि ये वस्तुएँ एक जैसी हैं। इससे कदापि यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि उनका सादृश्य किसी सादृश्य-सामान्य का उदाहरण है।

उपर्युक्त मत नामवादियों का मत है। इसके अनुसार, बहुत लोग समझते हैं कि नामवाद सामान्य का निराकरण करता है। पर यह धारणा गलत है। सामान्य का निराकरण करके हम भाषा का प्रयोग नहीं कर सकते, न ही तर्कशास्त्र के नियमों का पालन कर सकते हैं। कहते हैं कि सामान्य का अस्तित्त्व है और वह एक विशेष अर्थ में है। उनके अनुसार नामवादी सामान्य को व्यर्थ मानते हैं। पर उन्होंने न तो उस अर्थ-विशेष की व्याख्या की है जिसमें वे सामान्य के अस्तित्त्व को मानना चाहते हैं और न ही ध्यान देने का कष्ट किया है कि नामवादी सामान्य को किस अर्थ में व्यर्थ कहते हैं ? मैं स्वयं नामवाद में विश्वास नहीं करता, पर नामवादियों के मत की गलत व्याख्या करने के प्रयत्नों का निराकरण करना बौद्धिक ईमानदारी के लिहाज से मैं आवश्यक समझता हूँ। नामवादी स्पष्ट बतलाता है कि सामान्य के निराकरण में उसका उद्देश्य केवल ऐसे सामान्य का निराकरण करना है जो तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से अस्तित्त्ववान् माने गए हैं। हमें न तो प्रत्यक्ष के सहारे और न ही किसी तर्क आदि अन्य साधनों से सामान्य के अस्तित्त्व का आभास मिलता है। वह सामान्य यदि कोई लोकातीत सत्ता हो तो हुआ करे पर हमारे व्यवहार में उसको माने बिना कोई फरक नहीं पड़ता। यह कहाँ तक उचित है कि नाना वस्तुओं से भरी पड़ी इस दुनियाँ में सामान्यों को भी लाकर भीड़ बढ़ाई जाय ? अत: क्योंकि व्यवहार में सामान्य आता नहीं इसलिए व्यावहारिक जगत् में परोक्ष सामान्य को घुसाना व्यर्थ है। अब रह गई ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र की बात। उस क्षेत्र में हमें सामान्य की आवश्यकता प्रतीत होती है। यहाँ का सामान्य नामवादियों के अनुसार अस्तित्त्ववान् नहीं अपितु एक सम्बन्ध-रूप है जिसे वे सादृश्य कहते हैं। वे दो वस्तुओं में सादृश्य संभव मानते हैं और समानता की व्याख्या, जैसा कि हमने ऊपर देखा है, इसी के सहारे करते हैं। समानता और तादात्म्य में भेद मानकर वे सामान्य को समानता की कोटि में रखना चाहते हैं। अत: नामवादी सामान्य को अस्वीकार नहीं करते अपितु उसकी सादृश्यमूलक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। सामान्य के अस्तित्त्व को यथार्थ मानने वाले लोग ही इस बात पर जोर देते रहे हैं कि सामान्य को उसी अर्थ में अस्तित्त्ववान् माना जाय जिस अर्थ में हम दुनियाँ की वस्तुओं को अस्तित्त्ववान् मानते हैं। नामवादी सामान्य और विशेष के अस्तित्त्व में भेद मानने पर ही जोर देते आये हैं। चूँकि सामान्य सादृश्य-सम्बन्ध के रूप में व्याख्यात है इसलिए सामान्य को सम्बन्ध के स्तर पर ही माना जाय। अब यदि कोई कहे कि चूँकि क ख से बड़ा है, या र य का पिता है इसलिए 'बड़ा' या 'पिता' का उसी प्रकार का अस्तित्त्व होना चाहिये जिस प्रकार क, ख, र और य का है तो यह बड़ी नादानी होगी। 'बड़ा होना' कोई ऐसी चीज नहीं है जो कि क और ख को पकड़कर मिलाती है या पिता होना कोई

वस्तु नहीं है जो र और य को जोड़ती है। क और ख के होने पर तो बड़ा होने का सम्बन्ध संभव है। कोई भी सम्बन्ध सम्बन्धित वस्तुओं से अलग रह ही नहीं सकता। सादृश्यमूलक सामान्य की भी यही स्थिति है, अत: सादृश्यमूलक सामान्य को मानने वाले नामवादियों के बारे में यह कहना कि वे सामान्य को व्यर्थ मानते हैं, उनके साथ अन्याय करना होगा। सच पूछा जाय तो सामान्य के अस्तित्त्व को मानने वालों के पास ही एक सामान्य - चश्मा है जिससे वे सब कुछ देखना चाहते हैं। नामवादी के पास अनेक चश्में ही है जो एक दूसरे के सदृश हैं, एक नहीं, और वह सुविधा के अनुसार उनका देखने के लिये उपयोग करता है।

पर नामवादी सामान्य के मामले में निर्दोष भी नहीं कहे जा सकते। 'मेरे टेबुल पर रखी सारी पुस्तकें लाल हैं' इस वाक्य का नामवादियों के अनुसार विश्लेषण होगा : क मेरी टेबुल पर रखी पुस्तक है और लाल है, ख ... लाल है, ग .... लाल है। इसलिए सारी पुस्तकों को लाल कहने का अर्थ होगा कि अलग-अलग पुस्तकें लाल हैं। 'लाल' का अर्थ जानने के लिए हमें लाल के विशेष उदाहरणों की ओर ही इशारा करना होगा। विधेय पद का अर्थ उस पद के विस्तार से अभिन्न है। इसका अर्थ यह हुआ कि विधेय पद भी एक तरह की संग्राहक व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ हैं।[3] यदि कोई ऐसा विधेय पद हो जो किसी यथार्थ वस्तु का परामर्श न करता हो तो वह वाक्य जिसमें उक्त विधेय पद आया हुआ है सत्य या असत्य नहीं होगा अपितु वैसा वाक्य निरर्थक होगा। 'क बन्ध्यापुत्र है' इस वाक्य में 'बन्ध्यापुत्र' किसी यथार्थ वस्तु का परामर्श नहीं करता, अत: यह वाक्य सत्य या असत्य नहीं है। इसलिए इसे निरर्थक मानना पड़ेगा। इस प्रकार असत् वस्तुओं का सादृश्य उपलब्ध न होने के कारण नामवादी उन उदाहरणों में सादृश्यमूलक सामान्य को नहीं मानते। इस मत को यदि हम अर्थबोध के उस मत से मिला दें जिसके अनुसार अर्थ सत्यता और असत्यता पर निर्भर करता है तो परिणामत: हमें कहना पड़ेगा कि 'क बन्ध्यापुत्र है' जैसे वाक्य निरर्थक हैं। अर्थबोध को सत्यता से अलग किया जा सकता है या नहीं यह प्रश्न यहाँ अप्रस्तुत है पर 'बन्ध्यापुत्र' जैसे शब्दों में सामान्य भासित होता है या नहीं इस प्रश्न पर संक्षिप्त विचार करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

मान लीजिए कि मैंने किसी ऐसे प्राणी के बारे में कहानी पढ़ी जिसका शरीर मनुष्य का है और मुँह सिंह का। दूसरी बार उसी प्राणी के बारे में मुझे एक दूसरी कहानी पढ़ने को मिली। इन दोनों में मैंने समानता पाई। इसके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि "पहली कहानी का नायक क नरसिंह है" और "दूसरी कहानी का खलनायक ख नरसिंह है।" यहाँ पर 'नरसिंह' किसका परामर्श करता है ? क्या यह अवास्तविक क या ख का परामर्श करेगा ? यदि हम अवास्तविक पदार्थों का परामर्श स्वीकार कर लें तब तो नामवादियों का तत्त्वमीमांसा के प्रति सारा विद्रोह व्यर्थ हो जायेगा। यदि हम कहें कि उन उदाहरणों में 'नरसिंह' किसी का परामर्श नहीं करता, जैसा कि बहुत से नामवादी मानते हैं, तो उनके अनुसार पहली और दूसरी कहानियों के नरसिहों में सादृश्य की स्थापना किस आधार पर होगी ? यदि हम कहें कि पहले नरसिंह और दूसरे नरसिंह की धारणाओं में सादृश्य होगा तो फिर सामान्य को धारणात्मक मानने में क्या आपत्ति है? इस दृष्टि से जॉन लॉक का कथन सही होगा कि, सामान्य चिन्तन के लिए सामान्य धारणाएँ पर्याप्त हैं। बिना धारणा-जैसा कोई आधार माने हम उक्त उदाहरण में दोनों नरसिंहों में सदृश्य स्थापित नहीं कर सकते और न ही उक्त सादृश्य का निराकरण कर सकते हैं, क्योंकि हमें दोनों नरसिंहों में सादृश्य का निश्चित अनुभव होता है। नरसिंह जैसी अस्तित्त्वहीन वस्तुओं के बारे में नामवादी कह सकते हैं कि हमें नर और सिंह का अनुभव होता है और वहाँ नर-सादृश्य और सिंह-सादृश्य को एकत्र कर दिया गया है। अत: 'नरसिंह' में हम नर और सिंह का परामर्श अलग-अलग करते ही हैं पर दोनों का एक स्थान पर परामर्श नहीं होता। इस उत्तर से भी कोई लाभ नहीं दिखाई देता। यहाँ प्रश्न दो नरसिहों में सादृश्य का है न कि नरों और सिंहों में सादृश्य का। विश्लेषण-वाक्य के अवयवों का

परामर्श ढूँढ़ना अलग बात है और विश्लेषित-वाक्य का परामर्श करना दूसरी बात। विश्लेषण-वाक्य और विश्लेषित-वाक्य समानार्थक होते हैं या नहीं यह प्रश्न विवादास्पद है। अब अधिकांश दार्शनिक दोनों की समानार्थकता में सन्देह करने लगे हैं।

'नरसिंह' जैसे शब्दों के प्रयोग-स्थल पर हम सादृश्य का ही खंडन करें और कहें कि "क नरसिंह है" और "ख नरसिंह है" इनमें 'नरसिंह' का प्रयोग उस प्रकार नहीं हुआ है जिस प्रकार हम 'लाल' जैसे विधेय पदों का प्रयोग करते हैं तो निष्कर्ष यह निकलेगा कि वहाँ हम केवल भाषीय रूप के सादृश्य को ही आधार मानकर एक शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। पर शब्दमात्र के सादृश्य को आधार मानने पर भी यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि उन एक-जैसे दो 'नरसिंह' शब्दों का प्रयोग किया गया ? जिस तरह हम श्रोता की दृष्टि से अर्थबोध कराने की प्रक्रिया का भी अध्ययन करते हैं उसी प्रकार वक्ता की दृष्टि से अर्थबोध कराने की प्रक्रिया का भी अध्ययन कर सकते हैं। अत: हमारा यह प्रश्न उचित ही है कि किस कारण से वक्ता 'नरसिंह' शब्द का दो बार प्रयोग कर रहा है। यह प्रयोग यादृच्छिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि हम जानते हैं कि वक्ता किसी मैंटल हॉस्पिटल का रोगी नहीं है। इस प्रश्न का सही उत्तर यही होगा कि उस प्रयोग में वक्ता का तात्पर्य अर्थबोध कराने का है न कि वस्तु-परामर्श का। अर्थबोध परामर्श के द्वारा भी हो सकता है और परामर्श के बिना भी। किस प्रकरण में कौन सी पद्धति वक्ता ने अपनायी है, यह ज्ञान होना अर्थबोध के लिए नितान्त आवश्यक है। भाषा सर्वदा तात्पर्यात्मक होती है।

अत: मैं समझता हूँ कि 'नरसिंह' जैसे परामर्शहीन शब्दों का प्रयोग सार्थक है। उनका समान अर्थ वस्तुओं के सादृश्य पर निर्भर न होकर धारणा पर निर्भर होता है। धारणाओं को मानने का तात्पर्य यह होगा कि एक धारणा के अनेक उदाहरण हो सकते हैं। 'नरसिंह' या 'बन्ध्यापुत्र' जैसे शब्दों का प्रयोग इसके उदाहरण हैं। इसी प्रकार 'लाल' जैसे परामर्शक शब्दों का प्रयोग भी लाल की धारणा के आधार पर माना जा सकता है। शब्द परामर्श तो विशेष का ही करेगा क्योंकि सामान्य का परामर्श सम्भव नहीं है, जैसे 'लाल' क, ख, ग ...... का परामर्श करता है। जहाँ कोई परामर्शयोग्य नहीं है (जैसे 'नरसिंह') वहाँ शुद्ध धारणा है, जहाँ परामर्शयोग्य विशेष है वहाँ परामर्शानुमोदित धारणा की स्थिति मानी जा सकती है। सामान्य धारणात्मक होने के कारण परामर्श का विषय तो नहीं है पर यह हमारे ज्ञान में (चाहे वह अर्थबोध-रूप हो चाहे प्रत्यक्ष आदि हो) सर्वदा सहायक होता है। अत: हम कह सकते हैं कि सामान्य धारणात्मक है और विशेष यथार्थ।

इन दोनों में परस्पर सम्बन्ध के बारे में दो बातें कहना और आवश्यक है। साधारणत: धारणात्मक सामान्य विशेषों के अनुभव पर आधारित होता है। नामवादियों का सादृश्य धारणा के निर्माण का कारण बन सकता है और होता भी है। पर कुछ धारणाएँ विशेषों से स्वतंत्र होती हैं जो मन के व्यापार से उत्पन्न होती हैं-जैसे नरसिंह या बन्ध्यापुत्र की धारणाएँ। विशेष किसी धारणा का प्रमापक उदाहरण हो सकता है। यदि वास्तव में कोई लाल क है तो लाल की धारणा प्रमाणित होती है, अर्थात् लाल सामान्य का एक अस्तित्त्ववान् उदाहरण विशेष के रूप में वर्तमान है। यदि वास्तव में कोई नरसिंह क नहीं तो नरसिंह-सामान्य प्रमाणित नहीं होता, अर्थात् उक्त सामान्य का कोई विशेष उदाहरण के रूप में वर्तमान नहीं है। पर धारणा की अप्रामाणिकता का यह अर्थ नहीं है कि वह धारणा ही संभव नहीं है, अपितु इसका इतना ही अर्थ है कि ऐसी धारणा बिना विशेष के भी अर्थबोध आदि में सहायक होती है। अत: सामान्य धारणा-व्यापार के रूप में है और विशेष उस व्यापार का विषय है, पर विषय के बिना भी व्यापार संभव है।

***

संदर्भ सूची

१. *H.H. Price. Thinking and Representation, पृ. ३१।*

२. *देखिए - A. J. Ayer का Names and Description शीर्षक लेख उनकी नई पुस्तक The concept of a person, पृ. १३० में।*

विशेषण और विशेष्य

विशेषण का अधिक प्रचलित रूप वह है जिसमें विशेष्य और विशेषण, बिना किसी अन्य विभक्ति चिन्हों या अव्यय के, एक साथ प्रयुक्त होते हैं। 'लाल कलम', 'प्यारी माँ', 'गाढ़ा रंग', 'सच्चा प्रेम,' 'झूठा पैगम्बर' आदि ऐसे उदाहरण हैं जहाँ विशेषण-विशेष्य अव्यवहित हैं। कभी-कभी 'मकान लाल है', रंग गाढ़ा है', 'उसका प्रेम सच्चा है' जैसे प्रयोग भी मिलते हैं। इन प्रयोगों में विशेषण विशेष्य से पृथक् होकर प्रयुक्त हुआ है। मैं जहाँ तक समझता हूँ, विशेषण के ये दो प्रकार के प्रयोग तत्त्वत: भिन्न नहीं हैं, क्योंकि अन्त में दोनों का एक ही निष्कर्ष मिलता है। कैसे ये प्रयोग भिन्न होने पर भी एक ही हैं, इसका विचार हम आगे करेंगे। इन दो प्रयोगों के अलावा विशेषण कभी-कभी विशेष्य के साथ किसी विभक्ति चिन्ह अथवा अव्यय के द्वारा संयुक्त होता है। उदाहरण के लिए 'राम का पिता', 'जीवों पर दया', आदि प्रयोगों में विशेष अपने आप विशेष्य के साथ नहीं संपृक्त है अपितु वह 'का' 'पर' आदि के द्वारा है। हम यहाँ प्रथम प्रकार के ही विशेषण-प्रयोगों पर विचर करेंगे।

भाषा के प्रयोगों को एक बालक कैसे सीखता है, इस तथ्य को हम सामने रख कर देखें तो मालूम होगा कि पहले बालक दिक् में दी हुई प्रमुख वस्तुओं के नाम सीखता है। नाम का ज्ञान बड़ों के प्रयोगों से होता है। बालक बार-बार देखता है कि उसके माँ, बाप, भाई, बहन सभी 'लाल कलम', 'लाल चादर', 'लाल टेबुल', 'लाल गेंद' का प्रयोग करते हैं। इन सभी प्रयोगों में 'लाल' समान है, दूसरे शब्द भिन्न-भिन्न हैं। अनुभव में कलम, चादर, टेबुल, गेंद सभी भिन्न हैं परन्तु इन सब में एक बात सामान्य है। बालक भाषा में समान रूप से पाए गए शब्द ('लाल') को अनुभव में प्राप्त समान रंग (लाल रंग) के साथ जोड़ देता है और इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि 'लाल' का अर्थ एक रंग-विशेष्य है जो कलम, चादर, टेबुल, गेंद सब में वर्तमान है। इस प्रकार के अनुभवों से बालक के शब्दकोश में नए-नए शब्द आते हैं, उनका उसको अर्थज्ञान होता है और वह उन शब्दों का प्रयोग करता है। समय बीतने पर वह 'लाल' के उक्त अर्थज्ञान-प्रक्रिया को तो भूल जाता है और समझने लगता है कि जैसे 'गेंद', 'चादर' आदि शब्द वस्तु के वाचक हैं वैसे ही 'लाल' भी वस्तु का वाचक होगा जो अपने आप में बिना अन्य शब्द के प्रयुक्त हो सकेगा।

यहाँ प्रश्न होता है कि क्या बालक वस्तु और वस्तु के गुणों को एक साथ जानता है या पहले उसे वस्तु का ज्ञान होता है और फिर वस्तु के गुणों का ज्ञान बाद में होता है ? एक लाल कलम पिता की होगी, हरी कलम माता की भी, और भी कलमें अलग-अलग रंग की घर में होंगी। बालक उन सभी कलमों को कलम समझता है। यदि उसे आरम्भ में किसी खास रंग से युक्त कलम का ही ज्ञान होता तो वह दूसरे रंगों की कलमों को कलम न समझता। चूँकि तथ्य इसके विपरीत है, रंग भेद होने पर भी वह कलम को पहचानता है, इससे यही सिद्ध होता है कि गुण सर्वदा वस्तु के साथ ही ज्ञात नहीं होता। अत: विशेषण के बारे में भी कहा जा सकता है कि उसके प्रयोग का ज्ञान विशेष्य से अलग हो सकता है।

परन्तु ऊपर कही गई बात से हमारा निश्चय कुछ बदलता नहीं। हमें दो प्रश्नों में भेद करना होगा:

बालक वस्तु के बारे में कैसे जानता है ? और बालक गुणों के बारे में कैसे जानता है ? जहाँ तक वस्तु के ज्ञान का सम्बन्ध है वह तो ऊपर कहे गये प्रकार से हो सकता है। परन्तु गुण के ज्ञान की प्रक्रिया अलग है। बालक कभी रंगों को उन वस्तुओं से अलग करके नहीं जानता जो रंगवाली हैं। वस्तु को उसके रंग-ज्ञान के पहले से ही वह जानता हो अथवा रंग-ज्ञान के साथ ही वस्तु का भी ज्ञान उसे होता हो, इससे कोई अन्तर नहीं आता। परन्तु जब वह लाल रंग को जानने चलता है तो उसे यही मालूम होता है कि लाल रंग किसी वस्तु का रंग है। यही मैं कहना चाहता हूँ और अब मन्तव्य स्पष्ट है : गुण वस्तु में ही ज्ञात होता है, वस्तु गुण के साथ ज्ञात हो या न हो।

वस्तु के बारे में, बिना उसके गुणों के भी, बातचीत की जा सकती है, परन्तु जब गुणों की चर्चा का प्रसंग आता है तो उस वस्तु का निर्देश आवश्यक हो जाता है जिसमें गुण रहते हैं। हम चाहें तो केवल 'कलम' का प्रयोग कर सकते हैं परन्तु हम इसके रंग को बतलाना चाहेंगे तो केवल 'लाल' या 'नीला' से काम न चलेगा। हमें 'लाल कमल' या 'नीली खिड़की' कहना होगा।

कभी-कभी विशेषण का प्रयोग गुणवाचक शब्द के रूप में न होकर वस्तुवाचक शब्द के रूप में होता है। 'लाल एक रंग है', 'थोड़ा लाल और देना' ऐसे उदाहरण हैं जिनमें 'लाल का प्रयोग स्वतंत्र रूप में हुआ है, किसी अन्य शब्द के साथ नहीं। परन्तु यह स्पष्ट है कि 'लाल' का प्रयोग यहाँ उसके मूल अर्थ में न होकर लाक्षणिक अर्थ में हुआ है। यहाँ 'लाल' का भाववाचक संज्ञा के रूप में प्रयोग है और उसका सम्बन्ध 'रंग' शब्द से है। 'रंग' संज्ञा शब्द है, उसी के साथ लाल का सम्बन्ध है। यह वैसा ही प्रयोग है जैसा वस्तु वाचक शब्द का विशेषण के रूप में प्रयोग करना। 'छात्र नेता' शब्द में 'छात्र', जो सामान्यत: वस्तुवाचक शब्द है, 'नेता' के गुण-धर्मों का उद्घाटन करने के लिए यहाँ प्रयुक्त हुआ है, अत: उसका अर्थ पढ़ाने वाला नेता है, न कि छात्र और नेता दो संज्ञा शब्द हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि विशेषण के बिना किसी वस्तुवाचक विशेष्य-शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता। एक ही शब्द विशेषण या विशेष्य के रूप में आ सकता है, यह तो केवल भाषा की अस्थिरता का सूचक तथ्य है; परन्तु अर्थविज्ञान में प्रत्येक प्रयोग का निश्चित अर्थ होता है।

विशेषण सर्वदा विशेष्य के साथ प्रयुक्त होता है, इस सिद्धान्त के पक्ष में एक और सबल प्रमाण है। विशेषण सर्वदा विशेष्य का अनुगमन करता है। संस्कृत जैसी रूप-प्रधान भाषाओं में यह बात बिलकुल स्पष्ट है। उसमें विशेषण के वे ही लिंग और वचन होते हैं जो विशेष्य के होते हैं। परन्तु उन भाषाओं में भी, जहाँ लिंग और वचन का निर्देश करने के लिए बहुधा विभक्तियों का प्रयोग नहीं होता, जैसे अंग्रेजी में, विशेषण का यह रूप वर्तमान है। सामान्य पद के साथ यदि विशेषण का प्रयोग हुआ है तो विशेषण भी सामान्य पद ही होगा। इस प्रकार जो संश्लिष्ट पद (विशेषण-विशेष्य) प्राप्त होता है वह तभी सत्य होता है जब दोनों संश्लिष्ट पद मिलकर वाच्य के बारे में सत्य हों। समूहात्मक पद के साथ प्रयुक्त विश्लेषण (उदाहरणत: 'लाल पानी') भी समूहात्मक ही होता है। इसी तरह जब विशेष्य एकात्मक अथवा सामान्यात्मक समूह पद हो तो विशेषण भी एकात्मक या सामान्यात्मक ही होगा। विशेषण पद में ऐसी कोई विशेषता नहीं होती जिससे वह किसी विशेष प्रयोग के लिए ही उपयुक्त हो। उदाहरण के लिए 'लाल' का प्रयोग सामान्य पद के रूप में, एकात्मक पद के रूप में, अथवा समूहात्मक पद के रूप में हो सकता है।

कुछ दार्शनिकों का कहना है कि कुछ ऐसे विशेषण पद हैं जो स्वतंत्र पद के रूप में प्रयुक्त किए जा सकते हैं। 'स्वतंत्र पद' से उनका तात्पर्य ऐसे पद से है जो विषय को अपने आप परिछिन्न करते हैं। इसके विपरीत अन्य विशेषण पद किसी पदान्तर के साथ ही प्रयुक्त हो सकते हैं। पहले प्रकार के विशेषण ''स्वतंत्र विशेषण पद'' तथा दूसरे प्रकार के विशेषण ''पदान्तरापेक्षी विशेषण पद'' कहे जाते

हैं। अब तक हमने जान-बूझकर स्वतंत्र विशेषण पदों के ही उदाहरण दिये हैं। 'निरा बालक', 'सच्चा कलाकार', 'होनहार दार्शनिक' जैसे उदाहरण पदान्तरापेक्षी विशेषण पदों में हैं। 'निरा', 'सच्चा' या होनहार किसी विशेष्य से अलग होकर बोधक नहीं होते। 'निरा' 'लाल' की तरह अनुभव में आने वाली वस्तु का निर्देश नहीं करता। लाल कलम लाल भी है और कलम भी है, परन्तु सच्चा कलाकार कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो सच्चा भी है और कलाकार भी, वह सच्चे रूप में कलाकार है।

कुछ ऐसे भी विशेषण हैं जो स्वतंत्र और पदान्तरापेक्षी इन दोनों रूपों में प्रयुक्त होते हैं। 'सच्चा कलाकार' में 'सच्चा' पदान्तरापेक्षी विशेषण पद के रूप में प्रयुक्त हुआ है परन्तु 'सच्चा बालक' में वह स्वतंत्र विशेषण पद है। सच्चा कलाकार ऐसा आदमी नहीं है जो सच्चा भी है और कलाकार भी है। परन्तु सच्चा बालक ऐसा प्राणी है जो सच्चा भी है और बालक भी है। 'साधारण विद्वान्' में 'साधारण' दोनों रूपों में प्रयुक्त हुआ कहा जा सकता है। स्वतंत्र रूप में 'साधारण' का प्रयोग होने पर हम समझते हैं कि कोई विद्वान (जिसकी विद्वत्ता के बारे में तो सन्देह नहीं है) भी है और साधारण (वेश, रहन-सहन आदि की दृष्टि से) भी। पदान्तरापेक्षी प्रयोग में 'साधारण विद्वान्' का अर्थ होगा "निम्नस्तर की विद्वत्ता वाला व्यक्ति"। "वह साधारण भी है और विद्वान भी" यह अर्थ पदान्तरापेक्षी प्रयोग से नहीं होता। पदान्तरापेक्षी विशेषण होने पर तो 'साधारण विद्वान्' का अर्थ होगा "वह व्यक्ति जो साधारण रूप में विद्वान् है;" इस अर्थ में व्यक्ति की विद्वत्ता में सन्देह हो सकता है। इसका स्पष्ट निष्कर्ष यह है कि पदान्तरापेक्षी विशेषणों को विशेष्य से अलग नहीं किया जा सकता, परन्तु स्वतंत्र पद के रूप में विशेषण और विशेष्य को अलग किया जा सकता है और अलग-अलग प्रयोग भी हो सकता है।

विशेषण के इन दो भेदों का मूल कारण है पद की कल्पना। पद उसको कहा गया है जो स्वयं में वस्तु का परिच्छेदक हो। पदान्तरापेक्षी विशेषण पद अपने आप में किसी वस्तु के परिच्छेदक नहीं होते जबकि स्वतंत्र विशेषण पद होते हैं। यह बात विचारणीय है। 'विद्वान साधारण है' इस प्रयोग में 'साधारण' (निम्न स्तर का) वही अर्थ है जो 'साधारण विद्वान्' इस प्रयोग में है। पहले प्रयोग में 'साधारण' स्वतंत्र विधेय रूप में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार के उदाहरणों के बारे में कहा जाता है कि वहाँ पर यद्यपि विशेष्य का प्रयोग नहीं हुआ है फिर भी विशेष्य का अध्याहार किया जा सकता है। यह माना गया है कि ऐसे प्रयोगों में विशेषण अपने अपेक्षित पद पर आश्रित रहता ही है। 'सम्मान झूठा है' इस प्रयोग में 'झूठा' का अर्थ है "वस्तु झूठा सम्मान है।" अब दूसरा उदाहरण लें : 'घर लाल है'। यहाँ लाल स्वतंत्र पद माना गया है। 'सम्मान झूठा है' और 'घर लाल है' इन दोनों प्रयोगों में विशेषण की दृष्टि से क्या भेद है ? भाषा में दोनों प्रकार के प्रयोग चलते हैं। किसी प्रायोगिक विशेषता के आधार पर तो हम दोनों प्रकार के उदाहरणों में भेद नहीं कर सकते। जिस कारण से हम 'सम्मान झूठा है' का अर्थ करते हैं 'वस्तु झूठा सम्मान है', वही कारण 'घर लाल है' पर भी लागू होता है। तो फिर हम 'घर लाल है' का भी अर्थ कर सकते हैं कि 'वस्तु लाल घर है'। यदि हम आग्रह करें कि 'घर लाल है' में 'लाल' स्वतंत्र विशेषण पद के रूप में प्रयुक्त हुआ विधेय पद है तब तो 'लाल' विशेषण ही नहीं रह जायेगा, यह रंग विशेष की संज्ञा का रूप ले लेगा और तब संभवत: अर्थ होगा 'घर पर लाल रंग लगा है।' जब एक ही शब्द संज्ञा और विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है तभी स्वतंत्र और पदान्तरापेक्षी विशेषणों का विवाद उठता है। बहुधा जिसे हम विशेषण समझ रहे हैं वह संज्ञा के रूप में प्रयुक्त होता है और जिसे संज्ञा समझते हैं वह विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है। जो शब्द केवल विशेषण के रूप में ही प्रयुक्त हो सकता है (जैसे 'निरा') उसके बारे में कोई विवाद ही नहीं हो सकता। कोई शब्द संज्ञा है या विशेषण इसका पता तब अच्छी तरह चलता है जब हम उस शब्द को विधेय बनाकर देखें। 'घर लाल है' और 'सम्मान झूठा है' ये दो भिन्न

प्रयोग हैं; 'लाल' संज्ञा के रूप में तथा 'झूठा' विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। यदि लाल को विशेषण ही मानें तो 'सम्मान झूठा है' की तरह 'घर लाल है' का अर्थ 'वस्तु लाल घर है' यह मानना पड़ेगा।

स्वतंत्र विशेषण पदों पर प्रकरण की दृष्टि से भी विचार कर लेना आवश्यक है। 'लाल घर गिरा दिया गया' इस वाक्य में 'लाल' और 'घर' ये दो शब्द आए हैं। मान लीजिए कि यहाँ 'लाल' वस्तु का स्वतंत्र परिच्छेदक होने के नाते स्वतंत्र विशेषण पद के रूप में प्रयुक्त हुआ है। पर प्रश्न है कि 'गिरा दिया गया' इस क्रिया पद का अन्वय कहाँ होता है ? क्या 'लाल' और 'घर' में ? (जबकि 'लाल' और 'घर' स्वतंत्र पद हैं)। इस पक्ष में फिर तो वाक्य का यही अर्थ होगा कि 'लाल गिरा दिया गया' और 'घर गिरा दिया गया।' परन्तु यह अर्थ सामान्य प्रयोग के विपरीत है। लाल का गिरना असंभव है, ऐसा कोई भी नहीं समझता और इस अर्थ में कभी प्रयोग भी नहीं होता। जो अर्थ उस वाक्य से समझा जाता है वह है कि 'वह घर, जो लाल है, गिरा दिया गया।' जो कहा गया है कि वह सही तर्कवाक्य है न कि सही और तर्कवाक्य दोनों कहा गया है, जैसे कि 'झूठा सम्मान सम्मान नहीं है' का अर्थ यह नहीं कि 'झूठा सम्मान नहीं है और सम्मान सम्मान नहीं है', अपितु 'झूठा सम्मान' को एक पद मानकर उसके बारे में सम्मान का निषेध किया जाता है।

'घर लाल नहीं है' इस वाक्य में 'घर' के बारे में 'लाल' के प्रयोग का निषेध किया जाता है। कहा जा सकता है कि चूँकि यहाँ केवल विशेषण का निषेध किया गया है विशेष्य का नहीं, अत: विशेषण विशेष्य से अलग प्रयुक्त हो सकता है। परन्तु यदि 'लाल' को इस वाक्य में हम विशेषण मानें तो कहना ही होगा कि यह ('लाल') किसी का विशेषण है अन्यथा 'लाल' विशेषण न होकर संज्ञा हो जायेगा। अत: विशेषण-प्रयोग में 'लाल' का अर्थ है 'लाल घर' और निषेध 'लाल' के साथ नहीं 'लाल घर' के साथ अन्वित होता है। यदि घर लाल नहीं है तो वह घर 'लाल घर' नहीं कहला सकता। चूँकि हम 'लाल' और 'घर' को अलग-अलग नहीं मान कर एक इकाई के रूप में मानते हैं इसलिए हमारे ऊपर शब्दों के साथ खिलवाड़ करने का आरोप नहीं लगाया जा सकता। घर घर हो सकता है पर जरूरी नहीं कि वह लाल घर ही हो। 'लाल घर' का प्रयोग घर के लिए नहीं किया जा सकता। 'घर' और 'लाल घर' दो भिन्न शब्द हैं; एक के लिए दूसरे का प्रयोग अनुचित है।

कल्पना कीजिए कि दो व्यक्ति बैठे हुए हैं और एक औरत उनके सामने से गुजरती है। उन दो व्यक्तियों में से एक उस औरत की तरफ इशारा करके कहता है "वह होने वाली माँ है" दूसरा कहता है "नहीं, वह होने वाली नहीं है।" यहाँ दूसरे व्यक्ति के निषेध का अन्वय 'होने वाली माँ' में होता है न कि सिर्फ 'होने वाली' में। फिर भी 'होने वाली माँ' और 'लाल घर' में सूक्ष्म अन्तर दिखाई देता है। पहले उदाहरण में यदि 'होने वाली' का निषेध मानें तो मातृत्व अपने आप निषिद्ध हो जायेगा। 'होने वाली माँ' का अर्थ ही होता है 'वह औरत जो अभी माँ नहीं है पर माँ होने जा रही है।' इस उदाहरण में 'माँ' का वाच्य भूत वस्तु नहीं जबकि अन्यथा 'माँ' पद का वाच्य भूत वस्तु होता है। अत: 'होने वाली माँ' और 'माँ' ये दो भिन्न शब्द हैं। एक दूसरे के लिए प्रयोग नहीं हो सकता। 'लाल' ऐसा शब्द नहीं है। यदि घर के सम्बन्ध में लाल का निषेध किया भी जाए तो भी पहले उदाहरण में आए 'माँ' की तरह 'घर' अपने आप निषिद्ध नहीं हो जायेगा। परन्तु क्या यह विशेषता इसलिए नहीं है कि पहले उदाहरण में 'माँ' का वाच्य भावी वस्तु है और दूसरे उदाहरण में 'लाल' का अर्थ भूत वस्तु है ? एक औरत होने वाली माँ हो सकती है, सिर्फ माँ भी हो सकती है, और माँ नहीं भी हो सकती। ये तीन अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं और इनके लिए भिन्न-भिन्न शब्द चाहिए। होने वाली माँ वर्तमान में माँ नहीं है, परन्तु 'माँ' का प्रयोग भावी मातृत्व को लक्ष्य करके लाक्षणिक अर्थ में किया गया है। अत: यद्यपि 'माँ' दोनों प्रयोगों में ('होने वाली माँ' और माँ) समान है परन्तु दोनों का अर्थ-भेद स्पष्ट है। अत: जब कोई होने वाले मातृत्व का

निषेध करता है तो उसका मन्तव्य है भविष्य में आने वाले मातृत्व का निषेध करना। मोहन ईंटों के ढेर की ओर इशारा करता हुआ अपने मित्र सोहन से कहता है : 'लाल घर बनने वाला है', सोहन उत्तर देता है "नहीं, यह लाल नहीं हो सकता है,या उक्त उदाहरण में प्रयुक्त 'माँ' की तरह इस उदाहरण का 'घर' भी भावी वस्तु का निर्देश करता है।" घर लाल भी हो सकता है, या केवल घर भी हो सकता है (जिसके रंग के बारे में अभी निश्चय नहीं हो सकता हैं)। सोहन का निषेध 'लाल घर' के लिए भी हो सकता है या केवल 'घर' के लिए भी हो सकता है। यदि सोहन का मन्तव्य हो कि ईंटें घर बनाने के लिए नहीं रखी गई हैं, तो उसका निषेध 'लाल घर' को व्याप्त करेगा न कि केवल घर को। यह उदाहरण वास्तव में 'होने वाली माँ' जैसा ही है। ऐसे प्रयोग मिल सकते हैं जिनमें 'लाल' जैसे तथाकथित स्वतंत्र विशेषण पद 'होने वाली' जैसे पदान्तरापेक्षी विशेषण से किसी भी माने में भिन्न नहीं है। वे दोनों एक ही प्रकार के विशेषण पद हैं। ऐसा मानने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए।

अब तक जो कुछ कहा गया उसका यही निष्कर्ष है कि विशेषण सदा विशेष्य के साथ अन्वित हो कर ही पूर्ण अर्थबोध कराता है। अतएव हमें विशेषण-विशेष्य को एक भाषीय इकाई मानना चाहिए। उन्हें स्वतंत्र दो पद मानने में जो कठिनाइयाँ आती हैं उनका ऊपर निर्देश कर दिया गया है। स्वतंत्र और पदान्तरापेक्षी विशेषण पदों का भेद अतार्किक है; वास्तव में सभी विशेषण, बिना अपवाद के, पदान्तरापेक्षी होते हैं। उस बालक की तरह, जो अभी भाषा सीखता होता है, हमें भी विशेषण-विशेष्य को साथ ही लेना चाहिए, और प्रयोगों से स्पष्ट है कि हम वैसा करते भी हैं।

***

परिच्छेद : सात

राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय

प्राच्य-पाश्चात्य दार्शनिक विश्लेषिकी

7.1 व्याख्या का तार्किक-स्वरूप

7.2 धार्मिक चेतना पर दार्शनिक दृष्टि - १

7.3 धार्मिक चेतना पर दार्शनिक दृष्टि - २

7.4 दर्शन में 'अवक्तव्य' की अवधारणा

7.5 विट्गिन्स्टाइन के परवर्ती दर्शन के मूलाधार

राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय

मूलगामी विश्लेषण क्षमता के प्रकर्ष को अपने में स्वायत्त कर प्राच्य विद्या एवं पाश्चात्य विचार पर समान अधिकार रखने वाले प्रो. पाण्डेय का जन्म १९३५ में वर्तमान छत्तीसगढ़ प्रान्त के 'बम्हनी' जिला महासमुंद में हुआ। अपनी प्रारम्भिक शिक्षा के दौरान ही 'न हि ज्ञानेन् सदृशं पवित्रमिह विद्यते' का संस्कार अर्जित कर वे उच्च शिक्षा के लिए सागर विश्वविद्यालय आये जहाँ से उन्होंने एम.ए. दर्शनशास्त्र (१९५९) एवं पी-एच.डी. (१९६३) की उपाधि प्राप्त की। इसी दौरान (१९६२-६४) कल्चरल एण्ड टेक्निकल एक्सचेंज फैलोशिप के अन्तर्गत वे अमेरिका के हार्वर्ड, हवाई एवं मिनेसोटा जैसे विश्वविद्यालयों में पाश्चात्य दर्शन की समसामयिक विद्याओं के उच्च अध्ययन के लिए भेजे गये। प्रखर वाग्मिता एवं सौम्य शिक्षकोचित चरित्र के लिए विख्यात् प्रो. पाण्डेय १९८३ से १९८६ तक टैगोर की साधना स्थली "विश्वभारती" में प्रोफेसर ऑफ फिलॉसंफी पद पर आसीन रहते हुए अध्यापन कार्यों के साथ-साथ अपने महत्त्वपूर्ण शोध अध्ययन को भी सम्पन्न किया जो विश्वभारती से ही "प्रॉबलेम ऑफ फैक्ट" नाम से प्रकाशित है। तदुपरान्त वे रायपुर विश्वविद्यालय (छत्तीसगढ़) में प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष के रूप में १९८७ से १९९५ तक अपनी सेवा प्रदान करते हुए वहीं से सेवा निवृत्त हुए। प्रो. पाण्डेय ग्रेट-ब्रिटेन के लन्दन एवं ब्रिस्टल विश्वविद्यालय में विजिटिंग टीचर (१९६७) रहे और उन्होंने कई एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भी भाग लिया। वे अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के हरिद्वार अधिवेशन (१९९८) के अध्यक्ष भी रहे। आंग्ल भाषा में कई एक उच्चस्तरीय शोध-निबन्धों को प्रकाशित करने के साथ-साथ वे आरम्भ से ही राष्ट्रभाषा में भी अपनी विश्लेषणात्मक प्रतिभा का उपयोग करते हुए दर्शन की अधुनातन समस्याओं पर दार्शनिक त्रैमासिक, तत्त्व चिन्तन, दर्शन समीक्षा एवं उन्मीलन जैसी पत्रिकाओं के माध्यम से लिखते रहे हैं। विट्गिन्स्टाइन के दर्शन में उनकी गहरी अभिरुचि है, एतदर्थ उन्होंने "तर्क एवं दर्शन का विवेचन" शीर्षक से ट्रक्टेटस लॉजिको फिलॉसफिकस का हिन्दी में अनुवाद भी किया है। शायद हिन्दी भाषा में इस विश्वप्रसिद्ध दुरुहतम प्रबन्ध का किया गया यह पहला अनुवाद है। ऐसे ही फेनोमेनालॉजी पर भी उन्होंने संक्षिप्त परन्तु प्राञ्जल एक पुस्तिका लिखी है। आज भी वे दार्शनिक चिन्तन एवं मनन में उतना ही अभिनिवेश रखते हैं जितना पहले रखा करते थे।

व्याख्या का तार्किक-स्वरूप

व्याख्या के तार्किक स्वरूप पर विचार करते हुए यहाँ हमारा उद्देश्य यह दिखाना होगा कि प्रथमत: तार्किक-स्वरूप अपने आप में ऐसा कुछ भी नहीं जो अवगम्य हो, यद्यपि हम प्राय: दार्शनिकों को इस तरह कथन करते हुए पाते हैं मानो वे विशुद्ध तार्किकता का स्वरूप समझ रहे हों। द्वितीयत: विभिन्न व्याख्याओं में उनके तार्किक-स्वरूप भिन्न-भिन्न होते हैं तथापि यह मान लिया जाता है कि सभी व्याख्याओं में तार्किकता का स्वरूप एक जैसा होता है। वस्तुत: यह विचार उपर्युक्त प्रथम विचार का ही एक विशिष्ट रूप है और यही मेरा मुख्य प्रतिपाद्य है।

व्याख्या कैसे ?

किसी व्याख्या के सन्दर्भ में 'तार्किक-स्वरूप' को समझने के लिए यह आवश्यक है कि पहले हम यह समझने की चेष्टा करें कि वस्तुत: व्याख्या होती क्या है ? इससे हम यह देख सकेंगे कि व्याख्या की किस विशिष्टता से उसका तार्किक-स्वरूप प्रकट होता है। पुन:, चूँकि व्याख्या वस्तुत: जो-कुछ है वह बहुत कुछ इस पर निर्भर है कि वह कैसे या क्यों कर सम्भव हो पाती है, हमें सर्वप्रथम व्याख्या की सम्भावना मात्र पर ध्यान देना चाहिए। जैसा कि सन्दर्भ से स्पष्ट है, हम व्याख्या से सम्बन्धित मनोवैज्ञानिक तथ्यों या उत्पादक-कारणों (जेनेटिक रीजंस्) की चर्चा नहीं करेंगे।

व्याख्या की संभावना-मात्र के सम्बन्ध में सर्वाधिक प्रकट तथ्य यह है कि उसका 'विषय' कोई भाषागत अभिव्यक्ति होता है जिसे साधारणत: 'व्याख्येय' कहा जाता है। व्याख्येय का इस तरह 'व्याख्या' का विषय बन सकना इस तथ्य का सूचक है कि अभिव्यक्ति-रूप में उसकी समझ अपुष्ट या अस्पष्ट है। इसे ही प्राय:, विशेषत: दार्शनिक विवेचन के अन्तर्गत इन शब्दों में व्यक्त किया जाता है : व्याख्येय के सन्दर्भ में हमारा ज्ञान अपरिपुष्टता व अस्पष्टता का लक्षण वाला होता है; व्याख्या द्वारा हम इस 'ज्ञान' को परिपुष्ट व स्पष्ट करते हैं। समग्र व्याख्या को इस तरह ज्ञान-सन्दर्भ से देखने पर कहा जा सकता है वह ज्ञान के विकास की एक महत्त्वपूर्ण विधा है। किन्तु यह व्याख्या की संभावना को मूलत: घटनात्मक ढंग से समझने की चेष्टा, जिसका स्वरूप केवल तथाकथित 'दार्शनिक-व्याख्या' की 'भाषापरक स्वतन्त्र रचनात्मकता' में प्रकट होता है। इसी से 'दार्शनिक-व्याख्या' का स्वरूप ही साधारण व्याख्या से बिल्कुल भिन्न हो जाता है। इस सम्बन्ध में कुछ स्पष्टीकरण हम यथास्थान करेंगे। अभी तो यही देखना अभीष्ट है कि साधारणत: जिसे 'व्याख्या' कहा जाता है उसकी संभावना का रूप क्या है ?

भाषागत अभिव्यक्ति के रूप में रूप में 'व्याख्येय'अवश्य ही एक 'अर्थाभिव्यक्ति' होता है, अर्थात् वह मूलत: वाक्य के रूप वाला होता है। व्याख्या के लिए प्रदत्त रूप में वाक्य अपनी 'सत्यता में अस्थिर' तथा अपने 'तात्पर्य में अस्पष्ट' होता है वाक्य की समझ की अपुष्टता से उसकी सत्यता अस्थिर तथा वाक्य की समझ की अस्पष्टता से उसका तात्पर्य अस्पष्ट होता है, स्पष्ट है कि वाक्य की सत्यता या असत्यता के सम्बन्ध में कोई अस्पष्टता नहीं हो सकती; क्योंकि जो वाक्य सत्य या असत्य

है या उसे वैसा समझा या जाना जाता है, वह स्पष्टत: वैसा है या स्पष्टत: उसे वैसा समझा या जाना जाता है। अत: व्याख्या कभी इस उद्देश्य-पूर्ति के लिए नहीं होती कि वह व्याख्येय की सत्यता या असत्यता स्पष्ट करे। यह व्याख्या की संभावना की पहली सीमा-रेखा है। इसी तरह, वाक्यों का कोई असत्य तात्पर्य नहीं हो सकता, यद्यपि उसके वास्तविक तात्पर्य की समझ गलत या भ्रामक हो सकती कि वह व्याख्येय का गलत या भ्रामक तात्पर्य स्पष्ट करे। यह व्याख्या की संभावना की दूसरी सीमा-रेखा है।

अब तक संभवत: यह स्पष्ट हो चुका कि वाक्य की सत्यता व स्पष्टता को परस्पर संबद्ध मानते हुए भी हम उन्हें पृथक् समझ सकते हैं। वस्तुत: यह पृथक्ता वाक्य की, उसकी अर्थाभिव्यक्ति के सन्दर्भ में, दो पृथक् वृत्तियों के कारण है, जिन्हें हम प्रेक्षणता व तात्पर्य की वृत्तियाँ कहेंगे। वाक्य की अर्थाभिव्यक्ति में प्रेक्षणता से उसकी सत्यता स्थिर होती है, जब तक यह प्रेक्षणता बिल्कुल निश्चित न हो, वाक्य की हमारी समझ अपुष्ट होती है। वाक्य में प्रेक्षणात्मक वृत्ति का सम्बन्ध वाक्य के घटकों (पदों) से होता है, जिनका 'अर्थ' होता है अर्थात् 'पदार्थ' (पद+अर्थ) उनके अर्थ होते हैं। दूसरी ओर, वाक्य में तात्पर्य की वृत्ति वाक्य के घटकार्थों के बीच किसी विशिष्ट 'आकारिक सम्बन्ध' (यथा, उद्देश्य-विधेय) के कारण उत्पन्न होती है। वाक्य की इसी वृत्ति पर वाक्य की समझ की स्पष्टता निर्भर करती है, अर्थात् वाक्य तब तक स्पष्टत: समझा नहीं जा सकता जब तक कि उसका तात्पर्य प्रकट न हो। सामान्यत: यहाँ दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। प्रथम: चूँकि वाक्य के घटकों का 'अर्थ' सीधे पदार्थों से होता है, अपनी प्रेक्षणात्मक वृत्ति में किसी वाक्य को अन्य वाक्य से बिल्कुल स्वतन्त्र समझा जा सकता है, अर्थात् स्पष्टत: सत्य या असत्य केवल इस दृष्टि से वाक्य की व्याख्या अनावश्यक होती है। किन्तु, दूसरी ओर, चूँकि वाक्य के घटकार्थ जिस आकारिक-सम्बन्ध से बँधे होते हैं, वह अपनी सामान्यता में इन घटकार्थों से कभी परिसीमित नहीं होता, वाक्य को उसकी तात्पर्य-वृत्ति में सदैव उन अन्य वाक्यों से संबद्ध करना होता है जो प्रथम वाक्य की अर्थाभिव्यक्ति से उक्त आकारिक-सम्बन्ध की दृष्टि से समानता लिए होते हैं; अर्थात् कोई भी अपनी अर्थाभिव्यक्ति में यह 'तात्पर्य-वृत्ति' वाला होता है कि किन्हीं अन्य वाक्यों की अर्थाभिव्यक्तियों से उसका एक निश्चत सामान्य-सम्बन्ध है- जब तक यह निश्चत सामान्य-सम्बन्ध समझा नहीं जाता, वाक्य की समझ अस्पष्ट होती है। व्याख्या की आवश्यकता इस सामान्य-सम्बन्ध को निश्चित करने में होती है। दूसरे शब्दों में, व्याख्या की सम्भावना का आधार यह तथ्य है कि वाक्यों में तात्पर्य-वृत्ति होती है। द्वितीयत: विशिष्ट वाक्यों की प्रेषणता व तात्पर्य का स्वरूप उस 'भाषा' (यथा, 'सामान्य-ज्ञान की भाषा','विज्ञान की भाषा', आदि) पर निर्भर करता है जिसके अन्तर्गत वे व्यवहृत होते हैं। अर्थात् भिन्न 'भाषाओं के संदर्भ' से वाक्य की प्रेषणता व तात्पर्य का स्वरूप भी बदलता जाता है; एक ही वाक्य की अर्थाभिव्यक्ति दो भिन्न 'भाषाओं' में अलग-अलग ढंग से होती है, जैसाकि हम आगे देखेंगे। इसीलिए हमने 'प्रेषणता व तात्पर्य' को वाक्य का स्थिर-गुण न कह कर वाक्य की वृत्ति कहा है। अब यद्यपि यह सही है कि किसी 'भाषा' के अतर्गत प्रत्येक वाक्य या तो सत्य है या असत्य तथा यह भी उसका एक (वास्तविक) तात्पर्य है, तथापि यह सही नहीं है कि उसके अन्तर्गत प्रत्येक वाक्य की सत्यता या असत्यता स्थिर हो और यह भी कि उसके अन्तर्गत प्रत्येक विशिष्ट वाक्य का (वास्तविक) तात्पर्य प्रकट हो। व्याख्या की सार्वभौम संभावना का आधार यही मान्यता है।

व्याख्या क्या है ?

हमारी उक्त विवेचना का एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि ''भाषा'' अनिवार्यत: व्याख्यात्मक है। प्रत्येक भाषा के वाक्यों को मूलत: दो वर्गों में बाँटा जा सकता है - व्याख्येय, या व्याख्या के प्रदत्त हो सकने वाले वाक्य, तथा व्याख्या या व्याख्या प्रस्तुत कर सकने वाले वाक्य। समग्र व्याख्या की दृष्टि से जिस तरह प्रत्येक वाक्य सदैव प्रदत्तापेक्ष व्याख्या के रूप वाला नहीं हो सकता क्योंकि यह आवश्यक है

कि कम से कम एक वाक्य उस संदर्भ में 'व्याख्येय' हो, उसी तरह प्रत्येक वाक्य व्यख्येय के रूप वाला नहीं हो सकता, क्योंकि उस संदर्भ में न्यूनतम आवश्यकता यह है कि कम से कम एक वाक्य व्याख्येय न होकर प्रदत्तापेक्ष व्याख्या हो। अत:, जैसाकि स्पष्ट है 'व्याख्येय' और 'व्याख्या' की सापेक्षता केवल यह नहीं है कि एक की उपस्थिति दूसरी की उपस्थिति को मान्य करती है, वरन् यह भी है कि समस्त वाक्य-व्यापार भाषागत अभिव्यक्ति के समग्र क्षेत्र के संदर्भ में ही सापेक्ष पद है। अर्थात् स्वयं 'भाषा' ही स्वभावत: भाषागत है और केवल यह निश्चित करती है कि उसके अन्तर्गत व्याख्या का रूप क्या होगा।

जब यह ठीक प्रतीत होता है कि समस्त वाक्य-व्यापार (सभी 'भाषाओं' अर्थात् 'लोक-साधारण की भाषा' 'विज्ञान की भाषा' आदि) के अन्तर्गत वे वाक्य सर्वाधिक मूलभूत हैं जो अपनी अर्थाभिव्यक्ति में सीधे हमारे अनुभव के निरूपण जान पड़ते हैं। इसीलिए यह मान लेना उचित लगता है कि अनुभव के निरूपणात्मक कथन के रूप में- अपनी प्रेक्षणात्मक वृत्ति में - ये वाक्य अव्याख्येय हैं और यह कि उनका व्याख्येय-रूप केवल उनके 'तात्पर्य' का होता है। जैसा कि स्पष्ट है इसका तात्पर्य यह हुआ कि व्याख्या में केवल वाक्य का तात्पर्य ही स्पष्ट हो सकता है, वाक्य की सत्यता की स्थिरता उससे व्यक्त नहीं हो सकती। किन्तु हमारी समझ में यह और इससे संबद्ध अन्य धारणायें वस्तुत: भ्रामक हैं। प्रथम तो यही देखना चाहिए कि, जैसाकि हमने पहले कहा, वाक्य की अर्थाभिव्यक्ति में उसका 'तात्पर्य' उसके 'घटकार्थ' से स्वतंत्र होकर नहीं मिल सकता; और इसीलिए जब भी हम वाक्य के 'तत्पर्य' की बात करेंगे उसके घटकों की बात तो हमें करनी ही होगी। अत: व्याख्या कभी केवल वाक्य के तात्पर्य की नहीं हो सकती। द्वितीय, यह भी दृष्टव्य है कि अनुभव का वास्तविक स्वरूप उससे बिल्कुल भिन्न है जिसे साधारणत: 'अनुभव' मान लिया जाता है। अनुभव अंतहीन, एकात्मक रूप से सर्वत्र समाया है; वह स्वयं 'यह' या 'वह' नहीं है, वरन् 'यह' और 'वह', 'अमुक' और 'तमुक' आदि उसमें अंतर्भाव्य हैं। अपने आप में उसमें विभक्तियाँ या जोड़ नहीं हैं। मैं देखता हूँ (सुनता हूँ, आदि) इसलिए जानता हूँ कि 'यह' और 'वह' है, कि 'यह ऐसा है' और 'वह वैसा है' आदि; किन्तु मैं इसलिए नहीं देखता (सुनता, आदि) कि 'यह' और 'वह' है, कि 'यह ऐसा है' और 'वह वैसा है' आदि। अत: यह संभव नहीं कि अन्य वाक्यों से विच्छेद्य रूप से समझा गया कोई विशिष्ट वाक्य अनुभव का निरूपणात्मक कथन करता हुआ समझा जा सके - (यद्यपि यह सही है कि जिस 'भाषा' में वह व्यवहृत हुआ है उसमें उसके घटकों (पदों) का 'अर्थ' निश्चत होने से उसे स्पष्टत: सत्य या असत्य माना जा सकता है - यदि 'निरूपण' से अभिप्राय अनुभव-का-चित्र (प्रतिबिंब) जैसी किसी धारणा से है।) किन्तु इसके विपरीत, जहाँ तक वाक्यों के बीच तात्पर्य-वृत्ति से सामान्य सम्बन्ध होता है, वाक्य-व्यापार अपनी समग्रता में- अर्थात् 'भाषा' के रूप में- अवश्य अनुभव का निरूपणात्मक कथन करता है। 'व्याख्या' इस तरह के निरूपण का स्वरूप प्रकट करती है। अनुभव-संदर्भ वाले व्याख्येय वाक्य की स्पष्ट सत्यता से आरंभ कर, उस वाक्य की तात्पर्य-वृत्ति का सहारा ले, व्याख्या उस 'भाषा' के अन्तर्गत, जिसमें व्याख्येय वाक्य स्पष्टत: सत्य है, वाक्य-व्यापार की समग्रता की सीमा प्रदर्शित करने वाले उस वाक्य तक पहुँचती है जो वस्तुत: स्पष्ट है, अर्थात् जिस वाक्य के आधार पर व्याख्येय वाक्य की सत्यता स्थिर हो और उसका वास्तविक तात्पर्य स्पष्ट हो। आशय यह है कि, 'भाषा' के संदर्भ में व्याख्या उस 'भाषा' के अन्तर्गत स्पष्टत: सत्य वाक्यों को वस्तुत: स्पष्ट वाक्यों में बदलने की वह प्रक्रिया है जिसका आधार यह भाषागत तथ्य है कि प्रथम प्रकार के वाक्यों का वास्तविक तात्पर्य व्याख्या की संरचना में प्रकट किया जा सकता है।

किन्तु व्याख्या के सम्बन्ध में उक्त विवेचन से यह आशय नहीं लेना चाहिए कि व्याख्या की संरचना में अनुभव का जो रूप प्रकट होता है वह हर स्थिति में अनुभव की एकरूपता दिखाता है। 'अनुभव की एकरूपता' का अर्थ उसकी 'एकरूपता' से न होकर उसकी 'सद्य: समंजस प्रवहमानता'

से है जिसे दूसरे शब्दों में 'जीवन' भी कहा जा सकता है (देखें : विट्गिन्स्टाइन का ट्रक्टेटस ५.६२१, ५.६३, जिसके अनुसार 'जीवन' इसी अर्थ में 'जगत्' है।) विविध व्याख्याओं ('भाषाओं') के संदर्भ से न केवल अनुभव का क्षेत्र घट-बड़ सकता है वरन् उसका रूप भी भिन्न-भिन्न प्रतीत हो सकता है। व्याख्या-संदर्भ से अनुभव 6क्षेत्र का घटना-बढ़ना मूलत: इस पर निर्भर करता है कि उससे संबंधित 'भाषा' में व्याख्या के 'आदि-अन्त' के रूप वाले 'स्पष्टत: सत्य वाक्य' व 'वस्तुत: स्पष्ट वाक्य' की धरणा क्या है ? यह आगे चलकर 'लोक-साधारण की भाषा' व 'विज्ञान की भाषा' में इन वाक्यों के अन्तर से स्पष्ट हो जायेगा। दूसरी ओर यद्यपि 'कविता की भाषा' तथा 'विज्ञान की भाषा' के मूलभूत अन्तर से ऐसा प्रतीत होता है मानो वे अलग-अलग अनुभव के निरूपण हों, वस्तुस्थिति यह है कि वे एक ही अनुभव के भिन्न-भिन्न निरूपण हैं- इस तरह कि, कवि तथा वैज्ञानिक एक ही प्रवहमान अनुभव (जीवन या जगत्) में अवस्थित हैं किन्तु उनकी स्थिति उनकी भाषा की भिन्नता से भिन्न है जिससे उनके कथन भिन्न हो जाते हैं। यही बात एक भाग्यवान् और एक अभागे के संबंध में उस अन्तर से समझनी चाहिए जो, विट्गिन्स्टाइन के अनुसार, उनके जगत् (जीवन) में होता है। यहाँ तो उनकी 'भाषा' भी एक ही हो सकती है, जिससे कि उनका 'जगत्' बिल्कुल एक ही होगा। यहाँ अन्तर का वास्तविक कारण उनके 'जगत्' की भिन्नता नहीं, व्यक्ति-रूप से उनके दृष्टिकोण का भिन्न होना है। 'भाषा' में वे अपनी ही छाया, सुख-दु:ख, उमंग-दैन्य, भाव-अभाव देखते हैं, और इस तरह वे जो देखते हैं उसका कथन भिन्न-भिन्न होता है; एक ही अनुभव (जगत्) व्यक्ति में दृष्टि-भेद से सुख या दु:ख, उमंग या दैन्य, भाव या अभाव के रूप में कथनीय है।

व्याख्या में तार्किक-स्वरूप

व्याख्या में तार्किक स्वरूप से आशय व्याख्येय वाक्य के घटकार्थों के बीच होने वाले आकारिक-सम्बन्ध के संदर्भ में वाक्य के तात्पर्य से है जो व्याख्या में वस्तुत: स्पष्ट वाक्य के रूप में प्रकट होता है। स्पष्ट है कि व्याख्येय की संरचना में जो आकारिक-सम्बन्ध होता है उसी से उसकी तात्पर्य-वृत्ति हो सकती है, और इसलिए स्वाभाविक ही है कि उसके और व्याख्या के बीच एक नियत-सम्बन्ध हो। 'भाषा' के अन्तर्गत, जिसमें व्याख्या हो रही है, वाक्यों द्वारा अर्थाभिव्यक्ति का स्वरूप निश्चित होता है, अर्थात् वाक्य के घटकों (पदों) का 'अर्थ' घटकार्थों के बीच का आकारिक-सम्बन्ध, तथा वाक्य के तात्पर्य-रूप में 'वस्तुगत स्पष्टता' का रूप; यही तथ्य व्याख्येय व व्याख्या के बीच 'नियत सम्बन्ध' का आधार है। यह 'नियत सम्बन्ध' भाषा की 'अर्थाभिव्यक्ति' में पाई जाने वाली प्रेक्षणात्मकता से अनिवार्यत: संबद्ध है। वाक्य में 'अर्थ' युक्त घटकों का इसमें निर्णायक हाथ रहता है कि उनके बीच किस तरह का आकारिक-सम्बन्ध होगा, कि उनकी तात्पर्य-वृत्ति किस प्रकार से होगी, कि वह वाक्य व्याख्येय-वाक्य होगा या व्याख्या-वाक्य। यदि वस्तुस्थिति सचमुच ऐसी ही हो तो मान लेना चहिए कि व्याख्या में विशुद्ध तार्किक-स्वरूप अर्थात् तार्किकता का ऐसा आकारिक-ढाँचा जो सभी 'भाषाओं' या व्याख्याओं पर समान रूप से लागू हो; ढूंढना एकदम व्यर्थ है। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि 'व्याघात के नियम' (लॉ ऑफ कंट्राडिक्शन) जैसे तार्किक-नियम वे नहीं हैं जिन्हें हम यहाँ 'तार्किक स्वरूप' कह रहे हैं। ये नियम कोई विशुद्ध आकारिक ढाँचा प्रस्तुत नहीं करते, वरन् इन आकारगत-रूपों के प्रयोगों से सम्बन्ध रखते हैं।

अब यदि हम मान लें कि सभी व्याख्याओं के संदर्भ में विशुद्ध तार्किक-स्वरूप जैसा कुछ हो सकता है तो तुरन्त हमें विचार करना चाहिए कि यह किस तरह अवगम्य हो सकेगा। तर्कवादी दार्शनिक के वक्तव्य का सारांश इस सम्बन्ध में इस प्रकार हो सकता है : प्रथम, भाषा-संदर्भ से स्वतंत्र विशुद्ध तार्किक स्वरूप सब तरह से प्रागनुभविक होगा, अर्थात् वह किसी तरह ऐसा कथन नहीं होगा

जो अनुभव के आधार से ही सत्य समझा जा सके, यद्यपि वह सदैव सत्य ही होगा -उसकी चिर सत्यता का आधार स्वयं उसका स्वरूप (आकारिक-ढाँचा) होगा, और इसलिए वह अनिवार्यत: अभेदात्मक या पुनरुक्त कथन होगा; इसी के निषेध-रूप में हमें चिर असत्य का व्याघात (कंट्राडिक्ट्री) कथन उपलब्ध होगा। द्वितीय, इस तरह के अनिवार्यत: सत्य या असत्य कथन अनुभव संदर्भ से प्रेक्षणात्मक (आकस्मिक) सत्यासत्य कथनों की पार्यन्तिक स्थितियाँ हैं (देखें, ट्रक्टेटस ५.१४३)। तृतीय, अनुभव-संदर्भ वाले कथनों की पार्यन्तिक स्थितियों के रूप में चिर सत्य और चिर असत्य कथन अवश्य ऐसे होंगे जो अपने आप ही समझे जा सकेंगे, इस तरह कि वे सभी कथनों, सभी 'भाषाओं', 'व्याख्याओं' का सामान्यतम रूप प्रस्तुत करेंगे और इसलिए स्वत: 'अव्याख्येय' होंगे।

अत: स्पष्ट हुआ कि विशुद्ध 'तार्किक-स्वरूप' स्वभावत: प्रागनुभाविक, पार्यन्तिक स्थिति तथा अव्याख्येय है। किन्तु इस तरह के 'तार्किक-स्वरूप' को वाक्य या कथन के रूप में समझने का क्या अर्थ हो सकता है ? यदि अपने विशुद्ध रूप में 'तार्किक-स्वरूप' हमारी समस्त भाषापरक अभिव्यक्ति का आधार है - और इसी रूप में उन्हें अनुभव संदर्भ वाले कथनों की 'पार्यन्तिक-स्थिति' माना जा सकता है। अन्यथा अनुभव संदर्भ के कथनों को किसी बिल्कुल विजातीय तत्त्व से परिसीमित मानने का कोई विवेकसम्मत कारण न होगा-तो वह हमारी समस्त कथनीयता का ही आधार है, और इसीलिए स्वयं उसे एक कथन (अनुभव-संदर्भ वाले अन्य कथनों से भिन्न) के रूप वाला समझने का कोई अर्थ नहीं है। और यही क्यों, उसे 'अव्याख्येय' या 'अकथनीय' कहना भी उतना ही अर्थहीन है : उसी तरह जैसे 'अंकों' को 'वर्णहीन' या 'वर्णयुक्त' कहना समान रूप से अर्थहीन है : उसी तरह जैसे 'अंकों' के संदर्भ में जो अवधारणाएँ होती हैं उनकी कोटि 'वर्ण' जैसे प्रत्ययों की कोटि से बिल्कुल भिन्न होती है, उसी तरह 'तार्किक-स्वरूप' के संदर्भ में जो भी अवधारणा होती है या हो सकती है उसका सम्बन्ध किसी भी प्रकार के 'कथन' से न होकर कथन-मात्र में उसके प्रयोग से होता है। 'अभेद' किसी कथन के रूप वाला नहीं है; कथनों का एक विशेष 'प्रयोग' भर है। 'अभेद' या 'पुनरुक्ति' को ही कथन मान लेने की नितान्त व्यर्थता इससे भी सिद्ध हो जाती है कि, यदि 'अभेद' एक कथन (वाक्य) है तो 'व्याघात' - जो उसका निषेध-रूप है - एक कथन है, जबकि वस्तुस्थिति यह है कि व्याघात कोई 'कथन' न होकर कथन-माात्र की असंभावना है, जो पुन: किसी भी 'कथन' को उसके निषेध से संयुक्त करके, अर्थात् उसके एक 'प्रयोग' से, प्राप्त किया जा सकता है। और यदि 'अभेद' और 'व्याघात' किसी तरह के कथन नहीं तो उन्हें किसी तरह सत्य या असत्य मानना भी बिल्कुल निरर्थक है।

वस्तुत: कथनीयता के आधार के रूप में तो 'तार्किक-स्वरूप' बिल्कुल उसके समकक्ष, और संभवत: उससे सहभाव्य हो जाता है, जिसे हमने पहले 'सद्य: समंजस प्रवहमानता' के रूप में 'अनुभव' कहा। विट्गिन्स्टाइन ने अपने एक लेख (देखें, "Logical Form", Proceedings of Aristotelion Society, Suplementary Vol. No. IX, 1929) में 'तार्किक-स्वरूप' को 'जीवन का रूप' ही माना है ; और हमारे विचार में 'तार्किक स्वरूप' सम्बन्धी यही मत अर्थापतित रूप में उसके ट्रक्टेटस में भी विद्यमान है (जो ४.१२, ४.१२१ को २.०६३, ५.६२१ तथा ६.५२२ के साथ मिलाकर पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है)। अनुभव या जीवन एक स्वमेव अभिव्यक्ति है - उसे और किसी तरह से व्यक्त रूप में समझने का कोई अर्थ नहीं है। इसी तरह तार्किक-स्वरूप भी अपनी अभिव्यक्ति स्वयं है, उसकी और किसी तरह की अभिव्यक्ति का कोई अर्थ नहीं - इसी रूप में वह अकथनीय, अव्याख्येय है। अनुभव के स्वमेव अभिव्यक्ति होने का अर्थ है अनुभूति या जीना; जबकि तार्किक-स्वरूप की स्वयमेव अभिव्यक्ति को किसी भी कथन में निहित सामान्यतम विचार कहा जा सकता है-अर्थात् विचार कर सकना, जिसके लिए किसी अन्य विचार की आवश्यकता नहीं है जिस तरह 'अनुभूति' या 'जीना' मूल (जैविक)

क्रियापरकता के रूप वाले हैं उसी तरह 'विचार' या 'विचार कर सकना' मनुष्य की मूल (जैविक) क्षमता का रूप वाला है। अब यदि 'तार्किक-स्वरूप'को प्रेक्षणविहीन 'अभेद' के रूप में माना जाय तो उसे किसी तरह अनुभव या अनुभव संदर्भ वाले कथनों से संयुक्त कर सकना असंभव हो जाता है; जबकि उसे किसी तरह अभिव्यक्त रूप से समझने के लिए आवश्यक हो जाता है कि उसे उक्त ढंग से अनुभव के समकक्ष या सहभाव्य समझा जाय, अर्थात् यद्यपि वह किसी तरह से अनुभवजन्य नहीं तथापि उसका अभिव्यक्त रूप या उसकी समझ अनुभव के संदर्भ में उसके प्रयोग से ही हो सकती है। इसी दृष्टि से यह संभव हो पाता है कि तथाकथित तार्किक-वाक्य या कथन 'अभेद' और 'व्याघात' अनुभव सन्दर्भ वाले वाक्यों की पार्यन्तिक स्थिति प्रस्तुत करें। अर्थात् पार्यन्तिक स्थिति प्रस्तुत करने का अर्थ चिर सत्य रूप 'अभेद' और चिर असत्य रूप 'व्याघात' को वाक्यों या कथनों के रूप में प्रतिष्ठित नहीं करना है, वरन् अनुभव-संदर्भ वाले वाक्यों या कथनों को ही विचार की क्षमता के अनुरूप दो विशिष्ट सीमांतक प्रयुक्तियाँ प्रदान करना है। अत: स्पष्ट है कि तार्किक स्वरूप को स्वभावत: अव्याख्येय, प्रागनुभविक तथा पार्यन्तिक स्थिति मानने के लिए यह आवश्यक नहीं कि उसे अपने-आप में अनुभव से सर्वथा पृथक् 'कुछ' माना जाय। निस्संदेह इस रूप में वह कभी अवगम्य नहीं हो सकेगा।

इस संदर्भ में एक और महत्त्वपूर्ण धारणा की चर्चा आवश्यक है। विट्गिन्स्टाइन जैसे तर्कवादी दार्शनिक तार्किक-स्वरूप को विचार के रूप वाला मान कर उसे तथ्यों से संबद्ध अवश्य करते हैं (देखें, ट्रक्टेटस, ३) किन्तु साथ ही यह भी कहते हैं कि साधारण भाषा, (जैसे बोल-चाल की भाषा-जिसके अन्तर्गत वे 'भाषाएँ' पूर्णत: या अंशत: समाहित हैं जिन्हें हमने पहले 'लोक-साधारण की भाषा' 'विज्ञान की भाषा' आदि कहा है) में विचारों का रूप प्रच्छन्न रहता है और संभवत: उसका प्रकट रूप केवल किसी रचित-भाषा, जो प्रेक्षणविहीन या 'अर्थहीन' प्रतीकों की भाषा होगी, में व्यक्त हो सकता है (वही, ४-००२)। अब, प्रेक्षणविहीन रचित प्रतीक भाषा एक विशुद्ध आकारात्मक संस्थान (फार्मेलिस्टिक सिस्टम) है जिसके घटक (तथाकथित 'वाक्य') परस्पर अर्थापतित (इंप्लीकेश्नल) या अभेद (आइडेंटिटी) रूप में व्यवस्थित होते हैं। यह अभेद या अर्थापतित रूप प्रतीकों को किन्हीं विशिष्ट स्वैच्छिक ढंग से परस्पर सम्बन्धित करने से प्राप्त होता है। अत: इस तरह की भाषा में होने वाली अभिव्यक्ति को 'अर्थाभिव्यक्ति' (जिसमें प्रेक्षण व तात्पर्य की वृत्तियाँ हों) नहीं कहा जा सकता। संभवत: यह अभिव्यक्ति बहुत कुछ किसी रोचक-खेल की अभिव्यक्ति सी होती है। यहाँ बहुत कुछ समझा विचारा नहीं जाता, केवल खेल का 'रस' लिया जाता है। हमारी समझ में यदि विशुद्ध तार्किक स्वरूप की मान्यता हो सकती है तो वह केवल इसी रूप में-'रोचक-खेल' के रूप में - हो सकती है; वह खेला ही जा सकता है, समझा नहीं। इस तरह की विशुद्ध प्रतिज्ञात्मक रचित-भाषा के समान यदि हम अनुभव के संदर्भ में 'व्याख्यात्मक भाषाओं' को भी 'खेल' मानने लगें तो हम एक बड़ी गलती करेंगे। इन बाद वाली 'भाषाओं' में 'जीवन' या 'अनुभव' ही प्रतिम्बित होता है और इसलिए स्वयं इन भाषाओं को खेल तभी माना जा सकता है जब हम जीवन या अनुभव को ही एक खेल मानें। एक बात और भी : विभिन्न व्याख्यात्मक 'भाषाओं' को भी एक विशिष्ट प्रतीकात्मक भाषा के संदर्भ में समझा जा सकता है, यह वह भाषा है जिसे हम साधारणत: बोल-चाल की भाषा कहते हैं और इस तरह की भाषा को 'खेल' कहने (जैसाकि विट्गिन्स्टाइन ने कहा) का अवश्य एक अर्थ है। वस्तुत: साधारण बोल-चाल की भाषा को इस तरह प्रतीकात्मक रूप में मानने और इसलिए उसकी प्रेक्षणात्मकता से पृथक् उसे एक स्वतंत्र तथ्य मान लेने से ही यह संभव हो पाया कि तर्कवादी दार्शनिक विशुद्धत: रचित प्रतीक-भाषा की कल्पना तक पहुँच सके।

लोकसाधारण-परक व वैज्ञानिक व्याख्याएँ

अब हम लोकसाधारण के संदर्भ में होने वाली व्याख्या तथा वैज्ञानिक व्याख्या पर विचार करते

हुए यह देखेंगे कि तार्किक स्वरूप अपनी प्रयुक्ति में किस तरह 'विचार' बन जाता है, और यह कि जब तक इस तरह अपनी प्रयुक्ति में नहीं समझा जाता, यह कहने का कोई अर्थ नहीं जान पड़ता कि वह समझा गया। यहाँ यह बताने की आवश्यकता नहीं कि उक्त दो प्रकार की व्याख्याएँ सदैव अनुभव-संदर्भ में व्याख्यात्मक 'भाषाओं' के अंतर्गत ही होती हैं।

लोकसाधारण-परक व्याख्या को कुछ इस तरह समझा जा सकता है : मान लें, किसी काल क$_1$ में किसी प्रत्यक्षीकरण का कथन व$_1$ द्वारा हुआ, जैसा इस वाक्य द्वारा-"वहाँ अभी अकस्मात् चमक हुई"। फिर अपनी इस उत्सुकतावश कि क्यों वहाँ इस तरह अकस्मात् चमक हुई, मैंने काल क$_2$ ...क$_n$ में वहाँ और निरीक्षण किये और उसका संक्षिप्त कथन व$_2$ -"वह (वहाँ) फास्फोरस है" या व$_3$ "उसमें (वहाँ- जो कुछ है, उसमें) फास्फोरस है" में किया। अब, साधारणत: यह कहा जा सकता है कि मैंने उक्त व$_2$ या व$_3$ में व$_1$ की व्याख्या की - इस तरह कि, क$_1$ के मेरे प्रत्यक्षीकरण के कथन व$_1$ की अर्थाभिव्यक्ति में जो अस्पष्टता रह गई थी (यद्यपि इसके विषय में कि क$_1$ स्पष्टत: सत्य है, कभी कोई स्पष्टत: सत्य है, कभी कोई स्पष्टता नहीं थी) जो व$_1$ की मेरी समझ की अपुष्टता से तत्संबंध में शेष रह गई उत्सुकता के रूप में प्रकट हुई, वह क$_2$ ....क$_n$ के मेरे निरीक्षण संबंधी कथन व$_2$ या व$_3$ से दूर हो गई; क्योंकि इस बाद वाले कथन के आधार पर व$_1$ की मेरी समझ पुष्ट हुई और इस तरह मेरी उत्सुकता शांत हुई। दूसरे शब्दों में, विशिष्ट प्रत्यक्षीकरण का कथन होने से व$_1$ अपने-आप में एक स्पष्टत: सत्य वाक्य है। (और इस दृष्टि से उसकी व्याख्या बिल्कुल आवश्यक नहीं है); किन्तु वह एक वस्तुत: स्पष्ट वाक्य नहीं है, क्योंकि लोकसाधारण ज्ञान की 'भाषा' में वस्तु-रूप 'वहाँ अभी' या 'यहाँ अभी' का, विशुद्ध देश-काल-सहयुक्तता (Space-Time Coordination) का, नहीं है, वरन् विशिष्ट-अभिधा का रूप वाला है (और इसीलिए व जैसे वाक्यों की, जिनमें यह विशिष्ट अभिधा नहीं होती, व्याख्या लोक-संज्ञान के अंतर्गत आवश्यक होती है)। दूसरी ओर, व$_2$-व$_3$ से व$_1$ की व्याख्या के संदर्भ में व$_1$ को एक वस्तुत: स्पष्ट वाक्य के रूप में भी देखा जा सकता है, क्योंकि व$_2$/व$_3$ लोक-संज्ञान की 'भाषा' में वस्तुगत स्पष्टता की अभिव्यक्ति वाला है, जो इससे स्पष्ट है : उसमें 'फास्फोरस' जैसी विशिष्ट-अभिधा का उपयोग हुआ है जिसे व$_1$ के 'वहाँ-अभी' से बदला जा सकता है।

अब यह देखा जा सकता है कि व१ प्रकार के वाक्य लोक-संज्ञान की 'भाषा' के अंतर्गत 'व्याख्येय' के रूप वाले इसलिये होते हैं क्योंकि उनके उद्देश्य-पद के रूप में 'वहाँ-अभी' शब्द चमक जैसे विधेय-पद के सही या ठीक उद्देश्य-पद नहीं हैं : लोक-संज्ञान की 'भाषा' में उद्देश्य-पद का सही या ठीक रूप वस्तुओं की अभिधा (जातिवाचक या व्यक्तिवाचक) के रूप वाला होता है। यही कारण है कि व$_2$/व$_3$ में जब व$_1$ के 'वहाँ-अभी' को 'फास्फोरस' से बदल दिया गया, जो 'वह' से संयुक्त होकर जाति-विशिष्ट व्यक्ति की अभिधा की तरह प्रयुक्त हुआ है, तो वह व$_2$/व$_3$ की एक व्याख्या समझा गया।

उक्त उदाहरण के सामान्यीकृत रूप में, लोक-संज्ञान के अंतर्गत व्याख्या में निहित तार्किक-स्वरूप को शायद हम इस तरह व्यक्त कर सकते हैं :

'निर्देश (क या ख या ग या ...) → अभिधा क या ख या ग या ...)'।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है : लोक संज्ञान की 'भाषा' में क, ख आदि गुण या विशेषतावाचक हैं (जैसे चमक आदि, जो एक ही व्यक्ति या जाति विशेष के संदर्भ हो सकते हैं, और 'बड़ा-छोटा' आदि, जिनके संदर्भ कम से कम दो विशिष्ट व्यक्ति या जाति होने आवश्यक हैं); चूँकि एक ही व्यक्ति या जाति विशेष के संदर्भ में कई गुणों या विशेषताओं का कथन संभव है, वस्तु या जाति विशेष के संदर्भ में वे साथ-साथ समझे जा सकते हैं, इसलिये 'क या ख या............' लोक संज्ञान की भाषा में व्याख्येय वे वाक्य होते हैं जिनमें गुणों या विशेषताओं के संबंध में वस्तु या जाति विशेष का निर्देश-मान हो, जैसे

उक्त $व_१$ में। इन निर्देशमूलक वाक्यों की तात्पर्य वृत्ति के रूप में, लोक संज्ञान की 'भाषा' के अन्तर्गत यह मान्यता होती है कि जो भी निर्देश्य है वह अभिधेय है - यही उक्त तार्किक-स्वरूप में '→' चिन्ह द्वारा व्यक्त हुआ है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि, हमारे उक्त उदाहरण में $व_२/व_३$ किस तरह इस तार्किक स्वरूप पर आधारित होकर $व_१$ की व्याख्या बन पाता है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि, उक्त तार्किक-स्वरूप को उसके प्रयोग के आधार से ही समझा जा सकता है; इसी प्रयोग में वह 'विचार' का रूप धारण करता है, तथापि इसका आशय यह नहीं कि यह 'तार्किक-स्वरूप' ही विभिन्न प्रयोगों पर आधारित कोई 'आगमनात्मक विचार' है - क्योंकि यह स्वरूप लोक-संज्ञान की 'भाषा' के अंतर्गत अर्थाभिव्यक्ति को समझने का मूलाधार है। दूसरे शब्दों में, यह समग्र लोक-संज्ञान की भाषा की अर्थाभिव्यक्ति का ही सामान्यतम स्वरूप या विचार है ; व१, व२, व३ आदि इसीलिये सार्थक वाक्य हैं। उपरोल्लिखित तार्किक-स्वरूप को बिल्कुल आकारिक रूप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :

ता० 1. कच. → कप. प = च

इस तार्किक-स्वरूप की अभिव्यक्ति में, 'क' कोई भी गुण या गुणों का एक वर्ग है, च, निर्देश-विशिष्ट देश-काल-संयोजन (को-आर्डीनेशन) होने से पदार्थ प की एक स्थिर संभावना है, तथा पदार्थ प च के एक मात्र निश्चय (प=च) के रूप में एक अभिधा है।

अब हम वैज्ञानिक व्याख्या के रूप पर जरा विचार करेंगे। यह व्याख्या कई अंशों में सामान्य-ज्ञान की व्याख्या की तरह है। इनके बीच सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंतर 'वस्तुत: स्पष्ट वाक्य ' के रूप को लेकर है। विज्ञान की 'भाषा' में 'वस्तु' की अवधारणा प्राय: जाति या गुण के उपाधि वाले 'व्यक्ति' की अभिधा से नहीं होती; वरन् वह किसी सामान्य चर (वेरिएबल)-जो सदैव परिमाणात्मक होता है-की अर्हता के रूप में विशिष्ट होती है। इस दृष्टि से, न केवल उक्त व1 वाक्य वरन् व2/व3 वाक्य भी स्पष्टत: सत्य तो हैं किन्तु वस्तुत: स्पष्ट नहीं हैं। उनकी व्याख्या के रूप में, अर्थात् वैज्ञानिक व्याख्या के रूप में, उदाहरणार्थ यह वाक्य व 4 है : ''कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जो तभी और केवल तभी इस तरह निरीक्षण-योग्य हैं कि उनके संबंध में देश-काल-संयोजन को 'फस्फोरस' की अभिधा से जाना जाता है, जब उनके संबंध में यह सत्य है कि वे ४४° से.ग्रे. पर पिघलती हैं।'' यह व्याख्या का तार्किक-स्वरूप कुछ इस प्रकार है :

ता० २. '(उच) ($क_१$च:← → .$क_१$च. → : कप. च. → क. प = च)'

उक्त ता० १ तथा ता० २ को देखने से प्रकट है कि पहले का 'स्वरूप' दूसरे के स्वरूप में समाहित है; किन्तु इस अंतर के साथ- जहाँ ता० १ में 'क च' का रूप विशुद्धत: निर्देशात्मक है वहाँ ता० २ में उसके रूप का '(उच)' के सहारे आगमनात्मक परिमाणीकरण कर दिया गया है। दूसरे शब्दों में, पदार्थ प के अभिधा रूप (प=च) को अस्तित्त्वात्मक परिमाणक (एग्जिस्टेंश्यल क्वांटीफायर) के संदर्भ में एक मात्र अर्हता के रूप में समझे जाने से, तथा इस तथ्य के कारण कि यहाँ 'व्याख्या' अर्थापतित रूप में न होकर समता (ईक्वीवेलेंस) रूप में हो रही है; च के संदर्भ में समस्त निरीक्षण-योग्य गुणों 'क' को उसके केवल एक गुण '$क_१$' (४४° सें.ग्रे. पर पिघलना) के समतुल्य मान लिया गया है, वह सामान्य का एक उदाहरण भर है और इसी रूप में उसके 'निर्देश' व 'अर्थ' का कोई आशय है। 'व्याख्या' के चिन्ह '← →' से यह भी प्रकट है कि 'व्याख्या' का रूप वाला ''कच'' भी एक अर्थ में व्याख्येय है-इस अर्थ में कि अपनी निर्देश-वृत्ति में यह ''कच.→.कप.प = च'' से बिल्कुल स्वतंत्र नहीं है। अत: स्पष्ट हुआ कि, जहाँ एक ओर प जैसे पदार्थो के लिये आवश्यक है कि वे ता० २ तार्किक-स्वरूप के घटक बन सकें, यदि वैज्ञानिक 'भाषा में उनकी कोई स्थिति है, वहाँ दूसरी ओर ता० २ के तार्किक-स्वरूप लिए भी आवश्यक है कि प जैसे पदार्थो के लिये वह प्रयुक्त हो सके, यदि वह 'व्याख्या' के रूप में अवगम्य है। अर्थात् ता० २ केवल अपने प्रयोग में 'विचार' बन सकता है। निस्संदेह इस 'विचार ' में 'आगमन का तत्त्व' है, किन्तु स्वयं

यह विचार ही आगमनात्मक नहीं, जो इस तथ्य से स्पष्ट है कि 'क १ च' और 'कच' के बीच की समतुल्यता का आधार कोई आगमन-विधि नहीं है। प्रत्युत ता० २ एक मूल 'विचार' के रूप में ऐसा विचार है जो वैज्ञानिक 'भाषा' के अंतर्गत एक विशिष्ट प्रकार के 'आगमनात्मक साधारणीकरण' को संभव बनाता है।

विज्ञान की 'भाषा' में व्याख्या का एक और रूप भी हमें मिलता है जिसके अंतर्गत वस्तु-रूप का निश्चय 'आगमनात्मक परिमाणीकरण' के रूप में न होकर किसी प्राक्-कल्पना (हाइपाथिसिस) के सहारे 'निगमनात्मक परिमाणीकरण' के रूप में होता है। जैसे 'फास्फोरस' जैसे सभी पदार्थों - न केवल ज्ञात पदार्थ, वरन् वे सब पदार्थ जिनकी उपस्थिति कहीं भी ब्रह्मांड में हो - को किसी अति-सामान्य अभिधारणा (जैसे उसकी नाभकीय संरचना) के संदर्भ में विशिष्ट किया जाये, तो इसके सहारे व1, व2, व3, व4 जैसे सभी वाक्यों की व्याख्या होगी जिसका तार्किक-स्वरूप कुछ इस तरह होगा :

ता० ३ '(च)(कच : ← →: कच. → : (उच) क$_{१}$च ← → :; क$_{१}$च.→ : कच. → कप, प=च)'

ता० ३ 'कच' एक वैज्ञानिक प्राक्-कल्पना है जो च वस्तुमात्र के लिए सत्य और इसी के संदर्भ में यह सत्य है कि कोई भी विशिष्ट पदार्थ प किसी सत्ता-सूचक च की एक अर्हता है। इस तरह की अभिव्यक्ति को प्राक्-कल्पना की उपस्थिति से हम 'व क' कहेंगे, जिसकी भाषागत अभिव्यक्ति इस तरह होगी : "प्रत्येक वस्तु ऐसी है कि उसके संदर्भ में यह तभी और केवल तभी सत्य है कि कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जो ४४° सें. ग्रे. पर पिघलती हैं और केवल तभी उन्हें 'फस्फोरस' कहा जाता है जब उसके विषय में यह सत्य है कि 'क'। स्पष्ट है कि उक्त अभिव्यक्ति में मुख्य '← →' चिन्ह के पीछे वाले वाक्य में ता० २ के रूप वाले वाक्य के बदले ऐसा कोई भी वाक्य रखा जा सकता है जो ता० २ से आगमनात्मक परिमाणीकरण के रूप में प्राप्त हो और जिसके अंतर्गत चर च की अर्हताएँ वही हों जो प्राक्-कल्पना 'क च' के क्षेत्र के भीतर हों। यह भी द्रष्टव्य है कि ता० ३ में अन्तर्भाव्य आगमनात्मक परिमाणीकरण के रूप वाला वाक्य प्राक्-कल्पना कच पर समतुल्य रूप से आधारित होने के कारण उक्त प्राक्कल्पना को प्रामाणिकता प्रदान करता है, और स्वयं इस प्रमाणिकता के सहारे 'व्याख्या' के अन्तर्गत प्राक्कल्पना की प्रमाण-सिद्धता (कन्फर्मेशन ऑफ हाइपोथिसीस) तथा निरीक्षणों के निगमनात्मक ढंग से घटित होने (डिरीवेशन ऑफ आब्जर्वेशंस्) का आधार है। अत: स्पष्ट है कि ता० ३ को उसके प्रयोग के बाहर समझ सकना संभव नहीं।

इस तरह हम देखते हैं कि लोक-संज्ञान की 'भाषा' तथा विज्ञान की 'भाषा' में वस्तु-रूप की अवधारणा बिल्कुल पृथक् है, जिस पर यह निर्भर करता है कि इस दो 'भाषाओं' में 'वस्तुत: स्पष्ट वाक्य' की अवधारणा पृथक् होने से उनके अन्तर्गत होने वाली व्याख्याओं का रूप भी पृथक् होगा। और व्याख्याओं के रूप की पृथक्ता से अर्थ है उनके तार्किक-स्वरूप की पृथक्ता। अत: इन व्याख्याओं में तार्किक-स्वरूप की पृथक्ता का आधार है उनमें 'वस्तु-रूप' की पृथक्ता, जिसे संक्षेप में इस तरह रखा जा सकता है : लोक-संज्ञान की 'भाषा' में वस्तु-रूप अभिधा से विशिष्ट होकर ग्राह्य होता है और परिणामत: वह मूलत: अस्तित्त्व की धारणा में रूपायित होता है; वैज्ञानिक 'भाषा' में वस्तु-रूप सामान्य चर की अर्हता के रूप में विशिष्ट होता है और इसलिए वह सदैव प्रकारताकी धारणा में रूपायित होता है - इस प्रकारता के उदाहरण का रूप वाला होने से उसकी ग्राह्यता सदैव एक घटना (जो निरीक्षण की योग्यता वाला होकर घटित हो) के रूप में होती है।

उपसंहार

हमने जिस उद्देश्य को ध्यान में रख कर उक्त विवेचन प्रस्तुत की उसकी पूर्ति मूलत: हो चुकी है : हमने यह दिखाने की चेष्टा की कि विशद्ध तार्किक-रूप जैसा कुछ भी अवगम्य नहीं है, तथा यह कि विभिन्न व्याख्याओं के संदर्भ में उनके तार्किक-रूपों की भिन्नता पाई जाती है-यद्यपि यह सत्य है,

विभिन्न व्याख्याओं के दृष्टांत रूप में हमने केवल लोक-संज्ञान की व्याख्या तथा वैज्ञानिक व्याख्या की चर्चा की और वह भी अनिवार्यत: अपूर्णरूपेण, तथा अन्य कई महत्त्वपूर्ण व्याख्याओं, जैसे ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक आदि को, समयाभाव से बिल्कुल अछूता छोड़ दिया। सुविज्ञ पाठकों को निश्चिय ही यह भी लगेगा कि अपनी इस समस्त विवेचना की अवधि में हम एक विशिष्ट प्रकार की व्याख्या की प्रक्रि या से गुजर रहे थे जो न तो वैज्ञानिक थी, न ही लोक-संज्ञान-परक। इस विशिष्ट प्रकार की व्याख्या को साधारणत: ''दार्शनिक व्याख्या'' के नाम से हम जानते हैं। इस तरह की व्याख्या के संबंध में यह कहना गलत होगा कि वह 'व्याख्याओं की व्याख्या' है ; क्योंकि 'दार्शनिक व्याख्या' न तो अन्य व्याख्याओं की वास्तविक उपस्थिति पर आधारित है- यद्यपि वह उनकी संभावना को अपने-आप में अन्तर्भाव्य रूप से ग्रहण करती है, न ही वह अन्य व्याख्याओं की तरह 'भाषा' में अर्थाभिव्यक्ति को उसकी तात्पर्य-वृत्ति से स्पष्ट करने में प्रवृत्त होती है - यद्यपि वह यह मान कर चलती है कि 'भाषा' की अर्थाभिव्यक्ति में इस तरह की स्पष्टता विशिष्ट व्याख्याओं द्वारा संभव है। वस्तुत: दार्शनिक-विवेचन में जो कुछ होता है उसके लिए 'दार्शनिक-व्याख्या' शब्द का प्रयोग बड़ा भ्रामक है : जो इसमें निहित 'व्याख्या' का शाब्दिक अर्थ लेते हैं वे विट्गिन्स्टाइन की तरह कह बैठते हैं कि यह मूलत: अर्थहीन है-सब कुछ कहकर भी वस्तुत: उन्होंने कुछ भी नहीं कहा, और इस तरह वे एक अनावश्यक 'रहस्यवाद' व 'अनिर्वचनीयता' की धारणा को जन्म देते हैं, जिसका आधार उनके विरोधाभास -पूर्ण कथन होते हैं।

दार्शनिक-विवेचना को सही रूप में समझने के लिए प्रथम तो यह देखना चाहिए कि उसका 'भाषा'-संदर्भ होने पर भी वह 'भाषा'-अनुभव, जीवन, जगत्-की सीमाओं से घिरी नहीं होती। इसका मूल कारण यह होता है कि वह 'भाषा' के अंतर्गत विपरीतता के गुण वाली अन्त्य-अवधारणाओं- यथा, लोक-संज्ञान की 'भाषा' में 'अभिधा-आख्यात' का परस्पर वैपरीत्य, वैज्ञानिक 'भाषा' में 'प्राक्कल्पना-घटनात्मकता' का परस्पर वैपरीत्य - से सम्बन्धित जिज्ञासा में अपना उत्स अवश्य ग्रहण करती है, किन्तु साथ ही प्रकटत: यह देख कर कि 'भाषा' के अन्तर्गत ही इन अन्त्य-अवधारणाओं का द्वन्द्व समाप्त नहीं किया जा सकता और इसलिए 'भाषा' के संदर्भ में 'यथार्थता' को उसके स्वभाव में नहीं सकझा जा सकता, वह 'भाषा' के बाहर, किन्तु उसकी सीमाओं से सततता रखने वाली, इस प्रकार की भाषा की रचना से तत्पर होती है जिसकी अर्थाभिव्यक्ति में यथार्थता का स्वभाव प्रदर्शित हो। दार्शनिक-विवेचना मूलत: एक स्वतन्त्र भाषापरक रचनात्मक प्रक्रिया है : इस प्रक्रिया की 'स्वतंत्रता' इस तथ्य से प्रकट है कि उसकी अर्थाभिव्यक्ति में प्रेक्षणात्मक वृत्ति तथा तात्पर्य वृत्ति का अन्तर या तो बिल्कुल समाप्त हो जाता है या फिर वे बिल्कुल समानान्तर रूप से सह-संबद्ध हो जाते हैं। इस तरह, जब प्लेटो अपने ग्रंथ थियेटिटस् में 'यथार्थता' को 'परिभाषा' द्वारा अभिव्यक्ति देना चाहता है तो उसका आधार यही है कि अर्थाभिव्यक्ति में प्रेक्षणात्मक वृत्ति व तात्पर्य वृत्ति का अन्तर समाप्त कर दिया जाय। इसी प्रकार अरस्तु की मान्यता है कि वास्तविक (एक्चुअल) व संभाव्य (पोटेंश्यल) वस्तुत: एक ही हैं, हीगेल की मान्यता है कि सत् और असत् मूलत: अभेद-रूप हैं, हाइडेगर की मान्यता है कि सत् का बोध असत् के बोध से अशेषत: सहयुज्य है। दूसरी ओर, कांट प्रभृति दार्शनिक 'यथार्थता' के संदर्भ में अभिव्यक्ति की प्रेक्षणता कोउसके तात्पर्य से परस्पर समानान्तरण रूप से सह-युज्य माने हैं और इसलिए यद्यपि 'यथार्थ' अपने स्वभाव में भाषा से बाहर होता है (नौमेना के रूप में) तथापि उसका बोध (फिनामिना के रूप में) उसकी बिल्कुल ठीक-ठीक संभावना व स्वरूप प्रस्तुत कर सकने में सक्षम होता है। स्पष्ट है कि दर्शनान्तर्गत इस तरह की 'अभिव्यक्ति' में जो तार्किक-रूप होता है वह स्वयं 'यथार्थता' का ही रूप बन कर प्रकट होता है, और इसलिए उसे किसी आकारिक रूप में प्रस्तुत कर सकना असंभव है।

***

धार्मिक चेतना पर एक दार्शनिक दृष्टि-१

धर्म और धर्मिक चेतना की दार्शनिक समझ भारतीय दर्शन-परम्परा के लिए भले ही नयी बात न हो, क्योंकि यहाँ तो प्रत्येक धर्म से जुड़ा एक विशाल दार्शनिक व्याख्या-तंत्र उपलब्ध हैं, किन्तु यह आधुनिक भारतीय दार्शनिकों के लिए एक नयी बात अवश्य है। कोई बिरला ही आधुनिक भारतीय दार्शनिक चिंतक इस दिशा में अपने-आप को किसी व्यवस्थित रूप में प्रवृत्त कर पाया है। मेरा उद्देश्य यहाँ यह दिखाने का नहीं है कि इस वस्तुस्थिति के कारण क्या हैं, यद्यपि मुझे इन कारणों का यत्किंचित् आभास अवश्य है, मेरी दृष्टि में अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह दिखाना है कि धर्म और धार्मिक चेतना पर दार्शनिक चिंतन स्वयं दर्शनक्रिया के ही किन्हीं मूल आधारों को समझने में बड़ा लाभकारी सिद्ध हो सकता है। फिर, धर्म के ही जिन गूढ़ पक्षों को उजागर करने में दार्शनिक चिंतन से मदद मिलती है वह तो दर्शन के बाहर भी समादर-योग्य हैं।

आधुनिक युग को हम 'ज्ञान का युग' कह सकते हैं, और आधुनिक मनुष्य को 'जिज्ञासु मनुष्य' कहा जा सकता है। जिज्ञासा से जागृत हुई ज्ञान की प्रक्रिया अविराम आगे बढ़ती है। उसका मार्ग ऐसे अवशेषों से भरा पड़ा है जो कभी मानव-अनुभव और विचारों की विशाल अट्टालिकायें थीं। इन ऐतिहासिक अवशेषों से गुजरते हुए हमें रोमांच हो आता है; कभी हमें लगता हैं कि वे आज भी हमसे ज्ञान की शैली में बात करने को आतुर हैं। किन्तु चूँकि मनुष्यों की सूक्ष्म मनोग्राह्यता में बराबर एक असमानता पायी जाती है, इसलिए केवल अति सूक्ष्म संवेदनशील मनुष्य ही इन अवशेषों के अन्तर में झंकृत भाषा को सुन पाते हैं, और इन थोड़े से मनुष्यों में भी बहुत थोड़े ही उसे सुन कर समझ सकते हैं।

इस युग की एक सामान्य धारणा यह है कि मानव-ज्ञान के मार्ग पर दूर-दूर तक फैले विशालतम तिलिस्मी अवशेषों की एक शृंखला का नाम ही 'धर्म' है। मानव-चेतना की छिपी हुई पर्तों को उधेड़ते हुए फ्रायड ने इसे एक भ्रम (इल्यूजन) के रूप में पाया; इतिहास के जटिल द्वंद्वों की कड़ियों को सुलझाते हुए मार्क्स ने इसमें एक शोषण-तंत्र 'मनुष्य के अफीम', की झलक देखी; और नीत्शे ने इसमें अपने महामानव के अवरोधक 'दासनैतिकता' के दर्शन किये। कुछ अन्य चिंतकों की समझ अधिक सहानुभूतिपूर्ण रही। आधुनिक समाजशास्त्रियों ने धर्म को मानव-सभ्यता के मूल उपादनों में से एक समझते हुए उसे एक सामाजिक तथ्य माना, जबकि दार्शनिक रुझान रखने वाले चिन्तकों-जैसे, किर्केगार्ड और व्हाइटहेड-ने उसके मर्म को वैयक्तिक मानस के नि:शब्द एकान्त में एक भाव-तरंग के रूप में पाया। कुछ ऐसे भी समकालीन विचारक हुए जिन्होंने धर्म को सारे मानव-जीवन, सामाजिक और वैयक्तिक, बाह्य और आन्तरिक में सराबोर देखा, जैसे महात्मा गाँधी, जिन्होंने राजनीति जैसे अत्यन्त इहलौकिक क्रिया-कलापों के सम्बन्ध में भी यही दृष्टिकोण रखा कि 'धर्म-विहीन राजनीति एक मृत देह की तरह केवल दफना देने योग्य है।'

धर्म और धार्मिक चेतना पर दार्शनिक चिंतन के लिए आवश्यक नहीं है कि चिंतनकर्त्ता किसी धर्म का पक्षधर ही हो, यद्यपि अवश्य धर्म के कई पक्षधर धर्म पर दार्शनिक चिंतन की बात से नाक-भी

सिकोड़ेंगे, क्योंकि उनकी समझ में दार्शनिक चिंतन उस बे-लगाम ऊँट-की-नाक की तरह है जो यदि धर्म के किसी कोने में धुस गया तो उसे पूरी तरह उखाड़-पछाड़ कर छोड़ेगा। दर्शन के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण संदेह का है, क्योंकि वे दार्शनिक चिंतन की परिणति सम्बन्धित विषय-वस्तु को शंकास्पद बना देने में देखते हैं। शायद एक दार्शनिक, चिंतन के सम्बन्ध में इस दृष्टिकोण से परहेज नहीं करेगा। पर हम जो यहाँ करना चाहते हैं वह यह कतई नहीं है। हम धर्म को वास्तविक मानव-चेतना की एक विशिष्ट स्थिति के रूप में मान्य कर उसे उसके आधारभूत स्वरूप व संरचना में समझना चाहते हैं। इस दृष्टि से देखे जाने पर धर्म एक ऐसी वस्तु-स्थिति, एक ऐसी स्वाधृत घटना (कुछ के लिए दुर्घटना) के रूप में स्पष्ट होता है जो किसी भी विचार या व्याख्या से पूर्व प्रदत्त है। पुन: चूँकि वह वस्तु-स्थिति मानव-चेतना की स्थिति भी है, वह एक विशिष्ट अर्थ में स्व-व्याख्येय या स्वरूपेण व्याख्येय भी है। व्याख्या (वैज्ञानिक व्याख्या) और स्व-व्याख्या (जैसे दार्शनिक व्याख्या) के बीच एक महत्त्वपूर्ण अंतर यह है कि व्याख्या साधारणत: कारणात्मक होती है, अर्थात् व्याख्या की जाने वाली वस्तु-स्थिति को किसी अन्य कारण-रूप वस्तुस्थिति के प्रकाश में उसके आधार से समझा जाता है। दूसरी ओर, स्व-व्याख्या में व्याख्येय विषय को अन्य सभी विषयों से अलग स्वत: उसी के प्रकाश में उसी के आधार से समझा जाता है। प्रकटत: चेतना की हर स्थिति अपने एक विशिष्ट रूप में इसी तरह स्वव्याख्येय या स्वरूपेण व्याख्येय है। प्रस्तुत सन्दर्भ में यह भी द्रष्टव्य है कि किसी भी व्याख्या की संगतता का आधार सिद्धान्तत: चेतना या चेतना के उपादान नहीं होते, जबकि स्व-व्याख्या की संगतता सदैव केवल चेतना और उसके उपादानों के आधार से ही निश्चित की जा सकने योग्य होती है। इस दृष्टि से स्पष्ट है कि जबकि फ्रायड, मार्क्स और नीत्शे धर्म की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, किर्केगार्ड, व्हाइटहेड, गाँधी जैसे चिंतकों का प्रयास धर्म की स्व-व्याख्या का रहा है।

धर्म की स्व-व्याख्या से एक चीज जो उभर कर सामने आती है वह है मानव-चेतना में अतिक्राम्यिता (ट्रांसेन्डेंस) की वृत्ति। धर्म चेतना की इस वृत्ति का न केवल प्रथम ऐतिहासिक प्रकाश है वरन् अब तक केवल वही उक्त अतिक्राम्यिता को उसकी समग्रता में अभिव्यक्ति देने वाला एकमात्र सफल मानव-प्रयास भी है। किन्तु सर्वप्रथम 'अतिक्राम्यिता' का अर्थ स्पष्ट कर लें : मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि यह मानव-चेतना की वह स्व-प्रेरित वृत्ति है जो मानव-अस्तित्त्व के सभी प्रदत्तों- आन्तरिक बाह्य, आत्मगत-वस्तुगत- से उसे परे ले जाते हैं। धर्म के आरम्भिक स्रोतों में हमें इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है- उसकी मूल समस्यात्मकता के लक्षण-निरूपण में। यथा, ऋग्वेद (१. १६४. ५४) में : "मैं सचमुच क्या हूँ, नहीं जानता; मन से बँधा हुआ बस चलता जाता हूँ...." । और भगवद्गीता (II २८-२९) में : "वह जो जीवों में केवल मध्य में व्यक्त है, तथा आदि और अन्त में अव्यक्त, उसे सब आश्चर्य से देखते, बोलते और सुनते हैं, किन्तु जनता कोई भी नहीं।" पाश्चात्य चिंतन में अतिक्राम्यिता की पारंपरिक धारणा ईश्वरवाद से जुड़ी रहने से, तथा वहाँ ईश्वर की धारा के अन्तर्गत उसे एक 'छुपे हुए तत्त्व' के रूप में स्वीकार करने के कारण, अतिक्राम्यिता को मानव-चेतना की ही एक मूल वृत्ति के रूप में बहुत बाद में-विशेषकर आधुनिक अस्तित्ववादियों के चिंतन में-देखा जा सका। वैसे भारतीय धर्मों के जानकार देख सकते हैं कि ईश्वर को न तो ऐसा एक 'छुपा तत्त्व' मानने की जरूरत है और न उसे मानव-चेतना से स्वरूपत: भिन्न समझना आवश्यक है। यही कारण है कि भारत में आरम्भ से ही धर्म की एक मूल मान्यता के रूप में अतिक्रामिता मानव-चेतना का स्वरूप-लक्षण मानी जाती रही है।

मानव-चेतना की अतिक्राम्यता के सम्बन्ध में यह द्रष्टव्य है कि चूँकि यह वृत्ति मानव-अस्तित्त्व को उसके सभी प्रदत्तों से परे ले जाने में सक्षम है, वह स्वयं उस कार्य-कारण शृंखला से स्वतन्त्र है जो प्रदत्तों के क्षेत्र में एक नियामक-संरक्षक तत्त्व है। अत: यह आवश्यक है कि हम इस अतिक्राम्यता को

उसकी सक्रियता में स्वत:स्फूर्त और स्वनिर्देशित मानें। पुन: यह भी मानना होगा कि मानव-अस्तित्त्व के सभी तीन पक्षों-संज्ञानात्मक, संवेगात्मक और क्रियात्मक में उसकी गति एक-सी है। अर्थात्, मानव-चेतना की अतिक्राम्यिता समूचे मानव-अस्तित्त्व को किसी भी स्थिति में जड़ बन कर पड़ा न रहने की एक पक्की गारंटी है। फलत: मानव-विकास की पूरी आनुवंशिकी भी उसी अतिक्राम्यता में सन्निहित है। अत: यह द्रष्टव्य है कि मनुष्य विकास के जिन लक्ष्यों की ओर बढ़ता है वे मूलत: अनिश्चित अमूर्त और केवल संभाव्य हैं, जिन्हें 'काँक्ष्य' या 'आदर्श' के रूप में चुनना मनुष्य की जिम्मेदारी है। संज्ञान के क्षेत्र में विज्ञान, संवेग के क्षेत्र में साहित्य और ललित कलाएँ तथा क्रिया के क्षेत्र में विविध खेलकूदों का विकास मानव-चयन का परिणाम है। इन क्षेत्रों में से प्रत्येक में ऐसा विकास मानव-चेतना की अतिक्राम्यता की सक्रियता का सूचक है-प्रत्येक स्थिति में मानव-अस्तित्त्व के किन्हीं स्थूल प्रदत्तों से परे निकल कर हम उस एक सूक्ष्म चेतना-स्थिति की ओर बढ़ते हैं जिसे कभी ज्ञान, तो कभी आनन्द कहा जाता है और इनकी सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि ये अपने-आप में काँक्ष्य या मूल्यवान् बन कर प्रकट होते हैं। वैदिक साहित्य में इसी ज्ञान और आनन्द की एकता को चरम पुरुषार्थ कहा गया हैं, और भारतीय धर्मों का चरम लक्ष्य भी यही है।

मानव-चेतना की स्वत:स्फूर्त तथा लक्ष्य-प्रेरित अतिक्रामिता पर अधिक विस्तार से विचार करने पर उसकी दो मुख्य दिशाएँ जान पड़ती हैं - आत्मगत या अन्तरतिक्राम्यता की अभिव्यक्ति मनुष्य द्वारा अपने प्रदत्त स्वभाव-संरचना के अतिक्रमण के प्रयास में होती है, नैतिक, विधिमूलक और कलात्मक क्षेत्रों में मानव-सृजनशीलता मूलत: इसी प्रकार की अतिक्राम्यता से संभव हो पाती है। इनमें प्रदत्त मानव-मनोजगत् को ही पुन:संस्कारित करने का प्रयास होता है। दूसरी ओर, बहिरतिक्राम्यता के अन्तर्गत मोटे तौर पर विज्ञान और तकनीकी क्रिया का सारा क्षेत्र आ जाता है। सामाजिक और प्राकृतिक विज्ञान तथा तकनीकी के क्षेत्र में बहिरतिक्रामिता का लक्ष्य मनुष्य के प्रदत्त परिवेश की पुर्नरचना द्वारा उसे अधिकाधिक मानवीय आवश्यकताओं के अनुकूल बनाना है। अन्तरतिक्रामिता और बहिरतिक्रामिता के बीच यह अन्तर भी किया जा सकता है कि जबकि प्रथम के अन्तर्गत सृजनशीलता मूलत: संवेगों से सम्बन्धित होती है, द्वितीय के अन्तर्गत इस मानव-सृजनशीलता का मूल सम्बन्ध संज्ञान (वस्तु-ज्ञान) से होता है। संवेग और संज्ञान के उभय क्षेत्रों में वे मानव क्रियाएँ संश्लिष्ट होती है जो मानव-शरीर द्वारा सम्पन्न होते हैं; किन्तु जिस तरह मानव-शरीर को न तो संवेगों-संज्ञानों में अपचयित किया जा सकता है और न ही शुद्धत: मनोमय या वस्तुगत समझा जा सकता है, उसी तरह मानव-क्रियाओं की भी अपनी एक कोटि हैं। अत: यह समझना आवश्यक है कि अतिक्रामिता के मूल लक्षण वाली मानव-चेतना मानव-शरीर की चेष्टाओं का अतिक्रमण किस तरह करती है। शारीरिक चेष्टाएँ प्रकृतत: जैव-आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ करती हैं और उनकी कोटिमूलक विशेषताएँ हैं उनका उपयोगी होना, सरल या कठिन होना, सहज या अभ्यासवश होना, कुशल या अकुशल होना। मानव-चेतना की सर्जनात्मक अतिक्रामिता शारीरिक चेष्टाओं के प्रकृत लक्ष्य से परे उन्हें खेल-कूद, व्यायाम आदि के स्तर तक पहुँचाती है और तब वे मूलत: विनोद के लिए होते हैं, जैविक आवश्यता-पूर्ति के लिए नहीं। शारीरिक चेष्टाओं के सम्बन्ध में इस तरह की सर्जनात्मक अतिक्रामिता कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथमत: उसे सीधे अन्तरतिक्रामिता अथवा बहिरतिक्रामिता में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता; किन्तु द्वितीयत: उसे दोनों से एकान्तत: बाहर भी नहीं रखा जा सकता। इस विरोधात्मक-सी दिखने वाली स्थिति का सीधा कारण मानव-व्यक्ति द्वारा अपने शरीर की समझ है-चूँकि वह अपने शरीर को बाह्य परिवेश से एकाकार नहीं समझ सकता इसलिए उसकी चेष्टाओं के संदर्भ में चेतना की बहिरतिक्रामिता संभव नहीं है; किन्तु पुन: चूँकि वह अपने शरीर को अपने मनस् से एकाकार नहीं

समझ सकता इसलिए अपनी शारीरिक चेष्टाओं के संदर्भ में चेतना की आन्तरतिक्रामिता संभव नहीं है। अत: शारीरिक चेष्टाओं के बारे में चेतना की अतिक्राम्यता का अपना ही एक विशिष्ट रूप है, और वह यह है कि केवल इस प्रकार की अतिक्राम्यता में अन्तरतिक्राम्यता और बहिरतिक्राम्यता एक बिंदु पर आकर चेतना में संश्लिष्ट होते हैं। इस तरह मानव-शरीर-चेष्टाओं के संदर्भ में अतिक्राम्यता का एक केन्द्रीय महत्त्व है, क्योंकि बिना इसकी सहायता के संवेग और संज्ञान की विकसित अवस्थाओं को मानव-चेतना की एक ही सरंचना में सूत्रबद्ध नहीं किया जा सकता। इसमें संरचनात्मक सूत्रबद्धता से ही यह संभव हो पाता है कि उच्च कलाओं को वैज्ञानिक ढंग से सीखा-सिखाया जा सकता है और विज्ञानों में भी विचारों व अभिव्यक्तियों को कलात्मक सज्जा मिल जाती है; विशुद्ध शारीरिक चेष्टाओं को कलात्मक मुद्राओं में बदला जा सकता है (यथा, नृत्य में-सभी प्रकार के नृत्यों का आरम्भिक रूप शायद विनोदपूर्ण खेलों का ही था) और वैज्ञानिक प्रतीक-भाषाओं व निरीक्षण-परीक्षण की विधाओं में भी (द्रष्टव्य: बोली जाने वाली आधुनिक भाषा का आद्य रूप शारीरिक संकेतों का ही था तथा निरीक्षण-परीक्षण किन्हीं स्थूल शारीरिक चेष्टओं के ही सूक्ष्म और सुलझे रूप हैं) ।

मानव-चेतना की संरचनात्मक अतिक्राम्यता के इन विविध पक्षों को जरा विस्तार से बताने से हमारा अभिप्राय यह है कि हम धर्म-सम्बन्धी इस विशिष्ट स्थिति को समझ सकें कि केवल धर्म के क्षेत्र में उक्त अतिक्राम्यता की अभिव्यक्ति उसकी सम्पूर्णता में मिलती है। इस बात को समझने के लिए सर्वप्रथम हम धर्म के अन्तर्गत अन्तरतिक्राम्यता और बहिरतिक्राम्यता को स्पष्ट करेंगे।

धार्मिक चेतना की अन्तरतिक्राम्यता का सर्वाधिक व्यवस्थित और विस्तृत रूप उपनिषदों में, विशेषकर तैत्तिरीयोपनिषद् की पंचकोषमय मानव-अस्तित्त्व की व्याख्या में मिलता है। यहाँ अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोषों के बीच एक क्रमिक शृंखलाबद्ध अतिक्राम्यता की बात कही गयी है जिसमें मानव-चेतना क्रमश:अधिकाधिक सूक्ष्म तथा अ-पादार्थिक सारभूत अस्तित्त्व तत्त्वों के स्तर पर अपनी उपलब्धि करती हैं। अवैदिक धर्म-ग्रंथों में भी इसकी कमोबेश झलक देखने की मिलती है। जैसे, ईसाई धर्म-ग्रंथ बाइबिल (न्यू टेस्टामेंट) में शरीर से अधिक जीवन और जीवन से अधिक आत्मा (स्पिरिट) के अधिक महत्त्वपूर्ण या सारभूत होने की बात कही गयी है। किन्तु यह द्रष्टव्य है कि यहूदी-परस्परा में उत्पन्न किसी भी धर्म में हमें धार्मिक चेतना की अन्तरतिक्राम्यता की वैसी गहरी अन्तर्दृष्टिपूर्ण व्याख्या नहीं मिलती जैसी उपनिषदों में उपलब्ध है। शायद इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि यहूदी परम्परा के धर्मों के अन्तर्गत मूल धार्मिक अनुभवों और उनसे सम्बन्धित सरंचना में दार्शनिक निरूपण का प्राय: अभाव रहा है। मूल धार्मिक अनुभवों (जिनके अन्तर्गत ईश्वर-सान्निध्य, आत्म-साक्षात्कार जैसी मौलिक अनुभतियाँ हैं) तथा उनसे संलग्न मूल धार्मिक संरचना (जिसमें धार्मिक विधि-विधान तथा प्रती-संस्थान आते हैं) को वहाँ किन्हीं ऐतिहासिक व्यक्तियों तक सीमित कर दिया गया है, जिसमें कि अन्य व्यक्ति दार्शनिक अन्तर्दृष्टि द्वारा उनकी पुनरुपलब्धि का दावा नहीं कर सकते। अत: वहाँ मूल धार्मिक अन्तरतिक्राम्यता को केवल पूर्वमान्य ही किया जा सकता है और इसलिए उसका स्वरूप सदैव रहस्यमय बना रहता है। धार्मिक अंधश्रद्धा के लिए यह स्थिति बड़ी उपजाऊ भूमि का काम करती है।

धार्मिक चेतना की बहिरतिक्राम्यता का एक अच्छा निरूपण पुन: हमें वैदिक धर्म विशेषत: ऋग्वेद के निरूपणों में मिलता है, यद्यपि उसमें व्यवस्था या क्रम का अभाव है। कमोवेश यही स्थिति अन्य धर्मों के निरूपणों में भी पायी जाती है। वैदिक निरूपणों में बहिरतिक्राम्यता की अभिव्यक्ति का यह क्रम जान पड़ता है : सर्वप्रथम, गोचर वस्तु-स्वरूप (विशेष और सामान्य दोनों) हैं। मनुष्यों की धन-सम्पत्ति (रयि) हैं। फिर इनके कारण-स्वरूप भौतिक-जैविक शक्तियाँ हैं, जो उक्त वस्तुरूपों का सूक्ष्म

सारतत्त्व हैं। पुन: इन सूक्ष्म शक्तियों का अधिष्ठाता तत्त्व है आद्य मिथुन, द्यावापृथिवी। और अन्त में इस आद्य मिथुन की स्वत: कारणरूप संरचनात्मक एकता ही वैदिक 'एक', ब्रह्म या 'पुरुष' है जिसमें एक साथ ही सारभूत केन्द्रस्थता (जो चेतना-संदर्भ में चित् और विश्व-संदर्भ में सत् है) है, और गतिरूप प्रसरता में ही चित् के भाव और अभाव के साथ क्रमश: देवताओं और असुरों की उद्भावना होती है। पुन:, वेदों में सत् का मूलरूप सहज स्वरूपवत् प्रसरता का है जो चेतना की विशिष्टता से प्रकाशवत् तथा उसके अभाव से अन्धकारवत् होता है। प्रकाशवत् प्रसरता में आत्म-चेतना की विशिष्टता से 'पुरुष-भाव' उत्पन्न होता है। चेतना की उपलब्धि स्वरूपत: अतिक्रमणात्मक होती है- और ऐसी चेतना देवताओं के साथ-साथ मनुष्यों में भी पायी जाती है। दूसरी और चिद्-अभाव के कारण अन्धकारवृत प्रसरता को अन्नं-रयिम् जैसी भौतिक-जैविक शक्तियाँ रूपायित करती है। द्रष्टव्य है कि वैदिक दृष्टिकोण से सत् का अन्धकारावृत प्रसरता वाला रूप अपने-आप में अशुभ या पापविद्ध नहीं है (उल्लेखनीय है कि वेदों में 'असुर' वेदताओं की भी अभिधा है)। वस्तुत: वे एक-साथ जीवन व मृत्यु दोनों के ही उपादान हैं - ठीक वैसे ही जैसे अग्नि का रूप हव्याद तथा क्रव्याद दोनों प्रकार का है, यद्यपि अपने स्वरूप में वह देवता है, एक अति महत्त्वपूर्ण वैदिक देवता। अग्नि के सम्बन्ध में हमने अभी जो बात कही वह इस दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है कि इसमें मनुष्य की भौतिक अर्थात् शारीरिक चेष्टओं में धार्मिक अतिक्राम्यता का स्वरूप स्पष्ट होता है।

भगवद् गीता (८.३) में मानव-कर्म की परिभाषा दी गयी है : 'भूतभावोद्भवकरो' विसर्ग: कर्मसंज्ञित: ।' वस्तुत: इस परिभाषा में मानव की भौतिक चेष्टा का अतिक्रामी स्वरूप ही वर्णित हुआ हैं। इस चेष्टा के फलस्वरूप, एक ओर प्रदत्त वस्तु-रूपों में रूपान्तरण घटित होता है-मनुष्य अपने लिए एक नये परिवेशमय संसार की रचना करता है, तो दूसरी ओर स्वयं क्रियाओं-चेष्टाओं के क्षेत्र में भी एक महत्त्वपूर्ण रूपान्तरण घटित होता है-ये चेष्टाएँ अपने उत्पाद के स्थूल स्वरूप से न चिपककर स्वयं अपनी अभिव्यक्ति में मनुष्य के लिए सुख-चेतना में परिवर्तित होती हैं। इस तरह मनुष्य की शारीरिक चेष्टाएँ समान रूप से मानवीय बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् में गतिशील होती है। साधारणत: कोई उसकी गति के प्रथम रूप (भूतभाव की उद्भावना करने वाले तत्त्व का रूप) से ही परिचित होता है, जबकि उसका द्वितीय रूप (भूतभाव के संदर्भ में विसर्ग या विच्छेद) अन्त: सलिला की भाँति दृष्टिगोचर नहीं होता। किन्तु धार्मिक चेतना के अन्तर्गत इस अन्त: सलिला को चेतना की ऊपरी सतह पर लाया जाता है जिससे उसके द्वारा उस चेतना की अन्तरतिक्राम्यता और बहिरतिक्राम्यता को एक सूत्र में बांधा जा सके। धार्मिक क्रियाकांडों और अनुष्ठानों की केन्द्रीय महत्ता प्रत्येक धर्म में इसीलिए है।

उपर्युक्त बात को स्पष्ट करने के लिए एक बार फिर हम वैदिक धर्म का उल्लेख करेंगे। वैदिक कर्मकांड और अनुष्ठान का रूप 'यज्ञ' का है और ऋग्वेद (५. ५२.१०) में उसका स्वरूप-निदर्शन इस तरह हुआ है- वह स्वयं यज्ञकर्त्ता की ओर ले चलने वाला मार्ग है (आपथय:), वह भौतिक जगत् की ओर ले चलने वाला मार्ग है (विपथय:) वह मानव-मानस-जगत् की ओर चलने वाला मार्ग है (अन्तस्पथ:), और वह विश्व-सामंजस्य या ऋत की ओर ले चलने वाला मार्ग है (अनुपथ:)। उसका अपना मूल स्वरूप एक पथ या मार्ग है जिसके कुछ निश्चित लक्ष्य हैं और वह स्वयं इन लक्ष्यों को एक सूत्र में जोड़ने वाली कड़ी है। 'यज्ञ एक धार्मिक अनुष्ठान के रूप में एक-साथ ही स्थूल जगत् की उद्भावनामूलक चेतना, स्वयं मनुष्य' (यज्ञकर्त्ता) की आत्म-चेतना, समग्र जगत् की सामंजस्यमूलक व्यवस्था की चेतना तथा मनुष्य मात्र में मूल्योंन्मेष की चेतना को एक ही संरचना में अभिव्यक्ति देता है और इस तरह मानव की अतिक्राम्यिता शारीरिक चेष्टा के विशेष विधा में भी प्रकट होती है। एक धार्मिक मनुष्य धार्मिक अनुष्ठानों को बार-बार करना चाहता है, क्योंकि उसे धार्मिक संतुष्टि और सुख की उपलब्धि

इन्हें करने से मिलती है जैसाकि स्पष्ट होगा, आवश्यक नहीं कि इस सन्तुष्टि और सुख का आधार मानव-अज्ञान, अभ्यास, या अन्ध-श्रद्धा ही हो, जैसाकि कई आधुनिक विद्वान समझते हैं। वरन् तथ्य यह है कि धर्म की समग्र सरंचना तथा मनुष्य की चेतना की समस्त वृत्तियाँ (संवेगमूलक, संज्ञानमूलक, क्रियामूलक), इन अनुष्ठानों में अतिक्रामिता से विशिष्ट होकर अभिव्यक्त होती हैं।

मैंने ऊपर धर्म की विशिष्ट घटनात्मकता को समझने के लिए उसमें निहित चेतना की संरचना को, विशेष कर उसकी अतिक्रामिता स्वरूप को, स्पष्ट करने का प्रयास किया है। अधिक ठीक यह कहना होगा कि यहाँ मैंने उस तरह के प्रयास की एक रूप-रेखा ही प्रस्तुत की है, और वह भी केवल वैदिक धर्म के संदर्भ में। किन्तु मैं मानता हूँ कि किसी भी धर्म के संदर्भ में दार्शनिक दृष्टिकोण हमें उक्त तरह की व्याख्या उपलब्ध करा सकेगा, क्योंकि धर्म मात्र में निहित तत्त्वों-उसकी तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, नैतिकता, श्रद्धा व कर्मकांड-को मानव-चेतना की विविध विधाओं वाली अतिक्रामिता की सामंजस्यपूर्ण गतिशीलता के आधार से ही समझा जा सकता है। इससे दो बातें उभर कर सामने आती हैं। एक यह कि मानव-चेतना के संदर्भ में धर्म की एक आद्य मौलिकता और ऐतिहासिक सत्यता है जिसे तब तक भुला पाना संभव नहीं जब तक कि मनुष्य अपने विकास के लक्ष्य के रूप में अपने समूचे स्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति चाहता है। दूसरी यह कि स्वत: आत्म-चेतन दार्शनिक चिंतन की अपनी पारदर्शिता और 'ज्ञान' (विज्डम) की दिशा में अथक क्रियाशीलता की अभिव्यक्ति का एक बड़ा अच्छा माध्यम धार्मिक-चेतना की बहु-आयामी अतिक्राम्यता की व्याख्या हो सकता है। दार्शनिक चिंतन स्वत: भी उक्त बहु-आयामी अतिक्राम्यता को अपने ढंग से अपनी संरचना में व्यक्त करना चाहता है; किन्तु चूँकि वह यहाँ हमारा प्रतिपाद्य विषय नहीं है, उसके विस्तार में हम नहीं जायेंगे। बस केवल यह याद रखेंगे कि धार्मिक-चेतना में उस अतिक्राम्यता का प्रकटन दर्शन के क्षेत्र में उसकी प्रस्तुति के लक्ष्य के सर्वाधिक करीब है।

***

संदर्भ टिप्पणी

१. *शंकर इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं : "भौतिक वस्तुओं को उत्पन्न करने वाला विसर्ग (यज्ञ में हवि-त्याग) ही कर्म है। इस बीज रूप यज्ञ से ही वृष्टि आदि के क्रम में स्थावर-जंगम सब भूत उत्पन्न होते हैं।" श्री अरविन्द के अनुसार इसका अर्थ है : "कर्म वह सृजन-वासना तथा ऊर्जा है जो आद्य आत्म-संभवन (सेल्फ बिकमिंग): स्व-भाव : में से वस्तुओं को घटित करती है - कारा-मुक्त करती है। (लूर्जज आउट) और प्रकृति में अस्तित्त्वों के (भूतों के) आविर्भाव के वैश्व-व्यापार को क्रियान्वित करती है। द्र. "एस्सेज ऑन गीता" : पृ, २७७-७८ यहाँ ह. माहेश्वरी द्वारा लिखित-संपादित भगवद्गीता इन दि लाइट आफ श्री औरोबिंदो से उद्धृत। (संपादक)"*

धार्मिक चेतना पर एक दार्शनिक दृष्टि-२

ट्रक्टेटस में विट्गिन्स्टाइन का यह कथन ध्यान देने योग्य है : "हमें लगता है कि संभव वैज्ञानिक प्रश्नों का उत्तर दिये जाने पर भी हमारी जीवन-संबंधी समस्याएँ बिल्कुल अछूती ही रह जायेंगी। निस्संदेह तब कोई प्रश्न शेष नहीं रह जाता-और बस यही उत्तर है। (६.५२)

"जीवन-संबंधी समस्या का समाधान इस समस्या के लोप हो जाने में दिखाई देता है। (क्या यही कारण नहीं कि वे मनुष्य, जिन्हें दीर्घकालीन संदेह के बाद जीवन का आशय स्पष्ट हुआ, कह नहीं सके कि वह आशय किसमें निहित है ?)(६.५२१)

"निस्सन्देह अनिर्वचनीय है। वह स्वयं को प्रदर्शित करता है, वह रहस्यमय है।" (६.५२२)

विट्गिन्स्टाइन का उक्त कथन हमारे विवेच्य विषय के संदर्भ में बड़ा महत्त्वपूर्ण है। धार्मिक चेतना के प्रकाश्य स्वरूप को यदि हम वैज्ञानिक मानसिकता की निर्वचनीयता से पृथक् मान लें तो विट्गिन्स्टाइन के मतानुसार धार्मिक प्रकथन (वाक्य) किन्हीं प्रश्नों के उत्तर न होकर मानव-जीवन के उस गूढ़ आशय में ही संरचित होंगे जो किन्हीं प्रश्नों के पूर्व उपस्थित हैं। अवश्य वे प्रकथन अपनी प्रस्तुति में एक ऐसी सार्वकालिक आद्यता (देखिए, ट्रक्टेटस, ६.५३११) प्रदर्शित करते हैं जो मानव-अस्तित्त्व की गहनतम समस्यात्मकता से सम्बन्धित है, और इसलिए उन प्रकथनों को किन्हीं देश-काल बद्ध अनुभवों द्वारा उत्तरित हो सकने वाले प्रश्नों के उत्तर के रूप में नहीं देखा जा सकता। फलत: उन्हें किसी वस्तुनिष्ठ या वैज्ञानिक प्रविधि द्वारा सत्य या असत्य प्रमाणित नहीं किया जा सकता। उनके सम्बन्ध में अनिर्वचनीयता और रहस्यमयता का कारण यही है।

अपने प्रथम लेखांश में धार्मिक चेतना की जिस आद्य अतिक्राम्यता की चर्चा हमने की थी उसके प्रकाश में धार्मिक प्रकथनों में प्रदर्शित उक्त अनिर्वचनीयता और रहस्यमयता को समझा जा सकता है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात इस संबंध में यह है कि इस अनिर्वचनीय और रहस्यमय के दार्शनिक प्रमाणीकरण की चेष्टा भी आरम्भ से ही भारत-मूल के धर्मों में हुई है। किन्तु इसका उल्लेख हम सबसे बाद में करेंगे। अभी हम यह देखेंगे कि धार्मिक प्रकथनों में प्रदर्शित अनिर्वचनीय और रहस्यमय का स्वरूप ठीक कैसे चेतना की अतिक्राम्यता में से उभरता और पनपता है।

जहाँ तक धार्मिक प्रकथनों का रूप किन्हीं व्याकृत भाषायी कथनों का है, स्पष्ट है कि चेतना की अतिक्राम्यता उनके अर्थ-सार में प्रकट होकर उनके व्याकृत स्वरूप का अतिक्रामण करेगी-क्योंकि जैसाकि हमने अपने पूर्व लेखांश में कहा था, वह किसी भी प्रदत्त वस्तुस्थिति का अतिक्रमण करती है। अब चूँकि इस तरह धार्मिक प्रकथनों का अर्थ-सार ही अतिक्रामी स्वरूप वाला होता है, स्वाभाविक है कि तत्त्वत: वे अनिर्वचनीय और रहस्यमय ही होंगे। यह भी देखना चाहिए कि धार्मिक प्रकथनों को अर्थयुक्त मान कर भी उन्हें वस्तुनिष्ठत: सत्य न मान सकने की कठिनाई वस्तुत: वैज्ञानिक विधि की कमजोरी या वैज्ञानिक ज्ञान की सीमाबद्धता जैसी किसी अभावमूलता से न जुड़कर स्वत: मानव-चेतना की आद्य भाववृत्ति-स्वरूप अतिक्राम्यता से जुड़ी है। विट्गिन्स्टाइन अपनी इस मूल मान्यता में

सही है कि वैज्ञानिक ज्ञान और जीवन एक-दूसरे को बाधित नहीं करते; यद्यपि इस आधार से निकाले गये उसके कई निष्कर्ष या तो भ्रामक होने की सीमा तक अस्पष्ट हैं (जैसे कि वे उद्धरण जिनका उल्लेख हमने ऊपर किया है), या बिल्कुल गलत (जैसे उसका यह कथन कि कोई 'दार्शनिक कथन' अर्थयुक्त नहीं होते-ट्रैक्टेटस, ४.११२)। वस्तुत: विट्गिन्स्टाइन ने जीवन और चेतना में प्रकट समस्यात्मकता का अभाव-रूप ही देखा है, अर्थात् यह रूप ही सही वैज्ञानिक ज्ञान व विधि का अभाव ही किसी भी समस्यात्मकता की जड़ में है, उसका भाव-रूप नहीं। अन्यथा यह देख पाना अधिक कठिन नहीं कि जीवन और चेतना में प्रकट आद्य समस्यात्मकता किसी प्रकार का मोह या विवशता न पैदा कर उन्हें अधिक गतिशीलता, उत्फुल्लता और समृद्धि प्रदान करती है।

जीवन और चेतना की आद्य समस्यात्मकता का रूप चेतना की अतिक्राम्यता की विधा से बनता है-इस तरह कि इस अतिक्रामी वृत्ति के कारण मनुष्य सदैव जिज्ञासा की मुद्रा में होता है जैसे उसका अस्तित्त्व अन्दर और बाहर से जिज्ञासा-विद्ध है, और जैसे उसकी जिज्ञासाएँ केवल नये समाधान के लिए ही उत्सुक न होकर नित नयी जिज्ञासाओं के आविष्कार में सन्नद्ध हैं। चेतना की अतिक्राम्यता संबंधी इस स्थिति की विवेचना हम अभी धार्मिक चेतना के संदर्भ में करेंगे। किन्तु वहाँ हमारी विवेचना इस विशेष उद्देश्य से परिचालित होगी कि हम चेतना की उस विशिष्ट मूल अवस्था की विस्तार से चर्चा करें जिस पर धर्म की सारी इमारत खड़ी है और जिससे उसे अपना सारा वैभव मिलता है।

सबसे पहले इस सामान्य तथ्य पर ध्यान देना चाहिए कि हमारी चेतना की प्रस्तुति का स्वरूप सदैव आत्मचेतनात्मक नहीं होता। जब भी हमारी चेतना किसी अ-चेतन वस्तु-स्थिति की प्रकाशक होती है, जैसे जब हम कोई चित्र देखने में तल्लीन (तद्-लीन:) होते हैं, उस समय अभिव्यक्ति उस वस्तुस्थिति की ही होती है, हमारी आत्म-चेतना की नहीं। अवश्य उस समय भी चेतना में आत्म केन्द्रस्थता होती है, किन्तु चूँकि वह अचेतन वस्तु-स्थिति की संरचना में ही अन्तरंचित होती है, सम्बन्धित वस्तु-स्थिति से पृथक् उसकी अनुभूमि नहीं हो पाती। चित्र को तल्लीन होकर देखने की क्रिया में इस तरह का ज्ञान नहीं होता कि 'मैं देख रहा हूँ' यद्यपि उस क्रिया के साथ-साथ कई आत्म-निर्देशक वृत्तियाँ सक्रिय रह सकती हैं-जैसे आनंद, ईर्ष्या आदि। दूसरे शब्दों में, चेतना की आत्मकेंद्रस्थता और उसकी आत्म-चेतना एक ही नहीं है। वस्तुत: हमारे अस्तित्त्व के सभी क्षेत्रों-संज्ञानमूल, संवेगमूल और चेष्टामूल- में चेतना सामान्यत: आत्मकेंद्रस्थ तो अवश्य होती है किन्तु आत्म-चेतन नहीं। हमारे दैनंदिन क्रिया-किलापों, सुख-दुख जैसी साधारण अनुभूतियों और अवलोकन-श्रवण जैसी सामान्य संज्ञान-क्रियाओं में चेतना का केवल आत्म-केंद्रस्थ रूप ही प्रकट होता है, आत्म-चेतन स्वरूप नहीं। इस तरह की आत्मकेंद्रस्थ चेतना अव्याकृत और विकीर्ण चेतना है जिसमें आत्म-प्रस्तुति की ओर एक हल्का, अस्पष्ट-सा संकेत भर होता है, आत्म-स्वरूप का स्थायी और घनीभूत प्रकाश नहीं।

सामान्य मानव-जीवन के पोर-पोर में समायी चेतना की अव्याकृत और विकीर्ण स्थिति उसकी अतिक्रामी वृत्ति के लिए निद्रा की सी अवस्था है, किंतु तब जिस तरह निद्रावस्था में सपनों के दौर चलते हैं और मनुष्य वहाँ प्रकट घटना-रूपों के संदर्भ में द्रष्टा मात्र न रहकर उनका स्रष्टा बन जाता है, उसी तरह चेतना की अतिक्रामी वृत्ति की निद्रावस्था में भी सपनों के झटके लगते हैं जिससे चेतना अपने-आप को एक ऐसी सृजन-क्रिया के केन्द्र में पाती है जिसका आधार वह स्वयं है, किसी अन्य में निमज्जित-संरचित रूप नहीं। बृहदारण्यक उपनिषद् (४.३.७.१०) स्वप्नावस्था में चेतना की सर्जनात्मकता को इस तरह निरूपित करती है : 'वहाँ चेतना मृत्यु-रूपों (विषय-स्वरूप वस्तु-रूपों) का अतिक्रमण करती है। वह कर्त्ता है-जहाँ न रथ हैं, न घोड़े, न पथ; वहाँ वह रथों, घोड़ों और पथों की

रचना करती है; जहाँ न विषय-सुख है, न मानस-सुख, वहाँ वह विषय-सुखों और मानस-सुखों की सर्जना कर लेती है; जहाँ न गृह हैं, न पुष्करणियाँ, वहाँ वह विषय-सुखों और पुष्करणियों का निर्माण करती है।' दूसरे शब्दों में, स्वप्न-चेतना में स्वयं-प्रेरित संकल्प और प्रतीकोन्मेषक कल्पना का गुण आ जाता है। आत्मकेन्द्रस्थ चेतना को मानो अपने अन्दर और बाहर एक स्वतन्त्र गति मिल जाती है, निद्रावस्था की अपनी स्वरूप-जड़ता और विषयों की जकड़न से जैसे उसे छुटकारा मिल जाता है। तथापि स्वप्न-चेतना की इस इच्छा-प्रेरित गति को जागृत चेतना के प्रकाश में ही ठीक-ठीक समझा और परखा जा सकता है, क्योंकि चेतना में आत्म-ज्ञापन की स्पष्टता और तर्क-विश्लेषण का सामर्थ्य उसकी जागृतावस्था में ही आ पाती है।

इस तरह चेतना की अतिक्रामी वृत्ति को एक ऐतिहासिक क्रम में विकसित होता हुआ देखा जा सकता है-निद्रा, स्वप्न, और जागृतवस्था के क्रम में। इस ऐतिहासिक क्रम में धर्म के अभ्युदय का काल स्वप्न-चेतना की सृजनशीलता का काल है। (द्रष्टव्य: दुर्खाइम, लीनहार्ट, लेबीब्रूल, स्टेनर आदि जिन समाजवादियों ने आस्ट्रेलिया के मूल निवासियों के धर्म का गहन अध्ययन किया है और उस धर्म में धर्म के मूल तत्त्वों को- अर्थात् पुराण-कथाओं (मिथ्स) और कर्मकांडों (रिचुअल्स) को-उनके शुद्धतम रूप में पाने का दावा किया है। उनका कथन है कि धर्म और समूची धार्मिक संरचना को जिस शब्द से वे मूलनिवासी अभिहित करते हैं उसका शाब्दिक अर्थ 'स्वप्न' है। दूसरी ओर, जागृत चेतना में प्रकट आत्म-ज्ञापन और तर्क विश्लेषण से दर्शन और विज्ञान जैसी ज्ञान-केन्द्रित सूक्ष्म और जटिल संरचनाओं का निर्माण संभव होता है। स्वप्न-चेतना की अतिक्रामी सृजनशीलता और जागृत चेतना की अतिक्रामी ज्ञान-वृत्ति के बीच यह एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है कि जबकि प्रथम स्थिति में अंतरतिक्राम्यता और बहिरतिक्राम्यता (जिनकी चर्चा मैं अपने पूर्व लेखांश में कर चुका हूँ) इस तरह परस्पर गुँथे रहते हैं कि उन्हें ठीक-ठीक पृथक् कर पाना प्राय: असंभव होता है, द्वितीय स्थिति में ये अतिक्रामी वृत्ति के दो परस्पर विरोधी सिरों के रूप में प्रकट होते हैं-दर्शन में घनीभूत हुई अन्तरतिक्राम्यता और विज्ञान में घनीभूत हुई बहिरतिक्राम्यता। पुन: यह भी द्रष्टव्य है कि स्वप्न-चेतना में उक्त दो अतिक्रामी वृत्तियों के बीच एक संतुलन होता है और वे परस्पर पूरक तत्त्वों के रूप में सक्रिय होती हैं, और इसलिए इन दोनों की सक्रियता एक विशेष सीमा तक ही संभव है। इसके विपरीत, जागृत चेतना में उक्त अतिक्रामी वृत्तियों की स्वतंत्र और स्वच्छंद गतिशीलता से, उनके परस्पर संतुलित रह एक-दूसरे को परिसीमित नहीं कर सकने के कारण, संदेह चेतना की एक प्रबल वृत्ति के रूप में जागता है। यदि इस संदेह-वृत्ति का उपयोग प्राविधिक हो तो वह तर्क-विश्लेषण में ही अंशभूत होकर मानव-ज्ञानान्वेषण में सहायक होती है। किन्तु यदि वह स्वयं ही एक स्वेच्छा-वृत्ति का रूपधारण कर ले तो ज्ञानान्वेषण में सबसे अधिक बाधक भी साबित हो सकती है। किसी स्थिति में जागृत चेतना की संदेह-वृत्ति पुरानी संरचनाओं, मान्यताओं को अछूता नहीं छोड़ती। इसके प्रभाव में वे या तो बिल्कुल लुप्त हो सकते हैं या उनके आधार से एकदम अकल्पित संरचनाएँ, मान्यताएँ विकसित हो सकती हैं। संदेह-वृत्ति का ऐसा प्राविधिक प्रयोग ही उसे जिज्ञासा का रूप देता है।

प्रकट है कि स्वप्न, चेतना में संरचित धर्म की जागृत चेतना में विकसित होने वाली उक्त जिज्ञासा के प्रभाव से बाहर नहीं रह सकता। वस्तुत: धर्मों में बाद में विकसित होने वाली मोक्ष, सुषुप्ति, योग आदि की धारणाओं के आधार में वह दार्शनिक चिन्तन होता है जो उक्त जिज्ञासा की उपज है। इसके प्रभाव में चेतना स्वयं अपने द्वारा संरचित प्राकृतिक, जैविक, मानसिक और बौद्धिक संरचनाओं को लांघते हुए आत्म-ज्ञापन-कारक आत्मा को धर्म के केन्द्र में स्थापित करती है। किन्तु धर्म का यह स्वरूप बिना प्रकट दार्शनिक चिन्तन के संभव नहीं हो पाता। दूसरी ओर यह भी द्रष्टव्य है

कि जागृत चेतना मुं बहिरतिक्रामी वृत्ति का एकांत अतिरेक विज्ञान को इस रूप में विकसित कर सकता है कि वह धर्म के घोर विरोध का रूप धारण कर ले।

भारतीय धर्मों में एक महत्त्वपूर्ण अंतर अज्ञान (अविद्या) और ज्ञान के बीच किया जाता है जो चेतना और अस्तित्त्व के तीनों पक्षों- संज्ञान, संवेग और कर्म-में समानत: प्रयुक्त होता है। प्रकारांतर से यह अन्तर सभी धर्मों में मान्य है। अज्ञान निद्रित चेतना की अवस्था है जबकि ज्ञान जागृत चेतना की अवस्था। इन दो अवस्थाओं के बीच एक विशाल अवकाश चेतना की स्वप्नावस्था का है जिसके अन्तर्गत मनुष्य अपने लिए प्राकृतिक जगत् से अलग एक कल्पना व संस्कारमूलक जगत् की रचना करता है। यह वह जगत् है जहाँ संकल्प, कल्पना और कर्मानुष्ठान द्वारा नवीन मूल्यों, संभावनाओं और वास्तविकताओं का सृजन किया जाता है। अंगुत्तर निकाय (३.९९.१) में बुद्ध का एक महत्त्वपूर्ण कथन उद्धत है : ''भिक्षुओं ! यदि कोई कहे कि जो जैसा करता है उसे वैसा ही भरना पड़ता है, तो उस स्थिति में धार्मिक जीवन (ब्रह्मचर्यवास) संभव नहीं, न ही दु:ख का पूर्ण अन्त संभव है। किन्तु कोई यदि ऐसा कहे कि मनुष्य को फल उसके कर्म के अनुसार मिलता है, तो उस स्थिति में धार्मिक जीवन भी है और दु:ख का पूर्ण अंत सम्भव है। कर्म की प्रथम स्थिति निद्रित चेतना की है जहाँ संकल्प की स्वतन्त्रता और कल्पना की सृजनशीलता के अभाव में कर्म और कर्मफल पर प्राकृतिक यांत्रिकता का घेरा पड़ा रहता है, उस चक्र से मुक्ति का उपाय नहीं। कर्म की दूसरी स्थिति स्वप्न-चेतना की है जहाँ कर्म में स्वतन्त्र संकल्प का स्फुरण है- यह कि कर्म-संस्कार द्वारा कर्मफल-संस्कार एक वाँछनीय संभावना हैं - और मनुष्य एक ऐसे कर्मानुष्ठान (धार्मिक-सांस्कृतिक संरचना) की कल्पना में समर्थ है जिससे वह दु:ख-चक्र से छूट सके। प्रसंगवश द्रष्टव्य है कि बुद्ध के उपर्युक्त कथन के तात्पर्य में इसकी ओर संकेत है कि कर्म-विपाक में संवेग-तत्त्व (दु:ख) अंशभूत है, जिसमें धार्मिक जीवन की प्रस्तुति के साथ-साथ रूपांतरण घटित होता है और जो कर्म में होने वाले रूपांतरण के ठीक समानुपातिक है। कर्म और संवेग-तत्त्व में समानुपातिक रूपांतरण के साथ संज्ञान-तत्त्व में भी ठीक उसी अनुपात में रूपांतरण घटित होता है-अज्ञान के अंधकार (जिसे मध्ययुगीन ईसाई रहस्यवादियों ने ''इन्द्रियों की रात्रि'' कहा) से निकलकर चेतना संबोधि (ज्ञान) के उजाले की ओर गति करती है। कर्म, संवेग और संज्ञान के अस्तित्त्व-क्षेत्रों में इस प्रकार होने वाले रूपांतरण की शुरूआत स्वप्न-चेतना में होती है और यह रूपांतरण जागृत चेतना की अवस्था में पुष्ट और प्रामाणिक बन सकने योग्य होता है। स्वप्न-चेतना में घटित होने वाले इस रूपांतरण और जागृत चेतना में उसे मिलने वाले रूप के बीच एक महत्त्वपूर्ण भेद का उल्लेख यहाँ आवश्यक है। यह कि प्रथम स्थिति में उसमें अभिव्यक्त ऐतिहासिक क्रम को द्वितीय स्थिति में यथावत् बनाये नहीं रखा जा सकता। ऐतिहासिक क्रम में रूपांतरण की दिशा अंधकार से प्रकाश, मृत्यु से अमृत और असत्य से सत्य की ओर होती है; किन्तु जब यह क्रम टूटता है तब हम उसे इस रूप में पाते हैं-संसार और निर्वाण एक ही हैं, उनके बीच केवल दृष्टि-भेद है, तात्त्विक भेद नहीं (नागार्जुन); अज्ञान (अविद्या) और ज्ञान (विद्या) दोनों ही अंधकारमूलक हैं यदि उनके बीच सम्यक् संतुलन का अभाव हो (ईशावास्योपनिषद्); ब्रह्मोपलब्धि का आनन्द ही निद्रावस्था और स्वप्नवस्था की सुखानुभूमि में अनुस्यूत है (बृहदारण्यक, तैत्तिरीयोपनिषद्) इत्यादि। कहने की आवश्यकता नहीं कि चेतना के विकास का ऐतिहासिक क्रम उसमें दार्शनिक-दृष्टि के सबल होने पर ही टूट पाता है।

अब हमें इस पर ध्यान देना चाहिए कि स्वप्न-चेतना में आविर्भूत धर्म का रूप, उसकी संरचना, क्या है ? सभी धर्म इसे एक पूर्वमान्य सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं कि धर्म श्रद्धा में प्रतिष्ठित है। 'श्रद्धा' का ठीक अर्थ क्या है यह एक विवादस्पद विषय हो सकता है। किन्तु यह प्राय: सभी को स्वीकार्य है कि उसमें प्रकाशता, विश्वास, ग्राह्यता और भावोद्रेकता के तत्त्व हैं। ऋग्वेद (१०.१५१) में एक

श्रद्धा-सूक्त है जिसकी कुछ महत्त्वपूर्ण बातें इस प्रकार हैं : इस सूक्त की देवता और द्रष्टा-ऋषि श्रद्धा है जो काम-कुलोत्पन्ना (कामायनी) है। बीज-रूप 'काम' निद्रावस्थित चेतना की प्रकृति-संश्लिष्ट वृत्ति का नाम है। इसका लक्षण नवीन सृजन न होकर पुरातन का पुन:-पुन: प्रत्यावर्त्तन है। ऋग्वेद (१०.१२९) के सृष्टि-सूक्त में काम को सृष्टि का प्रथम उत्पन्न तत्त्व कहा गया है। वह सृष्टि का बीज-स्वरूप है, वह ऋत की क्रियाशक्ति है, अभी उसे कर्म का स्वरूप नहीं मिल पाया है क्योंकि चेतना अभी अव्याकृत और विकीर्ण है। इसमें विश्वव्यापी नियामकता तो है किन्तु स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति या संकल्प नहीं। चेतना की गत्यात्मक आत्म-केन्द्रस्थता का इसमें अभाव है, क्योंकि इसके क्रिया-व्यापार का रूप 'मनन' का न होकर 'व्यसन' (वासना) का है जो केवल बाह्यापेक्षा में जीता है। इसलिए यहाँ स्वत: चेतना का 'भाव' वस्तुत: 'अभाव'-वत् है (ऋग्वेद, १०.१२९.५)। चेतना की ऐसी 'अभाव'-वत्ता ही उसे अचेतन प्रकृति से एकाकार कर 'अंध-तमस्' के क्षेत्र में ले जाती है। चेतना की इस अंधकारमय स्थिति को बौद्ध 'तृष्णा' और उपनिषद् 'आशना-पिपासा' कहते हैं - छांदोग्य उपनिषद् (६.८.३-६) में इसे शुंगवत्, अंकुर के रूप वाला, कहा गया है जो पुरातन के पुनर्पुन: प्रत्यावर्तन, अर्थात् उत्पत्ति-अवसान के चक्र, का आश्रय-स्वरूप है। सभी जीवों में चेतना का यह निद्रावस्थित रूप विद्यमान हैं, किन्तु केवल मनुष्य में इसमें आगे चेतना की स्वप्नवस्था और जागृतवस्था की संभावना भी पायी जाती है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण (३.१२.३.२) में श्रद्धा को ऋत की प्रथम संतति कहा गया है। अत: श्रद्धा ऋत की क्रिया-शक्तिभूत काम की प्रथम संतति और इसलिए कामायनी, हुई। ऋग्वेद के उक्त श्रद्धा-सूक्त के अनुसार श्रद्धा हृदय की भाव-मूर्ति के रूप में उपलब्ध होती है (हृदय्ययाकूत्या)। पुन: धार्मिक कर्म (यज्ञ, दान, स्तुति आदि) के सुफल का आधार श्रद्धा है। इसलिए मानव-प्रेयस् का आधार भी श्रद्धा है, यहाँ तक कि देवगण भी जीवन के मूल-स्रोत, अर्थात् सुख (असुर=असु (जीवन) में रमण) में श्रद्धा रखते हैं। श्रद्धा ही हमें श्रद्धा में स्थापित करने वाला तत्त्व भी है (श्रद्धे श्रद्धापयेह न:)। वाजसनेयी संहिता (१९-३०) में श्रद्धा को सत्य (श्रत्) का धारक (धा) कहा गया है (श्रद्धया सत्यमाप्यते)। श्रद्धा-संबंधित इस महत्त्वपूर्ण कथन को वैदिक साहित्य के प्राचीन-अर्वाचीन टीकाकारों ने बार-बार दुहराया है। स्वयं वैदिक साहित्य में ही इसकी संपुष्टि छांदोग्योपनिषद् (७१६.१९) में इस तरह हुई है : "सत् ही जानने योग्य है, क्योंकि वही वास्तविक 'विज्ञान है; किन्तु वास्तविक 'विज्ञान' बिना 'मनन' के संभव नहीं और 'मनन' के लिए 'श्रद्धा' आवश्यक है।" द्रष्टव्य है कि सत् को धारण करने वाली श्रद्धारूपी चेतना उससे अभिन्नता की हद तक संश्लिष्ट है, किन्तु साथ ही अपनी ग्रहणात्मक वृत्ति में वह उससे भिन्न भी है। सत् को धारण करने से श्रद्धा का स्वरूप प्रकाशवत् 'ज्ञान' का है और वह सत्-स्वरूप ही है, किन्तु ज्ञान की वह विधा मनोगत (मनन की) है और इसलिए उसकी अपनी विशिष्टता आत्म-केन्द्रस्थता की है जो सत् के 'तद्-केन्द्र' भाव से श्रद्धा की पृथकता का सूचक है। इस तरह सत् और श्रद्धा के बीच एक सामीप्य भी है, एक दूरी भी; एक सामंजस्य भी है, एक तनाव भी; वे परस्पर निर्बंध हैं और बँधे हुए भी। यह स्वप्न-चेतना की विचित्र स्थिति है जिसमें सर्जना का स्फुरन चेतना को प्रदत्त वस्तु-रूपों के बन्धन से निकालता है और पुन: उसे नये बिम्बों में आबद्ध कर देता है। चेतना के दो सिरे-अंतरतिक्राम्यता और बहिरतिक्राम्यता-विपरीत दिशाओं में तेजी से फैलते और पुन: उसी तेजी से सिमटकर आपस में मिलते हैं। यह मिलन स्वप्न-चेतना की आत्म-केन्द्रस्थता में आत्मोपलब्धि का अवसर होता है जिसमें संकल्प के रूप में आत्म-स्वातन्त्र्य और कल्पना के रूप में सृष्टि-स्वातन्त्र्य परस्पर में संतुलित होते हैं। इस संतुलन से स्वप्न-बिम्बों को एक निश्चित और स्थायी रूप मिलता है, एक नया व्यवस्था-क्रम, बिम्ब-विधान, मिलता है। यह नया बिम्ब-विधान ही धार्मिक पुराण-कथाओं (मिथ्स) का आधार है, और प्रत्येक धर्म का आरम्भ इन्हीं पुराण-कथाओं से होता है। धर्म के इस आरम्भ-बिंदु पर संज्ञान और

संवेग के तत्त्व परस्पर संतुलित होते हैं। इसीलिए श्रद्धा में जहाँ एक ओर सत्य की ग्रहणशीलता पायी जाती है, जो उपर्युक्त बिम्ब-विधान से धर्म में 'विश्वास' के रूप में अभिव्यक्त है, वहाँ दूसरी ओर उसी श्रद्धा में सत्यानुभूति का भावोल्लास भी मिलता है। पुराण-कथाओं में संज्ञान और संवेग का यह सामंजस्य उन चरित्रों (कथा-पात्रों की चेष्टाओं) से प्रकाश पाता है जो श्रद्धालु जनों के लिए जीवन और जगत् का आदर्श रूप प्रस्तुत करते हैं। ऋग्वेद के श्रद्धा-सूक्त में उल्लेखित इस उक्ति का, कि 'श्रद्धा ही हमें श्रद्धा में स्थापित करती हैं,' अर्थ शायद यही है।

किंतु ध्यातव्य है कि स्वप्न-बिम्बों को कल्पना और संकल्प द्वारा जो बिम्ब-विधान मिलता है वह सदैव धर्म या धार्मिक विश्वास का ही रूप धारण करे यह आवश्यक नहीं है। एक औपनिषदिक आख्यान के अनुसार विरोचन ने आत्मकेन्द्रस्थता का अर्थ देह-केन्द्रस्थता लिया और तदनुकूल ही अपने लिए आत्मा की उपलब्धि की। दूसरे शब्दों में,श्रद्धा अपने-आप को सदैव धार्मिक श्रद्धा के रूप में प्रकट नहीं करती। भगवद्गीता (१७.३) का कथन है : मनुष्य श्रद्धामय है, जिसकी जैसी श्रद्धा होती है उसका स्वरूप तदनुकू ल ही होता है। श्रद्धा मूलत: मानव-जीवन की आत्मोपलब्धि का भाव है, अर्थात् यह भाव कि वह स्वत:-स्फूर्त ऊर्जा-केन्द्र है और इसलिए अपने अस्तित्त्व के नियामक तत्त्वों पर किसी हद तक नियंत्रण और रूपांतरण में सक्षम है। जैसाकि हमने पहले कहा था, स्वप्न-पूर्व निद्रावस्था में भी चेतना का यह ऊर्जा-केन्द्र: काम: प्रकृति से संश्लिष्ट होकर सक्रिय रहता है, किन्तु चूँकि तब उसमें आत्मोपलब्धि नहीं होती और उसमें आत्म-स्वातन्त्र्य और सृष्टि-स्वातन्त्र्य के भाव नहीं मिलते इसलिए वहाँ सत्य का ग्रहण नहीं होता, किन्तु असत्य का भी ग्रहण नहीं होता, चेतना में सत् असत् के भेद से पूर्व की अवस्था है वह। दूसरी ओर, स्वप्न-चेतना में श्रद्धा के आवेश से आत्मोपलब्धि का अवसर उपस्थित होता है, किन्तु तब बिल्कुल संभव है कि उसकी कल्पनामूलक सर्जनशीलता किन्हीं नए बिम्बों का विधान कर प्रदत्त वस्तु-रूपों में ही मनोनुकूल (अर्थात् कामानुकूल) चयनात्मक विधान (अपने लिए अधिकाधिक सुख-सामग्री या विषयों की व्यवस्था) से संतुष्ट हो ले। यहाँ भी श्रद्धा ग्रहणात्मक है, किन्तु यहाँ वह धर्म-दृष्टि से असत् का ग्रहण करती है। जैसाकि कहा गया है, अश्रद्धा से अनृत का ग्रहण होता है। श्रद्धा के संदर्भ में अश्रद्धा-रूपी इस संभावना के कारण ही प्रत्येक धर्म पुण्य और पाप के बीच भेद का बड़ा महत्त्व देता है, क्योंकि यह धार्मिक चेतना के आधार 'श्रद्धा' से सम्बन्धित है। विरोचन की श्रद्धा वस्तुत: इस प्रकार की अश्रद्धा है- उसने प्रदत्त शरीर-रूप को ही आत्मस्वरूप समझ लिया। इसमें विधान अवश्य है, किन्तु किसी नए बिम्ब का सर्जन नहीं। इसमें संकल्प भी है, किन्तु कल्पनामूल सृष्टि-स्वातंत्र्य नहीं। श्रद्धा की यह अश्रद्धा-वृत्ति अव्याकृत काम की अनुगामिनी हैं। यह विषय-संयोग से अनुभूत सुख और सुखोपभोग में बाधा से क्रोध के कारण मनन-वृत्ति में क्षय से पुन: अव्याकृत-निद्रित चेतना के अंध कूप में डूब सकती है। इस तरह की श्रद्धा में आत्मोपलब्धि में एक विकार पाया जाता है जिसे 'अंहकार' कहा गया है। यह वस्तुत: जगत् में लीन चेतना है, आत्म-चेतना नहीं जिसमें आत्म-स्वातंत्र्य की घोषणा है।

धर्म के लिए नए बिम्बों का सृजन चेतना के ऊर्जा-केन्द्र 'काम' के पुनस्संस्कार से संभव होता है। इस पुनसंस्कार से, जो स्वप्न-चेतना की उपलब्धि है, चेतना की आत्म-केन्द्रस्थता प्रदत्त वस्तु-रूपों से मुक्त होकर अपनी गहराई में स्वतंत्र इच्छा-शक्ति (संकल्प) के रूप में आती है। स्वतंत्र इच्छा-शक्ति या संकल्प ही स्वप्न-चेतना की अंतरतिक्रामी वृत्ति का प्रकाश है जबकि स्वतंत्र सृजन-शक्ति उसकी बहिरतिक्रामी वृत्ति की सक्रियता है। इस अंतरतिक्रामी वृत्ति से चेतना 'इन्द्रियों की रात्रि' से बाहर निकलती है और बहिरतिक्रामी-वृत्ति से प्रदत्त वस्तुओं के विषय-रूप को लाँघती हैं। इन दोनों ही स्थितियों में चेतना, जो कि गत्यात्मक है, उसमें एक मननात्मक दिशा-बोध रहता है। यह श्रद्धा में

संरचित बुद्धि का रूप है जिसमें अभी तर्क का प्रकाश नहीं, जैसाकि जागृत चेतना की अवस्था में पाया जाता है। अभी यह स्वप्न-बुद्धि है जिसका वैदिक नाम 'इड़ा' है, जो कल्पना-बिम्बों को संकल्प से एक संरचना में सूत्र-बद्ध कर 'दिव्यता' के भाव को प्रकाश में लाती है। श्रद्धा द्वारा काम के पुनस्संस्कार की प्रक्रिया में 'दिव्यता' के भाव का इस तरह उदय ही प्रत्येक धर्म के अन्तर्गत मनुष्य के द्वितीय जन्म (दीक्षा) की धारणा के आधार में है। मनुष्य के प्राकृतिक जन्म का आधार और परिवेश निद्रावस्था की चेतना का प्रकृति-निमज्जित 'काम' है जबकि धर्म-चेतना में मनुष्य के जागरण (जन्म) का आधार स्वप्न-चेतना के अंतर्गत उक्त काम की प्रकृति की यांत्रिकता के बाहर एक स्वतंत्र ऊर्जा-केन्द्र के रूप में स्थापना। वस्तुत: यह मनुष्य के अस्तित्त्व और जगत् बोध में मूलभूत परिवर्त्तनों की सूचना है, जो इसीलिए मनुष्य के लिए एक नये जन्म का महत्त्व रखता है। स्वयं मानव-अस्तित्त्व में यह आत्मोपलब्धि का अवसर है, जबकि प्रदत्त वस्तुओं के विषय-रूपों में यह प्रेयस् के आविर्भाव का काल है। प्रदत्त रूपों में 'प्रेयस्' की अर्थ रचना के लिए स्वतंत्र इच्छाशक्ति और काल्पनिक बिम्बों का सृजन आवश्यक है। विषय-रूप इन्द्रिय-जन्य हैं, और जैसाकि कठोपनिषद् (२.१.१) में कहा है इन्द्रियाँ आत्म-विमुख होकर केवल बहिर्जगत् में गतिशील होती है इसलिए वहाँ आत्मोपलब्धि या स्वतंत्रता के अभाव में वस्तु-रूपों की प्राकृतिक संरचना ही प्रदत्त है अर्थ-संरचना नहीं। दूसरी ओर, वस्तु-रूपों को 'प्रेयस्' रूप तभी मिल पाती है जब उनकी उपलब्धि में जीवन के ऐसे उद्देश्यों की पूर्ति संभव हो जिनमें 'श्वोभाव'= क्षणिकता (देखें, कठोपनिषद् १.१.२६) नहीं वरन् जो एक दीर्घकालीन मूल्य-बोध को व्यक्त करते हैं, यद्यपि चिरकालीन मूल्य-बोध को नहीं जो 'श्रेयस्' का लक्षण है। वैदिक ऋषियों की इड़ा-स्तुतियों में वस्तु-रूपों का यही दीर्धकालिक मूल्य-बोध 'प्रेयस्' के रूप में व्यक्त हुआ है और, जैसाकि हमने पहले कहा था, ऋग्वेद के श्रद्धा-सूक्त में यह 'प्रेयस्' श्रद्धा में संरचित है।

किन्तु वस्तु-रूपों में प्रेयस् की अर्थ-रचना कैसे होती है ? हम कह आये हैं कि अंतरतिक्रामी-वृत्ति प्रदत्त वस्तु-रूपों से चेतना को स्वतंत्र कर उसे अपनी आत्म-केंद्रस्थता में स्थापित करती है। चेतना की इस तरह हुई आत्मोपलब्धि से बहिरतिक्रामी वृत्ति की सक्रियता संभव हो पाती है जो प्रदत्त वस्तु-रूपों से अलग बिम्बों या प्रतीक अर्थों की रचना करती है। इस रचना के अंतर्गत न केवल एकदम नये बिम्बों की रचना होती है वरन् प्रदत्त वस्तु-रूपों को भी नये प्रतीक-अर्थ दिये जाते हैं-जैसे मनुष्य को पिता, पुत्र जैसी अभिधाएँ मिलती हैं (सामाजिक संरचना के मूल में बहिरतिक्रामी-वृत्ति द्वारा मनुष्य को दिये गए इन प्रतीक-अर्थों का ही हाथ है), और मानवेतर प्राणियों, वृक्षादि वस्तुओं को मानव-जीवन-शैली से जुड़े हुए अर्थ दिये जाते हैं। चेतना की बहिरतिक्राम्यता में कल्पित ये प्रतीक-अर्थ या बिम्ब प्रदत्त वस्तु-रूपों की अपेक्षा अधिक स्थायी, सुरक्षित और मानव-चेतना की स्वतंत्र उद्‌घोष के रूप में अधिक प्रभावोत्पादक होते हैं। अत: चेतना की अतिक्राम्यता में पुनस्संस्कारित 'काम' की भाव-बद्धता के लिए वे सहज आलंबन बन जाते हैं, 'सहज' इसलिए क्योंकि पुनस्संस्कारित काम में जिस आत्म स्वातंत्र्य की अभिव्यक्ति है वही बहिरतिक्रामी कल्पना की स्वतंत्र बिम्ब-रचना में अभिव्यक्त है और उनके बीच इस संरचनात्मक एकता को स्वयं चेतना 'मनन' के रूप में व्यक्त करती है, (द्रष्टव्य है कि स्वप्न-चेतना में 'मनन' का रूप सक्रिय चिंतन का न होकर बोधात्मक अवगमन का होता है)। पुनस्संस्कारित काम से भावबद्धता की स्थिति में ये स्वप्न-बिम्ब उन प्रदत्त वस्तु-रूपों में प्रेयस् का भाव उत्पन्न करते हैं जिनके वे प्रतीक-अर्थ हैं। प्रेयस् के सन्दर्भ में भाव-बद्धता ही अपने अतिरेक में धार्मिक भाव-विह्वलता (एक्स्टेसी) का रूप धारण करती है। स्पष्ट है कि बिना प्रेयस् की इस तरह की स्थापना के मानव-चेतना की आत्मोपलब्धि में व्यक्त स्वतन्त्रता का भाव स्थिर नहीं रह सकता, क्योंकि जैसाकि हमने पहले भी कहा है, बहिरतिक्राम्यता से संतुलन न होने की स्थिति में

अन्तरतिक्राम्यता द्वारा उपलब्ध आत्मकेन्द्रस्थता अहंकार में परिणत होकर पुन: निद्रित चेतना की अवस्था में पहुँच सकती है। चूँकि चेतना में आद्यत: अनुस्यूत काम को सदैव एक रूप-आलंबन की आवश्यकता होती है, यदि उसे नये प्रतीक-अर्थों या बिम्बों का आश्रय न मिले तो वह प्रदत्त वस्तुओं के विषय-रूप की ओर लौटता है। प्रस्तुत संदर्भ में एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि जब नये प्रतीक-अर्थ या बिम्ब काम के आलंबन बनते हैं तो इसकी एक जबरदस्त संभावना होती है कि ये बिम्ब या प्रतीक-अर्थ कालान्तर में प्रदत्त बिम्ब बन जायें। वस्तुत: प्राय: ही ऐसा होता है, और ऐसा होना ही संस्कारों की ऐतिहासिकता तथा सामाजिक-धार्मिक रूढ़ियों-परम्पराओं के आधार में है। इनकी प्रदत्तता भी वस्तुरूपों की प्रदत्तता की तरह इतनी ठोस और वास्तविक होती होती है कि इनका अतिक्रमण केवल जागृत चेतना की तार्किक-विलेषणात्मक बुद्धि के सहारे ही किया जा सकता है। (द्रष्टव्य: प्रदत्त वस्तु-रूपों की अभेद्यता भी जागृत चेतना में इसी बुद्धि के सहारे टूटती है; विज्ञान का महत्त्व एक चेतना-क्रिया के रूप में यही है।)

अब हमें धर्म के संदर्भ में जागृत चेतना की विशिष्ट सक्रियता के योगदान पर विचार करना चाहिए। स्वप्न-चेतना के संदर्भ में हमने देखा था कि वहाँ धार्मिक बिम्बों को 'दिव्यता' ('दिव' धातु से, जिसका अर्थ प्रकाश है, जो 'देव', 'देवता' आदि शब्दों के मूल में है) मानव-अस्तित्त्व और चेतना में अभिव्यक्त स्वतन्त्रता से मिलती है। यह बिम्बों को प्रदत्त वस्तु-रूपों से स्वतन्त्र अवश्य करती है किन्तु मानव-अस्तित्त्व से स्वतन्त्र नहीं कर पाती, यद्यपि वे मनुष्य के श्रद्धाभाव में इड़ा द्वारा स्तुत्य होने के कारण मानव-अस्तित्त्व से परे जान पड़ते हैं। स्वप्नावस्था की धर्म-चेतना में यह विरोधाभासात्मक-सी स्थिति है जो जागृत चेतना की तर्क-बुद्धि में बिल्कुल स्पष्ट होकर उभरती है। जागृत चेतना की तर्क-बुद्धि इस विरोधाभास से दो स्तरों पर निपटती है और इसके दूरगामी परिणाम धर्मों के क्षेत्र में देखने को मिलते हैं। उक्त विरोधाभास को दूर करने का एक सरल उपाय है, धार्मिक बिम्बों को शुद्ध प्रतीक मान कर उन्हें मानव-अस्तित्त्व से बिल्कुल अलग सत्ता मान लिया जाय। यहूदी-मूल के धर्मों में कमोवेश यही हुआ है। इस्लाम-धर्म में इस प्रवृत्ति की चरम परिणति देखने को मिलती है, जहाँ धर्म का सर्वोच्च बिम्ब 'ईश्वर' एक शुद्ध प्रतीक है और सब प्रकार से मानव-अस्तित्त्व और चेतना से परे है। वह ऐसा गुप्त और रहस्यमय सर्वोच्च 'तत्त्व' है जिसके बारे में हमें केवल उतना ही मालूम है जितना कि उसने अपने दूत के द्वारा हमें बताया है। हमारा उससे कोई भी सीधा सम्बन्ध असंभव है और इसलिए उसके बारे में और भी कुछ अधिक जान सकना एक धार्मिक असंभावना है। ईसाई धर्म में 'ईश्वर' की रहस्यमयता जरा कम है, क्योंकि उसने स्वयं अपने 'पुत्र' को मानव-अस्तित्त्व का रूप दिया है और इसलिए हम अपने अस्तित्त्व में उससे परोक्षत: जुड़ जाते हैं। यह योग 'प्रेम' का योग है, जबकि इस्लाम में मनुष्य ईश्वर से मूलत: 'भय' वश जुड़ता है, क्योंकि वह कठोर न्यायाधीश है और उसके न्याय के विधि-विधान भी उतने ही कठोर हैं। दूसरी ओर, भारत-मूल के धर्मों में उक्त विरोधाभास को बिल्कुल दूसरे प्रकार से दूर करने की चेष्टा की गई है। यहाँ जागृत चेतना की अतिक्रामी वृत्ति के सहारे मानव-अस्तित्त्व और चेतना की परात्मकता को उस सीमा तक उठाया गया है जहाँ वह ईश्वर की परात्मकता से एकाकार हो जाता है। उपनिषदों में इसे 'भूमा' की स्थिति कहा गया है। स्वप्नावस्था में मानव अस्तित्त्व और चेतना स्वतंत्र तो है, किंतु 'अल्प' है, क्योंकि उनसे सम्बन्धित बिम्बों के आधार में अभी भी वस्तु-रूप विद्यमान हैं। ये बिम्ब अभी शुद्ध बिम्ब नहीं बन पाये हैं, क्योंकि अभी इन्हें चिरकालिक मूल्यों की अर्थवत्ता नहीं मिल पायी हैं। इनमें अभी केवल दीर्घकालिक मूल्य स्पष्ट हुए हैं जो मानव-परंपराओं और रुढ़ियों के आधार हैं। इसी प्रवृत्ति की एक महत्त्वपूर्ण परिणति हमें बौद्ध और जैन धर्मों में देखने को मिलती है, जहाँ ईश्वर-रूपी सर्वोच्च 'तत्त्व' को अस्वीकार कर दिया गया है, जिसका कारण स्पष्ट है-यह कि यदि स्वयं मानव-

अस्तित्त्व और चेतना को ही ईश्वरत्व तक उठाया जा सके तो तर्कत: ईश्वर-तत्त्व एक अनावश्यक धार्मिक 'बिम्ब' है। यहाँ तक कि वह एक शुद्ध प्रतीक के रूप में भी अनावश्यक है, क्योंकि सर्वोच्च परात्मक स्तर तक पहुँचे मानव-अस्तित्त्व और चेतना स्वयं ही सभी न्याय और शुद्ध भावनाओं के स्रोत हैं। दूसरे शब्दों में, मनुष्य स्वयं ही अपना धार्मिक निर्माता और प्रतिष्ठा है। इस निर्माण और प्रतिष्ठा की नियामक विधियों का प्रकाश भी मानव-चेतना (ज्ञान, संकल्प, दृष्टि) का प्रकाश है। स्वयं-प्रेरित शुभता और नैतिकता के नियम ही धर्म का आधार है। धार्मिक बिम्बों (यथा बौद्ध धर्म में बुद्ध, संघ आदि तथा जैन धर्म में तीर्थंकर आदि) में शुभता और नैतिकता के तत्त्व ही चिरकालिक मूल्य हैं जो उन्हें शुद्ध बिम्बों का रूप देते हैं। इन शुद्ध बिम्बों की सर्जना में जागृत चेतना-स्वप्न-चेतना में उपलब्ध धर्म-तत्त्वों को एक विशिष्ट ढंग से विकसित करती है, जिसकी चर्चा हम नीचे करेंगे।

जैसाकि हमने पहले कहा था, स्वप्न-चेतना की आत्मोपलब्धि में अभिव्यक्त स्वातंत्र्य-बोध का अवगमनात्मक रूप 'इड़ा' का है। यह स्वप्न-चेतना की बुद्धि है जो मननात्मक है। मानव-अस्तित्त्व और चेतना को उसके सर्वोच्च स्तर तक पहुँचाने के लिए सबसे पहले जागृत चेतना इस 'इड़ा' को 'प्रज्ञा' में विकसित करती है। इस विकास को समझने के लिए हमें पहले 'इड़ा' की संरचना समझना आवश्यक है। 'इड़ा' अपनी संरचना में त्रि-वृत्त्यात्मक है। वैदिक संहिताओं में 'इड़ा' सरस्वती और भारती को त्रिदेवी कह कर परस्पर संबद्ध किया गया है। स्वयं इड़ा स्तुति-स्वरूप है, यह श्रद्धा निदर्शक वृत्ति नहीं है जो संकल्प में अंतर्भाव्य है। दूसरे शब्दों में, यह श्रद्धा की ग्रहणात्मक या प्रकाशक वृत्ति नहीं है। श्रद्धा की प्रकाशक-वृत्ति 'भारती' है और यह स्वप्न-चेतना की सर्जनात्मक कल्पना में अंतर्भाव्य है। भारती बहिरतिक्रामी स्वप्न-चेतना की संपूरक वृत्ति है, अर्थात् सम्यक् रूप से भरने या परिपूरण करने वाली चेतना-वृत्ति। द्रष्टव्य है कि स्वप्न-कल्पना में रचित बिम्ब या प्रतीक अपने-आप से सत्-स्वरूप वाले नहीं बनते, उनमें इस 'दिव्य' अर्थ का उद्भव तभी होता है जब इड़ा अपनी निदर्शक वृत्ति द्वारा उन्हें अंतरतिक्राम्यता में उपलब्ध आत्म-केन्द्रस्थता से स्वतंत्रतामूलक संरचना की एकता में जोड़ती है। इस तरह आत्मोपलब्धि में प्रकाशित स्वतंत्रता का प्रकाश उक्त कल्पना-बिम्बों का भी अनिवार्य प्रकाश बन जाता है। इन बिम्बों को दिव्यता इसी प्रकाश से मिलती है; और इड़ा ही वस्तुत: 'भारती' है जब वह इन बिम्बों को इस तरह प्रकाश से भरती है। दोनों वस्तुत: एक ही बुद्धि की दो वृत्तियाँ हैं- इड़ा आत्म-केन्द्रता की वृत्ति है, जबकि भारती बिम्ब-केन्द्रता की, और दोनों में केवल संदर्भ-भेद है, तत्त्व-भेद नहीं। पुन: इड़ा ही बिम्बों से अपनी भाव-बद्धता में 'सरस्वती' है, क्योंकि इस भाव-बद्धता का तत्त्व स्वप्न-चेतना का पुन: संस्कारित 'काम' है। चेतना से बिम्बों की ओर निदर्शन में और बिम्बों से चेतना की संरचनात्मक एकता में रागात्मकता पायी जाती है- बिम्बों के परिपूरण द्वारा स्वयं आत्म-केन्द्रस्थता भी अपनी इच्छापूर्ति करती है, उसमें एक स्थायी और इच्छा-प्रेरित मोद का भाव जागता है। सुख की यही अंत: सलिला सरस्वती है। इस तरह इड़ा के इस त्रिवृत्त्यात्मक स्वरूप द्वारा श्रद्धा को उसका धार्मिक भाव मिलता है और बिम्बों को धार्मिक दिव्यता मिलती है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१.१२.३) के इस कथन को हमें इस संदर्भ में समझना चाहिए : श्रद्धा से ही देवों को उनका देवत्व मिलता है और श्रद्धा ही इस लोक की अधिष्ठात्री देवी है।

श्रद्धा में संरचित उक्त 'इड़ा' नामक बुद्धि का रूपांतरण जब प्रज्ञा में होता है तब उसकी भारती-वृत्ति को ही प्रधान कर उसकी इड़ा (स्तुति)-वृत्ति और सरस्वती-वृत्ति को उसी में अंतर्भाव्य मान लिया जाता है। यहाँ इड़ा शुद्ध प्रकाशता है और यही उसका जागृत-चेतना में रूप है। किन्तु द्रष्टव्य है कि प्रकाशता के अतिरिक्त 'इड़ा' का एक और भी अर्थ है- प्रसरता। जागृत चेतना में प्रसरता की प्रमुख अभिव्यक्ति का माध्यम 'वाक्' है जो 'इड़ा' (और 'भारती') का एक मुख्य पारंपरिक अर्थ भी है। जागृत

चेतना की प्रवृत्ति जो धार्मिक बिम्बों को शुद्ध प्रतीकों के रूप में मानव-अस्तित्त्व और चेतना के बिल्कुल परे प्रतिष्ठित करती है -जैसे इस्लाम और ईसाई धर्मों में- वहाँ 'इड़ा' की यह प्रसरता (वाक्) वाला रूप ही प्रधान है। वहाँ धर्म का आधार श्रद्धामय वाक् है जो सृष्टि के मूल में विद्यमान कहा गया है (देखिए : न्यू टेस्टामेंट, फर्स्ट एपिस्टल ऑफ जॉन, अध्याय १; रेवेलेशन ऑफ सेंट जॉन, अध्याय १; इस्लाम का आधार कुर्-आन भी ईश्वरीयवाणी समझा जाता है) । इस वाक् को 'इड़ा' के स्तुति-रूप से एकांतत: जोड़ दिया गया है, जिससे वहाँ ईश्वर के लिए प्रयुक्त 'अल्लाह' शब्द का धात्वर्थ बनता है। ('इल्' धातु से जिसका शाब्दिक अर्थ स्तुति-प्रार्थना है, और इसलिए 'अल्लाह' से अर्थ है वह जो स्तुति या प्रार्थना के योग्य है। यहूदी धर्मग्रंथ ओल्ड टेस्टामेंट में भी इसी 'इल्' धातु से बना 'इलाली' शब्द ईश्वर के लिए प्रयुक्त हुआ है। ध्यातव्य है कि प्रस्तुत संदर्भ में 'इल्' धातु यहूदी-अरबी भाषा का है और इसका वैदिक शब्द 'इल्' से न केवल ध्वन्यात्मक वरन् अर्थसाम्य भी है।) दूसरी ओर, ईसाई धर्म में 'वाक्' को इड़ा की सरस्वती-वृत्ति से जोड़ा गया है और इसलिए वहाँ ईश्वर-संदर्भ में स्तुति के साथ 'प्रेम' पर अधिक जोर है। ईश्वर के सम्बन्ध में इन सभी धर्मों की विशेषता यह है कि वे उसे मूलत: सृष्टिकर्त्ता मानते हैं जो उस संदर्भ में प्रसरता के भाव को प्रधानता देता है। और चूँकि मानव-अस्तित्त्व और चेतना को सृष्टि का अंग मान लिया जाता है, अत: प्रसरता के भाव से युक्त वह सृष्टि-कर्त्ता ईश्वर मनुष्य मात्र से एकांतत: पृथक् हो जाता है।

भारत-मूल के धर्मों में या तो ईश्वर सृष्टिकर्त्ता के रूप में सृष्टि में अंतर्भाव्यत: व्याप्त होकर भी उससे परे हैं और इस दृष्टि से मानव-अस्तित्त्व और चेतना से उसकी संरचनात्मक एकता है (यथा, वैदिक धर्म में, जहाँ मर्त्य, मनुष्य, अमर्त्य देवताओं का सहोदर है और ईश्वर और मनुष्य दोनों की अभिधा 'पुरुष' है, तथा साथ ही सृष्टि में मनुष्य ईश्वर का भागीदार है-देखिए, ऋग्वेद (१०.९०) के पुरुषसूक्त में दो 'पुरुषों' का सृष्टि-संदर्भ में भेद (एक अमृत और दूसरा मर्त्य), या फिर सारी सृष्टि ही अव्याकृत और विकीर्ण निद्रित चेतना की अभिव्यक्ति है और मनुष्य जागृत चेतना की अवस्था में स्वत: उस सृष्टि-चक्र से परे पहुँच जाता है। (यह बौद्ध और जैन धर्मों के अतिरिक्त सांख्य की भी मान्यता है।) दोनों ही स्थितियों में इड़ा की प्रकाशता या प्रज्ञा पर जोर है और इड़ा (स्तुति) व सरस्वती-वृत्तियाँ उसी में अंतर्भाव्य हैं। पुन: दोनों ही स्थितियों में ईश्वर को एक पृथक् परात्मक सत्ता मानने से बचा गया है, या उसे वैसा तभी माना गया है जब मानव-अस्तित्त्व और चेतना को उस परात्मक स्तर तक नहीं उठाया जा सका है और उसे वहाँ तक पहुँचाने के लिए साधना जारी है। इस साधना में स्वप्न-चेतना की श्रद्धा और जागृत चेतना की नैतिकता अनिवार्य तत्त्व हैं। जब इस साधना के फलस्वरूप प्रज्ञा विकसित होती है तब वह तत्त्वत: उक्त श्रद्धा में ही अन्तर्रचित मानी जाती है (तैत्तिरीय आरण्यक, १०.६४ और आश्वलायन गृह्मसूत्र, ३.९.१) और नैतिकता को भी उसी का प्रकाश माना जाता है (जैसे, बौद्ध और जैन धर्मों में)। द्रष्टव्य है कि नैतिकता के संबंध में यह दृष्टिकोण यहूदीमूल के धर्मों के दृष्टिकोण से नितांत भिन्न है जहाँ नैतिकता मानव-चेतना में स्वत:स्फूर्त रूप से विकसित न होकर ईश्वरीय आदेश मानी जाती है। इसलिए इन धर्मों में नैतिकता का रूप पारंपरकि और समष्टिमूलक होता है जबकि भारतमूल के धर्मों में वह साधना का अंग होने से मूलत: व्यष्टिमूलक होता है।

अब तक हमने काफी विस्तारपूर्वक यह दिखाने की चेष्टा की, कि धर्म और धर्म-चेतना की संरचना का अपना एक विशिष्ट रूप है और उसका अनिवार्य संबंध मानव-चेतना की अतिक्रामी-वृत्ति के एक विशेष ढंग से क्रियाशील होने से है। हमारी इस विवेचना से यह भी स्पष्ट है कि उक्त संरचना बड़ी जटिल है और उसे दार्शनिक दृष्टिकोण से ही ठीक उसके स्वरूप में समझ सकना संभव है। यह दार्शनिक दृष्टिकोण धर्म-संरचना पर एक प्रक्षेप है और इसलिए हमने अपनी विवेचना के अन्तर्गत कई ऐसी बातों

का उल्लेख किया है जो दर्शन-सापेक्ष हैं, धर्म-साक्षेप नहीं, यद्यपि वे धर्म-संरचना में ही उसके घटक तत्त्वों के रूप में विद्यमान हैं। इन तत्त्वों का दार्शनिक स्पष्टीकरण और व्याख्या आवश्यक है जिससे कि धर्म को उसकी प्रामाणिकता मिल सके। एक और भी महत्त्वपूर्ण बात इस संदर्भ में यह है कि चूँकि शायद दार्शनिक चिंतन का आरंभ इसी तरह के स्पष्टीकरण और व्याख्या-जो धर्म-संरचना पर प्रक्षिप्त दार्शनिक अंतर्दृष्टि के रूप में प्रकट हैं - से होता है, स्वत: दर्शन में आद्यत: प्रस्तुत प्रवृत्तियों की एक अच्छी जानकारी हमें दार्शनिक चिंतन के इस आंरभिक रूप में मिल सकती है। अपने इस लेख के शेष अंश में हम कुछ इन्हीं आद्य प्रवृत्तियों की चर्चा करेंगे।

(१) स्वप्न-चेतना में अतिक्रामी वृत्ति की सक्रियता से जो इतिहास-बोध जागता है उससे न केवल वस्तु-रूपों और घटना-क्रम की एक दिशा प्रकट होती, वरन् साथ ही प्रदत्त वस्तु-रूपों और घटना-क्रम में प्रतीकात्मक अर्थ-परिवर्तन कर मनुष्य उन्हें अपने उद्देश्यों के अधिक निकट ला सकने में समर्थ होता है। इस स्थिति पर दार्शनिक दृष्टिकोण के प्रक्षेप से यह महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आता है कि अतिक्रामी वृत्ति की सक्रियता की इस अवस्था में मानव-चेतना अनंतरूप से विस्तारित नैसर्गिक भूतकाल और उतने ही अनंत रूप से विस्तारित संभावित भविष्यत् को अपनी आत्म-केंद्रस्थता की धुरी पर मापनीय बनाती है। द्रष्टव्य है यह वह तथ्य है जिसका उपयोग एक पूर्वमान्यता के रूप में बाद में विकसित होने वाले विज्ञान में किया जाता हैं। इस तरह चेतना की स्वरूपावस्था में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक-प्राविधिक पूर्वमान्यता की नींव पड़ती है, यद्यपि इसके पहले कि वह वैज्ञानिक प्राविधिक मान्यता का रूप ले सके उसे दार्शनिक प्रक्षेप द्वारा चेतना की संरचना के एक मूलभूत तत्त्व के रूप में बोधगम्य बनाना आवश्यक है। वस्तुत: यह मनुष्य की सारी सांस्कृतिक उपलब्धियों और ज्ञान-संस्थानों के आधार में अनंत कालावधि को मापनीय बनाना और उक्त रूप में उसे मानव-चेतना की संरचना में ही तत्त्वत: बोधगम्य रूप में स्थापित करना है। मनुष्य ने इस तरह जैसे सारे प्रदत्त विश्व-क्षेत्र (धार्मिक 'मृत्यु-क्षेत्र') का पर्यवेक्षण और परिसीमन कर लिया और तदनुकूल उसमें अपने रहन-सहन की सुव्यवस्था कर ली। मनुष्य ने जैसे सारे ज्ञात और अज्ञात और अज्ञात इतिहास की नाड़ी पकड़ ली और एक पूरी कालावधि में स्वयं अपनी और अपने जगत् की अर्थ-प्रतिष्ठा द्वारा अपनी श्रेष्ठता के झंडे फहरा दिए।

(२) किन्तु उक्त इतिहास-बोध में दार्शनिक दृष्टि के प्रक्षेप का यह केवल एक पहलू है। दार्शनिक जिज्ञासा एक गृहत्यागी परिव्राजक की तरह है; उसके लिए सतत गति ही जीवन है और ठहराव मृत्यु। इसीलिए जहाँ इतिहास-बोध का सुरक्षा-कवच ओढ़कर मनुष्य के सारे ज्ञान-विज्ञान, धर्म-सहित, एक तरह से पूरे निश्चित हो जाते हैं वहाँ दार्शनिक दृष्टि उस सुरक्षा-कवच के भीतर झाँक कर देख पाती है कि चेतना की आत्म-केन्द्रस्थता का उसका आधार बड़ा डावाँडोल है। उस चेतना के भीतर अंतरतिक्राम्यता की सक्रियता है जो उस चेतना के किसी भी इतिहास-बोध को भीतर से सुरक्षित नहीं रहने देती। इतिहास-बोध में आभासित सुरक्षा-भाव का आधार है काल की एक दिशा में होने वाली गति की अपरिवर्तनशीलता। अंतरतिक्राम्यता की सक्रियता में इस अपरिवर्त्य काल-गति में परिवर्तन की संभावनाएँ प्रकट होती है। अंतरतिक्रामी वृत्ति, जो धार्मिक-चेतना की केंद्रस्थता में आत्मोपलब्धि का रूप धारण करती है, काल की सारी गति को जैसे एक तात्त्विक बिंदु पर समेट देती है और इसलिए इतिहास का रूपांतरण पुराण में हो जाता है। इतिहास की गतिशीलता जैसे पुराण के मूल्यांकन में आकार स्तब्ध हो जाती है- यह वह बिन्दु है जहाँ पर स्थित होकर मनुष्य न केवल भूत से भविष्यत् की ओर वरन् उतनी ही सरलता से भविष्यत् से भूत की ओर चल सकता है। गतिशील जैसे अपने सार में शाश्वत बन जाता है जबकि बाकी सब-कुछ, जो ऐसा नहीं है, केवल गौण और अमहत्त्वपूर्ण है।

धार्मिक चेतना में प्रकट हुआ पाप-पुण्य का भेद भी नैतिक शुभाशुभ का भेद अपनी अंतिम परिणति में इस शाश्वत, अशाश्वत के भेद से ही जुड़ जाता है। इतिहास का उसके भीतर से अतिक्रमण जागृत चेतना की अतिक्राम्यता-दार्शनिक दृष्टि-की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों में से एक है, क्योंकि धार्मिक श्रद्धा को इसी से उसकी प्रामाणिकता मिलती है। सहज काल-गति में उसके भीतर से अतिक्रमण की स्थिति में एक व्याघातभाव उत्पन्न होता है, काल के अंतर में कालातीत का भाव, इतिहास के अंतर में शाश्वत मूल्यों या श्रेयस् का भाव। अब, कोई भी व्याघातक स्थिति किसी ज्ञान का विषय न होकर ज्ञान की बाहरी सीमा ही निर्धारित कर सकती है किन्तु तब इस व्याघातक स्थिति का, जो धार्मिक चेतना में ही अंशभूत है ज्ञान कैसे संभव है ? कीर्केगार्ड का मत है कि धार्मिक श्रद्धा (फेथ) स्वत: ही ज्ञान की वह असाधारण विधा है जो उक्त व्याघात को धर्म-चेतना में अभिव्यक्त मूल सत् के रूप में उजागर करती है। वह ज्ञान की मौलिक और अवैज्ञानिक विधा है। कार्केगार्ड श्रद्धा को ईसाई धर्म-चेतना का एक अति-विशिष्ट आधार समझता है (जिससे एक ईसाई धर्मानुरागी जीसस क्राइस्ट को एक-साथ ही ईश्वर (इतिहासातीत) और ईश्वर-पुत्र (ऐतिहासिक) रूप में देख सकता है। वस्तुत: जैसाकि हमने अभी कहा था, अपने अधिक सामान्य रूप में यह व्याघात-इतिहास का उसके भीतर से अतिक्रमण-सभी धर्मों के आधार में विद्यमान है और ईसाई धर्म में उसकी केवल एक विशेष अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। इतिहास-अतिक्रमण के बिना स्वप्न-चेतना के बिम्बों और प्रतीकों को दिव्यता मिल पाना असंभव है।

(३) यह बात प्राय: भुला दी जाती है कि धार्मिक श्रद्धा का भी एक विशेषरूपेण प्रामाणीकरण दार्शनिक दृष्टिकोण से मिलता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि साधारणत: हम सारे प्रामाणीकरण को वैज्ञानिक चिंतन के लिए सुरक्षित समझ लेते हैं, जबकि सत्य यह है कि प्रामाणीकरण की चेष्टा जागृत चेतना-जिसमें वैज्ञानिक चिंतन के अतिरिक्त दार्शनिक चिंतन भी आता है-की एक सहज अतिक्रामी वृत्ति है। दार्शनिक प्रामाणीकरण का संदर्भ आत्म-केंद्रित होता है जबकि वैज्ञानिक प्रामाणिकता वस्त्वर्थ-केंद्रित होती है। धर्म के संदर्भ में उसके आधारभूत श्रद्धा के प्रामाणीकरण का प्रश्न जब उठता है तब नि:संदेह वह एक वैज्ञानिक, वस्त्वर्थक प्रश्न नहीं होता। यह शुद्धत: धार्मिक प्रश्न भी नहीं है, क्योंकि धर्म-चेतना अपने मूलाधार को ही प्रश्नों के घेरे में खड़ा कर स्वयं अपने प्रयत्नों से संदेहास्पद नहीं बनाती। जागृत चेतना के अंतरतिक्रमण के प्रभाव से उठ खड़ा हुआ प्रमाण-संबंधी यह प्रश्न वस्तुत: एक दार्शनिक प्रश्न हैं। इसका सामान्य रूप है : ये आत्मा के द्वारा और आत्मा-चेतना के लिए उठाये गये प्रश्न हैं। इसकी जड़ आत्म-चेतना में है और इसका उद्देश्य भी आत्म-चेतना की प्रखरता है। इनका उद्देश्य किसी विशेष ज्ञान की उपलब्धि नहीं है, वरन् उपलब्ध ज्ञान में अन्तर्दृष्टिपूर्वक उसके प्रामाणिक स्वरूप की खोज है। इसलिए दार्शनिक प्रश्न जागृत-चेतना की बहिरतिक्राम्यता में उपलब्ध हुए वैज्ञानिक ज्ञान की आद्य प्रामाणिकता से भी संबंधित हो सकते हैं, उस हद तक जहाँ तक कि इस तरह का ज्ञान चेतना का एक प्रकाश है। (द्रष्टव्य : देकार्त का 'यूनिवर्सलिस मेथासिस', कांट 'ट्रांसेन्डेन्टल क्रिटीक्' और हुस्सर्ल का 'प्योर फिनॉमिनॉलॉजी' इसी दिशा में किये गये प्रयास हैं।) प्रस्तुत संदर्भ में, स्पष्ट है कि श्रद्धा के प्रामाणीकरण के संबंध में उठे दार्शनिक प्रश्न के उत्तर पर धर्म की विशाल इमारत का स्थिर होना या न होना निर्भर करता है। अत: आश्चर्य नहीं कि अधिसंख्य धर्म इस चरम प्रश्न से कतराते हैं और फलत: उनमें आद्यत: स्थित श्रद्धा का रूप अंध-विश्वास का हो जाता है। जागृत चेतना की अवस्था में धार्मिक श्रद्धा के लिए ये दो ही मार्ग हैं-या तो साहसपूर्वक आगे बढ़कर वह अपनी दार्शनिक प्रामाणिकता सिद्ध करे या फिर वैज्ञानिक प्रामाणिकता के उठे हुए प्रबल दंड से भयभीत कहीं अंधे कोने में सिकुड़ी बैठी रहे। धार्मिक श्रद्धा की दार्शनिक प्रामाणिकता की रूपरेखा हमें छांदोग्योपनिषद्-

(७.२०) में मिलती है जो आश्चर्यजनक ढंग से इस संबंध में व्यक्त आधुनिक विचारों के समतुल्य है। इस उपनिषद् के अनुसार सत् को धारण करने वाली श्रद्धा का आधार उसमें अंतर्निहित 'निष्ठा' है, अर्थात् श्रद्धा में संकल्प का वह अंश जो आत्म-केन्द्र को श्रद्धा के प्रति एकनिष्ठ रखता है और मानव-अस्तित्त्व की बदलती परिस्थितियों के प्रभाव में उसे विचलित नहीं होने देता। किन्तु इस तरह की 'निष्ठा' स्वत: तभी प्रमाणित हो पाती है जब उसकी परिणति 'कृति' में हो। 'कृति' का अर्थ है इन्द्रियसंयम-पूर्वक किया वह कर्मानुष्ठान जो आत्मकेंद्रस्थ संकल्प को श्रद्धा-संश्लिष्ट बिम्बों और प्रतीकों से एक संरचना में सूत्रबद्ध करता है। इस सारी प्रक्रिया में आत्म-चेतना और वस्त्वर्थ के बीच एक निर्बाध नियामक एकता का तत्त्व (वैदिक 'ऋण') उभरता है। शुद्ध तात्त्विक सत्य के रूप मे यह 'भूमा' है, जो इसीलिए स्वयं 'कृति' के मूल में है। यह भूमा ही चरम सत् है, चित् है और आनन्द है। यही आत्मा है और इसलिए ब्रह्मपुर है; यही ब्रह्म है और इसलिए अशनापिपासा-शून्य सत्यकाम और सत्यसंकल्प-रूपी आत्म-चेतना है। यही आत्म-चेतना श्रद्धा के मूल में अवस्थित उसकी स्वत: प्रामाणीकता (दार्शनिक प्रामाणिकता) है। यह 'अल्प' द्वारा बाधित नहीं होने से किसी भी सीमित (पूर्वकल्पना या प्राक्कल्पना पर आधारित) बौद्धिक प्रामाणिकता से परे है, इसलिए वह वैज्ञानिक प्रामाणिकता से भिन्न है जो मूलत: प्रदत्त वस्तु-रूपों की अभेद्यता को उनके साररूप वस्त्वर्थों में बदल कर उन्हें चेतना के लिए पारदर्शी तो बनाती है किन्तु इन वस्त्वर्थों की आत्म-चेतना से संरचनात्मक एकता नहीं दिखा पाती। अत: वैज्ञानिक प्रामाणिकता से उभरा सत्य भी हर स्थिति में प्राक्कल्पनात्मक होता है। दूसरी ओर, दार्शनिक प्रामाणिकता से उदाहरणार्थ जैसा कि वह श्रद्धा के संदर्भ में उपर्युक्त ढंग से प्रकट है, बिम्बों और प्रतीकों को पारदर्शी बनाकर उन्हें चेतना में ही संरचित हुआ दिखाकर उस संदर्भ में उपलब्ध सत्य को स्वयं सिद्ध सत्य के रूप में व्यक्त करती है।

***

दर्शन में 'अवक्तव्य' की अवधारणा

(१)

भारतीय दार्शनिक चिन्तनधारा में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न आरम्भ से ही यह रहा है : 'वह क्या है जिसे जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है ?'[१] न केवल इस प्रश्न का मर्म वरन् इसका ऐतिहासिक परिपेक्ष्य भी ध्यान देने योग्य है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह प्रश्न उस औपनिषदिक काल की देन है जब भारतीय तत्त्वचिंतक अधिकाधिक इस ओर आकृष्ट हुए कि किस तरह वेदों के विस्मयबोधात्मक आत्म-प्रकाश की भाषायी अभिव्यक्तियों-जैसे 'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'[२] को व्याख्यात्मक ढंग से सम्प्रेषणीय बनाया जाय ? यह कर सकने के लिए स्वत: भाषा-सम्बन्धी एक व्यवस्थित व्याख्या आवश्यक है, इसका बोध उन्हें रहा; इसीलिये भाषा के स्वरूप और उसके अन्तर्गत सत् या सत्य के ठीक-ठीक निदर्शन व निर्वचन के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उस काल में उठाये गए जिनके सन्दर्भ में व्यक्त धारणाओं को इस तरह सामान्य रूपों में रखा जा सकता है : (अ) साधारण व्यवहार की भाषा, जो स्थूल जगत् को प्रकाशित करती है, से परे एक आधारभूत भाषा है जो प्रथम के मूल में है; (आ) साधारण व्यवहार के स्थूल जगत् के मूल में उसका सही स्वरूप विद्यमान है जो केवल उक्त आधारभूत भाषा में अभिव्यक्त होता है; (इ) साधारण भाषा में उठाये गये वे प्रश्न जो शुद्ध तत्त्व-सम्बन्धी हैं उस भाषा के सन्दर्भ में अति-प्रश्न हैं, और इसलिए उनका समुचित समाधान उससे परे केवल मूल या परात्मक भाषा में ही स्म्भव है; (ई) चूँकि साधारण भाषा में ऐसे प्रश्न उठते हें और उसके अन्तर्गत निरूपित स्थूल जगत् के सन्दर्भ में भी उससे परे तत्त्व के सम्बन्ध में जिज्ञासाएँ उठायी जा सकती हैं, इसलिए अवश्य उक्त दो प्रकार की भाषाओं (अपरा और परा) तथा उनमें प्रकाशित यथार्थता (स्थूल जगत् और शुद्ध भाव-रूप सत्) के बीच अविच्छेद्य स्वरूप-सम्बन्ध है; और (क) इसलिए जब तक इस अविच्छेद्य स्वरूप-सम्बन्ध को ठीक-ठीक नहीं समझ लिया जाता तब तक हमारा समस्त ज्ञान अधूरा है। आरम्भ में उल्लिखित ज्ञान-सम्बन्धी मूल प्रश्न का सम्बन्ध इसी अन्तिम धारणा से है।

स्पष्ट है कि भाषा में सत् या सत्य की ठीक-ठीक समझ की समस्या भाषा की क्षमता या योग्यता के प्रश्न से जुड़ी है और इसलिए इस सन्दर्भ में भारतीय तत्त्व-चिंतकों के लिए अध्ययन का प्रमुख विषय यह रहा है कि भाषा अपने निदर्शन या निरूपण के दो स्तरों- अपरा और परा- पर क्रमश: किस तरह अक्षम और सक्षम है ? क्या उनके मध्य कोई सीमा-रेखा भी है ? क्या उसे (सीमा-रेखा को) घटाया-बढ़ाया भी जा सकता है ? किन्तु, इसके पहले कि इन सब प्रश्नों के विषय में किसी संतोषजनक समाधान की स्थिति में पहुँचा जा सके, यह आवश्यक है कि वह स्वयं अपने ज्ञान की सम्भावनाओं के बारे में पूरी तरह आश्वस्त हो ले। अत: इस दृष्टि से आरम्भ में उद्धृत सर्वोच्च ज्ञान सम्बन्धी मूल प्रश्न, अपने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से स्वतन्त्र, एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक प्रश्न बन जाता है जिसका मर्म यह समझने में है कि एक ऐसा ज्ञान सम्भव है जो सर्वव्यापक और सर्वथा संदेहातीत तो है किन्तु किसी तरह सत्ता-निरपेक्ष नहीं हो। यह ज्ञान अनिर्वायत: किसी 'वह' से सम्बन्धित है, जो 'इस' या 'उस'

वक्ता-श्रोता-प्रश्नकर्त्ता से किसी तरह 'परे' है, यद्यपि इस तरह नहीं कि वह उससे 'छिपा' हुआ है या एकांततः पृथक् है। इस तरह इस ज्ञान की सम्भावना में ही यह बात स्वीकार कर ली गई है कि वह सम्प्रेषणीय है तथा सभी को समानरूपेण प्रकाश्य है। पुनः यह भी प्रकट है कि ऐसा सर्वोच्च ज्ञान, जिसमें अन्य सभी ज्ञान समाहित हों, 'भूमा'[३] है; और इसीलिए यह भी आवश्यक है कि वह स्वतःप्रमाण हो तथा सम्पूर्ण सत्य का प्रकाशक हो। स्पष्ट है कि अपने सम्प्रेषणीय रूप में यह ज्ञान भाषा में अभिव्यक्ति के योग्य है, तथा जो भी भाषा उसे अभिव्यक्ति दे सकती है वह सत् या सत्य के ठीक-ठीक निदर्शन में पूर्णतः प्रामाणिक है। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या हमारी साधारण बोलचाल की भाषा इस तरह पूर्णतः प्रामाणिक समझी जा सकती है ?

(२)

द्रष्टव्य है कि पश्चिम में भी दर्शन के रूप में सर्वोच्च ज्ञान की एक पारम्परिक धारणा रही है, किन्तु उसकी भाषायी अभिव्यक्ति से लेकर वहाँ उस तरह के प्रश्न नहीं उठाये गये जो भारतीय सन्दर्भ में उठे हैं। हमें इसका कारण जानना चाहिए। पश्चिम में सर्वोच्च ज्ञान का स्वरूप 'शुद्ध सैद्धांतिकता'[४] का रहा है, जो अन्ततः हमें उसकी ऐकांतिक आकारिकता (निरपेक्षता) की ओर से ले जाता है। इसीलिए वहाँ ज्ञान में 'संरचनात्मक' अनिवर्यता' और 'बौद्धिक औचित्य' के तत्त्व सर्वाधिक प्रमुख रूप से उभारे गये हैं, और इसकी एक प्रमुख दार्शनिक परिणति यह है कि वहाँ भाषायी अभिव्यक्ति के प्रश्न को सत्ता और उसके तर्कसम्मत ज्ञान के प्रश्नों से पृथक् कर पाना मुश्किल है। समकालीन पाश्चात्य दर्शन में तार्किक अनुभववाद, तार्किक अणुवाद और विश्लेषणवाद में हम यह स्पष्टतः देख सकते हैं। विशेषकर विट्गेन्स्टाइन का ट्रक्टेटस इस सम्बन्ध में पठनीय है जहाँ हमें इस तरह के वाक्य मिलते हैं : 'तथ्य' और वाक्य एक तार्किक देश में स्थित हैं', 'मेरी भाषा की सीमाएँ मेरे जगत् की भी सीमाएँ हैं', 'जहाँ हम बोल न सकें, चुप रहें इत्यादि। इस तरह यह देख पाना कठिन नहीं है कि पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा में मान्य सार्वभौम बुद्धि की सत्ता[५] के चलते भाषायी अभिव्यक्ति सम्बन्धी यह प्रश्न सिर नहीं उठा पाया कि क्या हमारी भाषा सत् व सत्य को ठीक-ठीक प्रकाशित कर पाने में समर्थ है।

यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि भारतीय दार्शनिक परम्परा में सत् और उसके ज्ञान के सम्बन्ध में संरचनात्मक अनिवार्यता के बदले सर्वव्यापकता और तार्किक युक्तता के बदले आनुभविक प्रामाणिकता की चर्चा रही है, अर्थात् यहाँ बुद्धि को वह सार्वभौम प्रभुता नहीं मिल पायी जो उसने पश्चिम में सहज ही हथिया ली। और इसका सीधा असर भारत में भाषा-सम्बन्धी सिद्धांत पर पड़ा। मोटे तौर पर इस दार्शनिक भाषा-सिद्धांत को इस तरह रखा जा सकता है : सत् या सत्य के अपने निर्वचन में अवश्य भाषायी अभिव्यक्ति को तर्कसम्मत होना चाहिए, किन्तु यह मानने का कोई कारण नहीं है कि उस निर्वचन की तार्किक संरचना ही सत् व सत्य की भावमूलक तथा प्रज्ञानात्मक संरचना भी है। सत् व सत्य के निर्वचन की क्षमता भाषा में है भी यह केवल इसीलिये सम्भव माना जा सकता है क्योंकि भाषा स्वतः सत् व सत्य से ही प्रकाशित है। अतः भाषा में जो 'प्रकाशित' है वह उसके 'निर्वचन' से एकीकृत नहीं है, और इसलिये भाषा की अभिव्यक्ति में 'निर्वचनीय' (वक्तव्य) के साथ-साथ 'अनिर्वचनीय' (अवक्तव्य) भी प्रकट है। अब, इस आधार से हम भाषा के सम्बन्ध में भारतीय तत्त्वविदों की उन कई महत्त्वपूर्ण उक्तियों का स्पष्ट अर्थ समझ सकते हैं जो अन्यथा समझ में नहीं आतीं : जैसे, सत् की भाषा के अन्तर्गत प्रकाशता से सम्बन्धित केनोपनिषद् की यह उक्ति- यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते,[६] या फिर बृहदारण्यक की यह धारणा कि यद्यपि मूलतः भाषा सत् के पूर्ण प्रकाशन में समर्थ रही, अर्थात् वेद-रूपी उद्गीथ के रूप में, तथापि असुरों द्वारा दूषित किये जाने के कारण उसमें सत् के स्वरूप-निदर्शन

को लेकर कई दोष उत्पन्न हो गये और इसलिये वह सत् व सत्य का ठीक-ठीक व पूर्णत: प्रामाणिक प्रकाशन नहीं कर पायी।[७]

(३)

उपर्युक्त भाषा-सिद्धांत में निश्चय ही एक ज्ञानमीमांसात्मक दृष्टिकोण अन्तर्निहित है जिसे हमें समझ लेना चाहिये। ज्ञान के लिये आवश्यक है कि वह वस्तुनिष्ठ हो, अर्थात् उसका स्वरूप 'यथाभूतार्थ-ज्ञानवत्ता' का हो, और इसके लिये छांदोग्योपनिषद् के तत्त्वचिंतक ने मन और वाणी की परस्पर सम्पूर्ति को अपरिहार्य माना है।[८] आशय यह है कि जब तक वाणी में मनस् द्वारा यथाभूतार्थ अधिग्रहण का 'संस्कार' नहीं है तब तक वह दोषयुक्त या पापविद्ध रहेगी। दूसरी ओर, वाणी में स्वभावत: उपलब्ध सार्वभौम सम्प्रेषणीयता का 'संस्कार' जब तक मनस् में नहीं तब तक वह भी दोषयुक्त या पापविद्ध रहेगा। वाणी में अव्याकृत या मौन 'मनस्' ही व्याकृत होकर प्रकट होता है, जिससे वैयक्तिक अन्तर्क्रिया से पृथक् उसे प्रकट ज्ञान की संज्ञा मिलती है। और इस तरह जो व्याकृत रूप में प्रकट ज्ञान है वही सारे वस्तु-जगत् के गुह्य सारतत्त्व के रूप में निदर्शित है।[९]

पश्चिम में 'ज्ञान' की वस्तुनिष्ठता का रूप कुछ अलग है। वहाँ भी वह अवश्य 'यथाभूतार्थ ज्ञानवत्ता' के लक्षण वाला है, किन्तु उसका आधार वस्तु (भूत) का वास्तविक प्रज्ञानात्मक अधिग्रहण न होकर वह तार्किक संरचना है जिसका सार्वभौमिक और सार्वकालिक 'औचित्य' है। अत: वहाँ वाणीगत दोषों से सत् व सत्य प्रभावित नहीं होते,यहाँ तक कि व्यक्तिमूलक संवेगों-आवेगों आदि से भी वे बिल्कुल अछूते रह जाते हैं। अत: वहाँ के तत्त्वचिंतक के लिये इस तरह के निष्कर्षों पर पहुँचना बिल्कुल स्वाभाविक है कि 'जो कुछ पराभौतिक है वह आग में झोंक देने के काबिल है' (क्योंकि वस्तुत: वैसा कुछ है ही नहीं)। 'जितना-कुछ समझा-बूझा जाने वाला है, वह समस्त हमारी भाषा में तर्क-सम्मत रूप से निदर्शित है- कुछ 'कथ्य'(अर्थ) रूप में, कुछ 'अ-कथ्य' (संरचना) रूप में, इत्यादि। द्रष्टव्य है कि, चूँकि पाश्चात्य चिंतक बुद्धि की सार्वभौम शक्ति के कायल हैं, वह यह स्वीकार नहीं कर सकते कि कुछ भी ऐसा हो सकता है जो अन्तिम रूप से 'अ-कथ्य' हो। अत: उनकी दृष्टि में यह संरचनात्मक अ-कथ्यता भी केवल उसी भाषा के सम्बन्ध में ठीक है जिसकी संरचना के बारे में वह है, अन्यथा ऐसी संरचना वाली भाषा (प्रतीक भाषा) सदैव सम्भव है जिसके अन्तर्गत किसी अन्य भाषा की संरचना का कथन किया जा सके। अवश्य पश्चिम में कुछ ऐसे दार्शनिक भी हैं जो इस तार्किक कथ्यता व अ-कथ्यता के झगड़े में न पड़कर यह मान लेते हैं कि भाषा भाव मात्र का घर है (हाइडेगर), या यह कि भाषा में एक गूढ़ संरचना विद्यमान है जिसका विश्लेषणात्मक अध्ययन सम्भव है (चॉम्स्की)। आशय यह कि पश्चिमी 'अ-कथ्य' की धारणा कभी भारतीय 'अवक्तव्य' की धारणा तक नहीं पहुँच पायी है। चूँकि वहाँ बुद्धि और सत्ता के तत्त्व तर्क के अदृश्य तन्तुओं से परस्पर गुँथे हुए हैं, 'अ-कथ्य' या तो केवल एक शुद्ध ज्यामितीय रेखा बन कर रह जाता है, जिसका उपयोग विट्गिन्स्टाइन की तरह केवल कथ्य की सीमा-रेखा खींचने के लिये किया जा सकता है, या फिर वह केवल ऐसी सापेक्ष स्थिति है जो कथन के अन्य भाषायी स्तरों पर विश्लेष्य है। इस तरह सारगर्भित रूप में, सत् या सत्य के पक्ष के रूप में, कुछ भी 'अ-कथ्य' नहीं है; अथवा, यदि वह हो भी तो, हाइडेगर की तरह उसके सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह शुद्धत: 'अ-भाव' रूप है, जहाँ हमारी गति नहीं है।

(४)

कथ्यता और अकथ्यता की उपर्युक्त पश्चिमी धारणा से यह स्पष्ट है कि भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में वहाँ एक निश्चित मत यह है कि भाषायी संरचना किसी न किसी तरह सत् व सत्य की संरचना से अभिन्न है। वस्तुत: वहाँ इसी संरचनात्मक अभिन्नता को ग्रीक-काल में लोगोस की संज्ञा

मिली थी, जिसकी चर्चा लॉजिक के रूप में ट्रक्टेटस में की गई है। यही मत प्रकारांतर से हाइडेगर की इस उक्ति का भी आधार है कि 'वाणी' भाव मात्र का आवास है।' और इससे स्पष्ट है कि पश्चिम में भाषा को मूल रूप से स्वयंभू प्रकाश्यता तथा स्वत:प्रामाण्य लक्षण माना गया है। भारत में भी उसे इन लक्षणों से युक्त माना गया है; किन्तु साथ ही तुरन्त यह प्रश्न उठाया गया है कि तब वह भाषा या बोली दोषयुक्त कैसे हुई ? क्यों सत्य के चतुर्दिक असत्य का धुंध और अर्थ के भीतर निरर्थकता का संचार हुआ ? इस गूढ़ प्रश्न की चेतना ने ही भारतीय तत्त्वचिंतकों के मन में यह जिज्ञासा जगायी कि ऐसा सर्वोच्च ज्ञान कौन सा है जिसे जान लेने पर किसी प्रकार का असत्य, धुंध या निरर्थकता शेष न रहे ? स्पष्ट है कि भारतीय तत्त्वचिंतक भाषायी संरचना के अन्तर्गत निषेधमूलक तार्कि क नियमों, जैसे व्याघात का नियम, से आश्वस्त होकर बैठे नहीं रह सके और इसीलिये अपने लक्ष्य-स्वरूप सर्वोच्च ज्ञान को भी वह शुद्ध सैद्धांतिक या पूर्ण तार्किक औचित्य स्वरूप मान कर सन्तुष्ट नहीं हुए। इसके विपरीत उन्होंने कहा की ऐसा ज्ञान तर्कत: अवगम्य नहीं है।[१०] अब चूँकि यह 'तर्क' या तार्किक संरचना हमारी भाषा की रीढ़ है, उनके कथन का तात्पर्य यह है कि हमारे सत् या सत्य सम्बन्धी ज्ञान का एक ऐसा पक्ष भी है जो हमारी भाषा के अन्तर्गत निर्वचन में ठीक-ठीक प्रकाशित नहीं हो पाता। यहीं हमें व्याकृत वाणी के घेरे से निकल कर अव्याकृत वाणी[११] में प्रवेश करना होता है। अर्थात् हमें भाषा में तार्किक स्पष्टता के मोह से निकल कर प्रकाशोन्मुखता के लिये तत्पर होना होता है। स्पष्ट है कि भाषा में तार्किक संरचना की पारदर्शिता ही वह बाधा है जिसकी चर्चा औपनिषदिक तत्त्वदर्शियों ने वाणी के एक दोष के रूप में की है (यद्यपि अवश्य वही उसका एकमात्र दोष नहीं है), जिसके चलते सत्य की ठीक-ठीक अभिव्यक्ति नहीं हो पाती, किन्तु जो अपनी शक्ति व आकर्षण में इतना प्रबल है कि भाषायी 'प्रकाश' के तत्त्व पर पूरी तरह छा जाता है। जैसाकि बृहदारण्यक (१.३,१) में कहा गया है, आरम्भ से ही वाणी के प्रकाश-तत्त्व 'देव' पर उसका अंधकार-तत्त्व 'असुर' हावी रहा है। अवश्य 'तर्क' की स्वयंभू सार्वभौमिकता, पारदर्शिता और स्वत:प्रामाणिकता आकर्षक है, किन्तु अपनी स्थिरता व निश्चलता में वह सर्वथा जड़स्वरूप है, वह कभी उस सत् या सत्य के स्वयंभू प्रकाश-तत्त्व का निदर्शक नहीं बन सकता जो हमारे जीवन और जगत् में से होकर निरन्तर बहता है।

अत: सत् व सत्य की स्वयंभू प्रदत्तता व प्रामाणिकता वही नहीं है जो हमें तार्किक औचित्य के रूप में उपलब्ध है। सत् व सत्य की स्वयंभू प्रदत्तता व प्रामाणिकता के लिये हमें भाषायी तर्क-संरचना के घेरे से निकल कर भाषा के सार-तत्त्व में प्रवेश करना होता है। यह भाषा वह रूप है जिसके बारे में कहा गया है कि उससे लोकों का सार निकलता है।[१२] स्पष्ट ही यही भर्तृहरि जैसे शब्द-ब्रह्मवादियों की 'परा वाक्' है, हमारी सामान्य भाषा की शक्ति व सामर्थ्य का यही चरम स्वयंभू स्रोत है। और इसीलिये भारत में 'व्याकरण' की धारणा भी मात्र भाषायी संरचनात्मक विश्लेषण की न होकर भाषायी 'अर्थ-सिद्धि' की है;[१३] ठीक उसी तरह जैसे पारम्परिक भारतीय दर्शन में भाषायी विश्लेषण-विधि मात्र भाषायी स्पष्टीकरण के लिये न होकर ज्ञान-सिद्धि के लिये है।

अब हम यह समझ सकने की स्थिति में हैं कि 'परा वाक्' और उससे संलग्न 'अवक्तव्य' की भारतीय धारणा अपने मूल में रहस्यवादी नहीं है, न ही भाषायी सम्प्रेषण के मार्ग में वह किसी तरह बाधक है। इसके ठीक विपरीत, वही भाषायी अर्थ और क्रिया की तथा उसके सन्दर्भ वाले ज्ञान व व्यवहार की सही समझ का तात्त्विक आधार प्रदान करने वाली धारणा है। उससे यह स्पष्ट होता है कि भाषायी सम्प्रेषण वस्तुत: मनुष्यों के बीच एक आध्यात्मिक या पराभौतिक सम्बन्ध है, न कि मात्र प्राकृतिक या परिस्थिति-जन्य सम्बन्ध। भाषा को मात्र एक प्रतिरूपणात्मक प्रतीक-तन्त्र मान लेना और इसीलिये उसमें अन्तर्निहित सारभूत 'परा वाक्' को न देख पाना ही मनुष्य को निरन्तर अज्ञान की

स्थिति में रखने वाला कारण है। द्रष्टव्य है कि भारतीय तत्त्वचिंतक विशुद्धत: प्रतिभास रूप से प्रकट लोक-भाषाओं को किसी तरह निषिद्ध नहीं करते वरन् यह मानते हैं कि उसमें जो भी अर्थ-गम्यता है और तदनुकूल सत्यों व मूल्यों की हमारी धारणा है, उसी से हमारे व्यवहार-जगत् (लेबेंसवेल्त) का रूप बनता है। उस जगत् से कूद कर हम बाहर नहीं निकल सकते। किन्तु अन्दर-ही-अन्दर उसे देख-परख सकने और उसकी ठीक-ठीक जानकारी हासिल करने की स्वतन्त्रता हमें हैं। वस्तुत: इससे हम शुद्ध आत्म-बोध तक भी पहुँच सकते हैं। अत: आश्चर्य नहीं कि भारत में 'व्याकरण' को एक वेदांग समझा गया और उसके द्वारा अर्थ-सिद्धि की बात कही गई। 'सिद्धि' तभी कोई अर्थ रखती है जब हम यह समझें कि प्रस्तुत परिस्थिति में कहीं बाधा है, अपूर्णता है, असत्य और भ्रम का अंधेरा है, और हमें उसे दूर कर बाधाहीनता, पूर्णता और प्रकाश की स्थिति पैदा करनी है। 'अर्थ-सिद्धि' वस्तुत: ज्ञान और सत्य की सिद्धि है।

(५)

अब आगे हम संक्षेपत: यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि भाषायी सारतत्त्व और उससे सम्बन्धित 'अवक्तव्य' का भारतीय दृष्टिकोण किस तरह अधिक दार्शनिक स्पष्टता और महत्तापूर्वक अद्वैत वेदांत, बौद्ध-दर्शन और जैन-दर्शन में प्रकट हुआ है। जैसाकि हमें ज्ञात है, अद्वैत वेदांत की एक केन्द्रीय धारणा 'माया' की है, जो वस्तुत: हमारा सारा भौतिक-व्यावहारिक जगत् ही है। इस धारणा की एक प्रमुख भित्ति वही औपनिषदिक उक्ति है जिसका उल्लेख हम पहले कर आये हैं, अर्थात् बृहदारण्यक की यह उक्ति-'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्', जिसका उपयोग शंकाराचार्य ने बार-बार अपनी व्याख्याओं में किया है। जगत् को वाणी का विकार एक तो इसलिये कहा गया है क्योंकि वाणी में नामरूपमय जगत् का 'आरम्भ' है, और द्वितीयत: इसलिये क्योंकि उसकी निर्वचनात्मक समझ से किसी निर्विवाद सत्य, ज्ञान व मूल्य की उपलब्धि सम्भव नहीं। वह 'कुछ' है, किन्तु वह सत् है अथवा असत्, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कह पाना सम्भव नहीं है। पुन: चूँकि उसे एक-साथ ही सत् व असत् दोनों ही नहीं कहा जा सकता, वह अंतत: 'सदसद्' रूप में अवक्तव्य है। यह 'सदसदवक्तव्यता' वस्तुत: हमारी लोक-भाषा के अन्दर सत् व सत्य के सम्बन्ध में प्रकाश की अपर्याप्तता या अभाव प्रकट करती है, अर्थात् इसका आशय भाषायी अर्थक्रिया की व्यावहारिक उपयोगिता को अस्वीकार करना नहीं है वरन् केवल यह बताना है कि वहाँ शुद्ध ज्ञान व सत् का प्रकाश देखना या देखने की आशा करना केवल एक मृगतृष्णा है। बौद्ध दर्शन भी प्रकारांतर से यही कहता है : भाषा के अन्दर जो कुछ सत्ता रूप से निदर्शित है उसका स्वरूप केवल 'अर्थक्रियाकारित्व' का है, जिसे यदि हम शुद्ध ज्ञान व सत् में समझना चाहें तो पारस्परिक विरोधमूलक निर्वचन ही हाथ लगते हैं।

किन्तु न तो अद्वैत वेदांत में और न ही बौद्ध दर्शन में शुद्ध ज्ञान या सत् के सन्दर्भ से हमारी भाषायी अक्षमता की ठीक-ठीक विवेचना हो पायी है। भारतीय दार्शनिक परम्परा में केवल जैन दर्शन को इस सम्बन्ध में स्पष्ट विवेचना का श्रेय है। जैन दर्शन सीधे-सीधे हमें यह बताता है कि हमारी साधारण भाषायी अर्थक्रिया ही इस तरह की है कि किसी भी वस्तु-स्थिति के पूर्ण व सही निर्वचन में हमें परस्पर विरोधी कथनों का सहारा लेना होता है और यह विरोध केवल भाषायी तर्क तक सीमित न रहकर सत्ता की जड़ तक पहुँचता है और इसलिये हमें स्वीकार करना होता है कि सत्ता एक दृष्टि (लौकिक भाषा की दृष्टि) से अवक्तव्य है। उदाहरणार्थ, किसी दृश्यमान् घट के सम्बन्ध में यह कथन लें, 'यह घट है'। स्पष्ट है कि इस निर्वचन को सत्य मान लेने पर विशुद्ध तार्किक दृष्टि से उसी वस्तु-स्थिति के सम्बन्ध में इन जैसे अन्य कथन भी सत्य होंगे-'यह पट नहीं है', 'यह पर्वत नहीं है' इत्यादि; क्योंकि भाषायी तर्क से स्पष्ट है कि घट, पट, पर्वत आदि परस्पर विरोधी प्रत्यय हैं और इसलिये वे एक-साथ

किसी एक ही वस्तु-स्थिति के निरूपण के लिये प्रयुक्त नहीं किये जा सकते। हमारी भाषा का यही सामान्य तार्किक रूप है जो अत्यन्त स्पष्ट और इसलिये बड़ा आकर्षक है। किन्तु जैन, अन्य भारतीय तत्त्वचिंतकों की तरह, इससे आगे बढ़ता है। वह सीधे इस प्रश्न पर आता है कि क्या निर्वचन या निरूपण के अन्तर्गत हम सत्तामूलक उद्देश्यपद और उस (सत्ता) के विशिष्टतामूलक विधेय-पद को एकीकृत स्वरूप वाला मान सकते हैं? और फिर इसके उत्तर में वह इस आश्चर्यजनक निष्कर्ष पर पहुँचता है कि न तो हम उन्हें एकीकृत स्वरूप वाला मान सकते हैं और न ही परस्पर पृथक् स्वरूपों वाला। उसकी युक्ति है कि यदि वे एकीकृत स्वरूप के बोधक हों तो, उदाहरणार्थ, दृश्यमान् घट के सम्बन्ध में यह कहना कि वह पट नहीं है किसी तरह उसके निर्वचन से सम्बन्धित नहीं हो सकता। दूसरी ओर, यदि 'यह' (सत्तामूलक वस्तु), और 'घट' (उसका विशिष्ट रूप) परस्पर पृथक् हों तो अपने निर्वचन द्वारा उन्हें हम इस तरह नहीं जोड़ सकते कि उससे एक सत्तामूलक वस्तु-स्थिति का बोध (अनुभव) हो। आशय यह है कि भाषायी निर्वचन में ही यह स्पष्ट है कि तर्कत: परस्पर विरोधी रूप वाले प्रत्ययों के बीच स्वत: सत्ता की दृष्टि से कोई विरोध नहीं है : किसी 'यह' के घटत्वमान् घट:' से अस्ति रूप में मान्य कर लिये जाने पर भी उसके सन्दर्भ में 'पटत्वमान् पट:' का नास्ति रूप केवल तार्किक रूप से अर्थ नहीं रखता, वरन् उसका सीधा सम्बन्ध सत्ता के इस स्वरूप से है कि वह मूलत: 'पट' और 'घट' रूपों में समानरूपेण अभिव्यक्ति के योग्य है। और इसलिये यह मानना पड़ेगा कि उसकी अपनी एक निजता (स्व) है जिससे कि वह 'घट', 'पट' आदि (जो 'पर' हैं) के साथ तादात्म्य स्वरूप वाला नहीं समझा जा सकता। अर्थात् एक ही भावरूप वस्तु या सत्, जो घट, पट आदि रूपों में निर्वचनीय रूप से अभिव्यक्ति के योग्य है, वही 'घट-नहीं', 'पट-नहीं' आदि रूपों में भी निर्वचनीय होने से अपने मूल में अवक्तव्य भी है।

आशय यह कि, साधारणत: स्पष्ट व पूर्ण निर्वचन समझे जाने वाले 'यह घट है', 'यह पट नहीं है' आदि अस्ति-नास्तिमूलक सामान्य कथन भी अपने-आप में एक सापेक्षिक अवक्तव्यता की धारणा से युक्त हैं। जैन-दर्शन के अनुसार किसी दृश्यमान् वस्तु के सम्बन्ध में यह कथन कि 'यह घट है' सत्य होने पर भी वस्तु-स्थिति का अधूरा कथन है, यद्यपि सामान्यत: वह एक पूर्ण निर्वचन समझा जाता है। यहीं हम तर्क द्वारा सत्य को ढँकने की बात समझ सकते हैं। भाषा का सामान्य तर्क हमें यह बताता है कि परस्पर विरोधी कथनों में यदि एक सत्य हो तो बाकी सब असत्य होंगे, और इससे हम तात्पर्य निकालते हैं कि उपर्युक्त सत्य निर्वचन 'यह घट है' में वस्तुत: एक ही भावमूलक स्वरूप अभिव्यक्त हुआ। किन्तु जैन दर्शन हमें बताता है कि वस्तुस्थिति सचमुच ऐसी नहीं है, यह केवल भाषायी तर्क का भ्रम है। 'यह' को 'घट' से तादात्म्य-रूप मान लेने से कई व्याख्यामूलक कठिनाइयाँ पैदा होती है जिनका समुचित समाधान केवल तब निकल सकता है जब हम 'यह घट है' के अस्ति-निर्वचन के साथ-साथ 'यह पट नहीं है' जैसे नास्ति-निर्वचन वाक्यों का भी कथन सत्ता सम्बन्धी अपने अर्थ की पूर्णता और स्पष्टता की दृष्टि से करें। और जब हम ऐसा करते हैं तो हमें यह भी स्वीकार करना होता है कि जो इस तरह निर्वचन के योग्य है वही एक दृष्टि से अनिर्वचनीय भी है। यहाँ तक कि अधिक उचित यह कहना होगा कि सत् या सत्य इसीलिये वक्तव्य है क्योंकि वह सारत: अवक्तव्य है। दूसरे शब्दों में, भाषा का प्रकट अर्थ-व्यापार अपने-आप में एक अधिक गूढ़ आशय को प्रकाशित करने वाला है, और यही दार्शनिक को समझना चाहिये।

पुन: हमें यह देखना चाहिए कि जैन दर्शन का उपर्युक्त 'अवक्तव्य' सम्बन्धी मत अद्वैत वेदांत और बौद्ध दर्शन के 'अवक्तव्य' सम्बन्धी मतों से मूलत: भिन्न नहीं है। सत् और संज्ञान के क्षेत्र से ही सीधे इस धारणा तक पहुँचने में ये बाद वाले मत जैन मत से इसलिये पृथक् जान पड़ते हैं क्योंकि वे सीधे-

सीधे भाषायी तर्क की भावमूलक अपर्याप्तता तथा भ्रम की स्थिति को अपने अध्ययन का विषय नहीं बनाते। दूसरी ओर, जैन-दर्शन इसी भाषायी तर्क की भावमूलक अपर्याप्तता व भ्रम को अपनी विवेचना का आधार बनाकर सत् व उसके ज्ञान सम्बन्धी अपनी धारणाओं की पुष्टि करता है। यही कारण है कि जैन स्याद्वाद व नयवाद को उसकी अनेकांतवादी भावमीमांसा की नींव समझा जाता है।

(६)

अन्त में, अगर हमें इतने सारे पृष्ठों में लिखित और अलिखित विचारों को एक वाक्य में कहने को कहा जाय तो हम अनायास ऋग्वेद की इस सुन्दर व बोधक उक्ति का स्मरण करेंगे :

''कोई देखकर भी वाणी को नहीं देखता, सुनकर भी नहीं सुनता, किसी को यह वाणी पति की कामिनी, सुवासा जाया की तरह अपना शरीर अनावृत करती है।''[१४]

***

संदर्भ-सूची

१. *बृहदारण्यक उप. के इस प्रश्न की ही कोटि का एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न उसी में इस तरह है : 'हम ज्ञाता को किस तरह जानें ?' (२-४-१४)*

२. *अथर्ववेद (१०-८-३२) : 'देव का काव्य देखो, जो न मरता है, न जीर्ण होता है।'*

३. *देखिये : छांदोग्योपनिषद् ७-२-५-१ : 'भूमा', मर्त्य 'अल्प' के विपरीत, अमृत और अतीन्द्रिय है।*

४. *देखिये, हुस्सर्ल का एक महत्त्वपूर्ण लेख : दि क्राइसिस ऑफ यूरोपियन साइसेंस एण्ड दी ट्रान्सेन्डेंटल फिनॉमिनालॉजी (१९३६)*

५. *इस सम्बन्ध में देकार्त की एक महत्त्वपूर्ण उक्ति इस प्रकार है : ''जिस तरह सूर्य एकमेव सर्वप्रकाशक और ऊष्माजनक सूर्य है, उसी तरह बुद्धि भी एकमेव है।''*

६. *केन. उप. (१-४) : जो वाक् से अभ्युदित नहीं, वरन् जिससे वाक् ही अभ्युदित है।*

७. *बृह. उप. (१.३.१-२) : वाणी को उद्गीथ का रूप देने वाला देवों को कहा गया है, जबकि असुर उसे दोषपूर्ण बनाते हैं। मध्वाचार्य के भाष्यानुसार देव ज्ञान के प्रकाशक हैं, जबकि असुर उसे ढँकने वाली ऐहिक शक्तियों के प्रतीक हैं।*

८. *छान्दो. उप. (४.१६) : जहाँ विश्व के प्रज्ञानात्मक स्वरूप की चर्चा यज्ञ के रूप में की गई है, जिसके लिये 'मन' और 'वाणी' दो मार्ग हैं- मन, 'वाणी' का आन्तर रूप है तथा वाणी 'मन' का बाह्य रूप है।*

९. *माण्डूक्योपनिषद् (१.३) में 'ॐ' के प्रथम पाद 'अ' को वैश्वानर-रूप स्थूल जगत् से एकीकृत माना गया है, और ऐतरेय आरण्यक (२,३,६) में यही अ-कार सम्पूर्ण वाणी है- 'अ-कारो वै सर्वावाक्'। इस तरह हमारी भाषा (अपरा-वाक्) ही अपने सामान्य रूप में स्थूल जगत् की निदर्शिका है। इसी आशय को व्यक्त करने वाली कुछ अन्य औपनिषदिक उक्तियाँ इस प्रकार है : 'तदस्येदं वाचा तन्त्या नामाभिर्दामभि: सर्व सितम्', 'सर्व हीदं नामानि', 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् (छान्दो. उप. ६.१.४)।*

१०. *कठोपनिषद् (१,२,९) : 'नैषातर्केण मतिरापनेया'। तैत्तिरीय उप. में इसी सन्दर्भ में कहा गया है, 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते'; और इसलिये हमारी साधारण भाषा की दृष्टि से कहें तो 'नेति-नेति' (बृह. उप. : ४,४,२,२)।*

११. *'अव्याकृत' वाणी की धारणा के लिये देखिये तैत्तिरीय संहिता (६,४,७) : 'वाग् वै पराञ्च अव्याकृता', जहाँ उसे साधारण वाक् का आधार-स्वरूप 'परा वाक्' कहा गया है।*

१२. *छांदोग्योपनिषद् (५.१७ : शांकर भाष्य) : जहाँ मौन रूप अव्याकृत वाणी से ही 'भू: भुव: स्व:' की उत्पत्ति मानी गई है।*

१३. *इस सन्दर्भ में विस्तृत विवेचना के लिये देखिये उदाहरणार्थ, जी. शास्त्री लिखित : (दि फिलॉसफी ऑफ वर्ड एण्ड मीनिंग) (१९५९)*

१४. *उत त्व: पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्व: शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।*
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पतय उशती सुवासा: ॥ (१०,७१,४)

विट्गिन्स्टाइन के परवर्त्ती दर्शन के मूलाधार

विट्गिन्स्टाइन ने अपने लेखों और व्याख्याओं में दर्शन-शास्त्र के क्रिया-पक्ष पर इतना अधिक जोर दिया है कि उन बहुत से समकालीन दार्शनिक-चिंतकों ने, जिन पर उसका प्रभाव है, उनके दर्शन का विवेचन, व्याख्यान और उसका विस्तार अधिकांशत: केवल एक 'दार्शनिक विधि' के रूप में ही किया है। विधि में अंतर्निहित सुश्रृंखलता, स्पष्टता और विश्लेषणात्मकता के तत्त्वों की चकाचौंध में अक्सर यह महत्त्वपूर्ण तथ्य भुला दिया जाता है कि प्रत्येक दार्शनिक-चिंतन स्वत: एक सैद्धांतिक दार्शनिक-मत का प्रतिपादन करता है, जिसमें प्रत्यक्षत: या परोक्षत: दार्शनिक का अपना अनुभव और संस्कार तथा अन्य दार्शनिकों द्वारा उठाई गई समस्याओं का विमर्श रहता है और निस्संदेह विट्गिन्स्टाइन का दार्शनिक-चिंतन इसका अपवाद नहीं है। किन्तु अवश्य उसके अपने दर्शन के सम्बन्ध में कुछ कथन हैं जो इस सैद्धांतिक दिशा में उसके मत की व्याख्या को निरुत्साहित करते हैं। जैसे, यह "दर्शन-शास्त्र कोई सिद्धांत नहीं, वरन् एक क्रियाशीलता है"(ट्रक्टेटस ४.११२); या "अपने निष्कर्षों को एक ऐसी (=पूर्ण) समग्रता में समायोजित करने के कई असफल प्रयासों के बाद मुझे बोध हुआ कि मैं कभी सफल हो ही नहीं सकता। मेरे सर्वोत्कृष्ट लेख कभी भी दार्शनिक उक्तियों से अधिक कुछ नहीं हो सकते ......और यह बात निस्संदेह गवेषणा की प्रकृति से ही सम्बन्धित है। क्योंकि यह बाध्य करती है कि हम एक ऐसे विस्तृत विचार-क्षेत्र का परिभ्रमण करें जो परस्पर कटने वाले मार्गों से भरा पड़ा है।" (फिलासफिकल इन्वेस्टिगेशन्स्, आमुख) अवश्य विट्गिन्स्टाइन की इन आत्म-स्वीकृतियों के बावजूद एक ऐतिहासिक प्रयास 'वियेना-गोष्ठी' के दार्शनिकों ने किया जिसमें ट्रक्टेटस में प्रतिपादित 'तार्किक अणुवाद' और उसकी एक मूल धारणा 'प्रतिज्ञप्तियों की सत्य-वृत्तियाँ' (ट्रुथ-फंक्शॅन्स ऑफ प्रॉपाजिशन्स) के सहारे एक विशद दार्शनिक सिद्धांत 'तार्किक-अनुभववाद' खड़ा करने की कोशिश की गई, और उसमें काफी हद तक सफलता भी मिली-यद्यपि एन्सकॉम्ब जैसे विट्गिन्स्टाइन के अनुयायिओं ने विट्गिन्स्टाइन के 'मूल वाक्यों' को मूल 'आनुभविक वाक्य' कहना युक्तिसंगत नहीं माना। दूसरी ओर, उसी 'वियेना-गोष्ठी' के ही एक दार्शनिक न्यूराथ ने न केवल उक्त व्याख्या वरन् उसमें मान्य पूरी धारणा के औचित्य पर संदेह प्रकट किया। उसने पूछा : समग्र जगत् और भाषा के बारे में, और उसके अर्थ के आधार के रूप में समग्र इन्द्रियानुभव के बारे में, बात करने का कोई औचित्य हमारे पास है भी ? द्रष्टव्य है कि विट्गिन्स्टाइन के परवर्त्ती दर्शन में न्यूराथ का उक्त दृष्टिकोण एक केन्द्रीय महत्त्व रखता है, जैसा कि आगे स्पष्ट होगा। जहाँ तक स्वयं विट्गिन्स्टाइन द्वारा व्यक्त विचारों का अनुगमन करते हुए दार्शनिक क्रियाशीलता पर ही जोर देने का प्रश्न है, इसमें हम दो दार्शनिक विचार-धाराओं का उद्भव देखते हैं - जो अभी तक काफी सशक्त हैं। ये हैं 'दार्शनिक भाषाशास्त्र' (फिलोसफिकल लिंग्विस्टिक्स) और 'चिकित्सामूलक अनुभववाद' (थेरॉप्यूटिक पॉजिटिविज्म)। 'दार्शनिक भाषाशास्त्र' का स्वरूप आज राइल और ऑस्टिन के लेखनों में स्पष्ट है, यद्यपि इसकी नींव बहुत पहले एरिस्टॉटल ने डाली थी और ब्रिट्रिश दार्शनिक-परम्परा में ही यह पहले लॉक व बर्कले और बाद में मिल, रसेल और मूर

द्वारा पुष्ट हुई थी। किन्तु जिस रूप में वह आज उपलब्ध है वह सीधे विट्गिन्स्टाइन द्वारा भाषा-विश्लेषण और स्पष्टीकरण पर जोर दिये जाने के कारण है। दूसरी ओर, 'चिकित्सामूलक अनुभववाद' (थेरॉप्यूटिक एम्पिरिसिज्म) का स्वरूप विज्डम के 'अँदर माइन्डस्' लेख-माला में स्पष्ट देखा जा सकता है, जिसका आधार विट्गिन्स्टाइन की यह मान्यता है कि अहम्मात्रवाद (सोलिप्सिज्म) और 'विचार', 'विश्वास' जैसे मानसिक प्रत्ययों की पारम्परिक धारणा वस्तुत: एक प्रकार की 'मानसिक जकड़न' है जिसकी चिकित्सा संभव है।

इसके अतिरिक्त विट्गिन्स्टाइन के दार्शनिक- चिंतन पर स्ट्रॉसन, मेलकॉम, फिन्डले, फेयॅराबेंड, पाल प्रभृति चिंतकों की महत्त्वपूर्ण व्याख्याएँ हैं। सारांश यह कि विट्गिन्स्टाइन के समग्र दर्शन को एक सैद्धांतिक स्तर से, समझने की चेष्टा का अब तक नितांत अभाव रहा है। इसी अभाव की पूर्ति अर्न्स्ट कॉन्राड स्पेख्त की प्रस्तुत "दी फाउण्डेशन ऑफ विट्गिन्स्टाइन लैटर फिलॉसफी" नामक पुस्तक करती है। स्पेख्त की इस मौलिक चेष्टा को समझने में शायद यह याद रखना सहायक होगा कि वह जिस दार्शनिक परम्परा से सम्बद्ध है उसमें सदैव सैद्धांतिकता व समग्रता का आग्रह प्रबल रहा है। उसमें सदैव बातों की जड़ तक पहुँचने की विलक्षण आकुलता रही है। क्या उसी परम्परा के एक सुप्रसिद्ध समकालीन दार्शनिक हाइडेगर ने नहीं कहा: किसी चिंतक द्वारा व्यक्त विचार-सागर में तैरते हिमखंडों की तरह हैं, जिनका अधिकांश भाग जल की सतह के नीचे अदृष्ट रहता है। उसके अनुसार दार्शनिक चिंतन का एक महत्त्वपूर्ण कार्य उक्त अदृष्ट बहुलांश के आधार से दृष्ट अल्पांश को अधिक स्पष्टरूपेण ग्राह्य (ज्ञेय) बनाना है।

स्पेख्त को हम यही करता हुआ पाते : विट्गिन्स्टाइन के समग्र चिंतन, विशेषत: उसके परवर्त्ती चिंतन, जो फिलासफिकल इन्वेस्टिगेशन (आगे के पृष्ठों में इसके लिये हम केवल 'फिल. इन.' लिखेंगे) में व्यक्त हुआ है, को वह उसमें निहित दो मूलाधारों से स्पष्ट करता है-सत्तामीमांसात्मक (ऑन्टोलॉजिकल) पूर्वमान्यताएँ और भाषामूलक दार्शनिक पूर्वमान्यताएँ। अत: स्वाभाविक है कि बहुत-सी पुरानी बातों (विट्गिन्स्टाइन के मत की अन्य दार्शनिकों द्वारा की गई व्याख्याओं) को दुहराते हुए भी स्पेख्त का विवेचन अपने उद्देश्य और परिणति में नया है। उसका मत है : विश्लेषणों, विट्गिन्स्टाइन के भाषा-विश्लेषण सहित, की जड़ में न केवल भाषा के स्वरूप और वृत्ति के बारे में एक निश्चित धारणा होती है वरन् साथ ही उसमें कोई सत्तामीमांसात्मक सिद्धान्त भी पूर्वमान्य रहता है। उसकी अपनी विवेचना का एक मुख्य लक्ष्य उक्त दो पक्षों, भाषा-विश्लेषणमूलक और सत्तामीमांसात्मक पक्ष, का परस्पराश्रित स्वभाव विट्गिन्स्टाइन के दार्शनिक-चिंतन के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट करना है। अत: स्वाभाविक है कि विट्गिन्स्टाइन के भाषा-सिद्धांत पर विचार करते हुए वह उसके 'चिकित्सामूलक' और 'दार्शनिक-भाषाशास्त्र-मूलक' पक्षों को अछूता छोड़ देता है। इसके विपरीत, उसका अपना अध्ययन और निरूपण उक्त दार्शनिक भाषा-सिद्धान्त के दो प्रतिमानों (मॉडल) के आधार से आगे चलता है। ये हैं : 'आणविक प्रतिमान' और 'भाषा-क्रीड़ा प्रतिमान'। जैसाकि स्पेख्त स्वीकार करता है, उसके इन दो प्रतिमानों की प्रेरणा का स्रोत स्टैगमुलर द्वारा, विट्गिन्स्टाइन की अर्थमीमांसा (सेमॉन्टिक्स) के संदर्भ से सुझाये गये दो भाषा-सिद्धान्त हैं, जो क्रमश: पच्चीकारी सिद्धान्त (मोजेक थ्योरी) और 'शतरंज-सिद्धांत' (चेस थ्योरी) हैं।

स्पेख्त के अनुसार, उक्त दो प्रतिमानों के बीच मूल अंतर इस तरह है : भाषा के आणविक प्रतिमान में पद या शब्द और पदार्थ को पृथक्-पृथक् संरचनाओं के रूप में भेद नहीं किया जाता। दूसरे शब्दों में, आणविक प्रतिमान प्रदत्त पदार्थों के एक जगत् को पूर्वमान्य करता है, जैसा कि यथार्थवादी करते हैं, और इस तरह भाषा की वस्त्वनुरूपता या चित्रण का सिद्धांत प्रतिपादित करता है। दूसरी ओर,

भाषा-क्रीड़ा-प्रतिमान में पूर्व-प्रदत्त जगत् की यथार्थता का प्रश्न ही नहीं उठाया जाता वरन् यह देखा जाता है कि भाषा-क्रीड़ा के अंतर्गत पदार्थ कैसे समायोजित होते हैं। तदनुसार भाषा-क्रीड़ा को प्रतिमान रूप में मान्य करने से पदार्थों और भाषा के बीच जिस संबंध की उद्‌भावना होती है वह एक भाषायी 'विधान-सिद्धांत' होता है, जिसमें भाषा को पदार्थ-जगत् के आधार से न देख कर यह देखा जाता है कि कैसे पदार्थ के विधान में भाषा समाहित है।

स्पेख्त अपने मुख्य अध्ययन को इन पाँच शीर्षकों में बाँटता है :

१. भाषा का आणविक प्रतिमान,

२. विट्‌गन्स्टाइन के भाषा-सिद्धान्त में प्रतिमान-धारणा के रूप में भाषा-क्रीड़ा,

३. अर्थान्वयन-वृत्ति (सिग्निफिकेशन फंक्शन) के सत्तामीमांसात्मक और ज्ञानमीमांसात्मक आधार,

४. अर्थ की समस्या की सत्तामीमांसात्मक पृष्ठभूमि,

५. भाषा में पदार्थों का विधान।

भाषा का आणविक प्रतिमान

आणविक प्रतिमान, जो ट्रक्टेटस में उपलब्ध हैं और जिसका आद्य-प्रवर्त्तक एरिस्टॉटल है, की मुख्य बातें इस प्रकार हैं :

हमारे नित्य व्यवहार की लोक-भाषा में उसकी वास्तविक तार्किक संरचना छिपी है, या अपूर्णत: प्रकट है; और एक ऐसी तर्कत: पूर्ण आदर्श भाषा संभव है जो उस तार्किक संरचना को उसके शुद्ध रूप में प्रकट कर सके। भाषा, किसी भी भाषा, की आधारभूत वृत्ति चित्रण की है। चूँकि लोक-भाषा में इस चित्रण का स्वरूप अस्पष्ट है, उसका तार्किक विश्लेषण आवश्यक है। इस विश्लेषण द्वारा वाक्यों (वस्तु-स्थितियों के चित्रों) को उसकी इकाइयों में विभक्त किया जाता है। इस विश्लेषणात्मक प्रक्रिया का आधार यह तार्किक सिद्धांत है कि भाषा के सभी अर्थमूलक वाक्य मूल वाक्यों की सत्य-वृत्तियाँ (ट्रुथ फंक्शन्स्) हैं। मूलवाक्य स्वत: विश्लेष्य नहीं है, क्योंकि वे सरल चिन्हों के अव्यवहित संयोग से बनते हैं- ठीक उसी तरह जैसे मूलवाक्यों के अव्यवहित संयोग से मिश्र-वाक्य बनते हैं। वाक्य में सरल चिन्हों (नामों) का संयोग वस्तु-स्थिति में पदार्थों के संयोग का निर्देश करता है। इस तरह भाषा और जगत् का संबंध उक्त चित्रण है, जो प्रक्षेप के निश्चित नियमानुकूल है। भाषा जगत् के एक 'दीर्घ आइने' की तरह है।

उक्त सरल चिन्हों के अतिरिक्त भाषा में शुद्ध तार्किक-चिन्ह (तार्किक अचर) भी होते हैं, जो अर्थहीन (यद्यपि निरर्थक नहीं) होते हैं, क्योंकि वे जगत् के किसी पदार्थ का निर्देश नहीं करते। उनका स्थान स्वत: भाषा की प्रतीकात्मकता में होता है।

स्पेख्त के अनुसार ट्रक्टेटस में आणविक प्रतिमान वाले भाषा-सिद्धांत का चरम रूप मिलता है। इसका एक अधिक स्पष्ट किन्तु अपेक्षया सरल रूप एरिस्टॉटल में मिलता है, जो इस प्रकार है : वस्तुएँ भाषा से बिल्कुल स्वतंत्र है; वस्तुओं के लिए शब्दों का प्रयोग बाद में होता है। वस्तुओं से शब्दों के इस संबंध से शब्दों को एक स्वतंत्र अर्थ-वृत्ति मिलती है। स्वत: भाषा सार्थक और अ-सार्थक ध्वनि-संरचनाओं से बनती है। प्रथम के अंतर्गत शब्द और वाक्य आते हैं, जबकि द्वितीय के अंतर्गत स्वर और अक्षर। शब्द वे चिन्ह हैं जो स्वतंत्ररूपेण और स्वभावेन अर्थ धारण करते हैं, जबकि उनके इकाई रूप अक्षर ऐसा नहीं करते। पुन:, शब्द भी दो तरह के होते हैं - संज्ञा (ओनोमॉटा) और क्रिया (रीमॉटा) : प्रथम का कोई कालिक संदर्भ नहीं होता जबकि द्वितीय का सदैव कालिक संदर्भ होता है। दूसरी ओर, वाक्य वह है जिसमें सभी स्वरात्मक इकाइयों की, उक्त वाक्य के अंदर या बाहर, एक निश्चित अर्थ-वृत्ति होती है। पुन:, वाक्यों को कई वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, जैसे सत्य, असत्य आदि।

अब प्रश्न उठता है कि चूँकि निर्देश्य वस्तुएँ सर्वत्र एक ही हैं, विभिन्न भाषायी लोग अपनी भिन्न-भिन्न स्वरमूलक संरचनाओं से उन एक ही वस्तुओं का निर्देश कैसे कर पाते हैं ? एरिस्टॉटल का उत्तर है : विभिन्न भाषा-भाषी लोगों की बुद्धि में वस्तुओं के प्रत्ययों का रूप एक ही होता है और सभी स्वरमूलक संरचनाएँ मूलत: इन्हीं प्रत्ययों के चिह्न हैं।

इस तरह, एरिस्टॉटल के अनुसार, प्रस्तुत वस्तुस्थिति के तीन परस्पर-संबद्ध क्षेत्र हैं : विभिन्न भाषाओं की भिन्न स्वरमूलक संरचनाएँ, सभी लोगों की बुद्धि में समरूप प्रत्यय (अर्थात् समरूप वस्तुओं के मनोगत प्रतिबिम्ब), और वस्तुएँ, जो सभी के लिए समान हैं। स्वरमूलक संरचनाएँ प्रत्ययों के माध्यम से वस्तुओं का निर्देश करती हैं। इस संदर्भ में शब्दों और वाक्यों का अंतर भी द्रष्टव्य है : शब्द विशिष्ट प्रत्ययों या विचारों को प्रतिरूपित करते हैं और इस तरह विशिष्ट वस्तुओं का निर्देश करते हैं; जबकि वाक्य बुद्धि में संज्ञाओं के संयुक्त-रूपों का निर्देश करते हैं और उनके द्वारा वस्तुओं के परस्पर संबंधों का। किन्तु एरिस्टॉटल के अनुसार, "निस्संदेह", "किन्तु", "और", "अथवा" जैसे शब्द भी हैं जो किन्हीं विशिष्ट वस्तुओं के लिए नहीं होते - वे अर्थहीन ध्वनियाँ हैं। पुन:, ऐसे शब्द भी हैं जिनके बारे में कोई निश्चित 'अभिधा-अभिधेय' संबंध नहीं समझा जा सकता; जैसे "भाव" (बींग) शब्द, जो अपने क्रिया-रूप "है" में उद्देश्य-विधेय-संबंधक (कॉपुला) होकर ही वाक्य-संरचना में एक निश्चित अर्थवृत्ति रखता है, जबकि वही परात्मक अभिधान के रूप में भी किसी विशिष्ट वस्तु का निर्देश नहीं करता। ऐसा ही एक और शब्द "तादात्म्य" भी है।

किन्तु एरिस्टॉटल की 'वस्तु' की धारणा क्या है ? जिन्हें साधारणत: गुणवाचक या संबंधवाचक शब्द कहा जाता है, वे किस प्रकार की 'वस्तुओं' की अभिधाएँ हैं ? अवश्य एरिस्टॉटल गुणों, संबंधों को स्वतंत्र सत्ता प्रदान नहीं करता, किन्तु उन्हें वस्तुओं में मानने से क्या आशय है ? पुन:, जब वह उन्हें सारतत्त्व के रूप में देखता है, तो वह उन्हें किस प्रकार का भाव प्रदान करना चाहता है ? इस संबंध में समस्या के समाधान हेतु वह अस्तित्त्वयुक्त वस्तु को मूल द्रव्य मानते हुए उसके निर्धारकों (डिटर्मिनेन्ट्स) के रूप में गुणों, संबंधों आदि को सादृश्य से इकाइयाँ (ऍन्टिया) कहता है। उसके अनुसार, प्रत्येक विधेयात्मक अभिव्यक्ति वस्तु का आशय प्रकट करती है, किन्तु स्वत: 'वस्तु' की अवधारणा कोटियों (केटेगॅरीज) के अनुसार बदलती रहती है। किन्तु बाद के दार्शनिकों को एरिस्टॉटल के इस उत्तर से संतोष नहीं हुआ। फलस्वरूप इन्हीं 'वस्तुओं' को लेकर 'यथार्थवाद' (रीयलिज्म) और 'नाममात्रवाद' (नामिनलिज्म) के बीच विवाद की स्थिति पैदा होती है।

संक्षेप में, एरिस्टॉटल का भाषा-सिद्धांत इस तरह है : भाषा की संरचना आणविक है। अलघुतम स्वतंत्र ध्वनि-इकाईयाँ अक्षर और स्वर हैं। शब्द और वाक्य जैसी अधिक विकसित इकाइयाँ उक्त 'ध्वन्यात्मक अणुओं' से बनती हैं। भाषा की अर्थ-वृत्ति का भी विश्लेषण इसी प्रकार है : लघुतम स्वतंत्र प्रतीक-इकाइयाँ शब्द हैं, जबकि अधिक जटिलता वाली इकाइयाँ, जैसे वाक्य, हेत्वानुमान आदि, शब्दों के अणुवत् संयोगों से बनते हैं- और इस तरह कि उससे शब्दों की मूल अर्थवृत्ति में कोई परिवर्तन नहीं होता। ध्वन्यात्मक चिह्नों और अर्थवृत्ति के इस विश्लेषण के ही समकक्ष है उन प्रत्ययों का विश्लेषण जो शब्दों और अर्थवृत्ति के बीच संबंध कायम करते हैं। भाषा और जगत् का संबंध भी आणविक है : जगत् की वस्तुएँ भाषा से स्वतंत्र और पूर्व-प्रदत्त हैं। 'शब्द' वे भी केवल 'कोटियाँ', और उनमें भी केवल द्रव्य (सब्स्टेन्स) ही बाद में वस्तुओं से संबंधित होते हैं। इस तरह, एरिस्टॉटल भाषा का परस्परता-सिद्धांत प्रतिपादित करता है जो आणविक प्रतिमान पर आधारित है। और हम देख ही चुके हैं कि इस भाषा-सिद्धांत से किस तरह की सत्तामीमांसात्मक कठिनाई पैदा होती है। प्राचीन काल में और मध्यकाल में भी एरिस्टॉटल के उक्त मत से असहमत होने वालों का अभाव नहीं रहा। कई प्रकार के असंतोषजनक

समाधान भी ढूँढ़े गए। स्पेख्त के अनुसार, उनके असंतोषजनक होने का एक बड़ा आधारभूत कारण यह रहा कि एरिस्टॉटल के भाषा-सिद्धांत के आणविक प्रतिमान में निहित इस सरल-सीधी युक्ति को किसी ने बदलने का प्रयास ही नहीं किया : कि यदि वस्तुएँ प्रदत्त हों तो बाद में उन्हें इस तरह शब्द-निर्दिष्ट किया जाय कि उससे संपूर्ण भाषा की ठीक-ठीक व्याख्या हो सके। विट्गिन्स्टाइन के बाद के चिंतन का आरंभ-बिंदु इसे बदलने का ही प्रयास है, जिसके अंतर्गत वह उन भाषायी इकाइयों को ढूँढ़ता है जिनमें भाषायी-चिन्ह, मानव-क्रिया और रचित वस्तु एक ऐसी संरचनात्मक एकता बनावें जिसे उसके आणविक घटकों, इकाइयों से न बनाया जा सके।

भाषा-क्रीड़ा एक प्रतिमान-धारणा के रूप में

१. 'भाषा-क्रीड़ा' शब्द का उद्भव और विकास : ट्रक्टेटस में आणविक-प्रतिमान वाली भाषा को निश्चित करने वाले प्रत्यय गणितशास्त्र के प्रत्ययों के सादृश्य से प्रयुक्त हुए हैं - यथा तार्किक-देश, सत्य-युक्ति, वाक्यचर आदि, जिनकी विशिष्टता उनकी आकारिक शुद्धता व स्पष्ट भिन्नता में है। यह भाषा एक निष्कलंक 'आइने' की तरह है। किन्तु विट्गिन्स्टाइन के अनुवर्त्ती दर्शन में भाषा की विशिष्टता बताने वाले प्रत्यय बिल्कुल दूसरे प्रकार के हैं। जैसाकि वह फिल. इन. में कहता है, भाषा एक 'पुरातन नगर' की तरह है : "एक जाल सकरे मार्गों और चौराहों का, पुराने और नये घरों का, और उन घरों का जिनमें कई कालों में पुनर्निर्माण व जीर्णोद्धार हुआ है; और यह सब एकाधिक उपनगरों से घिरा हुआ जिनमें सीधे-समानान्तर मार्ग हैं और समरूप घर हैं।" (वही, १८) हमारी भाषा में भी एक संरचनात्मक विकास परिलक्षित है। वह किसी एकरूप तार्किक या व्याकरणमूलक योजनाधीन होकर निर्मित नहीं है। नई तकनीकी भाषा व शब्दावली उसमें पुनर्निर्माण के समान हैं जबकि गणितशास्त्र व तर्कशास्त्र की कृत्रिम भाषाएँ उस पुरातन नगरी रूप भाषा के उपनगर हैं, जिनका आधार एकरूप योजनाएँ हैं और जिनका मुख्य नगर के केंद्र से प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। इस तरह भाषा लोक-भाषा का एक रूप है। अपने सभी रूपों, प्रयोगों और अपने अंगों की व्यवस्था में भाषा में विविधता है। उसमें कुछ भी "सदा के लिए स्थिर नहीं है", उसकी कोई निश्चत सीमाएँ नहीं हैं। विट्गिन्स्टाइन की 'भाषा-क्रीड़ा' धारणा में ये ही बातें मुख्य महत्त्व की हैं।

'भाषा-क्रीड़ा' के संबंध में उक्त बातें हमें विट्गिन्स्टाइन की फिल. इन. के पहले उसकी मूर लैक्चर्स और ब्लू एण्ड ब्राउन बुक्स में मिलती हैं किन्तु पूर्ण-विकसित भाषा-सिद्धांत के रूप में नहीं। एक पूर्ण 'भाषा-सिद्धांत' के रूप में उसकी विवेचना स्ट्रॉसन और स्टैगमुलर ने की है, जिसके आधार पर स्पेख्त 'भाषा-क्रीड़ा' के इन तीन अर्थों का उल्लेख करता है : (१) 'आद्य-भाषा' या 'भाषायी प्रयोग का आद्य-रूप' जैसाकि बच्चे के द्वारा भाषा सीखने की प्रक्रिया में प्रकट होता है, या जो किसी कृत्रिम रूप से रचित किया जा सकता है। विट्गिन्स्टाइन भवन-शिल्पी और उसके सहायक के बीच व्यवहृत भाषा का उदाहरण देता है, जिसमें 'ईट', 'पत्थर','शहतीर', 'गारा' आदि कुछ शब्दों के अलावा इस तरह के कुछ निर्देशात्मक वाक्य होते हैं - "मुझे ...... दो", इत्यादि। विट्गिन्स्टइन इस तरह की 'भाषा' को 'लोक-भाषा' के संदर्भ में केवल तुलनीय ढंग से अर्थात् समानताएँ और असमानताएँ प्रकट करने वाली विधा की दृष्टि से ही उपयोगी मानता है; अर्थात् उसका उद्देश्य न तो लोक-भाषा की अपूर्णता बताना है और न ही उसे स्थानापन्न करना है। दूसरी ओर, भाषायी प्रयोग के आद्य-रूप रूप में वह (अर्थात् 'भाषा-क्रीड़ा') गणितीय चिन्ह प्रणाली की तरह भी हो सकती है, जैसाकि फिल.इन. (४८) में वह साक्रेटीज के स्वप्न की व्याख्या के लिए प्रयुक्त है। कभी-कभी उनसे बौद्धिक-प्रयोग का काम भी लिया जा सकता है (वही, ५५४)। इसी दृष्टि से विट्गिन्स्टाइन विविध जीवन-रूपों के समकक्ष विविधि भाषाएँ मान्य करता है। और कहता है कि दर्शन का कार्य जीवन-रूपों और विविध भाषाओं के इसी संबंध का

निरूपण है। उसका काम स्वत: लोक-भाषा में ही परिवर्तन का नहीं है; यद्यपि यह सही है कि लोक-भाषा को व्यावहारिक कारणों से यहाँ-वहाँ परिवर्तित-परिवर्धित किया जा सकता है, किन्तु यह काम दर्शन का नहीं है। स्पष्ट है कि ट्रक्टेटस वाली 'आदर्श-भाषा' के लिए यहाँ कोई जगह नहीं है।

२. साधारण लोक-भाषा, अपनी उन समग्र प्रक्रियाओं और प्रयोगों के साथ जो उसमें अविभक्त रूप से समाहित हैं :- यद्यपि विट्गिन्स्टाइन ''भाषा'' शब्द का अत्यंत व्यापक, अर्थ लेता है, जिसमें तर्कशास्त्र या गणितशास्त्र की चिन्ह-व्यवस्था भी आ जाती है, तथापि उसका मुख्य आशय ''हमारी शब्द-भाषा या लोक-भाषा'' से ही है।

३. पूर्णत: विकसित लोक-भाषा के ही कुछ आंशिक प्रयोग, आंशिक प्रणालियाँ, वृत्तिमूलक इकाइयाँ या प्रयोग-संदर्भ :- ये सब एक सावयव समग्रता (ऑर्गेनिक होल) के ही घटक हैं। इन अंशभूत भाषा-क्रीड़ाओं को स्पेख्त चार वर्गों में बाँटता है जो इस तरह हैं : (क) भाषायी-क्रियाएँ-निर्देशन, सूचना देना, प्रार्थना करना, शाप देना, कहानी कहना, झूठ बोलना आदि (फिल. इन. २३,२४९)। इनके साथ ही 'पहेली हल करना', 'गीत गाना' आदि भाषागत उपलब्धियों को भी सम्मिलित किया जा सकता है। (ख) इनमें भाषायी क्रियायें होती हैं, किन्तु क्रीड़ा में उनका निर्णायक हाथ नहीं होता- जैसे, अनुवाद करना, पढ़ना, निर्देशानुसार काम करना, कहानी गढ़ना आदि। (ग) इनमें भाषा का कथन व व्यवहार-पक्ष पृष्ठभूमि में चला जाता है, यद्यपि क्रिया भाषा-संदर्भ से ही होती है-जैसे किसी विवरण के आधार से वस्तु-निर्माण, कल्पनाएँ करना, प्राक्कल्पना बनाना और उसकी पुष्टि करना, प्रयोग करना और उसके परिणामों को रेखाचित्रों व तालिका द्वारा बनाना, भविषय-कथन करना आदि। (घ) इसमें किसी भाषा-प्रयोग का प्रणालीबद्ध पक्ष सामने आता है- जैसे, इन्द्रिय-प्रदत्तों के शब्दों की भाषा-क्रीड़ा, वर्ण-शब्दों की भाषा-क्रीड़ा आदि। इनके संदर्भ में, ''भाषा-क्षेत्र'' (लिंग्विस्टिक फील्ड) की धारणा महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यहाँ शब्दों व वाक्यों का अर्थ सदैव एक समग्र प्रणाली से संबद्ध होकर ही प्रकट होता है। रसायन शास्त्र व गणितशास्त्र की प्रतीक-भाषाएँ भी इसके अन्तर्गत आ जाती हैं।

भाषा-क्रीड़ा-प्रतिमान की उपलब्धियाँ

एक विचारणीय प्रश्न यह है कि यद्यपि विट्गिन्स्टाइन भाषा को ''मात्र क्रीड़ा'' नहीं समझता तथापि उसने ''भाषा-क्रीड़ा'' शब्द का व्यवहार क्यों किया ? निस्संदेह इस प्रश्न के समुचित उत्तर के लिए हमें यह जानना होगा कि स्वयं विट्गिन्स्टाइन ने 'भाषा-क्रीड़ा' द्वारा क्या उपलब्ध करना चाहा। और यह तथ्य भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं कि 'भाषा-क्रीड़ा' उसके लिए एकरूपात्मक न होकर विविध-रूपात्मक है, वे उतनी ही विविध हैं जितनी कि क्रीड़ाएँ, और उनके बीच केवल 'पारिवारिक सादृश्यों' (फैमिली रिजेंब्लेंसिस) की चर्चा की जा सकती है। इसका सीधा संबंध विट्गिन्सटाइन के दार्शनिक उद्देश्य से है : ''हम एक व्यवस्था कायम करना चाहते हैं भाषा-प्रयोग के अपने ज्ञान के बारे में; एक व्यवस्था एक विशेष उद्देश्य-पूर्ति के लिए; कई संभावित व्यवस्थाओं में से एक; एक-मात्र व्यवस्था नहीं।'' (फिल. इन. १३२)

स्पेख्त के अनुसार भाषा के क्षेत्र में भाषा-क्रीड़ापरक विश्लेषण की उपलब्धियाँ इस प्रकार परिगणित की जा सकती हैं -

(अ) भाषा एक ऐसी क्रियापरता है जो भाषायी-सहयोगियों के समग्र जीवन-स्वरूप से संबंधित है। भाषा का मानव-क्रिया से सीधा संबंध है; वह भाषा-क्रिया है। किन्तु केवल बोलना-क्रिया (स्पीच एक्ट) नहीं; पढ़ना, लिखना आदि भी भाषा-क्रियाएँ हैं। भाषा-क्रिया समग्र-जीवन स्वरूप में व्याप्त है और उन समस्त क्रियाओं से मूलत: संपृक्त है जो उक्त जीवन-स्वरूप में है। संवाद में उक्त जीवन-स्वरूप ही आधार-भूत है। जीवन-स्वरूप ही एक तरह से भाषा का पराभौतिक मूल है और उसी से

भाषा को क्रियापरकता मिलती है। यह मत आधुनिक भाषा-सिद्धांत और भाषा-विश्लेषण द्वारा भी समर्थित है।

(ब) जहाँ तक भाषा का संबंध प्रतीकों के सौद्देश्य उपयोग से है वह निश्चित नियमों द्वारा होता है, इसलिए भाषा का एक लक्षण उसका "उपकरण" होना है। भाषा के वाक्य व शब्द भाषा-क्रिया के उपकरण हैं जिनके साथ-साथ उनके 'उपयोग' का प्रश्न जुड़ा है। विट्गिन्स्टाइन द्वारा प्रयुक्त कृत्रिम भाषा-क्रीड़ाओं का उद्देश्य यह दिखाना है कि उपकरण और उनके उपयोग के साथ-साथ भाषायी नियमों का सवाल जुड़ा हुआ है, अर्थात् उन 'परंपराओं' का उपयोग जो किसी भाषायी समूह में उसके समग्र जीवन-स्वरूप से अत्यन्त घनिष्टत: जुड़ी हैं।

(स) भाषा का रूप एक संरचना का है जिसमें परस्पर भिन्न-भिन्न इकाइयाँ संपृक्त हैं। ट्रक्टेटस क भाषा-सिद्धांत की तुलना इस जीव-सिद्धांत से की जा सकती है कि प्राणी-शरीर के सभी कोष परस्पर स्वतंत्र इकाइयाँ हैं और उनका संयोग ही प्राणी-शरीर है; जबकिं फिल. इन. का भाषा-सिद्धांत है - प्राणी-शरीर की इकाइयाँ वैयक्तिक वृत्तिमूलक प्रणालियाँ हैं, जिनमें कोष किसी-न - किसी प्रणाली के सदस्य हैं। वैयक्तिक या विशिष्ट भाषा-क्रीड़ायें शरीर की विविध वृत्तिमूलक प्रणालियों की तरह हैं, यथा रक्त-संचार प्रणाली, श्वास प्रणाली, दृष्टि प्रणाली आदि। कोष इनसे स्वतंत्र नहीं है। इसी तरह विविध भाषा-क्रीड़ाओं में भी विशिष्ट भाषा-चिन्हों, उनके प्रयोग के नियमों आदि को अलग-अलग समझा जा सकता है, किन्तु समग्र प्रणाली से उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। अवश्य भाषा के शब्दों व वाक्यों को किन्हीं कारणवश हम पृथक् कर सकते हैं, किन्तु 'जीवन' उनमें तभी आता है जब वे समग्र भाषा का अंग बनते हैं।

उक्त भाषा-सिद्धांत के प्रकाश में यह स्पष्ट है कि इसमें अणुवाद पर आधारित 'अभिधा-अभिधेय' रूप भाषा के लिए जगह नहीं है। अब इस भाषा सिद्धांत के अनुसार भाषा की कोई एक समरूप संरचना नहीं है, वरन् कई संरचनाओं, वृत्तिमूलक प्रणालियों, की समग्रता है। वह संरचनाओं के एक परिवार की तरह है जिसके सदस्य एक-दूसरे से संबंधित हैं। इसलिए 'आदर्श-भाषा' न तो आवश्यक है और न वांछनीय ही है।

किन्तु अभी आणविक भाषा-सिद्धांत का समग्ररूपेण खंडन नहीं हुआ है क्योंकि अभी यह दिखाना बाकी है कि भाषा-क्रीड़ा-प्रतिमान अपेक्षाकृत अधिक कुशलतापूर्वक भाषामूलक वृत्तियों का निरूपण कर सकता है। स्पेख्त के अनुसार, उक्त कुशलता का प्रश्न हमें भाषा की अर्थ की वृत्ति (मीनिंग फंक्शन) के भावमूलक व ज्ञानमूलक पूर्वमान्यताओं की ओर ले चलता है।

सार्थकता विधायक-वृत्ति के सत्तामीमांसात्मक व ज्ञानमीमांसात्मक आधार

१. ऑगस्टाइन-प्रदत्त भाषा-सिद्धांत की आलोचना

भाषा-दर्शन की एक प्रमुख समस्या भाषा और वस्तु-जगत् के बीच संबंध के बारे में है। इस 'संबंध' को साधारणत: 'सार्थकताकरण संबंध' (सिग्निफिकेशन रिलेशन) कहा जाता है। लोक-भाषा में इसे इस वाक्य-संरचना से व्यक्त किया जाता है : "(इस) शब्द ...... का अर्थ ...... है।"

आणविक प्रतिमान के संदर्भ में भाषा के सभी शब्द पूर्व-प्रस्तुत अभिधेयों (वस्तुओं) के लिए विशिष्ट अभिधाओं (नामों) के रूप में सक्रिय होते हैं। तदनुसार इसी में भाषा की सार्थकता उसकी विधायक-वृत्ति में निहित मानी जाती है, और उसी संदर्भ में पूर्वोल्लिखित वाक्य-संरचनाओं का प्रयोग किया जाता है। ऐसा क्यों होता है? विट्गिन्स्टाइन को इसका उत्तर ऑगस्टाइन के भाषा-शिक्षण सिद्धांत में मिलता है, जिसके अंतर्गत प्रशिक्षण-पद्धति या अभ्यास-क्रम इस तरह है : (अ) शिक्षक ऊँचे स्वर में कोई शब्द बोलता है और शिक्षार्थी उसकी आवृत्ति करता है; (ब) शिक्षक वस्तुओं का

निर्देश करता है और शिक्षार्थी को कोई विशिष्ट वस्तु दिखाकर कोई शब्द कहता है, जैसे ''ईंट''; (स) शिक्षार्थी वस्तुओं का ''अभिधान'' या ''नामांकन'' करता है, अर्थात् जब शिक्षक उसे कोई विशिष्ट वस्तु दिखाता है तो वह कोई एक शब्द कहता है।

किन्तु विट्गिन्स्टाइन की दृष्टि में उक्त सरल प्रशिक्षण-पद्धति बच्चों की अपेक्षा जानवारों के प्रशिक्षण के संबंध में अधिक ठीक है। वस्तुत: जर्मन-भाषा में ''प्रशिक्षण'' के लिए प्रयुक्त होने वाला शब्द है ''Abrichtung'' जो जानवरों के प्रशिक्षण के लिए ही प्रयुक्त होता है, बच्चों के शिक्षण के लिए नहीं। यहाँ विट्गिन्स्टाइन हमारा ध्यान दंड-पुरस्कार आदि द्वारा प्राथमिक शिक्षा-अभ्यास की ओर खींचना चाहता है जिसमें केवल निर्देश द्वारा अभिधा और अभिधेय की पारस्परिकता बतायी जाती है किन्तु जिसमें निर्देशात्मक व्याख्या या परिभाषा का नितांत अभाव होता है। निर्देशात्मक व्याख्या या परिभाषा द्वारा शिक्षक शब्द के अर्थ की वृत्ति समझाता है जैसे, किसी वस्तु की ओर निर्देश कर वह कहता है -''वह........कहा जाता है'', ''लोग उसे ....कहते हैं'' इत्यादि; या जैसे वह दो सेवों, दो पेंसिलों आदि युगल वस्तुओं को दिखा कर कहता है- ''दो..... का यह अर्थ है।'' बच्चे की प्राथमिक शिक्षा अवश्य निर्देशात्मक व्याख्या या परिभाषा-रहित निर्देश से आरंभ होती है, जिसके अंतर्गत वह विशेष प्रकार के शब्दों के मुख्य लक्षणों, भाषा में उनकी ''जगह'', को समझता है। और जब वह यह सीख चुकाता है तब निर्देशात्मक व्याख्या द्वारा सिखाये गए नये शब्दों को भाषा में 'सही जगहों' पर रख सकता है।

इस तरह ऑगस्टाइन-प्रदत्त भाषा-शिक्षण-सिद्धांत की कमजोरी यह है कि उसमें यह मान कर चला जाता है कि बच्चा शुरू से ही बड़ों की निर्देशात्मक व्याख्या समझता है और उसके सहारे शब्दों की अर्थ-वृत्ति समझ लेता है। अर्थात् इस सिद्धांत के अंतर्गत बच्चे में पहले से ही भाषा-क्रीड़ा या संवाद की क्षमता या समझ आरोपित की जाती है। जैसे वह किसी विदेश में आया हुआ एक पूर्ण वयस्क व्यक्ति है जो वहाँ की भाषा नहीं जानता, किन्तु उसे भाषा के शब्दों को वहाँ के लोगों से उपलब्ध निर्देशात्मक व्याख्या के आधार पर ठीक-ठीक समझ लेता है या अनुमान लगा लेता है।

उक्त विवेचन से यह बात साफ होती है कि क्यों आणविक भाषा-सिद्धांत में शब्दों की अर्थ-वृत्ति को पूर्व-प्रदत्त नाम-धारकों और नामों के बीच सादृश्य के आधार पर समझने की कोशिश की जाती है। जैसाकि स्ट्रॉसन कहता है, वस्तुत: भाषा-संवाद को उक्त सादृश्य पर ही आधारित समझ लेने से आणविक व्याख्या सरल हो जाती है। इस संदर्भ में भाषा-प्रशिक्षणार्थी ऐसा व्यक्ति है जिसे पहले से ही किसी हद तक भाषा पर अधिकार है, और जब उसे निर्देशात्मक व्याख्या द्वारा नाम समझाये जाते हैं, उन्हें वह अपने पूर्व भाषा-ज्ञान के आधार से समझ लेता या उसका अनुमान लगा लेता है। इस स्थिति की संरचना इतनी स्पष्ट है कि इसे पूरी भाषा पर लागू करने का प्रयास किया गया है। तदनुसार यह मान लिया गया है कि जिस तरह उक्त संदर्भों में नामों का निर्देश पर्व-प्रस्तुत विशिष्ट नाम-धारकों के लिए होता है, वही सभी या कम से कम अधिसंख्य शब्दों के लिए सही है। दूसरे शब्दों में, वाक्य-संरचना ''(इस) शब्द..........का अर्थ........है'' के संदर्भ में शब्द '..........' की भावसंज्ञा का नाम-धारक अभिधेय-इकाई का सूचक कोई विशिष्ट पदार्थ '.........' है।

किन्तु भाषा-संबंधी उक्त मत से कई अर्थमूलक व भावमूलक भ्रमों की उद्‌भावना हुई है। सर्वप्रथम तो यही कि शब्दों की इकाई-मूलक स्थिति से हमें उनके निर्देश्यों को भी इकाई-मूलक समझने का भ्रम होता है। विट्गिन्स्टाइन के अनुसार, नाममात्रवाद (नॉमिनलिज्म) के मूल में यही भ्रम होता है; क्योंकि उसमें केवल व्यक्तिसूचक नामों को प्राथमिक अर्थ वाला समझा जाता है, जबकि अन्य नामों की सार्थकता केवल व्यक्तिसूचक नामों के आधार पर अपचयित रूप में समझी जाता है। इसी से

नाममात्रवाद केवल विशिष्ट वस्तुओं, नामधारकों के विशेषणों, गुणों, संबंधों आदि के रूप में अपचयित किये जा सकते हैं।

यथार्थवाद (रीयलिज्म) के मूल में भी वही भ्रम है। अर्थवृत्ति संबंधी उसकी व्याख्या भी वही है जो नाममात्रवाद की है - अर्थात् नामों और पूर्व-प्रदत्त नामधारकों का मूल-संबंध, जिसमें शब्दों के 'प्रयोग' के संबंध में कोई जिज्ञासा नहीं की जाती, केवल नाममात्रवाद के विपरीत, यथार्थवाद में अधिसंख्य शब्दों को 'निरपेक्ष द्रव्यों' के नामों के रूप में समझा जाता है। इसी से 'पूरक' इकाइयों की कल्पना की जाती है जिसका परिणाम होता है-पदार्थीकरण मान्य करने वाला भाववाद। अर्थात्, जबकि नाममात्रवाद की भावमीमांसा पदार्थ-अपचयन की है, यथार्थवाद की भावमीमांसा पदार्थीकरण की; और विट्गिन्स्टाइन अपने बाद के चिंतन में इन दोनों के बीच का मार्ग अपनाता है; क्योंकि एक बार व्यक्तिसूचक नामों की अर्थवृत्ति को ही समग्र भाषा की व्याख्या का मूलाधार मान लेने से उक्त मत न तो यह बता पाते हैं कि शब्दों के विशिष्ट प्रकार किस तरह सक्रिय होते हैं, और न ही वे इन शब्दों के संदर्भ से वस्तु-प्रकारों की समुचित भावमूलक व्याख्या दे सकते हैं।

२. भाषा-क्रीड़ा में शब्दों की अर्थायन वृत्ति

अत: विट्गिन्स्टाइन इसका विरोधी है कि शब्दों की अर्थ-वृत्ति की व्याख्या का आरम्भ व्यक्तिसूचक नामों और सामान्य पदों की चर्चा से हो। सबसे पहला प्रश्न तो यही है कि किसी भी भाषा में, भवन-शिल्पी और उसके सहायक के बीच भाषायी-संवाद में, शब्दों की अर्थ-वृत्ति कैसे निर्धारित हो। विट्गिन्स्टाइन के अनुसार इसे केवल शब्दों का प्रयोग (यूज) देखकर जाना जा सकता है। भवन-शिल्पी अ द्वारा "ईंट" कहे जाने पर उसका सहायक ब सदैव उसे एक विशेष प्रकार की ही वस्तु लाकर देता है : अत: निरीक्षणकर्त्ता के लिए "ईंट" शब्द की अर्थ-वृत्ति स्पष्ट है। "यह", "यहाँ" जैसे शब्दों के उच्चारण के साथ-साथ किये जाने वाले स्थानसूचक संकेतों द्वारा ही इनकी अर्थ-वृत्ति समझी जा सकती है। पुन:, "क", "ख" जैसे मात्र चिन्ह हो सकते हैं जिनसे कोई निश्चित वस्तु-प्रकार या स्थान-विशेष स्पष्ट नहीं होता : इनसे "किसी-कुछ"-वस्तुओं का कोई निश्चित समूह, जिसका सम्बन्ध चिन्ह "क" के किसी प्रणाली-बद्ध प्रयोग पर आधारित होता है - की ही अर्थ-वृत्ति प्रकट होती है, अर्थात् किसी संख्या की। सारांश यह कि भाषा में सभी शब्दों की अर्थ-वृत्ति एक जैसी नहीं होती : किन्तु वह वस्तुत: होती कैसे है, इसे केवल भाषा में शब्दों के प्रयोगों से ही जाना जा सकता है। अत: यह कहने में कि "भाषा के समस्त शब्दों का कोई-न-कोई अर्थ होता है" वस्तुत: कुछ-भी नहीं कहना है।

फलस्वरूप विट्गिन्स्टाइन भाषाकी समझ के अन्दर्भ में किसी भी प्रकार की अपचय नीति का विरोधी है-न केवल नाममात्रवादी अपचय का, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया, वरन् आभासवादी (फिनॉमिनॉलिस्टिक) अपचय का भी विरोधी है जिसके अन्तर्गत भौतिक वस्तु संबंधी कथनों का अपचयन इन्द्रिय-प्रदत्तों के कथनों में किया जाता है। अब उसका निश्चित मत है कि, लोक-भाषा जैसी है वैसी ही ठीक है। तद्नुसार उसके द्वारा इस वाक्य-संरचना "(इस) शब्द......का अर्थ......है" का उपयोग प्रचलित है : उसके प्रत्येक विशिष्ट उपयोग में उसका एक निश्चित और मूल आशय है जो अन्य किसी वाक्य-रूप में नहीं बदला जा सकता। उदाहरणार्थ, यह वाक्य "(इस) शब्द 'समान' का अर्थ 'समानता' है" इस अन्य वाक्य "(इस) शब्द 'समान' का प्रयोग इस-इस तरह होता है" में नहीं बदला जा सकता।

किन्तु द्रष्टव्य है कि विट्गिन्स्टाइन की भाषा-क्रीड़ा-विधि से जिसमें शब्द-प्रयोग का मुख्य स्थान है, ऐसा लगता है कि किसी शब्द की अर्थ-वृत्ति के सम्बन्ध में सभी कथनों को उसके प्रयोग के कथनों में अपचयित किया जा सकता है। स्पेख्त का मत है कि वस्तुत: विट्गिन्स्टाइन शब्द की अर्थ-

वृत्ति और प्रयोग के बीच निकटतम सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है (अपचयन नहीं) : शब्द का जो अर्थ है वह केवल उसके प्रयोग से जाना जा सकता है। इसी दृष्टि से वह "(इस) शब्द...... का अर्थ.....है" वाक्य-संरचना का उपयोग करता है।

इस तरह विट्गिन्स्टाइन एक ओर शब्दों के साधारण प्रयोगों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए विट्गिन्स्टाइन नाममात्रवाद के अपचयन से बचता है और दूसरी ओर उक्त वाक्य-संरचना को शब्द-प्रयोग से बाँधकर वह यथार्थवाद की गलतियों से बचता है। भाषा-क्रीड़ा में शब्द-प्रयोग के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी शब्दों का निर्देश पूर्व प्रदत्त विशिष्ट वस्तुओं का नहीं होता।

अत: भाषा-क्रीड़ा में शब्दों के प्रयोग से आरम्भ करने के पीछे विट्गिन्स्टाइन का उद्देश्य आणविक प्रतिमान की इस सत्तामूलक पर्वमान्यता से बचना है कि प्रत्येक नाम का सम्बन्ध भाषा से स्वतन्त्र विशेष नामधारक से होता है। फलस्वरूप वह नाममात्रवाद और यथार्थवाद जैसी सत्तामीमांसात्मक धारणाओं से भी, जो उक्त भाषा-सम्बन्धी आणविक प्रतिमान पर ही आधारित हैं, बचता है। स्वयं उसके भाषा-क्रीड़ा-प्रतिमान में सत्तामीमांसात्मक स्थिति एक तटस्थता की होती है, जैसाकि हम अभी देखेंगे।

३.भाषा-क्रीड़ा में सत्तामूलक निर्धारण की सम्भावना

सत्ता-विषयक तटस्थता से कई प्रकार की सत्ता-मीमांसात्मक व्याख्याओं का द्वार खुलता है। विट्गिन्स्टाइन के परवर्ती चिंतन के सन्दर्भ से ये सम्भावनाएँ कौन-सी हैं ? स्पेख्त के अनुसार हैं :

(अ) प्रथम तो यही विवादास्पद हो सकता है कि क्या विट्गिन्स्टाइन शब्दों के अर्थ को उनके प्रयोगों के आधार पर समझने के अलावा, जो अर्थान्वित हुआ है उसके सम्बन्ध में भी कोई सत्ता-मूलक कथन करता है। इस सन्दर्भ में विट्गिन्स्टाइन के मत को सूत्रबद्ध रूप में इस तरह रखा जा सकता है - जैसाकि पोल और विज्डम ने कहा है-विट्गिन्स्टाइन ने दार्शनिकों को सत्तामीमांसात्मक प्रश्नों के बदले भाषायी प्रश्न करना सिखाया। इस दिशा में विट्गिन्स्टाइन द्वारा अभिधा-अभिधान प्रतिबद्धता की आलोचना से भी बल मिलता है, यदि उस आलोचना से यह समझा जाय कि अभिधाएँ (या नाम) वस्तुत: वैसी नहीं हैं, अर्थात् उनसे कोई वास्तविकता सम्बद्ध नहीं है। किन्तु शब्दों के प्रयोग-मूलक अर्थ को महत्त्व देने में क्या विट्गिन्स्टाइन का अभिप्राय यही था ? स्पेख्त के अनुसार उसके मत की एक और व्याख्या भी सम्भव है जिसके अनुसार उसे अर्थान्वित के सम्बन्ध में सत्ता-मूलक कथन करने में कोई आपत्ति नहीं है - "कोई यह पूछे कि 'कल्पना' का प्रयोग कैसे होता है तो उसका आशय यह नहीं होता कि जब कोई व्यक्ति कल्पना करता है तब कल्पित बिम्ब का स्वरूप क्या होता है ? किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि मैं केवल शब्दों के बारे में बात करना चाहता हूँ; क्योंकि कल्पना की प्रकृति के बारे में प्रश्न इतना ही 'कल्पना' शब्द के बारे में है जितना कि मेरा प्रश्न। और मैं केवल यह कह रहा हूँ कि इस प्रश्न का निर्णय संकेत या निर्देश से नहीं होता, न उस व्यक्ति के द्वारा जो कल्पना कर रहा है और न किसी अन्य के द्वारा ही; न ही किसी प्रक्रिया के निरूपण से ही होता है। प्रथम प्रश्न शब्द की व्याख्या के बारे में भी है; किन्तु वह हममे एक गलत प्रकार के उत्तर की अपेक्षा पैदा करता है।" (फिल. इन. ३७०) पुन:, "व्याकरण (ग्रॉमर) द्वारा तत्त्व अभिव्यक्त होता है" और "व्याकरण बताता है कि कोई किस प्रकार का पदार्थ है" (फिन. इन. ३७१, ३७३; यहाँ "व्याकरण" का अर्थ है-भाषा-प्रतीकों के प्रयोग के नियम)।

इससे स्पष्ट है कि विट्गिन्स्टाइन इसके विरुद्ध नहीं है कि भाषा-प्रयोग और तत्त्व को व्याकरण और पदार्थ-प्रकार आदिके बीच सम्बन्ध माना जाय। केवल वह उस सम्भावित गलती से बचना चाहता है जो उपर्युक्त सहसम्बन्ध के सन्दर्भ में पदार्थ की अति सीमित धारणा को लेकर उत्पन्न होती है।

(ब) यह प्रश्न कि क्या विट्गिन्स्टाइन फिल. इन. में अस्तित्त्वमूलक समस्याओं को भाषायी

समस्याओं में अपचयित करना चाहता है, अनुभूतिमूलक शब्दों की उसकी विवेचना से स्पष्ट किया जा सकता है। अवश्य फिल. इन. २९३ जैसे अंशों में वह भाषायी व्यवहार-वाद (लिंग्विस्टिक बिहेवियरिज्म) का समर्थन करता प्रतीत होता है, जिसके अनुसार अनुभूति-सम्बन्धी वाक्यों का अपचयन अनुभूतिमूलक शब्दों के प्रयोगों सम्बन्धी वाक्यों में किया जाता है। तदनुसार, उदाहरणार्थ, 'पीड़ा' जैसे शब्द का एक निश्चित प्रयोग होगा, किन्तु वह किसी वस्तु-विशेष का नाम नहीं होगा। स्ट्रॉसन ने विट्गिन्स्टाइन के मत की व्याख्या इसी आधार पर की है।

किन्तु उसी फिल. इन. के अनुसार विट्गिन्स्टाइन के विचारों की एक अन्य व्याख्या भी सम्भव है : "क्या हम नित्य ही अनुभूतियों के बारे में बात नहीं करते और उन्हें नाम नहीं देते ?" (वही, २४४) यहाँ उसके लिए समस्या, जैसाकि मॉल्काम और पासमोर ने कहा, केवल यह है कि कैसे "वह सम्बन्ध कायम किया जाता है जो नाम और नामांकित वस्तु के बीच है" (वही)। इसमें वह इसका विरोधी है कि नामांकन किसी "व्यक्तिगत वस्तु" या "आंतरिक वस्तु" का होता है। निस्संदेह यही विट्गिन्स्टाइन द्वारा "वैयक्तिक भाषा" (प्राइवेट लेंग्वेज) की आलोचना का भी आधार है।

पुन:, व्यवहारवाद और द्वैतवाद की उसकी आलोचना की तह में भी उसका उपर्युक्त विरोध ही है : अर्थात् अनुभूति और अनुभूतिवाचक शब्द के बीच नामांकन-सम्बन्ध की गलत व्याख्या का विरोध। व्यवहारवाद उन कथनों को, जिनमें अनुभूति-शब्द आते हैं, उन अन्य कथनों में बदलता है जो व्यवहार की विधाओं के बारे में हैं। इस तरह अनुभूतियाँ उसके लिए "व्यर्थ की इकाइयाँ" हैं : दूसरी ओर, द्वैतवाद अनुभूति-शब्दों वाले कथनों की व्याख्या इस तरह करता है मानो वे एक "दूसरे जगत्" में अवस्थित "विशिष्ट पदार्थों" का निर्देश करते हों। विट्गिन्स्टाइन इन दोनों मतों को अस्वीकार करता है। वस्तुओं के संबंध में "आंतरिक या बाह्य" वाली विधा को वह सीमित समझता है, यदि अनुभूतियों को भी उस विधा में सम्मिलित किया जाय तो। शायद उसकी ब्लू एण्ड ब्राउन बुक्स (६४) से इस पर कुछ प्रकाश पड़ता है, जिसमें वस्तुओं के विभिन्न प्रकारों के बीच भ्रम की बात कही गई है : अनुभूतियाँ और भौतिक पदार्थ मूलत: विभिन्न प्रकार के पदार्थ हैं इस तरह के कथन इन कथनों जैसे नहीं हैं - "एक रेल्वे ट्रेन, एक रेल्वे स्टेशन और रेल्वे डिब्बा विभिन्न प्रकार के पदार्थ हैं", वरन् इन कथनों जैसे हैं - "एक रेल्वे ट्रेन, एक रेल्वे दुर्घटना और एक रेल्वे नियम विभिन्न प्रकार के पदार्थ हैं" किन्तु ऐसे विभिन्न प्रकार के पदार्थों के सम्बन्ध में निश्चित अस्तित्त्वमूलक धारणाएँ क्या हो सकती हैं, यह अभी भी गवेषणा का विषय है।

संक्षेप में, शब्दों की अर्थवृत्ति के सम्बन्ध में विट्गिन्स्टाइन के भाषा-सिद्धांत की ये मुख्य बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम, शब्दों की अर्थवृत्ति का "(इस) शब्द.....का अर्थ.....है" प्रकार की वाक्य-संरचना ही निरूपण करती है, यदि उसकी व्याख्या साधारण व्यक्ति-सूचक नामों के आधार पर नहीं की जाय। द्वितीय, उसकी उचित समझ भाषा-क्रीड़ा में शब्दों के प्रयोग के आधार पर ही सम्भव है। तृतीय, केवल इसी व्याख्या के आधार पर न केवल शब्दों की अर्थवृत्ति वरन् स्वत: अर्थान्वित पदार्थ का भाव भी निश्चित किया जा सकता है। अब इस पर ध्यान देना चाहिये कि विट्गिन्स्टाइन के भाषा-दर्शन में "अर्थ" का क्या अर्थ है।

अर्थ की समस्या की सत्तामीमांसात्मक पृष्ठभूमि

१. अर्थ का आणविक सिद्धांत : फिल. इन. में विट्गिन्स्टाइन अर्थ संबंधी उन कई मान्यताओं की चर्चा करता है जिनका आधार भाषा का आणविक प्रतिमान है। ये मान्यताएँ इस प्रकार हैं :

(अ) अर्थ अर्थान्वित पदार्थ से अभिन्न है : यह उसके अपने ट्रक्टेटस का सिद्धांत है, जहाँ "अर्थ" का अर्थ है 'नामकरण' (३.२०२, ३.२०३)। इस सिद्धांत में पहली समस्या है, जैसाकि बहुत

पहले प्लेटो ने भी कहा था (सोफिस्ट २६१^{b} ५-२६४ ^{d}१), यदि नामधारक ही न रहे तो अर्थ का क्या हो ? उदाहरणार्थ, यदि 'न. न.' नाम वाला व्यक्ति मर जाय तो भाषा में ''न. न.'' का सारा अर्थ ही लुप्त हो जाएगा और इस तरह के कथन का कोई अर्थ ही न होगा कि ''न. न. मर गया'' । अपनी इस परिणति से उक्त सिद्धांत इन्कार नहीं कर सकता; इसलिए उसमें परिवर्तन आवश्यक है । इस परिवर्तन पर विट्गिन्स्टाइन के ट्रक्टेटस के अलावा रसेल के लॉजिकल एटॉमिज्म में भी ध्यान दिया गया है । वहाँ यह दिखाने की कोशिश की गई कि ''साक्रेटीज़'' जैसे व्यक्तिसूचक नाम केवल छद्म नाम-शब्द (सूडो नेम्स) हैं । वस्तुत: वे 'तार्किक अणुओं' के किसी समुच्चय के लिए प्रयुक्त होते हैं । इस तरह शब्द (नाम) ''साक्रेटीज़'' का अर्थ और नामधारक व्यक्ति (पदार्थ) साक्रेटीज़ एकात्म नहीं हैं, रसेल के अनुसार ये नामों के अर्थ-निरूपणों के संक्षेप हैं । इतना ही नहीं, वे स्वयं जो निरूपित करते हैं वह कोई विशेष न होकर वर्गों या श्रेणियों की जटिल प्रणालियाँ हैं । किन्तु क्या इससे पूर्वोल्लिखित समस्या का अन्त हो गया ? नहीं, क्योंकि अब वह समस्या 'यथार्थ' नामों और नामधारक तार्किक अणुओं की एकात्मकता को लेकर पुन: उठती है । ट्रक्टेटस में इन 'यथार्थ' नामों को ''सरल चिन्ह'' कहा गया है, जो विश्लेषित वाक्यों से प्राप्त होते हैं । इनकी अनुरूपता मूल वस्तूओं (तार्किक अणुओं) से होती है । इस तरह, नामों के अर्थ हैं : ''वाक्यों में प्रयुक्त सरल चिन्हों को नाम कहते हैं । किसी नाम का अर्थ है कोई मूल वस्तु । मूल वस्तु उसका अर्थ है ।'' (३.२०२,३.२०३) किन्तु विट्गिन्स्टाइन इन सरल चिन्हों या वस्तुओं का कोई उदाहरण नहीं देता । संभवत: यहाँ नामों को किन्हीं निर्देशक सर्वनामों के आधार पर समझा जा सकता है - जैसे ''यह'' ''वह'' आदि जो अव्यवहित रूप से किसी वस्तु का निर्देश करते हैं और उस वस्तु के लुप्त होने पर अर्थहीन हो जाते हैं । उदाहरणार्थ, ''यह लाल (है)'' वाक्य का कोई अर्थ तभी तक है जब तक कि ''यह'' उस निश्चित और वस्तुत: वर्तमान वस्तु, जिसे ''लाल'' से लक्षित किया जा रहा है, का निर्देश करता है ।

(ब) विट्गिन्स्टाइन का अगला कदम है नाम सम्बन्धी उक्त सिद्धान्त की आलोचना, जो वह लोक-भाषा में ''अर्थ'' शब्द के प्रयोगों के विश्लेषण-सन्दर्भ से करता है और जिसके अन्तर्गत दिखाता है कि नाम से नामधारक को एकात्म करने वाला मत गलत है । लोकभाषा में ''अर्थ'' का समानार्थक ''नामधारक'' नहीं है । फिल. इन. की अपनी समीक्षा में स्ट्रॉसन (मॉइन्ड ६३, १९५४) कहता है कि नाम-नामधारक की अनुरूपता के सिद्धान्त की उक्त आलोचना सही है, किन्तु जिस आधार पर या कारण-स्वरूप यह आलोचना विट्गिन्स्टाइन करता है वह ठीक नहीं है : वस्तुत: नामों का कोई अर्थ होता ही नहीं, केवल किन्हीं विशेष स्थितियों में वह उसे दिया जाता है । किसी भी पत्थर, मनुष्य या कुत्ते आदि को ''पीटर'' कहा जा सकता है; अर्थात् किसी वस्तु-विशेष का निर्देश किसी सामान्य भाषा-परंपरा या नियम द्वारा परिचालित नहीं होता । यही कारण है कि शब्द-कोष में 'नामों' के लिए जगह नहीं होती । किन्तु स्पेख्त के अनुसार इसका एक दूसरा पक्ष भी है : यदि किसी ठोस सन्दर्भ में कोई व्यक्तिसूचक नाम किसी निश्चित पदार्थ को दिया जाता है, तो उक्त नामकरण की तह में कुछ निश्चित नियम हैं जो केवल एक ही व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों को ज्ञात हैं । अत: विट्गिन्स्टाइन को व्यक्तिसूचक नामों के 'अर्थ' से परहेज नहीं (फिल. इन. ४०, ४३, ५५, ७८) । वस्तुत: नामों के अर्थ-सम्बन्धी उक्त विवाद का आधार यह तथ्य है कि भाषा में नामों को अर्थ देना या नहीं देना यादृच्छिक विषय है । किन्तु इससे विट्गिन्स्टाइन के इस मुख्य प्रतिपाद्य विषय पर कोई आँच नहीं आती कि नाम के अर्थ और नामधारक के बीच अनुरूपता का आणविक सिद्धान्त गलत है ।

(स) इसके पश्चात् विट्गिन्स्टाइन यह दिखाने में प्रवृत्त होता है कि नामधारक के अभाव में नाम का क्या अर्थ हो सकता है । इसी सन्दर्भ में वह अर्थ सम्बन्धी अपने सिद्धान्त का विकास करता है

जिसके लिए वह पुन: भाषा-क्रीड़ा-विधि का उपयोग करता है। उदाहरणार्थ भवन-शिल्पी अ और उसके सहायक ब के बीच भाषा-क्रीड़ा को लें। मान लें कि "ह" और "र" जैसी निश्चित मुद्राएँ उन औज़ारों पर अंकित हैं जिनका उपयोग अ भवन-निर्माण में करता है। जब वह ब को "ह" मुद्रांकित दिखाता है तब ब उस मुद्रा वाले औज़ार को उसे लाकर देता है। इसी तरह "र" मुद्रा वाले के बारे में भी। किन्तु मान लें कि "र" मुद्रांकित औज़ार टूट-फूट गया है और इसलिए जब अ अपने सहायक ब को "र" मुद्रा दिखाता है तब ब समझ नहीं पाता कि वह क्या करे (शायद उनके बीच इस आकस्मिक स्थिति के लिए कोई भाषागत समझौता या नियम नहीं है)। अब यह कहा जा सकता है कि इस भाषा-क्रीड़ा में "र" का कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि अब वह वस्तु ही नहीं जिस पर वह मुद्रा हो। किन्तु यहाँ अ और ब के बीच एक नया समझौता सम्भव है : जब भी "र" मुद्रा वाला औज़ार टूट-फूट जाय और अ वह मुद्रा ब को दिखाए तो ब अपना सिर हिला देगा। तब इस 'भाषा-क्रीड़ा' में अभी भी "र" की एक निश्चित वृत्ति है, यद्यपि उसकी मुद्रा वाला पदार्थ नहीं रहा। अर्थात् चिन्ह "र" का अभी भी एक निश्चित "अर्थ" है, यद्यपि उसके नामधारक का अस्तित्त्व समाप्त हो चुका है।

तात्पर्य यह कि नाम का अर्थ नामधारक के साथ उसके अव्यवहित सम्बन्ध के कारण नहीं है वरन् उसके प्रयोग के नियमों के कारण है, उसके प्रयोग के निश्चित रूप और विधा के कारण। यही कारण है कि "साक्रेटीज़" शब्द का अर्थ उसके नामधारक की मृत्यु के पश्चात् भी बना रहता है। हमारी लोक-भाषा में स्पष्ट ही ऐसे निश्चित नियम हैं जो व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् भी उसके नाम के प्रयोग का रूप निर्धारित करते हैं।

(द) भाषा में व्यक्तिवाचक नामों के अलावा अन्य शब्दों पर भी विट्गिन्स्टाइन का उक्त विश्लेषण लागू किया जा सकता है (यद्यपि राइल जैसे दार्शनिक इसके पक्ष में नहीं हैं)। तब उसके मत का सामान्य रूप इस तरह होगा : शब्दों द्वारा अर्थान्वित वस्तुओं विषयक कथन का तर्क निश्चय ही उस तर्क से अलग है जो उन शब्दों के अर्थ विषयक कथनों का है; प्रथम प्रकार के कथन वस्तुओं के बारे में आनुभविक या प्रागनुभविक कथन हैं जबकि द्वितीय प्रकार के कथन शब्दों और उनके प्रयोगों के बारे में भाषायी कथन हैं।

स्पेख्त के अनुसार, विट्गिन्स्टाइन के उक्त मत की खूबियाँ इस प्रकार हैं :

(क) इसके अंतर्गत आवश्यक नहीं कि विश्लेषण-संदर्भ में किसी तरह की प्राथमिक सत्तामीमांसात्मक स्थिति स्वीकार की जाय-जैसे शब्दों की अर्थवृति के संबंध में अभिधावादी स्थिति।

(ख) साथ ही यह यथार्थवाद को भी प्रश्रय नहीं देता, क्योंकि अर्थ का आधार प्रयोग-विधा है और इसलिए अर्थ-मंडित वस्तु को भी निरपेक्ष द्रव्य रूप नहीं समझा जा सकता।

(ग) यह एक ओर 'ऑक्सफोर्ड दार्शनिकों' के अर्थ संबंधी मत और दूसरी ओर रसेल, क्वॉइन, कॉरनेप और गुडमॅन जैसे दार्शनिकों के अर्थ संबंधी मत को एक-साथ अधिक स्पष्टतापूर्वक समझने में मदद करता है : जहाँ एक ओर विट्गिन्स्टाइन अपने प्रसिद्ध सूत्र "अर्थ के सम्बन्ध में नहीं, प्रयोग के सम्बन्ध में पूछो" में प्रथम मत की आधारशिला रखता है वहाँ दूसरी ओर यह कहने में कि भाषा का 'व्याकरण' हमें संबंधित वस्तुओं के प्रकार की जानकारी देता है वह द्वितीय मत के अनुकूल वस्तुवादी अर्थ की व्याख्या को भी उचित ठहराता है।

२. विट्गिन्स्टाइन और अर्थसंबंधी प्लेटोवादी और मनोवैज्ञानिक सिद्धांत :

अब स्पष्ट है कि अपने प्रयोगमूलक अर्थ-सिद्धांत के कारण विट्गिन्स्टाइन प्लेटोवादी या मनोवैज्ञानिक अर्थ-सिद्धांत की आलोचना करेगा। उसके अनुसार, दोनों ही अर्थ-संबंधी मत इसलिए गलत हैं क्योंकि वे "अर्थ" शब्द की विशेष वृत्ति के कारण अर्थ को शब्द से अलग कोई विशेष पदार्थ

मानने की गलती करते हैं, जो या तो मनस् में होता है या किसी स्वाधृत आदर्श वस्तु में। प्लेटो-प्रतिपादित स्वाधृत अर्थ-वस्तु की स्वतंत्र सत्ता का मत हुस्सर्ल के लेखों में सर्वाधिक स्पष्ट है। यह मत इस तथ्य पर आधारित जान पड़ता है : प्रकथनात्मक मूल वाक्यों का अर्थ वही रहता है, यद्यपि उससे सम्बन्धित निर्णय-क्रियाएँ सन्दर्भ-भेद से भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। और यही बात शब्दों के अर्थ पर भी लागू होती है। इस तथ्य का विकास हुस्सर्ल इस धारणा में करता है कि अर्थ और अर्थान्वित वस्तु एक ही नहीं हैं और यह कि अर्थ एक भावरूप आदर्श द्रव्य (सामान्य) है। दूसरी ओर, मनोवैज्ञानिक अर्थ-सिद्धांत अर्थ को एक तरह की मानसिक सत्ता, मनस् में शब्द द्वारा अर्थायित वस्तु का प्रतिबिम्ब (प्रत्यय), मानता है (इसकी कुछ चर्चा पहले एरिस्टॉटल के भाषा-सिद्धांत के सन्दर्भ में हम कर चुके हैं)।

उक्त दोनों ही सिद्धांतों के बीच में यह समानता है : यहाँ वस्तु-स्थिति तीन स्तरों वाली - शब्दों का एक स्तर, उसके समानान्तर अर्थों का दूसरा स्तर, और शब्दों द्वारा अर्थायित (निर्देशित) वस्तुओं का तीसरा स्तर, जो प्रथम दो स्तरों को परस्पर जोड़ने का काम करता है। इन सिद्धांतों के बीच भेद केवल इतना है कि वे अर्थ रूप स्तर की सत्तामूलक व्याख्या भिन्न-भिन्न ढंगों से करते हैं; अन्यथा, दोनों ही मत यह मानते हैं कि 'चिन्हों' का अर्थ वही रहता है, यद्यपि उससे निर्देशित वस्तु परिवर्तित हो जाती है और यह कि किसी अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए कोई भी चिह्न लिया जा सकता है। यहाँ 'अर्थ' को एक सत्तामूलक स्वतंत्रता मिली दिखाई देती है - शब्द (चिन्ह) तथा शब्द द्वारा निर्देशित वस्तुविशेष दोनों से उसकी स्वतंत्रता, जो पुन: इस तथ्य से भी पुष्ट होता है कि "अर्थ" एक संज्ञा या अभिधा शब्द है जिसकी मूलवृत्ति याथार्थ वस्तुओं को अभिहित करना है। और निस्संदेह अधिसंख्य संज्ञा-शब्दों की वृत्ति यही है। किन्तु विट्गिन्स्टाइन का मत है कि "अर्थ" जैसे शब्द इस तरह के संज्ञा-पद नहीं हैं। "अर्थ" शब्द कोई द्रव्य-निर्देशक संज्ञा नहीं है जो उसके सम्बन्ध में समुचित विश्लेषण से देखा जा सकता है। तब स्पष्ट होता है कि अन्य शब्दों की तरह उसका अर्थ भी उसके प्रयोग या प्रयोग के नियमों से निश्चित होता है; अर्थात् वह कोई पूर्वप्रदत्त या आद्य इकाई नहीं है। यद्यपि "अर्थ" और "प्रयोग-नियम" एक ही नहीं है, 'अर्थ' सदैव प्रयोग-नियमों द्वारा "परिभाषित", "व्याख्यायित" या "गठित" होता है और इसलिए उनसे पृथक्करणीय नहीं है। वह नियमों के अतिरिक्त 'कुछ' नहीं है : उसका अभिप्राय केवल शब्द-प्रयोगों की किन्हीं विशेषताओं का शब्दान्तरेण विवरण है।

३. विट्गिन्स्टाइन में "अर्थ" और "प्रयोग" - कुछ परिणतियाँ और समस्याएँ :

विट्गिन्स्टाइन के उक्त अर्थ-संबंधी मत के संदर्भ में समकालीन ब्रिटिश दार्शनिक "प्रयोग" (यूज) और "प्रयुक्ति" (यूसेज़) के बीच अक्सर भेद करते हैं। जैसे, राइल, जब वह कहता है : "ज्यादा अधिक भ्रमात्मक...... है इनके बीच की अस्पष्टता-प्रयोग, अर्थात् किसी-कुछ के माध्यम से क्रिया का ढंग, और प्रयुक्ति...... जो एक संस्कार, व्यवहार, फैशन या चलन है।" ('ऑर्डिनरी लेंग्वेज', दि फिलॉसफिकल रिव्यू ६२, १९५३)

इसमें संदेह नहीं कि स्वयं विट्गिन्स्टाइन उक्त भेद की उपेक्षा करता है। अत: "प्रयोग" के उसके प्रयोग को इस तरह समझा जा सकता है : (अ) भाषा के अन्दर किसी शब्द के सभी प्रयोगों या प्रयोग-विधाओं की समग्रता को वह "प्रयोग" नहीं कहता है। किसी शब्द के कई अर्थ हो सकते हैं, किन्तु उसके सभी प्रयोगों की समग्रता केवल एक ही होगी। (ब) न ही "प्रयोग" से उसका अर्थ शब्द के विशिष्ट प्रयोग हैं, क्योंकि इनकी संख्या अनेक और निरंतर वृद्धिमान हो सकती है (नयी स्थितियों के लिए शब्दों के प्रयोग से)। (स) पुन:, शब्द के आकस्मिक या गलत प्रयोगों से उक्त "प्रयोग" को अलग रखना होगा, क्योंकि वैसे प्रयोगों से किसी नये अर्थ की सृष्टि नहीं होती। (द) किन्तु शब्द या चिन्ह के अनंत विशिष्ट प्रयोगों में से उन प्रयोग-विधाओं को अलग-अलग किया जा सकता है जो सततरूपेण

व्यवहृत होते रहते हैं; इन विविध प्रयोग-विधाओं की तह में निश्चित नियम होते हैं। 'प्रयोग' और 'अर्थ' की समतुल्यता-सम्बन्धी विट्गिन्स्टाइन की धारणा में सदैव यही प्रयोग-विधाएँ हैं जो किन्ही परोक्ष या प्रत्यक्ष नियमों द्वारा परिचालित हैं।

जहाँ तक इस तरह की प्रयोग-विधाएँ किसी निश्चित भाषा-समाज में, नियमबद्ध रूप में सहज स्वीकृत हैं उन्हें 'भाषायी प्रयुक्ति' कहा जाता है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि प्रयुक्ति-नियम सदैव सहज या स्वीकृत हों; उन्हें भाषा-कोश आदि के माध्यम से किन्हीं अवसरों पर बनाया भी जा सकता है। तदनुसार यह स्पष्ट है कि किसी शब्द के कई अर्थ होने का तात्पर्य केवल यह है कि उसके प्रयोग की कई विधाएँ हैं; उस शब्द के लिए प्रयोग के कई नियम-वर्ग हैं। यह बात उसके मूर लेक्चर्स से स्पष्ट है। विट्गिन्स्टाइन के अनुसार, वे प्रयुक्ति-नियम, जो शब्दार्थ रचित करते हैं, कई तरह से रूपायित किये जा सकते हैं : (क) निश्चित निरूपणात्मक वाक्यों द्वारा, जैसे "है" संयोजक-शब्द के लिए कि वह इस-इस तरह प्रयुक्त होता है; (ख) शब्द की प्रयुक्तियों के ठोस उदाहरणों-वाक्यों-द्वारा; (ग) निर्देशात्मक व्याख्या द्वारा, जैसे विविध लाल वर्ण की वस्तुओं की ओर इंगित करते हुए "लाल" शब्द का प्रयोग करते हुए कहना, "यह वर्ण लाल है"; (घ) शाब्दिक परिभाषा द्वारा, जैसे "कुँवारा" शब्द की परिभाषा एक अन्य शब्द "अविवाहित (पुरुष)" द्वारा करना; (ङ.) 'व्याकरण वाक्य' द्वारा, जैसे "कुँवारा" शब्द को इस व्याकरण वाक्य द्वारा स्पषट करना - "सभी कुँवारे अविवाहित पुरुष हैं।"

यहाँ द्रष्टव्य है कि विट्गिन्स्टाइन द्वारा शब्द के प्रयुक्ति-नियमों को केवल उसके प्रयोग पर आधारित करने में एक निश्चित विधिमूलक मान्यता निहित है, जिसे स्पेख्त "भाषायी प्रयोग पर चिन्तन (इमॉनेन्ट रिफ्लेक्शन)" की विधि कहता है। इस विधि की संभावना इस तथ्य में निहित है : अपने बचपन में हमने अपने एक विशेष भाषा-समाज के अन्दर भाषा के शब्दों का ठीक प्रकार प्रयोग करना सीखा है जैसाकि सहजत: बिना इसके हमारी भाषा संवाद के सर्वसामान्य लक्षण से युक्त नहीं हो सकती। अब यदि वयस्क रूप में हम से कोई पूछे कि भाषायी प्रयुक्ति-नियम क्या हैं तो हमें केवल नित्य भाषायी व्यवहार में शब्दों के प्रयोग पर ध्यान देने की आवश्यकता होगी। और चिंतन उस हद तक अन्तस्थ होगा जहाँ तक कि उत्तर देने के लिए उसे भाषायी प्रयोग की जानकारी पहले से ही है।

अवश्य उक्त विधि में यह पहले ही मान्य कर लिया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति समान नियमों का पालन करता है और इसलिए किसी एक व्यक्ति की भाषायी प्रयुक्ति सामान्य भाषायी प्रयुक्ति भी है। और यहीं उस विधि की सीमाएँ स्पष्ट हो जाती हैं; क्योंकि भाषायी प्रयुक्तियाँ वस्तुत: इतनी समरूप नहीं जितनी कि यहाँ मान्य कर लिया गया है। एक ही भाषा-समाज में बोलियों, तकनीकी भाषा, सामाजिक भाषा-स्तरों आदि को लेकर प्रयुक्ति-भेद हो सकते हैं। फिर भाषायी नियम सदैव स्पष्टत: प्रस्तुत भी नहीं किये जाते। अत: कई चिंतकों का मत है कि उक्त विधि के अलावा अन्य विधियों, जैसे सांख्यिकीय भाषा-गवेषणा आदि, की आवश्यकता है जिससे कि नियमों के सर्वसामान्य सही कथन संभव हो सकें। यहाँ विट्गिन्स्टाइन - जो केवल चिन्तन की विधि का प्रयोग करता है - के समर्थन में केवल इतना कहा जा सकता है, जो वस्तुत: वह स्वयं कहता है, कि उसे अपने भाषायी विश्लेषण का उद्देश्य (या प्रेरणा) दार्शनिक समस्याओं से मिलता है (फिल. इन. १०९) - अर्थात् आनुभविक भाषाविज्ञान उसकी उद्देश्य-पूर्ति में मदद नहीं कर सकता। तात्पर्य यह कि उसका समस्त भाषा-विश्लेषण किन्हीं दार्शनिक समस्याओं को सुलझाने का साधन है।

विट्गिन्स्टाइन द्वारा "अर्थ" और "प्रयोग" के समीकरण से जो समस्याएँ उठती हैं उनकी ओर स्ट्रॉसन, फेयराबेंड आदि ने पहले ही हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। स्पेख्त इनमें से केवल दो की विवेचना करता है। प्रथम, जैसाकि पहले कहा गया, अर्थ-सम्बन्धी प्लेटोवादी और मनोवैज्ञानिक मतों

की आलोचना करता हुआ विट्गिन्स्टाइन इस तथ्य - कि चिन्हों के बदलने पर भी अर्थ एकरूप रहता है - की व्याख्या यह कह कर देता है कि अर्थ की एकरूपता का कारण शब्द की प्रयोग-विधाओं की एकरूपता है। किन्तु इससे अर्थ की एकरूपता की समस्या हल नहीं होती : होता केवल यह है कि समस्या एक दूसरे स्तर पर जा कर उठती है, अर्थात् ठोस भाषायी व्यवहार के स्तर पर। और तब सवाल उठता है कि प्रयोग की दो विधाएँ एकरूप होंगी, कैसे ? और इसी से सम्बन्धित दूसरी समस्या भी उठ खड़ी होती है - समरूपता व समानार्थकता से क्या समझा जाय ? विट्गिन्स्टाइन ने इस सम्बन्ध में बहुत थोड़ा कहा है। उससे जो-कुछ स्पष्ट हो पाता है वह इस प्रकार है : (क) यह कि किसी शब्द का एकरूप अर्थ है, यह सदैव स्पष्ट नहीं रहता। उदाहरणार्थ, "१" चिन्ह के सम्बन्ध में "कील की लंबाई १ इंच है" कहने से वह एक मात्रा का अर्थ देता है, जबकि "यहाँ एक सिपाही खड़ा है" कहने से उसका अंक रूप से अर्थ होता है। इसी तरह, दो चिन्हों के बीच अर्थ-सम्बन्धी समरूपता या समानार्थकता का एक आधार तत्संबंध में अर्थायित वस्तुनिष्ठता की अस्तित्त्व-मूलक व्याख्या या पूर्वमान्यताओं से हो सकता है। अर्थात् (ख) यह कि क्या किसी शब्द का अर्थ एक ही है, या कि क्या दो शब्दार्थ समरूप या समान हैं, इस पर भी निर्भर करता है कि कोई कैसे इस सवाल से निपटता है। अवश्य यहाँ विट्गिन्स्टाइन यह शर्त रखता है कि यह बात संवाद के पक्षों (व्यक्तियों) के बीच चिन्हों के प्रयोग के विषय में समझौते से ही संभव हो सकती है।

उक्त कठिनाइयों के बावजूद, विट्गिन्स्टाइन के अर्थ-सिद्धांत और भाषा-सिद्धांत का सम्बन्ध स्पष्ट देखा जा सकता है : भाषा और अर्थायित वस्तुओं के दो क्षेत्रों को छोड़ कोई तीसरा क्षेत्र स्वत: अर्थ का नहीं होता है। भाषा को उसका और महत्त्व सीधे उसके व्यवहारकर्त्ता व्यक्तियों से मिलता है। इसलिए अर्थ-विश्लेषण वास्तविक भाषायी प्रयोग का विश्लेषण और मानव-क्रियाओं में उसके स्थान का विश्लेषण है। किसी शब्द के अर्थ को समझने का केवल एक ही रास्ता है - लोक-भाषा की भाषा-क्रीड़ा में उसके प्रयोग का अध्ययन। अत: विट्गिन्स्टाइन अपना कथन कई बार दुहराता है : "शब्दों के प्रयोग से तुम उनका अर्थ सीखो"। अत्यन्त संक्षेप में : भाषा सदैव मानव-साक्षेप है; यही 'भाषा-क्रीड़ा' की धारणा का मूल आशय है।

भाषा में पदार्थों का विधान

पूरे भाषा-विश्लेषण के विरुद्ध एक आपत्ति कई रूपों में बार-बार अठाई जाती रही है, जिसे संक्षेप में इस तरह रखा जा सकता है : यद्यपि यह सही है कि किसी शब्द का व्याकरण (विन्यास) उस सन्दर्भ में अर्थायित वस्तु की संरचना की जानकारी दे सकता है, किन्तु स्वत: इस व्याकरण-विश्लेषण का सहीपन अन्तत: भाषा पर निर्भर न होकर अर्थायित वस्तु की संरचना पर निर्भर करता है और उसे केवल वहीं से प्रामाणिकता मिल सकती है। इस तरह, प्राथमिकता व्याकरण-विश्लेषण की नहीं है, जैसाकि विट्गिन्स्टाइन मानता है, वरन् उसके सन्दर्भ में अस्तित्त्वमीमांसात्मक विधा की है। (इस तरह की आलोचना के उदाहरण के लिए देखें, वाल्श, 'केटेगॅरीज', कांटस्टूडियन ४५, १९५३)।

किन्तु स्पेख्त का मत है कि उक्त आपत्ति के मूल में भाषा के आणविक प्रतिमान की मान्यता छिपी है, जिसमें भाषा से पहले वस्तुओं की अस्तित्त्वात्मक प्रस्तुति मानी जाती है। जबकि विट्गिन्स्टाइन के भाषा-क्रीड़ा वाले प्रतिमान मान लेने पर वह आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। लेकिन इसके अन्तर्गत चिन्ह और पदार्थ के बीच का सम्बन्ध बड़ा जटिल है।

१. विट्गिन्स्टाइन में "व्याकरण" और "व्याकरण-वाक्य" की धारणाएँ :

फिल. इन. में "व्याकरण" का अर्थ वहीं नहीं है जो साधारणत: उसका होता है। यह शब्द

''भाषा-क्रीड़ा'' और ''व्याकरण-वाक्य'' शब्दों की भाँति एक व्यवस्थामूलक धारणा व्यक्त करता है और विट्गिन्स्टाइन यह स्पष्ट कर देता है कि इसका उद्देश्य प्रचलित लोक-भाषा में किसी तरह का परिवर्तन नहीं है।

साधारणत: व्याकरण भाषा के ठोस-स्वरूप से सम्बन्धित होता है। अर्थात् वह ध्वनिशास्त्र (फोनेटिक्स), शब्दानुशासन (एक्सिडेंस) और वाक्य-विन्यास (सिन्टेक्स) के त्रिकोण से भाषा, विशेषत: बोली जाने वाली भाषा की गवेषणा करता है। इस तरह उसका क्षेत्र सारत: भाषा-चिन्हों और उनकी रचना के नियमों से सम्बन्धित होता है और इसलिए वह भाषागत सभी नियमों की समझ प्रदान करने में असमर्थ है। अत: एक अन्य प्रकार के व्याकरण की उद्भावना स्वाभाविक है, जो मूलत: भाषा के अर्थ-पक्ष की गवेषणा से सम्बन्धित होता है। वह 'ध्वन्यात्मक' न होकर 'अंतर्वस्त्वात्मक' (कॉन्टेन्ट ओरियेन्टेड) होता है, तथा भाषा के 'ठोस रूप' से सम्बन्धित न होकर उसके 'अर्थ' से सम्बन्धित होता है। वह चिन्ह-प्रयुक्ति के सभी नियमों का निरीक्षण और निरूपण करता है। इस तरह विट्गिन्स्टाइन की धारणा का 'व्याकरण' उक्त सभी नियमों की समष्टि भी है और साथ ही उन नियमों की गवेषणा भी।

इस सन्दर्भ में विट्गिन्स्टाइन द्वारा 'सतह व्याकरण' (सर्फेस ग्रामर) और 'गूढ़ व्याकरण' (डेप्थ ग्रामर) का अन्तर भी द्रष्टव्य है। प्रथम से उसका आशय शब्द-प्रयोग के बारे में उस सहज जानकारी से है जो वाक्य-रचना से प्रकट है, अर्थात् मात्र सुनने से। दूसरी ओर, 'गूढ़ व्याकरण' प्रयुक्तियों के उन नियमों से सम्बन्धित है जो ''हमारे व्याकरण के सतही रूप'' में तत्काल बोध्य नहीं हैं। जैसे, ''अ शतरंज का खेल खेलता है'', ''अ शतरंज का खेल जीतता है'', इन दो वाक्यों में ''खेलना'' और ''जीतना'' की समान प्रयुक्ति के आधार पर 'सतह व्याकरण' ''खेलना'' की तरह ''जीतना'' को भी एक क्रियामूलक शब्द की तरह दिखाता है, जबकि 'गूढ़ व्याकरण' हमें बताता है कि केवल ''खेलना'' ही क्रियामूलक शब्द है और 'जीतना' उस क्रियाशीलता का केवल एक परिणाम प्रकट करता है। विट्गिन्स्टाइन का मत है कि कई दार्शनिक समस्याओं का उद्गम उक्त दो व्याकरणों के बीच भ्रम में ढूँढ़ा जा सकता है, अर्थात् ''व्याकरणमूलक भ्रमों'' में।

''व्याकरण वाक्य'' से विट्गिन्स्टाइन का आशय है : ऐसा वाक्य जो किसी वस्तु के बारे में कुछ प्रतिपादित करता है, किन्तु जो अपने सत्यासत्य के लिए केवल उस चिन्ह की प्रयुक्ति के नियमों पर आधारित होता है, जो सम्बन्धित वस्तु को अर्थान्वित करता है। इस तरह के वाक्य के उदाहरण हैं : ''प्रत्येक लाठी की एक लंबाई होती है'', ''मेरे कल्पित बिम्ब वैयक्तिक हैं'', ''केवल मुझे ही मालूम है कि क्या मुझे पीड़ा की अनुभूति हो रही है'', ''सिंहो का वर्ग कोई सिंह नहीं, किन्तु वर्गों का वर्ग एक वर्ग है'', आदि। ''प्रत्येक लाठी की एक लंबाई होती है'' वाक्य इस वस्तुनिष्ठ वाक्य की तरह है ''प्रत्येक के पास एक गलती होती है''। किन्तु इस बाद वाले वाक्य का सत्यासत्य अंशत: उसके अन्दर प्रयुक्त शब्दों के प्रयुक्ति-नियमों पर और अंशत: उनके आनुभविक निर्देश पर निर्भर करता है। जैसे, उक्त उदाहृत वाक्य न केवल एक व्यक्ति के गलत न होने पर असत्य होगा वरन् इससे भी असत्य होगा कि ''व्यक्ति'' और ''गलत'' का उक्त प्रयोग आधुनिक भाषा-स्थिति के ठीक अनुकूल नहीं है। दूसरी ओर, ''व्याकरण-वाक्य सदैव केवल अपने अन्दर प्रयुक्त शब्दों के प्रयुक्ति-नियमों पर आधारित होते हैं'': ''प्रत्येक लाठी की लंबाई होती है'' का सत्यासत्य केवल तभी परिवर्तित हो सकता है जबकि भाषा के अन्तर्गत ''लाठी'' और ''लंबाई'' शब्दों को किसी तरह बदल दिया जाय। कोई भी आनुभविक निरीक्षण उसका खंडन करने में असमर्थ है।

निस्संदेह प्राय: यह निर्णय तत्काल नहीं लिया जा सकता कि कोई वाक्यीय संरचना व्याकरण-वाक्य है या नहीं। जैसे ''कोई मशीन (यंत्र) सोच-विचार नहीं कर सकती'' वाक्य में प्रयुक्त ''सोच-

विचार'' को अधिक निश्चित करने की जरूरत है जिससे कि उसे एक व्याकरण-वाक्य कहा जा सके। किन्तु द्रष्टव्य है कि विट्गिस्टाइन के परवर्ती दर्शन में ''व्याकरण-वाक्य'' की धारणा, अपनी कुछ अस्पष्टताओं के बावजूद, एक महत्त्वपूर्ण धारणा है और ट्रक्टेटस की उसकी अर्थ-सम्बन्धी मान्यता में एक महत्त्वपूर्ण संशोधन उपस्थित करती है। ट्रक्टेटस के अनुसार वे सभी वाक्य, जो आन्तरिकता या अनिवार्यता का गुण या सम्बन्ध रखते हैं, अर्थहीन या प्रतीति-वाक्य हैं (४.१२२-४.१२७४)। किन्तु अब स्थिति यह है कि चूँकि इन वाक्यों के साथ भी भाषा-क्रीड़ा होती है, ये भी अर्थयुक्त हैं (रिमार्क्स ऑन दि फॉउन्डेशन्स ऑफ मेथेमेटिक्स, १८२)।

२. व्याकरण-वाक्य सिद्धान्त और पदार्थों का विचार

व्याकरण-वाक्यों को जिस तरह विट्गिन्स्टाइन अर्थयुक्त करने की चेष्टा करता है उससे उन वाक्यों का एक गहरा सम्बन्ध प्रागनुभविक (अ-प्रॉयराई) वाक्यों के साथ जान पड़ता है। प्रागनुभविक वाक्यों की ही तरह व्याकरण-वाक्य भी सत् का निर्देश करते हैं, यद्यपि उस पर अपने सत्यासत्य के लिए निर्भर नहीं करते। पुन:, दोनों ही प्रकार के वाक्य सर्व-सामान्यत: प्रामाणिक हैं और इसलिए अनिवार्य हैं और तदनुसार उनका वैपरीत्य अचिंतनीय है। अवश्य यह कह सकना कठिन है कि विट्गिन्स्टाइन समस्त पारंपरिक प्रागनुभविक वाक्यों को व्याकरण-वाक्य कहेगा; किन्तु यह तो सच ही है कि उसके सभी व्याकरण-वाक्य प्रागनुभाविक हैं। वह स्वयं ऐसा कहता है (फिल.इन. २५१)। यह देख पाना कठिन नहीं है कि दोनों प्रकार के वाक्यों की मूल समस्या एक ही है : यह क्योंकर सम्भव है कि कोई वाक्य पदार्थों (वस्तुओं) के विषय में प्रतिपादन तो करे किन्तु साथ ही अपनी सत्य-वृत्ति के लिए उन पदार्थों पर निर्भर न करे। विट्गिन्स्टाइन का उत्तर इस सन्दर्भ में 'प्रागनुभव' की तत्त्ववादी व्याख्या के प्राय: प्रतिकूल है। तत्त्ववादी मत की तह में आणविक प्रतिमान का सिद्धांत है। इसके अतिरिक्त, उक्त मत पदार्थों का एक तत्त्व भाषा से स्वतंत्र रूप में मान्य करता है, जो केवल अन्तर्ज्ञान द्वारा बोध्य हैं जो केवल उसी आधार पर शब्दों द्वारा अभिहित किये जाते हैं। तदनुसार, प्रागनुभविक वाक्य इन तत्त्वों के बारे में हैं और साथ ही उन पदार्थों के बारे में भी जो उनमें हिस्सा बँटाते हैं। अत: इन वाक्यों की सत्यवृत्ति का आधार इन तत्त्वों का निर्देश है। उदाहरणत: ''कुँवारा'' नाम के पहले कुँवारे होते हैं; उनमें कुँवारापन देखा जाता है जिसमें पुरुष व अविवाहित होने के गुण होते हैं; फिर कुँवारों को ''कुँवारा'' नाम दिया जाता है, और तब उनके तत्त्व के बारे में यह कथन किया जा सकता है - ''सभी कुँवारे अविवाहित हैं''।

उक्त मत के विपरीत विट्गिन्स्टाइन का अपना प्रागनुभव का सिद्धांत भाषा-क्रीड़ा से आरंभ होता है, जिसके अनुसार जगत् से हमारा आमना-सामना पहले-पहल भाषा-क्रीड़ाओं द्वारा ही होता है। इस तरह जगत् हमारे लिए पहले ही विस्तार में उच्चारित और विविधतापूर्ण नियमों से व्यवस्थित होता है। नई भाषा-क्रीड़ाओं के निर्माण में हम निश्चित गुणों या लक्षणों वाले पदार्थों को समूहबद्ध कर कई नई वर्ग-रचनाएँ करते हैं। तभी हम नये नामों की उद्भावना करते हैं जो भाषा में ऐसे नये वर्गों के लिए होता है। इस तरह नामों के प्रयोग के लिए प्रयुक्ति-नियमों की नींव पड़ती है : जिन पदार्थों में उक्त गुण-लक्षण नहीं होते वे उन नामों के धारक नहीं हो सकते है। अब, प्रागनुभवीय वाक्य वस्तुओं का वे गुण-लक्षण व्यक्त करते हैं जो इनके नामों के लिए भाषायी नियमों के आधार पर अनिवार्य होते हैं, और इसलिए उनकी सत्य-वृत्ति भी उन्हीं भाषायी नियमों पर आधारित होती है। इस तरह एक प्रागनुभवीय वाक्य पदार्थों के बारे में और साथ ही उन पदार्थों के नामों से सम्बन्धित भाषायी नियमों के बारे में भी होता है। इसी कारण वह एक 'व्याकरण-वाक्य' भी है। तदनुकूल ''सभी कुँवारे अविवाहित हैं'' की व्याख्या इस तरह होगी : ''पुरुष'', ''स्त्री'', ''अविवाहित'' आदि भाषायी चिन्हों और इनसे सम्बन्धित पदार्थों के विषय में पहले से ही भाषा-क्रीड़ाओं की एक शृंखला है। अब ''कुँवारा'' शब्द के साथ भाषा-

क्रीड़ा में हम उन सभी पुरुषों को, जिनमें अविवाहित होने का लक्षण है, एक-साथ समूहित कर देते हैं और उन्हें केवल "कुँवारे" कहते हैं, और उस समय उनके अन्य किसी भी गुण-लक्षण पर ध्यान नहीं देते। अब उक्त भाषायी नियमों के अनुसार प्रत्येक कुँवारे में अविवाहित होने का लक्षण है। इस प्रकार "सभी कुँवारे अविवाहित हैं" एक साथ पदार्थों (कुँवारों) और "कुँवारा" शब्द की प्रयुक्ति के भाषायी नियमों के बारे में है। अत: यह कुँवारों में न तो किसी तत्त्व की मान्यता आवश्यक है न ही उसके अन्तर्ज्ञान की।

अन्य अधिकांश विश्लेषणवादी दार्शनिकों के प्रतिकूल विट्गिन्स्टाइन किन्हीं संश्लेषणात्मक प्रागनुभवीय वाक्यों की स्वीकृति के पक्ष में भी हैं। वस्तुत: इनकी व्याख्या भी वही है जो हमने ऊपर व्याकरणमूलक वाक्यों के सम्बन्ध में देखी है। उदाहरणार्थ, "एक ही स्थल एक ही समय लाल और नीला नहीं हो सकता" वाक्य पदार्थों का निर्देश करता है किन्तु साथ ही अन्तिम विश्लेषण में केवल "लाल स्थल" "नीला स्थल" आदि शब्दों के भाषायी प्रयुक्ति-नियमों को ही व्यक्त करता है। किसी भी भाषा-क्रीड़ा में नये उच्चारणभेद और नये भाषायी चिन्हों के साथ-साथ अनुभव जगत् में व्यवस्था पैदा की जाती है। और इस तरह भाषा-क्रीड़ा में नये भाषायी-चिन्हों के साथ-साथ पदार्थों के नये वर्ग का 'विधान' होता है। प्रागनुभवीय वाक्य इसी तथ्य का विवरण है जो पदार्थों के इस 'विधानमूलक वर्ग' के साथ-साथ भाषा-चिन्हों के प्रयुक्ति-नियमों के बारे में भी होते हैं।

यहाँ उल्लेखनीय है कि विट्गिन्स्टाइन संश्लेषणात्मक प्रागनुभवीय लक्षण वाले वाक्यों को प्राय: रूपनिर्देशात्मक प्रतिमानों (पेराडॉइम) से संयुक्त करता है- जैसे मापदंडों के सम्बन्ध में मूल मापदंड का निर्देश या किसी विशेष वर्ण-शब्द के प्रयोग के लिए वर्ण-सूची का निर्देश। मूलत: वह सदैव एक बाह्य प्रतिमान होता है, जो रूप निर्देशन द्वारा किसी समान गुण-धर्म के आधार पर पदार्थों को एक नये वर्ग में गठित करता है। किन्तु कालांतर में इसका रूपांतरण भाषायी समुदाय की "स्मृति और सहचारिता" में हो जाता है जिससे कि बाह्य प्रतिमान वाला उसका रूप समाप्त हो जाता है, यद्यपि तब भी उक्त बाह्य प्रतिमान वाला उसका आधार समाप्त नहीं होता। यह बात सन्देह या प्रशिक्षण की स्थिति में स्पष्ट होती है, जैसे वर्णों के विषय में, जब हमें वर्ण-सूची जैसे बाह्य रूपनिर्देशकों का ही सहारा लेना होता है। स्पेख्त के मतानुसार विट्गिन्स्टाइन का यह मत, प्रस्तुत संदर्भ में, समयवाद (कॉन्वेन्शॅनलिज्म) और प्रयोजनवाद (प्रेग्मेटिज्म) से काफी मिलता-जुलता है और इसलिए 'भाषा-क्रीड़ा' की उसकी धारणा की कई सीमाओं को उभार कर सामने लाता है। ये सीमाएँ इस प्रकार हैं :

(अ) भाषा-क्रीड़ा किसी हद तक यादृच्छिक है, अर्थात् वहाँ तक जहाँ तक कि वह प्राकृतिक तथ्यों से निगमित नहीं होती। किन्तु अवश्य किन्ही तथ्यों से उनका सम्बन्ध होता है - यदि ये तथ्य कुछ और होते तो साधारणत: उपलब्ध भाषा-क्रीड़ाओं के उद्देश्य या आशय का कोई महत्त्व न होता। विट्गिन्स्टाइन भाषा-क्रीड़ा की यादृच्छिकता को नई भाषा-क्रीड़ाओं के गठन द्वारा व्यक्त करता है।

(ब) हमारी भाषा-क्रीड़ा के नियम अनुभव से निगमित नहीं होते किन्तु उनका आशय (अर्थ) अनुभव पर आधारित होता है।

(स) यह तथ्य कि किसी भी भाषा-क्रीड़ा में नियम होते हैं, भाषा-क्रीड़ा के गठन में स्वरूप सीमा का काम करता है। कोई भाषा-क्रीड़ा केवल सामान्य सहमति, सहयोग और मान्यता द्वारा ही स्थापित हो सकती है।

(द) किसी भी भाषा-क्रीड़ा के गठन में पहले से ही स्थापित भाषा-क्रीड़ाओं की सामग्री हमें मिलती है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। पूर्व उपलब्ध भाषा-क्रीड़ा में १८ X १५ =२७० होता है, जिसकी उपेक्षा हम अंक सम्बन्धी किसी नई भाषा-क्रीड़ा में नहीं कर सकते।

प्रागनुभवीय वाक्यों के सम्बन्ध में व्यक्त विट्गिन्स्टाइन के विचारों से तत्सम्बन्धी कांट के विचारों की मूल समानता का उल्लेख यहाँ किया जा सकता है। इस संदर्भ में स्पेख्त अर्न्स्ट कैसिरर द्वारा कांट-दर्शन के भाषा-सिद्धांत के रूप में विकास का सहारा लेता है। तद्नुसार कांट और विट्गिन्स्टाइन दोनों में हम पाते है कि प्रागनुभविक वाक्य अपनी अर्थ-वृत्ति और निरपेक्ष अनिवार्यता के लिए मानव-चिंतन के पदार्थ-गठन के सामर्थ्य पर आधारित हैं। यह तथ्य गणितीय और वैज्ञानिक सिद्धांतों के गठन में (जो कांट की ज्ञानमीमांसा का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है) तथा भाषा-क्रीड़ाओं के अन्तर्गत भाषायी-चिन्हों के स्वत:स्फूर्त निर्माण में समानरूपेण उपस्थित है।

विट्गिन्स्टाइन के भाषा-दर्शन में निहित भाषा-सिद्धांत की एक फलप्रद तुलना आधुनिक भाषा-शास्त्र के किन्हीं सिद्धांतों से भी की जा सकती है। विट्गिन्स्टाइन की तरह आधुनिक भाषा-शास्त्र भी यह मान्य करता है कि हमारी भाषा जगत् का गठन, उसके आकार-प्रकार की व्यवस्था, करती है। एक भाषा-शास्त्री वैसगेरबॅर के अनुसार, न केवल विशिष्ट भाषाओं में वस्तुओं के लिए भिन्न-भिन्न शब्द होते हैं वरन् इन विभिन्न शब्दों में जो-कुछ घनीभूत होता है वह वस्तुओं को देखने की बिल्कुल भिन्न-भिन्न विधाएँ भी प्रस्तुत करता है। शब्दों में जगत् की एक विशिष्ट व्याख्या निहित होती है। भाषा में एक मानसिक शक्ति सक्रिय होती है जिसमें न केवल ग्रहण होता है वरन् व्यवस्थापन और गठन भी होता है। किन्तु वैसगेरबॅर जैसे भाषाशास्त्रियों और विट्गिन्स्टाइन के बीच यह महत्त्वपूर्ण अन्तर है कि उक्त भाषाशास्त्री एक 'बाह्य-जगत्', एक वस्तुनिष्ठ सत्ता को पूर्वमान्य करते हैं, जबकि विट्गिन्स्टाइन के अनुसार कोई भी 'वस्तुनिष्ठ भाव' केवल भाषायी रूप से, भाषा-क्रीड़ाओं में, प्रदत्त और ग्राह्य है।

अब हम संक्षेप में विट्गिन्स्टाइन के भाषा-सिद्धांत की कतिपय कठिनाइयों की ओर अपना ध्यान आकर्षित कर सकते हैं। विट्गिन्स्टाइन सदैव किसी विशेष भाषायी स्तर से अपना विश्लेषण आरंभ करता है, अर्थात् भाषायी विकास के उस स्तर से, जहाँ पहले से ही - कुछ भाषा-क्रीड़ाएँ और इसलिए पदार्थों काएक क्षेत्र प्रदत्त रहता है। और इस स्थिति से तुरन्त यह प्रश्न उपस्थित होता है : क्या कोई प्रथम भाषा-क्रीड़ा भी है ; इस प्रथम भाषा-क्रीड़ा में भाषायी 'विधान' और भाषायी 'द्रव्य' के बीच सम्बन्ध कैसे कायम होता है, जिससे कि पदार्थ-जैसा कुछ, या कुछ भी, मनुष्य के लिए (समझने या बुद्धिग्राह्यता की दृष्टि से) स्पष्ट हो सके ?

स्पेख्त के अनुसार, इस प्रश्न से पैदा होने वाली कठिनाई वस्तुत: सभी विधानमूलक सिद्धांतों के लिए उठती है। ये सिद्धांत पदार्थ-भेद के किसी स्तर से आरंभ कर स्वत:-स्फूर्तता और ग्राह्यता के बीच के सम्बन्ध की व्याख्या करते हैं। फिर इस व्याख्या के परिणाम को लगातार नीचे के स्तरों पर लागू किया जाता है और इस तरह अंत में भेदरहित ''मूल-द्रव्य'' तक पहुँच जाता है, जहाँ पुन: उसके संदर्भ में किसी पदार्थ या किसी-कुछ की बात नहीं की जा सकती। अवश्य जहाँ तक विट्गिन्स्टाइन का सवाल है वह उक्त कठिनाई के निवारण के लिए सचेष्ट नहीं जान पड़ता। इस सम्बन्ध में वह केवल इतना कहता है कि भाषा-क्रीड़ाओं का गठन प्राकृतिक तथ्यों और शरीर-क्रिया-मूलक उपादानों से ही होता है। किन्तु तब कहा जा सकता है कि आखिर ये भी तो भाषायी रूप में ही प्रकाश्य होती हैं। अथवा शायद कहा जाय, जैसाकि पोल ने कहा है, विट्गिन्स्टाइन ने भाषा के पूर्व-प्रदत्त उपादानों को तो अवश्य स्वीकार किया किन्तु साथ ही यह भी स्वीकार कर लिया कि उनका भाषायी स्तर पर निश्चित होना संभव नहीं।

एक और कठिनाई विट्गिन्स्टाइन की इस आधारभूत धारणा के सम्बन्ध में उठ सकती है कि किसी नई चिन्ह-प्रयुक्ति के साथ-साथ पदार्थों को किन्ही रूप निर्देशात्मक प्रतिमानों के आधार पर

समूहों में नये ढंग से व्यवस्थित किया जा सकता है, इस धारणा में यह पूर्वमान्य है कि पदार्थों के समान या समरूप लक्षणों को पहचाना जा सकता है। किन्तु ऐसा ज्ञान संभव कैसे हो ? वस्तुत: यह समग्र दर्शन-शास्त्र की प्रमुख कठिनाईयों में से एक है। इसके लिए विट्‌गिन्स्टाइन का उत्तर कुछ इस तरह है : "समान" या "समरूप" शब्द के प्रयोग की कोई प्रमाणिकता नहीं है (रिमार्क्स ऑन दि फॉउंडेशन्स् ऑफ मेथेमेटिक्स, १८४), जिसका सीधा आशय यह है कि समरूपता या एकरूपता के सम्बन्ध में ज्ञान के प्रश्न का कोई उत्तर नहीं हो सकता। अवश्य इसे कोई भी 'देख' सकता है, जैसे रंगों की समरूपता को, किन्तु यह कोई प्रामाणिकता नहीं है। यहाँ विट्‌गिन्स्टाइन के चिंतन की वह सीमारेखा है जहाँ पर आकर सभी युक्तियाँ और व्याख्याएँ खत्म हो जाती हैं। यहाँ केवल इतना ही कहा जा सकता है। "यह केवल वह है जो मैं करता हूँ" (फिल. इन. २१७)। वस्तुत: उसका यह दृष्टिकोण तत्त्वमीमांसात्मक व्याख्या-सम्बन्धी उसकी इस धारणा से संबद्ध है कि वह "एक प्रकार का अलंकरण है" जो किसी तरह की प्रामाणिकता नहीं लेता। शायद यही बात उसकी सत्तापरक तटस्थता पर भी लागू हो; किन्तु आश्चर्य है कि स्पेख्त इस संदर्भ संभावना की चर्चा भी नहीं करता।

३. विट्‌गिन्स्टाइन द्वारा दार्शनिक वृत्ति का निर्धारण :

स्पेख्त के अनुसार विश्लेषणात्मक विधि की न्यायसंगतता का सीधा सम्बन्ध विट्‌गिन्स्टाइन की इस धारणा में ढूँढ़ा जा सकता है कि "व्याकरण बताता है कि कोई भी वस्तु किस प्रकार की है" (फिल. इन. ३७३)। चूँकि शब्द-प्रयुक्ति के नियम पदार्थ-संरचना में नहीं गढ़े जा सकते वरन् वस्तुस्थिति इनके ठीक विपरीत है, शब्द-प्रयुक्ति ही एक तरह से पदार्थ-संरचना निर्धारित करती है; शब्द-प्रयुक्ति का विश्लेषण हमें बताता है कि वही पदार्थ-संरचना को समझने का प्राथमिक आधार है और उसके लिए स्वत: उसकी स्थिति को छोड़कर किसी और प्रामाणिकता की जरूरत नहीं है। यह विट्‌गिन्स्टाइन के परवर्त्ती दर्शन की एक केन्द्रीय धारणा है। पारंपरिक दर्शन में यह केन्द्रीय धारणा सत्तामूलक रही, जिसका विधिपरक आधार भाषा को नहीं माना गया : या तो उसे मनुष्य से पूर्णत: स्वतंत्र या फिर मानव-चेतना या बुद्धि द्वारा रचित माना गया, जिससे भाषा को बाद में संयुक्त कर दिया गया। प्रथम स्थिति एरिस्टॉटल में स्पष्ट है, जबकि द्वितीय कांट और हुस्सर्ल में स्पष्ट हुई है। इन धारणाओं के विपरीत विट्‌गिन्स्टाइन में पदार्थों का विधान मनुष्य की भाषायी-क्रिया के माध्यम से होता है। इस तरह अस्तित्त्वमूलक समस्याओं के लिए विट्‌गिन्स्टाइन एक बिल्कुल नई विधि प्रस्तुत करता है।

अन्य दो सत्तामीमांसात्मक विधाओं के विपरीत उसके स्वयं की सत्तामीमांसात्मक विधा व विधि की यह विशेषता भी द्रष्टव्य है : वह भाषा-क्रीड़ाओं या उनमें गठित पदार्थों के किसी प्रणालीबद्ध अध्ययन में रुचि नहीं रखता वरन् दार्शनिक क्रिया के रूप में वह दार्शनिक समस्याओं को सामने रखता है। ये समस्याएँ न तो विशिष्ट विज्ञानों की निर्णय प्रविधियों द्वारा हल की जा सकती है और न ही उनका रूप वैज्ञानिक समस्याओं का है। वे आनुभविक समस्याएँ नहीं हैं; उन्हें नयी सूचनाओं के आधार से नहीं सुलझाया जा सकता, वरन् उनके नियोजन द्वारा सुलझाया जा सकता है जो हम सदैव जानते रहे हैं (फिल. इन. १०९)। पुन: दर्शन "सभी-कुछ को जैसा-का तैसा छोड़ देता है। गणितशास्त्र को वह वैसा ही छोड़ देता है, और कोई गणितीय खोज उसमें कोई सुधार नहीं कर सकती। 'गणितीय तर्क की प्रमुख समस्या' किसी भी अन्य समस्या की तरह गणितशास्त्र की ही समस्या है" (वही, १२४)।

इस तरह दार्शनिक समस्याएँ एक विशेष प्रकार की असहायता प्रकट करती हैं : "किसी दार्शनिक समस्या का रूप है : 'मैं उस सम्बन्ध में अपनी राह नहीं जानता'" (वही, १२३)। अवश्य इन समस्याओं के उत्स के सम्बध में विट्‌गिन्स्टाइन का मत है कि वह विभिन्न भाषा-क्रीड़ाओं के बीच विद्यमान किन्ही सादृश्यों में, विशेषकर उनकी सतह व्याकरण सम्बन्धी सादृश्यों में है। किन्तु इसका

अर्थ यह नहीं कि स्वत: समस्याएँ ही भाषायी भ्रम-मात्र हैं, क्योंकि अन्तत: पदार्थों का विधान भाषा-क्रीड़ाओं के अन्तर्गत विशिष्ट प्रयुक्तियों से संबद्ध होता है। अत: शायद विट्गिन्स्टाइन का अभिप्राय यह कहने का है कि दार्शनिक समस्याएँ वस्तुत: सत्ता-मूलक हैं, किन्तु उनका उद्भव गलत भाषायी सादृश्यों में होता है-यद्यपि स्वयं उसकी अपनी रुचि उक्त समस्याओं का निराकरण व्याकरणमूलक विश्लेषण द्वारा करने तक ही सीमित है। वह कहता है : "वास्तविक खोज वह है जो मुझे अपनी दार्शनिक क्रिया को वहाँ समाप्त करने में समर्थ बनाती है जहाँ मैं करना चाहता हूँ - वह जो दर्शनशास्त्र को शांति प्रदान करती है जिससे कि वह पुन: उन प्रश्नों द्वारा व्यथित न हो सके जो प्रश्न में अपने-आपको प्रस्तुत करते हैं। इसके विपरीत, अब हम एक विधि उदाहरणों द्वारा निदर्शित करते हैं : और उदाहरणों की शृंखला का अन्त सम्भव है।" (वही, ३३)।

जहाँ तक स्वत: दर्शनशास्त्र की विश्लेषणात्मक वृत्ति का सवाल है, ये बातें द्रष्टव्य हैं :

(अ) किन्हीं पराभौतिकीय या तत्त्वमीमांसामूलक सिद्धांतों से भी हमें पदार्थों की ओर देखने का एक नया ढंग मिल सकता है (वही, ४००-४०१); जैसे प्रतिभासवाद (फिनॉमिनलिज्म) के अन्तर्गत पदार्थों को इन्द्रिय-प्रदत्तों से रचित करने में वस्तुस्थिति का एक नया पक्ष उजागर होता है। आशय यह कि तत्त्वमीमांसा हर दृष्टि से निरर्थक नहीं है।

(ब) विट्गिन्स्टाइन अपनी विश्लेषण-विधि द्वारा दार्शनिक समस्याओं की केवल भाषायी सफाई नहीं करता वरन् भाषा, पदार्थों और उनके सम्बन्धों के बारे में एक नया भाषायी सिद्धांत भी प्रस्तुत करता है, जिसकी अपनी कुछ पूर्वमान्यताएँ हैं। इस तरह, एक बार हम पुन: ट्रक्टेटस के विट्गिन्स्टाइन को फिलासफिकल इन्वेस्टिगेशन्स् में सिर उठाता हुआ पाते हैं : ट्रक्टेटस की तरह यहाँ भी उसकी 'सीख' और 'क्रिया-प्रणाली' के बीच एक हवाई नजर आती है।

मूल्यांकन

स्पेख्त का विट्गिन्स्टाइन पर किया गया अध्ययन कई दृष्टियों से नवीन और महत्त्वपूर्ण है। नवीन इसलिए क्योंकि वह प्रथम बार विट्गिन्स्टाइन के दर्शन में निहित किन्तु अकथित (अकथनीय ?) पक्षों की एक सम्यक् विवेचना प्रस्तुत करता है। अवश्य स्पेख्त ने इस सम्बन्ध में जो निष्कर्ष निकाले हैं वे शंका से परे नहीं हैं। जैसे, जिस सत्तामूलक तटस्थता का आभास वह विट्गिन्स्टाइन के परवर्त्ती चिंतन में पाता है उसकी एक और व्याख्या भी संभव है, जिसके फलस्वरूप उसके पूर्ववर्त्ती और परवर्त्ती चिंतन के बीच एक महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध कायम किया जा सकता है। व्याख्या के अनुसार हम कह सकते हैं कि भाषा में गठित पदार्थों का भाव मूलत: अकथनीय है और यह कि उसे केवल भाषायी व्याकरण में दिखाया जा सकता है। स्पष्ट है कि यहाँ 'सत्तामूलक तटस्थता' इसलिए नहीं है क्योंकि विट्गिन्स्टाइन की 'रुचि' समस्या के सत्तामूलक पक्ष में नहीं है, वरन् यह तटस्थता कथनीयता की अनिवार्य सीमा है जिस पर कुछ भी कहने से बचकर दर्शन-शास्त्र को शांति प्रदान करने की बात समझ में आती है। यहाँ निस्सन्देह ट्रक्टेटस के अन्तिम अंशों के वाक्यों की दार्शनिक उलझनों की ओर संकेत है जिनसे बचने का सीधा उपाय है। उन्हें कहा ही नहीं जाय और उसकी जरूरत ही क्या ? जो दार्शनिक-क्रिया में सक्षम है (स्मरणीय है कि यह विट्गिन्स्टाइन के अनुसार उसके दर्शन को समझने की शर्त है) वह स्वयं जानता है कि कब उसे मौन रहना है और कब नहीं ! फिल. इन. १३३ के पूर्वोल्लिखित उद्धरण का तात्पर्य यही जान पड़ता है।

दूसरी ओर, स्पेख्त के अध्ययन की महत्ता उसकी व्यापकता में है : वह विट्गिस्टाइन के समूचे चिंतन को पारंपरिक व आधुनिक दर्शन के परिप्रेक्ष्य में उभार कर हमारे सामने रखता है। स्वत: विट्गिन्स्टाइन ने ट्रक्टेटस व फिल. इन. की भूमिकाओं में इसकी ओर संकेत किया है, जिसका विस्तारेण

स्पष्टीकरण हमें स्पेख्त द्वारा मिलता है। अवश्य यहाँ भी स्पेख्त ने विट्गिन्स्टाइन की किन्हीं धारणाओं की व्याख्या इस तरह की है कि उन पर आपत्ति नहीं तो कम-से-कम शंका की जा सकती है। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि अपनी समग्रता में उसका अध्ययन काफी कठिन लगता है। अवश्य विट्गिन्स्टाइन का स्वयं अथवा विधिमूलक दार्शनिक परिप्रेक्ष्य भाषा-विश्लेषण का है और पारंपरिक दार्शनिक समस्याओं से भी उसका संबंध इसी परिप्रेक्ष्य के अंतर्गत है। अत: उसकी विधि विश्लेषणात्मक होने पर भी उसकी स्थापनाएँ मूलत: विधेयात्मक ही हैं, निषेधात्मक नहीं। स्पेख्त के अनुसार, इस संबंध में विट्गिन्स्टाइन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ दार्शनिक भाषा-सिद्धांत और सत्तामीमांसा-संबंधी है। स्पेख्त की दृष्टि में पाश्चात्य पारंपरिक दर्शन में दो मुख्य सत्ता-मीमांसक विचार-धाराएँ रही हैं : (अ) एरिस्टॉटल-प्रदत्त, जिसमें पदार्थों को मनुष्य से स्वतंत्र सत्ता प्रदान की गई, और (ब) कांट-हुस्सर्ल-प्रदत्त, जिसमें पदार्थ मानव-चेतना या बुद्धि द्वारा रचित हुआ। विट्गिन्स्टाइन अपने परवर्त्ती चिंतन में उक्त दोनों के समकक्ष और बदले में एक नया सत्तामीमांसात्मक विचार प्रस्तुत करता है - कि पदार्थ मानव-भाषा-क्रीड़ाओं में गढ़े जाते हैं। यहाँ स्पष्ट है कि विट्गिन्स्टाइन का यह मत कांट-हुस्सर्ल-मत के अधिक समीप है और यदि कांट और हुस्सर्ल के विचारों की भाषामूलक हाइडेगर वाली व्याख्या पर ध्यान दिया जाय तो विट्गिन्स्टाइन का मत उनके और करीब चला आता है। वस्तुत: स्वयं स्पेख्त ने कांट के मत के संदर्भ में उक्त बात स्वीकार की है।

किंतु यदि हम उक्त तीनों भावमीमांसात्मक मतों को, उनमें निहित भाषा-सिद्धांत की दृष्टि से देखें, तो शायद कांट और हुस्सर्ल का मत एरिस्टॉटल के मत से अधिक निकट होगा, क्योंकि वे एक ही भाषायी अणुवादी प्रतिमान पर आधारित हैं-उसी अर्थ में जिसमें कि स्टेनियस विट्गिन्स्टाइन के ट्रक्टेटस को मूलत: एक कांटवादी सिद्धांत मानता है। जबकि विट्गिन्स्टाइन का अनुवर्त्ती चिंतन एक नवीन भाषा-सिद्धांत-भाषा-क्रीड़ा सिद्धांत -का प्रतिपादन करता है जो अपने मूल में भाषा-शास्त्र के अत्याधुनिक मतों के बहुत निकट है।

हमारी समझ में उक्त तीन सत्तामीमांसात्मक सिद्धांतों व भाषा-सिद्धांतों को साथ-साथ संयुक्त कर देखने से एक और महत्त्वपूर्ण बात भी प्रकट होती है - जिसका यहाँ हम केवल उल्लेख भर करेंगे। विट्गिन्स्टाइन के अनुवर्त्ती चिंतन में सत्तामीमांसात्मक तटस्थता का कारण उसके द्वारा भाषा-क्रीड़ा को केन्द्रीय महत्ता की धारणा मानना है; ठीक उसी तरह जैसे कांट और हुस्सर्ल चेतना की केन्द्रीय महत्ता से चलकर किन्हीं सामान्य-रूप तत्त्वों वाली सत्तामीमांसा तक पहुँचते हैं, और सत्ता की केंद्रीय महत्ता से चलकर एरिस्टॉटल विशेष-रूप तत्त्वों वाली सत्तामीमांसा तक पहुँचता है। अत: जान पड़ता है कि उक्त तीनों मतों की केन्द्रीय धारणाएँ अलग-अलग हैं - अर्थात् तीनों ही किसी प्रकट या अप्रकट भाषा सिद्धांत पर आधारित नहीं हैं, जैसा कि स्पेख्त समझता है, यद्यपि अवश्य उनमें भाषा-सम्बन्धी एक निश्चित मान्यता है - और इसलिए उन्हें भाषा-सिद्धांत के आधार पर समझने पर उनका अतिसरलीकरण हो जाता है। उक्त तीनों मतों की केन्द्रीय धारणाएँ हैं - अर्थ या भाषा (विट्गिस्टाइन के परवर्त्ती चिंतन में), ज्ञान या चेतना (कांट और हुस्सर्ल में), तथा भाव या सत्ता (एरिस्टॉटल) में। निस्सन्देह ये तीनों एक-दूसरे से जुड़े हैं - जो इससे प्रकट है कि विट्गिन्स्टाइन सत्ता और ज्ञान को भाषा के आधार पर, कांट-हुस्सर्ल सत्ता और भाषा को ज्ञान के आधार पर, और एरिस्टॉटल अर्थ और ज्ञान को भाव के आधार पर समझने की चेष्टा करते हैं। अत: स्पष्ट ही यह प्रश्न कि सत्ता, ज्ञान और भाषा में कौन अधिक आधारभूत है ? सदैव एक अनुत्तरित प्रश्न बना रह सकता है।

इसी से शायद यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि विट्गिन्स्टाइन अपने परवर्त्ती चिंतन में कतिपय दार्शनिक समस्याओं को ही प्रकटत: अपना लक्ष्य बनाता है, वस्तुत: उसका चिंतन खंड-खंड

चिंतन (जिसे पृथक्-पृथक् अन्तर्बोध कहना अधिक उचित होगा) का रूप न लेकर एक निश्चित विधिमूलक चिंतन बन कर व्यक्त होता है जिसमें दर्शन-शास्त्र के एक सम्यक् और पूर्ण दृष्टिकोण का विकास हुआ दीख पड़ता है, और तब यह भी स्पष्ट हो जाता है कि क्यों वह किन्हीं दार्शनिक समस्याओं को ही अपने अनुवर्त्ती चिंतन का आरंभ-बिन्दु बनाता है। यह उसके विधिमूलक चिंतन की एक परिणति है, कोई आकस्मिकता नहीं। एक बार यह मान लेने पर कि दर्शन किसी सूचना पर आधारित नहीं, किसी भी स्व-प्रदत्त या बाह्यत: प्रदत्त (जिसके सम्बन्ध में सदैव एक सूचना होगी) से दार्शनिक-चिंतन आरम्भ हो ही नहीं सकता। दूसरे शब्दों में, आरम्भ में ही सत्ता, ज्ञान का इनके भाषायी अभिव्यक्ति परक तथ्य दार्शनिक चिंतन को परिचालित कर सकने में असमर्थ हैं। अत: अवश्य उसका आरम्भ उनके सम्बन्ध में उस समस्यात्मकता से होगा जो किसी सूचना द्वारा सन्तुष्ट नहीं की जा सकती। इस तरह की समस्यात्मकता दार्शनिक समस्याओं से मिलती है और दार्शनिक चिंतन के लिए वे ही उचित आरम्भ-बिन्दु हैं। अब इसी से दार्शनिक समस्याओं के एक और पक्ष पर भी प्रकाश पड़ता है : चूँकि वे किसी तथ्य या सूचना द्वारा सन्तुष्ट नहीं की जा सकतीं, उनका उद्भव भी मूलत: किसी तथ्य या सूचना में नहीं है। अवश्य ये समस्याएँ किन्हीं भाषागत दोषों, भ्रमों या सतह-व्याकरण पर आधारित हो सकती हैं, किंतु उन समस्याओं का महत्त्व, उनका संभावित तर्क, तथ्य-रूप भाषा को लांघ कर सत्ता और ज्ञान के क्षेत्र तक पहुँचता है। शायद इसीलिए विट्गिन्स्टाइन सीधे लोक-भाषा का विश्लेषण नहीं करता यद्यपि वह लोक-भाषा को बिल्कुल ठीक कहता है, वरन् उसकी समझ वह कृत्रिम भाषा-क्रीड़ाओं के सादृश्य से प्राप्त करता है। इसका एक प्राविधिक महत्त्व है, क्योंकि इसके द्वारा विट्गिन्स्टाइन यह दिखाने में समर्थ होता है कि दार्शनिक समस्याएँ भाषा पर आधारित होकर भी केवल भाषायी नहीं हैं और उनके केवल भाषायी न होने की दो अनिवार्य परिणतियाँ हैं। (अ) भाषा-विश्लेषण हमें भाषा के 'सतह व्याकरण' से उसके 'गूढ़ व्याकरण' तक पहुँचता है, और (ब) 'गूढ़ व्याकरण' का भाषायी 'प्रकाश' सत्ता और ज्ञान के क्षेत्रों को स्पष्ट करता है - यद्यपि स्वत: दर्शनशास्त्र के अंतर्गत उनका कथन न तो अनिवार्य है और न ही वाँछनीय।

***

संदर्भ-सूची

१. *प्रो. पाण्डेय का यह आलेख अन्र्स्ट कोनार्ड स्पेख्त की प्रसिद्ध कृति "The Foundation of wittgenteins Later Philosophy (Eng. tr. by D.E. walford)" का सारांश एवं समीक्षा है।*

परिच्छेद : आठ

नारायण शास्त्री द्राविड़

अद्वैतवेदान्त का अधिमनोवैज्ञानिक विश्लेषण

8.1 भारतीय तर्कशास्त्र के विकास का सिंहावलोकन

8.2 अद्वैतवेदान्त सम्बन्धी कुछ मौलिक समस्यायें

8.3 प्रत्यक्ष की वेदान्तीय परिभाषा

8.4 सुषुप्ति का वेदान्तीय विश्लेषण- १

8.5 सुषुप्ति का वेदान्तीय विश्लेषण- २

नारायण शास्त्री द्राविड़

प्रो. एन.एस. द्राविड़ की गणना स्वांतत्र्योत्तर युग के कुछ एक परिष्कर्त्ता दर्शनशास्त्रियों में की जा सकती है जो भारतीय दर्शन की शास्त्रीय परम्परा और विश्वदृष्टि में बद्धमूल रहते हुए दर्शनशास्त्र की आधुनिक प्रवृत्तियों से अपरिचित नहीं थे। इनका जन्म (१९२४) कुल-परम्परा से एक नैयायिक परिवार में हुआ लेकिन अद्वैत वेदान्त के प्रति इनकी अप्रतिहत निष्ठा को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन दृष्टि के रूप में क्या सचमुच न्यायदर्शन का पर्यवसान वेदान्त में हो जाता है ? प्रो. द्राविड़ दर्शनशास्त्र में एम.ए., पी-एच.डी. एवं न्यायाचार्य थे। नागपुर विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर दर्शन विभाग में प्रोफेसर एवं अध्यक्ष पद पर आसीन रहते हुए इन्होंने लम्बे समय तक दर्शन-साधना किया है। अमेरिका के हवाई विश्वविद्यालय में ये कुछ दिनों तक विजिटिंग प्रोफेसर भी रहे। १९५० के दशक से लेकर अद्यतन विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से प्राच्य एवं पाश्चात्य दर्शनशास्त्रीय समस्याओं पर अनेकों परिष्कारात्मक निबन्धों को लिखकर इन्होंने उच्चस्तरीय दार्शनिक साहित्य को राष्ट्रभाषा में उपलब्ध कराया है। भारतीय प्रमाणशास्त्र पर एक महत्त्वपूर्ण कृति इनकी मराठी भाषा में प्रकाशित है। इनके द्वारा "भारतीय मनोविज्ञान" शीर्षक से एक सम्पादित कृति भी उल्लेखनीय है। प्रो. द्राविड़ अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के उपक्रमों से लम्बे समय तक जुड़े रहे। इन्हें परिषद् के अहमदाबाद अधिवेशन का अध्यक्ष भी मनोनित किया गया था। प्रो. द्राविड़ पाश्चात्य दर्शन की अधुनातन प्रवृत्तियों का अवगाहन प्रारम्भ से ही भारतीय दर्शन को समृद्ध करने के लिए करते रहे हैं। इन्होंने अपनी दार्शनिक निष्ठा पर आधुनिकतावादी प्रवृत्तियों को कभी आरोपित नहीं होने दिया बल्कि उनके गुण-दोषों की जाँच-पड़ताल करते हुए उन्हें अन्तर्भुक्त भी किया। भारतीय दर्शन के समक्ष उपस्थित होने वाले विलायती चुनौतियों का ससम्मान विवेचन करते हुए स्वयूथ्य की श्रेष्ठता का प्रतिपादन इनके आलेखों में सर्वत्र द्रष्टव्य है।

※

भारतीय तर्कशास्त्र के विकास का सिंहावलोकन

भारतीय दर्शन के प्राय: सभी गणमान्य इतिहासकारों ने भारतीय तर्कशास्त्र के अंतर्गत विचारों को 'तार्किक वाचालता' या ऐसे ही अन्य विशेषण लगाकर उपेक्षणीय ठहराया है। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि इन विचारों की सूक्ष्मता को स्वीकार करते हुए भी इन पर दोषारोपण करने वाले इतिहासकारों ने इनकी विस्तृत क्या संक्षिप्त चर्चा भी करना आवश्यक नहीं समझा। किन्तु अर्वाचीन सांकेतिक तर्कशास्त्रीय निगमन श्रृङ्खलाओं में जब यही तार्किक वाचालता दिखलाई पड़ती है तब यह बात इस शास्त्र का दोष न हो गुण ही है, ऐसा प्रतीत होने लगता है। इधर जे.एफ. स्टॉल, कार्ल पॉटर, इनुगाल्स जैसे कुछ अमरीकी तर्कशास्त्री भारतीय तर्कशास्त्र की कुछ विशेषताओं को प्रकाश में लाने का प्रयत्न करने लगे हैं। चूँकि आधुनिक सांकेतिक तर्कशास्त्र से बिलकुल भिन्न ढंग से भारतीय तर्कशास्त्र का विस्तार हुआ है अत: विस्तार की विभिन्न अवस्थाओं का सिंहावलोकन भारतीय और पाश्चात्य तर्कशास्त्रों के तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से थोड़ा बहुत उपयुक्त हो सकता है। प्रस्तुत निबन्ध इसी दृष्टि के साथ प्रणीत है।

ईसवी सन् के दो तीन सौ वर्ष पूर्व से लेकर उन्नीसवीं सदी के अंत तक भारत में तर्कशास्त्र का जो विकास होता गया है वह दार्शनिक ज्ञानमीमांसात्मक तथा शुद्ध निगमनात्मक इन क्रमिक अवस्थाओं के द्वारा सम्पन्न हुआ है। गौतम के न्यायसूत्रों ने जिस तर्कशास्त्र को प्रस्तुत किया है वह तर्कशास्त्र कम, दर्शन अधिक है। इसका नाम भी तर्कशास्त्र न हो 'आन्वीक्षिकी' है, जिसका अर्थ वात्स्यायन यह बतलाते हैं - 'प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा, तया प्रवर्तते इत्यान्वीक्षिकी।' याने प्रत्यक्ष और शब्द जैसे प्रमाणों से गृहीत वस्तु का विशेष स्वरूप जानने के उद्देश्य से उसका अनुमान या तर्क के द्वारा परीक्षण अन्वीक्षा है और इसी का प्रधानतया इस शास्त्र में प्रयोग किया जाता है। 'प्रमाण शास्त्र' और 'न्याय शास्त्र' इस शास्त्र की अन्य प्राचीन कालीन संज्ञायें हैं। इनमें 'न्याय' का अर्थ पहले जो रहा वह इस शास्त्र के विशुद्ध तर्कशास्त्र में रूपान्तरित होने पर नहीं रहा। मीमांसा में 'न्याय' का अर्थ पूर्वसिद्ध निष्कर्ष यह लिया जाता है। यह निष्कर्ष सामान्य वाक्य का नियम के रूप में हुआ करता है, जिसे उसी ढंग से प्राप्त किया जाता है जिससे विशेष अनुभवों पर से सामान्य निष्कर्ष निष्कृष्ट होता है। मोटे तौर पर मीमांसा सम्मत न्याय आगमनात्मक है किन्तु विशुद्ध तर्कशास्त्र के लिए अपेक्षित न्याय निगमनात्मक ही हो सकता है। न्यायदर्शन के लिए निगमन की समस्या का विशेष महत्त्व न होने के कारण तथा आगमन एवं निगमन को एक ही सतत आनुमानिक प्रक्रिया के अविभाज्य अंग मान लिया जाने के कारण इस समस्या की प्राचीन न्याय में विशेष चर्चा हम नहीं पाते। प्रमा या यथार्थ ज्ञान के प्रमुख साधनों- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इनकी विस्तृत चर्चा ही, प्रमेय पदार्थों की आनुषंगिक चर्चा के साथ, इस दर्शन का प्रमुख विषय बनती है। न्याय दर्शन के पहले ही सूत्र में प्रमाण का सर्वप्रथम, उसके बाद प्रमेय का और उसके भी बाद संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त जैसे वाद सम्बन्धी विषयों का जो निर्देश किया गया है उस पर से ही यह दर्शन किस बात को विशेष प्राधान्य देता है वह स्पष्ट हो जाता

है। प्रमाणों का स्वरूप अंशत: प्रमेयों के स्वरूप से निर्धारित है अत: प्रमाण विचार सही तरीके से संपन्न करने के लिए प्रमेय विचार प्राचीन न्याय के लिए अनिवार्य हो जाता है, अन्यथा प्रमेयों की चर्चा न भी की जाती। न्याय को आगे चलकर जो विशुद्ध तर्कशास्त्र का रूप प्राप्त हुआ उसका बीज इस प्रमेय विचार विषयक अनास्था में निहित है, ऐसा मानना विपर्यस्त नहीं होगा। विविध प्रमेयों का स्वरूप तथा उनके विभाग के सम्बन्ध में भी न्यायदर्शन कोई अभिनिवेश रखते नहीं दिखाता। वैशेषिक सम्मत द्रव्य, गुण, कर्म आदि पदार्थों का विवेचन करते हुए विश्वनाथ पञ्चानन इसीलिए कहते हैं कि 'एते च पदार्था: वैशेषिक नये प्रसिद्धा: नैयायिकानामाप्यविसिद्धा।' याने नैयायिकों को वैशेषिक सम्मत पदार्थ विभाग अमान्य होने का कोई कारण नहीं है। किन्तु ऐसी सहमति प्रमाणों के सम्बन्ध में नैयायिक नहीं दिखाते। वैशेषिकों के दो प्रमाणों के बदले उन्होंने चार प्रमाण स्वीकार किए हैं।

प्रमेयों से प्रमाण का विचार कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है यह बात वाचस्पति मिश्र ने तर्क से समर्थित भी की है। वे कहते हैं कि प्रमेय का अस्तित्त्व तथा उसे प्रमाणित करने वाला प्रमाण इन दोनों की प्रामाणिकता अंततोगत्वा अनुमान जैसे किसी प्रमाण पर ही निर्भर होती है। वात्स्यायन कहते हैं 'अर्थवति च प्रमाणे प्रमाता, प्रमेय प्रमितिरित्यर्थवन्ति भवन्ति।' याने जब तक प्रमाणों की प्रामाणिकता या वस्त्वनुरूपता सिद्ध नहीं हो जाती तब तक प्रमिति, प्रमेय व प्रमाता इनकी सत्ता का निर्धारण नहीं हो सकता। इन कथनों से यह स्पष्ट है कि प्राचीन न्याय दर्शन होते हुए भी प्रमेयों को स्वत: सिद्ध (या स्वयं प्रकाश) नहीं मानता। उसके विचार से प्रमाणों से ही उनकी सत्ता प्रस्थापित होनी चाहिए। प्रत्यक्षगम्य प्रमेयों पर भी यह बात लागू होती है क्योंकि प्रत्यक्ष पदार्थ की प्रत्यक्षता के सम्बन्ध में संदेह पैदा हो तो उसका निराकरण अनुमान जैसे प्रमाणों से ही हो सकता है। दार्शनिक परिभाषा में यह बात इन शब्दों में कह सकते हैं कि 'प्रमाण तार्किक दृष्टि से प्रथम और प्रमेय तदनन्तर हैं' हालांकि वस्तुस्थिति में प्रमेय प्रथम और प्रमाण तदनन्तरभावी हुआ करते हैं। प्रमाण और प्रमेय के गौण-प्रधान भाव का यह प्रश्न उतना सरल नहीं जितना यह आपातत: प्रतीत होता है। अंततोगत्वा यह प्रश्न प्रमाण या तर्कशास्त्र और वस्तुमीमांसा इनके गौण-प्रधान भाव के निर्धारण से ही हल हो सकता है। न्याय के सिवा अन्य सभी दर्शन किसी न किसी रूप में प्रमेय प्राधान्य या वस्तुमीमांसा प्राधान्य के पुरस्कर्ता हैं। इनके लिए प्रमाण विचार को उस हद तक चलाना जिस हद तक उसकी प्रमेय विचारोपयोगिता ही खत्म हो जाती है आवश्यक नहीं होता। जहाँ वेदान्ती वस्तुसत् को स्वयंप्रकाश मानते हैं वहाँ उनके कट्टर प्रतिद्वंद्वी बौद्ध भी 'मानद्वयं मेयद्वयात्' इस उक्ति के द्वारा प्रमेयों की द्विविधता और सत्यता को स्वयंसिद्ध ही समझते हैं। पूर्वसिद्ध पदार्थों का आकलन मात्र ही उनके मत से प्रमाण का कार्य रह जाता है। न्याय दर्शन का विषय प्रधानतया 'प्रमाण' होने के कारण प्रमाणों को ही प्रमेय सिद्धि का एकमेव साधन वह माने तो कोई आश्चर्य नहीं। लेकिन सतही दृष्टि से देखने पर एक विचित्र बात न्याय और प्रमेय विचारक दर्शनों में दिखलाई पड़ती है। प्रमेयों को स्वयंसिद्ध मानने वाले वेदान्त आदि दर्शन ज्ञान में स्वत: प्रामाण्यवादी हैं और प्रमेयों को प्रमाणसिद्ध समझने वाला न्याय परत: प्रामाण्यवादी है। इस सम्बन्ध में एक प्रश्न भी उठता है कि यदि प्रमेय प्रमाणों से और अन्य प्रमाण अनुमान प्रमाण से सिद्ध होते हैं तो यह साधन परंपरा कहाँ जाकर खतम होगी ? क्या प्रमाण स्वयंपूर्ण और प्रमेय निरपेक्ष अतएव आकारात्मक संस्थान नहीं है ? इन कठिनाईयों के हल तर्कशास्त्र के विकास-दिशा-निर्धारण की दृष्टि से बहुत महत्त्व रखते हैं। पहली कठिनाई का हल यह है कि वेदान्त के लिए सत्य और ज्ञान ये दोनों वास्तव में एक ही हैं, अत: यदि सत्य वस्तु स्वयं प्रमाण है तो उसका ज्ञान स्वयं प्रमाण मानने में विशेष हर्ज नहीं होना चाहिए। व्यावहारिक ज्ञान विषयरूप नहीं होता अत: उसके सम्बन्ध में यह विचार ठीक तरह नहीं लागू होता। किन्तु ऐसे ज्ञान के सम्बन्ध में स्वत: प्रामाण्य का जो अर्थ वेदान्ती लगाते हैं वह विशेष संतोषदायक

नहीं, यह सुविदित ही है। मीमांसा भेदाभेदवादी दर्शन है अत: वह भी ज्ञान और विषय के किसी न किसी प्रकार के ऐक्य के आधार पर ज्ञान के स्वत:प्रामाण्य का समर्थन कर सकता है।

पूर्वोक्त दूसरी कठिनाई का हल थोड़ा कठिन है। वह यह हो सकता है कि प्रामाण्य-प्रस्थापन की परंपरा की कोई अंतिम मर्यादा मानने की आवश्यकता नहीं है। एक प्रमाण की प्रमाणता दूसरे प्रमाण से, उसकी प्रमाणता तीसरे प्रमाण से, उसकी चौथे प्रमाण से इस तरह यह सिलसिला बराबर जारी भी रह सकता है। जारी रहता नहीं यह बात सच है, लेकिन इसका यह कारण हो सकता है कि हम प्राय: अनिश्चय की स्थिति से ही संतोष कर लेते हैं। अनिश्चयात्मक मानसिक स्थिति भी प्रवृत्ति का कारण होती है। लेकिन यह बात तो स्पष्ट है कि न्याय दर्शन प्रमाण की प्रामाणिकता का प्रश्न प्रमेयों की सत्यता की सहायता से हल करना पसन्द नहीं करेगा। तो क्या प्रमाण एक स्वयंपूर्ण और प्रमेय निर्देश-निरपेक्ष अतएव एक शुद्ध आकारात्मक संस्थान है, जैसाकि आधुनिक विद्वान् तर्कशास्त्र को समझते हैं ? यह पूर्वोक्त तीसरी कठिनाई है जिसका हल यह है कि अंतत: प्रमाण का प्रामाण्य उस पर आधारित प्रवृत्ति की सफलता पर से ही निर्धार्य है। यदि पूछा जाय कि बिना प्रामाणिक ज्ञान के प्रवृत्ति नहीं हो सकती और प्रवृत्ति के बिना प्रामाणिक ज्ञान की प्रामाणिकता नहीं सिद्ध हो सकती, इस तरह यह स्थिति तो अन्योन्याश्रय दोष युक्त है ? स्वयं उद्योतकर ने यह प्रश्न उठाया है और उस पर यह उत्तर दिया है कि उक्त अन्योन्याश्रय दोष नहीं है क्योंकि अनादि संसार में इसी क्रम से प्रमाण और प्रवृत्ति एक-दूसरे को आगे बढ़ाते रहते हैं। आधुनिक तर्कशास्त्रीय परिभाषा में इस बात को इस प्रकार कह सकते हैं कि तार्किक विश्लेषण की प्रकिया का कोई निश्चित अंत नहीं है, या दूसरे शब्दों में, कोई ऐसा तार्किक अणु नहीं है जिसके विभाजन की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

अब तक के विवेचन से यह बात स्पष्ट हो गयी होगी कि प्रमाण शास्त्र में वह विशेषता मौजूद है जिसको उर्मसन ने आधुनिक तर्क शास्त्र में विद्यमान बतलाया है। उर्मसन का कथन इस प्रकार है - "It is important to see that in accordance with the derivation of the metaphysics from logic the atomists did not say that some particular things appeared to be the basic ingredients of the world from which they would try to build it but decided a priori what the basic ingredients would be like, and then looked round for things to fill the bill." नैयायिकों को भारतीय दर्शन परंपरा में 'लक्षणैकचक्षुक' अर्थात् लक्षण का प्रथम निर्धारण कर तदनंतर लक्ष्य का विचार करने वाले ऐसा जो कहा जाता है उसका अभिप्राय उर्मसन के मन्तव्य जैसा ही है। प्रमाण या तर्क का शास्त्र इसी प्रकार का होता है और होना चाहिये। तथापि प्रवृत्तियों के जरिये वास्तविक जगत् से प्रमाण संबद्ध होता ही है इस बात को ध्यान में रखते हुए प्रमाण शास्त्र को संकेत निर्धारित लक्षण संस्थान मात्र कहना न्याय दर्शन सम्मत नहीं होगा। मोटे तौर पर ऐसा कह सकते हैं कि इस दर्शन को वास्तविक जगत् के दो स्वरूप मान्य हैं-एक वास्तविक और दूसरा तार्किक। जहाँ तक पहले का सम्बन्ध है तर्क या प्रमाण न उनका भेदक होता है न निर्धारक। किंतु तार्किक रूप पूर्णतया प्रमाण नियंत्रित होगा। यह रूप वास्तविक रूप से किस प्रकार का सम्बन्ध रखता है, यह प्रश्न कोई उठा सकता है। नव्य न्याय में इसकी चर्चा तत्त्वचिन्तामणि के अवच्छेदकत्व निरुक्ति प्रकरण में की गयी है। उसका सारांश यह है कि कुछ विद्वानों के मत में वस्तु जगत् का तार्किक रूप उसके वास्तविक रूप से भिन्न और अविश्लेष्य या अखण्डोपाधि है और कुछ के मत में यह रूप 'स्वरूप सम्बन्ध विशेष' यानि परिचित शब्दों में, वस्तु के वास्तविक स्वरूप से अभिन्न होते हुए भी उसकी तर्क विश्लेष्यता का अधिष्ठान है। मतलब यह है कि यदि विश्व एक अखण्ड तत्त्व होता तो तर्कशास्त्र उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं कर सकता था। चूँकि तर्कशास्त्र है अत: विश्व को-उसका असली मत चाहे जो हो-तर्कविषय, याने विश्लेषणार्ह मानना ही उपयुक्त होगा। यह विश्लेषणार्हता या तरह-तरह के तार्किक

सन्निवेश रचने की संभावना तर्कशास्त्र के विश्व में पूर्व कल्पित रहेगा। इसी संभावना को 'स्वरूप सम्बन्ध' कह सकते हैं।

प्राचीन न्याय उपर्युक्त दो रूपों को एक दूसरे से अलग नहीं पाया है। फिर भी वस्तु के वास्तविक रूप का नियंत्रण करना प्रमाणों का कार्य नहीं, यह बात उसे भी सुविदित है। एक ही प्रमेय -अंग्रेजी में 'फैक्ट'-अन्यान्य प्रमाणों से जैसे ज्ञात हो सकता है वैसे ही भिन्न-भिन्न प्रमेय भिन्न प्रमाणों से ज्ञात हो सकते हैं। इस सम्बन्ध में व्यवस्था है और सांकर्य भी, ऐसा भारद्वाज उदाहरण सहित अपने वार्तिक में बतलाते हैं। सारांश यह है कि प्रमाण प्रमेय परतंत्र हो या स्वतंत्र, एक दर्शन के नाते न्याय कभी नहीं कह सकता कि प्रमेय प्रमाण परतंत्र हैं। किन्तु आगे चलकर जब नव्यन्याय ने अपने ऊपर के दार्शनिक आवरण को फेंक दिया तब वह मुक्त रूप से तार्किक रूप सत्यासत्यता की पहले बताये मुताबिक चर्चा करने लगा।

प्रमाण विचार को ही प्रमेय निरपेक्ष ढंग से न्यायदर्शन आगे बढ़ाता तो उसका प्रधानतया प्रमेय विचारक अन्य दर्शनों से कोई विरोध न होता। लेकिन व्यावहारिक प्रवृत्तियों के भेद को आधार मानकर न्याय ने कुछ प्रमाण और चार प्रकार की प्रमायें निश्चित कर दीं। सम्मुख उपस्थित वस्तु को देख उसकी ओर तत्काल अग्रसर होना, परोक्ष वस्तु के सम्बन्ध में सुनकर या अन्दाज लगाकर शनै: शनै: उसकी ओर बढ़ना एवं किसी अनुपस्थित वस्तु का वर्णन सुन उसकी ओर अभिमुख होना ये वे प्रवृत्तियाँ हैं जिन पर से प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण न्याय ने ठहराये। यह वर्गीकरण पूर्णतया व्यावहारिक है। यदि प्रवृत्तियों के तरीके तीन या दो ही होते तो न्याय को चार प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं होती। न्याय के विपरीत अन्य दर्शनों का दृष्टिकोण सैद्धान्तिक है। प्रवृत्तियाँ भले ही तीन, चार या कम प्रकार की हों, यदि वस्तुओं के ज्ञान के तरीके अधिक हो सकते हैं तो, उनका प्रवृत्ति की दृष्टि से चाहे कोई भी महत्त्व न हो, उन्हें और उनके साधन प्रमाण इनको स्वीकार करना ही चाहिये। यही कारण है कि अभाव को अतिरिक्त पदार्थ मानने वाले नैयायिकों ने अभाव के ज्ञान के हेतु अनुपलब्धि जैसे एक स्वतंत्र प्रमाण की स्वीकृति की जरूरत नहीं समझी लेकिन उसी अभाव को आधार स्वरूप या शून्य मात्र मानने वाले मीमांसक, वेदान्ती आदि ने अभाव ज्ञान के लिये उक्त प्रमाण की कल्पना की। इन दर्शनों की दृष्टि सैद्धान्तिक अधिक है व्यावहारिक कम, जबकि न्याय की बात ठीक इसके विपरीत है। सिद्धान्त या एक अभ्युपगम के रूप में प्रमाणों की संख्या को कम कर दिखाना-जैसे वैशेषिक, बौद्ध व चार्वाक ने किया है, आक्षेपार्ह नहीं किन्तु उस पर से यह समझ लेना कि प्रवृत्तियाँ भी उतने ही प्रकार की हैं, यह उचित नहीं है।

एक और बात इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। प्रमाण शास्त्र होते हुए भी न्याय ने अपना उद्देश्य प्रमाणों का अन्य शास्त्रों के सामान विचार करना यह नहीं माना है। इसका कारण यह है कि इस प्रकार की प्रमाण चर्चा प्रमेय की चर्चा ही होगी क्योंकि प्रमाण भी प्रमेयों में शामिल हैं। प्रमाप के रूप में प्रमाण का विचार, याने प्रमापण पद्धति के सामान्य रूप का विचार (फार्मेलाइजेशन आफ दि प्रोसीजर आफ डिस्कवरी एंड प्रूफ) ही न्याय दर्शन का वास्तविक विषय होगा। जिस प्रकार प्रमाणों के लक्षणों के परिष्कार में न्याय ने सिर खपाया है वैसा अन्य दर्शनों ने नहीं किया है, इस बात का यही कारण है। मीमांसा और वेदान्त सम्मत अर्थापत्ति-प्रमाण का न्याय ने अनुमान में अन्तर्भाव कर दिखाया है उसके पीछे भी यही दृष्टि है। यह बात नहीं कि आपातत: परस्पर विरुद्ध तथ्यों के आधार पर उनमें सामंजस्य प्रस्थापित करने वाले अन्य तथ्य का जो उद्भावन किया जाता है वह न्याय को अमान्य है। तथापि अर्थापत्ति और अनुमान इनको प्रामाण्य की प्रक्रियाओं के रूप में सामान्य रूप दिया जाय या रूपात्मक बनाया जाय तो वह रूप एक ही होगा ऐसा न्याय का इस सम्बन्ध में मन्तव्य है। अन्य दर्शन प्रमा और

प्रमाणों का भेद दिखला कर ही संतुष्ट हो जाते हैं। अत: उनका न्याय दर्शन के साथ प्रमाण विचार सम्बन्धी मतभेद उतना मूलग्राही नहीं है जितना वह प्रतीत होता है।

यही कारण है कि प्रत्यक्ष प्रमा को चैतन्याभिव्यक्ति रूप कहने वाले वेदान्ती, अन्त:करणवृत्तिगत पुरुष चैतन्य का प्रतिबिम्ब मानने वाले सांख्य आदि सभी दार्शनिक न्याय के प्रत्यक्ष प्रमाण लक्षण को या उसके बतलाये प्रत्यक्ष विभाग को अस्वीकार नहीं करते। यही बात अन्य प्रमा और प्रमाणों पर भी लागू है। इन लक्षणों में एक बात विशेषतया उल्लेखनीय है। ये सब लक्षण तटस्थ हैं, स्वरूप लक्षण नहीं। 'प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो इन्द्रिय व विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। अनुमान वह ज्ञान है जो व्याप्ति व पक्षधर्मता इनके समुच्चित ज्ञान से उत्पन्न होता है, शाब्द ज्ञान वह है जो व्यक्त शब्द से उत्पन्न होता है।' अपने में ये विभिन्न ज्ञान क्या हैं, इस बात के सम्बन्ध में न्याय ने मूकता ही धारण की है। ऐसा करना उचित भी है। ज्ञान की प्रातिस्विक विशेषतायें इतनी सूक्ष्म और अनगिनत होती हैं कि उनको गिनाने लगने पर पाँच, छः, सात, आठ इस तरह प्रमाओं और प्रमाणों की संख्या बढ़ाते ही जाना पड़ेगा। अन्य दर्शनों ने लगभग यही तरीका अपनाया है। किन्तु प्रमापण और प्रमाण की प्रकियाओं के सामान्य रूपों की खोज ही न्याय दर्शन का लक्ष्य होने से सर्वसम्मत ऐसी तटस्थ परिभाषायें ही इन प्रक्रियाओं की उसने अपनायी हैं।

वास्तव में खोज या साक्षात्कार, यह इतना अखंड अनुभव है कि उसका सामान्यीकरण हो ही नहीं सकता। प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में यह बात स्वयं गौतम ने परोक्ष रूप में स्वीकार की है। यह उनके प्रत्यक्ष लक्षण के अंतर्गत 'अव्यपदेश्यं' इस विशेषण से जाहिर हो जाता है। प्रत्यक्ष का अनुभव शब्दव्यपदेश्य नहीं होता: तब उसका परिभाषण कैसे ? इस प्रश्न का उत्तर उसी सूत्र में यह दिया गया है कि स्वयं प्रत्यक्ष व्यपदेश्य नहीं, वह 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न' इस प्रकार से परिभाष्य हो सकता है। इसका मतलब यह हुआ कि न्याय के विचार में साक्षात्कार उतना अखंड नहीं है कि उसका परिभाषण ही नहीं हो सकता। कम से कम, विषय और उसका ज्ञान इनका भेद जब तक बना हुआ है तब तक साक्षात्कार को भी परिभाषेय मानने में कोई हर्ज नहीं होना चाहिये। वेदान्त आदि दर्शनों को विषय और ज्ञान का मौलिक भेद ही मान्य नहीं, अत: उनके लिये प्रत्यक्ष पूर्णतया साक्षात्कारात्मक हो सकता है। ईश्वर के तथा योगियों के ज्ञान के सम्बन्ध में नैयायिकों को थोड़ी कठिनाई का जरूर सामना करना पड़ता है। ईश्वर और योगी इनको सीधे वस्तुओं का ज्ञान होता है, इन्द्रिय-सन्निकर्ष जैसे साधनों की उन्हें ज्ञान के लिये आवश्यकता नहीं होती। इस पर यह कहा गया है कि योगियों को भी त्रिकाल ज्ञान के लिये एक त्रैकालिक योगज सन्निकर्ष की जरूरत होती ही है। रही बात ईश्वर ज्ञान की। उसकी प्रत्यक्षता को बचाने के लिये प्रत्यक्ष को 'ज्ञानाकरणक ज्ञान' इस तरह परिभाषित कर दिया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष अनुमान के समान व्याप्तिज्ञान जैसे कारणों पर निर्भर नहीं करता और ईश्वर का प्रत्यक्ष किसी भी कारण पर निर्भर करता नहीं प्रतीत होता। तथापि प्रत्यक्ष का सामान्य रूप निर्धारित करना हो तो 'ज्ञान रूप करण रहित जो ज्ञान है वह प्रत्यक्ष है' ऐसी परिभाषा कर सकते हैं। इस पर साफ जाहिर है कि प्रत्यक्ष को पूर्ण साक्षात्कार के रूप में देखना न्याय को अमान्य है। बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष ही नहीं मनोवृत्तियों का प्रत्यक्ष भी 'आत्ममन: सन्निकर्ष' से संभव होता है यह कह कर उसकी भी साक्षात्कारिता को न्याय ने अस्वीकार कर दिया है। अनुमान, उपमान और शब्द तो साक्षात्कार स्वरूप हैं ही नहीं, अत: उनके सन्बन्ध में कोई प्रश्न उठता नहीं। इस तरह प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रियाओं का सामान्यीकरण करने वाले प्राचीन न्याय को हम यह नाम दें तो कोई गलती नहीं होगी।

न्याय दर्शन में से नव्यन्याय के या शुद्ध तर्कशास्त्र के उद्गत होने के कई महत्त्वपूर्ण कारण हैं। जैसाकि पीछे निर्देश किया जा चुका है, मूल न्यायदर्शन में जो कल्पना अन्तर्निहित थी उसी का नव्यन्याय

ने उद्भावन किया है, एक नये विचार संप्रदाय को उसने सहसा प्रकाश में नहीं लाया है। सामान्यीकरण या विश्लेषण की प्रवृत्ति प्राचीन न्याय में विद्यमान ही थी, अनावश्यक प्रमेय सम्बन्धी विचारों के कारण यह अभिभूत सी हो गई थी। नव्यन्यांय ने प्रमेय विचार को बिल्कुल तिलांजलि देकर इस प्रवृत्ति का स्पष्टतया उद्भावन किया। इस रूपांतरण की प्रक्रिया में न्याय को बौद्धों के आक्षेपों से बड़ी मदद मिली है। हीनयान या वैभाषिक संप्रदाय ने एक-एक स्कंध का विभाजन करते करते जब उनकी समुच्चित संख्या सैकड़ों तक पहुँचा दी तब सौत्रान्तिकों ने वस्तु मात्र को स्वलक्षण और सामान्य लक्षण इन दो ही वर्गों में समाविष्ट कर वैभाषिकों के निर्मित स्कंध विभाग के जंजाल को एक बारगी ही खतम कर दिया। इन दो प्रमेयों के आधार पर दो ही प्रकार के प्रमाण उन्होंने स्वीकार किये। इस तरह वस्तु दर्शन के बंधन से युक्त और ज्ञानमीमांसा पर आधारित ऐसे एक नये ढंग के तर्कशास्त्र की बौद्धों ने रचना की। न्याय ने बौद्धों के वस्तु विभाग का खंडन जरूर किया-जैसे कि उदयनाचार्य के बौद्धाधिकार जैसे ग्रंथों से स्पष्ट है। लेकिन वेदान्त, मीमांसा आदि आस्तिक दर्शनों को भी वस्तुमीमांसा के क्षेत्र में न्याय के साथ विरोध था जिसका निराकरण करने में ही नैयायिक लग जाते तो मुख्यतया तार्किक स्वरूप की समस्याओं का वे विचार नहीं कर पाते। स्वयं कुछ नैयायिक ही न्याय के परंपरागत वस्तुदर्शन पर आघात करने लगे। इस प्रतिक्रिया का सूत्रपात भट्ट कुमारिल के शिष्य प्रभाकर या 'गुरु' ने किया जिन्हें थॉमस शर्बाट्स्की ने 'बास्टर्ड सन आफ बुद्धिस्ट' यह अन्वर्थ संज्ञा दी है। नैयायिकों के समान व्यवहारवादी होते हुए भी प्रभाकर कई बातों में बौद्धों के सरलीकृत वस्तुदर्शन के पुरस्कर्ता थे। अत: उनके आक्षेपों का निरसन करना नैयायिकों को अपनी व्यावहारिक भूमिका के रक्षण के लिए अनिवार्य हो गया। नव्यन्याय के आकर ग्रंथ तत्त्व चिन्तामणि की रचना इस उद्देश्य की पूर्ति को लक्ष्य बनाकर ही की गयी। यह ग्रंथ मिथिला के महातार्किक गंगेशोपाध्याय ने दसवीं सदी के लगभग लिखा। इसकी विशेषता यह है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य; या पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश जैसे पदार्थों का उल्लेख तक इसमें नहीं किया गया है। केवल उन्हीं पदार्थों की चर्चा इसके प्रत्यक्ष खंड में की गयी है जो तर्कशास्त्र की रचना के लिए अनिवार्यता अपेक्षित हैं। ये पदार्थ अभाव, समवाय, अर्थात् वस्तुओं का आन्तरिक सम्बन्धी सन्निकर्ष या वस्तुओं के बाह्य सम्बन्ध एवं मन, जो ज्ञान का आंतरिक कारण है, इत्यादि हैं। अवशिष्ट पदार्थों के सम्बन्ध में गंगेशोपाध्याय मौन हैं। यदि प्रमाणत: उनका अस्तित्त्व सिद्ध हो तो उन्हें मानने में हर्ज नहीं, अन्यथा उनका स्वीकार अनिवार्य नहीं, ऐसी उनकी भूमिका प्रतीत होती है। 'बुद्धया यदुपपन्नं तन्न्यायमतं' यह प्राचीन कहावत इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है। यदि बौद्धों के आक्षेपों ने प्राचीन न्यायदर्शन को अपना दार्शनिक वेग छोड़ अपने शुद्ध तर्कशास्त्रीय रूप में प्रकट होने के लिए बाध्य किया तो स्वयं बौद्धों का तर्कशास्त्र ज्ञानमीमांसात्मक ही कैसे अंत तक बना रहा ? इस प्रश्न का उत्तर बौद्धों की सम्बन्ध विषयक विचार सरणी में प्राप्त होता है। यदि स्वलक्षण ही सत्य है तो सम्बन्ध कभी सत्य नहीं हो सकता और यदि सम्बन्ध सत्य नहीं तो उस पर आधृत तार्किक रचनायें भी सत्य नहीं हो सकतीं। यही बौद्ध तर्कशास्त्रियों का इस सम्बन्ध में अभिप्राय है। किन्तु बौद्धों से नये विचार की प्रेरणा लेकर भी नव्य नैयायिकों ने आन्तरिक व बाह्य इन दोनों प्रकार के सम्बन्धों को मानकर वस्तु जगत् के तार्किक आकारों के विस्तार की पद्धति की नींव डाली। सम्बन्ध कल्पना नव्यन्याय के लिए कितनी महत्त्वपूर्ण है यह अगले विवेचन से स्पष्ट होगा ही किन्तु नव्यन्याय के अनुगमों और परिष्कारों से जो परिचित हैं उन्हें बिना बताये भी यह बात ज्ञात हो जाएगी। अनुगम या परिष्कार यह विश्लेषणार्ह वस्तु स्वरूपों के घटकों का परस्पर सम्बन्ध प्रदर्शित करने का तरीका है। यह सम्बन्ध तार्किक हुआ करता है। वास्तविक या वस्तुनिष्ठ सम्बन्धों के जैसा यह सम्बन्ध नहीं होता। इसीलिए इसे 'वृत्ति नियामक सम्बन्ध' कहा जाता

है जिसका मतलब ऐसे सम्बन्ध से है जो प्रत्यक्ष वस्तुजगत् के पदार्थों के अन्तर्गत भले ही न हो, वह उन पदार्थों के तार्किक स्वरूपाविष्कार में जरूर उपयुक्त साबित होता है। प्राय: सभी तार्किक रचनायें या परिष्कार ऐसे ही सम्बन्धों से घटित हुआ करते हैं। तार्किक सम्बन्ध चाहे जिस प्रकार गढ़े जाते हैं लेकिन उनकी कल्पना के पीछे यह विचार होता है कि किसी वस्तु का वास्तविक स्वरूप जैसा भी हो उसका तार्किक परिष्कार करने के कई ढंग हो सकते हैं। उदाहरणत: मेज पर पुस्तक न होना एक सामान्य सरल तथ्य है। इसका तार्किक रूप 'मेज में पुस्तक से भिन्न कुछ है,' 'मेज पुस्तक के संसर्गाभाव का अधिकरण है', 'पुस्तकाभाव मेज रूप आधार का आधेय है', अधिक नपे तुले शब्दों में, 'मेज स्वावच्छिन्न प्रतियोगिता निरूपकत्व सम्बन्ध से पुस्तकत्व से संबद्ध अभाव से युक्त है,' इन विभिन्न तरीकों से व्यक्त किया जा सकता है। जो तथ्य बिल्कुल सरल प्रतीत होता है वह वैसा ही होता है ऐसा मानना कम से कम तर्कशास्त्री के लिए तो उचित नहीं। सामान्य तथ्य एक अनाड़ी भी जान सकता है लेकिन, जैसा प्रो. मूर कहते हैं, ऐसे तथ्यों का पूर्ण विश्लेषण एक अतीव कठिन समस्या हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। बौद्धों ने सम्बन्ध कल्पना का खंडन कर अपने तर्कशास्त्र की प्रगति का मार्ग अवरुद्ध कर डाला जबकि नव्यन्याय ने बौद्ध तर्कशास्त्र से ही प्रेरणा प्राप्त कर तार्किक सम्बन्ध निर्मित तार्किक रूपों के विस्तार की नयी पद्धति ढूँढ़ निकाली जिसका प्रयोग व्याकरण से लेकर वेदान्त तक किया जाने लगा। इस पद्धति के उद्भावन के अनंतर न्यायेतर सभी दर्शनों में, जैसे व्याकरण में लघु मंजूषा नामक ग्रंथ में रूढ़ परिभाषाओं और कल्पनाओं को नपा तुला रूप दिया गया और नव्य व्याकरण, नव्य मीमांसा, नव्य वेदान्त के नामों से इस नई विचार पद्धति की प्रतिष्ठापना हुई।

तत्त्वचिन्तामणि नामक ग्रंथ का कुछ पूर्व निर्देश किया गया है। नव्यन्याय की नींव यद्यपि इसी ग्रंथ ने डाली तथा उसका विशुद्ध तार्किक निगमन संस्थान के रूप में आविष्कार उसके अनुमान खंड और उस पर लिखी गयी दीधिति जैसी टीकाओं और उन टीकाओं पर लिखी गई विशाल टीकाओं-जागदीशी, गादाधरी आदि-ने किया। अब न्याय का पूर्वतन स्वरूप, जिसका पीछे वर्णन किया गया था, नहीं रह जाता। खोज से न्याय का कोई प्रयोजन नहीं। उसका लक्ष्य सिद्ध करना या साधन की प्रक्रिया का विश्लेषण करना हो जाता है। अंग्रेजी में इसे 'फारमेलाइजेशन ऑफ प्रूफ प्रिसीडैंस' ऐसा नाम दे सकते हैं। न्यायशास्त्र के इस रूपांतरण की संभावना वाचस्पति मिश्र के ही इन वाक्यों में दिखलाई पड़ती है- 'प्रत्यक्षदृष्टमप्यर्थे अनुमानेन बुभुत्संते तर्करसिका: नहि करिणी दृष्टे चीत्कारेण तमनुभिमतेऽनुमातार:।' इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष वस्तु को भी अनुमान निष्कृष्ट करना अर्थात् प्रत्यक्ष तथ्यों का भी अन्य आधारभूत तथ्यों के साथ निमगनात्मक संघटन करना तर्कशास्त्र के लिए एक काफी महत्वपूर्ण बात हो सकती है। यह बात अलग है कि किसी व्यावहारिक प्रयोजन से ऐसी बात नहीं की जाती। अन्यथा सामने खड़े हाथी को देखते हुए भी कोई तर्कशास्त्री यह अनुमान करने लगेगा कि 'चूँकि यह प्राणी चिंघाड़ता है इस लिये यह हाथी है।' इस कथन में व्यंग्य यह है कि ऐसा तर्क किस काम का जिसका प्रारंभ के पहले ही अंत हो जाय। हाथियों में तर्क शास्त्र का लिहाज देखा नहीं गया है।

नव्यन्याय का लक्ष्य ऊपर बताये मुताबिक निगमनात्मक संस्थानों के स्परूप तथा निर्धारकों का विचार करना ही है। इस बात का यह भी एक प्रमाण है कि जो आनुमानिक निष्कर्ष कभी किसी के द्वारा स्वाभाविक रूप से नहीं प्रस्तुत किये जा सकते उन सबकी सद्धेतुक अनुमानों में गणना नव्य न्याय में कर ली गयी है। उदाहरण के तौर पर यह अनुमान लीजिये - 'अयं आत्मत्व प्रकारक प्रमा विशेष्यत्वाभाववात् आत्मत्वात्।' स्वयं कोई इस प्रकार के अनुमान कर ही नहीं सकता लेकिन किसी के समझाने पर भी पक्ष, साध्य, हेतु इस अनुमान में क्या है यह भी वह समझ ले तो बड़ी बात होगी। नव्यन्याय कल्पित अनुमानों में यह तो एक बहुत ही सीधा सा उदाहरण है। इस पर से यह बात हमारे सामने आती है कि

किसी निष्कर्ष के पीछे अनुमान की स्वाभाविक मानसिक प्रक्रिया है या नहीं यह ढूँढ़ निकालना नव्यन्याय अपना कार्य नहीं समझता। मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया घटित न होने पर भी किसी निष्कर्ष को उसके आधार वाक्यों के साथ एक तार्किक संस्थान में निबद्ध किया जा सकता है और इसी के सम्बन्ध में नव्यन्याय को विस्तृत जानकारी प्राप्त करनी है।

इस सम्बन्ध में अनुमान की परिभाषा की ओर दृष्टिपात कर लेना अस्थाने नहीं होगा। विशेषकर इसलिए कि इस परिभाषा के अंतर्गत व्याप्ति, पक्षधर्मता और परामर्श ये जो अनुमान की निर्धारक बातें बतलायी गयी है उनके विश्लेषण में हजारों पृष्ठ लिखे गये हैं। अनभिज्ञ व्यक्ति इन पृष्ठों पर दृष्टिपात करे तो वह इन्हें निरर्थक शब्दजाल ही समझ ले तो आश्चर्य की बात नहीं। उक्त विश्लेषण का एक अतीव सामान्य उदाहरण आगे चलकर हम प्रस्तुत करेंगे जिस पर से विद्वान श्रोतागण जो निष्कर्ष निकालना चाहें निकाल लें। इसके पूर्व अनुमान के निर्धारकों का थोड़ा विचार कर लें। व्याप्ति और पक्षधर्मता ये बहुत ही सामान्य और सुविदित हेतु की विशेषतायें प्रतीत होती हैं। मध्यपद अनुमान में व्याप्त होना चाहिये। ये विशेषतायें तो बहुत सुगम हैं, तो फिर क्या कारण है कि नव्यन्याय को इनके स्पष्टीकरणार्थ हजारों पृष्ठ रंगने पड़े ? उत्तर यह है कि एक ज्ञात तथ्य पर से दूसरे अज्ञात तथ्य की ओर संक्रमण की जो प्रक्रिया है वह एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के रूप में भले ही सीधी-सादी प्रतीत हो, किन्तु न वह सीधी-सादी है, न केवल मनोवैज्ञानिक। आधुनिक तर्कशास्त्र ने भी यह बात स्वीकार की है लेकिन आधार वाक्यों से निष्कर्ष के निगमन की प्रक्रिया को किसी न किसी प्रकार के संक्रमण में ही और वह भी मनोवैज्ञानिक स्वरूप में, उन्होंने समझा है ऐसा प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में विट्गन्स्टाइन द्वारा फाउंडेशन्स आफ मेथेमेटिक्स के पहले कुछ पृष्ठों में अनुमान प्रक्रिया का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है वह द्रष्टव्य है। सामान्य आधार वाक्य से निष्कर्षण यह या तो निष्कर्षण के किसी सामान्य नियम का निष्कृष्य तथ्य के सम्बन्ध में प्रयोग होगा या सामान्य तथ्य से सम्बन्धित किसी चित्र का प्रसंग विशेष में प्रयोग होगा। इन विकल्पों में से अंतिम को विटगेंस्टाइन ने स्वीकार किया है। हमारे लिये महत्त्वपूर्ण जो बात है वह यह है कि अनुमान की प्रक्रिया मनोवैज्ञानिक होते हुए भी अनुमान की प्रामाणिकता आधार वाक्य और निष्कर्ष इनके तार्किक सम्बन्ध पर ही निर्भर माननी चाहिए। अनुमानों के जो प्रमुख तीन प्रकार अर्वाचीन तर्कशास्त्रियों ने प्रतिपादित किए हैं उनके निष्कर्षण के नियम आपाततः तार्किक हैं लेकिन हैं वे मनोवैज्ञानिक। उदाहरण के तौर पर एक सांसर्गिक अनुमान लीजिए 'अ सं ब, ब सं क, अतः अ सं क।' इसमें सम्बन्ध अपरगामी होने के कारण आधार वाक्यों से निष्कर्ष प्राप्त किया गया है। यह अपरगामिता संसर्ग की एक वास्तविक विशेषता है। इसके आकलन से अनुमान करने वाला व्यक्ति आधार वाक्यों से निष्कर्ष की ओर अग्रसर होता है। इस तरह यह निष्कर्षण मनोवैज्ञानिक हुआ। लेकिन तार्किक रूप में भी यह निष्कर्षण नहीं है इसका क्या प्रमाण हो सकता है ? वस्तुतः सत्य अनुमान भी अतार्किक होते ही हैं। अनुमान की निगमनात्मक संस्थान के रूप में रचना का विचार करते समय मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं को बिल्कुल भुला देना चाहिए। यही कारण है कि अनुमान का सर्वप्रथम वर्गीकरण स्वार्थ और परार्थ ऐसा नव्यन्याय ने प्रस्तुत किया है। स्वार्थ अनुमान मनोवैज्ञानिक पद्धति से चलता है, उसका सामान्यीकरण नहीं हो सकता। परार्थ अनुमान ही कोई बात सिद्ध करने का तार्किक तरीका है। इस तरीके का विश्लेषण करते हुए नव्य नैयायिकों ने बाल की खाल उधेड़ कर रख दी है। अनुमान के तार्किक नियामक-व्याप्ति और पक्षधर्ममा-की अनेकानेक परिभाषाओं का खंडन-मंडन करने में उलझे हुए इन तार्किकों का उद्देश्य यह प्रतीत होता है कि तर्क का कार्य निष्कर्ष की तार्किकता परखना है, याने निष्कृष्ट तथ्य और आधारभूत तथ्य इनके शुद्ध तार्किक (वास्तविक नहीं) सम्बन्ध का ही परीक्षण करना है। इस बात को ध्यान में रखने पर अनुमानों के ऐसे दो विभाग और इन विभागों के भी

उपविभाग, जो आधुनिक तर्कशास्त्र ने बनाये हैं, उनकी आवश्यकता नहीं रह जाती। सब प्रकार के अनुमान एक ही संस्थान में बैठाये जा सकते हैं, इस तरह के विभाजन जितने सामान्य स्वरूप के होने चाहिये उतने होते भी नहीं। वर्ग समावेश, सम्बन्ध की अपरगामिता और आपादन ये सीमित कल्पनायें हैं जो सब तरह के विचार्य विषयों को लागू नहीं होतीं। गणित जैसे अन्यान्य शास्त्रों में विशेष प्रकार के निगमन आवश्यक हों तो वहीं उनकी चर्चा किया जाना उपयुक्त होगा। तर्कशास्त्र का तो कार्य अनुमान सामान्य के स्वरूप का निर्धारण करना है।

यह निर्धारण किसी वस्तुनिष्ठ सम्बन्ध विशेष के द्वारा नहीं किया जा सकता। उदाहरणत: धूम से अग्नि का अनुमान धूम और वह्नि के साहचर्य ज्ञान की मदद से हुआ करता है। लेकिन यह साहचर्य कहीं अनुमान कराता है कहीं नहीं, इसका क्या कारण है? कह सकते हैं कि साहचर्य नियमित, याने अव्यभिचारी होना आवश्यक है। अब 'अव्यभिचार' का अर्थ बतलाना होगा। यदि 'साक्ष्य जहाँ नहीं वहाँ, हेतु का न होना' ऐसा वस्तुगत रूप में अव्यभिचार का अर्थ लगायें तो जो साक्ष्य सर्वत्र है उसका अनुमान ही असंभव हो जायगा। जैसे यह अनुमान लीजिये-'यह शब्द वाक्य है क्योंकि यह ज्ञेय है।' इसमें 'वाच्यत्व' रूप साक्ष्य सर्वत्र विद्यमान होने से उसके अभाव से घटित अव्यभिचार की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इस पर एक नयी कल्पना तत्त्वचिन्तामणि के अनुमान खंड के व्यधिकरण प्रकरण में प्रस्तुत की गयी है। वह कल्पना व्यधिकरण धर्मावच्छिन्नाभाव की है। वस्तु के सामान्य अभाव से तो हम परिचित होते हैं। किन्तु एक नये प्रकार का अभाव लीजिये : कोई पूछे कि जहाँ पुस्तक विद्यमान है वहाँ वह पुस्तक के रूप में है या घड़े के रूप में ? तो उत्तर यहाँ दिया जायगा कि पुस्तक घड़े के रूप में ही विद्यमान नहीं, जिसका मतलब यह है कि घड़े के रूप में पुस्तक का अभाव सर्वत्र है। अब वाच्यत्व जैसे अनुमेयों के सम्बन्ध में ऐसे व्यधिकरण धर्मावच्छिन्नाभाव की शरण ली जा सकती है। वाच्यत्व सर्वत्र विद्यमान है किन्तु वाच्यत्व के रूप में ही। अत: स्वरूप में वाच्यत्व का अभाव-संस्कृत में 'घटत्वेन वाच्यत्वं नास्ति'-सर्वत्र विद्यमान होगा। अभाव की समस्या तो इस तरह हल हो जाती है लेकिन ऐसे अभाव से युक्त सब वस्तुओं में ज्ञेयत्व विद्यमान होने के कारण वह व्यभिचरित हो जायेगा। इस आपत्ति के निरास के लिये व्यधिकरण प्रकरण में चौदह विभिन्न प्रकार के व्याप्ति लक्षणों की चर्चा की गयी है। परिचित शब्दों में, यह व्याप्ति रूप सम्बन्ध के शुद्ध तार्किक स्वरूप के परिष्कार का प्रयास है। एक ही लक्ष्ण का बिल्कुल मोटे तौर पर स्पष्टीकरण हम यहाँ प्रस्तुत करेंगे। यह लक्षण महातार्किक रघुनाथ शिरोमणि का है। संस्कृत में यह इस प्रकार है-'यत्समानाधिकरण .... स्वविशिष्ट हेत्वधिकरणावच्छेदेने प्रतियोगिसमानाधिकरणास्तत्त्वम्।' इसका स्पष्टीकरण क्रमश: इस प्रकार है। हेतु के साथ एकाधिकरण ऐसे जितने अभाव हैं उनके प्रतियोगी साध्यव्यापक होने चाहिये। ऐसे जितने अभाव हैं वे सब अपने से युक्त हेत्वधिकरण में अपने प्रतियोगी के साथ एकाधिकरण हों। उदाहरणत: पिछला अनुमान लीजिये। घटत्वेन वाच्यत्वाभाव सर्वत्र होने से किसी भी हेतु के साथ एकाधिकरण होगा। इसका प्रतियोगी वाच्यत्व भी सर्वत्र होने से किसी भी साध्य का व्यापक होगा। इसी प्रकार अपने से युक्त सभी ज्ञेयत्वाधिकरण स्थानों में यह अपने प्रतियोगी वाच्यत्व के साथ-(सर्वत्र विद्यमान होने से) एकाधिकरण भी होगा। अब एक असदनुमान लीजिये जहाँ यह लक्षण घटित नहीं होना चाहिये। 'यहाँ धूम है क्योंकि यहाँ अग्नि है' यह असदनुमान है। यहाँ जैसे कोई व्यधिकरण धर्मावच्छिन्नाभाव ले सकते हैं वैसे ही सीधा-सादा धूम रूप साध्य का अभाव भी ले सकते हैं। यह अगिन के साथ कुछ स्थानों में एकाधिकरण है और इसका प्रतियोगी धूम स्वयं साध्य होने के कारण वह साध्य व्यापक भी है। तथापि अपने से युक्त निर्धूम ऐसे साग्निक प्रदेशों में यह प्रतियोगी धूम के साथ एकाधिकरण नहीं।

अव्यभिचार को तार्किक रूप देने के ऐसे कई प्रयास किये गये लेकिन उन सबका इसलिये

परित्याग कर दिया गया कि वे व्यधिकरण धर्मावच्छिन्नाभाव की एक संदिग्ध कल्पना कर आधारित हैं। अंत में सिद्धान्त लक्षण में पूर्णतया तार्किक तथा सामान्यकृत रूप में व्याप्ति का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। उसको विशद करने के फेर में न पड़ते हुए इतना ही कह कर हम आगे बढ़ेंगे कि इस रूप में अनुमान की मनोवैज्ञानिक संक्रमणशीलता का लेश भी नहीं है और यह किसी भी वस्तुगत सम्बन्ध के स्वरूप से मिलता-जुलता नहीं है।

अब कुछ पक्षधर्मता के सम्बन्ध में भी बतला देना अनुचित न होगा। हेतु का पक्ष में उपस्थित होना यह एक आधार वाक्य के रूप में अनुमान की आवश्यक शर्त है। किन्तु इसका भी तार्किक रूपान्तरण जरूरी है। मान लें कि निष्कर्ष पहले ही से ज्ञात है फिर भी उसके निष्कर्षण की अनुमाता को इच्छा हो सकती है। ज्ञात बात की उपपत्ति सर्वथा ज्ञात ही होती है ऐसा नहीं। अत: अज्ञातोपपत्तिक ऐसी ज्ञात बात के निष्कर्षण की इच्छा होने पर उसका पुन: ज्ञान प्राप्त किया ही जा सकता है। ऐसे ज्ञान में नावीन्य भले ही न हो निगमन के रूप में उसमें त्रुटि नहीं होगी। नावीन्य अनुमान का मनोवैज्ञानिक निर्धारक माना जा सकता है। किन्तु अनुमान की शर्तों को पूर्ण तार्किकता प्रदान करता हो तो इसे भी छोड़ना होगा। पक्षता नामक विस्तृत प्रकरण में इस बात की चर्चा की गई है और 'हेतु की पक्षगतता' की वास्तविक आनुमानिक शर्त को बदल कर 'अनुमित्सा अभाव कालीन सिद्धि सामग्री विशेषाभाव' ऐसा उसका रूपांतरण किया गया है। अधिक यहाँ 'अनुमित्सा' का अर्थ 'अनुमान करने की इच्छा' यह है और 'सिद्धि' का अर्थ पक्ष में साध्य का अनुमान पूर्व ज्ञान है। उक्त परिष्कार का मोटे तौर पर मतलब यह है कि पूर्व ज्ञात निष्कर्षों को सोपपात्ती के जानने की इच्छा हो तो यह बात विशेष परिस्थितियों में घटित हो सकती है।

अब तक नव्यन्याय के अनुमान विभाग के अंतर्गत लगभग तीस प्रकरणों में से दो एक प्रकरणों में चर्चित बातों का नाम निर्देश भर ही यहाँ किया गया है। उनकी गहराई में जाने के लिए न समय है न अवसर ही। किन्तु इतने पर से भी नव्यन्याय के स्वरूप का कुछ आभास तो मिल ही जायेगा। अब कुछ शेष महत्त्वपूर्ण बातों का संक्षिप्त जिक्र कर भारतीय तर्कशास्त्र का सिंहावलोकन समाप्त करेंगे। इस संदर्भ में केवल तुलना के हेतु आधुनिक तर्कशास्त्र के सम्बन्ध में कुछ बातों का हम निर्देश करेंगे। संभव है ये बातें यहाँ उपस्थित कुछ विद्वानों को न जँचे। तथापि भारतीय और अर्वाचीन तर्कशास्त्रों के फर्क का यथावत् आकलन करने की दृष्टि से इन बातों का उल्लेख टाला नहीं जा सकता।

भारतीय तर्कशास्त्र किसी भी प्रकार का गणित नहीं है। वर्ग, सम्बन्ध या प्रस्थापनायें इनके विविध संभाव्य सन्निवेशों की एक गाणितक प्रक्रिया तैयार करना तर्कशास्त्र का अध्येय विषय यहाँ कभी समझा नहीं गया है। यह तर्कशास्त्र की न्यूनता समझी जा सकती है, क्योंकि गणित और तर्कशास्त्र इन दोनों का कुछ इनीगिनी तार्किक मूल कल्पनाओं से निष्कर्षण कर इनका एक ही शास्त्र में समावेश यह बीसवीं सदी की बहुत बड़ी दार्शनिक सूझ समझी जाती रही है। एक समय था जब इस सूझ का बहुत बोलबाला था। लेकिन अब इसके विरुद्ध आवाजें उठने लगी हैं। प्रोफेसर बलन्शार्ड की यह उक्ति ही लीजिए-

P.M. is an almost incredible technical achievement; the whole logic of Aristotal. .... makes only a small enclosure within it; and the logic of Lotse and Hegel, of sigwart, Johnson, and Bredley, have nothing of its virtuosity in the weaving of symbolic chains. .... But it would be a serious philosophical loss if the illuminating older disciplines were to be abondoned for one which, despite its ingenuity, completeness, and order is in comparison mechanical and external, Russell argued in his earlier days that mathematical logic was the essence of philosophy. If it is, one can only deplore with Marx, 'La misese de la philosophy.'

आधुनिक सांकेतिक तर्कशास्त्र की निगमन पद्धतियों का ध्यान पूर्वक विचार करने पर कैनार्ड का कथन अतिरंजित नहीं प्रतीत होता। मेरे विचार में इस तर्कशास्त्र के लिए मैथिमैटिकल लॉजिक के बजाय लॉजिक ऑफ मैथेमैटिक्स यह अभिधान अधिक उपयुक्त होगा। शुद्ध गणित के समीकरणों के समता चिन्ह का प्रयोग करने पर इस तथाकथित तर्क शास्त्र के प्रस्थापना आदि सम्बन्धी नियम प्राप्त हो जाते हैं। आपादन को भी समता में परिवर्तित कर सकते हैं क्योंकि 'प ⊃ फ' का अर्थ '~ (प ~ फ) = ~ प V फ' ऐसा ही किया जाता है। अब गणित के अंतर्गत निगमनों और तर्कशास्त्रीय निगमनों में नाम मात्र ही फर्क है। तब गणित को तर्क शास्त्र की ही एक शाखा क्यों न मान लिया जाय ? कह सकते हैं कि इन दोनों शास्त्रों की आधारभूत कल्पनायें तार्किक हैं न कि गाणितिक अतएव इनसे उद्भूत और विकसित शास्त्र को तर्कशास्त्र ही कहना चाहिये। लेकिन क्या तर्क की मूल कल्पनायें इतनी विचार्यवस्तु निरपेक्ष हैं जितना वे समझी जाती हैं ? सही बात तो यह है कि आधुनिक तर्कशास्त्री गणित और तर्क के एक महत्त्वपूर्ण अंतर को ही भुला दे रहे हैं। गणित एक स्वयंपूर्ण अवधारणा संस्थान है, किन्तु तर्कशास्त्र कितना भी निर्दोष क्यों न हो वह पूर्णतया वस्तु सत्य निरपेक्ष ऐसा संस्थान नहीं हो सकता। गणित पूर्णतया आकारवादी हो सकता है हालांकि इस विचार सरणी पर रसेल, रैम्से इत्यादि ने यह आक्षेप उठाया है कि गणित शुद्ध आकारवादी होगा तो वह हिसाब आदि के काम नहीं आता। यह आक्षेप निराधार है। जो गाणितिक कल्पनायें हिसाब के काम आती हैं उनका गणित शास्त्र में कोई स्थान नहीं होता। तर्कशास्त्र में ऐसी बात नहीं। वास्तविक निष्कर्षों और उनके आधार वाक्यों की पारस्परिक संघटना को विशद करना यही तर्कशास्त्र का काम है, अत: वह गणित के समान स्वयंपूर्ण किसी हालत में नहीं हो सकता।

अत: किसी वस्तु जगत् के साथ प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध बनाये रखना तर्कशास्त्र के लिये आवश्यक हो तो उसे किसी प्रकार का गणित मानना उचित नहीं होगा। तब फिर तर्कशास्त्र की रचना का प्रयोजन क्या होगा ? इस सम्बन्ध में श्री कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य का एक मन्तव्य नव्यन्याय की भूमिका से बहुत मिलता जुलता है। वे कहते हैं :-

The forms of meaning as discussed in logic are a kind of entity that must be said to be believed in, but it would be absurd to say that they are real. They are believed in as not real and yet not nothing, or in other words, as-self-subsistent .... Metamphysics defines itself in logic.

वस्तुओं के तार्किक रूप को इस परिच्छेद में स्वयंपूर्ण कहा गया है और तर्कशास्त्र का कार्य इस रूप का विशदीकरण बतलाया गया है। तत्त्वचिन्तामणि दीधिति के अनुमान खंड के सिद्धान्त लक्षण प्रकरण के अंत में रघुनाथ शिरोमणि इसी मत को दूसरे शब्दों में व्यक्त करते प्रतीत होते हैं। उनका वाक्य यह है -

'विषयतातत्त्वादिवत् प्रतियोगित्वाधिकरणत्व संसर्गत्वादयोऽव्यतिरिक्ता एवं पदार्था इत्येकदेशिन:।'

अर्थात् कुछ तार्किकों के विचार में, जिन प्रतियोगिता, अधिकरणता आदि अवधारणाओं के जरिये वस्तुओं के तार्किक रूपों का परिष्कार किया जाता है वे अपना स्वयंपूर्ण अस्तित्त्व रखती हैं। कुछ अन्य तार्किक पीछे स्पष्ट किये मुताबिक इन्हें 'स्वरूप' सम्बन्ध के विविध प्रकार समझते हैं। तर्कशास्त्र का कार्य इन प्रकारों का जितना स्पष्टीकरण हो सके उतना करते रहना है।

संकेतों के द्वारा यह स्पष्टीकरण हो सकता है, यह निरा भ्रम है। 'सब मनुष्य मर्त्य हैं' इस सामान्य वाक्य का आधुनिक सांकेतिक स्पष्टीकरण लीजिये : यदि कोई वस्तु मनुष्य है तो वह मर्त्य भी है (क्ष)

{म (क्ष) ⊃ मृ (क्ष)} यहाँ 'कोई वस्तु' 'यदि तब' इत्यादि तथाकथित तार्किक स्थिर पदों के लिए सुन्दर संकेत गढ़ लिये गये हैं। लेकिन क्या इन पदों से निर्देश्य कल्पनायें अविश्लेष्य हैं? कम से कम नव्यन्याय तो ऐसा मानेगा नहीं। 'कोई वस्तु' के लिये 'वस्तुत्व ज्ञापक' या 'वस्तुत्व समानाधिकरणात्यन्ताभावा प्रतियोगी' ऐसा नव्यन्याय का विश्लेषण होगा। 'यदि तब' के लिये 'व्याप्य' या 'तद्भाववद्वृत्ति' यह विश्लेषण होगा। किन्तु उक्त पदों को स्थिर पद मान लेने पर तर्कशास्त्र के लिये प्रस्थापनाओं के निष्कर्षण के सिवा दूसरा काम नहीं रह जाता। संकेत वस्तु या तथ्य की अंतर्गत रचना के यथावत् निर्देशक हों इसलिये आवश्यक है कि इन विश्लिष्ट वस्तुओं के स्वरूप, संज्ञायें और इनके परस्पर सम्बन्ध निश्चित कर लिये जाय। एक उदाहरण लीजिये 'यहाँ पुस्तक नहीं है' यह एक सरल तथ्य है। एक अनाड़ी भी इसे समझ लेता है। किन्तु इसका कैसे विश्लेषण किया जाय? मान लीजिये यहाँ पुस्तक तो है लेकिन आदमी नहीं, तब 'पुस्तक और आदमी दोनों मिलकर यहाँ नहीं' ऐसा कह सकते हैं। इस न होने में और केवल पुस्तक के न होने में क्या फर्क है? कह सकते हैं कि पहला 'न होना' या अभाव पुस्तक मात्र का है और दूसरा पुस्तक और आदमी इन दोनों का अभाव है। अब 'मात्र' का अर्थ विशद् करना होगा। वह यह होगा कि केवल पुस्तक का अभाव पुस्तक से संबद्ध है। पुस्तकेतर से संबद्ध नहीं है। इसका मतलब यह होगा कि अभाव का वस्तु से सम्बन्ध है। मान लें कि यह सम्बन्ध प्रतियोगी रूप है अत: इसे 'प्रतियोगिता' यह नाम हम देते हैं। अब 'पुस्तक का भाव' का सही-सही अर्थ 'पुस्तक जिसका प्रतियोगी है और पुस्तकेतर जिसका प्रतियोगी नहीं है ऐसा अभाव' यह होगा। इस अर्थ में भी एक दोष रह जाता है। 'पुस्तक के अभाव' के विश्लेषण में 'पुस्तकेतर' यानि 'पुस्तक के अभाव' की ही कल्पना का समावेश कर लिया गया है। यह अन्योन्याश्रय है। अत: 'पुस्तकत्व रूप धर्म से परिच्छिन्न जिसकी प्रतियोगिता है ऐसा अभाव' इस तरह उक्त विश्लेषण को परिष्कृत करना होगा। यह विश्लेषण भी पर्याप्त नहीं है लेकिन इसे भी सांकेतिक रूप देना हो तो लिखने में कितनी जटिलता आ जायगी? आधुनिक तर्कशास्त्र का सीधा-सादा आड़ी रेखा वाला अभाव संकेत कैसे उक्त विश्लेषण को व्यक्त करेगा, यह समझ में नहीं आता।

यह बात अच्छी तरह महसूस करते हुए भी कि एक छोटे से निबन्ध में दर्शन की अनेक गंभीर समस्याओं को प्रस्तुत करना भी कठिन है, हल करना तो बहुत दूर की बात है, मैंने कई समस्याओं को छेड़ने और उनके संभाव्य हल उपस्थित करने की धृष्टता की है। इस पर से मैं यह नहीं बतलाना चाहता कि मुझे इन समस्याओं की पूर्ण जानकारी है और मैं अधिकार वाणी से इन पर बोल सकता हूँ। थोड़ी बहुत यह अनधिकार चेष्टा ही है। फिर भी अपने विचारों को कम से कम अपने लिये स्पष्ट कर लेने के हेतु यही तरीका मुझे सर्वाधिक उपयुक्त जँचा। रही अनाधिकार चेष्टा की बात। मैं समझता हूँ कि इस बात में मैं नवीन दार्शनिक परंपरा का ही अनुकरण कर रहा हूँ। यदि एक-एक दो-दो गोल मटोल वाक्यों में सैकड़ों प्रतिभाशाली दार्शनिकों के विचार संप्रदायों को उड़ा देने वाले विट्गेंस्टाइन की अनाधिकार चेष्टा क्षम्य है तो मेरी भी इस छोटी सी अनाधिकार चेष्टा को विद्वान लोग क्षम्य ही समझेंगे।

***

अद्वैतवेदान्त सम्बन्धी कुछ मौलिक समस्यायें

भारतीय दर्शनों में संभवत: अद्वैत वेदान्त ही ऐसा एक दर्शन है जिस पर अनेक विवेचनात्मक ग्रंथ प्राचीन काल से आज तक लिखे गए हैं, तथापि शताब्दियों पहले प्रतिपक्षियों द्वारा इस दर्शन के सम्बन्ध में उठाये गये प्रश्न आज भी समय-समय पर उठाये जाते हैं। मानो इन प्रश्नों का आज तक वेदान्तियों ने उत्तर ही न दिया हो, इस ढंग से ये प्रश्न पुन: पुन: उपस्थित किये जाते हैं। सर्वप्रथम अद्वैत-सिद्धान्त की कठिनाईयों को स्वयं अद्वैती टीकाकारों वाचस्पति, सुरेश्वर, पद्मपाद आदि ने ही अपनी व्याख्याओं में उपस्थित कर उनके निरसन के उपाय स्पष्ट किये थे। अनन्तर ही अद्वैत के घोर विरोधी रामानुजाचार्य ने सात प्रकार की अनुपपत्तियों के रूप में अद्वैतियों द्वारा बहुचर्चित कठिनाईयों को ही बहुधा स्वतंत्र आक्षेप के रूप में अपने भाष्य में प्रस्तुत किया। रामानुज के अनन्तर अद्वैत पर अनेक ग्रंथ लिये गये। इनमें भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में रामानुज-कृत आक्षेपों का समाधान प्रस्तुत किया गया था। तथापि हम देखते हैं कि आज के दार्शनिक विद्वान उन्हीं पुराने आक्षेपों को दुहराते हुए भी समझते हैं कि मानो वे कोई नये विचार प्रस्तुत कर रहे हों। उदाहरणत: प्रो. सच्चिदानन्द मूर्ति की ''रीजन एण्ड रेवेलेशन इन अद्वैतवेदान्त'' पुस्तक के अन्तिम अस्सी पृष्ठ देखे जो सकते हैं। इनमें रामानुज के ही आक्षेप दुहराये गये हैं, एक भी नयी आलोचना अद्वैत के सम्बन्ध में इस ग्रंथ में प्रस्तुत नहीं की गई है। लेखक ने यह जानने का कष्ट नहीं उठाया है कि अद्वैत के प्रमुख ग्रंथों में इन परंपरागत आक्षेपों के सम्बन्ध में कुछ कहा गया है या नहीं। प्रो. मूर्ति विशिष्टाद्वैत के खुले पक्षपाती हैं इसलिये उनकी बात छोड़ भी दी जाय तो भी कई अन्य आधुनिक दार्शनिकों की रचनाओं में भी यही बात दिखाई पड़ती है। डॉ. रासबिहारीदास ने इण्डियन अकेडेमी ऑफ फिलॉसफी की पत्रिका के एक वर्ष पूर्व के एक अंक में शंकराचार्य पर एक विस्तृत लेख लिख कर उसमें उनके अविद्या-सिद्धान्त की सदोषता स्वीकार कर ली है।

वस्तुस्थिति यह है कि आज तक बहुत ही कम अद्वैत के प्रतिपक्षियों ने अद्वैती भूमिका को समझने का प्रयत्न किया है। इसमें आपातत: परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली बहुत सी बातें समाविष्ट होने के कारण यह भूमिका समझने के लिए सरल बिल्कुल नहीं है। इसको विपर्यस्त दृष्टि से देखना जितना स्वाभाविक है उसके मर्म को समझ पाना उतना ही कठिन है। यहाँ हम अद्वैत की कुछ प्रमुख कठिनाईयों का ही विचार करेंगे। अन्य सभी कठिनाईयों का उद्‌गम स्थान ये ही कठिनाईयाँ हैं। यह बात इस विमर्श के अन्त में स्पष्ट हो जायेगी। रामानुज के बाद विगत आठ शताब्दियों में माध्व तथा अन्य सम्प्रदायों के पारंपरिक विचारकों ने तथा आजकल के स्वतंत्र वृत्ति के विचारकों ने भी, अद्वैत की मूलत: कोई नयी समालोचना प्रस्तुत नहीं की है।

अब हम पहले संक्षेप में और स्थूल रूप से अद्वैत की भूमिका उपस्थित करेंगे जिससे तत्सम्बन्धी आक्षेपों की अनुपयुक्तता निर्धारित की जा सके। अद्वैत के अनुसार संपूर्ण विश्व केवल एक आभास है जैसा स्वप्न या भ्रान्ति में असद्वस्तु का आभास अनुभव-गोचर हुआ करता है। यह आभास न पूर्णतया सत् है न पूर्णतया असत्। इसका उपादान कारण अविद्या या माया है जो ज्ञानाभाव मात्र न होकर एक

भाव रूप किन्तु अनिर्वचनीय सत्ता है। यह अनादि होते हुए भी ज्ञान-नाश्य है। जैसे विश्व इस अज्ञान का परिणाम है वैसे ही जीव भी उसी का परिणाम है। ब्रह्म इस अज्ञान का अधिष्ठान है जिसके बिना वह अनिर्वचनीय रूप से भी विद्यमान नहीं रह सकता। किन्तु अधिष्ठान होते हुए भी ब्रह्म अज्ञान से कलुषित नहीं होता। विश्व और जीव क्यों आभास मात्र हैं, इस प्रश्न का अद्वैत ने यह उत्तर दिया है कि चेतना, जिस पर से वस्तु की सत्ता प्रमाणित हो सकती है, मूलत: विषय-रहित ही होती है। यह बात चेतना के उच्चतम स्तरों में (जैसे समाधि जैसी अवस्थाओं में) प्रमाणित होती है। यद्यपि सामान्य मनुष्य समाधि का अनुभव नहीं प्राप्त कर सकता तथापि सुषुप्ति जैसी स्थितियों में उसे विषय-संपर्क-रहित चैतन्य का अनुभव हुआ ही करता है। वस्तुस्वरूप की तर्क के द्वारा निर्वचनार्हता भी विश्व की आभासात्मकता का एक प्रमाण है। प्रत्येक विषय की सत्ता उसके स्तर के ज्ञान के सापेक्ष ही होने के कारण वस्तुमात्र का और ज्ञान निरपेक्ष रूप में-निर्वचन तर्कत: असंभव होना भी उनकी आभासत्मकता के प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

इन सारी बातों के सम्बन्ध में रामानुज ने जो मौलिक प्रश्न उपस्थित किया है वह इस प्रकार है : विश्व का उपादान कारणभूत अज्ञान यदि कोई वस्तु है तो उसका आधार कोई न कोई पदार्थ अवश्य होना चाहिए। ब्रह्म स्वयं निर्गुण तथा अद्वितीय होने के कारण अज्ञान का आधार नहीं माना जा सकता। जीव को भी अज्ञान का आधार नहीं मान सकते, क्योंकि जिस अज्ञान से जीव का निर्माण हुआ है उसी का वह स्वयं कैसे आधार होगा ? यही प्रश्न एक अन्य प्रकार से भी उपस्थित किया जा सकता है। विश्व यदि माया है तो सत्य का असत्य रूपेण अध्यास ही विश्व के अनुभव में घटित होता है ऐसा मानना पड़ेगा। अनुभव के इन विषयों में जीव भी समाविष्ट होगा। अब प्रश्न यह है कि यह सत् का असद्रूपेण अध्यास किस को होता है ? ब्रह्म को यह नहीं हो सकता क्योंकि पहले तो ब्रह्म के सामने उससे भिन्न कोई सत् है ही नहीं जिसके सम्बन्ध में उसे भ्रांति हो। यदि अपने ही सम्बन्ध में उसके लिए अध्यास की संभावना मानी जाय तो दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ब्रह्म स्वयं अध्यास ग्रस्त कैसे है ?

इन प्रश्नों के यथोचित समाधान के लिए स्वप्नानुभव का विचार करना सहायक होगा क्योंकि वेदान्त में कहीं-कहीं विश्व को ब्रह्म की स्वाप्न अनुभूति के विषय के रूप में वर्णित किया गया है। सभी भ्रान्त अनुभवों का स्वाप्न के साथ साम्य भी है। स्वाप्न विषय, स्वप्नानुभव तथा स्वप्नद्रष्टा इनके परस्पर सम्बन्धों का यथावत् निर्धारण हो सके तो संभवत: विश्व और ब्रह्म के सम्बन्ध को भी ठीक समझा जा सकता है। यह बात तो निर्विवाद है कि स्वाप्न में लीन व्यक्ति अपने को ही विभिन्न रूपों में देखता है। इन रूपों को अज्ञात रूप से वह अपने में ही आरोपित करता है। अब प्रश्न यह है कि यह आरोप-विषय व्यक्ति कौन है या उसका वास्तविक स्वरूप क्या है ? जागृत अवस्था में स्थित जीव आरोप-विषय कदापि नहीं हो सकता। शुद्ध जीव का भी स्वप्न में उलझना संभव नहीं है क्योंकि बाद में वही जागृति में भी व्यवहार किया करता है। स्वप्नावस्थावस्थित जीव को स्वाप्न विषयों का द्रष्टा मानना युक्तिसंगत हो सकता है। इसका कारण यह है कि स्वाप्न की घटनाएँ स्वाप्न द्रष्टा के स्वरूप के साथ ही सुसंगत प्रतीत होती हैं। किन्तु यह द्रष्टा जागृत अवस्था में तिरोहित हो जाता है। जागृति और स्वाप्न ये ऐसी परस्पर विरुद्ध अवस्थाएँ हैं कि दोनों को एक ही जीव की भिन्न कालीन अवस्थाएँ माना ही नहीं जा सकता। स्वाप्न घटनाओं का कर्तृत्व जिस प्रकार के जीव में होगा उससे नितान्त भिन्न प्रकार का जागृति-कालीन घटनाओं का कर्तृत्व जागृत जीव में स्वीकार करना होगा। यदि इस प्रकार स्वाप्न तथा जागृति-कालीन जीव परस्पर भिन्न हुए तो जागृत जीव अपनी अतीत स्थिति को स्वप्नावस्था के रूप में कैसे अनुभव करता है ? जागृतावस्था में अवस्थित होकर स्वप्नावस्था का विचार करने पर तो ऐसा प्रतीत होता है मानो जीव का स्वप्नावस्था में उलझना वास्तविक न होकर केवल एक स्वप्नकालीन

आभास था। वास्तवता तो उसकी जागृति से है। ऐसा प्रतीत होना स्वाभाविक भी है। जागृति की दृष्टि में स्वाप्न घटनाएँ मिथ्या हैं। अत: उनका अनुभव तथा अनुभविता इन दोनों को मिथ्या मानना अनिवार्य है। यहाँ 'मिथ्या' से मतलब असत् से है। जो विषय स्वप्न में उपलब्ध होते हैं ये वास्तव में आभासरूप ही हैं। तथापि वे वास्तविक प्रतीत होते हैं। आभासरूपेण वे सत् होते हुए भी वस्तु रूपेण असत् ही हैं। स्वाप्न अनुभव आभास रूप पदार्थों को वस्तुरूप में ग्रहण करता है। अत: वह मिथ्या माना जाता है।

संवभत: स्वाप्न विषयों के समान स्वप्न को भी असत् मानना अनुचित प्रतीत हो सकता है, क्योंकि इन विषयों का स्वरूप कैसा भी हो इनके अनुभूत होने की स्वाप्न घटना तो अस्वीकार नहीं की जा सकती। जैसे निद्रा घटित होती है वैसे ही निद्राघटक स्वप्न भी घटित होते ही हैं। उनका आदि, अन्त हुआ करते हैं। यदि किसी भ्रान्ति की घटना अस्वीकार नहीं की जा सकती तो स्वप्न की घटना अस्वीकार करना युक्तिसंगत कदापि नहीं होगा। इस स्वप्न का अनुभविता जागृति के अनुभविता जीव को ही मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। जैसे जागृति एक आनुभविक घटना है वैसे ही स्वप्न भी एक अन्य आनुभविक घटना है। एक ही जीव में क्रमश: इन घटनाओं का घटित होना संभव मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। एक ही जीव कभी मृत्यु जैसी घटना का अनुभव करता है तो कभी पूर्ण जागृति की स्थिति का भी अनुभव करता है। यदि इन अवस्थाओं का परस्पर विरोध उन्हें जीव से संबद्ध मानने में बाधक नहीं होता तो स्वप्न और जागृति को एक ही जीव की भिन्न-कालीन भिन्न अवस्थाएँ मानने में क्या आपत्ति हो सकती है।

इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर प्राप्त करने के लिए एक असंभव घटना सम्बन्धी स्वप्न का विचार करें। मान लें कि कोई व्यक्ति अपने को ही मृतावस्था में स्वप्न में देखता है। जो शरीर चेतना-रहित है वही अपने को निश्चेष्ट स्थिति में नहीं देख सकता। यह आकाश-कुसुम के समान ही एक असंभव स्थिति है, किन्तु इसका आकलन सत्य स्थिति के रूप में स्वप्नानुभव किया करता है। केवल कल्पना में ऐसे विषय प्रकट हो सकते हैं। किन्तु वहाँ वे विकल्प के रूप में ही आकलित होते हैं सत्य के रूप में नहीं। यहाँ प्रश्न इन विषयों की वैकल्पिक सत्यता के सम्बन्ध में न होकर यथागृहीत वास्तविक सत्यता के सम्बन्ध में हैं। स्वप्नानुभव इसीलिए भ्रांत समझा जाता है कि वह विकल्प-रूप असत्कल्प विषयों को सत्य के रूप में ग्रहण करता है। जागृति में इस विषय की शुद्ध वैकल्पिकता संशयातीत है। किन्तु स्वप्न में उसकी वास्तविकता भी संशयातीत ही होती है। अब यदि जागृतावस्था में इस विषय को हम पूर्णतया असत् स्वीकार करते हैं तो इसी को सत् के रूप में आकलित करने वाले स्वप्न को क्या कहना उचित होगा ? कोई भी ज्ञान अपने विषय के आकार से ही आकारवान तथा विषय-सापेक्ष सत्तावान् होता है। यदि विषय अन्तर्विरोधपूर्ण हो तो उसका ज्ञान यथार्थ होना असंभाव्य है। स्वप्नावस्था में स्वाप्न विषय तथा स्वप्नानुभव दोनों एक-दूसरे से संबद्ध होकर घटित हो सकते हैं। किन्तु जागृति के सन्दर्भ में यदि स्वाप्न विषय असत् हैं तो उनका अनुभव भी असत् माने बिना गत्यंतर नहीं। तथापि स्वप्न की आनुभविक घटना को अस्वीकार करना विचित्र प्रतीत होता है। इसका क्या कारण है ? कल्पना और स्मृति भी असद्विषयों का ग्रहण करते हैं। उसके सम्बन्ध में इस वैचित्र्य का अनुभव नहीं होता। कल्पना अपने विषय विकल्प मान कर ही आकलन करती है और स्मृति भी अपने विषय को अतीत समझकर ही ग्रहण करती है। अत: वे वास्तव में असत् का सद्रूपेण ग्रहण करते ही नहीं हैं। स्वप्न में यही बात घटित होने के कारण उसकी घटनात्मक सत्यता का उक्त प्रश्न उपस्थित होता है। स्वप्न का प्रश्न अन्य सभी भ्रान्तियों के सम्बन्ध में भी उपस्थित हो सकता है। भ्रान्ति-विषय भी असत्कल्प ही हुआ करते हैं, भले ही, उनमें सर्वदा अन्तर्विरोध विद्यमान न हो।

विचार कर देखने पर उक्त विचित्रता का कारण यह प्रतीत होता है कि असद्विषयक अनुभूति के

रूप में स्वप्न यद्यपि एक असद् घटना ही है जिसको जीव अपना नहीं सकता तथापि एक आभास के रूप में उस घटना को सत् या अनिर्वचनीय सत् मानना असंगत नहीं। असत् का आभास या आभास रूप असत् विद्यमान मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इस आभास को सत्य के रूप में स्वीकार करने पर ही कठिनाई उपस्थित होती है क्योंकि आभास की आभासता ज्ञात होने पर तद्विषयक अनुभव की असत्यता भी प्रकट हुए बिना नहीं रहेगी। स्वप्न की घटना दो अंशों में विश्लेष्य है यद्यपि ये दो अंश परस्पर निरपेक्ष रूप से सत्तावान् नहीं होते। जागृति का अनुभव भी विषयी व विषय इन दो अंशों में विश्लेषणार्ह होता है तथापि इनमें से एक विषय-विषयी निरपेक्ष स्थिति रखता है। स्वप्नानुभव स्वाप्न विषय के बिना नहीं घटित हो सकता और स्वाप्न विषय भी इस अनुभव के बिना विद्यमान नहीं रह सकता। तथापि जागृतावस्था में स्वप्नानुभव मिथ्या या असत्कल्प प्रतीत होते हुए भी उसका अलीक के रूप में सर्वथा परित्याग संभव नहीं हो पाता। स्वप्न की घटनाएँ वर्णन करने वाले व्यक्ति से सीधे-सीधे यदि कोई पूछे कि क्या उसने वे घटनाएँ (वास्तव में) देखी थीं तो स्वप्न-द्रष्टा को 'हाँ' यह उत्तर देना कठिन ही प्रतीत होती है। इसका कारण ऊपर बताये अनुसार 'स्वप्नानुभव' जैसी अलीक तुल्य बात को अपनाने की कठिनाई ही हो सकती है। किन्तु नकारात्मक उत्तर भी उक्त प्रश्न का देना योग्य नहीं लगता। इसका कारण यह है कि अनुभव-निरपेक्ष शुद्ध आभास के रूप में स्वाप्न विषयों की सत्ता स्वप्न-द्रष्टा को अलीकवत् नहीं प्रतीत होती। मानो किसी को प्रतीत हुए बिना आभासमान् पदार्थ स्वत: विद्यमान रह सकता हो। वेदान्त में ऐसी सत्ता को साक्षिभास्य कहा जाता है, जिसका तात्पर्य यह है कि कोई भी विषय किसी जीव के अनुभव का विषय वर्तमान, भूत या भविष्यत् सत्ता के रूप में प्रत्यक्ष, स्मृति या अपेक्षा रूप मनोवृत्तियों में प्रतिफलित होकर ही बन सकता है तथापि वृत्तियों से अनुपहित जो साक्षी चेतयिता है उसके सामने यह विषय स्थल-कालोपाधियों से अनवच्छिन्न होकर उपस्थित हो सकता है।

इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि साक्षी के अनुभव का विषय आभास जीव के वृत्त्युपहित चैतन्य का भी विषय कैसे होता है जबकि जीव और साक्षी एक-दूसरे से पृथक् हैं ? इसका उत्तर सरल है। जीव और साक्षी न पूर्णतया अभिन्न हैं न भिन्न। वास्तव में जब जीव अपनी ही वृत्तियों का अन्तर्मुख होकर निरीक्षण करता है तब उसे साक्षी अवस्था प्राप्त होती है। अन्य दर्शनों में जिस चेतना को आत्मचेतना (सेल्फ कांश्येसनेस) के नाम से निर्दिष्ट किया गया है किन्तु जिसकी बाह्य विषय-चेतना से भिन्नता को स्पष्टतया नहीं समझा गया है उसे ही वेदान्त साक्षी-चेतना के रूप में स्वीकार करता है। साक्षी के रूप में जीव उन सभी अवस्थाओं-निद्रा जैसी-में व्याप्त रहता है जिनमें अन्त:करणवृत्ति और उसकी स्थलकालादि उपाधियाँ कार्य नहीं करतीं। अन्त:करणवृत्ति जागृति में ही कार्यान्वित होती है ऐसी बात नहीं। स्वप्न में भी अन्त:करणवृत्ति जागृति से भिन्न प्रकार से कार्यव्याप्त रहती ही है। स्वप्न के स्थल-काल जागृति के स्थल-काल जैसे प्राय: नहीं होते। इसीलिए अपने को ही मृत देखना स्वप्न में संभव होता है। स्थल के विभिन्न अंशों का जो साहचर्य-नियम तथा काल में विभिन्न अंशों की जो क्रमिकता जागृति में अनुभवगोचर होती है वह स्वप्न में सर्वदा उसी प्रकार प्रणीत नहीं होती तथापि स्वप्न में भी स्थल-काल प्रत्यय घटित होता है, यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती।

उक्त विवेचन के सम्बन्ध में ऐसा कोई प्रतिवाद शायद करे कि स्वप्न और जागृति का अनुभविता एक ही जीव है जिसमें ये अवस्थाएँ क्रमश: घटित होती हैं। जैसे आत्यंतिक सुख और दु:ख की अनुभूतियाँ यदाकदाचित् क्रमश: घटित होती हैं वैसे ही स्वप्न-जागृति भी क्रमिक हो सकते हैं, भले ही इनमें आत्यंतिक विरोध क्यों न हो। इस तर्क का उत्तर भ्रान्ति के एक दूसरे उदाहरण के द्वारा दिया जा सकता है। अपस्मार की दशा में रुग्ण व्यक्ति असंबद्ध प्रलाप किया करता है। पागलों की तरह चेष्टाएँ भी करता है। किन्तु उसे प्रकृतिस्थ होने पर इन घटनाओं की ईषत् भी स्मृति नहीं रहती। अब यदि कोई

पूछे कि अपस्मार कालिक घटनाओं का कर्त्ता कौन है ? तो क्या उत्तर दिया जाय ? प्रकृतिस्थ व्यक्ति को उनका कर्त्ता मानना क्या उपयुक्त होगा ? केवल शरीर के सातत्य से विभिन्न अवस्थाओं के कर्त्ताओं को कैसे एक माना जा सकता है ? देखने वालों को दोनों अवस्थाएँ एक ही व्यक्ति या कर्त्ता की प्रतीत होना स्वाभाविक है। वे यह मान कर इन अवस्थाओं के विरोध का स्पष्टीकरण दे सकते हैं कि अज्ञान के कारण जागृत अवस्था वाले व्यक्ति ने ही पागलों जैसा आचरण किया। किन्तु स्वयं कर्त्ता की दृष्टि से यह स्पष्टीकरण समाधान-कारक नहीं हो सकता। अपनी अतीत अवस्था को वह अपनी अवस्था के रूप में न अनुभव करता है न स्मरण ही कर पाता है, तब वह उसकी अपनी अवस्था ही कैसे हो ? स्वप्न से जागने पर स्वप्न का कुछ अंश याद रह जाता है जिससे उसके साथ जागृत व्यक्ति अपना सातत्य किसी प्रकार प्रस्थापित कर लेता है, किन्तु जो स्वप्न बिल्कुल भूल जाते हैं उनके अनुभव का जागृति के साथ समन्वय कोई भी जीव कैसे कर पायेगा ? इस पर से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि एक ही चेतना को स्वप्न, जागृति आदि नाना-विध अवस्थाओं का आधार मानना अनुभव साक्षिक नहीं है।

इस प्रकार की चेतन जीवन की विविधताओं का विचार कर ही आधुनिक मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व-द्वैत (डुअल पर्सनेलिटी) का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं। उसका मन्तव्य यह है कि मनुष्य का व्यक्तित्व कई चेतन (और अचेतन भी) घटकों से निर्मित एक संश्लिष्ट वस्तु है। इसमें सामान्य परिवर्तन तो बराबर होते रहते हैं किन्तु कभी-कभी इन घटकों में परिवर्तन होने के कारण व्यक्ति के सामान्य परिचित व्यक्तित्व के स्थान पर एक नया व्यक्तित्व प्रकट होकर कार्य करने लगता है। ऐसी अवस्था को जनसाधारण भूत-बाधा के रूप में मानते हैं। इस स्पष्टीकरण के अनुसार व्यक्ति की सामान्य चेतन स्थिति भी मौलिक नहीं है। जिस प्रकार अपस्मारादि अवस्थाएँ अस्वाभाविक हैं उसी प्रकार कुछ कम मात्रा में सामान्य जागृतादि अवस्थाएँ अस्वाभाविक ही हैं। व्यक्तित्व के घटक विभिन्न (ज्ञात या अज्ञात) अनुभवात्मक तत्त्व ही व्यक्ति के लिए स्वाभाविक तथा मूलभूत हैं। इन्हीं के भिन्न-भिन्न सन्निवेश भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में बनते-बिगड़ते रहते हैं। इनमें से कई व्यक्ति के अवचेतन (सब-काँश्यस) मन में छिपे रहकर व्यक्ति को ही अज्ञात बने रहते हैं। किस प्रकार समय-समय पर इन घटकों से नये-नये सन्निवेश बनते-बिगड़ते रहते हैं इसे स्वयं व्यक्ति भी नहीं जान पाता। इसका मतलब यह है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व जो उसके सामान्य व्यावहारिक जीवन में प्रकट होता है - मूल-भूत इकाई या वस्तु नहीं है। यह निष्कर्ष आधुनिक मनोविज्ञान की भौतिकवादी तथा विश्लेषणवादी भूमिका का परिणाम है किन्तु यह सामान्यानुभव के बिल्कुल विपरीत है। वेदान्त भी सामान्य व्यक्तित्व को सत्य नहीं मानता। जाग्रतादि अवस्थाओं में अनुस्यूत और अवस्थाभेद के अनुसार न बदलने वाली ऐसी एक मूल-भूत सत्ता हुआ करती है जो सामान्य व्यक्तित्व का संचारण करती है, ऐसा वेदान्त का इस सम्बन्ध में अभिमत है। यह मत सामान्य अनुभव का मनोविज्ञान के समान अपलाप नहीं करता। व्यक्तित्व मूलत: कुछ है ही नहीं, यदि मनोविज्ञान की ऐसी भूमिका है तो, व्यक्तित्व जैसा सामान्यत: अवस्था-भेद-विशिष्ट प्रतीत होता है वैसा वह नहीं है, वेदान्त की धारणा ऐसी है।

इस पर भी यह प्रतिवाद किया जा सकता है कि अज्ञान या भ्रांति के कारण एक ही जीव स्वप्न, जागृति आदि अत्यंत विरुद्ध अवस्थाओं का क्रमश: अनुभव कर सकता है, ऐसा क्यों नहीं माना जाय ? वेदान्ती भी तो शुद्ध जीव या ब्रह्म को ही सारे द्वैतों का अधिष्ठान मानता है जबकि वह स्वयं निर्विशेष ही बना रहता है। सामान्यत: जागृति जैसी अवस्था में ही अपनी यथार्थ सत्ता का अनुभव करने वाला जीव स्वप्नादि अवस्थाओं में अपने सम्बन्ध में विपर्यास कर ले तो इसमें आश्चर्य क्या है ? इस प्रश्न का ठीक उत्तर प्राप्त करने के लिए जीव के किसी अवस्था में अवस्थित होने का क्या तात्पर्य है यह समझना आवश्यक है। अज्ञान की अवस्था में से होकर हम ज्ञान की ओर अग्रसर हो सकते हैं। प्रथम हम जो बात

जानते नहीं थे उसे बाद में ज्ञान-विषय कह सकते हैं। इस संक्रमण में कोई विस्मयजनक बात नहीं है। किन्तु पहले जो बात एक तरह से देखी उसी के पश्चात् उस तरह देखना भ्रान्त मानकर उससे विपरीत ढंग से देखना विस्मयावह अवश्य है। यह केवल सतही परिवर्तन नहीं हो सकता। जितनी पूर्णता से हम व्यावहारिक जीवन में उलझते हैं उतनी ही पूर्णता से स्वप्नादि में भी उलझते हैं यह बात कोई महत्त्व नहीं रखती कि स्वप्न थोड़े ही समय तक हमें उलझाते हैं जबकि जाग्रत जीवन काफी समय तक चलता रहता है। छोटे बच्चों के समान या रुग्णावस्था में किसी का स्वाप्न स्थिति में जागृति से अधिक समय तक निमग्न रहना असंभव नहीं। अत: स्वप्नावस्था का परित्याग करने पर उसके विषयों के साथ उसमें पहले उलझे हुए अपने पूर्वस्वरूप का भी पूर्ण परित्याग अनिवार्य है। यदि किसी कारणवश स्वाप्न प्रत्यय को जीव का सतही परिवर्तन मानने का आग्रह ही हो तो जाग्रत प्रत्यय को भी वैसा ही मानना आवश्यक होगा।

इन सब तर्कों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि अज्ञान भाव रूप होते हुए भी अन्ततोगत्वा अलीक ही कैसे माना गया है। जब तक अज्ञान में जीव उलझा हुआ है तब तक वह और उसके द्वारा निर्मित आभास वस्तुसत् ही प्रतीत हुआ करता है। किन्तु जब अज्ञान नष्ट हो जाता है तब उसकी अलीकता, अर्थात् पूर्वावस्था में भी उसका न होना, विस्मयजनक रूप से बुद्धिगोचर होता है। यह बात सुरेश्वराचार्य ने निम्न कारिका में स्पष्टतया निर्दिष्ट की है। वे कहते हैं कि -

'तत्त्वमस्यादि वाक्योत्य-
सम्यग्धीजन्म मात्रत: ।
अविद्या सह कार्येण
नासीदस्ति भविष्यति ॥'

'तत्त्वमसि' जैसे उपनिषद्वाक्यों से जो तत्त्वज्ञान या साक्षात्कार होता है उसके फलस्वरूप अविद्या भूत, भविष्यत् और वर्तमान इन तीनों कालों से लुप्त हो जाती है। अर्थात् अविद्या का पूर्वतन अस्तित्त्व भासमान अस्तित्त्व के रूप में भी ज्ञानी व्यक्ति के लिए स्वीकार्य नहीं होता। यही अविद्या का आत्यन्तिक विनाश है। शंकराचार्य ने इसी भाव रूप प्रतीत होने वाली किन्तु सर्वथा अलीक-भूत अविद्या को विश्व का कारण बतलाया है। रामानुज ने भ्रान्ति या अविद्या के स्वरूप को यथावत् ग्रहण न कर उसके सम्बन्ध में उपर्युक्त आक्षेप उपस्थित किये हैं। यदि भ्रान्ति में विपर्यस्त ग्रहण होता है और वह उतना ही प्रत्यक्षात्मक है जितना यथार्थ ज्ञान तो रामानुज का अविद्या सम्बन्धी उक्त आक्षेप कोई महत्त्व नहीं रखता।

अब हम रामानुज के दूसरे आक्षेप की निस्सारता को उद्घाटित करने के लिए उस पर कुछ विचार करेंगे। अविद्या यदि अलीक है तो उसका आधार ब्रह्म या जीव कैसे हो सकता है ? ऐसा यह आक्षेप है। इस आक्षेप के दो उत्तर संभव हैं। एक यह कि अविद्या वास्तव में जब कोई वस्तु-सत् ही नहीं तो उसके आश्रय का प्रश्न कोई अर्थ नहीं रखता। अविद्या का आश्रय न जीव है न ब्रह्म। किन्तु यह उत्तर व्यवहारावस्था में अवस्थित व्यक्ति व्यावहारिक सत्ता की भूमिका से नहीं दे सकता। व्यावहारिक जगत् के सम्बन्ध में वास्तविक दृष्टि (रीफ्लेक्टिव स्टेंडप्वाइंट) अपनाने वाला चिन्तक भी यह उत्तर नहीं दे सकता। इसका कारण यह है कि व्यवहारावस्था तथा सात्विक चिन्तन की अवस्था इन दोनों के लिए विश्व या तो पूर्ण सत्य है या वह एक उलझन है। अत: इन अवस्थाओं में विश्व के कारणभूत अज्ञान को असत् समझना कदापि संभव नहीं। जब तक विश्व का अनुभव जारी है तब तक उसका कारण अज्ञान भी (अनिर्वचनीय होते हुए भी) भाव रूप ही अनुभव-गोचर होगा। तब फिर अविद्या का आधार क्या है ? इस पर यह कह सकते है कि अविद्या के लिए आधार की अपेक्षा ही नहीं है। जब तक अविद्या विद्यमान है तब तक न केवल जीव अविद्या-ग्रस्त होता है बल्कि जीव का संपूर्ण अस्तित्त्व ही अविद्या

से अभिभूत बन जाता है। यदि स्वप्न और स्वप्नद्रष्टा के सम्बन्ध की परीक्षा की जाय तो यह बात स्पष्ट हो जायगी। "स्वप्नानुभव किसे होता है ?" इस प्रश्न का सीधा उत्तर होगा "स्वप्नद्रष्टा जीव को।" "किन्तु यह जीव जागृति-कालीन जीव से किस बात में भिन्न है ?" ऐसा पुन: प्रश्न पूछा जाय तो उसका उत्तर यही दिया जा सकेगा कि 'स्वप्नद्रष्टा' स्वप्न का अनुभविता होने से ही जागृति-कालीन जीव से भिन्न है। अर्थात् स्वाप्न जीव स्वयं स्वप्नानुभव से निर्मित है अथवा स्वाप्न अनुभव के बाहर उसकी कोई सत्ता नहीं है। यदि वस्तुस्थिति ऐसी है तो अज्ञान-निर्मित जीव ही स्वयं अज्ञान का आश्रय होता है ऐसा मानने में कोई असंगति नहीं होगी। आपातत: यह बात विचित्र प्रतीत होगी कि जो अज्ञान जीव का ही जनक है उसी का जीव आधार हो। किन्तु अज्ञान से संबद्ध कार्य-कारण भाव की अन्य कार्य-कारण भावों से भिन्नता अवगत कर लेने पर उपर्युक्त तथ्य स्वाभाविक ही प्रतीत होगा। अज्ञान और उसका कार्य एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं। दोनों वास्तव में अज्ञान रूप ही है। जीव अज्ञान के ही समान कोई वास्तविक सत्ता न होकर एक आभास मात्र है। अत: अज्ञान से आभासमान् जीव उत्पन्न होता है या उससे जीव का आभास उत्पन्न होता है इन दो कथनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। इसी प्रकार अज्ञान का एक आभास ही जीव है, ऐसा कथन भी उक्त कथन के जैसा ही होगा। जीव में स्वाप्न अनुभव घटित होता है यह कथन भी, अज्ञान में स्वाप्न अनुभव घटित होता है इस कथन से लगभग समानार्थक ही होगा। अत: जीव अज्ञानाश्रय है ऐसा कथन अन्ततोगत्वा अज्ञान अज्ञानरूप है, इस कथन में ही पर्यवसित होगा। वेदान्त में जीव को ही अविद्या का आश्रय मानने वाला जो संप्रदाय है उसका मन्तव्य उपर्युक्त तथ्य ही है।

जिन विचारकों को यह मत स्वीकार्य नहीं है वे अज्ञान के आश्रय सम्बन्धी प्रश्न का अन्य समाधान प्रस्तुत करते हैं। उनका कथन यह है कि अज्ञान का आश्रय नहीं होता, अधिष्ठान ही होता है। 'अधिष्ठान' का अर्थ उस सत्ता से है जिसके बिना अज्ञान की प्रातिभासिक सत्ता की भी कल्पना नहीं की जा सकती। अज्ञान एक पहेली के रूप में ही क्यों न हो, प्रतीत होता ही है। एक प्रातीतिक सत्ता का स्पष्टीकरण उससे नितान्त भिन्न सत्ता वाले ब्रह्म की सत्ता के द्वारा ही हो सकता है। यहाँ यह बात अच्छी तरह ध्यान में रखनी चाहिए कि अविद्या पर से ब्रह्मरूप अधिष्ठान की कल्पना कार्य पर से कारण की कल्पना जैसी नहीं है। न अविद्यारूप कोई कार्य है न ब्रह्म ही कोई कारण है। 'अविद्या' यह संज्ञा विश्व के सदसद् निर्वचनीय स्वरूप के लिए प्रयुक्त होती है। यह स्वरूप (या उनका आभास) अपने से नितान्त भिन्न स्वरूप वाले सत्य का आपादन करता है, क्योंकि उसके बिना न यह प्रतीत हो सकता है, न भावरूप धारण कर सकता है और न पूर्णतया विलीन ही हो सकता है। अत: रामानुज के अविद्याश्रय सम्बन्धी प्रश्न का सीधा-सादा उत्तर यह है कि अविद्या कोई वस्तु ही नहीं तब उसके आश्रय का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है ? किन्तु अविद्या कम से कम एक विसंगति के रूप में विचारक के सामने उपस्थित तो होती ही है। अत: इस विसंगति का आपाद्य कोई वस्तुसार अवश्य मानना होगा। यह आपादन बहुत कुछ वैसा ही है जैसा एक व्याप्य और दूसरे व्यापक पदों के बीच हुआ करता है। व्याप्य पद व्यापक पद का आपादन करता है। उसी प्रकार अलीक-वत् विश्व पूर्णसार ब्रह्म को अधिष्ठान के रूप में आपादित करता है। असत्य सत्य सापेक्ष है सत्य असत्य सापेक्ष नहीं।

यहाँ भी यह स्मरण रखना आवश्यक है कि यह आपादन व्यावहारिक भूमि पर ही सत्य है। व्यावहारिक स्थिति में जो तत्त्वचिन्तन होता है वह पूर्णतया व्यावहारिक भूमि का परित्याग नहीं कर सकता। व्यवहार इस भूमिका में एक रहस्य है जिसका उद्घाटन पारमार्थिक स्थिति में ही संभव है। व्यवहार में अन्तर्विरोध है अत: वह परमार्थत: सत् नहीं हो सकता। किन्तु आकाशकुसुम के समान असत् समझकर उसकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। वृत्ताकार वर्ग केवल शाब्दिक विकल्प हुआ

करता है। इन शब्दों का प्रयोग करने से कोई वस्तु सम्बन्धी समस्या नहीं उत्पन्न होती। किन्तु विश्व की समस्या केवल शाब्दिक नहीं प्रतीत होती। अन्तर्विरोधपूर्ण विश्व की व्यावहारिक सत्ता अनुभव-गोचर होती ही है। इस कारण ही यह प्रश्न खड़ा होता है कि इस असंभव सत्ता का स्पष्टीकरण क्या है ? वेदान्त का इस पर समाधान यह है कि अधिष्ठानभूत ब्रह्म की ही सत्ता विश्व की आभासमान सत्ता के रूप में प्रकट होती है। विश्व की अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता है ही नहीं। शून्यवादी बौद्धों का इस सम्बन्ध में प्रतिपादन वेदान्त-सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत है। वे आभासमान सत्ता के लिए अधिष्ठान की अपेक्षा स्वीकार नहीं करते। परस्पर विरोध यह कोई तथ्य नहीं जिसके स्पष्टीकरणार्थ अधिष्ठान की कल्पना करना आवश्यक हो। विरोध एक तथ्य भी हो तो भी उसके लिए उससे अन्य तथ्य की आवश्यकता क्यों हो ? वेदान्ती परस्पर विरोध के अनुभव पर से ही ब्रह्म को प्रस्थाप्य नहीं मानता। परस्पर विरोधी विश्व की भावरूपता ही वह तथ्य है जिसकी आपत्ति के लिए ब्रह्मरूप परमार्थ सत्य का प्रस्थापन वेदान्ती आवश्यक समझता है। रज्जुसर्प का उदाहरण वेदान्त की ब्रह्म-विश्व सम्बन्ध-विषयक भूमिका को व्यक्त करता है। शून्यवाद की भूमिका जादूगर के द्वारा शून्य में निर्मित आभास के उदाहरण से प्रकट होती है। लगभग इसी भूमिका की प्रतिच्छाया आचार्य अभिनवगुप्त की महान् कृति - 'तंत्रालोक' के मंगलाचरण श्लोक में दिखलाई पड़ती है। श्लोक इस प्रकार है -

निरुपादान संभारं अभिन्नाविव तन्वते
जगच्चित्रं नमस्तस्मै महाकालाय शूलिने।

आशय इसका यह है कि 'बिना किसी उपादान के तथा बिना किसी आधार के जो इस विश्वरूप चित्र का निर्माण करता है उस महाकाल को नमस्कार है।'

शून्यवादी और वेदान्ती इनकी भूमिकाओं में अंतर पड़ने का एक और महत्त्वपूर्ण कारण है। विश्व के अंतर्विरोध की अनुभूति वेदान्त के अनुसार केवल तार्किक विचार का परिणाम नहीं है। तर्क स्वत: किसी बात को प्रमाणित नहीं कर सकता। अनुभव के साक्ष्य का तर्क अपलाप करे तो वह ग्राह्य नहीं हो सकता। आनुभविक तथ्यों के स्पष्टीकरण के लिए ही तर्क का प्रयोग उपयुक्त है। विश्व के अंतर्विरोध की बात प्रथमत: अंत:प्रज्ञा से ही चिंतनशील व्यक्ति को अवगत होती है। इस अवगति के स्पष्टीकरण के लिए ही वह तर्क का आश्रयण करता है। तर्क का यह कार्य संपन्न हो जाने पर परमसत् के साक्षात्कार के लिए भी अंत:प्रज्ञा का ही आश्रयण करना पड़ता है। इस प्रकार जो परमसत् की सूक्ष्म आन्तरिक अनुभूति विश्व के अंतर्विरोध के तथ्य की सूचना देती है वही बाद में चिंतनशील साधक को परमसत् के साक्षात्कार तक को ले जाती है।

शून्यवादी के लिए अंत:प्रज्ञा का कोई महत्त्व नहीं। आदि से अंत तक वह बुद्धि या तर्क की सहायता से ही सत्यान्वेषण के कार्य में अग्रसर होता जाता है। किंतु जब केवल अंतर्विरोध तर्क द्वारा सर्वत्र उद्घाटित होता है तब अनिवार्यतया तर्कमात्र को प्रमाण मानने वाले शून्यवादी को "विश्व शून्य ही है" इस निष्कर्ष पर आना पड़ता है। अनुभव की सहायता लेने के लिए वह किसी भी परिस्थिति में अपने को तैयार नहीं कर पाता जिसके कारण उसे विरोध पर ही रुक जाना पड़ता है। तर्क का इस प्रकार स्वैर प्रयोग क्या उचित है, यह प्रश्न शून्यवादी से पूछा जा सकता है। किन्तु उसके पास इसका कोई संतोषदायक उत्तर है, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

***

प्रत्यक्ष की वेदान्तीय परिभाषा

भारतीय दर्शनकारों ने प्रत्यक्ष ज्ञान तथा प्रत्यक्ष प्रमाण के सम्बन्ध में विभिन्न विचार प्रणालियाँ उपस्थित की हैं। इनमें वेदान्त की विचार-प्रणाली विशेष महत्त्व रखती है। इसका प्रतिपादन अद्वैत के प्रतिष्ठापक श्री शंकराचार्य ने अपने ग्रंथों में नहीं किया है किन्तु उनके परवर्ती धर्मराजाध्वरीन्द्र जैसे विद्वानों ने प्रमाणों की चर्चा करते हुए अपने वेदान्त परिभाषा आदि ग्रंथों में प्रत्यक्ष की परिभाषा बतलाते हुए उपर्युक्त विचार प्रणाली का विस्तार किया है। इस पर से कुछ विद्वानों की यह धारणा हो गयी है कि परवर्ती वेदान्तियों ने शंकराचार्य तथा अन्य प्राचीन ग्रंथकारों को अमान्य ऐसी विचार-प्रणाली का ही पुरस्कार किया है। यह धारणा कितनी निराधार है यह वे ही लोग अच्छी तरह जान सकेंगे जिन्होंने भारतीय दर्शनों का पारम्परिक पद्धति से मूल संस्कृत ग्रंथों पर से अध्ययन किया है, अनुवादों पर से नहीं। ऐसे लोगों को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं होगी कि, प्राचीन को सम्मत किन्तु उनके द्वारा ग्रंथनिबद्ध न किये हुए विचार क्या हैं, यह जानने के लिए प्राचीन टीकाकारों का सहारा लेना ही सर्वाधिक उपयुक्त हो सकता है। प्राचीन आचार्यों के अभिप्राय को इन टीकाकारों की अपेक्षया अधिक अच्छी तरह समझने का दावा करने वाले अर्वाचीन समीक्षकों के कथन अन्य क्षेत्रों में बहुधा गलत ही साबित होते आये हैं। परवर्ती वेदान्तियों का प्रत्यक्षादि प्रमाण सम्बन्धी स्पष्टीकरण शंकराचार्य, भारतीतीर्थ, वाचस्पति आदि विद्वानों को अमान्य कैसे नहीं है यह इनकी उक्तियों के सहारे सिद्ध करना कठिन नहीं है। किन्तु प्रस्तुत लेख इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये लिखा न जाकर, उक्त स्पष्टीकरण कैसे तर्क की कसौटी पर खरा उतरता है, यह दिखलाने के उद्देश्य से ही प्रधानतया लिखा गया है। इस कारण शंकर आदि आचार्यों के ग्रंथों का एक-दूसरे के साथ मिलान करने के फेर में यहाँ हम नहीं पड़ना चाहेंगे।

अनेक आधुनिक समीक्षकों की प्रत्यक्ष सम्बन्धी वेदान्तीय स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में यह शिकायत है कि वह बिल्कुल अवैज्ञानिक है। शरीरविज्ञान, मनोविज्ञान, भौतिक विज्ञान तथा रसायन विज्ञान आदि ने प्रत्यक्ष की प्रक्रिया के सम्बन्ध में जो विस्तृत जानकारी प्रयोग तथा निरीक्षण की मदद से संकलित की है उसमें किञ्चित् भी समावेश नहीं है। और यह स्वाभाविक भी है। भला प्राचीनकाल में इन विज्ञानों का अस्तित्त्व ही कहाँ था कि दार्शनिक लोग प्रत्यक्ष की समस्या के सम्बन्ध में वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने का प्रयत्न करते? जो कुछ विचार इन लोगों ने किया वह सब स्वैर तर्क (speculative) के रूप में ही हो सकता था। शायद यही कारण है कि प्रत्यक्ष प्रक्रिया जैसी एक वैज्ञानिक वस्तु के सम्बन्ध में विभिन्न दार्शनिकों ने विभिन्न कल्पनायें उपस्थित कीं और उनकी सत्यासत्यता को लेकर आपस में वे बराबर झगड़ते रहे। यह विचार (प्रत्यक्ष विषयक विचार पद्धतियों के बारे में) यदि सही हो तो केवल वेदान्त दर्शन को ही नहीं बल्कि अन्य भारतीय दर्शनों की प्रत्यक्ष सम्बन्धी कल्पनाओं को भी अवैज्ञानिक करार देकर छोड़ देना आवश्यक हो जायगा। वैज्ञानिक सिद्धान्त और उसका विरोधी अवैज्ञानिक सिद्धान्त ये दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते, और यदि इनमें से एक का परित्याग अनिवार्य हो जाय तो अवैज्ञानिक सिद्धान्त, याने दार्शनिक सिद्धान्त का ही त्याग करना होगा यह कहने की

आवश्यकता नहीं। अत: जो व्यक्ति किसी दार्शनिक सिद्धान्त का तार्किक समर्थन प्रस्तुत करने का साहस करता है उसे, वैज्ञानिक सिद्धान्त और दार्शनिक सिद्धान्त के बीच कोई विरोध ही नहीं है, यह दिखलाना होगा, या वैज्ञानिक सिद्धान्त अधूरा है यह साबित करना होगा, या तथाकथित वैज्ञानिक सिद्धान्त वैज्ञानिक ही नहीं है, या वह वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित ही नहीं है, यह समझाना होगा। यहाँ हम चूँकि वेदान्त की प्रत्यक्ष विषयक परिभाषा का समर्थन करने जा रहे हैं इसलिये हमें प्रत्यक्ष सम्बन्धी तथाकथित वैज्ञानिक विचारों का प्रतिवाद करना और उनका अधूरापन तथा तथ्यों पर उनका आधारित न होना, यह स्पष्ट करना आवश्यक हो गया है। किन्तु लेख के विस्तार की मर्यादा को सम्हालते हुए हम विभिन्न विज्ञानों, जैसे शरीर विज्ञान, शरीर क्रिया विज्ञान आदि के द्वारा प्रकाशित प्रत्यक्ष सम्बन्धी तथ्यों की यहाँ छानबीन नहीं कर सकेंगे, न यह आवश्यक ही है। कुछ मात्रा में भौतिक विज्ञान तथा मनोविज्ञान की प्रत्यक्षविषयक मान्यताओं की ही चर्चा यहाँ की जायेगी, क्योंकि वेदान्त सिद्धान्त का इन्हीं के साथ स्पष्टतया विरोध होता हुआ दिखलाई पड़ता है। एक बात और भी इस सम्बन्ध में कह देना हम आवश्यक समझते हैं। वेदान्त के समर्थन का प्रयत्न करते हुए हम यह नहीं सूचित करना चाहते हैं कि अन्य भारतीय दार्शनिकों के द्वारा प्रस्तुत प्रत्यक्ष विषयक स्पष्टीकरण तर्कसंगत नहीं है। हमारे विचार में उनका भी समर्थन अच्छी तरह संभव है, कम से कम वैज्ञानिक स्पष्टीकरणों से कहीं अच्छी तरह उनका समर्थन तर्क के द्वारा संभव हो सकता है। तथापि वेदान्त की दृष्टि से उनमें कुछ न्यूनतायें हैं जो वैज्ञानिक स्पष्टीकरण में बहुत अधिक मात्रा में दिखलाई पड़ती हैं। इसी कारण उनका पुरस्कार भारतीय विचार परम्परा में पूर्णतया नहीं किया जाता।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया जा सकता है जिसका तत्काल समाधान कर देना उपयुक्त होगा। वह यह है कि अद्वैत वेदान्त तो जगन्मिथ्यात्ववादी दर्शन है और प्रत्यक्ष की प्रक्रिया जगत् के साथ अत्यन्त घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। तब उसके सम्बन्ध में सत्य का अपलाप किये बिना वेदान्त कैसे कोई संतोषजनक स्पष्टीकरण प्रस्तुत कर सकता है ? यदि प्रत्यक्षगम्य विश्व असत् है तो उसका प्रत्यक्ष भी असत् होगा। इस असत् के स्वरूप का विशद वर्णन क्या वंध्यापुत्र के सौंदर्य के बखान की तरह नहीं होगा ? इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार से कुछ लोग दिया करते हैं कि, वेदान्त जैसे विश्वमिथ्यात्ववादी है वैसे ही एक अर्थ में वह विश्व सत्यत्ववादी भी माना जा सकता है। विश्व ब्रह्म से अलग कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं रखता। विश्व में प्रतिभासित होने वाली सत्ता ब्रह्म की ही सत्ता है, अत: स्वतंत्र सत्ता युक्त वस्तु के रूप में विश्व असत् ही है। इस असत् का विचार निष्प्रयोजन है। रस्सी में दृश्य सांप का अस्तित्त्व एक ओर रस्सी और दूसरी ओर द्रष्टा दोनों के अज्ञान के सहयोग का परिणाम है। केवल अज्ञान से सांप का आभास नहीं पैदा हो सकता। ऐसे निरधिष्ठान आभास का अस्तित्त्व कुछ बौद्ध लोग मानते हैं किन्तु वेदान्ती सत्य के अधिष्ठान को अज्ञान निर्मित आभास के लिये नितान्त आवश्यक समझते हैं। कारण यह है कि अज्ञान आभास को पैदा कर सकता है लेकिन उसको सत्य का स्वरूप दिलाने तथा बनाये रखने के लिये सत्य के अधिष्ठान की आवश्यकता होगी ही। अत: असत्य विश्व के असत्य प्रत्यक्ष ज्ञान का भी अनुसंधान वेदान्त की दृष्टि से समर्थनीय है। असत्य स्वतंत्र रूप से असत् होते हुए भी अधिष्ठान-सत्य के आभास के रूप में तो सत् है ही। उपर्युक्त प्रश्न का यह समाधान हमें विशेष नहीं जँचता। आभास यदि सत्य का अभिन्न घटक होकर ही सत्य है तो चूँकि सत्य बिल्कुल भेद-रहित तथा निर्विशेष है अत: आभास का विश्लेषण करना और उसकी परिभाषा प्रस्तुत करने का प्रयत्न करना यह निर्विशेष सत्य के घटकों या विशेषों को बतलाने का दावा करने के समान व्याघातपूर्ण होगा। अत: हमारा उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि वेदान्त अन्ततोगत्वा विश्वमिथ्यात्ववादी होने के कारण ही प्रत्यक्ष जैसी अत्यन्त व्यावहारिक प्रक्रिया का सर्वाधिक यथार्थनिष्ठ स्पष्टीकरण देने में अपने को समर्थ पाता

है। बात यह है कि जो दर्शन अंशत: या पूर्णत: यथार्थवादी हैं वे वस्तुस्थिति का कुछ न कुछ अपलाप किये बिना अपने-अपने सिद्धान्तों की रचना ही नहीं कर सकते। हर दर्शन को दूसरे दर्शनों का प्रतिवाद कर ही अपनी स्थापना करनी पड़ती है। किन्तु वेदान्त को व्यवहार में किसी पक्ष का अपलाप कर एक दूसरे पक्ष को उभार देने की आवश्यकता नहीं है। वह तो अंतिम सत्य के रूप में विश्व के एक अंश का भी परिग्रह नहीं करता। किन्तु अंतिम सत्य की बात छोड़कर व्यावहारिक सत्य की छानबीन की ओर जब वह अग्रसर होता है तब इस सत्य के सभी पक्षों को वह समान महत्त्व देना ही पसंद करता है। किसी पक्ष विशेष का समर्थन करने की उसे कोई आवश्यकता ही नहीं होती। अत: यह कहा जा सकता है कि यदि पारमार्थिक रूप में वेदान्त यथार्थवाद का घोर विरोधी है तो व्यावहारिक रूप में वह शत-प्रतिशत यथार्थवादी भी है। अद्वैत से बढ़कर यथार्थवाद का उसके अपने क्षेत्र में समर्थक कोई दूसरा दर्शन नहीं हो सकता। यह बात एक अन्य संदर्भ में माध्यमिक कारिका के व्याख्याकार चन्दकीर्ति ने विस्तार के साथ (माध्यमिक दर्शन की भूमिका समझाते हुए) अपनी पुस्तक 'प्रसन्नप्रदा' में बतलायी है।

अब हम प्रत्यक्ष ज्ञान की स्थिति (Perceptual situation) का भौतिक तथा मनोविज्ञान सम्मत स्वरूप स्पष्ट कर समझाने की चेष्टा करेंगे कि यह स्पष्टीकरण कितना अधूरा है और इसमें समाविष्ट की गयी कल्पनायें (Concepts) कैसे अप्रतिष्ठित हैं। कल्पना करें कि मेरे सामने एक मेज रक्खी हुई है जिसकी ओर अकस्मात् मेरी आँखें मुड़ती हैं और मुझे उसका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। ज्ञान की पूर्ववर्ती प्रक्रियायें इस प्रकार विज्ञान के द्वारा वर्णित होगी। प्रकाश की विभिन्न तरंगें मेज पर बराबर गिरती रहती हैं जिनमें से कुछ मेज में ही समा जाती हैं (इसका कारण मेज की अंतर्गत आणविक रचना है) और कुछ उसमें न समाकर उसकी सतह पर से उलटती और मेरे दृष्टि-पटल पर आ टकराती हैं : वहाँ से ये मेरी पुतलियों के पीछे रेटिना के संवेदनक्षम बिन्दु (Fovea cenralls) तक आ पहुँचती है। इस बिन्दु या अवयव की रचना बड़ी जटिल होती है। इसके तफसील में न जाते हुए इतना कह देना पर्याप्त होगा कि प्रकाश तरंगों की इस केन्द्र के घटकों पर एक रासायनिक प्रतिक्रिया घटित होती है जिसका असर अनेक मध्यवर्ती संवेदवाहिनियों (Neurons) के रास्ते दिमाग के एक खास हिस्से (Opthalmic region) में पहुँचता है। यहाँ भी कई प्रकार की रासायनिक प्रतिक्रियायें घटित होती हैं। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि संवेदन दिमाग में होने वाली प्रतिक्रियाओं का परिणाम मात्र कहा गया है। वह कहाँ घटित होता है इसके सम्बन्ध में कोई विज्ञान कुछ भी निश्चित रूप से कहने के लिए तैयार नहीं प्रतीत होता।

उक्त प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिकों ने जरा भिन्न ढंग से किन्तु उसकी मूलभूत मौलिक मान्यताओं को न भुलाते हुए वर्णन किया है। मेज में न समायी हुई जो प्रकाश तरंगें दृष्टिपटल पर आ टकराती हैं उन्हें मनोवैज्ञानिक उत्तेजक (Stimulus=S) कहते हैं। इनके द्वारा शरीर का जो जो भाग प्रभावित होता है उसे वे चेतन शरीर (Organism=O) कहते हैं। इस शरीर की दृश्य वस्तु की दिशा में जो जो हरकतें या प्रक्रियाएँ उत्तेजक के द्वारा उत्पादित उत्तेजना के फलस्वरूप घटित होती हैं उन्हें 'प्रतिक्रिया' (Response=R) यह सामान्य नाम दिया जाता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष का वर्णन करने वाला एक सूत्र जिसे 'S-O-R Formula' यह अंग्रेजी में नाम दिया गया है, मनोवैज्ञानिकों ने प्रस्तुत किया है। यह प्रत्यक्ष का संक्षिप्त वर्णन है। अन्य घटकों का अन्तर्भाव कर इस सूत्र का विस्तार भी किया गया है। उदाहरणत: शरीर की प्रतिक्रिया का एकरूप निर्देश न करते हुए उसकी अन्तर्गत अवस्थाओं का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाय तो इस सूत्र का विस्तार किया जा सकता है। शरीर अकस्मात् कोई सुसंघटित प्रतिक्रिया नहीं करता। प्रतिक्रिया के पूर्व उसे कुछ तैयारी करनी पड़ती है या अपने आप उसकी यह तैयारी हो जाती है। इसे शारीरिक संतुलन 'Set' कहते हैं। संतुलन के परिणाम स्वरूप ही शरीर का वस्तु के आकलन

(यह शब्द बिल्कुल सामान्य अर्थ में यहाँ प्रयुक्त हुआ है) के अनुरूप हालचाल हुआ करता है। इस प्रकार उत्तेजक, उत्तेजना, उत्तेजित शरीर, शरीर का संतुलन और उसकी प्रतिक्रियायें इस सब के समुच्चित रूप को मनोवैज्ञानिक 'प्रत्यक्ष' यह नाम देते हैं। (बहुत सी अवान्तर बातें विवेचन की सुविधा का ख्याल करते हुए इस वर्णन में नहीं समाविष्ट की गयी हैं)।

अब समालोचना के लिए उक्त भौतिक तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों पर हम साथ ही साथ विचार करेंगे। उत्तेजक प्रकाश तरंगे मेज पर से निकलकर दृष्टि पटल पर आघात करती हैं यह बात मानने में किसी को आपत्ति नहीं होगी (हालांकि इस पर भी यह आक्षेप किया जा सकता है कि जो प्रकाश तरंगें मेज में न समा कर उसकी सतह से टकराकर प्रत्यावृत्त हुई उन्हें मेज का निदर्शक कैसे माना जा सकता है ?) किन्तु क्या इस पर से यह ज्ञात होता है कि किस परिस्थिति में प्रकाश द्रष्टा को उत्तेजित करेगा और उसे वस्तु का किस प्रकार का ज्ञान होगा ? उत्तेजक तो सिर्फ प्रकाश होता है लेकिन ज्ञान होता है वस्तु का। कोई भी द्रष्टा यह नहीं अनुभव करता है कि वह किसी प्रकाश तरंग को, या किसी वर्ण पटल को, या आकार को देखता है। अनुभव तो 'मैं अमुक-अमुक आकार की वस्तु को देखता हूँ' ऐसा ही हुआ करता है। शायद यही कारण है कि आधुनिक संवेदवादी उक्त अनुभव में से वस्तु का अंश निकाल देना या उसका कोई और ही अर्थ लगाना पसंद करते हैं। लेकिन वे भी यह अस्वीकार नहीं कर सकते हैं कि द्रष्टा तक जितनी और जिस रूप में बाह्य उत्तेजक की उत्तेजना पहुँचती है उससे अधिक और भिन्न ही बातें उसे सामने दिखाई पड़ती हैं। ऐसा न होता तो प्रकाश की तरंगें तरंगों के रूप में और बिल्कुल आँख की सतह पर ही क्यों न दिखलाई पड़तीं ? प्रकाश तरंग और वस्तु का रंग इनमें जमीन आसमान का फर्क है। तरंगों के जरिये प्रत्यक्ष की उपपत्ति देने की कोशिश करना कारण और कार्य के फर्क को बिल्कुल भुला देने के सिवा और कुछ नहीं हो सकता।

'उत्तेजक' की कल्पना की यही एक न्यूनता नहीं है। उसकी सब से बड़ी न्यूनता यह है कि उसको द्रष्टा की उत्तेजना का पूर्ण निर्धारक किसी भी हालत में नहीं माना जा सकता। उत्तेजक वस्तु के गुणों (Objective properties) को वैज्ञानिक लोग गिनायें, वे कभी विश्वास के साथ यह नहीं कह सकते कि सारी विशेषताओं से युक्त उत्तेजक की उपस्थिति में द्रष्टा के शरीर में उत्तेजना पैदा होगी ही। द्रष्टा का मन उत्तेजक वस्तु से भिन्न किसी बाह्य में उलझा रहे तो उत्तेजक उसके बिल्कुल सामने होते हुए भी उस पर कोई असर नहीं डाल सकता। सामान्य परिस्थितियों में चाहे उत्तेजक ही द्रष्टा को उत्तेजित करे, उस पर से यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि अमुक-अमुक प्रकार का उत्तेजक ऐसी ऐसी उत्तेजना स्वयं उत्पन्न करेगा ही। हर हालत में कम-अधिक मात्रा में द्रष्टा का सहयोग उसके शरीर में उत्तेजना उत्पन्न करने के लिये नितान्त आवश्यक है। यह बात वेदान्त की आत्मा की स्वरूप सम्बन्धी कल्पना के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण है। वेदान्त आत्मा को पूर्णतया स्वतन्त्र मानता है। आत्मा शरीर, मन आदि से छुटकारा प्राप्त कर सकती है क्योंकि अन्ततोगत्वा आत्मा के सभी बंधन उसी के अपने निर्माण किए हुए हैं। आत्मा का आत्म स्वरूप विषयक अज्ञान जिस क्षण नष्ट होगा उसी क्षण उसके सारे बंधन भी नष्ट हो जायेंगे। विज्ञान को आत्मा का स्वातंत्र्य मान्य न होने के कारण वह उत्तेजक की विशेष परिस्थितियों में असमर्थता का संतोषदायक स्पष्टीकरण नहीं दे सकता। साथ ही वह उत्तेजक और दृश्य वस्तु के बीच जो बहुत बड़ा अन्तर पड़ जाता है उसका स्पष्टीकरण भी नहीं दे सकता। इस अन्तर को अच्छी तरह समझने पर विज्ञानवादियों का यह कथन ही उपयुक्त लगने लगता है कि दृश्य वस्तु आन्तरिक विज्ञान का बाह्य रूप है न कि बाह्य रूप, रस, गंधादि से बनी हुई स्वतन्त्र सत्ता है।

चेतन शरीर की वैज्ञानिक कल्पना भी उतनी ही भोंडी है जितनी उत्तेजक की। शरीर का अंशमात्र उत्तेजित होता है लेकिन उसका स्वीकार सारा शरीर कर लेता है। यह बात कैसे संभव होती

है ? आँखों में ही प्रकाश संवेदना घटित होते हुए भी न आँख को देखने का अनुभव होता है न दिमाग को। आँख और दिमाग के बिना द्रष्टा ही (यह कौन है यह बतलाना आवश्यक नहीं है किन्तु यह शरीर से अतिरिक्त अपनी सत्ता को सदा अनुभव करता है इतना तो मानना ही पड़ेगा) वस्तु को देखने का अनुभव करता है। इस सम्बन्ध में यह बात भी विचारणीय है कि वस्तु को देखने का अनुभव उत्तेजना के अनुभव से उतना ही भिन्न है जितनी वस्तु प्रकाश तरंगों से भिन्न है। अत: वैज्ञानिक उक्त आक्षेप पर यह प्रतिवाद नहीं कर सकते कि शरीर के एक अंग में घटित होने वाली उत्तेजना पहले दिमाग में पहुँचती है और तदनन्तर उसके द्वारा शरीर के अन्य अंगों में, या कम से कम दृष्टि से सम्बन्धित अंगों में, प्रसारित होती है। ये अंग अपना कार्य करते हैं यह मानते हुए भी हम यह कतई नहीं मान सकते हैं कि इनमें कोई दर्शनानुरूप उत्तेजना संक्रमित होती है।

प्रत्यक्ष प्रक्रिया की अंतिम घटक समझी गई जो शारीरिक प्रतिक्रिया (Response) है उसका स्वरूप भी वैज्ञानिकों ने उतना ही अस्पष्ट रख छोड़ा है जितना पहले दो घटकों का। इस सम्बन्ध में पहली ध्यान देने योग्य जो बात है वह यह है कि प्रत्यक्ष को प्रतिक्रियात्मक कहना बिल्कुल अनुपयुक्त है। प्रत्यक्ष न शारीरिक प्रतिक्रिया है न मानसिक। प्रत्यक्ष ज्ञान और उसके घटित होने के मूलस्वरूप शरीर के विभिन्न अवयवों में जो क्रियाएँ होती हैं उन्हें एक रूप मान लेने का ही यह परिणाम है कि ज्ञान का वर्णन प्रतिक्रिया के रूप में वैज्ञानिक लोग निस्संकोच करने लगे हैं। वे यह साफ भूल जाते हैं कि ज्ञान एक आन्तरिक वस्तु या अवस्था है जिसका शरीर पर किसी भी रूप में स्पष्ट होना अनिवार्य नहीं है। ज्ञान और उसके साथ या उसके अनंतर घटित होने वाली शारीरिक क्रियाएँ उतनी ही एक दूसरे से भिन्न हैं जितने उत्तेजक और दृश्य विषय या उत्तेजना और संवेदन। set या शारीरिक संतुलन की कल्पना का भी ठीक-ठीक विश्लेषण देना बड़ी टेढ़ी खीर है। वैज्ञानिक समझता है कि यह संतुलन शरीर का है। उदाहरणत: किसी वस्तु को देखने के लिये उसकी ओर दृष्टि दौड़ानी या लगानी पड़ती है। आँखों की स्नायुओं में विशिष्ट प्रकार का संतुलन लाना पड़ता है, अन्य अवयवों को भी अनुरूप ढंग से अवस्थित करना पड़ता है। लेकिन शरीर के सब अवयवों को ठीक-ठीक स्थिति में लाने पर भी वस्तु का दर्शन होगा ही ऐसा निश्चय से नहीं कहा जा सकता। क्योंकि संतुलन अन्ततोगत्वा मानसिक बात होती है न कि शारीरिक। यह बात अलग है कि मानसिक संतुलन होने पर शरीर का संतुलन अपने आप प्रस्थापित हो जाता है, उसके लिये किसी प्रयत्न की अपेक्षा नहीं होती। यदि मानसिक संतुलन न बने तो लाख कोशिश करने पर भी शारीरिक संतुलन काम नहीं देता।

अब तक की समालोचना यद्यपि बहुत संक्षिप्त है तथापि उस पर से यह अच्छी तरह स्पष्ट हो गया होगा कि न भौतिक विज्ञान और न मनोविज्ञान ही प्रत्यक्ष ज्ञान का स्पष्टीकरण दे सकते हैं। वे केवल प्रत्यक्ष ज्ञान के अनुरूप भौतिक तथा शारीरिक परिस्थितियों का अंशत: उद्घार कर पायें हैं। यदि इन परिस्थितियों का ही वे सुस्पष्ट तथा व्यापक स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते तो भी उनका महत्त्व मानने के लिए हम तैयार हो जाते। लेकिन यह कार्य भी विज्ञान नहीं कर पाया है। शायद इसका कारण यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान की परिस्थिति (Perceptual Situation) का जटिल स्वरूप वैज्ञानिक लोग नहीं अनुभव कर पाये हैं। इस परिस्थिति का जैसे एक बाह्य स्वरूप है वैसे ही उसका एक आंतरिक स्वरूप भी है, और वास्तव में यही अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। लेकिन इसका प्रायोगिक अध्ययन असंभव है। चूँकि वैज्ञानिक लोग सभी अध्ययनार्ह बातों को प्रयोगार्ह मानते आये हैं अत: वे प्रत्यक्ष ज्ञान की परिस्थिति के उतने ही अंश को सत्य मानते हैं जितना प्रयोगार्ह है, और जो अंश ऐसा नहीं है उसे वे असत्य या अविचारणीय ठहराकर अपने दायित्व से मुक्त हो जाते हैं। यदि इस प्रकार सभी समस्याओं को विचार की सुविधा का

ख्याल करते हुए हम इच्छानुसार सरल रूप देने लग जायें तो अत्यंत कठिन समस्याएँ भी बड़ी आसानी से हल हो जायें।

कुछ दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष ज्ञान की पोषक परिस्थितियों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। प्रत्यक्ष का स्पष्टीकरण मोटेतौर पर दो तरह से किया जा सकता है। एक तो उक्त परिस्थितियों के घटकों का यथावत् निर्देश करके और दूसरा प्रत्यक्ष का ही स्वरूपाविष्करण कर। भारतीय दार्शनिक परिभाषा में पहले को प्रत्यक्ष का तटस्थ लक्षण और दूसरे को उसका स्वरूप लक्षण कह सकते हैं। तटस्थ लक्षण में लक्ष्य के कारणों या अवांतर धर्मों का निर्देश समाविष्ट रहता है जबकि स्वरूपलक्षण में लक्ष्य के स्वरूप का ही विश्लेषण या निर्देश प्रस्तुत किया जाता है। उदाहरणत:, न्याय दर्शन की प्रत्यक्ष की यह परिभाषा कि 'इन्द्रिय और विषय इनके विभिन्न प्रकार के सन्निकर्षों के (संयोग के ही नहीं) फलस्वरूप उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है', उपर्युक्त लक्षणों में से प्रत्यक्ष के तटस्थ लक्षण को प्रस्तुत करती है। इस परिभाषा में उत्तेजक के स्थान में विषय का, शरीर के स्थान में इन्द्रियों का (इनमें मन का भी समावेश है), उत्तेजन के स्थान में सन्निकर्ष का और प्रतिक्रिया के स्थान में ज्ञान का निर्देश किया होने से पूर्वोक्त वैज्ञानिक परिभाषा के अधिकांश दोषों का अपने आप अपसारण हो गया है। विषय और इन्द्रियाँ इनके सम्बन्ध के स्वरूप का बिल्कुल नपा-तुला वर्णन करने के कारण ये सम्बन्ध छ: प्रकार के माने गये हैं। प्रत्यक्ष की परिभाषा में किसी तरह का भोंडापन नैयायिकों ने नहीं आने दिया है। तथापि प्रत्यक्ष के स्वरूप का इस परिभाषा द्वारा निर्धारण नहीं हो पाता, अतएव आगे चलकर 'अव्यपदेश्यं, अव्यभिचारी, व्यवसायात्मकं' इत्यादि अन्य विशेषण इसमें जोड़े गये हैं। इनके द्वारा प्रत्यक्ष के स्वरूप का, उसके कारणों का नहीं, निषेध के द्वारा वर्णन करने का प्रयास किया गया है। जो ज्ञान शब्द निर्देश्य नहीं, याने 'अव्यपदेश्य' है, वह प्रत्यक्ष है, यह कहने का उद्देश्य यह होता है कि प्रत्यक्ष शब्दजन्य ज्ञान से भिन्न है। लेकिन इतने पर से भी यह स्पष्ट नहीं होता कि प्रत्यक्ष स्वयं क्या है ? इसी प्रकार 'प्रत्यक्ष अव्यभिचारी है' यह कहने से प्रत्यक्ष अयथार्थ नहीं होना चाहिए यह तो ज्ञान होता है लेकिन उसका अपना स्वरूप क्या है यह नहीं समझ में आता। अंतिम विशेषण 'व्यवसायात्मक' यही ऐसा है जिससे प्रत्यक्ष का स्वरूप समझने में थोड़ी बहुत मदद होती है, लेकिन व्यवसायात्मकता या निश्चयात्मकता अन्य ज्ञानों में भी विद्यमान होने से उसके जरिये प्रत्यक्ष का स्वरूप निर्धारण नहीं हो सकता। इस प्रकार न्यायवैशेषिकादि दर्शनों की परिभाषायें (विचारकर देखा जाय तो) विज्ञान की प्रत्यक्ष सम्बन्धी अवधारणाओं से काफी परिष्कृत होती हुई भी बिल्कुल निर्दोष नहीं मानी जा सकती।

अब हम वेदान्त की परिभाषा का संक्षेप में विचार प्रस्तुत करेंगे। वेदान्त के अनुसार सभी वस्तुओं का - चाहे वे मानसिक हों या बाह्य - वास्तविक स्वरूप चैतन्य ही है। अत: द्रष्टा, दृश्य आदि भेद - जो किसी भी ज्ञान के घटित होने के लिये आवश्यक हैं - सत्य नहीं हो सकते। लेकिन द्रष्टा, दृश्य, दर्शन और दर्शक प्रमाण इन चार ज्ञान सम्बन्धी परिस्थिति के घटकों का अलग-अलग सत्यत्व माने बिना ज्ञान की उपपत्ति नहीं दी जा सकती। इस कठिनाई पर वेदान्त का समाधान इस प्रकार है : कोई भी वस्तु किसी अन्य वस्तु से मूलत: भिन्न न होते हुए भी अज्ञान-निर्मित उपाधियों के कारण जहाँ-तहाँ भेद या वैविध्य की प्रतीति होती रहती है। चैतन्य के रूप में सब कुछ एक रूप होते हुए भी भिन्न भिन्न परिच्छेदक उपाधियों के कारण कोई वस्तु द्रष्टा के तो कोई दृश्य के रूप में दिखलाई पड़ती है। मूलत: अभिन्न तथा एकरूप ऐसी वस्तुओं में दिखलाई पड़ने वाला (उपाधिकृत भेद) हमेशा एक अस्थिर संतुलन (Instable equilibrium) की स्थिति में ही बना रह सकता है। चूँकि परिच्छेदक उपाधियाँ स्वयं सिद्ध न होकर केवल अज्ञान-निर्मित होती हैं अत: उनका अस्तित्त्व ही जहाँ डावाँडोल होता है वहाँ उन्हीं पर टिके हुए हुए भेद भी डावाँडोल ही हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। उदाहरणत: एक मिट्टी

के घड़े को हम घड़ा कहते हैं और घड़े की तरह ही उसका प्रयोग करते हैं। लेकिन मिट्टी के रूप में या एक खाद्य-पदार्थ के रूप में भी चाहें तो हम उसका प्रयोग कर सकते हैं। इस प्रकार एक ही घड़े में अनंत रूप हम देख और पा सकते हैं। इनमें से किस रूप को घड़े का स्वाभाविक रूप माना जाय यह ठहराना हमारी इच्छा पर ही निर्भर करता है। लेकिन इन सभी विविध रूपों में एक बात हम अनुस्यूत पाते हैं, वह है घड़े की हर रूप में अपने को अभिव्यक्त करने की या जिस भी रूप में हम उसे देखना चाहें उस रूप में, उसकी दिखाई पड़ने की शक्ति। इस शक्ति के पीछे है चैतन्य, जो उतनी ही मात्रा में घड़े में विद्यमान है जितना उसके द्रष्टा में या उसके ज्ञान में। इस चैतन्य की भीतर-बाहर अनुस्यूतता और व्यापक सत्ता का अनुभव क्वचित् ही हो पाता है किन्तु प्रत्यक्षानुभव में आंशिक रूप में इस सत्ता की प्रतीति होती है। किसी भी वस्तु के प्रत्यक्षानुभव में द्रष्टा और दृश्य क्षण मात्र के लिये एकरूप हो जाते हैं। द्रष्टा अपने स्थान में और दृश्य अपने स्थान में एक दूसरे से अलग-थलग होकर पड़े रहें तो प्रत्यक्ष ज्ञान कदापि घटित नहीं हो सकता। दृश्य वस्तु का चैतन्यांश द्रष्टा को अपनी ओर आकृष्ट करता है और द्रष्टा का चैतन्यांश उसकी ओर उन्मुख होता है। विषय और विषयी का आकर्षण परस्पर सदृश (या मूलत: एकरूप) वस्तुओं का आकर्षण है। इसके फलस्वरूप द्रष्टा और दृश्य एक दूसरे के समीप पहुँचते तथा अपने-अपने औपाधिक भेदों को गँवा बैठते हैं। क्षणमात्र के लिए इन दोनों के बीच चैतन्य की एकता प्रस्थापित हो जाती है और इसी एकता को 'प्रत्यक्षज्ञान' यह नाम हम दिया करते हैं। इस पर से यह बात प्रकट होती है कि वस्तुओं के सभी पारस्परिक भेद इतने अस्थिर होते हैं कि उनका, अधिकाधिक सन्निकट तथा गहरे ज्ञान से सहज ही अपसारण हो जाता है। यदि यह कथन सत्य न हो तो एक अनपढ़ मनुष्य को, एक पढ़े लिखे मनुष्य को, एक सुसंस्कृत मनुष्य को, एक कलाकार को, एक शास्त्रज्ञ को और एक तत्त्ववेत्ता को एक ही वस्तु में - जैसे एक फूल में - अलग-अलग बातें क्यों दिखलाई पड़ती हैं ? द्रष्टा की दृष्टि जितनी परिष्कृत होती है, याने वेदान्त के शब्दों में, द्रष्टा ने अपनी आत्म-भावना को आवृत करने वाली जितनी उपाधियों से मुक्ति पायी है, उतना ही वह दृश्य के सन्निकट पहुँच पाता है और उसके गूढ़, गूढ़तम स्वरूप का आकलन करने में समर्थ होता है। द्रष्टा अपने अनजाने ही न जाने कितने आवरणों या उपाधियों से अपनी दृष्टि को आवृत या परिच्छिन्न कर देता है जिसके परिणामस्वरूप उसके और दृश्य के बीच अनेकानेक औपाधिक व्यवधान निर्मित होते चले जाते हैं। सामान्य प्रत्यक्षज्ञान इन व्यवधानों में से कुछ को ही हटा पाता है। किन्तु दृश्य को सरसरी तौर पर देखना, भरी नजर देखना, गोर से देखना, आँख गड़ाकर देखना, एकाग्रता से देखना, विभोर होकर देखना, तल्लीन होकर देखना, देखते-देखते दृश्य में ही डूब जाना ऐसे देखने के अनेक अधिकाधिक उत्कट प्रत्यक्षज्ञान के तरीके हैं जो द्रष्टा और दृश्य के मध्यवर्ती व्यवधान परंपरा का क्रमश: अपसारण कर इन दोनों के बीच चैतन्य की एकता प्रस्थापित करते हैं। इस ऐक्यानुभूति का एक छोर सामान्य प्रत्यक्ष ज्ञान है तो दूसरा छोर है समाधि। लेकिन इन दोनों में ऐक्यानुभूति बिल्कुल कम या अत्यधिक मात्रा में बनी ही होती है। वेदान्त ने इसी अनुभूति को प्रत्यक्ष का स्वरूप-निर्धारक माना है। मोटे तौर पर हम यह कह सकते हैं कि हरेक प्रत्यक्षज्ञान यह ब्रह्मसाक्षात्कार की या विश्वव्यापी चैतन्यमयसत्ता की एक क्षणिक प्रतीति है जो क्षणमात्र स्थायी होने से या सब उपाधियों से पूर्णतया उन्मुक्त न होने से ही ब्रह्मानुभूति जैसे नहीं प्रतीत होती। फिर भी प्रत्यक्ष में क्षणिक नावीन्य, चमत्कार और आनन्द आदि का जो अनुभव होता है उसे ब्रह्मानुभूति का ही लक्षण कहना उपयुक्त होगा (यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि नावीन्य रहित ज्ञान को वेदान्ती प्रत्यक्ष रूप नहीं मानते)।

प्रत्यक्ष ज्ञान के क्षण में ज्ञान और विषय इनमें जो मूलभूत चैतन्य की एकता अभिव्यक्त होती है वह शब्दातीत होती है, लेकिन उसका शब्दों में बाद में जो वर्णन किया जाता है उसमें अनिवार्यत: इस

एकता का भंग हो जाने पर भी उसका कुछ न कुछ आभास इस वर्णन में भी अवशिष्ट रह ही जाता है। उदाहरणत: मेज को देख कर जब मैं कहता हूँ कि 'मैं मेज देख रहा हूँ', तब 'मैं' 'मेज' और 'देखने की क्रिया' ये सब एक दूसरे के साथ इस तरह जुड़े हुए हमारे सामने आते हैं कि इनकी एक दूसरे से असंयुक्त रूप में कल्पना करना ही कठिन हो जाता है। यदि देखने की क्रिया को मुझसे, याने देखने वाले से, अलग कर दिया जाय - जैसा कि तार्किक भावावदी और अनात्मवादी करते हैं, तो उपर्युक्त वर्णन इस प्रकार बदल जायगा - 'मेज का देखना अपने को 'मैं' कहने वाले व्यक्ति में घटित हो रहा है'। इसी प्रकार देखने को दृश्य वस्तु से बिल्कुल अलगा दिया जाय तो यही वर्णन इस प्रकार बदल देना होगा - मेज और ज्ञान एक दूसरे के साथ संबद्ध हो रहे हैं (या 'मेज ज्ञान के साथ अपने को जोड़ रहा है')। यदि ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञापक प्रमाण इनमें से किसी भी अंश को प्रधान ठहराकर बाकी तीनों को उसी में समाविष्ट कर देने या उन्हें गौण ठहरा देने का प्रयत्न किया जाय तो उसका भी ऊपर जैसा ही नतीजा निकलेगा। उदाहरणत: ज्ञाता में ज्ञान, ज्ञेय व ज्ञापक को यदि हम समाविष्ट कर दें तो 'मेज मैं हूँ' ऐसा उक्त वर्णन का स्वरूप होगा। यह वर्णन दृष्टि-सृष्टिवादियों के मातानुरूप विषयीनिष्ठ आदर्शवाद जैसा है। दृश्य में द्रष्टा दर्शन और दर्शक प्रमाण इनका समावेश कर दें तो 'मेज ज्ञेय है' (यहाँ ज्ञेयता मेज़ का एक आकस्मिक धर्म मानना होगा) ऐसा उक्त वर्णन को बदलना होगा। यह वर्णन तार्किक भाववादियों की भूमिका के अनुरूप है। दर्शन में द्रष्टा, दृश्य और दर्शक प्रमाण का अन्तर्भाव कर दिया जाय तो 'मेज रूप आकार युक्त संवित् है' ऐसा यह वर्णन होगा। यह मत विज्ञानवादियों का है। अन्त में यदि दर्शक प्रमाण में दृश्य, दर्शन और द्रष्टा का अन्तर्भाव कर दिया जाय तो 'मेज रूप निर्देश्य (Meaning या Referend) विद्यमान है' ऐसा उक्त वर्णन का रूपांतर करना होगा। यह रूपांतर आधुनिक तार्किक व्याकरण (Logical syntax) की विचार सरणी के अनुकूल होगा। लेकिन इन वर्णनों में से एक भी ज्ञान, विषय, ज्ञाता और ज्ञापक इनकी ज्ञान की परिस्थिति में प्रकट होने वाली एकता को व्यक्त नहीं कर पाता। ज्ञान के वर्णन के लिये भी ज्ञान, ज्ञेय आदि की मूलभूत एकता का थोड़ा बहुत प्रत्यय लाने वाले शब्द ही प्रयोग में लाने चाहिये।

अब हम संक्षेप में कुछ अन्य महत्वपूर्ण बातों पर विचार करेंगे। द्रष्टा को वेदान्ती अन्त:करण परिच्छिन्न चैतन्य कहता है। इसका कारण यह है कि बुद्धि, मन, अहंकार और चित्त के अन्त:करण घटक इन चार करणों के अपने अलग-अलग कार्य (Functional multiplicity) होते हुए भी इनके पीछे या इनमें अनुस्यूत एक आनुभविक एकता (Intuitional identify) है जिसके ये सब विविध आभास कहे जा सकते हैं। द्रष्टा बुद्धि, मन आदि का सहारा लेकर कार्य करता है किन्तु वह न बुद्धि है न अहंकार, न चित्त, न मन, न इन सब का वह समुच्चित रूप ही है। प्रमाण को 'अन्त:करण वृत्ति परिछिन्न चैतन्य' ऐसा वेदान्ती कहते हैं। इसका कारण यह है कि अन्त:करण उल्लसित होकर विषय की दिशा में जब प्रसूत होता है तब उक्त प्रमाता का ध्यान इतना संकुचित होता है कि वह विषय का आकलन कर सके। प्रमाता की व्यापक और आत्मलीन चेतना विषय की ओर मुड़कर जब तक कुछ संकुचित नहीं हो जाती तब तक आन्तरिक आत्मा का बाह्य विषय के साथ संपर्क स्थापित नहीं हो सकता। इस संकोच को ही 'वृत्ति' कहा जाता है। वृत्ति के द्वारा ही प्रमाता और प्रमेय के बीच में प्रमेय या विषय के अपने स्थान में सम्बन्ध (प्रथम उपाधियों की और बाद में उपाधि परिच्छिन्न चैतन्य का) प्रस्थापित होता है। इस विवेचन में, वैज्ञानिक स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में जो आक्षेप पीछे उपस्थित किये गये थे उनका कैसे अनायास निरसन हो जाता है, यह समझाने की जरूरत नहीं होगी।

***

सुषुप्ति का वेदान्तीय विश्लेषण - १

(१)

'सुषुप्ति' या 'गाढ़ निद्रा' ऐसा विषय है जिसकी दर्शन में चर्चा करने की कल्पना शायद ही किसी विचारक के मन में आये। मनोविज्ञान में भी मोहनिद्रा के अपवाद को छोड़कर इस विषय की चर्चा नहीं की जाती। इसका सही क्षेत्र तो शरीर-क्रिया शास्त्र (Physiology) है जहाँ शरीर की जीवन क्रिया (Metabolism) के एक अंग या अभिव्यक्ति के रूप में ही सुषुप्ति का विचार प्रस्तुत होता है। आपाततः यही उचित भी लगता है। जब मनुष्य (अन्य प्राणी भी) सभी बाह्य क्रियाओं से तथा अधिकांश शारीरिक क्रियाओं से भी विरत हो केवल श्वासोच्छ्वास व असम्बन्धित नैसर्गिक क्रियाएँ अचेतन रूप से करते पड़ा रहता है तभी उसे सुप्त कहा जाता है। ऐसी क्रियाओं में अर्थ (Significance) ही कहाँ होता है कि उसका अध्ययन दर्शन या मनोविज्ञान में किया जाय ? जब तक यह सिद्ध नहीं किया जाय कि सुषुप्ति ज्ञान की ही एक अवस्था है तब तक उसके दार्शनिक अध्ययन का प्रश्न ही नहीं उठता। पाश्चात्य दर्शन अधिकतर ज्ञान को जागृति व स्वप्न तक ही सीमित मानते हैं। निद्रा को भी ज्ञान की एक अवस्था मानने की कल्पना फ्रायड ने अपने मनोविज्ञान में लाया। एक हद तक यह कहा जा सकता है कि उसने मन के अचेतन (uonconscious) या अवचेतन (subconscious) स्तरों के रूप में ही निद्रावृत्ति को स्वीकार किया था। लेकिन बारीकी से देखने पर वेदान्त-सम्मत निद्रा का स्वरूप फ्रायड के अवचेतन से बिल्कुल भिन्न है, यह स्पष्ट हो जायेगा क्योंकि वेदान्त के मत में निद्रा बिल्कुल शून्य की अनुभूति है। तर्कशास्त्र के शब्दों में, निद्रा का विषय अत्यन्ताभाव (Complete negation) है, जिसका विषय निरपेक्ष अस्तित्त्व है (इन वाक्यों का स्पष्टीकरण आगे किया जायेगा)। किन्तु अवचेतन न शून्य है न उसकी अनुभूति। अधिक से अधिक फ्रायड इसके सम्बन्ध में यही स्पष्टीकरण दे सकता है कि अत्यन्त अवरुद्ध अनुभूति यदि जागृत अवस्था है तथा अर्धारुद्ध अनुभूति यदि स्वप्नावस्था है तो पूर्ण तथा अवरोधरहित अवस्था अवचेतन कहलाने योग्य है। यह कथन कुछ विरोधाभासमय जरूर प्रतीत होगा किन्तु जागृत अवस्था में अवरुद्ध विचार या अन्य मनोवृत्तियाँ ही अवचेतना को प्राप्त होती हैं, ऐसा फ्रायड ने ही कहा है। किन्तु जो अवस्था जागृति में अवचेतन होती है वही स्वप्न में निर्विरोध हो चेतना की ओर उन्मुख होती है, इस बात का विचार किया जाय तो उपर्युक्त कथन की उपयुक्तता स्पष्ट हो जायेगी। लेकिन फ्रायड की इस उपपत्ति में एक गंभीर त्रुटि यह है कि जागृति की तुलना में स्वप्न यदि अपेक्षाकृत कम अवरोध की स्थिति है तो स्वप्न की तुलना में निद्रा पूर्णतया अवरोधरहित होनी चाहिये। यानी स्वप्न में जो मनोवृत्तियाँ अस्पष्ट या प्रतीकात्मक रूप से ही उपस्थित होती है वे निद्रा में अपने शुद्ध रूप में स्पष्टतया प्रकट होनी चाहिये। लेकिन होता है बिल्कुल इसके विपरीत। इसका मतलब यह होता है कि अवचेतन की उत्पत्ति बिल्कुल शून्य से होती है। किन्तु यह विचार फ्रायड के अन्य विचारों से मेल नहीं खाता। शायद सामुदायिक अवचेतन (Racial uonconscious) या इस जैसे अन्य स्तरों की कल्पना कर सामान्य वैयक्तिक अवचेतन की उत्पत्ति का स्पष्टीकरण देने का प्रयत्न किया जाय, लेकिन यह निश्चय है कि इस चैतन्ग की परंपरा का कहीं न कहीं जाकर अन्त मानना पड़ेगा। जो

अवस्था इस परंपरा में अन्तिम मानी जायेगी उसके सम्बन्ध में यह प्रश्न पूछा ही जा सकता है कि वह अवस्था चेतन है या अचेतन ?

फ्रायड या अन्य मनोवैज्ञानिकों के विभिन्न विचारों का खंडन-मंडन यहाँ प्रस्तुत न होने के कारण उपर्युक्त तर्क को आगे बढ़ाने की कोई आवश्यकता नहीं है। हमें तो सिर्फ यह देखना था कि निद्रा के जिस स्वरूप का वेदान्तियों ने आकलन करने का प्रयत्न किया है उसकी ओर किन्हीं अन्य विचारकों ने पर्याप्त ध्यान दिया है या नहीं ? उपर्युक्त संक्षिप्त चर्चा यही बतलाती है कि सिर्फ वेदान्तियों को ही निद्रा का वृत्तिरूप ज्ञात हो सका है, अन्य लोगों की दृष्टि में तो निद्रा केवल एक तरह की शारीरिक क्रिया है। अब जरा इस क्रियावाद का विचार कर देख लिया जाय कि उसमें कितना तथ्य है।

(२)

क्रियावाद या व्यवहारवाद - जिसके लिये अंग्रेजी में 'Behaviourism' शब्द का सामान्यतया प्रयोग किया जाता है - एक ऊल-जलूल विचार सारणी है, जिसका स्वीकार तो रसेल जैसे मनीषियों ने भी जरूरत पड़ने पर किया, लेकिन जिसके दोषों की ओर पर्याप्त ध्यान इनमें किसी भी विचारक ने नहीं दिया। हमें यहाँ सिर्फ यह देखना है कि सुषुप्ति को ज्ञानरहित शरीर-क्रिया मानकर उसका संतोषदायक स्पष्टीकरण देना संभव है या नहीं।

इस विचार सरणी को इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है। चेतना की हरेक अवस्था में शरीर के किसी न किसी (या अधिकांश) अंगों की क्रियाएँ घटित होती रहती हैं। जैसे आँखों से वस्तुओं की ओर देखते समय आँखों की नसों तथा उनसे सम्बन्धित स्नायुओं एवं दिमाग के सम्बन्धित भागों की क्रियाएँ हुआ करती हैं। इसी प्रकार शरीर के पृष्ठभागीय अंगों में भी बाह्य वस्तुओं के साथ उनका सम्पर्क घटित होने से कुछ क्रियाएँ होती रहती हैं। इन सारी क्रियाओं के जरिये (सामूहिक रूप से) बाह्य दृश्य वस्तु का ज्ञान आँखों को हुआ करता है। ये सारी क्रियाएँ न हों तो सामने रखी हुई वस्तु का भी सुस्पष्ट ज्ञान आँखें खुली होने पर भी नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ मस्तिष्क की आँख से सम्बन्धित किसी पेशी को विद्युत के द्वारा ओजित भी किया जाय तो भी आँख में रूप-संवेदन (यानी आँख की नसों की क्रियाओं से सम्बन्धित शारीरिक संवेदना) ही होगी, सामने कोई वस्तु रखी हुई है, ऐसा ज्ञान शायद इससे नहीं होगा। इसप्रकार इन्द्रिय की क्रिया और विषय के आकलन के मध्य घटित होने वाली सारी शारीरिक क्रियाएँ विषय संवेदना के लिये पार्श्वभूमि या सूचकता का ही काम करती रहती हैं। उनका बाह्य संवेदन की अवस्था में स्वतन्त्र ज्ञान नहीं होता। किन्तु बाह्य इन्द्रियाँ अपनी क्रियाओं से जब विरत होती हैं तब जो स्वप्न जैसी अनुभूतियाँ जागृत होती हैं उनमें शारीरिक क्रियाओं को बहुत कुछ प्रमुखता प्राप्त हो जाती है। यद्यपि इन अनुभूतियों में भी शरीर-क्रियाओं की सूचकता बिल्कुल समाप्त नहीं हो जाती तथापि अधिकांश स्वप्नों में शरीर-क्रियाएँ ही प्रधानतया उपस्थित होती हैं। (यह बात Physiological Disterbance, यानी शरीर के अस्वास्थ्य के कारण घटित होने वाले स्वप्नों में, स्पष्टतया दिखलाई पड़ती है)। अत: यह कहा जा सकता है कि जागृति में जब बाह्य विषयों की संवेदना प्रधान होती है और शारीरिक संवेदना गौण तब स्वप्न जैसी अवस्थाओं में शरीर-संवेदना प्रधान होती है और विषय-संवेदना गौण रूप में या बिल्कुल नहीं ही उपस्थित होती है। निद्रा की अवस्था में शरीर-संवेदना भी मन्द पड़ जाती है या कम से कम उसका अधिकांश भाग चेतना के केन्द्र से हट जाता है और उसका एक छोटा सा अंश ही संवेदित होता है। इस संवेदना को Co-aneashtesis (सामान्य शारीरिक संवेदना) यह नाम दिया जाता है, जिसका मतलब यह है कि श्वासोच्छ्वास, रुधिराभिसरण, हृदयक्रिया आदि जीवनोपयोगी क्रियाओं की एक समवेत संवेदना ही निद्रा की अवस्था में घटित होती रहती है। अत: सारे शरीर में ही शैथिल्य का अनुभव निद्रावस्था में हुआ करता है।

(३)

यह चर्चा इस प्रसंग में इस कारण उपस्थित की गयी है कि यदि उसमें प्रतिपादित विचार सत्य हो तो वेदान्त का निद्रा वृत्ति का विश्लेषण बिल्कुल निराधार सिद्ध हो जाता है। वेदान्त के लिये 'निद्रा' का स्वरूप ठीक तरह समझना असामान्य महत्त्व रखता है। जिस आत्मा के स्वतंत्र व मूलभूत अस्तित्त्व का पुरस्कार वेदान्त करता है उसकी प्रतीति जागृति में क्वचित् ही होती है। यदि आत्मा की इस अवस्था में प्रतीति होती भी है तो वह बाह्य विषयों पर चढ़ाये हुए 'मम भाव' के मुलम्मे के रूप में ही। यही कारण है कि अधिकांश अनुभववादी इस 'मम भाव' के पुछल्ले को बाह्य प्रतीति से बिल्कुल ही उड़ा देना चाहते हैं। उदाहरणत: सामने एक वस्तु को देखकर यदि मैं कहता हूँ 'यहाँ मुझे अमुक वस्तु दीख रही है' तो अनुभववादी प्रतिवाद करेगा कि इस वाक्य में 'मुझे दीख रही है' इस अंश का इससे अलग कोई मतलब नहीं है कि अमुक वस्तु इस देश-काल संस्थान में ज्ञान विषय हो रही है। यदि ज्ञान को भी स्वतंत्र वस्तु के रूप में स्वीकार करना अपेक्षित न हो तो उपर्युक्त वाक्य का यह मतलब लिया जा सकता है कि इस देश-काल संस्थान में घटित होने वाली अमुक वस्तु एक अन्य संस्थान में भी (ज्ञान का भी संस्थान के रूप में वर्णन किया जा सकता है) घटित हो रही है (या समाविष्ट है)। इस प्रकार अनुभववादी प्रत्येक कर्तृ-प्रयोग को-जैसे मैं देखता हूँ कि ...... कर्मणि प्रयोग में-जैसे 'अमुक वस्तु (मेरे द्वारा) देखी जाती है-रूपान्तरित करता है और इस प्रयोग के घटक ज्ञान शब्द से गम्य वस्तु का ज्ञान विषय वस्तु में ही समावेश कर डालता है। इस पर भी ज्ञान के घटित होने का या वस्तु घटित होने का, या ज्ञान में वस्तु के घटित (या समाविष्ट) होने का स्वरूप क्या है, यह प्रश्न रह जाता है। यदि कोई वस्तु और उसका घटित होना ये दो अलग-अलग बातें हैं तो 'यहाँ पुस्तक है' इस वाक्य का अर्थ होगा 'यहाँ पुस्तक घटित हो रही है।' लेकिन पुस्तक तो कोई घटना नहीं है जो समय-समय पर घटित हो सकती है। अत: उक्त वाक्य से यह अभिप्राय लेना होगा कि 'यहाँ पुस्तक का ज्ञान घटित हो रहा है।' 'यह आपातत: उपयुक्त भी जँचेगा।' क्योंकि ज्ञान को वस्तु मानने पर भी उसे घटना के रूप में देखा जा सकता है। इसका कारण यह है कि बाह्य वस्तुएँ बिल्कुल स्थिर दिखलाई पड़ती हैं लेकिन एक ही वस्तु से सम्बन्धित एक ही जैसे ज्ञान अनेकों हो सकते हैं। इन ज्ञानों को व्यक्तिश: घटना के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। लेकिन इस प्रकार वस्तु-घटना निर्देश का वस्तु और उसका ज्ञान इस दो अवयवों में विश्लेषण कर भी दिया जाय तो भी ज्ञान घटना निर्देश में वही अड़चन उपस्थित होती है। 'मैं पुस्तक देखता हूँ' इस वाक्य में देखने की क्रिया का घटित होना बतलाया गया है। अब यदि देखने की क्रिया ही एक-घटना है तो उसका घटित होना क्या मतलब रखता है ? क्या एक घटना की दूसरी घटना हो सकती है ? इस पर अनुभववादी ('Positivist' के लिये यह पर्याय इस निबन्ध में इस्तेमाल किया गया है) यही कहेगा कि ज्ञान और उसका घटित होना ये दो अलग बातें नहीं हैं। ज्ञान ही ज्ञान की घटना है। अत: मैं देखता हूँ का सही अनुवाद 'यह (मेरा) देखना है'... ऐसा ही किया जाना चाहिये। इसमें 'मेरा' जैसे पद कोई खास मतलब नहीं रखते। ये देखना जैसी क्रियाओं को मर्यादित (Quantification) करने भर में सहायता देते हैं। लेकिन इतने पर भी 'देखना' के अनन्तर आने वाले 'हैं' का प्रश्न रह जाता है। यह 'है' क्या बतलाता ? कोई घटना तो इसके बतलाने के लिये रह नहीं जाती ? इस पर अनुभववादी का स्पष्ट उत्तर यह है कि 'है' कुछ भी नहीं बतलाता, वह निरर्थक है। 'मैं देखता हूँ कि ....' का सही अर्थ अंततोगत्वा यही किया जाना चाहिये कि 'अमुक वस्तु का देखना यहाँ, अब' इसमें से क्रिया पद ही उड़ा दिया गया है, क्योंकि उसी के कारण सारी कठिनाइयाँ पैदा होती हैं। वाक्यार्थ की सत्यासत्यता का प्रश्न भी इसी तरह उड़ा देने का अनुभववादियों ने प्रयत्न किया है। 'अमुक बात सत्य है' इस कथन का उनके मन में यह अर्थ नहीं होता कि 'सत्यता' रूप कोई धर्म है जो किसी बात में या ज्ञान में उपस्थित होता है। 'अमुक बात सत्य है' का तात्पर्य अमुक बात

है' इसी को जरा जोर देकर कहना और 'अमुक बात' का तात्पर्य ऊपर बतलाये 'अमुक बात !' ऐसा कहना ही है।

(४)

इस विचार सरणी में अनेक आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं, लेकिन यहाँ हम उनकी उपेक्षा कर जागृति से नितांत भिन्न जो निद्रावस्था है उसके सम्बन्ध में उपर्युक्त स्पष्टीकरण किस तरह बिल्कुल अप्रासंगिक हैं यही दिखलाने का प्रयत्न करेंगे। निद्रा में न बाह्य विषयों की संवेदना होती है, न आंतरिक मनोवृत्तियों की ही संवेदना होती है। फिर भी उसे शून्यावस्था तो नहीं माना जा सकता। इसके कारण का आगे जिक्र किया जायेगा। फिर भी श्वासोच्छ्वासादि क्रियाओं की संवेदना निद्रा में विद्यमान ही रहती है और वह किसी अंग विशेष से सम्बन्धित न होने के कारण सामान्य शारीरिक संवेदना के रूप में अभिव्यक्त होती हैं, ऐसा अनुभववादी कह सकता है। किन्तु यह विचार वेदान्तियों को अज्ञात था, ऐसा नहीं माना जा सकता। सभी भारतीय दार्शनिकों की यह धारणा है कि निद्रा में मन पुरीतत् नाम की नाड़ी में प्रवेश करता है और इस स्थिति में उसका त्वक्, यानी शरीर के संवेदनक्षम भागों से सम्बन्ध छूट जाता है। पुरीतत् नाड़ी की कल्पना के सम्बन्ध में यद्यपि निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता तो भी उक्त कथन से यह बात तो स्पष्ट हो जाती है कि भारतीय दर्शनकारों के मत से निद्रा की स्थिति में शरीर की बाह्य या आंतरिक संवेदना कतई नहीं रह सकती। संवेदना के लिये मन और विषय तथा इन्द्रिय इनके सम्पर्क की आवश्यकता है, जो निद्रा में बिल्कुल नहीं होता। जब शरीर के अंग-अंग ढीले पड़ जाते हैं, यहाँ तक कि उनके सुसंघटित अस्तित्त्व तक को (जिसे ही सामान्यतया 'शारीरिक संवेदना' यह नाम दिया जाता है) हम भूलने की स्थिति में होते हैं तब शारीरिक संवेदना को निद्रावृत्ति का आलंबन नहीं कहा जा सकता। जागृति में हम कह सकते हैं कि शरीर की सुसंघटित रासायनिक प्रक्रिया (Metabolism) देखने, सुनने जैसी जटिल क्रियाओं की एकता का आलंबन होती है। किन्तु निद्रावस्था में, जब रासायनिक प्रक्रिया के अलावा और कुछ होता ही नहीं तब, यह कहना कि वही शारीरिक संवेदना का आलंबन होती है, उपयुक्त नहीं है। जीवनोपयोगी रासायनिक प्रक्रिया कोई एक प्रक्रिया नहीं है। इसमें हृदय-क्रिया, श्वसन-क्रिया, रुधिराभिसरण, मस्तिष्क संवेदन आदि अनेकों क्रियाओं का समावेश होता है। इन क्रियाओं का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध भी होता है। फिर इन में हरेक की अलग-अलग संवेदना भी होती है। जैसे दीर्घ श्वासोच्छ्वास लेने पर श्वासोच्छ्वास की संवेदना होती है। जोर से दौड़ लगाने पर हृदय की गति की संवेदना होती है। अब इन सब विभिन्न प्रकार की संवेदनाओं का सम्मिश्रण होकर एकरूप शारीरिक संवेदना की उत्पत्ति होती है ऐसा माना जाय तो इसकी उपपत्ति क्या हो सकती है ? वस्तुओं के जैसे उनसे भिन्न स्वरूप वाले रासायनिक मिश्रण होते हैं वैसे ही संवेदनाओं का भी रासायनिक सम्मिश्रण होता है, यह किसी तरह मान भी लिया जाय तो एक अन्य प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस शारीरिक संवेदना को संवेद्य माना जाय या संवेदक ? जागृति में शारीरिक संवेदना वर्तमान होती है, किन्तु जैसा पीछे बताया गया है, वह वहाँ विषय-संवेदना के अधिष्ठान के या विषय के सूचक के रूप में ही विद्यमान होती हैं। इसीलिये उसके अस्तित्त्व की वहाँ स्पष्ट प्रतीति होती नहीं। दर-असल देखा जाय तो विषय-संवेदना को शरीर संवेदना का ही विस्तार (Continuation) माना जा सकता है। यदि उत्तेजक (Stimulus) के इन्द्रियाभिमख होने से लेकर शरीर के क्रियाशील अंगों की प्रतिक्रिया (Motor responce) तक शरीर के अन्दर घटित होने वाली प्रक्रियाएँ अंशत: या पूर्णतया घटित न हो तो बाह्य विषय का वस्तु के रूप में आकलन ही असंभव हो जायेगा। लेकिन इस प्रकार शरीर-संवेदना को विषय संवेदना का घटक या अधिष्ठान मान लेने पर संवेदक का प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाता है। अनुभववादी ज्ञान या संवेदना को संवेद्य में समाविष्ट करने का कितना ही प्रयत्न करें,

किन्तु संवेदना पानी में डुबाये काग के समान वाक्य, वक्तव्य (Statement), प्रतिज्ञा (Proposition), अर्थ (Meaning) या निर्देशन के रूप में संवेद्य से ऊपर उठती रहती है। इस परिस्थिति में अनुभववादी को अपनी जान बचाने का एक ही रास्ता है और वह है शरीर-संवेदना को संवेदक मानना और विषय को उसका संवेद्य मानना। अधिक ठीक ढंग से कहा जाय तो संवेदनक्षम शरीर को संवेदक और विषय को संवेद्य कहना चाहिये। अब यहाँ बात निद्रा की उपपत्ति में अड़चन पैदा करती है। निद्रा में कोई विषय मन के सामने नहीं होता। शरीर से भी मन का संपर्क लगभग छूटा ही रहता है। मन का शरीरातिरिक्त अस्तित्त्व किस प्रकार का यहाँ अभिप्रेत है यह प्रश्न यहाँ उठाया जा सकता है। गहराई में न जाते हुए इतना ही इस पर कहना पर्याप्त होगा कि विषय जिसके बिल्कुल सामने होता है वही मन' माना जा सकता है। मन के स्वतंत्र अस्तित्त्व के समर्थन के लिये पर्याप्त तर्क वेदान्त ने दिये हैं। उनकी चर्चा की यहाँ आवश्यकता नहीं। शरीर की क्रियाएँ भले ही निद्रा में जारी हों लेकिन कितनी ही क्रियाओं का मिश्रण किया जाय उससे क्रियाएँ ही प्राप्त होंगी न कि संवेदना। किन्तु निद्रा में चाहे जो कुछ संवेदना होती हो किसी भी क्रिया की संवदेना नहीं होती, इतना तो निर्विवाद है।

(५)

इस अड़चन का एक उपाय है। हम कह सकते हैं कि संवेद्य व संवेदक का भेद सभी मनोवृत्तियों में नहीं होता। यदि मुझे सिर दर्द होता है तो मैं सिर दर्द में इस कदर उलझ जाता हूँ कि सिर दर्द से अलग मैं अपने को महसूस ही नहीं कर पाता। यही बात सुखानुभूति की भी है। उत्कट सुख की अवस्था में सारा शरीर पुलकित हो उठता है, भले ही सुखोद्गम का स्थान शरीर का कोई अंगविशेष ही क्यों न हो। क्या निद्रानुभूति इसी प्रकार विषय-विषयी-भेद रहित नहीं हो सकती ? इस प्रश्न का उत्तर विचार कर देखने पर नकारात्मक ही देना पड़ेगा। निद्रा में प्रवेश करते समय हम शरीर के अंगप्रत्यंग से अपने को अपसारित करते हुए पाते हैं। इस हालत में सारा शरीर पुलकित होने की बात ही दूर है शरीर का एक अंग भी निद्रा में पुलकित होते नहीं दीखता। बाह्यत: सुप्त और मृत व्यक्तियों में कोई अंतर नहीं होता। आपातत: निद्रानुभूति में और सुखानुभूति में बहुत साम्य प्रतीत होता है। दोनों ही हालतों में अनुभवकर्ता आत्मलीन हुआ रहता है। लेकिन इन दोनों में जो बहुत बड़ा फर्क है उसे भुलाना कदापि योग्य नहीं होगा। सुखानुभूति शरीरानुभूति से संवेष्ठित या लिपटी हुई सी ही हुआ करती है, उससे असंपृक्त नहीं। बुभुक्षित व्यक्ति को अनपेक्षित रूप से कोई पकवान खाने को मिल जाय तो उसके सेवन के आनंद से उसका रोम-रोम पुलकित हो जाएगा और पकवान का स्वाद उस व्यक्ति के जिह्वाग्र पर थिरकता रहेगा। निद्रा में सुख जैसी कोई अनुभूति होती जरूर है लेकिन वह शरीरानुभूति पर अधिष्ठित होती नहीं, यह बात अनुभवसिद्ध सत्य है।

यह बात स्पिनोजा के शरीर सम्बन्धी विचारों के अध्ययन से काफी स्पष्ट हो जाती है। स्पिनोजा कहता है कि जीव शरीर में एक conatus (भारतीय दर्शन की परिभाषा में उसे 'जीवन योनियत्न' यह नाम दिया जा सकता है) नामक तत्त्व होता है जिसकी प्रेरणा से चेतन शरीर उस पर आघात-प्रत्याघात करने वाली इर्दगिर्द की शक्तियों के बीच में अपना संतुलन बनाये रखने में तत्पर व सफल होता है। शरीर को या उसके स्वास्थ्य की अनुभूति इसी conatus की अनुभूति है जिसमें अनिवार्य रूप से कुछ तनाव विद्यमान होता है। सामान्य तनाव (Tunsion) जाग्रत रहने के लिये भी आवश्यक है। न्यूनतम तनाव भी यदि न रहे तो हम निद्रा की ओर उन्मुख होंगे। इसका मतलब यह है कि निद्रा की अनुभूति शरीरानुभूति से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। निद्रा और सामान्य शरीर संवेदना (co-aneasthesia) की एकता की कल्पना योग में कल्पित साधारण प्रक्रियाओं के भी अज्ञान का परिणाम है। Relaxation या शरीर-शिथिलीकरण के अभ्यास में शरीर के अत्यधिक थके हुए अंगों को शरीर से बिल्कुल अलग मानकर उन

पर के तनाव को अधिकाधिक कम करने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रयत्न में मन उपयुक्त कल्पना का संसूचन कर बहुत सहायता पहुँचाता है। यह शिथिलीकरण यदि अभ्यासजनित है तो निद्राजनित शिथिलीकरण नैसर्गिक है। अत: निद्रा में - वह यदि प्रगाढ़ हो तो - जिस शैथिल्य का अनुभव होता है उसकी संभावना मन व शरीर के सब अंतर्बाह्य अंगों के पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद पर ही स्वीकार्य हो सकती है।

यह एक बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये। निद्रा में सभी अंगों में शिथिलता आ जाती है, इस पर से, वह अत्यंत निष्क्रियता (Passivity) की अवस्था हो सकती है, ऐसा किसी को संशय हो सकता है। निद्रित व मृत व्यक्ति में बाह्य साम्य (निश्चेतनता व जड़ता आदि बातों में) पर से इस संशय को पुष्टि भी मिलती है। लेकिन सत्य इसके बिल्कुल विपरीत होता है। न केवल निद्रित व्यक्ति मृत्यु जैसी निश्चेष्टता की अवस्था से बिल्कुल दूर होता है प्रत्युत दीर्घ व नियमित श्वासोच्छ्वास, शरीर की अंतर्गत अशुद्धियों का अपसारण, उसमें ताजगी का प्रवेश आदि बातों को निद्रा में घटित होते हुए देखकर कोई भी यह मानने को बाध्य हो जायेगा कि जागृति से भी अधिक सजीव अवस्था निद्रा की है। यह बात अलग है कि इस सजीवता का प्रत्यय बाह्य क्रियाओं के रूप में नहीं आता, मानो सारी सजीवता इस हालत में अन्तर्मुख हो बाह्य वस्तुओं से अपना मुँह मोड़ लेती है। और यही तो निद्रावस्था का विरोधाभास है कि इसमें निश्चलता होने पर भी जड़ता नहीं है, बाह्य क्रिया न होने पर भी आंतरिक क्रिया (श्वासोच्छ्वासादि) पूर्णतया विद्यमान है, शरीरानुभूति न होने पर भी सुखानुभूति उपस्थित है और कोई विषय न होते हुए भी अनुभव शून्यता की हालत नहीं है। तो इस अनुभवावस्था का विषय क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देने के पहले हम निद्रा के विश्लेषण के दार्शनिक महत्त्व पर दो एक बातें कह लेना आवश्यक समझते हैं।

पीछे हम कह आये हैं कि ज्ञान और विषय के सम्बन्ध का ज्ञान निद्रावस्था के विश्लेषण के द्वारा जितनी ठीक तरह से हो सकता है उतना जागृति के विश्लेषण से नहीं। इसके एक कारण का पीछे निर्देश भी किया गया था। यह कारण यथार्थवाद या अनुभववाद का मूल आधार ही है। जागृति में इन्द्रियों के सामने जो वस्तुएँ आती हैं उनकी उपलब्धि इन्द्रियों से होती है। इस पर से ज्ञान-प्रामाण्यवादी यह तर्क करता है कि बाह्य वस्तुओं के अस्तित्त्व का इन्द्रियाँ न केवल ज्ञापन करती हैं, वे उनका अधिष्ठान भी (प्रमाण के रूप में) होती हैं। इस पर स्वत: प्रामाण्यवादी प्रतिवाद करता है कि वस्तुओं का अस्तित्त्व तो पूर्वसिद्ध तथा ज्ञाननिरपेक्ष है, ज्ञान केवल समय-समय पर वस्तु के सम्पर्क में आकर उसका ज्ञापन करता रहता है। अब इस पूर्वसिद्धता का क्या मतलब है, यह जानना आवश्यक है। सामान्य मनुष्य उसका यह अर्थ लेता है कि जिस विविध वस्तुमय संसार में वह जन्म लेता व जीवन बिताता है उस संसार के उत्पत्ति-विनाश का इसके अपने उत्पत्ति-विनाश से कोई सम्बन्ध नहीं है। संसार या उसकी घटक कोई वस्तु न किसी मनुष्य विशेष के लिए पैदा होती है, न उसके न होने से वह नष्ट हो जाती है। लेकिन पूर्वसिद्धता की यह कल्पना विचार कर देखने पर नितान्त भ्रामक सिद्ध होती है। संसार किसी एक व्यक्ति के लिये नहीं है अत: वह किसी भी एक व्यक्ति का बनाया हुआ नहीं है, यह तर्क प्रत्येक व्यक्ति के सम्बन्ध में लागू किया जाय तो इससे यह अतीव विचित्र निष्कर्ष निकलता है कि संसार न किसी व्यक्ति के लिये है, न किसी व्यक्ति का बनाया ही है। इसी निष्कर्ष को ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है; सामने रखी हुई वस्तु मुझे सिर्फ दिखाई देती है। मैं अपने ज्ञान से उसका निर्माण नहीं करता, क्योंकि अपनी अनुपस्थिति में भी मैं इस वस्तु के अस्तित्त्व की कल्पना कर सकता हूँ। यही इस वस्तु की पूर्वसिद्धता है। इस पर यदि कोई पूछे कि अपनी अनुपस्थिति में वस्तु के अस्तित्त्व की कैसी कल्पना आप करते हैं, तो मैं कहूँगा कि वह वस्तु उस समय (मेरी अनुपस्थिति में) दूसरे किसी

व्यक्ति को जैसे दिखती रही होगी उस रूप में, या मुझे पहले वह जैसी दिखायी दी उस रूप में। लेकिन गहराई से सोंचने पर ये दोनों विकल्प गलत प्रतीत होंगे। दूसरा विकल्प यह बतलाता है कि अपनी अनुपस्थिति में वस्तु के अस्तित्त्व की कल्पना उसकी पूर्वावस्था की स्मृति पर अधिष्ठित है। तो क्या यह सिर्फ स्मृति है ? यदि नहीं तो स्मृति को प्रत्यक्ष या प्रत्यभिज्ञान का रूप देने वाला ज्ञान जब विद्यमान ही नहीं है तो उपर्युक्त कल्पना स्मृति छोड़ और क्या हो सकती है ? यदि पहला विकल्प लिया जाय तो इसका यह तात्पर्य निकलता है कि मैं अपने वस्त्वानुभव-सातत्य को अपनी अनुपस्थिति के समय किसी दूसरे के अनुभव पर अधिष्ठित करना चाहता हूँ। क्या यह कथन वैसा ही नहीं है कि जब मुझे सर दर्द हो रहा है तब तो वह हो ही रहा है लेकिन जब वह मुझे न होकर मेरे किसी मित्र को हो रहा है तब भी वह मुझे हो रहा है। इस पर पुन: यह प्रतिवाद किया जा सकता है कि किसी वस्तु की पूर्वसिद्धता या अपूर्वसिद्धता तर्क से प्रस्थापित करने योग्य बात नहीं है। अपने सर दर्द की पूर्वसिद्धता को कोई स्वीकार नहीं करता, किन्तु बाह्य वस्तुओं की पूर्वसिद्धता सर्वजन-अनुभव-सिद्ध है, उसका तर्क के द्वारा स्पष्टीकरण ही दार्शनिक को करना चाहिये न कि प्रस्थापन या निराकरण। लेकिन एक व्यक्ति के किसी अनुभव का दूसरों के अनुभवों के साथ सातत्य उन दोनों के सामान्य (अवैयक्तिक) स्वरूप के द्वारा ही प्रस्थापित हो सकता है। इस सामान्यरूप का ज्ञान यदि व्यक्ति को न हो तो वह वस्तु के ज्ञान-निरपेक्ष अस्तित्त्व की कल्पना नहीं कर सकता। यदि उसको यह ज्ञान है तो इसका सीधा मतलब यही निकलता है कि व्यक्ति अपने अनुभवों पर से ही अन्ततोगत्वा वस्तु के अस्तित्त्व का निर्धारण करता है, भले ही इस बात को वह स्वयं न जानता हो। यदि यह बात है तो क्या आँखों से वस्तु को देखने पर कोई यह तर्क करता है कि 'चूँकि यह चीज मुझे दिखाई पड़ रही है अत: यह यहाँ है, या जब तक मैं इस चीज को देखता रहूँ तभी तक वह यहाँ पर होगी और मेरे आँख बन्द कर लेने पर वह गायब हो जायेगी ? नहीं, वस्तु का सद्य:प्रत्यक्ष दृश्य स्वरूप प्रमाणित करने की कोई आवश्यकता नहीं होती वह तो दिखलाई ही पड़ती है। उसकी प्रत्यक्ष सत्ता के सम्बन्ध में प्रश्न उठे तभी तो उसे प्रमाणित करने की आवश्यकता प्रतीत होगी ? वस्तु की जिस सत्ता के सम्बन्ध में प्रश्न उठाया जाता और जा सकता है वह तो उसकी सामान्य सत्ता है, जिसमें वस्तु की द्रष्टाकालीन व द्रष्टाविरहित ऐसी दोनों प्रकार की उपस्थितियों का समावेश होता है ? ऐसी सत्ता चूँकि कल्पनीय है इसीलिये वह बिल्कुल अनुभव-निरपेक्ष नहीं हो सकती। किन्तु यदि उसे अनुभव-सापेक्ष माना जाय तो या तो उसे दूसरों के अनुभव-सापेक्ष (मेरी अनुपस्थिति में) माना जा सकता है, या ईश्वर के अनुभव-सापेक्ष माना जा सकता है या अपने किसी भिन्न स्तरीय अनुभवों के सापेक्ष माना जा सकता है। दूसरों के अनुभव-सापेक्ष वस्तु की सामान्य सत्ता को मानना तभी युक्तियुक्त होगा यदि दूसरों के अनुभवों का ज्ञान हमें वस्तु के अनुभव के पूर्व और उसकी अपेक्षा न रखते हुए प्राप्त होता है। लेकिन ऐसी बात नहीं है। वस्तु विषयक अनुभव ही प्राथमिक होता है, दूसरों के अनुभवों के सम्बन्ध में ज्ञान इस अनुभव के आधार पर ही हुआ करता है। वही बात ईश्वर के अनुभव के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। अदृश्य ईश्वर के अनुभव की हम इसीलिये कल्पना करते हैं कि विश्व की बिल्कुल द्रष्टा रहित सामान्य अवस्था की भी कल्पना की जा सके। लेकिन जैसा कि यूइंग ने अपने 'Idealism : A Critical Survey' में आक्षेप किया है, यदि ईश्वर का अनुभव मानवीय अनुभव से नितान्त भिन्न है तो उसकी कल्पना वस्तुसत्ता के निर्धारण के लिये बिल्कुल उपयुक्त नहीं है। और यदि वह मानवीय अनुभव जैसा ही है तो उसकी कल्पना कर भी वस्तु की सद्य: अनुभव निरपेक्ष सत्ता का निर्धारण कैसे किया जा सकता है ? इन सारी अड़चनों पर एक ही प्रतिकार संभव है और वह यह है कि अपने ही अनुभवों पर से या उनके विभिन्न स्तरों पर से वस्तु की सामान्य सत्ता को प्रतिष्ठित करना। इसका मतलब यह होता है कि जब मैं किसी वस्तु को नहीं देख रहा हूँ, याने अपने दृश्य गुणों से समन्वित रूप से वस्तु मेरे सामने

नहीं है, तब भी इन्द्रियातीत धर्मों से युक्त हो वही वस्तु मेरे मन के सामने उपस्थित हो सकती है। जब यह भी संभव नहीं है - जैसे निद्रावस्था में, जबकि मन भी निष्क्रिय हुआ रहता है - तब न तो दृश्य गुणों से युक्त, न अदृश्य किन्तु कल्पनार्ह धर्मों से युक्त स्वरूप से वस्तु मेरे सामने आ सकती है। क्योंकि देखने या सोंचने वाले 'मैं' के रूप में मैं निद्रा में विद्यमान ही नहीं होता। और उसी प्रकार देखने या सोंचने योग्य वस्तु के साथ सातत्य कैसे प्रस्थापित हो पाता है ? इसका उत्तर है : निद्रावस्था की अनुभूति, जिसका विश्लेषण करने का हम प्रयास कर रहे हैं।

निद्रानुभूति का विषय कल्पनातीत होते हुए भी कुछ होता है और उस अनुभूति का अधिष्ठान इन्द्रिय, शरीर, मन, बुद्धि आदि में से कोई भी न होते हुए भी कुछ न कुछ होता ही है। यह विषय काण्ट की स्वलक्षण वस्तु (Thing-in-itself) नहीं हो सकता, यदि स्वलक्षण का मतलब पूर्णतया अज्ञेय या ज्ञेयता की परिसीमा, यह लिया जाय। यदि 'अज्ञेय भी अज्ञेयता के रूप में ज्ञेय होना ही चाहिये' यह बात काण्ट को अभिप्रेत हो तो शायद इस स्वलक्षण वस्तु को निद्रानुभूति का विषय माना जा सकता है। लेकिन क्या काण्ट यह स्पष्टीकरण नहीं दे सकता कि अज्ञेय अज्ञेयरूप से स्वयंप्रकाश ही है या किसी न किसी ज्ञाता के लिये ही यह ज्ञेय है ? इनमें पहला पक्ष उपयुक्त नहीं जँचता। अज्ञेय की अज्ञेयता को ज्ञान की ही एक अभिव्यक्ति कैसे माना जाय ? यदि इस आपत्ति के निवारणार्थ अज्ञेयता का ज्ञान ज्ञाता को ही होता है, ऐसा कहा जाय तो इस ज्ञान के स्वरूप के सम्बन्ध में पुन: पहला ही प्रश्न उपस्थित होता है। यदि अज्ञेयता ज्ञेय है तो वह पूर्ण अज्ञेयता नहीं है और यदि वह पूर्ण है तो वह ज्ञेय नहीं है। इस दुविधा में से रास्ता निकालना हो तो एक ही तरीका है और वह यह है कि या तो अज्ञेयता के ज्ञान को सामान्य वस्तुविषयक ज्ञानों से भिन्न प्रकार का ही समझा जाय या सामान्य वस्तुओं की अज्ञेयता की ही तरह इसे अंशत: ज्ञात और अंशत: अज्ञात समझा जाय। किन्तु केवल यह कहकर ही काम नहीं चलेगा कि अज्ञेयता का ज्ञान सामान्य ज्ञानों से भिन्न प्रकार का होता है। हमें समझाना होगा कि किस प्रकार अज्ञेयता ज्ञानविषय होकर भी अपनी अज्ञेयता से च्युत नहीं हो सकती। इसके स्पष्टीकरण के लिये हम एक परिचित उदाहरण ले सकते हैं। सूर्य के प्रकाश का अस्तित्त्व हमें वायुमण्डल के धूलकणों पर से परिवर्तित हुई सूर्यरश्मियों पर से ही प्रतीत हुआ करता है। सूर्यरश्मियाँ सीधे ही हमारी आँखों पर पड़ें तो वे चौंधिया जायेंगी, उस हालत में प्रकाश किरणों के अस्तित्त्व का उन्हें ज्ञान नहीं होगा। अब यदि वायुमण्डल के ऊपर अन्तरिक्ष में हम चले जाँय, जहाँ धूलिकण बिल्कुल नहीं होते, तो वहाँ सूर्य के प्रकाश की सत्ता का ज्ञान हमें कैसे होगा? शायद प्रकाश के हमारे शरीर के किसी अंग पर से टकरा कर हमारी आँखों पर परावर्तित होने से ही। अब कल्पना करें कि हमारे शरीर पर आँखों को छोड़ ऐसा आवरण चढ़ा हुआ है जो सारी की सारी प्रकाश रश्मियों को सोख लेता है। ऐसी हालत में क्या प्रकाश दिखलाई पड़ेगा ? नहीं ! तब क्या दिखलाई पड़ेगा ? केवल अंधकार, (घुप अँधेरे में भी आँखों को अँधेरा दिखाई पड़ता है, यह कथन उपयुक्त हो तो उपर्युक्त कथन भी उपयुक्त मानने में कोई हर्ज नहीं है), यहाँ अंधकार का दिखायी पड़ना और वस्तुओं का दिखाई पड़ना इन दोनों के अंतर को समझना आवश्यक है। अँधेरे में सामान्य मनुष्य को जैसे कुछ भी दीखता नहीं वैसे ही अंधे को भी अँधेरे में कुछ भी नहीं दीखता। लेकिन अँधेरे में सामान्य मनुष्य 'मुझे अँधेरा दीखता है' ऐसा जैसे कह सकता है, वैसे अंधा नहीं कह सकता। इसका कारण यह है कि अँधेरे के ज्ञान के दो पक्ष या पहलू होते हैं। एक निषेधात्मक, जिसे प्रकाश के अभाव के रूप में हम पहिचानते हैं; दूसरा विध्यात्मक, जिसका केवल 'अँधेरा' इसी शब्द से निर्देश किया जाता है। दृष्टियुक्त सामान्य मनुष्य अँधेरे के दोनों पहलूओं को पहचानता है जबकि अंधा केवल एक विध्यात्मक पहलू को ही जान पाता है। इसीलिये अंधे का 'अँधेरा' शब्द का प्रयोग वही अर्थ नहीं रख सकता जो सामान्य मनुष्य के उसी प्रयोग का हुआ करता है।

अज्ञेयता के सम्बन्ध में इसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि उसके ज्ञेय होने का मतलब सामान्य वस्तुओं के समान उसका ज्ञानविषय होना यह न होकर अनुभूति से - जो निद्रा में घटित होती है - उसका अलग पड़ जाना यही है। यह परिस्थिति वस्तु-विषयक ज्ञान की स्थिति से नितान्त भिन्न है। पिछले स्पष्टीकरण के अनुसार जागृति में तो वस्तुओं में ज्ञान इस कदर समाविष्ट सा रहता है कि उसके स्वतंत्र अस्तित्त्व तक पर शंका उठायी जाने लगती है। निद्रावस्था इसीलिये विचारणीय है कि इसमें सर्वप्रथम वस्तु और ज्ञान एक दूसरे से अलगाये जाने पर किस तरह रह जाते हैं यह जानने का मौका मिलता है। वेदान्तियों के लिए निद्रा इसी कारण एक निर्णायक (Crucial) अनुभूति है, जिसमें ज्ञान और विषय दोनों उपस्थित होकर भी सामान्य अनुभूतियों के समान वे विषय-विषयी नहीं होते।

(६)

अब तक की चर्चा हमें इस निष्कर्ष तक ला पहुँचाती है कि सामान्य अनुभवों में - जागृत या स्वप्नमय - जो विषय समाविष्ट होते हैं उन्हीं का अभाव (पूर्ण अभाव, जिसे अंग्रेजी में Infinite negation कहा जाता है) निद्रानुभव में ज्ञात होता है। लेकिन सामान्य वस्तुयें जैसे ज्ञान का विषय होकर ही ज्ञात होती हैं वैसे यह अभाव विषयरूप होकर ज्ञात नहीं होता। ज्ञान से अलग पड़ जाने के कारण ही यह ज्ञात होता है, अथवा यों कहिये कि ऐसा अलग पड़ जाना ही इसका ज्ञान होना है। निद्रावस्था में इस अभाव से अधिक विध्यात्मक कोई वस्तु ज्ञेय के रूप में उपस्थित हो ही नहीं सकती, यह हम ऊपर देख ही आये हैं। यह अभाव किसी एक या अधिक वस्तुओं से सम्बन्धित जागृत अनुभव में प्रतीत होने वाले अभाव के जैसा नहीं हो सकता। सामान्य अभाव विधि के ही प्रतिरूप हुआ करते हैं। जैसे, यहाँ पुस्तक नहीं है, कहने का तात्पर्य होगा 'यहाँ और कोई चीज है' (जो अपेक्षित या अनपेक्षित है)। अभाव-ज्ञान को इसीलिये नैयायिकों ने प्रतियोगी व अनुयोगी ज्ञान-सापेक्ष माना है और यही बात सोचकर कुछ मीमांसकों ने वस्तु के एक पक्ष को भाव और दूसरे को अभाव कह डाला है (द्रष्टव्य प्रसिद्ध कारिका-स्वरूप पर-रूपाभ्यां नित्यं सद्सदात्मके। वस्तुनि ज्ञायते किंचित् कैश्चिद्रूपं कदाचन) नैयायिकों ने अभाव को स्वतंत्र पदार्थ मानकर भी उसके जिस रूप को स्वीकार किया है वह उसे भावपदार्थों से विशेष तथा अलगाने के लिये पर्याप्त नहीं है। इस पर से हम यह कह सकते हैं कि शुद्ध अभाव पदार्थ का अभाव के रूप में वेदान्त से अतिरिक्त किसी दर्शन ने पुरस्कार नहीं किया है। वेदान्त का अभाव बड़ा ही अजीब तत्त्व है। यह माध्यमिकों का 'शून्य' नहीं है क्योंकि इसमें विध्यात्मक स्वरूप विद्यमान है (जो इसमें इसी कारण अवतीर्ण होता है कि इसका ऊपर बतलाए मुताबिक अलगाव के रूप में ज्ञान के साथ सम्बन्ध होता है)। यह मीमांसकों का अनुयोगी या प्रतियोगी स्वरूप अभाव नहीं क्योंकि यह इन दोनों से अलग निरपेक्ष रूप से निद्रा में समाविष्ट होता है। यह नैयायिकों का भावातिरिक्त ऐसा परिनिष्ठत पदार्थ भी नहीं है क्योंकि यह ज्ञान विषय न होकर भी ज्ञान से तिरस्कृत वस्तु के रूप में ही अस्तित्त्व प्राप्त करता है। आकाश कुसुम के समान यह असत् भी नहीं है क्योंकि यह अनुभवगम्य है और सबसे बड़ी आश्चर्य की बात यह है कि इसी अभाव में से विश्व के क्रमिक विकास को वेदान्ती घटित होता हुआ मानते हैं।

इस पर एक प्रश्न संभाव्य है कि यदि अभाव का ज्ञान-विषय रूप से अस्तित्त्व नहीं है तो ज्ञान को भी निद्रावस्था से स्वतंत्र क्यों कर माना जाय ? आखिर, ज्ञान और अभाव दोनों ही निद्रा में अपने तिरोधान की स्थिति (Vanishing point) को प्राप्त हुए रहते हैं ! यदि अंततोगत्वा चैतन्य के स्वयंपूर्ण अस्तित्त्व का समर्थन ही वेदान्त का उद्देश्य है तो यथार्थवादी चैतन्य के बदले अभाव जैसे तत्त्व के अस्तित्त्व का वेदान्ती के विरुद्ध जोरदार समर्थन कर सकता है और निद्रा में अनुभूतिरहित केवल अभाव ही है, ऐसा क्यों न कहा जाय ? इसका उत्तर यह है कि केवल अभाव निद्रापूर्वकालीन व निद्रोत्तरकालीन अनुभवों में सातत्य स्थापित करने में असमर्थ है और अभाव ही निद्रा के रूप में हमें अपेक्षित हो तो हम

मृत्युरूप शून्य की बुद्धि परस्पर स्वीकार क्यों नहीं करते ? असली बात तो यह है कि निद्रावस्था का अभाव सामान्य अभावों के समान कभी उपेक्षणीय तो कभी दु:खद ऐसा नहीं होता। वह हर हालत में सुखद ही होता है। इसीलिए गाढ़ी नींद से जागने पर हम ताजगी का अनुभव करते हैं।

इस अभाव की अनुभूति की एक और विशेषता हुआ करती है। जागने पर नींद के आराम के बारे में हम न सोचें तो, नींद से हमें आनंद हुआ या नहीं, इस बात का पता नहीं चलेगा। लेकिन कोई पूछे कि 'क्या आपने आराम कर लिया ?' तब हम अपनी नींद के बारे में सोच कर जवाब देते हैं कि 'हाँ, मैं बड़ी गहरी नींद और बड़े मजे में सोया,' इस कथन के पीछे नींद के अनुभव की स्मृति के अनुरूप निद्रा का अनुभव जब घटित हुआ, तब हम उसे अनुभव के रूप में पहचानने में बिल्कुल असमर्थ थे। इसका कारण यह है कि उस अनुभव का विषय, अभाव, ऐसी वस्तु है जिसका किसी भी प्रकार से निर्देश ही असंभव है, किन्तु अनुभव तो संभव है क्योंकि वास्तव में यह अनुभव अभाव का या और किसी का नहीं है, इसका सब विषयों से बिछुड़ जाना ही इसका घटित होना है। इसीलिए निद्रा के अनुभव का वर्णन संभव नहीं होता। किसी भी अनुभव का वर्णन उसके विषय के परिनिष्ठित होने पर निर्भर करता है। अनंत अभाव (Infinite negation) का स्वरूप यदि परिनिष्ठित माना जाय तो वह अनंत ही कैसे हो ?

नोट :- इस लेख में जो तर्क दिये गये हैं वे - एक दो को छोड़कर - केवल लेखक के कल्पित हैं। अत: उनके गलत या सही होने की जिम्मेदारी किसी प्राचीन ग्रंथकार पर नहीं थोपनी चाहिये।

***

सुषुप्ति का वेदान्तीय विश्लेषण-२

प्रस्तुत लेख के पूर्वार्ध में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया था कि निद्रावस्था में जो अनुभूति होती है उसका आधार या विषय बाह्य या शरीरान्तर्गत ऐसी कोई बात नहीं होती तथा सब तरह के विषयों से जब तक अलगाव नहीं होता तब तक यह अनुभूति जागृत नहीं होती। या ऐसा कह सकते हैं कि 'अलगाव' ही निद्रानुभव का विषय हुआ करता है। इस प्रसंग में 'अलगाव' या 'अभाव' के प्रतियोगी व अनुयोगी के सम्बन्ध में जो प्रश्न उठते हैं - 'अलगाव किसका ?' और 'किनसे अलगाव ?' उनकी पूर्वार्ध में चर्चा की जा चुकी है। वहाँ हमने उक्त भाव को 'अत्यन्ताभाव' (Infinite negation) माना और उसके अनुभव को प्रतियोगी-अनुयोगी निरपेक्ष बतलाया। लेकिन ऐसा करने मात्र से काम नहीं चलने का। हमें यह दिखलाना होगा कि 'अत्यन्ताभाव' की कल्पना भी अर्थपूर्ण हो सकती है। साथ ही हमें अत्यन्ताभाव की निद्रानुभूति और सापेक्ष अभाव युक्त स्वप्न तथा जागृति की अनुभूतियाँ और इनके परस्पर सम्बन्ध का भी स्पष्टीकरण करना होगा। स्पष्टीकरणों के बिना निद्रावस्था की इतर अवस्थाओं से भिन्नता और उसके ज्ञान का दार्शनिक (केवल मनोवैज्ञानिक नहीं) महत्त्व समझ में नहीं आ सकता। यही कारण है कि जागृति व स्वप्न के सम्बन्ध में, तथा उनके विषयों के सम्बन्ध में, जितना विचार किया जाता है उतना निद्रा के सम्बन्ध में नहीं किया जाता। यथार्थवादी दर्शनों ने जागृति को मॉडेल मानकर स्वप्न और निद्रा का स्वरूप-निर्धारण किया है। लेकिन वेदान्त जैसे दर्शन निद्रा को आधार मानकर इतर अवस्थाओं का निर्धारण किया करते हैं। हमने पूर्वार्ध में सूचित किया है और यहाँ भी यह दुहराना आवश्यक समझते हैं कि विश्व का दृश्य के रूप में, या ज्ञेय के रूप में, (Phenomenal aspect) विचार करना हो तो निद्रा जैसी स्वप्न और तुरीय की संधिकारक अवस्था का अधिमनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक विश्लेषण अत्यंत आवश्यक है। इसी अवस्था में हमें व्यावहारिक जगत् से परे तक चैतन्यमय जगत् का आभास प्राप्त होता है और व्यावहारिक जगत् की ओर देखने की एक अव्यावहारिक दृष्टि का भी अनुभव मिलता है। अद्वैत वेदान्त दर्शन इसी अनुभवाधिगत अव्यावहारिक दृष्टि के द्वारा उपलब्ध तथ्यों के तार्किक स्पष्टीकरण के प्रयास का परिणाम है।

यद्यपि न्याय-वैशेषिक जैसे दर्शनों ने अभाव को वस्तुसत् मानकर उसके प्रागभाव, प्रध्वंस, अन्योन्याभाव और अत्यंताभाव ऐसे चार प्रकार बतलाये हैं और अन्य दर्शनों ने भी अभाव का किसी न किसी प्रकार का अस्तित्त्व स्वीकार किया है, तथापि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो सुषुप्ति अवस्था का स्वतंत्र (इतर निरपेक्ष) अस्तित्त्व जाने बिना अत्यंताभाव की स्वतंत्र सत्ता सिद्ध ही नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि बाह्य और आन्तरिक विषयों का अस्तित्त्व यद्यपि ज्ञान के द्वारा ही प्रकट होता है तो भी वह ज्ञान-निरपेक्ष ही समझा जाता है। 'सामने पुस्तक है' यह जानकारी इन्द्रियों के द्वारा ही प्राप्त होती है लेकिन इस हेतु पुस्तक का अस्तित्त्व इन्द्रियों द्वारा निर्मित कोई नहीं समझता। इसका मतलब यह है कि पुस्तक का अस्तित्त्व स्वत:सिद्ध या अर्न्तदृष्टि से विज्ञात है और इन्द्रियाँ केवल उसे

प्रकट करती हैं। यह बात अभाव के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती है। आगे उत्पन्न होने वाली वस्तु की वर्तमान अनुपस्थिति को प्रागभाव कहते हैं। कुछ समय पूर्व उपस्थित वस्तु की वर्तमान अनुपस्थिति को प्रध्वंसभाव तथा एक वस्तु में प्रतीयमान होने वाले दूसरे वस्तु के स्वाभाविक अभाव को अन्योन्याभाव कहा जाता है। इसी प्रकार किसी स्थान पर किसी एक वस्तु का बिल्कुल न होना 'अत्यन्ताभाव' इस संज्ञा से यद्यपि वैशेषिक दर्शन में पहचाना जाता है तथापि इस प्रकार के अभाव को अत्यन्ताभाव कहना उचित नहीं माना जा सकता। उदाहरणार्थ, अभी मेरे सामने पुस्तक नहीं है, किन्तु इसीलिये मैं यह नहीं कह सकता कि मेरे सामने पुस्तक का अत्यन्ताभाव है। कारण यह संभव है कि पहले कभी मेरे सामने पुस्तकें रही हों, आगे कभी वे मेरे सम्मुख उपस्थित रहें। पुस्तक का अत्यन्ताभाव तो वहीं उपस्थित हो सकता है जहाँ पुस्तक न कभी थी, न है और न होगी। किसी स्थान में किसी वस्तु के भूत और वर्तमानकालीन अभाव के विषय में हम नि:शंक हो सकते हैं लेकिन उसके भविष्यकालीन अस्तित्त्व के विषय में हम तभी नि:शंक हो सकते हैं जब उस स्थान और उस वस्तु के सम्बन्ध की कल्पनाओं में ही वदतोव्याघात या तार्किक विसंगति हो। लेकिन स्थान विशेष और वस्तुविशेष सम्बन्ध किसी भी हालत में तार्किक हो नहीं सकता जिसकी वजह से इसकी कल्पना में तार्किक विसंगति की संभावना उपस्थित की जा सके। अत: किसी भी वस्तु के अत्यंताभाव की कल्पना तार्किक नहीं मानी जा सकती। यही बात इस तर्क के द्वारा भी उपस्थित की जा सकती है कि यदि कोई वस्तु है (यानी कल्पानार्ह है) तो उसका अत्यंताभाव अकल्प्य है और यदि वह नहीं है तो उसके अत्यंताभाव की कल्पना ही विसंगत सिद्ध होती है। इस तर्क से यह निष्कर्ष निकलता है कि अभाव और वस्तु इनका प्रतियोगी या अनुयोगी रूप से समान स्तरीय सम्बन्ध मानना उपयुक्त नहीं हो सकता। कुछ नैयायिकों ने अत्यंताभाव के स्थान पर संसर्गाभाव को प्रतिष्ठित कर उसके प्रागभाव, प्रध्वंस व अत्यंताभाव ऐसे विभाग किये हैं। इस विचारसरणी के अनुसार वस्तु का निरपेक्ष अभाव, अत्यंताभाव, कल्पनार्ह नहीं है। अन्य दार्शनिकों ने वस्तु के अभाव को निरपेक्ष मानकर उसके अनुयोगी नियामक सम्बन्ध को सापेक्ष बतलाया है। जैसे टेबुल पर अभी पुस्तक न हो तो पुस्तक का टेबुल पर अत्यंताभाव ही ये दार्शनिक मानेंगे किन्तु इस अभाव का टेबुल के साथ सम्बन्ध 'तत्कालीन टेबुल का विश्लेषण होना' यह रहेगा। इस युक्ति का मतलब यह है कि अभाव स्वत: निरपेक्ष कभी नहीं हो सकता तथापि उसकी सापेक्षता का निर्धारण करने वाली उपाधियों का सम्बन्ध समावेश कर इस निरपेक्षता की रक्षा की जा सकती है। (लेकिन यह प्रयास एक दुराग्रह मात्र है, यह उपर्युक्त तर्कों से स्पष्ट हो जायेगा)।

नैयायिकों की भूमिका पूर्णतया व्यावहारिक होने के कारण ही उन्होंने 'अभाव' रूप स्वतंत्र पदार्थ का पुरस्कार किया है, यह उनके 'पदार्थ' इस उपकरण से ही स्पष्ट है। पदों, यानी शब्द प्रयोगों, पर से पदार्थों का विचार जिस दर्शन में किया जाता है उसमें 'अभाव' जैसे अव्यावहारिक किन्तु शब्दगम्य तत्त्व का पुरस्कार अस्वाभाविक नहीं है। अभाव का वास्तविक व्यावहारिक स्वरूप मीमांसा दर्शन में ही स्वीकृत है। कुमारिल और प्रभाकर इन दोनों ही मीमांसक दार्शनिकों ने अभाव का स्वतंत्र अस्तित्त्व अस्वीकार कर दिया है। इनके मतों का प्रतिपादन करने वाली कारिकायें निम्नलिखित हैं :-

स्वरूप पररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके ।
वस्तुनि ज्ञायते किंचित् कैश्चिद्रूपं कदाचन ॥
भावांतरमभावो हि कथाचित्तु व्यपेक्षया

पहली कारिका का मतलब यह है कि प्रत्येक वस्तु के दो स्वरूप हुआ करते हैं, एक आत्मनिष्ठ

और दूसरा परसापेक्ष। इनमें पहला रूप सदात्मक होता है तो दूसरा अभावात्मक। दूसरी कारिका का अर्थ यह है कि द्रष्टा या अनुभवकर्ता के सापेक्ष दृष्टिकोण के अनुसार एक ही वस्तु के भावात्मक और अभावात्मक ऐसे दो रूप हुआ करते हैं। इन दो मतों में फर्क यह है कि एक के अनुसार प्रत्येक वस्तु में ही भावात्मकता और अभावात्मकता हुआ करती है और दूसरे के अनुसार ये दो धर्म या पहलू (द्रष्टा) के दृष्टिकोण से पैदा होते हैं। पहले मत में इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता कि यदि दोनों रूप समानरूप से वस्तु में उपस्थित हैं तो इनके ज्ञान में सापेक्ष-निरपेक्ष भाव का फर्क क्यों पड़ता है ? भावात्मक रूप का ज्ञान स्वयं ही होता है जबकि अभावात्मक रूप अपनी जानकारी के लिये प्रतियोगी व अनुयोगी आदि की अपेक्षा रखता है। इस प्रश्न का उत्तर दूसरे मत में निहित है। वह यह है कि अभावात्मक, यानी भावान्तरात्मक, स्वरूप का ज्ञान दृष्टिकोण-सापेक्ष है। एक ही वस्तु कभी एक वस्तु के और कभी दूसरी वस्तु के अभाव के रूप में ज्ञात हो सकती है। इस ज्ञान का आधार केवल 'व्यपेक्षा', अर्थात् दृष्टिकोण का भेद, ही है। इस उपपत्ति के द्वारा नैयायिकों के प्राग्भाव, प्रध्वंसाभाव और अन्योन्याभाव इन तीनों का निराकरण करना सुगम है। पहले प्राग्भाव को लें। जिस वस्तु की उत्पत्ति निश्चितप्राय है उसके उत्पत्तिपूर्ण नास्तित्त्व को 'प्राग्भाव' यह संज्ञा दी जाती है। उदाहरणत: एक कुम्हार एक घड़ा बना रहा है। एतदर्थ चाक पर मिट्टी का सोटा चढ़ाकर वह चाक घुमा रहा है। ऐसी अवस्था में वह निश्चयपूर्वक कह सकता है कि 'थोड़ी ही देर में घड़ा बन जायेगा'। इस वाक्य में घड़े की जिस वर्तमान स्थिति का निर्देश किया गया है वह उसके प्राग्भाव से अतिरिक्त और क्या हो सकती है ? नैयायिकों द्वारा दिये जाने वाले इस तर्क पर मीमांसक आसानी से यह प्रतिवाद कर देगा कि घड़ा जब आगे आनेवाला है और अभी वह बिल्कुल नहीं है तब उसके अस्तित्त्व या अनस्तित्त्व की चर्चा ही वृथा है। 'घड़ा आगे बनेगा' इस तरह के वाक्यों द्वारा हम अपनी घड़े से सम्बन्धित अपेक्षा को ही व्यक्त करते हैं न कि घड़े के किसी प्रकार के अस्तित्त्व को। अत: हरेक भविष्यकालयुक्त निर्देश निर्देशक की भावी वस्तु सम्बन्धी सुखद या दु:खद अपेक्षा का ही द्योतक माना जाना चाहिये। इसी प्रकार प्रध्वंसाभाव के भी स्वतंत्र अस्तित्त्व का निरास किया जा सकता है। घड़ा फूट जाने पर, 'घड़ा नष्ट हो गया' ऐसे शब्द-प्रयोग हम किया करते हैं और इसका शब्दत: अर्थ स्वीकार कर नाश का स्वतंत्र अस्तित्त्व मानने के लिये तैयार हो जाते हैं। किन्तु प्राग्भाव के अनुसार इस अभाव के उदाहरण में भी हम वस्तु की भूतकालीन, या सद्योभूतकालीन, स्थिति की सुखद या दु:खद स्मृति ही समाविष्ट हुआ पायेंगे। जिस चीज के बनने-बिगड़ने से हमें कोई मतलब नहीं उसके सम्बन्ध में विनाश-निर्देशक प्रयोग हम क्वचित् ही किया करते हैं। इस प्रकार नैयायिक या मीमांसक वही प्रतिवाद कर सकते हैं जो नैतिक धर्मों का अच्छाई, बुराई जैसे स्वतंत्र अस्तित्त्व मानने वाले जार्ज मूर के कथन का स्टिवेन्सन जैसे नैतिक भावनावादियों (Emotivists) ने किया है। 'घड़ा बनेगा,' 'घड़ा फूट गया' इत्यादि वाक्य प्रयोग इस मत के अनुसार प्रयोगकर्त्ताओं की विभिन्न व्यपेक्षाओं के ही निर्देशक हैं न कि किसी वस्तु के। यदि इस पर पूछा जाय कि इन व्यपेक्षाओं का स्वरूप इनके विषयों के द्वारा ही निर्धारित होगा लेकिन ये विषय किसी न किसी प्रकार के अभाव के अतिरिक्त और कुछ तो हो हीं नहीं सकते, तो आधुनिक भावनावादियों के समान मीमांसक भी कह सकते हैं कि हरेक व्यपेक्षा का स्वरूप स्वयंपूर्ण और अविश्लेष्य है। उसके स्वरूप-निर्धारण के लिये बाह्य विषय की कोई आवश्यकता नहीं है। यह बात अलग है कि यह जबाब संतोषजनक नहीं जँचता।

अन्योन्याभाव का भी उपर्युक्त दोनों के समान ही निरसन हो सकता है। जब हम एक वस्तु की अपेक्षा कर उसकी ओर उन्मुख होते हैं तब कोई दूसरी वस्तु हमारे सामने या कल्पना में आकर हमारे

वस्त्वाभिमुख्य का प्रतिरोध करें तो हम कह उठते हैं कि 'यह वस्तु नहीं वह वस्तु।' इस जैसे वाक्यों में प्रतिरोध रूप व्यपेक्षाभावना अभिव्यक्त होती है जिसको तार्किक रूप देकर उसे 'अन्योन्याभाव' नामक कल्पित विषय को हम सत्य मान बैठते हैं। अन्योन्याभाव की कल्पना की एक विशेषता यह होती है कि इसका निर्देश प्रतिरोधक और प्रतिरोध्य इन दोनों से हुआ करता है। इसीलिये इसे 'अन्योन्य अभाव' यह संज्ञा दी गयी है। 'यह नहीं वह' इस अन्योन्याभाव वाची प्रयोग में प्रतिरोधक के रूप में 'यह' की और प्रतिरोध्य के रूप में 'वह' की संयुक्त काल्पनिक उपस्थिति अपेक्षित है। अत: ऐसी व्यपेक्षा का जिसमें प्रतिरोध्य व प्रतिरोधक की प्रतिद्वंदिता समाविष्ट है, स्वतंत्र अस्तित्त्व मानना मीमांसक मत में आवश्यक ही है।

इस प्रसंग में आधुनिक दार्शनिक बर्ट्रेंड रसेल की एक सम्बन्धित कल्पना का उल्लेख करना अनुचित न होगा। अपने '(Inquiry into Meaning and Truth)' इस ग्रंथ में तथा अन्यत्र रसेल ने विभिन्न भाषीय स्तरों की कल्पना (Hierarchy of languages) उपस्थित करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि वस्तु सम्बन्धी निम्नतम स्तरीय भाषा (Objective language) में अभाववाची शब्दों की आवश्यकता बिल्कुल नहीं होती। इस स्तर के सब व्यवहार निर्देश मात्र (Ostensive definition) से संपन्न होते हैं। जिस तरह अभाववाची शब्द इस भाषा में आवश्यक नहीं उसी प्रकार 'या', 'और' जैसे तार्किक शब्द भी इस भाषा में आवश्यक नहीं होते। इस प्रतिपादन में रसेल ने एक बहुत बड़ी भूल की है जिसका उल्लेख प्रस्तुत प्रसंग में बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'या', 'और' जैसे तार्किक शब्दों की अनावश्यकता का कारण तो रसेल ने उन शब्दों द्वारा व्यक्त होने वाली वक्ता की व्यपेक्षा मात्र को बतलाया है। लेकिन अभाववाची प्रयोगों की अनावश्यकता का कारण उसने दूसरा ही बतलाया है। लेकिन इस कृत्रिम वर्गीकरण की कोई आवश्यकता नहीं है। अभाववाची शब्दों को भी व्यपेक्षाबोधक मान लेने से व्यावहारिक वस्तुनिष्ठ भाषा में उनकी अनावश्यकता अपने आप सिद्ध हो जाती है। यहाँ प्रश्न उठाया जा सकता है कि शुद्ध वस्तुनिष्ठ भाषा तो कृत्रिम है, ऐसी भाषा का तो कोई भी प्रयोग नहीं करता? प्रश्न ठीक ही है। उत्तर इसका यह है कि व्यावहारिक भाषा भावनात्मक भाषा और निर्देशात्मक भाषा इन दोनों के सम्मिश्रण से बना करती है। शुद्ध तर्कशास्त्री भाषा के निर्देश पक्ष को ही महत्त्व देते हैं जबकि भाषा में बहुजन समाज की मनोवृत्ति को प्रतिबिम्बित मानने वाले लोग भाषा के भावनात्मक पक्ष पर ही जोर देते हैं। खैर।

अब तक जो चर्चा की गई उसका मुख्य लक्ष्य जागृति व सुषुप्ति इन अवस्थाओं के मूलभूत भेद का स्पष्टीकरण ही है। सारांश रूप में हम कह सकते हैं कि जागृति का विषय होने वाली वस्तु स्वयं सत् ही होते हुए भी व्यपेक्षा के रूप में असत् पर आश्रित हुआ करती है। सत् वस्तु अपनी उत्पत्ति के पूर्व जिस व्यपेक्षा पर आश्रित हुई प्रतीत होती है उसके सम्बन्ध से उसे प्राग्भाव का प्रतियोगी समझा जाता है। अपने आविर्भाव के अनन्तर जिस व्यपेक्षा का विषय वह होती है उसके आधार पर उसे ध्वंस कहा जाता है। इसी प्रकार दूसरी वस्तु के अस्तित्त्व के प्रतिरोध के रूप में एक वस्तु को अन्योन्याभाव का प्रतियोगी माना जाता है। प्रागभाव और ध्वंस वस्तु की स्थिति के दो छोरों के निदर्शक हैं तो अन्योन्याभाव उसकी मध्यावस्था का निदर्शक है। अर्थात् उत्पन्न हो चुकने पर और विनाश के पूर्व भी वस्तु निरपेक्षतया विद्यमान नहीं होती। अन्योन्याभाव या संसर्गाभाव की आधारभूत व्यपेक्षा उस अवस्था में भी वस्तु को घेरे ही रहती है। सामान्य अवधान (Attention), जो किसी भी ज्ञान के लिये अनिवार्यत: अपेक्षित है, इस (अन्योन्याभाव की आधारभूत) व्यपेक्षा का ही प्रतीक है। सामने पड़ी हुई वस्तु का भी आकलन तब

तक हम नहीं कर पाते जब तक उसका कम से कम उसकी पृष्ठभूमि से फर्क हम नहीं जान लेते; यानी वस्तु और उसकी पृष्ठभूमि से फर्क हम नहीं जान लेते, यानी वस्तु और उसकी पृष्ठभूमि इनके अन्योन्याभाव को ठीक तरह नहीं पहचान लेते। इसका मतलब यह नहीं कि वस्तु और उससे सम्बन्धित अभाव इन दोनों का समप्रधान रूप से जागृति में अनुभव अधिगत हो। यह बात कभी संभव नहीं हो सकती।

जागृति में अभाव हमेशा प्रतियोगी परतंत्र या अनुयोगी परतंत्र होकर ही प्रतीत होता है। अतएव वस्तु के साथ प्रतीत होकर भी अभाव अप्रतीत सा ही रहता है। यही कारण है कि तर्कशास्त्रियों की भाषा में 'यहाँ घट का अभाव है' जैसे प्रयोग बिल्कुल साधारण होते हुए भी सामान्य बोलचाल में इस प्रयोग के बदले 'यहाँ घट नहीं है' जैसे प्रयोगों का ही चलन होता है। 'यहाँ घट नहीं है' का दार्शनिक लोग चाहे जो अर्थ करें लेकिन सामान्य मनुष्य की दृष्टि में यहाँ घट के विशेषण के रूप में ही 'नहीं' या अभाव का बोध हुआ करता है। लेकिन 'यहाँ घटाभाव है' इस प्रयोग में घटाभाव ही विशेष्य के रूप में उपस्थित हो सकता है किन्तु उसकी व्यावहारिक सत्ता के विषय में अनिश्चित होने के कारण सामान्य मनुष्य उपर्युक्त वाक्य का प्रयोग नहीं करता।

इस प्रकार जागृति में अभाव से अवगुंठित (प्राग्भावादि के रूप में, अत्यंताभाव के रूप में नहीं) सत् का ही ज्ञान हुआ करता है जबकि सुषुप्ति में इस अवगुंठन की ही स्वतंत्रता प्रतीत होती है। जागृति की दृष्टि से ही स्वप्न और सुषुप्ति का विचार किया जाय तो जागृति का विषय होने वाली वस्तुएँ ही सत् हैं और सुषुप्ति में प्रतीत होने वाला अभाव इन विषयों के क्रमिक अपसारण का ही आरोपित वस्त्वात्मक रूप (Hypostatised form) है। इस दृष्टिकोण में सत् वस्तु है और अभाव उससे निष्कृष्ट एक कल्पना मात्र है। लेकिन सुषुप्ति को मूलभूत अवस्था मानकर उसके आधार पर जागृति आदि का विचार किया जाय तो 'अत्यंताभाव' यह अनुभव का अधिष्ठानभूत मूलतत्त्व है। सुषुप्ति में अत्यन्ताभाव आत्मा या चैतन्य के प्रतीक के रूप में, यानी उससे भिन्नाभिन्न रूप में, अवस्थित होता है। इस अत्यंताभाव का न कोई प्रतियोगी होता है न अनुयोगी। जो मनोवैज्ञानिक जागृति पर से सुषुप्ति के स्वरूप का निर्धारण करते हैं वे इस अत्यंताभाव को सप्रतियोगिक ही मानते हैं। इसी कारण वे दैहिक अनुभूति के अपसारण को ही निद्रानुभूति का आधार समझते हैं। लेकिन ऐसा सोचते समय वे यह भूल जाते हैं कि जो अभाव सप्रतियोगिक है उसे सानुयोगिक भी होना चाहिये और अभाव का अनुयोगी उसके प्रतियोगी से अभिन्न कदापि नहीं हो सकता। दैहिक अनुभूतियों का अपसारण यदि अनुभवार्ह विषय है तो उसके अनुभव का स्वरूप उस (विषय) से बिल्कुल भिन्न ही होना चाहिये। लेकिन ऐसे अनुभव का स्वरूप-निर्धारण मानस शास्त्री नहीं कर पाते।

अत: यह मानना पड़ता है कि सुषुप्तिगत अत्यंताभाव का न ओर है न छोर। वह निष्प्रतियोगिक व निरनुयोगिक है और अतएव पूर्णतया वस्तुनिरपेक्ष है। ऐसे अभाव या शून्य की अनुभूति ही इस 'वेदान्तीय तथ्य' का प्रमाण है कि दृश्य तथा व्यावहारिक विश्व की सत्ता भी शंकास्पद है; इतना ही नहीं, पूर्णतया त्याज्य भी है। दृश्य विश्व को हम सत्य समझते हैं क्योंकि उसके सार्वकालिक बाध को हम सामान्यतया कल्पित ही नहीं कर पाते। किसी एक वस्तु का या कुछ वस्तुओं का कुछ समय के लिये हम बाध करते समय भी हम बाध्य वस्तु का प्रतियोगी के रूप में अस्तित्त्व पूर्वकल्पित ही करते हैं। ऐसा होते हुए भी विश्व को वेदान्त ने त्रिकाल बाध्य जो करार दिया है उसका कारण सुषुप्तिगत शुद्ध अत्यंताभाव की अनुभूति ही हो सकती है। हरेक आदमी निद्रा में निरपेक्ष अभाव या शून्य का अनुभव किया करता है। यदि विश्व सत्य है और चेतना विश्व का ही एक दर्पण है तो क्या पूर्ण शून्य की

अनुभूति, जिसमें विश्व का नामोनिशान न हो, संभव है ? आखिर विश्व की सत्ता किसी न किसी (बाह्य या आध्यात्मिक) अनुभव से ही तो प्रमाणित है ? यदि निश्चित रूप से हम शून्यानुभूति को स्वीकार कर सकें तो इतर अनुभवों में प्रतीत होने वाली विश्व की सत्ता को कम से कम शंकास्पद हमें मानना ही होगा।

सुषुप्ति मे केवल अत्यंताभाव की प्रतीति होती है तो स्वप्न में वस्तु और अत्यंताभाव इन दोनों का समप्रधान भाव से, या कहें कि वैकल्पिक रूप से, प्रत्यय हुआ करता है। इसका कारण यह है कि चैतन्य रूप आत्मा का प्रतीक बना हुआ सुषुप्तिकालीन अत्यंताभाव अंत:करण की अनेकानेक प्रक्रियाओं के द्वारा स्वप्नावस्था में द्रव्यीकृत (Hypostatise) होकर चैतन्य से अंशत: विभक्त हो जाता है जिसके फलस्वरूप वह इन प्रक्रियाओं के काल्पनिक विषयों में समाविष्ट होकर हमारे स्वप्नों में उपस्थित होता है। यही कारण है कि स्वप्न में हम अपने ही शव को देखकर भी कभी चौंकते तक नहीं। जागृति में यदि वस्तु के साथ अभाव की प्रतीति होती है तो वह एक वस्तु में दूसरी वस्तु के अभाव की हुआ करती है। किन्तु स्वप्न का, वस्तुओं के उन्हीं के अभाव का यह जो प्रत्यय होता है उसका स्पष्टीकरण बजाय इसके क्या दिया जा सकता है कि इस अवस्था में अभाव प्रतियोगिता या अनुयोगिता रूप सम्बन्धों के द्वारा वस्तुओं से संबद्ध अत: तत्परतंत्र नहीं हो जाता। इसीलिये स्वप्न में वस्तु और अभाव इनका सहावस्थान संभव होता है।

***

परिच्छेद : नौ

सुरेशचन्द्र

संदेह की दार्शनिक संपरीक्षा

9.1 दार्शनिक संशयवाद - १

9.2 दार्शनिक संशयवाद - २

9.3 दार्शनिक संशयवाद - ३

9.4 दार्शनिक संशयवाद - ४

9.5 तात्त्विक प्राथमिकता

9.6 दार्शनिक विश्लेषण एवं नीतिमीमांसा

9.7 क्या अन्यों के अनुभव ज्ञेय हैं ?

सुरेशचन्द्र

यूरोप के विश्लेषण-धर्मी मुक्तदार्शनिक चेतना के प्रकाण्ड विश्लेषक प्रो. सुरेशचन्द्र का जन्म (१९३०) उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ में हुआ था। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा भी लखनऊ में हुई और लखनऊ विश्वविद्यालय से ही इन्होंने बी.ए., एम.ए. (दर्शन शास्त्र-१९५५) तक की शिक्षा ग्रहण किया। लखनऊ में स्नातकोत्तर कक्षा के दौरान प्रो. एन. के. देवराज इनके प्रिय शिक्षकों में थे, अत: देवराज साहब के साथ ही इन्होंने अपना शोध अध्ययन प्रारम्भ कर दिया जो १९५५ से १९५८ तक नियमित चलता रहा। तदनन्तर प्रो. सुरेशचन्द्र 'रिसर्च फैलो' बनकर 'इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ फिलॉसफी' अमलनेर चले गये और वहाँ भी प्रो. जी.आर. मलकानी के साथ १९५८ से १९६१ तक अपने शोध-अध्ययन क्रम को जारी रखा। पुन: वे तदर्थ व्याख्याता के रूप में लखनऊ विश्वविद्यालय लौटे और १९६१ से १९६४ तक अध्ययन-अध्यापन कार्य में संलग्न रहे। अब तक प्रो. सुरेशचन्द्र का शोध कार्य लम्बित ही था, अत: अपने सुचिन्तित शोध कार्य को पूर्ण करने का उद्देश्य लेकर वे विश्वभारती, शांतिनिकेतन चले गये और 'सीनियर रिसर्च फैलो' (१९६४ से १९६६) के रूप में प्रो. कालीदास भट्टाचार्य के साथ अपना बहुप्रतीक्षित शोध-कार्य पूरा किया। १९६६ में इन्हें दर्शन विभाग, विश्वभारती में लेक्चरर नियुक्त कर लिया गया और विश्वभारती, शांतिनिकेतन से इन्हें पी-एच.डी. की उपाधि १९७० में प्राप्त हुई। प्रो. सुरेशचन्द्र १९७८ तक विश्वभारती में ही अध्ययन-अध्यापन करते रहे। तदुपरान्त १९७८ में ही इनकी नियुक्ति रीडर के पद पर हैदराबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय में हुई, जहाँ १९८६ में प्रोफेसर बने और विभागाध्यक्ष हो कर १९९१ में सेवा निवृत्त हुए। प्रो. सुरेशचन्द्र १९६२ से १९६३ तक "फैलो ऑफ ब्रिटिश कॉउन्सिल" भी रहे और इस दौरान उन्होंने ऑक्सफोर्ड, कैम्ब्रीज एवं एडिनबर्ग विश्वविद्यालयों की अकादमिक यात्रायें भी की। १९८४ में इन्हें कोर्चबर्ग आस्ट्रीया में आयोजित "विट्गिन्स्टाइन सिम्पोजियम" में इन्हें विशेषज्ञ के रूप में आमंत्रित किया गया था। इन्होंने उच्चानुशील अध्ययन केन्द्र-शिमला (१९७५ से १९७८) एवं भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद-दिल्ली (१९९२ से १९९४) के सीनियर फैलो के रूप में भी उल्लेखनीय कार्य किया है। राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय शोध पत्रिकाओं में अनेकों शोध निबन्धों तथा हिन्दी में कुछ एक अति महत्त्वपूर्ण शोध निबन्धों के अतिरिक्त इनकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ-ए स्टडी ऑफ एयर्स एपिस्टेमोलॉजी, आइडेण्टिटी एण्ड थॉट एक्सपिरियेंस, विट्गिन्स्टाइन : ए न्यू पर्सपेक्टिव इत्यादि बहुमान्य हैं। प्रो. सुरेशचन्द्र दार्शनिक कर्म का धर्म 'विश्लेषण' ही स्वीकार करते हैं। इन्होंने फिलॉसफी में 'सिस्टम बिल्डिंग' एवं 'सिस्टम सेन्ट्रीसिटी' पर कभी विश्वास नहीं किया। अरस्तु का BIOS XENIKOS इन्होंने विश्लेषण-धर्मिता में ही पाया है। तब भी विचार की गति कितनी ही स्वच्छन्द क्यों न हो, वह स्वयं में एक व्यवस्था को अन्दर ही अन्दर निर्मित कर लेती है। आजीवन विश्लेषणात्मक कर्म करते हुए इन्होंने जिन परिष्कारों एवं निर्धारणों को सामने लाया है, उसमें विचार की ऐसी व्यवस्था देखी जा सकती है। हाल में ही इनके दार्शनिक योगदानों को Life and worksof Prof. Suresh chandra शीर्षक से आई.सी.पी.आर. द्वारा प्रकाशित किया गया है।

⁂

दार्शनिक संशयवाद - १

प्रस्तुत लेख में हम ''दार्शनिक संशयवाद'' (Philosophical scepticism) संबंधी कुछ समस्यायें रखेंगे। सभी समस्याओं का उल्लेख नहीं किया गया है, केवल वे समस्यायें ही चुन ली गई हैं जिनमें समकालीन ज्ञानमीमांसकों की विशेष रुचि है। आत्मा, परमात्मा अथवा भौतिक पदार्थ आदि विषयों से संबंधित कुछ दार्शनिक संशयवादी युक्तियाँ ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में बहुत फीकी पड़ चुकी हैं। अत: उन युक्तियों तथा उनसे संबंधित समस्याओं का उल्लेख जान बूझ कर नहीं किया गया है। उन युक्तियों पर भी ध्यान नहीं दिया गया है जिन पर मनोविज्ञान, भूत विज्ञान आदि क्षेत्रों में विचार चल रहा है, यहाँ केवल वे युक्तियाँ तथा समस्यायें ही रखी गई हैं जिन पर ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र में विचार चल रहा है। यहाँ हम सभी अनुभवीय तर्कवाक्यों (Empirical propositions) को केवल ''संश्लेषणात्मक तर्कवाक्य'' ही कहेंगे। इस प्रयोगानुसार वे सभी वाक्य संश्लेषणात्मक (Synthetic) हैं जो भूत, वर्तमान अथवा भविष्य कालिक घटनाओं का वर्णन करते हैं। भविष्यवाणी (Future predictions) संबंधी वाक्यों को अलग स्थान नहीं दिया गया है। इस प्रयोग अथवा परिभाषा के अनुसार, जैसा कि हम देखेंगे, किसी भी संश्लेषणात्मक तर्कवाक्य का निषेध (Contradiction) निरर्थक नहीं होता। दूसरी भाषा में हम कह सकते हैं कि संश्लेषणात्मक तर्कवाक्य विश्लेषणात्मक पुनरुक्तियाँ (Analytic tautologies) नहीं होते। ''विश्लेषणात्मक पुनरुक्तियाँ'' उन सभी प्रागनुभवीय वाक्यों के लिये प्रयोग किया गया है जिनका निषेध निरर्थक है। दार्शनिक विचारों को व्यक्त करने वाले वाक्यों को केवल ''दार्शनिक तर्कवाक्य'' ही कहा जायेगा। दार्शनिक तर्कवाक्यों को न ही हम संश्लेषणात्मक कह सकते हैं और न ही विश्लेषणात्मक, क्योंकि इन तर्कवाक्यों में दोनों प्रकार का स्वभाव विद्यमान है। इनकी सत्यता अनुभव द्वारा निर्धारित नहीं की जाती है परन्तु इनका निषेध भी निरर्थक नहीं होता। अत: ऐसे वाक्यों का अलग ही उल्लेख करना अनिवार्य हो जाता है।

संशयवाद के संबंध में यह कथन अनुचित न होगा कि सभी दार्शनिक ''संशयवाद'' के अपारिभाषिक अर्थ (Non technical meaning) में संशयवादी विचारधाराओं का समर्थन करते हैं। क्या सत्य है, क्या असत्य है, बाह्य तथा आंतरिक जगत् का क्या स्वरूप है, ये ऐसे प्रश्न हैं जिसके संबंध में संशयवादी धारणायें विद्यमान हैं। परन्तु हम सभी दार्शनिकों को संशयवादी नहीं कहते और न सभी दार्शनिक समस्याओं के संबंध में विश्लेषण संवेद विषयक कथनों में किया जा सकता है''[१] सभी अनुभवीय ज्ञान केवल संभाव्यता के ही द्योतक हैं''[२] किसी भी शुद्ध संश्लेषणात्मक तर्कवाक्य (Genuine synthetical proposition) का ज्ञान निश्चित (certain) नहीं हो सकता''[३]। ''केवल विश्वास के आधार पर इन्हें (अन्य मनों को) स्वीकार नहीं किया जा सकता''[४]। ये वाक्य समकालीन पाश्चात्य तथा भारतीय ज्ञानमीमांसकों द्वारा प्रयुक्त किये गये हैं, जो संशयवाद का किसी न किसी रूप में समर्थन करते हैं। इन वाक्यों द्वारा सूचित विचारों का उद्गम हम ह्यूम (Hume) के लेखों में पाते हैं। ह्यूम कहता है : ''कल सूर्य उदय नहीं होगा (यदि अस्वीकृति) उतना ही स्पष्ट है तथा अन्तर्विरोध प्रगट नहीं करता

जितनी कि यह स्वीकृति कि कल सूर्य उदय होगा"[५]। जिस अध्याय से उक्त उद्धरण लिया गया है उस अध्याय में ह्यूम के कहने का यह तात्पर्य है कि जब तक किसी स्वीकृत तर्कवाक्य का निषेध निरर्थक नहीं होता, वह स्वीकृत तर्कवाक्य "निश्चित ज्ञान" का बोध नहीं करा सकता। अत: समकालीन संशयवादी, जैसे तर्कनिष्ठ प्रत्यक्षवादी (Logical positivists), संवेदवादी (Sensationists) अथवा प्रदृश्यवादी (phenomenalists) ह्यूम की युक्तियों का केवल अनुमोदन करते हैं जब वे यह कहते हैं कि "संश्लेषणात्मक तर्कवाक्य का ज्ञान केवल संभाव्य है"; अथवा "ये वाक्य" 'निश्चित' ज्ञान का बोध नहीं करा सकते", इत्यादि। यही नहीं, हम ह्यूम में उन विचारों का भी उद्‌गम पाते हैं जिनके द्वारा आधुनिक ज्ञानमीमांसक, जैसे मूअर (Moore) राइल, मालकम और एम्बरोज़ आदि ने दार्शनिक संशयवाद का खंडन प्रस्तुत किया है। ये सभी दार्शनिक "संशयवादी भाषा-संशोधन प्रस्तावना" के विरोध में ही तर्क देते हैं। अत: ह्यूम के शब्दों को ही दुहराते हैं। ह्यूम कहता है : "उस मनुष्य की हँसी होगी जो यह कहेगा कि यह तो केवल संभावना मात्र है कि कल सूर्य उदय होगा, या कि सभी मनुष्य अवश्य ही मर जायेंगे।"[६] ह्यूम अच्छी तरह से जानता था कि जब वह यह प्रस्तावना कर रहा है कि संश्लेषणात्मक तर्कवाक्य केवल संभाव्य सत्य हैं तब वह एक पारिभाषिक भाषा (technical language) को जन्म दे रहा है जिस पर सामान्य भाषा के आधार पर आक्षेप किया जा सकता है।

यहाँ पहले हम विट्‌गिन्स्टाइन के कथन का विश्लेषण करेंगे और उससे सम्बंधित समस्याओं को विचारार्थ रखेंगे। यह विश्लेषण इसलिये आवश्यक है कि कुमारी ऐंस्कोम्ब (Anscombe) ने विट्‌गिन्स्टाइन के कथन का जो अर्थ निकाला है वह हमें बिल्कुल ही प्रभावित नहीं कर सका।[७] ऐंस्कोम्ब के बतलाये अर्थ का विरोध करने से पहले यह आवश्यक हो जाता है कि विट्‌गिन्स्टाइन के विचार स्पष्ट हो जायें। इस विश्लेषण से संशयवादी समस्याओं का भी ठीक रूप से दर्शन हो जायेगा तथा एयर, रसल और लेविज़ आदि के कथनों से संबंधित विचार भी स्पष्ट हो जायेंगे। हमारी समझ के अनुसार जब विट्‌गिन्स्टाइन यह कहता है "हम नहीं जानते कि कल सूर्य उदय होगा" उस समय उसके मस्तिष्क में ह्यूम की भाँति ही युक्तियाँ विद्यमान हैं। हम उसके और ह्यूम के विचारों में कोई भी विशेष अन्तर नहीं देखते। यह हम देख ही चुके हैं कि ह्यूम संश्लेषणात्मक तर्कवाक्यों को, जैसे, "कल सूर्य उदय होगा," केवल संभाव्य ज्ञान का बोधक मानता है। विट्‌गिन्स्टाइन भी ऐसे तर्कवाक्यों को निश्चित नहीं मानता।[८] उसका कथन है "हमारे पास कोई भी (तार्किक) आधार नहीं जिससे यह धारणा बनाई जा सके कि कोई छोटी से छोटी घटना भी भविष्य में अवश्य ही घटेगी"।[९] वह आगे कहता है, "ऐसा कोई भी 'अनिवार्य संबंध' (necessary relation) नहीं होता कि कोई घटना घटेगी क्योंकि कोई घटना घट चुकी है। अनिवार्य संबंध केवल एक तार्किक (logical) सम्बंध है"।[१०] ह्यूम की भांति ही विट्‌गिन्स्टाइन के कहने का प्रयोजन है कि वर्तमान काल की घटनाओं के आधार पर हम भविष्य काल की घटनाओं के संबंध में कोई भी "निश्चय" प्रगट नहीं कर सकते क्योंकि भविष्य काल की घटनाओं का वर्तमान काल की घटनाओं से कोई भी अनिवार्य संबंध नहीं।[११] हम देखते हैं कि विट्‌गिन्स्टाइन "अनिवार्य संबंध" की एक ऐसी परिभाषा दे रहा है जिसके अनुसार हम केवल ऐसी पुनरुक्तियाँ ही जान सकते हैं जैसी कि यह वाक्य व्यक्त कर रहा है, "२ और २ का जोड़ ४ है", क्योंकि "२ और २" का एक ऐसा प्रयोग है जिससे "४" का अनिवार्य संबंध है। परन्तु "कल सूर्य उदय होगा" यह वाक्य किसी भी "अनिवार्य संबंध" को उसी अर्थ में व्यक्त नहीं करता जिस अर्थ में "२ और २ का जोड़ ४" करता है। दूसरी भाषा में यह कह सकते हैं कि हमारा यह निष्कर्ष "कल सूर्य उदय होगा" निगमन विधि (logical deduction) द्वारा निर्धारित नहीं है। जब विट्‌गिन्स्टाइन यह कहता है कि "हम नहीं जानते कि कल सूर्य उदय होगा", उस समय वह "जानते हैं" का एक ऐसा प्रयोग कर रहा है जिसमें केवल 'निश्चित वाक्य' ही जाने जा सकते

हैं, और निश्चित वाक्य केवल वे ही होते हैं जो अनिवार्य संबंधों को व्यक्त करें, अथवा जिनका निर्णय निगमन विधि द्वारा निर्धारित होता हो। अत: हम किसी भी संश्लेषणात्मक तर्कवाक्य को नहीं "जान सकते", हम केवल 'विश्लेषणात्मक पुनरुक्तियों' को ही जान सकते हैं, केवल इन्हीं का निर्णय निगमनात्मक है तथा ये ही अनिवार्य संबंध करती हैं। क्योंकि विट्गिन्स्टाइन मानता है कि 'कल सूर्य उदय होगा' केवल संभव है, निश्चित नहीं, अत: वह भी मानता है कि 'कल सूर्य नहीं उदय होगा' एक निरर्थक प्रयोग नहीं हो सकता। प्रत्येक भविष्य में आने वाले 'कल' के संबंध में यह सम्भावना विद्यमान है कि कल सूर्य उदय होगा ही। यही कारण है कि संशयवादी उन संश्लेषणात्मक तर्कवाक्यों को, जिन्हें भविष्यवाणी कहा जाता है, केवल अनिश्चित (contingent) तथा सम्भाव्य ही मानता है, अनिवार्य तथा निश्चित नहीं।

परन्तु क्या ऊपर दी गई युक्तियाँ किसी रूप में उन संश्लेषणात्मक तर्क वाक्यों के संबंध में भी दी जा सकती हैं जो वर्तमान में विद्यमान 'आज' तथा बीती हुई 'कल' के संबंध में हो ? भविष्यवाणी में तो यह सम्भावना विद्यमान हो सकती है कि वह 'असत्य हो सकती है'। परन्तु क्या जो घटनायें इस समय घट रही हैं, तथा जो घटनायें भूत काल में घट चुकी हैं, वे भी केवल सम्भाव्य तथा अनिश्चित हैं ? क्या यह भी केवल सम्भावना मात्र तथा आकस्मिक है कि 'मैं आज तिथि २८ को १२ बजे रात के तत्त्वज्ञान मन्दिर के कमरे में बैठा हुआ अपना लेख 'दार्शनिक संशयवाद' लिख रहा हूँ' ? क्या मेरा यह कथन जिन घटनाओं का वर्णन कर रहा है वे घटनायें भी अनिवार्यता तथा निश्चयात्मकता से युक्त नहीं हो रही हैं ? परन्तु मैं यह कैसे जानता हूँ कि ये घटनायें इस समय अनिवार्यता तथा निश्चयात्मकता से युक्त हो रही हैं जिनका संकेत मेरा वाक्य कर रहा है ? क्या यह नहीं हो सकता कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ ? क्या ऐसी घटनायें सम्भाव्य नहीं जो मेरे इस कथन को असत्य में परणित कर दें ? अगर ऐसी घटनायें सम्भाव्य हैं जो मेरे कथन को असत्य में परिणत कर सकती हैं तब फिर मेरा यह कथन निश्चित तथा अनिवार्य घटनाओं का सूचक कैसे हो सकता है ? किसी घटना के सांकेतिक कथन को निश्चित तथा अनिवार्य कहने का यही प्रयोजन है कि ऐसी घटनायें केवल घटित ही नहीं हो रही हैं जो उस कथन को सत्यता प्रदान कर रही हैं, परन्तु ऐसी घटनाओं की संभावना भी नहीं है जो उस कथन को असत्य बना सकें। मैंने यह कैसे निर्धारित किया कि मैं स्वप्न नहीं देख रहा हूँ ? परन्तु मैं स्वप्न नहीं देख रहा हूँ, यह मैं इस समय अनुभव कर रहा हूँ। मैंने इस अनुभव को प्रमाणित करने के लिये अपनी उँगली ब्लेड से काट कर देखी, मुझे पीड़ा का अनुभव हुआ, मेरी उँगली से रक्त निकाला, मेरे पत्र इस बात की गवाही दे रहे हैं कि मैं अपना पेन हाथ में लिये इन वाक्यों को लिख रहा हूँ। क्या ये सभी क्रियायें तथा घटनायें मेरे इस अनुभव के संबंध में पर्याप्त (sufficient) प्रमाण नहीं हैं कि मैं स्वप्न नहीं देख रहा हूँ, अथवा मैं जाग्रत अवस्था में हूँ ? क्या इन प्रमाणों के होते हुए भी मैं यह नहीं कह सकता कि वे घटनायें जिनका संकेत मेरा वाक्य कर रहा है निश्चयात्मकता तथा अनिवार्यता को लेकर ही घटित हो रही हैं। क्या ये वाक्य मेरी स्मृति के संबंध में पर्याप्त प्रमाण नहीं हैं ? परन्तु इन सभी प्रमाणों का सहारा लेकर तो मैं अपनी मूर्खता ही प्रगट कर रहा हूँ। यह उसी प्रकार का कर्म है, जैसा विट्गिन्स्टाइन ने बतलाया है कि "कोई मनुष्य यह विश्वास बनाने के लिए कि जो कुछ यह (कोई एक अखबार) कह रहा है वह सत्य है और सुबह के अखबार की कई प्रतियाँ खरीद डाले"।[११] ऐसे तो केवल मनोवैज्ञानिक प्रमाणों का सहारा लेकर किसी घटना को निश्चित तथा अनिवार्य कहा जा सकता है ? क्या मैंने मनोवैज्ञानिक आधार पर ऐसी बहुत सी घटनाओं को अनिवार्य तथा निश्चित नहीं समझा था जो बाद में केवल 'भ्रम' ही निकलीं ? क्या यह नहीं हो सकता कि जिन घटनाओं का वर्णन मेरा यह वाक्य कर रहा है, "मैं तिथि २८ को १२ बजे रात के तत्त्व-ज्ञान मन्दिर के कमरे में बैठा अपना लेख "दार्शनिक संशयवाद" लिख रहा हूँ" वे घटनायें आगे चलकर केवल भ्रम ही निकलें ? यहाँ जो प्रमाण

संबंधी वाक्य अथवा घटनायें हैं उन्हीं के संबंध में संशय है। संशयवादी का कथन है कि मनोवैज्ञानिक प्रमाण तार्किक निष्कर्ष नहीं दे सकते। केवल मनोवैज्ञानिक आधार पर यह प्रमाणित नहीं हो सकता कि कोई घटना अनिवार्यता तथा निश्चयात्मकता ही को लेकर घटित हो रही है, घटित होगी, अथवा घटित हुई थी। निष्कर्ष स्पष्ट है कि जिस प्रकार भविष्य में होने वाले 'कल' के संबंध में कोई घटना अनिवार्य तथा निश्चित नहीं हो सकती उसी प्रकार से "आज" तथा भूत काल में प्रदत्त 'कल' से संबंधित घटनायें भी केवल सम्भाव्य तथा आकस्मिक हैं। जिस युक्ति द्वारा विट्गिन्स्टाइन यह कहता है, 'हम नहीं जानते कि कल सूर्य उदय होगा' उसी युक्ति द्वारा यह कहा जा सकता है कि "हम नहीं जानते कि आज सूर्य उदय हो रहा है" अथवा "हम अमुक भौतिक स्थिति में हैं"।[13] संशयवाद के तर्कानुसार किसी भी घटना के घटित होने में संशय प्रगट किया जा सकता है, चाहे वह भूत के संबंध में हो अथवा वर्तमान या भविष्य के संबंध में।

यहाँ रसल (Russell) के भूत कालिक घटनाओं से संबंधित विचारों की आलोचना आवश्यक है। रसल भूत कालिक घटनाओं के संबंध में संशयवाद की धारणा व्यक्त करते हैं। परन्तु उन्होंने संशय का जो कारण बतलाया है उससे हम सहमत नहीं हो सकते। रसल भूत काल की घटनाओं को सम्भाव्य केवल इसलिये मानते हैं कि वे घटनायें 'भूतकाल' में घटित हुई थीं। वे कहते हैं 'किसी भी भूत काल की घटना के संबंध में हमारी प्रतीति' (belief) साक्षात् प्रमाण नहीं, क्योंकि हम भूत काल को (अथवा भूत कालिक घटना को) फिर से घटित नहीं कर सकते"।[14] उक्त उद्धरण से यह निष्कर्ष स्पष्ट है कि रसल भूत कालिक घटनाओं के संबंध में प्रयुक्त किये हुये वाक्यों को "सम्भव" केवल इसलिये मानते हैं कि हम भूत काल की घटनाओं का साक्षात्कार नहीं कर सकते। परन्तु वे घटनायें उस समय भी 'निश्चित' नहीं कही जा सकती हैं जबकि यह किसी प्रकार से संभव हो जाये कि वे हमारी आँखों के सामने ही घटित हो रही हैं। मान लिया जाय कि काल का बंधन तोड़कर हमें किसी प्रकार उस युद्ध क्षेत्र पर पहुँचा दिया गया है जहाँ "पृथ्वीराज और मुहम्मद गोरी में युद्ध हो रहा है" और कहा जाय "देखो ! पृथ्वीराज और मुहम्मद गोरी लड़ रहे हैं।" तब रसल के अनुसार किसी संशयवादी को इस प्रतीति में कोई भी संशय न रहेगा कि "पृथ्वीराज और मुहम्मद गोरी लड़ रहे हैं", क्योंकि यह साक्षात् प्रमाण है, यहाँ भूत वर्तमान काल में प्रदत्त है। परन्तु क्या हम उस समय भी निश्चयात्मकता और अनिवार्यता से यह कह सकते हैं कि पृथ्वीराज और मुहम्मद गोरी में लड़ाई हो रही है ? क्या यह नहीं हो सकता कि हम केवल स्वप्न देख रहे हैं ? हो सकता है दर असल में वहाँ न पृथ्वीराज है और न मुहम्मद गोरी और न ऐसा युद्ध क्षेत्र जिसमें वे दोनों लड़ रहे हैं, यह हमारा केवल भ्रम है। ऐतिहासिक घटनायें संभाव्य केवल इसलिये नहीं होतीं कि वे भूतकाल में घटित हुई थीं। अगर वे वर्तमान में भी घटित होतीं अथवा हम किसी प्रकार से उन घटनाओं का साक्षात्कार कर सकते तब भी वे निश्चित तथा अनिवार्य नहीं कही जा सकती हैं। अगर रसल का वर्णन सत्य है तब तो उस दिन संशयवाद का अवश्य ही खंडन हो जायगा जिस दिन वैज्ञानिक ऐसे टेलीविज़न बना लेंगे जिनमें भूतकाल की घटनाओं का प्रदर्शन हो ? क्या उस समय संशयवादी यह कहना छोड़ देगा कि "हो सकता है कि यह स्वप्न है"।

यह स्पष्ट हो गया होगा कि जिन युक्तियों द्वारा विट्गिन्स्टाइन (इसी प्रकार एयर, रसल और लेविज़ भी) संश्लेषणात्मक तर्कवाक्यों को केवल संभाव्य तथा आकस्मिक मानता है वे ह्यूम की युक्तियों से ही मिलती जुलती हैं। हम ह्यूम और विट्गिन्स्टाइन के विचारों में एकरूपता देखते हैं। इसके विरुद्ध ऐंस्कोम्ब अरस्तू (Aristotle) और विट्गिन्स्टाइन के विचारों में एकरूपता देखती हैं। उन्होंने ट्रेक्टेटस (Tractatus) के कुछ संदिग्ध वाक्यों का सहारा लेकर यह प्रमाण देने का प्रयत्न किया कि विट्गिन्स्टाइन भी अरस्तू की भाँति ही यह सोचता है कि यह अनिवार्य है कि कल सूर्य उदय होगा।

अरस्तू के अनुसार, जैसा कि ऐंस्कोम्ब का कथन है, ''यह अनिवार्य है कि कल सूर्य उदय होगा'' ।[१५] किसी घटना अथवा वाक्य को 'अनिवार्य' कैसे और किन स्थितियों में कहा जा सकता है ? जैसा कि हम देख चुके हैं, कोई वाक्य 'निश्चित' है, अथवा केवल सम्भाव्य नहीं, तब यह अनिवार्य होगा कि उस वाक्य द्वारा सांकेतिक घटना घटेगी, घट रही है अथवा घट चुकी है। अगर हमारा यह ज्ञान निश्चित है कि कल सूर्य उदय होगा तब अनिवार्यतया ही कल सूर्य उदय होगा। यहाँ प्रश्न उठता है, हम यह कैसे जान सकते हैं कि अमुक तर्कवाक्य निश्चित है, अथवा निश्चित ज्ञान का बोधक है ? जैसा कि हम पीछे स्पष्ट कर आये हैं, ह्यूम तथा विट्गिन्स्टाइन दोनों के अनुसार कोई तर्कवाक्य तभी निश्चित कहा जा सकता है जब कि वह अनिवार्य संबंध को व्यक्त करे। अनिवार्य संबंध तो केवल पुनरुक्तियाँ ही व्यक्त करती हैं। अगर हम यह कहें कि अमुक कमरे में ''दो और दो'' मेज़ें हैं तब हम इस बात से इनकार नहीं कर सकते कि उस कमरे में 'चार' मेज़ें हैं ओर दूसरी ओर यह कहें कि वहाँ 'पाँच' मेज़ें हैं। 'पाँच' मेजों का 'दो और तीन' अथवा 'एक और चार' से तो अनिवार्य संबंध हो सकता है परन्तु 'दो और दो' से नहीं। जो मनुष्य यह कहे कि 'दो और दो पाँच होते हैं'' वह अन्तर्विरोध का शिकार है। इसी सामान्य सत्य को दार्शनिक भाषा में कहा जाता है कि पुनरुक्तियों का निषेध निरर्थक है अथवा अन्तर्विरोध प्रगट करता है। अत: जब ऐंस्कोम्ब यह सोचती हैं कि अरस्तु और विट्गिन्स्टाइन में इस संबंध में कोई भी मतभेद नहीं कि यह अनिवार्य है कि कल सूर्य उदय होगा, उस समय वह यह मानतीं हैं कि विट्गिन्स्टाइन इस कथन को 'कल सूर्य उदय होगा' केवल एक पुनरुक्ति ही मानता है और सम्भवत: अरस्तु भी। यह निष्कर्ष इसलिये सत्य है, जैसा हम पीछे दिखला आये हैं, कि केवल पुनरुक्तियों की सत्यता ही विट्गिन्स्टाइन की दृष्टि में 'निश्चित' है। क्योंकि ऐंस्कोम्ब किसी वाक्य की अनिवार्यता उस वाक्य की निश्चित रूपता से ही निर्धारित करती हैं।[१६] अत: यहाँ पर 'कल सूर्य उदय होगा' की निश्चय रूपता से ही हमें प्रयोजन है। विट्गिन्स्टाइन के अनुसार किसी निश्चित तर्कवाक्य का निषेध निरर्थक होता है, या अन्तर्विरोधी होता है, इसलिये अगर विट्गिन्स्टाइन यह मानता है कि 'कल सूर्य उदय होगा' एक अनिवार्य वाक्य है तब यह निरर्थक अथवा अन्तर्विरोधी प्रयोग होगा यदि यह कहे कि 'कल सूर्य उदय नहीं होगा।' अगर ऐंस्कोम्ब का बतलाया हुआ अर्थ सही है तब विट्गिन्स्टाइन के अनुसार यह कथन कि 'कल सूर्य उदय होगा', संश्लेषणात्मक भविष्यवाणी न हो कर केवल एक विश्लेषणात्मक तर्कवाक्य है, जिसका निषेध 'कल सूर्य उदय नहीं होगा' एक निरर्थक प्रयोग होगा। यह विट्गिन्स्टाइन के कथन का विचित्र अर्थ है जो विट्गिन्स्टाइन को प्रदृश्यतावादियों की श्रेणी से भिन्न स्थान पर रख देता है। प्रदृश्यतावादियों की श्रेणी से ही नहीं वरन् सभी दार्शनिकों की श्रेणी से भिन्न रखता है क्योंकि मेरी समझ में ऐसा कोई भी दार्शनिक नहीं हुआ जो भविष्यवाणी को पुनरुक्ति कहे, क्योंकि पुनरुक्तियाँ घटनाओं के होने के संबंध में नहीं, शब्दों के प्रयोग के संबंध में होती हैं। 'कल सूर्य उदय होगा' अगर यह केवल एक पुनरुक्ति है तब इससे यह निष्कर्ष कभी भी नहीं निकाला जा सकता है कि कल ऐसी घटना घटने वाली है जिसे 'सूर्य उदय होना' कहते हैं। हम देखते हैं कि ऐंस्कोम्ब भविष्यवाणी की ऐसी परिभाषा दे रही हैं कि वह भविष्यवाणी ही न रहेगी। विट्गिन्स्टाइन तो हमारी समझ में अपने कथनों का यह अर्थ कभी भी न लगाते जिस अर्थ द्वारा संश्लेषणात्मक भविष्यवाणी विश्लेषणात्मक पुनरुक्ति में परिणत हो जाय। केवल विट्गिन्स्टाइन नहीं, हमारी समझ में अरस्तू भी यह मानने को कभी भी तैयार न होते कि भविष्यवाणियाँ पुनरुक्तियाँ होती हैं।

ऐंस्कोम्ब ने अपने लेख में दो विरोधी धाराओं को व्यक्त किया है जो उनके 'निश्चय' शब्द के प्रयोग से संबंधित हैं। वे 'निश्चय' शब्द का दो अर्थों में प्रयोग करती हैं जब यह कहती हैं कि ''यह निश्चय है कि कल सूर्य उदय होगा'' । पहला अर्थ उनके द्वारा प्रस्तुत काल्पनिक वाद-विवाद से स्पष्ट हो जाता है। यहाँ हम इस वाद-विवाद का अनुवाद देते हैं :-

व - .... अगर तुम यह दिखा सको कि कोई विषय (घटना) भविष्य के संबंध में इतना निश्चित है कि वह किसी प्रकार से भी असत्य नहीं हो सकता, तब (संभव है) मैं मान जाऊँगा कि यह निश्चित रूप से सत्य है कि वह विषय (घटना) अवश्य ही घटेगा।

अ - हाँ : कल सूर्य उदय होगा।

व - क्या वह इतना निश्चित है कि किसी प्रकार से असत्य नहीं हो सकता ?

अ - हाँ,।

व - यह भी नहीं : कल सूर्य उदय नहीं हो रहा है।

अ - परन्तु यह तो विवेक शून्य है। जब मैं यह कहता हूँ कि यह निश्चय है कि मैं यहाँ हूँ, तब क्या मैं यह कह रहा हूँ कि मेरा यहाँ न होना इस बात को असत्य कर देगा कि मैं यहाँ हूँ ? परन्तु मैं यहाँ हूँ, और कल सूर्य उदय होगा।

'अ' के अन्तिम वाक्यों का ऐंस्कोम्ब द्वारा ऐसा ही प्रयोग है जैसा मुअर (Moore) ने किया था। मुअर कहता है 'मेरे पास निश्चित प्रमाण हैं कि मैं स्वप्न नहीं देख रहा हूँ (जब मैं यह कहता हूँ यह मेरा सीधा हाथ है')।[१७] जिस प्रकार मुअर यह आवश्यक नहीं समझते कि वह प्रमाण दे कि वह स्वप्न नहीं देख रहे हैं, इसी प्रकार ऐंस्कोम्ब भी यह आवश्यक नहीं समझतीं कि वे यह बतलायें कि किसप्रकार से वे ऐसा समझती हैं कि कल सूर्य उदय होने की घटना अनिवार्य है और असत्य में परणित नहीं हो सकती। उनके इस वाद-विवाद से यह भी ज्ञात होता है कि वह 'निश्चय' का एक ऐसा प्रयोग प्रस्तावित कर रही हैं जिस प्रयोगानुसार 'कल सूर्य उदय होना' निश्चित है। परन्तु उस स्थिति में ऐसे प्रश्न पूछना विवेक शून्य है : 'क्या यह वाक्य किसी प्रकार से भी असत्य नहीं हो सकता ?' जब कोई यह कहता है कि 'यह निश्चय है कि कल सूर्य उदय होगा', उस समय यह पूछना विवेक शून्य है 'क्या इस निश्चय को सूर्य का उदय न होना असत्य नहीं कर देगा ?' परन्तु हम देखते हैं कि यही विवेक शून्य वाक्य उनके मस्तिष्क में उस समय विद्यमान हैं जब वह यह प्रमाणित करती हैं कि विट्गिन्स्टाइन के कथनानुसार 'कल सूर्य उदय होने की घटना' निश्चित अथवा अनिवार्य है। क्योंकि यहाँ वह यही प्रमाणित कर रही हैं कि 'कल सूर्य उदय नहीं होगा' एक निरर्थक प्रयोग है। यह युक्ति उनके मस्तिष्क में सर्वथा ही विद्यमान है कि कोई वाक्य तभी 'निश्चित' हो सकता है जबकि उस वाक्य का निषेध निरर्थक हो। अत: वह स्पष्ट रूप से नहीं कहतीं परन्तु भीतर से यह मानती हैं कि केवल पुनरुक्तियाँ ही निश्चित हैं और 'कल सूर्य उदय होगा' जब तक पुनरुक्तियों के सब गुणों से विभूषित नहीं होता उसे निश्चित नहीं कहा जा सकता। वह कहती हैं "विट्गिन्स्टाइन कहता है कि हम नहीं जानते कि सूर्य उदय होगा, और भविष्य काल की घटनाओं का नियमनात्मक निर्धारण वर्तमान काल की घटनाओं से नहीं हो सकता है। परन्तु वह यह भी कहता है कि हम ऐसे जगत् की धारणा व्यक्त नहीं कर सकते जो नियम विरुद्ध हो। अत: यद्यपि वह यह सोचता है कि कोई वर्णनात्मक घटना घट सकती है, वह यह मालूम करना चाहेगा कि कल सूर्य उदय न होने की घटना वर्णनात्मक है"।[१८] ऐंस्कोम्ब का निष्कर्ष स्पष्ट है, क्योंकि विट्गिन्स्टाइन यह कहता है कि नियम विरुद्ध जगत् की धारणा व्यक्त करना असम्भव है और सूर्य उदय न होने की घटना नियम विरुद्ध है, अत: इस घटना का वर्णन असंभव है अथवा 'कल सूर्य उदय नहीं होगा' एक निरर्थक प्रयोग है। इस संबंध में ग्रांट (Grant) ने अपनी अलोचना में बहुत कह रखा है, अत: हम उन शब्दों को फिर से दोहराना नहीं चाहते।[१९] हम केवल इस पर और प्रकाश डालेंगे कि क्या विट्गिन्टाइन के अनुसार 'कल सूर्य उदय नहीं होगा' एक वर्णनात्मक घटना नहीं है ? विट्गिन्स्टाइन कहता है हम किसी एटमिक फैक्ट (atomic fact) को किसी देश में इस भाँति प्रस्तुत कर सकते हैं कि वह भौतिक नियमों से विरुद्ध हो परन्तु ऐसे प्रस्तुत नहीं कर सकते कि वे ज्यामिति के नियमों के विरुद्ध हो।[२०] क्या यह कथन ऐंस्कोम्ब के अर्थ का समुचित खंडन नहीं करता है ? क्रमश:

***

संदर्भ सूची

* प्रस्तुत लेख में मैं श्री श्रीराम माधव चिंगले की सहायता का विशेष आभारी हूँ।

१. 'Moores Technique' by Wisdom. p. 441. Philosophy of G.E. Moore.

२. 'Mind and the World Order' by Lewis. p. 309.

३. 'The Foundations of Empirical Knowledge' by Ayer p. 239.

४. 'संवेद और भौतिक विषय-यशदेव शल्य, पृ. ५-६, दार्शनिक, अप्रैल १९५८.

५. 'Enquiry' Edited by Silby Bigge - Oxford Press 1902, p.p. 25, 26, Hume says "that the sun will not rise tomorrow is no less intelligible a proposition and implies no more contradiction than the affirmation that it will rise.

६. Quoted from Max Black's note "Certainty and Empirical statement" p.p. 362. Mind 1953. "One would appear ridiculous, who would say, that it's only probable that the sun will rise tomorrow, or that all men must die"

७. See 'Aristotle and the sea Battle, by Anscombe, Mind 1956 p.p. 1-15.

८. Tractatus. p. 99. The truth of tautology is certain, of propositions (empirical) possible, of contradiction, impossible.

९. Ibid p. 109.

१०. Ibid p, 181 "The necessity for one thing to happen because the other has happend does not exist. There is only logical necessity."

११. Ibid p. 109 "The events of the future can not be inferred from those of the present.

१२. Investigations p. 94. by wittgistien Translators Anscombe & others.

१३. Compare 'we do not know that the sun will rise tomorrow' with the sentence 'we do not know that the sun is rising to day.' It it is 'logically possible' that the sun may not rise tomorrow, it is also 'logically possible' that the sun is not rising to day, since we may all be dreaming or having 'sum my illusion'.

१४. Philosophy, P. 7.

१५. Aristotle and the Sea Battle, p. 14, Mind 1955.

१६. Ibid p. 11.

१७. See 'Proof of an External world' P. 30. British Acadamy Lecture.

१८. Ob. cit. P. 14.

१९. "Certainty, Necessity and Aristotle sea Battle" - Grant, Mind 1957 p.p. 528-29.

२०. Ob. cit. P. 45 (3 0321)

दार्शनिक संशयवाद - २

(१) जो वर्णनात्मक है उसके घटित होने की संभावना है।

(२) जो कार्य-कारण नियम द्वारा अपवर्जित है उसका वर्णन नहीं हो सकता।

(३) हम किसी आणुविक घटना को किसी देश में इस भाँति प्रस्तुत कर सकते हैं कि वह भौतिक नियमों के विरुद्ध हो परन्तु इस भाँति प्रस्तुत नहीं कर सकते कि वह ज्यामिति के नियमों के विरुद्ध हो।

उपरोक्त वाक्य विट्गिन्स्टाइन द्वारा ट्रक्टेटस में प्रयुक्त हुए हैं।[1] यहाँ हम इन्हीं वाक्यों से संबन्धित समस्याओं को निरीक्षण हेतु प्रस्तुत करेंगे। अपने लेख के प्रथम खण्ड में हमने वाक्य (३) को ऐंस्कोम्ब की युक्तियों के खंडन हेतु प्रस्तुत किया।[2] जैसा कि हम देख चुके हैं, ऐंस्कोम्ब के मतानुसार विट्गिन्स्टाइन वाक्य 'कल सूर्य उदय नहीं होगा' को निरर्थक करार देंगे क्योंकि इस वाक्य द्वारा संकेतित घटना भौतिक नियमों का विरोध करती है। संभवत: ऐंस्कोम्ब ने वाक्य (२) के आधार पर यह धारणा बना ली है कि विट्गिन्स्टाइन के अनुसार नियम विरुद्ध घटना का वर्णन असंभव है। वे किसी स्वतन्त्र युक्ति द्वारा यह पहले से ही समझे बैठी हैं कि कल सूर्य उदय न होने की घटना नियम विरुद्ध है। अत: वे इस निष्कर्ष पर पहुँच जाती हैं कि कल सूर्य उदय न होने की घटना अवर्णनीय है। यदि यह घटना अवर्णनीय है तब यह कथन भी कोई अर्थ नहीं रखता कि कल सूर्य उदय नहीं होगा। कोई कथन अथवा वाक्य उसी स्थिति में अर्थ रख सकता है जब कि उसके द्वारा बोधित घटना वर्णनात्मक हो, अन्यथा नहीं। जैसा कि हम देख चुके हैं, अपने लेख में ऐंस्कोम्ब यह सिद्ध करना चाहती थीं कि कल सूर्य उदय होने की घटना अनिवार्य तथा निश्चित है।[3] यह उसी समय संभव था जबकि इसकी विरोधी घटना किसी प्रकार अवर्णनीय सिद्ध हो जाय। अत: जब ऐंस्कोम्ब यह सिद्ध कर देती हैं कि कल सूर्य उदय न होने वाली घटना अवर्णनीय है, अथवा यह कथन कोई भी अर्थ नहीं रखता कि कल सूर्य उदय नहीं होगा, तब उन्हें अपने ध्येय में सफलता मिल जाती है। परन्तु जो सफलता ऐंस्कोम्ब को मिली है, वह केवल विट्गिन्स्टाइन द्वारा प्रयुक्त वाक्य (२) के अर्थ का गलत निरूपण करने से ही। इससे पूर्व कि हम उनके इस गलत निरूपण पर प्रकाश डालें, यह आवश्यक है कि वाक्य (३) की ओर फिर से ध्यान आकृष्ट करें, जिसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। यह वाक्य ऐंस्कोम्ब की युक्तियों का उचित रूप से खंडन करता है।

वाक्य (३) से यह स्पष्ट है कि हम ऐसी घटनाओं की धारणा व्यक्त कर सकते हैं जो भौतिक नियमों के विरुद्ध हों। केवल ऐसी घटनाओं की धारणा व्यक्त नहीं कर सकते जो ज्यामिति के नियमों के विरुद्ध हो। 'कल सूर्य उदय नहीं होगा' यह वाक्य जिस घटना के लिए प्रयुक्त हुआ है वह भौतिक नियमों का विरोध करती है, ज्यामिति के नियमों का विरोध नहीं करती। उदाहरण के लिए, यह ज्यामिति के नियमों का विरोध होगा कि कोई त्रिकोण ७५ डिग्री का हो, अत: हम ऐसे त्रिकोण के संबंध में कोई भी धारणा व्यक्त नहीं कर सकते जो ७५ डिग्री का हो। केवल भौतिक नियमों का विरोध करने वाली घटनायें वर्णनात्मक हैं, उनकी धारणा व्यक्त की जा सकती है। कल सूर्य उदय न होने की घटना ज्यामिति के

नियमों का विरोध नहीं करती, अत: स्पष्ट है कि यह अवर्णनीय नहीं हो सकती। यदि यह घटना अवर्णनीय नहीं है, प्रत्युत वर्णनात्मक है, तब यह कहना निरर्थक नहीं हो सकता कि 'कल सूर्य उदय नहीं होगा'। यहाँ द्रष्टव्य है कि यदि यह कहना निरर्थक नहीं है कि 'कल सूर्य उदय नहीं होगा' तब इस युक्ति का खंडन हो जाता है कि 'कल सूर्य उदय होगा' यह निश्चित अथवा अनिवार्य ज्ञान का बोधक है। जैसाकि हम प्रथम खण्ड में देख चुके हैं, किसी वाक्य का ज्ञान निश्चित अथवा अनिवार्य तभी हो सकता है जबकि उस वाक्य का विरोध निरर्थक हो। अथवा, कोई घटना अनिवार्य तभी हो सकती है जब कि उसकी विरोधी घटना अवर्णनीय हो। स्पष्ट है कि वाक्य (३) के आधार पर हम ऐंस्कोम्ब की युक्तियों का खंडन करते हुए कह सकते हैं कि 'कल सूर्य उदय होगा' केवल अनिश्चित तथा संभाव्य है, निश्चित तथा अनिवार्य नहीं।

यदि 'कल सूर्य उदय न होने की घटना' वर्णनात्मक है, तब हो सकता है कि कल सूर्य उदय न हो, क्योंकि, जैसा कि वाक्य (१) से स्पष्ट है, कोई भी घटना घट सकती है यदि वह वर्णनात्मक है। यहाँ हमारे कहने का केवल इतना ही अर्थ है कि यह तार्किक रूप से असंभव (Logically impossible) नहीं कि कल सूर्य उदय न हो। यह घटना तार्किक रूप से असंभव तभी हो सकती है जब कि यह कहना कोई भी अर्थ न रखता हो कि 'कल सूर्य उदय नहीं होगा।' हाँ यह भौतिक रूप से असम्भव (Physically impossible) हो सकता है कि कल सूर्य उदय न हो। परन्तु किसी घटना के घटित होने की भौतिक असंभवता उसके घटित होने का अवरोध नहीं करती। यहाँ द्रष्टव्य है कि भविष्यवाणियों की भौतिक असंभवता दूसरे तर्कवाक्यों की भौतिक असंभवता से भिन्न गुण नहीं रखती। उदाहरण के लिये, यह केवल भौतिक रूप से असंभव है कि 'मेरा सिगार उँगलियों से छिटक कर मेज़ पर नाचने लगे' अथवा 'मेरे पेन रोशनाई के स्थान पर धुआँ छोड़ने लगे'। 'मेरे सिगार का मेज़ पर नाचना' अथवा 'मेरा पेन रोशनाई के स्थान पर धुआँ छोड़ने लगे' उसी प्रकार वर्णनात्मक घटनायें हैं जिस प्रकार कि 'कल सूर्य उदय का न होना'। जिस प्रकार मैं यह धारणा बना सकता हूँ कि मेरे चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा है, यद्यपि १० बज चुके हैं फिर भी सूर्य नहीं निकल रहा है, उसी प्रकार मैं यह धारणा बना सकता हूँ कि मेरा सिगार मेज़ पर नाच रहा है अथवा मेरा पेन धुआँ छोड़ रहा है। यहाँ पर भौतिक असंभवता से अर्थ है कि जिस विशिष्ट कार्य-कारण नियम के अंतर्गत एक विशिष्ट घटना घटती है उसी विशिष्ट कार्य-कारण नियम के अंतर्गत उसकी विरोधी अथवा विपरीत घटना नहीं घट सकती। 'मेरे सिगार का मेज़ पर नाचना' उसी विशिष्ट कार्य-कारण नियम के अंतर्गत नहीं आ सकता जिस के अन्तर्गत 'मेरे सिगार से धुआँ निकलना' आता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो जाता है कि 'मेरा सिगार मेज़ पर नाच नहीं सकता' अथवा 'इसमें मेज़ पर नाच सकने से संबंधित कार्य-कारण नियम की संभाव्यता विद्यमान नहीं है।'

यहाँ पर तार्किक रूप से असंभव घटनाओं का उल्लेख समस्या को अधिक स्पष्ट कर देगा। जिस प्रकार कुछ घटनायें केवल इसलिये घटित नहीं हो सकतीं, अथवा नहीं हो रही हैं, कि वे भौतिक रूप से असंभव हैं, उसी प्रकार कुछ घटनाओं का घटित होना तार्किक रूप से असंभव है। यदि सारी भौतिक उपाधियाँ हटा दी जायें तब भी यह असंभव होगा कि वे घटनायें घटित हो सकें। इस लक्ष्य को हम दूसरी भाषा में कह सकते हैं कि उन घटनाओं की असंभवता तार्किक है, अथवा उनके घटित होने में कोई भौतिक उपाधि रूकावट नहीं डालती। 'मेरा दूसरे किसी की पीड़ा का अनुभव' भौतिक रूप से नहीं प्रत्युत तार्किक रूप से असंभव है। यदि मैं दूसरे की पीड़ा का उसी अर्थ में अनुभव करता हूँ जिस अर्थ में मैं अपनी पीड़ा का अनुभव करता हूँ तब वह दूसरे की पीड़ा का अनुभव न हो कर मेरी पीड़ा का अनुभव होगा। अत: उस समय यह कहना कुछ भी अर्थ न रखेगा कि 'मैंने दूसरे की पीड़ा का अनुभव किया'। यहाँ असंभवता इसमें नहीं है कि दो भिन्न शरीरों द्वारा एक ही पीड़ा का अनुभव संख्यात्मक रूप से (numerically) असंभव है प्रत्युत दो भिन्न मनों का संख्यात्मक रूप से एक ही पीड़ा का अनुभव

असंभव है। यहाँ शरीर तथा मन का उल्लेख अलग-अलग इसलिये किया गया कि दो शरीरों को एक कहा जा सकता है परन्तु दो मनों को एक नहीं। जैसे कि स्यामी यमज (Siamese twins) को एक शरीर तथा दो मन कहा जा सकता है, क्योंकि जुड़वाँ के एक अंग पर चोट दोनों मनों में पीड़ा का अनुभव करा सकती है। दो मन कहना इसलिये आवश्यक है कि पीड़ा का अनुभव दो भिन्न स्थानों पर होता है। संख्यात्मक रूप से जिस पीड़ा का अनुभव एक कर सकता है, दूसरा नहीं कर सकता। यह दुखद स्थिति हो सकती है, परन्तु यह तार्किक सत्य है कि दो मनों का, चाहे वे कितने ही समीप क्यों न हों, संख्यात्मक रूप से एक ही पीड़ा का अनुभव असंभव है। उदाहरण के लिये, जब मैं यह कहता हूँ 'मेरी प्रेयसी की पीड़ा मेरी पीड़ा है' तब मेरे कहने का यह अर्थ नहीं हो सकता कि 'मैं इस समय उस पीड़ा का अनुभव कर रहा हूँ जिसका अनुभव मेरी प्रेयसी कर रही है।' अथवा 'मेरी पीड़ा का अनुभव तथा मेरी प्रेयसी का पीड़ा का अनुभव संख्यात्मक रूप से एक ही हैं'। हाँ, यह हो सकता है कि जिस पीड़ा का अनुभव मैं इस समय कर रहा हूँ वह विशिष्ट मेरी प्रेयसी की पीड़ा के अनुभव से भी तीव्र हो। परन्तु यह तीव्रता उन दो भिन्न अनुभवों को एक नहीं कर सकती। दो भिन्न अनुभवों का पारिभाषिक रूप से (by definition) एक होना असंभव है, इसलिये स्पष्ट है कि एक मन दूसरे मन के अनुभवों का अनुभव नहीं कर सकता। कभी-कभी यह तार्किक असंभवता संशयवादियों के सम्मुख विचित्र समस्या के रूप में खड़ी हो जाती है। क्योंकि यह असंभव है कि मैं अन्य मनों के अनुभवों का स्वयं ही अनुभव कर सकूँ, अत: मेरे पास अन्य मनों का अस्तित्त्व मानने के लिये कोई भी प्रमाण नहीं है। मैं यह कैसे प्रमाणित करूं कि मेरा मित्र केवल मोम का चलता फिरता पुतला नहीं है ? यह कैसे प्रमाणित हो कि मेरे जैसे शरीरधारी मनुष्यों के भेजे में मेरे जैसा मन भी है ? क्या यह नहीं हो सकता कि दूसरे मनुष्य केवल मशीन हैं ? वे मेरी तरह व्यवहार तो करते हैं परन्तु मेरी तरह मन नहीं रखते ? क्या यह नहीं हो सकता कि जब मेरा मित्र रोता है, कराहता है, उस समय वह अन्दर से बहुत ही प्रसन्न हो ? इस प्रकार के विचित्र संशयवादी प्रश्नों का विश्लेषण हम आगे किसी समय करेंगे। इस समय जिस समस्या पर विचार कर रहे हैं उसके सम्बन्ध में स्पष्टता आवश्यक है।

जैसा कि हम ऊपर बतला आये हैं कि ऐंस्कोम्ब को अपनी युक्तियों को सफलीभूत बनाने में जो सहायता मिली है वह केवल वाक्य (२) के अर्थ का गलत निरूपण करने से ही। इस वाक्य द्वारा विट्गिन्स्टाइन जो कुछ कहना चाहते हैं ऐंस्कोम्ब उसका विपरीत अर्थ निकाल लेती हैं। जब विट्गिन्स्टाइन यह कहते हैं 'जो कार्य-कारण नियमों द्वारा अपवर्जित है उसका वर्णन नहीं हो सकता' तब उनके कहने का यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता है कि अमुक घटना कार्य-कारण नियम द्वारा अपवर्जित है। इस कथन से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि ऐसी घटनायें जैसे 'सूर्य का उदय न होना', 'सिगार का मेज़ पर नाचना' अथवा 'पेन का धुआँ छोड़ना' कार्य-कारण नियम द्वारा अपवर्जित हैं। अपने कथन द्वारा विट्गिन्स्टाइन केवल इतना कहना चाहते हैं कि सभी वर्णनात्मक घटनायें कार्य-कारण नियम के अन्तर्गत आती हैं। वाक्य (१) से यह निष्कर्ष अथवा अर्थ स्पष्ट हो जाता है। विट्गिन्स्टाइन जब यह कहते हैं 'जो वर्णनात्मक है उस के घटित होने की संभावना है' तब वे स्पष्ट रूप से यह मानते हैं कि वर्णनात्मक घटनाओं में कार्य-कारण नियम की संभाव्यता विद्यमान है। यदि इन घटनाओं में कार्य-कारण नियम की संभाव्यता विद्यमान नहीं है तब यह कहना कुछ भी अर्थ न रखेगा कि उन घटनाओं के घटित होने की संभावना है। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि क्या 'मेरे सिगार का मेज़ पर नाचना', 'मेरे पेन का धुआँ छोड़ना' अथवा 'सूर्य का उदय न होना' आदि ऐसी घटनायें हैं जो कार्य-कारण नियम के अन्तर्गत आती हैं ? इसमें कोई संदेह करने की गुंजाईश नहीं है कि ये घटनायें वर्णनात्मक हैं परन्तु इसमें संदेह हो सकता है कि ये घटनायें कार्य-कारण नियम के अन्तर्गत आती हैं। मैं यह कल्पना कर सकता हूँ कि 'मेरा सिगार मेज़ पर

नाच रहा है', सूर्य उदय नहीं हो रहा है' अथवा 'मेरा पेन धुआँ छोड़ रहा है', परन्तु क्या इन वर्णनात्मक घटनाओं में कार्य-कारण नियम की संभाव्यता भी विद्यमान है ? यदि यह कथन सत्य है कि वर्णनात्मक घटनायें घट सकती हैं तब इस कथन में संशय का कोई स्थान नहीं रह सकता कि इन सभी घटनाओं में कार्य-कारण नियम की सम्भाव्यता विद्यमान है। स्पष्ट है कि जिस प्रकार 'मेरे सिगार से धुआँ निकलना' एक विशिष्ट कार्य-कारण नियम के अन्तर्गत आता है उसी प्रकार 'मेरे सिगार का मेज़ पर नाचना' भी एक विशिष्ट कार्य-कारण नियम के अन्तर्गत आता है। यदि मेरा सिगार मेज़ पर नाचने लगे तब उससे संबंधित संभाव्य कार्य-कारण नियम भी उसी प्रकार प्रगट रूप में कार्य करने लगेगा जिस प्रकार कि मेरे सिगार से धुआं निकलने से संबंधित कार्य-कारण नियम अक्सर प्रगट रूप से कार्य करता है। यह प्रश्न दूसरा रहा कि मैंने सिगार को कभी भी नाचते नहीं देखा अथवा सिगार के नाचने से संबंधित कार्य-कारण नियम को प्रगट होते नहीं देखा। इस कथन से यह सिद्ध नहीं हो सकता है कि 'मेरा सिगार मेज़ पर नहीं नाच सकता' अथवा 'इसमें उस विशिष्ट कार्य-कारण नियम की संभाव्यता विद्यमान नहीं है जिसके द्वारा यह घटना घटित हो सके'।

ऐंस्कोम्ब के विचार 'कार्य-कारण नियम द्वारा अपवर्जित (Excluded by the law of causality) घटना' के प्रयोग के संबंध में भी स्पष्ट नहीं है। कोई घटना कार्य-कारण नियम का विरोध कर सकती है, बिना उसके द्वारा अपवर्जित हुये। जब यह कहा जाता है कि अमुक घटना कार्य-कारण नियम का विरोध करती है तब केवल यह अर्थ होता है कि अमुक घटना अमुक कार्य-कारण नियम का विरोध करती है। उदाहरण के लिये, यदि मेरे पेन से धुआँ निकलने लगे तब यह घटना उस कार्य-कारण नियम का विरोध करेगी जिसके द्वारा मेरे पेन से रोशनाई निकलती है। परन्तु यह विरोध कार्य-कारण नियम से नहीं प्रत्युत एक विशिष्ट कार्य-कारण नियम से है। हाँ, यह कथन सत्य हो सकता है कि जिस विशिष्ट कार्य-कारण नियम के अन्तर्गत दूसरी घटना घटती है उसी विशिष्ट कार्य-कारण नियम के अन्तर्गत पहली घटना नहीं घट सकती। अत: द्वितीय घटना से संबंधित कार्य-कारण नियम द्वारा प्रथम घटना अपवर्जित कही जा सकती है। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता है कि प्रथम घटना कार्य-कारण नियम द्वारा अपवर्जित है। विट्गिन्स्टाइन केवल इतना कहते हैं कि कार्य-कारण नियम द्वारा अपवर्जित घटना का वर्णन नहीं हो सकता, वे यह कहीं पर नहीं कहते कि किसी विशिष्ट कार्य-कारण नियम द्वारा अपवर्जित घटना का वर्णन नहीं हो सकता। क्योंकि किसी विशिष्ट कार्य-कारण नियम द्वारा अपवर्जित घटना किसी दूसरे कार्य-कारण नियम के अंतर्गत आ सकती है। "सूर्य के उदय न होने की घटना" अवश्य ही "सूर्य के उदय होने की घटना" से संबंधित कार्य-कारण नियम का विरोध करती है परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है, जैसा कि ऐंस्कोम्ब निकाल लेती हैं, कि प्रथम घटना कार्य-कारण नियम का विरोध करती है, अथवा उसके द्वारा अपवर्जित है।

सबसे बड़ी भूल तो ऐंस्कोम्ब की यह है कि विट्गिन्स्टाइन तो ट्रक्टेटस में केवल इतना कहते हैं कि कार्य-कारण नियम द्वारा अपवर्जित घटनायें वर्णनात्मक नहीं हो सकतीं परंतु ऐंस्कोम्ब उसका यह अर्थ लगा लेती हैं कि विट्गिन्स्टाइन के अनुसार कार्य-कारण नियम के विरुद्ध घटनायें वर्णनात्मक नहीं हो सकती। कार्य-कारण नियम के विरुद्ध घटनाओं को अवर्णनीय कहना वह अर्थ नहीं रखता जो कि कार्य-कारण नियम द्वारा अपवर्जित घटनाओं को अवर्णनीय कहना रखता है।[८] "अपवर्जित" का अर्थ वह नहीं है जो "विरुद्ध" का है। स्पष्ट है कि ऐंस्कोम्ब की युक्तियाँ दोहरी गलतियों पर आधारित हैं। यदि यह मान भी लिया जाये कि "सूर्य उदय न होने की घटना" नियम विरुद्ध है, परन्तु इससे कहाँ सिद्ध होता है कि यह अवर्णनीय है ? हम पहले ही दिखा आये हैं कि नियम विरुद्ध घटनाओं की धारणा व्यक्त की जा

सकती है, अत: इस युक्ति को दोहराने से कोई लाभ नहीं है। उपरोक्त विश्लेषण से सिद्ध हो जाता है कि विट्गिन्स्टाइन के अनुसार 'कल सूर्य उदय होना' अनिवार्य अथवा निश्चित नहीं है। ऐंस्कोम्ब ने विट्गिन्स्टाइन के कथनों का गलत निरूपण किया है।

उपरोक्त विश्लेषण से यह भी स्पष्ट हो गया कि ऐंस्कोम्ब अपने लेख में 'कल सूर्य उदय होगा' को तार्किक अर्थ में अनिवार्य मानती हैं। यद्यपि अपने लेख में उनका दावा यही है कि वे इस वाक्य को किसी विपरीत अर्थ में अनिवार्य मानती हैं।[५] अनिवार्य का तार्किक प्रयोग यही अर्थ रखता है कि जो वाक्य अनिवार्य है उसका विरोध निरर्थक है, और ऐंस्कोम्ब इसी अर्थ को सिद्ध करने के लिये युक्तियाँ प्रस्तुत करती हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि किसी वाक्य को तार्किक अर्थ में अनिवार्य माना जाता है तब यह मानना पड़ेगा कि वह वाक्य पुनरुक्ति है। यदि 'कल सूर्य उदय होगा' तार्किक अर्थ में अनिवार्य है तब इसमें संदेह नहीं हो सकता कि यह पुनरुक्ति है। यह सत्य हो सकता है, जैसा कि ग्रांट ने अपनी आलोचना में दिखलाया है, कि कोई मनुष्य 'कल' की परिभाषा 'सूर्य उदय होने' से दे। ऐसी स्थिति में यह कहना निरर्थक होगा कि 'कल सूर्य उदय नहीं होगा।'[६] परन्तु यहाँ समस्या यह है कि यदि 'कल सूर्य उदय होगा' एक पुनरुक्ति है तब यह किसी घटना के संबंध में न होकर केवल शब्दों के प्रयोग के संबंध में है।[७] किसी भविष्यवाणी को पुनरुक्ति मानना यह वास्तव में मानना है कि यह भविष्यवाणी नहीं है, अत: जब ऐंस्कोम्ब यह कहती हैं कि 'कल सूर्य उदय होना' अनिवार्य है तब वे भविष्य में घटने की किसी भी वर्णनात्मक घटना के संबंध में कुछ भी नहीं कहतीं, वे केवल शब्दों के प्रयोग के संबंध में कहती हैं। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि 'कल सूर्य उदय होगा' एक ऐसा वाक्य है जो पुनरुक्ति तथा भविष्यवाणी दोनों अर्थों में प्रयुक्त हो सकता है। परन्तु ऐसा नहीं हो सकता है कि एक ही प्रयोग-स्थिति में यह पुनरुक्ति भी है और भविष्यवाणी भी। पुनरुक्ति रहते हुये यह भविष्यवाणी नहीं हो सकता। सच्चाई तो यह है कि 'अनिवार्यात्मक भविष्यवाणियों' (necessary future predictions) के संबंध में विचार की जड़ दो भिन्न प्रयोग स्थितियों में घपला करना ही है। केवल पुनरुक्ति ही अनिवार्य होती है। यदि 'कल सूर्य उदय होगा' पुनरुक्ति है तब यह अनिवार्य भी कहा जा सकता है। अत: ऐंस्कोम्ब समझने लगती हैं कि कल सूर्य उदय होना अनिवार्य है। यहाँ समस्या यह है कि जब ऐंस्कोम्ब 'कल सूर्य उदय होगा' को अनिवार्य अथवा निश्चित सिद्ध करती हैं तब वे किसी भविष्यवाणी को नहीं प्रत्युत किसी पुनरुक्ति को अनिवार्य तथा निश्चित सिद्ध करती हैं। पुनरुक्तियों को निश्चित अथवा अनिवार्य कहने पर कोई भी आक्षेप नहीं कर सकता, आक्षेप केवल भविष्यवाणियों के साथ इन विशेषणों के प्रयोग पर है। क्रमश:

***

संदर्भ सूची

१. *See Tractatus'* (1) *What can be described can happentoo. p. 179*
(2) *What is excluded by the law of causality cannot be described (p. 179)*
(3) *We could present spatially an atomic fact which contradicted the laws of physics, but not one which contradicted the laws of geometry (p. 45)*

२. *देखें - 'दार्शनिक संशयवाद - १' सुरेश, दार्शनिक अक्तूबर १९५८, ज्ञानमीमांसा विशेषांक पृ. २०।*

३. *See 'Aristotle and the Sea Battle', Mind 1956. p. p. 1-14.*

४. *Op cit. p. 14. Anscombe does not argue that 'the sun will not rise' is excluded by the law. Rather she argues that it goes against the law. In ordinary language 'going against the law' means 'contradicting the law'. But wittgenstein denies the description of*

something only if it is excluded by the law, not if it contradicts the law. Something can be described if it merely contradicts the law, as is clear from the Sentence (3), but nothing can be described if it is excluded by the law. From sentence (2) it is also clear that any fact of event which can be described contains the possibility of law, otherwise the sentence (1) does not make sense. Therefore, if 'the Sun will not rise' is a describable event it must contain the possibility of the causal law. What even can be described can happen too, because whatever can be described contains the possible form of the causal law.

५. *See "Certainty, Necessity and Aristole's sea Battle's by Grant Mind 1957 - 'Anscombe argues in favour of a sense of 'necessary' which is both non-logical and non-empirical." p. 522.*

६. *Ibid. p. 530.*

७. देखें 'दार्शनिक संशयवाद' दार्शनिक, अक्तूबर १९५८ अंक पृ. १८-१९ ।

दार्शनिक संशयवाद - ३

दार्शनिक संशयवाद पर पिछले दो लेखों में हमने देखा था कि संशयवादियों, जैसे ह्यूम तथा विट्गिन्स्टाइन, के मतानुसार भविष्यवाणियाँ निश्चित (Certain) तथा अनिवार्य (Necessary) नहीं हो सकतीं, वे केवल अनिश्चित तथा संभाव्य (probable) हैं। संशयवादी केवल भविष्यवाणियों के संबंध में ही नहीं प्रत्युत सभी संश्लेषणात्मक अनुभवीय तर्कवाक्यों (Synthetic empirical propositions) के संबंध में यही मत रखते हैं। विभिन्न संशयवादियों में भेद केवल इतना है कि वे अपनी स्वतन्त्र युक्तियों द्वारा आनुभविक ज्ञान के संबंध में संशय प्रगट करते हैं। परन्तु फिर भी हम समकालीन संशयवादियों पर ह्यूम तथा डेकार्ट की युक्तियों की छाप देख सकते हैं। यह कहना गलत न होगा कि समकालीन संशयवादियों की युक्तियाँ ह्यूम तथा डेकार्ट की युक्तियों के सम्मिश्रण हैं। अगले लेख में हम डेकार्ट की युक्तियों का विश्लेषण करते समय देखेंगे कि ह्यूम से डेकार्ट का समकालीन संशयवादियों पर कम प्रभाव नहीं है। प्रस्तुत लेख में हम उन तर्कवाक्यों के संबंध में विचार को स्पष्ट करेंगे जिनके संबंध में समकालीन संशयवादियों को कोई भी संशय नहीं है।

ऊपर जब हमने कहा था कि संशयवादी सभी संश्लेषणात्मक अनुभवीय तर्कवाक्यों के संबंध में संशय की भावना प्रकट करते हैं उस समय हमने "संश्लेषणात्मक अनुभवीय तर्कवाक्यों" की परिभाषा में उन तर्कवाक्यों की गणना नहीं की थी जिन्हें अनुभव के 'मूल वाक्य' कहते हैं। मूल वाक्य (Basic propositions) यद्यपि 'संश्लेषणात्मक' तथा 'अनुभवीय' हैं फिर भी वे अन्य संश्लेषणात्मक अनुभवीय तर्कवाक्यों से भिन्न हैं। मूल वाक्य 'यह गोल दिखाई देता है', अथवा 'मुझे पीड़ा का अनुभव हो रहा है', ऐसे संश्लेषणात्मक तर्कवाक्यों से भिन्न स्वभाव रखते हैं जैसे कि 'यह गोल है' अथवा 'पैसा गोल है'। इन तर्कवाक्यों के स्वभाव के संबंध में लेविज़ (Lewis) का कथन है, 'यहाँ गोल दिखाई देता है' एक ऐसा तर्कवाक्य है जो केवल क्षणिक प्रदत्तता (Momentarily given) के संबंध में प्रकथन है जबकि 'पैसा गोल है' उस प्रदत्तता की प्रत्ययात्मक व्याख्या (Conceptual interpretation of the given) करता है।[1] क्योंकि मूल वाक्य केवल क्षणिक प्रदत्तता के संबंध में प्रकथन है, अत: उसके संबंध में संशय की धारणा व्यक्त नहीं की जाती। अब तो सभी समकालीन संशयवादी, जैसे, एयर, ब्रैथवेट (Braithwait) तथा लेविज़ आदि, यह मानने लगे हैं कि मूल वाक्यों का ज्ञान अशोध्य (Incorrigible) तथा भ्रान्ति (error) रहित है। यहाँ मूल वाक्यों को अशोध्य कहने का अर्थ यह नहीं है कि उनके संबंध में व्याकरण की अथवा शाब्दिक त्रुटियाँ अथवा मतभेद भी संभव नहीं है। शाब्दिक त्रुटियाँ किसी भी वाक्य के साथ संभव हैं, चाहे वह तर्कवाक्य हो अथवा पुनरुक्ति। यदि अशोध्यता की परिभाषा में शाब्दिक त्रुटियों को सम्मिलित कर लिया जाय तब तो सभी वाक्य शोध्य (Corrigiable) हैं। इस अर्थ में मूलवाक्य तथा अन्य संश्लेषणात्मक तर्कवाक्यों में कोई भी भेद नहीं रह जाता। परन्तु भेद अवश्य है। अन्य संश्लेषणात्मक तर्कवाक्य शोध्य केवल इसी अर्थ में नहीं है कि उनके संबंध में शाब्दिक अथवा व्याकरण की त्रुटियाँ संभव हैं प्रत्युत उनके संबंध में हमें भ्रम की सम्भावना रहती है, जो सम्भावना कि मूलवाक्यों में नहीं

रहती। मूलवाक्यों के संबंध में जिस प्रकार की त्रुटियाँ सम्भव हैं हम उन्हें एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं। एक विदेशी है जिसे हिंदी भाषा का पूर्ण ज्ञान नहीं है। यदि वह विदेशी यह कहे 'यह चपटा दिखाई देता है' उसी प्रकरण (Context) में जिस प्रकरण में हम यह कहें 'यह गोल दिखाई देता है' तब हमारा विदेशी से मतभेद है। परन्तु यह मतभेद शाब्दिक है। वास्तविकता यह है कि हम जिस भाषा का उपयोग कर रहे हैं उस भाषा में 'गोल' शब्द जो अर्थ रखता है उस विदेशी की भाषा में वही अर्थ 'लम्बा' शब्द रखता है। ऐसा नहीं है कि उस व्यक्ति की भाषा में 'लम्बा' शब्द वही अर्थ रखता है जो अर्थ कि वह शब्द हमारी भाषा में रखता है। इसी प्रकार, यदि वह विदेशी चोट लगने पर यह कहे 'उसे सुख का अनुभव हो रहा है' तब वह एक विपरीत भाषा का प्रयोग कर रहा है। उस व्यक्ति की भाषा में 'सुख' शब्द वही अर्थ रखता है जो कि हमारी भाषा में 'पीड़ा' शब्द रखता है। इस प्रकार का शाब्दिक मतभेद प्रचलित भाषा के निरीक्षण से दूर हो जाएगा। प्रचलित भाषा यह भी निर्धारित कर देगी कि कौन व्यक्ति गलत शब्द का प्रयोग कर रहा है। परन्तु अन्य संश्लेषणात्मक तर्कवाक्यों से संबंधित मतभेद अथवा त्रुटियाँ ऐसी नहीं होती। अन्य संश्लेषणात्मक तर्कवाक्यों का मतभेद ऐसा होता है जिसका निवारण भाषा के निरीक्षण द्वारा असम्भव है। उदाहरण के लिये हम दो व्यक्तियों को ले लेते हैं जो कि संध्या समय एक अंधेरे मार्ग पर जा रहे हैं। सामने देखी हुई वस्तु के संबंध में एक का कथन है 'वह आदमी है', परन्तु दूसरा व्यक्ति यह कह कर उसका खंडन करता है 'वह पेड़ की टूटी हुई डाल है'। यहाँ यह कैसे निर्धारित हो कि वह वस्तु, जिसे वे दोनों देख रहे हैं, आदमी है अथवा पेड़ की टूटी हुई डाल है ? यह मतभेद भाषा के निरीक्षण द्वारा समाप्त नहीं किया जा सकता। दोनों यह कह कर निपटारा नहीं कर सकते 'आओ बैठ कर हम विचार करें कि सामने दिखाई देने वाली वस्तु के लिये 'आदमी' शब्द का प्रयोग किया जाए अथवा 'पेड़ की टूटी हुई डाल' का। जब दूसरा व्यक्ति यह कह रहा है कि 'वह पेड़ की टूटी डाल है' तब उसके कहने का यह प्रयोजन नहीं होता कि पहला व्यक्ति गलत भाषा का प्रयोग कर रहा है, अथवा वह अपनी भाषा में 'आदमी' शब्द का उसी अर्थ में प्रयोग कर रहा है जिस अर्थ में 'पेड़ की टूटी हुई डाल' का प्रयोग होता है। दूसरा व्यक्ति केवल यह समझता है कि पहला व्यक्ति भ्रम में है, जिसे वह आदमी देख रहा है वह आदमी न होकर पेड़ की टूटी हुई डाल है। वह मतभेद तभी दूर हो सकता है जबकि दोनों व्यक्ति उस वस्तु को समीप से जाकर देखें जो कि उनके मतभेद की जड़ है, भाषा में कौन सा शब्द किस प्रकरण में किस भाँति प्रयुक्त होता है, यह देखने से नहीं। यदि समीप जाकर दोनों ने देखा कि वास्तव में वह वस्तु आदमी न होकर पेड़ की टूटी हुई डाल ही है तब पहला व्यक्ति यह कहेगा 'वास्तव में मैं भ्रम में था, यह पेड़ की टूटी हुई डाल ही है'। वह यह नहीं कहेगा 'वास्तव में मैं कुछ समय पूर्व गलत भाषा का प्रयोग कर रहा था, मैं 'पेड़ की डाल' के स्थान पर भूल से 'आदमी' शब्द का प्रयोग कर रहा था। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि जब पहला व्यक्ति यह कहता है 'वास्तव में मैं भ्रम में था' उस समय उसके कहने का प्रयोजन यह नहीं होता कि वास्तव में 'कुछ समय पूर्व वह आदमी नहीं प्रत्युत पेड़ की टूटी हुई डाल ही देख रहा था'। यदि उसके कथन का यह अर्थ है तब यहाँ भ्रम का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। उसके कहने का केवल यही प्रयोजन है कि 'कुछ समय पूर्व जो वह आदमी देख रहा था वह उस का भ्रम था'। ऐसा नहीं होता है कि हम भ्रम में वस्तुएँ देखते ही नहीं। हम वस्तुएँ देखते हैं, परन्तु जो हम देखते हैं, भ्रम-रहित बुद्धि के उत्पन्न होते ही उसको प्रदत्त नहीं पाते। क्या मूलवाक्यों के संबंध में भी हम यही कह सकते हैं जो हमने अन्य संश्लेषणात्मक वाक्यों के संबंध में देखा है ? मूलवाक्यों के ज्ञान की शोध्यता यह प्रकृति नहीं रखती। यदि कोई व्यक्ति पीड़ा सहने पर यह कहे 'वह सुख का अनुभव कर रहा है' और कुछ समय बाद समझाये जाने पर अपनी गलती मान ले, तब यह नहीं कहेगा 'वास्तव में मैं भ्रम में था, मुझे पीड़ा का अनुभव ही हो रहा है'। क्योंकि 'वास्तव में मैं भ्रम में था' यह अर्थ रखता है कि कुछ समय पूर्व वह व्यक्ति

वास्तव में सुख का ही अनुभव कर रहा था, जो अनुभव कि उसका भ्रांत ज्ञान था। शब्दों का सही प्रयोग जान लेने से उनकी मानसिक स्थितियाँ नहीं बदल जायेंगी।

मूल वाक्यों को अशोध्य कहने का यही अभिप्राय होता है कि हम उनके ज्ञान के संबंध में भ्रम में नहीं हैं। अत: केवल यह बतला देने से उनके संबंध में शाब्दिक अथवा व्याकरण की गलतियाँ संभव हैं, यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि उनका ज्ञान शोध्य है, क्योंकि, शाब्दिक अथवा व्याकरण की गलतियाँ यह सिद्ध नहीं कर सकतीं कि हम उनके ज्ञान के संबंध में भ्रम में हैं। क्योंकि मूलवाक्यों का ज्ञान भ्रम रहित है अत: उनके साथ ऐसे शब्दों का प्रयोग निरर्थक है जो संशय व्यक्त करते हों। उदाहरण के लिये, यह कहना कुछ भी अर्थ नहीं रखता 'संभव है कि गोल दिखाई देता है'। परन्तु साधारण संश्लेषणात्मक तर्कवाक्यों के साथ संशय संबंधी शब्दों का प्रयोग महत्त्व रखता है। यदि कोई संशयवादी यह कहे 'संभव है कि यह गोल है' उस समय वह 'संभव' शब्द द्वारा जिस संशय को व्यक्त कर रहा है साधारण जीवन में कोई भी व्यक्ति उस प्रकार का संशय व्यक्त कर सकता है। यदि कोई व्यक्ति यह कहे 'संभव है कि यह गोल दिखाई देता है' तब वह निरर्थक वाक्य का प्रयोग कर रहा है, क्योंकि इस प्रयोग में "संभव" यह अर्थ रखता है कि "जो कुछ गोल दिखाई देता है हो सकता है कि वह गोल दिखाई नहीं देता हो"। यह अंतर्विरोधपूर्ण अर्थ है। परंतु साधारण संश्लेषणात्मक तर्कवाक्य के साथ "संभव" का प्रयोग निरर्थक नहीं है। यदि कोई व्यक्ति यह कहे "संभव है कि यह गोल है" तब यहाँ पर "संभव" का अर्थ होगा "जो गोल दिखाई देता है, हो सकता है कि वह गोल न हो"। संशय वस्तु के गोल दिखाई देने पर नहीं, उसके गोल होने पर किया जा सकता है।[२] साधारण जीवन में हम कितनी ही बार ऐसे धोखे खाते हैं कि जो कुछ हमें दिखाई देता है वह वहाँ विद्यमान नहीं होता। परन्तु हमने ऐसा धोखा कभी भी नहीं खाया है कि जो कुछ हमें दिखाई देता है वह हमें दिखाई नहीं देता। भ्रम दूर हो जाने से हम यह नहीं समझने लगते हैं कि हमने भ्रम में जो कुछ देखा था वह हमने नहीं देखा था।

क्योंकि मूल वाक्यों का ज्ञान भ्रान्ति रहित है, अत: लेविज़ का यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि 'वे न तो प्रमाणीकरणीय हैं और न ही उनको प्रमाणीकरण की आवश्यकता है'।[३] किसी तर्कवाक्य को प्रमाणीकरण की आवश्यकता तभी हो सकती है जबकि उसके ज्ञान में भ्रांति की संभाव्यता विद्यमान हो। इस कथन का अर्थ यह हुआ कि हम किसी तर्कवाक्य की सत्यता स्थापित करने के लिए प्रमाणीकरण प्रविधि (Method of verification) में तभी प्रवृत्त होंगे जबकि हम यह समझेंगे कि उस तर्कवाक्य का ज्ञान शोध्य है। परन्तु जैसा की ब्रैथवेट का कथन है, मूलवाक्यों का ज्ञान अशोध्य इस अर्थ में है कि 'उस ज्ञान का केवल यही नहीं कि शोधन वास्तविक रूप से नहीं किया जा सकता प्रत्युत उसका शोधन तार्किक रूप से भी असम्भव है'।[४] ब्रैथवेट स्पष्ट रूप से यह मानते हैं कि मूलवाक्यों के संबंध में भ्रांति के लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि उनका शोधन वे तार्किक रूप से भी असम्भव मानते हैं। यदि मूलवाक्यों के सम्बन्ध में भ्रांति की संभाव्यता विद्यमान होती तब कम से कम वे तार्किक रूप से तो शोध्य अवश्य ही होते। मूलवाक्यों की यह प्रकृति ऐसी समस्याओं को जन्म देती है जिनका संशयवादियों के पास सुलझाव कठिन दिखाई देता है। हम अपने पिछले लेखों में इन समस्याओं पर प्रकाश नहीं डाल सके थे, अत: यहाँ उनका स्पष्ट दर्शन उपयोगी होगा।

हमारे सम्मुख प्रमाणीकरण सिद्धांत से संबंधित समस्याएँ हैं। तर्कात्मक भाववादियों (Logical Empiricists) के मतानुसार सभी अनुभवीय संश्लेषणात्मक तर्कवाक्यों का अर्थ प्रमाणीकरण प्रक्रिया (Method of verification) द्वारा निर्धारित होता है। जिन वाक्यों का अर्थ प्रमाणीकरण प्रकिया द्वारा निर्धारित नहीं हो सकता वे निरर्थक हैं। संक्षेप में, इसका अर्थ यह हुआ कि सभी अनुभवीय संश्लेषणात्मक तर्क-वाक्य प्रमाणीकरणीय हैं। अप्रामाण्य वाक्य (Unverifiable propositions) निरर्थक हैं। केवल

पुनरुक्तियाँ ही ऐसे वाक्य हैं जो प्रमाणीकरणीय नहीं हैं और फिर भी अर्थपूर्ण हैं। पुनरुक्तियों का विशेष गुण यह है कि उनका विरोध निरर्थक होता है। इस दृष्टि से अर्थपूर्ण वाक्य या तो पुनरुक्तियाँ अभिव्यक्त करते हैं या वे तर्कवाक्य जो कि प्रमाणीकरणीय हैं और जिनका अर्थ प्रमाणीकरण प्रक्रिया द्वारा निर्धारित होता है। परन्तु हमने देखा है कि मूल वाक्य ऐसे तर्कवाक्य हैं जो अनुभवीय तथा संश्लेषणात्मक होते हुए भी अप्रामाण्य वाक्य हैं। उनके संबंध में प्रमाणीकरण कोई भी अर्थ नहीं रखता। यहाँ विट्गिन्स्टाइन के उन शब्दों का उद्धरण भी उपयोगी होगा जिनके द्वारा उन्होंने मूलवाक्यों के प्रमाणीकरणीय होने पर संशय प्रकट किया है। विट्गिन्स्टाइन ऐसे मूल वाक्यों, जैसे, 'मेरे दांत में पीड़ा है', के प्रमाणीकरणीय होने में संशय इस कारण व्यक्त करते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि यह प्रश्न पूछना 'तुम यह कैसे जानते हो कि तुम्हारे दांत में पीड़ा है' निरर्थक है। जो इस प्रश्न को निरर्थक नहीं समझते उनके पास केवल दो ही संभाव्य उत्तर हैं। पहला उत्तर हो सकता है, 'क्योंकि मुझे इसका अनुभव है', परन्तु यह उत्तर बेकार है क्योंकि 'मुझे इसका अनुभव है' यही अर्थ रखता है कि 'मुझे पीड़ा है'। दूसरा उत्तर हो सकता है - 'मैं इसे पर्यवेक्षण द्वारा जानता हूँ', यह उत्तर भी बेकार है, क्योंकि इसका अर्थ हुआ कि मैं 'अवलोकन द्वारा निर्धारित कर सकता हूँ कि मुझे पीड़ा है अथवा नहीं' जबकि 'अवलोकन द्वारा निर्धारित करना कि मुझे पीड़ा है अथवा नहीं' कोई भी अर्थ नहीं रखता।[५] विट्गिन्स्टाइन की उपरोक्त युक्तियाँ यह स्पष्ट कर देती हैं कि मूलवाक्यों के साथ प्रमाणीकरण का प्रयोग कोई भी अर्थ नहीं रखता। लाज़रोविट्ज ने भी कुछ इसी प्रकार की युक्तियाँ प्रयुक्त की हैं जिनका कि उद्धरण हम अपने लेख 'अर्थ और प्रमाणीकरण' में दे चुके हैं।[६] क्योंकि मूलवाक्य प्रमाणीकरणीय नहीं हैं अत: इन्हें तर्कात्मक भाववादियों को निर्थक मानना चाहिये। क्या इन्हें पुनरुक्तियों के रूप में अर्थपूर्ण माना जा सकता है? यदि किसी को पीड़ा हो रही हो और वह कहे 'मुझे पीड़ा नहीं हो रही है' तब वह झूठ तो बोल रहा है, परन्तु यहाँ कोई भी अंतर्विरोध नहीं है, अत: यह नहीं कहा जा सकता कि 'मुझे पीड़ा हो रही है' विश्लेषात्मक पुनरुक्ति है। इसमें संदेह नहीं किया जा सकता कि मूलवाक्य संश्लेषणात्मक हैं तथा अप्रामाण्य हैं। मूलवाक्य प्रामाण्य वाक्य (verifiers) होते हैं परन्तु प्रमाणीकरणीय नहीं हो सकते। उदाहरण के लिये 'यह मेज है' के प्रामाण्य वाक्य होंगे 'यह रक्तवर्ण दिखाई देता है', 'यह कठोर है' आदि। परन्तु 'यह रक्तवर्ण दिखाई देता है' इसके प्रामाण्य वाक्य कौन से हैं ? यदि 'यह रक्तवर्ण दिखाई देता है' कोई भी प्रामाण्य वाक्य नहीं रखता तब इसे प्रमाणीकरणीय कहने में कोई भी अर्थ नहीं है। किसी भी वाक्य का प्रमाणीकरण असंभव है जब तक कि उसके प्रामाण्यवाक्य विद्यमान न हों। यदि मूलवाक्य प्रमाणीकरणीय होते तब उनसे संबंधित प्रामाण्य वाक्य अवश्य ही विद्यमान होते। अत: मूलवाक्य यद्यपि दूसरे संश्लेषणात्मक वाक्यों के लिये प्रामाण्य वाक्य के रूप में प्रयुक्त होते हैं परन्तु वे स्वयं अप्रामाण्य हैं। यदि तर्कात्मक भाववादियों का प्रमाणीकरण सिद्धांत अर्थ की सही परिभाषा देता है तब मूलवाक्य निरर्थक हैं। उपरोक्त समस्या और भी जटिल हो जाती है यदि यह मान लिया जाय कि प्रमाणीकरण मूलवाक्यों के बिना असंभव है। तर्कात्मक भाववादी यह मानते हैं कि प्रमाणीकरण का आधार मूलवाक्य हैं, जैसा कि इस सम्बन्ध में कार्नप का कथन है, 'प्रमाणीकरण मूल वाक्यों पर आधारित है'।[७] परन्तु मूल वाक्य अप्रामाण्य हैं। अत: कार्नप के कथन का अर्थ हुआ कि प्रमाणीकरण का आधार अप्रामाण्य वाक्य हैं। दूसरी भाषा में हम कह सकते हैं कि किसी तर्कवाक्य का अर्थ निर्धारित करने के लिये हमें निरर्थक वाक्यों का आश्रय लेना पड़ेगा। यह उलझन उस समय और भी बढ़ जाती है जबकि यह मान लिया जाय, जैसा कि कुछ दार्शनिक मानते हैं, कि यह प्रस्तावना 'जो वाक्य अनुभवीय है वह प्रमाणीकरणीय है' (What is empirical is verifiable) एक

अनिवार्य सत्य (necessary truth) को व्यक्त करता है, अर्थात् प्रमाणीकरण सिद्धांत संश्लेषणात्मक तर्कवाक्य न होकर अनिवार्य वाक्य है। इसका अर्थ यह होगा कि मूलवाक्य अनुभवीय तर्कवाक्य भी नहीं है क्योंकि 'अनुभवीय' तथा 'प्रमाणीकरणीय' ऐसे प्रत्यय हैं जिसमें अनिवार्य संबंध है और हम देख ही चुके हैं कि मूलवाक्य प्रमाणीकरणीय नहीं होते।

उपरोक्त समस्याओं का सुलझाव दो प्रकार से संभव है। प्रथम यह मार्ग अपनाया जा सकता है कि मूलवाक्य असंभव हैं। न ही केवल वास्तविक रूप में प्रत्युत तार्किक रूप में भी वे असंभव हैं। परन्तु यह मार्ग अब कोई भी नहीं अपनाता, सभी दार्शनिक अब यह मानने लगे हैं कि मूलवाक्यों का प्रयोग होता है। अत: इस मार्ग पर विचार करना बेकार है। द्वितीय मार्ग यह हो सकता है कि मूलवाक्यों को 'पूर्णत: प्रमाणीकरणीय' (Completely Verifiable), 'असंदिग्ध प्रमाणीकरणीय', (Strongly verifiable) अथवा 'निर्णायक प्रमाणीकरणीय' (Conclusively verifiable) आदि प्रत्ययों से विभूषित किया जाय, क्योंकि केवल प्रमाणीकरणीय कहने से विभिन्न समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। एयर ने अपनी पुस्तक लेंग्वेज, ट्रूथ एंड लॉजिक के दूसरे संस्करण में ऐसी ही प्रस्तावना रखी है।[८] डॉ. दया कृष्ण ने भी मेरे एक अप्रकाशित लेख की आलोचना करते समय इसी प्रकार का सुझाव दिया है।[९] परन्तु एयर अथवा डॉ. दयाकृष्ण का सुझाव अधिक महत्त्व नहीं रखता, क्योंकि जैसा कि हम देख ही चुके हैं, मूलवाक्यों के प्रमाणीकरण का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि उनकी सत्यता के संबंध में कोई संशय नहीं उठता, अत: उन्हें 'पूर्णत: प्रमाणीकरणीय' अथवा 'पूर्णत: प्रमाणित' आदि कहने में भी कोई अर्थ नहीं। इस प्रकार के विचारों की आलोचना हम अपने लेख 'अर्थ और प्रमाणीकरण' में कर चुके हैं, अत: यहाँ दोहराने की कोई आवश्यकता नहीं है।

***

संदर्भ सूची

१. *See 'Mind and the World Order,' Lewis, p. 275.*

२. *Wittgenstein rightly point out, "It is seems to me that I have oothache" is non-sense. (Witigenstein's Lectures, G. E. Moore, Mind 1995). In the same way Lazerowitz argues against the use of 'probable' for a basic proposition. "There is no sense .... in saying........... 'It is probably the case that it looks to me as if there is an elephant in the distance". (Strong and weak verification, Mind 1950 j.)*

३. *6p. cit P. 275.*

४. *'Propositions about Material objects', A.S.P. 1937-31 p. 271.*

५. *See "Wittgenstein's Lectures" Mind 1955. P. 12.*

६. *देखें ''अर्थ और प्रमाणीकरण'' सुरेशचन्द्र, दार्शनिक १९५९ जनवरी अंक तथा Strong and weak verification, Mind 1950. p. 349-51.*

७. *"Unity of Science" Camap. p. 38.*

८. *Language, Truth and Logic' P. 10 (Second Edition)*

९. *I argued in my paper that the very possibility of the verification some propositions depends upon the possibility of there being propositions, which are Unverifiable." I used the term "Unverifiable" for basic propositions. Dr. DayaKrishna thinks that there is no absurdity involved if "Can be completely verified" is substituted for my expression "are unverifiable." It is clear from his suggestion that he thinks that basic propositions can be completely verified. Now my reply is that his suggestion makes sence if the expression "Can be completely verified" makes sense with a basic proposition. The Arguments of Wittgenstein, Lazerowitz and Lewis against the use of "can be verified" and "can be completely verifide" for basic propositions seem to me quite persuasive. I can not make out better arguments than those of these philosophers. Therefore, I can not do better than to refere to the writings of these philosophers.*

दार्शनिक संशयवाद - ४

(१)

पिछले खण्ड में हमने मूलवाक्यों के संबंध में विचार किया था, जिनकी सत्यता के संबंध में सामान्य रूप से समकालीन दार्शनिक कोई भी संशय नहीं रखते। क्या हम भ्रम में हैं ? हम सुषुप्ति में हैं ? ऐसे प्रश्न मूलवाक्यों के संबंध में नहीं उठते, क्योंकि वे केवल क्षणिक प्रदत्तता के संबंध में प्रकथन हैं। प्रस्तुत खण्ड में हम डेकार्ट (descartes) द्वारा प्रयुक्त संशयवादी युक्तियों का विश्लेषणात्मक निरूपण करेंगे । डेकार्ट की युक्तियों का समकालीन दार्शनिकों, विशेषकर संशयवादियों, पर बहुत ही प्रभाव है, अत: उन युक्तियों का यहाँ निरूपण आवश्यक है। डेकार्ट को केवल आधुनिक संशयवाद का ही नहीं प्रत्युत आधुनिक दर्शन शास्त्र का भी जन्मदाता माना जाता है। आधुनिक दर्शन का विषय ज्ञानमीमांसा-चिंतन है। समकालीन दार्शनिकों के बढ़ते हुए झुकाव की दृष्टि से हम दर्शन की परिभाषा ही ज्ञानमीमांसात्मक विश्लेषण (Epistemological analysis) के रूप में दे सकते हैं। जिसे हम विश्लेषणात्मक दर्शन (Analytic Philosophy) कहते हैं वह ज्ञानमीमांसात्मक विश्लेषण का ही एक स्वरूप है। शब्दों तथा वाक्यों का विश्लेषण, चाहे वे शब्द तथा वाक्य दृश्य जगत् की वस्तुओं के संबंध में हों अथवा सैद्धांतिक या आध्यात्मिक वस्तुओं के संबंध में, ज्ञानमीमांसा का ही विषय हैं। यह प्रश्न दूसरा है कि समकालीन दार्शनिकों की चिंतन-विधि तथा समस्याओं का स्वरूप वह नहीं है जो कि उसके पूर्व था। समकालीन दार्शनिक इस प्रकार के प्रश्न, जैसे, 'इन्द्रियाँ हमें किस प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान दे सकती हैं', पूछना गलत समझते हैं, क्योंकि इन प्रश्नों में तथ्यता (actual) का आभास होता है और तथ्यात्मक प्रश्नों अथवा वाक्यों का प्रयोग दर्शन का नहीं विज्ञान का कार्य है। इसी कारण समकालीन दार्शनिक इस प्रकार के प्रश्न पूछना न्यायोचित समझते हैं, जैसे, "ज्ञान" शब्द का प्रयोग किन प्रकरणों में उपयुक्त है"। क्योंकि ये केवल शाब्दिक (verbal) हैं तथा तथ्यता से परे हैं। परन्तु इन दोनों प्रश्नों में तार्किक रूप से भेद नहीं किया जा सकता, इस अर्थ में जब तक हम प्रथम प्रश्न का अर्थ नहीं जानते बाद वाले प्रश्न का कोई भी उत्तर संभव नहीं है। अत: जिस प्रकार के दर्शन का अवलोकन हम आजकल कर रहे हैं, ऊपर से कितना ही विपरीत दिखाई देता हो, है ज्ञानमीमांसा का एक स्वरूप। और ज्ञानमीमांसा की समस्याओं को इतिहास में प्रथम बार डेकार्ट ने बड़े स्पष्ट रूप से तथा रोचक ढंग से हमारे सामने रखा है। डेकार्ट से पूर्व भी प्लेटो (Plato) तथा अरस्तु (Aristotle) जैसे दार्शनिकों ने ज्ञानमीमांसा की समस्याओं पर विचार व्यक्त किये हैं। परन्तु डेकार्ट से पूर्व सभी दार्शनिकों के विचार बहुत ही अस्पष्ट हैं। डेकार्ट के पश्चात् जितने बड़े-बड़े दार्शनिक हुए हैं, चाहे वे डेकार्ट के समर्थक हों अथवा विरोधी, जैसे कि ग्यूलिंक्स (Geulinex), मेलब्रांश (Malebranche), स्पीनोज़ा (Spinoza), लाइबनीज़ (Leibeniz), लॉक (Locke), बर्कले (Berkeley) तथा कट्टर संशयवादी दार्शनिक ह्यूम (Hume) आदि, सभी पर डेकार्ट द्वारा उठाई गई समस्याओं तथा विचारधाराओं की छाप मिलेगी। कांट के विषय में अवश्य दर्शन के इतिहास के विशेषज्ञों का यह मत है कि उनका दर्शन डेकार्ट के दर्शन से स्वतंत्र रूप से विकसित हुआ था। परन्तु फिर भी हम डेकार्ट के लेखों में उन विषयों तथा समस्याओं पर अविकसित

रूप में चिंतन देखते हैं जिन पर कांट ने पूर्ण विकसित रूप से तथा बड़े तार्किक ढंग से विचार किया है। डेकार्ट ने अपने 'प्रिंसीपल्स' (Principles) में इन्द्रिय-जन्य ज्ञान (Cognitive Knowledge) की समस्या को स्पष्ट रूप से बहुत महत्त्व दिया है जो समस्या कि कांट के आलोचनात्मक दर्शन (Critical philosophy of Kant) का अभिन्न अंग है। डेकार्ट द्वारा 'देश' (Space) तथा 'काल' (Time) के विश्लेषण की तुलना भी कांट द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण से की जा सकती है। यह कथन सत्य है कि कांट ने इन समस्याओं पर तथा अन्य समस्याओं पर भी, बहुत ही तार्किक ढंग से पूर्ण विकसित रूप में विचार किया है, जैसा कि विचार हमारी समझ में केवल डेकार्ट ने ही नहीं संभवत: इतिहास में किसी भी दार्शनिक ने न किया होगा। परन्तु फिर भी यदि ऐतिहासिक दृष्टिकोण इस अर्थ में सामने रखा जाय कि डेकार्ट का काल कांट के काल से केवल पूर्व ही नहीं था प्रत्युत दर्शन तथा विज्ञान दोनों में ही बहुत पिछड़ा हुआ भी था, तब डेकार्ट का महत्त्व हमारी दृष्टि में बढ़ जाता है। डेकार्ट के काल में धार्मिक अन्धविश्वास तो इतना बढ़ा हुआ था कि वैज्ञानिक विचारधाराओं, सत्यता, असत्यता चर्च तथा बाइबिल द्वारा ही निर्धारित होती थी।

शुद्ध दार्शनिक क्षेत्र में डेकार्ट का नाम दो समस्याओं के संबंध में बहुत प्रसिद्ध है। प्रथम समस्या है 'शरीर तथा मन' के द्वैत की तथा द्वितीय समस्या है 'दार्शनिक संशयवाद' की। शरीर और मन का द्वैतभाव उठाकर डेकार्ट ने एक ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी है जिसका सुलझाव कठिन दिखाई देता है। समकालीन दार्शनिक क्षेत्रों में आजकल भी इस समस्या पर उसी प्रकार वाद-विवाद चल रहा है जिस प्रकार कि डेकार्ट के समय में। प्रसिद्ध दार्शनिक गिल्बर्ट राइल (Gilbert Ryle) ने अपनी पुस्तक "कांसेप्ट ऑफ़ माइंड" (Concept of Mind) में डेकार्ट के इसी शरीर तथा मन के द्वैत भाव का खंडन करने की चेष्टा की है। राइल डेकार्ट के द्वैतवाद को 'मशीन के भीतर का भूत' का अन्धविश्वास' (dogma of a ghost in the machine) कहकर संबोधित करते हैं। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि राइल इस अन्धविश्वास को समाप्त करने में सफल हुए हैं, अथवा केवल इसी बात तक सफल हुए हैं कि डेकार्ट द्वारा प्रस्तावित शरीर तथा मन का पृथक् अस्तित्त्व एक अन्धविश्वास है। प्रस्तुत लेख में हमारा विषय डेकार्ट का यह अन्धविश्वास नहीं है, हमारा विषय है उनका संशयवाद। अत: शरीर तथा मन की समस्या को फिर कभी विचारार्थ छोड़कर हम केवल संशयवाद पर ही विचार करेंगे।

प्रथमत: हम इस संबन्ध में स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक समझते हैं कि डेकार्ट को उस अर्थ में संशयवादी नहीं कहा जा सकता जिस अर्थ में हम ह्यूम अथवा किसी अन्य दार्शनिक को 'संशयवादी' कह कर सम्बोधित करते हैं। संशय डेकार्ट के लिये केवल एक ऐसी विधि है जिसके द्वारा हम ऐसे ज्ञान की प्राप्ति कर सकें जो संशय मुक्त हो। इसीलिये डेकार्ट द्वारा व्यक्त संशयवाद 'प्राविधिक संशयवाद' (methodological scepticism) तथा 'सामयिक संशयवाद' (provisional scepticism) कहलाता है। डेकार्ट का संशय केवल संशय के लिये ही नहीं प्रत्युत उसका ध्येय था। उसका ध्येय है ऐसे ज्ञान की प्राप्ति करना जिसमें भ्रम अथवा त्रुटि को कोई स्थान न हो। यह निर्धारित करने के लिये कोई तर्कवाक्य निश्चित ज्ञान का बोधक है अथवा नहीं, डेकार्ट किसी सामान्य प्रचलित तार्किक अथवा किस अन्य प्रकार के नियम (logical or non-logical) का सहारा नहीं लेते, जैसे कि आजकल के बहुत से दार्शनिक बिना समझे बूझे ले लेते हैं। डेकार्ट की दृष्टि में निश्चयता का मानदण्ड ऐसा नहीं था कि किसी तर्कवाक्य को निश्चित कहने के लिये हमें देखना होगा कि उसका विरोध निरर्थक है अथवा नहीं, जिस प्रकार ह्यूम के अनुयायी मानते हैं। डेकार्ट किसी तर्कवाक्य को निश्चित तभी मानते थे जब कि उसका ज्ञान 'स्पष्ट' (Clear) तथा 'विशिष्ट' (Distinct) हो। हमने संशयवाद के प्रथम खंड' में देखा था कि ह्यूम के अनुसार, किसी तर्कवाक्य को निश्चत कहने के लिये हमें देखना होगा कि उसका विरोध स्वयं

ही अन्तर्विरोध प्रगट करता है अथवा नहीं। इसके विपरीत डेकार्ट का निश्चितता का सिद्धांत स्पष्टता तथा विशिष्टता पर आधारित है। साधारण रूप से 'स्पष्ट' तथा 'विशिष्ट' का प्रयोग अस्पष्ट दिखाई देता है, परन्तु निश्चित कहे जाने वाले वाक्यों के साथ इन शब्दों का प्रयोग 'अन्तर्विरोध' के प्रयोग से अधिक न्यायोचित दिखाई देता है। हमारा कहना यह नहीं कि 'निश्चितता' की 'स्पष्ट' तथा 'विशिष्ट' द्वारा परिभाषा पूर्ण रूप से न्यायोचित है तथा 'अन्तर्विरोध' द्वारा बिल्कुल गलत है। हमारे कहने का केवल यही प्रयोजन है कि 'अन्तर्विरोध' को सामने रखकर किसी तर्कवाक्य के संबंध में यह कहना कि वह निश्चित है अथवा नहीं, कठिनाई खड़ी कर देता है। किसी तर्कवाक्य के संबंध में यह पूछना कि 'क्या वह निश्चित है अथवा नहीं' केवल यही पूछना नहीं हो सकता कि 'क्या उसका विरोध स्वयं अन्तर्विरोधी है अथवा नहीं ?' क्योंकि, बाद वाले प्रश्न का अर्थ होता है 'क्या वह तर्कवाक्य अंक गणित अथवा तर्कशास्त्र का विषय है अथवा नहीं ?' परन्तु जब हम यह पूछते हैं, 'क्या तर्कवाक्य 'स' निश्चित है अथवा नहीं' तब हमारे प्रश्न का अर्थ यह नहीं होता 'क्या वह तर्कवाक्य अंक गणित अथवा तर्कशास्त्र का विषय है अथवा नहीं ? अंक गणित तथा तर्क शास्त्र के वाक्यों का विरोध स्वयं ही अंतर्विरोधी होता है। अत: हमारी उपरोक्त आलोचना ठीक दिखाई देती है। यह पूछने के बजाय कि किसी तर्कवाक्य का विरोध स्वयं अंतर्विरोध प्रगट करता है अथवा नहीं'' केवल यह पूछा जाय कि उसका ज्ञान हमें स्पष्ट तथा विशिष्ट रूप से होता है अथवा नहीं, तब कोई भी समस्या उत्पन्न नहीं होती। सामान्य भाषा का प्रयोग डेकार्ट के विचार की पुष्टि करता है। कोई वाक्य स्पष्ट तथा विशिष्ट है अथवा नहीं, यही निर्धारित करने के लिये डेकार्ट ने संशय का सहारा लिया था। संशय द्वारा सभी तर्कवाक्यों को प्रथमत: अनिश्चित समझना फिर उनमें ऐसे तर्कवाक्यों को चुन लेना जिनका ज्ञान हमें स्पष्ट रूप से हो। 'मैथड' (Method) में डेकार्ट का अपने संशय प्रणाली के संबंध में स्पष्ट कथन है, 'मैंने प्रत्येक ऐसी स्थिति पर विशेष रूप से ध्यान दिया जिसके संबंध में संशय प्रगट किया जा सके, जिसके संबंध में किसी से गलती होने की संभावना विद्यमान हो ... परन्तु ऐसा करने में मैं उन संशयवादियों की नकल नहीं कर रहा था जो कि संशय केवल संशय के लिये करते हैं, जिनकी इच्छा रहती है कि वे सर्वथा अनिश्चित अवस्था में ही रहें। इसके विपरीत मेरा उद्देश्य निश्चितता तथा केवल बालू तथा चिकनी मिट्टी को त्यागकर ऐसी मजबूत चट्टान तथा मिट्टी खोजना है जिसपर मजबूत नींव हो।''[१] हम उपरोक्त कथन द्वारा देख सकते हैं कि डेकार्ट अपने को अन्य संशयवादियों से कितना भिन्न मानते हैं। हमें डेकार्ट के कथन में ह्यूम तथा उनके शिष्यों के संबंध में भविष्यवाणी दिखाई देती है। ह्यूम के लेख पढ़ने के बाद ऐसा ज्ञात होता है जैसे कि ह्यूम सर्वथा ही ''अनिश्चित अवस्था में रहना पसंद करते हैं तथा वे संशय केवल संशय के लिए ही करते हैं। परन्तु यह डेकार्ट के काल की विचित्र स्थिति थी कि यद्यपि उन्होंने संशय केवल अस्त्र रूप में ही प्रयोग किया है फिर भी वे संशयवादी तथा नास्तिक घोषित कर दिये गये तथा उनके लेखादि चर्च द्वारा वर्जित कर दिये गये थे। किन्तु फिर भी वे अपने को सर्वथा संशयवाद तथा नास्तिकता का खंडनकार ही मानते रहे थे। जैसा कि उन्होंने अपने एक मित्र को पत्र में लिखा था 'एक पादरी ने सोचा कि उसके पास मुझे संशयवादी सिद्ध करने के लिए अच्छे सूत्र हैं, क्योंकि मैंने संशयवाद का खंडन किया है, तथा एक अन्य पादरी ने मुझे नास्तिक सिद्ध कर देने की ठान ली, केवल इसी आधार पर कि मैंने ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने का प्रयत्न किया था।'[३] उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि डेकार्ट को आधुनिक संशय प्रणाली का केवल जन्मदाता ही नहीं प्रत्युत खंडनकार भी मानना चाहिये। संशय का ध्येय उनकी दृष्टि में यह नहीं था कि हमें जो कुछ ज्ञान है वह भी हाथ से खो बैठें प्रत्युत उनका ध्येय था कि हमें जो कुछ ज्ञान है उसे मजबूत नींव पर खड़ा करें। डेकार्ट की 'सुषुप्ति' वाली युक्ति, जिसका निरूपण हम नीचें करेंगे, समकालीन दार्शनिकों द्वारा खूब प्रयुक्त होती दिखाई देगी। परन्तु यदि डेकार्ट आज

जीवित होते तो उन्हें दिखाई देता कि उनकी युक्ति का उपयोग लोग केवल सन्देह-स्थिति की प्राप्ति के लिए कर रहे हैं। डेकार्ट ने इसका उपयोग केवल प्रविधि के रूप में किया था, इसके विपरीत समकालीन संशयवादी इसका उपयोग इन्द्रियजन्य ज्ञान को तार्किक रूप से अनिश्चित सिद्ध करने के लिये कर रहे हैं।

संशयवाद के संबंध में प्रश्न उठता है कि यदि संशय को डेकार्ट की भाँति ही केवल प्राविधिक भी माना जाय तब भी हमें उसका आधार तो देना ही होगा। हमें यह तो बतलाना ही होगा कि हम किसी विरोध स्थिति में किन कारणों के वश होकर संशय कर रहे हैं। अकारण संशय करना कुछ भी अर्थ नहीं रखता। यदि कोई कहे - "मैं संशय कर रहा हूँ कि अमुक वस्तु अमुक भाँति की है" तब यह पूछना अर्थ रखता है कि 'आप क्यों संशय कर रहे हैं कि अमुक वस्तु अमुक भाँति की है' ? डेकार्ट ने यद्यपि प्रविधि के रूप में में संशय किया परन्तु उनके पास उस विशेष संशय के लिए आधार था। डेकार्ट द्वारा व्यक्त संशय के तर्क का हम उनके एक उद्धरण द्वारा स्पष्टीकरण करेंगे। डेकार्ट का "मैडीटेशंस" (meditations) में कथन है :- 'मुझे जो कुछ अब तक परम सत्य तथा निश्चित रूप में मिला है वह या तो इन्द्रियों द्वारा मिला है या इन इन्द्रियों के माध्यम से। परन्तु मैंने देखा है कि ये इन्द्रियाँ कभी-कभी भ्रम में डाल देती हैं। और दूरदर्शिता है कि उनके ऊपर पूर्ण विश्वास न किया जाय जिन्होंने हमें एक बार भी धोखा दिया हो।

'परन्तु यद्यपि इन्द्रियाँ हमें उन वस्तुओं के संबंध में धोखा दे सकती हैं जो कि हमसे दूरस्थ हैं तथा किन्हीं कारणों-वश कठिनाई से दिखाई देती हैं, तब भी बहुत सी ऐसी वस्तुएँ जिनके संबंध में हम न्यायोचित रूप से संशय व्यक्त नहीं कर सकते, यद्यपि उन वस्तुओं का हमारा ज्ञान इन्द्रियजन्य ही होता है। मैं किस प्रकार इस बात से इन्कार कर सकता हूँ कि ये मेरे हाथ हैं तथा यह मेरा शरीर है ? केवल उन पागलों की नकल करके जिनका मस्तिष्क इतना फिर गया है कि वे अपने लिये यह कहते हैं कि वे नृपति हैं जबकि वास्तव में वे बिल्कुल निर्धन हैं, कि वे कंचन जटित शाही पोशाक पहने हैं जबकि वे एक दम से नंगे हैं, या जो मनुष्य कि अपने को दूकानदार समझते हैं अथवा अपना शरीर शीशे का समझते हैं। परन्तु ये लोग तो पागल हैं और मैं भी इनसे कम अल्प बुद्धि न रहूँगा यदि मैं भी इन्हीं के मार्ग का अनुसरण करने लगूँगा। परन्तु फिर भी मुझे यह तो देखना ही पड़ेगा कि मैं मनुष्य हूँ तथा मैं सोया करता हूँ तथा अपने स्वप्नों में उन्हीं की कल्पना करता हूँ और कभी-कभी तो उनसे भी कम संभाव्य बातों की जिनकी कि कल्पना ये मस्तिष्क के फिरे हुये लोग जाग्रत अवस्था में करते हैं। मैंने कितनी बार रातों में यह स्वप्न देखा है कि मैं इसी स्थान पर था, मैं वस्त्र पहने हुये था, मैं आग के सामने था, यद्यपि मैं नंगा अपने बिस्तर पर लेटा हुआ था। यह सत्य है कि मुझे इस समय ऐसा आभास हो रहा है जैसा कि मैं अपनी आँखें बन्द करके नहीं प्रत्युत आँखें खोले हुये इस अखबार को देख रहा हूँ, कि मैं सोच समझ कर अपना हाथ हिला रहा हूँ, नींद की झपकी में नहीं हूँ। जो कुछ स्वप्न में होता है वह इतना स्पष्ट नहीं दिखाई देता है।"

"परन्तु जब मैं इस बात पर विचार पूर्वक ध्यान देता हूँ तब मुझे याद आता है कि मैं कई बार सुषुप्ति अवस्था में इसी प्रकार के भ्रमों में पड़ चुका हूँ, और इस समस्या पर ध्यान देने के बाद मुझे स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि जाग्रत अवस्था में कोई भी ऐसा विशेष चिन्ह नहीं है जिसके आधार पर हम उसे सुषुप्ति अवस्था से भिन्न मानें, अत: मैं बड़े ही आश्चर्य में पड़ जाता हूँ और मेरा यह आश्चर्य इतना तीव्र है कि मुझे कहने पर मजबूर कर देता है कि मैं सुषुप्ति की अवस्था में हूँ।"[४]

उपरोक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि डेकार्ट क्यों अपने संशयवाद को न्यायोचित मानते हैं। हम जो कुछ जानते हैं वह इन्द्रियों के माध्यम से ही और इन्द्रियाँ हमें बहुधा धोखे में डाल देती हैं। अत: इन्द्रिय ज्ञान के संबंध में संशय करना न्यायोचित है। अपने विचार को स्पष्ट करने के लिये डेकार्ट उन वाक्यों को दो वर्गों में बाँट देते हैं जो कि इन्द्रियजन्य ज्ञान अभिव्यक्त करते हैं। एक वर्ग उन वाक्यों का है जिनके संबंध में साधारण लोग (Common man) भी यह मानेंगे कि इन वाक्यों के संबंध में गलती होने

की संभावना नहीं मानी जाती प्रत्युत यदि किसी साधारण व्यक्ति को कहा जाय कि इन वाक्यों में भी गलती होने की संभावना विद्यमान रहती है तब वह हमें पागल समझ कर हँसी उड़ायेगा। जब डेकार्ट प्रथम वर्ग के वाक्यों के संबंध में संशय न्यायोचित समझते हैं, द्वितीय वर्ग के वाक्यों के संबंध में नहीं, तब यही साधारण विचार सामने रख कर चलते हैं। डेकार्ट द्वारा 'न्यायोचित' शब्द का प्रयोग इस प्रकरण में इससे अधिक कुछ भी अर्थ नहीं रखता कि उक्त वर्ग के वाक्यों के साथ संशय व्यक्त करना साधारण रूप से ठीक माना जायगा। परन्तु यदि दार्शनिक दृष्टि को सम्मुख रखा जाय तब डेकार्ट का विचार दोष पूर्ण है, वे 'दूरस्थ' तथा 'समीपस्थ', 'अस्पष्ट' तथा 'स्पष्ट' आदि का भेद नहीं कर सकते। क्योंकि, डेकार्ट संशय को न्यायोचित दिखलाने के लिये इस पूर्वधारणा से आरम्भ करते हैं कि "यह दूरदर्शिता है कि उनके ऊपर पूर्ण विश्वास न किया जाय जो हमें एक बार भी धोखा देते हों।" यदि इन्द्रियाँ हमें वस्तुएँ देखने, सुनने अथवा छूने में जीवन भर में केवल एक बार भी धोखा में डाल दें तब भी हम अपने बचे संपूर्ण जीवन में कितनी बार उन वस्तुओं को देखने, सुनने अथवा छूने का प्रयत्न करेंगे हमारे सम्मुख प्रश्न खड़े हो जायेंगे : - "क्या हम भ्रम में तो नहीं है ?" 'क्या हम गलती तो नहीं कर रहे हैं ?' और ये प्रश्न ऐसे हैं कि न केवल ये दूरस्थ तथा अस्पष्ट दिखाई देने वाली वस्तुओं के संबंध में खड़े हो जाते हैं प्रत्युत समीपस्थ तथा स्पष्ट दिखाई देने वाली वस्तुओं के संबंध में भी। वस्तुएँ, चाहे वे हमारी आँखों से केवल छः इंच की दूरी पर हों अथवा छः सौ गज की दूरी पर, उनका ज्ञान तो इन्द्रियों के माध्यम से ही होता है। इसलिये यदि इस युक्ति को सत्य माना कि हमें उन पर पूर्ण विश्वास न करना चाहिये जो हमें एक बार भी धोखा दे चुके हों, तब हम इन्द्रियों पर किसी भी वस्तु के संबंध में कैसे विश्वास कर सकते हैं, चाहे वह वस्तु हमारी आँखों के बिल्कुल ही सामने क्यों न हो और कितनी ही स्पष्ट क्यों न दिखाई देती हो ? स्पष्ट है कि दूरस्थ वस्तुओं के संबंध में हमारे संशय को डेकार्ट उसी आधार पर न्यायोचित मानते हैं जिस आधार पर कि हम नज़दीक की वस्तुओं पर भी संशय प्रगट कर सकते हैं। तब फिर डेकार्ट ने यह भेद क्यों उठाया ? स्पष्ट है कि डेकार्ट सामान्य प्रयोग (Common use) को सम्मुख रख कर चल रहे हैं जब वह कहते हैं कि अस्पष्ट दिखाई देने वाली तथा दूरस्थ वस्तुओं के संबंध में संशय न्यायोचित है, जैसे कि हम ऊपर बतला आये हैं। साधारण मनुष्य भी इस प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान अनिश्चित मानेंगे। परन्तु नज़दीक तथा स्पष्ट दिखाई देने वाली वस्तुओं को अनिश्चित नहीं माना जा सकता। जैसे कि यदि मैं अपना हाथ घुमाकर कहूँ 'यह मेरा सीधा हाथ है' और मुझे यकीन हो कि मैं नींद में नहीं हूँ तब मैं इसमें संशय नहीं कर सकता कि यह हाथ, जो मैं हिला रहा हूँ वह मेरा सीधा हाथ है। इस प्रकार के उदाहरण सामान्य अनिश्चित ज्ञान के नहीं प्रत्युत निश्चित ज्ञान के माने जाते हैं। इसीलिये डेकार्ट यह समझते हैं कि इन्हें अनिश्चित तथा संभाव्य सिद्ध करने के लिये कोई दूसरा तर्क ढूंढ़ना पड़ेगा। डेकार्ट यहाँ सुषुप्ति को सम्मुख रख कर उन तर्कवाक्यों के ज्ञान के संबंध में भी संशय व्यक्त करते हैं जिनपर साधारण रूप से संशय नहीं किया जाता। सुषुप्ति में देखी हुई वस्तुओं का ज्ञान 'ज्ञान' नहीं कहलाता। जब हम स्वप्न में वस्तुएँ देखते हैं तब इतना स्पष्ट देखते हैं जितना कि जागृति में, तब हमें यह भी ध्यान में नहीं आता कि हम स्वप्न देख रहे थे, परन्तु जागृति प्राप्त होते ही हम कहने लगते हैं 'अरे, हमने तो केवल स्वप्न देखा था'। अतः डेकार्ट किसी भी ज्ञान को निश्चित समझने से पहले यह आवश्यक समझते हैं कि हम पहले इस संबंध में निश्चित हो जायें कि हम केवल स्वप्न ही तो नहीं देख रहे हैं ? यदि यह निश्चित रूप से सिद्ध हो जाये कि हम स्वप्न नहीं देख रहे हैं तब यह सिद्ध हो जायेगा कि हम, उदाहरण के लिये, जानते हैं कि यह जो हाथ घुमा रहे हैं वे हमारे ही हाथ हैं। परन्तु यह कैसे सिद्ध हो कि हम स्वप्न नहीं देख रहे हैं ? यह हम कैसे जान सकते हैं कि यह हाथ, जो हम घुमा रहे हैं, वह हमारा सीधा हाथ है ? यह ऐसे ही जाना जा सकता है कि हम स्वप्न अवस्था से बाहर हों। यदि हम स्वप्न अवस्था से बाहर हों तब कह सकते हैं कि

हम स्वप्न नहीं देख रहे हैं। परन्तु यहाँ समस्या तो यही है कि हम यह कैसे जान सकते हैं कि हम स्वप्न अवस्था के बाहर हैं ? क्या अपना हाथ घुमा कर, अपने शरीर में सुई चुभोकर, पीड़ा का अनुभव करने से अथवा अन्य इसी प्रकार की प्रक्रियाओं से हम निर्धारित कर सकते हैं कि हम स्वप्न नहीं देख रहे हैं ? परन्तु हाथ तो हम स्वप्न में भी घुमाते हैं, पीड़ा का अनुभव तो हम स्वप्न में भी करते हैं, फिर इन्हीं स्वप्न में की जा सकने वाली प्रक्रियाओं द्वारा हम यह कैसे निर्धारित कर सकते हैं कि हम स्वप्न नहीं देख रहे हैं ? यही नहीं, स्वप्न में हमारे सम्मुख इस प्रकार के प्रश्न भी उठ सकते हैं 'क्या हम स्वप्न तो नहीं देख रहे हैं ?' फिर जब हम यह निर्धारित करने जा रहे हैं कि हम स्वप्न देख रहे हैं अथवा नहीं तब संभव है कि हम यह प्रश्न स्वप्न में ही कर रहे हों। यह असंभव दिखाई देता है कि हम स्वप्न देख रहे हैं अथवा नहीं, इस बात का निर्णय हो सके, क्योंकि जब हम यह सिद्ध करने जाते हैं कि हम स्वप्न नहीं देख रहे हैं तब हम उन्हीं प्रक्रियाओं का प्रयोग करते हैं, उन्हीं संवेदों का अनुभव करते हैं, जिनका प्रयोग तथा अनुभव हम स्वयं स्वप्न अवस्था में कर सकते हैं। डेकार्ट द्वारा व्यक्त 'क्या हम स्वप्न तो नहीं देख रहे हैं ? तार्किक रूप से इस प्रश्न से 'क्या हम भ्रम में तो नहीं है ?' भिन्न नहीं है। यदि जीवन में एक बार भी हमने सोया है तथा स्वप्न देखा है तब प्रत्येक बार जब वस्तुयँ हमारी आँखों के सामने आती हैं, हमारे सम्मुख प्रश्न उठ खड़ा होता है, 'क्या हम सो तो नहीं रहे हैं ?' और प्रत्येक बार हम यह निर्धारित करने में असफल हो जाते हैं कि हम सो नहीं रहे हैं उसी प्रकार जिस प्रकार कि हम यह निर्धारित करने में असफल हो जाते हैं कि हम भ्रम में नहीं है। जब मैं अपना जलता हुआ सिगरेट देखता हूँ तब मैं यह कैसे निर्धारित कर सकता हूँ कि मैं भ्रम में नहीं हूँ ? इन्द्रियों द्वारा ही तो, परन्तु यहाँ संशय तो इन्द्रियों के प्रयोग पर ही है। जो इन्द्रियाँ हमें एक बार धोखा दे सकती हैं क्या वे हमें दूसरी बार धोखा नहीं दे सकती है ? जो साधन रहते हुए भी हम भ्रम में पड़ सकते हैं उन्हीं साधनों के आधार पर हम यह सिद्ध नहीं कर सकते कि हम भ्रम में नहीं हैं। इसी प्रकार, जो साधन रहते हुए हम स्वप्न देख सकते हैं उन्हीं साधनों द्वारा हम यह सिद्ध नहीं कर सकते कि हम स्वप्न नहीं देख रहे हैं।

उपरोक्त निरूपण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि डेकार्ट इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान के संबंध में क्यों संशय व्यक्त करते हैं। किसी संशयवादी के लिए यह अनिवार्य नहीं है कि वह इन्द्रियजन्य ज्ञान को अथवा किसी अनुभवीय तर्कवाक्य को अनिश्चित सिद्ध करने के लिये इन दोनों प्रश्नों को 'क्या मैं स्वप्न देख रहा हूँ' ? तथा 'क्या मैं भ्रम में हूँ' ? मान कर चले। एक ही प्रश्न संशय व्यक्त करने के लिए काफी है। यहाँ इन दोनों प्रश्नों को पृथक् इसलिये माना गया है कि 'स्वप्नावस्था' को कभी-कभी 'भ्रमावस्था' से भिन्न माना जाता है। स्वप्न में कोई भी वस्तु प्रदत्त नहीं होती जबकि भ्रम में वस्तुएँ रहती हैं। भ्रम में हम रस्सी के स्थान पर साँप देख लेते हैं परन्तु स्वप्न में देखा हुआ साँप अथवा रस्सी, किसी का भी अस्तित्त्व नहीं होता। यदि कोई संशयवादी किसी वस्तु के ज्ञान के संबंध में संशय प्रगट करना चाहता है तब वह या तो मान कर चले कि जिस वस्तु को वह देख रहा है उस वस्तु के स्थान पर कोई दूसरी वस्तु के प्रदत्त होने की संभावना है या किसी भी वस्तु के प्रदत्त होने की संभावना नहीं है। प्रथम मार्ग अपनाने से प्रश्न पैदा होता है 'क्या मैं भ्रम में तो नहीं हूँ' ? तथा द्वितीय मार्ग अपनाने से 'क्या मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ' ? यह दोनों प्रश्न तार्किक दृष्टि से भिन्न नहीं हैं। किसी भी ज्ञान के संबंध में न तो यह सिद्ध किया जा सकता है कि मैं भ्रम में नहीं हूँ और न ही यह कि मैं स्वप्न में नहीं हूँ।

(२)

हमने अपने लेख 'दार्शनिक संशयवाद' के प्रथम तथा द्वितीय खण्डों में कुमारी ऐंस्कोम्ब के विचारों की आलोचना की थी। ऐंस्कोम्ब ने हमारी आलोचना के संबंध में अपने एक पत्र में लिखा है - ''मेरा विचार है कि सूर्य उदय होने के संबंध में उस लेख में दिये हुए मेरे तर्क, जिसका कि उल्लेख आपने

किया है, बिल्कुल व्यर्थ हैं और मैं उन तर्कों का समर्थन नहीं करना चाहती। आपकी आलोचना जहाँ इसमें भेद स्थापित करती है - कोई घटना सामान्य कार्य-कारण नियम का विरोध करती है तथा कोई घटना विशेष कार्य-कारण नियम का विरोध करती है - मुझे बिल्कुल ही ठीक दिखाई देती है।"[1] परन्तु जहाँ ऐंस्कोम्ब अपने पत्र में हमारी युक्तियों के संबंध में सहमती प्रगट करती हैं वहाँ वे कई स्थानों पर हमारे विश्लेषण से असहमत भी हैं। प्रस्तुत समालोचना में हम ऐंस्कोम्ब द्वारा प्रयुक्त उन तर्कों का विश्लेषण करेंगे। उनकी यह समालोचना हमारे उस पत्र के अनुसार है जो हमने ऐंस्कोम्ब के पत्र के उत्तर में लिखा है।

कल सूर्य उदय न होने के संबंध में ऐंस्कोम्ब ने यह प्रश्न उठाया है "आप 'कल' का क्या अर्थ करेंगे" ? संभवत: ऐंस्कोम्ब 'कल' की परिभाषा 'सूर्य उदय होने' से दे रही हैं क्योंकि यदि 'कल' की परिभाषा 'सूर्य उदय होने' से दी जाय तब यह सिद्ध हो जाता है कि कल सूर्य उदय होना अनिवार्य है क्योंकि वह कल 'कल' न होगी जिसमें सूर्य उदय न हो। यह प्रश्न हमारे सामने समस्या रूप में उठाया गया है। परन्तु ऐंस्कोम्ब ने अपने लेख में, जिसकी आलोचना हम अपने लेखों में कर चुके हैं, केवल यही सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया है कि कल सूर्य उदय होना अनिवार्य है, प्रत्युत वे यह भी सिद्ध करना चाहती हैं कि कल सूर्य उदय होने की अनिवार्यता वह अर्थ नहीं रखती जिस अर्थ में तार्किक अनिवार्यता (logical necessity) का प्रयोग होता है। अत: ऐंस्कोम्ब जब कोई युक्ति अपने विचार की पुष्टि के लिये प्रयुक्त करती हैं तब उन्हें इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि उन्हें केवल यही सिद्ध नहीं करना है कि कल सूर्य उदय होना अनिवार्य है प्रत्युत उन्हें यह भी सिद्ध करना है कि उक्त भविष्यवाणी तर्क-भिन्न अनिवार्यता (नान् लॉजीकल नेसेसिटी) व्यक्त करती है। हमने अपने संशयवाद के लेखों में अपने विश्लेषण द्वारा यह निष्कर्ष निकाला था कि ऐंस्कोम्ब भविष्यवाणी को किसी तर्क-भिन्न अर्थ में नहीं प्रत्युत तार्किक अर्थ में ही अनिवार्य मानती हैं, और किसी भविष्यवाणी के संबंध में तार्किक अनिवार्यता कुछ भी अर्थ नहीं रखती क्योंकि इस प्रकार का प्रयोग अंतर्विरोध व्यक्त करता है। अत: यदि ऐंस्कोम्ब का यह प्रश्न उठाना, "आप 'कल' का क्या अर्थ करेंगे" ? किसी भी प्रकार इस समस्या पर प्रकाश डालता है कि कल सूर्य उदय होना तर्क-भिन्न अर्थ में अनिवार्य है, तब तो यह प्रश्न सार्थक है अन्यथा नहीं। हम देखते हैं कि उनका यह प्रश्न उठाना किसी भी प्रकार इस समस्या पर प्रकाश नहीं डालता कि कल सूर्य का उदय होना तार्किक अर्थ में नहीं, किसी विपरीत अर्थ में अनिवार्य है। प्रत्युत, हमारी समझ में तो यदि 'कल' की परिभाषा 'सूर्य उदय होने' से दी जाय, जैसा कि ऐंस्कोम्ब चाहती हैं, तब यह तार्किक रूप से अनिवार्य हो जाता है कि कल सूर्य उदय होगा। क्योंकि उक्त परिभाषा लागू (एन्टेल) करती है कि 'कल सूर्य उदय नहीं होगा' प्रकथन अंतर्विरोध प्रगट करता है। और यदि यह कथन अंतर्विरोध प्रगट करता है तब यह तार्किक असंभवता (लाजीकल इम्पासीबिलिटी) भी व्यक्त करता है। स्पष्ट है कि यदि यह कहना, कल सूर्य उदय नहीं होगा, तार्किक असंभवता व्यक्त करता है तब इस बात में संशय को भी स्थान नहीं रह जाता कि कल सूर्य उदय नहीं होना तार्किक रूप से अनिवार्य है। अत: ऐंस्कोम्ब का यह प्रश्न उठाना ही "आप 'कल' का क्या अर्थ करेंगे" अपने विचार के विरोध में समस्याओं को उत्पन्न करना है। यह प्रश्न उनके विचार को पुष्ट न करके उनके विरोध में जाता है। परन्तु हमारी आपत्ति केवल यही नहीं है। हमारी मूल आपत्ति तो यह है कि 'कल' की परिभाषा 'सूर्य उदय होने से' दी ही नहीं जा सकती। इसका कारण यह है कि 'सूर्य उदय होने का प्रयोग केवल 'कल' के संबंध में ही नहीं होता प्रत्युत वह 'आज' के संबंध में होता है। यदि केवल 'कल' के संबंध में ही 'सूर्य उदय होने' का प्रयोग होता तब यह परिभाषा ठीक होती परन्तु सामान्य भाषा में इसका विरोध विद्यमान है। उदाहरण के लिये, यदि तीन चार दिन लगातार काले बादल आकाश को घेरे रहें और घोर वर्षा होती रहे तब जब हम प्रथम

बार सूर्य को आकाश में उठता देखते हैं उस समय कहते हैं 'आज तो सूर्य उदय हो रहा है'। इस उदाहरण द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि ऐंस्कोम्ब के पास यह कहने के लिये कोई भी तार्किक आधार नहीं है कि यदि सूर्य उदय नहीं होगा तब कल नहीं होगी, उसी प्रकार जिस प्रकार कि किसी व्यक्ति के पास यह कहने के लिये कि यह विशेष दिन (जिस दिन कि वह कह रहा है) आज नहीं है, क्योंकि सूर्य उदय नहीं हो रहा है। कोई भी तार्किक आधार नहीं कि ऐसी स्थितियों में भी 'आज' तथा 'कल' का प्रयोग संभव है जबकि सूर्य उदय न होता हो।

ऐंस्कोम्ब ने हमारी इस युक्ति के संबंध में अप्रसन्नता प्रकट की हैं जबकि हमारा यह कहना था कि समस्या यह है कि ऐंस्कोम्ब सूर्य उदय होने को किसी अन्य विपरीत अर्थ में नहीं प्रत्युत तार्किक अर्थ में ही अनिवार्य होना सिद्ध करती हैं। उनके विचार में, हमने अपने लेख में उनके लेख में व्यक्त विचारों का ठीक से निरूपण नहीं किया। हमारी युक्ति के संबंध में उनकी यह अप्रसन्नता अस्वाभाविक नहीं है क्योंकि जैसा कि हम ऊपर बतला आये हैं, किसी भविष्यवाणी को तार्किक अर्थ में अनिवार्य मानना दूसरी भाषा में यह मानना है कि वह भविष्यवाणी नहीं है। क्योंकि तार्किक अनिवार्यता केवल पुनरुक्तियाँ ही अभिव्यक्त करती है, और पुनरुक्तियाँ केवल शब्दों के प्रयोग के संबंध में होती हैं, जबकि भविष्यवाणियाँ संभाव्य तथ्यों के लिए प्रयुक्त होती हैं। हमारे लेख में दिये उक्त विश्लेषण के विरोध में ऐंस्कोम्ब ने अपने पत्र में लिखा है "मैं आप द्वारा निरूपित अपने विचारों के संबंध में, जैसे कि वे वहाँ (लेख में, जिसकी आलोचना हमने की थी) प्रस्तुत किये गये हैं, पूरी तरह से प्रसन्न नहीं हूँ। मैं प्रश्न उठाना चाहती थी कि क्या हम 'कल सूर्य उदय न होने' का निरूपण कर सकते हैं ? अब मेरा विचार है कि ऐसा निरूपण संभव नहीं है - इस अर्थ में कि, उदाहरण के लिये, इस बात का निरूपण असंभव है कि शतरंज का खेल कैसा होगा जो केवल गलत चालों से खेला गया हो। यह कहना कि यह तार्किक रूप से असम्भव है, उपयुक्त हो सकता है, 'तार्किक असंभवता' तो एक अस्पष्ट प्रत्यय है। परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि यह असंभवता ऐसी होगी जैसी कि सत्य प्रक्रियात्मक (ट्रूथ फंक्शनल) अन्तर्विरोध द्वारा व्यक्त होती है। और इसीलिये, वह अनिवार्यता जो यह लागू करती है कि, यदि शतरंज का खेल खेला गया है तो, उसमें अधिकतर चालें सही होंगी (इसी अर्थ में कि वे नियमानुसार हैं) वह अर्थ नहीं रखती जिस अर्थ में कि कोई पुनरुक्ति अनिवार्य होती है।[६] इस कथन में ऐंस्कोम्ब ने शतरंज के खेल का सहारा लेकर सिद्ध करने की चेष्टा की है कि कल सूर्य का उदय होना तर्क-भिन्न अर्थ में अनिवार्यता है। परन्तु हमें ऐंस्कोम्ब का यह कथन भी हमारे पूर्व निष्कर्ष का खण्डन करता हुआ दिखाई नहीं देता जिसमें कि हमारे विचार से ऐंस्कोम्ब किसी भविष्यवाणी को उसी अर्थ में अनिवार्य मानती हैं जिस अर्थ में कि यह शब्द 'तार्किक अनिवार्यता' व्यक्त करता है अथवा जिस अर्थ में कोई पुनरुक्ति अनिवार्य होती है। हमें अब भी अपने लेखों में दिया हुआ विश्लेषण सत्य दिखाई देता है तथा ऐंस्कोम्ब द्वारा प्रयुक्त शतरंज का उपरोक्त उदाहरण उनके पुराने विचारों की कुछ भी पुष्टि नहीं करता। वास्तव में यह उदाहरण, जैसा कि हम देखेंगे, हमारी पूर्व धारणा को और भी सफल बना देता है। ऐंस्कोम्ब को संभवत: इस बात में कोई आपत्ति नहीं होगी कि यह सिद्ध करने के लिये कि कोई भविष्यवाणी तार्किक रूप से अनिवार्य है अथवा नहीं, यह सिद्ध करना आवश्यक है कि उसका विरोध (Denial) स्वयं ही अन्तर्विरोध प्रगट करता है अथवा नहीं। और हमारी समझ में ऐंस्कोम्ब अपने लेख में केवल भिन्न भाषा में यही सिद्ध कर रही हैं कि किसी भविष्यवाणी का विरोध स्वयं अन्तर्विरोध प्रगट करता है। हमारे इस पूर्व निष्कर्ष का, ऐंस्कोम्ब द्वारा अपने पत्र में पूछा हुआ प्रश्न, "आप 'कल' का क्या अर्थ करेंगे ?" तथा शतरंज वाला उदाहरण, दोनों ही अनुमोदन करते हैं। हम उक्त प्रश्न के संबंध में ऊपर देख ही चुके हैं कि वह किस प्रकार से एक ऐसा उत्तर व्यक्त करता है जो कि भविष्यवाणी को तार्किक रूप से अनिवार्य मानता है। शतरंज का उदाहरण भी इस प्रश्न से इस दृष्टि से

भिन्न नहीं है। जब ऐंस्कोम्ब यह कहती हैं कि इस बात का निरूपण असंभव है कि वह शतरंज का खेल कैसा होगा जो केवल गलत चालों से खेला गया हो, तब उनके कथन - 'शतरंज केवल गलत चालों से खेली गई है'-अन्तर्विरोध प्रगट करता है। यदि यह कथन अन्तर्विरोध प्रकट करता है तब हमें यह विश्वास करने में कोई भी आपत्ति नहीं दिखाई देती है कि यह कथन - शतरंज यदि खेली गई है तब उसमें अधिकतर चालें सही होंगी - तार्किक रूप से अनिवार्य है। क्या ऐंस्कोम्ब को इसमें कोई संशय है कि तार्किक रूप से अनिवार्य वाक्यों का विरोध स्वयं अन्तर्विरोध प्रगट करता है, अथवा इस प्रकार का विरोध तार्किक रूप से असंभव वाक्य व्यक्त करता है ? यह हमारी समझ के बाहर की बात है कि किस आधार पर एक ओर तो ऐंस्कोम्ब यह समझती हैं कि 'तार्किक असंभवता' एक अस्पष्ट प्रयोग है और दूसरी ओर वे 'तार्किक अनिवार्यता' के संबंध में कोई भी संशय व्यक्त नहीं करतीं। स्पष्ट है, जैसा कि ऐंस्कोम्ब अपने पत्र में भी मानती है, कि जब वे सूर्य उदय न होने के निरूपणीकरण (डिस्क्रिप्शन) के संबंध में प्रश्न उठाती हैं तब वह उसी प्रकार का प्रश्न है जो प्रश्न कि वे शतरंज के उदाहरण में उठाती हैं। और जिस प्रकार कि बाद वाले प्रश्न के संबंध में हमने देखा था, ऐंस्कोम्ब को यह विश्वास करना पड़ेगा कि यह तार्किक रूप से अनिवार्य है कि यदि शतरंज खेली गई है तब उसमें अधिकतर चालें ठीक होंगी, उसी प्रकार उन्हें प्रथम प्रश्न के संबंध में भी यह विश्वास करना पड़ेगा कि सूर्य का उदय होना तार्किक रूप से अनिवार्य है। हमें ऐसा दिखाई देता है कि भविष्यवाणी को तर्क - भिन्न अर्थ में अनिवार्य मानने के लिये ऐंस्कोम्ब के पास वही आधार है जिस आधार पर कि हम उस भविष्यवाणी को तार्किक अर्थ में अनिवार्य दिखलाते हैं। तब क्या हमारे बीच वाद-विवाद केवल शाब्दिक है ? क्या इन शब्दों, 'तार्किक' तथा 'तर्क-भिन्न', का 'अनिवार्यता' के संबंध में प्रयोग एक ही अर्थ रखता है ?

ऐंस्कोम्ब के मस्तिष्क से 'तार्किक असंभवता' के प्रयोग के संबंध में संशय दूर करने के लिये हम विट्गिन्स्टाइन के इस कथन की ओर ध्यान आकृष्ट करेंगे, जबकि वह कहते हैं 'यह तार्किक रूप से असंभव है कि दो भिन्न वर्ण दृष्टि-क्षेत्र (Visual field) में एक ही स्थान पर प्रदत्त हों।' ऐंस्कोम्ब द्वारा प्रयुक्त उनकी शतरंज की भाषा में विट्गिन्स्टाइन के कहने का यही प्रयोजन है कि 'इस बात का निरूपण असंभव है कि यह कैसा दिखाई देगा कि दृष्टि-क्षेत्र में रक्त तथा श्याम दोनों वर्ण एक ही स्थान पर प्रदत्त हों ?' विट्गिन्स्टाइन को इस बात से भी इन्कार नहीं हो सकता कि यह तार्किक रूप से अनिवार्य है कि दृष्टि-क्षेत्र में रक्त-वर्ण तथा श्याम-वर्ण भिन्न स्थानों पर प्रदत्त हों। हम यह पता लगाने में नितांत असमर्थ हैं कि यह कहना किस प्रकार न्यायोचित होगा कि 'यह तार्किक रूप से असंभव है कि दो भिन्न वर्ण दृष्टि-क्षेत्र में एक ही स्थान पर प्रदत्त हैं, जबकि यह कहना न्यायोचित नहीं है कि यह तार्किक रूप से असंभव है कि कोई शतरंज का खेल केवल गलत चालों से खेला गया है। बाद वाले वाक्य के साथ तार्किक असम्भवता वही अर्थ रखती है जो अर्थ यह प्रथम वाक्य के साथ रखती है।

ऐंस्कोम्ब का अपने उपर्युक्त पत्र में, जिसके संबंध में ऊपर हम कह आये हैं, कथन है ''यह अनिवार्यता कि 'यदि शतरंज खेली गई है तब अधिकतर चालें ठीक होंगी' ... ऐसी नहीं है जिस अर्थ में कि कोई पुनरुक्ति अनिवार्य होती है'। यह सत्य है कि एक अर्थ में सचमुच का खेला हुआ शतरंज का खेल, जो कि अधिकतर ठीक चालों में खेला गया हो, वैसी अनिवार्यता व्यक्त नहीं करता जैसी कि कोई पुनरुक्ति व्यक्त करती है। क्योंकि शतरंज के वज़ीर को उठा कर किसी दूसरे घर पर चलने की क्रिया वह नहीं जो कि एक पुनरुक्ति व्यक्त करने में प्रयुक्त होती है। परन्तु ऐंस्कोम्ब का उपरोक्त कथन यह सिद्ध नहीं कर पाता, जैसा कि यह सिद्ध करता हुआ दिखाई देता है, कि वह अनिवार्यता जिससे, यदि शतरंज खेली गई है तब उस में अधिकतर चालें ठीक होंगी, उस अनिवार्यता से भिन्न अर्थ रखती है जो कि एक पुनरुक्ति द्वारा व्यक्त होती है, जिस प्रकार कि 'चक्र' शब्द का अर्थ इस कथन में कि 'अमुक व्यक्ति के तर्क में चक्रक दोष है' यह कहने से कि ''अमुक वस्तु चक्राकार है' भिन्न है। कोई तर्क उस अर्थ में

चक्राकार नहीं है जिस अर्थ में कि एक भौतिक पदार्थ चक्राकार होता है। परन्तु ऐंस्कोम्ब के कथन का तो केवल यही अर्थ है कि शतरंज का खेल एक पुनरुक्ति नहीं है, इससे अधिक कुछ भी नहीं। यह सत्य है, जैसा कि 'चक्र' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट होता है, कि दो भिन्न वस्तुओं के दो भिन्न गुण हों चाहे उन गुणों के लिये शब्द एक ही प्रयुक्त होता हो, परन्तु यह भी तो सत्य है कि दो भिन्न वस्तुओं का एक ही गुण हो ? यदि मान भी लिया जाय कि शतरंज का खेल एक पुनरुक्ति नहीं है तब भी क्या यह संभाव्य नहीं हो सकता कि जिस अर्थ में एक पुनरुक्ति अनिवार्य है उसी अर्थ में ऐंस्कोंब द्वारा प्रयुक्त शतरंज का उदाहरण भी अनिवार्य हो ? ऐंस्कोम्ब ने अपने पत्र में युक्ति तो ऐसी ही दी हैं जिसमें उनका शतरंज वाला उदाहरण उसी अर्थ में अनिवार्य माना जा सके जिस अर्थ में कि एक पुनरुक्ति अनिवार्य होती है। हम किसी पुनरुक्ति को अनिवार्य इस अर्थ में कहते हैं, जैसा कि हम देख चुके हैं, कि उसके विरोध का निरूपण असंभव हो। और जब ऐंस्कोम्ब यह कहती हैं कि 'यदि शतरंज खेली गई है तब उसमें अधिकतर चालें ठीक होंगी' उस समय उनके कहने का अर्थ यह स्पष्ट रूप से विदित होता है कि किसी विपरीत प्रकार के शतरंज का खेल असंभव है, 'असंभव' दोनों अर्थों में है कि न तो हम ऐसे खेल का वर्णन कर सकते हैं और न ही ऐसी विपरीत प्रकार की चालें चल सकते हैं। स्पष्ट है कि जिस भाँति हम किसी पुनरुक्ति के विरोधी वाक्य को अर्थ देने में असमर्थ हैं उसी प्रकार से हम किसी विपरीत भाँति से शतरंज का खेल खेल सकने में असमर्थ हैं। यहाँ 'असमर्थता' हमें यह कहने के लिए आधार देती है कि जिस अर्थ में एक पुनरुक्ति अनिवार्य होती है उसी अर्थ में शतरंज के खेल में चली हुई चालें भी।

ऐंस्कोम्ब द्वारा प्रयुक्त 'तर्क-भिन्न अनिवार्यता' बहुत ही अस्पष्ट प्रयोग है। यहाँ हमारे कहने का अर्थ यह नहीं है कि अनिवार्यता का कोई भी ऐसा प्रयोग नहीं हो सकता जिसे तर्क-भिन्न कहा जा सके। यह मानने में कोई भी दोष नहीं है कि तर्क-भिन्न अनिवार्यता का प्रयोग होता है। उदाहरण के लिये, यदि डेकार्ट की संशयवादी युक्तियों के विरोध में कोई व्यक्ति शतरंज का खेल खेलते समय, मूअर की भाँति यह कहे, 'जब मैं वज़ीर चल रहा हूँ तब मैं अनिवार्यत: ही वज़ीर चल रहा हूँ अर्थात् उसके कहने का यह अर्थ हो कि वह स्वप्न अथवा भ्रम में नहीं है, तब वह व्यक्ति जिस अर्थ में 'अनिवार्य' शब्द का प्रयोग कर रहा है वह 'तर्क-भिन्न' अर्थ कहा जा सकता है। परन्तु ऐंस्कोम्ब इस अर्थ में कल सूर्य उदय होने को अनिवार्य नहीं मानतीं, अत: यहाँ उसका प्रश्न ही नहीं उठता।

***

संदर्भ सूची

१. *देखें - 'दार्शनिक संशयवाद' - सुरेश, दार्शनिक अक्तूबर १९५८ अंङ्क।*

२. *The Philosophy of Descartes, P. 56. Translator, H.A. P, Torry, (Henery Holt and co.)1908.*

३. *Ibid. P. 12.*

४. *Op. Cit. P.P. 108.11.*

५. *उपरोक्त प्रतिक्रिया में ऐंस्कोम्ब ने मेरे एक अप्रकाशित लेख 'डिफेंडिंग स्केप्टीसिज्म' के संबंध में दी है। इस लेख में मालकम, ऐम्बरोज, मुअर, रसल तथा ऐंस्कोम्ब के विचारों की आलोचना की गई है। 'डिफेंडिंग स्केप्टीसिज्म' तथा 'दार्शनिक' में प्रकाशित 'दार्शनिक संशयवाद-२' के लेखों में ऐंस्कोम्ब से संबंधित युक्तियों में केवल भाषा का भेद है, इस अर्थ में कि प्रथम लेख अंग्रेज़ी में है तथा द्वितीय हिन्दी में, अन्यथा कोई भी विशेष भेद नहीं है।*

६. *I should, however, not be entirely happy about your account of my view as it was there. For I wanted to raise the question whether we could describe 'The sun is not rising tomorrow'. I now think that we can. But suppose we could not, in the sense in which it is for example impossible to describe what it would be like for chess to have been played only with nothing but wrong moves. To say that is a logical impossibility may be; fair 'logical impossibility' is a vague term. But it is not clear that the imposibility would be that of a truthfunctional contradiction, and therefore the necessity by which, if chess has been correct (ie. according to the rules) is not the necessity in the sense in which a tautology is necessary.*

तात्त्विक प्राथमिकता

प्रोफ़ेसर स्ट्रासन के मतानुसार व्यक्तियों तथा भौतिक वस्तुओं का अस्तित्त्व तात्त्विक रूप से प्राथमिक है।[1] ध्वनि, गंध और रस आदि ऐसे विशेष हैं जिनके अस्तित्त्व को तात्त्विक रूप से प्राथमिक या मौलिक नहीं कहा जा सकता। अत: इस प्रकार के सभी विशेष गौण या आश्रित हैं। स्ट्रासन ने तात्त्विक प्राथमिकता का प्रश्न विशेषों के 'अभिज्ञान' द्वारा हल करने का प्रयत्न किया है। किसी वर्ग का विशेष तत्त्वत: प्रथम या मौलिक है यदि उस वर्ग के विशेष का अभिज्ञान किसी अन्य वर्ग के विशेष पर निर्भर नहीं करता। क्योंकि व्यक्तियों तथा भौतिक वस्तुओं का अभिज्ञान किसी अन्य वर्ग के विशेषों के अभिज्ञान से स्वतन्त्र है, अत: ये ऐसे विशेष हैं जो तात्त्विक आधार पर प्रथम हैं। ध्वनि, गंध तथा स्वाद ऐसे विशेष हैं जिनका अभिज्ञान भौतिक वस्तुओं तथा व्यक्तियों के अभिज्ञान पर आधारित है, अत: ये ऐसे विशेष हैं जिनका अस्तित्त्व आश्रित है। स्ट्रासन के मतानुसार जो विशेष अभिज्ञान में आश्रित हैं वे सभी विशेष पुनरभिज्ञान में भी आश्रित हैं। ध्वनि, गंध तथा स्वाद आदि का स्वतंत्र रूप से पुनरभिज्ञान नहीं हो सकता। इन विशेषों का पुनरभिज्ञान व्यक्तियों तथा भौतिक वस्तुओं पर आधारित है। प्रस्तुत लेख में मैंने स्ट्रासन के तात्त्विक मौलिकता सम्बन्धी इन विचारों का खंडन करने की चेष्टा की है। मैं स्ट्रासन के इस विचार से असहमत नहीं हूँ कि 'अभिज्ञान' और 'पुनरभिज्ञान' दो ऐसे प्रत्यय हैं जिनकी सहायता से तात्त्विक मौलिकता का प्रश्न हल किया जा सकता है। मैं केवल इस विचार से असहमत हूँ कि ध्वनि, गंध तथा स्वाद आदि का अस्तित्त्व केवल गौण या आश्रित अस्तित्त्व है। मैंने प्रस्तुत लेख में यह दिखलाने की चेष्टा की है कि स्ट्रासन ने जो तर्क ध्वनियों को गौण सिद्ध करने के लिये दिये हैं वे तर्क किसी भी भौतिक वस्तु के संबंध में दिये जा सकते हैं।

अपने विचारों की पुष्टि हेतु स्ट्रासन ऐसे जगत् की कल्पना करते हैं जिसमें केवल ध्वनियों का अस्तित्त्व है, किसी भी अन्य वर्ग के विशेष का अस्तित्त्व नहीं - न अन्य आश्रित विशेष का और न किसी भौतिक विशेष का। ध्वनि जगत् में एक ध्वनि दूसरी ध्वनि से संख्यात्मक रूप से भिन्न हो सकती है। परन्तु क्या ध्वनि-जगत् की ध्वनियों को लेकर संख्यात्मक तादात्म्य तथा लक्षणात्मक तादात्म्य में भी भेद किया जा सकता है ? कल्पना कीजिये कि किसी व्यक्ति में केवल श्रवण-शक्ति है और उस व्यक्ति की भौतिक देह नहीं है, क्योंकि भौतिक देह होने पर देश तथा काल दोनों की अवस्था माननी होगी। ध्वनि-जगत् केवल काल-जगत् है, वह जगत् दैशिकता से रहित है। ध्वनि-जगत् का व्यक्ति ध्वनियों को सुनने में सफल है, वह व्यक्ति एक के बाद दूसरी ध्वनियाँ सुन रहा है। परन्तु यह किस प्रकार की सफलता है ? क्यों दो भिन्न ध्वनियों में, जो दो भिन्न समयों पर सुनी गईं, संख्यात्मक तादात्म्य हो सकता है ? उन ध्वनियों में लक्षणात्मक तादात्म्य हो सकता है, परन्तु क्या संख्यात्मक तादात्म्य भी हो सकता है ? स्ट्रासन के मतानुसार ध्वनि-जगत् की भिन्न-भिन्न ध्वनियों में संख्यात्मक भेद सम्भव है, कि मैं इस समय वह ध्वनि नहीं सुन रहा हूँ जो मैं कुछ समय पूर्व सुन रहा था। उन ध्वनियों में लक्षणात्मक तादात्म्य हो सकता है, कि इस ध्वनि का वही लक्षण है जो ध्वनि मैंने कुछ समय पूर्व सुनी

थी। परन्तु मैं यह नहीं कह सकता कि मैं इस समय वही ध्वनि (संख्यात्मक रूप से वही ध्वनि) सुन रहा हूँ जैसी कि कुछ समय पूर्व सुन रहा था। ध्वनि-जगत् की ध्वनियों में संख्यात्मक तादात्म्य होना असम्भव है।

अब हमारे वास्तविक जगत् में आयें। हमारा वास्तविक जगत् ध्वनि-जगत् से कितना भिन्न है ? वास्तविक जगत् में प्रत्येक व्यक्ति के पास एक भौतिक देह है। उस देह के द्वारा वह अन्य व्यक्तियों तथा भौतिक वस्तुओं से सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। उसमें न केवल श्रवण-शक्ति है, वह स्पर्श भी कर सकता है, सूँघ भी सकता है और वस्तुओं को देखने तथा स्वाद लेने की क्षमता भी रखता है। इस वास्तविक जगत् में, स्ट्रासन के मतानुसार, दो भिन्न ध्वनियों में तादात्म्य की सम्भावना मानने में झिझक नहीं होनी चाहिये। वास्तविक जगत् की ध्वनियों के सम्बन्ध में हम लक्षणात्मक तादात्म्य तथा संख्यात्मक तादात्म्य में भेद कर सकते हैं। दो भिन्न ध्वनियों में संख्यात्मक तादात्म्य होने के लिए यह अनिवार्य है कि हम ऐसी ध्वनियों की सत्ता स्वीकार करें जिनकों हम नहीं सुनते, ऐसी ध्वनियाँ जिनका किसी देश-काल में अस्तित्त्व है परन्तु उस देश-काल में किसी श्रोता का अस्तित्त्व नहीं है। ध्वनियों के संख्यात्मक तादात्म्य के लिए अनसुनी ध्वनियों की कल्पना अनिवार्य है।

यहाँ समस्या है कि अनसुनी ध्वनियों के अस्तित्त्व में किस आधार पर विश्वास किया जाय ? स्ट्रासन हमारा ध्यान वास्तविक स्थिति की ओर आकृष्ट करते हैं : एक ढोलकी ढोल बजा रहा है। मैं दूर खड़ा उसके हाथ को ढोल पर पड़ते देख रहा हूँ। मैंने ढोल से उत्पन्न एक विशेष ध्वनि को जैसे ही सुनना आरम्भ किया कि अन्य ध्वनियाँ मेरे कानों में गूंज उठीं। जिस विशेष ध्वनि को मैंने सुनना आरम्भ किया था उस ध्वनि पर से मेरा ध्यान हट गया। अन्य ध्वनियों में वह ध्वनि डूब गई, परन्तु मैं फिर भी ढोलकी का हाथ ढोल पर पड़ते देख रहा हूँ, अत: मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि ढोलकी ने ढोल बजाना बंद नहीं किया। अगला निष्कर्ष स्पष्ट है। यदि ढोल का बजना बंद नहीं हुआ है तो ध्वनियों का उत्पन्न होना भी बंद नहीं हुआ है ; वह ध्वनि जिसे कि मैं इस समय सुनने में असमर्थ हूँ किन्तु जिसे मैंने कुछ समय पूर्व सुना था, जिन ध्वनियों में मेरी पूर्व परिचित ध्वनि डूब गई थी, वे ध्वनियाँ अब समाप्त हो गई हैं, पूर्व ध्वनि फिर से उभर आयी है, मैं उसे फिर से सुन रहा हूँ।[२]

क्या कोई भी व्यक्ति किसी ध्वनि विशेष को दुबारा सुनने में सफल होगा यदि वह व्यक्ति यह मानकर चले कि अनसुनी ध्वनि का अस्तित्त्व नहीं है। क्या ध्वनियों के पुनरभिज्ञान हेतु उनके अनसुने अस्तित्त्व से इन्कार किया जा सकता है ? परन्तु अनसुनी ध्वनियों का अस्तित्त्व किस आधार पर माना जा सकता है ? क्या अनसुनी ध्वनियों के अस्तित्त्व हेतु ऐसे जगत् में कोई आधार है जहाँ न ढोल हों, न ढोलकी, अर्थात् न व्यक्ति हों और न ही भौतिक वस्तुएँ ? अनसुनी ध्वनियों का अस्तित्त्व है, उनका पुनरभिज्ञान, स्ट्रासन के मतानुसार केवल उस जगत् में सम्भव है जिसमें भौतिक वस्तुएँ हों, जहाँ देश, तथा काल दोनों स्थितियों का अस्तित्त्व हो। ध्वनियों का संख्यात्मक तादात्म्य भौतिक वस्तुओं तथा व्यक्तियों पर निर्भर है।

ध्वनि-जगत् की वास्तविक जगत् से तुलना करके स्ट्रासन ने बहुत से निष्कर्ष निकाल लिये हैं। उन सब निष्कर्षों में से दो निष्कर्ष हमारी समस्या के लिए उल्लेखनीय हैं। प्रथम निष्कर्ष है - केवल गुण अथवा लक्षण के आधार पर दो भिन्न विशेषों में संख्यात्मक तादात्म्य असम्भव है। ध्वनि-जगत् की ध्वनियों में लक्षणात्मक तादात्म्य पाया जाता है, संख्यात्मक तादात्म्य नहीं। इससे सिद्ध होता है कि लक्षण ऐसी कसौटी नहीं है जिसके आधार पर हम संख्यात्मक तादात्म्य तक पहुँच सकें। द्वितीय निष्कर्ष- ध्वनियों का संख्यात्मक तादात्म्य अथवा उनका पुनरभिज्ञान उसी स्थिति में सम्भव है जब हम

भौतिक वस्तुओं तथा व्यक्तियों का अस्तित्त्व स्वीकार कर लें। स्ट्रासन का निष्कर्ष स्पष्ट है - ध्वनियों को तात्त्विक प्राथमिकता नहीं दी जा सकती।

स्ट्रासन के प्रथम निष्कर्ष पर मैं अधिक समय व्यतीत नहीं करना चाहता। यह बात सत्य है कि केवल लक्षण वह कसौटी नहीं जिसके आधार पर हम ध्वनि-जगत् की ध्वनियों में तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित कर सकें। परन्तु स्ट्रासन ने इन ध्वनियों के तादात्म्य के लिए कोई अन्य कसौटी भी प्रस्तुत नहीं की। ध्वनि-जगत् की कल्पना एक ऐसे जगत् की कल्पना है जहाँ के विशेषों में संख्यात्मक तादात्म्य हो ही नहीं सकता। परन्तु यदि इन विशेषों को किसी कसौटी के अन्तर्गत नहीं लाया जा सकता, कोई भी ऐसा उपाय नहीं कि दो भिन्न ध्वनियों को एक माना जा सके, तब फिर हम लक्षण की कसौटी को भी दोष नहीं दे सकते। किसी एक कसौटी को दोष तभी दिया जा सकता है जब कोई अन्य कसौटी दोष-रहित हो। जहाँ सभी कसौटियाँ बेकार हों वहाँ किसी एक कसौटी पर आक्षेप नहीं किया जा सकता।

इस सन्दर्भ में केवल यह प्रश्न उठ सकता है कि लक्षण की कसौटी ध्वनि-जगत् में बेकार सिद्ध क्यों हुई ? इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि ध्वनि-जगत् में दो भिन्न ध्वनियों में लक्षणात्मक तादात्म्य है। फिर हमें संख्यात्मक तादात्म्य क्यों नहीं मिलता ? इस प्रशन का उत्तर सीधा है। ध्वनि-जगत् ऐसा जगत् है ही नहीं जहाँ के विशेषों में संख्यात्मक तादात्म्य सम्बन्ध हो। इस असम्भवता का कारण है ध्वनि-जगत् में विविधता का अभाव। विशेषों में तादात्म्य की सम्भावना, उनके पुनरभिज्ञान की सम्भावना, उनकी विविधता पर आधारित है। यह विचार सिद्ध करने के लिए हमें स्ट्रासन के द्वितीय निष्कर्ष की ओर जाना होना।

स्ट्रासन के द्वितीय निष्कर्ष के विरोध में मैं एक ऐसे जगत् की कल्पना करना आवश्यक समझता हूँ जिसमें केवल एक ही प्रकार की भौतिक वस्तु का अस्तित्त्व हो। जिस प्रकार स्ट्रासन ने ध्वनि-जगत् की कल्पना की है, मैं ढोल-जगत् की कल्पना करना चाहूँगा, एक ऐसा जगत् जिसमें केवल ढोल ही ढोल हों। यदि कोई दार्शनिक चाहे तो वह कोई अन्य भौतिक वस्तु ले सकता है, वह वृक्ष-जगत् अथवा काग-जगत् की कल्पना कर सकता है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि उस काल्पनिक जगत् में केवल एक ही वर्ग के विशेष हों। अन्य भौतिक अथवा अभौतिक विशेषों को स्थान न दिया जाय।

ढोल-जगत् जिसकी कल्पना मैं कर रहा हूँ, ऐसे ढोलों का जगत् है जहाँ के ढोल केवल एक ही उपादान के बने हुए हैं। हमारे वास्तविक जगत् के ढोलों को बनाने में विभिन्न प्रकार की सामग्री का प्रयोग किया जाता है, जैसे पशु की छाल, काष्ठ और रज्जु आदि। परन्तु काल्पनिक ढोल-जगत् के ढोल केवल एक ही उपादान से निर्मित हैं। यदि हम ढोलों के निर्माण-हेतु एक से अधिक उपादान का उपयोग करेंगे तब ढोल-जगत् की विशुद्धता नष्ट हो जायेगी, हमारे ढोल-जगत् में एक से अधिक भौतिक वस्तुओं का पदार्पण हो जायेगा। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि क्या ऐसे ढोल जो केवल एक ही उपादान से निर्मित हैं, ध्वनि उत्पन्न करने में असफल रहेंगे ? परन्तु यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि 'ध्वनि' एक आश्रित विशेष है, अतः ढोल-जगत् में उसका अस्तित्त्व निषिद्ध है। ढोल-जगत् में दिन के समय सूर्य उदय नहीं होता, न रात्रि में चाँद और तारे दिखाई देते हैं। आकाश में उड़ने वाले पक्षी और पृथ्वी पर चलने वाले कोई जीव-जन्तु नहीं है। हमारे वास्तविक जगत् के सुन्दर मनोरम दृश्य, पेड़-पौधे, नदी-नाले और पहाड़ों के दृश्य, ढोल-जगत् इन सभी दृश्यों से शून्य है। जो दृश्य विभिन्न प्रकार के विशेषों के मिश्रण से उत्पन्न होते हैं उन्हें ढोल-जगत् में स्थान नहीं। एक ढोल-प्रदेश दूसरे ढोल-प्रदेश से लक्षणात्मक रूप से भी भिन्न नहीं हो सकता क्योंकि लक्षणात्मक भेद भी आश्रित विशेषों का जन्मदाता है।

हमारे कल्पित ढोल-जगत् में दो ढोलकी प्रवेश करते हैं। ढोलकियों का प्रवेश निषिद्ध नहीं है क्योंकि स्ट्रासन के विचार से दो वर्ग के विशेष तात्त्विक रूप से मौलिक हैं - भौतिक वस्तुऐं तथा

व्यक्ति। क्योंकि स्ट्रासन अनेकत्ववादी हैं, अत: ढोलकियों की संख्या कम से कम दो होनी चाहिये। केवल देखना यह है कि ढोलकियों की देह का निर्माण उसी भौतिक पदार्थ से होना चाहिए जिससे ढोलों का निर्माण हुआ है। इन ढोलकियों को श्रवण-शक्ति, स्पर्श-शक्ति, गंध-शक्ति अथवा स्वाद-शक्ति आदि देना बेकार है क्योंकि ये शक्तियाँ देने से आश्रित विशेषों के प्रवेश का भय उत्पन्न हो जाता है। किन्तु इन ढोलकियों को दृष्टि क्षमता तो देनी ही होगी। यदि दृष्टि-क्षमता भी छीन ली जायगी तब फिर ढोलों का ज्ञान और पुनरभिज्ञान असम्भव हो जायगा। दृष्टि-क्षमता से ही प्रकाश का प्रश्न उत्पन्न हो जाता है। यदि हम सूर्य, चन्द्र अथवा बिजली के बल्ब का प्रकाश नहीं दे सकते तब किसी अन्य प्रकार का प्रकाश देना होगा। प्रकाश सभी ढोल-प्रदेशों में एक-सा ही होना चाहिये। रात और दिन का अन्तर रहने में कोई हानि नहीं क्योंकि दिन का अर्थ केवल इतना है कि प्रकाश हो रहा है।

ढोलकियों का स्थान ढोल है, और वे जिधर भी देखने की चेष्टा करते हैं ढोल ही ढोल देखते हैं। जिस भाँति स्ट्रासन के ध्वनि-जगत् में केवल ध्वनियाँ ही सुनाई देती हैं, अन्य कुछ नहीं, हमारे ढोल-जगत् में केवल ढोल ही दिखाई देते हैं, अन्य कुछ नहीं। हमारे ढोल-जगत् में जब रात्रि का प्रवेश होता है ढोलकी सोने चले जाते हैं। परन्तु हमारे ढोलकियों को एक रोग है - निद्रा-गमन। निद्रा अथवा निद्रा-गमन कोई ऐसे दोष नहीं कि ढोलकियों को व्यक्ति न समझा जाय। निद्रावस्था में एक ढोलकी उठकर किसी अन्य ढोल-प्रदेश में चला जाता है। प्रात: जब उसकी नींद टूटती है तब वह अपने साथी को अपने पास नहीं पाता। उसके मन में प्रश्न उठते हैं - क्या यह वही ढोल है जिस पर वह कल रात सोया था ? क्या, जिन ढोलों से वह घिरा हुआ है वे वही ढोल है जिन्हें वह कल देख चुका था ? क्या उसका बन्धु निद्रावस्था में किसी दूसरे ढोल-प्रदेश में चला गया है ? ये सभी प्रश्न स्वाभाविक हैं, क्योंकि हमारे ढोलकी के पास स्वयं की देह को छोड़कर अन्य कोई भी सम्पत्ति नहीं है। जब ढोलकी एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है तब कोई पद-चिन्ह अथवा किसी अन्य प्रकार का चिन्ह तथा गंध आदि पीछे नहीं छोड़ जाता जिसके आधार पर उसका अपना या अपने साथी का पथ निर्धारित हो सके। पद-चिन्ह अथवा गंध आदि आश्रित विशेष हैं, अत: उनका अस्तित्त्व ढोल-जगत् की विशुद्धता नष्ट कर देगा।

हमारे ढोलकी के मन में जो संशय उत्पन्न होते हैं क्या उन संशयों का कोई समाधान भी है ? क्या उसके पास कोई प्रमाण है कि वह कह सके कि वह कल रात किसी अन्य ढोल पर सोया था ? क्या उसके पास कोई ऐसा मापदण्ड है जिसके आधार पर वह कह सके कि वह इस समय किसी अन्य ढोल-प्रदेश में मौजूद है ? क्या ढोलकी संशय-विहीन होकर कह सकता है कि निद्रावस्था में उसने अपना पुराना स्थान छोड़ दिया है और उसका मित्र अभी भी पुराने स्थान पर ही होगा ? क्या ढोलकी के पास कोई कसौटी है जिसके आधार पर वह कह सके कि जिन ढोलों को वह इस समय देख रहा है वे वही ढोल हैं अथवा अन्य, जिन्हें वह कल भी देख चुका था ? परन्तु यदि हमारे ढोलकी के पास कोई भी ऐसी कसौटी, कोई भी ऐसा प्रमाण, कोई भी ऐसा मापदण्ड, नहीं है जिसकी सहायता से वह अपने संशयों का निवारण कर सके, तब उसके संशय किस स्वभाव के हैं ? स्ट्रासन के मतानुसार वे सभी संशय अवास्तविक हैं जिनका निवारण असम्भव है। दार्शनिक संशयवादी जिस प्रकार के संशय व्यक्त करता है वे अवास्तविक संशय है, क्योंकि इन संशयों का निवारण नहीं हो सकता। क्या हमारा ढोलकी दार्शनिक है ? क्या कोई संशय केवल इसी आधार पर अवास्तविक हो जायगा कि उसके निवारण का मार्ग नहीं पाया जाता ?

कल्पना कीजिये कि हमारा ढोलकी अपने मित्र की खोज में निकलता है। वह किस दिशा में जाय ? ढोल-जगत् दिशा-शून्य जगत् है, उसमें पूर्व, पश्चिम तथा उत्तर, दक्षिण नहीं हो सकते। ढोलकी के पास दिशा-सूचक यन्त्र भी नहीं हो सकते, क्योंकि दिशा-सूचक यन्त्र ढोल-जगत् की विशुद्धता को

नष्ट कर देंगे। उसकी अवस्था उस सागर में फँसे मल्लाह की भाँति है जिसके पास न दिशा सूचक यंत्र और न ही आकाश में चाँद-तारे। ऐसी स्थिति में ढोलकी किधर जाय ? उसे उधर ही जाना है जहाँ उसकी नाक उसे रास्ता बतलाये। क्या उसकी नाक यह भी बतला सकती है कि उसे अमुक ढोलों का अभिज्ञान हो चुका है और अब नवीन ढोलों का अभिज्ञान होना है ? क्या ढोलकी ऐसी स्थिति में है कि उसे किसी ढोल का पुनरभिज्ञान हो सके ? कल्पना कीजिये कि वह अपनी नाक की सीध पर किसी एक ढोल को केन्द्र बनाकर उस ढोल की दिशा में चल देता है। कुछ पग चलने के बाद पीछे मुड़ता है। पीछे मुड़ने से उसे सभी ढोलों का पुनरभिज्ञान हो जायगा जिनका कि उसे मुड़ने से पूर्व अभिज्ञान था। परन्तु इस बात का क्या प्रमाण है कि मुड़कर दुबारा उसकी नाक उसी रेखा पर आ गयी है जिस रेखा पर मुड़ने से पहले थी ? यदि ढोलकी की नाक अन्य रेखा पर है तब उसकी नाक के सामने वे ढोल नहीं हो सकते जिन्हें वह पहले देख चुका है।

किसी ढोल के पुनरभिज्ञान हेतु उपर्युक्त कठिनाइयों में पड़ने की आवश्यकता नहीं है, एक सीधी विधि है। मान लीजिये कि ढोलकी एक ढोल को केन्द्र बना कर उसकी ओर देख रहा है। अब वह कुछ क्षणों के लिए नेत्र बंद कर लेता है और नेत्र फिर खोल देता है। क्योंकि समय कुछ ही क्षणों का है अत: इतने कम समय में ढोलकी के लिए अपनी नाक पर काबू पाना कठिन काम न होगा। यदि यह मान लिया जाय कि कुछ क्षणों तक कोई व्यक्ति अपनी नाक पर काबू पा सकता है तब इसमें कोई भी संदेह नहीं रह जाता कि ढोलकी को एक ढोल का पुनरभिज्ञान हो गया है। वह इस समय वही ढोल देख रहा है जिसे कुछ समय पूर्व देख चुका था।

परन्तु इस आँख-मिचौनी के खेल का क्या उपयोग ? क्या आँख-मिचौनी का खेल यह सिद्ध कर सकता है कि ढोलकी इस समय जो ढोल देख रहा है उस ढोल का पहले देखे ढोल से संख्यात्मक तादात्म्य है ? दो भिन्न ढोलों में संख्यात्मक तादात्म्य तभी सम्भव हो सकता है जबकि उनका अस्तित्त्व एक ही देश-काल में हो। जो ढोल इस समय देखा जा रहा है उसकी एक देश-काल-अवस्था है, जो ढोल पहले देखा जा चुका है उसकी दूसरी देश-काल-अवस्था है। यदि ये दो भिन्न देश-काल-अवस्थाएँ एक ही बृहत् देश-काल की अवस्थाएँ नहीं है तब फिर जो ढोल एक देश-काल-अवस्था में देखा गया वह उस ढोल से संख्यात्मक तादात्म्य नहीं रखता जिसे किसी अन्य देश-काल-अवस्था में देखा गया था। निष्कर्ष स्पष्ट है - ढोलकी किसी ढोल के सम्बन्ध में संख्यात्मक तादात्म्य की सम्भावना इसी आधार पर कायम कर सकता है कि उसके ढोल-जगत् के ढोल एक ही बृहद् देश-काल के सूत्र में बंधे हुए हैं। परन्तु ढोलकी यह किस आधार पर मान सकता है कि उसके ढोल-जगत् के ढोल एक ही देश-काल के अंग है ? यह मानने के लिए उसे कुछ (सभी नहीं) ढोलों के पुनरभिज्ञान की सम्भावना माननी होगी। स्ट्रासन के मतानुसार, यदि किसी जगत् में किसी भी भौतिक वस्तु का पुनरभिज्ञान होना असम्भव है तब फिर वह जगत् ऐसी वस्तुओं से नहीं बना जिसे एक ही वृहत् देश-काल का जगत् माना जाय।[3] निष्कर्ष स्पष्ट है-यदि ढोल-जगत् के ढोलों में कोई भी ऐसे ढोल नहीं हैं जिनका पुनरभिज्ञान हो सके तब फिर ढोल-जगत् के भिन्न-भिन्न ढोलों को एक ही वृहद् देश-काल के सूत्र में नहीं बाँधा जा सकता। परन्तु किसी ढोल का पुनरभिज्ञान उसी अवस्था में हो सकता है जबकि यह मान लिया जाय कि ढोल-जगत् के ढोल एक ही वृहद् देश-काल के अंग हैं। यहाँ स्पष्ट रूप से दुश्चक्र उत्पन्न हो जाता है। पुनरभिज्ञान की सम्भावना एक वृहद् देश-काल अवस्था पर आधारित है। परन्तु वृहद् देश-काल-अवस्था स्वयं ही पुनरभिज्ञान की सम्भावना पर आधारित है।

प्रश्न यह है कि ढोलकी किस प्रकार भिन्न ढोलों को एक क्रमबद्ध देश-काल द्वारा एकीकृत जगत् में बाँधने में सफल होगा ? माल लें कि ढोलकी को किसी एक ढोल का सीधे प्रत्यक्ष से अभिज्ञान

हो जाता है। वह उस ढोल को केन्द्र-बिन्दु बनाकर अन्य ढोलों को एकीकृत करने की चेष्टा करता है, अन्य ढोलों को उसी देश-काल के सूत्र में बाँधने की चेष्टा करता है जिस देश-काल का एक अंग केन्द्र-बिन्दु है। परन्तु वह अन्य ढोलों को केन्द्र-बिन्दु-ढोल से किस भाँति सम्बन्धित करेगा ? ढोल-जगत् में वे साधन उपलब्ध नहीं हैं जो ऐसे कार्यों के लिए हमारे वास्तविक जगत् में उपलब्ध हैं। मान लिया जाय कि ढोलकी ऐसे प्रत्ययों का उपयोग कर सकता है जैसे कि 'वाम पक्ष' तथा 'दक्षिण पक्ष'। ढोलकी अपने दृष्टि-क्षेत्र में कुछ ढोलों को केन्द्र-बिन्दु-ढोल के वाम-पक्ष में पाता है और अन्य ढोलों को दक्षिण-पक्ष में। परन्तु इस विधि में दोष है, क्योंकि पलक झपकते ही पुराने केन्द्र-बिन्दु के बदल जाने की सम्भावना है। ढोलों को एक क्रमबद्ध एकीकृत जगत् में लाने के लिये केन्द्र-बिन्दु का स्थायी होना आवश्यक है। यदि समय-समय पर नवीन केन्द्र-बिन्दु बनते रहें तब फिर ढोलकी का उद्देश्य विफल हो जायगा।

मान लें कि ढोलकी एक ढोल पर 'तीर' का निशान बना देता है अथवा कुछ ढोलों को एकत्रित करके उनका 'स्तूप' बना देता है। इस तीर अथवा स्तूप के सहारे वह एक स्थायी केन्द्र-बिन्दु की रचना करता है। जब एक स्थायी केन्द्र-बिन्दु की रचना हो गई तब अन्य ढोलों को स्थायी केन्द्र-बिन्दु से सम्बन्धित करने में कोई कठिनाई नहीं रह जाती। परन्तु केन्द्र-बिन्दु को स्थायी बनाने की ऐसी कोई भी प्रक्रिया ढोल-जगत् की विशुद्धता नष्ट कर देगी। ढोल-जगत् में किसी भी तीर, स्तूप आदि का प्रवेश निषिद्ध है क्योंकि ये सब विशेष आश्रित या गौण हैं।

ढोलकी ढोलों को एक क्रमबद्ध जगत् में लाने में असफल क्यों है ? वह ऐसे जगत् की रचना क्यों नहीं कर पाता जिसके ढोल एक ही देश-काल के अंग हों ? ढोलों के पुनरभिज्ञान हेतु उसके पास साधन क्यों उपलब्ध नहीं हैं ? क्या वह इस कारण असफल है कि ढोल जगत् में उसका अस्तित्त्व राबिन्सन क्रूसो के अस्तित्त्व की तरह है ? वह अपने आप को अकेला पाता है। परन्तु ढोलकी की असफलता का कारण यह नहीं है कि वह ढोल-जगत् में राबिन्सन क्रूसो की भाँति असहाय है। कारण यह है कि ढोलकी का ढोल-जगत् राबिन्सन क्रूसो के जगत् से भिन्न स्वभाव का है। राबिन्सन क्रूसो का जगत् हमारा वास्तविक जगत् है जहाँ विशेषों की विविधता है। ढोलों का पुनरभिज्ञान केवल इसीलिये नहीं हो पाता क्योंकि ढोल-जगत् में विशेषों की विविधता नहीं है। यदि हम ढोल-जगत् में अन्य वर्ग के विशेषों को स्थान दे दें तब फिर ढोलों का पुनरभिज्ञान सम्भव हो जायगा। हमारे वास्तविक जगत् में ढोलों का पुनरभिज्ञान सम्भव है, क्योंकि वास्तविक जगत् में विशेषों की विविधता है, इस जगत् में केवल ढोल ही ढोल नहीं हैं। किन्तु हमारे वास्तविक जगत् में ढोलों का पुनरभिज्ञान सम्भव होने का यह तात्पर्य नहीं कि विशुद्ध ढोल-जगत् में भी उनका पुनरभिज्ञान हो जायगा।

अब स्ट्रासन के ध्वनि-जगत में आ जाइये। क्या ध्वनियों में सम्बन्धित पुनरभिज्ञान की कठिनाइयाँ केवल इसी कारण नहीं हैं कि ध्वनि-जगत् विशेषों की विविधता से शून्य है ? ध्वनि-जगत् में कुछ अन्य गौण कहे जाने वाले विशेषों का प्रवेश करके देखिये। कल्पना कीजिये कि ध्वनि-जगत् में गंध तथा स्वाद आदि भी हैं। ध्वनि-जगत् का व्यक्ति न केवल श्रवण-शक्ति रखता है, उनमें सूँघने तथा स्वाद की भी क्षमता है। परन्तु यदि हम ध्वनि-जगत् में गंध तथा स्वाद आदि का प्रवेश कर भी देते हैं तब स्ट्रासन की ध्वनि सम्बन्धी युक्तियाँ बेकार सिद्ध होंगी। कल्पना कीजिये कि मैंने एक ध्वनि को सुनना आरम्भ कर दिया है। कुछ क्षणों के बाद ही एक मोहक गंध ने मुझे आकर्षित कर लिया। गंध का आकर्षण मुझे कुछ क्षणों के लिए ध्वनि से अलग कर देता है। परन्तु जैसे ही गंध का आकर्षण कम होता है मैं वही ध्वनि फिर से सुनने लगता हूँ। क्या मैं इस स्थिति में नहीं हूँ कि कह सकूँ कि मैं इस समय वही ध्वनि सुन रहा हूँ जिसे पहले सुन चुका था ?

ध्वनियों के पुनरभिज्ञान के सम्बन्ध में दो बातें द्रष्टव्य हैं। पहली बात, दोनों ध्वनियों में - वह जो

गंध के आकर्षण से पूर्व सुनी गई और वह जो गंध के आकर्षण के बाद सुनी गई - लक्षणात्मक तादात्म्य है। दूसरी बात, ध्वनि के सुनने में विघ्न अन्य ध्वनियों ने नहीं डाला, उस विघ्न का कारण गंध है। यदि उक्त दो ध्वनियों में लक्षणात्मक तादात्म्य नहीं होता, अथवा किसी ध्वनि के सुनने में अन्य ध्वनियाँ बाधाएँ डालतीं, तब मेरे पास ऐसा आधार नहीं रह जाता कि कह सकूँ कि मैं अब वही ध्वनि सुन रहा हूँ जिसे पहले भी सुन चुका था। क्योंकि ध्वनि सुनने में बाधा गंध द्वारा उत्पन्न हुई है, अत: मैं ऐसी स्थिति में हूँ कि कह सकूँ 'यदि यह गंध बाधा नहीं डालती तब मैं उसी ध्वनि को इस समय भी सुनता रहता'। अत: जब मैंने फिर से ध्वनि सुनी तब मैं इस स्थिति में हूँ कि कह सकूँ ''इस समय मैं वही ध्वनि सुन रहा हूँ जिसे मैंने कुछ समय पूर्व सुनना आरम्भ कर दिया था।'' स्ट्रासन का यह विचार सत्य है कि एक ध्वनि को सुनने में यदि बाधा अन्य ध्वनियाँ डालती हैं तब फिर हम ध्वनियों के लक्षणात्मक तादात्म्य से ऊपर नहीं उठ सकते। ध्वनि-जगत् में किसी ध्वनि को सुनने में बाधा केवल अन्य ध्वनियाँ ही उत्पन्न कर सकती हैं, अत: ध्वनि-जगत् की ध्वनियों का पुनरभिज्ञान असम्भव है। परन्तु यदि किसी ध्वनि के सुनने में बाधा गंध द्वारा उत्पन्न होती है तब स्थिति बदल जाती है। क्या ध्वनि सुनने में गंध बाधा उत्पन्न नहीं कर सकती ?

स्ट्रासन के मतानुसार, ध्वनियों का पुनरभिज्ञान अनिवार्य रूप से भौतिक वस्तुओं पर आधारित है। केवल ऐसे जगत् में, जहाँ भौतिक वस्तुओं का अस्तित्त्व है, हम 'अनसुनी ध्वनियों' की कल्पना कर सकते हैं, और जब तक अनसुनी ध्वनियों की कल्पना नहीं हो सकती, ध्वनियों का पुनरभिज्ञान भी नहीं हो सकता। परन्तु ध्वनियों के पुनरभिज्ञान हेतु भौतिक वस्तुओं का अस्तित्त्व अनिवार्य नहीं है। किसी विशेष के पुनरभिज्ञान हेतु केवल उस विशेष से सम्बन्धित 'बाधा' का विश्लेषण आवश्यक है। पुनरभिज्ञान की सम्भावना बाधा की विशेषता पर निर्भर है। हम किसी ध्वनि के पुनरभिज्ञान हेतु गंध को आधार बना लेते हैं। इसी प्रकार गंध के पुनरभिज्ञान हेतु ध्वनि को आधार बना लेते हैं। कल्पना कीजिये : मुझे एक मोहक गंध आकृष्ट करती है। जैसे ही मेरा ध्यान गंध की ओर जाता है, कोई ध्वनि बाधा डाल देती है। ध्वनि का आकर्षण समाप्त होते ही मैं फिर से वही गंध सूँघने लगता हूँ। यहाँ गंध सूँघने में बाधा अन्य गंधों ने नहीं डाली, यह बाधा ध्वनि ने डाली है। यही विश्लेषण स्वाद पर भी लागू होता। मैं स्वाद ले रहा हूँ। परन्तु कुछ क्षणों के लिए ध्वनि अथवा गंध मेरे स्वाद में बाधा डाल देती है। जैसे ही बाधक आकर्षण समाप्त हुआ मैं फिर से वही स्वाद लेने लगता हूँ।

स्ट्रासन के मतानुसार, 'अभिज्ञान' और 'पुनरभिज्ञान' दो ऐसे प्रत्यय हैं जिनके आधार पर मैं ऐसे जगत् की रचना कर सकता हूँ जिसके विशेष एक ही क्रम में बंधे हुए हैं। जब तक भौतिक वस्तुओं का अस्तित्त्व नहीं माना जाता ऐसा जगत् असम्भव है जिसके विशेषों का पुनरभिज्ञान हो सके। स्ट्रासन ने ध्वनि-जगत् की रचना यह दिखलाने के लिए की कि जिस जगत् में भौतिक वस्तुएँ नहीं, वहाँ के विशेषों का पुनरभिज्ञान सम्भव नहीं। वे निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि भौतिक वस्तुओं की तात्त्विक मौलिकता है, ध्वनियाँ केवल आश्रित विशेष हैं। परन्तु जो युक्तियाँ ध्वनि-जगत् पर लागू होती हैं वे ही ढोल-जगत्, वृक्ष-जगत् अथवा काग-जगत् पर भी लागू होती हैं। ढोल, वृक्ष तथा काग आदि भौतिक वस्तुएँ हैं। क्या ढोल-जगत् के ढोल केवल आश्रित विशेष हैं क्योंकि उनका पुनरभिज्ञान असम्भव है ? क्या वृक्ष-जगत् के वृक्ष केवल आश्रित विशेष हैं क्योंकि उनका पुनरभिज्ञान असम्भव है ? किसी विशेष का हमारे वास्तविक जगत् में पुनरभिज्ञान सम्भव होने से यह सिद्ध नहीं होता कि उसका पुनरभिज्ञान सभी संभाव्य जगतों में भी सम्भव है।

यह सत्य है कि विशुद्ध ध्वनि-जगत् में पुनरभिज्ञान का कोई भी उपयोग नहीं। परन्तु एक ऐसे जगत् की रचना सम्भव है जिस जगत् में एक भी भौतिक वस्तु का अस्तित्त्व नहीं, फिर भी पुनरभिज्ञान

सम्भव है। ध्वनि, गंध तथा स्वाद आदि को एकत्रित करके एक ऐसे जगत् की रचना की जा सकती है जिसमें अभिज्ञान तथा पुनरभिज्ञान दोनों ही प्रत्ययों का उपयोग होगा। क्या ऐसे जगत् की रचना यह सिद्ध नहीं कर देती कि ध्वनियाँ, गंध और स्वाद आदि केवल आश्रित विशेष नहीं हैं ? ये सभी विशेषों में तात्त्विक रूप से मौलिक हैं ? स्ट्रासन की जो युक्तियाँ ध्वनियों, गंधों और स्वादों को आश्रित करती हैं वे ही ढोलों, वृक्षों तथा पक्षियों को भी आश्रित सिद्ध करने में प्रयुक्त की जा सकती है।

केवल एक वर्ग के विशेषों द्वारा जिस जगत् की रचना की जायेगी (चाहे वह वर्ग भौतिक विशेषों का हो अथवा अभौतिक विशेषों का) उस जगत् के विशेषों का पुनरभिज्ञान असम्भव सा लगता है।

***

शब्दावली

तात्त्विक मौलिकता	-	Ontological Priority
मौलिक विशेष	-	Primary or Basic Particular
व्युत्पादित विशेष	-	Derivative or Secondary Particulars
अभिज्ञान	-	Identification
पुनरभिज्ञान	-	Reidentification
प्रत्यय	-	Concept
लक्षणात्मक तादात्म्य	-	Qualitative Identity
सांख्यात्मक तादात्म्य	-	Numerical Identity
निद्रा-गमन	-	Sleep-Walking
केन्द्र-बिन्दु	-	Point of Reference
दृष्टि-क्षेत्र	-	Visual Field

संदर्भ सूची

१. *इंडिविडुअल्स, प्रथम अध्याय।*

२. *वहीं, पृष्ठ ७२-७३।*

३. *वहीं, पृष्ठ -३५।*

दार्शनिक विश्लेषण तथा नीतिमीमांसा

नैतिक, धार्मिक तथा सौन्दर्य-ज्ञान अथवा अनुभव सम्बन्धी वाक्यों को, जिन्हें मूल्यात्मक वाक्य (Value Sentences) कहा जाता है, साधारणतया अन्य प्रकार के वाक्यों से भिन्न माने जाते हैं। परन्तु कुछ समकालीन नीति मीमांसकों ने अपने विश्लेषण द्वारा इस भेद को और भी सुदृढ़ बना दिया है। इस विश्लेषण के अनुसार, यदि तर्कवाक्य (Proposition) की परिभाषा तथ्यात्मक (Factual) होने से दी जाय तब कोई भी मूल्यात्मक वाक्य तर्कवाक्य कहलाने की योग्यता नहीं रखता। मूल्यात्मक वाक्य केवल निर्देश (Commands), निर्णय (Decision) तथा भावुकता व्यक्त करने के लिये प्रयुक्त होते हैं। नीतिमीमांसा से संबंधित इस प्रकार के विश्लेषण का निरूपण कुछ दार्शनिकों ने 'तर्कवाक्य रहित नीतिमीमांसा' (Ethics without Propositions) कहकर दिया है। परन्तु यह विश्लेषण धार्मिक तथा सौंदर्यानुभव सम्बन्धी वाक्यों पर भी लागू होता है। इन वाक्यों को उसी आधार पर तथ्यात्मक कहने से इनकार किया जा सकता है जिस आधार पर कि नैतिक अनुभवीय वाक्यों को किया जाता है। तर्कात्मक भाववादियों द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण, जिसे भावनात्मक विश्लेषण (Emotive Analysis) कहा जाता है, इसी तर्कवाक्य रहित नीतिमीमांसा की प्रस्तावना करता है। प्रस्तुत लेख में हम भावनात्मक विश्लेषण के विरोध में टूलमिन (Tolumin) तथा बायर (Baier) द्वारा उठाई गई कुछ आपत्तियों पर प्रकाश डालेंगे। इन आपत्तियों पर प्रकाश डालने से तर्कात्मक भाववादियों के नीतिमीमांसा सम्बन्धी विचारों का स्पष्टीकरण होगा।

इससे पूर्व कि हम इन आपत्तियों पर प्रकाश डालें, 'भावनात्मक विश्लेषण' के सम्बन्ध में कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक है। यह शब्द एक पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होता है, जिस प्रयोग पर आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं। उदाहरण के लिये, कुछ तर्कात्मक भाववादी, जैसे कि कार्नप, नैतिक अनुभवीय वाक्यों को केवल छिपे हुए निर्देश मानते हैं। परन्तु निर्देश उसी भाँति अभावुक हो सकते हैं जिस भाँति कि कोई तथ्यात्मक तर्कवाक्य। जब यह निर्देश दिया जाता है-तुम्हें अमुक कार्य करना है, उस समय उसी भाँति अभावुक भाषा का प्रयोग किया जाता है जिस भाँति कि यह कहने में किया जाता है 'अमुक वस्तु रक्त वर्ण है। इसी प्रकार निर्णय के प्रयोग के सम्बन्ध में भी। फिर नैतिक अनुभवीय वाक्यों को निर्देशात्मक अथवा निर्णयात्मक कहना यह अर्थ कहाँ रखता है कि वे भावनात्मक हैं, परन्तु यह आपत्ति लागू नहीं होती। क्योंकि कोई भी भाववादी नैतिक अनुभवीय वाक्यों को विशुद्ध निर्देश अथवा निर्णय नहीं मानता। यदि वे ऐसे विशुद्ध निर्देश अथवा निर्णय होते तब वे नैतिक अनुभवीय वाक्य ही न होते और उनके पृथक् वर्गीकरण की समस्या ही न उठती। जब कोई यह कहता है 'अमुक कार्य बुरा है' तब उसके कहने का केवल यही प्रयोजन नहीं होता 'अमुक कार्य मत करो' प्रत्युत इस निर्देश के साथ ही साथ कहने वाला अपनी नैतिक भावना भी व्यक्त करता है, जिस भावना में उक्त कार्य के प्रति घृणा तथा द्वेष की धारणा विद्यमान रहती है। नैतिक अनुभवीय वाक्य ऐसे निर्देश तथा निर्णय व्यक्त करते हैं जिनमें भावुकता का अर्थ अनिवार्य रूप से विद्यमान रहता है। वास्तव में यही अर्थ उन्हें अन्य साधारण

निर्देशात्मक तथा निर्णयात्मक वाक्यों से भिन्न श्रेणी में रखता है। यहाँ 'भावुकता' से अर्थ है 'नैतिक भावुकता' का जो कि साधारण भावुकता से भिन्न स्वभाव रखती है। नैतिक भावुकता साधारण भावुकता से ही उत्पन्न होती है परन्तु अपना वास्तविक नैतिक स्तर प्राप्त करते करते यह बहुत जटिल हो जाती है तथा साधारण भावुकता से भिन्न स्वरूप बना लेती है। जिस वाक्य द्वारा हम नैतिक निर्देश व्यक्त करते हैं वह नैतिक नहीं कहला सकता, यदि उसके द्वारा हम नैतिकता की भावना व्यक्त नहीं करते।

तर्कात्मक भाववादियों द्वारा इस बात से इनकार करना कि नैतिक अनुभवीय वाक्य तथ्यात्मक हैं, आजकल दार्शनिक क्षेत्रों में बहुत ही वाद-विवाद का विषय है। परन्तु ऐतिहासिक तथा प्रचलित दृष्टिकोण को रखते हुये भी इन दार्शनिकों ने कोई नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं किया है। नैतिक अनुभवीय वाक्यों को नियमात्मक वाक्य (Normative Sentences) साधारणतया सभी नीतिमीमांसक मानते रहे हैं। परन्तु उन्हें नियमात्मक वाक्य कहना यही अर्थ रखता है कि वे तथ्यात्मक वाक्यों से भिन्न स्वभाव के हैं, क्योंकि तथ्यात्मक वाक्य वर्णनात्मक होते हैं। किसी वाक्य को वर्णनात्मक (Descriptive) कहना इस बात से इनकार करना है कि वह वाक्य नियमात्मक है। अत: तर्कात्मक भाववादी जब इस बात से इनकार करते हैं कि नैतिक अनुभवीय वाक्य तथ्यात्मक अथवा वर्णनात्मक हैं तब वे कोई नवीन प्रस्तावना नहीं रखते, क्योंकि इन वाक्यों को नियमात्मक कहना भी इस बात से इनकार करना है कि वे वाक्य वर्णनात्मक अथवा तथ्यात्मक हैं। भावनात्मक विश्लेषण के विरोधी, जैसा कि हम आगें देखेंगे, यह समझ कर इस विचार की आलोचना करते हैं मानो इतिहास में प्रथम बार इस बात से इन्कार किया गया हो कि नैतिक अनुभवीय वाक्य तथ्यात्मक अथवा वर्णनात्मक हैं।

टूलमिन तथा बायर ने अपने एक संयुक्त लेख में शब्दों के साधारण प्रयोग (Ordinary use of words) को आधार बना कर भावनात्मक विश्लेषण पर आपत्तियाँ उठाई हैं। जैसा कि हम ऊपर बतला आये हैं, तर्कात्मक भाववादी भावनात्मक विश्लेषण द्वारा यह प्रस्तावना रखते हैं कि नैतिक अनुभवीय वाक्य तथ्यात्मक तथा वर्णनात्मक नहीं होते। उदाहरण के लिये जब हम किसी कार्य के सम्बन्ध में यह कहते हैं कि 'यह कार्य बुरा है' तब हम उस कार्य का वर्णन नहीं करते जिस प्रकार कि 'यह वस्तु रक्त वर्ण है' कह कर हम एक वस्तु का वर्णन करते हैं। 'यह कार्य बुरा है' कह कर प्रथम तो उस कार्य के प्रति घृणा व्यक्त करते हैं तथा द्वितीय यह चाहते हैं कि सुनने वाला भी उस कार्य से घृणा करने लगे तथा उसे करने का विचार मन में न लाये। 'यह कार्य बुरा है' केवल व्याकरण की दृष्टि से ही 'यह वस्तु रक्त वर्ण है' से मिलता जुलता है तार्किक दृष्टि से (logically) नहीं। प्रथम वाक्य, दूसरी शब्दावली में, नियमात्मकरूप से प्रयुक्त होता है। जिसका अर्थ होता है 'बतलाया हुआ कार्य नहीं करना चाहिये' जिस प्रकार का अर्थ द्वितीय वाक्य में निहित नहीं है। अत: इन वाक्यों में कोई भी तार्किक समानता नहीं है। स्पष्ट है कि यदि शब्दों तथा वाक्यों के सम्बन्ध में उपरोक्त विचार सत्य है तब साधारण भाषा में प्रचलित शब्दों तथा वाक्यों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है, एक वर्ग उन शब्दों तथा वाक्यों का है जो कि वर्णनात्मक रूप से प्रयुक्त होते हैं तथा द्वितीय वर्ग उनका जो अवर्णनात्मक रूप से। तथ्यात्मक शब्द तथा वाक्य वर्णनात्मक (Descriptive) हैं और मूल्यात्मक शब्द तथा वाक्य अवर्णनात्मक (Non-descriptive)। टूलमिन तथा बायर ने अपने संयुक्त लेख में इन्हीं 'वर्णन' तथा 'वर्णनात्मक' शब्दों के प्रयोग पर आक्षेप किया है। इन लेखकों का कथन है '''वर्णन' एक ऐसा शब्द नहीं है जो कि 'तथ्यात्मक कथन' की बराबरी का हो।''[1] इन लेखकों के कहने का अभिप्राय है कि 'वर्णन' शब्द का 'तथ्यात्मक कथन' के साथ प्रयोग करना इस शब्द को पारिभाषिक अर्थ (Technical meaning or use) देना है, क्योंकि साधारण भाषा (Ordinary language) में यह शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता। 'वर्णन' के इस पारिभाषिक प्रयोग

ने शब्दों तथा वाक्यों को दो बड़े विभागों में बाँट दिया है, जो विभाजन आपत्तिजनक है। इस विभाजन के विरोध स्वरूप इन लेखकों का विचार है कि जब हम किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा घटना का वर्णन करते हैं तब हमारे सम्मुख शब्दों अथवा वाक्यों का कोई विशेष वर्ग नहीं रहता कि हम उसी वर्ग के शब्दों अथवा वाक्यों द्वारा वर्णन करें। जैसा कि स्पष्ट रूप से इनका कथन "शब्दों की कोई भी ऐसी सूची नहीं होती जो शब्द केवल वर्णनों में प्रयुक्त होते हैं अथवा जो कि उनमें प्रयुक्त नहीं हो सकते।"[३] अत: हमारा यह विभाजन, जो शब्दों को वर्णनात्मक तथा अवर्णनात्मक विभागों में बाँटता है, साधारण भाषा के आधार पर गलत है। प्रत्युत हमें इस विभाजन की जंजीर तोड़नी पड़ेगी क्योंकि यदि हम किसी वस्तु का पूर्णरूपेण वर्णन करना चाहते हैं तब इस विभाजन को कायम नहीं रखा जा सकता। 'वर्णन' शब्द का 'तथ्यात्मक कथन' के साथ प्रयोग करना यही अर्थ रखता है कि हमारे सभी वास्तविक वर्णन केवल तथ्यात्मक चित्रण होते हैं। परन्तु वास्तविकता के आधार पर 'वर्णन' शब्द का यह प्रयोग गलत सिद्ध होता है, क्योंकि हमारे सभी वास्तविक वर्णन केवल तथ्यात्मक चित्रण ही नहीं होते, कुछ वर्णन, जैसे कि भावनात्मक अथवा काव्य वर्णन ऐसे होते हैं जो कि केवल तथ्यात्मक चित्रण ही नहीं हैं। जैसा कि टूलमिन तथा बायर का कथन है "सभी वर्णन केवल तथ्यात्मक तथा असुन्दर नहीं होते उसी भाँति जिस भाँति कि सभी चित्र केवल छाया चित्र ही नहीं होते।"[४] दूसरी भाषा में इन लेखकों के कहने का अभिप्राय है कि वास्तविक वर्णनों में उन शब्दों तथा वाक्यों का प्रयोग होता है जिन्हें पारिभाषिक अर्थ में अवर्णानात्मक कहा जाता है। मूल्यात्मक शब्द तथा वाक्य ऐसे ही हैं। यहाँ प्रश्न उठता है, यदि मूल्यात्मक शब्दों तथा वाक्यों का वास्तविक वर्णनों में प्रयोग होता है तब फिर इन्हें अवर्णानात्मक वाक्य कहा जा सकता है ? अपने लेख में टूलमिन तथा बायर ने यही प्रश्न उठाया है कि वर्णन शब्द का पारिभाषिक प्रयोग सत्य कैसे हो सकता है जबकि तथाकथित अवर्णानात्मक शब्द तथा वाक्य वास्तविक रूप से वर्णनों में प्रयुक्त होते हैं। कोई शब्द अथवा वाक्य वर्णनात्मक है यदि उसका प्रयोग किसी वास्तविक वर्णन में होता है।

इन लेखकों ने हमारे सम्मुख जो आपत्तियाँ उठाई हैं वे कोई विशेष महत्त्व नहीं रखतीं। इनका यह कथन है कि 'वर्णन' एक ऐसा शब्द नहीं है कि तथ्यात्मक कथन की बराबरी का हो, साधारण भाषा के आधार पर ही गलत है। उदाहरण के लिये जब हम 'यह वस्तु रक्त वर्ण है' कहते हैं तब इस बात में कोई संशय नहीं किया जा सकता कि हम एक तथ्यात्मक कथन का प्रयोग कर रहे हैं, क्योंकि यह वाक्य एक तथ्य का चित्रण कर रहा है। परन्तु क्या हम इस वाक्य का वर्णनात्मक रूप से भी प्रयोग कर रहे हैं ? क्या यह वाक्य वर्णनात्मक कहा जा सकता है ? ये प्रश्न तभी हल हो सकते हैं जबकि हम 'वर्णनात्मक' शब्द का अर्थ जान सकें। साधारण भाषा में, किसी वाक्य को वर्णनात्मक तभी कहा जाता है जबकि उसके द्वारा किसी वस्तु अथवा घटना का वर्णन दिया गया हो। वर्णन के आधार पर जिस वस्तु का वर्णन दिया गया है उसके सम्बन्ध में हम पहले से जानते हैं, यदि और किसी व्यक्ति द्वारा दिया हुआ वर्णन उपयुक्त नहीं पाते तब हम कहते हैं कि उक्त वर्णन गलत है। अत: कोई वर्णन उसी भाँति गलत-सही होता है जिस भाँति कि कोई तथ्यात्मक तर्कवाक्य। इससे यह सिद्ध होता है कि वर्णन तथा साधारण प्रयोग 'तथ्यात्मक कथन' की बराबरी का ही है। जब हम 'यह वस्तु रक्त वर्ण है' कह कर किसी तथ्य का चित्रण देते हैं तब हम साथ ही साथ 'यह' द्वारा उपलक्षित वस्तु का वर्णन भी कर रहे हैं। अत: उक्त वाक्य किसी तथ्य के सम्बन्ध में केवल स्वीकृति (affirmation) ही नहीं है प्रत्युत वह एक वस्तु का वर्णन भी कर रहा है, जिस वर्णन से उस वस्तु के सम्बन्ध में हमारी जानकारी बढ़ती है। स्पष्ट है कि जब टूलमिन तथा बायर 'वर्णन' के प्रयोग को 'तथ्यात्मक कथन' की बराबरी का नहीं मानते तब वे स्वयं भी इस शब्द को पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग कर रहे हैं तथा साधारण भाषा की प्रयोग-स्थितियों का उल्लंघन कर रहे हैं। जब ये लेखक

'वर्णन' की प्रयोग-स्थितियों की बात करते हैं तब ये साधारण भाषा में विद्यमान प्रयोग स्थितियों की बात नहीं करते। इन लेखकों को हमारे बतलाये प्रयोग पर यह आपत्ति हो सकती हैं कि किसी वाक्य को वर्णनात्मक तभी कहा जा सकता है जबकि वह वाक्य किसी वास्तविक वर्णन में प्रयुक्त हुआ हो, और एक मात्र वाक्य का प्रयोग करना वास्तविक वर्णन देना नहीं है। यह आपत्ति इन धारणाओं पर आधारित है- प्रथम, किसी भी वास्तविक वर्णन में बहुत से वाक्य प्रयुक्त होते हैं। उदाहरण के लिये, यदि हम श्याम का वर्णन दें तब कहेंगे - 'श्याम की नाक लम्बी है, आँखें भूरी हैं तथा बाल काले हैं।' केवल इतना कह देने मात्र से कि 'श्याम की नाक लम्बी है' श्याम का वर्णन नहीं हो पाता। इसी धारणा से द्वितीय धारणा उत्पन्न होती है कि (२) कोई वाक्य वर्णनात्मक तभी कहा जा सकता है जबकि वह किसी वास्तविक वर्णन में प्रयुक्त हुआ हो। 'वास्तविक वर्णन में प्रयुक्त होने' का अर्थ है कि वह वाक्य कुछ अन्य वाक्यों के साथ प्रयुक्त हुआ हो जो वाक्य मिलकर किसी वर्णन को व्यक्त करते हों। अत: केवल यह कहना कि 'श्याम की नाक लम्बी है' किसी वर्णनात्मक वाक्य का प्रयोग करना नहीं है, क्योंकि यहाँ वे अन्य वाक्य प्रयुक्त नहीं हुए जिन्हें मिलाकर श्याम का वर्णन दिया जाता है। इन्हीं उपरोक्त धारणाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि हमारा केवल यह कहना 'यह वस्तु रक्त वर्ण है' एक तथ्यात्मक वाक्य का तो प्रयोग करना है परन्तु वर्णनात्मक वाक्य का नहीं, क्योंकि इस वाक्य द्वारा कोई भी वास्तविक वर्णन नहीं दिया गया, क्योंकि यदि ऐसा वर्णन दिया गया होता तब कुछ अन्य वाक्य भी प्रयुक्त होते। अत: यह सिद्ध होता है कि एक वाक्य तथ्यात्मक होकर भी वर्णनात्मक नहीं है। परन्तु उपरोक्त दोनों धारणायें गलत हैं और इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि किसी एक मात्र वाक्य के प्रयोग द्वारा भी वास्तविक वर्णन व्यक्त किया जा सकता है तथा उसके प्रयोग को वर्णनात्मक प्रयोग कहा जा सकता है। यह सत्य है कि केवल यह कहना 'श्याम की नाक लम्बी है' श्याम का पूर्ण वर्णन देना नहीं है, श्याम का पूर्ण वर्णन देने के लिये कुछ अन्य वाक्यों का प्रयोग आवश्यक है। परन्तु क्या यह भी सत्य नहीं है कि इस एक मात्र वाक्य द्वारा श्याम की नाक का वर्णन पूर्ण हो जाता है ? यदि हम केवल श्याम की नाक का ही वर्णन देना चाहते हों, श्याम का नहीं, तब केवल यह कहना कि श्याम की नाक लम्बी है, काफी है। और यदि हम इस वाक्य द्वारा वर्णन दे रहे हैं तब यह वर्णनात्मक है, इस में कोई सन्देह नहीं रह जाता। कुछ वर्णनों में एक से अधिक वाक्य प्रयुक्त होते हैं परन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि ऐसा कोई भी वर्णन नहीं जो कि एक ही वाक्य द्वारा पूर्ण हो जाय। 'श्याम की नाक लम्बी है' कहकर न केवल हम वर्णन दे रहे हैं तथा वर्णनात्मक वाक्य का प्रयोग कर रहे हैं प्रत्युत यह वाक्य इस धारणा का भी खंडन करता है कि किसी वाक्य को वर्णनात्मक तभी कहा जा सकता है जबकि उसके साथ कुछ अन्य वाक्य प्रयुक्त हुये हों, क्योंकि यहाँ अन्य वाक्यों के प्रयोग की आवश्यकता ही नहीं है। यदि यह मान भी लिया जाय कि केवल यह कहना 'श्याम की नाक लम्बी है' पूर्ण वर्णन देना नहीं है तो भी इससे सिद्ध नहीं होता कि उक्त वाक्य वर्णनात्मक नहीं है। किसी वाक्य को वर्णनात्मक दो अवस्थाओं में कहा जा सकता है, यदि वह पूर्ण वर्णन देता है तब भी, और यदि वह अपूर्ण वर्णन देता है तब भी। ''अपूर्ण वर्णन'', का प्रयोग 'पूर्ण वर्णन' का विरोधी नहीं है; अपूर्ण वर्णन भी वर्णन ही है, कोई अन्य कार्य करना नहीं। अत: यदि कोई वाक्य अपूर्ण वर्णन देता है तब भी वह वाक्य वर्णनात्मक ही कहा जाएगा।

टूलमिन तथा बायर द्वारा ऐसे वर्णनों का उदाहरण देना जो वर्णन केवल तथ्यात्मक चित्रण ही नहीं होते, जैसे कि भावनात्मक अथवा काव्यात्मक वर्णन, भावनात्मक विश्लेषण की तथ्यपरकता का खंडन नहीं करता, क्योंकि ये लेखक इस बात से इनकार नहीं करते कि कुछ वर्णन विशुद्ध तथ्यात्मक चित्रण होते हैं, जिनमें भावुकता का कोई भी अंश विद्यमान नहीं होता। यहाँ प्रश्न उठता है कि जो वर्णन केवल तथ्यात्मक चित्रण ही नहीं होते क्या उनके सम्बन्ध में केवल 'वर्णन' शब्द का प्रयोग उपयुक्त

होगा ? हमारी समझ में, जो वर्णन केवल तथ्यात्मक ही नहीं होते वे वर्णनात्मक स्वभाव के साथ ही साथ कुछ अन्य प्रकार का स्वभाव भी रखते हैं। जब हम भाषा के किसी वाक्यसमूह को वर्णन कहकर पुकारते हैं तब इस बात से इनकार नहीं करते कि उस वाक्य समूह में कुछ और भी गुण विद्यमान हैं। उदाहरण के लिये यदि हम किसी जीवधारी को चिंतनशील कहते हैं तब इस बात से इनकार नहीं करते कि उस जीवधारी में कुछ अन्य प्रकार का स्वभाव भी हैं। जिस प्रकार कि एक जीवधारी चिंतनशीलता के साथ ही साथ कुछ अन्य प्रकार का स्वभाव भी रख सकता है उसी प्रकार एक वाक्यसमूह वर्णनात्मक होने के साथ ही साथ कुछ अन्य प्रकार का स्वभाव भी रख सकता है। स्पष्ट है कि यदि किसी वाक्यसमूह को वर्णनात्मक कहा जाय तब इसका अर्थ यह नहीं हो जाता कि उसमें प्रयुक्त सभी शब्द तथा वाक्य वर्णनात्मक हैं जिस प्रकार कि किसी जीवधारी को चिंतनशील कह देने का अर्थ यह नहीं हो जाता कि उसमें विद्यमान सभी प्रकार की वासनायें उसकी चिंतनशीलता की परिभाषा के अन्दर आ जाती हैं। अत: किसी वास्तविक वर्णन के आधार पर 'वर्णनात्मक' शब्द की प्रयोगस्थितियाँ (Conditions of use) निर्धारित करना कठिन है क्योंकि हम जिस वाक्यसमूह को वर्णन कह कर पुकारते हैं, हो सकता है कि वह वाक्यसमूह अन्य प्रकार का गुण भी रखता हो। और यदि उसमें कुछ अन्य प्रकार का गुण विद्यमान है तब उसमें प्रयुक्त सभी शब्दों तथा वाक्यों को वर्णनात्मक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कुछ शब्द तथा वाक्य इस हेतु भी प्रयुक्त हो सकते हैं जो कि उस वर्णनात्मक वाक्यसमूह का अन्य गुण व्यक्त करें। टूलमिन तथा बायर ने भावनात्मक शब्दों को वर्णनात्मक इसी आधार पर सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वे शब्द वास्तविक वर्णनों में प्रयुक्त होते हैं। परन्तु कोई शब्द वास्तविक वर्णन में प्रयुक्त होकर भी अवर्णनात्मक रह सकता है, क्योंकि कोई वास्तविक वर्णन केवल वर्णन ही न होकर कुछ अन्य प्रकार का स्वभाव भी रख सकता है। उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि इन लेखकों ने जिन युक्तियों के आधार पर 'वर्णनात्मक' शब्दों तथा वाक्यों के भेद को मिटाने की चेष्टा की है, वे युक्तियाँ बहुत ही निर्बल हैं और इस भेद को नहीं मिटा पाती।

बायर का अपने एक स्वतन्त्र लेख में कथन है ''यह मानना बड़ा विचित्र (Paradoxical) दिखाई देता है कि नैतिक शब्द वर्णनात्मक नहीं होते, अथवा नैतिक उक्तियाँ वर्णन नहीं हैं''। परन्तु इस प्रकार के विचार में कोई भी विचित्रता नहीं है। नैतिक शब्द नैतिक अर्थ में वर्णनात्मक नहीं होते, वे किसी अन्य अर्थ में वर्णनात्मक होते हों, इस बात से इनकार नहीं किया जाता। नैतिक शब्द निर्देशात्मक, निर्णयात्मक अथवा नियामक रूप से प्रयुक्त होते हैं। एक शब्द जब निर्देशात्मक, निर्णयात्मक अथवा नियमात्मक रूप से प्रयुक्त होता है तब वह उसी रूप में वर्णनात्मक रूप से प्रयुक्त नहीं होता। तर्कात्मक भाववादी इस बात से इनकार नहीं करते, जैसे कि बायर समझते हैं, कि जो शब्द निर्देशात्मक, निर्णयात्मक अथवा नियमात्मक रूप से प्रयुक्त होता है वही शब्द कुछ अन्य स्थितियों में वर्णनात्मक रूप से प्रयुक्त हो सकता है। बायर को तर्कात्मक भाववादी विचारधारा विचित्र मालूम होती है क्योंकि वे समझते हैं कि जब तर्कात्मक भाववादी यह कहते हैं कि नैतिक शब्द अवर्णानात्मक हैं तब वे शब्दों के प्रयोग के संबंध में बात न करके सीधे उन शब्दों के सम्बन्ध में ही बात करते हैं। उदाहरण के लिये जब यह कहा जाता है 'अच्छा', 'बुरा' अथवा 'पुष्ट' आदि शब्द वर्णनात्मक नहीं होते, तब बायर यह अर्थ लगाते हैं कि किसी भी स्थिति में इन शब्दों का प्रयोग वर्णनात्मक रूप से नहीं हो सकता। परन्तु यह निष्कर्ष वास्तविकता के आधार पर गलत सिद्ध होता है, क्योंकि वास्तविकता में ये शब्द दोनों प्रकार, वर्णनात्मक तथा अवर्णनात्मक, रूप से प्रयुक्त होते हैं। परन्तु बायर भूल जाता है कि जब तर्कात्मक भाववादी नैतिक शब्दों को अवर्णनात्मक कहते हैं तब उनका तात्पर्य उन शब्दों के प्रयोग से भी रहता है, सीधे उन शब्दों से नहीं। किसी शब्द को वर्णनात्मक मानने से इनकार करना यही अर्थ रखता है कि यदि उसका प्रयोग

वर्णनात्मक रूप से हुआ तब वह नैतिक शब्द कहलाने की योग्यता नहीं रखता। उदाहरण के लिये, जब 'अच्छा' शब्द का प्रयोग किसी वस्तु का वर्णन करता है, तब यह शब्द नैतिक नहीं कहला सकता, क्योंकि इस प्रकार प्रयोग नियमात्मक अथवा निर्देशात्मक नहीं होता जो गुण कि नैतिक प्रयोग में अनिवार्य रूप से विद्यमान होना चाहिये। अत: बायर के केवल इतना दिखलाने से कि 'अच्छा' शब्द का प्रयोग वर्णनात्मक रूप से संभव है काम नहीं चलेगा, क्योंकि उन्हें यह भी दिखलाना है कि जब इस शब्द का प्रयोग वर्णनात्मक रूप से होता है तब यह नैतिक शब्द कहलाने की योग्यता रखता है। एक शब्द का वर्णनात्मक रूप से प्रयुक्त होना तथा उसका अवर्णानात्मक रूप से प्रयुक्त होना, इन दोनों प्रयोगों में भेद है। किसी शब्द को नैतिक तभी कहा जा सकता है जबकि उसका प्रयोग अवर्णानात्मक रूप से हुआ हो। उदाहरण के लिये, जब कोई व्यक्ति कहता है 'अमुक कार्य खराब है' और इस वाक्य का अर्थ है 'अमुक कार्य नहीं करना चाहिये' तब वह व्यक्ति 'बुरा' शब्द का शुद्ध नैतिक अर्थ में प्रयोग करता है, क्योंकि यहाँ यह शब्द नियमात्मक रूप से प्रयुक्त हुआ है। किसी व्यक्ति को निर्देश देना, उपदेश देना अथवा यह बतलाना कि वह अमुक कार्य न करे, उस कार्य का वर्णन करना नहीं है। ये दो तार्किक रूप से भिन्न प्रयोग हैं। जबकि कोई तथाकथित नैतिक शब्द वर्णनात्मक रूप से प्रयुक्त होता है तब उसके प्रयोग में कोई भी नैतिकता नहीं होती और उसे नैतिक शब्द कहना अंतर्विरोधी धारणा व्यक्त करना है।

बायर तर्कात्मक भाववादियों द्वारा प्रस्तुत सिद्धांत को काल्पलिक आधारों पर दोषी ठहराते हैं। उनका कथन है "स्पष्ट है कि वह सिद्धान्त दोषपूर्ण (Perverse) है जो यह स्वीकार नहीं करता कि, ऐसे वाक्य जैसे, 'उसकी साधु प्रकृति है' अथवा 'वह चोर है' किसी मनुष्य का उपयुक्त वर्णन करते हैं।"[६] परन्तु तर्कात्मक भाववादियों का सिद्धान्त दोषपूर्ण नहीं है, क्योंकि यह सिद्धान्त इस प्रकार के वर्णनात्मक वाक्यों के प्रयोग की मनाही नहीं करता। भावनात्मक विश्लेषण, जैसा कि हम देख चुके हैं, इस बात से इनकार नहीं करता कि 'साधु' अथवा 'चोर' का प्रयोग वर्णनात्मक रूप से हो सकता है। किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में यह कहना कि यह साधु है अथवा चोर है, ऐसा ही कहना है जैसा कि किसी विद्यार्थी को तेज अथवा सुस्त कहना है। परन्तु एक तर्कात्मक भाववादी केवल वह मानेगा कि यदि 'चोर' अथवा 'साधु' किसी व्यक्ति की आदतों का वर्णन करते हैं तब वे आनुभविक शब्द (Empirical Terms) हैं तथा नैतिक शब्द कहलाने की योग्यता नहीं रखते। जिन वाक्यों में इन शब्दों का वर्णनात्मक रूप से प्रयोग होगा वे वाक्य नैतिक नियम, उपदेश अथवा निर्देश व्यक्त नहीं करते प्रत्युत वे वाक्य तथ्यात्मक तर्क-वाक्य हैं।

बायर का यह कथन भी एक काल्पनिक शत्रु के विरुद्ध है जबकि वे कहते हैं "क्या यह स्पष्ट रूप से असत्य नहीं है कि हम किसी भी विभिन्न प्रकार के नैतिक कथनों के प्रयोग द्वारा कभी भी वस्तुओं का वर्णन नहीं करते ? यह ठीक है कि जब हम किसी वस्तु के सम्बन्ध में नैतिक निर्णय (Ethical judgement) देते हैं तब हम उस वस्तु का वर्णन नहीं करते। स्पष्ट रूप से भाषा के ये दो भिन्न प्रयोग हैं। और एक प्रयोग को व्यक्त करते समय हम दूसरे प्रयोग को व्यक्त नहीं करते। परन्तु इस स्वीकृति से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि हम उन्हीं शब्दों तथा वाक्यों को प्रयुक्त नहीं कर सकते"[७]। परन्तु बायर की आपत्ति निराधार है क्योंकि तर्कात्मक भाववादी स्वयं ही इस बात को गलत समझता है कि जिन शब्दों तथा वाक्यों द्वारा नैतिक निर्णय व्यक्त किये जाते हैं उन्हीं शब्दों तथा वाक्यों को भिन्न स्थितियों में वर्णनात्मक रूप से प्रयुक्त न किया जाय। परन्तु यह स्वीकार करना यह सिद्ध कहाँ करता है कि यह कहना गलत है कि 'नैतिक शब्द अवर्णानात्मक हैं ? केवल यह दिखलाना कि कुछ शब्द, जो कि नैतिक निर्णयों में प्रयुक्त होते हैं, कुछ अन्य प्रकार के वाक्यों में भी प्रयुक्त हो सकते हैं, यह सिद्ध नहीं कर सकता कि जब वे शब्द अन्य वाक्यों में प्रयुक्त होते हैं तब वे नैतिक शब्द ही हैं। एक तर्कात्मक भाववादी सैद्धांतिक

आधार पर यह कहता है कि 'नैतिक शब्द अवर्णनात्मक है' और उसके सिद्धान्त के विरोध में यह कोई आपत्ति उठाना नहीं हुआ कि यह दिखला दिया जाय कि जो शब्द नैतिक निर्णयों में प्रयुक्त होते हैं वही शब्द वर्णनात्मक रूप से भी प्रयुक्त हो सकते हैं, क्योंकि वह इस बात से इनकार कर देगा कि वे शब्द नैतिक हैं। बायर को अपने विचार की सत्यता सिद्ध करने के लिये प्रथम यह सिद्ध करना होगा कि किसी शब्द का वर्णनात्मक होना ही उसका सही नैतिक उपयोग है। बायर अपने कथन द्वारा स्वयं ही तर्कात्मक भाववादी विचारधारा का समर्थन करते हैं जबकि वे कहते हैं कि किसी नैतिक निर्णय का प्रयोग करना वही अर्थ नहीं रखता जो कि किसी वस्तु का वर्णन करना रखता है।

एयर इस विचार का समर्थन करते हैं कि यदि कोई शब्द, जैसे 'गलत', वर्णनात्मक तथा अवर्णनात्मक दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है तब वह शब्द केवल अवर्णनात्मक रूप से प्रयुक्त होने पर नैतिक शब्द कहला सकता है। इस सम्बन्ध में एयर की युक्ति है ''इन नैतिक शब्दों को वर्णनात्मक अर्थ भी दिया जा सकता है, परन्तु ये वर्णनात्मक अर्थ रखने से नैतिक नहीं हैं। यदि, उदाहरण के लिये, 'गलत' शब्द का अर्थ किया जाय 'जो सुख उत्पादन में सहायक न हो' तब नियमात्मक अर्थ व्यक्त करने के लिये किसी दूसरे शब्द की आवश्यकता होगी कि इस प्रकार के व्यवहार से बचना चाहिये।'' एयर के कथन से स्पष्ट हो जाता है कि यदि एक नैतिक शब्द वर्णनात्मक रूप से प्रयुक्त हुआ है तब वह अनुभवीय प्रत्यय (Empirical Concept) व्यक्त करता है और इसीलिये वह नैतिक अर्थ व्यक्त नहीं करता, क्योंकि नैतिक नियमात्मक अर्थ का ही दूसरा नाम है जो कि वर्णनात्मक अर्थ से भिन्न है।

उपरोक्त विश्लेषण द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि टूलमिन तथा बायर की युक्तियाँ तर्कात्मक भाववादियों द्वारा प्रस्तुत ज्ञानमीमांसा सम्बन्धी दार्शनिक विश्लेषण का खंडन नहीं करतीं। नैतिक अनुभवीय वाक्य तथ्यात्मक तर्कवाक्यों से तार्किक रूप से भिन्न हैं और इस भिन्नता को मिटाने की चेष्टा निष्फल है।

***

संदर्भ सूची

१. *'On Describing', S.E. Toulmin and K. Baier. Mind 1952.*
२. *Op. Cit. P. 17.*
३. *Op. Cit. P. 26.*
४. *Op. Cit. P. 26.*
५. *'Decisions & Descriptions'. K. Baier p.p. 203-4, Mind 1951.*
६. *Op. Cit. P. 204.*
७. *Op. Cit. P. 204.*

क्या अन्यों के अनुभव ज्ञेय हैं ?

किसी साधारण व्यक्ति के लिये, जिसकी बुद्धि केवल व्यावहारिक जगत् तक सीमित है, अन्य मनों के ज्ञान की कोई समस्या नहीं उठती। कोई भी व्यक्ति व्यावहारिक रूप से इस बात में संशय प्रगट नहीं करता कि उसे न केवल अपने व्यक्तिगत संवेदों का ही प्रत्युत अन्य व्यक्तियों के संवेदों का भी ज्ञान है। उसके लिए 'राम के सर में पीड़ा है' उतना ही संशयरहित वाक्य है जितना कि 'मेरे सर में पीड़ा है'। किन्तु एक दार्शनिक को यह उलझनपूर्ण समस्या दिखाई देती है कि किसी व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों के संवेदों का ज्ञान हो। उसे अपने स्वयं के संवेदों पर संशय नहीं उठता परन्तु अन्य के संवेदों पर संशय उठता है। दार्शनिक की उलझन का रहस्य 'ज्ञान' शब्द के व्याकरण में छिपा है। अनेक वाक्यों में इस शब्द का प्रयोग होता है, परन्तु उन सभी वाक्यों में इसका प्रयोग एक ही अर्थ में नहीं होता। मेरी अपनी पीड़ा का ज्ञान वह अर्थ नहीं रखता जो कि अन्य व्यक्तियों की पीड़ा का ज्ञान, अथवा ब्रूटस द्वारा सीजर के मारे जाने का ज्ञान, अथवा शतरंज का खेल खेलने का ज्ञान, रखता है। ये सभी ज्ञान के विभिन्न उदाहरण हैं। यहाँ यह कहा जा सकता है कि 'ज्ञान' शब्द का अर्थ एक ही है, भेद केवल उन वाक्यों के प्रमाणीकरण (Justification) के रूप में है जिनके साथ इस शब्द का प्रयोग होता है। जिस अर्थ में 'राम के सर में पीड़ा है' वाक्य प्रमाणित है उसी अर्थ में 'मेरे सर में पीड़ा है' वाक्य प्रमाणित नहीं है। इन वाक्यों का भिन्न अर्थों में प्रमाणित होना इस बात का तो सबूत हो सकता है कि इनके साथ 'ज्ञान' का प्रयोग भिन्न अर्थों में होता हैं किन्तु यह इस बात का सबूत नहीं हो सकता कि यह एक ही अर्थ में होता है। अत: हमारे पास इस बात का तो सबूत है कि 'ज्ञान' शब्द अनेकार्थक है, इस बात का कोई भी सबूत नहीं कि यह शब्द एकार्थक है। केवल यही नहीं कि 'ज्ञान' शब्द अनेकार्थक है ; अनेक वाक्यों के साथ इस शब्द के स्थान पर अन्य शब्दों का प्रयोग भी संभव है, जैसा कि, उदाहरण के लिये, कभी-कभी सुनने वाले के लिये यह केवल शाब्दिक भेद होगा यदि यह कहने के बजाय कि 'मैं जानता हूँ कि साथ वाले कमरे में मेज है' यह कहा जाय कि 'मुझे पूर्ण विश्वास है कि साथ वाले कमरे में मेज है'। हमारी साधारण बोलचाल की भाषा में कभी-कभी 'ज्ञान' का अर्थ केवल उस मानसिक स्थिति से होता है जिसे हम 'पूर्ण विश्वास' कह कर वर्णन करते हैं। 'ज्ञान' शब्द का अनेकार्थक होना तथा उसके स्थान पर अन्य शब्दों का प्रयोग संभव होना, ये दोनों बातें एक दार्शनिक को ऐसी विचारधाराओं की ओर अग्रसर करती हैं जो विचारधारायें साधारणरूप से बड़ी विचित्र दिखाई देंगी। ये बातें दार्शनिक के मन में प्रश्न उत्पन्न कर देती हैं कि 'ज्ञान होने' के सभी उदाहरण वास्तव में ज्ञान होने के ही उदाहरण हैं ? क्या यह संभव नहीं है कि कभी-कभी जब हम यह दावा करते हैं कि हमें ज्ञान है तब वास्तव में हमारा मन ज्ञानस्थिति में नहीं है ? किन्तु यदि एक व्यक्ति ज्ञानस्थिति में है, ऐसी मानसिक स्थिति का वर्णन किन शब्दों में किया जायगा ? कभी-कभी कठिनाई उन शब्दों को प्रस्तुत करके दूर की जाती है जिनका प्रयोग 'ज्ञान' के स्थान पर संभव है। ज्ञान के स्वभाव पर प्रश्न उठाने के परिणाम स्वरूप दार्शनिक 'ज्ञान' के किसी एक विशेष अर्थ अथवा प्रयोग को आदर्श अर्थ अथवा प्रयोग मानने का निर्णय करता है। जो प्रयोग इस आदर्श पर पूरे नहीं उतरते

उन्हें ज्ञान का उदाहरण मानने से इन्कार कर दिया जाता है। जब तक दार्शनिक यह कहता है 'वस्तुओं का ज्ञान असंभव है' अथवा 'ज्ञान केवल सद्य:प्रदत्त गुणों का ही हो सकता है' उस समय वह 'ज्ञान' के एक विशेष अर्थ को आदर्श मानकर अपना विचार व्यक्त करता है। किन्तु ज्ञान के किसी आदर्श अर्थ अथवा प्रयोग को निर्णीत कहना यह अर्थ नहीं रखता कि यह केवल दार्शनिक का मनमाना व्यवहार है। दार्शनिक के निर्णय का कारण, जैसाकि हम ऊपर देख चुके हैं, हमारी साधारण भाषा ही है। हमारी प्रतिदिन की बोली जाने वाली भाषा ही दार्शनिक को अपना आदर्श निर्णय करने में सहयोग देती है।

जो दार्शनिक यह दावा करता है कि उसे केवल अपने संवेदों का ही ज्ञान हो सकता है अन्य व्यक्तियों के संवेदों का नहीं, वह 'ज्ञान' के ऐसे अर्थ को अपना आदर्श बनाता है जिस अर्थ में कि हमें अपने व्यक्तिगत संवेदों का ज्ञान होता है। अपने व्यक्तिगत संवेदों का ज्ञान हमें इस अर्थ में होता है कि हम उन संवेदों का प्रत्यक्षरूप में अनुभव करते हैं। क्योंकि एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के संवेदों का प्रत्यक्षरूप में अनुभव नहीं कर सकता, अत: दार्शनिक यह निष्कर्ष निकालता है कि अन्य व्यक्तियों के संवेदों का ज्ञान असंभव है। किन्तु यह आपत्तिजनक न होगा यदि हम 'ज्ञान' के किसी विशेष अर्थ को आदर्श मानने को तैयार न हों, क्योंकि यह आदर्श इस प्रकार के प्रश्नों का जन्मदाता है जैसे कि, 'क्या अन्य व्यक्ति केवल चलती फिरती मशीनें हैं ?' 'क्या अन्य व्यक्तियों को भी संवेदों का अनुभव होता है ?' व्यवहारिक दृष्टि से ये प्रश्न मति-हीनता के उदाहरण हैं और दार्शनिक दृष्टि से विरोधात्मक। 'अन्य व्यक्तियों' पद का प्रयोग यही अर्थ रखता है कि वे केवल मशीनें नहीं हैं और उन्हें संवेदों का अनुभव होता है। किन्तु इन प्रश्नों को हम इस भाँति प्रस्तुत कर सकते हैं कि इनमें कोई भी अंतर्विरोध न रहे। 'अन्य व्यक्तियों' के स्थान पर इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग हो सकता है जैसे कि 'वे जिनके शरीर मेरे शरीर के समान हैं'। फिर भी इन प्रश्नों का उत्तर संभव नहीं है, चाहे इनका विरोधात्मक स्वरूप दूर कर दिया जाय। यदि मुझे अन्य व्यक्तियों के संवेदों का अनुभव नहीं हो सकता तब मैं यह निर्णय भी नहीं कर सकता कि अन्य व्यक्ति केवल मशीन हैं अथवा नहीं ? यदि मैं अन्य व्यक्तियों के मनों में झांक कर नहीं देख सकता तब मेरे लिये यह निर्णय करना भी असंभव है कि अन्य मनों में संवेदों का अनुभव होता है अथवा नहीं। परन्तु ये प्रश्न चाहे कितने ही अर्थहीन क्यों न हों, जिस दार्शनिक के विचार की ये उत्पत्ति हैं उनका खंडन करना असंभव है। वह दार्शनिक अपना विचार इस रूप में प्रस्तुत करता हैं कि यदि उस विचार की मूल कल्पनाओं को सत्य मान लिया जाय तब उस विचार का खंडन नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिये, यदि अन्य मनों का ज्ञान इस बात पर आधारित है कि अन्य मनों में प्रदत्त संवेदों का अनुभव किया जा सके तब यह तार्किक रूप से असंभव है कि अन्य मनों का ज्ञान हो सके। इस विचार का खंडन तभी हो सकता है जबकि यह दिखलाया जा सके कि मैं अन्य मनों के संवेदों का उसी भाँति अनुभव कर सकता हूँ जिस भाँति स्वयं के संवेदों का अनुभव करता हूँ। ऐसा दिखलाया जाना असंभव है। कुछ दार्शनिक, जैसे विट्गिन्स्टाइन तथा एयर, अन्य मनों के संवेदों का अनुभव होने की संभाव्यता दिखलाने की चेष्टा करते हैं। परन्तु उनकी चेष्टा निष्फल है। यहाँ मैं एयर के विचारों को प्रस्तुत करूँगा जो विचार स्पष्टरूप से विट्गिन्स्टाइन के विचारों पर आधारित हैं।

इस प्रश्न का "यह कल्पना से बाहर की बात क्यों है कि ऐसे लोग हों जो कि एक-दूसरे की पीड़ा रख सकें, अथवा एक-दूसरे की वेदनाओं का अनुभव कर सकें", एयर उत्तर देते हैं कि कारण "केवल यह है कि हम ऐसे वाक्यों को कोई अर्थ नहीं दे सकते कि 'मैं तुम्हारे सर दर्द का अनुभव कर रहा हूँ', 'वह उसके पश्चात्ताप का अनुभव करती है', 'तुम्हारी क्रोधवृत्ति संख्यात्मक रूप से* वही है जो कि मेरी है'।[7]" जैसा कि इन कथनों से स्पष्ट है ऐयर "अनुभव की व्यक्तिगतता को भाषा-रूढ़ियों (Verbal Conventions) की स्वीकृति पर आधारित मानते हैं।" और भाषा-रूढ़ियाँ, उनके विचार से, मनमानी

होती हैं। हम "किसी प्रकार से भी शब्दों का प्रयोग करें, किन्तु यह पूर्णत: कल्पनीय है कि हम उन शब्दों का किसी अन्य भाँति प्रयोग कर सकते थे।" एयर के कहने का अर्थ यह है कि यदि हमने ऐसी भाषा रूढ़ियाँ स्वीकार की होती जिनमें कि हम उपरोक्त वाक्यों को अर्थ दे सकते, तब यह कल्पनीय होता कि ऐसे लोग हों जो कि एक दूसरे के संवेदों का अनुभव कर सकें। परन्तु एयर की युक्ति घोड़े के आगे गाड़ी जोड़ने के समान है। यह भाषा रूढ़ियों की स्वीकृति के कारण नहीं है कि हम ऐसे लोगों की कल्पना नहीं कर पाते जो एक-दूसरे के संवेदों का अनुभव कर सकें, वास्तविकता यह है कि हम भाषा रूढ़ियाँ इसलिये स्वीकार करते हैं क्योंकि हम ऐसे लोगों की कल्पना नहीं कर पाते जो एक दूसरे के संवेदों का अनुभव कर सकें। एयर का यह विचार बड़ा ही विचित्र है कि घटनाओं की कल्पना भाषा रूढ़ियों पर आधारित है और कि यदि हमने भिन्न भाषारूढ़ियाँ स्वीकार की होतीं तो हम भिन्न प्रकार की घटनाओं की कल्पना करने में समर्थ होते।

एयर द्वारा आगे दी हुई युक्ति भी गलत है। वे ऐसी स्थिति की कल्पना करते हैं जिसमें उनके विचार से हम प्रचलित भाषा रूढ़ियों को बदल सकने में समर्थ होंगे। इस युक्ति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह स्वयं ही एयर के उपरोक्त विचार का खंडन करती है, क्योंकि इस युक्ति का स्पष्टरूप से अर्थ है कि घटनाओं की प्रकृति घटनाओं द्वारा निर्धारित होती है। एयर स्वीकार करते हैं कि इस समय "हम ऐसे वाक्यों का प्रयोग नहीं कर पाते जो कि यह अर्थ रखते हों कि भिन्न व्यक्ति संख्यात्मक रूप से एक ही संवेद का अनुभव कर सकें", परन्तु उनका विचार है कि "हम ऐसी स्थितियों की कल्पना कर सकते हैं कि जिनमें कि इन वाक्यों को अर्थ दिया जा सके।"[२] वे ऐसी स्थिति की कल्पना करते हैं कि जिसमें दो भिन्न व्यक्तियों को एक ही शरीर में पीड़ा का अनुभव हो सके। जैसा कि उनका कथन है, "मान लिया जाय कि दो व्यक्ति, अ और ब पीड़ा होने के लक्षणों का प्रदर्शन करते हैं, और जब उनसे पूछा जाता है कि पीड़ा कहाँ है तब वे दोनों ब के पैर की ओर इशारा करते हैं। अब यह मान लिया जाय, जो कि भौतिक रूप से तो असंभव है किन्तु तार्किक रूप से नहीं, कि जब ब के पैर पर बोझ रखा जाय तब अ तथा ब दोनों की पीड़ा बढ़ जाती है, और जब ब के पैर का इलाज किया जाय तब अ और ब दोनों की पीड़ा शांत हो जाती है। ऐसी स्थिति में हम कहेंगे कि जबकि ब ने अपने शरीर में पीड़ा का अनुभव किया तब अ ने अपने शरीर में नहीं प्रत्युत ब के शरीर में पीड़ा का अनुभव किया।"[३] यदि इस प्रकार की घटनायें बारबार घटने लगें उस समय, एयर के अनुसार, हम ऐसे वाक्यों को अर्थ दे सकेंगे जैसे कि "मैं तुम्हारे सर दर्द का अनुभव कर रहा हूँ,' 'वह उसके पश्चात्ताप का अनुभव करता है', तथा 'तुम्हारी क्रोधवृत्ति संख्यात्मक रूप से वही है जो कि मेरी है'।"[४] परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या हम इन वाक्यों को कभी भी अर्थ दे सकेंगे ? मेरे विचार से तो नहीं। जैसा कि उपरोक्त काल्पनिक स्थिति से स्पष्ट है, एयर के अनुसार ऐसी भाषारूढ़ियाँ, जिनमें कि उपरोक्त वाक्यों को कोई भी अर्थ नहीं दिया जाता, केवल इसलिये स्वीकार की गई हैं क्योंकि वास्तविक रूप में भिन्न व्यक्ति अपने संवेद भिन्न-भिन्न शरीरों में अनुभव करते हैं। यदि स्थिति कुछ विपरीत होती तब हम किन्हीं अन्य भाषारूढ़ियों को स्वीकार किये होते। हमने उन भाषा-रूढ़ियों को अर्थ दिया होता जो कि वर्तमान स्थिति में निरर्थक हैं। परन्तु एयर का विचार गलत है क्योंकि जो दार्शनिक प्रचलित भाषारूढ़ियों को स्वीकार करता है वह उन्हें इसलिये स्वीकार नहीं करता कि भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न शरीरों में अपने संवेदों का अनुभव करते हैं प्रत्युत इसलिये कि यह उनके लिये अकल्पनीय है कि भिन्न व्यक्ति संख्यात्मकरूप से एक ही संवेदों का अनुभव कर सकें चाहे उनके शरीर देश, काल, तथा भौतिक रूप से आपस में कोई भी सम्बन्ध रखते हों। प्रचलित भाषा रूढ़ियाँ, जिनमें कि उपरोक्त वाक्य निरर्थक हैं, केवल ऐसी स्थिति में ही स्वीकृत नहीं होती जबकि दो भिन्न व्यक्तियों के संवेद दो भिन्न शरीरों में प्रदत्त हों प्रत्युत ये उस स्थिति में भी स्वीकृत होती हैं जबकि

उन दोनों के संवेद एक ही शरीर में प्रदत्त हों। जैसा कि एयर अपने काल्पनिक उदाहरण के सम्बन्ध में स्वयं ही स्वीकार करते हैं "फिर भी हम वर्तमान भाषा रूढ़ियों के आधार पर यह कहने के लिये बाध्य होंगे कि यद्यपि अ ने ब के शरीर में पीड़ा का अनुभव किया, किन्तु जिस पीड़ा का अनुभव अ ने किया वह संख्यात्मक रूप से उस पीड़ा से भिन्न है जिसका अनुभव स्वयं ब ने किया।"[५] तब फिर एयर की कल्पना का क्या उपयोग होगा ? उस दार्शनिक विचार, जो कि यह मानता है कि दो भिन्न व्यक्तियों के लिये संख्यात्मक रूप से एक ही संवेद का अनुभव करना असंभव है, न केवल वर्तमान स्थिति में ही उचित बना रहता है प्रत्युत एयर द्वारा कल्पित स्थिति में भी उचित बना रहता है। एयर की आलोचना न केवल हमारे दार्शनिक का खंडन करने में असमर्थ है प्रत्युत उस आलोचना की भाषा भी दोषपूर्ण है। यह कहना आपत्तिजनक है कि "अ अपनी पीड़ा ब के शरीर में अनुभव करता है"। इस कथन के पूर्व एयर को स्पष्ट करना होगा कि वे 'अ के शरीर' तथा 'ब के शरीर' से क्या समझते हैं ? यदि 'अ के शरीर' से प्रयोजन है वह शरीर जिसमें अ अपने संवेदन अनुभव करता है, और 'ब के शरीर' से प्रयोजन है वह शरीर जिसमें ब अपने संवेदन अनुभव करता है, तब एयर द्वारा कल्पित घटना का वर्णन यह कह कर तो किया जा सकता है कि "अ और ब दोनों अपनी पीड़ाओं को एक ही शरीर में अनुभव करते हैं" क्योंकि जिस शरीर में अ अपनी पीड़ा का अनुभव करता है वह शरीर केवल ब के ही अधिकार में नहीं है, वास्तव में वह शरीर अ तथा ब दोनों के ही अधिकार में है। अत: यह कहना गलत होगा कि अ अपनी पीड़ा ब के शरीर में अनुभव करता है'। मेरे विचार में यदि ऐसी घटनायें घटने लगें जिनमें दो भिन्न व्यक्ति अपने संवेदों का अनुभव एक ही शरीर में करें तब वैयक्तिक समरूपता (Personal identity) का प्रश्न भौतिक प्रमाणों द्वारा हल नहीं हो सकेगा। ऐसी स्थिति में हमें केवल मनोवैज्ञानिक प्रमाणों का ही सहारा लेना पड़ेगा।

यदि हम उस दार्शनिक को इस खेल में हराना चाहते हैं जो कि दावा करता है कि अन्य मनों का ज्ञान असंभव है, तब हमें कुछ बेइमानी का सहारा लेना पड़ेगा। यदि हम स्वयं दार्शनिक द्वारा बनाये खेल के नियमों का पालन करेंगे तब हमारे जीतने की कोई भी आशा नहीं की जा सकती। जीतने के लिये हमें उन नियमों का उल्लंघन करना आवश्यक होगा।

***

संदर्भ सूची

* *यह इंगलिश के 'न्यूमीरीकली' का अनुवाद है जिसका भाव "अभिन्नता" है।*

१. *देखें, 'दि फाउंडेशंस आफ एम्पीरीकल नोलेज', पृ. १२८-२९।*

२. *वहीं - पृ. २४०।*

३. *वहीं - पृ. २४०।*

४. *वहीं - पृ. २४२।*

५. *वहीं - पृ. २४२।*

परिच्छेद : दस

राजेन्द्र प्रसाद

भाषा दर्शन एवं विश्लेषणात्मक भाषिकी

10.1 दर्शन, भाषा और भाषा दर्शन

10.2 भाषा का स्वरूप

10.3 भाषा की सार्वजनिकता

10.4 सामान्य और कृत्रिम भाषा

राजेन्द्र प्रसाद

पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा की नवीनतम विधाओं को स्वयूथ्य रूप में सात्मीकृत किये हुए कुशाग्र विश्लेषण क्षमता से सम्पन्न प्रो. राजेन्द्र प्रसाद का जन्म (१९२६) पटना में हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा गृहनगर पटना में हुई और पटना विश्वविद्यालय से ही दर्शनशास्त्र में एम.ए. (१९४८) करने के पश्चात् 'आल्मामेटर' से ही उन्होंने अपने अध्यापकीय जीवन की शुरूआत किया। १९५७ में "फुलब्राइट फैलोसिप" के अन्तर्गत उच्च अध्ययन के लिए वे 'यूनिवर्सिटी ऑफ मिचिगन' भेजे गये। प्रो. प्रसाद को पी-एच.डी. की उपाधि 'मॉरल फिलॉसफी' के क्षेत्र में 'यूनिवर्सिटी ऑफ मिचिगन' से ही प्राप्त हुई हैं। १९६३ में इनकी नियुक्ति आई.आई.टी. कानपुर में एशोसियेट प्रोफेसर के रूप में हुई, १९६५ में प्रोफेसर पद पर उन्हें अलंकृत किया गया और १९८६ में वहीं से अध्यक्ष के रूप में सेवानिवृत्त हुए। इन्हें अखिल भारतीय दर्शन परिषद् का अध्यक्ष (१९९०) और भारतीय दार्शनिक महासभा के अध्यक्ष तथा यू.जी.सी. नेशनल लेक्चरर एवं आई.सी.पी.आर. के वरिष्ठ अध्येता के रूप में भी मनोनित किया जा चुका है। आरम्भ से ही अपने अकादमिक जीवन के प्रति प्रो. प्रसाद बहुत सचेष्ट रहे हैं। उन्होंने जो कुछ भी लिखा है वह बहुत ही सुचिन्तित लेखन है। अवकाश प्राप्त करने के उपरान्त भी उनका लेखन कर्म उत्तर-परिपक्वता के साथ आज भी जारी है। प्रो. प्रसाद ने अपनी विश्लेषणात्मक क्षमता में पाश्चात्य परम्परा के समकालीन अधिनीति शास्त्र, भाषा दर्शन एवं तर्कशास्त्रीय प्रणालियों को स्वायत्त कर उसका पद्धतिमूलक अनुप्रयोग भारतीय नैतिक चिन्तन एवं भारतीय तर्कशास्त्र के क्षेत्र में करते हुए जिस प्रकार के परिष्कारों एवं उपस्थापनाओं को प्रस्तावित किया है वह एक मॉडल है कि भारतीय दार्शनिक चिन्तन को विश्लेषणात्मक स्वरूप प्रदान करने के लिए पाश्चात्य दर्शन के अधुनातन तकनीकों का रचनात्मक विनियोग किस रूप में किया जाना चाहिए। वस्तुत: विश्लेषणात्मक पद्धति का उद्देश्य भी यही है कि विश्लेषण द्वारा विश्लेष्य के विविक्त स्वरूप और आधारिक संरचना को वह उद्घाटित करे। इसी दृष्टि से अनुप्राणित प्रो. प्रसाद की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ कर्म, कॉजेशन एण्ड रिट्रीब्यूटिव मॉरलिटी एण्ड अदर कॉन्सेप्चुअल एस्सेज इन एथिक्स एण्ड मेटा-एथिक्स, रेगुलैरिटी, नॉरमेलिटी एण्ड रूल्स ऑफ लैंग्वेज एण्ड अदर एस्सेज इन फिलॉसफिकल एनालिसिस, धर्मकीर्तिज थ्योरी ऑफ इन्फरेन्स इत्यादि हैं। तत्त्वमीमांसा, एवं दर्शनशास्त्र की रूप-रेखा इनके द्वारा लिखी गई प्रारम्भिक काल के प्रामाणिक टेक्स्ट बुक हैं।

⁂

दर्शन, भाषा और भाषा दर्शन

१– संप्रत्यय और भाषा :

दर्शन और भाषा का संबंध बड़ा ही घनिष्ठ है। वैसे तो भाषा सभी ज्ञानात्मक अन्वेषणों का अनिवार्य साधन है क्योंकि सभी अन्वेषणों के निष्कर्ष भाषा द्वारा ही व्यक्त किए जाते हैं। यही कारण है कि ज्ञान की सभी शाखाएँ अपने लिए अनुकूल, अपने विषय के प्रतिपादन-विवेचन के लिए सक्षम, भाषा बना लेती हैं। दर्शन के साथ भी यह सत्य है। किन्तु दर्शन के लिए भाषा साधन मात्र नहीं है। एक अर्थ में भाषा उसका विषय या प्रधान भोजन भी है। दर्शन संप्रत्ययों का अध्ययन करता है और संप्रत्यय भाषा में ही व्यक्त होते हैं। अपनी भाषीय अभिव्यक्ति के अतिरिक्त वे हमारी पकड़ में नहीं आ सकते, क्योंकि वे कोई स्थूल या सूक्ष्म, भौतिक या मानसिक, पदार्थ नहीं हैं। किसी भी प्रकार के सूक्ष्म से सूक्ष्म, निरीक्षण या प्रयोग द्वारा हम विश्व के किसी कौने में बैठे उन्हें नहीं पा सकते क्योंकि वे इस तरह से पाए जा सकने वाले पदार्थ हैं ही नहीं।

उदाहरण के लिए, गणित के संप्रत्ययों के लिए हमें गणित की भाषा, नीति के संप्रत्ययों के लिए नीति की भाषा, भाषा संबंधी संप्रत्ययों के लिए भाषीय संप्रेषण आदि की परीक्षा करनी पड़ेगी। किसी संप्रत्यय के संगत-असंतगत प्रयोगों के भेद को परखने के लिए भी हमें यही देखना पड़ेगा कि उसके कौन-कौन से भाषीय प्रयोग अर्थपूर्ण होंगे और कौन-कौन से नहीं, उसके विषय में संगत तरीके से हम क्या कह सकते हैं और क्या नहीं कह सकते हैं इत्यादि। ध्यान देने की जरुरत है कि हमें यही नहीं देखना है कि वस्तुत: लोग उसे किस प्रकार अर्थपूर्ण ढंग से प्रयुक्त करते हैं, बल्कि यह कि कभी भी उसे किस प्रकार अर्थपूर्ण ढंग से प्रयुक्त किया जा सकता है। उसके किस प्रयोग के तार्किक परिणाम क्या हैं और विभिन्न प्रयोगों के अन्य संबंधित संप्रत्ययों के विभिन्न प्रयोगों से क्या-क्या संबंध हो सकते हैं, यह ज्ञान भी उसके और संबंधित संप्रत्ययों के भाषीय अभिव्यक्तियों के विश्लेषण द्वारा ही मिल सकता है।

चूँकि संप्रत्ययों का अध्ययन भाषा में उनकी अभिव्यक्तियों के माध्यम से होता है, कुछ लोग यह भूल करने लगते हैं कि संप्रत्ययों की भाषा से कोई अलग सत्ता है; भाषा उनकी पोशाक भर है। जिस तरह पोशाक के माध्यम से व्यक्त होने वाला शरीर अलग सत्ता वाला होता है, उसी तरह संप्रत्यय भी अपनी पोशाक, भाषा से कहीं अलग अस्तित्त्व वाले हैं। ऐसा सोचना गलत है क्योंकि पोशाक में ढँकी देह के साथ संप्रत्ययों की तुलना नहीं की जा सकती। पोशाक हटाकर हम मात्र देह को देख सकते हैं और बिना पोशाक के भी देह को रख सकते हैं। वस्तुत: देह के लिए पोशाक तर्कत: अनिवार्य नहीं है। किन्तु भाषा से अलग कर न तो हम किसी संप्रत्यय को पकड़ सकते हैं, न भाषा के माध्यम के बिना उसके अस्तित्त्व की रक्षा ही कर सकते हैं। यह तो कहने का ढंग है कि हम उन्हें भाषा में व्यक्त कहते हैं - यह तो उनके विषय में हमारी चर्चा पर भाषा का प्रतिबंध, हमारी भाषीय सीमा है कि हम और किसी तरह से उनके स्वरूप को नहीं स्पष्ट कर सकते हैं। वस्तुत: भाषीय रूपों-प्रयोगों-रूपान्तरों से, जिनके माध्यम से हम संप्रत्ययों का अध्ययन करते हैं, अलग कर उनके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। हमारे यह कहने का, कि भाषा

में ही संप्रत्यय व्यक्त होते हैं, यही अर्थ अभिप्रेत है। यह कथन है कि अभिव्यक्त (संप्रत्यय) और अभिव्यंजक (भाषा) में सत्तात्मक द्वैत है, संप्रत्यय भाषा से अलग-थलग रहने वाले किन्तु उसमें व्यक्त होने वाले पदार्थ हैं। किन्तु ऐसा निष्कर्ष निकालना गलत है।

वस्तुत: संप्रत्यय और उनके भाषीय रूपों का भेद सत्तात्मक न होकर वैचारिक या तार्किक है क्योंकि उसे न मानने से तार्किक विसंगतियाँ उत्पन्न होती हैं। जैसे, यदि हम 'कारण' शब्द और कारण के संप्रत्यय में अंतर न करें तो कहना पड़ेगा कि कारण के संप्रत्यय में भी तीन अक्षर हैं, जिसे 'कारण' शब्द का ज्ञान नहीं है उसे इस संप्रत्यय का भी ज्ञान नहीं है, चूँकि 'वजह' और 'कारण' दो भिन्न शब्द हैं उनके अनुरूप दो भिन्न संप्रत्यय भी होंगे, यदि किसी ने 'कारण' शब्द को लिखकर काट दिया तो कारण का संप्रत्यय भी कट गया, जिस भाषा के शब्द कोष में 'कारण' शब्द नहीं हैं, उसमें कारण का संप्रत्यय भी नहीं व्यक्त हो सकता है, इत्यादि। स्पष्ट है कि ये सारे कथन बेतुके या गलत हैं।

२– भाषा और दर्शन :

ऊपर के विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि दर्शन का विषय भाषा है और उसका साधन भी भाषा ही है। अर्थात्, भाषा का अध्ययन कर वह संप्रत्ययों का अध्ययन करता है। चूँकि भाषा के विश्लेषण से वह संप्रत्ययात्मक ज्ञान प्राप्त करता है, इसलिए कुछ विद्वान दार्शनिक विश्लेषण को भाषा-विश्लेषण भी कहते हैं। किन्तु यह याद रखने की जरुरत है कि दर्शन भाषा का विश्लेषण भाषा के विभिन्न रूपों, विभिन्न भाषीय संरचनाओं की खोज के लिए नहीं, बल्कि संप्रत्ययात्मक ज्ञान के लिए करता है। दार्शनिक जिस भाषा-विशेष में अपने निष्कर्षों को व्यक्त करता है उसका परिमार्जन-संशोधन भी करता है ताकि वह उसके निष्कर्षों को सही-सही व्यक्त कर सके।

किन्तु जब हम यह कहते हैं कि दर्शन भाषा का विश्लेषण करता है तो हमारा तात्पर्य किसी विशिष्ट ऐतिहासिक या क्षेत्रीय भाषा से नहीं, बल्कि भाषा मात्र से है। यह तो आवश्यक है कि अपने विश्लेषण के लिए वह किसी एक भाषा, हिन्दी, अंग्रेजी आदि को उदाहरण स्वरूप लेता है, किन्तु उसकी नज़र उस भाषा की निजी विचित्रताओं पर नहीं बल्कि उसकी पदावली में, संरचनाओं में, वाक्य विन्यासों में, भाषीय नियमों में, स्पष्टतया व्यक्त या कुछ-कुछ छिपे हुए, फाँकते हुए, संप्रत्ययों, संप्रत्ययात्मक संरचनाओं, संप्रत्ययात्मक संबंधों, पर रहती है। इसलिए भाषा का विश्लेषण उसका लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य तो संप्रत्ययों का विश्लेषण है ; भाषा का विश्लेषण उसके लिए अनिवार्य माध्यम है। भाषाशास्त्र को छोड़कर ज्ञान की अन्य कोई भी शाखा अपने निष्कर्षो को भाषा-विश्लेषण के आधार पर नहीं प्रस्तुत करती। सभी आनुभाविक विज्ञान अनुभव जगत् के अपने क्षेत्र-विशेष की परीक्षा कर अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं, भाषा के अध्ययन से नहीं।

एक उदाहरण लेकर ऊपर की बात को हम और स्पष्ट कर दें। कार्य-कारण संबंध को व्यक्त करने वाले कुछ हिन्दी वाक्यों, जैसे 'घी खाने से वजन बढ़ता है', 'अधिक गर्म करने से शीशा टूट जाता है' आदि की परीक्षा कर हम कहते हैं कि कार्य-कारण संबंध तार्किक नहीं बल्कि आनुभविक, तथ्यात्मक है क्योंकि इन वाक्यों का निषेध व्याघातपूर्ण नहीं है और इनकी सत्यता-असत्यता की परीक्षा अनुभव द्वारा ही हो सकती है। यह कहना कि घी खाने से वजन बढ़ता है या नहीं, इसकी परीक्षा भी अनुभव द्वारा किसी को घी खिलाकर और घी खाने के पहले और बाद के उसके वजन की तुलनाकर ही हो सकती है किन्तु यद्यपि हमने हिन्दी वाक्यों को लिया है, हमारे अन्वेषण के विषय हिन्दी के वाक्य, वे वाक्य भी जिनको हमने विश्लेषित किया है, नहीं है। हमारी दृष्टि तो उनके द्वारा व्यक्त कार्य-कारण के संप्रत्यय पर थी। इसलिए यद्यपि हमने हिन्दी के कुछ वाक्यों को लिया है और अपने निष्कर्ष को हिन्दी में व्यक्त किया है, न तो हमारा विषय हिन्दी है, न हमारा निष्कर्ष हिन्दी तक सीमित है।

भाषा पर एक तरह से आश्रित होने पर भी (क्योंकि संप्रत्यय भाषा में ही व्यक्त होते हैं) दर्शन के निष्कर्ष किसी खास भाषा तक सीमित नहीं रहते। वस्तुत: वे भाषा से स्वतंत्र होते हैं। बल्कि उनका निषेध या उनकी अवहेलना करने से भाषा स्वयं पंगु या निरर्थक हो जाती है। जैसे, यदि बराबर होने के संप्रत्यय का विश्लेषण कर कोई दार्शनिक कहता है कि यह संबंध सममित[1] है, अर्थात् यदि क ख के बराबर है तो ख क के बराबर होगा ही, तो उसे अस्वीकार कर किसी का यह कहना कि मैं तो आपके बराबर हूँ किन्तु आप मुझ से छोटे हैं, व्याघातपूर्ण हो जाएगा। ऐसे वाक्य को सही, सार्थक, भाषा का उदाहरण, हम नहीं मानते। संप्रत्ययात्मक संबंध भाषा की संरचनाओं को नियंत्रित करते हैं क्योंकि उनकी अवहेलना करने पर भाषा अर्थपूर्ण नहीं रह पाती। इस तरह दर्शन भाषा पर आश्रित है और भाषा दार्शनिक-तार्किक नियमों द्वारा नियंत्रित भी है। कहने का मतलब है कि भाषा और दर्शन के संबंध सरल न होकर क्लिष्ट हैं।

३— भाषा-दर्शन

दर्शन की अन्य शाखाओं की तरह भाषा-दर्शन भी एक प्रकार से संप्रत्ययात्मक अन्वेषण है। दार्शनिक विश्लेषण किसी भी महत्त्वपूर्ण संप्रत्यय या संप्रत्ययों के समूह को अपना विषय बना सकता है। अपने उस खण्ड में, जिसे भाषादर्शन की संज्ञा दी जाती है, इसके अध्ययन के विषय होते हैं वे संप्रत्यय जो हमारी भाषा विषयक चर्चा या चेतना में निश्चित रहते हैं। भाषा हमारे सामाजिक जीवन का एक आवश्यक अंग है। इसके प्रयोग के बिना सामाजिक जीवन संभव नहीं होगा। भाषाविहीन, समाज से पूर्णत: विच्छिन्न, एकांतवासी, मनुष्य की कल्पना भी संभव नहीं लगती। वस्तुत: यदि हम उसकी कल्पना कर भी पाएँ तो उसे 'मनुष्य' की संज्ञा देने में हिचकेंगे। भाषा का प्रयोग अनेक प्रकारों में और अनेक लक्ष्यों की सिद्धि के लिए होता है। भाषा का प्रयोग मानवजीवन के लिए इतना आवश्यक है कि ''भाषा मानव जीवन का आवश्यक अंग है'' वाक्य परिभाषत: सत्य लगता है।

किन्तु हम अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भाषा का केवल प्रयोग ही नहीं करते हैं, भाषा के विषय में, भाषीय प्रयोगों के विषय में, सोचते-विचारते भी हैं, उनकी विवेचना-व्याख्या भी करते हैं। यदि भाषीय प्रयोग को प्रथम-स्तरीय क्रिया कहा जाय तो उसकी चर्चा या विवेचना, उसके विषय में सोचने की क्रिया को द्वितीय-स्तरीय क्रिया कह सकते हैं। संक्षेप में इसे हम भाषीय, या भाषा-विषयक, चेतना (चर्चा), या भाषाबोध कहेंगे। यह चेतना सभी में एक समान नहीं होती और अधिकांश प्रयोक्ताओं में अविकसित, अवैश्लेषिक, धूमिल रूप में रहती है। अधिकांश प्रयोक्ता इसका विवेचन-विश्लेषण नहीं करते या नहीं कर सकते। वे इसके विभिन्न अवयवों का न तो सुस्पष्ट ज्ञान रखते, न उनके विषय में अपनी समझ को भाषा में ठीक-ठीक व्यक्त ही कर सकते। प्राय: उनमें इन अवयवों के विश्लेषण की न तो क्षमता होती, न अभिलाषा ही। भाषा-दार्शनिक अपनी इस चेतना को तीव्र करता है, उसके अंदर बैठकर उन संप्रत्ययों को ढूंढ निकालता है जो आधारिक होते हैं, और उनके पारस्परिक संबंधों, भेदों, विरोधों, उनसे आपादित परिणामों का विश्लेषण कर भाषीय चेतना या समझ के स्वरूप को सुस्पष्ट और सुबोध करता है। संप्रत्यय या संप्रत्ययों के किसी समूह को किसी विशेष दिशा में परिमार्जन या सुनिश्चितीकरण करने की वह संस्तुति भी कर सकता है। भाषा मात्र, या उसके किसी खण्ड के प्रयोगों की व्याख्या के लिए, यह समझाने के लिए, कि क्यों भाषामात्र, या उस विशेष भाषाखण्ड, के अमुक प्रकार के प्रयोग ठीक और अमुक प्रकार के प्रयोग गलत माने जाते हैं, क्यों कहीं तो भाषा सफल होती है और कहीं असफल, वह कोई सिद्धांत भी प्रतिपादित कर सकता है।

भाषा, जिस अर्थ में इस पद का प्रयोग यहाँ किया जा रहा है, पूर्णत: मानवी क्रियाकलाप है। इसकी अपनी निजी संप्रत्ययात्मक समस्याएँ हैं और हमारे भाषा-बोध की भी अपनी संप्रत्ययात्मक

समस्याएँ हैं। भाषा-दर्शन इन संप्रत्ययात्मक समस्याओं से जूझता है और उनका विश्लेषण-समाधान करने का प्रयत्न करता है। भाषा का प्रयोग तो सभी करते हैं, किन्तु भाषा या भाषा-बोध में निहित संप्रत्ययों और संप्रत्ययात्मक समस्याओं का अन्वेषण भाषादर्शन करता है। जिस प्रकार धर्मदर्शन हमारे धर्मबोध की, नीतिदर्शन नैतिक बोध की, संप्रत्ययात्मक समस्याओं का अध्ययन करते हैं, उसी तरह भाषा-दर्शन भाषा और भाषा-बोध की संप्रत्ययात्मक समस्याओं का।

ऊपर का विवेचन शायद अत्यधिक सामान्य और अमूर्त हो गया है। इसलिए भाषा दर्शन की कुछ प्रमुख समस्याओं के उदाहरण लेकर उसे हम और स्पष्ट करेंगे। हमने कहा है कि भाषा सामाजिक क्रियाकलाप है। किन्तु यह एक महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक प्रश्न है कि क्या पूर्णत: वैयक्तिक भाषा असंभव है ? इसकी असंभावना, यदि सत्य है तो तार्किक, वैचारिक, संप्रत्ययात्मक है या आनुभविक; प्रयोक्ता की योग्यता पर आश्रित ? कुछ अन्य समस्याओं के उदाहरण ये हैं : भाषा और सत्ता में क्या संबंध है ? क्या भाषा के अर्थवान् होने के लिए सत्ता के साथ, वास्तविकता के साथ, उसका किसी विशिष्ट प्रकार से संबंधित होना अनिवार्य है ? क्या भाषा से सत्ता के स्वरूप के विषय में कोई निष्कर्ष निगमित किया जा सकता है ? सामान्य, साधारण भाषा और तकनीकी भाषा में क्या संबंध है ? भाषीय स्वच्छन्दता की सीमा क्या है ? अर्थात् किस सीमा तक साधारण भाषा के नियमों की पाबंदी को, सार्थकता को विनष्ट किए बिना, हम तोड़ सकते हैं ? क्या भाषा कुछ तथ्यों, सत्यों को व्यक्त करने में अक्षम है ? यदि हाँ, तो भाषा की यह अक्षमता आकस्मिक है या स्वभागत, अर्थात् अनिवारणीय ? भाषा के अर्थवान् होने की, व्यवहार समझे जाने की, या सफल होने की, आवश्यक और पर्याप्त शर्तें क्या-क्या हैं ? क्या भाषा के प्रकार्यों (व्यापारों) में कुछ को प्राथमिक, आधारिक, और कुछ को गौण, पराश्रित कह सकते हैं ? क्या कुछ कार्यों को आधारिक मान कर औरों की व्याख्या की जा सकती है ? उसी तरह, क्या भाषीय रूपों या संरचनाओं में कुछ को आधारिक और कुछ को गौण अर्थात् आधारिक संरचनाओं में रूपांतरणीय माना जा सकता है ? भाषा के विभिन्न संरचनाओं और प्रकारों में क्या संबंध है ? क्या खास-खास भाषीय व्यापार खास-खास संरचना वाले वाक्यों या पदों द्वारा ही संपन्न हो सकते हैं ? क्या सभी या किसी विशेष प्रकार की संरचनाओं का ही प्रयोग तर्क में हो सकता है ?

ऊपर दिए गए प्रश्न भाषादर्शन के निजी प्रश्न हैं। वे भाषा पर दार्शनिक चिंतन करने के परिणाम हैं। कुछ ऐसे भी प्रश्न होते हैं जिनके समाधान के लिए भाषा का दार्शनिक अन्वेषण अपेक्षित है और इसलिए वे भी भाषादर्शन के प्रश्न हैं, किन्तु उनका उद्भव भाषा के विश्लेषण से नहीं बल्कि किसी न किसी दार्शनिक समस्या के अन्वेषण के क्रम में होता है। जैसे, दार्शनिकों का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि क्यों कुछ प्रतिज्ञप्तियाँ तर्कत: अवश्यंभावी रूप में (जैसे गणित के सभी सत्यवाक्य) सत्य होती हैं ? इस विषय के अन्वेषण में यह प्रश्न उठता है कि क्या तार्किक (अवश्यंभावी) सत्य को भाषीय, अर्थात् भाषीय नियमों का परिणाम कहा जा सकता है ? इसी तरह, जब कोई यह जानना चाहता है कि सत्य-असत्य किसे कहते हैं तो वह यह प्रश्न पूछ सकता है कि किन-किन भाषीय रूपों या वाक्यों को 'सत्य', 'असत्य' विशेषणों से विशेषित किया जा सकता है ? स्पष्टत: ये दोनों भाषादर्शन के प्रश्न हैं और इनका समाधान भाषादर्शन के लिए ही नहीं बल्कि तर्कशास्त्र के लिए भी महत्त्वपूर्ण है।

भाषादर्शन की पद्धति दर्शन की अन्य शाखाओं की तरह संप्रत्ययात्मक है, आनुभविक या तथ्यात्मक नहीं। उसकी किसी भी समस्या का समाधान तथ्यों के संग्रह मात्र के आधार पर नहीं होता है। संप्रत्ययात्मक और आनुभविक अन्वेषणों का एक-दूसरे से अछूता रहना अनिवार्य नहीं है। संप्रत्ययों के विश्लेषण में संबंधित तथ्यों को उदाहरण के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है और तथ्यज्ञान को सजाने में, सुव्यवस्थित रूप देने में, संप्रत्ययों या संप्रत्ययात्मक सुझावों, भेदों-उपभेदों, की सहायता

लेनी ही पड़ती है। यदि ऐसा न हो तो तथ्यों का संग्रह, जो कि अत्यंत ही आसान काम है, करके ही कोई विज्ञानी या अन्वेषक बन जाय। इसलिए भाषा के आनुभविक अध्ययन का कुछ उपयोग भाषादर्शन में किया जा सकता है। वस्तुत: आनुभविक अन्वेषण से अवगत रहने पर भाषा-दार्शनिक को भाषा के मूर्त, वास्तविक रूप को ठीक-ठीक पहचानने में काफी सहायता मिलती है। और, भाषीय प्रयोगों के अपने अनुभव का उपयोग तो भाषादार्शनिक संप्रत्ययात्मक समस्याओं के विश्लेषण और समाधान में करता ही है। उस पर भी उसका अपना अन्वेषण तथ्यात्मक नहीं है, भाषासंबंधी तथ्यों का संग्रह, विश्लेषण, समस्तीकरण या उनकी व्याख्या, उसका उद्देश्य नहीं होता। वह तो भाषा के स्वरूप, भाषीय खण्डों के प्रयोग और व्यापार पर चिंतन कर भाषीय संप्रत्ययों की वैधता, उनके पारस्परिक संबंध और आपादित परिणाम, उनके दृष्टांतीकरण की शर्तों आदि की वह विवेचना करता है।

उदाहरण के लिए जब वह कहता है कि किसी वाक्य को सत्य होने के लिए सार्थक होना अनिवार्य है, जबकि सार्थक होने के लिए उसका सत्य होना जरुरी नहीं है, तो यहाँ 'सत्यता' और 'सार्थकता' के संप्रत्ययों में वह एक प्रकार का संबंध दिखलाता है जो तथ्यात्मक नहीं बल्कि तार्किक है। उसका यह निष्कर्ष तथ्यों के संग्रह पर, लोगों द्वारा सार्थक और सत्य वाक्यों के विभिन्न प्रयोगों के आंकड़ों पर, आश्रित नहीं है। यह तो 'सत्य' और 'सार्थक' के संप्रत्ययों के विषय में चिंतन करने मात्र से स्पष्ट होता है कि सत्य या असत्य होने के लिए सार्थक होना आवश्यक है। इस चिंतन या विश्लेषण के लिए वह इन पदों के भाषीय प्रयोगों की परीक्षा करेगा, किन्तु इनके विभिन्न आँकड़ों की परीक्षा उसके लिए अपेक्षित नहीं है। अन्य लोग इनका किस प्रकार प्रयोग करते हैं यह जानने के लिए उसे अधिक समय लगाने की जरुरत नहीं है।

वह अपनी भाषीय अनुभूति, अपनी चेतना, अपने भाषीय सहजबोध या अन्तर्ज्ञान, इन पदों के प्रयोग संबंधी भाषीय नियमों के स्वरूप के विषय में अपनी समझ, और उनके अनुसार भाषीय प्रयोगों को नियंत्रित करे ताकि अपनी दक्षता का उपयोग कर ऐसा निष्कर्ष निकाल सके कि 'कलम की आँख ऐंची है' वाक्य न सत्य हो सकता है न असत्य, क्योंकि यह वाक्य निरर्थक है। निरर्थक वाक्य का निषेध जैसे 'कलम की आँख ऐंची नहीं है' भी निरर्थक होता है, जबकि सत्य वाक्य का निषेध असत्य और असत्य का निषेध सत्य होता है। इसलिए सार्थक वाक्य का निषेध सार्थक होता है क्योंकि सत्य या असत्य होने की दोनों स्थितियों में वह सार्थक रहता है। यह निष्कर्ष संप्रत्ययात्मक है और इसका प्रतिपादन दार्शनिक संप्रत्ययात्मक विश्लेषण के द्वारा करता है। इसके लिए उसे अनेक उदाहरणों की जरुरत नहीं है। उपर्युक्त वाक्यों-जैसे उदाहरणों को तो वह अपनी बात को समझाने के लिए, उदाहृत भर करने के लिए, उधृत करता है। हम उसके निष्कर्ष को यह बताकर झुठला नहीं सकतें कि अमुक गाँव के अधिकांश लोग निरर्थक वाक्यों को वस्तुत: सत्य (या असत्य) समझते हैं। यदि वे ऐसा करते हैं तो इस तथ्य के चलते उपर्युक्त संप्रत्ययात्मक निष्कर्ष को बदलना नहीं है, बल्कि उन लोगों के 'सत्य' (या असत्य) के प्रयोग को ही गलत कहना, अपेक्षित है।

संप्रत्ययों का विश्लेषण भाषा के विश्लेषण के माध्यम से करने के कारण इस प्रकार के दार्शनिक अन्वेषण को आज के दार्शनिक साहित्य में 'वैश्लेषिक दर्शन', 'भाषीय दर्शन', 'भाषीय विश्लेषण', 'संप्रत्ययात्मक विश्लेषण', आदि संज्ञाए दी जाती हैं। किन्तु कुछ लोग गलती से दर्शन और भाषादर्शन में भेद नहीं करते। ऊपर का विवेचन यह स्पष्ट कर देता है कि कुछ विशिष्ट प्रकार के संप्रत्ययों का अध्ययन करने के कारण भाषादर्शन दर्शन का एक खण्ड मात्र है और उसके समान दर्शन के कई अन्य खण्ड भी हैं। अत: दर्शन को भाषा-विश्लेषण कहने पर भी उसे भाषा-दर्शन से अभिन्न नहीं कहा जा सकता।

४– भाषादर्शन और भाषिकी

भाषिकी, भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन, आनुभविक विज्ञान का एक प्रकार है। वह भाषा का अध्ययन वैज्ञानिक तरीकों से, भाषा के संबंध में हमारा ज्ञानवर्द्धन करने के लिए करती है। उसका लक्ष्य है भाषा का अध्ययन और पद्धति है वैज्ञानिक, तथ्यात्मक, जिसके दो अंग हैं - निरीक्षण और प्रयोग। अत: भाषादर्शन से वह लक्ष्य और पद्धति दोनों में भिन्न है। भाषादर्शन का लक्ष्य है भाषाबोध के आधारिक संप्रत्ययों और संप्रत्ययात्मक प्रश्नों का अन्वेषण और पद्धति है तार्किक विश्लेषण। भाषा का विश्लेषण वह इसलिए करता है कि भाषा के माध्यम से ही वह संप्रत्ययों का विश्लेषण कर सकता है क्योंकि वे भाषा में ही व्यक्त होते हैं। अर्थात् भाषा का विश्लेषण या अन्वेषण उसके लिए साधन मात्र है, साध्य नहीं।

चूँकि संप्रत्ययात्मक और आनुभविक अन्वेषण एक दूसरे पर प्रभाव डाल सकते हैं, दोनों में आदान-प्रदान हो सकता है, दोनों एक दूसरे के लिए समस्याएँ दे सकते हैं, समस्याओं के समाधान में भी सहायक हो सकते हैं, किन्तु फिर भी तर्कत: दोनों दो प्रकार के अन्वेषण हैं। भाषा के विभिन्न पक्षों का तथ्यों से समर्थित, प्रामाणिक, विवरण देकर भाषिकी भाषा के स्वरूप के विषय में प्रचलित भूलों को दूर कर सच्चा, विश्वसनीय, ज्ञान देती है। भाषा के विषय में दार्शनिक चिंतन करने में, ऐसा ज्ञान बड़ा उपयोगी होता है। इसलिए इस कार्य को संपन्न कर भाषिकी भाषादर्शन के लिए उपयुक्त भूमिका तैयार करती है। ऐसे ज्ञान के अभाव में संभव है कि भाषा दार्शनिक भाषा के विषय में प्रचलित, अपूर्ण, कुछ अंश में भ्रामक, विचारों से प्रभावित होकर अपना अन्वेषण दोषपूर्ण कर ले। उसके स्वरूप के विषय में प्रामाणिक ज्ञान के बिना वह अन्वेषण कैसे संभव हो सकता है ?

भाषा-दर्शन भी मौलिक, आधारिक, संप्रत्ययात्मक प्रश्नों को उठाकर, उनका अन्वेषण कर, भाषिकी के सैद्धान्तिक आधार को सुस्पष्ट, सुबोध और समृद्ध करता है। उदाहरण के लिए, भाषिकी यह मान कर चलती है कि भाषा अर्थवान् होती है। वस्तुत: अर्थवान् होना उसके लिए भाषा का अनिवार्य गुण है। इसलिए वह कुछ विशिष्ट भाषाओं के परिप्रेक्ष्य में अर्थपूर्ण भाषीय संरचनाओं का और उनके आधारिक नियमों का अध्ययन करती है। भाषादर्शन भाषा मात्र के विषय में, किसी विशिष्ट भाषा या भाषासमूह के परिप्रेक्ष्य में नहीं, यह प्रश्न करता है कि अर्थवान् होने की शर्तें क्या हैं, और उन नियमों की खोज करता है जो विभिन्न भाषाओं के संरचनात्मक नियमों के अधिक आधारिक हैं, जो सभी भाषाओं के लिए सत्य हैं, जो एक अर्थ में भाषीय नहीं बल्कि तार्किक हैं। उदाहरण के लिए जब कोई दार्शनिक कहता है कि किसी तथ्यात्मक वाक्य (जैसे 'आम मीठा होता है') का अर्थ हम तभी समझ सकते हैं जब कम से कम उसकी सत्यता-असत्यता की कल्पना कर सकते हैं, तो यह सिद्धान्त किसी विशिष्ट भाषा के लिए नहीं है, न व्याकरणिक या वाक्य-विन्यास संबंधी सिद्धान्त है। एक दृष्टि से ऐसा अन्वेषण कर भाषादर्शन भाषिकी की दृष्टि को और भी व्यापक बनाता है, उसके कार्य को विशेष दिशा में आगे बढ़ाता है, उसे अनुपूरित करता है।

भाषादर्शन का सम्बन्ध भाषा मात्र से है, जबकि प्राय: भाषिकीय अध्ययन विशिष्ट भाषाओं, जैसे हिन्दी, मराठी, आदि को, या विभिन्न भाषाखण्डों (जैसे हिन्दी की सकर्मक क्रियाओं) को, अपना विषय बनाता है। तुलनात्मक भाषिकी में भी ध्यान विशिष्ट भाषाओं (हिन्दी, अंग्रेजी) या भाषाखण्डों (हिन्दी और अंग्रेजी के क्रियापद) पर रहता है। दार्शनिक अन्वेषण कभी भी इस तरह सीमित नहीं रहता। भाषिकी की दृष्टि से हिन्दी का यह नियम कि सामान्य भूत में सकर्मक क्रिया का कर्ता 'ने' चिन्ह लेता है महत्त्वपूर्ण है, किन्तु भाषादर्शन ऐसे नियमों का अध्ययन नहीं करता।

हमें यह भी याद रखना है कि आधुनिक भाषिकी का एक खण्ड, सैद्धान्तिक भाषिकी, भाषामात्र

के विवरण, भाषा के सामान्यों[२] की खोज और उनके स्पष्टीकरण को अपना लक्ष्य बनाता है। इस शाखा के उद्‌भव और विकास बहुत कुछ भाषिकी पर भाषा-दर्शन के प्रभाव, या दोनों के पारस्परिक प्रभाव, के परिणाम हैं। फिर भी सैद्धान्तिक भाषिकी भाषिकी का ही अंग है, भाषा दर्शन का नहीं, क्योंकि इसका ध्येय भाषा के सामान्यों का तथ्यात्मक विवरण देना होता है। उस पर भी भाषा-दर्शन के साथ इसके घनिष्ट संबंध की अनदेखी करना अनुचित होगा, क्योंकि इससे उसे भाषा के स्वरूप के विषय में प्रामाणिक विवरण मिलता है, और भाषा-दर्शन के संप्रत्ययात्मक सूत्रों से सैद्धान्तिक भाषिकी को भाषा के सामान्य रूप को प्रस्तुत करने में सहायता मिलती है। भाषा-दर्शन और सैद्धान्तिक भाषिकी वस्तुत: दर्शन और विज्ञान, संप्रत्ययात्मक और तथ्यात्मक अन्वेषणों, के सहयोग के अच्छे उदाहरण हैं।

भाषिकी को हमने आनुभविक विज्ञानों का एक प्रकार कहा है और यह भी कि हर एक आनुभविक विज्ञान आनुभविक सत्ता के किसी खण्ड का अध्ययन करता है। आनुभविक सत्ता का वह खण्ड जिसे भाषा कहते हैं, भाषिकी के अध्ययन का विषय है। प्राचीन भारतीय भाषाशास्त्री 'शब्दब्रह्म' संज्ञा का प्रयोग करते हैं और उसे ही व्याकरण और भाषादर्शन का विषय मानते हैं। मुझे लगता है कि इस पद में 'ब्रह्म शब्द का प्रयोग जमाने के फैशन के अनुसार का ही प्रतीक है। परम, या सबसे महत्त्वपूर्ण, सत्ता को ब्रह्म कहा जाता था, इसलिए भाषाशास्त्री भी अपने अन्वेषण के विषय भाषा को, 'शब्दब्रह्म' कहकर उसकी गरिमा की अनुभूति करता था। उसकी यह तर्कणा उसे संतोष देती होगी कि उसका विषय भी एक प्रकार का ब्रह्म होने से उसका अन्वेषण ब्रह्मविषयक अन्य अन्वेषणों के समकक्ष है, या उनसे कम श्रद्धा का हकदार नहीं है। इस प्रकार 'शब्दब्रह्म पद की अलंकारिकता को हटाकर देखा जाय तो इसके प्रयोग का अर्थ यही था कि भाषाशास्त्र भाषीय सत्ता को, 'भाषा' नामक सत्ता का, या सत्ता के उस खण्ड का जिसे भाषा कहते हैं, अध्ययन करता है। इसलिए न तो हमें यही कहना चाहिए कि प्रचीन भारतीय भाषाशास्त्र के अन्वेषण आधुनिक अन्वेषणों से अधिक उदात्त या आध्यात्मिक है, या यही कि वे वैज्ञानिक न होकर धार्मिक या पौराणिक हैं। संभवत: धर्म की भाषा, या 'ब्रह्म' जैसे पद, प्राचीन भारत में अत्यधिक श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते थे, इसीलिए 'शब्द' (भाषा) को भी ब्रह्म कहा गया।

भाषिकी का विषय और साधन दोनों ही भाषा है। वह भाषा के अध्ययन को भाषा में व्यक्त करती है। भाषा में अपने अन्वेषण को व्यक्त तो सभी ज्ञान-विज्ञान करते हैं, किन्तु भाषिकी के अतिरिक्त औरों का विषय भाषा नहीं होती। भाषिकी के किसी भी निष्कर्ष को, जिस भाषा के विषय में वह होता है, उसी भाषा में या किसी अन्य भाषा में व्यक्त किया जा सकता है। जैसे हिन्दी के वाक्य-विन्यास का नियम 'एकवचन में प्रयुक्त कर्ता को आदरसूचक बनाने के लिए क्रिया बहुवचनान्त होती है' को हिन्दी या किसी गैर हिन्दी भाषा में भी व्यक्त किया जा सकता है। जिस भाषा का अध्ययन होता है उसे विवेच्य भाषा[३] और जिस में, जिसके माध्यम से, अध्ययन होता है उसे विवेचक भाषा[४] कहते हैं। दोनों को एक होना जरूरी नहीं है और जहाँ दोनों वस्तुत: ऐतिहासिक इकाई के रूप में एक होती हैं (यदि हिंदी का विवेचन हिंदी में किया जाय तो दोनों, विवेच्य ओर विवेचक, भाषाओं को भाषा का इतिहासकार हिंदी ही कहेगा) वहाँ भी उन्हें सिद्धांत: या प्रकार्यत:, अर्थात् उनके प्रकार्यों के अनुसार, एक मानना गलत है क्योंकि उनके प्रकार्य और स्थान अलग-अलग हैं। लोहा काटने के लिए हम लोहे का ही प्राय: प्रयोग करते हैं; फिर भी कटने वाले और काटने वाले लोहे में भेद किया जाता है क्योंकि कटने और काटने कि क्रियाएँ अलग-अलग हैं; जो कटता है, वह काटता नहीं और जो काटता है वह खुद अपने को नहीं काटता, अर्थात् अपने द्वारा कटता नहीं है।

भाषिकी का लक्ष्य है भाषीय सिद्धांतों की स्थाना करना जो भाषा के सभी पक्षों की व्याख्या कर सकें। किन्तु यह उसका अंतिम लक्ष्य है और इसे पूरा करने के क्रम में भाषाशास्त्री प्राय: किसी विशिष्ट

भाषा के अन्वेषण से प्रारंभ करता है। भाषा के कई पक्ष होते हैं : ध्वन्यात्मक, संरचनात्मक, अर्थात्मक इत्यादि। किसी भी भाषा का संपूर्ण, सांगोपांग, विवेचन करने वाला सिद्धांत तीनों का विवरण देता है और उनकी व्याख्या करता है। किन्तु अधूरे सिद्धांतों को भी प्रतिपादित किया जा सकता है जो किसी एक, या एक पक्ष के किसी खण्ड मात्र का विवेचन करते हैं। हमारे भाषीय प्रयोग कुछ तो नियमानुकूल होते हैं, कुछ नियमों के विरुद्ध या अनियमित भाषीय सिद्धांत को दोनों, नियमित और अनियमित, प्रकार के प्रयोगों का विवेचन करना होता है, ऐसे तत्त्वों को प्रतिपादित करना होता है जो दोनों की व्याख्या कर सकें। उदाहरण के लिए एक ही अर्थ को व्यक्त करने के लिए कुछ हिंदी भाषी 'मैंने आपको देखा था', और कुछ 'हमने आपको देखा था' का प्रयोग करते हैं। भाषिकीय दृष्टि से दोनों प्रचलित हैं, और दोनों की व्याख्या अपेक्षित है, हालाँकि जब वक्ता एक व्यक्ति है तो परंपरागत व्याकरण के अनुसार दूसरा वाक्य नियमानुकूल नहीं है।

हर एक आनुभविक विज्ञान के कुछ तथ्य, डाटा होते हैं जिनका यथेष्ट विवरण देना और फिर उनकी व्याख्या करना उसका लक्ष्य होता है। भाषिकी के तथ्य हैं बोलियाँ और लिखित भाषा के विभिन्न प्रयोग। सभी प्रचलित प्रयोग भाषाशास्त्री के लिए समान महत्त्व रखते हैं। वह यही कह सकता है कि कोई प्रयोग कम, कोई अधिक, प्रचलित है, यही नहीं कि कोई प्रयोग दूसरे से उच्च या निम्न स्तर का है। भाषीय सिद्धांत का यही कार्य है - भाषीय प्रयोगों का क्रमबद्ध विवरण और उनकी उपयुक्त व्याख्या। कोई भी सिद्धांत, सिद्धांत होने के नाते सामान्य होता है। अत: यह आवश्यक है कि वह केवल उन्हीं तथ्यों की व्याख्या नहीं करे जो अन्वेषण के समय उसे लिए हुए हैं, बल्कि उन सभी संबद्ध या प्रासंगिक तथ्यों का भी जो भविष्य में लभ्य हो सकते हैं। इतना ही नहीं, उसके लिए यह भी आवश्यक है कि अन्वेषित तथ्यों से भिन्न, अन्य प्रकार के, तथ्यों की भी व्याख्या वह कर सके। जो सिद्धांत जितना ही अधिक संख्या में, जितनी ही भिन्नतावाले, तथ्यों की व्याख्या कर सकता है, वह उतना ही अधिक समर्थ, शक्तिशाली, समझा जाता है।

भाषा के विषय में गंभीरतापूर्वक सोचने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषीय संरचनाएँ और प्रयोग इतने वैविध्यपूर्ण होते हैं और हो सकते हैं कि उन्हें किन्हीं निश्चित कोटियों या वर्गों में रखना आपातत: असंभव-सा लगता है। किन्तु भाषाशास्त्री असंभव सा दीखनेवाले कार्य को संभव बनाता है। भाषीय संरचनाओं और प्रयोगों में वह छिपी नियमितताओं को ढूंढ निकालता है और उनकी अनुभूत विभिन्नताओं की व्याख्या कम से कम संप्रत्ययों, तत्त्वों, सिद्धान्तों के द्वारा संपन्न करने का प्रयत्न करता है। इस कार्य के लिए वह पूर्व कल्पनाओं का सहारा लेता है। ये पूर्वकल्पनाएँ उपयुक्त व अनुपयुक्त दोनों ही सिद्ध हो सकती हैं। किसी पूर्ण कल्पना के अनुपयुक्त सिद्ध हो जाने पर उसे परिवर्तित करना होता है, या उसे छोड़कर किसी दूसरी, नई पूर्वकल्पना का उपयोग करना पड़ता है। जैसे, हिंदी की कुछ संरचनाओं (जैसे गाय चरती है, घोड़ा चरता है, राम रोटी खाता है, सीता रोटी खाती है आदि) के आधार पर कोई यह पूर्वकल्पना बना सकता है कि क्रिया का लिंग कर्ता के लिंग पर निर्भर करता है। किन्तु इसकी परीक्षा करने पर वह पायेगा कि ऐसा हमेशा नहीं होता, जैसे 'राम ने रोटी खाई', 'सीता ने आम खाया', में क्रिया का लिंग कर्ता द्वारा नहीं बल्कि कर्म द्वारा निर्दिष्ट होता है। ऐसी स्थिति में या तो उसे अपनी पूर्वकल्पना को संकीर्ण करना पड़ेगा ताकि वह केवल उन्हीं वाक्यों के लिए नियम बन जाय जिन पर वह वस्तुत: लागू है, या उसे इस रूप में परिवर्द्धित-परिवर्तित करना पड़ेगा कि क्रिया के लिंग के विषय में सामान्य नियम बन सके। व्याकरण ग्रंथों में इस नियम के स्पष्ट प्रतिपादन का अभाव ही अहिंदी भाषियों की शिकायत के लिए बहुत कुछ उत्तरदायी है कि हिंदी संज्ञाओं का लिंग निर्णय बड़ा अनियमित है।

किसी भी भाषा की संज्ञाओं (हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू, इत्यादि) का लिंग विधान, तर्करहित होता

है। उसके लिए कोई तर्क नहीं दिया जा सकता कि क्यों 'मूँछ' स्त्रीलिंग है और 'जूड़ा' पुल्लिंग। किन्तु हिंदी में यह स्थिति इसलिए कष्टप्रद हो जाती है कि कभी-कभी वाक्यों की संरचनाओं में क्रिया का लिंग संज्ञा के लिंग पर निर्भर करता है। इस स्थिति को सुबोध करने के लिए आवश्यकता है उस नियम के स्पष्ट उल्लेख की जिसके द्वारा कर्ता और कर्म, विभिन्न भाषीय संदर्भ में, क्रिया का लिंग निर्दिष्ट करते हैं। यद्यपि अंग्रेजी का लिंगविधान भी तर्क रहित है, वह इसलिए सुगम लगता है कि क्रिया का रूप संज्ञा के लिंग के अनुसार नहीं बदलता है। इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि अंग्रेजी के क्रिया-पदों का लिंग होता ही नहीं। इस दृष्टि से हिंदी व्याकरण अंग्रेजी व्याकरण से अधिक श्लिष्ट किन्तु अधिक समृद्ध भी है, क्योंकि वह कुछ ऐसे भेद भी करता है जो अंग्रेजी व्याकरण में नहीं किए जाते। फलस्वरूप कुछ प्रकार के सुनिश्चितीकरण जो उसमें संभव हैं, अंग्रेजी व्याकरण में संभव नहीं हैं। उदाहरण के लिए यदि किसी वाक्य के केवल क्रिया पद (जैसे 'खाता है') को ही हम सुनते हैं तो यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इस वाक्य का कर्ता कोई पुल्लिंग शब्द ही होगा, किन्तु 'खाता' है के अंग्रेजी प्रयोग से ऐसा सुनिश्चित अनुमान नहीं निकाला जा सकता।

आधुनिक भाषिकी का एक प्रमुख संप्रदाय, सृजनात्मक भाषिकी[६], भाषिकी को मनोविज्ञान से काफी निकट मानता है। इसका प्रवर्तक चाम्सकी उसे संज्ञानात्मक मनोविज्ञान की एक शाखा मानते हैं। इस संप्रदाय के अनुसार भाषीय प्रयोगों के दो पक्ष हैं- दक्षता[७] और प्रयोगकुशलता[८]। भाषीय प्रयोगों की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी सृजनात्मकता है। इसका अर्थ है कि प्रयोक्ता नए, अनसुने, अनपढ़े, वाक्यों को बना सकता है और दूसरों के द्वारा प्रस्तुत होने पर उन्हें समझ सकता है। ऐसा इसलिए संभव है कि भाषीय प्रयोग के मूल में कुछ नियम रहते हैं जिन्हें प्रयोक्ता सीख लेता है, जिन्हें वह अपने मन में अंतस्थ कर लेता है। इन नियमों पर अधिकार लेना उसकी दक्षता है, और उनके अनुसार भाषीय प्रयोग करना उसकी प्रयोगकुशलता। भाषा के ये नियम उस भाषाखण्ड[९] में, जिसका वह प्रयोग करता है, नहीं निहित रहते, बल्कि प्रयोक्ता के मन में उसकी दक्षता के रूप में अंतस्थ रहते हैं। इसलिए भाषीय प्रयोगों का अध्ययन मात्र भाषिकी का लक्ष्य नहीं होना चाहिए, बल्कि प्रयोग की दक्षता का अन्वेषण, जिससे वह उन आधारिक नियमों को ढूढ़ निकाले। ये नियम भाषा के हर पक्ष, उसकी वाक्यरचना, उच्चारण पद्धति, सार्थकता, आदि को ये निर्दिष्ट करते हैं। इन नियमों को ढूँढ़ निकालने का मार्ग है अंतर्निरीक्षण। हमें अपने अंदर झाँक कर देखना है कि हम किस प्रकार किसी वाक्य को समझते हैं, उसकी व्याख्या करते हैं, उसके अनुसार अपने व्यवहार को संचालित करते हैं, इत्यादि। अपनी भाषा के विषय में भाषा के पैदायशी प्रयोक्ता के अंदर कुछ अंर्तज्ञान, सहजबोध रहता है। इसी भाषीय सहजबोध के आधार पर प्रयोक्ता की दक्षता का, आधारिक भाषीय नियमों का, अन्वेषण हो सकता है।[१०]

चूँकि भाषिकी भी एक (आनुभविक) विज्ञान है, इसके भी निजी, घरेलू, आंतरिक, संप्रत्यय होते हैं और संप्रत्ययात्मक समस्याएँ भी होती हैं। चूँकि दर्शन किसी भी विज्ञान से संबंधित संप्रत्ययों और संप्रत्ययात्मक समस्याओं का अध्ययन कर सकता है, वह भाषिकी के संप्रत्ययों और संप्रत्ययात्मक समस्याओं का भी अध्ययन करता है। ऐसे अध्ययन करने वाली दर्शन की शाखा को भाषिकी-दर्शन कहेंगे, न कि भाषादर्शन। भाषा-दर्शन भाषा संबंधी, हमारे भाषाबोध संबंधी, संप्रत्ययो और संप्रत्ययात्मक प्रश्नों का अन्वेषण-विश्लेषण करता है, न कि भाषिकी के संप्रत्ययों और संप्रत्ययात्मक प्रश्नों का। उदाहरण के लिए, यह प्रश्न कि, क्या भाषिकी की पूर्वकल्पनाओं की परीक्षा उन्हीं तरीकों से हो सकती है जिनसे अन्य आनुभविक विज्ञानों की पूर्वकल्पनाओं की होती है, या उसमें कुछ नए तरीकों का प्रयोग करना आवश्यक है, भाषिकी दर्शन का है, जबकि यह कि 'भाषा की सार्थकता के लिए क्या यह जरूरी है कि उसके द्वारा किसी वस्तु या तथ्य का निर्देश हो', भाषादर्शन का प्रश्न है।

भाषादर्शन दर्शन की कोई बिलकुल ही नई शाखा नहीं है। भाषा पर दार्शनिक चिंतन के पर्याप्त उदाहरण इस सदी के पहले के, बल्कि कुछ प्राचीन भारतीय और अ-भारतीय, दार्शनिकों की रचनाओं में भी मिलेंगे। किन्तु सजग और क्रमबद्ध रूप में इसका अनुशीलन इस सदी के उत्तरार्ध में आरंभ हुआ है। कुछ विचारक तो आज भी कहते हैं कि इसकी रूपरेखा अभी पूर्णत: सुनिश्चित नहीं हुई है। यह ठीक है कि इसकी समस्याएँ और चहरदीवारी दर्शन की प्रतिष्ठित शाखाओं, जैसे ज्ञानमीमांसा, तर्कशास्त्र, आदि की तरह सुस्थिर नहीं हुई है, फिर भी इसकी रूपरेखा अनिश्चित नहीं है। किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि भाषादर्शन पर कोई रचना अधिक वाद-विवाद का विषय बन सकती है और यह भी संभव है कि जिसे कोई विचारक भाषादर्शन का एक मुख्य प्रश्न मानता हो उस पर दर्शन की कोई अन्य शाखा अपना एकाधिकार समझती हो। बौद्धिक दृष्टि से ऐसी स्थिति को शोचनीय या निन्दनीय कहा जा सकता है। ज्ञान की हर शाखा ऐसी स्थिति से गुजरती है।

***

संदर्भ सूची

१. *Symmetrical.*

२. *Linguistic Universals.*

३. *Object Language.*

४. *Meta-Language.*

५. *Spoken Language, speech.*

६. *Generative Linguistics.*

७. *Competence.*

८. *Performance.*

९. *Corpus.*

१०. *देखिए चाम्सकी, नोआम, ऐस्पेक्ट्स ऑफ दी थियोरी ऑफ सिन्टैक्स, पृ. ४।*

भाषा का स्वरूप

१– विषय प्रवेश

भाषा का प्रयोग हम सभी करते हैं। इसलिए एक अर्थ में हम सभी जानते हैं कि भाषा क्या है। अरस्तु ने मनुष्य को बौद्धिक प्राणी कहकर परिभाषित किया है, किन्तु मुझे लगता है कि यदि उसकी परिभाषा भाषीय प्राणी, अर्थात् भाषा का प्रयोग करने वाले प्राणी, के रूप में की जाय तो वह भी कम उपयुक्त न होगी। वस्तुत: हम अपनी बुद्धि से कम प्रयोग अपनी भाषा का नहीं करते हैं। बिना भाषा के मनुष्य का जीवन हम बिता भी नहीं सकते। किन्तु भाषा से सुपरिचित होने पर भी उसके स्वरूप का विवेचन करना आसान नहीं है। हम जानते हैं कि हवा क्या है, उसके बिना एक पल भी जी नहीं सकते; उसकी कमी होने पर हमारा दम घुटने लगता है जिससे उसकी कमी की चेतना तुरंत हो जाती है। फिर भी हवा के स्वरूप का विवेचन हम सभी के लिए सरल नहीं है। यही स्थिति भाषा के साथ भी है।

चूँकि हम सभी भाषा से सुपरिचित हैं, प्रस्तुत विवेचन को मैं भाषा की किसी परिभाषा से आरंभ नहीं करूँगा, बल्कि क्रमिक रूप में, उसके विभिन्न पक्षों के वर्णन के द्वारा, उसके स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न करूँगा। ऐसे विषयों के विवेचन में ही नहीं, बल्कि साधारणतया परिभाषाएँ अधिक उपयोगी नहीं होती।

२– प्रतीक पद्धति

जब मैं किसी से कहता हूँ कि हाथी' के पैर बड़े मोटे होते हैं तो ऐसा कहने के लिए या उससे मेरे कथन को समझने के लिए, हाथी का उस समय वहाँ मौजूद होना आवश्यक नहीं है। और यदि हाथी वहाँ है भी तो मेरे कहने का, 'हाथी' शब्द का, हाथी से कोई भौतिक या सत्तात्मक, संबंध नहीं है। 'हाथी' शब्द से भिन्न है, वह हाथी नहीं है। हाथी के पैर बड़े मोटे होते हैं, 'हाथी' शब्द के नहीं बल्कि उसके या किसी भी शब्द के संबंध में पैर होने या न होने की चर्चा ही निरर्थक होगी। फिर भी हाथी शब्द और 'हाथी' में कुछ तो संबंध होगा ही अन्यथा 'हाथी' के द्वारा हम हाथी के विषय में कुछ नहीं कह सकते। इस संबंध को प्राय: प्रतीकीकरण का संबंध कहा जाता है। प्रतीकीकरण एक तरफा होता है। अर्थात् 'हाथी' शब्द हाथी का प्रतीक है, हाथी 'हाथी' का नहीं। प्रतीकीकरण के संप्रत्यय में ही निहित है कि यह संबंध असममित[१] होगा, अर्थात् जब क ख का प्रतीक होगा तो ख क का प्रतीक नहीं होगा। भाषा को प्रतीकों की वृहद् समष्टि कह सकते हैं। अर्थात् भाषा की बनावट करने वाले तत्त्व वैसे पदार्थ होते हैं जो किसी न किसी अन्य तत्त्व को प्रतीकित करते हैं, जिनके अस्तित्त्व का सार इसी में है कि वे अपने से भिन्न किसी अन्य तत्त्व के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हो सकें।

प्रतीक का जीवन पूरी तरह परार्थ, दूसरे के लिए, होता है और जिस समय वह स्वार्थी हो जायेगा, उसका प्रतीकत्व समाप्त हो जायेगा। ऊपर हमने 'हाथी' का उदाहरण दिया है। जिस पदार्थ का वह प्रतीक है, वह मूर्त है, देखने-छूने लायक, पशु है। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सभी भाषीय तत्त्व या सभी शब्दों के द्वारा प्रतीकित पदार्थ मूर्त होते हैं। शब्दों से कुछ भी, मूर्त या अमूर्त,

सत्तावान या सत्तारहित, भौतिक या मानसिक, द्रव्य, गुण, क्रिया या सम्बन्ध इत्यादि प्रतीकित हो सकते हैं। उदाहरण के लिए 'न्याय' का प्रतीक अमूर्त है, 'क्रोध' का एक मनोविकार, लाली का एक ऐन्द्रिय गुण, 'चलना' एक क्रिया, 'मायप' का एक सम्बन्ध। भाषा द्वारा सब कुछ प्रतीकित हो सकता है और भाषीय प्रतीकीकरण की सीमा बातचीत की, चर्चा की, सम्प्रेषण सीमा है। जिसका हमारे पास भाषीय प्रतीक नहीं है, उसकी चर्चा ही हम नहीं कर सकते। बल्कि कुछ विद्वान तो यह भी कहते हैं कि हम उसके विषय में सोच-विचार भी नहीं कर सकते।

प्रतीक कई प्रकार के हो सकते हैं। जैसे काले बादल वर्षा के प्रतीक माने जाते हैं, लाल चेहरा क्रोध का, गाँधीजी का चित्र गांधीजी का (क्योंकि हम उस पर फूल माला चढ़ाकर गांधीजी का सम्मान करने जैसा अनुभव करते हैं), पीला रंग शुभ का, तिरंगा झंडा राष्ट्रीयता का। कभी-कभी हम व्यक्तिगत प्रतीक भी बना लेते हैं, जैसे कोई व्यक्ति किसी को पत्र लिखकर आखिर में गुणा का चिन्ह लगा दे, यह बताने के लिये कि वह उससे फिर मिलेगा। गुणा का चिन्ह फिर मिलने के वादे का प्रतीक नहीं है, किन्तु यदि कोई चाहे तो इसे उसका प्रतीक बना सकता है।

काले बादल, लाल चेहरा, गाँधीजी का चित्र, ये सभी मूर्त, प्राकृतिक, पदार्थ हैं। हम इनको देश-काल में अनुभव कर सकते हैं, इन्हें दूसरों को दिखा सकते हैं जिन्हें ये प्रतीकित करते हैं, उनके साथ इनका संबंध भी प्राकृतिक है। काले बादल वर्षा का कारण माने जाते हैं, लाल चहरा क्रोध का स्वाभाविक लक्षण माना जाता है, गाँधीजी का चित्र गाँधीजी के शरीर को चित्रित करता है क्योंकि दोनों में संरचनात्मक समानता है। इन सभी प्रतीकों का उनके प्रतीकित पदार्थों से जो संबंध है वह किसी न किसी तथ्य पर आधारित है। इसलिए ऐसे प्रतीकों को हम प्राकृतिक या तथ्यात्मक प्रतीक कहेंगे। किन्तु पीला रंग और शुभत्व में, या तिरंगा झंडा और भारत के राष्ट्रत्व में कोई प्राकृतिक, तथ्यात्मक संबंध नहीं है। यह तो हिन्दु समाज ने मान लिया है कि पीले रंग को शुभ का सूचक समझेंगे, पीले को शुभ का सूचक मानने में किसी प्रकार की स्वाभाविकता या अनिवार्यता नहीं है; किसी भी रंग को शुभ सूचक मानने में कोई तार्किक असंगति भी नहीं है। इस प्रकार के प्रतीकों के व्यवहार में एक प्रकार की स्वेच्छाचारिता, अबाध्यता, निहित रहती है। सफेद बादल को वर्षा का प्रतीक मानने में कुछ आस्वाभाविकता है, तथ्यात्मक विरोध भी, क्योंकि सफेद बादलों का साहचर्य सूखा से, न कि वर्षा से पाया जाता है, किन्तु सफेद कपड़े को शुभ का प्रतीक मानने में ऐसी कोई बाध्यता नहीं है। ऐसे प्रतीकों को जिनके प्रयोग में कोई बाध्यता नहीं रहती, हम रूढ़ प्रतीक कहेंगे। ये कृत्रिम, परम्पराजन्य होते हैं।

प्राकृतिक प्रतीकों के लिए कुछ विद्वान 'चिन्ह' शब्द का व्यवहार करते हैं और 'प्रतीक' केवल रूढ़ प्रतीकों के लिए आरक्षित रखते हैं। वस्तुत: 'चिन्ह' और 'प्रतीक में कोई महत्त्वपूर्ण अर्थभेद नहीं है। और मेरा पक्षपात कम से कम पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग के लिए है, इसीलिए हम दोनों को प्रतीक ही कहेंगे और उनके भेद को आवश्यकता पड़ने पर 'प्राकृतिक तथ्यात्मक' और 'रूढ़ परम्पराजन्य' विशेषणों से व्यक्त करेंगे।

३– भाषा : रूढ़ प्रतीकों की समष्टि

हमने भाषा को प्रतीकों की समष्टि कहा है। अब हम इसे और भी स्पष्ट कर कह सकते हैं कि भाषा रूढ़ प्रतीकों की समष्टि है। एक अर्थ में तो भाषा के निर्मायक प्रतीक शब्द, या शब्दों के समूह, भी मूर्त पदार्थ हैं क्योंकि ध्वनि के रूप में उन्हें सुना जा सकता है, लिखित चिन्हों के रूप में उन्हें देखा जा सकता है। फिर भी वे उस अर्थ में मूर्त या भौतिक नहीं हैं जिस अर्थ में साधारणतया मूर्त या भौतिक समझे जाने वाले पदार्थ हैं। उदाहरण के लिए 'हाथी' शब्द उसी अर्थ में मूर्त या भौतिक नहीं है जिसमें हाथी मूर्त या भौतिक है। शब्दों और उनके समूहों को मानसिक भी कहना निरापद नहीं है। क्रोध एक

मनोदशा है, किन्तु जिस अर्थ में क्रोध को मानसिक कहेंगे, उसी अर्थ में 'क्रोध' शब्द को मानसिक नहीं कह सकते। जिन प्रतीकों से भाषा बनीं है वे हैं शब्द (जैसे 'हाथी') और शब्दों के समूह (जैसे 'राजा का काला हाथी'); हम इन्हें भाषीय प्रतीक कहेंगे यह जतलाने के लिए कि ये प्रतीक रूप में प्रयोग होने वाले भौतिक-मानसिक पदार्थों से तत्त्वत: भिन्न हैं, अन्यथा इन्हें 'भाषीय' कहना द्विरुक्तिपूर्ण ही है क्योंकि भाषा के अवयव भाषीय नहीं तो और क्या होंगे।

शब्दों के विषय में एक महत्त्वपूर्ण भेद का उल्लेख करना यहाँ जरूरी है। एक ही शब्द जैसे 'राम'को कई प्रकारों से लिखा-बोला जा सकता है। यदि हम उसके विभिन्न लिखित या उच्चारित रूपों पर ध्यान दें तो यह समस्या आती है कि उन सबको क्यों एक ही शब्द कहा जाय। उसी तरह, एक वाक्य में कुछ शब्द अनेक बार आ सकते हैं, जैसे 'हरे राम, हरे राम, राम, राम, हरे, हरे' में 'हरे' और 'राम' चार-चार बार आये हैं। एक दृष्टि से इस वाक्य में आठ शब्द हैं, दूसरी दृष्टि से केवल दो ही। ऐसी स्थिति में इस वाक्य के शब्दों की संख्या कितनी कही जाय ? ऐसी समस्याओं के लिए अमरीकी दार्शनिक चार्लस् पर्स ने 'प्ररूप'[३] और 'दृष्टांत'[४] दो तकनीकी शब्दों के प्रयोग द्वारा एक महत्त्वपूर्ण भाषीय भेद की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। उनकी शब्दावली में प्ररूप शब्द 'राम' एक है और दृष्टांत शब्द 'राम' अनेक हो सकते हैं क्योंकि प्ररूप 'राम' का दृष्टांतीकरण अनन्त प्रकारों से किया जा सकता है - उसे अनेक तरीकों से लिखा-बोला जा सकता है। पर्स की शब्दावली का प्रयोग कर हम कह सकते हैं कि उपर्युक्त वाक्य में दो प्ररूप शब्द ('हरे', 'राम') हैं और आठ दृष्टांत शब्द ('हरे', 'राम', 'हरे', 'राम', 'राम', 'राम', 'हरे', 'हरे')। जब हम किसी शब्द को मिटा या काट देते हैं , तो दृष्टांत शब्द को, न कि प्ररूप शब्द को मिटाते या काटते हैं। भाषीय प्रतीक रूढ़ होते हैं, न कि तथ्यात्मक क्योंकि उनमें और उनके द्वारा प्रतीकित पदार्थों में कोई तथ्यात्मक या तात्त्विक संबंध नहीं होता; दोनों में किसी प्रकार का साम्य, कार्य-कारण संबंध, सहचर्य आदि कुछ भी नहीं होता है। 'हाथी' शब्द और हाथी का संबंध यही है कि 'हाथी' से हम हाथी का बोध करते हैं और हमारे इस बोध के लिए कोई तथ्यात्मक कारण नहीं है। यह तो एक रिवाज या प्रचलन मात्र है कि हम 'हाथी' को हाथी की संज्ञा देते हैं, कोई और नहीं। यदि हम चाहें तो उसे किसी और संज्ञा द्वारा भी संबोधित कर सकते हैं, और वैसा करने में कोई अनौचित्य भी नहीं होगा। बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश वाले 'कद्दू' शब्द से लौकी समझते हैं, जबकि मध्य और पश्चिमी उत्तर प्रदेश वाले 'कद्दू' को सीताफल का पर्याय समझते है, हालाँकि 'लौकी' का प्रयोग ये एक ही अर्थ में करते हैं। इसमें किसी प्रकार का प्रयोग भी गलत नहीं है। वस्तुत: भाषीय प्रयोगों में कोई भी निरपेक्ष रूप में गलत या सही नहीं होता। काले बादल को सूखे का चिन्ह समझना तथ्यत: गलत है क्योंकि सूखे के साथ उसका साहचर्य अनुभव से समर्थित नहीं है; किन्तु किसी भी भाषीय प्रयोग का औचित्य या अनौचित्य किसी तथ्य, प्राकृतिक घटना-क्रम, या नियम से संबद्ध नहीं है। जो प्रयोग प्रचलित है, लोकव्यवहार में स्वीकृत है, जिसे लोग लिखने-बोलने में चलाते हैं, समझते हैं, वही सही है और जो ऐसा नहीं है, वह गलत है। सही और गलत भाषीय प्रयोगों के निर्णायक लोक व्यवहार, प्रचलन, संबद्ध भाषा के प्रयोक्ताओं की स्वीकृति है, न कि कोई तथ्य या सत्तात्मक स्थिति।

उपर्युक्त सत्य को कभी-कभी यह कहकर व्यक्त किया जाता है कि भाषा की प्रतीक-पद्धति बिलकुल निरंकुश है, उसके संचालन में हम स्वच्छन्द हैं। जिस शब्द को हम जिस पदार्थ का प्रतीक बनाना चाहें, बना सकते हैं। वस्तुत: हमारी स्वच्छन्दता सैद्धांतिक, या संप्रत्ययात्मक अधिक है, व्यावहारिक कम। सिद्धान्तत: हम किसी शब्द को किसी भी अर्थ में प्रयुक्त कर सकते हैं, किन्तु ऐसा करना व्यावहारिक दृष्टि से संकटमय होगा क्योंकि, यदि हमारा अर्थ प्रचलित अर्थ से बिल्कुल भिन्न है तो, हमारी बात कोई समझेगा ही नहीं और इसलिए भाषा के माध्यम से जिस प्रकार का सहयोग हम अपने

भाषीय समुदाय से चाहते हैं, नहीं पाएँगे। उदाहण के लिए यदि मैं 'कलम' को छाता और 'छाते' को कलम का प्रतीक बना लूँ तो संभव है कि मेरा लड़का लिखने के लिए मुझे छाता दे दे और वर्षा से बचने के लिए कलम। इस प्रकार भाषा की प्रतीक पद्धति में हमारी सैद्धांतिक स्वच्छन्दता संप्रेषणीयता की माँग से इतनी नियंत्रित रहती है कि भाषा के प्रयोग में हम अपने को पूर्णत: स्वच्छन्द नहीं पाते या अनुभव करते। भाषा के प्रयोग का मुख्य लक्ष्य है अपनी बात को दूसरों तक इस प्रकार पहुँचाना कि वे उसे उसी अर्थ में समझें जो वक्ता (या लेखक) को अभिप्रेत है। यदि अपने शब्दों का प्रयोग कोई वक्ता उनके प्रचलित अर्थों से भिन्न अर्थों में करता है तो यह संभव नहीं हो पायेगा मनमाने प्रयोग का फल औरों की नजर में अर्थहीन भी दीख सकता है। यदि कलम के लिए 'छाता' प्रयोग मैं करूँ और अपने लड़के से लिखने के लिए छाता माँगू तो मेरी बात उसको अर्थहीन अवश्य लगेगी, यदि उसे यह मालूम नहीं है कि जिसे वह 'कलम' शब्द से सूचित करता है उसे मैं 'छाता' से कर रहा हूँ।

यद्यपि सभी भाषीय प्रयोगों की गरिमा उनकी आधारभूत रूढ़ियों, प्रचलनों, परंपराओं का परिणाम है, और ये रूढ़ियाँ, प्रचलन, भाषा के प्रयोक्ताओं पर प्रकृति द्वारा थोपी गई नहीं है, बल्कि एक अर्थ में ये मानवी कृति हैं, फिर भी इनका नियंत्रण व्यवहार में कम कठोर नहीं है। ये इस अर्थ में मानवी कृति भी नहीं हैं कि मनुष्यों के किसी वर्ग, या किसी व्यक्ति ने किसी दिन इन्हें संकल्प द्वारा बनाया हो और इनका पालन करने का निर्णय किया हो। इनको तो हम उनकी सांस्कृतिक विरासत के रूप में प्राप्त करते हैं, और इनकी शुरूवात या इनका विकास कालक्रम में, करीब-करीब अनजाने, अचेतन रूप में होता है। किसी भी भाषीय प्रयोग के प्रथम उदाहण को निश्चत करना असंभव है, और चूँकि भाषा का आदि भाषीय परंपराओं का आदि है, भाषा का आदि बतलाना भी असंभव है। इस विषय में केवल मन को बहलाने वाली कल्पनाएँ ही की जा सकतीं हैं, कोई बौद्धिक अन्वेषण नहीं हो सकता। यही कारण है कि वर्षों पहले पेरिस की भाषीकी परिषद् ने अपनी बैठकों में भाषा की उत्पत्ति पर लिखे निबन्धों के पाठ को वर्जित कर दिया था। इसलिए सबसे पुरानी भाषा की खोज भी सारहीन है। जैसा कि नृविज्ञानी और भाषा-शास्त्री एडवर्ड सपीद[५] ने कहा है, ऐसी कोई भी जाति प्राचीन से प्राचीन, नहीं है जिसके पास उसकी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पूर्णत: विकसित भाषा न रही हो। किसी भी भाषा, संस्कृत, लैटिन, आदि को प्राचीनतम या आदि भाषा कहने में औचित्य नहीं है।

भाषीय परंपराएँ हमारे भाषीय प्रयोगों को नियंत्रित करती हैं और यह नियंत्रण काफी कठोर भी होता है, किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि इनमें कोई परिवर्तन हम ला नहीं सकते। परिवर्तन की संभावना तो भाषा के संप्रत्यय में ही निहित है। जो भाषा परिवर्तनों को असंभव कर देती है वह कालक्रम में मृत हो जाती है। कुछ विद्वानों का मत है कि संस्कृत भाषा इसीलिए जनता के प्रयोग में न रह पाई और मृत या मृत-जैसी हो गई, क्योंकि वैयाकरणों ने इस प्रकार का अनुशासन उस पर लाद दिया कि उसमें परिवर्तन लाना असंभव सा हो गया था। भाषा के विकास के लिए परिवर्तन और परंपरा में सामंजस्य रखना पड़ता है जो बड़ा ही नाजुक काम है। विचारों के नए प्रवर्तकों को यह सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है क्योंकि तभी वे प्रचलित परंपराओं में परिवर्तन लाकर अपने नए विचारों के लिए आवश्यक पदावली बनाते हैं, किन्तु ऐसे संतुलन या तालमेल के साथ कि परंपरागत भाषा के प्रयोक्ता को वे बिल्कुल दुर्बोध नहीं होतीं। हमने कहा है कि भाषा प्रतीकों की समष्टि है। अब तक हमने देखा कि किस प्रकार के प्रतीक भाषा के निर्मायक हैं। अब हमें यह देखना है कि भाषा समष्टि कैसे है। समष्टियाँ दो प्रकार की होती हैं, बंद और खुली हुई। बंद समष्टि की चहारदीवारी निश्चित होती हैं, उसके अन्दर किसी बाहरी तत्त्व का प्रवेश नहीं हो सकता। लाइबनिज के चिद्बिंदु[६] बंद समष्टि के अच्छे उदाहरण हैं। भाषा के क्षेत्र में कृत्रिम भाषाएँ, जैसे ज्यामिति की भाषा, तर्कशास्त्र में प्रतिज्ञप्तिकलन[७] की भाषा, बंद समष्टि

के उदाहरण हैं। किसी भी सुगठित ज्यामिति में कुछ आद्य पद[८] होते हैं, कुछ स्वयंसिद्धियाँ[९] होती हैं, कुछ परिभाषाएँ होती हैं जिनके द्वारा आद्य पदों में असमाविष्ट, नए पदों को आद्य, या आद्य पदों द्वारा परिभाष्य, पदों के माध्यम से परिभाषित किया जा सके। उसमें कुछ अनुमान नियम[१०] होते हैं जिनके प्रयोग से स्वयंसिद्धियों से निगमन निकाले जा सकते हैं। ऐसी समष्टि में वही तत्त्व रह सकते हैं जो स्वयंसिद्धियों से स्वीकृत अनुमान नियम द्वारा नियमित हो सकतें हैं, या स्वीकृत परिभाषाओं द्वारा आद्य के माध्यम से परिभाषित किए जा सकते हैं। न तो कोई नया आद्य पद जोड़ा जा सकता है, न कोई नई स्वयंसिद्धि, न कोई नया अनुमान नियम, न कोई नई परिभाषा। ऐसे किसी भी नए तत्त्व को लाने से समष्टि दूसरी ही समष्टि बन जायेगी।

भाषा, जिससे हमारा तात्पर्य यहाँ साधारण, प्राकृतिक भाषा से है; बंद नहीं बल्कि खुले मुँह वाली समष्टि है। अर्थात्, यह समष्टि तो है, किन्तु ऐसा कि उसमें नए तत्त्व उसके समष्टित्व को विनिष्ट किए बिना लाए जा सकते हैं। भाषा समष्टि है क्योंकि उसके निर्मायक प्रतीकों के प्रयोग नियमित तरीकों से होते हैं। उच्चारण, संरचना और अर्थबोध के कुछ नियम होते हैं जो भाषीय अवयवों के प्रयोग में नियमितता लाते हैं, नहीं तो इतनी अराजकता आ जाय कि कोई किसी का अर्थ ही न समझ पाए।

४– भाषा का नियमानुशासन

किसी भी एकभाषी समुदाय के सदस्य एक ही प्रकार के भाषीय नियमों को सीखे हुए होते हैं, या सीखते हैं, इसलिए किसी के द्वारा कहे गए किसी नए वाक्य को ठीक-ठीक समझ पाते हैं। यदि वक्ता और श्रोता एक ही प्रकार के भाषीय नियमों का प्रयोग न करें तो वक्ता के वाक्य को, उसी अर्थ में जिस अर्थ में वह प्रयोग कर रहा है, श्रोता का समझ लेना दैवयोग से ही संभव हो पायेगा। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। प्राय: श्रोता वक्ता की बातों को उसी अर्थ में समझ लेता है जिस अर्थ में उनका समझा जाना वक्ता का अभीष्ट होता है। दोनों द्वारा एक ही प्रकार के भाषीय नियमों का प्रयोग इस तरह के भाषीय आदान-प्रदान के लिए बहुत-कुछ उत्तरदायी है। इसके लिए संदर्भ की जानकारी भी जरूरी है, अर्थ-बोध के लिए यह भी जानना जरूरी है कि किसी बात के कहने का संदर्भ क्या है। संदर्भ का ठीक-ठीक ज्ञान न होने पर यह संभव है कि श्रोता वक्ता की बात गलत, या अभिप्रेत से भिन्न, अर्थ में ले ले। किन्तु केवल संदर्भ का ज्ञान ही सही अर्थ के बोध के लिए पर्याप्त नहीं है। भाषीय नियमों की एकरूपता भी जरूरी है।

जब कोई व्यक्ति क किसी ख से कुछ कहना चाहता है तो वह अपने विचारों को शब्दबद्ध करता है, और अपने वचन(या लेखन) द्वारा ख तक पहुँचाता है। यों कहिए कि वह अपने विचारों को भाषा के लिफाफे में डालकर ख के पास भेजता है। यदि ख ने उसके शब्दों से, या शब्दों के लिफाफे से, उन्हीं विचारों को निकाला जो क को अभिप्रेत थे तो कहेंगे कि ख ने उन्हें ठीक-ठीक समझा। विचारों को शब्दों में डालने के लिए शब्दों को खास ढंग से सजाना पड़ता है और सजाने के ये ढंग भाषीय नियमों द्वारा निर्धारित होते हैं। जिस नियम के अनुसार क अपने शब्दों को सजाता है, उसी नियम के अनुसार उसके शब्दों से उसके आशय निकालने पर ख उसे ठीक-ठीक समझ पाता है। यदि नियम-भेद हो गया तो अर्थ भेद भी हो जायेगा। हिन्दी वाक्यरचना का नियम है कि आदर के लिए एकवचन कर्ता के लिए बहुवचन की क्रिया प्रयुक्त की जाती है, जैसे 'भारत के वर्तमान प्रधानमंत्री शाकाहारी हैं' में किया गया है। मनन कीजिए क उपर्युक्त नियम के अनुसार उक्त वाक्य को ख से कहता है, किन्तु ख इस वाक्य पर हिन्दी के दूसरे नियम 'बहुवचन के कर्ता के लिए क्रिया भी बहुवचन की होती हैं' का प्रयोग कर यह अर्थ निकलता है कि क के अनुसार अभी भारत के कई, एक से अधिक, प्रधानमंत्री हैं और वे सभी शाकाहारी हैं (जैसा कि क का अर्थ होता यदि उसने कहा होता 'भारत के वर्तमान प्रधानमंत्री शाकाहारी हैं')। ऐसी

स्थिति में हम कहेंगे कि ख ने क के वाक्य को गलत अर्थ में समझा और उसकी इस गलती की व्याख्या हम यह कह कर करेंगे कि जिस भाषीय नियम का प्रयोग क ने अपने वाक्य की रचना में किया था उससे भिन्न नियम का प्रयोग ख ने उस वाक्य के अर्थ ग्रहण करने में किया।

यदि अपनी व्याख्या को हम और अधिक गहराई में ले जायें तो यह कह सकते हैं कि ऐसा इसलिए संभव हो पाया क्योंकि ख ने उक्त वाक्य से अर्थ ग्रहण में क के द्वारा प्रयुक्त नियम से भिन्न नियम का प्रयोग किया - क्योंकि जब कर्ता 'ने' चिन्ह लेने का अधिकारी नहीं होता है (जैसा कि 'भारत के वर्तमान प्रधानपमंत्री शाकाहारी हैं' के कर्ता के लिए सत्य है) तो दोनों, भिन्न,नियमों के प्रयोग का परिणाम एक ही प्रकार की भाषीय संरचना होती है। ऐसी स्थिति में संदर्भ के ज्ञान द्वारा ही यह निश्चित किया जा सकता है कि किस नियम का प्रयोग, उक्त वाक्य के वास्तविक, वक्ता द्वारा अभिप्रेत अर्थ को ग्रहण करने के लिए, करना चाहिए। जिसे भारत के संविधान का संदर्भ मालूम है वह उक्त वाक्य के कर्ता को एकवचन में ही लेगा।

उपर्यक्त विवेचन से भाषीय नियमों और संदर्भो के महत्त्व के साथ-साथ यह भी झलकता है कि कुछ भाषीय संरचनाएँ अनेकार्थक भी होती हैं। अर्थात्, एक ही संरचना एक से अधिक नियमों द्वारा गठित, या एक से अधिक अर्थों का वाहक, हो सकती है।

भाषीय नियमों के विषय में एक मत यह है कि उन्हें क्रमबद्ध या समष्टिगत रूप नहीं दिया जा सकता। एक दूसरे से वे इतने असंबद्ध, इतने अनगढ़, अस्तव्यस्त, अनिश्चित रूपरेखा वाले हैं कि उनकी संख्या निश्चित करना, उनको आपस में संबद्ध कर समष्टित करना, संभव नहीं है। इस मत के मानने वालों में कई महत्त्वपूर्ण भाषाशास्त्री और दार्शनिक हैं। परंपरागत व्याकरण प्राय: इसी मत के आधार पर बना था। सभी भाषाओं के परंपरागत व्याकरण के ग्रंथ भाषीय नियमों की सूची भर देते हैं, उन्हें किसी समष्टि में सजाते नहीं। संस्कृत व्याकरण इसका अपवाद है। पाणिनी ने व्याकरण को एक निगमनात्मक समष्टि का रूप देने की चेष्टा की थी। आधुनिक सृजनात्मक व्याकरण[11] के प्रवर्तक-समर्थक भाषा-शास्त्री भी यह मानते हैं कि भाषीय नियमों की समष्टि बन सकती है; और, उनका मत है कि विशिष्ट भाषाओं के नियमों का ही नहीं, बल्कि भाषा मात्र के नियमों का, अर्थात् उन नियमों का जो सभी विशिष्ट भाषाओं के लिए वैध हैं, समष्टिकरण हो सकता है। किन्तु ऐसे प्रयत्नों का विवरण या उसकी परीक्षा हम यहाँ नहीं कर सकते क्योंकि वैसा करने का मतलब होगा भाषीकी के अंतस्थल में पैठना जो हमारा लक्ष्य नहीं है।

हिन्दी के भाषीय नियमों की, उनके समष्टिकरण की संभावना की दृष्टि से, विवेचना और परीक्षा भावी अन्वेषण के लिए, अत्यंत ही आकर्षक और चुनौती भरा विषय है। किन्तु अभी तक हिन्दी नियमों का विवरण-विवेचन भी सांगोपांग नहीं हो पाया है, उनको समष्टिगत करने की तो बात बहुत दूर की है।

भाषीय नियमों को ज्यामिति या तर्कशास्त्र के नियमों की तरह निगमनात्मक समष्टि का रूप दिया जा सके या नहीं, किन्तु इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उनके द्वारा भाषीय प्रयोग अनुशासित होते हैं। कोई भी भाषा का प्रयोक्ता अपने प्रयोगों को ठीक ढंग से अनुशासित कर पाने में गर्व का, भाषीय कुशलता का अनुभव करता है और व्यवहार में सफल भी होता है। कहा जाता है कि आद्य अक्षर का लाघव संपन्न कर सकने पर भाषाशास्त्री पुत्र जन्मोत्सव - जैसा हर्ष मनाता है। इस रूपक का आशय यही है कि भाषानुशासन में अपव्यय के लिए स्थान नहीं है। हम इसमें यह जोड़ना चाहेंगे कि भाषीय अपव्यय के साथ-साथ, भाषीय कृपणता भी, सफल संप्रेषण की दृष्टि से समानतया

अवांछनीय है। भाषानुशासन अपव्यय और कृपणता में संतुलन स्थापित करने में सहायक होता है। नियमानुशासन के चलते ही भाषा प्रतीकों की समष्टि बन पाती है, उनका ढेर मात्र नहीं रह जाती।

नियमानुशासित होने के कारण ही हम गलत और सही प्रयोगों में भेद कर सकते हैं।[१२] वे लोग जो नियमों के स्वरूप के विषय में स्पष्ट ज्ञान नहीं रखते, या किसी नियम को ठीक-ठीक व्यक्त नहीं कर सकते, उनके गलत प्रयोगों को पहचान लेते हैं। 'काला गाय' गलत प्रयोग है, और 'काली गाय' ठीक है, यह वे भी जानते हैं जिन्हें हिन्दी व्याकरण के नियम 'विशेषण का लिंग उसके द्वारा विशेषित संज्ञा के अनुसार होता है' की स्पष्ट चेतना या उसे व्यक्त करने की क्षमता नहीं है। किन्तु जब यह प्रश्न उठे कि 'काला गाय' क्यों गलत है तो हमें उपर्युक्त नियम का सहारा लेना ही पड़ेगा। प्रयोगों के सही और गलत होने की व्याख्या नियमों के माध्यम से ही हो सकती है।

हमने देखा है कि भाषीय प्रयोग सृजनात्मक होते हैं, अर्थात् जिसने किसी भाषा को ठीक से सीख लिया है, जो उसका कुशल प्रयोक्ता (वक्ता या लेखक) है, उसमें ऐसी दक्षता रहती है कि वह नए वाक्यों का अर्थ समझ लेता है और स्वयं नए वाक्यों का सृजन कर सकता है, सृजनात्मकता की सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती। यदि कोई पूछे कि कितने नए वाक्यों को एक प्रयोक्ता बना-समझ सकता है, तो हम यही कह सकते हैं कि उनकी संख्या अगण्य है, अनन्त है। यही कारण है कि भाषा के अवयवों का, वाक्यों, शब्द-समूहों का सम्पूर्ण, किसी को न छोड़ने वाला, विवरण नहीं दिया जा सकता है। इस तथ्य को पैराणिक ढंग से पाणिनी ने अष्टाध्यायी में व्यक्त किया है। वह कहता है कि, लोकोक्ति के अनुसार, इन्द्र को व्याकरणीय नियमों को समझाने के लिए बृहस्पति ने हरएक पद को उद्धृत करने की प्रथा अपनाई, किन्तु हजार कल्पों तक इस कार्य में लगे रहने पर भी वह भाषीय पदों की गणना समाप्त न कर सका। इसलिए, जब वृहस्पति- जैसा गुरू, इन्द्र-जैसा शिष्य, और हजार कल्पों तक पढ़ने-पढ़ाने का समय मिलने पर भी भाषीय अवयवों की गिनती पूरी न की जा सकी तो हम साधारण प्राणी इस कार्य को कैसे संपन्न कर सकते हैं?

सृजनात्मकता पर आजकल बहुत बल दिया जा रहा है। किन्तु एक आपत्ति कुछ लोग उठाते हैं कि यह आनुभविक सत्य है कि कई बार कोई श्रोता किसी नए वाक्य का अर्थ नहीं समझ पाता है, या कोई वक्ता किसी विशिष्ट प्रकार के नए वाक्य की माँग करने पर उसे नहीं बता पाता है, जबकि संबंधित नियम उन्हें सिखा दिया गया है। इसका उत्तर है कि सृजनात्मकता पर बल देने का मतलब इन तथ्यों को अस्वीकार करना नहीं है। उसका तो आधार सैद्धान्तिक है। सिद्धान्ततः भाषीय दक्षता सृजनात्मक होती है, अर्थात यदि हम आदर्श स्थिति में हों, जब कोई विघ्न-बाधा न हो, तो हम सृजनात्मक रहेंगे। तथ्यतः यदि हम कभी सृजनात्मक नहीं रह पाते हैं तो उसका कारण है हमारा कोई वैयक्तिक दोष या स्थितिजन्य कोई विघ्न। जैसे, हम किसी नियम को भूल जायें, या किसी शब्द के अर्थ को भूल जायें तो उस नियम के अनुसार रचित, या उस शब्द को अपना अवयव बनाने वाला वाक्य हमारे लिए दुर्बोध हो जायगा। इसी तरह यदि विद्यमान स्थिति ऐसी है कि संभाषण का संदर्भ स्पष्ट नहीं है तो भी हम किसी वांछित नए प्रकार के वाक्य को नहीं बना पाते हैं, या दूसरे द्वारा प्रस्तुत करने पर उसका अर्थ नहीं समझ पाते हैं। किन्तु ये कठिनाइयाँ आनुभविक, तथ्यात्मक, या स्थितिजन्य हैं, तार्किक, सैद्धान्तिक या संप्रत्ययात्मक नहीं।[१३]

भाषा की सृजनात्मकता भी उसके नियमानुशासित होने को सत्यापित करती है क्योंकि उसकी व्याख्या नियमानुशासन से होती है। हम सृजनात्मक इसीलिए बन पाते हैं कि भाषीय नियमों पर हमारा अधिकार होता है। यदि विभिन्न भाषीय रूप, विभिन्न प्रकार के वाक्य, नियमों द्वारा अनुशासित न होते तो उनकी रचना अनिश्चित होती; उन्हें कौन बना पाएगा और कौन नहीं, इसके विषय में कोई अनुमान

संभव नहीं होता। भाषीय दक्षता भाषीय नियमों पर अधिकार करने से आती है, और सृजनात्मकता इसी दक्षता का परिणाम है। इसीलिए नियमानुशासन को सत्य मानना मात्र अनुभव के आधार पर ही नहीं बल्कि सैद्धांतिक दृष्टि से भी औचित्यपूर्ण है। इसे अस्वीकार करने पर, भाषा के संचालन को नियमों द्वारा नियंत्रित न मानने पर, सृजनात्मकता की संभावना के लिए कोई उपयुक्त व्याख्या नहीं हो पाती। पश्चिमी भाषिकी में भाषीय नियमों के महत्त्व की चर्चा बहुत-कुछ चाम्स्की की देन है। किन्तु संस्कृत के वैयाकरण नियमों के महत्त्व को समझते थे, और उन्होंने उनका विवेचन भी किया है। अष्टाध्यायी में पाणिनी ने संस्कृत भाषा के प्रयोगों को नियंत्रित बनाने वाले नियमों का विवेचन किया है, न कि संस्कृत वाक्य-विन्यास की विशेषताओं मात्र का।

नियमानुशासन भूत या वर्तमान के उदाहरणों तक ही सीमित नहीं रहता है। जिस नियम के अनुसार हमने अब तक कुछ वाक्यों की रचना की है और दूसरों के कुछ वाक्यों के अर्थ को समझा है, उस नियम के अनुसार भविष्य में भी अनन्त वाक्यों की रचना कर सकते हैं और उसके अनुसार रचित अनन्त वाक्यों के अर्थ को समझ सकते हैं। नियमानुशासन के संप्रत्यय में यह सत्य निहित है। जिस नियम के अनुसार हमने 'नवयुवक राम ने अपनी बूढ़ी सौतेली माँ का सम्मान किया' वाक्य को बनाया या उसका अर्थ समझा, उसके अनुसार बनने और समझे जाने वाले वाक्यों की संख्या अनंत है। गणित के नियमों के साथ भी यह सत्य है। यदि किसी विद्यार्थी ने यह अच्छी तरह समझ लिया है कि $(अ+ब)^{२} = अ^{२}+२ अब+ब^{२}$, तो अ और ब के बदले में बिल्कुल नई संख्याओं की ऐसी लड़ियों से ऐसे फार्मूला वह बना सकता है और दूसरों द्वारा बनाए गए, बिल्कुल नए फार्मूलों को समझ सकता है। अपनी भाषीय सृजनात्मकता का प्रयोग हम लोग प्राय: अप्रयास, बिना किसी सजग प्रयत्न के., हर मौके पर सोच-विचार की बिना अपेक्षा रखे करते हैं। यह बात सभी, जैसे नैतिक, नियमों के साथ नहीं है। बिना किसी मीनमेख के नीति के नियम 'सत्य सदा बोलना चाहिए' को मानने पर भी ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब हमें गंभीर चिंतन करना पड़ता है कि सत्य बोलें या झूठ। नीतिज्ञों का सुझाव कि 'सत्य बोलें, किन्तु अप्रिय सत्य नहीं' भी सदा हमारी पूरी सहायता नहीं कर पाता।

एक तार्किक प्रश्न यहाँ उठ सकता है। यह तो स्पष्ट है कि भाषीय नियमों की संख्या सीमित होगी और भाषीय अवयवों की संख्या भी। इसलिए कोई पूछ सकता है कि सीमित संख्या वाले भाषीय अवयवों (शब्दों) पर सीमित संख्या वाले भाषीय नियमों के प्रयोग से उन अवयवों के अनन्त समुदाय, वाक्य, कैसे बन सकते हैं। जब हमने यह कहा कि अपनी सृजनात्मकता के प्रयोग से हम अनन्त प्रकार के वाक्यों को बना-समझ सकते हैं तो हमारा आशय 'अनन्त' से 'संख्यात्मक अनन्त'नहीं था। हमारा मतलब था 'इतनी अधिक संख्या में कि हमारे लिए वह वस्तुत:, भले ही तर्कत: नहीं, अनन्त हो'। फिर भी यह प्रश्न रह जाता है कि कुछ नियमों के प्रयोग से इन असंख्य वाक्यों की रचना कैसे संभव होती है। चूँकि यह तथ्यत: सत्य है कि किसी भी प्रयोक्ता द्वारा बन सकने और समझे जा सकने वाले वाक्यों की संख्या अगण्य है, यह अवश्य ही संभव है, और जब संभव है तो इसकी संभावना की व्याख्या होनी चाहिए।

भाषीय नियमों के स्वरूप की परीक्षा के आधार पर सृजनात्मक भाषाशास्त्रियों की व्याख्या है कि ऐसा इसीलिए संभव होता है कि कम से कम कुछ भाषीय नियम प्रत्यावर्ती[१४] नियम होते हैं। प्रत्यावर्ती[१५] नियम उसे कहते हैं जिसका प्रयोग एक ही वाक्य के सृजन में एक से अधिक बार किया जा सकता है। जैसे, 'राम ने श्याम को पीटा, जिसने हरि को गाली दिया, जिसने कृष्ण को धोखा दिया, जिसने---' वाक्य में कर्ता के ने चिन्ह संबंधी एक नियम को कई बार प्रयुक्त किया गया है। स्पष्ट है कि इस प्रकार के प्रयोगों से वाक्यों की लंबाई ही नहीं बल्कि उनकी संख्या भी बढ़ाई जा सकती है। और, इस

प्रकार बढ़ने वाली संख्या की सीमा भी निर्धारित नहीं की जा सकती। 'राम ने श्याम को पीटा' से 'राम ने श्याम को पीटा जिसने हरि को गाली दिया' भिन्न वाक्य है, और इससे भिन्न 'राम---जिसने---जिसने---'। उक्त उदाहरण में जिस नियम के अनुसार 'राम ने श्याम को पीटा' बनाया गया है, उसी नियम का फिर प्रयोग उसी के प्रयोग से उत्पन्न वाक्य अर्थात 'राम ने श्याम को पीटा' पर कर के 'राम ने ---- जिसने ---जिसने' को। प्रत्यावर्ती नियम अपने (प्रयोग के) परिणाम पर भी प्रयुक्त हो सकता है जिससे उसके प्रयोग का दायरा या विस्तार बहुत बढ़ जाता है। सभी नियम ऐसे नहीं होते हैं। जिस नियम का प्रयोग कर एक गृहिणी दूध से दही बनाती है, उसका प्रयोग, उसके परिणाम दही, पर नहीं कर सकती है। दूध को एक बार ही दही बनाया जा सकता है, फिर दही को दही नहीं बनाया जा सकता।

ऊपर हिन्दी के एक प्रत्यावर्ती नियम का उदाहण दिया गया है। किन्तु यह बात हिन्दी या हिन्दी से मिलती-जुलती भाषाओं के लिए ही नहीं बल्कि भाषा मात्र के लिए सत्य है। यदि दो वाक्य 'प' और 'फ' हैं, तो किसी भी भाषा में दोनों का 'और' संयोजक से जोड़कर एक नया, मिश्र, वाक्य 'प और फ' बनाया जा सकता है, और इस संयोजन नियम का प्रयोग अनेक बार किया जा सकता है। उसी तरह 'प और फ' में वियोजक 'या' लगाकर हम 'प या फ' बना सकते हैं, और वियोजन नियम भी प्रत्यावर्ती हैं।

भाषीय नियमों के विषय में एक महत्त्वपूर्ण अस्पष्टता है जिस पर अब हमें ध्यान देना चाहिए। एक प्रकार के नियम तो वे हैं जो रूढ़, या परंपराजन्य, प्रचलन से उत्पन्न, हैं, जो भाषीय प्रचलनों, रिवाजों को व्यक्त करते हैं। ये नियम हर भाषा के लिए अलग-अलग होते हैं। हर भाषा का अनुशासन उसके अपने नियमों द्वारा होता है। दो भाषाओं के सभी नियम एक जैसे नहीं हो सकते, अन्यथा उन्हें दो भाषाएँ नहीं कह सकते। हर भाषा की जो अपनी रीतियाँ, उसके प्रचलन होते हैं वे ही उसके नियमों में व्यक्त होते हैं। जिस भाषा में इस लेख को लिख रहा हूँ वह हिन्दी होने से हिन्दी के नियमों द्वारा अनुशासित है, न कि अंग्रेजी के, और हिन्दी के नियम हिन्दी की प्रयोग परंपराओं को व्यक्त करते हैं। ये नियम उच्चारण, वाक्य-रचना, और अर्थ, तीनों से संबंधित प्रचलनों को व्यक्त करते हैं। अर्थात्, हम कह सकते हैं कि हर भाषा के तीन पक्ष होते हैं और उनके अनुशासन के लिए तीन प्रकार के, उच्चारण संबंधी, वाक्य-रचना संबंधी, और अर्थ-बोध संबंधी, नियम होते हैं जो अपने-अपने पक्ष का अनुशासन करते हैं।

किन्तु इन विभिन्न भाषाओं के अपने, भाषीय प्रचलनों को व्यक्त करने वाले, नियमों के पीछे, इनके आधार स्तंभ के रूप में, कुछ ऐसे नियम विद्यमान रहते हैं जो सभी भाषाओं के लिए समान रूप से वैध होते हैं। अंग्रेजी और हिन्दी में प्रश्न पूछने की क्रिया विभिन्न प्रकार से संपन्न की जाती है। यदि हिन्दी मे पूछेंगे 'क्या आप घर जा रहे हैं ?' तो इस प्रश्न को अंग्रेजी में पूछने के लिए 'आर यू गोइंग होम' वाक्य का प्रयोग करना पड़ेगा। हिन्दी में जो कार्य 'क्या' करता है वह कार्य अंग्रेजी में 'आर' वाक्य में सर्वप्रथम रखे जाने के कारण करता है। अंग्रेजी जैसी परंपरा हिन्दी की इस विषय में नहीं है। इसीलिए प्रश्न करने की क्रिया दोनों भाषाओं में दो विभिन्न नियमों द्वारा अनुशासित की जाती है। किन्तु हम प्रश्न अंग्रेजी में करें या हिन्दी में, किसी प्रश्नवाचक वाक्य को 'सत्य' या 'असत्य' विशेषण से विशेषित नहीं कर सकते। यह एक संप्रत्ययात्मक नियम है कि प्रश्नवाचक वाक्यों को सत्य-असत्य नहीं कहा जा सकता। उनके साथ 'सत्य' या 'असत्य' को विधेय रूप में प्रयोग करने का परिणाम ('क्या आप घर जा रहे हैं ?' सत्य है) अर्थहीन होता है।

भाषा के माध्यम से हम प्रक्कथन करते हैं, जैसे 'दिल्ली भारत की राजधानी है' और विभिन्न भाषाओं में इस वाक्य के विभिन्न रूप होंगे। किन्तु यह नियम, कि जो गंभीरतापूर्वक प्रक्कथन करता है वह उसकी सत्यता में विश्वास करता है, ऐसा नियम है जो उपर्युक्त नियम की तरह सभी भाषाओं में

व्यक्त सभी प्रक्कथनों के लिए समानत: सत्य है। किसी भी भाषा में यदि कोई कहता है 'दिल्ली भारत की राजधानी है किन्तु मैं नहीं मानता कि दिल्ली भारत की राजधानी है' तो यह कथन असंगत कहा जायेगा।

वर्णन करना एक जटिल भाषीय क्रिया है। बिना भाषा के प्रयोग के हम किसी वस्तु का वर्णन नहीं कर सकते, और वर्णन करने में ---जैसे सूर्यास्त का, किसी मारपीट का, किसी के चेहरे का --- भाषा का प्रयोग कई प्रकार से किया जा सकता है। एक भाषा में किये गए वर्णन का रूप दूसरी भाषा में किए गए वर्णन से बिल्लुल अभिन्न नहीं होगा। किन्तु यह नियम कि वर्णन करना मूल्यांकन करना नहीं है, सभी भाषीय वर्णनों के लिए सत्य है। यह वर्णन और मूल्यांकन की संप्रत्ययात्मक भिन्नता को बतलाता है। यदि हम किसी से यह कहते हैं कि तुम्हें अमुक कार्य करना चाहिए था तो इसका आशय होता है कि हम यह मानते हैं कि वह उस कार्य को कर सकता था,उसमें उसे करने की क्षमता थी। यह कहना कि तुम्हें यह कार्य करना चाहिए था यद्यपि कि तुम उसे नहीं कर सकते थे संगतिपूर्ण नहीं है। 'तुम्हें वह कार्य करना चाहिए था' वाक्य का रूप अंग्रेजी में भिन्न होगा क्योंकि 'चाहिए' का पर्याय 'आर्ट' (ought) अंग्रेजी वाक्य-विन्यास के नियमानुसार संबंधित वाक्य का दूसरा शब्द होगा, जबकि 'चाहिए' हिन्दी वाक्य में अंतिम शब्द से केवल एक स्थान पहले है। किन्तु उपर्युक्त नियम ऐसे अन्य नियमों की तरह हिन्दी, अंग्रेजी और सभी अन्य भाषाओं के 'चाहिए' वाक्यों पर समानत: लागू होगा।

भाषा दर्शन उपर्युक्त प्रकार के तार्किक, सार्वभौम, सभी भाषाओं के लिए समानत: सत्य, भाषामात्र के संप्रत्ययात्मक, नियमों का अन्वेषण-विश्लेषण करता है, न कि उच्चारण, वाक्य -विन्यास, या अर्थबोध के उन नियमों का जो विशिष्ट भाषाओं के नियम होते हैं। चूँकि संप्रत्ययात्मक नियम विभिन्न भाषाओं के परंपराजन्य नियमों, प्रयोग की प्रचलित रीतियों में व्यक्त होते हैं, इसीलिए किसी एक भाषा की प्रयोग-पद्धतियों पर चिंतन कर दार्शनिक अन्वेषक उन नियमों की खोज कर सकता है।[16]

किसी भाषा के विशिष्ट नियमों और संप्रत्ययात्मक नियमों, दोनों में किसी के उल्लंघन का परिणाम अर्थाघात होगा, किन्तु संप्रत्ययात्मक नियम के उल्लंघन का प्रभाव अधिक सूक्ष्म और अधिक गंभीर होता है। इसीलिए संप्रत्ययात्मक नियमों द्वारा भाषा पर किए गए अनुशासन को ठीक-ठीक पहचानना और विवेचित करना अधिक कठिन है। यह प्रश्नवाचक वाक्य 'आपका काला गाय की मुंह क्यों बंद है ?' एक दृष्टि से निरर्थक है किन्तु इसकी निरर्थकता का कारण पता लगाना कठिन नहीं है। किन्तु यदि कोई इस प्रश्न के उत्तर में यह कहे कि यह प्रश्न असत्य है तो कुछ देर तक हम चकित हो जायेंगे, किन्तु अपने चकित होने का कारण आसानी से नहीं समझ पायेंगे। वह हम तभी समझेंगे जब प्रश्नवाचक वाक्यों के प्रयोग में छिपे संप्रत्ययात्मक नियम या नियमों का अन्वेषण करेंगे। तभी हम समझ पायेंगे कि प्रश्न स्पष्ट-अस्पष्ट, उपयुक्त-अनुपयुक्त, आसान-कठिन, सुखद-दुखद आदि तो हो सकते हैं, किन्तु सत्य-असत्य नहीं। इसलिए भाषादर्शन का काम बड़ा कठिन है, और उसमें मतभेद की संभावना भी काफी है।

संप्रत्ययात्मक नियम और भाषाओं के विशिष्ट नियम अर्थपूर्ण भाषीय संप्रेषण को संभव बनाते हैं, किन्तु सार्थक और उपयुक्त भाषा में भेद है। किसी स्थिति में सार्थक होने पर भी भाषा अनुपयुक्त या अवांछनीय हो सकती है। भाषा की उपयुक्तता के निर्धारक प्राय: सामाजिक, नैतिक, धार्मिक नियम होते हैं। 'अप्रिय सत्य न बोलो' नैतिक नियम के अनुसार किसी मरणासन्न व्यक्ति को यह कहना कि आप चंद मिनटों के मेहमान हैं अनुपयुक्त है, तथापि कि यह पूर्णत: सार्थक है और शायद सत्य भी हो। किसी के नये मकान के लम्बे चौड़े दरवाजे की प्रशंसा यह कह कर करना कि यह दरवाजा तो इतना विशाल है कि दो-दो लाशें बिना रंथी को टेड़ा किए निकल सकती हैं भी समाज-प्रथा के अनुसार अनुपयुक्त या अशोभनीय है। किन्तु यदि प्रशंसक यह कहे कि इस दरवाजे से बड़ी सुगमता से दुलहिन की डोली अन्दर

अंगना तक जा सकती है, उसकी प्रशंसा सचमुच प्रशंसा होगी। दोनों कथन अर्थवान हैं, किन्तु प्रचलित सामाजिक शिष्टाचार के अनुसार एक अनुपयुक्त, अशोभन है, जबकि दूसरा उपयुक्त, शोभन। उपयुक्तता के निर्धारक नियम विभिन्न संस्कृतियों में विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं। भाषा दर्शन और भाषिकी अर्थपूर्ण भाषा, भाषीय संप्रेषण को संभव बनाने वाले नियमों का अध्ययन करते हैं, उपयुक्तता के निर्धारक नियमों का नहीं।

५– भाषा के मूल घटक

भाषा के मूल अवयव शब्द हैं या वाक्य, यह भी विवाद का विषय रहा है, किन्तु इस विवाद में कोई विशेष तथ्य नहीं है। एक दृष्टि से वाक्य को, तो दूसरी दृष्टि से शब्द को, मूल अवयव कहा जा सकता है।

किसी भी शब्द के अर्थ को व्यक्त करने के लिए किसी न किसी वाक्य का प्रयोग करना पड़ता है। निदर्शनात्मक परिभाषा[७] कुछ जातिवाचक संज्ञा शब्दों का अर्थ या प्रयोग समझने का सबसे सरल तरीका है, जैसे 'अश्व' शब्द का अर्थ कोई अपने लड़के को किसी अश्व की ओर संकेत कर यों बतला सकता है : सामने पेड़ की डाल में बंधे जानवर को अश्व कहते हैं। किन्तु अर्थ विवेचन की इस आदिम प्रथा में भी उसे एक वाक्य का प्रयोग करना पड़ा है। इसलिए लगता है वाक्य ही प्रधान या मौलिक है। किन्तु कभी-कभी हम वाक्यों को शब्दों में तोड़ते हैं, और शब्दों के अर्थ से वाक्य का अर्थ समझते हैं। विदेशी भाषा का सीखने वाला प्राय: इस पद्धति का प्रयोग करता है। मातृभाषा का विद्यार्थी भी इसका प्रयोग कभी-कभी अवश्य करता है। यदि किसी हिन्दी भाषी को 'अश्व' शब्द का अर्थ नहीं मालूम है तो 'कृष्ण का अश्व सफेद था' वाक्य का अर्थ वह 'अश्व' का अर्थ जानवर, यदि अन्य शब्दों के अर्थ उसे ज्ञात है, समझ लेता है। इसलिए भाषीय प्रयोग की वस्तुस्थिति यह है कि वाक्यार्थ का शब्दार्थ पर, शब्दार्थ का वाक्यार्थ पर, निर्भर करने-जैसा लगता है। आपातत: उसमें चक्रक दोष दीख पड़ता है, किन्तु वस्तुत: ऐसा है नहीं। बल्कि दोनों का संबंध इतना घनिष्ट है कि कोई अन्वेषक दोनों में से किसी को भी बुनियादी मानकर भाषा के स्वरूप की व्याख्या कर सकता है। इतना ही ध्यान देना पड़ेगा कि किसी से आरंभ करें, दोनों के सम्बन्ध की घनिष्टता को न भूलें।

जिस चक्रक दोष की ओर हमने संकेत किया है, वह वास्तविक नहीं है क्योंकि यदि भाषा पर संश्लेषणात्मक दृष्टि डालकर हम यह जानना चाहें कि वह किस प्रकार मानव-संप्रेषण में अर्थवती होती है तो हमें वाक्यों को ही उसका आदि तत्त्व मानना पड़ेगा। भाषा सदा वाक्यों में ही प्रयुक्त होती है। जहाँ हम एक शब्द मात्र को उच्चरित करते हैं जैसे 'पानी' तो हमारा वस्तुत: अभिप्राय किसी वाक्य से रहता है, जैसे 'पानी लाओ'। 'पानी' इस स्थिति में 'पानी लाओ' का संक्षेप मात्र है। भाषीय संप्रेषण विभिन्न भाषीय क्रियाओं, जैसे कथन करना, प्रश्न पूछना, उपदेश देना, आदि द्वारा होता है, और किसी भी भाषीय क्रिया को संपन्न करने के लिए वाक्य भाषा का न्यूनतक खंड है। संप्रेषण की दृष्टि से वाक्य को ही मौलिक या आदिम खंड मानना पड़ेगा। इसलिए जो भाषीय संप्रेषण के अध्ययन में रुचि रखते हैं, उनके लिए वाक्य ही मूल है, और उसके आधार पर भाषीय संप्रेषण से संबंधित सिद्धान्तों की रचना वे अच्छी तरह कर सकते हैं।

किन्तु यदि हम भाषा की संरचना में रुचि रखते हैं, यह जानना चाहते हैं, कि अर्थपूर्ण संरचनाएँ किस प्रकार गठित होती हैं, तो हमें शब्दों तक जाना ही पड़ेगा, क्योंकि सभी वाक्य-संरचनाएँ शब्दों में विभाज्य हैं, और वाक्यों का अर्थ इस प्रकार की समष्टि है कि उसे शब्दों के अर्थों से पुनर्रचित भी किया जा सकता है। संरचना का अन्वेषण तो यह भी सिद्धान्तत: सत्य मानता है कि वाक्यार्थ से शब्दार्थ, और शब्दार्थ से वाक्यार्थ, तक पहुँचने में कुछ नष्ट नहीं होता है। किन्तु यह ऐसी सैद्धान्तिक मान्यता है जो

एक आदर्श स्थिति की कल्पना करती है, जिसे आदर्श के रूप में ही, न कि तथ्य-निरूपण के रूप में, ग्रहण किया जा सकता है। इसमें कोई दोष भी नहीं है क्योंकि कई वैज्ञानिक अन्वेषणों में आदर्शात्मक स्थितियों, मॉडलों को मानकर चलने से अनुसंधान सुगम हो जाता है। पूर्णत: घर्षण रहित चरखी भौतिकी का ऐसा ही मॉडल है, क्योंकि जैसी दुनिया की बनावट है ऐसी चरखी बनाई नहीं जा सकती। एक किलो चावल और हजार ग्राम चावल का वजन गणित की दृष्टि से बराबर है। किन्तु संभव है, शायद निश्चित भी हो, कि हजार बार एक-एक ग्राम कर तौलने पर वाक्यार्थ का कोई अंश, जैसे मोदक को तोड़ने से कुछ झुरी गिर ही जाती है, नष्ट हो जाय। फिर भी सिद्धान्त के रूप में, भाषा की विभिन्न संरचनाओं के स्वरूप के विषय में सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि से, शब्दों को भाषा का मूल तत्त्व मानने में कोई दोष नहीं है।

शब्दों को मूल घटक मानने में एक खतरा रहता है जिसे आसानी से टाला जा सकता है। खतरा यह है कि कोई व्यक्ति कहीं समझने न लगे कि भाषा शब्दों की ढेर मात्र है; अत: शब्दों पर अधिकार मात्र से भाषा पर अधिकार किया जा सकता है। अर्थात् मुझे यदि हिन्दी के सबसे बड़े कोष के सारे शब्दों के अर्थ याद हो जायें तो हिन्दी भाषा पर मेरा अधिकार हो जायेगा, और यह अधिकार उन सभी व्यक्तियों के अधिकार से अधिक तगड़ा होगा जिन्हें कोष के सारे शब्दों का ज्ञान नहीं है। स्पष्ट है कि ऐसा सोचना निरा बचपना ही होगा और इसका कारण है भाषा के स्वरूप के विषय में अत्यंत ही भ्रामक धारणा। भाषा शब्दों में विभाज्य है, किन्तु शब्दों का संग्रह मात्र नहीं है। सभी भाषीय संरचनाएँ शब्दों ही से बनी हैं, किन्तु सभी शब्दों के अर्थ को जान लेना सभी संरचनाओं के अर्थ को जान लेना नहीं है।

यदि हम यह याद रखें कि कोई भी शब्द अपना दायित्व तभी पूरा कर पाता है, अर्थात् अर्थ का वाहक हो पाता है, जब कि वह किसी सार्थक वाक्य में प्रयुक्त होता है, तो भाषा को शब्दों का ढेर मात्र समझ लेने का खतरा नहीं रह जायेगा। शब्द तभी वस्तुत: शब्द, भाषीय संप्रेषण के साधक, बन पाते हैं जब वाक्यों के रूप में सजाए जाते हैं। आँख में जगह मिलने पर ही कालिख काजल बनती है, अन्यथा कालिख ही रहती है। लकड़ी का छोटा सा टुकड़ा गुल्ली-डंडे के खेल में ही गुल्ली बनता है, अन्यथा नहीं। शब्द वाक्य प्रयोग से अलग ध्वनि या चिन्ह मात्र ही रहते हैं। भाषाशास्त्री तो शब्दों को भी विश्लेषित कर ध्वनिग्राम, पदग्राम, तक जाता है, किन्तु यद्यपि उसके लिए ध्वनिग्राम और पदग्राम भाषा के मूलतत्त्व हैं, भाषा को ध्वनिग्रामों और पदग्रामों का संघात मात्र वह कभी नहीं कहना चाहेगा।

भाषा दर्शन मुख्यत: भाषा के संप्रेषण का अध्ययन करता है, उन संप्रत्ययों और संप्रत्ययात्मक समस्याओं का जो उसके संप्रेषण का साधन होने में निहित हैं। भाषीय संरचनाओं में यदि वह कभी रुचि लेता है तो इसीलिए कि भाषीय संप्रेषण में उनका योगदान रहता है। इसलिए दार्शनिक अध्ययन में हमारा ध्यान वाक्यों पर अधिक रहता है, और यदि हम कभी किसी महत्त्वपूर्ण पद या शब्द के व्यापार का विवेचन करते हैं तो भी हमारा आशय उसके वाक्यीय प्रयोगों से रहता है, न कि उसके शब्द-रूप से।

***

संदर्भ सूची

१. *किसी शब्द की चर्चा के लिए उस शब्द को एकक चिन्हों के अन्दर रखा जाता है। इसलिए 'हाथी शब्द की चर्चा' के लिए 'हाथी' लिखते हैं*

२. *Assymmetrical*

३. *Type*

४. *Token*

५. देखिए Geobbrey Luck Semantics (peliean) पृ. ४०.

६. *Monad*

७. *Propositional Calculus*

८. *Primitive terms*

९. *Axioms*

१०. *Rules of Inference*

११. *Generative Grammar*

१२. सर्ल जॉन, स्पीच ऐक्ट्स, पृ. ४२

१३. चाम्स्की, नोअम, ऐस्पेक्ट्स ऑफ दी थियोरी ऑफ सिन्टैक्स, एम्. आई. टी. प्रेस. १९६५, पृ.३

१४. कैट्ज, जे. जे., दि फिलासफी आफ लैंग्वेज, पृ. १२२-१२३

१५. *Rcursive*

१६ सर्ल (स्पीच ऐक्ट्स, पृ. ३६) का कहना है कि जो विभिन्न भाषाएँ जिस हद तक एक-दूसरी में अनूदित की जा सकती हैं, उनका प्रयोग-पद्धतियों को इसी प्रकार के समान, मौलिक, संप्रत्ययात्मक, नियमों की विभिान्न अभिव्यक्तियाँ कहा जा सकता है। अन्तर्भाषीय अनुवाद की संभावना को वे सामान्य भाषीय नियमों की वास्तविकता का चिन्ह या सूचक मानते हैं। किन्तु इस तर्क को बहुत तूल नहीं दिया जा सकता क्योंकि कुछ लोग यह भी मानते हैं कि हर भाषा की अपनी अलग प्रतिभा होती है जिससे एक भाषा में कही कई बात को पूर्णत: दूसरी भाषा में अनूदित नहीं किया जा सकता।

१७. *Ostensina definition*

भाषा की सार्वजनिकता

१– विषय प्रवेश

भाषा सामाजिक व्यापार है, इसे तो सभी स्वीकार करेंगे क्योंकि भाषा का प्रयोग समाज की अपेक्षा रखता है, और समाज, सामाजिक व्यवहार, भाषा की। सामाजिक जीवन जीने के लिए अनिवार्य साधन होने से कहा जा सकता है कि भाषा सार्वजनिक साधन भी है क्योंकि सार्वजनिक न होने पर उसका सामाजिक प्रयोग संभव नहीं हो पायेगा। यह सत्य है, किन्तु उसकी सार्वजनिकता की पूर्ण व्याख्या इतना कहने मात्र से नहीं हो जाती। भाषा की सार्वजनिकता उसकी अनुभूत सामाजिकता का परिणाम मात्र, उसके सामाजिक प्रयोग को संभव करने वाला साधन मात्र नहीं हैं। भाषा का प्रयोग समाज में होता है, वह सबके लिए सुलभ है, ये चीजें तो सतही हैं। वह एक अत्यन्त ही गंभीर, महत्त्वपूर्ण, अर्थ में सार्वजनिक है : भाषा की सार्वजनिकता उसके नियमानुशासित होने का तार्किक परिणाम है और नियमानुशासित होना उसके (भाषा के) संप्रत्यय में, उसकी प्रकृति में निहित है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए पहले हम नियमानुशासन के संप्रत्यय की परीक्षा करेंगे।

२–'नियमानुशासन'-संप्रत्यय का विश्लेषण

हमने देखा है कि भाषा नियमानुशासित प्रतीकों की समष्टि है। प्रतीक जो भाषा के अवयव हैं, उनके प्रयोग नियमों द्वारा अनुशासित हैं। इस सत्य से कोई यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि नियमानुशासित होना भाषा का एक आगमनात्मक, आनुभविक, तथ्यात्मक गुण है। अर्थात् जिन - जिन भाषाओं से हम परिचित हैं, उनके विषय में हमारा अनुभव बतलाता है कि वे नियमानुशासित हैं। इसीलिए आगमनात्मक चिंतन द्वारा हम मानने लगते हैं कि अन्य भाषएँ भी, जिनसे हम परिचित नहीं हैं, नियमानुशासित होगीं। इस दृष्टिकोण से नियमानुशासन को भाषाओं का आगमनात्मक गुण, वैसा गुण जिसका ज्ञान हमें भाषाओं के विषय में आगमनात्मक अनुमान से होता है, मानने पर किसी भाषा के लिए नियमानुशासित होना अनिवार्य नहीं होगा। हो सकता है कि भविष्य में ऐसी कोई भाषा से हम परिचित हो जाएँ जो नियमानुशासित न हो, जैसे बहुत दिनों तक लोग आगमन के आधार पर मानते रहे कि सभी बत्तकें उजली होती हैं, किन्तु एक समय आया जब आस्ट्रेलिया में काली बत्तकें भी पाई गईं।

किन्तु भाषा के विषय में यह सोचना, कि नियमानुशासन उसका आगमनात्मक गुण है, गलत है। यह कहने के लिए कि भाषा नियमानुशासित होती है हमें कई भाषाओं से संबंधित अपने अनुभवों के आधार पर आगमनात्मक सामान्यीकरण की अपेक्षा नहीं होती। जिसे केवल एक भाषा का ज्ञान है वह भी इसे सत्य मानेगा कि सभी भाषाओं के लिए, भाषा मात्र के लिए, नियमानुशासन आवश्यक है। इसका कारण यह है कि नियमानुशासित होना भाषा के संप्रत्यय से ही निष्कृष्ट होता है। जब भाषा के संप्रत्यय के विषय में हम सोचते हैं, परीक्षा करते हैं कि किस प्रकार इस संप्रत्यय का व्यवहार होता है, तो हम देखते हैं कि भाषा के लिए नियमानुशासित होना तर्कत: अनिवार्य है। यह कहने के लिए कि खेल नियमानुशासित होते हैं, खेलों के विषय में तथ्यात्मक परीक्षा, यह परीक्षा कि विभिन्न खेल किस प्रकार

खेले जाते हैं, आवश्यक ही है। जो खेल के संप्रत्यय से परिचित हैं, चाहे वह एक ही खेल खेलता हो, या एक भी नहीं, वह यह जानता है कि खेल मात्र के लिए नियमानुशासित होना जरूरी है। ऐसा इसलिए है कि खेल के संप्रत्यय से ही उसका नियमानुशासित होना निगमित होता है; जिस क्रिया-कलाप में नियमानुशासन नहीं है उसे हम खेल नहीं कहेंगे। उसी तरह नियमानुशासन से विरहित होने पर भाषा भाषा न हो कर कुछ और ही हो जाएगी। यह वाक्य कि अमुक भाषा में किसी प्रकार के नियम नहीं हैं असंगत है। हम कल्पना करें किसी भाषा के सारे नियमों को उससे हटा देने की और अपने से पूछें कि उस स्थिति में उसे हम भाषा की संज्ञा देंगे या नहीं। इस आत्म निरीक्षण का, आंतरिक चिंतन का, जो एक प्रकार का संप्रत्ययात्मक विश्लेषण है, स्पष्ट उत्तर निषेधात्मक होगा।

भाषा खेल नहीं है। खेल की उपमा इसकी प्रकृति को समझाने के लिए इसलिए दी जाती है कि जिस प्रकार बिना नियमों के कोई खेल नहीं खेला जा सकता, उसी तरह बिना नियमों के किसी भाषा का प्रयोग नहीं हो सकता। यह लक्षण, भाषा का, या टेबल का, अनिवार्य है, आनुषंगिक नहीं है। इसलिए कहतें हैं कि नियमानुशासित होना भाषा के, खेल के, संप्रत्यय में ही निहित है। नियमों के प्रयोग में गलतियाँ हो सकती हैं, किन्तु नियमों की पूरी अवहेलना नहीं की जा सकती। बिना किसी भी नियम के गेंद इधर-उधर मारना खेल नहीं होगा, हाथ-पैरों का चलाना मात्र हो जाएगा। उसी तरह बिना किसी भी नियम के शब्दों को उच्चारते जाना भाषा का प्रयोग नहीं, बल्कि मुँह से आवाज निकालना मात्र हो जाएगा।

चूँकि नियमानुशासित होना भाषा का तार्किक गुण है, नियमानुशासन रहित भाषा असंभव है। किन्तु भाषा का यह गुण बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है, और इसके तार्किक परिणाम भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं।

भाषा के नियम स्पष्टतया प्राकृतिक नियमों की तरह नहीं हैं। यह प्राकृतिक नियम है कि पानी नीचे की ओर बहता है। यह पानी का, उसकी प्रकृति का, धर्म है। इसमें अपवाद नहीं हो सकता, न इसका उल्लंघन किया जा सकता है। इस प्रकार के नियमों का उपयोग सही और गलत का भेद करने के लिए नहीं होता। उक्त नियम के आधार पर हम नहीं कह सकते कि कोई घटना गलत है या सही। प्रकृति के सारे नियम वर्णनात्मक या कथनात्मक होते हैं। वे प्रकृति में वर्तमान नियमितताओं का वर्णन करते हैं, इसीलिए उन्हें प्राकृतिक नियम कहते हैं। प्राकृतिक नियम प्रकृति का अनुशासन नहीं करते, क्योंकि अनुशासन में उल्लंघन की संभावना निहित है। 'अनुशासन' का प्रयोग वहीं तर्कसंगत होता है जहाँ पर अनुशासित व्यापार का निरोधी व्यापार भी संभव हैं। गूंगे पर 'चुप रहो' नियम द्वारा अनुशासन लगाने का कोई अर्थ नहीं होता। इसलिए यह कहना कि प्रकृति नियमानुशासित है, तार्किक दृष्टि से गलत है। यदि ऐसा कोई कहता है तो उसे लाक्षणिक अर्थ में ही समझना चाहिए। उसका अर्थ यही होगा कि प्रकृति के व्यापार अनियमित नहीं हैं, अर्थात् प्रकृति में नियमितताएँ हैं। पानी सदा नीचे की ओर ही बहता है, ऐसा नहीं कि कभी गंगोत्री से हरिद्वार की ओर कभी हरिद्वार से गंगोत्री की ओर।

भाषा के नियमों का उल्लंघन संभव है। वस्तुत: 'भाषा के नियम' पद भी लाक्षणिक है। भाषा के नियम हमारे, भाषा के प्रयोक्ताओं के, नियम हैं। उन नियमों का पालन या उल्लंघन हम करते हैं। वे हमारे भाषीय व्यवहार के नियम हैं, और ऐसे कि हम चाहें तो तोडें। भाषा का नियमानुशासन हमारे भाषीय व्यवहार का, भाषीय प्रयोगों का, नियमानुशासन है। यदि कोई चाहे तो किसी प्रश्नवाचक वाक्य को 'सत्य-असत्य' का विशेषण दे सकता है। भले ही ऐसा करने का परिणाम अर्थाघात होगा, किन्तु अर्थाघात करना, निरर्थक बातें करना, तर्कत: ही नहीं वस्तुत: भी संभव है।

भाषीय नियमों का उपयोग गलत और सही प्रयोगों में भेद करने के लिए होता है। बल्कि, भाषा सीखने और सिखाने की प्रक्रिया में उनका यह उपयोग बड़ा ही सामान्य है। प्राकृतिक नियमों से वे भिन्न

हैं क्योंकि उनका उल्लंघन संभव है, फिर भी वे, अन्तत: वर्णनात्मक ही होते हैं। यह नियम कि प्रश्नवाचक वाक्यों को 'सत्य - असत्य' विशेषणों से विशेषित नहीं किया जा सकता है 'प्रश्नवाचक', 'सत्य', 'असत्य' पदों से व्यक्त संप्रत्ययों के प्रचलित व्यवहार का वर्णन ही करता है। इसका आधार यही है कि इन संप्रत्ययों का जैसा व्यवहार है, उसके अनुसार किसी प्रश्नवाचक वाक्य के विशेषण 'सत्य' या 'असत्य' पद नहीं हो सकते, और यदि कोई इसके बावजूद उन्हें उसके विशेषण के रूप में प्रयुक्त करता है, तो जो वाक्य बनेगा (उदाहरण के लिए : 'क्या आज शनिवार है ?' सत्य (असत्य) है) वह निरर्थक होगा। इसलिए भाषीय नियम वर्णनात्मक हैं, यद्यपि उनका उल्लंघन संभव है। उनका उल्लंघन हम इसीलिए वर्जित समझते हैं कि उल्लंघन करने से अर्थाघात होता है, और अर्थाघात होने पर भाषीय संप्रेषण नहीं हो पाता है। शब्दों के अर्थहीन संघात के माध्यम से कुछ भी कहा नहीं जा सकता।

किसी विशिष्ट भाषा, जैसे हिन्दी, के व्याकरणिक नियम भी वर्णनात्मक ही होते हैं। 'विशेष्य' के अनुसार विशेषण का लिंग होता है। हिन्दी के विशेषण पदों के लौकिक व्यवहार का वर्णन करते हैं- एक प्रचलन, अभ्यास का उल्लेख करते हैं, और चूँकि यह प्रचलन भाषीय प्रयोगों में लोक व्यवहार द्वारा प्रतिष्ठित हो गया है, इसका उल्लंघन भी हमें खटकता है, और अर्थबोध में बाधक होता है। यदि कोई 'काली घोड़ा' पद का प्रयोग करता है तो हम इससे 'काला घोड़ी' या 'काला घोड़ा' समझकर ही उसके गलत प्रयोग को अपनी भाषीय चेतना में परिमार्जित कर उसका अर्थ ग्रहण करते हैं।

भाषीय नियमों के उल्लंघन का दंड होता है अर्थाघात और अर्थाघात की मात्रा घट-बढ सकती है। कुछ नियमों के उल्लंघन से कम अर्थाघात होता है, कुछ से अधिक। परीक्षा में पूछे गये प्रश्नों के उत्तरों की परीक्षार्थियों की भाषा प्राय: कई नियमों का उल्लंघन करती है। किन्तु परीक्षक उनका अर्थ समझ लेता है जब तक कि अर्थाघात इतना नहीं होता कि उनके संपूर्ण उत्तर, या किसी उत्तर का कोई अंश - यह भी कभी-कभी होता ही है - बिल्कुल अर्थहीन हो जाय। बोलचाल में हम गलत हिन्दी बोलते हैं, फिर भी एक-दूसरे की बातें समझ ही लेते हैं। ऐसा इसलिए संभव हो पाता है कि भाषीय नियमों की अपनी समझ द्वारा श्रोता गलत प्रयोगों को ठीक कर लेता है, या स्वयं गलत प्रयोगों का ही आदी रहता है।

विशिष्ट भाषाओं के आंतरिक नियमों को उस भाषा के प्रयोग में दक्षता प्राप्त करने के लिए सीखना जरूरी है। हिन्दी में प्रवीण होने के लिए हिन्दी के नियमों को जानना आवश्यक है। अंग्रेजी व्याकरण का ज्ञान उसके लिए न तो आवश्यक है, न पर्याप्त। विशिष्ट भाषा के किसी नियम का उल्लंघन अर्थाघात करता है, किन्तु यह अर्थाघात स्थानीय, उसी भाषा के संबंधित खंड, तक सीमित रहता है। 'काला घोडी चरता है' में हिन्दी व्याकरण के दो नियमों का उल्लंघन होता है। और उससे उत्पन्न दोष हिन्दी के एक विशिष्ट प्रयोग का दोष है।

किन्तु 'काला चरता है' में विद्यमान अर्थाघात एक संप्रत्ययात्मक नियम के उल्लंघन का परिणाम है। यह संप्रत्ययात्मक नियम है कि विशेषण पदों से व्यक्त संप्रत्ययों के साथ क्रिया-पदों द्वारा व्यक्त संप्रत्ययों का विधान नहीं किया जा सकता, अर्थात् विशेष्यशून्य विशेषण पदों का विधेय कोई क्रियापद नहीं हो सकता - क्रियापद किसी संज्ञा सर्वनाम, या संज्ञा- जैसे व्यवहार करने वाले पद-समूह विधेय हो सकता है। यह नियम संप्रत्ययात्मक होने से भाषा मात्र के लिए वैघ है, इसके उल्लंघन से दूषित वाक्य किसी भी भाषा में अनूदित करें, उसका अर्थ कुछ नहीं होगा। संप्रत्ययात्मक दोष अधिक गंभीर होते हैं, और उनसे उत्पन्न अर्थाघात भी। भाषाओं के घरेलू नियमों के उल्लंघन से उत्पन्न दोषों की अपेक्षा अर्थबोध में वे अधिक बाधक होते हैं। वे प्राय: उसे सदूषित और वाक्य को पूर्णत: अर्थहीन कर देते हैं। उनका निदान भी कठिन होता है क्योंकि जिन नियमों के उल्लंघन से वे उत्पन्न होते हैं उनको किसी ग्रंथ

में नहीं ढूंढा जा सकता। उनको ढूंढने के लिए भाषा का संप्रत्ययात्मक विश्लेषण आवश्यक होता है जिसके लिए तार्किक प्रौढता, न कि मात्र व्याकरणीय प्रौढता, अपेक्षित होती है।

नियमानुशासन में कुछ न कुछ बाध्यता अवश्य रहती है। जो नियम आदर्श निर्धारक होते हैं, जिनमें किसी मूल्य की भावना, या चाहिए कि भावना रहती हैं, उनमें तो बाध्यता स्वाभाविक है। किन्तु भाषीय नियमों की विचित्रता है कि वर्णनात्मक होने पर भी उनमें बाध्यता रहती है। इस बाध्यता के चलते ही कुछ लोग समझते हैं कि भाषीय नियम 'चाहिए' सूचक हैं, किन्तु यह गलत है। किसी भाषीय नियम के पक्ष में दिया गया तर्क किसी 'चाहिए'-वाक्य के समर्थन में दिए तर्क से बिल्कुल भिन्न होता है। विशेषण पद का विधेय क्रियापद नहीं हो सकता, इस नियम के समर्थन या उसकी व्याख्या के लिए हमने भाषीय अन्तर्ज्ञान, अपनी भाषीय चेतना, का सहारा लेकर बतलाते हैं कि इसके उल्लंघन का परिणाम अर्थाघात होता है और वह इस प्रकार के हैं कि विशेषण-पद का विधेय क्रियापद को बनाना तर्कत: असंगत होता है। इस तरह का तर्क किसी चाहिए - वाक्य (जैसे 'दूध पीना चाहिए') के लिए बिल्कुल अनुपयुक्त होगा। किसी चाहिए-वाक्य के लिए दिए गए तर्क में आधार वाक्य के रूप में कम से कम एक, किसी अन्य, 'चाहिए' वाक्य या मूल वाक्य का प्रयोग करना आवश्यक होता है (जैसे दूध पीना चाहिए क्योंकि स्वस्थ रहना चाहिए, या स्वस्थ रहना वाँछनीय है जो दूध पीने का परिणाम है।[२] भाषीय नियमों की बाध्यता कुछ तो अभ्यासजनित होती है, कुछ इसलिए कि इनके उल्लंघन का परिणाम बड़ा अप्रिय होता है। हमने कहा है कि विशिष्ट भाषाओं के नियमों में कोई तार्किक अनिवार्यता नहीं होती। हम घोड़े को 'घोड़ा' शब्द से पुकारें, या कर्ता का 'ने' चिन्ह सकर्मक क्रिया के सामान्यभूत में लगावें, इसके लिए कोई अनिवार्यता नहीं है। किन्तु फिर भी हम घोड़े को 'गदहा' शब्द से पुकारने में, या उपर्युक्त स्थिति में 'ने' चिन्ह छोड़ देने में, भय खाते हैं। घोड़े को घोड़ा कहने में, या 'राम ने आम खाया' कहने में हम बाध्य महसूस करते हैं। संप्रत्ययात्मक नियमों के पालन करने की बाध्यता अधिक सूक्ष्म किन्तु अधिक तीव्र होती है क्योंकि उनके उल्लंघन के परिणाम होते हैं तार्किक असंगति और उससे उत्पन्न संप्रेषण की विफलता।

वर्तमान अन्वेषण में, एक-दूसरे से जुड़ी हुई मेरी दो पूर्वमान्यताएँ हैं जिन्हें मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। वे हैं (१) मनुष्य की बौद्धिकता और (२) भाषा का अर्थपूर्ण तथा संगत व्यवहार करने की उसकी प्रतिबद्धता। मैं यह मानकर चल रहा हूँ कि वह बौद्धिक (केवल बौद्धिक नहीं) प्राणी है और भाषा के संगत, अर्थपूर्ण, व्यवहार के लिए प्रतिबद्ध है। जो बौद्धिक नहीं है, जो यह नहीं मानता है कि भाषा का संगत, अर्थपूर्ण व्यवहार उसका दायित्व या कर्तव्य है, उसके लिए भाषीय नियमों का उल्लंघन न करने के पक्ष में दिए गए किसी भी तर्क की वैधता प्रमाणित नहीं की जा सकती। बल्कि ऐसे व्यक्ति के संदर्भ में इस प्रकार का तर्क देना अनर्गल होगा।

भाषीय नियमों - भाषा के संप्रत्ययात्मक नियमों - का उल्लंघन वर्जित है क्योंकि उसके परिणाम होते हैं असंगति और तज्जनित अर्थहीनता। यदि कोई पूछे कि भाषा का अर्थपूर्ण प्रयोग वह क्यों करे, तो पहले हम यही कहेंगे कि भाषीय प्राणी, सामाजिक प्राणी, होने के नाते भाषा के अर्थपूर्ण प्रयोग के लिए वह प्रतिबद्ध है। चूँकि भाषीय संप्रेषण सामाजिक जीवन का अनिवार्य अंग है, हर एक सामाजिक प्राणी अर्थपूर्ण संप्रेषण के लिए प्रतिबद्ध है। किन्तु यदि वह इस प्रतिबद्धता को अस्वीकार करे तो हमें कुछ-कुछ इस प्रकार की तर्कना देनी पड़ेगी : यदि सामाजिक जीवन जीना है तो भाषीय संप्रेषण करना ही होगा। असंगत, अर्थहीन, भाषीय प्रयोगों से, जो भाषीय नियमों के उल्लंघन के अनिवार्य परिणाम हैं, भाषीय संप्रेषण न हो पाएगा। भाषा के प्रयोग का लक्ष्य होता है सफल भाषीय संप्रेषण करना। वैसे साधन (असंगत, अर्थहीन प्रयोग) का व्यवहार जिससे लक्ष्य (भाषीय संप्रेषण) की सिद्धि बाधित हो जाय

अबौद्धिक है। और, बौद्धिक प्राणी अबौद्धिक कार्य नहीं करता है। इसलिए यदि आप ऐसा करते हैं तो उस संदर्भ में बौद्धिक प्राणी न रह जायेंगे और ऐसी स्थिति में आपके साथ किसी प्रकार का तार्किक विवेचन या विवाद नहीं किया जा सकता।

यदि ध्यान से देखा जाय तो उपर्युक्त मान्यताएँ ऐसी नहीं हैं कि उन्हें स्वीकारने में हमारी चिंतन-शक्ति पर कोई अनुचित या अत्यधिक दबाव पड़ता हो। वे तो वस्तुत: किसी भी अन्वेषण, साहित्यिक, कलात्मक, वैज्ञानिक, न कि केवल संप्रत्ययात्मक, के लिए अनिवार्य हैं। जो लक्ष्य के अनुकूल साधन और अर्थपूर्ण भाषा के प्रयोग के लिए अपने को आबद्ध नहीं मानता उसके साथ किसी भी प्रकार का संप्रेषण संभव न हो पाएगा, उसके साथ कोई बात-चीत ही नहीं हो सकती। ऐसे व्यक्ति को अचेतन रूप में या शिष्टाचारवश भले ही हम मनुष्य की संज्ञा दे दें, हमारी तर्कबुद्धि उसे मनुष्य कहने में सदा हिचकेगी।

३– सार्वजनिकता : नियमानुशासन से निष्कृष्ट

जहाँ कहीं भी नियमानुशासन संभव है, वहाँ संबद्ध नियमों द्वारा अनुशासित होने वाले दृष्टान्तों का होना तर्कत: आवश्यक है। दृष्टान्तों से मेरा मतलब उन पदार्थों से है जिनका अनुशासन उन नियमों द्वारा होता है या हो सकता है। चूँकि भाषा अनुभूत वास्तविकता का एक खंड है, भाषीय नियमों द्वारा अनुशासित दृष्टान्तों की वास्तविकता भी सिद्ध है।

किसी भी पदार्थ को किसी नियम के अनुशासन में लाने के पहले निश्चयात्मक रूप से यह जान लेना आवश्यक है कि वह उस नियम का उपयुक्त दृष्टान्त है। किन्तु यह तभी संभव है जब हमारे पास संबद्ध दृष्टान्तों के लिए, उपयुक्त दृष्टान्तों को परखने के लिए, सार्वजनिक निकष या मापदंड हों। उदाहरण के लिए, प्रश्नवाचक वाक्यों के 'सत्य' - 'असत्य' विशेषणों से विशेषित न हो सकने के नियम को ही लें। इस नियम से अनुशासित दृष्टान्त प्रश्नवाचक वाक्य है। इसलिए जब तक हमें तय करने के सार्वजनिक तरीके लक्ष्य न हों कि कोई वाच्य प्रश्नवाचक है या नहीं, उक्त नियम का प्रयोग नहीं हो सकता। अर्थात् प्रश्नवाचकता की पहचान के लिए सार्वजनिक मापदंड का होना अनिवार्य है।

कोई पूछ सकता है कि मापदंड सार्वजनिक क्यों हो ? क्यों नहीं हम अपना बिल्कुल निजी मापदंड बना सकते हैं ? सार्वजनिक मापदंड का मतलब वैसे मापदंड से नहीं है जो किसी को भी अस्वीकार्य न हो। सार्वजनिक मापदंड से तात्पर्य वैसे मापदंड से है जिसका किसी दृष्टान्त द्वारा संतुष्ट या न संतुष्ट होने की, उसके अनुरूप या प्रतिकूल होने की, सार्वजनिक परीक्षा हो सके। इस अर्थ में निजी मापदंड वह होगा जिसकी सार्वजनिक परीक्षा असंभव होगी। अगर हम मापदंड के संप्रत्यय के विषय में गंभीरतापूर्वक सोचें तो पाएँगे कि उसके संतुष्ट या न संतुष्ट होने की सार्वजनिक, वस्तुनिष्ठ, परीक्षणीयता उसका अनिवार्य लक्षण है। मापदंड के प्रयोग में गलतियाँ हो सकती हैं, किसी दृष्टांत के उपयुक्त-अनुपयुक्त होने के विषय में संदेह हो सकता है। यदि मापदंड सार्वजनिक नहीं है, तो न उसके प्रयोग में कभी कोई गलती हो सकती है, न कभी कोई संदेह।

किसी व्यक्ति द्वारा बनाए गए बिल्कुल स्वैच्छिक मापदंड की भी सार्वजनिक परीक्षा यदि हो सकती है तो उसे सार्वजनिक ही कहेंगे। यदि कोई अपना मापदंड रखे कि किसी वाक्य के शब्दों की संख्या विषम होगी, तभी उसे प्रश्नवाचक कहेगा, तो यह मापदंड भी सार्वजनिक होगा क्योंकि शब्दों की संख्या के विषम होने या न होने की सार्वजनिक परीक्षा हो सकती है। कोई भी गिनकर बता सकता है वह विषम है या नहीं। बिल्कुल वैयक्तिक मापदंड वह होगा जिसके संतुष्ट हो पाने की परीक्षा उसको बनाने वाले के अतिरिक्त किसी अन्य द्वारा तर्कत: असंभव हो। चूँकि ऐसे मापदंड के विषय में, उस व्यक्ति को, क्योंकि उसने इसे बनाया है, और उसीको क्योंकि परिभाषत: यह उसी तक सीमित है, पूर्ण

ज्ञान रहेगा, किसी दृष्टान्त द्वारा उसके संतुष्ट-न-संतुष्ट होने के विषय में औरों से मतैक्य-मतभेद या वाद-विवाद, कोई गलती या संदेह, का होना तर्कत: असंभव हो जायेगा। ऐसे मापदंड को मापदंड नहीं कहेंगे क्योंकि मापदंड के प्रयोग के विषय में मतसाम्य, मतभेद, वादविवाद, संदेह, आदि की तार्किक संभावना मापदंड के संप्रत्यय से ही आपादित है। वस्तुत: वैयक्तिक मापदंड की कल्पना ही असंगत है। अत: भाषीय पदार्थों, दृष्टान्तों की पहचान के सार्वजनिक मामदंड या लक्षणों को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह संभव है और तथ्य भी कि इन लक्षणों को सभी साफ-साफ वर्णित या शब्दबद्ध नहीं कर सकते, यद्यपि इनका प्रयोग अवश्य करते हैं। किसी मापदंड के ठीक-ठीक वर्णित कर पाने की योग्यता उसका प्रयोग कर लेने की योग्यता से भिन्न है। पहला कार्य अधिक वैश्लेषिक और बौद्धिक है जिसे भाषा दर्शन और कुछ अंश तक सैद्धान्तिक भाषिकी में होता है।

भाषीय पदार्थो:, दृष्टान्तों, के पहचान के लक्षणों, मापदंडों की सार्वजनिकता वस्तुत: भाषा की सार्वजनिकता है। विभिन्न भाषीय, संप्रेषणात्मक, क्रियाएँ विभिन्न प्रकार के भाषीय संरचनाओं के प्रयोग द्वारा संपन्न की जाती हैं। प्रश्न पूछने की क्रिया भाषीय संप्रेषण की क्रिया है और उसे हम प्रश्नवाचक वाक्य के प्रयोग द्वारा करते हैं। भाषीय क्रियाओं के साधक सभी संरचनाएँ नियमानुशासित ढंग से प्रयुक्त होती हैं और उन सबके पहचान के लिए मापदंड होते हैं। मापदंडों के अभाव में हम यह नहीं जान पाएँगे कि कौन-सा शब्द-समूह किस प्रकार की भाषीय संरचना का सूचक है, और उसका परिणाम होगा कि हम उससे यथोचित भाषीय क्रिया न कर पाएँगे। यदि प्रश्नवाचकता की पहचान के लिए हमारे पास कोई मापदंड न हो तो हम यह नहीं जान पाएँगे कि कोई वाक्य प्रश्नवाचक है या नहीं, जिसके फलस्वरूप प्रश्न पूछने की भाषीय क्रिया कर सकने में हम असमर्थ हो जाएँगे। इस प्रकार मापदंडों के अभाव में, सार्वजनिक तरीके से परीक्षणीय लक्षणों के अभाव में, भाषा भाषा न रह पायेगी।

भाषीय नियमों के दृष्टान्तों की पहचान में ही नहीं बल्कि नियमों के प्रयोग में भी गलत और सही का भेद किया जा सकता है। इससे भी भाषा की सार्वजनिकता सिद्ध होती है।

जहाँ कहीं भी नियमानुशासित होना संभव है, वहाँ गलत-सही का होना संभव है। जिस नियम का केवल सही प्रयोग, या केवल गलत प्रयोग ही संभव हो, उसे नियम नहीं कह सकते। जैसे, जिस खेल में केवल विजयी होना, या केवल हार खाना ही संभव हो, उसे खेल नहीं कहेंगे। किन्तु सार्थक ढंग से गलत-सही का भेद तभी हम कर सकते हैं जब उनकी परीक्षा सार्वजनिक ढंग से की जा सके। सार्वजनिक संदर्भ में ही 'गलत'- 'सही' का प्रयोग हो सकता है। कभी-कभी कुछ भाषीय नियमों का अपवाद भी हो सकता है, किन्तु अपवाद भी सही अर्थ में अपवाद तभी होगा जब उसके पहचान के सार्वजनिक लक्षण मौजूद हों, नहीं तो कोई किसी भी गलत प्रयोग को अपवाद कहकर अपने प्रयोग को सही कह सकता है। किन्तु इससे भाषा में गलत-सही का भेद मिट जायेगा। उदाहरण के लिए कभी-कभी वर्णनात्मक वाक्य का प्रयोग वर्णन के लिए नहीं बल्कि मूल्यांकन के लिए किया जा सकता है। जैसे, 'आप उस समय वहाँ थे' का प्रयोग आपके वहाँ होने का कथन या वर्णन करने के लिए नहीं बल्कि यह बतलाने के लिए भी हो सकता है कि वहाँ उस समय जो अशोभन घटना घटी उसे आपने घटने दिया और इसीलिए आप अपराधी हैं। किन्तु ऐसी स्थिति में यह तय करने के लिए कि उक्त वाक्य, जो साधारणतया वर्णनात्मक है, अपवादस्वरूप, या असाधारण प्रयोग में, मूल्यांकन बन गया है, सार्वजनिक तरीके उपलब्ध रहते हैं। हिन्दी के व्याकरणिक नियम 'दीर्घ ईकारांत शब्द स्त्रीलिंग होते हैं' के अपवाद भी हैं जैसे 'दही', किन्तु ये अपवाद सार्वजनिक प्रयोग में स्वीकृत हैं। यदि कोई जब जी चाहे जिस दीर्घ ईकारांत शब्द को पुल्लिंग की तरह प्रयोग करने लगे तो उसकी भाषा को समझना दुष्कर हो जायेगा।

भाषीय नियमों का प्रयोग निगमनात्मक तरीके से नहीं होता है। हम इस प्रकार नहीं सोचते :

कोई भी प्रश्नवाचक वाक्य 'सत्य' - 'असत्य' विशेषण का विशेष्य नहीं बन सकता, 'व' वाक्य प्रश्नवाचक है, इसीलिए 'व' 'सत्य' - 'असत्य' का विशेष्य नहीं बन सकता। इस तरह के तर्क का प्रयोग हम किसी दूसरे व्यक्ति को 'व' के सत्य-असत्य न हो सकने को सिद्ध करने के लिए, या उसकी गलती को स्पष्ट करने के लिए, करते हैं। निजी प्रयोग में तो किसी वाक्य को प्रश्न वाचक स्वीकार करने का अर्थ होता है उसे उससे संबंधित भाषीय, संप्रत्ययात्मक, नियमों के अनुशासन में लाना। ऐसा हम कभी-कभी नहीं कर पाते हैं तो उसका कारण होता है पर्याप्त संप्रत्ययात्मक या वैश्लेषिक प्रौढता का अभाव, जिसे दुर्बल भाषाबोध या तर्कबोध भी कह सकते हैं। ऐसा इसीलिए होता है कि सभी भाषीय प्रयोग, सभी भाषीय संरचनाओं के व्यवहार, और सभी भाषीय नियम, अपने वास्तविक स्वरूप को सदा, हर एक को, स्पष्टतया प्रदर्शित नहीं करते।

४— पूर्णत: वैयक्तिक भाषा की तार्किक असंभावना

भाषा की सार्वजनिकता वस्तुत: सिद्ध होने पर भी भाषा को अनिवार्यत: सार्वजनिक कहना बहुतों को गलत लगता है। इसका कारण भाषा के संप्रत्यय को या वैयक्तिक भाषा के संप्रत्यय को, ठीक से नहीं समझना है। चूँकि भाषा के संप्रत्यय का विवेचन हम कर चुके हैं, अब वैयक्तिक भाषा के संप्रत्यय को लेंगे।

वैयक्तिक भाषा से कभी-कभी हमारा आशय वैसी भाषा से होता है जिसे कोई व्यक्ति अपने किसी गुप्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए बना लेता है। इसके पदों के अर्थ औरों को नहीं मालूम होते। जैसे, यदि मुझे श्यामसुन्दर शुक्ल से कोई झगड़ा है और अपनी डायरी में 'श्यामसुन्दर शुक्ल' के लिए 'शु' का प्रयोग करूँ, उनके नाम झूठा मुकदमा दायर करने के लिए 'म' का, गवाहों पर खर्च करने के लिए 'ग' का, और डायरी में 'शुमग' लिख डालूँ तो किसी भाषा का शब्द न होने से इसका अर्थ किसी शब्दकोष में नहीं मिलेगा। मेरे सिवा किसी अन्य को इसका अर्थ नहीं मालूम होगा। इस तरह की अपनी एक सुविकसित भाषा मैं बना सकता हूँ। ऐसी वैयक्तिक भाषा निस्सन्देह संभव ही नहीं है बल्कि कई लोगों द्वारा वस्तुत: बनाई भी जाती है। किन्तु यह सचमुच पूर्णत: वैयक्तिक नहीं है, क्योंकि इसका रूपांतर सार्वजनिक भाषा में संभव है। यह अपने निर्माता के लिए भी इसीलिए सार्थक होती है कि वह इसका रूपांतर सार्वजनिक भाषा में करता है और सार्वजनिक भाषा के नियमों द्वारा ही इसका अनुशासन भी करता है। यदि वह कोई ऐसा भी नियम बना लेता है जो उसकी सार्वजनिक भाषा में नहीं होता है, तो वह नियम भी अन्ततोगत्वा सार्वजनिक भाषा के किसी नियम में रूपांतरणीय होगा। यदि उसके सारे शब्द, सारे नियम नये हैं और किसी भाषा में रूपांतरणीय नहीं हैं तो उस भाषा का अर्थ वह भी न समझ पायेगा। इसीलिए गुप्त भाषा के रूप में तो वैयक्तिक भाषा संभव है किन्तु ऐसी भाषा के अर्थ में नहीं जिसका सार्वजनिक भाषा में रूपांतर तर्कत: असंभव हो। जब मैंने वैयक्तिक भाषा को असंभव कहा था तो मेरा मतलब ऐसी ही भाषा से था। ऐसी ही, सार्वजनिक में अरूपांतरणीय भाषा को पूर्णत: वैयक्तिक भाषा कहेंगे जो संभव नहीं है।

किसी भी भाषा के लिए अनिवार्य है कि वह सीखी-सिखाई जा सके। यदि मनस्तुष्टि के लिए हम मान भी लें कि पूर्णत: वैयक्तिक भाषा की रचना की जा सकती है तो उसे किसी को सिखाया नहीं जा सकता, क्योंकि अपने रचनाकार से भिन्न किसी अन्य के लिए उसका सुबोध होना तर्कत: असंभव है और जिस भाषा को सिखाया नहीं जा सकता, उसे सीखा भी नहीं जा सकता। किन्तु जिसे सीखा-सिखाया न जा सके उसे भाषा कहने में भाषा का हमारा स्वाभाविक संप्रत्यय विद्रोह करता है। जिसे खेला-खेलाया न जा सके उसे 'खेल' कौन कहेगा ?

भाषा सदा दो-तरफी होती है और सिद्धांतत: बहु-तरफी। दो-तरफी होने का अर्थ है कि भाषीय प्रयोग में सदा कम से कम दो व्यक्तियों, वास्तविक या काल्पनिक, की अपेक्षा होती है, वक्ता और श्रोता (लेखक-पाठक) की धारणा निहित रहती है। जहाँ एक व्यक्ति अपने अंदर बिना मुँह से बोले, भाषा का प्रयोग करता है, वह किसी श्रोता की कल्पना कर लेता है, या अपने को ही दो भागों में बाँट लेता है - एक भाग कहता है और दूसरा भाग सुनता-समझता है। ऐसी भाषा भी सिद्धांतत: बहु-तरफी होती है क्योंकि सिद्धांतत: जो एक भाग कहता है वह औरों द्वारा भी कहा जा सकता है और जो दूसरा भाग सुनता-समझता है वह औरों द्वारा सुना-समझा जा सकता है। जहाँ यह संभव नहीं है वहाँ भाषा का अस्तित्त्व भी संभव नहीं है। इसी तथ्य को ऐसे भी कह सकते हैं कि इस संभावना को झुठलाने वाली भाषा संभव नहीं है।

***

संदर्भ सूची

१. *परामर्श, खंड १९, २०*

२. *'Justification in Ethies' in my book Karma, Causation and Retributive Morality (ICPR. N. Delhi)*

सामान्य और कृत्रिम भाषा

१— विषय-प्रवेश

इससे पूर्व हमने भाषा के स्वरूप का विवेचन मुख्यत: सामान्य भाषा को ध्यान में रखते हुए किया है। वस्तुत: भाषादर्शन में 'भाषा' से हमारा तात्पर्य 'सामान्य भाषा' से ही रहता है। और अन्यथा होने पर संदर्भ द्वारा या उपयुक्त विशेषणों द्वारा हम अपना आशय स्पष्ट कर देते हैं। भाषा के कार्यों का विश्लेषण भी जब किया जाता है, तो वह प्राय: सामान्य भाषा के कार्यों का ही होता है। हम यह अस्वीकार नहीं करते कि कृत्रिम भाषा का दार्शनिक अध्ययन भी महत्त्वपूर्ण है।

२— सामान्य भाषा

सामान्य भाषा को प्राकृतिक भाषा भी कहते हैं। 'प्राकृतिक' का अर्थ इस संदर्भ में 'प्रकृतिजन्य' या 'जन्मजात' नहीं है। हमने देखा है कि कोई भी भाषा जन्मजात या प्रकृतिजन्य नहीं है। कोई भी भाषा लेकर कोई जनमता नहीं है। वातावरण के अनुसार कोई भी शिशु किसी भी भाषा को सीख सकता है। माँ की भाषा ही उसकी अपनी भाषा बनेगी, यह बिल्कुल अनिवार्य नहीं है।

सामान्य या प्राकृतिक भाषा से तात्पर्य है वैसी भाषा जो स्वाभाविक, प्राकृतिक ढंग से हमारे सजग, जान-बूझकर, सोद्देश्य प्रयत्नों के बिना भी विकसित होती रहती है। किसी पौधे की तरह उसका विकास प्राकृतिक ढंग से होता रहता है। यद्यपि उसमें हमारा भी योगदान हो सकता है। किन्तु किसी भी समय उसके वर्तमान रूप के विषय में हम यह नहीं कह सकते कि उस रूप को उसे हमने दिया है। किसी मकान के विषय में ऐसी बात नहीं है। मकान हम बनाते हैं और अपनी विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, अपने पास लभ्य साधनों के द्वारा उसे बनाते हैं। जितना नियंत्रण मकान के बनाने में हम कर सकते हैं उतना किसी पौधे के विकास में कतई नहीं, हालाँकि पौधे से भी हमारी महत्त्वपूर्ण आवश्यकताएँ पूरी हो सकती हैं।

सामान्य भाषा रोज-रोज के व्यवहार की, हमारी दैनंदिन संप्रेषण की, सामान्य जीवन की अनन्त आवश्यकताओं को पूरा करनेवाली भाषा है। इसे सामाजिक, सांस्कृतिक विरासत के रूप में हम पाते हैं और अपनी नई आवश्यकताओं की पूर्ति का, नए अनुभवों को व्यक्त करने का साधन बना इसमें परिवर्तन-परिवर्धन लाकर इसे उत्तरोत्तर समृद्ध करते चलते हैं। किन्तु इसकी समृद्धि अधिकांशत: नैसर्गिक, प्राकृतिक ढंग से हुआ करती है और यद्यपि हम उसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं परन्तु यह कहना प्राय: कठिन होता है कि हमने इसे क्या दिया है। कुछ अंशों तक हम अपने योगदान के विषय में सोचते रहते हैं, किन्तु अधिकांशत: नहीं। उदाहरण के लिए जिस हिन्दी का प्रयोग हम रोज-रोज के जीवन में घर-बाहर, हाट-बाजार, लेन-देन, गीत-गली, झगड़े समझौते, किस्सा-कहानी, आदि में करते हैं वह सामान्य भाषा का नमूना है। साहित्य, इतिहास, कला, वाणिज्य, कुछ अंश तक विज्ञान आदि की भाषा भी सामान्य भाषा होती है।

३– तकनीकी भाषा

सामान्य भाषा का भेद तकनीकी भाषा से है। कोई भी तकनीकी पद किसी विशिष्ट अन्वेषण में किसी विशिष्ट आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रयुक्त होता है। यह आवश्यकता सामान्य जन की नहीं, बल्कि उस विशिष्ट अन्वेषण की होती है जिसे किसी विशिष्ट अनुभव, विचार, भाव तथ्य या संबंध आदि को व्यक्त करना होता है। जैसे, दो प्रतिज्ञप्तियों के बीच के एक विशिष्ट प्रकार के संबंध को व्यक्त करना होता है। जैसे, दो प्रतिज्ञप्तियों के बीच के एक विशिष्ट प्रकार के संबंध को व्यक्त करने के लिए तर्कशास्त्री 'आपादान' शब्द का प्रयोग करता है। दो प्रतिज्ञप्तियों, प और फ, में जब ऐसा संबंध हो कि सत्य प और असत्य फ का संयोग असत्य हो तो इस संबंध को आपादन कहेंगे या यह कि प से फ आपादित है। प-फ के इस प्रकार के संबंध के लिए, जो तर्कशास्त्री के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण है, एक पद चाहिए और इस आवश्यकता की पूर्ति 'आपादन' से की जाती है। भाषीय ध्वनि के न्यूनतम खण्ड के लिए भाषाशास्त्री तकनीकी पद 'ध्वनिग्राम' का प्रयोग करता है। भाषीय सिद्धांत की रचना में उसे सार्थक ध्वनि की न्यूनतम इकाई के संप्रत्यय की चर्चा करनी पड़ती है, और उसके लिए कोई पद चाहिए, अन्यथा उसकी, ध्वनि की न्यूनतम इकाई की, चर्चा न हो सकेगी। इस इकाई के लिए वह 'ध्वनिग्राम' का प्रयोग करता है। चिकित्सक खास प्रकार के ज्वर के लिए जिसमें कफ, पित्त, वायु तीनों एक साथ कुपित हो जाते हैं, तकनीकी पद 'सन्निपात' का प्रयोग करता है।

ज्ञान के हर एक क्षेत्र में (साहित्य, कला, दर्शन, विज्ञान, धर्म आदि में) तकनीकी पदों की आवश्यकता होती है। किसी सामान्य पद और तकनीकी पद में अंतर यही होता है कि तकनीकी पद विशेषज्ञों की, ज्ञान-विज्ञान के विशेष खण्डों की, आवश्यकताओं को पूरा करता है, जबकि सामान्य पद सामान्य जीवन की आवश्यकताओं को। समाज के शैक्षणिक-बौद्धिक विकास के साथ-साथ तकनीकी पद बनते जाते हैं और उनमें से कुछ सामान्य भाषा में प्रवेश भी कर जाते हैं। जिस समाज का शैक्षणिक-बौद्धिक स्तर जितना ही ऊँचा होता है उसकी सामान्य भाषा में तकनीकी पदों का समावेश उतनी ही सुगमता से हो जाता है। बल्कि सामान्य जन के रोजमर्रे के जीवन में संप्रेषण की ऐसी आवश्यकताएँ हुआ करती हैं कि उन्हें पूरा करने के लिए उसे कुछ विशिष्ट क्षेत्रों के कई तकनीकी पदों का व्यवहार करना पड़ता है।

विशिष्ट दिशा में सामाजिक विकास, या विशिष्ट सामाजिक आवश्यकताएँ, भी काफी हद तक निश्चित करती हैं कि किसी प्रकार के तकनीकी पद सामान्य भाषा के अंग सुगमता से बन पाएँगे। प्रचुर यांत्रिक विकास से संपन्न समाज में कई यंत्रों के टेढ़े-मेढ़े तकनीकी नाम (जैसे अंग्रेजी, अमरीकी समाज में 'कारबोरेटर', ब्लेंडर आदि) आसानी से सामान्य भाषा में घुस जाते हैं यद्यपि उनका निर्माण किसी तकनीकी, किसी विशेषज्ञ की विशिष्ट, आवश्यकता को पूरा करने के लिए होता है। सामान्य जन को भी उनकी आवश्यकता होती है और यदि उसका शैक्षणिक स्तर अपेक्षित रूप से सुविकसित है तो वह उन्हें अपना लेता है। इस प्रकार सामान्य और तकनीकी भाषा की विभाजक रेखा काफी अस्थिर रहती है। किसी नदी के दोनों ओर के गाँवों की तरह उनकी सीमाबंदी घटती-बढ़ती रहती है। यह इस अर्थ में भी सत्य है कि तकनीकी भाषा के ही कुछ पद सामान्य भाषा में नहीं प्रवेश कर पाते हैं, सामान्य भाषा के भी कुछ पद तकनीकी बन जाते हैं, या बनाए जा सकते हैं। सामान्य और तकनीकी भाषा की लेन-देन पारस्परिक है।

तकनीकी शब्द कभी तो बिलकुल नए बनाए जाते हैं, कभी प्रचलित शब्दों को ही तकनकी अर्थ में व्यवहृत किया जाता है। तर्कशास्त्र का 'प्रतिज्ञप्ति', भाषाशास्त्र का 'ध्वनिग्राम', प्रशासन का 'राज्यपाल', संगीत का 'आलाप' आदि विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बनाए गए शब्द हैं। इस तरह

के तकनीकी शब्दों का वही अर्थ होता है जो उन्हें दिया जाता है; उनका अपना, लोक व्यवहार से प्राप्त, कोई अर्थ नहीं होता क्योंकि नए होने के कारण उनका लोक व्यवहार होता ही नहीं। वे तो एक तरह से अर्थशून्य रहते हैं, इसलिए हम उन्हें जो चाहें वही अर्थ दे सकते हैं। इसलिए जिस अर्थ का वाहक हम उन्हें बनाना चाहते हैं, बना सकते हैं। कभी-कभी लोक व्यवहार में विद्यमान किसी शब्द को ही हम तकनीकी अर्थ दे देते हैं और परिभाषा द्वारा उसके नए, तकनीकी अर्थ को स्पष्ट करते हैं। सिनेमा की भाषा में 'मुहूरत' प्रशासन में 'कुलपति', दर्शन में 'आत्मा', गणित में 'संख्या', मनोविज्ञान में 'अचेतन' आदि लोक व्यवहार से लिए गए शब्द हैं जिनका अपने-अपने क्षेत्रों में तकनीकी प्रयोग होता है। किन्तु ध्यान रखना चाहिए कि यद्यपि रूप की दृष्टि से ये पुराने शब्द होते हैं, इनका अर्थ नया नहीं होता जो पुराने अर्थ से भले ही मिलता-जुलता हो किन्तु बिल्कुल वही नहीं होता। इसलिए ये भी एक प्रकार से नए अर्थ के वाहक होने के कारण नए शब्द होते हैं। उदाहरण के लिए, यद्यपि 'कुलपति' लोक व्यवहार का प्रचलित शब्द है, किन्तु इसका प्रशासनिक अर्थ (विश्वविद्यालय का अध्यक्ष) लोक व्यवहार से मिले अर्थ (कुल का पति) से भिन्न है। अपने-अपने कुल का पति होते हुए भी हम सभी कुलपति नहीं बन पाते।

४– सामान्य भाषा की प्राथमिकता

सामान्य भाषा तकनीकी भाषा की अपेक्षा आधारिक या प्राथमिक होती है। किसी भी तकनीकी शब्दावली के लिए जरूरी है कि उसका अर्थ अंततः सामान्य भाषा में परिभाषेय, व्यक्त हो सकनेवाला हो अन्यथा वह हमारे लिए अर्थहीन हो जाएगी। कारण यह है कि तकनीकी पद का लोक व्यवहार से प्राप्त अर्थ तो रहता नहीं, और जो अर्थ उसे दिया जाता है यदि उसको अन्ततः सामान्य भाषा में नहीं व्यक्त किया जा सकता तो वह पद निरर्थक ही रहेगा। एक तकनीकी पद को दूसरे में, दूसरे को तीसरे में, हम परिभाषित कर सकते हैं, किन्तु जब तक इस क्रम को तोड़कर सामान्य भाषा की शब्दावली में नहीं उतरेंगे तब तक पहले तकनीकी पद का अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाएगा। इसलिए तकनीकी भाषा पर सामान्य भाषा का प्रत्यक्ष या परोक्ष नियंत्रण बना रहता है।

सत्य है कि सामान्य भाषा में परिवर्तन लाकर, उसके साथ छेड़-छाड़कर, कवि, विज्ञानी, दार्शनिक, कलाकार, नए-नए प्रयोगों को आरंभ करते हैं, प्रचलित प्रयोगों से भिन्न प्रयोगों को लाकर अपनी बात वाँछित ढंग से कह पाते हैं, और परिणामतः भाषा को समृद्ध करते हैं। किन्तु यहाँ भी उनके नए प्रयोग अन्ततः प्रचलित प्रयोगों के माध्यम से व्याख्येय होने चाहिए, अन्यथा वे अर्थबोध न कर सकेंगे। हिन्दी के पुराने और नए कवियों ने भाषा के नए प्रयोग किए हैं, किन्तु इन नए प्रयोगों को कर सकने की योग्यता प्राप्त करने के लिए, सामान्य भाषा की चहार-दीवारी को तोड़ने या आगे बढ़ाने के लिए उन्हें पहले उसे सीखना पड़ता है, उस पर अधिकार जमाना पड़ता है। उनके नए प्रयोग प्रचलित प्रयोगों के द्वारा परिभाषेय हुए बिना बोधगम्य नहीं हो पाते। इसलिए अर्थबोध और अर्थाभिव्यक्ति दोनों की दृष्टि से सामान्य भाषा की प्राथमिकता सिद्ध है।

५– भाषीय स्वच्छंदता की सीमा

यद्यपि एक दृष्टि से, सिद्धांततः, हमारे अंदर भाषीय स्वच्छंदता है, हम नए शब्दों को बना सकते हैं, प्रचलित शब्दों को नए अर्थों में प्रयुक्त भी कर सकते हैं, किन्तु यह स्वच्छंदता पूर्णतः अनियंत्रित या सीमारहित नहीं है। सामान्य भाषा, या भाषीय लोक व्यवहार, को हम मोड़ सकते हैं, उसके द्वारा बनाए गए रास्ते से अलग भी जा सकते हैं, किन्तु एक खास सीमा के भीतर ही। हम उससे हटकर उतनी ही दूरी तक जा सकते हैं जहाँ से उसके साथ संपर्क बिल्कुल टूट न जाय - हमारे नए प्रयोगों को अन्ततः सामान्य भाषा द्वारा व्याख्येय होना उनकी सार्थकता के लिए अनिवार्य है। जब कभी यह संपर्क टूट जाता है या जिस मात्रा में टूट जाता है, उसी मात्रा में नए प्रयोग अर्थहीन हो जाते हैं। अर्थबोध का हमारा मूल

साधन सामान्य भाषा ही है। नए प्रयोग, नई भाषीय रचनाएँ, उसमें समाहित होकर, उससे जुड़कर, ही सार्थक संप्रेषण का साधन बन सकते हैं। यदि सरकार कोई नया सिक्का चलाती है तो उसे यह बताना पड़ता है कि वर्तमान मुद्रा-व्यवस्था में उसका क्या स्थान है, विभिन्न मूल्य के प्रचलित सिक्कों के साथ उसका कैसा ताल मेल है, नहीं तो वह सिक्का जनता द्वारा स्वीकृत नहीं होगा। यदि कोई उसे स्वीकार कर भी ले तो वह उसके लिए सिक्का न रह जाएगा क्योंकि उसे उसका मूल्य पता नहीं होगा। व्यापार में ऐसे सिक्के से खरीद-बिक्री के कार्य न हो पाएँगे। किन्तु खरीद-बिक्री में प्रयुक्त हो पाने की क्षमता उसके वस्तुत: सिक्का होने के लिए अनिवार्य है। जिस सिक्के को कोई मानता नहीं, उसका मेल कौडी के बराबर भी नहीं होता। शब्द भी सिक्कों की तरह होते हैं। संप्रेषण में, भाषीय व्यापार में, जिस शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता वह अर्थ का वाहक नहीं कहा जा सकता।

कुछ रहस्यवादी चिंतक, कवि, दार्शनिक समझते हैं कि सामान्य भाषा से बिलकुल असंबद्ध, असंपृक्त, भाषा में ही अपने विचारों को व्यक्त कर सकते हैं। ऐसा सोचना भाषा के स्वरूप को न समझने का परिणाम है। सामान्य भाषा में सुधार की अपेक्षा हो सकती है, होती भी है; वह कभी स्थिर नहीं रहती। पुराने शब्द, शब्द-प्रयोग, सिक्कों की तरह, घिसते रहते हैं, और नए शब्द, नए प्रयोग, भाषाशिल्पी बनाते रहते हैं। किन्तु सामान्य भाषा, या लोकव्यवहार, का सर्वथा परित्याग अर्थपूर्ण संप्रेषण की संभावना को नष्ट करके ही किया जा सकता है। जिसे गुप्त भाषा कहते हैं, वह भी उन्हीं के लिए सार्थक होती है जो सामान्य भाषा में उसके रूपांतर के नियमों को जानते हैं। कबीर की उलटवासियाँ, रहस्यवाद-छायावाद की कविताएँ, गूढ़ तत्त्वशास्त्रीय रचनाएँ, या किसी विज्ञान के अत्यंत ही तकनीकी सिद्धांत उसी मात्रा में सार्थक होते हैं जिसमें उनका रूपांतर, या अनुवाद, सामान्य भाषा में वस्तुत: या सिद्धांत: संपन्न हो सकता है। बल्कि किसी तथाकथित अर्थपूर्ण भाषा-खण्ड की सार्थकता की परीक्षा करने का सही मार्ग यह देखना है कि अन्तत: इसकी व्याख्या या इसका रूपांतर सामान्य भाषा में हो सकता है या नहीं।

६– भाषा की (तथाकथित) अपर्याप्तता

कई बार ऐसा होता है कि जो हम कहना चाहते हैं वह कह नहीं पाते क्योंकि हमारे पास पर्याप्त शब्दावली नहीं होती। इस तरह के अनुभव हर व्यक्ति को कभी न कभी अवश्य होते हैं। कई बार हमारे अनुभव हमारी अभिव्यक्ति की क्षमता को चुनौती देते हैं और हार मानकर हमें कहना पड़ता है 'गिरा न नयन, नयन बिनु वाणी'। किन्तु यह भी सत्य है कि प्राय:, सामान्यतया हम अपनी बातों को कहने के लिए पर्याप्त शक्तिशाली भाषा ढूँढ़ ही निकालते हैं, कभी सुगमता से, कभी न्यूनाधिक कठिनाई से। यदि ऐसा नहीं होता तो हमारे सामाजिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक क्रियाकलाप ठप्प हो गए रहते।

भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति में कठिनाइयाँ अनुभूत हैं, इसीलिए उन्हें अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ये कठिनाइयाँ दो प्रकार की होती हैं : वैयक्तिक और भाषिक। वैयक्तिक कठिनाई व्यक्ति की अपनी निजी भाषीय अक्षमता, उसके भाषीय शिक्षण की अपर्याप्तता, का परिणाम या द्योतक होती है। यदि कोई व्यक्ति 'अमलतास' या उसका कोई पर्यायवाची शब्द, का प्रयोग नहीं जानता है तो अमलतास के पेड़ को देखने पर वह उसे 'अमलतास' कहकर नहीं वर्णित कर पाएगा। हो सकता है वह उसके विषय में ठीक-ठीक कुछ भी न कह पाए। किन्तु यह उसकी शिक्षा का दोष है जिसे प्रयत्न द्वारा दूर किया जा सकता है। ऐसी कमियों को दूर करके ही हमारी भाषीय योग्यता का विस्तार होता है। ये अक्षमताएँ भाषा की नहीं, बल्कि भाषा के प्रयोग करने वालों की होती हैं। उपर्युक्त उदाहरण में उक्त व्यक्ति को 'अमलतास' शब्द का प्रयोग सिखाकर उसकी कठिनाई दूर की जा सकती है।

भाषिक कठिनाई किसी भाषा विशेष की त्रुटी या अपर्याप्तता का परिणाम होती है। यदि हमारी

भाषा में 'अमलतास' या उसका पर्यायवाची कोई शब्द नहीं है, तो अमलतास को हम अमलतास कहकर नहीं वर्णित कर पाएँगे, और यदि उस वृक्ष के लिए कोई अन्य पद भी हमारी भाषा में नहीं है तो उसको किसी नाम से अभिहित नहीं कर सकेंगे। यह कमी हमारी भाषा की होगी और इसे दूर करने के लिए हमें अपनी भाषा में उपर्युक्त पद को लाना पड़ेगा। हिन्दी की ऐसी स्थिति बहुतों का ध्यान आकृष्ट कर चुकी है। हिन्दी में विभिन्न विषयों के तकनीकी पदों का कभी अभाव था और आज भी उसकी यह कमी पूरी तरह दूर नहीं हो पाई है। इसे दूर करने का उपाय है हिन्दी में तकनीकी शब्दावली का निर्माण। हर एक भाषा में ऐसी स्थिति आती है जब उसमें किसी चीज या अनुभव के लिए पर्याप्त शब्दावली का अभाव रहता है और नए शब्दों, प्रयोगों, द्वारा उसे दूर किया जाता है।

वैयक्तिक और भाषिक कठिनाइयाँ स्वाभाविक हैं, उनके चलते भाषा मात्र को अपर्याप्त नहीं कहा जा सकता। अब तो भाषा विज्ञानियों ने यह सिद्ध कर दिया है कि कोई भी भाषा सिद्धांततः अपूर्ण या अपर्याप्त नहीं है। जिस समुदाय या समाज की वह भाषा होती है, उसकी संप्रेषण की सारी, आवश्यकताएँ वह पूरा कर लेती है और जब कभी कोई नई स्थिति या नई माँग होती है तो उसमें इतनी शक्ति रहती है कि नए शब्दों, नए प्रयोगों का उसमें समावेश कर नई आवश्यकताओं को पूरा किया जा सकता है। इसीलिए यह कहना कि अमुक भाषा अनिवार्यतः अमुक कार्य के लिए अमुक भाव की अभिव्यक्ति के लिए, अक्षम या अपर्याप्त है, गलत है। अंग्रेजी में बर्फ के लिए दो शब्द हैं 'स्नो' और 'आइस', जबकि हिन्दी में एक ही और एस्किमों की भाषा में दर्जन से भी ज्यादा। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि हिन्दी वाले 'स्नो' और 'आइस' से व्यक्त होनेवाले अंतर को नहीं व्यक्त कर सकते हैं। तकनीकी पदावली के अभाव से जो लोग यह कहते हैं कि हिन्दी, या कोई अन्य भाषा, तकनीकी ज्ञान को व्यक्त करने में अक्षम है, तो इस अक्षमता को भाषिक, सामयिक अक्षमता के अर्थ में ही लिया जा सकता है जो नई पदावली और नए प्रयोगों द्वारा परिहार्य है।

किन्तु कुछ विचारक विशेषकर रहस्यवादी प्रवृत्ति वाले भाषा को, अर्थात् भाषा मात्र को, एक अत्यधिक गंभीर अर्थ में अपर्याप्त मानते हैं। वे कहते हैं कि कुछ अत्यन्त ही गंभीर, गूढ़ सत्य हैं जिन्हें कोई चिंतक अपने अद्वितीय अनुभव द्वारा प्राप्त करता है और ये सत्य, ये अनुभव ऐसे हैं कि उनको किसी भी भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता। अर्थात् भाषा मात्र इन्हें व्यक्त करने में तर्कतः, अनिवार्यतः, अक्षम रहेगी। जिसे आँख देखती है उसे आँख तो वर्णित कर नहीं सकती क्योंकि उसकी वाणी नहीं है, और जीभ भी नहीं जिसके पास वाणी है क्योंकि वह देख नहीं सकती। तो ऐसे सत्य अनिर्वचनीय ही रहेंगे। भाषा की यह (तथाकथित) अपर्याप्तता दुर्निवार है; वैयक्तिक और भाषिक कठिनाइयों से वह अधिक गंभीर है। यदि रहस्यवादी आक्षेप सत्य है तो किसी भी सुधार से भाषा को रहस्यवादी सत्यों को व्यक्त करने में सक्षम नहीं बनाया जा सकता। भाषा की इस प्रकार की (तथाकथित) अक्षमता या अपर्याप्तता को रहस्यवादी पारिभाषिक, संप्रत्ययात्मक, बना देता है। उसके लिए भाषा परिभाषतः उसके सत्यों को व्यक्त नहीं कर सकती है।

रहस्यवादी यह भूल जाता है कि जो अर्थपूर्ण है वह परिभाषतः भाषा में व्यक्त हो सकता है, और यदि कभी व्यक्त न हो सकता है तो इसलिए कि कोई वैयक्तिक या भाषिक कठिनाई विद्यमान रहती है। यदि वस्तुतः कोई सत्य भाषा द्वारा पूर्णतः, अनिवार्यतः व्यक्त न हो सकनेवाला है तो उसकी चर्चा भी हम नहीं कर सकते। उसके विषय में हम यह नहीं कह सकते कि वह महत्त्वपूर्ण सत्य, याअ सत्य है, या यह भी कि उसे व्यक्त करने में भाषा असमर्थ है। उसके विषय में तो चुप्पी साधने के सिवा हम और कुछ नहीं कर सकते। किन्तु रहस्यवादी यह भी मानने पर तैयार नहीं होगा क्योंकि वह अपने सत्यों की चर्चा भी करना चाहता है। वस्तुतः वह वैयक्तिक या भाषिक कठिनाइयों को गलत समझकर, अतिरंजित

कर, पारिभाषिक बना डालता है, और भाषा के प्रति दुर्निवार असंतोष का अनुभव करने लगता है। चूँकि उसका आक्षेप भाषा के स्वरूप के विषय में व्यामोह या आश्रित है, उसे यथार्थ नहीं माना जा सकता। यदि सचमुच उसका आक्षेप सत्य होता तो आज रहस्यवादी साहित्य की रचना ही न हुई होती। जैसा कि विट्गिन्स्टाइन ने कहा है, जब बोल नहीं सकते तो चुप ही तो रहेंगे।

एक और, अत्यंत ही निराधार, पूर्णत: भ्रांत, धारणा कुछ लोगों में घर कर गई है कि जो सत्य या अनुभव कठिनाई से व्यक्त हो सकता है वह आसानी से व्यक्त हो सकनेवाले से अधिक महत्त्वपूर्ण या मूल्यवान होता है। यह पक्षपात उतना ही निराधार है जितना कि यह सोचना कि जो दवा जितनी ही कड़वी होगी वह उतनी ही मुफीद होगी। ऐसे लोग भूल जाते हैं कि अभिव्यक्ति की यथार्थ कठिनाइयाँ, वैयक्तिक या भाषिक, दूर की जा सकती हैं, और वे भाषा मात्र को अनिवार्यत:, सदा के लिए, असमर्थ या अपर्याप्त नहीं सिद्ध करतीं। भाषा की अनिवार्य असमर्थता में विश्वास करने वालों की तर्कणा इस प्रकार की होती है : जो जितना अधिक कठिनाई से भाषा में व्यक्त हो सकता है, वह उतना ही महत्त्वपूर्ण या गंभीर सत्य है, इसलिए जिसके व्यक्त हो सकने की संभावना ही नहीं है, वह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होगा। यह तर्क उतना ही दोषपूर्ण है जितना यह कि जिस स्त्री की कमर जितनी ही पतली होगी वह उतनी सुन्दर होगी, इसलिए जिसे कमर ही न होगी वह सर्वाधिक सुंदरी होगी। स्पष्ट है कि कमर होने पर वह स्त्री, मनुष्य कहे जाने वाले प्राणी, ही न रह जायेगी जिससे उसे सर्वाधिक सुन्दर स्त्री कहने का प्रश्न अनर्गल हो जायेगा। भाषीय अभिव्यक्ति मनुष्य के संप्रेषण, विवेचन-सामर्थ्य, की सीमा है; जो अनिवार्यत: इस सीमा के बाहर रहने वाला है उसके विषय में वह कुछ भी नहीं कह सकता, यह भी नहीं कि वह इस सीमा के बाहर है।

७ – कृत्रिम भाषा

तकनीकी भाषा सामान्य भाषा के कंधे पर ही खड़ी होती है। वह अंशत: कृत्रिम होती है क्योंकि उसकी पदावली जान बूझकर सोद्देश्य बनाई जाती है, और कभी-कभी यह भी कहना संभव होता है कि किस पदावली का प्रवर्तक कौन है। सामान्य भाषा के शब्द तो बनते-बदलते रहते हैं, जबकि तकनीकी भाषा के शब्द प्रयत्न करके बनाए जाते हैं। ज्ञान के विभिन्न खण्डों की भाषा में, किसी में कम, किसी में अधिक, तकनीकी पद अनिवार्यत: समाविष्ट रहते हैं क्योंकि प्राय: सामान्य भाषा उनके लिए पर्याप्त नहीं होती। किन्तु ज्ञान की कुछ विशिष्ट प्रक्रियाएँ हैं जिनके लिए एक पूरे भाषा-खण्ड का निर्माण करना पड़ता है। यह भाषा पूर्णत: बनाई हुई, कृत्रिम, होती है। साधारणत: ऐसी ही भाषा के लिए 'कृत्रिम भाषा' का प्रयोग होता है। इसे कृत्रिम इसलिए भी कहते हैं कि इसकी बनावट को सामान्य भाषा के समावेश से मुक्त रखा जाता है और बिलकुल ही कृत्रिम प्रतीकों का सामान्य प्रयोग किया जाता है; ऐसे प्रतीकों का जो सामान्य भाषा के प्रतीक नहीं होते, और सामान्य भाषा की दृष्टि से उनका कोई अर्थ नहीं होता।

कृत्रिम भाषा का अच्छा नमूना तर्कशास्त्र में मिलता है। तर्कशास्त्र का यह सर्वसम्मत सिद्धांत है कि किसी भी तर्क की वैधता आकारिक होती है, अर्थात् वह उसमें प्रयुक्त प्रतिज्ञप्तियों के आकार पर, न कि उनकी विषय वस्तु पर, निर्भर करती है। यदि किसी विशिष्ट आकारवाला कोई एक तर्क वैध है तो उस आकारवाले सभी तर्क वैध होंगे। किन्तु सामान्य भाषा में व्यक्त तर्कों के आकार प्राय: स्पष्ट नहीं दीख पड़ते। कभी-कभी भिन्न आकारवाले तर्क एक आकारवाले, और एक आकारवाले तर्क भिन्न आकारवाले, जान पड़ते हैं। उदाहरण के लिए यह तर्क

यदि आज मंगल है, तो मुझे उपवास रहना है
आज मंगल है, इसलिए मुझे उपवास रहना है। (१)

वैध है, और जो भी तर्क इस आकार का होगा वह वैध होगा, उसकी विषय-वस्तु कुछ भी क्यों न हो। निम्नलिखित तर्क भी, भले ही देखने में भिन्न आकार का लगता हो, वस्तुत: इसी आकार का है :

केला मीठा होता है केवल तभी जब पूरी तरह पका होता है और चूँकि यह केला मीठा है इसलिए पूरी तरह पका होगा ही। (२)

यदि 'आज मंगल है' के लिए म, 'मुझे उपवास रहना है' के लिए उ, 'केला मीठा होता है' के लिए क 'पूरी तरह पका होता है' के लिए 'प', और 'यदि-तो' के लिए ⊃ प्रतीकों का प्रयोग किया जाय तो

(१) का प्रतीकात्मक रूप होगा।

म ⊃ उ (१)
म
∴ उ

और (२) का होगा

क ⊃ प (२)
क
∴ प

स्पष्ट है (१) और (२) का आकार एक ही है। अक्षरों का प्रयोग न कर, हम यह भी कह सकते हैं कि १ और २ दोनों का आकार □ ⊃ ☒, □, ∴☒ चूँकि यह आकार वैध है, जब हम किसी भी तर्क को इस आकार में पायेंगे, बिना विचारे भी कह सकते हैं कि वह वैध होगा।

तर्कों के आकार उनमें प्रयुक्त प्रतिज्ञप्तियों के आकार द्वारा निर्दिष्ट होते हैं। सामान्य भाषा में व्यक्त प्रतिज्ञप्तियों के रूप कई बार उनके वास्तविक रूप के सच्चे परिचायक नहीं होते। इसे इस तरह भी कह सकते हैं कि किसी प्रतिज्ञप्ति का व्याकरणिक रूप उसके तार्किक रूप को हमेशा ठीक-ठीक व्यक्त नहीं करता। व्याकरणिक रूप उसके तार्किक रूप को गलत भी दिखा सकता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित को लें :-

मेरे गाँव में ब्राह्मण बहुत हैं। (५)
मेरे गाँव में ब्राह्मण गरीब हैं। (५ क)
मैंने कल रात मजेदार सपना देखा। (६)
मैंने कल रात मजेदार नाच देखा। (६ क)

(५) और (५क) के और (६) और (६क) के व्याकरणिक रूप एक हैं। उनके शब्दों का व्याकरणिक पदच्छेद एक जैसा होगा किन्तु तर्कत:, तार्किक दृष्टि से (५) और (५क), (६) और (६क), के रूप अलग अलग हैं। उदाहरण के लिए (५) और (५क) को लें। (५क) के संदर्भ में ब्राह्मणों की गरीबी के संबंध में, यह प्रश्न हो सकता है कि वे कितने गरीब हैं, किन्तु (५) के संदर्भ में यह प्रश्न निरर्थक है कि वे कितने बहुत हैं। और, यह जानकर कि अमुक ब्राह्मण मेरे गाँव का है, मैं यह निगमित कर सकता हूँ कि वह भी (संभवत:) गरीब ही है, किन्तु यह निगमित करना कि वह (संभवत:) बहुत है, बिना किसी अर्थ का होगा। इसी प्रकार (६) और (६क) के तार्किक अंतर को भी स्पष्ट किया जा सकता है। (६क) के संदर्भ में श्रोता पूछ सकता है। चश्मा लगाकर देखा या बिना चश्मा के ? पत्नी के साथ या अकेले ? आदि आदि (६) के विषय में ऐसे प्रश्न कर देखें: वे निश्चित रूप से बिना सिर-पैर के ही लगेंगे। एक ही व्याकरणिक आकार का कोई वाक्य सार्थक और कोई निरर्थक भी हो सकता है जैसे -

मेरा सरदर्द बहुत तेज है (७)
मेरा सरदर्द बहुत लाल है (७क)

(७) अर्थपूर्ण है किन्तु (७क) अर्थहीन, जबकि दोनों व्याकरण सम्मत हैं। हिन्दी व्याकरण का कोई ऐसा नियम नहीं है जो (७क) को व्याकरण, वाक्य-रचना, की दृष्टि से गलत या अशुद्ध बता पाये। ऐसे वाक्यों को नियम विरुद्ध सिद्ध करना केवल व्याकरण या वाक्य-रचना के नियमों के आधार पर संभव नहीं है।

इस प्रकार तर्कशास्त्री देखता है कि सामान्य भाषा तर्कशास्त्र की दृष्टि से संतोषप्रद नहीं है तर्कों के वास्तविक आकार को वह सदा स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं करती, जिसके फलस्वरूप उनकी वैधता-अवैधता की पहचान कठिन हो जाती है और उनके विषय में भ्रम की संभावना बढ़ जाती है। सामान्य भाषा के वाक्य अपने द्वारा व्यक्त प्रतिज्ञप्तियों के रूप को हमेशा ठीक-ठीक नहीं बतलाते। एक ही प्रकार के व्याकरणिक रूप विभिन्न प्रकार की प्रतिज्ञप्तियाँ जैसे (८) 'राम हिन्दू है', (९) 'ब्राह्मण हिन्दु है', (१०) राम ईमानदार है; आदि को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं। (८) में व्यक्त प्रतिज्ञप्ति का तथ्य है कि राम हिन्दु-वर्ग का सदस्य है, (९) का कि 'ब्राह्मण'-वर्ग 'हिन्दू' वर्ग का एक उपवर्ग है, और (१०) का कि राम 'ईमानदारी'-नामक गुण से विशिष्ट है। किन्तु व्याकरणिक रूप तीनों का एक जैसा ही है। सार्थक और निरर्थक वाक्य भी एक ही भाषीय आकार के हो सकते है, और एक ही प्रकार के नियमों से अनुशासित भी।

सामान्य भाषा के बहुत सारे पद अनेक अर्थवाले, अनिश्चित अर्थवाले, और रागात्मक अर्थवाले भी होते हैं। तर्कशास्त्र की दृष्टि से ये भाषीय दोष हैं, और तार्किक, वैज्ञानिक, चिंतन में बाधक भी होते हैं। इन और उपर्युक्त कठिनाइयों के अतिरिक्त, सामान्य भाषा में व्यक्त किए गए तर्कों का आकार लम्बा भी होता है, और कभी-कभी इतना लम्बा कि उसके निर्णायक वाक्यों के पारस्परिक संबंधों, तार्किक व्यापारों, को ठीक-ठाक पहचान लेना अत्यन्त ही दुष्कर हो जाता है। वाक्य-रचना के सारे नियम भी स्पष्ट रूप में लभ्य नहीं होते, और वाक्यों के रूपांतर के नियम, एक वाक्य से दूसरे वाक्य को निष्कृष्ट करने के नियम भी, सभी स्पष्ट नहीं रहते। (११) 'हिमालय दुर्लंघ्य पर्वत है' से तो यह निष्कृष्ट किया जा सकता है कि 'हिमालय' नामक कोई पर्वत है क्योंकि जब इस नाम का पर्वत ही न होगा तो वह दुर्लंघ्य कैसे होगा ? किन्तु (१२) 'रावण काल्पनिक दैत्य है' से यह निष्कृष्ट करना गलत है कि 'रावण' नाम का कोई दैत्य है, क्योंकि यदि है तो फिर काल्पनिक कैसे होगा ? किन्तु सामान्य भाषा के स्तर पर, जिसके ये दोनों (११) और (१२) वाक्य हैं, इस समस्या का समाधान नहीं हो सकता, क्योंकि वाक्यों के पारस्परिक संबंधों को अनुशासित करनेवाले नियमों का स्पष्ट विवेचन इस स्तर पर लभ्य नहीं होता।

अत: तर्कशास्त्री सामान्य भाषा को अपने कार्य के लिए, तर्कशास्त्र के प्रतिपादन के लिए, अपर्याप्त पाता है। वह कृत्रिम भाषा का निर्माण करता है जिसमें सामान्य भाषा के शब्दों के बदले कृत्रिम प्रतीकों जैसे 'यदि-तो' के लिए $\supset$, वियोजन के लिए V, संयोजन के लिए •, आदि का प्रयोग होता है। वाक्य-रचना के, विभिन्न संप्रत्ययों के पारस्परिक संबंधों के, वाक्यों के रूपांतरण के, सभी नियम पूर्णत: स्पष्ट और सुनिश्चित रूप से प्रतिपादित कर लिए जाते हैं और उनकी संख्या भी सदा के लिए स्थिर कर दी जाती है। शब्दबद्ध वाक्यों के बदले भी प्रतीक प्रयुक्त होते हैं जो अक्षर या चिन्ह मात्र होते हैं।

कृत्रिम भाषा के प्रतीक लोक व्यवहार से न लिए जाकर बिलकुल अर्थशून्य चिन्ह होते हैं ताकि उन्हें मनचाहा अर्थ दिया जा सके। चूँकि उनके पीछे कोई भाषीय परंपरा या प्रचलन नहीं होते, वे अपने अंदर किसी प्रकार के पूर्वग्रह को छिपाए नहीं रहते। यही कारण है कि उनके प्रयोग पर हमारा पूरा नियंत्रण रहता है, हम उन्हें जिस अर्थ का वाहक चाहे बना सकते हैं। इससे यह भी निष्कृष्ट होता है कि अनेक कृत्रिम भाषाएँ बनाई जा सकती हैं। वस्तुत: तर्कशास्त्रियों ने कई तार्किक कृत्रिम भाषाएँ बनाई भी हैं। इन भाषाओं में किसी को किसी से श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। यह संभव है कि कोई किसी से अधिक सरल, व्यापक, सुगठित, सुरूप, सौंदर्य बोध को भानेवाली हो।

कृत्रिम भाषा बंद समष्टि होती है। उसमें सब सुनिश्चित, एकार्थक, होता है और किसी भी प्रतीक का कोई रागात्मक पक्ष या कार्य नहीं होता। यह तय करने के लिए ही प्रतीकों की कोई लड़ी सुगठित, नियमानुकूल, है या नहीं, निश्चित परिभाषाएँ बनी होती हैं। सामान्य भाषा में 'वाक्य' को परिभाषित करना कितना कठिन है किन्तु कृत्रिम भाषाओं में वाक्यता के निर्णायक सुनिश्चित नियम दिए गए होते हैं जिनके माध्यम से प्रतीकों के समूहों की वाक्यता या न-वाक्यता निर्विवाद रूप में स्थिर की जा सकती है।

कृत्रिम भाषा सामान्य शब्दावली से रहित होती है इसलिए इसका कोई अर्थ नहीं किया जा सकता जब तक कि ऐसे नियम न दिए जायें जिनके माध्यम से किसी कृत्रिम वाक्य या फार्मूला का अनुवाद सामान्य भाषा की शब्दावली में किया जा सके। ये अनुवाद, व्याख्या, के नियम ही कृत्रिम भाषा का सामान्य भाषा से संबंध जोड़ते हैं। स्पष्ट है कि कृत्रिम भाषा किसी विशिष्ट तकनीकी लक्ष्य को पूरा करने के लिए, जैसे तर्कशास्त्र के प्रतिपादन के लिए, बनाई जाती है। इससे सामान्य संप्रेषण, सामाजिक जीवन के भाषीय कार्य-व्यापार, नहीं संपन्न किए जा सकते। उसके लिए तो सामान्य भाषा ही एक मात्र साधन है। जो तर्कशास्त्र, विज्ञान की तकनीकी दृष्टि से उसके दोष हैं, जैसे अनेकार्थकता, अनिश्चितता, रागात्मकता आदि, वे संप्रेषण की दृष्टि से उसकी समृद्धि, बहुमुखी उपयोगिता के कारण बनते हैं। भाषा का अलंकरण बहुत कुछ इन तकनीकी दोषों के अस्तित्त्व से ही संभव है और प्रभावी बन पाता है।

***

परिच्छेद : ग्यारह

बसंतकुमार लाल

अस्तित्त्ववादी स्वतन्त्रता एवं सार्त्रीय नास्तिकता

11.1 अस्तित्त्ववाद के अनुसार मानव का स्वरूप
11.2 सार्त्र की नास्तिकता – एक मूल्याँकन
11.3 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के दर्शन में सचेतन अप्रत्यक्ष

बसंतकुमार लाल

पाटलीपुत्र की सारस्वत परम्परा, प्रो. हरिमोहन झा एवं धीरेन्द्र मोहन दत्ता के योग्य उत्तराधिकारी विद्वान प्रो. बसंतकुमार लाल का जन्म पटना में १९२८ में हुआ था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा पटना में ही हुई और उन्होंने पटना विश्व विद्यालय से ही दर्शन शास्त्र में एम.ए. एवं पी-एच.डी.की उपाधि प्राप्त की थी। अपने अध्यापकीय जीवन की शुरुआत उन्होंने "आल्मामेटर" से ही लेक्चरर के रूप में किया और बाद में मगध विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में प्रोफेसर और फिर विभागाध्यक्ष होकर सेवा निवृत्त हुए। कई बार वे विदेशी विश्वविद्यालयों में अकादमिक यात्राओं पर गये जहाँ अपने व्याख्यानों के माध्यम से उन्होंने भारतीय-पारम्परिक एवं समकालीन-दार्शनिक दृष्टि में अस्तित्त्ववादी, विशेषत: आस्तिक अस्तित्त्ववादी दृष्टियों को उभारने का सराहनीय प्रयास किया है। यह उनकी विशेष दार्शनिक दृष्टि थी। वे भारतीय दार्शनिक महासभा के अध्यक्ष (श्रीनगर अधिवेशन) एवं अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के अध्यक्ष (बरेली अधिवेशन) भी मनोनीत हुए थे। अपने समय के लोकप्रिय शिक्षक, कुशल वक्ता एवं सफल लेखक के रूप में उनकी प्रसिद्धि थी। १९९४ में उनका देहान्त गृहनगर पटना में ही हुआ। उनकी प्रसिद्ध कृतियाँ मैन: ए स्टडी ऑफ इण्डियन थॉट फ्रॉम एक्जिसटेंसियल स्टैंडप्वाइंट, कॉन्टेम्पोररि वेस्टर्न फिलॉसफी (हिन्दी में भी) एवं कॉन्टेम्पोररि इण्डियन फिलॉसफी (हिन्दी में भी) इत्यादि हैं।

*

अस्तित्त्ववाद के अनुसार मानव का स्वरूप

अरस्तु ने मनुष्य को विवेकशील प्राणी कहा था। अभी तक इसे ही मानव स्वरूप का तथ्य माना जाता है। मैं यह नहीं कहता कि यह गलत है, मनुष्य प्राणी है और विवेकशील भी। फिर भी, यह मनुष्य का जाति-गुण है और मानव स्वरूप को उसके जाति-गुण में रखना कुछ उचित प्रतीत नहीं होता। मनुष्य में जाति-गुण की प्रधानता नहीं, व मूलत: एक व्यक्ति है-उसमें उसके व्यक्तिगत गुण की प्रधानता है। एक अर्थ में तो 'मानव का स्वरूप'- यह उक्ति ही यथार्थ नहीं है, क्योंकि व्यक्ति और व्यक्ति में मौलिक अन्तर होता है। फिर भी, मानव स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ कहा जा सकता है, केवल यह स्मरण रखना है कि मानव स्वरूप सम्बन्धी हर विचार में 'व्यक्ति' को ध्यान में रखना तो है ही, उसे प्रधानता भी देनी है।

अस्तित्त्ववाद का यही दृष्टिकोण है। मैं समझता हूँ श्री गोयल जी भी यह मानते हैं, केवल खुले शब्दों में इसे स्वीकार करने में हिचक रहे हैं। अस्तित्त्ववाद प्रत्यय के बन्धन से मनुष्य और मानवीय विचार को मुक्ति दिलाने की एक चेष्टा है क्योंकि प्रत्यय के निरर्थक उलटफेर में व्यक्ति की वास्तविकता प्रकाशित नहीं होती। गोयल जी ने ठीक ही कहा है कि प्रत्यय से मनुष्य का अस्तित्त्व - उसका अन्तर - पूर्ण रूप से तो क्या अंश रूप में भी प्रकाश में नहीं आता। कार्ल यास्पर्स कहते हैं कि दर्शन प्रत्ययवादी या विवेकरूप केवल धरातल पर है, इसका सारा तथ्य मानवीय आन्तरिक अनुभव पर आधारित है। इसी कारण तो अस्तित्त्ववाद ने यह उक्ति दी कि अस्तित्त्व प्रत्यय से पहले है (Existence precedes Essence)। इस उक्ति का अर्थ केवल वह नहीं जो गोयल जी ने बतलाया है, इसका अर्थ यह भी है कि मनुष्य का व्यक्तिगत गुण उसके जाति-गुण से प्रधान है। अस्तित्त्व का प्रत्यय से पहले होने का अर्थ है कि मनुष्य पहले है और तब अपने विषय में विचार करता है, और जाति-गुण सम्बन्धी प्रत्यय बनाता है। उसका जाति-गुण उसके वैयक्तिक विचार का परिणाम है। अस्तित्त्ववादी अपने-अपने ढंग पर इसी मूल सत्य का विश्लेषण करते हैं। इसी का स्पष्टीकरण मेरा भी ध्येय है।

किन्तु इसमें एक कठिनाई है। अस्तित्त्ववादियों में आपस में ही मतभेद है। कुछ अस्तित्त्ववादी आस्तिक हैं, कुछ अस्तित्त्ववादियों का अस्तित्त्ववाद निरीश्वरवादी है। गोयल जी ने दोनों का उल्लेख प्राय: साथ-साथ ही किया है। फादर वर्क्रुसे को तो शायद इस कठिनाई से बचने को कोई राह ही नहीं मिली और उन्होंने प्रमुख अस्तित्त्ववादियों के अस्तित्त्ववादी मतों का उल्लेख भर कर दिया है। उनके लेख में अस्तित्त्ववादी विचारधारा प्रमुख हो जाती है, मानव-स्वरूप का वर्णन गौण रूप में आता है। मेरे लिए भी यह सम्भव नहीं कि सभी अस्तित्त्ववादी विचारकों के मानवस्वरूप सम्बन्धी विचारों को अलग-अलग स्पष्ट करूँ। दोनों पक्षों के एक-एक समर्थक कीअर्केगार्ड और सार्त्र के विचारों का संक्षेप में उल्लेख करूँगा और अन्य विचारकों से सहायता लेता हुआ मानवस्वरूप के सम्बन्ध में कुछ ऐसे विचारों को संग्रह करने की चेष्टा करूँगा जो मतभेद से ऊपर हैं और जिन्हें साधारण रूप में अस्तित्त्ववादी मत कहा जा सकता है।

कीअर्केगार्ड का विश्वास है कि मनुष्य की वास्तविकता उसके विवेक में नहीं, उसके अस्तित्त्व में है, विवेक तो उसके अस्तित्त्व का एक प्रत्यय है।[१] प्रधानता मनुष्य के जीवन की है - वातावरण और अन्य शक्तियों के नीचे जीवन की। प्रत्यय, संसार, विचार, विवेक - ये सब तो उसके जीवित जीवन की आकस्मिकतायें हैं। डेकार्ट के 'Cogito' से लेकर हेगल की ब्रह्मसत्ता तक की विचारधारा विचार पर इतना अधिक जोर देती रही कि मनुष्य का अस्तित्त्व ही उस धारा में खो गया। कीअर्केगार्ड ऐसे भाव-प्रधान विचारों के कटु आलोचक हैं। इनकी व्यंग्यात्मक आलोचना करते हुए वे कहते हैं, "Such an abstract thinker, one who neglects to take into account the relationship between his abstract thought and his own existence as an individuals not careful to clarify this relationship to himself, makes a comical impression upon the mind, even if he is ever so distinguished, because he is in the process of ceasing to be a human being,"[२]

अस्तित्त्व का एक विशेष अर्थ है। अस्तित्त्व अपने अस्तित्त्व की चेतना के साथ जीना है। अस्तित्त्व के साथ भाव-सम्बन्ध सम्भव नहीं। यह खाद्य-पदार्थ जैसा है, जिसके स्वाद का अन्दाज विचार द्वारा नहीं हो सकता, उसे चखना आवश्यक है। अस्तित्त्व की अनुभूति आवश्यक है - क्रियाओं में, भावनाओं में, अपने अन्तर में।

'अपने अन्तर में' - यह कीअर्केगार्ड की मुख्य उक्ति है। अस्तित्त्व का कोई व्यापक या सम्भाव्य रूप नहीं। हर व्यक्ति को अपने अस्तित्त्व की अनुभूति अपने ढंग से होती है। यही कारण है कि मनुष्य की वास्तविकता उसके बाह्य जीवन में नहीं उसके आन्तरिक जीवन में है। मनुष्य की मानवीयता उसकी आन्तरिकता है। जीवन और जीवन के कटु सत्यों के बीच मनुष्य के वैयक्तिक निर्णय और उसकी आन्तरिक क्रियाओं में ही उसका अस्तित्त्व है।[३]

कीअर्केगार्ड मानव अस्तित्त्व तथा उसके आन्तरिक जीवन के विकास को समझने की चेष्टा करते हैं। प्रथमत: मनुष्य का अन्तर उसे सुख की ओर प्रेरित करता है। उसे प्रतीत होता है कि उसके अस्तित्त्व की सार्थकता सुख में ही है। यह अस्तित्त्व की प्रथम अभिव्यक्ति है। किन्तु शीघ्र ही वह थक जाता है, ऊब जाता है। उसे 'सुखमात्र' की खोज की निस्सारता और अर्थहीनता का बोध हो जाता है- और वह 'व्यक्ति' से परे जाकर अपने जीवन में दूसरों को स्थान देता है। यह अस्तित्त्व की दूसरी अभिव्यक्ति है। इसे नैतिक-स्तर कहा गया है। बहुत शीघ्र मनुष्य को इससे भी निराशा मिलती है। वह देखता है कि कोई नैतिक नियम किसी कठिन परिस्थिति में उसकी सहायता नहीं करते। किसी नैतिक नियम के आधार पर शुभ और अशुभ में किया कोई भेद दोषपूर्ण ही होता है। इस निराशा में उसका आन्तरिक जीवन इस स्तर का निषेध करता हुआ दूसरे रूप में अपने को व्यक्त करता है जो व्यक्ति के जीवन में अस्तित्त्व की तीसरी अनुभूति है; जिसे कीअर्केगार्ड धार्मिक स्तर कहते हैं। अब उसका केवल एक सहारा है - 'विश्वास'। नैतिक नियमों से जीवन की समस्याओं का समाधान न हो सका, उसे ऐसा लगा कि वह बिल्कुल अकेला है। अकेलेपन की इस चेतना ने 'विश्वास' के रूप में अपने को व्यक्त किया। इस विश्वास में उसे एक ईश्वर मिला। उसकी आन्तरिकता व्यक्त हुई इस विश्वास में कि ईश्वर से उसका आन्तरिक और शाश्वत सम्बन्ध है। मानव जीवन की यह परिणति नहीं। इस स्वर में भी दुख है, वेदना है। धार्मिक जीवन की नींव आन्तरिक वेदना में है, पाप की चेतना में है और इस ज्ञान में कि सुख के पीछे भागना या नैतिक नियमों को जीवन का आधार बनाना - सब निरर्थक है। सच्चे क्रिश्चियन के लिये दुख तो वरदान है, क्योंकि इसी दुख से विश्वास पैदा होता है। ध्यान यह रखना है कि कीअर्केगार्ड इन बातों का वर्णन या ईश्वर का उल्लेख करते हुए भी यह नहीं भूलते कि ये सारे स्वर मानवीय हैं - ये सभी अभिव्यक्तियाँ व्यक्ति के आन्तरिक जीवन (Subjectivity) की अभिव्यक्तियाँ हैं। यदि अस्तित्त्व के

दृष्टिकोण से देखा जाय तो समाज तो जमघट है। व्यक्ति समूह में नहीं जीता, उसका जीवन तो उसका अपना है।[४] कीअर्केगार्ड कहते हैं कि जीसस क्राइस्ट ने इस सत्य को समझा था, और इस कारण उन्होंने 'व्यक्ति' को सन्देश दिया, व्यक्ति की भावनाओं को जगाया। उन्होंने कोई धार्मिक संगठन नहीं किया, धार्मिक नेताओं के 'चुनाव' पर जोर नहीं दिया। वे समझते थे कि मानव की मौलिकता और उसकी यथार्थता व्यक्ति के पृथक् व्यक्तित्व में है - समूह में नहीं। इसी कारण तो 'समूह' ने उन्हें शूली दी।[५]

कीअर्केगार्ड मानवीय आन्तरिकता में विश्वास रखते हुए भी ईश्वर तक पहुँच जाते हैं। सार्त्र ईश्वर में विश्वास नहीं करते। 'Existence Preceds Essence' उन्हीं की उक्ति है। इस वाक्य के अर्थ को समझने की चेष्टा में ही यह स्पष्ट हो जायगा कि सार्त्र को ईश्वर में विश्वास नहीं। उनका कहना है कि यह मानना पड़ता ही है कि अपने निर्माता के सम्बन्ध में कोई प्रश्न उठाने या उसके समाधान के प्रयत्न के पहले मनुष्य का अस्तित्त्व है। वह पहले 'है', तब अपनी परिभाषा देता है।[६] यदि यह बात है तो मानवीय स्वरूप का चित्रण करने वाला कोई ईश्वर नहीं, और इस कारण कोई निश्चित मानव-स्वरूप नहीं।

यह व्यक्ति के लिये एक भयानक बात है। ईश्वर नहीं है। ईश्वर होता तो मनुष्य को कोई चिन्ता न होती, हर अच्छी बुरी बातों का उत्तरदायित्व ईश्वर पर होता। किन्तु यदि ईश्वर नहीं तो अपने किये का पूर्ण दायित्व मनुष्य पर है। यह अवश्य है कि मनुष्य स्वतंत्र है। जब उसका स्वरूप निर्धारित नहीं हुआ, जब उसकी रूपरेखा किसी निश्चित भाव के आधार पर नहीं खींची गयी है, तो हर व्यक्ति अपना निर्माण स्वयं करता है और इस कारण हर व्यक्ति स्वतन्त्र है।[७] प्रत्येक मनुष्य स्वयं ही यह तय करता है कि उसे क्या होना है और क्या करना है। तो सार्त्र के अनुसार मानव स्वरूप का एक आवश्यक लक्षण है-स्वतंत्रता।

किन्तु इस स्वतन्त्रता से मनुष्य का उत्तरदायित्व बढ़ जाता है। अब उसका उत्तरदायित्व केवल अपने लिए नहीं, मानव के लिये है। सार्त्र कहते हैं, ".......Man being condemned to freedom carries the weight of the whole world on his shoulders, he is responsible for the world & for himself as a way of being."[८] जब आत्म-निर्माण में मनुष्य स्वतन्त्र है तो उसे ख्याल रखना है कि उसका आत्म-निर्माण एक आदर्श हो। मनुष्य को निर्णय और चुनाव की स्वतंत्रता है, किन्तु इस चुनाव में वह अपनी प्रतिच्छाया में मानव की सृष्टि कर रहा है, वह अपनी समझ में कुछ ऐसा दे रहा है जो समान परिस्थिति में हर व्यक्ति के लिये मान्य हो। इसलिये उसका उत्तरदायित्व बहुत बढ़ जाता है। इस उत्तरदायित्व की चेतना भी, सार्त्र के अनुसार, मानव-स्वरूप का एक प्रधान लक्षण है।

इस उत्तरदायित्व की चेतना में एक घबड़ाहट पैदा होती है। इतनी जबरदस्त जिम्मेदारी मनुष्य के सर पर है कि वह सदा परेशान रहता है। जीवन पर्यन्त मनुष्य एक भय से घिरा रहता है। यह भय उसके जीवन में निहित है। सार्त्र के अनुसार यह 'धुकधुकी' मानव जीवन का प्रमुख अंग है। इस अनजान भय को सार्त्र कितने नवीन शब्दों के द्वारा, कई रूप में समझाते हैं। एकाकीपन (Forlorness), चिन्ता (anguish), जीवन की निरर्थकता और निस्सारता, (Superficiality and Contingency) क्लेश (Despair) और मन:शैथिल्य प्रवृत्ति (Nausea) इनका सार्त्र के अस्तित्त्ववाद में विशिष्ट स्थान है।

इन सबों के पीछे एक ही विचार है। यह सब केवल इस कारण है कि मनुष्य बिल्कुल अकेला है और इस अकेलेपन में वही-वह आत्म-निर्माण करता है। उसकी हर क्रिया और उसका हर निर्णय उसके आत्म-निर्माण में कार्यशील है। सार्त्र कहते हैं, "Man is nothing else but a series of undertakings"[९]। मनुष्य कायर बने या बहादुर अपने 'undertakings' - अपने 'निश्चय' - के कारण ही वैसा बनता है, और यही कारण है कि उसके जीवन में एक आतंक सा छाया रहता है। हर मनुष्य इस

आतंक से बचने का मार्ग अपने-अपने ढंग पर ढूँढ़ता है। कोई इसे छिपाने की चेष्टा करता है, कोई इस पर जोर देता है। सार्त्र कला में मुक्ति ढूँढ़ते हैं। किसी न किसी रूप में यह भय हर जीवन में है ही।

सार्त्र के अनुसार मानवस्वरूप की एक और प्रमुख विशेषता है। इसे 'Humanism' और 'Subjectivity' दोनों कहा जा सकता है। यह आगस्त कामते के मानववाद जैसा कोई सिद्धान्त नहीं। दो कारणों से सार्त्र अपने विचार को 'Humanism' कहते हैं। एक तो यह कि उनके अनुसार विचार का केन्द्र मनुष्य है, और दूसरा यह कि मनुष्य के अस्तित्त्व की कहानी व्यक्ति के आन्तरिक जीवन की कहानी है। यह कोई 'जनवाद' नहीं, व्यक्ति के आन्तरिक जीवन पर प्रकाश डालने की एक चेष्टा है।

तो, दोनों पक्षों के एक-एक विचारक के मानवस्वरूप सम्बन्धी विचारों की संक्षिप्त झलक तो मिल गयी। अब इनके आधार पर, और अन्य अस्तित्त्ववादी दार्शनिकों के विचारों की सहायता से, मानव-स्वरूप के विषय में अस्तित्त्ववादी मत के प्रतिपादन की चेष्टा की जायगी।

प्रथमतः, ईश्वर के सम्बन्ध में बात न करें वही अच्छा है। मैं निरीश्वर अस्तित्त्ववाद का पक्षपाती नहीं, शायद फादर वरक्रूसे ऐसा ही समझें। मैं यह नहीं कहता कि ईश्वर नहीं है, तो मैं यह भी नहीं कहना चाहता कि ईश्वर है। मेरी समझ में तो निरीश्वर अस्तित्त्ववाद के समर्थक भी ईश्वर का खण्डन नहीं करते, उन्हें ईश्वर की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। नवजात शिशु को तो ईश्वर के सम्बन्ध में कोई बोध नहीं होता, वह बाद में अपने अन्तर में कुछ कारणों से ईश्वर में एक विश्वास जगा लेता है। यदि कोई मनुष्य अपने आन्तरिक जीवन में ईश्वर तक पहुँच जाता है तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। किन्तु, यदि मतभेदों से ऊपर उठ कर अस्तित्त्ववादी मत का निरूपण करना है तो ईश्वर से आरम्भ करना उचित नहीं। मुझे विश्वास है कीअर्केगार्ड या मार्सल को मेरी बात पर कोई आपत्ति न होगी, शायद फादर वरक्रूसे को हो। मनुष्य का अस्तित्त्व पहले है, उसके जीवन में आन्तरिकता की प्रधानता है, इसे आरम्भ में ही ईश्वर से बाँध देना उचित नहीं।

अब यदि किसी निश्चित स्वरूप देने वाले की सत्ता आरम्भ में ही स्वीकार नहीं की गयी तो यह भी मानना पड़ता है कि मानव का कोई निश्चित स्वरूप नहीं है। इस स्थान पर ईश्वर के अस्तित्त्व में हमें विश्वास बाद में हो, उसकी सत्ता पहले से है।[10] यह मैं मानने के लिए तैयार नहीं। यदि ऐसे किसी अस्तित्त्व का कोई निश्चित ज्ञान भविष्य में मिल गया तो मैं अपना विचार बदल दूँगा। किन्तु, ईश्वर की सत्ता पहले से है या नहीं- इसके विषय में कोई ज्ञान अभी उपलब्ध नहीं। अभी तो यह मानना पड़ता है कि ईश्वर में मुझे विश्वास हो सकता है, किन्तु मेरा स्वरूप ईश्वर द्वारा निर्धारित नहीं, क्योंकि मेरा विश्वास मेरे अन्तर में विकसित हुआ है।

शायद मेरे विरुद्ध यह कहा जाय कि मैं सार्त्र का पक्ष कुछ अधिक ले रहा हूँ। ऐसी बात नहीं, यदि ऐसी बात होती भी तो कम से कम फादर वरक्रूसे ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वह स्वयं ही कहते हैं कि केवल सार्त्र ही बेहिचक अपने को अस्तित्त्ववादी कहता है। फिर भी ऐसी बात नहीं। मैं यह नहीं कहता कि अस्तित्त्ववाद ईश्वर का विरोध करता है। ईश्वर मेरे विश्वास का पुन्ज हो सकता है, उस विश्वास से मेरे जीवन को बल भी मिल सकता है, फिर भी, यह विश्वास जन्मजात नहीं, अस्तित्त्व के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। तो मेरा रूप ईश्वर-प्रदत्त नहीं।

अब यदि मेरा स्वरूप पूर्वनिर्मित नहीं तो यह मेरी अपनी कृति है। निर्माण का अर्थ हाड़-चाम-मांस का निर्माण नहीं, उसकी व्याख्या तो विज्ञान कर देता है - निर्माण का अर्थ है व्यक्ति का निर्माण, उसके वैयक्तिक अस्तित्त्व का निर्माण। इसके लिये अस्तित्त्ववाद व्यक्ति को स्वतंत्रता दे देता है।[11] अस्तित्त्ववाद में वैयक्तिक स्वतंत्रता का एक विशेष अर्थ है। स्वतंत्रता का यह अर्थ नहीं कि कोई चाहे, जो चाहे कर ले। हाईडेगर कहते हैं, "Freedom is not what common sense is content to let

pass under that name, the random ability to do as we please, to go this way or that in our choise. Freedom is not license in what we do or do not do."[२२] मनुष्य पर परिस्थितियों का असर हो सकता है, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक बातों का प्रभाव पड़ सकता है, किन्तु अन्त में चुनना उसे ही है। किससे वह प्रभावित हो, वह किस निश्चय पर आये - इसका अन्तिम निर्णय उसे ही करना है। उसकी स्वतंत्रता का अर्थ यही है - 'चुनाव' में वह स्वतंत्र है। इसे स्वतंत्र इच्छा-शक्ति के अर्थ में नहीं समझना चाहिये। अस्तित्त्ववादी यह नहीं कह सकता कि मनुष्य में कोई स्वतंत्र इच्छा शक्ति है या नहीं है, उसे तो इतना ही कहना है कि अन्तिम निर्णय की पूर्ण स्वतंत्रता व्यक्ति को है।

इसी अर्थ में यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति को आत्मनिर्माण की पूर्ण स्वतंत्रता है। यदि मैं प्रसन्न रहना नहीं चाहूँ तो कोई मुझे प्रसन्न नहीं कर सकता, और मैं जो कुछ भी हूँ, अपने वैयक्तिक निर्णय के द्वारा। मैं अफसर हूँ या चपरासी - यह मेरे अपने निश्चय का परिणाम है। इसके विरुद्ध परिस्थितियों की बात लायी जा सकती है, कहा जा सकता है कि कभी-कभी योग्य पुरुष भी उपयुक्त अवसर न मिलने के कारण दीनावस्था में ही रह जाता है। हो सकता है उसने एक कलाकार बनने का निश्चय किया हो और वह बन गया किसी आफिस का एकाउन्ट-क्लर्क। किन्तु यहाँ हम 'इच्छा' और 'निर्णय' के अन्तर को भूल रहे हैं। कलाकार बनने की उसकी इच्छा थी, अब, किसी कारण हो, निर्णय उसी ने किया कि वह क्लर्क ही बन जाय। परिस्थितियों की अनुकूलता या प्रतिकूलता मेरे स्वतंत्र निर्णय पर निर्भर करती है। यदि हमें दृश्य देखना है तो एक ऊँची पहाड़ी सहायक है, वही जबरदस्त बाधा है यदि हमें वहाँ रेल की पटरी बिछानी है तो, परिस्थितियों के बीच, इस विशेष अर्थ में मनुष्य को आत्म-निर्माण की स्वतन्त्रता है।

व्यक्ति की स्वतंत्रता की दो विशेषतायें हैं - एक उत्तरदायित्व और दूसरा एक सामाजिक दृष्टिकोण। दोनों साथ साथ चलते हैं। अस्तित्त्वाद यह मानता है कि स्वतंत्रता की चेतना व्यक्ति का बोझ बढ़ा देती है। उसे यह ज्ञान है कि सब कुछ उसी के कारण है। वह जमाने को दोष देता है, परिस्थितियों को कोसता है, मित्र और शत्रुओं की बात करता है, हवा के बदले रुख की शिकायत करता है, किन्तु अपने अन्तर में वह जानता है कि जो कुछ हुआ है उसका अन्तिम उत्तरदायित्व उसी पर है, उसी ने कुछ नहीं किया जो उसे करना था। इसी सिलसिले में वह अपने को समाज और अन्य व्यक्तियों से घिरा पाता है। मैं व्यक्ति के बाह्य सामाजिक सम्बन्ध की बात नहीं करता। व्यक्ति को अपने अन्तर में यह आभास होता है कि उसकी स्वतंत्रता और अन्य व्यक्तियों की स्वतंत्रता का प्रभाव एक दूसरे पर पड़ता है, यही कारण है कि कोई मनुष्य मनमानी नहीं करता।

अब व्यक्ति की दशा दयनीय हो गयी; एकांकी, अपने अन्तर में उलझा, स्वतंत्रता का बोझ, जबरदस्त उत्तरदायित्व, आत्म-निर्माण की चिन्ता, अन्य व्यक्तियों का ख्याल-मनुष्य परेशान हो जाता है, घबड़ा जाता है। यह घबड़ाहट साधारण नहीं। साधारणत: भय तो किसी विशेष स्थिति में किसी वस्तु से होता है और यह तो अस्तित्त्व का आवश्यक अंश है। यहाँ यह पता नहीं कि भय आखिर किस वस्तु का है। हाईडेगर इसे 'Dread for nothing' कहते हैं। सभी अस्तित्त्ववादी यह मानते ही हैं कि मनुष्य सदा एक अनजान भय से ग्रसित रहता है। वह अकेला है, उसे कोई वास्तविक सहारा नहीं, यदि उसे सहारे की आवश्यकता भी हो तो उसे स्वयं ढूँढ़ना पड़ता है। फिर उसे आत्म-निर्माण करना है और दूसरों का भी ध्यान रखना है। भविष्य अंधकार में है, उसका हर कदम अनिश्चित दिशा की ओर उठता है, उसके अन्तर में एक अजीब धुकधुकी सी लगी रहती है। इसे ही अस्तित्त्ववादियों ने Dread, Fear, Anxiety, Sickness unto death, Despair, Anguish, Nausea आदि कई रूपों में व्यक्त किया है। मारटिन इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं, 'In general it stands for that feeling of

apprehension, which arises in man as an agonising premonition of evil, but which has no objective basis. It is a king of horror at an undefined possibility, a fearful apprehension of the uncertain future, a terrifying presentiment of some unknown but possible peril.' [१३]

मैं समझता हूँ, व्यक्ति के इस वर्णन में अस्तित्त्ववाद ने मनुष्य का बड़ा ही यथार्थ रूप खींचा है। हम यदि सच्चाई से अपनी आन्तरिक अनुभूतियों को देखें तो अस्तित्त्ववादियों की बात की वास्तविकता पर विश्वास करना ही पड़ेगा। आज के मानव को ही देखें। विज्ञान ने सब सुख के साधन इकट्ठे कर दिये हैं, दिनों दिन विकास और प्रगति के पथ पर हम आगे बढ़ रहे हैं - किन्तु क्या व्यक्ति सुखी है। अनिश्चित भविष्य और रक्त चूम लेने वाले वर्तमान से क्या मनुष्य आतंकित नहीं? 'मन नहीं लगता', 'बड़ा बोर है' - यह सब विश्व की निस्सारता की अचेतन चेतना है। मनुष्य का जीवन कठिनाई और झंझट से पूर्ण चिन्ता और क्लेश का है ही। गोयल जी को अस्तित्त्ववाद में 'द्वन्द्वात्मक अवधानों के अतिशय प्रयोग' पर विस्मय होता है। पर अस्तित्त्ववादी बेचारा क्या करे, जीवन ही संघर्ष और द्वन्द से भरा है।

मुझे यह कहने में जरा भी हिचक नहीं कि मानव-स्वरूप का अस्तित्त्ववादी वर्णन इस अर्थ में कुछ निराशावादी है। निराशा तो मनुष्य के जीवन की वास्तविकता है, चिन्ता और भय से ग्रस्त वह है ही। मेरे या किसी के कहने से वास्तविकता बदलेगी तो नहीं।

इसके विरुद्ध कुछ लोग ऐसा कह सकते हैं कि शायद अस्तित्त्ववादियों के लिये केवल वयस्क ही मनुष्य हैं - वह भी समझ-बूझ वाले वयस्क, क्योंकि बच्चे पागल, अपाहिज, बूढ़े इत्यादि को इतनी सूक्ष्म चेतना नहीं होती। उत्तर में यह कहा जा सकता है कि इन लोगों को अपने मनुष्यत्व की या अपने अस्तित्त्व की चेतना भी नहीं, इस अर्थ में वे सचमुच मनुष्य नहीं।

इसी से मानवस्वरूप की एक अन्य विशेषता का आभास मिल जाता है। मनुष्य का जीवन भावना-प्रधान है। भावना और संकेत के द्वारा ही मनुष्य के अन्तर की- उसके अस्तित्त्व की - अभिव्यक्ति होती है। कीअर्केगार्ड कहते हैं, "It is impossible to exist without passion, unless we understand the word 'exist' in the loose sense of a so called existence"[१४] विवेक से अस्तित्त्व की अभिव्यक्ति पूर्ण रूप से नहीं हो सकती। विवेक में ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत रहता है और इस कारण विवेक मनुष्य को समीप से नहीं देख सकता। भावना में मनुष्य की अन्तरतम अवस्था प्रगट हो जाती है। भीषण संवेग में तो - जैसे अत्यन्त दुख में - अस्तित्त्व की चेतना बड़ी तीव्र होती है। इसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य सोचता नहीं, कीअर्केगार्ड कहते हैं, "He certainly thinks, but he thinks everything in relation to himself, being infinitely interested in existing."[१५] और फिर "There is required for a subjective thinker imagination and feeling, dialectics in existential inwardness together with passion. But passion first and last, for it is impossible to think about existence without passion."[१६]

अस्तित्त्ववाद के दृष्टिकोण से मानवस्वरूप के सम्बन्ध में एक बात और-और अन्तिम बात कहनी है। यह अन्तिम भी और प्रथम भी, अस्तित्त्ववादी दृष्टिकोण का यह प्राण है। अस्तित्त्ववाद मानवता (Humanity) की बात नहीं करता, वह व्यक्ति की बात करता है। मानवस्वरूप का सम्बन्ध मनुष्य जाति से नहीं, व्यक्ति से है और उसकी आन्तरिकता से है। अस्तित्त्व का चित्रण सभी अस्तित्त्ववादियों ने अपने अपने ढंग पर किया है, व्यक्ति के जीवन के विषय में उनकी कही बातें एक दूसरे से भिन्न हैं, किन्तु यह सभी मानते हैं कि अस्तित्त्व व्यक्ति का है, जाति का नहीं और यह भी कि

अस्तित्त्व की झलक मनुष्य के बाह्य जीवन में नहीं, उसके आन्तरिक जीवन में है। यहाँ तक नास्तिक और आस्तिक अस्तित्त्ववादी विचारों में मतभेद नहीं। कीअर्केगार्ड अनायास ही सुन्दर ढंग से कह पड़ते हैं, "So then, a human being - and surely a living human being, ie., an existing individual" [१८]

अब इतना तो निश्चित हो गया कि अस्तित्त्ववाद के अनुसार मनुष्य का कोई निश्चित जाति-रूप नहीं। हर व्यक्ति का जीवन अपने ढंग पर चलता है। यदि मुझे अपने आन्तरिक जीवन में ईश्वर की आवश्यकता प्रतीत होती है तो मैं विश्वास जगाता हूँ, यदि मैं पाप कर्म करता हूँ तो यह मेरा वैयक्तिक निर्णय है जिसकी चेतना मेरी आन्तरिक वेदना है।

फादर वक्रुसे अस्तित्त्ववाद के विरुद्ध कहते हैं 'केवल अस्तित्त्व और व्यक्तिगत अनुभूतियों का वर्णन और विश्लेषण करना ही दर्शन शास्त्र नहीं कहा जा सकता'। मैं पूछता हूँ, और आप कर क्या सकते हैं ? डेकार्ट, स्पीनोजा, कान्ट, हेगल आदि के महान दर्शन उनकी वैयक्तिक अनुभूतियों पर ही तो आधारित हैं ? जब उन लोगों ने अनुभूति से बाहर जाने की चेष्टा की तो उनके दर्शन में दोष आ गया। और फिर फादर वक्रुसे की यह उक्ति भी तो उनकी अपनी अनुभूति है ? दुर्गा पन्त जी ने अस्तित्त्ववाद पर धीमे से अतिशयोक्ति का दोष लगाया है। अपनी बात को पुष्ट करने के सतत् प्रयत्न में यदि किसी बात पर अधिक जोर दे दिया गया तो वह अतिशयोक्ति नहीं है। फादर वक्रुसे कहते हैं, 'जब तक अस्तित्त्ववादी सान्त और अनन्त, अस्तित्त्व और तत्त्व के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण न करें, तब तक वे अपनी समस्या का समाधान न कर सकेंगे।' मेरा उनसे निवेदन है कि उस दशा में समस्या का समाधान तो नहीं ही होगा, सान्त-अनन्त, सत्ता आदि के जाल में उलझ कर अस्तित्त्ववाद भी नष्ट हो जायगा। दुर्गा पन्त जी ने इस पर व्यक्तिवाद का दोष लगाया है। मैं कहता हूँ कि यदि वास्तविकता व्यक्तिवाद के पक्ष में है तो मेरे या आपके कहने से क्या अन्तर पड़ेगा ? और फिर इस व्यक्तिवाद में दोष क्या है ? यह स्वार्थवाद तो नहीं। सोफिस्ट के समान यह प्रत्येक मनुष्य को विचार और नीति का मापदण्ड नहीं बनाता, यह तो इतना ही कहता है कि किसी निश्चित स्वरूप में व्यक्ति को बांधा नहीं जा सकता। हर व्यक्ति का स्वरूप वैयक्तिक है -उसका अपना। फादर वक्रुसे ने वर्देयेव की कहानी का बड़ा उपयुक्त उल्लेख किया है, मैं भी कुछ संशोधन के साथ दुहरा दूँ। एक दिन रूसी विचारक वर्देयेव से किसी ने पूछा कि अस्तित्त्व क्या है ? उसने उत्तर दिया, 'अस्तित्त्ववाद मैं ही हूँ'। मैं समझता हूँ, उन्हें उत्तर देना था, ''अस्तित्त्ववाद मैं ही हूँ, और अस्तित्त्ववाद आप भी हैं।''

***

संदर्भ सूची

१. *इस भेद को 'Knowing ego' और 'Existing ego' के अन्तर के द्वारा समझाने की चेष्टा की गई है।*
२. *Kierkegard - 'Concluding Unscientific Postscript' - P, 268.*
३. *कीअर्केगार्ड - 'Truth is Subjectivity' को समझाते हुए इसी परिणाम पर पहुँचते हैं - Concluding Unscientific Postscript - Part II, Capter II.*
४. *कीअर्केगार्ड ने-'Crowd' को 'Untruth' कहा है-Concluding Unscientific Postscript. P. 113, 114, 115.*
५. *यहाँ यह उद्धरण दे देना विषयान्तर नहीं -*
"It is not to great a trick to win the crowd, All that is needed is some talent, a certain dose of falsehood and a little acquaintences with human passions ...... the God fearing work of the witness to the truth is to engage himself, if possible with all, but always individually, taking to everyone severally on streets and lanes .... in order to disintegrate the crowd, or to talk even with the crowd, though not with the intent of forming a crowd, but rather with the hope that one or another individual might return from his assemblage and become a single individual" - कीअर्केगार्ड - C.U.P. - P. 115.

६. "There is at least one being in whom existence precedes essence, a being who exists before he can be defined by any concepts," Sartre - 'Existentialism & Human Emotion'- P. 15. Existentialism & Humanism में भी।

७. "Man is at the start a plan which is aware of itself, ... nothing exists prior to this plan, there is nothing in heaven, man will be what he will have planned to be" Sartre, - 'Existentialism & Human Emotion' - P. 16.

८. सार्त्र - Being and Nothingness - P. 553.

९. सार्त्र - Existentialism and Human Emotion - P. 33.

१०. इस स्थान पर डेकार्ट का ध्यान आ जाता है। डेकार्ट ने कहा है कि ज्ञान की ओर ईश्वर का 'भाव' पहले है, अस्तित्त्व की दृष्टि से ईश्वर पहले।

११. 'Age of Reason' में सार्त्र Mathieu को प्रतीक मान कर कहते हैं -
He was free, free in every way, free to behave like a fool or a machine free to accept, free to refuse, free to equivocate, to marry, to give up the game, to drag this dead weight about with him for years to come, He could do what he liked. no one had the right to advise, him, ... he was alone enveloped in this monstrous silence, free and alone, without excuse -condemned for ever to be free." P. 275-276.

१२. हाईडेगर - 'Eixistence and Being - 'On the Essence of Truth.'

१३. H.V. Martin - 'Kiergegaard, the Meloncholy Dane' - P, 83. - इसी सन्दर्भ में हाईडेगर कहते हैं -
"Dread differs absolutely from fear. We are always afraid of this or that definite thing, Dread is always a dreadful feeling 'about' ....but not above this or that. The indefiniteness of what we dread is not just lack of definition, it represents the essential impossibility of defining the what." -Existence and Being - Essay on 'What is metaphysics.'

१४. कीअर्केगार्ड - C.U.P. - P. 376.

१५. C.U.P. - P. 281.

१६. C.U.P. - P. 313.

१७. C.U.P. - 109.

१८. आधुनिक दर्शन की उपेक्षा करते हुए कीअर्केगार्ड कहते है :-
"It has a comical presupposition occasioned by its having forgotten what it means to be a human being ...... not indeed what it means to be a human being in general, ... but what it means that you and I and he are human beings-each one for himself." C.U.P.-109.

सार्त्र की नास्तिकता - एक मूल्याँकन

इस लेख के दो खंड हैं। प्रथम खंड में यह जानने की चेष्टा की गयी है कि सार्त्र नास्तिक क्यों है अथवा उसकी नास्तिकता का आधार क्या है ? दूसरे खंड में यह दिखलाया गया है कि सार्त्र की नास्तिकता और उसके अस्तित्त्ववादी-दृष्टिकोण में एक सूक्ष्म विरोध है।

I

नास्तिकता के कई रूप हो सकते हैं। दर्शन में नास्तिक विचार की स्थापना विभिन्न रूपों में होती है।

(क) निरीश्वरवाद की नास्तिकता सरल और स्पष्ट है। यह ईश्वर के अस्तित्त्व को ही अस्वीकार करता है और उसके पक्ष में दिये गये तर्कों का खंडन करता है। सार्त्र इस अर्थ में निरीश्वरवादी नहीं है। वह ईश्वर की सत्ता के खंडन का स्पष्ट प्रयत्न नहीं करता।

(ख) कभी-कभी ईश्वर के अस्तित्त्व पर सन्देह किया जाता है, यह संशयवादी नास्तिकता है। इसका आधार अनुभव भी हो सकता है और भौतिकवादी विचार भी। सार्त्र की नास्तिकता संशयवादी नहीं है, उसकी स्थापनाओं के पीछे संशय की दृष्टि नहीं, उसके ईश्वर-सम्बन्धी विचार "है" या "नहीं है" के विकल्प में नहीं पड़ते, उसकी उक्तियाँ निरपेक्ष और स्पष्ट हैं।

(ग) अज्ञेयवाद भी नास्तिकता का एक रूप है। यह ईश्वर के अस्तित्त्व को स्पष्टत: अस्वीकार नहीं करता, किन्तु कहता है कि ईश्वर और उसके अस्तित्त्व का ज्ञान असम्भव है। सार्त्र ऐसा नहीं कहता।

(घ) भौतिकवाद और इहलोकवाद आदि भी नास्तिक विचार हैं। इनके निष्कर्ष अनुभवजन्य तथ्यों पर आधारित अवश्य हैं, फिर भी ये भाव-जगत् में उतर ही आते हैं और विचार को प्रत्यक्ष-रूप बना देते हैं। अस्तित्त्ववादी सार्त्र इनसे भी कोई सम्पर्क नहीं रखता।

(ड) इन दिनों नास्तिकता का एक प्रचलित रूप है जिसे व्यावहारिक नास्तिकता कहा जा सकता है। आधुनिक युग का मनुष्य इसी अर्थ में नास्तिक है। इस वैज्ञानिक युग का जीवन कुछ इतना भौतिकवादी हो गया है कि मनुष्य यदि धार्मिक कर्म व रीति-रिवाजों को करता भी है तो वह भी एक मशीन की तरह। वह गिरजाघरों या मन्दिरों में जाता है, प्रार्थना में भाग लेता है, पूजा-इबादत करता है, किन्तु उसके दैनिक और व्यावहारिक जीवन में ईश्वर के लिये कोई स्थान नहीं। इस प्रकार की मनोवृत्ति का प्रवेश जब दर्शन और विचार के क्षेत्र में हो जाता है तो विचार ईश्वर के प्रति उदासीन हो जाता है और उसे ईश्वर की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। सार्त्र का दर्शन उसी अर्थ में नास्तिक है। सार्त्र निरीश्वरवादी इस कारण है कि उसकी दृष्टि में ईश्वर एक अनावश्यक प्रत्यय है।

सार्त्र के अनुसार ईश्वर का भाव भी कुछ उसी ढंग से बनता है जिस ढंग से व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति का आभास होता है। सार्त्र के दर्शन में अन्य व्यक्तियों की 'दृष्टि' का विशद वर्णन मिलता है। अपने अस्तित्त्व की चेतना में व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों की दृष्टि की चेतना होती है -

यह चेतना होती है कि उसे भी 'देखा' जा रहा है - शायद उसी ढंग से जिस ढंग से किसी वस्तु या पदार्थ को देखा जाता है। यदि 'अन्य व्यक्ति' मेरे वातावरण के अंग हैं - यदि वे 'मेरे लिये' हैं, तो मैं उनके वातावरण का अंग हूँ - उनके लिए हूँ। यह चेतना तो अनुभव की है। किन्तु, कभी-कभी जब मनुष्य का मस्तिष्क भाव और प्रत्यय में उलझ जाता है तो वह इन वास्तविक और मानवीय सम्बन्धों से अलग हो-एक प्रकार से शून्य में ही - इन व्यक्तियों की उपस्थिति के पीछे जाने की चेष्टा करता है। वह विचार करता है कि शायद कोई ऐसा भी है जो किसी अन्य व्यक्ति की 'दृष्टि' का 'विषय' नहीं, जो व्यक्तियों के पीछे है और सभी व्यक्ति उसी के 'लिये' हैं। साधारणत: तो हर व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की दृष्टि का विषय है ही, केवल वही एक ऐसा व्यक्ति है जो स्वयं किसी की दृष्टि का विषय नहीं, किन्तु उसकी दृष्टि के विषय सभी हैं।[१]

सार्त्र के अनुसार यह ईश्वर के भाव तक पहुँचने का एक ढंग है। किन्तु इस उद्धरण से ही पता चलता है कि यह ईश्वर की वास्तविकता या उसके अस्तित्त्व को स्थापित नहीं करता। विचार जब शून्य-रूप होकर अग्रसर होता है तब इस भाव पर पहुँचता है, और फिर भी यह भाव अवास्तविक ही रह जाता है।

सार्त्र इस तथ्य पर एक दूसरे प्रकार से पहुँचते हैं। 'मुझे' (अस) और 'मैं विषय' (वी-सब्जेक्ट) के विश्लेषण में भी सार्त्र ईश्वर के भाव का उल्लेख करते हैं।[२] यदि किसी की दृष्टि में मैं एक 'विषय' हूँ, यदि मैं उसके वातावरण का अंग हूँ, तो उसके सम्बन्ध में 'मैं' नहीं, 'मुझे' हूँ; मुझे (अस-ऑब्जेक्ट) कहा जा सकता है। यह बात हर व्यक्ति पर लागू होती है। अपनी दृष्टि में मैं 'मैं' हूँ, अन्य की दृष्टि में 'मुझे'। कुछ इसी ढंग से 'वी-सब्जेक्ट' अर्थात् द्रष्टा मैं और 'अस ऑब्जेक्ट' अर्थात् विषयभूत मुझे का अन्तर किया जाता है। अब यदि 'द्रष्टा मैं' और 'विषय मैं' के 'सम्बन्ध' पर विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि इस सम्बन्ध को एक 'तीसरे' की अपेक्षा है। यह तीसरा अवश्य ही 'मैं' और 'मुझे' के मानवीय भेद से अलग होगा और मनुष्य उसके लिये एक विषय होगा। इस प्रकार यह तीसरा 'मैं' और 'मुझे' के अन्तर का आधार है। सार्त्र कहते हैं "यह अवधारणा वैसी ही है जैसी उस अस्तित्त्व की जो द्रष्टा है किन्तु जो कभी विषय नहीं बनता है, अर्थात् यह ईश्वर के प्रत्यय से अभिन्न है।"[३]

सार्त्र की इस व्याख्या को एक उपमा के द्वारा समझा जा सकता है और उसी उपमा से यह भी स्पष्ट हो जायगा कि सार्त्र के अनुसार ईश्वर का यह भाव अवास्तविक है। मान लें कि मैं किसी सभा में भाषण दे रहा हूँ। मुझे यह भी चेतना है कि लोग मुझे देख रहे हैं, किन्तु मेरी चेतना मूलत: विचारों को प्रकट करने पर ही लगी है। अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति का हमें एक सामान्य ज्ञान है। उपस्थित व्यक्तियों का अलग-अलग ज्ञान नहीं, 'श्रोता' का ज्ञान है जो एक सामान्य अर्थ में उपस्थित व्यक्तियों का ऐक्य है। किन्तु, सच पूछा जाय तो श्रोता अवास्तविक है, कोई सामान्य-श्रोता-रूप नहीं। यदि किसी क्षण मैं अपने विचारों के प्रवाह को रोक श्रोता को देखने की चेष्टा करूँ तो तत्क्षण 'श्रोता' के स्थान पर व्यक्तियों के सिर और चेहरे दिखाई देंगे। उसी प्रकार अपने और अन्य व्यक्तियों के अन्तर पर ध्यान देने से ऐसा प्रतीत हो सकता है कि उनके पीछे कोई एकता है, किन्तु यह प्रतीति अवास्तविक है क्योंकि उस प्रतीति को जानने की चेष्टा में मुझे केवल अन्य व्यक्तियों का ही ज्ञान मिलेगा; उसका-ईश्वर का-नहीं।

कुछ स्थलों पर सार्त्र ईश्वर के भाव और अस्तित्त्व के विरुद्ध कुछ तर्क भी दे देते हैं। वे कहते हैं कि ईश्वर को 'स्वयं' माना जाता है, इसका यह अर्थ है कि ईश्वर स्वयं ही अपना कारण है। यदि ऐसी बात है तो ईश्वर अपने से ही अलग है क्योंकि कारण कार्य से अलग होता है। इसी तर्क को दूसरे रूप में प्रस्तुत किया गया है। सार्त्र कहते हैं कि यदि ईश्वर अपने अस्तित्त्व के लिये किसी अन्य पर निर्भर नहीं

करता तो उसमें अस्तित्त्व हो ही नहीं सकता, क्योंकि केवल उन्हीं में सत्ता होती है जो अपनी सत्ता के लिये अन्य उपादानों पर निर्भर करते हैं।[४]

'बींग एंड नथिंगनेस' में ही एक दूसरा तर्क दिया गया है। सार्त्र पूछते हैं कि यदि ईश्वर है तो ईश्वर और जगत् की सम्पूर्णता में क्या सम्बन्ध है ? ईश्वर को विश्व दो रूपों में दिखाई दे सकता है : विषय के रूप में या विषयी (द्रष्टा) के रूप में। यदि विश्व की सम्पूर्णता ईश्वर के लिये 'विषय' है तो दोनों के द्वैत को मानना पड़ता है और यदि यह ईश्वर के लिये एक विषयी है तो ईश्वर को इस सम्पूर्णता की उपस्थिति का आभास-मात्र ही हो सकता है, उसका ज्ञान नहीं मिल सकता ; क्योंकि एक ज्ञाता को दूसरे ज्ञाता की उपस्थिति का केवल आभास ही मिल सकता है। दोनों अर्थों में 'ईश्वर' सीमित हो जाता है और इस प्रकार यह भाव 'ईश्वर' का भाव नहीं रह जाता है।[५]

रोबर्ट्स ने इस तर्क को दूसरे ढंग से समझाया है।[६] सार्त्र का कहना है कि चेतना को अपने 'वस्तु' या 'विषय' की अपेक्षा रहती है। यदि चेतना है तो वह सदा किसी वस्तु या विषय की है। केवल चेतना के अस्तित्त्व का प्रश्न ही नहीं उठता। अब, यदि ईश्वर की सत्ता को स्वीकार लिया जाय तो इसका अर्थ हो जाता है कि सृष्टि के पहले ही एक शुद्ध चेतना थी - और यह असम्भव है। ईश्वर की चेतना के पहले से एक ईश्वर को मान लेना तर्कसंगत नहीं। पहले चेतन का प्रादुर्भाव होता है, उसके विकास में सम्भवत: किसी व्यक्ति को ईश्वर की चेतना हो जा सकती है। किन्तु, इस आधार पर यह कैसे कहा जा सकता है कि ईश्वर पहले से है ?

सच पूछा जाय तो यह सब सार्त्र के नास्तिक विचार की अभिव्यक्ति है। उसकी नास्तिकता के मूल आधार तीन हैं :

(१) सार्त्र के अनुसार दर्शन साधारणत: बेकार की बातों में उलझा रहता है और यह भी भुला देता है कि मूलत: वह मनुष्य का मनुष्य-सम्बन्धी विचार है। फिर सार्त्र यह भी देखता है कि दर्शन का आरम्भ जन्म के साथ नहीं, इससे पहले मनुष्य को 'अहं' और अपने अस्तित्त्व' की चेतना हो जाती है। मनुष्य के सभी विचार और दर्शन इस चेतना के फलस्वरूप इसके बाद ही उत्पन्न होते हैं। ईश्वर का भाव भी यदि बनता है तो इस चेतना के बाद ही। सार्त्र मानव-अस्तित्त्व की इस मौलिकता से इतना प्रभावित है कि वह इस विचार पर आ जाता है कि मनुष्य के अस्तित्त्व, जीवन और उसकी सारी योजनाओं की व्याख्या मानवीय ढंग पर हो सकती है। उस व्याख्या के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं।

(२) सार्त्र समझते हैं कि मनुष्य के अस्तित्त्व में विश्वास का आधार जीवन की निस्सारता और निष्फलता है। मनुष्य का जीवन अनिश्चित है, उसे पग-पग पर निराशा मिलती है, और संघर्ष करना पड़ता है। फलस्वरूप उसे सब कुछ तथ्यहीन और बेकार मालूम होता है, उसे एक सहारे की आवश्यकता प्रतीत होती है और वह एक ईश्वर में विश्वास जगा देता है। तो इस विश्वास से अधिक मौलिक है चिन्ता, क्लेश और जीवन की सारहीनता की चेतना। यदि अपने वैयक्तिक अस्तित्त्व में-अपने आन्तरिक जीवन में - व्यक्ति को सब कुछ तथ्यहीन प्रतीत होते हैं तो ईश्वर का विश्वास भी तथ्यहीन है।

(३) सार्त्र की नास्तिकता का सबसे प्रमुख आधार है सार्त्र का मानवीय स्वतंत्रता में विश्वास। 'ईश्वर' और 'मानवीय स्वतंत्रता' में मौलिक विरोध है। यदि विश्व की सृष्टि ईश्वर के द्वारा हुई है तो इसका अर्थ है कि सृष्टिकर्त्ता ने मनुष्य को भी एक पूर्वनिर्मित भाव के अनुरूप बनाया है - ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार एक शिल्पी अपनी कला-कृति का सृजन करता है। किन्तु, उस दशा में मानव की स्वतंत्रता का अपहरण हो जाता है और सार्त्र को यह कभी स्वीकार नहीं क्योंकि मानवीय स्वतंत्रता सार्त्र के अस्तित्त्ववाद की मूल मान्यता है। तो, सार्त्र नास्तिक इस कारण हो जाते हैं कि ईश्वर को मान लेने से मनुष्य की स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सार्त्र ने अपनी नास्तिकता को स्थापित करने का कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया है, इसकी उन्हें कोई आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। नास्तिकता उनकी एक मान्यता है। मनुष्य और मनुष्य के अस्तित्त्व की व्याख्या मानवीय ढंग में ही करने का उनका निश्चय और इस कारण ईश्वर 'है' या 'नहीं है' - यह उनके लिये कोई महत् प्रश्न नहीं रह जाता। वे स्वयं कहते हैं "अस्तित्त्ववाद इस अर्थ में नास्तिक नहीं है, इसकी ईश्वर निषेध करने में ही इतिश्री हो जाती है। इसके विपरीत, इसका दावा है कि यदि ईश्वर का अस्तित्त्व होगा तो भी अस्तित्त्ववादी दृष्टिकोण से स्थिति में कुछ अन्तर नहीं पड़ेगा। इसका अर्थ यह नहीं कि हम ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं प्रत्युत यह कि वास्तव में उसके अस्तित्त्व की बात से कोई अन्तर नहीं पड़ता। मानव की आवश्यकता आत्मोपलब्धि है और यह अवगति है कि उसके निजत्व से उसे कोई नहीं बचा सकता, स्वयं ईश्वर के अस्तित्त्व का प्रमाण भी नहीं।"[७]

II

किन्तु सार्त्र का यह नास्तिक दृष्टिकोण एक ओर तो सार्त्र के विचारों को एक विशेष गति देता है और दूसरी ओर सार्त्र की अस्तित्त्ववादी विचार-धारा का खंडन करता है। इस नास्तिकता में कुछ ऐसी कठिनाइयाँ हैं जिनमें सार्त्र का अस्तित्त्ववाद भी उलझ जाता है। नास्तिकता के समर्थन में सार्त्र अपने अस्तित्त्ववाद को भी भूल जाता है।

सार्त्र के अनुसार ईश्वर का भाव कैसे बनता है, इसका वर्णन पहले दिया गया है। यदि उसी विश्लेषण में अस्तित्त्ववाद खंडित हो रहा है, यदि मैं अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति की प्रतीति से ऊपर उठकर किसी अन्य की चेतना जगा लेता हूँ, यदि 'वी-साब्जेक्ट' और 'अस-ऑब्जेक्ट' के अन्तर में मुझे किसी 'तीसरे' के अस्तित्त्व का आभास हो जाता है तो यह मेरा वैयक्तिक निश्चय है। ये अनुभूतियाँ मेरी आन्तरिक अनुभूतियाँ हैं - इन्हें बिल्कुल अस्वीकार करना, इन्हें अवास्तिवक कहना अस्तित्त्ववाद का खंडन करता है। सार्त्र की उपमा से ही यह स्पष्ट है। यह ठीक है कि वक्ता को साधारणत: किसी 'सामान्य श्रोता' का ज्ञान नहीं रहता, उसके सामने चेहरे रहते हैं। किन्तु, यह सम्भव है कि कभी किसी वक्ता के साथ ऐसा न भी हो, उसके लिये व्यक्तियों का ही अस्तित्त्व न रहे, और वह किसी 'सामान्य-श्रोता' को ही लक्ष्य करके सब कुछ करता जाय। ऐसे वक्ताओं से यदि बाद में पूछा जाय तो पता चलेगा कि वे सामने बैठे परिचित लोगों को भी पहचान न पाये थे। तो, यह सम्भव है कि किसी व्यक्ति को 'मैं' और 'अन्य' के अन्तर में ईश्वर की चेतना न हो, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि किसी व्यक्ति को यह चेतना हो ही नहीं सकती। मैं यह कहना चाहता हूँ कि यदि मनुष्य की आन्तरिकता को किसी भी बन्धन में बांध दिया जाय तो यह अस्तित्त्ववादी दृष्टिकोण के विरुद्ध है। यदि यह कहना गलत है कि मनुष्य को एक विशेष ढंग से ईश्वर के अस्तित्व की चेतना होगी, तो यह कहना भी गलत है कि ईश्वर विचार पूर्णरूप से अवास्तिक है। यह सम्भव है कि कोई व्यक्ति अपने अन्तर में ईश्वर में विश्वास पैदा कर ले - आस्तिकता का निश्चय कर ले। यह सार्त्र के विचार के विरुद्ध हो सकता है, अस्तित्त्ववाद के विरुद्ध नहीं।

ऊपर कुछ ऐसे तर्कों का जिक्र किया गया है जिन्हें सार्त्र ईश्वर के अस्तित्त्व के विरुद्ध देता है। किन्तु, उन तर्कों से केवल यही प्रमाणित होता है कि तार्किक भाव-विचार से ईश्वर की वास्तविक सत्ता स्थापित नहीं हो सकती। उन तर्कों से यह प्रमाणित नहीं होता कि व्यक्ति की आन्तरिकता में भी ईश्वर में विश्वास उत्पन्न नहीं हो सकता। एक तर्क में कहा गया है कि यदि ईश्वर स्वयं है तो उसका अस्तित्त्व वास्तविक नहीं क्योंकि जिसमें अस्तित्त्व रहता है वह स्वयं नहीं होता। दूसरे तर्क में कहा गया है कि ईश्वर इसलिये नहीं है क्योंकि शुद्ध चेतना का अकेला अस्तित्त्व नहीं। इन तर्कों से तो केवल यही सिद्ध होता है कि ईश्वर को एक बाह्य सत्ता के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु यदि किसी व्यक्ति की आन्तरिकता इस निश्चय पर आ जाती है और यदि उसका जीवन इसी निश्चय और विश्वास

पर चल पड़ता है, तो इन तर्कों से कोई अन्तर नहीं पड़ता। ईश्वर का कोई बाह्य अस्तित्त्व न हो, लेकिन किसी व्यक्ति के आन्तरिक जीवन में तो ईश्वर रह ही सकता है।

सार्त्र की नास्तिकता का आधार चिन्ता, क्लेश, भय आदि की अनुभूति है। कहा गया है कि जीवन के कुछ अनुभवों के चलते मनुष्य को सब कुछ तथ्यहीन प्रतीत होता है और इसलिये ईश्वर का भाव भी तथ्यहीन है। सार्त्र इस स्थल पर यह भूल जाते हैं कि अस्तित्त्ववाद उस तथ्यहीनता की परिभाषा नहीं देता, उसके लक्षणों का वर्णन नहीं करता बल्कि अस्तित्त्ववाद के अनुसार तो यह तथ्यहीनता भी अज्ञात है। यदि तथ्यहीनता का वर्णन हो या तो इसका अर्थ हुआ कि उसमें भी तथ्य निकल आया है। यदि जीवन की निस्सारता और अर्थहीनता की अनुभूति का यह अर्थ निकाला जाय कि ईश्वर नहीं है, तो यह तो तथ्यहीनता के अर्थ को समझने की एक चेष्टा है, और यह चेष्टा आत्म विरोधी तो है ही - अस्तित्त्ववादी दृष्टिकोण का विरोधी भी है।

सार्त्र की नास्तिकता का सबसे प्रमुख आधार मानवीय स्वतंत्रता बतलाया गया है। यदि मनुष्य स्वतंत्र है तो उसका रूप दैवी नहीं हो सकता। मनुष्य की स्वतंत्रता किसी ईश्वर के द्वारा निर्मित और निर्धारित स्वतंत्रता नहीं हो सकती। तो, सार्त्र का तर्क है - मनुष्य स्वतंत्र है इसलिये ईश्वर नहीं है। इस तर्क में दो कठिनाइयों हैं। एक तो यह कि यदि ईश्वर के अस्तित्त्व को स्वीकार कर लेने से मानवीय स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है तो ईश्वर के अस्तित्त्व को अस्वीकार करने से भी मानवीय स्वतंत्रता का अपहरण हो जाता है। अस्तित्त्ववाद मानता है कि स्वतंत्रता का कोई सामान्य अर्थ नहीं है, स्वतंत्रता सदा व्यक्ति की होती है। यह नहीं कहा जा सकता कि व्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रवाह किस दिशा में होगा। यदि कहा जाय कि मानवीय विचार निरीश्वरवादी होगा ही तो यह भी स्वतंत्रता के ऊपर एक बन्धन है। व्यक्ति को स्वतंत्रता है और इस कारण उसके लिये यह सम्भव है कि वह इस निश्चय पर आ जाय कि विश्व के पीछे कोई सत्ता है। यह अवश्य है कि यह उसका व्यक्तिगत निश्चय और विश्वास होगा। सार्त्र स्वयं कहते हैं कि व्यक्ति को आत्म-निर्माण की पूर्ण स्वतंत्रता है, उसे कोई आधार और कोई सहायक दिखायी नहीं देता, इस कारण वह जो कुछ भी बनता है अपनी योजनाओं और अपने वैयक्तिक निर्णयों के अनुरूप ही बनता है। तो, सार्त्र के कथन के अनुसार ही, व्यक्ति के लिये सम्भव है कि वह आस्तिक बन जाय। दूसरी बात यह है, कि 'व्यक्ति स्वतंत्र है' - इस वाक्य से यह सिद्ध नहीं होता कि ईश्वर नहीं है।' विशेषत: सार्त्र के दर्शन में तो यह सिद्ध नहीं ही होता, क्योंकि व्यक्ति की उत्पत्ति आदि के विषय में सार्त्र कुछ नहीं कहते। और फिर, सार्त्र के अनुसार ही व्यक्ति की स्वतंत्रता कुछ अंशों में सीमित है। तो अधिक से अधिक ईश्वर के अस्तित्त्व पर संदेह किया जा सकता है, मनुष्य की स्वतंत्रता से सार्त्र की निरपेक्ष नास्तिकता का अनुमान नहीं किया जा सकता।

सार्त्र के विचार में यह कमजोरी केवल इस कारण है कि वे अपनी 'व्यावहारिक नास्तिकता' की व्यावहारिकता को बिल्कुल भूल जाता है। अस्तित्त्ववाद के लिये यह आवश्यक है कि वह ईश्वर के विषय में बात ही न करे। सार्त्र ठीक ही कहते हैं कि मनुष्य ईश्वर आदि पर सोचना आरम्भ करता है जब वह वयस्क बन जाता है और जब उसे समझ-बूझ की शक्ति आ जाती है। इससे बहुत पहले उसे अपने अस्तित्त्व की चेतना होती है और 'अहं' की अनुभूति होती है। यह सब कुछ वास्तविक है। फिर भी यह सिद्ध नहीं हो पाता कि ईश्वर नहीं है। सार्त्र इस तथ्य का समर्थन करते हैं कि मनुष्य की प्रथम चेतना अपने अस्तित्त्व की चेतना है। इस वाक्य से यह दूसरा वाक्य स्थापित नहीं होता कि 'ईश्वर नहीं है'। अस्तित्त्ववादी के लिये उपयुक्त यही है कि इस स्थल पर वह 'मौन' रहे। 'दार्शनिक मौन' दर्शन की कमजोरी नहीं है। यह सम्भव नहीं कि संसार के सभी प्रश्नों का उत्तर एक ही विचार-प्रणाली दे दे। अस्तित्त्ववाद की मूल समस्या है 'मनुष्य', और वह व्यक्ति और मनुष्य के अस्तित्त्व की रूपरेखा

मानवीय और मनोवैज्ञानिक ढंग से खींचने की चेष्टा करता है। अस्तित्त्ववाद का विषय है मनुष्य, वह भी अस्तित्व की अनुभूति से लेकर मृत्यु तक का मनुष्य। इन्हीं सीमाओं के अन्तर्गत मनुष्य के विकास, कर्म, योजना, भावना, निश्चय आदि का वर्णन अस्तित्त्ववाद मानवीय और मनोवैज्ञानिक ढंग पर करता है। अस्तित्त्व की अनुभूति के पहले की अवस्था क्या है ? मृत्यु के बाद क्या होता है ? - ये प्रश्न अस्तित्त्ववाद के प्रश्न नहीं। जब-जब अस्तित्त्ववादी विचारकों ने इस सीमा का उल्लंघन किया है उनका अस्तित्त्ववादी विश्वास कमजोर हो गया है, और उनके विचार में दोष आ गया है। तो, सार्त्र से भी यदि कोई जन्म की व्याख्या मांगे, या सृष्टि के विकास के पीछे की शक्ति के सम्बन्ध में कोई प्रश्न करे तो सार्त्र के लिए व्यावहारिक और उपयुक्त यही है कि वह चुप रहे, क्योंकि ये प्रश्न उसके हैं ही नहीं। डारविन के जीव-विकास सिद्धान्त में भी प्रथम जीव को मान लिया गया, एक जीव को मान कर डारविन सभी जीवों के विकास की व्याख्या कर देता है। यदि कोई उससे पूछता कि प्रथम जीव कहाँ से, और कैसे आया तो उसका उत्तर होता कि शायद ईश्वर प्रथम जीव को प्राण दे दिया था। ईश्वर के नाम लेने से डारविन के विकास सिद्धान्त में कमजोरी नहीं आती क्योंकि उसका उद्देश्य प्रथम जीव की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सोचना नहीं था, यह बतलाना था कि प्रथम जीव से अन्य जीवों का विकास कैसे हुआ। तो विचार की भी सीमा होती है, हर विचार हर प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता; सार्त्र अपनी सीमा को भूल गये।

कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि सार्त्र ने यह तय कर लिया है कि अपने विचारों की मौलिकता से वे लोगों को स्तम्भित कर दें, और नीत्शे के समान वह भी कह उठता है कि ईश्वर नहीं है। उसकी नास्तिकता का कोई ठोस आधार ही नहीं है, उसने यह पहले से तय कर लिया है कि उसके विचार को नास्तिक ही रहना है और इस नास्तिकता की रक्षा में वह प्रश्नों और भावों में उलझ जाता है जो उसके अस्तित्त्ववाद को ही दूषित कर देते हैं।

***

संदर्भ सूची

१. "......... as soon as I look at those who are looking at me, the other consciousnesses are isolated in multiplicity. On the other hand if I turn away from the loos as the occasion of concrete proof and seek to think emptily on the infinite distinction of human presence and to unity it under the concept of infinite subject which is never an object, then I obtain a purely formal notion which refers to an infinite series of mystic experiences of the presence of the other, the notion of God as the omnipresent infinite subject for whom I exist." J.P. Sartre : Being and Nothingness. Tr. by Haxel E. Barnes, London Methuen and Co. Ltd. १९५७- पृ. २८१.

२. वहीं पृ. ५२३।

३. वहीं।

४. Hazel E. Barnes ने 'Being and Nothingness' की भूमिका में इस तर्क का बड़ा स्पष्ट वर्णन दिया है। वे कहते हैं, "If God causes himself, then he must stand at a distance from himself. This make God's self into something contigent, ie. dependent. But the contigent can not be God. Therefore there is no God, or starting from the other end, if God is not contingent." - 'Being and Nothingness' - Editors Introduction. P. XXX.

५. Ibid - pp. 301-301.

६. Daird E. Roberts : Existentialism and Religious Belief. Ed. by Roger Hazelton, New York, Oxford University Press 1957, pp. 214-215.

७. J.P. Sartre : Existentialism and Humanism. Tr. & Int. by Philip Mairet, London. Methuen and Co. 1957 edition.

कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के दर्शन में सचेतन अप्रत्यक्ष

I

इस लेख का सन्दर्भ कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य का दर्शन है। उन्होंने ही सचेतन अप्रत्यक्ष (कांश्यस नॉन-पर्सेप्शन) शब्द का प्रयोग किया और इसे महत्त्व दिया है। इस लेख का उद्देश्य इस अवधारणा का स्पष्टीकरण है।

भट्टाचार्य के दर्शन में आत्मा (सब्जेक्टिविटी) के विकास के कई सोपान हैं। कायिक आत्म से मानसिक आत्म की ओर अग्रसर होने में सबोध अप्रत्यक्ष का महत्त्व दिखाई देता है। भट्टाचार्य प्रत्यक्ष शरीर तथा अनुभूत शरीर में भेद करते हैं। प्रत्यक्ष शरीर बाह्य शरीर है जिसका बाह्य प्रत्यक्ष सम्भव है। आत्म अपनी प्रारम्भिक अनुभूति में अपने शरीर से अभेद स्थापन कर लेता है और इसे अपना आत्म मान लेता है। किन्तु आत्म के विकास की प्रक्रिया में वह इस बोध से ऊपर उठता है और बोध के दूसरे सोपान पर अधिरोहण करता है जिसके अनुसार शरीर का वास्तव धर्म शरीरानुभूति है।

कायिक आत्मता के विश्लेषण से इसके तीन स्तर प्रकाश में आते हैं। शरीर की अवगति बाह्य रूप में हो सकती है अथवा आन्तरिक अनुभूति से हो सकती है अथवा 'अनुपस्थित शरीर' की अनुभूति में हो सकती है। प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात बाह्य शरीर की अनुभूति प्रथम स्तर की है, आन्तरिक अनुभूति में ज्ञात अनुभूत शरीर द्वितीय स्तर का है, एवं इससे भी सूक्ष्मतर अनुभूति अनुपस्थित-रूप शरीर (बॉडी एज एब्सेंट) की अनुभूति है। अनुपस्थित-रूप शरीर से भट्टाचार्य का तात्पर्य 'शरीर की अनुपस्थिति का ज्ञान' नहीं है, इससे उनका तात्पर्य 'अनुपस्थिति के ज्ञान की क्षमता' से है, जिसकी अनुभूति भी शारीरिक स्तर पर ही होती है और जिस अनुभूति के साथ शारीरिक या कायिकआत्म मानसिकआत्म (साइकिक सब्जेक्टिविटी) की ओर विकसित होता है। इसी विचार के स्पष्टीकरण में 'सचेतन अप्रत्यक्ष' की अवधारणा का महत्त्व स्पष्ट होता है। यह कायिकआत्म का वह अन्तिम स्तर है जो आत्म को इससे ऊपर उठाकर मानसिकआत्म की ओर ले जाता है।

II

भट्टाचार्य के अनुसार, अनुपस्थिति का ज्ञान दो प्रकार का होता है - काल्पनिक प्रत्यक्ष के द्वारा अनुपस्थिति का ज्ञान तथा सचेतन अप्रत्यक्ष के द्वारा अनुपस्थिति का ज्ञान। इनको समझने के लिये एक अन्तर कर लेना आवश्यक है। अनुपस्थिति का ज्ञान या तो हमें अनुपस्थिति के प्रत्यक्ष के द्वारा होता है या किसी विषय की अनुपस्थिति के प्रत्यक्ष के द्वारा होता है। पहले में किसी वस्तु या विषय की अनुभूति नहीं रहती, किन्तु दूसरे उदाहरण में यह रहती है। भट्टाचार्य इसे दो उदाहरणों की सहायता से स्पष्ट करने की चेष्टा करते हैं।

मान लें हम एक ऐसे स्थान पर पुन: जाते हैं जहाँ हम बहुत पहले भी जा चुके हैं। उस स्थान पर पहले एक बड़ा सा वृक्ष था जो अब नहीं है। हम जब उस स्थान को देखते हैं तो हमें अनुभूति होती है कि 'कुछ' जो पहले था, अब नहीं है, किन्तु हम जान नहीं पाते कि वह 'कुछ' क्या है। अर्थात्, हमें कुछ कमी

दिखाई देती है - कुछ 'अन्तर' प्रतीत होता है, किन्तु हम यह नहीं जान पाते कि वहाँ एक वृक्ष था। इसे 'अनुपस्थिति' का प्रत्यक्ष कहा जा सकता है। अब एक दूसरा उदाहरण लें। हम अपने मेज पर एक पुस्तक ढूँढ़ रहे हैं। पुस्तक वहाँ थी, अब नहीं है। मेज के प्रत्यक्ष में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता - मेज जैसा पहले दिखता था वैसा ही दीख रहा है ; किन्तु हमें वह पुस्तक दिखाई नहीं देती। तो यहाँ हमें पुस्तक की अनुपस्थिति का ज्ञान होता है। इसे विषय या वस्तु की अनुपस्थिति का प्रत्यक्ष कहा जा सकता है। दोनों में अन्तर बस इतना ही है कि पहले उदाहरण में अनुपस्थित वस्तु की अनुभूति नहीं, दूसरे उदाहरण में अनुपस्थित वस्तु की अनुभूति है। यह भी कहा जा सकता है कि पहले में दृश्य-स्थल कुछ परिवर्तित सा प्रतीत होता, दूसरे उदाहरण में मेज परिवर्तित नहीं होता।

इसे स्पष्ट करने के लिए दोनों उदाहरणों का अलग-अलग विवेचन आवश्यक है। पहले 'वृक्ष' वाले उदाहरण को लें। इस उदाहरण में अनुपस्थित का ज्ञान संदर्भ-स्थल के विशेषण रूप में होता है। यदि स्मरण भी रहता है कि उस स्थल पर पहले एक वृक्ष था, तो भी उस स्थान की रिक्तता का प्रत्यक्ष तो होता है। इससे यह स्पष्ट होता है उस स्थल के प्रत्यक्ष में अनुपस्थिति उस स्थल के एक्र लक्षण के रूप में ही ज्ञात होती है। यह लक्षण उस स्थल के अन्य गुणों अथवा विशेषणों से भिन्न अवश्य है, क्योंकि अन्य गुणों के प्रत्यक्ष तथा अनुपस्थिति के लक्षण की अनुभूति में अन्तर है। अन्य गुणों या लक्षणों के प्रत्यक्ष में यह सोचने या कल्पना करने की आवश्यकता नहीं होती कि उन गुणों के बिना वह स्थल कैसे दिखेगा। किन्तु रिक्तता या अनुपस्थित के प्रत्यक्ष में इस प्रकार की कल्पना होती है। यहाँ यह विचार होता ही है कि इस लक्षण के बिना उस स्थल का प्रत्यक्ष किस रूप में होगा। यही कारण है कि इसे भट्टाचार्य 'कल्पना के द्वारा अनुपस्थिति का 'प्रत्यक्ष' कहते हैं।

अब दूसरे उदाहरण की विवेचना करें। पुस्तक की अनुपस्थिति का ज्ञान तात्कालिक है। पुस्तक दिखाई नहीं देती और उस समय मेज पर भी किसी रिक्तता का ज्ञान नहीं होता। किन्तु, प्रश्न होता है कि जब पुस्तक का प्रत्यक्ष नहीं होता तो यह ज्ञान भी कैसे होता है कि पुस्तक अनुपस्थित है। भट्टाचार्य के अनुसार, यहाँ भी काल्पनिक प्रत्यक्ष की क्रिया कार्य करती है। पुस्तक की अनुपस्थिति के ज्ञान में निहित एक चेतन कल्पना है कि एक तथ्य ऐसा भी है जो दृश्य मेज से भिन्न है। इस भिन्नता की अनुभूति का आधार कल्पना है और इसी कारण इसे भी काल्पनिक प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात अनुपस्थिति कहा गया है।

दोनों उदाहरणों में काल्पनिक प्रत्यक्ष का हाथ है, किन्तु दोनों में अन्तर भी है। पहले उदाहरण में, 'अनुपस्थिति' तथा 'प्रत्यक्ष स्थल में रिक्तता की अनुभूति' में भेद किया गया है। दूसरे उदाहरण में संदर्भ-स्थल एवं अनुपस्थिति में भेद नहीं किया जाता, यहाँ अन्तर किया जाता है 'अनुपस्थित विषय' तथा 'कल्पना के द्वारा उपस्थित विषय' में। पुस्तक अनुपस्थित है, किन्तु कल्पना एक 'पुस्तक' को स्वीकार कर उसे वहाँ ढूँढ़ती है।[5] तो दोनों उदाहरणों में अन्तर है, फिर भी दोनों अनुपस्थिति के ज्ञान की प्रारम्भिक अवस्थायें हैं और इन दोनों में अनुपस्थिति का ज्ञान काल्पनिक प्रत्यक्ष के द्वारा ही होता है।

अनुपस्थिति के ज्ञान की द्वितीय स्तरीय अनुभूति में सचेतन अप्रत्यक्ष की प्रक्रिया प्रकाश में आती है। इन दोनों उदाहरणों के विश्लेषण के आधार पर अनुपस्थिति के ज्ञान की द्वितीय स्तरीय अनुभूति को स्पष्ट किया जा सकता है। उसे ही भट्टाचार्य सचेतन अप्रत्यक्ष के द्वारा अनुपस्थिति की अनुभूति कहते हैं। इसे सचेतन अप्रत्यक्ष कहा गया है, क्योंकि एक ओर तो अनुपस्थिति की चेतना है किन्तु दूसरी ओर उस चेतना का विषय कोई प्रत्यक्ष वस्तु अथवा विषय नहीं। पहले उदाहरण के 'दूसरे स्तर में हमें यह चेतना हो जाती है कि वृक्ष अनुपस्थित है, किन्तु अनुपस्थित वृक्ष प्रत्यक्ष वृक्ष तो नहीं है। दूसरे उदाहरण के द्वितीय स्तरीय ज्ञान में हमें यह ज्ञान हो जाता है कि मेज से पुस्तक अनुपस्थित है किन्तु उस चेतना का विषय फिर कोई दृश्यवस्तु नहीं। इन दोनों उदाहरणों के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता

है कि यहाँ अनुपस्थिति का ज्ञान है, किन्तु उस ज्ञान का आधार किसी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं अपितु उसका अप्रत्यक्ष है। पहले उदाहरण में, प्राथमिक अनुभूति रिक्तता की अनुभूति है, द्वितीय स्तर में यह ज्ञान वृक्ष की अनुपस्थिति के ज्ञान में विकसित हो जाता है। दूसरे उदाहरण में प्राथमिक ज्ञान पुस्तक की अनुपस्थिति का ज्ञान है, दूसरे स्तर में, यह पुस्तक के उपस्थित रहने पर मेज कैसा दिखाई देता उसी के काल्पनिक चित्र का ज्ञान है। प्रश्न है, क्या इन द्वितीय स्तरीय अनुभूतियों को भी प्रत्यक्ष कहा जा सकता है ?

इस प्रश्न के उत्तर के लिये दोनों उदाहरणों की पृथक् विवेचना अभीष्ट है। पहले उदाहरण को देखें। वृक्ष की अनुपस्थिति का ज्ञान मेज से पुस्तक की अनुपस्थिति के ज्ञान जैसा नहीं है। पुस्तक के उदाहरण में पुस्तक 'ज्ञान' है और वह पुस्तक अनुपस्थित दिखाई देती है। दूसरे उदाहरण में वस्तु की नहीं केवल अनुपस्थिति की चेतना है। यहाँ वस्तु से उसकी अनुपस्थिति तक नहीं आते बल्कि अनुपस्थिति की चेतना के फलस्वरूप ही अनुपस्थित वस्तु का ज्ञान होता है। अत: इस प्रकार के ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कह सकते। यहाँ प्रस्तुत वस्तुस्थिति का ज्ञान है, किन्तु अनुपस्थिति का प्रत्यक्ष नहीं होता। यहाँ अनुभूति भी नहीं है कि यदि वृक्ष होता तो दिखाई देता। यहाँ बस वृक्ष के नहीं दिखाई देने की चेतना है। वृक्ष की अनुपस्थिति अनुमानजन्य भी नहीं। किसी अनुमान की क्रिया से वृक्ष की अनुपस्थिति का ज्ञान नहीं होता। इसी कारण भट्टाचार्य इसे सचेतन अप्रत्यक्ष कहते हैं। सचेतन अप्रत्यक्ष का भी सम्बन्ध ऐन्द्रिय ज्ञान से है, किन्तु इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान होता है वह सचेतन अप्रत्यक्ष के लिए प्रासंगिक नहीं है।

अब दूसरे उदाहरण को देखें। यदि इसकी द्वितीय स्तरीय अनुभूति पर विचार करें तो देखेंगे कि वहाँ ज्ञान केवल पुस्तक की अनुपस्थिति के ज्ञान के रूप में ही प्रासंगिक है। स्पष्ट है यह प्रत्यक्ष-ज्ञान नहीं, क्योंकि पुस्तक की अनुपस्थिति से विशिष्ट मेज अथवा पुस्तक के साथ मेज का रूप आदि प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात नहीं होते तो इन्हें भी अप्रत्यक्ष कहा ही जा सकता है। यही कारण है कि दोनों उदाहरणों में अनुपस्थिति के ज्ञान की द्वितीय स्तरीय चेतना को सचेतन अप्रत्यक्ष कहा गया है।

III

भट्टाचार्य के दर्शन में सचेतन अप्रत्यक्ष का महत्त्व उसकी विशिष्टता में है। उनके अनुसार सचेतन अप्रत्यक्ष कायिक अनुभूति से मानसिक तथ्यों की ओर अग्रसर होने में सहायक है। उनका कहना है कि "सचेतन अप्रत्यक्ष कायिक अनुभूति से प्राथमिक और मानसिक तथ्य-रूप कल्पना में संक्रमण की मध्यवर्त्ती स्थिति है।"[3] यदि हम आत्मता के विकास के क्रम की व्याख्या करें तो पायेंगे कि सचेतन अप्रत्यक्ष की क्रिया हमें शारीरिक स्तर से मानसिक स्तर की ओर ले चलती है। भट्टाचार्य ने इस प्रक्रिया की स्पष्ट व्याख्या की है।

यदि हम प्रत्यक्ष शरीर और अनुभूत शरीर की तुलना करें तो पायेंगे कि अनुभूत शरीर प्रत्यक्ष शरीर से सर्वथा पृथक् नहीं है यद्यपि भिन्न अवश्य है। सचेतन अप्रत्यक्ष के पहले की अवस्था, जिसे भट्टाचार्य कल्पना के द्वारा ज्ञात अनुपस्थिति का प्रत्यक्ष कहते हैं, अनुभूत शरीर के ही स्तर का ज्ञान है, क्योंकि यहाँ भी अनुपस्थिति बाह्य शरीर से सर्वथा पृथक् रूप में ज्ञात नहीं होती, किन्तु उससे भिन्न अवश्य प्रतीत होती है। इसे समझने के लिए हम पहले उदाहरण को फिर से दुहरायें। हम वृक्ष की अनुपस्थिति नहीं देखते, केवल हमें आभास होता है कि वह स्थल बिल्कुल वैसा नहीं दीख रहा जैसा पहले दीखा था। इसका अर्थ यह हुआ कि इस अनुभूति का ज्ञान शरीर के साधारण ज्ञान-उपकरणों के द्वारा नहीं हो रहा। हमारी इन्द्रियाँ यह ज्ञान नहीं दे रहीं। इस अनुपस्थिति की काल्पनिक अनुभूति होती है। इसी कारण भट्टाचार्य जी का कहना है कि यह ज्ञान अनुभूत शरीर के ज्ञान के स्तर का है।

किन्तु सचेतन अप्रत्यक्ष का स्तर इससे उच्चतर है क्योंकि इस ज्ञान में आत्म अनुभूत शरीर के ज्ञान से ऊपर उठता है। अपने इसी उदाहरण में बाद की चेतना में हम यह जान लेते हैं कि इस स्थल पर जो अनुपस्थित है वह वृक्ष है ; ऐसा वृक्ष जो पहले वहाँ उपस्थित था। किन्तु सच पूछा जाय तो इस चेतना में हमें वास्तविक वृक्ष की अनुभूति नहीं होती। वास्तविक वृक्ष तो शरीर है। तब प्रश्न उठता है कि इस सचेतन अप्रत्यक्ष में हमें किस विषय का बोध हो रहा है ? हमें स्वीकार करना पड़ता है कि विषय 'प्रतिभा' अथवा 'भावों' जैसा ही कुछ है। भट्टाचार्य के अनुसार प्रतिभा अथवा भाव का जगत् मानसिक तथ्यों का जगत् है जो आनुभविक तथा कायिक तथ्यों से उच्चतर है। इसी कारण उनका कहना है कि सचेतन अप्रत्यक्ष हमें कायिक स्तर से ऊपर उठाकर मानसिक स्तर की ओर ले चलता है।

इस विश्लेषण से एक और तथ्य प्रकाश में आया है। आत्मता के वास्तविक स्वरूप के अवबोध का पहला सोपान सचेतन अप्रत्यक्ष ही है। कायिक आत्म को आत्म कहने का बस यही कारण है कि वह हमें विषय-जगत् से पृथक् कर देता है। शरीर की अनुभूति विषय से पृथक् अनुभूति है, इसी अनुभूति में आनुभविक विषय-जगत् से मुक्त होने की प्रक्रिया का प्रारम्भ होता है। किन्तु यह भी विषय से सर्वथा मुक्त नहीं है, बल्कि शरीर भी, विशेषत: प्रत्यक्ष शरीर, विषय रूप ही है। शुद्ध आत्मा की अनुभूति की क्रिया इस कायिक अनुभूति से ऊपर उठने में ही प्रारम्भ हो सकती है। और यह सचेतन अप्रत्यक्ष की क्रिया से ही प्रारम्भ होता है। सचेतन अप्रत्यक्ष की क्रिया में कायिक स्तर से ऊपर उठ मानसिक तथ्यों तक पहुँचा जाता है। सचेतन अप्रत्यक्ष में उपस्थित तथ्यों से सम्पर्क नहीं रहता है। ऐसे तथ्यों का अवबोध होता है जो अप्रत्यक्ष है। वह तथ्य मानसिक तथ्यों के जैसा ही कुछ हो सकता है। इस प्रकार भट्टाचार्य के दर्शन में सचेतन अप्रत्यक्ष आत्म के विकास के क्रम में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

IV

स्पष्ट है कि भट्टाचार्य का सचेतन अप्रत्यक्ष अनुपलब्धि से अधिक व्यापक और समृद्ध अवधारणा है। अनुपलब्धि भी अप्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञान है। अनुपलब्धि अभाव का ज्ञान है। वहाँ भी चेतना है किन्तु अनुपलब्धि के विश्लेषण में विषय और मानसिक तथ्य के सूक्ष्म भेद पर ध्यान नहीं दिया गया है। वृक्ष के अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि-ज्ञान कहा जा सकता है। किन्तु यहाँ यह प्रश्न ही रह जाता है कि इस ज्ञान में किस विषय का बोध हुआ है। क्या इस ज्ञान में उस वास्तविक वृक्ष का बोध हो रहा है या उस वृक्ष के किसी मानसिक भाव या प्रतिमा का ? भट्टाचार्य ने स्पष्ट रूप में कहा है कि इस ज्ञान में हम विषय-जगत् से ऊपर जाते हैं। इसी कारण इस अप्रत्यक्ष को केवल अप्रत्यक्ष नहीं सचेतन अप्रत्यक्ष कहा गया है। यहाँ सचेतन शब्द का व्यवहार विचार-जगत् के सन्दर्भ में हुआ है।

दूसरी बात जो स्पष्ट रूप में भट्टाचार्य की सूक्ष्मता को प्रकट करती है वह इस ज्ञान के विश्लेषण से सम्बन्धित है। भारतीय दर्शन में अनुपलब्धि की विवेचना में इस प्रकार की विवेचना की प्राय: उपेक्षा की गयी है। अनुपलब्धि की प्रक्रिया के विभिन्न स्तरों की विवेचना प्राय: भारतीय दर्शनों में नहीं ही हुई है। भट्टाचार्य ने इस अर्थ में इस विवेचना को सबल बनाया है। उन्होंने दिखाया कि सचेतन अप्रत्यक्ष के पहले की अवस्था ही वह अवस्था है जिसे भारतीय दर्शन में अनुपलब्धि कहा गया है। मेज पर पुस्तक के अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि है। इसे ही भट्टाचार्य ने कल्पना के द्वारा अनुपस्थिति का ज्ञान कहा है। किन्तु जब चेतना इससे ऊपर उठती है और जब अभाव की अवगति के साथ मेज का ज्ञान भी दूसरे रूप में प्रकट होता है तभी सचेतन अप्रत्यक्ष की सार्थकता स्पष्ट होती है। वृक्ष के उदाहरण में भी सचेतन अप्रत्यक्ष में वृक्ष की अनुपस्थिति की चेतना के साथ उस स्थल के परिवर्तित रूप की चेतना निहित है। इस प्रकार सचेतन अप्रत्यक्ष केवल किसी स्थल पर किसी वस्तु के अभाव का ज्ञान नहीं बल्कि एक व्यापक चेतना है जिसका केवल एक अंग है इस अभाव का ज्ञान।

सचेतन अप्रत्यक्ष की विशिष्टता एक अन्य बात में भी है। यह केवल ज्ञान-प्रक्रिया नहीं है। साधारण ज्ञान-प्रक्रिया में विषयी किसी विषय का ज्ञान उपलब्ध कर लेता है। सचेतन अप्रत्यक्ष एक तात्त्विक प्रक्रिया है। भट्टाचार्य के अनुसार इस प्रक्रिया में आत्म विषय-मुक्त होने की चेष्टा में सक्रिय हो जाता है। ऐसी ज्ञान-प्रक्रिया एक दृष्टिकोण से तात्त्विक अनुभूति के मार्ग में सहायक मात्र ही हो सकती है। अपने साधारण जीवन में हम ज्ञान प्रक्रिया को ही प्रधान बना देते हैं और इसी कारण विषयी और विषय के द्वैत से ऊपर नहीं उठ पाते। यही कारण है कि साधारण जीवन में आत्म विषय-जगत् में लिप्त रहता है, किन्तु अपनी मुक्तता की अनुभूति के अभियान में आत्म द्वारा विषय से पृथकता की अनुभूति करना अनिवार्य है। इस अनुभूति में सचेतन अप्रत्यक्ष सहायक है क्योंकि सचेतन अप्रत्यक्ष कायिकआत्म एवं मानसिकआत्म की मध्यवर्ती अवस्था। तो भट्टाचार्य के अनुसार सचेतन अप्रत्यक्ष केवल ज्ञान का एक साधन मात्र नहीं है, बल्कि तात्त्विक प्रगति का सोपान भी है।

***

संदर्भ सूची

१. *"The difference from the previous case is that what is imaginably distinguished within the preception isnot the preceived locus of the absence from the absence but the imagined object as-present from the preceived object-as-absent." K.C. Bhattacharya. The subject as Freedom. P. 115*

२. *कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, सब्जेक्ट एज फ्रीडम, पृष्ठ १२१।*

परिच्छेद : बारह

सभाजीत मिश्र

हुसर्ल की काण्टीय पृष्ठभूमि और मार्क्सवादी सार्त्र

12.1 काण्ट और हुसर्ल के दर्शन में वस्तु का स्वरूप
12.2 सार्त्र : अस्तित्ववाद से मार्क्सवाद तक

सभाजीत मिश्र

पाश्चात्य दार्शनिक विचारधाराओं की गहरी परन्तु सहज ही सम्प्रेषणीय समझ रखने वाले अधिकारी विद्वान प्रो. सभाजीत मिश्र का जन्म (१९४२) उत्तर प्रदेश के वनपुरवा ग्राम, जिला फैजाबाद में हुआ। ग्रामीण परिवेश में ही अपनी प्रारम्भिक शिक्षा से उत्तीर्ण होकर वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय गये जहाँ से उनकी बी.ए. (१९६१) एवं दर्शन शास्त्र में एम.ए. (१९६३) तक की शिक्षा-दीक्षा सम्पन्न हुई। इलाहाबाद में प्रो. एस.एस. राय, प्रो. एस. दत्ता, प्रो. नरवड़े एवं प्रो. एस.सी. विश्वास उनके शिक्षक रहे। ऐसे उन्नायक चरित्र के शिक्षकों का सान्निध्य उनमें एक ऐसी दार्शनिक भावभूमि को निर्मित कर गया जो उनके माध्यम से आजीवन अभिव्यक्ति पा रहा है। इन्हें पी-एच.डी. की उपाधि (१९७५) गोरखपुर विश्वविद्यालय से प्राप्त हुई क्योंकि वे १९६४ में ही वहाँ नियुक्त कर लिये गये थे। अपने अध्यापकीय जीवन की शुरुआत से लेकर सेवा निवृत्ति पर्यन्त (२००२) प्रो. मिश्र गोरखपुर विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में ही प्रोफेसर एवं अध्यक्ष के रूप में अपनी सेवा प्रदान करते रहे हैं। सम्प्रति प्रो. मिश्र दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय के प्रति कुलपति, उत्तरप्रदेश दर्शन परिषद् के अध्यक्ष एवं "संदर्शन" पत्रिका के सम्पादक हैं। इनकी प्रमुख एवं पुरस्कृत कृतियाँ-दि ऐंग्विस्ड फ्रीडम, कांट का दर्शन, अस्तित्त्ववाद के प्रमुख विचारक (सह लेख.), समकालीन भारतीय दर्शन (सह सम्पा.) एवं समकालीन पाश्चात्य दर्शन (सह सम्पा.) इत्यादि हैं।

*

काण्ट और हुसर्ल के दर्शन में वस्तु का स्वरूप

"वस्तुओं की ओर वापस चलें"- वस्तुओं के प्रति यह घोषित प्रतिबद्धता हुसर्ल के दर्शन का प्रारम्भबिन्दु है। वस्तुवादी तथा प्रत्ययवादी- दोनों ही दर्शन-विधाओं में वस्तु को सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत नहीं किया गया है। वस्तुवाद या इंद्रियानुभववाद वस्तु की व्याख्या पृथक् एवं आणविक संवेदनाओं के रूप में करता है। उसमें वस्तु तथा चेतना के सम्बन्ध को आनुषंगिक मानकर उसकी उपेक्षा की गयी है। प्रत्ययवाद ने इस सम्बन्ध के महत्त्व को तो स्वीकार किया है किन्तु उसने उसी प्रयास में वस्तु की चेतना को विज्ञान के रूप में परिवर्तित करके अन्तत: उसे असत् अथवा मिथ्या मान लिया है। काण्ट के दर्शन के लक्ष्य को ठीक इसी भाँति तो नहीं व्यक्त किया जा सकता क्योंकि सामान्यत: यह माना जाता है कि काण्ट का मुख्य उद्देश्य गणित व प्राकृतिक विज्ञान को दार्शनिक औचित्य प्रदान करने के साथ तत्त्वमीमांसा को एक सुरक्षित क्षेत्र प्रदान करना था, किन्तु हम जानते हैं कि कतिपय आलोचनाओं के कारण काण्ट ने क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन के द्वितीय संस्करण में कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता का अनुभव किया। उन परिवर्तनों में एक प्रमुख परिवर्तन प्रत्ययवाद का खण्डन नामक अध्याय को जोड़ना था। इस अध्याय की आवश्यकता के सम्बन्ध में लिखते हुए काण्ट लिखते हैं :

"इलियाटिक स्कूल से लेकर बर्कले तक समस्त प्रत्ययवादियों की यह धारणा रही है कि इन्द्रियों एवं अनुभव से उत्पन्न समस्त ज्ञान भ्रान्ति है; सत्य केवल बुद्धि के शुद्ध प्रत्ययों में पाया जाता है।...... मेरे प्रत्ययवाद की स्थापना है : मात्र बुद्धि के प्रत्ययों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान भ्रान्ति है; सत्य केवल अनुभव में पाया जाता है" (प्रोलेगोमेना पृ. १२३)।

अपने विचाराधीन प्रत्ययवाद को काण्ट भौतिक प्रत्ययवाद की संज्ञा देता है जिसमें मुख्यत: डेकार्ट का संभाव्य प्रत्ययवाद तथा बर्कले का हठवादी प्रत्ययवाद शामिल है। इनके खण्डन के पीछे काण्ट की वस्तुओं के प्रति प्रतिबद्धता स्पष्ट है।

उद्देश्य की इस समानता (आंशिक) के साथ दोनों दार्शनिकों में पद्धति की भी समानता है। दोनों ही अनुभवातीत पद्धति का प्रयोग करते हैं जो तत्त्वत: आलोचनात्मक है। आलोचना का अर्थ पूर्व संकल्पनाओं एवं सिद्धान्तों से मुक्त होकर चिन्तन में प्रवृत्त होना है। काण्ट के लिए बुद्धि की क्षमता के प्रति व्यामोह अथवा संदेह से मुक्त होकर ही तत्त्वचिंतन में प्रवृत्त हुआ जा सकता है। आलोचना का अर्थ विचारसंगता से मुक्त होना है। हुसर्ल के लिए आलोचनात्मक दृष्टि फेनोमेनालॉजिकीय दृष्टि है जिसका तात्पर्य वस्तुसंगता से मुक्त होना है। दोनों ही दशाओं में आलोचना का उद्देश्य वस्तु-सम्बन्धी सिद्धांतों से मुक्त होकर वस्तु की अंत:संरचना को उद्घाटित करना हैं। दोनों ही परिस्थितियों में यह मानना आवश्यक है कि वस्तु को प्राकृतिक रूप से प्रदत्त स्वीकार न करके उसकी प्रदत्तता की शर्तों को अनावृत्त करना है।

हुसर्ल के अनुसार वस्तु की प्रदत्तता की शर्तों का उद्घाटन चेतना की विषयापेक्षा (Intentionality of Consciousnness) में होता है। विषयापेक्षा चेतना का स्वरूप है। हर चेतना किसी वस्तु की

चेतना होती है। ज्ञान किसी वस्तु का ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष किसी वस्तु का प्रत्यक्ष होता है। विच्छेद की प्रक्रिया द्वारा जब वास्तविक वस्तु को निलम्बित कर दिया जाता है तब वस्तु का विचार शेष रह जाता है जो कि चेतना का सहवर्ती होता है। ज्ञान-प्रक्रिया के दो ध्रुव हैं- आत्मा तथा वस्तु। चेतना आत्म-ध्रुव से वस्तु-ध्रुव के बीच गतिमान प्रक्रिया है। इससे भिन्न अन्य रूप में चेतना की कोई कल्पना नहीं की जा सकती।

काण्ट के दर्शन में विषयापेक्षी चेतना का सिद्धांत स्पष्टत: प्रतिपादित तो नहीं किया गया है, किन्तु अनुभवातीत निगमन में आत्म-चेतना का जो चित्र वह अंकित करता है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि काण्ट के ही दर्शन में विषयापेक्षी चेतना के सिद्धांत का बीजारोपण हो चुका था। उसमें सम्बद्ध की एकता अथवा आत्मज्ञान का जो सर्वोच्च तत्त्व है वह अंतर्वस्तुहीन और मात्र तादात्म्य का सिद्धांत है, वह मैं, मैं हूँ, का सिद्धांत है। अन्य शब्दों में, आत्मचेतना मात्र आकारिक एकता है। यह अपने आप में वास्तविकता नहीं है। आत्मचेतना अनिवार्यत: वस्तुचेतना होती है। इस प्रकार यद्यपि आत्मचेतना वस्तुचेतना की शर्त है, किन्तु स्वत: आत्मचेतना वस्तुचेतना के रूप में ही आत्म-तादात्म्य का बोध करती है।

इस प्रकार हुसर्ल तथा काण्ट दोनों वस्तु-चेतना को आत्मचेतना के लिए आवश्यक तथा उसका सहवर्ती मानते हैं। लेकिन यहीं पर दोनों के दृष्टिकोण में भेद भी स्पष्ट होने लगता है। काण्ट के अनुसार वस्तु चेतना की संरचना है, चेतना वस्तु की संभावना की शर्त है। यहाँ पर वस्तु से काण्ट का तात्पर्य 'अपने आप में वस्तु' (Thing in itself) से नहीं अपितु ज्ञात वस्तु-आभास से है। हुसर्ल भी ज्ञात वस्तु को आभास कहते हैं, किन्तु आभास तथा चेतना दोनों के ही अर्थ उनके लिए काण्ट से भिन्न हैं। हुसर्ल की चेतना आकारिक एकता नहीं है जैसा कि काण्ट मानते हैं, वह वस्तु का निर्माण भी नहीं करती बल्कि वस्तु स्वत: अपने को चेतना के समक्ष प्रस्तुत करती है। चेतना के समक्ष प्रस्तुत तथा प्रदत्त वस्तु का आभास है, किन्तु यह आभास वस्तु के साथ पूर्णतया एकाकार है। हुसर्ल आभास तथा अपने आप में वस्तु में कोई भेद नहीं करते जैसा कि काण्ट करते हैं।

वस्तु का विषयापेक्षी (Intentionality) स्वरूप फेनोमेनालॉजिकीय रिडक्शन का परिणाम है। किन्तु रिडक्शन की प्रक्रिया इससे भी आगे जाती है। वह चेतना या आत्मा की सत्ता का उद्‌घाटन करती है जो कि चेतना के विषयापेक्षी प्रवाह का स्रोत है। यही आत्मा समस्त वस्तु-जगत् को सत्ता एवं अर्थ प्रदान करती है। वस्तु जगत् उसी आत्मा की विषयापेक्षी दृष्टि में ही वास्तविक है, इसके पार्थक्य में इसकी कोई कल्पना नहीं की जा सकती। हुसर्ल की यह मान्यता उसके वस्तु-सम्बन्धी दृष्टिकोण को परिभाषित कर देती है। विच्छेद (Epoche) प्रक्रिया द्वारा वास्तविक वस्तु जब निलंबित कर दी जाती है तब उस वस्तु की प्रतीति (Appearing) मात्र शेष रह जाती है। यह प्रतीति चेतना की विषयापेक्षी दृष्टि में वस्तु का अर्थ प्राप्त करती है। किन्तु हुसर्ल का यह आग्रह है कि निलंबन-प्रक्रिया द्वारा कोष्ठीकृत वस्तु तथा उस कोष्ठ के बाहर उस वस्तु की प्रतीति में कोई भेद नहीं है। इसलिए वास्तविक वस्तु की सत्ता आत्मा की विषयापेक्षा के बाहर या उससे स्वतंत्र असंभव है। इस प्रकार हुसर्ल के मूलगामी अनुभववाद में वस्तु अपने सार-रूप में न्यूनीकृत हो जाती है। फलस्वरूप हुसर्ल के बार-बार स्पष्टीकरण के बावजूद ऐसा लगता है कि वस्तु की सत्ता का आविर्भाव चेतना की दृष्टि में ही होता है तथा उसकी अर्थपूर्ण वास्तविकता उसी के भीतर सम्भव है। निलम्बित वस्तु और उसके आभास में कोई भेद नहीं है। आभास चेतना से पृथक् नहीं है, इसलिए निलम्बित वस्तु की सत्ता भी चेतना से पृथक् नहीं है।

काण्ट के अनुभवातीत प्रत्ययवाद में वस्तु की स्थिति हुसर्ल से भिन्न है। काण्ट स्पष्टत: आभास-वस्तु तथा अपने-आप में-वस्तु में भेद करता है। यह भेद उसके आलोचनात्मक दर्शन के लिए

आवश्यक है क्योंकि इसके बिना वस्तु-जगत् का स्तर आत्मगत सत्य से अधिक नहीं हो सकता। काण्ट यह मानता है कि आत्मा संवेदनात्मक (Intuitive) नहीं होती इसलिए वह वस्तु-जगत् की सत्ता के आभास का ही सिद्धांत हो सकती है, अपने-आप में-वस्तु की नहीं। अपने-आप में-वस्तु पारमार्थिक सत्ता है जिसके सम्बन्ध में हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि वह है, लेकिन क्या है इसका कोई अनुमान नहीं कर सकते। असंवेदनात्मक होने के नाते ही आत्मा आत्मचेतना भी नहीं है क्योंकि समस्त चेतना का आविर्भाव वस्तु-चेतना की पृष्ठभूमि में होता है। परिणामस्वरूप काण्ट के आलोचनावाद में अनुभवातीत सत्ताओं के प्रति बौद्धिक अभियान से विरत रहने की सलाह दी गयी है क्योंकि उस दशा में अनुभवातीत भ्रान्तियों में उलझ जाने का खतरा सुनिश्चित है। अस्तु काण्ट के दर्शन में अपने-आप में-वस्तु तथा उसके आभास का भेद आवश्यक हो जाता है। भेद वस्तु के प्रति किसी प्रकार का संदेह नहीं है अपितु इस तथ्य की स्वीकृति है कि वास्तविक वस्तु के कारण ही वस्तु का अनुभव सम्भव है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम काण्ट तथा हुसर्ल के दर्शन में वस्तु की स्थिति का सापेक्षिक मूल्याँकन कर सकते हैं। हुसर्ल वस्तु को चेतना के अभिप्रेत विषय से भिन्न अन्य कोई सत्ता या अर्थ नहीं प्रदान करता। सम्भवत: यही कारण है कि मार्विन फार्बर जैसे हुसर्ल के ऊपर आत्मनिष्ठतावाद (Subjectivism) का आरोप लगाते हैं तथा हुसर्ल के ही शिष्य हाइडेगर तथा अनुयायी सार्त्र उसके अनुभवातीत आत्मा के सिद्धांत को स्पष्ट रूप से अस्वीकार कर देते हैं। इसके विपरीत काण्ट के दर्शन में वस्तु की सत्ता अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित है क्योंकि प्रत्ययात्मक बुद्धि में संवेदनों को उत्पन्न करने की कोई क्षमता नहीं है। इसलिए संबद्ध प्रत्युपस्थापनाओं का आधार/अपने आप में वस्तु है जिसे न तो जाना जा सकता है और न ही कोष्ठीकृत किया जा सकता है।

अज्ञात तथा अतिक्रामी वास्तविकता का सिद्धांत हुसर्ल को स्वीकार नहीं है क्योंकि वे मानवीय जीवन की उस संरचना का अनावरण करना चाहते हैं जिसमें मनुष्य तथा जगत् का जीवन सम्बन्ध व्यक्त हो सके। हुसर्ल का यह उद्देश्य निश्चय ही दार्शनिक महत्त्व का है क्योंकि उसके इस विचार को हाइडेगर तथा सार्त्र जैसे अस्तित्त्वपरक फेनोमेनालॉजीवादियों ने ग्रहण करके आगे बढ़ाया। इसी के आधार पर उन्होंने प्रतिपादित किया कि मनुष्य ही जगत् को अर्थ प्रदान करता है, वही मूल्यों का स्रष्टा है तथा अपनी अस्तित्त्वगत परिस्थितियों के लिए पूर्णरूपेण उत्तरदायी है। यह तो श्लाघ्य है, किन्तु इसी प्रयास में हुसर्ल वस्तु-जगत् के दो रूपों को एक दूसरे में गड्मगड्ड कर देता है। उसने वस्तु-जगत् के उस रूप को, जो कि बुद्धि की कोटियों से नियन्त्रित है तथा वैज्ञानिक और गणितीय सत्य का जगत् है, उस रूप से भिन्न करने का प्रयास नहीं किया जो कोटियों से स्वतंत्र नैतिकता तथा मूल्यों का जगत् है।

जगत् मानवीय जगत् है- इस बात के प्रति काण्ट का भी उतना ही आग्रह है जितना हुसर्ल का। किन्तु जहाँ हुसर्ल बुद्धि की विषयापेक्षी दृष्टि को सम्पूर्ण वास्तविकता तक विस्तृत करता है वहाँ काण्ट वास्तविकता के निश्चित एवं अनिश्चित आयाम का भेद करता है। जो निश्चित है वह कोटि-नियन्त्रित है जिसके नाते विज्ञान एवं गणित जैसे अनुशासन सम्भव हैं। किन्तु इसके भीतर मनुष्य के स्वतंत्र एवं नैतिक प्रयासों के लिए कोई स्थान नहीं है। निश्चित से परे अनिश्चित है जिसके भीतर नैतिक एवं धार्मिक जीवन की सम्भावना पायी जाती है।

अतएव हम यह देखते हैं कि जगत् को मानवीय जगत् बनाने के प्रयास में हुसर्ल वस्तु-जगत् को चेतना की विषयापेक्षा के रूप में न्यूनीकृत करके उसकी वस्तुनिष्ठता के सामने प्रश्न चिन्ह खड़ा कर देता है। काण्ट अपने द्वैतवादी तथा अज्ञेयवादी दोष (यदि इसे दोष माना जाय तो) के बावजूद वस्तु की वस्तुनिष्ठता को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए भी मनुष्य के नैतिक अभियानों के क्षेत्र को सुरक्षित बनाये रखने में सफल रहता है। जगत् मनुष्य की योजना है जिसमें वह मूल्यों की सृष्टि करता है, वस्तुओं तथा अन्य

मनुष्यों के साथ अपने सम्बन्धों को परिभाषित करता है। इन सभी क्रियाओं के पीछे यह चेतना है कि मनुष्य ही इस योजना में मूल्यों की सृष्टि तथा सम्बन्धों के प्रति उत्तरदायी है। काण्ट के दर्शन में दोहरी कारणता के सिद्धांत के प्रतिपादन का यही अर्थ है। किन्तु इससे भ्रम नहीं होना चाहिए कि काण्ट के जगत् का वह द्विविध रूप दो जगतों की सत्ता है। एक प्रदत्त सत् के रूप में जगत् वास्तविक है उसे निलम्बित या न्यूनीकृत नहीं किया जा सकता। किन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं है कि जगत् की सत्ता अपने स्वस्वरूप में निर्धारण की जा सकती है। यही कारण है कि काण्ट निलम्बन की बात न करके आभास एवं वास्तविक का भेद करता है। इसके विपरीत हुसर्ल निलम्बन की तकनीक का सहारा लेकर इस भेद को मिथ्याकृत कर देता है। फलस्वरूप उसकी वस्तु के प्रति प्रतिबद्धता वाचिक ही रह जाती है, जबकि काण्ट उसके प्रति अधिक सजग है।

***

सार्त्र : अस्तित्त्ववाद से मार्क्सवाद तक

अस्तित्त्ववाद आज एक अति प्रतिष्ठित तथा लोकप्रिय दर्शन का रूप ले चुका है लेकिन इस दर्शन से सम्बद्ध माने जाने वाले दार्शनिकों के सम्बन्ध में एक विचित्र बात देखने को मिलती है कि उनमें से प्राय: सभी 'अस्तित्त्ववाद' शब्द को स्वीकार करने से कतराते रहे हैं। केवल सार्त्र इसका अपवाद था जिसने खुल कर अस्तित्त्ववादी संज्ञा को स्वीकार किया। उसने अस्तित्त्ववाद को परिभाषित किया, उसने उसके विरुद्ध आक्षेपों तथा उससे संबद्ध भ्रांतियों का निराकरण करने का प्रयास किया। किन्तु कालांतर में चलकर स्वयं सार्त्र अनेक मोड़ों से होता हुआ जिस बिन्दु पर इस समय आ पहुँचा है उससे ऐसा लगता है कि वही पुरानी स्थिति पुन: आ गयी है अर्थात् अस्तित्त्ववाद शब्द से अभिव्यंजित दर्शन को स्वीकार करने वाला कोई विशेष दार्शनिक नहीं रह गया है। आज सार्त्र अस्तित्त्ववाद को छोड़कर मार्क्सवाद के पक्षधर हो गये हैं। प्रस्तुत निबन्ध में हम सार्त्र के इसी अस्तित्त्ववाद से मार्क्सवाद की ओर संक्रमण के ऊपर विचार करेंगे और विशेष रूप से अस्तित्त्ववादी सार्त्र तथा मार्क्सवादी सार्त्र के बीच सम्बन्ध निरूपित करने का प्रयास करेंगे।

सार्त्र साहित्य के तीन ग्रंथ उसके दर्शन के तीन मोड़ों का संकेत करते हैं। ये ग्रंथ हैं : एग्जिस्टेंशियलिज्म एण्ड ह्यूमनिज्म, बीइंग एण्ड नथिंगनेस तथा क्रिटिक ऑफ डायलेक्टिकल रीजन। प्रथम ग्रंथ वह प्रकाशन है जिसमें उसकी अपने अस्तित्त्ववादी होने की स्वीकृति है, जिसमें वह आस्तिक एवं नास्तिक अस्तित्त्ववाद का भेद करता है तथा अस्तित्त्ववाद को मानववाद के रूप में प्रस्तुत करता है। इसमें तर्कबुद्धिवाद तथा अनुभवातीतवाद का खंडन करके सार्त्र यह स्थापित करता है कि मनुष्य की सत्ता नितांत एकाकी है। उसका स्वरूप किसी दिव्य स्रोत द्वारा प्रदत्त नहीं है अपितु वह स्वयं अपने स्वरूप का चुनाव एवं निर्धारण करता है। चुनाव एवं निर्धारण की इस प्रक्रिया में मनुष्य का कोई सहायक या मार्गदर्शक नहीं है। वह जो कुछ करता है या जो कुछ है, उसके लिए स्वयं उत्तरदायी है। व्यक्ति पूर्णतया स्वतंत्र है। वही मूल्यों का स्रष्टा तथा मानदंडों का निर्धारक है। ऐसा कोई भी प्राग्नुभविक अथवा निरपेक्ष सिद्धांत नहीं है। जो मनुष्य के लिए चुनाव कर दे या निर्णय ले ले। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि क्या हर व्यक्ति के निर्णय, मूल्य एवं मानदंड अलग-अलग होते हैं ? क्या मूल्यों की कोई सामान्य दुनिया नहीं है ? इस प्रश्न पर विचार करते हुए सार्त्र यह कहता है कि सामान्य सूत्र पर आधारित न होते हुए भी व्यक्ति द्वारा लिए गये निर्णयों एवं किये गये चुनावों में एक सार्वभौमिकता होती है। इसका कारण यह है कि स्वतंत्रताजन्य उत्तरदायित्व के बोझ से दबे होने के कारण व्यक्ति सदैव इस बात के प्रति सचेत होता है कि वह दूसरों की दृष्टि का विषय है, उसकी क्रियाओं के ऊपर समस्त मानवता की निगाहें टिकी हुई हैं। परिणामस्वरूप उसके द्वारा लिए गये निर्णय तथा स्वीकार किये गये मूल्यों एवं मानदंड नितांत उसके लिए नहीं होते। उसके द्वारा किया गया चुनाव सारी मानवता के लिये किया गया चुनाव है।[1] मनुष्य अपने कार्यों के द्वारा संपूर्ण मानवता की प्रतिमा का निर्माण करता है। सार्त्र के अनुसार इस कथन का "कि मनुष्य-मनुष्य का भविष्य है", यही अभिप्राय है। यहाँ पर सार्त्र का स्वर उसके

तर्कबुद्धि एवं प्राग्नुभविकतावाद के सारे विरोधों के बावजूद कुछ काण्टीय-सा प्रतीत होता है।[३] अंतर यह है कि काण्ट के नैतिकता के सूत्र बुद्धि के प्राग्नुभविक आदेश हैं जबकि सार्त्र के मानवतावाद में निहित सार्वभौमिकता मानव जीवन में विद्यमान सहज उत्तरदायित्व बोध से उत्पन्न है। मनुष्य अपने चुनावों द्वारा इस सार्वभौमिकता को उत्पन्न करता है। इस सार्वभौम मानववाद से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है। जिसको समझ लेना सार्त्र की दार्शनिक यात्रा के मूल्याँकन के लिए आवश्यक है। मनुष्य के कार्यों का कोई पूर्वस्थित वस्तुगत संदर्भ नहीं है लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसके कार्य नितांत व्यक्तिगत हैं तथा उसकी दुनिया उसकी सर्वथा निजी दुनिया है। इसके विपरीत, अपनी स्वतंत्र रचनात्मकता के द्वारा मनुष्य अंतर्विषयिता (Intersubjectivity) के जगत् में प्रवेश करता है। वह दूसरों के अस्तित्त्व एवं उसकी स्वतंत्रता के महत्त्व को पहचानता है तथा यह महसूस करता है कि वे उसके भी अस्तित्त्व एवं स्वतंत्रता की शर्तें हैं। वह यह भी समझता है कि दूसरों के ही संदर्भ में वह एक सार्थक प्रतिबद्धता का जीवन व्यतीत कर सकता है। इसी बात को लक्ष्य करते हुए सार्त्र यह कहता है कि अस्तित्त्ववाद निराशा, कर्महीनता तथा व्यक्तिवादिता का दर्शन न होकर आशा, कर्मठता तथा सार्वभौम मानववादी दर्शन है।

आगे बढ़ने से पूर्व उपरोक्त पंक्तियों में प्रतिपादित मानववाद का कुछ स्पष्टीकरण कर देना उचित होगा। इस ग्रंथ से पूर्व अपने दार्शनिक उपन्यास नॉशिया में सार्त्र ने मानववाद के ऊपर व्यंगात्मक प्रहार किया है तथा उसे असंभव एवं हास्यास्पद दिखाया है। तो क्या वह पुन: उसी मानववाद की ओर वापस जा रहा है ? स्वयं सार्त्र इस प्रश्न का उत्तर देता हुआ कहता है कि दोनों दो प्रकार के मानववाद हैं। नॉशिया में आलोचित मानववाद वह सिद्धांत है जो मनुष्य को अपने आप में साध्य के रूप में स्वीकार करता है, जिसके अनुसार मनुष्य के सम्बन्ध में एक सार्वभौम निर्णय दिया जा सकता है। अस्तित्त्ववादी ऐसी मानववादी परिकल्पना में विश्वास नहीं करता क्योंकि यह सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित है कि मनुष्य का कोई निर्धारित स्वरूप है। सार्त्र के ही शब्दों में, ऐसी मानववादी अवधारणा का अन्त फासिस्टवाद में होता है'।[४] लेकिन मानववाद का एक गंभीरतर अर्थ है जिसे सार्त्र स्वीकार करता है : मानवीय जगत् के अतिरिक्त अन्य कोई जगत् नहीं है, यह मनुष्य की व्यष्टिता का जगत् है। मनुष्य निरन्तर अपना अतिक्रमण एवं निषेध करते हुये अपनी सत्ता एवं स्वरूप का निर्माण करता है। अतिक्रामी मूल्यों की तलाश में ही वह अपनी सत्ता का अर्थ ढूँढता है; वही उस अतिक्रामिता का केन्द्र भी है। एग्जिस्टेंशियलिज्म एण्ड ह्यूमनिज्म की स्थापनायें सर्वथा भावात्मक हैं, निष्कर्ष आशावादी है। उसमें ऐसे मानवीय समुदाय की तस्वीर खींची गयी है जिसमें ईमानदारी के साथ तथा सार्थक रूप से दूसरों के साथ सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते हैं, जिसमें दूसरों की सत्ता हमारे अस्तित्त्व का संदर्भ-बिन्दु होती है। लेकिन जब हम इस ग्रंथ को छोड़कर उसकी प्रख्यात रचना बीइंग एण्ड नथिंगनेस के पृष्ठों को पलटते हैं तो उसके चिंतन का एक दूसरा, तथा बहुत अर्थों में उपरोक्त चिंतन से भिन्न, आयाम हमारे सामने उभर कर आता है। भावात्मक स्थापनायें पृष्ठभूमि में चली जाती हैं, मुख्य स्वर निषेधात्मक हो ज़ाता है, आशावादिता निराशावादिता में बदल जाती है, पारस्परिक सम्बन्धों पर आधारित समाज के प्रति आस्था टूट जाती है तथा दूसरे की सत्ता हमारी सत्ता का सार्थक आधार न होकर उसके लिए खतरे के रूप में दिखाई देने लगती है। अन्य शब्दों में, यहाँ पर हमें सार्त्र का दर्शन एक नया मोड़ लेता हुआ दिखाई देता है । इस पर किंचित् विस्तार से विचार करें।

मानवीय सत्ता या चेतना का निषेधकारी तथा अतिक्रामी स्वरूप, जिसकी चर्चा ऊपर भी हो चुकी है, इस ग्रंथ का केन्द्रीय सिद्धान्त है। सत्ता के दो रूप हैं : अपने-आपमें सत्ता तथा अपने-लिए सत्ता (Being in itself and Being for itself) प्रथम प्रकार की सत्ता ठोस तथा चारों ओर से बन्द

सत्ता है, यह विकास, संभावना तथा निषेध आदि गुणों से हीन या उदासीन है। यह मान्य है या जो है वही है। इसके विपरीत, अपने-लिए-सत्ता, जो कि चेतन या मानवीय सत्ता का पर्याय है, सर्वथा रिक्त है, निरन्तर विकासमान है, एक खुली संभावना है। यह कभी अपने साथ एकान्तर नहीं होती, अपितु 'दूरियों की सत्ता' है; वस्तु के साथ तथा स्वयं अपने ही साथ दूरी उत्पन्न करके रहने वाली सत्ता है। इसका कोई पूर्व रेखाकिंत स्वरूप नहीं है, यह अपनी क्रियाओं एवं रचनात्मकता से अपने स्वरूप का निर्माण करती रहती है, और उनका अतिक्रमण भी करती रहती है।

ऐसी रिक्त एवं निषेधकारी चेतना पूर्णतया स्वतंत्र सत्ता है। इसकी रिक्तता का अर्थ इसकी सारतत्त्वहीनता है। सारतत्त्व से युक्त सत्ता संभावनाओं से रहित सत्ता है। इसीलिए सार्त्र हुसर्ल के अनुभवातीत आत्मा का भी खंडन करता है। क्योंकि उसके अनुसार अनुभवातीत आत्मा स्वतंत्र चेतना की 'मृत्यु' है। मनुष्य की अपनी स्वतंत्रता की तीव्रतम अनुभूति दुश्चिंता के क्षणों में होती है, अथवा यह कहना अधिक ठीक होगा कि स्वतंत्रता का बोध उसमें दुश्चिंता उत्पन्न करता है जिससे बचने के लिए वह दुरास्था (bad faith) का सहारा लेता है। सर्वत: रिक्त एवं स्वतंत्र होने के नाते चेतना ही समस्त मूल्यों की सृष्टि करती है, वही वस्तुओं एवं सम्बन्धों को अर्थ प्रदान करती है। अतीत, वर्तमान एवं भविष्य भी मानवीय चेतना से ही अपना अर्थ ग्रहण करते हैं। यह सब बातें सार्त्र की नयी स्थापनायें नहीं हैं जिससे यह कहा जा सके कि उसका चिंतन कोई भिन्न आयाम ले रहा है। किन्तु इसके बाद वह जो कुछ कहता है वह निश्चय ही भिन्न आयाम का संकेत है।

सार्त्र ने स्वयं एक स्थल पर यह स्वीकार किया है कि ऐग्जिस्टेंशियलिज्म एण्ड ह्यूमनिज्म का प्राक्कथन उसकी एक भूल थी। यह कथन इस बात का स्पष्ट संकेत है कि उस ग्रंथ में प्रतिपादित मान्यताओं का अब वह समर्थन नहीं करता। लेकिन जब वह बीइंग एण्ड नथिंगनेस में चेतना के एकाकी एवं भग्नमनोरथ स्वरूप का चित्रांकन करता है तो इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि हम यहाँ पर सार्त्र तथा उसके दर्शन का एक भिन्न एवं नया रूप देख रहे हैं। मनुष्य की अपनी स्वतंत्रता तथा दूसरे व्यक्ति का अस्तित्त्व-यह दो ऐसी वास्तविकता हैं जिनके प्रति उसका ठीक से समायोजन नहीं हो पाता, या हम कह सकते हैं कि समायोजन के सारे प्रयासों में असंतुलन अथवा बेईमानी आ जाती है। संक्षेप में हम इसका निर्देश करेंगे। मनुष्य की स्वतंत्रता जहाँ उसकी सत्ता का पर्यायवाची होने के नाते उसकी गरिमा एवं महानता का सूचक है, वहीं पर मनुष्य के भीतर एक विचित्र वेदना या छटपटाहट का भी कारण होती है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति यह है कि वह अपने सभी कार्यों का एक औचित्य ढूंढ़ता है। वह चाहता है कि कोई दैवी या सामाजिक सत्ता उसके कार्य या निर्णय के औचित्य का आश्वासन प्रदान कर सके। इसका कारण यह है कि वह स्वतंत्रताजन्य उत्तरदायित्व के कटु एवं दुर्वेध परिणाम को स्वीकारने से कतराता है, उसका सामना करने का साहस नहीं करना चाहता। इसलिए अपने कार्यों के लिए बहानों की, ऐसे कारणों की, जो उसके नियंत्रण में न हो बल्कि जो उसे नियंत्रित कर रहे हों, तलाश करता है। दुरास्था ऐसी ही तकनीक है जिसकी ओट में व्यक्ति अपनी उस छटपटाहट और पीड़ा से बचने का प्रयास करता है। विस्तृत व्याख्या या विवरण में जाने का यहाँ अवसर तो नहीं है, इतना कहना पर्याप्त होगा कि मानव जीवन के सभी क्षेत्रों-व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक आदि में यह दुरास्था व्याप्त होती है जिसके नाते मनुष्य निरन्तर इस आत्म-प्रवंचना की स्थिति में बना रहता है कि वह जो है वही है, यानी वस्तु की भाँति उसकी सत्ता में भी एक प्रकार का ठोसपन है। अपने वास्तविक रूप में मनुष्य आन्तरिक निषेध से युक्त सत्ता है। इसी निषेध से मुक्त होने के लिए वह दुरास्था का सहारा लेकर अपने आपमें सत्ता जैसी आत्मनिष्ठ सत्ता बनाना चाहता है। उसकी धार्मिक जिज्ञासाओं

तथा ईश्वर के प्रति दृष्टिकोण भी इसी प्रवृत्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। किन्तु आत्म-प्रवंचना पर आधारित उसके ये सभी प्रयास अंततः निष्फल हैं और सार्त्र के शब्दों में 'मनुष्य एक निरर्थक वासना है।'

अपनी स्थिति की वास्तविकता को स्वीकारने में असमर्थ व्यक्ति आत्मवंचनाओं की स्थितियों की रचना करता है तो दूसरों की सत्ता के प्रति वह एक अन्य प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। दूसरे की सत्ता के समक्ष मनुष्य अपनी स्वतंत्रता एवं विषयिता के लिए खतरा अनुभव करता है। दूसरे की दृष्टि उसे एक विषय के रूप में परिवर्तित कर देती है उसकी सत्ता को एक स्थायी अर्थ प्रदान कर देती है जिससे वह अलग नहीं हो सकता, जिसका वह निषेध या अतिक्रमण नहीं कर सकता। यह बात व्यक्ति के लिए सर्वथा असह्य है। अतएव इसको टालने के लिए वह दूसरों के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण अपनाकर उसकी विषयिता और स्वतंत्रता का इस ढंग से अधिग्रहण करना चाहता है कि वह बनी भी रहे किन्तु उसके लिए खतरनाक भी न हो। प्यार, घृणा, कामेच्छा, स्वपीड़नरति तथा परपीड़नरति में उसके यही प्रयास अभिव्यक्त होते हैं। किन्तु यहाँ भी मनुष्य को असफलता और निराशा ही हाथ लगती है। इनमें से किसी भी माध्यम से वह अपने इच्छित लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाता। फलस्वरूप मनुष्य सब ओर से अपने को एकाकी पाता है। हाइडेगर के शब्दों में वह जगत् में स्वयं को अकारण अथवा निरुद्देश्य 'प्रक्षिप्त' या 'परित्यक्त' पाता है। उसकी निरपेक्ष एवं आमूल स्वतंत्रता एक असम्भव एवं अप्राप्य लक्ष्य की ओर यात्रारूढ़ है, यह यात्रा नितांत अकेली है जिसमें कोई साथी नहीं, कोई सहारा नहीं, गंतव्य तक पहुँच सकने की कोई आशा और आश्वासन नहीं। यह कैसी विडम्बना है कि सर्वथा स्वतंत्र होते हुए भी मनुष्य स्वस्थ सामाजिक एवं नैतिक सम्बन्धों का जीवन व्यतीत करने में असमर्थ है। किन्तु यह प्रश्न इतना महत्त्वपूर्ण है कि किसी भी सार्थक दार्शनिक अध्ययन में इसे नजर अंदाज नहीं किया जा सकता। अतएव बीइंग एण्ड नथिंगनेस के अन्त में सार्त्र अपने पाठकों से यह वादा करता है कि उसका अगला ग्रंथ नीतिशास्त्र पर होगा।

किन्तु यह वादा उसने पूरा नहीं किया क्योंकि नीतिशास्त्र पर लिखने के बजाय उसने क्रिटिक ऑफ डायलेक्टिकल रीजन लिखा जिसमें हम सार्त्र को मार्क्सवाद का समर्थन करते हुये देखते हैं और यह उसके दर्शन का तीसरा मोड़ है जिसमें ऐसा प्रतीत होता है, हम सार्त्र का एक सर्वथा नये रूप में देख रहे हैं, मानो वह अपने अतीत के चिन्तन से पूर्णतया सम्बन्ध-विच्छेद कर रहा हो। ऐसी धारणा स्वाभाविक है क्योंकि अस्तित्त्ववाद और मार्क्सवाद परस्पर नितान्त विरोधी विचारधारायें हैं। और जब अस्तित्त्ववाद का प्रतिपादन कर रहा था तो उसे न केवल अध्यात्मवादी धार्मिकों की बल्कि मार्क्सवादियों की भी आलोचनाओं का उत्तर देना पड़ा था। सार्त्र के इस मार्क्सवादी रूप का एक सर्वेक्षण करने के पश्चात् हम उसके दर्शन की एक समूची तस्वीर प्रस्तुत करने की चेष्टा करेंगे।

सार्त्र के अनुसार मार्क्सवाद युग का एक-मात्र दर्शन है, अस्तित्त्ववाद उसका समर्थन करने वाली विचारधारा है। किन्तु मार्क्सवाद अभी अपनी शैशवावस्था में है और जिस दिन वह पूर्ण, विकसित एवं परिपक्व दर्शन हो जायेगा उस दिन अस्तित्त्ववाद उसी में तिरोहित हो जोयगा। यह कहना अधिक उचित होगा कि अस्तित्त्ववाद इस तिरोभाव का स्वागत करेगा तथा वह इसके लिए प्रयत्नशील भी है। प्रश्न यह उठता है कि अभी तक वह स्थिति क्यों नहीं आ पायी है ? मार्क्सवाद क्यों परिपक्वता नहीं प्राप्त कर सका है ? तथा अस्तित्त्ववाद का अभी भी क्यों स्वतंत्र अस्तित्त्व बना हुआ है ? उत्तर सार्त्र स्वयं देता है। उसका कहना है कि यद्यपि अस्तित्त्ववाद तथा मार्क्सवाद दोनों का प्रारम्भ एक ही बिन्दु से हुआ, दोनों वास्तविक मनुष्य को समझना चाहते हैं, लेकिन अपनी विकृतियों एवं पथान्तरण के नाते मार्क्सवाद इस लक्ष्य तक अभी पहुँचने में असफल रहा। इसके विपरीत अस्तित्त्ववाद में कोई विकृति नहीं आई इसलिए वह अपने लक्ष्य के प्रति सचेत एवं निष्ठावान है। यह किसी विकृति का ही परिणाम

था कि मार्क्सवाद में मनुष्य का अन्तर्भाव प्रत्यय (आइडिया) में कर दिया गया जबकि अस्तित्त्ववाद उसकी तलाश उसकी 'स्थूल परिस्थितियों- उसके घर, उसके दफ्तर तथा गलियों में कर रहा था।'[5]

मार्क्सवाद के प्रति अपने आकृष्ट होने के कारण की चर्चा करते हुए सार्त्र कहता है कि प्रारम्भ में जब तक उस सिद्धांत को वह मात्र लिखित शब्दों के रूप में देखता रहा उसके लिए इस दर्शन का कोई विशेष महत्त्व न था। उसे पढ़कर उसके प्रति पूर्णतया तटस्थ रहा। उसे ईंगलैंड में रहने वाले एक जर्मन बुद्धिवादी के विचारों के रूप में देखता रहा। लेकिन जब उसने यह देखा कि मार्क्स के विचार मजदूर वर्ग की वास्तविकता को निर्धारित करने वाले तथा उसके कार्यों के गूढ़ अर्थों की अभिव्यक्ति हैं तो उसके तब तक के स्वीकृत विचार, मूल्य तथा संस्कृति सम्बन्धी धारणाओं को गहरा धक्का लगा। बूर्जुआ मानववादजनित समस्त आशावादिता निर्मूल हो गयी क्योंकि हमने यह देखा कि हमारे शहर के चारों ओर 'अपनी अधिमानवता के प्रति सचेत अधिमानवों' की अपार भीड़ है। किन्तु यह प्रतिक्रिया अभी भी कुछ बौद्धिक स्तर की थी। अभी तक हमें इसका ठीक-ठीक एहसास नहीं हुआ था कि मनुष्य को उसके वास्तविक अर्थ में समझने के लिए हमें उसको उसके कामगार रूप में जानना होगा जो कि अपनी 'मेहनत द्वारा अपने जीवन की शर्तों को उत्पन्न करता है।' कामगारों, वर्ग-संघर्ष तथा विभाजित समाज को सही रूप में समझने के लिए हमें वर्तमान शताब्दी के उन रक्तरंजित पचास वर्षों के दौर से गुजरना पड़ा जिसमें महायुद्ध, अधिग्रहण तथा विरोध के माध्यम से हमारी समस्त वैचारिक एवं सांस्कृतिक संरचनायें ध्वस्त हो गयीं और हमने अपने को मजदूर वर्ग के खेमे में खड़ा पाया तथा यह अनुभव किया कि मूर्त सत्य इतिहास और द्वन्द्वपरक क्रिया में व्यक्त होता है। किन्तु मार्क्सवाद का यह आकर्षक रूप हमारी अपेक्षित आकाँक्षाओं को पूरा न कर सका क्योंकि इसकी गति अवरुद्ध हो गयी इसमें अन्तर्विरोध आ गया तथा अपना मार्ग छोड़कर यह एक दूसरी दिशा में मुड़ गया। अनुभव एवं सत्य के प्रति इसके दृष्टिकोण में विकृति आ गयी, सिद्धांत एवं व्यवहार में भेद पैदा हो गया। यह मार्क्सवाद के उस रूप में हुआ जो सोवियत रूस में विकसित हुआ, जिसे मार्क्सवाद का आधिकारिक रूप माना गया तथा जिस रूप में वह आज प्रचलित है।

इस मार्क्सवाद में एक प्रकार के निरपेक्ष प्रत्ययवाद का प्रवेश हो गया। मार्क्सवाद पूर्वनियोजित अर्थ-व्यवस्था का प्रतिदर्श मात्र होकर रह गया। उत्पत्ति और श्रम का निर्धारण खेतों और कारखानों में न होकर दफ्तरों में बैठकर होने लगा। सिद्धांत और व्यवहार के इस भेद का परिणाम यह हुआ कि मार्क्सवादी सिद्धांत एक शुद्ध एवं स्थिर ज्ञान में परिवर्तित हो गया तथा उसका व्यावहारिक पक्ष सिद्धान्तहीन इन्द्रियानुभववाद मात्र बनकर रह गया। तथ्यों एवं घटनाओं के प्रति उसका दृष्टिकोण उन्मुक्त नहीं रह गया। इनके प्रति उसका दृष्टिकोण प्रश्नात्मक न रह गया बल्कि इन्हें एक पूर्व निश्चित धारणा के अनुकूल बनाये जाने का प्रयास किया जाने लगा। मार्क्सवाद मूलत: ऐतिहासिक प्रक्रिया को उसकी सम्पूर्णता में समझने का एक प्रयास था लेकिन उसकी अपनी ही 'परछांई ने इतिहास को धूमिल बना दिया है, इतिहास के साथ-साथ चलने के बजाय उसने नौकरशाही हठवाद का सहारा लेकर परिवर्तन को तादात्म में रूपान्तरित कर दिया।'

प्रचलित मार्क्सवाद के विरुद्ध अपने आलोचनात्मक स्वर को कुछ और तीखा बनाते हुए सार्त्र कहता कि यह सही है कि मार्क्स ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सत्य की उद्घोषणा की कि 'केवल मनुष्य और उसके सम्बन्ध ही वास्तविक हैं, समुदाय सम्बन्धों की बहुलता का दूसरा नाम है' लेकिन मार्क्सवादी इस उद्घोषणा के निर्हितार्थों का निर्वाह न कर सके। उन्होंने 'समूह' या 'बाजार' को एक 'वस्तु' में परिवर्तित कर दिया जिसके अपरिहार्य नियम मानवीय सम्बन्धों को निर्धारित करते हैं। परिणामस्वरूप समूह या बाजार एक मूर्त वास्तविकता का रूप ले लेते हैं और व्यष्टि अमूर्त वास्तविकता में परिणत हो

जाता है और इस प्रकार मार्क्सवाद हेगेलीय प्रत्ययवाद का दूसरा रूप बन कर रह जाता है। सत्य इसके सर्वथा विपरीत है। मजदूर अपने माल को बेचने के लिए बाजार पर निर्भर करता है लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसकी यह निर्भरता उसको अमूर्त सत्ता बना देती है। इसके विपरीत, बाजार की वास्तविकता तथा उसका मूर्त अस्तित्त्व उन्हीं व्यक्तियों के ऊपर निर्भर करता है जो उस बाजार में अपने ही माल से अलग हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त मार्क्सवाद मनुष्य और विभिन्न सामाजिक सम्बन्धों या समूहों को ठीक रूप से समझने में असमर्थ रहा। वह यह समझने में असमर्थ रहा कि मनुष्य अपनी ही 'रचना की रचना है,' अपने ही कार्यों तथा उत्पत्ति की सामाजिक शर्तों द्वारा निर्मित है और उसी के साथ वह अपने ही उत्पादनों के मध्य रहता हुआ उस समुदाय को जीवन प्रदान करता है जो स्वयं उसको आत्मसात कर डालता है। मार्क्सवादी इस ऐतिहासिक सम्पूर्णीकरण (historical totalization) को पूर्णतया विस्मृत करके समस्त मूर्त मानवीय सम्बन्धों को मात्र संयोग के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

परिणामस्वरूप वे इस सत्य से एकदम अनभिज्ञ रह जाते हैं कि 'मनुष्य' होने का कुछ विशिष्ट अर्थ होता है। इस अनभिज्ञता को ढकने के लिए उनके पास पावलाव का 'असंगत मनोविज्ञान' है जो मनुष्य के अमानवीयकरण का एक अन्य प्रयास है। मार्क्सवाद मनुष्य के रचनात्मककर्ता रूप को नहीं पहचान सका। वह इतिहास के निर्माण में मनुष्य की अपेक्षा उन परिस्थितियों को अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है जिसके आधार पर इतिहास का निर्माण होता है। फलस्वरूप मनुष्य उन 'अमानवीय शक्तियों का संवाहक मात्र रह जाता है जो उनके माध्यम से सामाजिक जगत् का नियंत्रण करती हैं।'

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मार्क्सवाद को स्वीकार करते हुए भी सार्त्र मार्क्सवाद के प्रचलित रूप का कटु आलोचक है। प्रचलित मार्क्सवाद प्रत्ययवाद पर आधारित है, वह इतिहास की यांत्रिक व्याख्या करता है जिसमें मानवीय योजनाओं तथा उद्देश्यों का कोई महत्त्व नहीं है। यह कितनी हास्यास्पद बात है कि मनुष्य के ही अध्ययन में मानवीय गुणों की पहचान न की जाय, इतिहास के अध्ययन में इतिहासकर्ता को बहिष्कृत कर दिया जाय! एँजिल्स के वाक्य 'मनुष्य इतिहास का निर्माण करते हैं किन्तु उन परिस्थितियों के भीतर जो कि पूर्वप्रदत्त होती हैं तथा उनको निर्धारित करती हैं,' की प्रत्ययवादी ढंग से व्याख्या करते हुए मार्क्सवादी मनुष्य को एक 'वस्तु' में रूपान्तरित कर देते हैं। उनके अनुसार पूर्णतया पूर्वनिर्धारित मनुष्य निष्क्रिय होता है। वह इतिहास एवं समाज को उसी प्रकार परिवर्तित करता है जिस प्रकार 'एक बम किसी मकान को नष्ट कर सकता है।' इस प्रकार मानवीय कर्त्ता तथा मशीन में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

तो फिर सार्त्र की मार्क्सवाद की क्या अवधारणा है? मार्क्सवाद से उसकी क्या अपेक्षायें हैं? उस मार्क्सवाद से अस्तित्त्ववाद का क्या सम्बन्ध है? सार्त्र के अनुसार मार्क्सवाद अपने मूल एवं वास्तविक रूप में मानववाद है। वही एकमात्र ऐसा नृतत्त्वशास्त्र है जिसमें मनुष्य को उसकी सम्पूर्णता में देख पाने की क्षमता है। लेकिन अपने मूल स्वरूप एवं अभिप्रेत लक्ष्य तक पहुँचने के लिए उसे उन तमाम विकृतियों एवं मताग्रहों से मुक्त होना होगा जो कि सम्प्रति उसे आच्छादित किये हुए हैं। 'आवश्यकता' 'श्रम' 'अभाव' 'वर्ग' आदि अभी भी मार्क्सवादी दर्शन की मुख्य कोटियाँ होंगी लेकिन और यही सबसे महत्त्वपूर्ण बात है- इन सबके केन्द्र में 'मनुष्य' होगा और इन सभी को मनुष्य की 'योजना' Project के रूप में देखना होगा। जब तक ऐसा नहीं हो जाता, जब तक मार्क्सवाद वास्तविक ज्ञान की अपेक्षा हठमत का सहारा लेता रहेगा, जब तक वह इतिहास के निर्माण में मनुष्य की रचनात्मकता तथा क्रियात्मकता को नकारता रहेगा, तब तक वह सच्चा नृतत्त्वशास्त्र नहीं बन सकता और तब तक अस्तित्त्वाद की एक स्वतंत्र अध्ययन के रूप में महत्ता एवं आवश्यकता बनी रहेगी। अस्तित्त्वाद मनुष्य

एवं जगत् के सम्बन्ध का अध्ययन करने की प्रक्रिया में मनुष्य के अकेलेपन अथवा अलगाव की पहचान करता है, उसको पकड़ने का प्रयास करता है। इसके विपरीत, मार्क्सवाद मिथ्या वैज्ञानिकता एवं यांत्रिक भौतिकवाद का सहारा लेकर उस अलगाव को नकारने का प्रयास करता है। परिणामस्वरूप मार्क्सवाद का मूल मानववादी स्वरूप लुप्त हो गया है।

सार्त्र मार्क्सवाद के उसी मूल मानववादी स्वरूप को स्थापित करना चाहता है जिसमें मानवीय आचरण का कुछ महत्त्व हो, जिसमें मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा हो, जिसमें मानवीय संस्कृति को मात्र एक प्राकृतिक प्रक्रिया के रूप में न देखा जाय। और उसका विश्वास है कि मार्क्सवाद में ही ऐसे सक्षम नृतत्त्वशास्त्र बनने की संभावनाएं हैं। वस्तुत: मार्क्सवाद के सारे दोषों को मार्क्सवाद के भीतर रहकर ही देखा जा सकता है। हम मार्क्सवाद में प्रविष्ट होकर ही यह देख सकते हैं कि मार्क्सवाद किन्हीं बाह्य प्रभावों या उद्देश्यों के कारण मनुष्य, जो कि प्रश्नकर्त्ता है, को अपने सभी प्रश्नों से बहिष्कृत कर देता है, कि मार्क्सवादी पदावली के मुख्य शब्द 'शोषण' 'अलगाव' इत्यादि मनुष्य की 'अस्तित्त्वपरक संरचनाओं का असंदिग्ध संकेत करते हैं। और इन सब में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि 'श्रम को मनुष्य की 'योजना' (प्रोजेक्ट) से इतर अन्य रूप में लेने का कोई अर्थ नहीं हैं क्योंकि अपने श्रम द्वारा, मनुष्य अपने जीवन की शर्तों को उत्पन्न करता है। इस प्रकार मार्क्सवाद को उसके भीतर से ही देखकर उसके यांत्रिक निर्धारणवादी स्वरूप को पहचाना जा सकता है और यह देखा जा सकता है कि यह मार्क्सवाद का अपना मौलिक स्वरूप नहीं है बल्कि बाहर से आयातित एवं आरोपित है।

स्पष्ट है कि सार्त्र मार्क्सवाद की उसकी प्रचलित सैद्धांतिक व्याख्या तथा स्टार्लिन द्वारा स्थापित साम्यवादी मार्क्सवाद से सर्वथा भिन्न एक नये रूप में कल्पना कर रहा है जिसका केन्द्र बिन्दु 'मनुष्य' है, जिसमें इतिहास की द्वन्द्वपरक प्रक्रिया 'मनुष्यहीन' नहीं है। लेकिन इस मनुष्य की अवधारणा अस्तित्त्ववादी मनुष्य से किंचित भिन्न है। बीइंग एण्ड नथिंगनेस में सार्त्र ने मनुष्य की व्यष्टिता को उसके अस्तित्त्ववादी सत्य के रूप में प्रस्तुत किया था-व्यक्ति के कार्य उस व्यक्ति के ही वैशिष्ट्य की अभिव्यक्ति होते हैं। अब सार्त्र यह प्रतिपादित करता है कि व्यक्ति के कार्य उसके वर्ग की अभिव्यक्ति होते हैं। उसकी भाषा, उसके विचार, उसके निर्णय एवं दृष्टिकोण सभी उस वर्ग चेतना द्वारा नियंत्रित होते हैं जिससे वह पहले से ही प्रतिबद्ध होता है। वर्ग-संरचना उतनी ही वास्तविकता होती है जितना कि भौतिक परिवेश, जिसे आत्मसात करके ही जिया जा सकता है। व्यक्ति के सभी कार्य उसके वर्ग के आत्मचेतन विकास की अभिव्यक्ति होते हैं। अपनी आज्ञाकारिता से वह उस स्थिति को स्वीकार करता है, निषेध एवं विरोध से वह उस वर्ग के द्वन्द्वपरक विकास के उस चरण की अभिव्यक्ति करता है जिसमें वह वर्ग अपनी स्वतंत्रता की ओर अग्रसर होता है। इसके अतिरिक्त, स्वतंत्रता के सम्बन्ध में भी सार्त्र अपने विचारों को संशोधित करता हुआ प्रतीत होता है। अस्तित्त्ववादी स्वतंत्रता सम्पूर्ण, असीमित एवं आमूल है। लेकिन सार्त्र अब यह अनुभव करता है कि ऐसी स्वतंत्रता अमूर्त है। वर्ग संरचना, आर्थिक व्यवस्था एवं अभाव मनुष्य की इस स्वतंत्रता को अर्थहीन बना देते हैं। चुनाव की उस स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं जिसमें चुनाव अधिमानव स्तर के जीवन तथा मृत्यु के बीच सीमित हो। आर्थिक अभाव स्वतंत्रता का निषेध है और जहाँ यह अभाव नहीं भी होता वहाँ वर्ग संरचना उस स्वतंत्रता को मिथ्याकृत करती रहती है। सार्त्र मार्क्स की इस धारणा से मूलभूत सहमति व्यक्त करता है कि 'भौतिक जीवन के उत्पादन के साधन सामाजिक, राजनैतिक तथा भौतिक जीवन को अनुशासित करते हैं' तथा जब तक मनुष्य अभाव की जंजीरों से मुक्त नहीं हो जाता है तब तक वास्तविक स्वतंत्रता स्वप्न मात्र रहेगी। इसके भी आगे जाकर वह कहता कि हमारे पास कोई ऐसा साधन नहीं कि हम

मानवता की उस मुक्त अवस्था की कल्पना कर सकें, इसलिए हम मनुष्य की वास्तविक स्वतंत्रता तथा स्वतंत्रता के दर्शन की भी कोई कल्पना नहीं कर सकते।[८]

अस्तित्त्ववादी सार्त्र की यह मार्क्सवादी घोषणा विस्मयकारी प्रतीत होती है और यही हमें इस लेख के अन्तिम प्रश्न पर ले जाती है- क्या मार्क्सवादी सार्त्र अपने अस्तित्त्ववादी स्वरूप से पूर्णतया सम्बन्ध-विच्छेद कर रहा है ? अथवा दोनों में कोई तारतम्य है ?

इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें एक बार पुन: बीइंग एण्ड नथिंगनेस के पृष्ठों में झाँकना होगा। और हम पायेंगे कि स्वतंत्रता सम्बन्धी इस धारणा को वह वहीं रेखांकित कर चुका है। उसमें उसने असीमित स्वतंत्रता की कुछ सीमाओं का निर्देश किया है। मनुष्य का जन्म, मृत्यु, परिवेश, स्थान तथा सहयोगी आदि उसकी स्वतंत्रता को सीमित करते हैं। अपनी स्वतंत्रता का प्रयोग वह इन्हीं सीमाओं के भीतर रह कर करता है। अतएव हम केवल यही कह सकते हैं कि स्वतंत्रता की उन सीमाओं की अस्तित्त्ववादी सार्त्र की अपेक्षा मार्क्सवादी सार्त्र की अनुभूति अधिक तीखी तथा यथार्थपरक है। इस यथार्थपरक दृष्टिकोण का परिणाम है कि उसे 'वास्तविक स्वतंत्रता एवं मनुष्य के वास्तविक दर्शन' की रूपरेखा खींचने में भी संकोच होता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वास्तविक स्वतंत्रता के प्रति वह आशान्वित नहीं है। वस्तुत: स्वतंत्रता एवं मनुष्य की अपनी अस्तित्त्वपरक परिकल्पना को ही दृष्टि में रखते हुये सार्त्र स्वतन्त्रता की पहले से ही कोई तस्वीर नहीं खींचना चाहता क्योंकि ऐसा करना मनुष्य की समस्त सम्भावनाओं को पहले से ही बन्द कर देना होगा। ऐसा कोई अपव्याख्यावादी दर्शन ही कर सकता है। किन्तु जो दर्शन मनुष्य की अनन्त सम्भावनाओं में विश्वास करता है, जो मानवीय सम्भावनाओं के द्वन्द्वपरक विकास में विश्वास करता है जो मनुष्य को कर्त्ता रूप में अपने स्वरूप के प्रति उत्तरदायी मानता है, वह ऐसे किसी भी प्रयास से अपने को विरत रखता है। अतएव सार्त्र की इस स्थापना को हमें इस रूप में लेना होगा.......स्वतंत्रता तथा स्वतंत्रता के दर्शन की असम्भावना निश्चय ही मनुष्य की अनन्त स्वतंत्रता की सम्भावना का दर्शन है। जहाँ तक सार्त्र द्वारा मार्क्सवाद की 'आवश्यकता' 'अभाव' आदि कोटियों को स्वीकार करने का प्रश्न है, हम यह देखते हैं कि इन कोटियों की संरचना वस्तुत: अस्तित्त्वपरक है। ये सभी कोटियाँ मनुष्य की योजनायें हैं और योजना मनुष्य की निषेधपरक चेतना का कार्य है। चेतना के इस निषेध कार्य तथा अतिक्रामी स्वरूप का प्रतिपादन सार्त्र ने बीइंग एण्ड नथिंगनेस में किया है। वही स्वरूप उसके मार्क्सवादी विश्लेषण में भी विद्यमान है।[९]

अस्तु हम कह सकते हैं कि अब सार्त्र के विचारों का संदर्भ अवश्य बदल गया है क्योंकि अब वह फेनोमेनालॉजी के बजाय डाइलेक्टिक की दृष्टि से सोचता है किन्तु डाइलेक्टिक निर्धारणवाद नहीं है। डाइलेक्टिक भी मनुष्य के सम्बन्ध में उसी सत्य का प्रतिपादन करता है जिसका प्रतिपादन फेनोमेनालॉजी करती है....... मनुष्य में ही इतिहास के निर्माण की सम्भावना है। मनुष्य डाइलेक्टिक के नियमों का अनुसरण अवश्य करता है किन्तु इसी प्रक्रिया में वह यह भी पाता है कि स्वयं वही डाइलेक्टिक ढंग से इतिहास का निर्माता है।

***

संदर्भ-सूची

१. *Sartre, Existentialism and Humanism (trans. Philip Mairet), London Methuen & Co. Ltd. 1970, pp, 29 ff.*

२. *वही पृ. ३१ So every man ought to say, "Am I really a man who has the right to act in such*

a manner that humanity regulates itself by what I do." काण्ट के निरपेक्ष आदेश के सूत्र से ये पंक्तियाँ तुलनीय हैं।

३. वही पृ. ४७।

४. वही पृ.५५........*an existentialist will never take man as the end, since man is still to be determined........The cult cf humanity ends in Comtian humanism, shut-in upon itself; and---this must be said-- in Fascism.*

५. *Sartre, Search For A Method (trans Hazel E, Barnes), New York, Vintage Bocks, 1968, p. 28.*

६. वही, पृ. २२।

७. वही, पृ.२९. ... *On the contrary, its shadow has obscured history.... it has ceased to live with history.......it attempts through a bureaucratic conservatism, to reduce change to identity.*

८. वही, पृ. ३४।

९. वही पृ. ३३, फुटनोट। *"Consciousness is not the simple lived contradiction which objectively characterizes the class considered, it is that contradiction already surpassed by praxis and there by preserved and denied all at once. But it is precisely this revealing negativity, this distance within immediate proximity which simultaneously constitutes what existentialism calls "consciousess of the object" and "non-thetic self-consciousness",.*

परिच्छेद : तेरह

मुकुन्द लाठ

कला की काल-यात्रा का दार्शनिक विमर्श

13.1 कला चिन्तन का इतिहास और कला : एक विमर्श

मुकुन्द लाठ

मुकुन्द लाठ का अकादमिक व्यक्तित्व अपने आप में बड़ा ही अनोखा है। एक ओर दार्शनिक चिन्तन में उनकी विशेष प्रवृत्ति है तो दूसरी ओर संगीत साधना में उनकी गहरी अभिरुचि। कोलकाता के एक सम्भ्रान्त एवं समृद्ध परिवार में जन्मे (१९३७) मुकुन्द जी की प्रारम्भिक शिक्षा कोलकाता में ही हुई और उन्होंने बी.ए. आनर्स दिल्ली विश्वविद्यालय एवं एम.ए. (संस्कृत) जादवपुर विश्वविद्यालय से किया। तदुपरान्त वे उच्च अध्ययन के लिए बर्लिन गये जहाँ उन्होंने संस्कृत के प्राचीन संगीत-ग्रन्थ "दत्तिलम्" का अनुवाद एवं भाष्यात्मक विवेचन किया। इसी कार्य पर उन्हें दिल्ली विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. की उपाधि प्रदान की गई जो बाद में ए स्टडी ऑफ दत्तिलम्" शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। मुकुन्द जी १९७३ से १९९७ तक राजस्थान विश्वविद्यालय के भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विभाग में पदस्थ रहते हुए अध्यापन कार्य किया एवं भारतीय संगीत, नृत्त, नाट्य, कला और इतिहास सम्बन्धी विषयों पर हिन्दी-अंग्रेजी में लेखन कार्य करते रहे। उनके ऐसे आलेखों का संग्रह "ट्रान्सफॉरमेशन ऐज क्रियेशन" नाम से प्रकाशित हुआ है। प्राकृत भारती अकादमी से उनका सम्बन्ध प्रारम्भ से ही रहा। इस संस्था से जुड़ कर उन्होने तीर्थंकरों की आगमिक जीवन-गाथा "कल्पसूत्र" और १७ वीं सदी के जैन व्यापारी और अध्यात्मीकवि बनारसीदास की आत्मकथा (हाफ ए टेल शीर्षक से) का अंग्रेजी अनुवाद किया। ऐसे ही १९८१ में अपने लम्बे बेल्जियम प्रवास के दौरान उन्होंने निर्गुण कवि नामदेव के पाठ का विस्तृत शोध-परक अनुवाद किया जो कालावार्त के सहलेखन में "दि हिन्दी पदावली ऑफ नामदेव' शीर्षक से प्रकाशित है। संस्कृत मुक्तकों के स्वतन्त्र-स्वायत्त- रूपान्तरण पर आधारित उनकी एक विलक्षण कृति "स्वीकरण" नाम से १९९१ में प्रकाशित हुई है। मुकुन्द जी की एक महत्त्वपूर्ण कृति "संगीत एवं चिन्तन" में उनके दार्शनिक अभिनिवेश को भलीभांति देखा जा सकता है। इसी रचना के लिए उन्हें २००० में शंकर पुरस्कार से सम्मानित किया गया। २००३ में उन्हें नरेश मेहता वाङ्मय पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया है। मानव कर्म के स्वरूप और स्वरूप-निष्ठ समस्याओं पर केन्द्रित "धर्म-संकट" : किं कर्म किमकर्मेति कवयोप्यत्र मोहिता" नाम से अभी हाल में ही उनकी एक मौलिक कृति प्रकाशित हुई है। सम्प्रति मुकुन्द लाठ उन्मीलन पत्रिका के सम्पादक हैं और "धर्म और नीति : विरोध या विरोधाभास" शीर्षक लेखमाला के माध्यम से नियमित अपने चिन्तन को आगे बढ़ा रहे हैं।

*

कला चिन्तन का इतिहास और कला : एक विमर्श

भारत में कला-चिन्तन के इतिहास पर पिछले कुछ समय से काम कर रहा हूँ। कुछ लिखा भी है, ढेर सारे नोट्स बनाये हैं। सोचता भी रहा हूँ। विचार का एक ढाँचा बनाया है-या 'योजना' या 'तन्त्र' कहिये- जिसके घेरे में विषय की सामग्री को संजोकर व्यवस्थित रूप दिया जा सके। पहले मैंने सोचा था कि सामग्री-संचय और उसकी प्रस्तुति के लिए मैंने जो विचार या प्रत्यय व्यवस्था का वलय सा बनाया है, उसी पर यहाँ चर्चा करूँगा। पर मन में प्रश्न उठने लगे और विचार कुछ और और दिशाओं में झाँकने लगा। एक प्रश्न विशेष उठा। यहाँ उस प्रश्न की और विचार ने जो नये कदम उठाये हैं, उसी की बात छेड़ूँगा, ताकि आगे विमर्श और आलोचना में बात को कुछ और आत्मप्रकाश मिले।

१

'कला-चिन्तन का इतिहास' जैसा विषय हो तो एक प्रश्न पहले ही उठता है; यहाँ-विषय की उपस्थापना में ही- एक ऊह निहित है कि भिन्न कलायें मिलकर एक अभिन्न क्षेत्र बनाती हैं। पर ऐसा क्या सचमुच है ? अपने और औरों के अनुभव में थोड़ा भी उतर कर देखें तो जिन्हें हम कला के नाम से पुकारते हैं, उनमें अनुगत धर्म के स्थान पर आपसी भेद ही अधिक मुखर होता दिखता है। कला का ग्रहण संवेदना करती है और कहना न होगा कि अच्छे-अच्छे सहृदयों के लिए भी, ऐसों के लिए भी जिन्हें मर्मज्ञ कहा जा सके, कोई एक कला-विशेष या दो तीन कलायें ही हृदयानुकूल होती हैं। ऐसी संवेदना कम ही दिखती है जो कला मात्र में एक सा प्रवेश रखती हो। कलाकारों को लीजिये तो उनकी संवेदना में तो और ही घनीभूत एकांगीपन देखने में आता है। अपनी कला में कई कलाकारों की संवेदना और प्रतिभा असाधारण होती है, पर दूसरी कलाओं में उनकी रुचि तक नहीं होती, हो तो अकसर बड़ी भदेस ही होती है, जैसे संवेदना उधर बिलकुल अंधी हो। सहज ही प्रश्न उठता है कि कलामात्र में किसी एक ही संवेदना की बात भी की जा सकती है क्या ? और नहीं तो कलामात्र को 'कला' इस एक ही नाम से पुकारने का आधार क्या ?

फिर कलाओं का भेद वैसा नहीं है जैसा कि विचार में क्षेत्र-भेद होता है। विचार के उतने ही भेद हैं, जितने मनुष्य के ज्ञान और बोध के भेद हैं। बड़ा से बड़ा विचारक भी सब विद्याओं और शास्त्रों में दखल नहीं रख सकता। पर विचारक के लिए उनमें प्रवेश का द्वार भी है जो सब पर खुलता है। किसी भी विद्या का शास्त्र हो, या उसकी विचार-व्यवस्था हो, सबमें विचार का स्वभाव एक सा होता है। इसीलिए दर्शन को सब विद्याओं का लोचन कहा जा सकता है। 'कहा जा सकता है' इसीलिए कह रहा हूँ क्योंकि आजकल कई लोग नहीं कहना चाहते। पर आजकल जो कहा जा रहा है, वह त्रिकाल-व्यापी सत्य नहीं है- सर्वदेशव्यापी भी नहीं है; नैयायिक आज भी न्याय को शास्त्र मात्र से जोड़ते ही हैं और दर्शन के जो सम्प्रदाय ऐसा नहीं करना चाहते वे जानबूझकर विचार की सहज व्यापकता से किनारा करना चाहते हैं। विचार का क्षेत्र अनुभव-मात्र-व्यापी है, यह कहने के लिए युक्ति की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। किसी भी वृत्ति से-जैसे संवेदना से-मनुष्य जो ग्रहण करता है, उस पर विचार कर

ही सकता है और विचार होगा तो विचारमात्र में एक अनुगत धर्म भी होगा, नहीं तो पकड़ में ही नहीं आयेगा।

पर विचार की व्याप्ति में जहाँ एक अभेद जैसा कुछ समाया है, वहीं उसकी दृष्टि भेद देखती चलती है। जब हम सब कलाओं को एक ही पेटे में रखने की बात करते हैं, तो ऊपर संवेदना में जिस क्षेत्र-भेद की बात मैंने की, वह उभर कर आड़े आ जाता है। पर विचार का एकत्व बना रहता है। विचार भाषा में होता है। विषय कुछ भी हो, विचार का माध्यम भाषा ही रहती है। वैज्ञानिक कह सकता है कि, नहीं मैं तो जब अपने विषय पर सोचता हूँ और प्रकृति की कोई समझ बनाता हूँ, तो विचार गणित में करता हूँ। प्रश्न उठ सकता है कि गणित भाषा के घेरे में आता है कि उसके बाहर है ? बाहर ही लगता है। गणित में विचार नहीं हो सकता, वैज्ञानिक भी अपनी बात केवल गणित के माध्यम से नहीं कह सकता, भाषा का उसे प्रयोग करना ही पड़ता है, उसी भाषा का जिसमें अन्य विचार होते हैं। गणित पर भी विचार होता है और यह विचार गणित में नहीं होता, साधारण भाषा में ही होता है और भाषा के बिना गणित की पूरी सत्ता बनती भी नहीं दिखती। कहने का तात्पर्य यह है कि विषय कितने ही भिन्न हों, विचार का माध्यम एक ही रहता है : शब्द। विचारमात्र में अगर अनुगत-धर्म है तो उसका एक बड़ा कारण शायद यही है।

पर कलाओं को देखिये। भिन्न कलाओं के माध्यम नितान्त भिन्न होते हैं। भिन्न इन्द्रिय-ग्राह्य होते हैं और कला में इन्द्रिय की पकड़ का महत्त्व भी मूलगत होता है, भाषा की पकड़ में ऐसा नहीं होता। क्या अचंभा जो संवेदना बिचारी भिन्न कलाओं में एक सी डुबकी नहीं लगा सकती-और संवेदना का क्षेत्र ही ऐसा है कि 'जे डूबे ते तिरे'।

जहाँ ग्राह्य विषय में ऐसा नितान्त माध्यम-गत भेद हो और ग्राहक संवेदना में सहृदयता-गत भेद; और यों भेद की दोहरी दीवार खड़ी हो, वहाँ एक ही क्षेत्र की बात करने में संगति क्या ?

उत्तर के कई पहलू हो सकते हैं। अपने अनुभव की-अपनी संवेदना की दुहाई दे सकता हूँ। यह भी कह सकता हूँ कि अनुभव के एक में तो अनेक होता ही है : अनुभव को ही यहाँ, कला में, भेद के रहते भी एक क्षेत्र की एकात्मता का बोध होता है। भिन्न कलायें मिलकर मानो एक ही अवयवी सा बनाती हैं-चेतना में गहरे किसी एक ही वृत्ति को सम्बोधित करती हैं। उस एक क्षेत्र के भीतर ही अनुभव क्षेत्र भेद करता जान पड़ता है। यहाँ चेतना की पकड़ एक बड़ा क्षेत्र-वलय बनाती हुई उसमें क्षेत्र भेद करती दिखती है। यह चेतना या आत्मचेतना की सहज गति है, जो विषयमात्र के साथ कई स्तरों पर ऐसा करती है, कई तरह से करती है-विशेष से सामान्य की दिशा और सामान्य से विशेष की दिशा अनायास लेती चलती है। सामान्य-बोध और विशेष-बोध में निहित भेद और अभेद का परस्पर-भाव जो चेतना की पकड़ में निहित सा जान पड़ता है वही भिन्न कलाओं में अभेद देखता है। सामान्य दृष्टि के व्यापक भेदों में भाव, कर्म और ज्ञान जैसा क्षेत्र भेद उभरता दिखता ही है। कला को-सभी कलाओं को- हम सहज ही भाव से जोड़ते हैं। यों उनमें ऐक्य देखते हैं। आप कह सकते हैं, इसे कला-अभेद के पक्ष में युक्ति कहना ठीक नहीं। इसका आधार केवल अपोह है, कर्म और ज्ञान से व्यावृत्ति है, किसी संग्राहक अनुवृत्ति का प्रदर्शन नहीं। कलाओं का ऐक्य सचमुच आगे खड़ा हो सके इसके लिए कोई और युक्ति चाहिये; किसी विधि-परक अनुगत धर्म का ऐसा प्रदर्शन चाहिये जो उन्हें सचमुच एक में समेटता दिखे। जो अपोह मात्र न हो बल्कि सचमुच सब कलाओं को एक ऊह में पिरो सके, कोरे विचार के नहीं, अनुभव के एक सूत्र में उन्हें पिरो सके। केवल यह कह देना कि सब कलाओं का भाव जगत् से सम्बन्ध है, काफी नहीं लगता। यह तो एक निरी परिशेष की सी बात लगती है : ज्ञान और कर्म से सम्बन्ध नहीं है तो भाव से ही होगा, ऐसी एक शिथिल सी बात लगती है : विचार के अभिनिवेश को टाल देने की बात। प्रश्न वहीं का वहीं रह जाता है : जहाँ भेद इतने गहरे हैं वहाँ किसी एक भाव-जगत् जैसे एक ही

जगत् की बात करना एक प्रथा या परिपाटी से अधिक क्या हो सकता है ? यह भाव-लोक कोई 'एक' लोक नहीं भानुमती के एक ही पिटारे में पड़ी ढेरी जैसा भी लग सकता है। अनुभव अगर वहाँ सचमुच कोई ऐक्य देखता है तो विचार से मांग भी करता है कि उसे उभारने की कोई सार्थक दिशा ले।

ऐसी भी दिशा मैं समझता हूँ ली जा सकती है। कलाओं में भेद-माध्यम का भेद- यहाँ तक कि ग्रहण करती इन्द्रियों का भेद, इसके होते हुए भी इनमें एक और बात भी देखी जा सकती है, जहाँ उनका भेद नहीं, अभेद- या अभेद पर आधारित संवाद-कहना चाहिये, वह प्रत्यक्ष उभरता है। कलाओं में भेद की बात, जैसी मैंने ऊपर उभारी है, सच पूछिये तो वह विचार में और कला-साधना के विशेष प्रयासों में ही अधिक प्रकट होती है। वरना प्रयोग में कलायें साथ ही दिखती ही हैं। गाने में स्वरों के साथ बोलों या शब्दों का संयोग जितना सहज है, वियोग उतना सहज नहीं। मूर्तियों पर चित्रकारी या कम से कम वर्णकारी-और वास्तु के साथ चित्रकारी, ये भी अनायास उपलब्ध होते हैं। फिर नाटक को लीजिये, या फिल्म को! इनमें भिन्न कलायें एक योजना-विशेष और इस योजना के एक नाट्यधर्मी प्रयोजन विशेष के साथ जोड़ी जाती ही हैं। भरत ने इसको बड़े विस्तार से और विचार की पैठ के साथ उभारा है। नाट्य में भिन्न कलाओं की इस एकात्म योजना को 'वृत्ति' का नाम दिया है। 'वृत्ति' की धारणा को हम नाट्य से बाहर निकाल कर व्यापक अर्थ भी दे सकते हैं और अपने आप में स्वतंत्र लगती कलाओं के किसी भी संयोजन को वृत्ति का नाम दे सकते हैं : जैसे स्वर के साथ शब्द का मेल। वृत्ति की उपलब्धि हमारे कला-व्यवहार में हर कहीं देखने को मिलेगी- और संख्या में भी इसके रसिक ही अधिक मिलेंगे। हममें से जो लोग किसी कला विशेष के स्वतंत्र रूपों को 'समझ' के बाहर ठहराते हैं, ऐसे लोग भी गीत, फिल्म, नाट्य, नृत्य, जैसी भिन्न कलाओं के संगम से बनी प्रचलित वृत्तियों में रुचि लेते दिखते हैं, वहाँ 'नहीं समझने' की बात नहीं करते। कला भेद उनके अनुभव के अभेद में सहज विलीन हो जाता है।

अब 'वृत्ति' में एक बात है, जिससे हम यहाँ, इस प्रसंग में, अपनी समझ का एक संकेत ले सकते हैं। वृत्ति 'कला संगम' होती है, भिन्न कलाओं का संगम। जहाँ उन भिन्न कलाओं में एकात्मता उभरती है। नाट्य में इस एकात्मकता के स्वरूप को भरत ने रस की अभिधा दी है। 'रस' में व्यापकता के सूत्र भी हैं तभी इस संज्ञा का बाद में बड़ा अर्थ-विस्तार हुआ; नाटक तक परिमित नहीं रहा। 'रस' कला-मात्र पर व्यापक हो गया।

प्रश्न होगा : जब ऐसा कला-व्यापक एकात्म प्रत्यय सविमर्श उपलब्ध है, तो फिर मेरी तलाश क्या ? इस पर आगे विचार करूँगा। मैंने जो कला-चिन्तन के इतिहास पर विचार के लिए एक प्रत्ययों की रूपरेखा बनाई थी, उसमें रस को ही सर्व-व्यापक स्थान दिया था, पर जैसा आरम्भ में ही मैंने कहा, इस पर प्रश्न जागा। 'रस' से मुझे क्या असंतोष है, इसकी भी चर्चा करूँगा।

यहाँ 'वृत्ति' की ही बात बढ़ाता हूँ और वृत्ति के संदर्भ में 'रस' की बात। भरत के लिए वृत्ति उस विशेष कला-संगम का नाम था, जिससे नाट्य बनता है और नाट्य से जो प्रभाव निष्पन्न होता है, भरत के लिए उस प्रभाव-विशेष का नाम है 'रस'। उस प्रभाव ('आस्वाद,' 'रस') की प्रस्तुति के लिए जो निर्मिति की जाती थी या विभिन्न कलाओं की संरचना का जो प्रयास या कृतित्व किया जाता था, वह भी रस को ही कसौटी बनाता था-जैसे व्यंजन का बनाना और उसका खाना, दोनों ही का निकष 'स्वाद' होता है (उपमान भरत की ही है)। पर जैसा कह आया हूँ वृत्तियाँ दूसरी भी हो सकती हैं-होती ही हैं-और उनके निकष भी दूसरे हो सकते हैं।

दूसरी वृत्तियाँ क्या हैं, उनको क्या नाम दिया जाये और किस आधार पर दिया जाये, इसकी विशेष चर्चा नहीं होती। इस चर्चा की यहाँ आवश्यकता भी नहीं। पर वृत्ति बने तो उसकी एक मांग होती है। भिन्न कलायें वहाँ अपना भेद खो कर किसी एक अलग अवयवी को जन्म दें। यह अपेक्षा किसी

भी वृत्ति के लिए स्वाभाविक है। तभी नाट्य की भिन्न कलाओं से बनी सामग्री के लिए कहा गया है (अभिनव ने कहा है) कि उसे रस में 'निमज्जित निजस्वरम्' होना चाहिये।

एक प्रसंग बाहर प्रश्न यहाँ उठ सकता है, जिसे छेडूँगा, उठाऊँगा नहीं। नाट्य में कला ही नहीं विचार-विमर्श भी हो सकता है, कर्म तो होता ही है-तो फिर हमारी कला क्षेत्र की खोज में क्या फिर एक और अटपटा आलाप नहीं जुड़ जाता ? पर एक बात देखी जा सकती है : विचार या कर्म का निजस्वर नाट्य की वृत्ति में निमज्जित नहीं हो तो वृत्ति बिखरती ही दिखेगी।

जो भी हो, हमारी तलाश में वृत्ति की यह बात एक दृष्टान्त या उपमान जैसी ही हो सकती है-जिसमें विचार का एक अभिप्राय व्यंजित हो-उस बात की सिद्धि या उपपत्ति जैसा कुछ नहीं हो सकता। क्योंकि प्रश्न उठाये जा सकते हैं। मेरे ही मन में उठ रहे हैं : निमज्जन को यहाँ किस अर्थ में लिया जाये ? अगर कला के स्वातन्त्र्य का बोध हो, तो वृत्ति में पूरा निमज्जन तो किसी कला का भी नहीं होता-विचार और कर्म की बात जाने दीजिये। अभिनव ने जहाँ नाट्य में अन्य कलाओं के निमज्जन की बात की है, वहाँ यह भी कहा है कि इसके लिये कला को नाट्यानुकूल बनाना पड़ता है। कोई कला जहाँ स्वप्रतिष्ठ होती है, अपनी स्वतन्त्र निर्मिति करती चलती है, वहाँ वृत्ति जैसे किसी संगम की बात ही नहीं उठती। नृत्त और संगीत के दो स्वतंत्र स्वप्रतिष्ठ रूप ताण्डव और गान्धर्व के साथ की चर्चा करते हुए अभिनव कहते हैं कि इनका साथ जहाँ होता भी है (जैसा प्राचीन नाट्य के पूर्वरंग में) वहाँ वह ऐसा ही होता है जैसे दो स्वतंत्र राजाओं को एक ही शत्रु से लड़ने के लिए साथ हो लेना। वहाँ वृत्ति जैसा कुछ नहीं होता।

यों हम पाते हैं कि कला और अकला के क्षेत्र-भेद का कोई वलय नहीं उभरता। क्योंकि वृत्ति भी एक नहीं अनेक होती हैं और सब वृत्तियों पर व्यापक किसी महावृत्ति की बात में कोई सार्थकता नहीं दिखती। 'वृत्ति' की धारणा एकत्व की एक ध्वनि ही उभार सकती है, उसका आधार-प्रत्यय नहीं बन सकती और ध्वनि भी यहाँ एक क्षेत्र को मानकर, ऊह्य रख कर ही रूप लेती है क्योंकि 'वृत्ति' तो कलाओं के भेद के आधार पर ही अपना अनेकत्व बनाती लगती है।

तो भिन्न कलाओं के अपने एक अभिन्न क्षेत्र का बोध एक सहज प्रतिभात, तर्क, ऊह से परे जागता अनायास, अविचारित बोध ही हो सकता है। विचार उसे मान कर ही चल सकता है, पहचान कर नहीं।

पर पहचानना चाहता भी है। कुछ लोग कहेंगे ऐसे पहचान की जरूरत ही क्या ? जब बात विमर्श के घेरे में स्फुट हो नहीं सकती, तो फिर इस प्रयास की ही कुछ साधना क्यों की जाये ? कलाओं में अभेद का एक विचार-बाहर इंगित ऊह्य रखते हुए हम विचार के भीतर भेद को ही स्फुट करने का प्रयत्न करें तो आपत्ति क्या है ? सार्थक प्रयत्न तो यही दिखता है।

पर विचार-बाहर क्या है, यह भी एक गुत्थी ही है और विचार की ही गुत्थी है। यह ठीक है कि विचार के लिए भेद उभारना ही सहज, प्रकृति-सिद्ध सा प्रतीत होता है। पर अभेद की ओर भी उसकी तत्त्वदृष्टि झुकती ही है। अभेद की धरती न हो तो भेद की बात भी अतर्क्य ही नहीं, अनर्गल होगी-अविच्छिन्न, निरर्थक। 'सम्बन्ध' की, 'संगति' की, धारणा रूप ही नहीं लेगी। विचार जिस मेरू पर है, भेद और अभेद उस एक मेरू के दो छोर लगते हैं। विचार-विशेष के लिए जैसा कला चिन्तन के लिए प्रश्न यह उभरता है कि अपने विषय से सार्थक, अन्तरंग संगति रखते हुए भेद-अभेद का संतुलन कैसे करें ? और यह केवल तर्क या उपपत्ति की बात नहीं होती-हो ही नहीं सकती।

२

पर यहाँ विचार पर विचार नहीं बढ़ाऊँगा, चाहे विचार के लिए यह स्वभाव-सिद्ध सी गति हो। जो विषय उठाया है उसके एक-दूसरे पक्ष को लेते हुए बात को आगे निकालने की चेष्टा करता हूँ। मैंने चर्चा का आरम्भ जिस धारणा को विषय बना कर किया था वह था 'भारत में कला चिन्तन का इतिहास।' यहाँ ऊह्य यही नहीं है कि भिन्न कलायें मिल कर एक अभिन्न क्षेत्र बनाती हैं- यहाँ एक और भी बोध ऊह्य है जिसे ऐसा विषय उठाने के पीछे काम करती प्रेरणा कह लीजिये- या आज के संदर्भ में बुद्धि का एक संस्कार। विचार की जिस परम्परा में हम आज हैं, इसे इस विचार-परम्परा की रूढ़ि भी कह सकते हैं, जहाँ ऐसा विषय एक 'उचित', मनन-योग्य विषय के रूप में उभरता है। इसलिये मैंने इसे उठाया। पर यह भी है कि सोचते हम किसी परम्परा में ही हों पर सोचना परम्परा में ही नहीं, परम्परा पर भी हो सकता है। विचार की यह दूसरी मुद्रा विचार के लिए सरल है, इसे अपनायें तो परम्परा पर विचार के जागते ही प्रश्न होगा: चिन्तन का-चाहे कला-चिन्तन हो, या किसी और विषय पर चिन्तन हो- उसका इतिहास से क्या सम्बन्ध ? चिन्तन के इतिहास की बात उठाई ही क्यों जा रही है ? चिन्तन से इतिहास की संगति क्या ? कला-चिन्तन का इतिहास क्या कला-चिन्तन का किसी रूप में अंग है ? या फिर विषय यहाँ इतिहास है, कला-चिन्तन यहाँ इतिहास का अंग है। इस बात में यहाँ एक उद्देश्य या अभिप्राय उभर सकता है। यह कि भारत में कला-चिन्तन का इतिहास समग्र रूप से सब कलाओं में उपलब्ध चिन्तन- का कोई काल-क्रम में सजा कर रखा गया ब्यौरा उपलब्ध नहीं है और हमारा प्रयत्न इसी कमी को पूरा करने का प्रयत्न है। यह ठीक भी है कि अलंकार-शास्त्र के इतिहास को छोड़कर दूसरी कलाओं के चिन्तन का इतिहास नहीं के बराबर आंका गया है और कला-चिन्तन का ऐसा इतिहास जो सभी कलाओं के चिन्तन को साथ रखते हुए काल-क्रम की दृष्टि से देखें, ऐसा प्रयास तो और भी कम हुआ है।

पर एक चुभती हुई बात पर यहाँ भी ध्यान जा सकता है। बात 'भारत में' कला चिन्तन के इतिहास की हो रही है। भारत में चिन्तन का इतिहास से कोई महत्त्व का सम्बन्ध कभी नहीं आंका गया। कला-चिन्तन में तो बिल्कुल भी नहीं।

आज आंका जाता है। क्योंकि पश्चिम मनुष्य की हर साधना में उस साधना के इतिहास-बोध को अन्तरंग मानने लगा है। 'मनुष्य के स्वरूप में उसका इतिहास शामिल है' यह 'आधुनिक' प्रतिज्ञा है, जिससे 'भारत में कला-चिन्तन का इतिहास' जैसे विषय 'उपपन्न' होते हैं। या 'उपपन्न' शब्द ठीक संगत न लगे तो 'नि:सृत' होते हैं कह सकते हैं-इतिहास के महत्त्व-बोध से निष्पन्न होते हैं। 'उपपन्न होते हैं' कहने में भी मुझे दोष नहीं दिखता, क्योंकि प्रतिज्ञा अगर यह हो कि 'मनुष्य का अपने इतिहास से स्वरूपत: ही अविनाभाव है' तो उपपत्तित: भी इतिहास, कला-चिन्तन का अन्तरंग हो जाता है।

यहाँ बात को कुछ आगे बढ़ाता हूँ। चलिए हम मान भी लें कि कला-चिन्तन का (और यों चिन्तन मात्र का) चिन्तन के इतिहास-बोध से कोई 'भीतर का' सम्बन्ध है-तो भी दोनों का अविनाभाव तो कहीं बनता नहीं दीखता, जैसा कि आधुनिक बोध में समोया हुआ दिखता है। यह ठीक है कि हम काल में कहीं होते हुए, किसी शिक्षा, किसी संस्कार से प्रेरित होकर चिन्तन करते हैं : अर्थात् किसी परम्परा में चिन्तन करते हैं- उससे अनुप्राणित होते ही हैं। पर चिन्तन उससे बंध नहीं रहता है। चिन्तन में इतिहास या परम्परा बोलती भी हो तो भूलना नहीं चाहिये कि विचार में एक निहित स्वातन्त्र्य होता है, जो उसके आत्मबोध में सदा जागता रहता है। विचार इतिहास या परम्परा पर प्रश्न उठाता है, और इन्हीं पर ही नहीं, अपने ऊपर भी प्रश्न उठाता चलता है, जिस दिशा में चल रहा है उससे दूसरी दिशा ले सकता है।

इन्हीं दिशाओं को चिन्तन का इतिहास परखता-आंकता है। यों कह सकते हैं कि चिन्तन के बहुमुखी वैभव का परिचय देता है इतिहास। पर इतिहास का एक और पक्ष भी है-जो विस्तार की जगह संकीर्णता की ओर मुड़ता है। इतिहास जो कुछ भी देखता है उसे एक संदर्भ में कस कर देखता है। संदर्भों की एक श्रृंखला बनाता है जहाँ अगली कड़ी पिछली से निकलती चलती है। पिछली कड़ी से अगली कड़ी के निकलने को कैसे, किस अर्थ में, समझा जाये, यह आज की इतिहास-विद्या के लिए एक प्रश्न है। कोई ऐसा कार्य-कारण-भाव तो हाथ नहीं आता-न उसके हाथ आने की कोई सम्भावना दिखती है- जिससे कि अगली कड़ी को पिछली कड़ी का किसी भी अर्थ में नियत, निर्धारित कार्य कहा जा सके। ऐसा होता तो इतिहासकार भविष्यवाणी कर पाता पर भविष्यवाणी से इन्कार करते हुए भी इतिहास-विद्या के गर्भ में ही एक मनोभाव है, एक प्रवृत्ति है-जिसे 'वैज्ञानिक' कहा जा सकता है। यह प्रवृत्ति स्वभाव से ही कार्य-कारण-भाव की ओर झुकती है। भौतिक विज्ञान की पाटी पढ़ते हुए यह प्रवृत्ति इन्द्रियग्राह्य को ही ज्ञान की आधार सामग्री मानती है : उसकी दृष्टि में इन्द्रिय ही 'वस्तु' का ग्रहण करती है।

विज्ञान की यह 'ठोस'-ग्राही प्रवृत्ति इन्द्रिय-अनुभव के परिचित जगत् से चली थी, पर आज एक विचित्र लोक में जा टिकी है जो साधारण कल्पना के बिल्कुल बाहर है। सिद्धान्त या अभ्युपगम (थ्योरी) के रूप में 'कल्पना'-चेतना का स्वतन्त्र निरिन्द्रिय ऊह (सत्य की ओर बढ़ती युक्ति)-विज्ञान का सदा अभिन्न अंग रही है। थ्योरी के बिना विज्ञान की कल्पना ही नहीं की जा सकती और आज यह थ्योरी इन्द्रिय-बोध के 'ठोस', 'परिचित' जगत् को ही सामग्री बना कर ऐसे ब्रह्माण्ड का प्रपंच बुन रही है जहाँ कल्पना बौखला जाती है। अनुभव के जिस व्यवहार लोक से विज्ञान चला था, उस जगत् से विज्ञान के 'वस्तु'-जगत् का कोई सम्बन्ध ही नहीं बनता दिखता-कोई ठोस, पकड़ में आ सकता कार्य-कारण-सम्बन्ध तो बिल्कुल ही नहीं। अपने इस 'सत्य' का आधार व्यवहार को ही रखता है विज्ञान, दुहाई उसी की देता है। पर उसे अपने मूल तत्त्वों से उपपन्न नहीं कर सकता। अब लगने लगा है कि विज्ञान अगर यन्त्रकौशल का द्वार न हो तो केवल 'सत्य' को जानने के लिए उसके प्रति कितनी श्रद्धा रहेगी, कहना कठिन है। विज्ञान से उभरता यन्त्र कौशल ही विज्ञान को अरबों रूपये मुहैया करवा रहा है, उसका 'सत्य' तो उलटबाँसी जैसी गुत्थियों में उलझता जा रहा है। किसी भी तत्त्व-दर्शन में जैसी गुत्थियाँ हैं, उससे भी अधिक चकरा देने वाली गुत्थियाँ हैं विज्ञान की, क्योंकि पहेली विचार की नहीं, व्यवहार की 'ठोस', 'निर्भ्रान्त' कहलाती 'वस्तु-सत्ता' की है। थ्योरी के रूप में स्वतंत्र विचार-कल्पना का -ऊह का- सहारा लेते हुए भी विज्ञान चेतना के स्वातन्त्र्य का बैरी है। वैज्ञानिक अपने स्वतन्त्र सचेतन अध्यवसाय से ही 'क्या है' इसका निर्णय करता है, पर चेतना को वह अपने जगत् में 'अवस्तु' मानने को बाध्य है कसौटी ही कार्य-कारण-भाव है। प्रश्न रह ही जाता है कि वैज्ञानिक भी कार्य-कारण-बद्ध हो तो कार्य-कारण को परखेगा कैसे ? उसका प्रयोगशाला में या यन्त्र बनाने में उपयोग कैसे करेगा ? ऐसे प्रश्न विज्ञान नहीं उठाता। चेतना को स्वतन्त्र मान लें तो विज्ञान ही नहीं रहेगा।

इतिहास विद्या की प्रेरणा भी 'वैज्ञानिक' है, और जहाँ तक इतिहास-विद्या 'वैज्ञानिक' है, स्वातन्त्र्य से उसको भी बैर है। स्वातन्त्र्य इतिहास-विद्या के विचार-तन्त्र में ठीक बैठता नहीं है हालाँकि विषय मनुष्य है, भौतिक जगत् नहीं। मनुष्य तो सहज ही कार्य-कारण से अनबँधी पहेली की तरह उभरता है, पर इतिहास उसे भौतिक-जगत्-तुल्य कार्य-कारण से विज्ञान की तरह बाँध रखना चाहता है। स्वातन्त्र्य इतिहास में स्थान लेता भी है तो बेगाना सा रहता है। कोई इतिहासकार (जैसे मार्क्स) इतिहास में स्वातन्त्र्य की बात करते भी हैं तो उसको भी एक 'संदर्भ' जैसा कुछ बना देते हैं- उनके लिए संदर्भ-श्रृंखला की अन्तिम कड़ी है स्वातन्त्र्य, जहाँ पहुँचकर इतिहास का भी अन्त हो

जायेगा। कुछ ऐसे भी हैं जो स्वातन्त्र्य को इतिहास के प्रवाह में भी देखते हैं। पर देखते उसे संदर्भ के रूप में ही हैं-मनुष्य के सहज सदा जाग्रत, अंतरंग धर्म के रूप में नहीं। इतिहास के लिए 'संदर्भ' अन्तरंग नहीं, बहिरंग होता है : सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक प्रथायें, संस्थायें, परिस्थितियाँ ये संदर्भ होती हैं। जो इतिहासकार स्वातन्त्र्य को इतिहास में प्रवहमान देखते भी हैं, उनकी दृष्टि भी स्वातन्त्र्य के लक्षण ऐसे संदर्भों से ही परिभाषित करती है। जैसे आज प्रजातन्त्र को 'इतिहास में स्वातन्त्र्य के विकास' के रूप में देखा जा रहा है; विगत सन्दर्भों में इसके 'बीज' भाँपे जा रहे हैं।

विचार का इतिहास आंकने में भी संदर्भ समाज या 'व्यवहार' ही होता है। पर विचार का इतिहासकार ऐसे संदर्भ सें बँधा नहीं रह सकता। इस संदर्भ को और उसके काल-सम्बन्ध को वह छोड़ता नहीं है, क्योंकि छोड़ दे तो इतिहासकार ही नहीं रहेगा। काल की सीधी, क्रम-धर्मी रेखा में पिरोई हुई कड़ियाँ तो इतिहास का ढाँचा ही हैं-या 'साँचा' कहिये। उससे अलग हटकर फिर आज जिसे हम 'इतिहास' कहते हैं, उसकी बात नहीं हो सकती। पर चिन्तन या विचार का इतिहासकार इस संदर्भ की भूमि पर एक दूसरी भूमि- विचार का 'अपना' एक सन्दर्भ-भी रचता है। यह सन्दर्भ विचार के अपने ऊहापोह से, मनन या प्रज्ञा की प्रेरणा से जागे चिन्तन के मोड़ों का होता-है। यहाँ मैं जानबूझ कर चिन्तन के मोड़ कह रहा हूँ, 'शृंखला' नहीं। 'शृंखला' में जो कार्य-कारण-भाव की ध्वनि है, जो कि समाजों की कालयात्रा में स्फुट-अस्फुट कुछ दिखती भी हो, वह यहाँ बिलकुल धुंधली पड़ जाती है। दृष्टि, दृष्टि-भेद, युक्तियों की अपनी स्वतन्त्र यात्रा प्रधान हो जाती है। समाज उतना नहीं उभरता जितना व्यक्ति-विचारक उभरता दिखता है। या विचार के अपने सम्प्रदाय, अपनी स्वतन्त्र धारायें, जो व्यक्तियों को केन्द्र करती हैं।

हम यहाँ कह सकते हैं कि ऐसी बात विचार के विशुद्ध क्षेत्र पर-दर्शन-पर ही पूरी उतरती है, जहाँ चिरन्तन, मूलभूत से प्रश्न विचार का आधार होते हैं : क्या है ? क्या हूँ ? जानूं कैसे ? जानने का आधार क्या ? उसका सत्य क्या ? औचित्य क्या ?......यहाँ लगता है कि विचार की भूमि किसी बृहत् समग्र का वहन करना चाहती है- एक सर्वव्यापक समग्र का जो काल के परे है। पर विचार के दूसरे अधिक घिरे हुए क्षेत्र भी हैं, जहाँ संदर्भ-इतिहास-निष्ठ समाज-संस्कृति (व्यवहार) और उसके काल-क्रम का संदर्भ-विषय-बोध के मर्म के भीतर समाया रहता है।

प्रश्न होगा, कौन से ऐसे विषय हैं ? सहज अटकल कहेगी कि विज्ञान को तो ऐसा विषय होना ही चाहिये। विज्ञान एक विशेष काल में, एक विशेष समाज में ही उभरा-कुछ लोग जोर देकर कहेंगे, वहीं उभर सकता था क्योंकि कार्य-कारण की सम्भावना वहीं थी। जो भी हों, संदर्भ की गरिमा यहाँ प्रकट है। विश्व-इतिहास रचते हुए विज्ञान का ऐसा चित्र आँका भी जाता है, जहाँ 'आधुनिक' विज्ञान के उद्‌भव को एक विशेष समाज के देश-काल-निष्ठ विशेष संदर्भ या संदर्भ-शृंखला से किसी न किसी नियत भाव से जोड़ा जाता है। विश्व-इतिहास का ऐसा चित्र बड़ा लोक-मान्य भी है। पर है कल्पना ही : दूसरे भी उतने ही 'प्रामाणिक' चित्र गढ़े जा सकते हैं। इतिहास में 'यों नहीं यों हो सकता था', हर मोड़ पर दिखता है। बात आस्था के संस्कार की ही है, परीक्षित कार्यकारण बोध की नहीं। फिर यह भी देखिये कि चाहे समाज-संस्कृति के किसी सन्दर्भ विशेष में ही विज्ञान का उद्‌भव और विकास सम्भव हुआ हो, फिर भी विज्ञान का किसी समाज-विशेष से कोई सम्बन्ध नहीं : सम्बन्ध है तो इतना ही कि मनुष्य और मनुष्य की आत्मचेतना के बिना हम विज्ञान की कल्पना नहीं कर सकते और मनुष्य समाज के बिना नहीं होता। पर विज्ञान की अपनी भीतर की गतियों को लीजिये-उसके अन्तरंग विकास की धारा को। वहाँ सामाजिक सन्दर्भ बेमानी हो जाता है। विज्ञान के शास्त्र-चिन्तन का समाज से कोई सम्बन्ध नहीं-न विषय के रूप में, न प्रमाण के रूप में। विषय उसका भूत-जगत् है, जिसके आधार-तत्त्व को वह

सर्वथा परिवर्तन के (किसी भी प्रकार के इतिहास के) परे ही रख कर देखता है, प्रमाण उसके अनुमान (व्याप्ति) और गणित हैं, जिनका किसी संदर्भ से कोई अन्तरंग कार्य-कारण सन्दर्भ विज्ञान से भी अधिक संदेहदिग्ध। यहाँ तक संदेहदिग्ध है कि ऐसा कोई सम्बन्ध सचमुच दिखने लगे तो तर्क और गणित ही संदेह के घेरे में आ जायेंगे।

स्पष्ट ही सन्दर्भ की जिन दो भूमियों की हमने बात की है, उनमें से पहली, समाज और काल सम्बन्ध से बनी भूमि, विज्ञान में गौण हो जाती है। कहने की बात मात्र रह जाती है (ऐसा न होता तो विज्ञान दूसरे समाजों में फैल ही नहीं सकता था)। विज्ञान में ज्ञान की अपनी भूमि प्रधान हो जाती है। समाज ही नहीं काल की गति भी उपाधि से अधिक कुछ नहीं रहती : जिसे हम 'काल' कहते हैं विज्ञान से उसका सम्बन्ध जैसे एक ऊपर का सा, संयोग का सा, होता है 'भीतर का' कुछ नहीं। क्योंकि विज्ञान का देश-बद्ध काल कुछ अलग ही है। विज्ञान के लिए समाज तो क्या मनुष्य के होने की भी आवश्यकता अतिचार जैसी लग सकती है। अचम्भा नहीं कि साइंस-फिक्शन (विज्ञान से प्रभावित किस्से-कहानियाँ) विज्ञान की उपलब्धि को पृथ्वी (और मनुष्य) तक सीमित नहीं रखते, ब्रह्माण्ड में अन्यत्र भी इसकी कल्पना करते हैं -मनुष्य से अधिक 'विकसित' विज्ञान की कल्पना करते हैं।

इस युक्ति को हम मान भी लें, तो भी हमें लग सकता है कि विज्ञान का चाहे समाज-संदर्भ से अलगाव का ही सम्बन्ध हो, पर कला को समाज से विच्छिन्न करके नहीं देखा जा सकता। कला रुचि की बात है। रुचि का सम्बन्ध संस्कार से होता है और संस्कार का मूल समाज-संदर्भ ही में होता है। इस संदर्भ के बदलने के साथ रुचि का संस्कार भी बदलता है। बात बिल्कुल इतिहास की हो जाती है। पर सोचिये। कला बोध को रुचि तक सीमित रखना अनाचार ही हो सकता है। संवेदना रुचि नहीं है। फिर भी हम कह सकते हैं कि रुचि से ऊपर की सीढ़ियाँ चढ़ें तो गति व्यक्ति पर आ कर अटकती है। संवेदना का सम्बन्ध व्यक्ति से होता है। कलाकार भी व्यक्ति होता है और सहृदय भी : दोनों की कला-बोध की साधना भी व्यक्तिगत होती है। संवेदना की निर्वैयक्तिकता को- पुराने शब्दों में उसके 'साधारणी' भाव को-मानते हुए भी उसके व्यक्ति-सम्बन्ध को दूर नहीं किया जा सकता। हम कहें भी कि 'आखिर विज्ञान का भी ऐसा व्यक्ति सम्बन्ध होता है- 'वैज्ञानिक' के बिना विज्ञान क्या ? तो भी संवेदना का व्यक्ति-भाव जिस निबिड़ भाव से व्यक्ति-निष्ठ होता है विज्ञान का वैसा नहीं होता। संवेदना व्यक्ति की जैसी अपनी सम्पत्ति होती है, ज्ञान नहीं होता। और व्यक्ति की कल्पना बिना समाज के नहीं हो सकती। हम संवेदना को रुचिमात्र से और अनात्मचेतन संस्कार मात्र से ही नहीं, व्यक्ति से भी ऊपर उठायें भी तो भी कला की परम्परा से नहीं हटा सकते। संवेदना और तत्प्रसूत कला, परम्पराओं में पलती है। परम्पराओं के साथ बदलती है, और यों बात को इतिहास के घेरे से नहीं निकाला जा सकता।

यों यहाँ सन्दर्भ की पहली भूमि-समाज-संस्कृति-गणित और विज्ञान के समाज-संदर्भ से कहीं अधिक तूल स्वत: पा लेती है। बल्कि, इसी कारण, समाज विशेष के स्वभाव (उसकी 'संस्कृति') को समझने के लिए कला को उसकी एक विशेष पहचान माना जा सकता है। माना गया भी है और इसी के चलते कला के इतिहास की आज इतनी महिमा भी है।

भूलना नहीं चाहिये कि आज हम जिसे इतिहास कहते हैं, उस विद्या का भी एक इतिहास है, एक परम्परा है। कल के इतिहास को इस परम्परा ने ही महिमा दी है, उसे संस्कृति का अभिन्न अंग, और इसी हेतु, संस्कृति की पहचान कहा है। इतिहास की इस आज की परम्परा में कितना ही अनेकान्त या बहुवचन हो, कुछ सूत्र समानधर्मा से हैं।

इतिहास मनुष्य की काल-यात्रा का होता है, मनुष्य को ही समझने के लिए आंका जाता है। इतिहास में मनुष्य को समझने के दो पक्ष हैं : सामान्य और विशेष-मनुष्य-मात्र और समाज या समूह

विशेष। इसी से विश्व-इतिहास और देश, काल, संस्था, संस्कृति, परम्परा व्यूह, समूह......विशेष के इतिहास का भेद उभरता है : इनकी अपनी जिज्ञासायें, उभरती हैं, साथ ही दोनों के सम्बन्धों की ('विश्व' और 'विशेष' इतिहास के सम्बन्धों की) गुत्थियाँ भी उलझती हैं। मनुष्य-मनुष्य सामान्य-और उसके समूह विशेषों के बीच कुछ-कुछ वैसी ही भेद-अभेद की उलझने उभरती हैं, जैसी हम ऊपर कला के क्षेत्र में देख आये हैं। संस्कृतियाँ, सभ्यतायें, सभ्यताओं के भीतर राष्ट्र, जन, जाति, संस्थायें, सम्प्रदाय, परम्परायें, ये भेद की परस्पर व्यावृत्ति से ही समझे-आंके जा सकते हैं। कुछ लोग इस भेद को विच्छेद तक के छोर पर ले जाने के हामी दिखाई देते हैं। संस्कृतियों को स्वयं-वलयित स्वयं-सीमित, कुछ-कुछ स्वयंभू जैसा मानते हैं। पर फिर 'मनुष्य' में ही यह भेद करना होगा : और मनुष्यों के बीच बैठा यह अत्यन्त भेद कुछ-कुछ स्मृति-शास्त्रियों और मीमांसकों के वर्ण-भेद की तरह का एक कोटि-भेद हो जायेगा। यहाँ विचार की दृष्टि से स्पष्ट ही फिर मनुष्यत्व को सामान्य रूप से समझने की समस्या होगी। मनुष्य-मात्र में अभेद देखे बिना संस्कृति-भेद भी सार्थक रूप से बनता नहीं दीखता। धर्मशास्त्री मनुष्य-मात्र के साधारण-धर्मों की चर्चा करते हैं। इतिहासकार सभ्यता और संस्कृति के सामान्य लक्षण विचारते हैं। पर इतिहास के लिए भेद में अभेद की एक जटिल गुत्थी फिर भी रह जाती है। इतिहास की बड़ी से बड़ी इकाई सभ्यता या संस्कृति ही उभरती दिखती है, जिनमें परस्पर-भेद हैं, और जिनकी अलग इतिहास धारायें देखी जा सकती हैं, इनकी अलग धारायें ही नहीं, इनका अलग अन्त या अवसान भी देखा जा सकता है। मनुष्य का सम्पूर्ण मानव-जाति के रूप में कोई इतिहास नहीं ? कोई विश्व-इतिहास ? यहाँ जो सचमुच भेदवादी होंगें, उनके लिए ऐसा इतिहास एक संग्रह ही होगा, जहाँ कुछ सादृश्य सामने आ सकते हैं, कोई इकाई नहीं।

कला-चिन्तन में भी भेदवादी के लिये भिन्न-कलायें ऐसा ही संग्रह बनाती है। पर एक इकाई के रूप में विश्व-इतिहास की भी कल्पना की गई है। इसकी अपनी समस्यायें हैं, पर विचार की यह दिशा भी स्वाभाविक ही है।

पुराणों को लीजिये। पुराणों में 'इतिहास' की दृष्टि विश्व-इतिहास की है। चाहे उसके विस्तार का आधार एक संस्कृति, एक देश-विशेष : भारत वर्ष है (जिसकी कल्पना पुराणों में एक देश और एक संस्कृति दोनों के रूप में हुई है)। पुराणों को आज इतिहास कहते संकोच होता है, क्योंकि उसमें इतिहास के आधुना-स्वीकृत प्रमाण-व्यापार की 'अज्ञ' उपेक्षा ही दिखाई देती है। 'ठोस' साक्ष्य के आधार पर काल और तत्काल-घटित तथ्य का निर्णय, फिर इन घटनाओं का-जिसमें 'तथ्य' और 'बोध' या 'चेतना' दोनों का समवाय होता है- ऐसी घटनाओं का काल-क्रम में निवेश और निदान को इस क्रम के आधार पर एक शृंखला-बद्ध चित्र खड़ा करना। यह इतिहास का प्रमाण- व्यापार है। पुराण में इसका कोई लक्षण नहीं। अनुश्रुति और मिथक का बोलबाला है।

पर एक गहरा साधर्म्य है पुराण और आज के इतिहास में। दोनों की चेष्टा मनुष्य के स्वरूप को काल के आधार पर समझनें और आंकने की है। आज के 'वैज्ञानिक' इतिहास के मूल में एक पूर्वग्रह है जो आज हमारे मानस पर छाया है- 'मनुष्य अपने इतिहास से अभिन्न है'। यह बोध पुराण-सदृश है। साक्ष्यों की नींव पर खड़े किये गये इतिहास पहले भी गढ़े जाते थे (चाहे भारत में कम हो), पर इतिहास की यह महिमा नहीं थी कि यह मनुष्य को ही समझने का प्रमाण है। पुराण भी मनुष्य को काल-क्रम में देखते हुए-एक बहुत ही विराट् कालक्रम में देखते हुए- उसका 'स्वरूप' आँकते हैं। मनुष्य को काल से अभिन्न मानते हैं : युग के बदलने के साथ मनुष्य का स्वभाव बरबस बदलता है।

आज के अपने-को-'वैज्ञानिक'- कहते इतिहास के मूल में भी यही दृष्टि है। हाँ, पुराण से हटकर विज्ञान की तरह वह 'ठोस' प्रमाण ढूँढ़ती है : मनुष्य के साक्ष्य-ग्राह्य व्यवहार में। पर जो मनुष्य को

इतिहास से अभिन्न करती अ-वैज्ञानिक तत्त्व-दृष्टि भी यहाँ काम करती रही है, जिसने इतिहास को आज ऐसी अपूर्व महिमा दी है, यह दृष्टि जहाँ विचार में आत्मचेतन होकर व्यक्त होती है-अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी के कुछ जर्मन चिन्तकों में - वहाँ विज्ञान से अपने को अलग भी करती है। विज्ञान से इन्कार तो नहीं करती, पर मनुष्य को विज्ञान के विषय, प्रकृति, से भिन्न रखती है। यों ज्ञान के दो भेद (या दो पक्षों) की बात करती है : जिसे 'जानने' और 'समझने' का भेद कह सकते हैं। या 'ज्ञान' और 'अन्तर्ज्ञान' का। यह भी कह सकते हैं कि यह भेद 'आयाम' भेद है। विज्ञान की जड़ प्रकृति में एक ही आयाम है जो उसका 'बाहरी' बहि:रूप है।' प्रकृति के 'भीतर' की बात करना वृथा है। उसे हम परिमिति और कार्य-कारण द्वारा जान सकते हैं। उसको 'समझने' का अर्थ ही नहीं बनता। पर मनुष्य में बहि: के साथ एक अन्त: भी उभरता है: उसे हम 'समझ' सकते हैं, क्योंकि हम भी मनुष्य हैं, अपने अन्त: से साक्षात् परिचित हैं। हम प्रकृति में रहते हैं पर अपने अन्त: की प्रेरणा से प्रकृति का रूपान्तर साधते हुए अपनी संस्कृति बनाते हैं। इस बात में सब मनुष्य एक हैं, तभी हमारी समझ यहाँ मनुष्य-व्यापी है।

इतिहास (और उससे संश्लिष्ट समाजशास्त्र) जैसी विद्यायें मनुष्य की संस्कृति को समझने की विद्यायें हैं। प्रमाण का आदर्श इनमें विज्ञान ही है : मनुष्य को उसके 'बाहर' से, उसके बर्ताव, व्यवहार, से समझाना 'भीतर' को भी वहीं 'बाहर' ही देखने की प्रबल प्रवृत्ति है। 'बाहर' से भीतर के कई रास्ते निकाले हैं। जो राजमार्ग सा बन गया है। उसे एक तरह का संग-नि-संग भाव कह सकते हैं- किसी संस्कृति-संदर्भ का पार्टिसिपेन्ट ऑब्जर्वर होना- द्रष्टा और कर्त्ताभोक्ता का मेल। पर सच पूछिये तो यहाँ आब्जर्वेशन ही बड़ी चीज है, पार्टिसिपेशन गौण है : ऊपर-ऊपर का सा है, भीतर का नहीं। प्रश्न भी उठाया जाता है कि क्या संस्कृति जैसे सन्दर्भ में भीतर के पार्टिसिपेशन बिना, संस्कृति में ढले बिना-पार्टिसिपेशन हो भी सकता है ? और भी टेढ़ा और गहरा प्रश्न होगा : पार्टिसिपेशन में कर्तृत्व की क्या भूमिका होती है ? कर्तृत्व के लिए धर्म का (औचित्य का) प्रश्न सहज है। यों औचित्य बोध के साथ कर्म में प्रवृत्त होना भी पार्टिसिपेशन का सहज अंग हो जाता है। पर पार्टिसिपेन्ट ऑबजर्वर दूसरों में ऐसा दखल देने से कतराता है : देखता है और जहाँ तक हो नैष्कर्म्य साधता है। उसे ऑब्जर्वर ही कहना चाहिये, पार्टिसिपेन्ट नहीं कहला सकता। संगी नहीं छाया संगी ही होता है। यहाँ प्रतिप्रश्न भी उठाया जा सकता है : मनुष्य की रहनी में (संस्कृति में) पार्टिसिपेशन और ऑब्जर्वेशन कहीं अलग भी होते हैं ? और रहनी से (संस्कृति से) बाहर मनुष्य ही क्या ? ऑब्जर्वेशन-पार्टिशिपेशन की पद्धति में एक पूर्वग्रह है कि सहज-रूप में मनुष्य ऑब्जर्वर नहीं होता। पर क्या मनुष्य विशुद्ध कर्ता-भोक्ता हो भी सकता है, विशुद्ध संग-भाव में तल्लीन ? मनुष्य की आत्मचेतना उसे द्रष्टा और भोक्ता साथ ही बनाये रखती है। एक ही डाल पर साथ बैठी दो चिड़ियों की उपमा पुरानी है (ऋग्वेद में हैं)। एक चिड़िया खाती है, एक बस देखती है। यह मानव-चेतना की सहज स्थिति है।

कहना न होगा कि पार्टिसिपेन्ट-ऑब्जर्वेशन वाले आत्मचेतना के इस स्वभाव-द्वैत की बात नहीं कर रहे, और ही कुछ कह रहे हैं। मनुष्य के साथ किसी भी पार्टिसिपेशन में विवेक का उचित-अनुचित बोध, मनुष्य-चेतना की कर्म-प्रवृत्ति में (पर्टिसिपेशन में) सहज ही जागता है। पर पार्टिसिपेन्ट ऑब्जर्वर जिन लोगों में रहता है, उनके कर्म को ऑब्जर्व भर करना चाहता है, स्वयं किसी वास्तव कर्म से कतराता है। उसे पार्टिसिपेन्ट कहना एक उपचार भर है। वह आब्जर्वर ही होता है। हाँ, उसके लिए मनुष्य होना आवश्यक है। नहीं तो मनुष्य का ऑब्जर्वेशन नहीं कर पायेगा। यह इस पद्धति के लिये एक विडम्बना है क्योंकि वह 'वैज्ञानिक' भी होना चाहती है, जिसे देखती है उसे सर्वथा 'विषय' के रूप में देखना चाहती है। 'पर' के रूप में। इस पद्धति वाले को हम जासूस कहें तो कह भी सकते हैं : गुप्तचर भी पार्टिसिपेन्ट ऑब्जर्वर ही होता है। चाणक्य-नीति में तो उसे संयासी का वेष-भूषा अपनाने की

हिदायत भी दी गई है। यों दूसरों में रहकर, पार्टिसिपेन्ट होकर भी, विशुद्ध 'नैष्कर्म्य' की वृत्ति रखते हुए वह और अच्छा आब्जर्वर हो सकता है।

सफाई दी जा सकती है कि पार्टिसिपेन्ट-ऑब्जर्वर को अगर गुप्तचर कहा जाये तो भी वह ज्ञान का जासूस है, प्रभुत्व या सत्ता का नहीं। लेकिन इस पर भी संदेह का प्रश्न किया जा सकता है, किया जाता भी है। (लेवी स्ट्राउस जैसे विख्यात समाज-शास्त्री ने तो दो टूक कह भी दिया था कि विजेता ही विजित का ऑब्जर्वेशन-अध्ययन कर सकता है, विजित विजेता का नहीं; इसलिए पश्चिम ही दूसरी संस्कृतियों का, तीसरी दुनिया का, समाजशास्त्रीय ज्ञान साध सकता है।) पर यह प्रश्न मैं यहाँ नहीं उठाना चाहता, इसका प्रसंग नहीं है। यहाँ क्रिटिकल काँशसनेस की बात लीजिये और उससे जुड़े कॉम्पैरेटिव मेथड की। कहते हैं पार्टिसिपेन्ट-ऑब्जर्वर इनका प्रयोग करता है; यही बात उसे दूसरों का 'अध्येता' बनाती है। इसी कारण उसकी जिज्ञासा का फल 'ज्ञान' होता है। पर इस बात में नई बात क्या है ? कौन सा ऐसा प्रमाण-व्यापार है जो ऊहापोह, परीक्षण और सदृश-विसदृश तुलना के बिना होता है ? और क्या यह मनुष्य-मात्र-सुलभ नहीं है ? मगर, हाँ इतना जरूर कहा जा सकता है कि यह मनुष्य-सुलभ व्यापार, विद्या या शास्त्र का रूप लेने के लिए एक विशेष साधना चाहता है, साधना का एक नैरन्तर्य, एक परम्परा चाहता है, जैसी आज इतिहास और समाजशास्त्र की है। पर इसमें भी नई 'अनूठी', बात क्या है ? 'लौकिक' और 'परीक्षक' का भेद पुराना है। परीक्षक के साथ विद्या और शास्त्र का सम्बन्ध भी पुराना है; और फिर मनुष्य को जानने समझने की चेष्टा भी पुरानी है। नया कुछ है तो यह दावा है कि आज के इतिहास और समाज-शास्त्र जैसे 'मानव' शास्त्र, मनुष्य का पहली बार 'वैज्ञानिक' अध्ययन कर रहे, विज्ञान-तुल्य 'ठोस' 'वस्तुनिष्ठ' ज्ञान उपलब्ध कर रहे हैं।

इस दावे को मानने नहीं मानने की बात हम जाने भी दें तो भी एक बात स्पष्ट उभरती है : इतिहास और समाजशास्त्र को जब परीक्षा-बुद्धि के साथ की गई ऑब्जर्वेशन और पार्टिसिपेशन की प्रणाली कहा जाता है, तो पार्टिसिपेशन के अर्थ को उसके सही अर्थ की छाया-मात्र बनाकर कहा जाता है। इतिहास में तो पार्टिसिपेशन सचमुच ही छायामात्र होता है।

इसी बात को ध्यान में रखते हुए विचार के इतिहास का प्रसंग बनाना चाहता हूँ। वहाँ भी संस्कृति-विशेष के काल-संदर्भ-विशेष में विचार को समझने आंकने के लिए पार्टिसिपेन्ट ऑब्जर्वेशन के आदर्श की बात की जाती है। अभी पिछले ही दिनों एक इन्डोलॉजिस्ट घर आये थे, जो भारतीय दर्शन के इतिहास का अध्ययन करते हैं। कुशल, सूक्ष्म, और उदार अध्येता जान पड़े। उनमें पश्चिम का वह पुराना अज्ञ आत्मंभर भाव नहीं था, कि दर्शन पश्चिम की ही सम्पत्ति है। उलटे बोले कि उनकी दर्शन में दीक्षा ही भारतीय दर्शन के माध्यम से हुई है और पश्चिम का दर्शन बाद में पढ़ा और भारतीय के माध्यम से ही उसमें प्रवेश किया। भारतीय दर्शन के लिए उनमें इन्डोलॉजी वाला 'परायापन' नहीं है। इस अर्थ में 'भीतर' के ही पार्टिसिपेन्ट विद्यार्थी हैं, 'बाहर' के ऑब्जर्वर नहीं। फिर भी उन्होंने पार्टिसिपेन्ट ऑब्जर्वेशन की ही बात की। कहा कि वे इसी प्रणाली को अपनाते हैं।

दर्शन के प्रसंग में क्या अर्थ हो सकता है ऐसी उक्ति का ? मुझे तो एक विषम सा तात्पर्य उभरता दिखता है, जो विचार के अभिनिवेश से किनारा करने की दिशा में ले जाता है। 'किनारा करना' इस मुहावरे का यहाँ जान बूझकर निवेश कर रहा हूँ क्योंकि बात विचार करने से तटस्थ रहकर विचार को विषय-मात्र बना देने की दिशा है। किसी संस्कृति में विचार के किसी संदर्भ में क्या सोचा गया था इस परीक्षा तक ही अपने को सीमित रखता है विचार का आब्जर्वर इतिहासकार। उस विचार में 'भागीदार' पार्टिसिपेन्ट नहीं बनता। उसे इतिहास में ही रखना चाहता है, आज का स्पन्द नहीं बनाना चाहता।

अब यह विडम्बना भी देखिये कि अपने अध्ययन के लिए विचार का इतिहासकार जो 'संदर्भ'

बनाता है, वहाँ संदर्भ की वह भूमि ही प्रबल होती है जिसे मैं संदर्भ की दूसरी भूमि कह आया हूँ। विचार के इतिहास के लिए विचार की अपनी दृष्टियाँ, ऊहापोह, खण्डन-मण्डन, उक्ति-प्रत्युक्ति का गति-प्रवाह, काल-विशेष, समाज-विशेष के बंधन से लगभग निर्बंध होता है।

ऐसे संदर्भ के किसी भी 'ऑब्जर्वेशन' के लिए भी विचार का भागीदार (पार्टिसिपेन्ट) होना अनिवार्य है। बिना विचार किये विचार को ऑब्जर्व नहीं किया जा सकता। यह सम्भव ही नहीं है। तो फिर यह ऑब्जर्वर या द्रष्टा की मुद्रा क्या ? यह कौन सी विचार-भंगी है जहाँ विचार को केवल 'देखा' जाता है ? यों तो विचार करने में निहित ही है यह भंगी। विचार का एक पक्ष है, किसी विचार को समझना। इसमें एक तटस्थ मुद्रा होती ही है। पर यहीं रुक जाना, यह क्या विचार का पूरा धर्म निभाना है ? ऑब्जर्वर यहीं रुक जाना चाहता है, जानबूझ कर रुक जाना चाहता है। विचार को विचार के इतिहास तक घेर देना चाहता है। हम कह सकते हैं कि ऐसा पूरी तरह से न किया जा सकता है, न है। इतिहास अगर मनुष्य का ज्ञान कराता है तो उसके विचार का भी ज्ञान कराता है। इससे निष्कर्ष स्वाभाविक है कि विचार का ज्ञान विचार के इतिहास का ही ज्ञान है और यों विचार, करने की नहीं देख लेने की बात बन जाती है। फिर उसे विगत के किसी कोष्ठक में डाल देने की।

दो बातें यहाँ कहूँगा। एक तो यह कि विचार का द्रष्टा अगर विचार करके ही देखता है (किये बिना देख ही नहीं सकता), तो विचार का परिष्कार, परिमार्जन भी देखने के व्यापार में ही अपेक्षित होता है : जो अस्फुट, अस्पष्ट है उसे स्फुट और स्पष्ट करना। नहीं तो बात 'समझ' की उचित, उदार धरती ही नहीं पायेगी। विचार के अच्छे इतिहासकार ऐसा करते ही हैं।

परस्पर-विवाद करते हुए अच्छे प्रतिपक्षी भी ऐसा करते हैं। बल्कि बात को इतिहासकार से आगे भी बढ़ाते हैं। तर्क-रसिक, नव्य-नैयायिकों की परिपाटी थी कि अशक्त पूर्वपक्ष को युक्तियों से समर्थ बनायें, ताकि खण्डन में रस बढ़े और अपने दर्शन में पैठ।

इससे भी आगे बढ़ा जा सकता है। किसी भी विचार में दूसरे विचारों की सम्भावनायें होती हैं। विचारक उन्हें खोलता चल सकता है। दया जी को अकसर ऐसा करते हमने कइयों ने देखा ही है। पर हम यहाँ पहुँच जायें तो बात केवल इतिहासकार की तरह विचार को समझने की नहीं रह जाती, स्वतन्त्र विचार करने की हो जाती है। यह भी साथ उभर आता है कि विचार में समझने से करने तक एक ही सीधी डोर है, विचार की एक ही आत्म-प्रक्रिया है : किसी विचार का स्पष्ट करना- जो कि उसे समझने के लिए आवश्यक-यह काम भी विचार की सम्भावनायें देखे बिना नहीं हो सकता। इसके विपरीत विचार का इतिहासकार विचार की इस सहज प्रक्रिया में लगाम की मांग करता है। विचार की डोर में कहीं गाँठ डाल देना चाहता है कि अब यहाँ से आगे बढ़ कर विशुद्ध विचार के क्षेत्र में नहीं उतरेंगे।

यह हुई पहली बात। दूसरी बात पर आता हूँ, जो पहली से जुड़ी है। हम कह सकते हैं कि चलिए ऊपर की बात ठीक सही पर साथ में यह भी सोचना चाहिये कि इतिहास का भी कोई बंधा-बंधाया सदा-के-लिए सिद्ध मार्ग नहीं है। उसकी भी नई सम्भावनायें हैं जो सामने आती भी रहती हैं- अनिवार्य नहीं कि किसी गतानुगतिक परिपाटी या रूढ़ि का पालन हो। किसी के विचार को समझने तक बँधे रहने की क्या जरूरत, साथ-साथ विचार भी किया जा सकता है। इतिहासकार की भूमिका छोड़े बिना भी ऐसा किया जा सकता है, क्योंकि इसमें विचार के अपने-द्रष्टा-भाव के टूटने की बात अनिवार्य नहीं है।

विचार का आत्म-द्रष्टा भाव तो विचार में ही निहित है। ऑब्जर्वर-पार्टिसिपेन्ट का भेद तो बनाना पड़ता है। इसे अपनी तरह बनाया जा सकता है। पर बनाना जरूरी है, क्योंकि अगर विचार में आत्मसंयम के साथ बनाये गये इस भेद को छोड़ दें तो विचार के इतिहास को झुठलाने की नौबत आयेगी। आज विचार के इतिहास ने एक अपनी जगह बनाई ही है और अगर उसके रास्ते चलना है तो

कोई ऑब्जर्वर-दृष्टि रखनी ही होगी। इसकी भिन्न सम्भावनायें हों, पर विचार और विचार के इतिहास में अभिनिवेश का जो भेद है, वह भेद ही छोड़ दिया जाये तो इतिहास भी छोड़ना पड़ेगा।

३

कुछ ऐसा ऊहापोह मैं अपने उठाये काम को लेकर करता रहा हूँ। सोचा यही था कि कुछ इतिहास, कुछ इतिहास में आये विचार के साथ विचार, यही करता हुआ भारत में कला-चिन्तन का इतिहास आंकने का कोई पहलू निकालूँगा जिसे क़िसी अर्थ में 'इतिहास' कहा जा सके।

यहाँ जो पिछली चर्चा में आ चुका है, नये सिरे से, नई तरह से लाया जा सकता है- यह कि कला-संवेदना स्वभाव से इतिहास-निष्ठ है, उसके रूप इतिहास के संदर्भ में ही बनते हैं इसलिए उसको इतिहास से मुक्त नहीं किया जा सकता। इस कारण कला-चिन्तन भी इतिहास का घनिष्ठ हो जाता है क्योंकि संवेदना ही उस चिन्तन का मूल है। कला-संवेदना का इतिहास से बँधा होने का एक मूल कारण है : कलाकृति। बल्कि बदलती कलाकृतियों का बहुवचन। कलाकृति विचार की तरह, सूक्ष्म, अनिन्द्रिय-गम्य, अवस्तु नहीं होती। बड़ी ठोस चीज होती है। इन्द्रिय-ग्राह्य होना उसका एक व्यावर्त्तक धर्म ही है। इन्द्रिय-ग्राह्य न हो तो कला ही नहीं होगी। कलाकृति की बात कला के साक्षात् अनुभव के बिना सार्थक नहीं हो सकती। फिर मनुष्य-निर्मित वस्तु होना भी कला का व्यावर्त्तक धर्म है : यों जहाँ, जैसे, जिस उद्देश्य से, जिस संदर्भ में बनी, ऐसी बातों का ज्ञान कला की पहचान का अपरोक्ष अंग हो जाता है। दूसरे शब्दों में, उसका मानव-प्रसंग उसके समझने का साधन हो जाता है। साथ ही, अनिवार्यत: परिवर्तन उसके स्वरूप में निहित हो जाता है। कला-कर्म की परिस्थितियाँ काल-क्रम में होती हैं- संस्कृति-विशेष के, परम्परा-विशेष के काल-क्रम में। तो संस्कृति की किसी भी परम्परा की तरह है कला-परम्परा, बल्कि परम्परायें, जिनके अपने उपाय-उपकरण, अपनी क्षमतायें, अपने आदर्श, उद्देश्य होते हैं। इनमें रूपान्तर घटता चलाता है। साधा भी जाता है। मनुष्य के किसी भी कर्म की तरह कला-कर्म को भी कृतियों के एक सुश्रृंखल काल-क्रम में रख कर ही समझा जा सकता है। हमारी दृष्टि क्रम-निष्ठ व्यवस्थित, श्रृंखला, रूपान्तर की परम्परा में देखते हुए ही कला को परख पहचान सकती है। कलाकृति विशेष का बोध भी ऐसे ही काल-सन्दर्भ में बनता है। इससे छिटक कर हम अलग हो जायें तो हमारा कला-बोध अधूरा ही नहीं, विकृत, भ्रान्त भी हो जा सकता है।

दो बाते हैं, यहाँ : कलाकृति की इन्द्रिय-गम्यता और निर्मित होने के नाते उसकी इतिहास-निष्ठता। इससे दो और बातें निकलती हैं। एक तो यह कि संवेदना के लिये कलाकृति का सामने होना आवश्यक है, केवल सामने होना ही नहीं, दूसरी कलाकृतियों के साथ एक व्यवस्थित काल-श्रृंखला में सामने होना आवश्यक है। दूसरी यह है कि कलाकृति अगर इतिहास निष्ठ है-मानव की काल-यात्रा के किसी सन्दर्भ में बसी-रची है- तो सन्दर्भ ही उसकी पहचान नहीं होता, वह भी सन्दर्भ की पहचान हो जाती है।

कला के इतिहास लेखन की परम्परा को देखे तो कला की यह पकड़ कि वह भी सन्दर्भ की पहचान है, यह बात विशेष रूप से उभरती दिखाई देती है। कला के इतिहास को एक विशेष आग्रह और अभिप्राय देती दिखाई देती है। ऊपर कह आया हूँ कि मनुष्य को मनुष्य के इतिहास से अभिन्न देखना यह इतिहास दृष्टि का अपना आत्म-श्रेयत्व बोध है और उसके महत्त्व का बीज। पश्चिम में इस दृष्टि का आरम्भ, एक और जिज्ञासा का अन्तरंग रहा है। अपनी ही पहचान की खोज : अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी में जब मनुष्य को इतिहास से एक करती दृष्टि का उदय हुआ, वह समय योरप की अपनी दिग्विजय, अपने प्रभुत्व के आत्मबोध का भी युग था। उसकी पहली तलाश उसे अपने ही इतिहास की थी : अपने गौरव-बीज की और काल-यात्रा में उस बीज के पनपने की। शेष विश्व का इतिहास योरप के लिये अपनी

ही विशिष्ट प्रतिभा-यात्रा के इतिहास का अनुषंगी था। अपने आपको योरप ने ग्रीस के जागरूक, विकसित उत्तराधिकारी के रूप में देखा। वहीं अपना प्रतिभा-बीज पाया। इसलिए ग्रीस की पहचान की ओर झुका। कर्म, ज्ञान और विवेक की दृष्टि से ग्रीस की प्रवृत्तियाँ, आदर्शों और विचार से योरप ने अपनी यात्रा का आरम्भ देखा और भावना-बोध की दृष्टि से ग्रीस की कला में। कला-साधना की गम्भीरतम प्रेरणा और निदर्श के रूप में ग्रीस का साहित्य, साहित्य-चिन्तन, मूर्ति-कला और वास्तुकला, इनका महत्त्व योरप में पुराना था, ये 'क्लासिकल' कलायें थीं, कला साधना की मातृकायें। अठारहवीं सदी में ये आत्म-प्रत्यभिज्ञा की भी साधन हो गई-एक नई इतिहास-साधना के रास्ते।

जिन कलाओं को योरप ने आत्मावलोकन का दर्पण बनाया उन कलाओं की कृतियाँ आज भी 'उपलब्ध' हैं, 'इन्द्रिय-गम्य' हैं। साहित्य को किस अर्थ में 'इन्द्रिय-गम्य' कहा जाये यह एक उलझन है : शब्द, अर्थ से सदा-सम्पृक्त होता है और अर्थ को इन्द्रिय-गम्य कहना निर्विचार होगा। पर साहित्य की कृति का मूल रूप में 'उपलब्ध' होने और उसके 'साक्षात्' ज्ञान की बात की जा सकती है, जो कि अनुपलब्ध या पाठ-भ्रष्ट कृति के बारे में नहीं की जा सकती।

एक बात यहाँ साफ नहीं है। उसे साफ करता हुआ आगे बढ़ना चाहता हूँ। जिन कलाओं की अभी बात की उनके माध्यम ऐसे हैं कि काल में टिक सकते हैं, 'ठोस' हैं, प्लास्टिक हैं (साहित्य भी लिपि में टिकता है और लिपि का आधार-माध्यम 'ठोस' होता है)। दूसरी कलायें, जो प्रयोग की कलायें कहलाती हैं। संगीत नृत्त, नृत्य, नाट्य (अपने खेले गये रूप में नाटक) ये 'टिकाऊ' नहीं होती। तभी इनको कला के ग्रीस-धर्मी इतिहास में महत्त्व नहीं दिया गया।

मैं समझता हूँ कि यहाँ दो अलग बातों की ओर ध्यान देना जरूरी है जो योरप में कला के इतिहास से जुड़ी हैं और इसीलिए हमारे भी इस विषय के चिन्तन से जुड़ी हैं। एक तो यह कि योरप की 'क्लासिकल कलाओं' में प्रयोग-प्रधान कलायें आ ही नहीं सकतीं। योरप का आत्मबोध जिस जड़े तक-ग्रीस तक-अपने आपको ले जाना चाहता है, योरप के नृत्य संगीत, (और खेले गये रूप में) नाट्य का उससे सम्बन्ध ही नहीं है। विदग्ध, अभिजात (मार्गी) और स्वतन्त्र कला के रूप में नृत्य तो पश्चिम में बहुत नया है। (दो ढाइ सौ साल पुराना होगा)। योरप की 'देशी' (लोक) से उभरा जान पड़ता है : ग्रीस से इसका दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। योरप के मार्गी संगीत में तो ग्रीस से सम्बन्ध का अभाव ही नहीं, उलटे सम्पूर्ण दिशा-भेद के लक्षण उभरते हैं : ग्रीस के संगीत में हमारे मार्गी संगीत की तरह स्वर-संयोजना एक रेखा में आगे बढ़ती थी (लगता है राग जैसा भी कुछ था), जबकि योरप के मार्गी संगीत की स्वर-योजना के मर्म में पोलीफोनी प्रधान है- कई स्वरों, कई धुनों का एक साथ उद्घोष। यह मार्गी संगीत वहाँ के मार्गी नृत्य से पुराना है, हजार साल का इतिहास होगा उसका, पर 'क्लासिकल' का जो प्रधान, गौरवमय अर्थ, 'ग्रीस से सम्बन्ध' है, उस अर्थ में उसको 'क्लासिकल' कहना उपचार मात्र है-उसका ग्रीस से कोई सम्बन्ध नहीं।

योरप की संस्कृति कितना ही 'ग्रीस' 'ग्रीस' जपती हो, अपने को ग्रीस का उत्तराधिकारी कहती हो, पर ग्रीस से उसका विच्छेद ही उसके इतिहास में सिद्ध है। ग्रीक परम्परायें बकायदा नष्ट की गई थीं। (जैसा योरप वाले कहते ही हैं)। सदियों बाद दुबारा सम्बन्ध बिठाने की चेष्टा हुई थी। जिस बात को चार-पाँच सौ साल ही हुए हैं। अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी के जिस इतिहासवादी आत्मबोध की मैंने ऊपर चर्चा की, उस विचारधारा में इतिहास का एक मूल प्रयोजन ही यही दिखाना था कि ग्रीस से अलग हो जाने के बावजूद भी योरप की 'आत्मा' ग्रीक है। कुछ विचारक तो यहाँ तक कहते थे कि 'आधुनिक' योरप की आत्मा ही वास्तव में 'ग्रीक' है, ग्रीस का विशुद्ध, परिमार्जित रूप है, ग्रीस भी इस अर्थ में ग्रीक नहीं था, आधुनिक योरप की सम्भावना भर था।

ग्रीस की अन्तरंग पहचान के लिये अठारहवीं सदी के इतिहासवादियों का एक प्रधान स्तम्भ था विचार और दूसरा ग्रीस की वह कला, जिसकी ठोस 'प्लास्टिक' कलाकृतियाँ उपलब्ध थीं। आधुनिक योरप तक की उनकी विकास की काल-यात्रा योरप के आधुनिक आत्मबोध के लिए एक महत्त्व की बात हो गई, और कला के इतिहास ने जन्म लिया।

हम भी जब अपनी विद्या-साधना में, इतिहास-बोध में, आधुनिक हो कर अपने इतिहास और अपनी पहचान की ओर मुड़े तो कला का इतिहास आत्म-बोध का एक स्तम्भ बना। पर पश्चिम ने अपने प्रयोजन से कला का जो अर्थ रखा था, वही हमने रखा : हमने भी कला के इतिहास के लिए प्लास्टिक कला को ही आधार रखा : और साहित्य को।

'उपलब्धि' की बात को लीजिये। अनुपलब्धि के कारण ही प्रयोग-प्रधान कलाओं का कोई इतिहास जैसा इतिहास नहीं रचा जा सकता। पर कला का इतिहास अगर कला का अभिन्न अंग है तो प्रयोग की कलाओं को भी इतिहास से वंचित कैसे रखा जाये ? संगीत में योरप की कला का मूल ग्रीस तक तो नहीं जाता, पर संगीत उसके आत्म-बोध और आत्मगौरव का एक बड़ा हिस्सा रहा है। वह ग्रीक न हो पर उसमें ग्रीक 'रीजन' और ग्रीक 'हारमनी' (सौषम्य तत्त्व) की ग्रीक की आत्मा है (इतिहासवादी कह सकता है कि ग्रीस के अपने संगीत में भी यह इतनी समर्थ नहीं थी, क्योंकि उसमें भिन्न स्वरों का एक साथ प्रयोग नहीं होता था और यही तो 'हारमानी' का सच्चा लक्ष्य होना चाहिये!)

योरप में आज संगीत के लिए भी उसका इतिहास-बोध आवश्यक है। इसके लिये पुराने संगीत की जस-की-तस उपलब्धि आवश्यक हो जाती है। पर इस उपलब्धि से संगीत का तत्काल-विलुप्त-होता माध्यम ही मानो हमें वंचित रखता है। संगीत (और नृत्त) को यों का यों रखने के लिए एक बड़ी रूढ, हर-अंगप्रत्यंग को अनुवृत्ति में कसती एक बड़ी कष्ट-साध्य परम्परा चाहिये जो कर्मकाण्ड के बाहर अविद्यमान सी होती है। पर पश्चिम में संगीत एक तरह से अनिवार्यतया लिपिबद्ध भी होता है। इसके बिना प्रस्तुत ही नहीं हो सकता; क्योंकि कई भिन्न वादक एक साथ भिन्न स्वर और भिन्न स्वर-संचार की प्रस्तुति करते हैं जो लिखे बिना सबके सामने नहीं रक्खी जा सकती है। ऐसे लिपिबद्ध को भाषा में लिखित पुस्तक की तरह यों या यों रक्खा जा सकता है- पाण्डुलिपियों में, छपी पुस्तकों में। प्रस्तुति में सूक्ष्म परिवर्तन आ सकते हैं (आते ही हैं)-जिनसे बचने के लिए आज कुछ इतिहास-प्रेमियों ने बारीक उपाय भी निकाले हैं- पुराने वाद्यों को यों का यों बनाने की चेष्टा की जाती है, बजाने के पुराने तरीकों के विवरणों की ध्यान में रखकर उन्हें यों का यों निभाने का प्रयास किया जाता है।

कला को उपलब्धि और इतिहास दोनों से युगबद्ध माना जाये तो ऐसा प्रयास उचित ही है। पर भारत के विदग्ध, मार्गी या 'शास्त्रीय' संगीत या नृत्त को लीजिये। यहाँ पुरानी कलाकृतियों की उपलब्धि का प्रश्न ही नहीं उठता। हम कला में पश्चिम की तरह कला के इतिहास को महत्त्व नहीं देते - किसी भी कला में नहीं देते। फिर कई कलाओं में भी पुराने को संजोकर रखते हैं। प्रयोग की कलाओं में ऐसा नहीं करते। संगीत, नृत्त जैसी कलाओं में आलाप (या प्रस्तुति के भीतर ही रूपान्तरण), प्रस्तुति में पिनद्ध होता है। यों कि यों प्रस्तुति का प्रश्न ही नहीं उठता। वह साधी ही नहीं जाती-या किसी और अर्थ में साधी जाती है। राग को 'वही' रखना कृति को 'वही' रखने से बड़ी बात मानी जाती है, और राग का 'वही' 'यों का यों' वही नहीं होता।

हम इस बात के प्रति जागरूक हों तो कला के इतिहास का महत्त्व ही संशय के घेरे में आ जाता है। या उसकी ओर एक नई-दृष्टि की आवश्यकता हो जाती है। फिर यह भी सोचिये कि अगर एक संस्कृति विशेष में (भारत में) कला के इतिहास का कला-बोध में महत्त्व नहीं रहा, उलटे पूरी आत्मचेतना के साथ ऐसी प्रौढ़ कलायें साधी गई जिन्हें अपने इन्द्रिय-गम्य रूप में स्थिर रखने का आदर्श ही नहीं था

तो फिर कला के इतिहास की बात क्या एक संस्कृति विशेष के एक संदर्भ विशेष तक सीमित होने की सी बात नहीं हो जाती है।

प्रतिप्रश्न होगा : तो क्या कला का अपने सन्दर्भ से कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं ? इन्द्रिय गम्य तो उसे होना ही होता है और यह बिना सन्दर्भ के कैसे सम्भव है ? फिर कला की निर्मिति, कला की संवेदना, यह किसी परम्परा में रह कर ही होती है, परम्परा को इतिहास-बाहर कैसे किया जा सकता है?

माना। पर मैं नहीं समझता कि कला के इन्द्रिय-गम्य और संदर्भ या परम्परा-निष्ठ होने की स्वीकृति उसके वैसे इतिहास की स्वीकृति है, जैसे इतिहास को आज मोल दिया जाता है : उपलब्ध कृतियों की काल में खड़ी पंगत के आधार पर आंका गया वृत्त। अगर संवेदना को प्रमाण मान कर हम कला का इन्द्रिय-गम्य होना आवश्यक मानते हैं, तो यह भी देखिये कि संवेदना कला को इन्द्रिय-बोध तक सीमित नहीं रखती, कला की इन्द्रिय-गम्यता बोध के अनिन्द्रिय अन्तरिक्ष का संकेत होती है- और इसमें अचंभा भी क्या ? किसी भी ज्ञान के लिए इन्द्रिय-बोध आवश्यक हो पर एक संकेत ही होता है, चाहे विज्ञान हो या इतिहास या कला। विचार के विशुद्ध आयामों में तर्क, गणित, प्रत्ययों के अपने सम्बन्धों का मनन-ये इन्द्रियों से दूर होते हैं तो इनमें 'ज्ञान' की बात भी लाक्षणिक होने लगती है। पर इनके बिना भी 'ज्ञान' नहीं होता। कोई विद्या, जैसे विज्ञान, जब ज्ञान का एकान्त दावा करती है तो इन्द्रिय-बोध को तर्क के माध्यम से ही एक विशेष को अर्थ में सीमित भी करती है : इन्द्रिय-बोध के एक पक्ष को- गणित-गम्य 'परिमाण' पक्ष को-'सम्यक्' इन्द्रिय-बोध के रूप में पारिभाषित करती है। कहती है कि सत्य से सम्बन्ध बोध के उसी पक्ष का है। शेष कल्पना है।

इतिहास तो इन्द्रिय बोध तक सीमित रह ही नहीं सकता। उसका सबसे बड़ा साक्ष्य है, वाङ्मय। और वाक् के इन्द्रिय-बोध की बात की जाये तो पहेलियाँ ही उभरेंगी और बात भी वाङ्मय में ही होगी। इतिहास का दूसरा बड़ा साक्ष्य-या पूर्वग्रह कहना अधिक उचित होगा- वह है मनुष्य का परिचित व्यवहार-लोक। पर भूलना नहीं चाहिए कि मनुष्य के आज के व्यवहार को नींव में रखते हुए ही हम विगत के मनुष्य की बात करते हैं। वही हमें मनुष्य के रूप में मनुष्य का बोध देता है। मनुष्य क्या है (और इस 'है' में 'क्या होना चाहिये' भी अभिमत है)- इसका बोध, इसकी विभिन्न दृष्टियाँ, यह इतिहास की पहली धरती है जो आज के परिचित व्यवहार पर स्थित है।

फिर यह भी देखिये कि इतिहास प्रधानत: मनुष्य के कर्म का ही इतिहास होता है। हम साक्ष्य की बात तो करते हैं पर कर्म का साक्ष्य कैसा ? इन्द्रिय बोध तक तो उसे किसी भी अर्थ में सीमित नहीं किया जा सकता। इन्द्रिय बोध वहाँ संकेत ही हो सकता। इस संकेत को भी इतिहासकार कोई साक्षात् नहीं करता। उसे कल्पना में ही जगाता है। विगत के अवशेषों और विशेष कर वाङ्मय के आधार पर कर्म के विवरण-वर्णन देखते हुए। स्पष्ट ही अगर इतिहासकार की मनुष्य-सुलभ कर्म-चेतना आज जागृत न हो तो कल के चित्र सम्भव ही नहीं होंगे। अपनी कर्म-चेतना में आज जागते हुए ही इतिहासकार विगत की विभिन्न कर्मधाराओं के क्रमगत परिदृश्य बनाता है। हमने ऊपर जिन समाज-संस्कृति के सन्दर्भों की बात की इतिहासकार के लिए ये मूलत: कर्म के ही सन्दर्भ होते हैं। पर इतिहासकार आज अपने अनुभव का संदर्भ-ज्ञान पालते हुए ही पिछले संदर्भों की टोह ले पाता है, उनके भेदों को परख पाता है। एक विषम प्रश्न भी अपने-आप से पूछिये: आज जबकि सी.एन.एन. जैसों की कृपा से और टी.वी. के माध्यम से कर्म का इन्द्रिय साक्षात्कार भी अधिक से अधिक सम्भव होता जा रहा है, साक्ष्य का यह बढ़ता ढेर क्या इतिहासकार को अधिक-देखती आँख दे देगा ? आज के उलझे हुए सन्दर्भ के सूत्रों को सहेजने में अधिक सहायता देगा ? अगर पुराने साक्ष्य भी यों ही बरसते हुए मिलते तो इतिहास क्या अधिक पैठ का होता, या अधिक 'सच्चा' होता ? हम शायद इतिहास रचते ही नहीं।

अब कला पर आइये, और कला के इतिहास की इस मांग पर कि कलाकृति सामने साक्षात् हो तभी इतिहास बनेगा। इस मांग को परिप्रेक्ष्य में देखिये। हम पिछली युक्ति दोहराते हुए कह सकते हैं, कला संवेदना की वस्तु है, इसलिए उसके साक्षात् के बिना वह 'उपस्थित' नहीं होती- चाहे इस उपस्थिति में अनिन्द्रिय तत्त्व भी क्यों न होते हों। हम यह भी कह सकते हैं कि कला के स्वरूप में ही एक विषम-सा-लगता विचित्र विरोधाभास है : होने को कला कल्पना की वस्तु होती है पर उसका होना बड़ा ठोस होता है, प्रत्यक्ष वस्तुस्वरूप। कला की उपस्थिति बड़ी विशिष्ट होती है। उसके अवयवी का दर्शन उसके अवयवों के अंग-प्रत्यंग के साक्षात् के बिना नहीं होता।

लेकिन सोच कर देखिये : ऐसी बात क्या कर्म में नहीं होती ? दूसरा हमारे साथ जो करता है उसके हम कितने सूक्ष्मदर्शी होते हैं और सचमुच जब कुछ करने सा करते हैं (चाहे नीति हो या धर्म) तो कितनी छोटी-छोटी बातों का ध्यान रखते चलते हैं ? कलाकार ही की तरह कैसे, किस भाव, किस भंगी से कर रहे हैं, इसका कितना तिलमिला ध्यान रखते हैं ? कर्म में ही क्यों, विचार जो सामान्य से अति सामान्य की ओर बढ़ता है, वहाँ भी विशेष का यही समादर दिखाई देता है : किसी विचारक की विचार-प्रक्रिया में उतर कर देखिये। विशेष को ही हम बड़ा करने लगें तो न कर्म का इतिहास बनेगा न विचार का।

फिर भी एक बात कही जा सकती है : युक्तियाँ कुछ भी दी जायें सच यह है कि कला की उपस्थिति कृति को साक्षात् चाहती है। कर्म और विचार में हम परोक्ष रह कर भी विवरणों के माध्यम से इनके स्वरूप का 'उद्धार' कर सकते हैं। कला में ऐसा नहीं कर सकते। पर इतिहास चर्चा में ही जो परोक्ष भाव है, उससे कैसे बचेंगे ? माना कि कला का इतिहास कला की संवेदना को ऊह्य रखता है, पर संवेदना में उसका सम्बन्ध होता परोक्ष का ही है। कला की आलोचना से कला के इतिहास की तुलना कर के देखिये। अच्छी आलोचना सचमुच कृति का साक्षात् चाहती है (उसके साक्षात् में हमें और पैठ दे भी सकती है), पर इतिहास तो कृति से हट कर ही कृतियों पर केन्द्रित होता है : कृतियों के काल-चित्र, युग-चित्र बनाता है, जहाँ कृति तो विचार के नेपथ्य में अपेक्षया रहती है। ऊह्य ही रहती है, सामने नहीं।

सच पूछिये तो कला का इतिहास कला-चिन्तन का ही एक प्रकार है जो अपने आप को कला का अपरोक्ष अन्तरंग बताते हुए अपनी महिमा बढ़ाना चाहता है। उसकी यह स्थापना कि कला का ठीक बोध इतिहास में निष्ठ है, यह एक मत-विशेष ही है- चाहे 'युग-बोध' जैसा कुछ गहरा संस्कार क्यों न हो गया हो। हम देख चुके हैं कि यह मत स्वयं इतिहास-निष्ठ है, संस्कृति के एक संदर्भ, एक अभीप्सा विशेष में प्रतिष्ठित है। यह भी कह आया हूँ कि हमारा विगत-बोध हमारे आज के मनुष्य-बोध में प्रतिष्ठित होता है। इस बोध में एक प्रसार होता है, एक व्यापकता होती है, जिसके बिना विगत का अवलोकन सम्भव नहीं। इसमें एक स्वातन्त्र्य भी होता है, जिसके बिना अवलोकन ही सम्भव नहीं।

यही बात संवेदना के लिए भी कही जा सकती है। हम अपनी आज की संवेदना से ही कला में उतरते हैं। आज की हो या विगत की। संदर्भ का ज्ञान कला के परिचय के लिए उपयोगी हो सकता है पर एक बार कला-कृति संवेदना में जाग उठे तो वह संदर्भ से मुक्त हो जाती है। उसका अपना स्वातन्त्र्य बन जाता है। नहीं तो कृति कला नहीं होगी, संदर्भ का एक और अवयव मात्र होगा। संवेदना के लिए कला व्यंजना की वस्तु होती है, जो सदा आज की बात होती है, विगत की नहीं।

हाँ, व्यंजना का अपना स्वतन्त्र वैविध्य है, विस्तार है, स्तर हैं, चेतना की अन्य वृत्तियों से सम्बन्ध हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि हम किसी परम्परा में ही व्यंजना की सहृदयता सीखते हैं, हमारी संवेदना की दीक्षा होती है, शिक्षा होती है। पर यह बात उसे सन्दर्भ में डाल नहीं देती है, इतिहास की वस्तु नहीं बना देती है। दूसरे सन्दर्भों के प्रति खोल देती है।

विचार की तरह ही संवेदना भी संदर्भ में रहती हुई भी संदर्भ-मुक्त होती है। यहाँ कहना न होगा

कि कला पर विचार या कला-चिन्तन भी इसी कोटि में आता है। उसने क्या रूप लिए, कितना समृद्ध है, नहीं है, यह बात और है। विचार एक परम्परा में होता है, उसी परम्परा में विचारक की शिक्षा-दीक्षा होती है, वहीं से वह प्रश्न संजोता है, युक्तियाँ लेता है, विचार की गतियों के लक्ष्य सीखता है, दृष्टि अपनाता है। पर इसके साथ ही विचार की आत्मचेतना का स्वातन्त्र्य सदा स्पष्ट रहता है। विचारक को परम्परा से विचार की सामग्री का एक सम्भार मिलता है, जिसके बिना उसका विचार समृद्धि-हीन, अनगढ़ सा ही होगा, पर यह परम्परा उसे बांधती नहीं, स्वातन्त्र्य की सामर्थ्य देती है।

इस बात को हम मान भी लें तो भी परम्परा को ही मानने की आवश्यकता उभरती है, इतिहास को मानने की नहीं। इतिहास परम्परा का पर्याय नहीं है। उसका अपना विचार-तन्त्र, परम्पराओं को सन्दर्भ में डालता हुआ, उनकी तुलना करता हुआ, परम्पराओं को काल-क्रम में पिरोता है, परम्पराओं की काल-यात्रा का एक चित्र उभारता है : अकसर इस यात्रा को विकास या ह्रास की ओर उन्मुख देखता हुआ। इतिहास इस यात्रा का यह कोई प्रकट, निर्धारित लक्ष्य न भी बनाये तो भी एक तत्त्व उसके द्रष्टाभाव की जड़ में होता ही है : वह परम्परा के व्यूह से (या व्यूहों से) अपने आप को बाहर ही रखता है। विचार का इतिहासकार किसी भी विचार-परम्परा का सहयात्री नहीं होता, वह अपनी अलग परम्परा साधता है, इतिहासकारों की परम्परा, जो विचार की परम्परा से अलग होती है। विगतोन्मुख होती है, आगतोन्मुख नहीं।

मैं समझता हूँ कि जैसे इतिहास परम्पराओं को आत्मसात् करके उन्हें अपने साँचों में, अपनी दृष्टि में ढालता है, वैसे ही परम्परा भी इतिहास को अपनी सामग्री का अंग बना सकती है। आज का इतिहास विगत का एक बहुत बड़ा पसारा खोलता है। मनुष्य की इतनी परम्परायें, यात्राओं के इतने पंथ, सम्भावनायें, पिछले किसी काल में बिसात की तरह बिछे हुए नहीं थे। कला में तो यह बात बहुत ही सुलक्ष्य है। पुरानी साधना में आज भी कई खुले हुए द्वार दिखते हैं जिनमें हम चाहें तो आज भी आगे बढ़ सकते हैं। काल में इन सम्भावनाओं का अवसान हो गया था : एक तरह का अवरोध, अन्त, सूख जाना या सुप्त हो जाना, जो हमारी सम्भावनाओं का भी होता ही रहता है पर किसी भी समर्थ परम्परा का और परम्परा में पले व्यक्ति का धर्म है सोते को जगाना, सूखे को सींचना। परम्परा ऐसा करती ही रही है : योरप के पुनर्जागरण को लीजिये। ग्रीस की सुप्त परम्परा को ही जगाया था उसने। ग्रीस का इतिहास नहीं रचा था। योरप की तत्कालीन ईसाई इतिहास दृष्टि तो ग्रीस को 'अंधकार युग' में ही रखती थी।

४

अपनी बात पर आता हूँ। बहुत संक्षेप में कहने की कोशिश करूँगा।

ऊपर इतिहास पर इतने आक्षेप करने के बाद भी इन्कार नहीं कर सकता कि इस दृष्टि के प्रभाव से ही 'भारत में कला-चिन्तन का इतिहास' रचने का प्रयास साधा था। योरप की तरह यह इतिहास-दृष्टि हमारी इतनी घनिष्ठ हो चुकी है कि इसका खण्डन भी इसका इन्कार नहीं होता।

कला-मात्र के या कला समग्र के इतिहास की बात आरम्भ में ही कर चुका हूँ। कलाओं में भेद-अभेद का प्रश्न जो प्रारम्भ में उठाया, वह विचार के लिए कितना ही गुत्थिल हो, मेरे प्रयास का आरम्भ वह नहीं था। मैंने काम इसलिए उठाया था कि मुझे लगता रहा है हमने कलाओं में अपने चिन्तन के इतिहास को ठीक से देखा नहीं है। जितना देखा भी है तो साहित्य के क्षेत्र में ही देखा है, वह भी किसी पैने और तल-ग्राही विचार के इतिहास की तरह नहीं। संगीत, नृत्त में तो चिन्तन को किसी भी गहराई से उभारा ही नहीं गया है, जबकि इन पर चिन्तन हमारे यहाँ बहुत पुराना है। संगीत में तो वेदों तक जाता है और आज तक चला आता है। मुझे यह भी लगता रहा है कि साहित्य-भिन्न कलाओं के चिन्तन की उपेक्षा का एक बड़ा कारण है इन कलाओं के इतिहास ही की उपेक्षा। उपेक्षा क्यों ? इसकी चर्चा कर

आया हूँ। इतिहास का एक साध्य अगर आत्मबोध है तो हमें यह उपेक्षा करनी नहीं चाहिये। योरप की तरह हमारे यहाँ नृत्त-संगीत की परम्परा टूटी नहीं है-उलटे प्रतिभाशील रही है। योरप की तरह कला के इतिहास के द्वार बनाकर हम अपनी संस्कृति के उत्स या मर्म तक पहुँचना चाहें तो नृत्त-संगीत का इतिहास इतिकर्त्तव्यता की कोटि में आ जाता है : योरप में विदग्ध नृत्त चाहे अब पनपा हो हमारा नृत्त ढाई हजार साल पुराना है; संगीत की व्यवस्थित, सुविचारित, स्वतन्त्र परम्परा और भी पुरानी है। परम्परा अविच्छिन्न बनी हुई है। मैंने संगीत का इतिहास साधा भी है। यह भी दिखाने के लिए इसमें नयापन, सर्जनशीलता बनी रही है, जिससे कि कुछ 'आधुनिक' विचारक इन्कार करते हैं। संगीत के इतिहास को उभारने की चेष्टा में यह अभिज्ञता भी स्पष्ट उभरती है कि इसमें संगीत की पिछली कलाकृतियों को सामने नहीं रखा जा सकता। शास्त्र के विवरण और संगीत सम्बन्धी चिन्तन को ही आधार बनाया जा सकता है। फिर भी कर्म के इतिहास में जैसे कर्म को सामने रक्खे बिना भी विगत का सार्थक चित्र बनाया जा सकता है वैसा ही यहाँ भी सम्भव है।

मुझे लगता रहा है कि जैसे संस्कृति के किसी संदर्भ को समझने आंकने के लिए मनुष्य के कर्म की कई दिशाओं पर-अर्थनीति, राजनीति, समाजनीति, आदर्श, विचार, कला-व्यापार इन सब पर इनके परस्पर-भाव को देखते हुए ध्यान रखना पड़ता है वैसे ही संगीत, नृत्त और साहित्य, शिल्प किसी एक को समझने के लिए दूसरे में उतरना आवश्यक है। इन कलाओं के आत्म-बोध में (इनके शास्त्र और चिन्तन में) भी यह परस्पर भाव स्पष्ट है। यह आदर्श के रूप में आता है, और फिर इन कलाओं की कृतियों में साक्षात् देखा जा सकता है।

विशेष कर नाट्य का (और इसी से सम्बद्ध अभिनय-प्रधान नृत्य का) आत्मचेतन प्रभाव लगभग हर कला में स्पष्ट है। मैं नहीं समझता कि ऐसा पहले उभर कर आता है। लगता है चीन में था।

भारत में कलाओं के परस्पर-भाव का एक बड़ा कारण है-नाट्य-शास्त्र। जैसाकि आरम्भ में ही कह आया हूँ, नाट्य बनता ही 'वृत्ति' से था, कला-संगम से। पश्चिम में नाट्यशास्त्र जैसा कोई लगभग सर्व कला-व्यापी शास्त्र नहीं है। 'लगभग' इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि शिल्प और चित्र नाट्यशास्त्र की परिधि से बाहर-से हैं।

'आधुनिक' काल के पहले पश्चिम के कला-चिन्तन में अरस्तू का बड़ा प्रभाव था। अगर अठारहवीं सदी के इतिहासवादियों ने ग्रीस का गौरव उकेरते हुए प्रयोग-प्रधान कलाओं की उपेक्षा की तो इसका एक कारण अरस्तु भी हो सकते हैं। अरस्तू ने कला-मात्र के स्वरूप के बारे में एक बात कही थी जो पश्चिम में बद्धमूल रही है। अरस्तु ने कहा है कि कला अनुकरण है। कला मात्र अनुकरण है।

'आधुनिकता' का एक बड़ा दावा है कि इतिहास में पहली बार 'आधुनिक' युग ने कला में एक नई क्रांति को जन्म दिया : चित्र और मूर्तिकला का मुँह अनुकरण की ओर से मोड़कर उन्हें अपने स्वतन्त्र रूप के प्रति सजग कर दिया और अननुकरण धर्मी ऐब्सट्रैक्ट, नॉन फिगरेटिव, कला की नई चेतना को व्यक्त करती सर्वथा नई कला को शरीर दिया। हम भी अपने आधुनिक पुरुषार्थों को पश्चिम से ही जोड़ते हैं। कला में भी। यहाँ तक कि हम अपने आधुनिक काल के इतिहास को पश्चिम के आधुनिक इतिहास के खिल के रूप में देखते हैं। क्योंकि वहीं इसके बीज हैं। इसलिए अपना संगीत और नृत्त हमें आधुनिक नहीं दीखता। पश्चिम में इसके बीज नये आधुनिक कला में अनुकरण-विरोध को एक बड़ा जागरूक और सचेतन युग-परिवर्तन माना जाता है। कला के इतिहास में एक 'अभूतपूर्व' बात।

मैंने पाया कि दावा सच नहीं है। भारत में बहुत ही आत्मचेतन स्तर पर-नाट्यशास्त्र के कला-विमर्श में-बात आज से सवा दो नहीं तो दो हजार साल पहले उभर चुकी है। अभिनव गुप्त ने अनुकरण-विमुख, अपने-ही-स्वतन्त्र-रूप-साधती कलाओं को स्वयं-प्रतिष्ठ की संज्ञा दी।

संगीत और नृत्त इन स्वयंप्रतिष्ठ कलाओं में प्रधान थे। और पते की बात यह भी है कि ये नाट्य से पुरानी कलायें थी। इस मामूली से अर्थ में 'पुरानी' नहीं थीं कि नाच-गाना तो हर संस्कृति में हमेशा ही होता है, भाषा जितना ही पुराना है। इतना ही होता तो कोई विशेष बात नहीं थी। परन्तु सच यह है कि संगीत और नृत्त दोनों, नाट्य के पहले ही विदग्ध मार्गी रूप ले चुके थे। इनके अपने विदग्ध, व्यवस्थित, सर्वांगीण शास्त्र भी बन चुके थे जो अपनी व्यापकता और सूक्ष्म समीक्षा में अब भी पैठ के हैं, आज भी भारत में नृत्त-संगीत के शास्त्रीय आधार हैं। संगीत और नृत्त-मात्र को (कहीं का ही क्यों न हो) शास्त्र की भूमिका देने में समर्थ है।

संगीत और नृत्त आत्मचेतन रूप से नॉन-फिगरेटिव थे। नाट्य इनके बाद की कला है और भरत को यह बोध था। वे जानते थे कि नाट्य का अनुकरण स्वभाव-जो नाट्य का प्राण है, उसी का ये पुरानी कलायें निराकरण करती हैं।

तो भरत की नाट्य-सृष्टि को भी हम क्रांति कह सकते हैं। इस क्रांति का मुँह 'आधुनिकता' की क्रांति से बिल्कुल उलटी तरफ था। स्वयंप्रतिष्ठ से अनुकरण की ओर नॉन-फिगरेटिव से फिगरेटिव की ओर बढ़ने के रास्ते निकाले वैसे ही भरत स्वयंप्रतिष्ठ को अनुकरण-धर्मी बनाने के रास्ते निकालते हैं।

इस सिलसिले में भरत एक मूलभूत प्रश्न खड़ा करते हैं। बड़ा आधुनिक प्रश्न है, चाहे उठाने का तरीका आधुनिक न हो। नृत्त, संगीत के जिन ताण्डव और गान्धर्व रूपों का भरत नाट्य-रूपान्तर साधते हैं। उनका विस्तार से वर्णन भी करते हैं। इनके पुराने शास्त्र उपलब्ध थे, उन्हीं के आधार पर इन कलाओं का वर्णन करते हैं, उन्हीं शास्त्रों के शब्दों में और उसी प्रणाली में। आज हमें ताण्डव नृत्त का जो पुराना शास्त्र उपलब्ध है वह नाट्यशास्त्र में ही उपलब्ध है। स्वतन्त्र शास्त्र लुप्त हो गये हैं। गान्धर्व का एक स्वतन्त्र शास्त्र उपलब्ध है 'दत्तिलम्' (जिस पर मैंने काम किया है)।

भरत बताते नहीं कि ताण्डव और गान्धर्व के स्वतन्त्र शास्त्र भी हैं। उनकी शैली पुराणों की है और स्वकण्ठ से उनका दावा यह है कि सभी कलायें-नृत्त और संगीत भी- नाट्य में समाविष्ट ही नहीं हैं, नाट्य से उत्पन्न हुई हैं। पर भरत के ही कथनों से यह भी स्पष्ट है कि उनका दावा, उनकी पौराणिक भंगी का ही अंग है। पुराने शास्त्रकारों, आचार्यों के नाम वे लेते रहते हैं। पुराणों की तरह नाट्यशास्त्र एक ऋषिमण्डली को सुनाया जाता है, जहाँ भरत शास्त्र के वक्ता हैं, लेखक नहीं। श्रोता ऋषि प्रश्न भी करते चलते हैं जैसा पुराणों में होता है।

नाट्यशास्त्र के चौथे अध्याय में ताण्डव का लक्षण-वर्णन है। एक कहानी के साथ। कहानी यह है कि भरत ने एक नाट्य की रचना की और उसे शिव को दिखाया। शिव को नाट्य अच्छा लगा पर अधूरा भी लगा। शिव ने कहा, मैं संध्या को नृत्त किया करता हूँ उस नृत्त को तुम अपने नाट्य में शामिल कर लो। शिव ने तण्डु को आदेश दिया कि तुम भरत को मेरा नृत्त सिखाओ। अध्याय में आगे फिर तण्डु कथित ताण्डव-लक्षण आता है। लक्षण से प्रकट है कि ताण्डव स्वयंप्रतिष्ठ था, नाट्य की तरह अनुकरण-प्राण नहीं, जैसा कि नाट्य को भरत अपने ग्रंथ के आरम्भ में, पहले अध्याय में, ही बता चुके थे।

यहाँ सुनने वाले ऋषि कुछ मार्मिक प्रश्न करते हैं। ऋषि कहते हैं नृत्त का नाट्य में समावेश हो ही कैसे सकता है क्योंकि नृत्त में अर्थ ही नहीं होता (जैसा कि लोक का अनुकरण होने के कारण नाट्य में होता है)? फिर वे पूछते हैं कि नृत्त का अपना 'अर्थ' (अपना उद्देश्य) क्या है?

पहले प्रश्न का उत्तर भरत का पूरा शास्त्र है, जहाँ वे दिखाते हैं कि नृत्त का स्वतंत्र 'स्वर' कैसे नाट्य में 'निमज्जित' किया जा सकता है। दूसरे के उत्तर में भरत कहते हैं कि नृत्त का कोई नृत्त-बाहर अर्थ नहीं होता जैसा कि नाट्य का होता है। नृत्त 'शोभा' को जन्म देता है। प्रकट है कि 'शोभा' 'रस' से

भिन्न है। यह भी संकेत स्पष्ट है कि यहाँ स्वयं-प्रतिष्ठ कलाओं की अपनी अलग व्यंजन की बात हो रही है, जिसे रस में नहीं समेटा जा सकता।

अभिनव भी अपनी व्याख्या में रस और शोभा के भेद पर यथोचित ध्यान देते हैं। संक्षेप में अभिनव की व्याख्या से उभरता है कि शोभा और रस के बीच जो भेद है उसे तत्त्व-भेद की आख्या दी जा सकती है।

जैसा कि सुविदित है, रस की निष्पत्ति के लिए मनुष्य के किसी व्यवहार-सिद्ध भाव की, जैसे भय, रति, जुगुप्सा, उत्साह.......इनकी कला के माध्यम से ऐसी प्रस्तुति साधी जाती है कि भाव अपनी आठ-पहरी व्यवहार-भूमि से उठकर एक दूसरी स्वतन्त्रतर भूमि पर आ जाये। इसी में नाट्य लोक को आधार बनाते हुए-लोक का अनुकरण कहते हुए-भावों को अपनी स्वतन्त्र योजना से प्रस्तुत करता है। इसी बात को कहने के लिये भरत का यह वाक्य है कि विभाव अनुभाव और संचारी भावों से रस की निष्पत्ति होती है। तात्पर्य यह कि जब नाट्य की अपनी कल्पना और वृत्ति-योजना के माध्यम से मनुष्य के किसी भाव को मंच पर पात्रों, चरितों, उचित घटना-परिवेश (विभाव) और कायिक, वाचिक अभिनय के सुष्ठु कौशल द्वारा जगाया जाता है- व्यवहार के घेरे से निकाल कर निष्पन्न किया जाता है - तो भाव व्यवहार की हलचल से बाहर आ जाता है। उसमें एक भीतर की द्रृष्टि, आत्मचेतना का एक नया आयाम आ जाता है। भाव रहते हुए भी अपना द्रष्टा हो जाता है। सांख्य की पदावली में कहें तो उसका आवेग उद्वेग में पला, रजस्-तमस् स्वभाव सत्त्व में परिणमित हो जाता है। मेरा या किसी और का भाव नहीं रहता, बस भाव हो जाता है- साधारणीकृत और अपने स्वतन्त्र स्पन्द में आस्वाद्य। यही लोक सिद्ध रति का शृंगार हो जाना है, या जुगुप्सा का वीभत्स और उत्साह का वीर 'रस' हो जाना है। नाट्य के माध्यम से लौकिक भाव लोकोत्तर हो जाता है। इस लोकोत्तरत्व में बुद्धि के विकल्पों के सद्रृश ही एक 'प्रत्यङ्मुखता' होती है : चेतना अपनी ओर मुड़ती है जैसे कि विचार में। अन्तर यह है कि रस आस्वाद्य होता है, क्योंकि भावन-प्राण है, वितर्क-प्राण नहीं।

रस को यों देखे तो उभर ही आता है कि किसी भी अनुकरण-धर्मी कला में रस-निष्पत्ति की बात को सार्थक किया जा सकता है। भेद यही होगा कि चित्र, मूर्तिकला, साहित्य आदि में विभाव, अनुभाव, संचारी की प्रस्तुति उन कलाओं की अपनी सामग्री, अपनी सम्भावना के आधार पर होगी।

नृत्त में लोक की उपस्थिति ही नहीं होती। इस कारण विभाव-अनुभाव भी नहीं होते। अभिनव कहते हैं कि नृत्त में शरीर के अंग-विक्षेप-विलास और उसी की योजना-वर्तना के माध्यम से सीधे ही (अनन्तरीयक भाव से) एक चमत्कार का अनुभव निष्पन्न होता है। यही शोभा है।

यों शोभा तत्त्वत: रस से भिन्न है। परवर्ती रस-चिन्तन में अभिनव की बड़ी भूमिका है। पर हम पाते हैं कि उन्होंने कलाओं के भीतर स्वयंप्रतिष्ठ और अनुकरणधर्मी के भेद को परखते हुए भी अपने कला-चिन्तन में रस पर ही जोर दिया। शोभा के स्वतन्त्र, रस-भिन्न तत्त्व की चर्चा को आगे नहीं उभारा। जहाँ तक मैं अवगत हूँ, किसी और चिन्तक ने भी बात को आगे नहीं बढ़ाया है।

आगे के रस-चिन्तन में रस को एक सर्व-कला-व्यापी प्रसार देने की महती चेष्टा है पर उसकी अनुकरण-धर्मिता का निराकरण नहीं किया जाता। रस को भरत के 'विभावानुभावसंचारीसंयोगात् रसनिष्पत्ति:' इस सूत्र से अलग नहीं किया जाता। शोभा पर कोई मनन ही नहीं किया जाता, जिसके भिन्न चमत्कार की बात अभिनव स्वयं कर चुके थे।

५

जैसा कि कह चुका हूँ, मैंने रस प्रत्यय को अपने कला-चिन्तन के इतिहास विचार का एक

सर्वतोग्राही प्रत्यय बनाया था। पर विचार करते हुए संवेदना को समझने का मेरा अपना ऊहापोह ऊपर आ गया। इतिहास और पिछला विचार गौण हो गया।

संवेदना को समझने के लिए रस की धारणा मुझे सक्षम नहीं लगती। एक तो उसमें आस्वाद्यता की बात कुछ अधिक मुखर हो कर आगे आती है। जिसमें 'भोग' की एक स्थूल सी ध्वनि है। हम भोक्तृत्व को रजस् तमस् के स्थूल से हटा कर भोक्तृत्व के सत्वस्थ होने की बात करें तो भी मुझे कमजोर ही लगती है; संवेदना की बात गहराई में भोक्तृत्व की है ही नहीं।

मुझे लगता है कि संवेदना में पैठने के लिए रस से हट कर चमत्कृति की बात की जा सकती है। हमने देखा कि शोभा की मीमांसा करते हुए अभिनव भी रस की नहीं चमत्कृति की बात करते हैं। रस के साथ भी चमत्कृति की बात की जाती है। चमत्कृति को रस और शोभा दोनों पर व्याप्त देखा जा सकता है। पण्डितराज जगन्नाथ काव्य का लक्षण करने बैठते हैं तो रस में अव्याप्ति देखते हैं। ऐसा भी काव्य साधा जाता है जहाँ रस की बात करना उचित नहीं जान पड़ता। जैसे प्रकृति-काव्य। व्यापक प्रत्यय ढूँढते हुए जगन्नाथ भी चमत्कार की बात करते हैं।

एक और भी बात है। संवेदना को कला या कला-बोध तक सीमित रखना भी उचित नहीं। उसका क्षेत्र व्यापक है। जगन्नाथ ने प्रकृति काव्य की बात की, संवेदना का क्षेत्र प्रकृति-काव्य ही नहीं प्रकृति भी है, जिसका बोध कला-बोध को सधर्मी लगता ही है।

मैंने संवेदना में भेद की बात को बढ़ाते हुए बात शुरू की थी। भेद से इन्कार नहीं किया जा सकता। पर एक-क्षेत्र के व्यापकत्व बोध से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। चिन्तन में विचार यहाँ जिसे अभेद की ओर बढ़ रहा है, वह भी विचार की स्वभाव-गति ही लगती है।

जो भी हो, चमत्कृति का एक विवेचन करता हूँ। इस धारणा का एक ऊह आपके सामने रखता हूँ। पकड़ के लिए विचार का बढ़ता हाथ कह सकते हैं। ऊह के साथ अपोह भी आवश्यक है। उसमें यहाँ नहीं जाऊँगा। बहुत संक्षेप में धारणा आपके सामने रक्खूंगा। अपोह तो आप भी करेंगे ही।

चमत्कृति को चेतना का 'उन्मेष' कह सकते हैं। एक प्रकाश का बोध। 'उन्मेष' में आँख के ऊपर की ओर खुलने का भाव है , कुछ नहीं दिखा था, उसके सहसा दिख जाने का। हमारी साधारण आत्मचेतना में एक वलय होता है, जैसे एक बाड़ सी होती है। कुछ लोग तो आत्म-चेतना के कारावास और घुटन की भी बात करते हैं। पर आत्म-चेतना का अपने परे एक क्षितिज भी होता है, जिसका संकेत हमें संवेदना के उन्मेष में मिलता है। इसे स्फोट भी कह सकते हैं, सहसा, सविस्मय उभरने के ही अर्थ में ही नहीं, एक अवयवी-बोध के अर्थ में भी। जिस प्रकाश को उन्मेष कर रहा हूँ, वह ज्ञान के अर्थ ही प्रकाश होता है। ज्ञान की सी जागृति होती है उसमें; उसी का सा अवयवी बोध जागता है इस बोध में। एक अध्यवसाय का भाव भी होता है, कि कुछ है जो सत्य है, सार्थक है। 'मिथ्या' है, भ्रान्त है, यह बोध नहीं होता। पर यह बोध बुद्धिमूलक नहीं होता। बुद्धि की दृष्टि भी अवयवी देखती है, पर अवयवों में बांट-बांट कर देखती है। संवेदना के उन्मेष में अवयवी मानो निरवय ही उद्‌भासित होता है, इसलिए एक भूमा का सा भाव लिए होता है; अपने परे एक विराट को इंगित वहन करता है जो मानो उसी में कहीं निहित है। अचम्भा नहीं कि रस की बात कला में ही नहीं, भक्ति और अध्यात्म में भी की गई है।

रस की ही तरह उन्मेष का स्फुरण कई रूप, कई प्रकार, और प्रकार ही नहीं कई स्तर में उभारता जान पड़ता है। समझने के लिए 'रसना-व्यापार' की धारणा को लिया जा सकता है। अभिनव ने इस व्यापार को संवेदना के साथ जोड़ते हुए इसे कारक-व्यापार से अलग किया है। कारक-व्यापार और प्रमाण-व्यापार दोनों को ही चेतना ही के व्यापारों के रूप में देखते हुए इन्हें रसना-व्यापार से यों भिन्न

देखा जा सकता है। आत्मचेतना को ग्राह्य-ग्राहक के युगल रूप में देखें। प्रमाण-व्यापार में ग्राहक, ग्राह्य को विषय के रूप में जानने के लिए उससे हटता है द्रष्टा, परीक्षक होता है। भिन्न ग्राह्यों के सम्बन्धों को देखता है, उनके कार्यकारण-भावों में पैठता है। कारक-व्यापार को हम इन्हीं कार्य-कारण सम्बन्धों के कर्म में उपयोग की वृत्ति कह सकते हैं। आत्मचेतन ग्राहक भिन्न ग्राह्यों के कार्यकारण सम्बन्धों को काम में लाता है। ग्राहकता की एक भूमि से दूसरी भूमि पर पीछे हटते हुए ग्राहक-चेतना ग्राह्य और ग्राहक के भी परस्पर कार्यकारण भाव को कुछ करने का उपाय बनाती है। जैसे किसी साधना में। इन व्यापारों में ग्राह्य-ग्राहक भाव अविच्छिन्न भाव से साथ रहते हुए भी सही अर्थ में अविनाभावेन युगनद्ध नहीं होता। इनका भेद ही प्रधान रहता है, रसना-व्यापार में यह भेद मिटने की ओर बढ़ता है : शोभा ग्राह्य में होती है, रस ग्राहक में। पर चमत्कृति का उन्मेष दोनों में एक सा होता है। इस उन्मेष में एक तन्मयता होती है। रस में तन्मयता ग्राहक की ओर उन्मुख होती है। शोभा में ग्राह्य की ओर। पर है यह तन्मयता ग्राह्य और ग्राहक के एकात्म होने का ही लक्षण।

तन्मयता को चमत्कृति का एक व्यावर्त्तक लक्षण कह सकते हैं। पर यह मोह नहीं, जागरूक तन्मयता होती है। बात विरोधाभास सी लग सकती है पर चमत्कृति में तन्मयता के साथ एक स्वातन्त्र्य का बोध साथ ही जागता रहता है, क्योंकि चमत्कृति आत्मचेतना का व्यापार है, जो ग्राह्य-ग्राहक भाव से ऊपर भी जागती रहती है।

चमत्कृति को एक गहरे अर्थ में शायद आत्मचेतना का बीज भी कह सकते हैं-चेतना मात्र में जहाँ आत्मचेतना नहीं भी होती, वहाँ भी एक प्रयोजन तो होता ही है। हम कल्पना कर सकते हैं कि आत्मचेतना चेतना में ही कभी एक स्फुरण की तरह जागी और उसने चेतना को अपने को देखने की आँख दी, ग्राह्य-ग्राहक का भेद जगाया। आत्मचेतना के साथ चेतना में प्रश्न का भी उन्मेष होता है, धर्म-बोध का भी। यह चेतना मात्र की प्रयोजनमयता में संभव नहीं।

सृजन का बीज है चमत्कृति। क्योंकि यह गतानुगतिकता से, रूढ़ि की जड़ता से, निकालती है। ज्ञान और कर्म में भी इसका उन्मेष, इसकी प्रतिभा, होती है। प्रश्न होगा कि अगर उन्मेष को हम इतना व्यापक रूप दे दें तो उसे व्यावत्तित, अवच्छिन्न कैसे करेंगे ? कर्म और ज्ञान से अलग कैसे करेगें ? फिर कला के साथ उसका सम्बन्ध क्या है ? हम मान भी लें कि ज्ञान, कर्म, विचार इनमें भी उन्मेष की चमत्कृति कौंधती है तो फिर हमारी प्रवृत्ति मात्र क्या कला के क्षेत्र में नहीं आ जायेगी ?

एक अर्थ में ज्ञान और कर्म में भी चमत्कृति की बात ठीक ही है और इसका बोध भी हमें होता है-हम ज्ञान और कर्म के क्षेत्रों में भी 'शैली' की बात करते हैं। प्रकाश के स्फुरण की बात करते हैं-ऐसा उन्मेष जो बँधे-बँधाये नियमों और रुढ़ियों से हमें मुक्त करता है।

कला का अपना विशेष गुण-धर्म ढूँढे तो कह सकते हैं कि कला चमत्कृति के स्वरूप को, उसके अखण्ड से अवयवीभाव को ही व्यंजित करने को दिशा देती है। साकार करना चाहती है। उन्मेष की तन्मयता और स्वातन्त्र्य रखते हुए। कला स्वाच्छन्द्य साधती है। अपने माध्यम की गतानुगतिक अर्थक्रिया को चेतना की प्रयोजनमात्रता से निकाल कर उन्मेष की गति और दीप्ति देती है। व्यंजना का आकाश देती है।

***

परिच्छेद : चौदह

अम्बिकादत्त शर्मा

अधिप्रामाण्य विश्लेषण

14.1 प्रमेयाश्रित प्रमाण द्वैविध्य

14.2 प्रमाण- सम्प्लव एवं प्रमाण-व्यवस्था

14.3 प्रमाणान्तर्भाव प्रकरण विमर्श

14.4 ज्ञान की स्वयंप्रकाशता

अम्बिकादत्त शर्मा

बलवदऽपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेत:, अपनी दार्शनिक जिज्ञासा को समुन्नत बनाने में सतत प्रयत्नशील डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा का जन्म वर्तमान झारखण्ड प्रदेश के चतरा अंचलान्तर्गत १९६० में हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा नितान्त घरेलु परिवेश में और बी.ए. (१९८१) तक की शिक्षा राँची विश्वविद्यालय से अत्यन्त साधारण रूप में सम्पन्न हुई। यह उनका प्रारब्ध ही था कि १९८२ में इनका प्रवेश महामना के पावन परिसर-काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हुआ। जहाँ से ये कठिन परिश्रम पूर्वक दर्शनशास्त्र में एम.ए. (१९८५); पी-एच.डी. (१९८८) की उपाधि प्राप्त करने में सफल रहे। बौद्धदर्शन में स्वलक्षण की अवधारणा पर अपना शोध कार्य करते हुए डॉ. शर्मा को प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय की उन्नायक स्नेह छाया में प्रो. (पद्मभूषण) टी.आर.वी. मूर्ति द्वारा संस्थापित काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की वर्द्धमान दर्शन परम्परा से परिचित होने का सुयोग प्राप्त हुआ। इसी परिचय के कारण वे परम्परा के प्रति निष्ठावान एवं दार्शनिक ज्ञान के प्रति मोहग्रस्त हुए। अपनी दार्शनिक पृच्छा का रिक्त पात्र लेकर-तेन मोहेन मुग्धत्वात्- वे १९८६ में काश्यस्थ शास्त्रमूर्ति स्वामी योगीन्द्रानन्द जी से मिले और यह इनका सौभाग्य ही था कि स्वामी जी ने उन्हें अपना अन्तेवासी स्वीकार कर लिया जबकि डॉ. शर्मा संस्कृत परम्परा से अधीत विद्यार्थी नहीं थे। स्वामी जी के साथ बौद्ध न्याय के मूल ग्रन्थों का अध्ययन करते हुए उन्होंने भारतीय दर्शन की शास्त्रीय परम्परा एवं भारत में विभिन्न दार्शनिक प्रस्थानों के यौक्तिक विकास को आत्मसात् किया। स्वामी जी का सान्निध्य उनमें एक ऐसी भाव-भूमि तैयार कर गया जो आजीवन अभिव्यक्ति पाता रहेगा। डॉ. शर्मा ने सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से बौद्धदर्शनाचार्य (१९९३) की भी उपाधि प्राप्त की और आई.सी.पी.आर. जेनरल फैलो (१९९०-९३) तथा यू.जी.सी. रिसर्च ऐशोसियेट (१९९३-९६) के रूप में लम्बे समय तक दर्शन एवं धर्म विभाग-काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रहते हुए अपने शोधोत्तर अध्ययन क्रम को जारी रखे रहे। लेक्चर (१९९३) के रूप में उनकी पहली नियुक्ति विनोबाभावे विश्वविद्यालय-हजारीबाग में हुई जहाँ उन्होंने दो वर्ष तक अध्यापन कार्य किया (चतरा महाविद्यालय, चतरा)। तदुपरान्त वे १९९८ में सागर विश्वविद्यालय में रीड़र पद पर नियुक्त हुए। सम्प्रति डॉ. शर्मा सागर विश्वविद्यालय से ही अपने अध्ययन एवं अध्यापन को संचालित करते हुए, सचिव-अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, कार्यकारी सम्पादक-"दार्शनिक त्रैमासिक" और प्रबन्ध-सम्पादक-"उन्मीलन" के रूप में दर्शन के संस्थागत दायित्वों का भी सफलतापूर्वक निर्वहन कर रहे हैं। इनकी गहरी अभिरुचि भारतीय प्रमाण शास्त्र, विशेषकर बौद्धप्रमाण शास्त्र में हैं। इस क्षेत्र में अधिप्रमाणशास्त्रीय दृष्टि से किये गये अध्ययनों को वे विभिन्न पत्रिकाओं के माध्यम से अनेकों शोधपरक निबन्धों के द्वारा प्रस्तुत करते रहे हैं। डॉ. शर्मा के ऐसे ही कुछ कार्यों का संग्रह समवेत रूप में "बौद्ध प्रमाण दर्शन" शीर्षक से प्रकाशनाधीन है। अपने अवान्तर अध्ययनों को भी अभिनव दृष्टि से प्रस्तुत करने के लिए वे कुछ एक ग्रन्थों के सम्पादन में जुटे हैं। वर्तमान पीढ़ी के अध्येताओं में डॉ. शर्मा की पहिचान एक परिश्रमी अध्येता एवं मुखर वक्ता के रूप की जाती है। परम्परा के प्रति स्वारूढ़ विकास की संरक्षणवादी दृष्टि एवं देश के लब्धप्रतिष्ठित विद्वानों से गतिशील सारस्वत सम्बन्ध इनके अकादमिक जीवन का निर्मायक पक्ष रहा है।

प्रमेयाश्रित प्रमाण द्वैविध्य

I

प्रमाण-प्रमेय की पृथक्कृत एवं भेदपूर्ण स्थिति पर ही कोई प्रमाण-मीमांसा अवलम्बित होती हैं। प्रमाणों को भाव-साधन और प्रमेयों को साध्यर्थ मानकर ही दोनों की पृथक्ता एवं भेदरूपता को बनाये रखा जाता है। नागार्जुन के द्वारा वैदल्यसूत्र और विग्रहव्यावर्त्तनी में प्रमाण-प्रमेय सम्बन्ध की जैसी परीक्षा की गई है वह दोनों की मूलभूत पृथक्ता एवं भेदरूपता को ही समाप्त कर देती है। नागार्जुन के अनुसार वस्तुत: प्रमाण से प्रमेय और प्रमेय से प्रमाण की सिद्धि होती है। फलत: दोनों की सापेक्षता की अवान्तर निष्पत्ति इस बात में होती है कि प्रमाण प्रमेय का प्रमेय और प्रमेय प्रमाण का प्रमाण हो जाता है।[1] इस तरह प्रमाण और प्रमेय के परस्पर परिवर्तनीय होने से दोनों की पृथक्ता एवं भेदरूपता पर अवलम्बित प्रमाण-मीमांसा का ढाँचा ही क्षतिग्रस्त हो जाता है। तब एक-पर-एक दोषों की शृंखला का आरम्भ हो जाना स्वाभाविक ही है। नागार्जुन की परीक्षा में यह सब कुछ सुतरां देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए जब हम प्रमाणों की सिद्धि का प्रश्न उठाते हैं और उसके लिए प्रमाणान्तर की कल्पना करते हैं तो पूरी प्रक्रिया मूलोच्छेदक अनवस्था से ग्रस्त हो जाती है। यहाँ विचारणीय है कि प्रमाणसिद्धि का प्रश्न उठाया जाना ही किस प्रकार सम्भव है? साधारणतया सिद्धि का प्रश्न साधन से नहीं बल्कि साध्यर्थ से सम्बन्धित होता है। ध्यातत्व है कि भावसाधन की भूमिका वाले प्रमाणों की सिद्धि का प्रश्न तब तक नहीं उठाया जा सकता जब तक कि उन्हें प्रमेय के रूप में प्रतिस्थानापन्न न कर दिया जाये। अर्थात् प्रमाण को प्रमेय के रूप में प्रतिस्थानापन्न कर ही उसकी सिद्धि का प्रश्न उठाया जा सकता है। यह प्रमाणसिद्धि के प्रश्न को उठाने की पूर्वापेक्षा है। इस प्रकार प्रमाण-प्रमेय की आनुषंगिक रूप से परस्पर परिवर्तनीयता को दिखाते हुए ही नागार्जुन अपनी परीक्षा को आगे बढ़ाते हैं और एतद्विषयक कई एक विकल्पों को उद्भावित करते हुए उन्हें दोषयुक्त बताते हैं।

अब यहाँ विचारणीय है कि यदि नागार्जुन के आक्षेप प्रमाण-प्रमेय की संरचना के प्रति मौलिक और आधारभूत हैं तो इसका कैसा प्रभाव दिङ्नाग-धर्मकीर्ति आदि बौद्ध नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित प्रमाण-मीमांसा पर पड़ा है? क्या दिङ्नाग-धर्मकीर्ति के प्रमाणमीमांसीय चिंतन पर नागार्जुन के आक्षेप यथावत् लागू होते हैं अथवा उनके चिंतन को इन आक्षेपों से कथंचित् मुक्त कहा जा सकता है? यदि बौद्ध नैयायिकों ने साँख्य, न्याय-वैशेषिक एवं पूर्वमीमांसा इत्यादि दर्शनों के प्रमाण-विचार को स्पष्टतया पूर्वपक्ष बनाया है तो उन्हें नागार्जुनकृत प्रमाण-प्रमेय परीक्षा के प्रति भी अत्यधिक सचेष्ट रहना चाहिए था। यदि उन्होंने ऐसा नहीं किया तो यही समझा जायेगा कि नागार्जुन जिस प्रकार परयूथ्य के दार्शनिकों द्वारा तिरस्कृत हुए हैं उसी प्रकार स्वयूथ्य के दार्शनिकों द्वारा भी उनकी उपेक्षा हुई है।

इस ऐतिहासिक और दार्शनिक महत्त्व के प्रश्न पर विचार करते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि दिङ्नाग-धर्मकीर्ति अपने प्रमाणमीमांसीय चिंतन की रूपरेखा बनाते हुए नागार्जुन के आक्षेपों के प्रति सतर्क रहे हैं और साथ-ही-साथ उससे बचने का हर सम्भव प्रयास कई स्तरों पर किया है। उनके

प्रमाणमीमांसीय चिंतन का निहितार्थ केवल बौद्धसम्मत प्रमाण-शास्त्र का विकास करना ही नहीं था बल्कि ब्राह्मण दर्शनों की प्रमाणमीमांसीय स्थापनाओं का खण्डन करते हुए एक ऐसी संशोधनात्मक प्रमाण-मीमांसा का ढाँचा तैयार करना भी था जो नागार्जुन के संदेहवादी प्रकार के आक्षेपों से भी यथासम्भव मुक्त हो। अवधेय है कि नागार्जुनकृत प्रमाण-प्रमेय परीक्षा का ऐतिहासिक पूर्वपक्ष नैयायिकों की प्रमाण-मीमांसा रही है जिसकी मूलभूत मान्यता 'प्रमाणाधीना सर्वेषां व्यवस्थितः' है।[३] नागार्जुन ने इसका खण्डन चारों तरफ से घेरकर किया है। नैयायिकों के 'मानाधीना मेयसिद्धिः' की परीक्षा करते हुए जहाँ प्रतिविकल्प के रूप में प्रमेय से प्रमाणसिद्धि का प्रश्न उठाया गया है वहाँ भी इस विकल्प की दोषयुक्तता इस रूप में प्रदर्शित की गई है कि लोकबुद्धि में साधन (प्रमाण) से साध्य (प्रमेय) की सिद्धि मान्य है, साध्य से साधन की नहीं। अर्थात् 'मेयाधीना मानसिद्धिः' का निराकरण[३] वास्तव में "मानाधीना मेयसिद्धिः" का खण्डन करने के लिए किया गया है, स्वतन्त्र रूप से नहीं। इसलिए बौद्ध नैयायिक "मेयाधीना मानसिद्धिः" को ही मूलभूत मान्यता बनाकर अपनी प्रमाण-मीमांसा को खड़ा करने का प्रयास करते हैं। नागार्जुन के चक्रव्यूह से निकलने का सर्वाधिक सुरक्षित मार्ग भी यही हो सकता था। 'मेयाधीना मानसिद्धिः' की दृष्टि पर अवलम्बित प्रमाण-मीमांसा में प्रमाण-सिद्धि का प्रश्न उतना महत्त्वपूर्ण और मूलभूत नहीं होता जितना कि प्रमाण निरपेक्ष प्रमेयों के अस्तित्त्व का प्रश्न आधारभूत होता है। ध्यातव्य है कि प्रमाण-सिद्धि का प्रश्न और अनवस्था में उसकी परिणति ही 'मानाधीना मेयसिद्धिः' पर अवलम्बित प्रमाण-मीमांसा को ध्वस्त कर देती है। नैयायिक इससे बचने के लिए प्रमाण-प्रमेय भेद को 'माप्य-मापक' रूप से बनाये रखने का प्रस्ताव करते हैं और अनवस्था से बचने लिए मूलोच्छेदक एवं व्यवहारोच्छेदक अनवस्था में भेद करते हुए अपने पक्ष की ऐसी व्याख्या करते हैं कि प्रमाण-सिद्धि का प्रश्न मूलोच्छेदक अनवस्था के प्रसंग को उपस्थापित तो करता है लेकिन यह व्यवहारोच्छेदक नहीं होता। बौद्ध नैयायिक प्रमाण-सिद्धि के प्रश्न में न उलझते हुए प्रमाण-निरपेक्ष प्रमेयों के अस्तित्त्व-व्यवस्थापन का प्रयास करते हैं। यह उनकी प्रमाण-मीमांसा का केन्द्रीय प्रश्न है, जिसका समाधान वे 'व्यावर्त्तक द्वैराश्यभेद' की प्राक्कल्पना के आधार पर करते हैं। प्रसंगतः इसका विवेचन हम आगामी पृष्ठों में करेंगे। इसके बावजूद यदि कोई प्रमाण-सिद्धि का प्रश्न उठाये तो इनके मत में प्रमाणान्तर की आवर्तीय अपेक्षा के चलते दुर्निवार अनवस्था की उपपत्ति नहीं होती, क्योंकि बौद्ध न्याय में चित्त की प्रत्येक अवस्था का आत्मसंवेदन से युक्त होना सर्वथा स्वीकृत है।[५]

इस प्रकार नैयायिकों की सर्वतन्त्र स्वतन्त्र मानी जाने वाली 'मानाधीना मेयसिद्धिः' की अवधारणा और नागार्जुन द्वारा उसकी प्रसज्य-प्रतिषेधवादी समीक्षा से निकला हुआ बौद्ध नैयायिकों का प्रमाणमीमांसीय चिंतन एक नवीन प्रस्थान है। इसे हम 'तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाण-मीमांसा' का प्रस्थान कह सकते हैं। इसके चलते प्रमाणों के स्वरूप, संख्या, विषय एवं विनियोग सम्बन्धी प्रश्नों एवं निष्कर्षों में भारी फेरबदल हुआ है। इस प्रस्थान ने अपनी संशोधनात्मक (नैयायिकों के सन्दर्भ में) एवं पुनर्रचनात्मक (नागार्जुन के सन्दर्भ में) प्रकृति में पूरे भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिंतन को आन्दोलित किया है। इसका सम्पूर्ण श्रेय दिङ्नाग को जाता है।

II

आचार्य दिङ्नाग अपने प्रमाण-समुच्चय में 'तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाण-मीमांसा' को प्रस्तावित करते हुए कहते हैं कि सिद्ध प्रमेय की अपेक्षा से प्रमाणों के दो ही प्रकार हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त अन्य किसी को स्वतन्त्र प्रमाण का दर्जा प्रदान नहीं किया जा सकता।[६] प्रत्यक्ष और अनुमानजन्य ज्ञान अर्थ से अव्यभिचरित होने के कारण क्रमशः अज्ञातार्थ-प्रकाशक और अविसंवादी होते हैं। इनके अर्थ से अव्यभिचारित्व की सिद्धि प्रत्यक्षत्व और अनुमानत्व धर्मों के द्वारा होती है।

शब्दत्व इत्यादि अन्य धर्म अर्थ से अव्यभिचारित्व के प्रयोजक नहीं हो सकते, क्योंकि शब्द ज्ञान का अर्थ से कोई तात्त्विक निबन्धन नहीं होता। ऐसा इसलिए क्योंकि स्वलक्षण और समान्यलक्षण नामक प्रमेय पदार्थों के दो ही प्रकार हैं। प्रमाणमीमांसीय उपागम में स्वलक्षण और सामान्यलक्षण क्रमश: प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा गृहीत होते हैं।

यहाँ विचारणीय है कि दिङ्नाग ने उपर्युक्त अभिकथन में प्रमेयों की संख्या का निर्देश नहीं किया है तथापि प्रमाणों की संख्या विषयक द्वैविध्य को क्यों उपलक्षित किया है ? इस शंका का समाधान करते हुए कहा जा सकता है कि प्रमेय की अपेक्षा से प्रमाण-द्वैलक्षण्य को उपस्थापित करने पर प्रमाण-द्वैलक्षण्य से ही प्रमेय-द्वैविध्य का अध्याहार हो जाता है और सिद्ध प्रमेयों के अनुसार प्रमाण-विनियोजन का पक्ष भी अप्रभावित रहता है।[७] धर्मकीर्ति ने इस ऊह को और स्पष्ट करते हुए प्रमाणवार्त्तिक में 'मानं द्विविधं विषय द्वैविध्यात्' कहा है।[८] इस वार्त्तिक में 'द्वैविध्यात्' पद पंचमी विभक्ति है। पंचमी विभक्ति का प्रयोग हेतुभाव में होता है। इसलिए सम्पूर्ण पद से विषय-द्वैविध्यपूर्वक प्रमाण-द्वैविध्य का भाव ही द्योतित होता है।[९] विषय-द्वैविध्यपूर्वक प्रमाण-द्वैविध्य को स्वीकार करने पर प्रमाण-विषयक संख्या-विप्रतिपत्ति और प्रमाण-सम्प्लव का निराकरण स्वत:हो जाता है।

प्रमाण-प्रमेय की ऐसी संरचना के सन्दर्भ में बौद्ध नैयायिकों के समझ एक गम्भीर प्रश्न इस रूप में उपस्थापित होता है कि सिद्ध प्रमेयों की संख्या दो ही है, एक या दो से अधिक नहीं, इसका आधार क्या है ? ध्यातव्य है कि इसका आपादान न तो परम्परा और न आप्त के द्वारा ही सम्भव है। क्या न्यायवादी बौद्धों को आप्त और परम्परा की प्रामाणिकता उसी रूप में स्वीकार्य है जिस रूप में बौद्धेतर दार्शनिकों ने इसका विनियोग किया है ? यदि सिद्ध प्रमेयों को प्रमाण से आपादित स्वीकार किया जाय तो सद्य:वचन-विरोध की प्रसक्ति होगी। पुन: प्रमाणों से प्रमेय और प्रमेयों से प्रमाण का आपादन अन्योन्याश्रय दोष की तार्किक कठिनाई से भी ग्रसित हो जायेगा।

आचार्य धर्मकीर्ति एवं प्रज्ञाकर गुप्त ने इस केन्द्रीय समस्या को उठाते हुए इसका समाधान प्रस्तुत करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है। समस्या के समाधान का सम्पूर्ण प्रयास वास्तव में प्रमेय-विषयक द्वैविध्य को प्रमाण-निरपेक्ष अभिगम प्रदान करना है। इसके लिए उन्होंने जिस सिद्धान्त को प्रस्तावित किया है उसे 'व्यावर्त्तक द्वैराश्यभेद' की अवधारणा से अभिहित किया जा सकता है। हम इसकी सहायता से प्रमेयों के द्विविध प्रकार को प्रमाण-निरपेक्ष रूप से सुनिश्चित कर सकते हैं। हमारा सम्पूर्ण व्यवहार विरोध एवं स्वीकृति, विधि एवं निषेध पर आधारित होता है। धर्मकीर्ति ने सामान्य अनुभव में आसन्न द्वैराश्य को पुष्ट करने के लिए कतिपय मानदण्डों को उपस्थापित किया है।[१०] ये मानदण्ड अपनी प्रकृति में हमारे अनुभव के सम्पूर्ण क्षेत्र 'अस्ति-भाति' को व्याप्त करते हैं।

सर्वप्रथम हम अपनी आनुभविक उपलब्धियों को प्रयोजन-पूर्ति के निकष पर शक्त और अशक्त के द्वैराश्य में विभाजित कर सकते हैं। जो कुछ शक्त हैं, अर्थात् अर्थक्रिया में समर्थ है, उसी से हमारे प्रयोजन की सिद्धि होती है। वही साक्षात् ज्ञान-जनन में भी समर्थ होता है। जो कुछ अशक्त अर्थात् अर्थक्रिया में असमर्थ है, वह अपने स्वरूप में कल्पित ही हो सकता है। यह परम्परया ज्ञान-जनन में समर्थ होते हुए भी प्रवृत्ति-साफल्य का उपष्टम्भक नहीं होता।

द्वितीयत: हम अपनी आनुभविक उपलब्धियों को सम्बन्धों के निकष पर सदृश और असदृश के द्वैराश्य में विभाजित कर सकते हैं। बौद्धिक विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि जो कुछ असदृश अर्थात् सर्वतोव्यावृत्त स्वरूप वाला है, उसी से प्रयोजन की सिद्धि होती है। जो कुछ सदृश अर्थात् अनेक व्यक्तियों में समान रूप से रहने वाला है, वह समान अतद्व्यावृत्ति रूप से कल्पित ही हो सकता है। उससे प्रयोजन की सिद्धि मूलत: नहीं होती है।

तृतीयत: हम अपनी आनुभविक उपलब्धियों को व्यवसायात्मिका बुद्धि के आधार पर बुद्धि के विषय और उसके अविषय के द्वैराश्य में विभाजित कर सकते हैं। किसी वस्तु का असाधारण स्वरूप बुद्धि का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि बुद्धि की प्रवृत्ति अपेक्षावशात् होती है। बुद्धि का विषय तो वस्तु का साधारण स्वरूप ही हो सकता है। हमारे प्रवृत्ति-साफल्य का केन्द्र-बिन्दु वस्तु का साधारण स्वरूप नहीं होता। किसी वस्तु का असाधारण स्वरूप ही हमारी प्रयोजनात्मक निष्ठा के केन्द्र में होता है।

इस प्रकार सामान्य अनुभव के बौद्धिक विश्लेषण में सर्वत्र द्वैराश्य का प्रसंग उपलब्ध होता है।[11] यह द्वैराश्य अपनी प्रकृति में परस्पर व्यावर्त्तक है। इनकी समाश्रयता को एकत्व स्वीकार करना युक्तिसंगत नहीं। लौकिक न्याय के अनुसार जहाँ परस्पर व्यावृत्तिमूलक द्वैराश्य प्राप्त हो वहाँ उनमें से एक को वास्तविक और दूसरे को आरोपित समझना ही युक्तिसंगत होता है। यह हमारे अनुभव में आत्मनिष्ठ प्रविष्टियों को भी संकेतित करता है। हमारा सामान्य अनुभव वास्तव में स्वनिष्ठ यथार्थ और विकल्पात्मक आत्मनिष्ठता का संश्लेषित रूप है। एतवता बौद्ध नैयायिक प्रमेय-द्वैविध्यविषयक तत्त्वमीमांसीय अवधारणा को अनुभाव में आसन्न व्यावर्त्तक द्वैराश्यभेद के आधार पर आपादित करने का प्रयास करते हैं। इसी द्वैराश्य को स्वलक्षण (शक्त, असदृश, शब्द-अविषयय, धी-अविषय) और सामान्यलक्षण (अशक्त, सदृश, शब्द-विषय, घी-विषय) रूप प्रमेय-द्वैविध्य तथा प्रत्यक्ष और अनुमानरूपेण प्रमाण-द्वैविध्य के रूप में व्यवस्थित किया गया है।

यहाँ विचारणीय है कि 'द्वैराश्यभेद' के द्वारा प्रमेय-द्वैविध्य का प्रतिपादन क्या प्रमाणमूलक आधार से परे और पृथक् कोई पद्धति है ? यदि नहीं तो प्रमेय-द्वैविध्य पर आधारित प्रमाण-द्वैविध्य का अभिगम अयुक्त हो जाता है और बौद्ध नैयायिकों की प्रतिज्ञा-हानि होती है। वस्तुत: ऐसा समझना उचित नहीं। हमारे सभी अभिकथन ज्ञानपूर्वक होते हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि हमारे सभी अनुभवमूलक अभिकथन प्रमाणमूलक अभिकथन होते हैं। यहाँ अनुभवमूलक अभिकथन और प्रमाणमूलक अभिकथन में भेद विवक्षित है। उदाहरण के लिए 'विरोध का नियम' और उससे सम्बन्धित वक्तव्यों को प्रमाणमूलक वक्तव्य नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार द्वैराश्यभेद के नियम से आपादित प्रमेय-द्वैविध्य को प्रमाणमीमांसीय आपादान नहीं कहा जा सकता। विरोध का नियम एक तार्किक नियम है। यह यथार्थता के स्वरूप के सम्बन्ध में हमें कुछ भी नहीं बताता। वर्षा का होना और न होना एक साथ नहीं हो सकता, परन्तु इससे हमें यह जानकारी नहीं मिलती है वर्षा हो रही है या नहीं हो रही है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि दोनों घटनाओं में से कोई एक ही हो सकती है। ऐसा कहने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार अनुभव में आसन्न द्वैराश्यभेद का नियम यथार्थता के सम्यक् स्वरूपावलोकन में असमर्थ होते हुए भी यथार्थता की प्रकारता को प्रमाण-निरपेक्ष रूप में सुनिश्चित कर सकता है। वस्तुत: एक अर्थ में प्रमाण-मीमांसा अनुभव का व्याकरण है। जिस प्रकार भाषा व्याकरणमूलक नहीं वरन् व्याकरण ही भाषामूलक है उसी प्रकार अनुभव प्रमाणमूलक नहीं वरन् प्रमाण ही अनुभवमूलक है। इसलिए प्रमाण-मीमांसा को अनुभव के पूर्व ही अनुभव के प्रस्तुतीकरण के लिए प्रयुक्त नहीं किया जाना चाहिए। आनुभविक उपलब्धियों के नियमन की 'अनुवीक्षा' ही प्रमाण-मीमांसा है। इस अनुवीक्षा में आवश्यक रूप से तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यता जाने-अनजाने प्रविष्ट रहती है जो प्रमाणमीमांसीय अनुवीक्षा को गति प्रदान करती हैं। आखिर विभिन्न दर्शनों की प्रमाण-मीमांसा में भेद क्यों होता है ? वह किसी भी तरीके से प्राप्त तात्त्विक दृष्टिकोण ही होता है जो हमारे प्रमाणमीमांसीय प्रश्नों एवं निष्कर्षों में भेद लाता है। यह तात्त्विक दृष्टिकोण सर्वदा सुस्पष्ट रूप में व्यक्त नहीं होता, परन्तु हमारी समस्त विचारणा की पृष्ठभूमि में रहता है और उसे निर्धारित करता है। नि:सन्देह वह हमारे प्रमाणमीमांसीय विश्लेषण और तर्कणा का पूर्ववर्ती होता है। यदि तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यता से रहित

प्रमाण-मीमांसा सम्भव हो तो वैकल्पिक प्रमाण-मीमांसा की कोई सम्भावना नहीं बनेगी। पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में काण्ट ने ज्ञानमीमांसा को तत्त्वमीमांसा से अछूता रखने के प्रयास में 'स्वलक्षण वस्तु' (थिंग इनइट्सेल्फ) को सर्वथा अज्ञेय कह कर रहस्य बना दिया जबकि वह अज्ञेय रहकर भी उसकी सम्पूर्ण ज्ञानमीमांसा को गति प्रदान करती है। 'स्वलक्षण वस्तु' की स्वीकृति ज्ञानमीमांसा के लिए अपेक्षित तार्किक पूर्वमान्यता न होकर तात्त्विक पूर्वमान्यता के रूप में काण्ट के दर्शन का मौलिक आधार है। यह बात अलग है कि तात्त्विक पूर्वमान्यता को तार्किक पूर्वमान्यता के रूप में ख्यापित कर काण्ट अपनी दार्शनिक विवक्षा में बौद्धिक ईमानदारी का परिचय देते हैं। वस्तुत: सम्पूर्ण ज्ञानमीमांसा की एक तात्त्विक पृष्ठभूमि होती है। रिक्त विश्व में कोई ज्ञानमीमांसा सम्भव नहीं। तात्त्विक पूर्वकल्पना को अपनाये बगैर हम अपने ज्ञान का विश्लेषण और प्रमाणों का विनियोजन करना भी नहीं जान सकते हैं। हम इसी से आरम्भ करते हैं और इसी में हमें लौटना होता है। आरम्भ करने के लिए तात्त्विक प्राक्कल्पना को प्रमाण-मीमांसा की नींव पर रखना होता है। लौटने के लिए बुद्धि द्वारा बुद्धि की समीक्षा ही एकमात्र रास्ता है। अन्त:प्रज्ञा की अभिव्यक्ति सदैव अस्पष्ट होती है। इसके अनुवाद में व्याख्यान्तर की सम्भावना बनी रहती है। अतएव इस ऊहापोह से बचने के लिए तात्त्विक प्राक्कल्पना को एक ठोस बौद्धिक आधार प्रदान करने के लिए व्यावहारिक बुद्धि से सामान्य अनुभव का विश्लेषण कर आनुभविक उपलब्धियों के प्रकार विषयक एक अवधारणा को निश्चित करना होता है। तत्पश्चात् ज्ञान की उन अवस्थाओं, स्रोतों एवं उनकी विशेषताओं का निरीक्षण करना होता है जिसमें आनुभविक उपलब्धियों में आकारित होने वाले यथार्थता के प्रकार को व्यवस्थित किया जा सके। बौद्ध नैयायिकों की द्वैराश्यभेद विषयक अवधारणा व्यावहारिक बुद्धि से सामान्य अनुभव का विश्लेषण कर आनुभविक उपलब्धियों में आचरित तात्त्विक कोटि-निर्धारण का ऐसा ही अभ्युपगम है। इसी के द्वारा वे प्रमेय-द्वैविध्य की तत्त्वमीमांसीय प्राक्कल्पना को उपस्थापित करते हैं। यह सामान्य अर्थ में प्रमाणमूलक नहीं, बल्कि एक विशेष अर्थ में इसे अधितार्किक आधार से अभिहित किया जा सकता है।

III

यदि यह मान लिया जाये कि प्रमेय-द्वित्व का उपस्थापक द्वैराश्यभेद का अभिगम प्रमाणमूलक नहीं है तो भी यहाँ विचारणीय है कि स्वलक्षण और सामान्यलक्षण के रूप में प्रत्यक्ष-परोक्षात्मक विषय-द्वित्व और उसकी परस्पर व्यवृत्तिरूपता किस प्रमाण से ज्ञापित होती है ? बौद्ध नैयायिकों की प्रमाणमीमांसीय योजना में इसे प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा किसी अन्य तीसरे प्रमाण के द्वारा अधिगृहीत होना चाहिए।[12] यदि प्रमेय-द्वित्व की प्रतिपत्ति किसी तीसरे प्रमाण से मानी जाये तो विरोध उपस्थित होगा। इस स्थिति में बौद्धों को दो ही प्रमाण न मानकर तीसरा प्रमाण भी मानना पड़ेगा।[13] तृतीय प्रमाण को सम्मिलित करने मात्र से बौद्ध नैयायिक अन्योन्याश्रयता और तृतीय प्रमेय की प्रसक्ति से बच नहीं सकते।[14] ऐसा स्वीकार करने से उनके स्वमत की हानि होगी। प्रमाण-व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में प्रत्यक्ष-परोक्ष विषय-द्वित्व की सिद्धि प्रत्यक्ष या अनुमान से भी नहीं हो सकती। प्रत्यक्ष के अविषयीभूत वस्तु में अनुमान प्रसक्त होता है और परोक्ष विषय में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति अनुपपन्न है।[15] यदि प्रमेयगत द्वित्व को प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध माना जाये तो परोक्ष अर्थ में भी प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति को स्वीकार करना होगा। ऐसी स्थिति में परोक्षता अर्थहीन होगी और प्रत्यक्षेतर अनुमान प्रमाण व्यर्थ हो जायेगा। यदि प्रमेयगत द्वित्व की प्रतिपत्ति अनुमानात्मक मानी जाये तो साक्षात् में अनुमान की प्रवृत्ति को स्वीकार करना होगा। तब तो प्रत्यक्ष की अपरोक्षता ही व्यर्थ होगी और अनुमान का उपजीव्य प्रत्यक्ष प्रमाण अर्थहीन हो जायेगा। यह सब कुछ बौद्ध सम्मत प्रमाण-व्यवस्था को व्याहत करने के लिए भी पर्याप्त होगा। अत: प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण की परस्पर व्यावर्त्तक विषयता को स्वीकार करने में ही लाघव है।

पुन: प्रमेयगत द्वित्व से प्रमाणगत द्वित्व क्योंकर निश्चित होगा ? प्रमेयगत द्वित्व स्वयं असिद्ध होने के कारण प्रमाण-द्वैविध्य का साधक कैसे हो सकता है ? प्रमेयगत द्विविधता के कारण प्रमाणान्तर-निरासमूलक प्रमाण-द्वैविध्य ही होना चाहिए, इसका प्रतिबन्धक क्या होगा ? वैसे हेतु जिनका अपने साध्य से व्याप्ति सम्बन्ध नहीं होता व्याप्यत्वासिद्ध माने जाते है। व्याप्ति की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं हो सकती क्योंकि प्रमाणत्व धर्म सामान्यलक्षण है। सामान्यलक्षण में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति सर्वथा अनुपपन्न है। प्रमाणत्व के असिद्ध होने पर तद्घटित व्याप्ति रूप सम्बन्ध प्रत्यक्ष से क्योंकर निश्चित होगा ? अतएव उपर्युक्त सभी दोषों की प्रसक्ति होने से प्रमेयगत द्वैविध्य की प्रतिपत्ति द्विविध प्रमाणों से नहीं हो सकती है। किसी तीसरे प्रमाण को स्वीकार करने पर स्वमत का ही विरोध करना होगा।[१६]

वस्तुत: बौद्ध न्याय में प्रमेयद्वित्व और प्रमाणद्वित्व की संरचना पर सिलसिलेवार ढंग से विचार करने पर ऐसे आक्षेपों का उठना स्वाभाविक ही है। ये प्रश्न बौद्ध नैयायिकों के प्रमाणमीमांसीय ढाँचे से सम्बधित व्यवस्थागत प्रश्न हैं। प्रज्ञाकर गुप्त एतद्विषयक व्यवस्था प्रदान करते हुए कहते हैं कि विषय-द्वैविध्य की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से होती है। ऐसा इसलिए क्योंकि विषय-द्वैविध्य के उपस्थापक द्वैराश्यमूलक सदृश-असदृश इत्यादि प्रतीतियाँ ज्ञान के धर्म हैं। ज्ञान का स्वसंवेदनात्मक प्रत्यक्ष होने से ज्ञानगत धर्म का ग्रहण भी उसी से प्रसक्त होता है। ऐसी प्रतीति को भ्रान्तिरूप भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्वरूप में ही यदि भ्रान्ति हो तो वादी, प्रतिवादी और मध्यस्थ का व्यवहार ही सम्भव नहीं हो सकेगा।[१७] प्रज्ञाकर गुप्त की इस व्यवस्था का स्पष्टीकरण करते हुए कहा जा सकता है कि बौद्ध नैयायिकों की विचार-योजना में स्वसंवेदन रूप से ज्ञान का प्रत्यक्ष और साथ ही साथ ज्ञान के धर्मभूत विषयाकार का भी प्रत्यक्षात्मक ग्रहण प्रसक्त होता है तथा उससे भिन्न को परोक्ष माना जाता है। 'यहाँ उससे भिन्न' का ताप्तर्य 'ज्ञान' के धर्मभूत आकार की विषयभूत उस वस्तु से है जिसकी प्रतीति बाह्यार्थ रूप में होती है। अतएव ज्ञान के धर्मभूत विषयाकार को प्रत्यक्ष और उस धर्मभूत आकार की विषयभूत वस्तु को परोक्ष मानने में कोई आपत्ति नहीं है। परोक्षता के इसी अर्थ में वस्तु की आनुभविक उपलब्धि अनुमान से मानी जाती है। बौद्ध न्याय में यही स्थल अनुमिति का अवतार-स्थल माना जाता है।[१८] ऐसा मानने से अनुमान के विषय-भूत सामान्यलक्षण में स्वलक्षण का अभिनिवेश नहीं समझना चाहिए। वास्तव में स्वरूपेण लक्ष्यमान स्वलक्षण ही पररूपेण लक्ष्यमान होकर सामान्य लक्षण से अभिहित होता है। यहाँ नैयायिकों के पक्ष से यह आशंका की जा सकती है कि सामान्यलक्षण की परोक्षता में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं होने से उसमें अनुमान भी क्योंकर प्रवृत्त होगा ? क्योंकि अनुमान की प्रवृत्ति भी प्रत्यक्षवशात् ही होती है। प्रज्ञाकर गुप्त इसका उत्तर देते हुए हमारा ध्यान एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर आकृष्ट करते हैं कि परोक्षता का विग्रह अनुमान से न होकर स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष के द्वारा परोक्षता के परिच्छेदन से ही होता है।[१९]

इस प्रकार प्रज्ञाकर गुप्त की साकार विज्ञानवादी योजना में कथंचित् प्रमेय-द्वैविध्य की प्रत्यक्षात्मक प्रतीति को स्वीकार कर लेने पर भी यह विचारणीय बना ही रहता है कि ऐसा प्रत्यक्ष क्या वही है जो क्षणमात्र स्वलक्षण के ग्रहण तक सीमित होता है ? स्वलक्षणग्राही प्रत्यक्ष और सामान्यलक्षणग्राही अनुमान के अतिरिक्त प्रमेय-द्वैविध्य को ज्ञापित करने वाला प्रत्यक्ष कुछ भिन्न ही होना चाहिए। ऐसा इसलिए क्योंकि जब स्वलक्षण की प्रतिपत्ति होती है तो सामान्यलक्षण का अध्यवसाय नहीं होता और सामान्यलक्षण का जब अध्यवसाय होता है तो स्वलक्षण की स्वरूपत: प्रतिपत्ति अनुपपन्न रहती है। ऐसी स्थिति में स्वसामान्यलक्षणात्मक प्रमेयद्वित्व की सकृत गवेषणा एक ऐसे प्रत्यक्षकर्त्ता की अपेक्षा रखती है जो दोनों को साथ-साथ जानता हो। ऐसा प्रत्यक्षकर्त्ता सामान्यजन की साक्षात्कारी संज्ञानात्मक परिसीमा का अतिक्रमण कर जाता है। अतएव प्रमेयद्वैविध्य

की युगपद् प्रतीति किसी सर्वज्ञ पुरुष को ही हो सकती है। सर्वज्ञ-विहित ज्ञान के रूप में इसे बुद्ध-वचन मानने पर प्रमाणत्रय की प्रसक्ति और प्रमेयाश्रित प्रमाण-प्रतिपादन का अभिगम एक असंगताभिमान हो जायेगा।

वस्तुत: उपर्युक्त प्रकार के आक्षेपों को उठाया जाना तब सम्भव होता है जब हम स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण को समान रूप से सत् लेकिन युगपद् रूप से अनुपलब्ध दो सत्ताओं के रूप में स्वीकार करते हैं। भाष्यकार प्रज्ञाकर गुप्त[२०] इतिविषयक कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं, जो विचारणीय हैं। प्रथमत: यह कि, स्वलक्षण की पारमार्थिक अद्वैतरूपता में 'स्वलक्षण अन्यत्' और 'सामान्यलक्षण अन्यत्' ऐसा शब्द-प्रयोग नहीं हो सकता। द्वितीयत: यह कि, ऐसा कोई पौर्वापर्य नियम बनाना भी उचित नहीं कि स्वलक्षण का ज्ञान होने पर सामान्यलक्षण का ज्ञान होता है। तृतीयत: यह कि, ऐसा कहना भी सर्वथा अप्रामाणिक है कि सामान्यलक्षण के ज्ञान में अज्ञात स्वलक्षण की प्रतिपत्ति नहीं होती है। चतुर्थत: यह कि, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष ही पारमार्थिक दृष्टि से एकमात्र प्रमाण है।[२१] अनुमिति की प्रमाणता सॉंव्यावहारिक है। भगवान् बुद्ध ने वासनावासित विनेयजनों को ध्यान में रखते हुए अनुमान को प्रमाण माना है। पंचत: यह कि, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष की दृष्टि से सभी ज्ञानों में स्वलक्षण तत्त्व स्वसंवित्- रूपेण भासित होता है। विज्ञान का स्वाकार और विषयाकार ही स्वलक्षण और सामान्यलक्षण रूप विषय-द्वैविध्य की तात्त्विक संरचना है। तदनुरूप प्रत्यक्ष एवं अनुमान ही दो अवितथ प्रमेय की प्रतिपत्तियाँ हैं। षष्ठत: यह कि, जब ज्ञान स्वगत ही दो आकारों (ग्राहकाकार एवं ग्राह्याकार) का बोध करता है तो प्रमाण न तो एक हो सकता है न तीन।[२२] सप्तत:, यह कि प्रतिपत्ति-भेद ही प्रमाण-भेद है। यही विषय-भेद के रूप में भासित होता है। प्रतिपत्ति के दो प्रकार हैं-सामान्य रूपा (अनुमान) प्रतिपत्ति और विशेष रूपा (प्रत्यक्ष) प्रतिपत्ति। अतएव प्रतिपत्ति प्रकारों की द्विविधता के कारण एक ही विषय के दो आकार माने जाते हैं।[२३]

इस प्रकार उपर्युक्त सन्दर्भों में प्रकृत समस्या पर व्यापकतर दृष्टि से विचार करते हुए आक्षेपों का समाधान किया जा सकता है। यहाँ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि एकमात्र स्वलक्षण ही परमार्थसत् है। वही स्वरूपेण गृहीत और पररूपेण अध्यवसित होने के कारण स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण में विभक्त हो जाता है।[२४] प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय स्वलक्षण प्रत्यक्ष-पृष्ठभावी विकल्पों से विकल्पित होकर सामान्यलक्षण के रूप में अध्यवसित होता है। स्वलक्षण का प्रत्यक्ष पृष्ठभावी विकल्पीकरण एक मनोजल्पात्मक, उत्प्रेक्षणात्मक और संश्लेषणात्मक प्रक्रिया है। इसी प्रक्रिया में अपरोक्ष रूप से गृहीत निर्विकल्पक स्वलक्षण नाम-जात्यादि विकल्पों से युक्त निश्चयात्मक स्वरूप को प्राप्त होता है।[२५] यह सम्पूर्ण प्रक्रिया प्रत्यक्ष-पृष्ठभावी होने के कारण अनुमान कही जाती है। इसलिए ग्राह्य एवं अध्यवसेय विषय की दृष्टि से भी दो ही प्रमाणों का विधान यथोचित है। यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिए कि दोनों प्रमाणों द्वारा एकमात्र स्वलक्षण तत्त्व का विचार प्रसक्त होने से अनुमान प्रत्यक्ष का अनुवाद मात्र है। ग्राह्य एवं अध्यवसेय में व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भाव होने के कारण प्रत्यक्ष और अनुमान का अपने-अपने विषय में प्रामाण्य स्थित होता है। प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय स्वलक्षण हैं, लेकिन उसका अध्यवसेय सामान्यलक्षण होता है। इसी प्रकार अनुमान का ग्राह्य विषय सामान्यलक्षण है, लेकिन उसका अध्यवसेय स्वलक्षण होता है। यदि ऐसा स्वीकार न किया जाये तो विकल्प सत् के लिए प्रयुक्त नहीं होंगे और व्यवहार के लिए कोई व्यवस्था नहीं बन पायेगी। सर्वतोव्यावृत्त स्वलक्षण व्यवहार योग्य नहीं होता। वह नाम-जात्यादि विकल्पों से युक्त होकर ही व्यवहार योग्य होता है। ध्यातव्य है कि अनुमान स्वलक्षण को विषय करते हुए उसमें सामान्यलक्षण का अभिनिवेश करता है। यह अभिनिवेश एक प्रकार की अयथाभिनिवेशिनी भ्रान्ति है। यही कारण है कि पूर्वोपस्थित स्वलक्षण

प्रत्यक्ष से जनित संस्कारों के बल पर भावित होने के कारण अवस्तुविषयक अनुमान भी वस्तुविषयक प्रतीत होता है। अनुमान का उसके अभिप्रेत अर्थ से अविसंवाद मणि-प्रभा ज्ञान से मणि-प्राप्ति की तरह समझना चाहिए।[26] अनुमान में अज्ञातार्थ प्रकाशकत्व नहीं होने पर भी अविसंवाद मात्र से उसकी प्रमाणता स्वीकार करने में कोई हानि नहीं है। बौद्ध न्याय में अज्ञातार्थप्रकाशकत्व प्रामाण्य का पारमार्थिक लक्षण है जो केवल प्रत्यक्ष में घटित होता है। अविसंवादकत्व प्रामाण्य का साँव्यावहारिक लक्षण है जो अनुमान के लिए प्रयुक्त होता है।[27] इस प्रकार एक ही परमार्थसत् का स्वरूपेण ग्रहण एवं पररूपेण अध्यवसायपूर्वक स्वसामान्य-लक्षणात्मक विषय-द्वैविध्य और उसी के अनुरोध से प्रत्यक्ष-परोक्षात्मक प्रमाण-द्वैविध्य ही बौद्ध नैयायिकों का सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

IV

अन्ततः यदि प्रमाण-निरपेक्ष प्रमेय-द्वैविध्य की समस्या पर और भी मूलगामी दृष्टि से विचार किया जाय तो इसकी व्याख्या बुद्धोपदिष्ट अन्तर्दृष्टि के रूप में भी की जा सकती है। बुद्ध की सम्पूर्ण शिक्षाएँ परमार्थ और संवृत्ति-सत् के भेद पर आधारित हैं।[28] तथागत की सर्वज्ञता में सत्यद्वय का यह भेद युगपद् रूप से प्रकाशित होता है जो सामान्यजन के लिए लब्ध नहीं है। बौद्ध परम्परा में यह तथागत की तत्त्वमीमांसीय आवश्यकता के रूप में व्याख्येय है।[29] बौद्ध नैयायिक भगवान् बुद्ध की परम प्रमाणभूतता को स्वीकार करते हुए तथागत की इस भूमिका को सुरक्षित रखते हैं।[30] अतएव स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण रूप प्रमेय-द्वैविध्य की प्रमाण-निरपेक्ष प्राक्कल्पना को बुद्धदेशित परमार्थ एवं संवृत्ति-सत् की चेतना से अनुप्राणित कहा जा सकता है। परमार्थ एवं संवृत्ति-सत् के रूप में स्व-सामान्यलक्षणात्मक प्रमेय-द्वैविध्य को इस तरह आगममूलक अथवा प्रकाशित अन्तर्दृष्टि मानने में कोई विरोध नहीं बल्कि बड़ा लाधव है। यहाँ बुद्ध की भावनामयी प्रज्ञा से प्रसूत करुणामयी देशना का आगम-प्रमाण के रूप में विनियोग करते हुए प्रमाण-त्रैविध्य का विरोध प्रसंग भी उपस्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसे प्रत्यक्षादि प्रमाणों की कोटि, में नियोजित करना कोई आवश्यक बाध्यता नहीं है। ध्यातव्य है कि ब्राह्मण एवं बौद्ध परम्परा में शब्द-प्रमाण की प्रकृति को लेकर पर्याप्त मतभेद हैं फिर भी इसे सर्वत्र एक उच्च स्तरीय प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। इसे भारतीय प्रमाणवाद का निगूढ़ार्थ स्वीकार करने में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि यहाँ प्रत्यक्षादि प्रमाणों की प्रसक्ति शब्द-प्रमाण-प्रदत्त परिसीमा में ही होती है। इसके बावजूद यदि बौद्ध नैयायिक 'व्यावर्त्तक द्वैराश्यभेद' की अवधारणा कर प्रमेय-द्वैविध्य को प्रमाण-निरपेक्ष रूप से आपादित करने का प्रयास करते हैं तो उनका यह प्रयास अपनी अधितार्किक तात्त्विक पूर्वमान्यता को व्यावहारिक एवं विश्लेषणात्मक बुद्धि से निष्पादित करने का महत्त्वपूर्ण उपायकौशल है।

***

संदर्भ-सूची

१. *नागार्जुन- वैदल्यसूत्र-२ प्रमाण-प्रमेयानि स्वतोऽसिद्धानि मिथोऽभिसम्प्लुतत्त्वात्। (प्रमाण-प्रमेय लक्षणों का सम्प्लव एक दिये हुए स्तर पर नहीं होता बल्कि एक स्तर के सापेक्ष दूसरे स्तर ऐसा परस्पर सम्प्लव देखा जा सकता है। परन्तु प्रमाण-प्रमेय की स्वलक्षण सत्ता मानने पर इस प्रकार का सम्प्लव भी युक्तियुक्त नहीं है)।*

२. *टिप्पणी -यह बात वैदल्यसूत्र से सुतरां स्पष्ट होती है, क्योंकि सम्पूर्ण वैदल्यसूत्र गौतम-प्रणीत लक्षण-निर्देशक न्यायसूत्रों के खण्डनार्थ ही प्रणीत हुआ है। द्रष्टव्य, हमारा निबन्ध- 'वैदल्यसूत्र एवं न्यायसूत्र के अन्तः सम्बन्ध पर कुछ विचार।' समाज धर्म एवं दर्शन, वर्ष १८-२*

३. *नागार्जुन - विग्रहव्यावर्तनी-४३ सिध्यन्ति हि प्रमेयाप्यपेक्ष्य यदि सर्वथा प्रमाणानि भवति प्रमेयसिद्धिर्निविक्ष्यैव प्रमाणानि।*

४. *गौतम- न्यायसूत्र-२/१/१६,प्रमेया च तुला प्रामाण्यवत्।*

५. *धर्मकीर्ति-न्यायबिन्दु : सर्वचित्तचैतानां आत्मसंवेदनम्।*

६. दिङ्नाग- प्रमाणसमुच्चय-१/२ (आयंगर द्वारा स्म्पादित एवं पुनर्रचित)
प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणं हि द्विलक्षणम् ।
प्रमेयस्तत्प्रयोगार्थं न प्रमाणान्तरं भवेत् ।

७. वही-वृत्ति-१/२ अत्र प्रमाणं द्विविधमेव । कुतश्चेत् । द्विलक्षण प्रमेयम् ।

८. धमकीर्ति-प्रमाणवार्त्तिक-२/१

९. टिप्पणी-यहाँ 'विषय' शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ रखता है । प्रमाण-प्रयुक्ति के बिना किसी विषय को प्रमेय नहीं कहा जा सकता । चूँकि प्रमाण-प्रयुक्ति से पूर्व ही विषय-द्वैविध्य का प्रस्ताव किया गया है अतएव उसके लिए धर्मकीर्ति 'प्रमेय' शब्द का प्रयोग न कर 'विषय' शब्द का प्रयोग करते हैं ।

१०. धर्मकीर्ति- प्रमाणवार्त्तिक - २/१-२ मानं द्विविधं विषय-द्वैविध्यात् शक्त्यक्तित: । अर्थक्रियायाम् केशादिर्नार्थोऽनर्थाधिमोक्षत: ।। सदृशासदृश-त्वाच्च विषयाविषयत्वत: । शब्दस्यान्यनिमित्तानां भावे धीसदसत्त्वत: ।।

११. मनोरथनन्दी- प्रमाणवार्त्तिकटीका-२/२ सर्वस्य संग्रहात् द्वैविध्यमेव ।

१२. प्रज्ञाकर गुप्त- प्रमाणवार्त्तिकालंकारभाष्य (स्वामी योगीन्द्रानन्द), पृ. ४१३ ननु प्रत्यक्ष-परोक्ष-लक्षणो विषय-भेद: केन प्रमाणेन प्रमीयते ? किं प्रत्यक्षानुमानेन प्रमाणन्तरेण वा ?

१३. वही २-८, प्रमाणान्तरेण द्वित्वञ्चेत् प्रमेयस्य प्रमीयते । विरुद्ध एवं हेतु: स्यात् तृतीयस्यापि सम्भवात् ।

१४. वही ९-१०, प्रमाण द्वितयेनाथ भवेदन्योऽन्यसंश्रय: । त्रयादिनापिप्रमाणेन विषयान्तरसाधने ।। त्रयादिप्रमाणप्रसिद्धि: स्यात् अभिप्रेतं न सिध्यति । प्रमाभेदो हि मेयस्य प्रभेदस्य प्रसाधक: ।।

१५. वही, ११-१२, अनुमानेन सिद्धिश्च परोक्षस्य कथं भवेत् । न प्रत्यक्षं परोक्षेऽस्ति वृत्तौवा व्यर्थिकानुमा ।। परोक्षता कथञ्च स्यात् प्रत्यक्षस्य प्रवर्तने । प्रत्यक्षस्य निवृत्यैव वस्तुना स्यात् परोक्षता ।।

१६. वही १५-१६, प्रतिबन्धा प्रसिद्धौ हि सर्व हेतुरनिश्चित: । प्रतिबन्धप्रसिद्धिश्च न प्रत्यक्षप्रमाणिका ।। प्रमाणत्वं हि सामान्यं कथमप्यक्षसाधनम् । तस्मिन्नसिद्धे सम्बन्ध: कथन्तेनाक्षनिश्चित: ।।

१७. प्रज्ञाकर गुप्त- प्रमाणवार्त्तिकालंकारभाष्य (स्वामी योगीन्द्रानन्द), पृ. ४१४, अत्रोच्यते विषयद्वैविध्यम्प्रत्यक्षत एव सिद्धम् । सदृशासदृशप्रतीतर्हि प्रतीतिरेव धर्म:,स च स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्ध: । न च प्रतीति:स्वरूपे भ्रान्तिसङ्गता । तत्र भ्रान्तिशंकायामव्यवहार एव भवेदनवतारहेतुर्वा वादिप्रतिवादिप्राश्निक-वचनस्य ।

१८. वही, पृ. ४२०, तत: प्रत्यक्षेण परोक्षताप्रतीतावपि वस्त्वनुमानेन प्रतीयत इत्यनुमानावतार: ।

१९. वही, २/४५, नानुमानात्परोक्षत्वं साध्यते तस्य वस्तुन: । सत्यामध्यक्षतायान्तु दृष्टरूपस्य साधनम् ।

२०. वही, पृ. ७२, स्वसंवेदनेन तु ग्रहणे स्वलक्षणमेव तदिति स्वलक्षणविषयमेव प्रमाणम् । यदा तु पुनरद्वैतं तदा न सामान्यम् । तत्र च स्वलक्षणप्रतिरुद्धं अन्यद्वेति व्यपदेश: । अवित् न विद्यते विदस्यति अवित् । क्व ज्ञाते स्वलक्षणे तज्ज्ञानमिति । न खलु पूर्वोत्तर भावे प्रमाणं येन स्वलक्षणज्ञानादुत्तरकालमेतदिति विलक्षणता वा प्रतीयते । स्वलक्षणमेवात्र सर्वत्र ज्ञाने प्रतीयते । न च भेद इति ।

२१. वही, पृ. ७३, विनेयज्ञानाभिप्रायात् तमपेक्ष्य स्वसंवेदनमेवैकं प्रत्यक्षप्रमाणम् नापरम् ।

२२. वही, पृ.५३८, स्वाकारद्वयसंवेदने हि नैकमिति युक्तम् । नापि त्रयादिकम् । तथा हि त्रैकसंख्या निरास इति ।

२३. वही, पृ. ४१०, विषयस्य चैकस्यैव द्वैविध्यं प्रतिपत्ति प्रकारस्य द्वैविध्यात् ।

२४. धर्मकीर्ति-प्रमाणवार्त्तिक-२/५३/५४,भावधर्मत्वहानिश्चेत्....मेयं त्वेकं स्वलक्षणम्... तस्य स्वपररूपाभ्यां गतेर्मेयद्वयं मतम् ।

२५. धर्मोत्तर- न्यायबिन्दुटीका-१/२१, यस्मात् प्रत्यक्षबलोत्पन्नेनाध्यवसायेन दृष्टत्वेनार्थोऽवसीयते नोत्प्रेक्षितत्वेन। दर्शनञ्चार्थसाक्षात्करणाख्यं प्रत्यक्ष-व्यापार: । उत्प्रेक्षणं तु विकल्पव्यापार: । तथा हि परोक्षत्वं अर्थं विकल्पयन्त उत्प्रेक्षामहे न तु पश्याम इति उत्प्रेक्षणात्मकं विकल्पव्यापारं अनुभवादध्यवस्यन्ति।

२६. धर्मकीर्ति-प्रमाणवार्त्तिक-२/५५-५८, अयथाभिनिवेशेन द्वितीयभ्रान्तिरिष्यते अर्थक्रियानुरोधेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम् ।

२७. प्रज्ञाकर गुप्त - प्रमाणवार्त्तिकालंकार-१/२२५, तत्र पारमार्थिक प्रमाण-लक्षणमेतत् । पूर्वं तु साँव्याहारिकस्य ।

२८. नागार्जुन- माध्यमिककारिका-२४/८, द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना । लोकसंवृत्ति सत्यं च सत्यं च परमार्थत: ।

२९. द्रष्यव्य - प्रो. ए.के. चटर्जी - योगाचार आइडियलिज्म, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,१९६२, पृ. २२३-२४

३०. धर्मकीर्ति- प्रमाणवार्त्तिक-१/९, तद्वत् प्रमाणं भगवान् अभूतविनिवृत्तये । भूतोक्ति: साधनापेक्षा ततो युक्ता प्रमाणता ।।

प्रमाण-सम्प्लव एवं प्रमाण-व्यवस्था

I

भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिंतन के ऐतिहासिक विकास को पाँच प्रस्थानों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम प्रस्थान महर्षि गौतम का है, जो तत्त्व की अपेक्षा प्रमाणों को प्राथमिकता प्रदान करते हुए एक रचनात्मक प्रमाणमीमांसीय ढाँचे को प्रतिपादित करता है। न्यायसूत्र में प्रथमतया प्रमाणों का उल्लेख और गंगेश उपाध्याय के इस कथन "प्रमाणाधीना सर्वेषां व्यवस्थिति:" से उक्त आशय की ही पुष्टि होती है। महर्षि गौतम-सम्मत "प्रमाणाधीना प्रमेयसिद्धि: प्रमाणसिद्धिश्च लक्षणा" नामक सर्वतन्त्र कहे जाने वाले अभ्युपगम के विरोध में नागार्जुन, श्रीहर्ष और जयराशीभट्ट-प्रणीत तीन खण्डनात्मक प्रस्थान विकसित हुए हैं। तीनों की शैली वितण्डावादी है, जिनका पर्यवसान प्रमाणमीमांसीय दृष्टि से प्रमाणों के प्राथमिक महत्त्व के निराकरण व प्रमाणोच्छेदवाद में होता है। अन्तिम प्रस्थान तर्कपुंगव दिङ्नाग का है, जो संशोधनात्मक रूप में तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाणमीमांसा के एक पुनर्रचनात्मक ढाँचे को प्रस्तावित करता है। दिङ्नाग के पक्ष से कहा जा सकता है कि यथार्थवादियों ने तर्क में अनाधिकार चेष्टा की है। उन्होंने गलत परिभाषाएँ दी हैं। हम तो केवल उन्हें ही शुद्ध कर रहे हैं।[1] वस्तुत: महर्षि गौतम और उनका अनुगमन करने वालों की प्रमाणमीमांसीय योजना में प्रमाणों की प्रस्थिति और भूमिका की बहुविध आलोचना से यह स्पष्ट हो गया था कि कोई भी रचनात्मक प्रमाणमीमांसा तत्त्वमीमांसीय अधिशासन से मुक्त नहीं हो सकती है। प्रमाणमीमांसीय गतिविधि एक आश्रित क्रिया है जिसकी उपादेयता स्वमत या स्वगोत्र के अनुरूप तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यता के विवेचन या निदर्शन मात्र में निहित होती है।

इस पृष्ठभूमि में प्रमाण-सम्प्लव और प्रमाण-व्यवस्था की समस्या गौतम और तत्सम्बद्ध अन्य तार्किकों तथा दिङ्नाग के प्रमाणमीमांसीय प्रस्थान से संबंधित है। प्रकरणात्मक समस्या होने के कारण इसका इतिहास और पल्लवन बहुत स्पष्ट नहीं है। सांख्यसूत्र, वैशेषिकसूत्र, न्यायसूत्र और मीमांसासूत्र में इसकी चर्चा नहीं हुई है। वात्स्यायन भाष्य, न्यायवार्त्तिक तथा मीमांसाश्लोकवार्त्तिक में समस्या की औपचारिक विवेचना की गई है। बौद्ध न्याय के प्रमुख ग्रन्थों में सम्प्लव और व्यवस्था जैसे शब्द भी इस संदर्भ में प्रयुक्त नहीं हुए हैं। समस्या के नामकरण की पदावली भी बौद्धेतर ही है। वात्स्यायन[2] ने सर्वप्रथम इसे परिभाषित करते हुए "एक ही प्रमेय में एक से अधिक प्रमाणों की प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति" को क्रमश: सम्प्लव और व्यवस्था कहा है। उद्योतकर ने इसके लिए साङ्कर्य तथा असाङ्कर्य शब्दों का प्रयोग किया है। कुछ लोग व्यवस्था के बदले विप्लव शब्द का प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं। बौद्धेतर सम्प्रदायों में जहाँ कहीं भी सम्प्लव और व्यवस्था का प्रसंग आया है उनके स्वर आलोचनात्मक हैं। आलोचनात्मक मुद्रा में बौद्धेतर दार्शनिक प्रमाणसम्प्लव के प्रति आग्रहवान् प्रतीत होते हुए भी यत्किंचित् प्रमाण-व्यवस्था को भी स्वीकार कर लेते हैं। एतावता सम्भवत: दिङ्नाग के पश्चात् इस प्रश्न ने प्रतिक्रियात्मक रूप से बौद्ध और ब्राह्मण दार्शनिकों को परस्पर आकृष्ट किया है।

भारतीय दर्शन में प्रमाण-सम्प्लव और प्रमाण-व्यवस्था का विवाद मुख्य रूप से प्रमाण-विनियोग की अवधारणा से संबंधित है। प्रमाणों की संख्या एक से अधिक स्वीकार करने पर उनके विषय एवं क्षेत्र की विशिष्टता निर्धारण के लिए प्रमाण-विनियोग की अवधारणा का निर्धारण आवश्यक हो जाता है। चार्वाक प्रभृति एकल-प्रमाणवादियों के लिए यह कोई समस्या ही नहीं है। प्रमाण-विनियोग की अवधारणा सुनिश्चित करने के लिए प्रमाणों के आपसी सम्बन्ध विषयक कुछ सामान्य प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक है। क्या प्रमाण एक-दूसरे के क्षेत्र में क्रियाशील हो सकते हैं ? क्या प्रमाणों के परस्पर सहयोग से ही विषय की सम्यक् उपलब्धि सम्भव होती है ? क्या एक प्रमाण के विषय को दूसरे प्रमाण के द्वारा समान रूप से जाना जा सकता है ? इन्हीं प्रश्नों की पृष्ठभूमि में बौद्ध और बौद्धेतर नैयायिक दो खेमों में बँट जाते हैं। बौद्ध नैयायिकों की प्रमाणमीमांसीय योजना में प्रमाणों की परस्पर प्रयुक्ति अनुपपन्न है। इनके अनुसार कोई भी प्रमाण अपने स्वरूप का परित्याग किये बिना दूसरे के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता है। प्रमाण अपने प्रातिस्विक रूप में विशिष्ट विषयक होते हैं। बौद्धेतर दार्शनिक प्रमाण-व्यवस्था को अनुभव-विरोधी एक दोषपूर्ण दृष्टि मानते हैं। व्यवहार में एकाधिक प्रमेयों में एक ही प्रमाण की प्रवृत्ति और एकाधिक प्रमाणों से एक ही प्रमेय की उपलब्धि सुतरां प्रसिद्ध है। बौद्ध नैयायिकों की दृष्टि में प्रमाण-व्यवस्था का प्रश्न प्रमाणों के विभाग में ही निहित होने के कारण यह प्रमाण-विनियोग के लिए अपेक्षित एक सिद्धान्त है।

II

बौद्ध नैयायिकों की तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाणमीमांसीय योजना में प्रमाण-व्यवस्था कुछ विशेष रूप में रूपायित हुई है। इनके मत में स्वलक्षण और सामान्यलक्षण नामक द्विविध प्रमेय और तदनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान नामक द्विविध प्रमाणों को स्वीकार किया गया है। प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण और अनुमान का विषय सामान्य लक्षण है। स्वलक्षण और सामान्यलक्षण क्रमश: परमार्थसत् और विकल्पसत् के रूप में एक-दूसरे को व्यावृत्त करते हैं। स्वलक्षण वह सब कुछ है जो समान्यलक्षण नहीं है। सामान्यलक्षण उन सबका निषेध है जो स्वलक्षणत: है। सत्ताविषयक यही व्यावृत्ति उनके प्रमाण-विभाग और विनियोग में परिलक्षित होती है। साधारणतया बौद्ध-सम्मत प्रमाण-व्यवस्था का यही स्वरूप है। किन्तु बौद्ध नैयायिकों ने इसकी एक सूक्ष्म व्यवस्था भी प्रस्तुत की है। वास्तव में स्वलक्षण ही एकमात्र प्रमेय है। एक ही परमार्थसत् स्वरूपेण स्वलक्षण और पररूपेण सामान्यलक्षण के रूप में अभिहित होता है।[४] इसलिए बौद्धन्याय में प्रत्येक प्रमाण के ग्राह्य एवं अध्यवसेय नामक द्विविध विषयों की व्यवस्था दी गई है।[५] क्षणिकवाद की पृष्ठभूमि में, जिसका ग्रहण होता हो उसी का अध्यवसाय सम्भव नहीं है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में गृहीत स्वलक्षण सर्वथा अनभिलाप्य होता है। विकल्पों के माध्यम से स्वलक्षण अभिलाप्य होने की प्रक्रिया में सामान्यलक्षण बन जाता है। इसलिए प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय क्षणमात्र स्वलक्षण है, लेकिन उसका अध्यवसेय क्षण-सन्तान मात्र सामान्यलक्षण होता है। इसी प्रकार अनुमान का ग्राह्य विषय सामान्यलक्षण तथा अध्यवसेव स्वलक्षण ही माना गया है। इस प्रकार प्रमाणों के गाहय एवं अध्यवसेय विषय की दृष्टि से प्रमाण-व्यवस्था की स्वीकृति बौद्ध नैयायिकों का विशेष अभिमत है।

नैयायिक बौद्धसम्मत प्रमाण-व्यवस्था की ऐसी संरचना के प्रति विप्रतिषेधयुक्त होने का आक्षेप लगाते हैं। प्रो. ए.के. चटर्जी[६] के अनुसार प्रमाण-व्यवस्था की अवधारणा सभी प्रकार के ज्ञानों को प्रत्यक्ष तथा अनुमान नामक द्विविध कोटियों में अन्तर्भूत कर देती है। प्रत्यक्षात्मक ज्ञान और अनुमानात्मक ज्ञान अपने अपने स्वरूप एवं विषय की दृष्टि से एक-दूसरे को व्यावृत्त करते हैं। ऐसा सिद्धान्त जो परस्पर व्यावर्त्तक दो ही कोटियों को निर्धारित करता है, स्वयं को उन्हीं कोटियों में

समायोजित नहीं कर सकता है। अत: प्रमाण-व्यवस्था को प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से जाना जाय, सम्भव नहीं, क्योंकि यह एक साथ स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण से संबंधित सिद्धान्त है। यह बौद्धमत में स्वीकृत प्रमाणों की सीमा का अतिक्रमण कर जाता है। इसके ज्ञान के लिए किसी तीसरे प्रमाण को स्वीकार किया जाय तो प्रमाण-व्यवस्था व्याहत होगी या तृतीय प्रमेय को विचार-योजना में सम्मिलित करना पड़ेगा। दोनों ही बातें बौद्धाभिमत के विरुद्ध हैं। अतएव इस रूप में प्रमाण-व्यवस्था का प्रस्ताव एक अधितार्किक अन्वेषण ही हो सकता है। यह अपनी गवेषणा के लिए किसी ऐसे व्यक्ति को अपेक्षित करता है जो स्वलक्षण और सामान्यलक्षण को साथ-साथ जानता हो। बौद्ध नैयायिकों की विचार-योजना में स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण को साथ-साथ जानना सामान्य जन की संज्ञानात्मक परिसीमा में असम्भव है।

उपदर्शित विप्रतिषेध को स्पष्ट करने के लिए यह पूछा जाना चाहिए कि 'प्रमाण-व्यवस्था का ज्ञान किस प्रमाण से होता है' - इसका क्या अभिप्राय है ? वास्तव में विप्रतिषेधागत मूल प्रश्न यह है कि 'प्रमाण-व्यवस्था का आधार विषय-द्वैविध्य है और विषय-दैविध्य परस्पर व्यावृत्तिरूप है' यह ज्ञान कैसे होता है ? यदि यह बताया जा सके तो प्रमाण-व्यवस्था की आनुभविक गवेषणा सम्भव हो सकती है। किन्तु प्रमाणों के द्वारा यह बताया जाना सम्भव ही नहीं, क्योंकि एक प्रमाण के विषय को दूसरे प्रमाण से नहीं जाना जा सकता। स्वयं बौद्ध नैयायिकों को प्रमाणपूर्वक प्रमेयों के आपादान या सिद्धि का पक्ष स्वीकार भी नहीं है। 'मेयाधीना मानसिद्धि:' अर्थात् विषयद्वैविध्यपूर्वक प्रमाण-द्वैविध्य का पक्ष उनका मत है। 'मानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात्' वार्त्तिक में 'द्वैविध्यात्' पँचमी विभक्ति होने से उक्त आशय की ही पुष्टि होती है। पँचमी विभक्ति का प्रयोग यहाँ हेतुभाव में विवक्षित है। इसलिए बौद्ध नैयायिकों ने विषय-द्वैविध्य की तत्त्वमीमांसीय प्रतिज्ञा को प्रमाणेन आपादित न कर 'द्वैराश्यभेद' के आधार पर प्रतिपादित किया है। हम अपने अनुभव में सर्वत्र द्वैविध्य पाते है।[7] लोकानुभव में आसन्न द्वैराश्य को पुष्ट करने के लिए धर्मकीर्ति ने शक्त-अशक्त, सदृश-असदृश, धीविषयक-धी-अविषयक, शब्द-विषय-शब्द-अविषय नामक चतुर्विध मानदण्डों को प्रस्तावित किया है।[8] ये मानदण्ड अपने स्वरूप में हमारे सम्पूर्ण अनुभव (अस्तिभाति) को व्याप्त करते हैं। यह द्वैराश्यभेद की अवधारणा व्यावहारिक बुद्धि से सामान्य अनुभव का विश्लेषण कर आनुभविक उपलब्धियों में आचरित तात्त्विक कोटि-निर्धारण का प्रमाण-निरपेक्ष अभिगम है। बौद्ध नैयायिकों ने इसी के द्वारा स्वलक्षण-सामान्यलक्षणात्मक विषय-द्वैविध्य की तत्त्वमीमांसीय प्रतिज्ञा को उपस्थापित किया है।

यदि द्वैराश्यभेदपूर्वक विषय-द्वैविध्य की उपस्थापना को स्वीकार भी कर लिया जाय तो प्रश्न उठता है कि द्विविध विषय के लिए दो ही प्रमाणों को मानना क्यों आवश्यक है ? क्या विषय-द्वैविध्यपूर्वक एक प्रमाण या दो से अधिक प्रमाणों का विधान नहीं किया जा सकता ? बौद्ध नैयायिकों के पक्ष से इसका उत्तंर देते हुए कुछ इस प्रकार की बातें कही जा सकती हैं-प्रथमत:,[9] प्रमाणों का वर्गीकरण करने के लिए विषय के अतिरिक्त कोई अन्य समुचित आधार नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाण प्रमेयमूलक ही हुआ करते हैं। अत: जब दो ही विषय हैं तो किसलिए तृतीय प्रमाण को स्वीकार किया जाय ? द्वितीयत:,[10] प्रमेयद्वय के लिए प्रमाणद्वय ही न्यायोचित हैं। प्रमाणसम्प्लव सम्भव नहीं होने के कारण प्रमेयद्वय के लिए एक या दो से अधिक प्रमाणों का विधान सर्वथा असंगत है। तृतीयत:[11] प्रत्यक्ष और परोक्ष-भेद से प्रमेयों के द्विविध प्रकार हैं। परस्पर एक-दूसरे के भेदक दो पदार्थों में तृतीय प्रकार की सम्भावना ही नहीं है। जो प्रत्यक्ष है वह परोक्ष नहीं और जो परोक्ष है वह प्रत्यक्ष नहीं। प्रत्यक्ष और परोक्ष के अतिरिक्त तृतीय विषय का स्थान ही कहाँ है ? तृतीय विषय की असत्ता का बोध भी प्रत्यक्ष से ही हो जाता है। 'नील' इत्याकारक प्रत्यक्ष नील को नील के रूप में ही प्रकट करते हुए अनील का निराकरण भी

करता है। नील संवित् में अनील का प्रतिभास नहीं होता है। नील-ज्ञान-प्रतिभास नील ही हुआ करता है। नीलेतर जो कुछ भी है वह अनील की कोटि में आता है। इस प्रकार जब तृतीय विषय ही नहीं तो तृतीय प्रमाण को अनावश्यक रूप से क्यों स्वीकार किया जाय ? चतुर्थत:[12] जब ज्ञान स्वगत ही दो आकारों का बोध कराता है तो प्रमाण न एक और न दो से अधिक ही हो सकते हैं। पंचत:[13] प्रमाणविषयक प्रमाण मानना भी आवश्यक नहीं है। यह अनावश्यक रूप से अनवस्था को आमंत्रित करने वाला होगा। प्रमाण का स्वरूप तो स्वसंवेदनाकार रूप से सिद्ध ही है। षष्टत:,[14] साक्षात् और परोक्ष प्रतिपत्ति के रूप में प्रत्यक्ष और अनुमान के अन्तर्गत सम्भव सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव होने से भी प्रमाणद्वित्व ही न्यायोचित है।

किन्तु इस पर प्रश्न उठता है कि यदि द्वैराश्य भेदपूर्वक विषय-द्वैविध्य और विषय-द्वैविध्यपूर्वक प्रमाणद्वित्व का नियम स्वीकार भी कर लिया जाय तो प्रत्यक्ष-परोक्षात्मक विषय-भेद किस प्रमाण के द्वारा प्रतीत होता है ? प्रज्ञाकरगुप्त[15] ने इस प्रश्न को स्वयं ही उठाया है। इसे प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा अन्य प्रमाण से ज्ञापित होना चाहिए। स्वलक्षण-सामान्यलक्षणात्मक विषय-द्वैविध्य की परस्पर व्यावृत्तिरूपता को प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से नहीं जाना जा सकता, क्योंकि दोनों का अपने-अपने विषय में प्रामाण्य स्थित है। यदि इसे प्रत्यक्षत: ज्ञापित माना जाय तो परोक्ष वस्तु में भी प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति को स्वीकार करना होगा। इसी प्रकार यदि अनुमानत: ज्ञापित माना जाय तो प्रत्यक्ष विषय में भी अनुमान की प्रवृत्ति को स्वीकार करना पड़ेगा। प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त किसी तीसरे प्रमाण को विचार-योजना में सम्मलित कराना सम्भव ही नहीं, क्योंकि बौद्धों को अन्तिम रूप से दो ही प्रमाण इष्ट हैं। इस प्रकार उपर्युक्त तीनों ही विकल्प बौद्धाभिमत के विरुद्ध हैं।

प्रज्ञाकरगुप्त[16] ने उक्त समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा है कि विषय की द्विविधता प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होती है, क्योंकि सदृशासदृशत्व की द्वैराश्य प्रतीति ज्ञान का धर्म है, जिसकी सिद्धि स्वसंवेदन -प्रत्यक्ष से हो सकती है। स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष से ज्ञान और ज्ञानगत धर्म का भी ग्रहण हो जाता है। ऐसी प्रतीति भ्रांतिरूप है, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भ्रांति की शंका होने पर वादी, प्रतिवादी और प्राश्निक का व्यवहार ही भंग हो जायेगा।

इस प्रकार बौद्ध नैयायिक विषय-द्वैविध्य और विषय-द्वैविध्य की परस्पर व्यावृत्तिरूपता पर आधरित प्रमाण-व्यवस्था की संरचना में अवान्तर रूप से उठने वाली समस्याओं का स्पष्टीकरण देने का प्रयास करते हैं। किन्तु उनका संपूर्ण प्रयास आत्माश्रयदोष से ग्रसित है। द्वैराश्य-भेद के द्वारा विषय-द्वैविध्य की उपस्थापना और स्वसंवेदनपूर्वक उसका ज्ञापन मात्र तो सम्भव है, लेकिन इन सबके आधार पर विषय-द्वैविध्य का स्वलक्षण और सामान्यलक्षण के रूप में ज्ञापित होना अनिवार्य नहीं है। यदि स्वसंवेदन की ऐसी व्याख्या की जाय जहाँ स्वसामान्यलक्षणात्मक विषय-द्वैविध्य की परमार्थसत् और विकल्पसत् के रूप में संवित्ति सम्भव हो तो स्वसंवेदन के उस स्तर को बौद्धों की प्रमाणमीमांसीय योजना में संग्रहीत नहीं किया जा सकता है। अत: बौद्ध नैयायिकों की मूलभूत तत्त्वमीमांसीय प्रतिज्ञा को किसी न किसी रूप में 'दिया हुआ' या 'प्रकाशित' ही होना चाहिए। इसे बुद्धदेशित परमार्थ और संवृत्ति की चेतना से अनुप्राणित कहा जा सकता है। द्वैराश्य-भेद इत्यादि अवधारणाओं के द्वारा सामान्य अनुभव को एक विशेष तार्किक तन्त्र में व्यवस्थित कर विषय-द्वित्व का आपादन अपनी तत्त्वमीमांसीय प्रतिज्ञा को व्यावहारिक बुद्धि का सम्बल देने और प्रागनुभविक निश्चितता प्रदान करने का एक सराहनीय प्रयास है।

वस्तुत: किसी भी दार्शनिक तन्त्र की मूलभूत प्रतिज्ञा को आनुभविक रूप से प्राप्त नहीं किया जा सकता। उसे अन्तत: 'दिया हुआ' या 'प्रकाशित' ही मानना पड़ता है। आखिर कोई तत्त्वमीसांसक

यह कैसे जानता है कि सात ही पदार्थ या दो ही तत्त्व होते हैं ? बौद्ध नैयायिकों के साथ यह समस्या प्रमाण-व्यवस्था के कारण और भी जटिल हो जाती है, क्योंकि एक प्रमाण के विषय को दूसरे प्रमाण से नहीं जाना जा सकता। बौद्धेतर दर्शनों की प्रमाणमीमांसीय योजना में ऐसी बात नहीं है, फिर भी प्रमाणसम्प्लव की भी कुछ अपनी समस्याएँ हैं।

III

नैयायिक बौद्धेतर प्रमाण-सम्प्लववाद का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनके मत में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द नामक चतुर्विध प्रमाण प्रसिद्ध हैं। पदार्थों की कोटि में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय और अभावादि को परिगणित किया गया है। ये सभी पदार्थ सामान्य रूप से सत् हैं और एक से अधिक प्रमाणों के द्वारा गम्य हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान की परिधि परस्पर व्यावर्त्तक नहीं है। बौद्धेतर अभिमत में प्रत्यक्ष की परिधि बहुत ही विस्तृत है। प्रत्यक्ष के द्वारा न केवल विशेष, जैसाकि बौद्ध मानते हैं,बल्कि समवाय और अभावादि को भी जाना जा सकता है। मीमांसक और वेदान्त प्रभृति दार्शनिक भी न्यूनाधिक रूप में इन पदार्थों को स्वीकार करते हैं, लेकिन उनका प्रत्यक्ष एक विवाद का विषय रहा है। इसी प्रकार नैयायिकों का अनुमान भी बहुत व्यापक है। अनुमान के द्वारा सामान्य-विशेषादि पदार्थों के अतिरिक्त अतीन्द्रिय सत्ताओं का भी ज्ञान होता है। आत्मा एवं ईश्वर आदि का अनुमान इसके उदाहरण हैं। न्याय-भाष्यकार वात्स्यायन[17] ने प्रमाणों के सम्प्लव-क्रम को इस तरह निरूपित किया गया है : कोई अग्नि को आप्तोपदेश से सुनकर हेतु-दर्शन के द्वारा समझने की कोशिश करता है। हेत्वाश्रित अनुमान से समझकर उसे प्रत्यक्ष देखना चाहता है। प्रत्यक्ष देखकर उपलब्ध अर्थ में जिज्ञासा की निवृत्ति हो जाती है। प्रत्यक्ष के द्वारा जिज्ञासित अर्थ की प्राप्ति होने के कारण वह जिज्ञासा का निवृत्तिकारक होता है। इस प्रकार प्रमाणों के विनियोग के ऊपरी ढाँचे में नैयायिक स्पष्ट तौर पर प्रमाणसम्प्लववादी ही प्रतीत होते हैं। यह बात अलग है कि प्रमाणों के स्वरूप-निर्धारण और विनियोग में कतिपय सम्प्लव-विरोधी प्रश्न एवं दृष्टान्त उपस्थापित किये जा सकते हैं।

प्रमाण-सम्प्लव और प्रमाण-व्यवस्था का विवाद प्रमाणों के स्वरूप-विषयक भेद से भी आधारभूत रूप में संबंधित है। बौद्ध और बौद्धेतर नैयायिकों के मध्य प्रमाण-स्वरूप विषयक पर्याप्त मतवैभिन्न्य रहा है। बौद्धों का प्रत्यक्ष निर्विकल्पक होने के कारण स्वलक्षणग्राही होता है। स्वलक्षण कोई आनुभविक विशेष पदार्थ नहीं है। अपनी तात्त्विकता में स्वलक्षण स्वसंवित्-क्रिया का क्षणमात्र है। ऐसे स्वलक्षण के प्रत्यक्ष को साधारण प्रत्यक्ष की तरह नहीं समझा जाना चाहिए। नैयायिकों का प्रत्यक्ष इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न विशेष्य-विशेषणावगाही ज्ञान है। इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के छः प्रकार बताये गये हैं। षड्विध सन्निकर्षों की पृष्ठभूमि में ही सामान्य और अभावादि पदार्थों के प्रत्यक्ष की व्याख्या की जा सकती है। इसी प्रकार दोनों परम्पराओं में स्वीकृत अनुमान की संरचना में भी मौलिक अन्तर विवक्षित है। बौद्ध नैयायिकों का अनुमान विकल्पात्मक धर्म-धर्मी-सम्बन्ध पर आधारित होने के कारण सामान्यलक्षणग्राही है। अविनाभाव-रूप व्याप्ति-सम्बन्ध का निर्धारण कार्य, स्वभाव, और अनुपलब्धि-हेतु के द्वारा होता है। नैयायिकों की दृष्टि में अनुमान सत्तासमवाय का ही ग्रहण करता है। सत्तासमवाय ही उनके सत् का लक्षण है। साहचर्य-स्वरूपात्मक व्याप्ति-सम्बन्ध प्रत्यक्षाश्रित होने के कारण आगमनात्मक सामान्यीकरण की पद्धति से सिद्ध होता है। यहाँ विचारणीय है कि प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा एक ही विषय का ज्ञान केवल प्रत्यक्ष और अनुमानादि प्रमाणों की परिभाषा से ही सम्बधित नहीं है। नव्य नैयायिकों ने भी किंचित् बौद्धों के प्रभाववश प्रत्यक्ष के लिए सन्निकर्ष की अपेक्षा साक्षात्कारित्व और व्याप्ति-निर्धारण के लिए भूयोदर्शन के बदले नियम पर विशेष बल दिया है। तथापि, बौद्ध और बौद्धेतर प्रमाणों के स्वरूप में मौलिक भेद बना ही रहता है। इस भेद को उद्घाटित

करने के लिए यह पूछा जाना चाहिए कि प्रमाणों का स्वरूपात्मक भेद प्रमाण के घटकों या विषयों में से किसके द्वारा निर्धारित होता है ? नैयायिकों के अनुसार प्रमाणों के स्वरूप-भेद का सूत्र प्रमाण-विशेष के घटकों में निहित है। बौद्धाभिमत में प्रमाण-स्वरूपभेद प्रमेयमूलक है। प्रमाण सदैव प्रमेय-सापेक्ष होते हैं। इसलिए प्रमेयों का गुणात्मक भेद प्रमाणों में भी गुणात्मक अन्तर को सुनिश्चित करता है। नैयायिकों को प्रमेय विषयक गुणात्मक एवं स्तर भेद स्वीकार्य ही नहीं है। अभिधेयत्व और ज्ञेयत्व की परिधि में आने वाले सभी पदार्थ समान रूप से समस्तरीय सत् हैं। इस परिधि के बाहर सत्ता का विधान ही नहीं किया जा सकता। तब भी घटक-भेद से प्रमाण-स्वरूप का भेद करते हुए प्रमाण-सम्प्लव की सम्यक् स्वीकृति विचारणीय हैं।

इसमें कोई दो राय नहीं कि सामान्य अनुभव के धरातल पर प्रमाणसम्प्लव का समर्थन किया जा सकता है। हम घट को चाक्षुष और स्पर्श प्रत्यक्ष के द्वारा जान सकते हैं। पर्वत पर की अग्नि को अनुमान एवं प्रत्यक्ष दोनों प्रमाणों से जाना जाता है। यहाँ प्रत्यक्ष-प्रमाण के घटक इन्द्रिय-संवेदों का परस्पर प्रयोग नितान्त भ्रामक प्रतीत होता है। क्या सचमुच चाक्षुष और स्पर्श प्रत्यक्ष के विषय की समानता यथोचित है ? चाक्षुष और स्पर्श प्रत्यक्ष के द्वारा तो हम घट के रूप और कठोरता को ही जानते हैं। रूप और कठोरता ही घट की सम्पूर्ण सत्ता नहीं है। कुमारिल भट्ट ने इन्द्रियों की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में सम्प्लव और व्यवस्था दोनों को स्वीकार किया है।[१८] मूर्त्त द्रव्य का प्रत्यक्ष चक्षु और त्वक् दोनों इन्द्रियों से होता है। यह इन्द्रिय-साङ्कर्य का उदाहरण है। रूप, रस, गन्ध स्पर्श और शब्द का प्रत्यक्ष तत्तद् इन्द्रियों के द्वारा क्रमश: एक-एक से होता है। यहाँ इन्द्रियों की प्रवृत्ति में स्पष्ट रूप से व्यवस्था दिखाई पड़ती है। वस्तुत: द्रव्य और गुण में भेद करते हुए गुणों को द्रव्याश्रित मानने वाले सभी बौद्धेतर दार्शनिकों को द्रव्य की दृष्टि से इन्द्रिय-सम्प्लव और गुण की दृष्टि से इन्द्रिय-व्यवस्था माननी ही चाहिए। नैयायिकों के अनुसार प्रत्यक्ष जातिविशिष्ट व्यक्ति को प्रकाशित करता है। मीमांसक भी थोड़े से अन्तर के साथ यही स्वीकार करते हैं। जाति-व्यक्ति, द्रव्य-गुण में समवाय-सम्बन्ध विवक्षित है। इसलिए सभी इन्द्रियों के द्वारा जाति-व्यक्ति युक्त घट के प्रत्यक्ष की व्याख्या हो जाती है। बौद्ध नैयायिक सम्बन्ध मात्र को ही असिद्ध मानते हैं। समवाय सम्बन्ध का प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसकी नित्यता भी अनुचित है। सम्बन्धी ही नित्य नहीं तो सम्बन्ध की नित्यता वैसे ही व्यर्थ है। नित्य पदार्थों में सम्बन्ध के लिए अपेक्षित उपकार्य-उपकारक-भाव अनुपपन्न होने के कारण सम्बन्ध मात्र ही असिद्ध हो जाता है। प्रसिद्ध तादात्म्य सम्बन्ध भी भेद को ढँकता हुआ अभेदरूपेण होता है। सम्बन्ध की वस्तुवादी संरचना में दो सम्बन्धियों का एक सम्बन्ध से संबंधित होना अनवस्थाग्रस्त होने से पूर्णत: अयुक्त है।[१९] नैयायिक इन आक्षेपों से बचने के लिए सम्बन्ध-मात्र को वस्तुनिष्ठ आधार प्रदान करते हैं। सभी सम्बन्ध बाह्य होने के कारण वस्तुगत हैं। कुछ भी आत्मनिष्ठ नहीं है। यहाँ तक कि वस्तुज्ञान के साथ-साथ ज्ञान का ज्ञान भी एक बाह्य वस्तुनिष्ठ सम्बन्ध के सम्प्रत्यय पर आधारित माना गया है। अत: विभिन्न प्रकार के वस्तुगत सम्बन्धों के ताने-बाने में बँधी सप्तपदार्थी तत्त्वमीमांसा ही वह आधार है जिससे प्रभावित होकर बौद्धेतर दार्शनिक भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रमाणों का सम्प्लव दिखाते हैं। स्वतन्त्र और प्रकार्यात्मक रूप में प्रमाणों का विनियोग भी सम्प्लववाद का समर्थन करे, यह आवश्यक नहीं है।

सामान्य अनुभव के धरातल पर प्रत्यक्ष और अनुमान का परस्पर सम्प्लवन भी विचारणीय है। दोनों प्रमाणों का परस्पर सम्प्लवन व्यावहारिक तो है लेकिन संज्ञानात्मक दृष्टि से यह संदिग्ध प्रतीत होता है। वास्तव में हम प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा क्या जानते हैं ? प्रत्यक्षत: अग्नि का प्रकाशन उसके रंग, रूप और तापमान आदि के द्वारा ही हो सकता है। इनमें से कोई भी अग्नि की अनुमिति में उपलब्ध नहीं होते हैं। अनुमान किसी वस्तु का विशेषरूपेण नहीं बल्कि सामान्यरूपेण ज्ञान कराता है। सभी

परोक्ष प्रमाणों के प्रति ऐसा कहने में कोई आपत्ति नहीं है। यदि यह सही है तो प्रमाणसम्प्लव कहाँ है ? प्रत्यक्षात्मक और आनुमानिक अनुभूति की संज्ञानात्मकता में पर्याप्त भेद विवक्षित है। दोनों अनुभूतियों की समानता का सम्प्रत्यय संज्ञानात्मक दृष्टि से अस्पष्ट और भ्रामक प्रतीत होता है। प्रत्यक्षत: हम किसी वस्तु को कुछ विशेषताओं के सहित जानते हैं। अनुमान के द्वारा उसी वस्तु को उन्हीं विशेषताओं के सहित नहीं जाना जा सकता है। दोनों प्रमाणों द्वारा प्राप्त स्नायुविक प्रभाव एवं प्रवृत्त्याभिमुखता में भी पर्याप्त अन्तर होता है। अनुमान अन्तत: अस्तित्त्व की सम्भावना को ही सूचित कर सकता है।[20] अनुमिति का आधार व्याप्ति-सम्बन्ध है। व्याप्ति-सम्बन्ध आकस्मिक या निश्चित में से कोई एक ही हो सकता है। पुन: इस आकस्मिकता या निश्चितता को तथ्यात्मक या आकारिक में से कोई एक होना चाहिए। यदि व्याप्ति-सम्बन्ध आकारिक है तो वह निश्चित होगा। यह विकल्प अनुमान के निष्कर्ष को अनिवार्य बनाता है लेकिन उसे तथ्यात्मक नहीं रहने देता है। आगमनात्मक सामान्यीकरण और सामान्यीकरण के आधार पर निर्मित सभी अस्तित्त्वात्मक सम्बन्ध अत्यन्त दुर्बल होते हैं। नैयायिकों का अनुमान इस तार्किक दुर्बलता से कभी मुक्त नहीं हो सकता। इस दुर्बलता को दूर करने के लिए नव्य नैयायिकों द्वारा किया गया प्रयास भी पूर्णत: सफल नहीं है। अत: विशिष्ट प्रत्यक्षात्मक अनुभूति और केवल अस्तित्त्व की हामी भरने वाले अनुमान का परस्पर सम्प्लवन संज्ञानात्मक दृष्टि से उचित नहीं है।

बौद्धेतर दर्शनों की प्रमाणमीमांसीय योजना में प्रमाणसम्प्लव का विरोध शाब्द और शाब्देतर प्रमाणों के मध्य स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। प्राय: वैसे दर्शन, जो किसी न किसी रूप में अतीन्द्रिय सत्ताओं को स्वीकार करते हैं, उन्हें शाब्द और शाब्देतर प्रमाणों के मध्य प्रमाण-व्यवस्था को दिखाना ही पड़ता है। यही कारण है कि अद्वैतवेदान्ती तत्तावेदक और अतत्तावेदक प्रमाण का विभाजन करते हैं। ब्रह्म, जो एकमात्र परमार्थ सत् है, अपने स्वरूप में सभी आनुभविक प्रमाणों का अतिक्रमण कर जाता है। यह 'शास्त्र-योनि'[21] है। इसे केवल शब्द-प्रमाण के द्वारा ही जाना जा सकता है। जगत् मिथ्यात्व का ज्ञान भी आनुभविक नहीं है। जगत् स्वयं ही अपने मिथ्यात्व का बोध नहीं कराता। अपने दैनिक जीवन में हम साधारण भ्रमों से भ्रमित हो जाया करते हैं। साधारण भ्रम जगत् की यथार्थता पर प्रश्न चिन्ह तो खड़ा कर सकते हैं लेकिन इसके आधार पर जगत्-मिथ्यात्व का प्रतिपादन अन्तिम रूप से नहीं किया जा सकता है। अपवादी उदहारण हमें सतर्क तो करते हैं लेकिन नियम प्रदान नहीं करते। अतएव कहा जा सकता है कि आनुभविक प्रमाण परम यथार्थता की ज्ञप्ति के लिए सर्वथा अपर्याप्त हैं। ये केवल व्यवहार की सीमा में ही क्रियाशील हो सकते हैं। परम यथार्थता में केवल आर्षप्रमाणों की ही गति होती है। यही आम्नायान्त प्रमाण-व्यवस्था है। आनुभविक तथ्यों की ज्ञप्ति के लिए 'श्रुति' की शरण में जाने की आवश्यकता नहीं। हथेली पर रखे कमल को श्रुतियों से नहीं जाना जाता है। पूर्वमीमांसकों के लिए भी 'श्रुति' ही धर्माधर्म में एकमात्र प्रमाण है। विधि का निर्धारण आनुभविक प्रमाणों के द्वारा सम्भव नहीं।[22] प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा 'अन्तिम रूप से चाहिए' के अर्थ में 'विधि' का निर्धारण करते हुए 'प्रकृतीकरण दोष' से बचा नहीं जा सकता है। इस अर्थ में विधि कोई वर्णनात्मक पद नहीं है। अतएव मीमांसकों की विचार-सरणी में भी विधि और व्यवहार का द्वैधीकरण शाब्द और शाब्देतर प्रमाणों के मध्य प्रमाण-व्यवस्था को सुनिश्चित करता है। नैयायिकों ने यद्यपि शब्द-प्रमाण की परिभाषा को ही बदल दिया है, तथापि वे भी इस आक्षेप से बच नहीं सकते हैं। वास्तव में 'ईश्वर' को शब्द-प्रमाण के अतिरिक्त अनुमानादि प्रमाणों से अन्तिम रूप में नहीं जाना जा सकता। अन्तत: शब्दप्रमाण-प्रोक्त ईश्वर की सिद्धि में ही अनुमानादि प्रमाणों का विनियोग सार्थक होता है।

ऐसे ही एक विशेष दृष्टिकोण से अनुपलब्धि-प्रमाण का विनियोग और उसके विषय की व्यवस्था विचारणीय है। अभाव और प्रमाणाभाव के ज्ञान के लिए मीमांसक और वेदान्ती अनुपलब्धि-

प्रमाण को एक स्वतन्त्र प्रमाण का दर्जा प्रदान करते हैं। नैयायिक अभाव को वस्तुनिष्ठ रूप से प्रत्यक्ष मानकर अभाव विषयक अनुपलब्धि प्रमाण का खण्डन करते हैं। किन्तु इससे प्रमाणाभाव-विषयक अनुपलब्धि प्रमाण का खण्डन नहीं हो जाता है। जहाँ सभी प्रमाणों का अभाव हो वहाँ प्रमाणाभाव की ज्ञप्ति के लिए अनुपलब्धि प्रमाण मानना आवश्यक है। इतरेतर प्रमाणाभाव ज्ञापित होते हुए भी उत्तरोतर प्रमाणाभाव-ज्ञापन के लिए किसी ऐसे प्रमाण का विनियोग अनुपपन्न है जो इतरेतर रूप से प्रमाणाभाव को ज्ञापित कराता हो। अत: प्रमाणाभाव-विषयक अनुपलब्धि और अनुपलब्धेतर प्रमाणों के मध्य भी प्रमाण-व्यवस्था दिखाई जा सकती है।

इस प्रकार बौद्धेतर प्रमाणमीमांसीय ढाँचे में प्रमाणों के त्रिविध युग्म प्राप्त होते हैं। युग्मत्रय को प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षेतर, शाब्द और शब्देतर तथा प्रमाणाभाव-विषयक अनुपलब्धि और अनुपलब्धेतर के रूप में देखा जा सकता है। ऐसे प्रमाण-युग्मों में कहीं करण का सम्प्लव न होना तो कहीं विषय की विलक्षणता प्रमाणसम्प्लव के दावे को कमजोर बनाता है।

प्रमाण-सम्प्लव की बौद्धेतर संरचना के प्रति कुछ और भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये जा सकते हैं। आखिर प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों को मानने की आवश्यकता ही क्या हैं ? पुन: प्रत्यक्ष की सहभागिता के बिना अन्य प्रमाणों का प्रस्ताव ही सम्भव कैसे है ? सामान्य रूप से इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि हम विभिन्न प्रमाणों का व्यवहार किया करते हैं। इस उत्तर से स्वयं ही दो आधारभूत प्रश्न उपस्थापित होते हैं। प्रथमत: हम क्यों एक से अधिक प्रमाणों का व्यवहार करते हैं ? द्वितीयत: यदि करते भी हैं तो क्या परस्पर सम्प्लवित होने वाले प्रमाण एक-दूसरे को व्यर्थ या अनावश्यक अतिरेक नहीं बनाते हैं ? क्या प्रमाणों के विषय एवं क्षेत्र की पृथक्ता को निर्धारित किये बिना इस अनावश्यक अतिरेकता-प्रसक्ति से बचा जा सकता है ? इसके उत्तर में नैयायिक यह कह सकते हैं कि सभी प्रमाणों में बलाबल का भेद होते हुए भी प्रत्येक का अपना-अपना महत्त्व है। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त परोक्ष प्रमाणों की उपादेयता को नकारा नहीं जा सकता। परोक्ष प्रमाण व्यवहार की व्यापक सीमा को अवाप्त करते हैं। किसी सिद्धान्त के निर्माण और सत्यापन में अनुमानादि परोक्ष-प्रमाण अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी होते हैं। पुन: एक प्रमाण से ज्ञात वस्तु को दूसरे प्रमाण के द्वारा जानना व्यर्थ नहीं, क्योंकि एक ही वस्तु को विभिन्न प्रमाणों के द्वारा भिन्न-भिन्न रूप से जाना जाता है।[२३] किन्तु नैयायिकों के लिए प्रत्यक्ष प्रधान प्रमिति है।[२४] मीमांसक और वेदान्ती भी प्रत्यक्ष को उपजीव्य प्रमाण मानते हैं। तब यह कहा जा सकता है कि प्रमाणों का पारस्परिक सम्प्लवन और प्रत्यक्ष की उपजीव्यता प्रत्येक्षतर प्रमाणों में अनावश्यक अतिरेकता को आंशिक रूप से प्रस्तावित अवश्य करता हैं। प्रमाण-व्यवस्था में प्रमाणों की प्रधानता और अप्रधानता का प्रश्न ही नहीं उठता।

इस 'अनावश्यक अतिरेकता-प्रसक्ति' से बचने के लिए प्रमाणों के प्रकार एवं भेद को 'विषयमूलक भेद' नहीं मानकर 'प्रकारतामूलक ज्ञान-भेद' माना जा सकता है। वास्तव में नैयायिकों के लिए प्रमाणों का भेद प्रकारतामूलक ज्ञान-भेद ही है। यह करण-भेद से निर्धारित होता है। अत: प्रकारतामूलक ज्ञान-भेद के रूप में विभिन्न प्रमाण एक ही विषय के लिए प्रयुक्त हो सकते हैं। किन्तु, ऐसा मानना भी पर्याप्त नहीं है। करण-भेद से प्रमाणों का भेद मानने का लाभ यह है कि प्रमाणों का स्वरूप विषय की स्वरूपात्मक स्थिति से स्वतन्त्र हो जाता है। यदि ऐसा मान भी लिया जाय तो भी प्रमाणों के विनियोग को विषय की अवस्था विशेष के अधिशासन से मुक्त नहीं कहा जा सकता है। आखिर अवस्था-विशेष पर कोई प्रमाण विशेष ही क्यों उपलब्ध होता है ? सामने उपस्थित घट को हम प्रत्यक्ष से ही क्यों जानते हैं ? क्यों नहीं इसके लिए हम अनुमानादि को प्रयुक्त करते हैं ? इसके लिए एक प्रतिबन्धक की आवश्यकता है। यह प्रतिबन्धक वस्तु की अवस्था-विशेष के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता है। अत: विषयावस्था

सापेक्ष प्रमाणों की उपलब्धि और विनियोग दो प्रकार के निष्कर्षों को सामने लाती है। प्रथमत:, यदि किसी वस्तु की अवस्था-विशेष में कोई एक ही प्रकार का प्रमाण प्रयुक्त होता है तो अवस्था-भेद से प्रमाण-व्यवस्था की सिद्धि होती है। द्वितीयत:, यदि किसी वस्तु की अवस्था-विशेष में एक से अधिक प्रकार के प्रमाणों की प्रयुक्ति मानी जाय तो अनावश्यक अतिरेकता-प्रसक्ति अनिवार्य हो जाती है।

वस्तुत: नैयायिकों की प्रमाण-विषयक दृष्टि पूर्णतया व्यावहारिक है। प्रमाणों का औचित्य हेयोपादेय के त्याग और ग्रहण में निहित है। हेयोपादेय व्यवहार के लिए सम्प्लव आवश्वक है लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि व्यवस्था को नकार दिया जाय। वात्स्यायन[25] ने प्रमाण-सम्प्लव और व्यवस्था दोनों को स्वीकार किया है। प्रमाण-सम्प्लव के लिए निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। आत्मा आप्तोदेश-रूप शब्द प्रमाण-गम्य है। इच्छा, द्वेष, सुख, दुख, प्रयत्नादि लिङ्गपूर्वक आत्मा का अनुमान सम्भव है। आत्ममन: सम्बन्ध-विशेष से आत्मा सद्य: प्रत्यक्ष का विषय है। मनोयोगपूर्वक आत्मबोध योगसमाधिज प्रत्यक्ष है। प्रमाण-व्यवस्था के लिए भी निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम:' आगम प्रमाण है। इसका लौकिक प्रत्यक्ष और अनुमान से ज्ञान सम्भव नहीं है। मेघ की गर्जना सुनने पर ध्वनिहेतुक अनुमान के बदले प्रत्यक्ष और आगम-प्रमाण अनुपपन्न है। हस्तस्थ आमलक के लिए अनुमान और आगम-प्रमाण अनावश्यक है। इस प्रकार एक ही प्रमाणमीमांसीय ढाँचे में प्रमाण-सम्प्लव और प्रमाण-व्यवस्था की उभय स्वीकृति से कुछ निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। प्रथम दोनों सिद्धान्त एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं। द्वितीय, व्यवहार दोनों को आत्मसात् करता है। तृतीय, प्रमाणों को प्रकारतामूलक ज्ञानभेद मानकर सम्प्लव और व्यवस्था दोनों दिखाये जा सकते हैं।

यहाँ ध्यातव्य है कि उपर्युक्त निष्कर्ष केवल प्रमेयों के ज्ञान के संदर्भ में ही उचित है। सम्प्लव और व्यवस्था का प्रश्न स्वयं प्रमाणों के संदर्भ में उठाया भी जा सकता है। नैयायिकों ने प्रमाणों को भी एक दृष्टि से प्रमेय-कोटि में परिगणित किया है। सूत्रकार गौतम[26] ने प्रमाणों की तुलना 'तराजू' से करते हुए यह दिखाया है कि किस प्रकार प्रत्यक्षादि 'उपलब्धि हेतु' होने से 'प्रमाण' और 'उपलब्धि विषय' होने से 'प्रमेय' हो जाते हैं। प्रश्न उठता है कि प्रमाणों का ज्ञान प्रमाणान्तर से होता है या प्रमाणान्तर के बिना वे स्वयं ही गृहीत होते हैं ? नैयायिकों[27] ने इस प्रश्न के उत्तर में अनवस्था दोष से बचने के लिए 'प्रदीप-प्रकाश' कर दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। 'प्रदीप-प्रकाश' स्वयं दृश्य होता हुआ दृश्यान्तर का हेतु बनकर दृश्य-दर्शन-भाव को प्राप्त होता है। ऐसे ही प्रत्यक्षादि प्रमाण भी प्रत्यक्षादिकों से ही गृहीत होते हुए अन्य के ग्राहक होते हैं। प्रमाणों को जानने के लिए न तो प्रमाणान्तर की आवश्यकता है, न प्रमाणान्तर के बिना यह असाधन ही है। प्रत्येक प्रमाण के द्वारा किसी वस्तु को जानते हुए इसका भी ज्ञान होता है कि यह किस प्रमाण के द्वारा जानी जा रही है। अत: प्रमेयरूपेण प्रमाणों के ज्ञान के संदर्भ में नैयायिकों को प्रमाण-सम्प्लववादी नहीं कहा जा सकता है। वैसे दर्शन, जो प्रमाणों को प्रमेय-कोटि में नहीं रखते, उनके लिए यह प्रश्न ही नहीं उठता है। वस्तुत: सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में प्रमाणों के ज्ञान के लिए प्रमाणान्तर का विधान न करते हुए, अनुव्यवसाय, स्वसंवेदन और स्वयंप्रकाशता आदि के द्वारा इसकी व्याख्या की गई है।

IV

अन्तत: प्रमाण-सम्प्लव और प्रमाण-व्यवस्था की समस्या अपनी प्रकृति में तत्त्वमीमांसीय है। क्या बनाना है, इस बात को ध्यान में रखे बिना जैसे किसी औजार को नहीं बनाया जा सकता है, वैसे ही तत्त्वमीमांसीय अधिशासन से मुक्त प्रमाणमीमांसा सम्भव भी नहीं है। यह अधिशासन प्रमाणों के स्वरूप को निर्धारित करने के साथ-साथ प्रमाणों के विनियोग को भी अभिप्रेरित करता है। उदाहरण के

लिए अधिकांश बौद्धेतर दार्शनिक निराकार ज्ञानवादी हैं। निराकार ज्ञानवाद के अनुसार ज्ञानगत आकार बाह्य विषयों के होते हैं।[२८] बुद्धि इन्हें यथावत् ग्रहण करती है। ज्ञान को निराकार मानने पर ज्ञानभेद के साथ-साथ वस्तुभेद मानना आवश्यक नहीं हैं। एक ही वस्तु प्रत्यक्ष और परोक्षादि विभिन्न माध्यमों से ज्ञान में भाषीय आकारों के साथ अपने आकार को अर्पित कर सकती है। निराकार ज्ञानवाद में करणभेद से प्रत्यक्ष-परोक्षादि प्रमाणभेद और प्रमाणों के सम्प्लवात्मक स्वरूप की व्याख्या हो जाती है। किन्तु सामान्य और विशेषीकृत व्यवहार की अनुमत सीमा में कहीं-कहीं व्यवस्थापरक प्रमाण-विनियोग की आवश्यकता को भी नकारा नहीं जा सकता है। अत: बौद्धेतर तत्त्वमीमांसीय संरचना निराकार ज्ञानवादी दृष्टि से प्रमाणों को सम्प्लवात्मक स्वरूप तो प्रदान करती है किन्तु व्यवहार-सम्मत प्रमाण-विनियोग के लिए सम्प्लव और व्यवस्था दोनों का अनुमोदन करती है। बौद्ध नैयायिक साकार ज्ञानवादी हैं। साकार ज्ञानवाद के अनुसार ज्ञानगत आकार बाह्य वस्तुओं के द्वारा प्रक्षिप्त नहीं बल्कि ज्ञान में ही अर्न्तनिहित होते हैं। यही ज्ञानगत आकार तथाकथित बाह्य वस्तुओं का सम्पूर्ण सारांश है। अतएव साकार ज्ञानवाद में ज्ञानभेद से वस्तुभेद आवश्यक रूप में विवक्षित होता है। ज्ञान-भेद से पृथक् एवं परे वस्तुभेद की कोई भावस्थिति ही नहीं है। इसलिए बौद्ध नैयायिकों की तत्त्वमीमांसीय संरचना में प्रमाणों का व्यवस्थापरक विनियोग आवश्यक हो जाता है। प्रमाणों का ऐसा स्वरूप उनके व्यवहार-सम्मत विनियोग में भी कायम रहता है।

प्रमाण-सम्प्लव और प्रमाण-व्यवस्था के तत्त्वमीमांसीय उत्स को एक-दूसरे रूप में भी देखा जा सकता है। वैसे सभी दार्शनिक सम्प्रदाय, जिनमें सत्ता की मीमांसा द्विविध स्तरों पर की जाती है, उन्हें किसी न किसी रूप में अनुभवपूर्व अविद्या की सक्रिय भूमिका को स्वीकार करना पड़ता है। यथा-बौद्धों और वेदान्तियों ने पारमार्थिक और व्यवहारिक रूप में सत्ता का द्वैधीकरण अपने-अपने ढंग से किया है। द्वैधीकृत सत्ता की तत्त्वमीमांसीय प्रकृति में भेद होते हुए भी तत्तद् दर्शनों की प्रमाणमीमांसीय योजना में उसे समायोजित करने के लिए प्रमाणों का स्तरीकरण आवश्यक हो जाता है। वास्तव में प्रमाण-व्यवस्था सत्ता के द्वैधीकरण को प्रमाणों के स्तरीकरण में दिखाने का ही प्रमाणमीमांसीय प्रयास है। वस्तुवादी तत्त्वमीमांसा में अविद्या या विकल्प की प्रागनुभविक सक्रिय भूमिका को स्वीकार नहीं किया जाता है। नैयायिकों और मीमांसकों की दृष्टि में कुछ भी काल्पनिक रूप से संरचित नहीं है। यही कारण है कि वस्तुवादी दार्शनिक भ्रम और विभ्रमों को व्याख्यायित करने के लिए अन्यथाख्याति, अख्याति और विपरीतख्याति जैसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं। इस रूप में प्रमाणसम्प्लव उनके लिए एक सहायक सिद्धान्त बन जाता है। उदाहरणार्थ अन्यथाख्यातिवाद के अनुसार तथाकथित भ्रमात्मक वस्तुएँ सर्वथा असत् नहीं होती हैं। भ्रभस्थल पर भी उनका ज्ञान 'ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ती' प्रत्यक्ष से होता ही है। यह बात अलग है कि प्रमाणों के सम्प्लवात्मक स्वरूप का ऐसा विस्तार बहुत कुछ अन्य सहकारी शर्तों की अपेक्षा रखता है।

V

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षात्मक रूप में यह कहा जा सकता है कि कोई भी प्रमाणमीमांसा अपने तत्त्वमीमांसीय संरक्षण में ही विकसित और पल्लवित होती है। यही कारण है कि प्रमाणमीमांसा की अनुमत सीमा में उठने वाले अधिकांश प्रश्न अन्तत: तत्त्वमीमांसीय भेदों को ही उद्घाटित करते हैं। प्रमाणसम्प्लव और व्यवस्था का विवाद भी तत्त्वमीमांसीय लंगर से बंधी हुई समस्या है। यह बौद्धेतर वस्तुवादी तत्त्वमीमांसा की उदारता है कि वह प्रमाणों की सम्प्लवात्मक प्रकृति को अनुमोदित करते हुए उनके व्यवस्थापरक विनियोग का विरोध नहीं करता है। वहीं बौद्ध नैयायिकों की प्रमाणमीमांसा पर तत्त्वमीमांसा का इतना कठोर अनुशासन है कि वह उन्हें प्रमाण-

व्यवस्था के अतिरिक्त कुछ स्वीकार नहीं करने देता है। वस्तुत: तत्त्वमीमांसीय नियामकता में प्रमाणों का अपनी-अपनी प्रस्थिति और भूमिका में रूढ़ हो जाना उनकी नियति है। प्रत्येक तत्त्वमीमांसा के अपने ही तर्क और प्रमाण होते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि विभिन्न प्रकार के तत्त्वमीमांसीय अधिशासनों से युक्त भिन्न-भिन्न प्रमाणमीमांसीय योजनाओं के द्वारा हमारे लोकानुभव और व्यवहार को निर्देशित किया जाता है। हाँ, विभिन्न प्रकार की प्रमाणमीमांसीय योजनाएँ लोकानुभव और व्यवहार को ससम्मान विवेचित और व्याख्यायित करते हुए एक 'दृष्टिविशेष' से उसे संस्कारित तो अवश्य ही करते हैं।

***

संदर्भ-सूची

१. श्चर्बात्स्की-बौद्धन्याय-हि. अनु.-रामकुमार राय. पृ.६४७, चौ. वि. भ. वाराणसी।

२. न्या. भा. १.१.३ 'प्रमातुः प्रमातव्येऽर्थे प्रमाणानां सम्भवोऽभिसम्प्लवः असम्भवो व्यवस्थेति।'

३. प्रमा, वा. २.१. 'मानं द्विविधं विषय-द्वैविध्यात्'।

४. प्रमा. वा., २.५३-५४ 'मेयं त्वेकं स्वलक्षणं. .स्वपररूपाभ्यां गतेर्मेयद्वय मतम्।'

५. न्या.वि., १.१२.'द्विविधो हि विषयः प्रमाणस्य - ग्राह्यश्च यदाकारमुत्पद्यते, प्रापणीयश्च यमध्यवस्यति।

६. आन्वीक्षिकी-अंक ६, जुलाई-अक्टूबर,१९७३, दर्शन विभाग, का.हि.वि.वि., वाराणसी पृ. १८९

७. प्रमा. वा. (मनो.), २.२. "सर्वस्य संग्रहात् द्वैविध्यमेव"

८. प्रमा. वा. २.१.२.
मानं द्विविधं विषय-द्वैविध्यात् शक्त्यक्तितः।
अर्थक्रियायां केशादिर्नार्थोऽनर्थाधिमोक्षतः।
सदृशासदृशत्वाच्च विषयाविषयत्वतः।
शब्दस्य अन्यनिमित्तानां भावे धी सदसत्त्वतः॥

९. न्यायमंजरी, आ. १, प्रमा. परि., "प्रमाणद्वयसिद्धे च विषयद्वयवेदने। वद कस्यानुरोधेन तृतीयं मानमिष्यताम्'?

१०. अकलङ्क प्रमाणन्तर्भाव- "प्रत्यक्षं अनुमानं च प्रमाणमिदमेव हि। प्रमाणसम्प्लवायोगात् प्रमेयद्वय संगतेः॥"

११. प्रमा. वा., २.६३, ६४
न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य सम्भवः।
तस्मात् प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते॥
त्र्येकसंख्यानिरासो वा प्रमेयद्वयदर्शनात्।
एकमेवाप्रमेयत्वाद् सतश्चेन्मतं च नः॥

१२. प्रमा. वार्तिकालङ्करभाष्य, २.६३.६४, "स्वाकारद्वयसंवेदने हि नैकमिति-युक्तम्। नापित्रयादिकम्।"

१३. वही, प्रमाणस्वरूपन्तु स्वयंवेदनाकारसिद्धेः।

१४. द्रष्टव्य- "प्रमाणन्तर्भाव प्रकरण-विमर्श", डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा, दार्शनिक त्रैमासिक, अंक १-४, १९९१-९२, संयुक्तांक।

१५. प्रमाणवार्त्तिकम्, वार्त्तिकालङ्करभाष्य सहित, हि., अनु., स्वामीयोगीन्द्रानन्द, षड्दर्शन प्रका., संस्थान वाराणसी, पृ. ४१३ ननु प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणो विषयभेदः केन प्रमाणेन प्रतीयते। किं प्रत्यक्षानुमानेन प्रमाणान्तरेण वा।

१६. वही पृ. ४१४ अत्रोच्यते- विषयद्वैविध्यंप्रत्यक्षत एव सिद्धम्। सदृशासदृशप्रतीतिर्हि प्रतीतेरेव धर्मः स च स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धः। न च प्रतीतिः स्वरूपे भ्रान्तिसङ्गता, तत्र भ्रान्तिशङ्कायामव्यवहार एव भवेदनवतारहेतुर्वा वादिप्रतिवादिप्राश्निकवचनस्य।

१७. न्या.भा. १.१.३ सा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा। जिज्ञासितमर्थमाप्तोपदेशात् प्रतिपद्यमानों लिङ्ग दर्शनेनापि बुभुत्सते, लिङ्गदर्शनानुमितं च प्रत्यक्षतोदिदृक्षते, प्रत्यक्षत उपलब्धेऽर्थे जिज्ञासा निवर्तते। पूर्वोक्तमुदाहरणं- 'अग्नि'।

१८. श्लो. वा. प्रत्यक्षगतधर्मानिमित्तत्वसूत्रम्, १७०. 'तस्मात् पंचभिरप्यक्षैर्बोधः सत्तागुणत्वयोः। द्रव्यभूतो पुनःद्वाभ्यां रूपादावेकशः स्थितः॥'

१९. धर्मकीर्ति,सम्बन्ध-परीक्षा, ४

द्वयोरेकाभिसंबंधात् संबंधो यदि तद्द्वयो:
क:संबंधोऽनवस्था च न संबंधमतिस्तथा ।

२०. बृह. उप. शां.भा. आनन्दगिरि टीका, *"सम्भावनामात्रेण लिङ्गोपन्यास: । न हि निश्चायकत्वेन तदुपन्यस्यते।"*

२१. ब्र. सू. (चतु:सूत्री), १.४ *शास्त्रयोनित्वात् ।* शंकराचार्य ने इसकी व्याख्या *'शास्त्रस्य योनि:'* और *'शास्त्रं योनिर्यस्य'* दो रूपों में की है ।

२२. मी.सू.१.१.४, भाष्यकार शबरस्वामी ने धर्म में प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अपर्याप्तता बताने के लिए *'धर्मस्य भाव्यत्वाद्वर्तमानैक देशित्वादिन्द्रियस्य'* कहा है ।

२३. न्या.वा. १.१.१ *'अधिगतत्वाद् वैयर्थमिति, न अन्यथा तदधिगते: ।'*

२४. न्या.भा. १.१३ *'सा चेयं प्रमिति: प्रत्यक्षपरा ।*

२५. न्या.भा. १.१.३ *किं पुन: प्रमाणानि प्रमेयाभिसम्प्लवन्ते अथ प्रमेयं व्यवतिष्ठन्त इति । उभयथादर्शनम् ।*

२६. न्या. सू. २. १.६, *प्रमेयता च तुला प्रामाण्यवत् ।*

२७. न्या. सू. २.१.१९, *न प्रदीपप्रकाशवत् तत्सिद्धे: ।*

२८. शाबरभाष्य,१.१.२ *निराकारा च नो बुद्धि: आकारवान् बाह्योऽर्थ: ।*

प्रमाणान्तर्भाव प्रकरण विमर्श

I

तत्त्वमीमांसा का कार्य अनुभव की व्याख्या करने के बजाय उसे निर्देशित करना नहीं है। यथास्थिति में सामान्य अनुभव की सुसंगत व्याख्या के लिये प्रत्येक तत्त्वमीमांसीय प्रस्थापनाओं का एक ज्ञानमीमांसीय संदर्भ आवश्यक होता है। ऐसे ज्ञानमीमांसीय संदर्भों को स्वीकृत प्रमाणों के अन्तर्गत परिलक्षित होना ही प्रमाणमीमांसीय अनुवीक्षा को पुष्ट करता है। यदि स्वीकृत प्रमाण इस अपेक्षा को पूरा नहीं करते हैं, तो उनकी स्वरूप हानि होती है। प्रमाणों का एक महत्त्वपूर्ण आयाम उनकी व्यावहारिक सार्थकता भी है। व्यावहारिक सार्थकता को प्रमाणों के स्वरूप हानि विषयक प्रश्न से कोई विशेष लेना-देना नहीं है। परन्तु, तात्त्विक अभ्युपगम की विरोधी व्यावहारिक सार्थकता भी प्रमाणों के लिये उपादेय नहीं है। प्रमाणों की ऐसी उपादेयता जो तात्त्विक रूप से स्वीकृत प्रमेयों के प्रकाशन में निहित है, उनके स्वरूप हानि विषयक उपर्युक्त प्रश्न से घनिष्ट सम्बन्ध रखता है। व्यावहारिक अधिशासन को प्राथमिकता देते हुए यदि एक ही प्रमाण से अनेकविध प्रमेयों का प्रकाशन स्वीकार किया जाय तो प्रमाण लक्षण का अतिव्याप्ति दोष से ग्रसित हो जाना स्वाभाविक है। अनेक प्रमाणों से एक ही प्रमेय का प्रकाशन स्वीकार करने पर प्रमाण विनियोग में अनावश्यक अतिरेकता आसन्न हो जाती है। इसलिये किसी भी प्रमाणमीमांसा के तात्त्विक अभ्युपगम में ही प्रमाणसंख्या का भी विचार उचित प्रतीत होता है।

यहाँ प्रमाणों का तात्त्विक अभ्युपगम और प्रमाणान्तर्भाव विषयक एक महत्त्वपूर्ण समस्या का विचार आवश्यक है। इसमें कोई दो राय नहीं कि तत्त्वमीमांसा प्रमाणों के स्वरूप एवं विनियोग को निर्धारित करने के साथ-साथ प्रमाणसंख्या को भी निर्देशित कर सकता है। परन्तु, कोई किस प्रकार की तत्त्वमीमांसा को स्वीकार करता है, यह उसके गोत्र या सम्पूर्ण बौद्धिकता से सम्बन्धित प्रश्न है। तब तो तत्त्वमीमांसीय संरचना की भिन्नता को स्वीकार करने के साथ ही भिन्न-भिन्न प्रमाणमीमांसीय ढाँचे की स्वीकृति आपत्तिजनक नहीं रह जाती है। ऐसी स्थिति में प्रमाणान्तर्भाव प्रकरण का औचित्य अपने विचारों को दूसरे के ऊपर थोपने केअतिरिक्त क्या हो सकता है ? यदि विशुद्ध प्रमाणमीमांसीय परिसीमा में प्रमाणान्तर्भाव के लिये एक सामान्य आधार खोजने का प्रयास किया जाय तो इतिविषयक तत्त्वमीमांसीय भूमिका की औचित्यहीनता प्रतिपादित होती है। वस्तुत: प्रमाणमीमांसा को अनुवीक्षा के रूप स्वीकार कर लेने के पश्चात् कोई भी प्रमाणमीमांसीय निष्पत्ति तात्त्विक अधिशासन से मुक्त नहीं हो सकती है। प्रमाणान्तर्भाव का प्रश्न तो प्रमाणों के संप्लवात्मक प्रकृति का विरोधी पक्ष है। यह प्रमाण व्यवस्था का सह पाकर लाघव को प्राप्त होता है।

भारतीय दर्शन में प्रमाण संख्या विषयक विप्रतिपत्ति का इतिहास बहुत लम्बा है। एक प्रचलित श्लोक में उक्त विप्रतिपत्ति को इस प्रकार दर्शाया गया है। "प्रत्यक्षमेकं चार्वाका: कणाद सुगतो पुन:। अनुमानं च तच्चापि सांख्या शब्दश्च ते उभे ॥ न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानं च केचन। अर्थापत्या सहैतानि चत्वार्याहु: प्राभाकरा: ॥ अभाव षष्टन्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा। सम्भवैतिह्य युक्तानि

तानिपौराणिकाः जगुः ॥'' यह स्पष्ट रूप से प्रमाण विभाग और संख्या सम्बन्धी मतवैभिन्य को निरूपित करता है। इस मतवैभिन्न्यात्मक पृष्ठभूमि में सम्पूर्ण भारतीय प्रमाणवाद के लिये प्रमाणान्तर्भाव आवश्यक हो जाता है। सभी सम्प्रदाय अपने मत में स्वीकृत प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों का अन्तर्भाव दिखाकर स्वमत को पुष्ट करते हैं। यहाँ बौद्ध और बौद्धतर प्रमाणान्तर्भाव में एक विशेष प्रकार का भेद परिलक्षित होता है। बौद्धेतर प्रमाणान्तर्भाव प्रमाण संप्लव का विरोधी नहीं है। प्रमाण संप्लव को स्वीकार करते हुये प्रमाणान्तर्भाव दिखाना किसी प्रमाणमीमांसीय संरचना को अस्वीकार करना नहीं है। बौद्ध प्रमाणसंप्लव के सर्वथा विरोधी हैं। बौद्ध नैयायिक प्रमाणों का अन्तर्भाव दिखाते हुए प्रमेयों का भी अन्तर्भाव कर देते हैं। इस तरह प्रमाण व्यवस्थावादी प्रमाणान्तर्भाव अन्ततः किसी भी वैकल्पिक प्रमाणमीमांसीय संरचना की अस्वीकृति में पर्यवसित हो जाता है।

बौद्ध नैयायिकों की विचार योजना में उपलम्भता को सत्ता का लक्षण मानने के कारण ऐसा सम्भव हो पाता है। उपलम्भ हुए बिना कोई वस्तु भावरूपता को आत्मसात् नहीं कर सकती है।[1] सत्ता का ऐसा लक्षण स्वीकार करने पर प्रमाणसंप्लव का विरोध करते हुए प्रमाणान्तर्भाव के प्रति उदासीन रहने से अज्ञेयवाद की प्रसक्ति होती है। भावरूपता के लिये उपलम्भन की अनिवार्यता और प्रमाणान्तर्भाव के प्रति उदासीनता परस्पर विरोधी बातें हैं। इसलिए न्यायवादी बौद्धों ने प्रमाणान्तर्भाव विषयक एक आदर्श दृष्टिकोण अपनाया है। उनके दृष्टिकोण की आदर्शरूपता समस्या के समायोजन में निहित है। समायोजन को सम्यक् बनाने के लिये प्रमाणोच्छेदवादियों को निरस्त करते हुए प्रमाण प्रतिपादन और प्रमाणमात्र का प्रत्यक्ष और अनुमान में अन्तर्भावपूर्वक प्रमाणद्वयेतर का खण्डन किया गया है। ज्ञानश्री मित्र ने अपने अद्वैत बिन्दु नामक प्रकरण ग्रन्थ में प्रमाणोच्छेदवादियों का सम्भावित रूप में अध्याहार करते हुए उनका खण्डन किया है। प्रमाण से ही किसी वस्तु का बौद्धिक निदर्शन होता है। प्रमाण को अप्रमाण मान लेने पर विचार के सारे अवसर ही समाप्त हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में खण्डन और मण्डन कुछ भी सम्भव नहीं है। कोई प्रमाणोच्छेदवादी किसी सभा में कैसे समादृत हो सकता है। आखिरकार प्रमाणों की अनुपयुक्तता प्रदर्शित करते हुए वह क्या सिद्ध करना चाहता है ? यदि उसके मत से किसी वस्तु का बाधन स्वीकार किया जाय तो बाधक प्रमाणों की सिद्धि होती है। अबाधान स्वीकार करने पर प्रमाणोच्छेदवादियों से भयभीत होने की जरूरत ही नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसके मत से कुछ भी साध्य नहीं है। तब तो उसके प्रश्नों की आभिप्रायिकता ही समाप्त हो जाती है। वाच्यार्थ बोध का समार्थ्य ही शब्दों की सुन्दरता है। अर्थहीन शब्द प्रयोग से क्या लाभ हो सकता है। इससे बचने के लिये यदि प्रमाणों का सांवृत्तिक औचित्य स्वीकार किया जाय तो प्रमाण के बिना केवल वचनमात्र से ही संवृत्ति की सिद्धि नहीं होती है। सांवृत्तिक व्यवस्था के लिये भी कुछ नियम अपेक्षित हैं। किसी भी स्थिति में भावाभाव व्यवस्था के लिए प्रमाणों की प्रभुता अनिवार्य है।[2] इसलिये सभी अवस्थाओं में प्रमाणों का परित्याग सर्वथा असमर्थनीय है।

भारतीय दर्शन के इतिहास में प्रमाणोच्छेदवादियों की कोई अविच्छिन्न परम्परा नहीं है। नागार्जुन कृत 'विग्रहव्यावर्त्तनी' में प्रमाण-प्रमेय व्यवस्था के विरोध में कुछ मौलिक प्रश्न उठाये गये हैं। तत्पश्चात् जयराशि भट्ट ने 'तत्त्वोपप्लवसिंह' नामक ग्रन्थ में प्रमाणोच्छेदपूर्वक तात्त्विक विप्लव दिखाने का प्रयास किया है। सम्प्रति तत्त्वोपप्लवसिंह ही प्रमाणोच्छेदवादियों का प्रतिनिधि ग्रन्थ माना जाता है। ग्रन्थकार ने अपनी प्रतिज्ञा को स्पष्ट करते हुए कहा है कि-सम्पूर्ण प्रमाण-प्रमेय व्यवस्था का आधार प्रमाण सद्लक्षण है। विचार करने पर किसी भी प्रमाण लक्षण को निर्दोष सिद्ध नहीं किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में प्रमाणाश्रित प्रमेय व्यवस्था और तदनुसारी सम्पूर्ण व्यवहार अविचार रमणीयता को प्राप्त होते हैं।[3] यहाँ ध्यातव्य है कि जयराशि भट्ट ने 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' को लक्ष्य

करके 'प्रमाण सल्लक्षणाभावात् प्रमेयोपप्लव:' का प्रतिपादन किया है। बौद्ध नैयायिक 'प्रमाणसिद्धि: प्रमेयाद्धि' के आधार पर 'प्रमेय सद्भावात् प्रमाणद्वयस्थिति:' की व्यवस्था करते हैं। तत्त्वोपप्लवसिंह में इस पक्ष के प्रमाण लक्षणों का खण्डन करते हुए उनके प्रमेयमूलक अभ्युपगम की अनेदखी हुई है। इसलिये जयराशि प्रणीत विप्रतिपत्तियों से बौद्ध प्रमाण-प्रमेय व्यवस्था व्याहत नहीं होती है।

II

प्रमाणमात्र की अस्मिता के प्रति आश्वस्त होने के पश्चात् प्रमाण संख्या का विचार प्रासंगिक है। न्यायवादी बौद्ध-परम्परा में प्रमाण द्वित्व के सिद्धान्त को स्थिर किया गया है। द्वैराश्यमूलक प्रमेय द्वित्व होने से प्रमाण न तो एक और न ही दो से अधिक तृतीयादि ही हो सकते हैं। इसमें प्रत्यक्ष की प्रमाणता सबको समान रूप से स्वीकार्य है। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमानादि प्रमाणों की संख्या विवादास्पद है। चार्वाक अनुमान प्रमाण का खण्डन करता है। प्रमाण गणना में अनुमान का निराकरण व्यवहार सम्मत नहीं है। इसके पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं। प्रथमत: भाव और अभाव का समान रूप से निश्चय प्रत्यक्षत: अनुपपन्न है। प्रत्यक्ष की अप्रवृत्ति से अभाव का प्रत्यक्षात्मक निश्चय मानना आँख बन्द कर आँख से देखने के समान नितान्त विरुद्ध है। अन्वय-व्यतिरेकात्मक अनुपलब्धि से युक्त प्रत्यक्ष की अप्रवृत्ति अभाव का गमक होने से वह सद्य:अनुमान है।[४] द्वितीयत:- प्रत्येक पुरुष को अपने शरीरगत चैतन्य और प्रवृत्तियों की प्रतिपत्ति प्रत्यक्षत: होती है। अन्य शरीर में वैसी प्रवृत्तियों को देखकर वह पर चैतन्य का अनुमान करता है। स्वगत चैतन्य और परगत चैतन्य की प्रतिपत्ति से प्रत्यक्ष और अनुमानात्मक द्विविध प्रमाण सद्य: सिद्ध है।[५] तृतीय:- परलोक निषेध के लिये चार्वाक अनुपलब्धि हेतु से अनुमान का स्वयं व्यवहार करते हुए किस प्रकार अनुमान का खण्डन कर सकता है ? चार्वाक के पक्ष से यह कहा जा सकता है कि परलोक के बिना भी जीवितार्थी व्यक्ति अपने जीवन का अभ्यर्थी है ? अतीत की अभ्यर्थना ही अनुपपन्न है। वर्तमान प्राप्त हो चुका है। अनागत जीवन की कामना हो सकती है। तब उसके उपाय की कामना जिस अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा सम्भव है, वही अनुमान है। रत्नकीर्ति ने न्यायशास्त्रीय ढंग से चार्वाक का विरोध करते हुए कहा है कि- ''तच्छास्त्रे हि प्रत्यक्षेतर सामान्ययो: प्रमाणेतर विधानं लक्षण प्रणयन्तो विधातव्यम्। तच्चलक्षणं प्रत्यक्षेधर्मिणि लक्ष्ये प्रामाण्ये प्रत्येतव्ये स्वभावो हेतु:। पर बुद्धि प्रतिपत्तौ च कामादि व्यापार: कार्य हेतु:। परलोक प्रतिषेधे च दृश्यानुपलम्भोऽङ्गीकर्त्तव्य इति कथमनुमानालाप:।[६] इस प्रकार स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि हेतु से जनित अनुमान का खण्डन असम्भव है। प्रत्यक्ष स्वरूपत: एक निर्विकल्पप्रतिपत्ति है। प्रत्यक्ष की निर्विकल्पकता ही परोक्ष प्रमिति रूप अनुमानान्वेषण को प्रेरित करती है। सविकल्पकता सामान्यलक्षण का धर्म है। सामान्यलक्षण ही व्यवहार योग्य होता है। व्यवहार सम्पादन के लिये अनुमिति अपरिहार्य है। एतावता निर्विकल्पकत्वेन सकल निर्विकल्पक कलाप और सविकल्पकत्वेन निखिल सविकल्पक प्रकारों का संग्रह प्रत्यक्ष और अनुमान में हो जाने से द्वयेतर प्रमाणों का भी निरास स्वयं प्रस्तावित हो जाता है।

बौद्ध नैयायिकों के अनुसार 'प्रमाणान्तरागृहीतनिश्चित प्रवृत्तिविषयार्थतया तत्प्रापणे शक्ति:' ही प्रमाणों का प्रामाण्य है। यह प्रापण शक्ति रूप प्रामाण्य अर्थ से उत्पन्न न होकर अर्थ दर्शन से उत्पन्न होता है। प्रश्न उठता है कि अर्थ-दर्शन क्या है ? साधारणतया अर्थ का धर्म दृश्यत्व है और ज्ञान का धर्म द्रष्टृत्व माना जाता है। प्रथम पक्ष में एकार्थगोचरता पूर्वक सर्वार्थगोचरता का दोष आसन्न है। क्योंकि, दृश्यत्व तो सभी अर्थों का सर्वसाधारण धर्म है। दूसरे पक्ष में द्रष्टृत्व ज्ञान का धर्म होने से अर्थप्रतीति को असम्भव बना देता है। क्योंकि,अन्य से अन्य की प्रतीति नहीं हो सकती।[७] उपर्युक्त उभयविध विकल्प पृथक्-पृथक् एकांगी होने से अपर्याप्त हैं। प्रामाण्य के लिये दोनों की पारस्परिक सापेक्षता आवश्यक

है। दृश्यत्व के बिना द्रष्टृत्व और दृष्टृत्व के बिना दृश्यत्व अनुपपन्न है। ज्ञान में रूपायित दृश्य-द्रष्टृत्व भाव की व्याख्या दृश्यत्व और द्रष्टृत्व को क्रमश: अर्थ और ज्ञान का धर्म मानकर नहीं की जा सकती है। वस्तुत: साकार ज्ञानवादी अभ्युपगम में सारुप्यवशात् ज्ञानान्तर्गत ही दृश्य-दर्शनभाव रूपायित होता है।[8] यह सारुप्य कोई परमार्थ सत् नहीं और न ही बाह्य अर्थ नामक कुछ वस्तु इसका नियामक है। बौद्ध न्याय में असारुप्य व्यावृत्त सारुप्यवशात् अर्थदर्शन अभिप्रेत है। इत्याकारक अर्थदर्शन ही ग्राह्यतया प्रत्यक्ष और अध्यवसायतया अनुमान के रूप में व्यवहृत होता है। ग्राह्य और अध्यवसेय भेद से प्रत्यक्ष में 'अज्ञातार्थ प्रकाशकत्वेन' और अनुमान में 'अविसंवादकत्वेन' प्रामाण्य स्थित रहता है। यह प्रामाण्य विषयक बौद्ध नैयायिकों की विशेष अभिमति है।

III

भारतीय दर्शन में न्यायवादी बौद्ध सम्मत प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त शब्द नामक एक स्वतंत्र प्रमाण अत्यन्त प्रसिद्ध है। प्रत्यक्ष प्रमाण केवल दृष्टवस्तु को ग्रहण करता है। अनुमान प्रमाण व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध पर निर्भर है। दोनों प्रमाणों में पारलौकिक पदार्थों के स्वरूप या सम्बन्ध ज्ञान की क्षमता न होने के कारण शास्त्र नामक एक तीसरा प्रमाण मानना आवश्यक है। मीमांसकों के अनुसार विधि वाक्यों के द्वारा स्वर्गादि असन्निकृष्ट अर्थों का साधक विज्ञान ही शास्त्र नामक शब्द प्रमाण है। शबर स्वामी ने शास्त्र का लक्षण बताते हुए 'शास्त्रं शब्दविज्ञानासन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्' कहा है।[9] शब्द राशि शास्त्र अपौरुषेय, पौरुषेय अथवा आप्तोपदिष्ट रूप में सर्वथा समीहित अर्थ का साधक होने के कारण प्रमाण माना जाता है।[10] पार्थसारथि मिश्र ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि विज्ञान शब्द से पदार्थ ज्ञान और उससे वाक्यार्थ की उपस्थिति ही शब्द प्रमाण है।[11] वाक्यार्थ ज्ञान में पद ज्ञान कारण है। पदार्थ ज्ञान व्यापार है। शक्ति सहकारी कारण है। वाक्यार्थ ज्ञान फल है। नैयायिकों ने 'आप्त-वाक्य' के रूप में शब्द प्रमाण का लक्षण किया है।[12] 'आप्तवाक्यं शब्द:' में शब्द लक्ष्य पद है। आप्तोपदेश लक्षण पद है। यथाभूत उपदेष्टा आप्त का स्वरूप माना जाता है।

बौद्ध नैयायिकों के अनुसार उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर शब्द की स्वतंत्र प्रमाणता का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। नित्य और अपौरुषेय शब्द स्वरूप की संकल्पना अनेक विप्रतिपत्तियों से ग्रस्त है। मीमांसोक्त शब्द की नित्यता के विरोध में क्षणभङ्ग प्रसाधक सभी युक्तियों को प्रकारान्तर से उपस्थापित किया जा सकता है।[13] इसके अतिरिक्त यह भी पूछा जाना चाहिये कि अकृतक वाक्य स्वरूपत: ज्ञान जनन में शक्त अथवा अशक्त होते हैं ? उभयविध विकल्प के अलावा कोई तीसरा विकल्प नहीं है। यदि अकृतक वाक्यों को ज्ञान जनन में नित्य समर्थ माना जाय तो तद्विषयक तीनों कालों का विज्ञान और अर्थ की उपलब्धि होनी चाहिये। ऐसी उपलब्धि का निगमन मीमांसा विहित शब्द के स्वभाव में निहित है। यदि अकृतकत्वेन नित्यवाक्यों को ज्ञान जनन में अशक्त माना जाय तो तीनों काल में उससे विज्ञान और अर्थ की उपलब्धि नहीं हो सकती है। नित्यभाव में कदाचित्कत्व अनुपपन्न है।[14] वाक्यों की अपौरुषेयता भी एक असंगत संकल्पना है। अपौरुषेय वाक्य अर्थवान नहीं हो सकते है। किसी भी वाक्य की अर्थवत्ता अविपरीतार्थत्वेन या विपरीतार्थत्वेन ही सम्भव है। अर्थवत्ता का ऐसा निश्चयीकरण सदैव पुरुषाश्रित होता है। पुरुष संदर्भ के निषेध से वाक्यों की उभयविध अर्थवत्ता का स्वत: निरास हो जाता है।[15] इससे बचने के लिये मीमांसक या नैयायिक आप्तपुरुष को भी वाक्यों की अर्थवत्ता का नियामक नहीं मान सकते हैं। विपर्यास, भ्रान्ति और स्खलन दोष से रहित पुरुष की कल्पना ही असम्भव है। यदि किसी आप्तपुरुष को स्वीकार भी कर लिया जाय तो उसके दोष रहित चित्तवृत्ति की प्रत्यक्षात्मक प्रतिपत्ति अनुपपन्न है। शरीर और वचनादि व्यापार रूप कार्य से कारणरूपेण दोष रहित चित्तवृत्ति का अनुमान व्याभिचारात्मक है। रागी पुरुष भी वीतराग की तरह व्यवहार करते

देखे जाते हैं। यदि आप्त पुरुष के आप्तत्त्व की सिद्धि शब्द प्रमाण से ही मानी जाय तो अन्योन्याश्रय दोष की उपपत्ति होगी। रत्नकीर्ति ने ठीक ही कहा है कि आप्त पुरुष के आप्तत्त्व की असिद्धि ही शब्द प्रमाण निरास के लिये पर्याप्त है।[१६]

बौद्ध नैयायिकों ने सामान्य रूप से भी शब्द की प्रमाणता के विरुद्ध कुछ मौलिक आपत्तियों को उदभावित किया है। बाह्यार्थ का अविसंवादी शब्द ही प्रमाण की कोटि में रखा जा सकता है। शब्द और बाह्यार्थ के मध्य अविसंवाद के लिये दोनों का परस्पर, संबंधित होना आवश्यक है। 'यस्य यत्र प्रतिबन्धो नास्ति न तस्य तत्र प्रामाण्यम्' एक सर्वमान्य नियम है। वैदिक या लौकिक वाक्यों को बाह्यार्थ से असम्बन्धित होने के कारण प्रमाण नहीं माना जा सकता है। शब्द और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध अनुपपन्न है। तादात्म्य सम्बन्ध का मूल एकत्व है। शब्दार्थ सम्बन्ध में दोनों सम्बन्धी अत्यन्त भिन्न रूप में प्रतिभासित होते हैं। शब्द और अर्थ के मध्य तदुत्पत्ति सम्बन्ध का विधान भी अनुपयुक्त है। तदुत्पत्ति सम्बन्ध के लिए सम्बन्धियों का अन्वय व्यतिरेक आवश्यक है। बाह्यार्थ के अभाव में भी पुरुषापेक्षा और कण्ठ-तालु व्यापार से शब्द उत्पन्न होते हैं। शब्द के अभाव में भी चक्र-चिवरादि से घट की उत्पत्ति देखी जाती है।[१७]

शब्द और अर्थ के मध्य तादात्म्य तदुत्पत्ति से भिन्न वाच्यवाचक सम्बन्ध की संकल्पना भी असंगत है। यदि वाच्यवाचक रूप में शब्दार्थ सम्बन्ध वास्तविक है, तो शब्द संकेत से अनभिज्ञ व्यक्ति को भी शब्दोच्चारण मात्र से नियत अर्थ की प्रतीति होनी चाहिये।[१८] यथा दीपगत प्रकाशन योग्यता मात्र से घटादि अर्थ प्रकाशित हो जाते हैं। इससे बचने के लिये यह नहीं कहा जा सकता है कि तत्तद संकेतों के प्राप्त हो जाने पर ही शब्दार्थों का बोध हो पाता है। ऐसी स्थिति में सर्वत्र संकेत की योग्यता तो माननी ही पड़ेगी। तब किस प्रकार यह ज्ञात हो सकेगा कि वक्ता ने किस अभिप्राय से शब्द प्रयोग किया है। वैदिक या लौकिक शब्दों में चक्षु और रूप के मध्य उपकार्य-उपकारक भाव के समान अतीन्द्रिय या आनुभविक पदार्थों के बोध की योग्यता को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है। शब्दगत ऐसी योग्यता को स्वत: मानने पर 'स्वात्मनि क्रिया विरोध', परत: मानने पर 'अनवस्था' और अहेतुक मानने पर देशाकालादि नियम असंगत हो जाते हैं।[१९] अतन्त: उपर्युक्त सम्बन्धों के अतिरिक्त किसी तीसरे सम्बन्ध को शब्दार्थ सम्बन्ध का नियामक माना जाय तो सद्य: अनवस्था की उपपत्ति से शब्दार्थ सम्बन्ध उच्छिन्न हो जाता है।

वस्तुत: शब्द वक्ता के अभिप्राय मात्र का ही निवेदन करते हैं। अभिप्राय का शाब्दिक निवेदन बौद्धाभिमत में अपोहात्मक रूप से अर्थाभिधान और तज्जन्यप्रवृत्ति को सुनिश्चित करता है। इसलिये शब्द वक्ता की बुद्धि में विद्यमान अर्थ या विवक्षा के ही गमक होते हैं।[२०] महर्षि कणाद ने भी शब्द की प्रमाणता लिङ्गविध्या ही अवधारित किया है। भाष्यकार प्रशस्तपाद ने भी 'विवक्षा गति द्वारेण लिङ्गम्' कहकर शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्धाभाव ही बताया है। वक्ता का व्यापार विवक्षा है। विवक्षिता स्वयं वक्ता होता है। विवक्षा के विषयीभूत् घटादि पदार्थ श्रोता की बुद्धि में प्रकाशित होते हैं। श्रोता की बुद्धि में प्रकाशित घट के प्रति ही घट शब्द का प्रामाण्य माना जाता है। घट शब्द का घट नामक पदार्थ के वास्तविक स्वरूप से कोई तात्त्विक निबन्धन नहीं हो सकता है। घट का वास्तविक स्वरूप तो स्वलक्षण है। घट शब्द से घट सामान्यलक्षण द्योतित होता है। बौद्धाभिमत में शब्दानुविद्ध सभी ज्ञान विकल्पात्मक होने से अनुमान के अन्तर्गत स्वीकृत किये गये हैं। घट शब्दानुविद्ध घट सामान्यलक्षण का ज्ञान भी अनुमान है। शान्तरक्षित ने शब्द ज्ञान में त्रैरूप्य लिङ्ग का समायोजन करते हुए पुरुष को धर्मी, विवक्षा को साध्य और पूर्वसिद्ध स्वसंतान में सम्बन्ध को अवधारित किया है।[२१] इस प्रकार शब्द कोई स्वतंत्र प्रमाण नहीं है। अनुमान के अन्तर्गत शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव यथोचित है।

IV

बौद्धेतर प्रमाणमीमांसीय योजना में प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त उपमान नामक एक स्वतंत्र प्रमाण भी बहुत प्रसिद्ध है। यद्यपि स्वयं बौद्धेतर दार्शनिकों के मध्य ही उपमान के स्वरूप को लेकर पर्याप्त मतभेद रहा है तथापि सामान्य रूप से यह सादृश्यमूलक ज्ञान है। नैयायिकों ने उपमान का लक्षण करते हुये ''प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्य साधनमुपमानम्'' कहा है।[22] इस न्यायसूत्र के अनुसार यदि किसी व्यक्ति ने गौ को अपनी आँखों से देखा है और 'यथा गौस्तथा गवयः' इस वाक्य को भी सुना है। तब उस व्यक्ति के जंगल में जाने पर गवय को देखने से 'असौ गवयः' आकार का गोसादृश्य विशिष्ट गवय का ज्ञान होता है। यही प्रसिद्ध सादृश्यमूलक संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध का ज्ञान उपमिति है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में अतिदेश वाक्य का स्मरण सहकारी कारण है। गवय का सारुप्य ज्ञान कारण है। यह गवय पदवाच्य 'अर्थ प्रतीति' फल है।

बौद्ध नैयायिकों के अनुसार यदि उपमान का स्वरूप ऐसा ही है, तो उसे स्वतन्त्र प्रमाण की कोटि में नहीं रखा जा सकता है। प्रामाणिक ज्ञान सदैव सविषयक होता है। 'यस्य न विषयत्वं न तस्य प्रामाण्यम्'' एक सर्वमान्य नियम है। नैयायिकों का उपमान प्रमाण निर्विषयक होने से अप्रमाण है। उनके मत में समाख्या सम्बन्ध को उपमान का विषय माना गया है। समाख्या-सम्बन्ध वास्तव में कोई वस्तु ही नहीं है। इसकी असिद्धि के लिये निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं। यदि समाख्या सम्बन्ध को दृश्य माना जाय तो अनुपलब्ध होने के कारण उसका बाध हो जाता है। उसे अदृश्य मानने पर उसकी सत्ता की सिद्धि के लिये कोई प्रमाण ही नहीं दीख पड़ता है। यहाँ यह भी पूछा जाना चाहिये कि संज्ञा-संज्ञी या समाख्या-सम्बन्ध दोनों सम्बन्धियों से भिन्न है अथवा अभिन्न है। भिन्न मानने पर समाख्या सम्बन्ध का सम्बन्धियों से सम्बन्ध के परिप्रेक्ष्य में अनवस्था की उपपत्ति होती है। अभिन्न मानने से केवल सम्बन्धी ही रहेंगे, उनसे अतिरिक्त समाख्या नामक कोई सम्बन्ध मानने की आवश्यकता ही नहीं है। यदि यह कहा जाय कि सम्बद्ध ज्ञान का कारण ही समाख्या सम्बन्ध है तो भी यह उचित नहीं है। इस प्रकार का ज्ञान 'ये दोनों सम्बद्ध हैं' अपने हेतु वशात् सम्बद्ध दो वस्तुओं से भी सम्भव हो सकता है। इसके लिये किसी अन्य सम्बन्ध की संकल्पना अनिवार्य नहीं है। इस प्रकार उपमान-प्रमाण में प्रतीत होने वाली समाख्या सम्बन्ध विषयता वस्तुतः विषयाभास होने से उपमान प्रमाण को प्रमाणाभास में रूपान्तरित कर देता है।[23] मीमांसा सम्मत उपमान-प्रमाण भी निर्विषयक होने से अप्रमाण ही है। शबर स्वामी ने उपमान का लक्षण करते हुये 'उपमानमपि सादृश्य असन्निकृष्टेऽर्थे-बुद्धिमुत्पादयति' कहा है।[24] नैयायिकों से भिन्न मीमांसकों के अनुसार सर्वप्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात गौ का वन में स्मरण होता है। तब उसके पश्चात् गवय के देखने पर 'एतत्सदृशी मदीया गौ' का ज्ञान उपमिति है। ध्यातव्य है कि इस प्रक्रिया में 'सादृश्य से विशिष्ट पिण्ड' अथवा 'पिण्ड से विशिष्ट सादृश्य' उपमान प्रमाण का विषय होता है।

बौद्ध नैयायिकों के अनुसार सदृश वस्तुओं से अतिरिक्त सादृश्य नामक विषय की स्थापना युक्तिसंगत नहीं है। यदि अतिरिक्त सादृश्य को दृश्य माना जाय तो मीमांसकों की ऐसी मान्यता दृश्यानुपलब्धि दोष से ग्रसित हो जाती है। अतिरिक्त सादृश्य को अदृश्य मानने पर उससे सम्बद्ध हेतु के अभाव में अनुमान द्वारा भी उसकी सिद्धि नहीं हो सकती है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि सादृश्य ज्ञान से ही सादृश्य सम्बन्ध की सिद्धि होती है। सादृश्य ज्ञान तो अपने कारणों से उत्पन्न सदृश वस्तुओं के द्वारा भी सम्भव है। स्वयं उपमान प्रमाण को भी सादृश्य की सिद्धि के लिये प्रयुक्त करना उचित नहीं है। यदि अन्य प्रमाण से सिद्ध सादृश्य और पिण्ड में विशेषण-विशेष्य भाव एवम् उसमें उपमान की विषयता मीमांसकों को स्वीकार्य हो तो उपमान-पूर्वक सादृश्य की स्वीकृति सुतरां अयुक्त है। इस

प्रकार सदृश वस्तुओं से अतिरिक्त सादृश्य नामक वस्तुनिष्ठ सम्बन्ध के असिद्ध हो जाने से मीमांसकों का उपमान भी निर्विषयक हो जाता है।[२५] वस्तुत: उपमान की निर्विषयकता ही उसे प्रमाण कोटि से बहिष्कृत कर देता है।

V

कतिपय बौद्धेतर दार्शनिकों ने प्रकारतामूलक ज्ञान-भेदवादी प्रमाणमीमांसीय ढाँचे में अर्थापत्ति को भी एक स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकृत किया है। मीमांसक और वेदान्ती इसके प्रबल समर्थक हैं। उभय मत में उक्त प्रमाण का स्वरूप लगभग समान है। शबर स्वामी ने इसकी परिभाषा करते हुए कहा कि दृष्ट एवं श्रुत अर्थ जिसके बिना उपपन्न न हो, उसकी कल्पना ही अर्थापत्ति है।[२६] कुमारिल भट्ट के अनुसार प्रत्यक्षादि छ: प्रमाणों से व्यवस्थानुसार प्रमित होकर जो अर्थ अपनी अनुपपत्ति से दूसरे अर्थ की कल्पना करे, वही अर्थापत्ति है।[२७] इस वार्त्तिक के अनुसार प्रमाण षट्कपूर्विका अर्थापत्ति के छ: प्रकार बताये गये हैं। वस्तुत: प्रत्यक्षादि प्रमाण से जिस अर्थ की प्रतीति होती है और वह प्रतीत अर्थ जिसके बिना सिद्ध नहीं हो पाता है, तब उस अर्थ की कल्पना के लिये अर्थापत्ति नामक प्रमाण को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है।

बौद्ध नैयायिकों के अनुसार अर्थापत्ति जन्य ज्ञान के दो स्पष्ट पक्ष हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रमिति इसका ज्ञात पक्ष है। इस ज्ञातपक्ष की सिद्धि जिसके बिना नहीं हो सकती, वह अर्थापत्ति का अज्ञात पक्ष है। यहाँ विचारणीय है कि अर्थापत्ति जन्य ज्ञान के ज्ञात और अज्ञात पक्ष में कैसा सम्बन्ध होता है ? यदि दोनों के मध्य तादात्म्य या तदुत्पत्ति सम्बन्ध माना जाय तो अर्थापत्ति पूर्वक होने वाली प्रतीति स्वभाव या कार्य हेतु से जन्य होने के कारण अनुमान हो जायेगी। यदि ज्ञात और अज्ञात पक्ष में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न हो तो अर्थापत्तिपूर्वक अज्ञात अर्थ की प्रमिति ही नहीं हो सकती है। एतावता अर्थापत्ति को अनुमान से पृथक् एवं स्वतंत्र प्रमाण स्वीकार करना युक्ति संगत नहीं है।[२८]

ऐसे ही प्रमाण विषयक अनावश्यक अतिरेकता प्रसक्ति को ध्यान में रखे बिना प्रमाणों का विस्तार करते हुये मीमांसक और वेदान्तियों ने अनुपलब्धि को भी एक स्वतंत्र प्रमाण से अभिहित किया है। शबर स्वामी ने इसकी परिभाषा करते हुये "अभावोऽपि प्रमाणाभावो 'नास्ति' इत्यस्यार्थस्यासन्निकृष्टस्य" कहा है।[२९] इस लक्षण में प्रमाणाभाव शब्द से प्रत्यक्षादि प्रमाण पञ्चक का अभाव अभिप्रेत है। प्रत्यक्षादि प्रमाण पञ्चक घटादि वस्तुओं की सत्त्वविषयक प्रतीति के अन्य कारणों के न रहने पर भी उनकी प्रतीति के उत्पादन में सफल नहीं होते हैं। अत: उन वस्तुओं की असत्ता को ज्ञापित करने के लिये अनुपलब्धि नामक प्रमाण की प्रवृत्ति होती है।

बौद्ध नैयायिकों के अनुसार प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अनुपपत्ति रूप अनुपलब्धि का तो कोई स्वरूप ही प्राप्त नहीं होता, तब वह प्रमाण कैसे हो सकता है ? यहाँ विचारणीय है कि यह अनुपपत्ति क्या है ? क्या यह प्रसज्य अथवा पर्युदास वृत्ति से प्रमाणों की अनुपपत्ति मात्र है ? यदि यह कुछ अन्य है तो उसे जड़ अथवा ज्ञान रूप में से क्या कहा जा सकता है ? उसे ज्ञान रूप ही माना जाय तो वह ज्ञान मात्र है अथवा किसी विषय से सम्बन्धित ज्ञान विशेष है ? उपर्युक्त विकल्पों के संदर्भ में अनुपलब्धि को प्रसज्य रूप मानना उचित नहीं है। प्रसज्य रूप अनुपलब्धि सर्वशक्तिशून्य होने के कारण परिच्छेदक अथवा ज्ञान का जनक कैसे ही सकता है ? ऐसी स्थिति में किसी प्रकार से उसका ज्ञान हो सम्भव नहीं होगा। वस्तुत: अनुपलब्धि न तो किसी की प्रतिपत्ति है और न ही किसी प्रतिपत्ति का हेतु है। तब अनुपलब्धि की प्रतिपत्ति कैसे हो सकती है ? इसे जड़ रूप भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जड़ कभी परिच्छेदक नहीं होता है। अनुपलब्धि ज्ञान मात्र भी नहीं है। ऐसा मानने पर देश, काल और स्वभाव से विप्रकृष्ट वस्तुओं का भी ज्ञानमात्र से अनुपलब्धि प्रमाण द्वारा अभाव मानना पड़ेगा। यदि एक ज्ञान से

सम्बन्धित भूतलादि को ही अनुपलब्धि कहा जाय तो यह विशेष आपत्तिजनक नहीं है। इस रूप में अनुपलब्धि प्रत्यक्ष विशेष का ही दूसरा नाम है।[31] वस्तुत: अनुपलब्धि को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करना प्रमाण संख्या का अतार्तिक विस्तार मात्र है।

VI

इस प्रकार बौद्ध नैयायिक सम्भव सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष और अनुमान में सफलतापूर्वक दिखाते हैं। ध्यातव्य है कि प्रमाणों की संख्या या प्रकार का निर्धारण विषय-भेद अथवा प्रकारतामूलक ज्ञान भेद के आधार पर ही सम्भव है। उभय दृष्टि से अर्थ और ज्ञान को सामान्यतया प्रत्यक्ष और परोक्ष कोटि में विभाजित करने पर किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिये। प्रत्यक्ष और परोक्ष परस्पर व्यावर्त्तक कोटि होने से दोनों मिलकर तर्कत: किसी तीसरी कोटि को प्रस्तावित नहीं करते हैं। इसमें प्रत्यक्ष साक्षात् प्रतिपत्ति के रूप में अत्यन्त प्रसिद्ध है। साक्षात् प्रतिपत्ति ''इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम्'' से लेकर 'ज्ञानं तु स्वरूपस्य स्वतो गति:' पर्यन्त कुछ भी हो सकता है। परोक्ष प्रतिपत्ति किसी अनिवार्य सम्बन्ध पर आश्रित प्रतिपत्ति है। अनिवार्य सम्बन्ध 'आगमनात्मक सामान्यीकरण' से लेकर 'स्वभाव प्रतिबन्ध' पर्यन्त अपनी सुविधानुसार कुछ भी स्वीकार किया जा सकता है। प्रत्यक्षेतर जितने भी प्रमाण यत्किचिंत प्रसिद्ध हैं, उनकी संरचना किसी-न-किसी सम्बन्ध से प्रतिबन्धित है। सम्बन्ध से प्रतिबन्धित होने के कारण उन सबको परोक्ष प्रतिपत्ति अर्थात् अनुमान कोटि में अन्तर्भावित किया जा सकता है। एतावता प्रत्यक्ष और अनुमान में सम्भव सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव प्रमाणमीमांसा के अतार्किक विस्तार को निरस्त करते हुये एक सुदृढ़ प्रमाणमीमांसीय ढाँचे को प्रस्तावित करता है। इसमें कोई दो राय नहीं कि बौद्ध नैयायिकों का प्रमाणान्तर्भाव प्रकरण एक तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाणमीमांसीय निष्पत्ति है। किसी भी प्रकार की प्रमाणमीमांसा एक विशेष तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से न्यूनाधिकरूप में अधिशासित होती ही है। इसके बावजूद बौद्ध नैयायिकों द्वारा उठाये गये प्रश्न किसी भी प्रमाणमीमांसीय संरचना के लिये समान रूप से विचारणीय हैं।

***

संदर्भ-सूची

१. *प्रमाणवार्तिकालङ्कार भाष्य-२/२३- उपलम्भेन यल्लक्ष्यम्पारमार्थिकमेव तत् । सत्तोपलम्भ एवेति भावानाम्पारमार्थिकी ॥ और- प्रमाणान्तर्भाव-दि एशियाटिक सो. पृ.१- उपलभ्यता न यस्यास्ति सत्तायोगो गति: कथम् । उपलम्भभावो यस्यास्ति सत्तायोगो वृथा पर: ।*

२. *रत्नकीर्ति निबन्धावली-के.पी. जायसवाल पटना-पृ.९३ अनिष्टञ्चेत् प्रमाणं हि सर्वेष्टिनां निबन्धनम्। भावाभाव व्यवस्था क: कर्तुमन्तेन बिना प्रभु: ।*

३. *तत्त्वोपप्लव सिंह-बौद्धभारती-वाराणसी-तदुच्येत-सल्लक्षण निबन्धनं मानव्यवस्थानाम्, माननिबन्धना च मेयास्थिति:, तदभावे तयो सद्व्यवहार विषयत्वं कथम्.......इत्यादि ।*

४. *प्रमाणवर्तिक-२-६७-अभावेविर्निवृत्तिश्चेत् प्रत्यक्षस्यैव निश्चय: । विरुद्धं सैव वा लिङ्गमन्वय-व्यतिरेकिणी॥*

५. *वही, २-६८-सिद्धं च परचैतन्यप्रतिपत्ते: प्रमाद्वयम् । व्यवहारादौ प्रवृत्तेश्च सिद्धस्तद्भावनिश्चय: ॥*

६. *रत्नकीर्ति निबन्धावली-पृ.८७ ।*

७. *वही, पृ.९७-किमर्थदर्शनम्। अर्थस्य धर्मोद्दृश्यत्वम्। ज्ञानस्य धर्मो द्रष्ट्रत्वम्। प्रथम पक्षे नीलत्ववद् दृश्यत्वस्यापि साधारणत्वादेकगोचरोऽर्थ: सर्वगोचर स्यात् । द्वितीय पक्षे तु कथमन्यस्मिन्न ज्ञान स्वभावं द्रष्ट्रत्वे सत्यन्यस्यासम्बद्धस्यार्थस्य प्रत्याशा स्यात् ।*

८. *वही, पृ.९७-ननु ज्ञानार्थयोरुपत्तिसारुप्यबलतो द्रष्टृदृश्यत्वव्यवस्थापन-मेतत् ।*

९. *शाबर भाष्य-१-१-५ ।*

१०. *श्लोकवार्तिक-शब्द परि.-प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा । पुंसायेनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ॥*

११. *शास्त्र दीपिका, पृ.६८-विज्ञाताच्छब्दात् पदार्थाभिधान द्वारेण यद्वाक्यार्थ विज्ञानम् तच्छाब्दं नाम प्रमाणम् ।*

१२. *वात्सायन भाष्य, २-१-५३-आप्तोदेशसामर्थ्याच्छाब्दार्थ सम्प्रत्यय: ।*

१३. तत्त्व संग्रह पञ्जिका १४९९ - अकृतकस्य हि वाक्यस्य सम्भवो नास्त्येव, व्यापिन: क्षणभङ्गस्य साधित्वात्।
१४. वही, १५००-शक्ताशक्त स्वभावस्य सर्वदा ह्यनुवर्तनात् । तदा तद्भाविविज्ञानं भवेन्नो वा कदाचन ।
१५. वही, १५०२-तदाश्रयनराभावे न तयोरपि सम्भव: । आतर्थक्यमत प्राप्तं वचस्यपुरुषाश्रये ।
१६. रत्नकीर्ति निबन्धावली, पृ.१०२- तदेवमाप्तत्वस्य दुर्बोधत्वेन तत्प्रणीतत्त्वानिश्चयादेकप्रहारनिहतमाप्त वचस: प्रामाण्यम् ।
१७. तत्त्व संग्रह, १५१२-१३- वचसां प्रतिबन्धो वा को बाह्येष्वस्ति वस्तुषु । प्रतिपादयतां तानि येनैकं स्यात् प्रमाणता । भिन्नाक्षग्रहणादिभ्यो नैकात्म्यं न तदुद्भव: । व्यभिचारान्न चान्यस्य युज्यतेऽव्यभिचारिता ।
१८. रत्नकीर्ति निबन्धावली, पृ. १००-वाच्यवाचक सम्बन्धा: सन्ति यद्यपि वास्तवा: । संकेतैरनभिव्यक्ता न तेऽर्थव्यक्ति हेतव: ।
१९. वही, पृ.१०० यदि स्वतोभवति तदसङ्गतम् स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । अथाहेतुत: तदयुक्तम् अहेतोर्देशादिनियमायोगात् ।
२०. वैशेषिक सूत्र, ९-२-४-हेतुपेदेशो लिङ्ग प्रमाणं करणमित्यर्थान्तरम् ।
२१. तत्त्व संग्रह, १५२०-विवक्षायां च गम्यायां विस्पष्टैव त्रिरूपता । पुंसिधर्मिणी सा साध्या कार्येण वचसा यत: ॥
२२. न्याय सूत्र,१-१-६ ।
२३. रत्नकीर्ति निबन्धवाली, पृ.१०३-नैयायिकपरिकल्पितोपमान निराकरणार्थमण्यमेव प्रयोगो द्रष्टव्य:......न सामाख्यासम्बन्धो नाम य: कश्चिदुपमानस्य विषय: स्यात् ।
२४. शाबर भाष्य, पृ.३७ ।
२५. रत्नकीर्ति निबन्धावली, पृ. १०२-ततश्च साद्रश्यासिद्धेर्नतद्विशिष्ट: पिण्ड: पिण्ड विशिष्ट वा साद्रश्यमुपमानस्य विषय: । तदेवमुपमानस्य निर्विषयत्वं सिद्धमिति नासिद्धो हेतु: ।
२६. अर्थापत्तिरपि द्रष्ट:श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थकल्पना ।
२७. श्लोकवार्त्तिक, अर्था. परि. १- प्रमाणषटक विज्ञातो यत्रार्थो नान्यथा भवेत् । अद्रष्टं कल्पयेदन्यं सार्थापत्तिरूदाहृता॥
२८. रत्नकीर्ति निबन्धावली, पृ.१०४-तस्मान्नार्थापत्ति: प्रमाणान्तरमिति ।
२९. शाबर भाष्य,आनन्दाश्रम, पृ.३९ ।
३०. श्लोकवार्तिक-अथाऽभावप्रामाण्यवाद: १-प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते । वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥
३१. रत्नकीर्ति निबन्धावली, पृ. १०५- न ह्यभाव: कस्यचित् प्रतिपत्ति: प्रतिपत्ति हेतुर्वा.......प्रत्यक्ष विशेषस्यैवाभावनामकरणात् ।

ज्ञान की स्वयंप्रकाशता

I

'आत्मदीपो भव' की आध्यात्मिक निष्ठा में अद्यतन चेतना की प्रधानता भारतीय दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इस विशेषता की तात्त्विक और ज्ञानमीमांसीय पृष्ठभूमि में 'ज्ञान की स्वयंप्रकाशता' या 'स्वसंवित्ति' एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक अभ्युपगम के रूप में प्रस्तुत होता है। यद्यपि निर्विवाद रूप से इसका उत्स औपनिषदिक है तथापि संसदीय भारतीय दर्शन के इतिहास में यह विज्ञानवादी बौद्ध आचार्यों, प्रभाकर मीमांसक और वेदान्तियों की मेधा का सहयोग पाकर सम्यक् रूपेण विकसित हुआ है। नैयायिकों और कुमारिल भट्ट के द्वारा प्रस्तुत किया गया इस सिद्धान्त का प्रतिपक्ष न केवल इसके तार्किक स्वरूप को प्रखरता प्रदान करता है, बल्कि इसे भारतीय प्रत्ययवाद के पोषक सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत भी करता है।

यह ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से ज्ञान की उस अवस्था की खोज है जहाँ ज्ञान का सत् उसके अन्तर्वस्तु के रूप में प्राप्त होता है और उसके स्वरूप की भावपरकता स्वत: प्रमाणित होती है। तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से यह ज्ञान में आचरित एक ऐसा संदर्भ है, जो हमें बाह्य संसार के बन्धन से सर्वथा मुक्त ही नहीं करता बल्कि उसकी आद्यनियामकता स्वयं ज्ञान में है, इसे अनिवार्य तार्किक पूर्वमान्यता के रूप में तात्त्विक स्थिति प्रदान करता है।

भारतीय दर्शन में "ज्ञान की स्वयंप्रकाशता" एवं उसकी तात्त्विक परिणति के विषय में पर्याप्त मतवैभिन्न्य है। यह मतवैभिन्न्य अन्तत: चेतना के स्वरूप विषयक मतभेद में परिलक्षित या पर्यवसित होता है। क्या "ज्ञान की स्वयंप्रकाशता" या "स्वसंवित्ति" इति विषयक मतभेद को एक निश्चित दिशा प्रदान कर सकती है; या यह स्वयं चेतना के तात्त्विक स्वरूप विषयक मतभेद की पृष्ठभूमि में अपनी संज्ञानात्मक भूमिका को प्राप्त करती है ? वस्तुत: सम्पूर्ण ज्ञानमीमांसा की एक तात्त्विक पृष्ठभूमि होती है। हम इसी से प्रारम्भ करते हैं और अन्तत: हमें इसी में लौटना होता है। यदि मनुष्य इस संसार का अंग है या यह संसार स्वयं मानव मन की ही कोई प्रागनुभविक संरचना है, तो दोनों ही स्थितियों में मानवीय संज्ञानात्मक प्रक्रिया में जाने-अनजाने तात्त्विक पूर्व कल्पना का पूर्वगामी होना "संसार में मनुष्य" होने की बाध्यता है। यह बाध्यता किसी विशेष तत्त्वमीमांसा का उद्घाटक है या तत्त्वमीमांसा सामान्य ही उपर्युक्त बाध्यता से विवक्षित है ? ऐसे प्रश्न दार्शनिक चिंतन के इतिहास में अद्यतन विवादास्पद रहे हैं। तथापि,किसी भी दर्शन की ज्ञानमीमांसीय भूमि पर कुछ ऐसे संदर्भ को अवश्य प्राप्त होना चाहिए जो उस दर्शन की तत्त्वमीमांसा से संवाद या संसक्तता रखते हों। ऐसे संवाद या संसक्तता के अभाव में किसी दार्शनिक की वैचारिक योजना में स्ववचन व्याघात, स्वज्ञान व्याघात और स्वक्रिया व्याघात की सम्भावना सदैव बनी रहेगी। ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वंसवित्ति ज्ञान में आचरित एक ऐसा ही संदर्भ है। यह चेतना के किस तात्त्विक स्थिति को प्रस्तावित करता है; या इसकी तात्त्विक परिणति ज्ञानमीमांसा का अतार्किक विस्तार है अथवा जिसे हम तात्त्विक परिणति

समझते हैं वह मात्र ''लॉजिकल प्रीसपोजिशन् ऑफ नॉलेज'' है ? ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति के संदर्भ में इन्हीं समस्याओं का विज्ञानवादी बौद्ध विश्लेषण और समीक्षा प्रस्तुत निबन्ध का विचार्य विषय है। इसे स्पष्ट करने के लिए स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित् ज्ञान की संज्ञानात्मक भूमिका को सम्यक् रूपेण उद्‌घाटित करना होगा, अन्यथा इसके महत्त्व और मर्म को नहीं समझा जा सकता है।

II

स्वयंप्रकाश ज्ञान की संज्ञानात्मक भूमिका का समारम्भ इस सामान्य प्रश्न से होता है कि सम्पूर्ण जगत् ज्ञान से प्रकाशित है। ज्ञान-प्रकाश-मौलिक है। यह ''प्रकाशों का प्रकाश'' स्वयंप्रकाश है। इसे ज्ञात होने के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं। जानना और इस बात से बिल्कुल अनभिज्ञ रहना, कुछ भी नहीं जानना है। अज्ञात ज्ञान तो वदतोव्याघात है। इसलिये प्रत्येक ज्ञान का स्वज्ञान होना या प्रत्येक चेतना का स्वचेतना होना परिनिष्ठित है। यद्यपि ज्ञान को ज्ञात होना चाहिए, इसे एक सीमा तक सभी दार्शनिकों की सामान्य स्वीकृति प्राप्त है, तथापि यह कैसे होता है इसके बारे में दार्शनिकों के मध्य पारस्परिक मतभेद है। भारतीय दर्शन में इतिविषयक नैयायिकों का ''अनुव्यवसायवाद'', मीमांसकों का ''ज्ञाततालिंगनुमेयवाद'' और ''त्रिपुटी प्रत्यक्षवाद'', बौद्धों का ''स्वसंवेदनवाद'' या ''विज्ञानस्वयंप्रकाशतावाद'' एवं वेदान्तियों का ''आत्म स्वयंप्रकाशतावाद'' अतिप्रसिद्ध है। उपर्युक्त सभी सिद्धान्तों की सम्यक् व्याख्या यहाँ सम्भव नहीं है। अतएव हम अपने विश्लेषण और समीक्षा को इतिविषयक विज्ञानवादी बौद्ध अवधारणा तक ही सीमित रखेंगे।

भारतीय दर्शन के इतिहास में सर्वप्रथम विज्ञानवादी बौद्धों ने स्वयंप्रकाश या स्वसंवित् ज्ञान की संज्ञानात्मक भूमिका को उद्‌घाटित करने के लिए कुछ प्रबल तर्कों को उपस्थापित किया है। प्रत्यक्ष विषयक सौत्रान्तिक अवधारणा की अव्याख्येयता और माध्यमिकों द्वारा चित्तमात्रतावाद के विरुद्ध उपस्थापित ''न हि चित्तं चित्तं पश्यति''[३] का विप्रतिषेध ही वह कारण है, जिसके फलस्वरूप विज्ञानवादी बौद्धों ने दृढ़ता के साथ ज्ञान की स्वयंप्रकाशता को प्रस्तावित किया। इसे बौद्ध अपनी शब्दावली में ''स्वसंवेदन'' या ''स्वसंवित्ति'' कहते हैं। इस सम्बन्ध में धर्मकीर्ति की यह गवेषणा कि ''अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टि प्रसिध्यति'' बड़ा ही प्रसिद्ध है। प्राय: सभी परवर्ती बौद्ध और बौद्धेतर दार्शनिक इसका अनुगमन करते हुए प्रतीत होते हैं। स्वसंवित् ज्ञान के पक्ष में बौद्धों द्वारा प्रस्तुत किये गये तर्क सम्पूर्ण ज्ञान की संरचना को ही प्रभावित करते हैं। यदि ज्ञान को स्वंसवित् न माना जाय तो ज्ञाता-ज्ञेय के ढाँचे में ज्ञेय की ज्ञानात्मक उपलब्धि सम्भव ही नहीं होती। यह एक सार्वजनीन तथ्य है कि वह ज्ञान जिसके द्वारा किसी विषय की ज्ञेयोपलब्धि होती है,वह विषय की चेतना और उस चेतना की चेतना के द्वैविध्य में बँटा होता है। इसके लिए बौद्ध ग्रंथों में ग्राह्याकार-ग्राहकाकार, स्वाभास-अर्थाभास, ज्ञानाकार-अर्थाकार जैसे शब्द प्राप्त होते हैं। इस दूसरे पक्ष के द्वारा न केवल विषयाकार चेतना होती है बल्कि विषय सारूप्य विशिष्ट चेतना के ग्राहक रूप में स्वग्रहण भी होता है। यदि ऐसा स्वीकार न करते हुए केवल यह स्वीकर किया जाय कि प्रत्येक ज्ञान का केवल एक ही पक्ष होता है, यानी वह अर्थाकार होता हैं या तो स्वाकार होता है, तब तो विषय की चेतना और विषय सारूप्य विशिष्ट चेतना की चेतना का भेद ही समाप्त हो जाने से ज्ञाता-ज्ञेय का ज्ञान ढाँचा ही असंभव होगा और विषय की ज्ञात ज्ञेयोपलब्धि ही अनुपपन्न होगी। अत: प्रत्येक चेतना का द्वयपक्षात्मक होना ज्ञान की ''स्वयंप्रकाशता'' या ''स्वसंवित्ति'' को पूर्वापेक्षित करता है।

वस्तुत: चित्त की कोई ऐसी अवस्था नहीं है, जिसका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष न होता हो। सभी चित्त और चैत्तों की आत्मसंवित्ति अनुभव सिद्ध है।[४] यह विज्ञानवादी बौद्धों की वैचारिक योजना की दोषपूर्ण गौरव दृष्टि न होकर एक अपरिहार्य तथ्य है। चित्त वस्तुमात्र का ग्राहक होता है और चैत्त

विशेष अवस्थाओं के ग्राहक होते हैं। बौद्ध शब्दावली में सुख-दु:खादि की वेदना चैत्त कहे जाते हैं। सुखादि के स्फुट होने के कारण उनका स्वसंवेदन असंन्दिग्ध है। रूप आदि वस्तु दिखने पर उसी समय आन्तरिक सुखादि आकृति का संवेदन होता है। यह नहीं कहा जा सकता कि नीलादि रूपाकृति का ग्रहण ही सौख्य रूप में होता है। क्योंकि, नीलादि रूपाकृति का ही सुख रूप से ग्रहण हो रहा है, ऐसा तद्विषयक निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न होने से ही नीलादि वस्तुओं को सौख्य रूप कहा जा सकता है। जिस रूप का प्रत्यक्ष के द्वारा साक्षात्कार होता है, विकल्प उसी का अनुगमन करते हुए निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न करते हैं।[५] इस प्रकार उस रूप का प्रत्यक्ष व्यवहृत होता है। नीलादि रूपाकृति का इस प्रकार निश्चय नहीं होता है अतएव "यह नील है" के अनुभव काल में ही सुख-दु:ख का अनुभव नीलादि वस्तुओं से भिन्न रूप में होता है। सुख-दु:खादि चैत्त धर्म वस्तुत: ज्ञान रूप हैं। ऐसे अनुभवों में किसी को यह संदेह नहीं होता कि उसे सुख का अनुभव हो रहा है या नहीं। इसलिए सुख-दु:खादि के अनुभव स्वसंवित् होते हैं।

इसके अतिरिक्त स्मृति एक ऐसा दृष्टान्त है जो स्वसंवित् अनुभव को सिद्ध करता है। स्मृति में केवल पूर्वानुभूत विषय की ही स्मृति नहीं होती बल्कि पूर्वानुभूत विषय की अनुभूति अनुभूत होती है। यदि ऐसा न स्वीकार किया जाय तो स्मृति ही असम्भव होगी और लोकव्यवहार अवरुद्ध हो जायेगा। चूँकि स्मृति स्थल पर पूर्व अनुभूत वस्तु की अनुपलब्धि होती है, इसलिए पूर्वानुभूत अनुभूति स्वसंवित् रूप में ही स्मृति का सम्पादन करती है।[६]

इस प्रकार विज्ञानवादी बौद्ध विभिन्न तर्कों के आधार पर ज्ञान की स्वसंवित्ति को सिद्ध करते हैं। वस्तुत: अनुभव प्रकाश के अभाव में समस्त संसार अन्धत्व की अवस्था में परिणत हो जायेगा। यदि संसार ज्ञान से प्रकाशित होता है तो ज्ञान का स्वयंप्रकाश या स्वसंवित् होना अपरिहार्य है। चेतना की प्रकृति ही ऐसी है कि उसका स्वरूप उसके उपादानों से आवृत्त नहीं होता। जड़ वस्तुयें अपने उपादानों से ही स्वरूपतया आवृत्त होती हैं। इसलिए जड़वस्तुओं को प्रकाशक की आवश्यकता है। चेतना के साथ ऐसी बात नहीं। चेतना विषयों से सम्बद्ध होकर उन्हें प्रकाशित करने के साथ-साथ स्वयं को भी प्रकाशित करती है। विषयअसम्बद्ध स्थिति में चेतना पर-प्रकाशक नहीं होती लेकिन चेतना की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति का अत्यन्ताभाव नहीं होता है।

III

बौद्धों द्वारा प्रस्तावित ज्ञान की स्वयं प्रकाशता या स्वसंवित्ति की अवधारणा उन सभी बौद्धेतर दार्शनिकों के लिए असह्य रही है जो ज्ञान को स्वयंप्रकाश मानते हैं और नहीं भी मानते हैं। उनकी आलोचनाओं में दो बातें बहुत ही स्पष्ट रूप से देखने को मिलती हैं। प्रथम यह कि ज्ञान सदैव वस्तुतन्त्र होने से "जानना" एक सकर्मक क्रिया पद है। इसलिए ज्ञानक्रिया के कर्ता का उस क्रिया के साथ मिश्रण नहीं किया जाना चाहिए। द्वितीय, यह कि यद्यपि ज्ञान को ज्ञात होना चाहिए, यह अनिवार्य तो नहीं लेकिन व्यवहारसम्मत् तो अवश्य है, तथापि इसका तात्पर्य यह नहीं कि ज्ञान स्वसंवित् होता है। स्वसंवित्ति से परे और पृथक् भी अनुभव-प्रकाश की व्याख्या हो सकती है। आलोचकों के इन दोनों आधारों पर विचार किया जाय तो प्रथम वस्तुवाद के पूर्वाग्रह में विज्ञानवाद की आलोचना प्रतीत होती है और द्वितीय स्वसंवित् ज्ञान के बदले एक वैकल्पिक सिद्धान्त के प्रतिपादन का आग्रह प्रतीत होता है। अतएव कहा जा सकता है कि बौद्धेतर दार्शनिकों ने अपने सिद्धान्त से मोहग्रस्त होकर बौद्धों की आलोचना की है। वस्तुत: आलोचनाओं का भी अपना एक महत्त्व होता है। आलोचनायें चाहें गलत हों या सही, दोनों ही स्थितियों में वे विचार के इतिहास को एक अतिरेक त्वरण प्रदान करती हैं।

कुमारिल भट्ट ने अपने श्लोकवार्तिक में बौद्धों के "स्वसंवेदन" का इतना अधिक खण्डन किया

है कि परवर्ती आलोचकों की आलोचनाओं में कुछ भी नया नहीं प्रतीत होता। संक्षेप में कुमारिल के अनुसार बौद्ध जब यह कहते हैं कि ज्ञान ''स्वसंवित्'' होता है, तो इसका द्विविध तात्पर्य हो सकता है। प्रथम यह कि ज्ञान ही ज्ञाता और ज्ञेय है और द्वितीय यह कि ज्ञान-क्रिया स्वयं को ज्ञेय रूपेण ज्ञात करती है। प्रथम विकल्प में कर्तृ-कर्म का अभेद उपलब्ध होता है,[7] तो दूसरे पक्ष में क्रिया-कर्म का एकत्व आसन्न है।[8] इस प्रकार का अभेदीकरण ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के स्थापित व्यवहार के विरुद्ध है। व्यवहार-सम्मत ज्ञान प्रसंग में ज्ञानकर्ता, ज्ञानक्रिया और ज्ञातविषय का पार्थक्य विवक्षित होता है। यदि ज्ञान को यथार्थता का प्रदर्शक सिद्धांत के रूप में स्वीकार किया जाय तो ऐसा एकत्व उतना ही असंभव है, जितना कि तर्जनी द्वारा स्वयं अपने अग्रभाग को छूना या नट का स्वयं अपने मस्तक पर नृत्य करना। ध्यातव्य है कि बोधिचर्यावतार में भी विज्ञानवादी बौद्धों के प्रति कुछ इसी प्रकार की आलोचनाओं की उद्भावना की गयी है।

पुन: कुमारिल स्वसंवित्ति विषयक बौद्धाभिमत की अनुपपन्नता प्रदर्शित करते हुए यह दिखाना चाहते हैं कि कोई भी कारण एक कार्य के उत्पादन के समय दूसरे कार्य का उत्पादन नहीं कर सकता है। इसलिए न तो उत्पत्ति काल में ज्ञान ''स्व'' का ग्रहण कर सकता है, क्योंकि अपने उत्पत्ति काल में तो वह नीलादि विषयों के प्रकाशन में व्यापृत होता है और न तदन्तर ही ''स्व'' का ग्रहण हो सकता है, क्योंकि बाद के क्षणों में वह स्वयं विनष्ट हो जाता है।[10]

इसी प्रकार ''प्रमाणाभाव'' को उपस्थापित करते हुए कुमारिल कहते हैं कि यदि इसके विरुद्ध यह कहा जाता है कि उत्पत्ति काल में ज्ञान ग्रहण का कोई प्रतिबन्धक नहीं है, प्रतिबन्धकाभाव से ही ज्ञान प्रथम क्षण में गृहीत हो जायेगा, तो यह ठीक नहीं।[11] केवल प्रतिबन्धक से ही कार्य की उत्पत्ति प्रतिरूद्ध नहीं होती, बल्कि विशिष्ट कारणों के अभाव से भी कार्य की उत्पत्ति प्रतिरूद्ध होती है। प्रकृत में तो ज्ञान प्रथम क्षण में ग्रहणविशिष्ट कारण के अभाव से ही प्रतिरूद्ध होता है, प्रतिबन्धक से नहीं। अत: प्रतिबन्धकाभाव से उत्पत्ति क्षण में ही ज्ञानग्रहण में प्रमाणाभाव सिद्ध है।[12]

इस प्रकार स्वसंवित्ति विषयक बौद्धाभिमत में दोषोद्भावन करते हुए कुमारिल इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ज्ञान अपनी प्रकृति में स्वप्रकाश नहीं बल्कि सदैव पर -प्रकाशक होता है। अपने प्रकाश के लिए ज्ञान एक परवर्ती क्रिया की अपेक्षा करता है। संक्षेप में कुमारिल का पक्ष यह है कि ''ज्ञान'' एक क्रिया है। जिस प्रकार पाकज क्रिया के द्वारा भोज्य पदार्थों में ''पाक'' उत्पन्न होता है , उसी प्रकार जब हम घट नामक पदार्थ को देखते हैं और ''यह घट है'' के रूप में उसका व्यवहार करते हैं, तो घट नामक पदार्थ में ''ज्ञातता'' नामक एक अतिरिक्त धर्म उत्पन्न होता है। घट ज्ञान से पैदा होने वाली ज्ञातता केवल घट में ही होती है, पट में नहीं। इसलिए घट ज्ञान का विषय केवल घट ही होता है। यह ज्ञातता घट के आदि और अन्त में नहीं होती, बल्कि उसकी प्रतीति उस समय होती है जब हम ''ज्ञातोमयाघट:'' का व्यवहार करते हैं। ''ज्ञातता'' ही किसी विषय की परिच्छेदित विषयता को नियत करती है। इस ज्ञातता की सिद्धि ''विषयत्व अन्यथा अनुपपत्तिप्रसूत अर्थापत्ति'' से होती है। यह ज्ञातता-रूप धर्म अपने कारण के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता है। अतएव ''ज्ञातता अन्यथा अनुपपत्ति प्रसूत अर्थापत्ति'' से ज्ञातता की प्रतीति अनुगृहीत होती है। स्वसंवित् ज्ञान के बदले यही कुमारिल का ''ज्ञातता-लिंगानुमेयवाद'' है, जिससे ज्ञान का ज्ञान होता है।[13]

बौद्धों के पक्ष में उपर्युक्त आक्षेपों का परिहार करते हुए कहा जा सकता है कि जिस प्रकार का भेद दो बाह्य पदार्थों के मध्य होता है, उसी प्रकार का भेद ज्ञान और ज्ञेय में विवक्षित नहीं है। ज्ञान और ज्ञेय का भेद केवल संगति का अभाव मात्र है।[14] इसलिए ज्ञान प्रसंग में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के पार्थक्य की व्यवस्था हम इसे आरोपित मान कर भी कर सकते हैं। वस्तुत: ज्ञान में प्रकाश्य-प्रकाशक भाव

कल्पित ही है। बोध की बोधरूपता से उत्पत्ति ही उसकी स्वसंवित्ति कहलाती है।[१५] शान्तरक्षित कुमारिल को ध्यान में रखते हुए कहते हैं कि ज्ञान स्वयं क्रिया न होकर क्रियाफल है। यह सदैव जड़रूपों से अपनी पृथक्ता को ज्ञापित करते हुए अभिव्यक्त होता है। ज्ञान अचेतन होकर अपनी अभिव्यक्ति इस प्रकार से नहीं कर सकता। इसलिए यह स्वयंचेतन ही है।[१६] पुन: ज्ञान को स्वसंवित् मानने से अपने आप में कर्ता और कर्म होने का विरोध नहीं है। क्योंकि संवेदन रूप व्यापार विज्ञान स्वरूप से भिन्न नहीं है।[१७] स्वसंवित्ति का वास्तविक तात्पर्य न समझने के कारण ऐसा विरोध ऊपरी तौर पर परिलक्षित होता है। वस्तुत: विज्ञान का स्वरूप ही ऐसा है कि वह अपने प्रकाशन के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं करता, फिर भी वह अप्रकाशित नहीं होता है।[१८] यही स्वसंवित्ति की स्वरूपस्थिति है। इतने पर भी यदि प्रतिपक्षी विरूद्ध धारणा रखते हैं तो स्वसंवित्ति के लिए स्वभाव हेतु पूर्वक अनुमान प्रमाण को प्रयुक्त करते हुए कहा जा सकता है कि जिसका प्रकट होना जिसके अधीन होता है, वह उसके प्रकट होने से ही प्रकट होता है। यथा-दण्डी, जिसका ज्ञान दण्ड के अधीन है। इसी प्रकार रूपादि विषयों का प्राकट्य ज्ञान के प्रकट होने पर निर्भर है। इस अनुमान का इन्द्रियों में व्यभिचार दिखाते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि जिस प्रकार इन्द्रियाँ अपने विषयों को अभिव्यक्ति प्रदान करते हुए स्वयं अनभिव्यक्त ही रहती हैं, उसी प्रकार ज्ञान रूपादि विषयों को प्रकाशित करते हुए स्वयं अप्रकाशित ही होता है। वास्तव में ऐसा व्यभिचार प्रदर्शन उपमावैदृश्य के कारण अनुचित है। अन्त में कुमारिल की यह उपस्थापना कि प्रतिबन्धकाभाव के कारण उत्पत्ति क्षण में ही ज्ञान ग्रहण की बात निरर्थक है, क्योंकि उत्पत्ति काल में ज्ञान ग्रहण विशिष्ट कारणों के अभाव से ही प्रतिरूद्ध होता है- अनुचित है। यह आक्षेप निराकार ज्ञानवाद के संदर्भ में सही है, लेकिन साकार ज्ञानवाद के संदर्भ में यह अनुपपन्न है।[१९] साकार ज्ञानवाद विज्ञावादी बौद्धों का सिद्धान्त पक्ष है। साकारज्ञानवाद के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि विज्ञान अपने में अन्तर्निहित विषयाकारों को लिए हुए ही उत्पन्न होता है। इसलिए ग्रहण-विशिष्ट कारणों का अभाव भी नहीं होता और वे सप्रतिबन्धक स्वरूप भी नहीं होते हैं।

यदि कुमारिल के स्वपक्ष पर विचार किया जाय तो उनका "ज्ञाततालिंगानुमेयवाद" भी कतिमय दोषों से ग्रसित है। प्रथमत: अनवस्था दोष की उद्भावना करते हुए कहा जा सकता है कि यदि ज्ञान क्रिया विषय में "ज्ञातता" नामक धर्म उत्पन्न करती है और जब ज्ञान स्वयं परवर्ती क्रिया के द्वारा अनुगृहीत होता है, तो कुमारिल ज्ञान में "ज्ञातता" की उत्पत्ति क्यों नहीं स्वीकार करते हैं? काव्यप्रकाशकार की इतिविषयक टिप्पणी उचित प्रतीत होती है कि नैयायिकों और मीमांसकों में केवल इतना ही अन्तर है कि एक आत्मा में तो दूसरा विषय में "ज्ञातता" की उत्पत्ति को स्वीकार करता है। इसलिए एक के लिए ज्ञान का ग्रहण परवर्ती मानस प्रत्यक्ष से होता है, तो दूसरे में ज्ञान का ग्रहण अनुमानपूर्वक होता है। द्वितीयत: कुमारिल द्वारा स्वत: प्रामाण्यवाद का समर्थन और ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति का खण्डन परस्पर विरोधी आग्रह प्रतीत होते हैं। ये दोनों बातें एक साथ स्वीकार नहीं की जा सकती। ज्ञान की स्वयंप्रकाशता ज्ञाननिष्ठ स्वत: प्रमाणता का पूर्वापेक्षी है। यदि इनमें तादात्म्य नहीं तो भी ये परस्पर उपकारी अवश्य हैं। स्वत: प्रमाणत्व कुछ और हो सकता है, लेकिन स्वत: ज्ञानत्व उसमें अवश्य होना चाहिये। जिस प्रकार किसी वस्तु का प्रत्यक्ष होने पर उसकी प्रमाणता पर कोई संदेह नहीं करता कि उसे उस वस्तु का प्रत्यक्ष हुआ या नहीं, उसी प्रकार ज्ञान के संदर्भ में भी किसी को यह संदेह नहीं होता कि उसे ज्ञान हुआ या नहीं। जिस प्रकार स्वत: प्रामाण्य का इतना ही मतलब है कि ज्ञान अपनी प्रमाणता के लिए किसी दूसरे पर निर्भर नहीं करता है, उसी प्रकार स्वसंवित् ज्ञान का भी इतना ही मतलब है कि वह अपने प्रकाशन के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं करता है। जिस प्रकार परत: प्रामाण्यवाद में अनवस्था दिखाई जाती है, उसी प्रकार परत: प्रकाश में भी अनवस्था आसन्न होती

है। वस्तुत: ज्ञाननिष्ठ प्रामाण्य को स्वयंज्ञात होना चाहिए। एक ओर अज्ञातप्रमाणता की बात निरर्थक है, तो दूसरी ओर किसी परवर्ती क्रिया के अधीन उसकी स्थापना नहीं हो सकती है। इसलिए ज्ञाननिष्ठ स्वत: प्रमाणता और स्वसंवित्ति एक दूसरे के विरोधी नहीं वरन् परस्परपूरक सिद्धान्त हैं। यहाँ यह विचारणीय हो जाता है कि क्या जो लोग ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति को स्वीकार करते हैं, उनके लिए स्वत: प्रामाण्यवाद को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। यद्यपि भारतीय दर्शन में इस निकष का सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता, तथापि कहा जा सकता है कि यह इस बात पर निर्भर करता है कि किस दर्शन में प्रामाण्य ज्ञान का क्या निकष अपनाया गया है। बौद्धों और वेदान्तियों ने अन्तत: "प्रामाण्यं व्यवहारेण" का ही निकष स्वीकार किया है। इसलिए "प्रवृत्तिसाफल्य" को प्रमाणता का निकष स्वीकार कर वे ज्ञान को स्वयंप्रकाश या स्वसंवित् मानते हुए भी व्यवहारत्वेन प्रामाण्य की व्याख्या कर सकते हैं। जहाँ तक प्रवृत्ति-साफल्य से परे और पृथक् स्वयंप्रकाश या स्वसंवित् ज्ञान की प्रमाणता का प्रश्न है तो वह स्वनिष्ठ ही है। अतएव ज्ञाननिष्ठ प्रमाणता जैसा कि कुमारिल स्वीकार करते हैं, तो स्वसंवित्ति उनके लिए पूर्वापेक्षित है। वस्तुत: यह कुमारिल का वेदों के प्रति अतिशय अनुराग और बौद्धों के प्रति अतिशय द्वेष ही है, जिसके चलते वे इस अन्तर्विरोध में पतित होते हैं। शायद इस अन्तर्विरोध को मद्देनजर रखते हुए प्रभाकर ने ज्ञाननिष्ठ प्रमाणता के लिए स्वसंवित्ति की उपयुक्तता और उसके विज्ञानवादी निष्पत्ति के मध्य अपने "त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद" का प्रतिपादन किया है। प्रभाकर ने स्वसंवित्ति के तत्त्वमीमांसीय लंगर को काटते हुए यह स्वीकार किया है कि विषय और विषयी के सम्बन्ध से उत्पन्न ज्ञान स्वयंप्रकाश होता है, जो समान रूप से विषय को विषयी के लिए प्रकाशित करता है।[20] प्रभाकर का "त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद" ज्ञान की स्वयंप्रकाशता विषयक अ-तत्त्वमीमांसीय सिद्धांत के रूप में एक महत्त्वपूर्ण प्रस्थान है।

IV

मीमांसकों के बाद बौद्धों के प्रबल प्रतिद्वन्द्वी नैयायिक हैं। नैयायिकों और बौद्धों के मध्य पारस्परिक खण्डन-मण्डन का इतिहास बड़ा लम्बा है। स्वसंवित्ति विषयक प्रश्न पर नैयायिकों का मानना है कि बौद्ध "अनुव्यवसाय" का मर्म नहीं समझते हैं, इसलिए उन्होंने स्वसंवित्ति की भ्रान्त अवधारणा प्रतिपादित करने में अपनी शक्ति का अनावश्यक दुरूपयोग किया है। नैयायिक यह प्रस्तावित करते हैं कि ज्ञान को ज्ञात होना चाहिए, यह अनिवार्य नहीं है। यह सम्भव है कि ज्ञाता में ज्ञान उत्पन्न हो और फिर भी वह उसके लिए अज्ञात ही रहे। यदि ज्ञान को ज्ञात होना चाहिए, यह व्यवहारसम्मत है और अनुकूल कारकों के होने से यह ज्ञात होता है, तो इसके लिए ज्ञान को स्वसंवित् मानना अनिवार्य नहीं है। बौद्धों ने स्वसंवित्ति को सिद्ध करने के लिए जो तर्क प्रस्तुत किया है, वह नैयायिकों की राय में ज्ञान की स्वसंवित्ति को सिद्ध नहीं करता है।[21] यह विचारणीय है। प्रथम, जब यह कहा जाता है कि प्रत्येक ज्ञान के दो पक्ष होते हैं, तो ज्ञान में आचरित विषय की चेतना और उस चेतना की चेतना से केवल इतना ही निगमित होता है कि ज्ञान को ज्ञात होना चाहिए। ज्ञान का स्वसंवित् स्वरूप इससे निगमित नहीं होता है। यहाँ नैयायिकों से पूछा जा सकता है कि ज्ञात होना या तो ज्ञान को स्वसंवित् मानने से सम्भव है, या किसी अन्य ज्ञान के द्वारा उसे ज्ञात हुआ माना जा सकता है। इसमें प्रथम पक्ष बौद्धों का ही है, लेकिन दूसरे पक्ष के लिए ज्ञान की एक अज्ञात अवस्था को स्वीकार करना होगा। ज्ञात की अज्ञात अवस्था में कोई भी तर्क विधि या निषेध मुखेन नैयायिकों का साथ नहीं दे सकता है। अत: स्वसंवित्ति पूर्वक ही ज्ञान का पक्ष-द्वैविध्य व्याख्येय है। द्वितीय, जब यह कहा जाता है कि पूर्वानुभूत अनुभव की अनुभूति के बिना स्मृति सम्भव नहीं है, तो इससे भी यही आहार्य होता है कि अनुभव अनुभूत होता है। वह स्वसंवित् है, यह सिद्ध नहीं होता। यहाँ नैयायिकों से पूछा जा सकता है कि पूर्वानुभूत अनुभव

की अनुभूति या तो स्वत: वेद्य होगी या परत: वेद्य मानी जा सकती है ? स्वत: वेद्यता तो बौद्धाभिमत ही है। परत: वेद्यता मानने पर अनवस्था होगी जो स्मृति को ही असम्भव बना देगी। इसलिए अपने संदर्भ में स्मृति स्वसंवित्ति को सिद्ध करती है। यह बात अलग है कि सभी पूर्वानुभवों की स्मृति नहीं होती है। तृतीय, जब यह कहा जाता है कि सुखादि की अनुभूति स्वसंवित् होती है, तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि सभी अनुभव स्वसंवित् होते हैं। कुछ अनुभव बिना ज्ञात हुए समाप्त हो जाते हैं, तो कुछ तीव्र संवेगिता के कारण उत्पत्ति काल में ही गृहीत हो जाते हैं। अतएव तीव्र संवेगिता के कारण सुखादि अनुभवों की स्फुटता का सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता है।[२२] यहाँ नैयायिकों से पूछा जा सकता है कि क्या यह सम्भव है कि किसी को माथे में दर्द हो और उसे ज्ञात न हो ? पुन: सुख-दु:खादि चैत्त ज्ञान रूप हैं, तो इनका सामान्यीकरण क्यों नहीं किया जा सकता है ?

इस प्रकार स्वसंवित्ति विषयक बौद्धाभिमत की आलोचना करते हुए नैयायिक इसे एक प्रकार के मानस प्रत्यक्ष नामक अनुक्रिया में रूपान्तरित कर देते हैं। वस्तुत: नैयायिकों के अनुसार ज्ञान अपने उत्पत्तिकाल में 'यह घट है' के स्वरूप का होता है। वही बाद में अव्यवहित रूप से "मैं जानता हूँ कि यह घट है" के अनुव्यवसाय में परिणत हो जाता है। यह अनुव्यवसाय एक प्रकार का मानस प्रत्यक्ष है। ये दोनों ज्ञान अपने स्वरूप में भिन्न होते हैं, क्योंकि प्रथम स्थिति में घट विषय वेद्य होता है तो द्वितीय स्थिति में घटानुभव विदित होता है। ज्ञान अपने स्वरूप में परप्रकाशक ही है। शान्तरक्षित का यह प्रस्ताव अनुचित है कि ज्ञान को परप्रकाशक मानने से जड़ और चेतन का भेद ही समाप्त हो जायेगा।[२३] चेतना को परप्रकाशक और अचेतन पदार्थों में इसका अभाव बताते हुए चेतन और अचेतन का भेद सुरक्षित रहता है। प्रज्ञाकर गुप्त[२४] इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि हम अपनी विचारसरणी में तीन प्रकार की वस्तुओं को सम्मिलित कर सकते हैं। प्रथम प्रकार में ऐसी वस्तुओं को रखा जा सकता है। जो न तो स्वप्रकाशक हैं न ही परप्रकाशक। दूसरे प्रकार में दो प्रकार की परप्रकाशक वस्तुओं को रखा जा सकता है। यथा-प्रकाश और ज्ञानेन्द्रियाँ। अब प्रथम प्रकार की वस्तुयें कुछ ऐसी हैं, जो द्वितीय प्रकार में आने वाली दोनों वस्तुओं की अपेक्षा करती हैं। द्वितीय प्रकार में आने वाली वस्तुओं को भी एक अन्य तृतीय प्रकार की वस्तु की आवश्यकता है जो उनका प्रकाशक हो। इस प्रकार अन्तत: हमें एक ऐसी तृतीय वस्तु की कल्पना में अवश्य ही पर्यवसित होना पड़ेगा जो स्वप्रकाश हो। सुरेश्वराचार्य[२५] ने भी परप्रकाशता के विभिन्न स्तरों के द्वारा एक निरतिशय स्वयंप्रकाशतत्त्व की अनिवार्यता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। भासर्वज्ञ[२६] ने इसका उत्तर देते हुए कहा है कि उपर्युक्त तर्कों में असिद्धि दोष है, क्योंकि प्रश्न है ज्ञान की स्वयंप्रकाशता और उपर्युक्त तर्क इसे सिद्ध करने का प्रयासकरता है कि ज्ञान की सभी स्थितियाँ ज्ञात होती हैं। इसी प्रकार शान्तरक्षित विहित स्वसंवित्ति की परिभाषा में भी असिद्ध साधनता की उद्‌भावना की जा सकती है। वस्तुत: नैयायिकों ने बौद्धों द्वारा स्वसंवित्ति की सिद्धि के लिए प्रयुक्त सभी तर्कों में असिद्ध साधनता के दोष को दिखाने को प्रयास किया है। इतिविषयक बौद्धों की तार्किक संरचना में "असिद्ध साधनता" की प्रतीति इसलिए होती है कि बौद्धों ने स्वसंवित्ति की सिद्धि के लिए जिन-जिन उपालम्भों को प्रयुक्त किया है वे "आरग्युमेन्ट" नहीं बल्कि "कन्सिडरेशन्स्" हैं जो स्वसंवित्ति की अवधारणा को मात्र "लॉजिकल प्रीसपोजिशन ऑफ नॉलेज" के रूप में प्रस्तावित न कर उसे उसके ऊपर प्रतिष्ठापित करते हैं।

नैयायिक इसके वैकल्पिक सिद्धान्त के रूप में जिस अनुव्यवसायवाद की अवधारणा प्रतिपादित करते हैं, वह न तो सैद्धान्तिक दृष्टि से उचित है न हि व्यवहार सम्मत है। यदि ज्ञान का ज्ञानान्तर से वेदन स्वीकार किया जाय तो यह बलात् ही "अनवस्था" को निमंत्रित करता है, जिसका अन्तत: "न किंचित्वेदनं" में पर्यवसित हो जाना आवश्यम्भावी है। यदि इस अनवस्था के परिहार के लिए यह

स्वीकार किया जाता है कि ज्ञान का ज्ञात होना कोई आवश्यक नहीं, तो यह नैयायिकों का ''अज्ञातज्ञान स्थिति'' के प्रति अनावश्यक मोह है। इसका समान्यीकरण नहीं किया जा सकता है। कोई भी ज्ञान बिना ज्ञात हुए व्यवहार साधक नहीं हो सकता। नैयायिक अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिए यहाँ एक महत्त्वपूर्ण पक्ष प्रस्तुत करते हैं, जो विचारणीय है। उनका मानना है। कि ''व्यवसायात्मक'' ज्ञानस्थिति यद्यपि ज्ञात नहीं होती तथापि व्यवहारोत्प्रेरक अपेक्षित स्नायुविक प्रभाव को उत्पन्न करने में वह समर्थ होती है। तदनन्तर जब व्यवसाय अनुव्यवसायात्मक मानसप्रत्यक्ष से अनुगृहीत हो जाता है, तो व्यवहार संचार के लिए इतना ही अपेक्षित है। व्यवहार इतने पर आकर अपने व्यापार से निवृत्त हो जाते हैं। अन्य कोई व्यापार अवशिष्ट नहीं रहता जो ''ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेदने'' के संदर्भ में उपदर्शित अनवस्था पूर्वक प्रतिरूद्ध होता हो।[२७] इस प्रकार नैयायिक यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि ज्ञान के कारणभूत विषयों की उपलब्धि होने से ही सम्पूर्ण व्यवहार चलते हैं। इसलिए उपर्युक्त उपदर्शित अनवस्था लक्ष्य को छोड़ते हुए तीर के समान उनके सिद्धान्त का हन्ता नहीं है। वस्तुत: नैयायिकों का यह समाधान सम्यक् नहीं है। व्यवहार संचार को एक यांत्रिक प्रक्रिया के रूप में देखना जीवन के वैचारिक पक्ष की अवहेलना करना है। व्यवहारों का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष वैचारिक भी होता है। व्यवहार के इस पक्ष में नैयायिकों के अनुव्यवसायवाद की अपर्याप्तता दिखाते हुए धर्मकीर्ति ने ''दीर्घादिग्रहणं न स्यात् बहुमात्रा अनवस्थिते'' की अनुपपत्ति प्रस्तुत की है।[२८] व्यवहार संचार के लिए एक विचार से दूसरे विचार में गति और पुन: विचारों के भाषीय प्रवहन के लिए भावप्रवाहिका भाषा में दीर्घस्वरों का ग्रहण आवश्यक है। ये दोनों बातें नैयायिकों की विचारसरणी में स्वसंवित् ज्ञान के बिना असम्भव है, क्योंकि उनके मत में ज्ञान और कण्ठ-तालु संयोग से उत्पन्न ध्वनि, दोनों ही क्षणिक हैं। दीर्घबुद्धि को अक्रम नियम से प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसके लिए क्रम नियम और क्रमयोग बोध अपेक्षित है। स्वसंवित्ति के अभाव में विज्ञान और वर्णों की क्षणिकता के कारण क्रमनियम में आसन्न अनवस्था से क्रमयोगबोध पूर्वक दीर्घबुद्धि अनुपपन्न है। यदि पूर्व-पूर्व वर्णों से उपकृत उत्तर-उत्तर वर्णों की उत्पत्ति मानी जाय तो जिस उत्तरवर्ती अन्त्य वर्ण पर इस प्रक्रिया का विराम होगा, वहीं एक साथ उस श्रृंखला के सभी पूर्ववर्ती वर्णों का ग्रहण प्रसक्त न होने से उसे दीर्घ ग्रहण नहीं कहा जा सकता है। बौद्धों के क्षणिक विज्ञानवाद में यह समस्या विज्ञानों के स्वसंवित् होने के कारण अनुपपन्न है, क्योंकि प्रत्येक विज्ञान अर्थाभास पूर्वक स्वाभास या स्वाभासपूर्वक अर्थाभास की विज्ञानस्थिति होती है। क्या अर्थाभासपूर्वक स्वाभास और स्वाभासपूर्वक अर्थाभास से परे और पृथक् कोई विज्ञान की स्वरूपस्थिति हो सकती है ? इसकी चर्चा हम आगे करेंगे। इस प्रकार नैयायिकों की समीक्षा से बौद्ध इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि ज्ञान को स्वसंवित् न माना जाय तो जगत् अन्धत्व की अवस्था में परिणत हो जाता है और इससे बचने के लिए यदि ज्ञान का प्रकाश ज्ञानान्तर से माना जाय तो अनवस्था में पतित हो जाना अवश्यंभावी है।

V

अद्वैत वेदान्तियों ने भी स्वसंवित्ति विषयक बौद्धाभिमत की आलोचना करते हुए इतिविषयक कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को उद्घाटित किया है। यद्यपि दोनों सम्प्रदायों में इतिविषयक स्वपक्ष स्थापन और परपक्ष खण्डन के लिए अपनाये गये तार्किक उपक्रम में कोई मौलिक भेद प्रतीत नहीं होता, फिर भी दोनों के निष्कर्ष नितान्त भिन्न हैं। इस सम्बन्ध में श्रीहर्ष का यह कथन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि यदि स्वयंप्रकाश ज्ञान को नित्य, साक्षी, सर्वात्मा, ब्रह्मस्वरूप माना जाय तो अद्वैत वेदान्त सिद्ध होता है और क्षणिक माना जाय तो क्षणिक विज्ञानवाद सिद्ध होता है।[२९]

शंकराचार्य की दृष्टि में नैयायिक और बौद्ध दोनों ही ज्ञान को वेद्य मानते हैं। यद्यपि ज्ञान की वेद्यता की प्रक्रिया दोनों दर्शनों में भिन्न-भिन्न है तथापि ज्ञान चाहे स्वविषयक हो या परविषयक हो, दोनों ही

स्थितियों में "विषयता" का समावेश हो ही जाता है। इसलिए ज्ञान की वेद्यता के खण्डन से शंकराचार्य को उभयविध मतों का खण्डन अभिप्रेत है। प्रश्नोपनिषद् भाष्य में शंकराचार्य बौद्धों को ध्यान में रखते हुए कहते हैं कि यदि विज्ञान वेद्य है तो वह स्वयं का वेदक कैसे हो सकता है ? यह किसी दूसरे विज्ञान से ही वेद्य हो सकता है, तब बौद्धाभिमत अनवस्था दोष से ग्रसित हो जाएगा।[30] पुन: यदि विज्ञान स्वयमेव अनुभूत होता है तो बौद्धाभिमत में कर्तृ-कर्म विरोध की उपपत्ति होगी।[31] इस तरह बौद्धों की स्वयंप्रकाशता से अनुभव प्रकाश की व्याख्या नहीं हो सकती है। ज्ञान में आचरित विषय बोध और प्रतिबोधित स्वयंबोध के लिए दोनों का साक्षी स्वयंप्रकाश,स्वयंसिद्ध आत्मतत्त्व को स्वीकार करना होगा, जिसकी समस्त प्रतीतियाँ विषय होती हैं, जो समस्त बोधों के समय जाना जाता है। ऐसे साक्षी चैतन्य की पृष्ठभूमि में ही समस्त ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय व्यवहार फलित होते हैं। इसलिए जब कोई ज्ञान होता है तो न ही तद्विषयक कोई संदेह रहता है और न तो उसके साक्षी को जानने की आवश्यकता होती है। क्योंकि स्वयंप्रकाश आत्मा सभी प्रतीतियों का नित्य साक्षी है। बौद्धों का क्षणिक विज्ञान स्वयं अपने ही उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का साक्षी नहीं हो सकता, तो वह सर्वसाक्षी क्या होगा। इस प्रकार अद्वैत वेदान्ती स्वसंवित्ति विषयक बौद्धाभिमत को नित्य आत्मा की स्वयंप्रकाशता में रूपान्तरित कर देते हैं।

शंकराचार्य कृत उपर्युक्त आलोचनाओं की समीक्षा करते हुए कहा जा सकता है कि एक ओर शंकराचार्य बौद्धों की स्वसंवित्ति में विषयता भाव बलात् ही आरोपित कर अनवस्था दिखाते हैं, तो दूसरी ओर वहीं कर्तृ-कर्म विरोध भी उपस्थापित करते हैं। एक ही प्रतिज्ञा में उपुर्यक्त दोनों प्रकार के दोषों की उद्‌भावना स्वयं में विरोधग्रस्त हैं। यदि विज्ञानों की स्वसंवित्ति में विषयता भाव के कारण अनवस्था उपपन्न है, तो वहाँ कर्तृ-कर्म विरोध नहीं हो सकता; लेकिन यदि विज्ञानों की स्वसंवित्ति में कर्तृ-कर्म विरोध नहीं है तो वहाँ अनवस्था प्रसंग भी नहीं होगा। वस्तुत: स्वसंवित्ति विषयक बौद्धाभिमत इन दोनों ही दोषों से सर्वथा मुक्त है। स्वयं वाचस्पति मिश्र ने "न हि संवेदनस्य स्वरूपादन्यावृत्तिरस्ति" कहते हुए स्वसंवित्ति में कर्तृ-कर्म विरोध का निराकरण किया है।[32] ऐसे ही "स्वसंवेदन" में "वेदन" पद से आपातत: ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार विज्ञान अन्य की वित्ति का ग्राहक होता है, उसी रूप में वह स्वयं की वित्ति का भी ग्राहक है। सभी बौद्धेतर दार्शनिक स्वसंवेदन विषयक बौद्धाभिमत के इसी प्रारूप को ध्यान में रखते हुए इसकी आलोचना करते हैं। स्वसंवेदन का परिष्कृत स्वरूप इससे पूर्णतया भिन्न है। बौद्ध दर्शन के विकासात्मक इतिहास में स्वसंवेदन को त्रिविध प्रारूपों में देखा जा सकता है। प्रथम-विज्ञान इस अर्थ में स्वसंवित् होता है कि जब विषय का ज्ञान होता है, तो प्रतिचेतना के रूप में स्वयं की भी वित्ति होती है। यहाँ स्वसंवित्ति अर्थाभासपूर्वक स्वाभास है।[33] द्वितीय-विज्ञान इस अर्थ में स्वसंवित् होता है कि वह स्वसंवित् होकर ही विषय को प्रकाशित करता है। यहाँ स्वसंवित्ति स्वाभास पूर्वक अर्थाभास है।[34] तृतीय-विज्ञान अर्थाभासपूर्वक स्वाभास और स्वाभासपूर्वक अर्थाभास से पृथक् और परे अपने स्वस्वरूप में ही आत्मसंवित् है।[35] यही स्वसंवेदन का निरपेक्ष स्वरूप है। यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिए कि बौद्ध दर्शन में स्वसंवित्ति विषयक तीन सिद्धान्त हैं। इन त्रिविध प्रारूपों को स्वसंवित् विज्ञान की ज्ञानमीमांसीय भूमिका और उसके तात्त्विक परिणति के मध्य त्रिविध सोपानों के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है। नैयायिक, मीमांसक और अद्वैत वेदान्तियों की आलोचनायें केवल प्रथम प्रारूप के संदर्भ में ही प्रयुक्त हो सकती हैं। स्वसंवेदन का तृतीय प्रारूप जो उसका निरपेक्ष स्वरूप है, वह पूर्वोक्त सभी दोषों से मुक्त है। शान्तक्षित ने स्वसंवित्ति की परिभाषा करते हुए "स्वरूपवेदनायान्यद् वेदकं न व्यपेक्षते। न चाविदितमस्तीदमित्यर्थोऽयं स्वसंविद: ॥" कहा है।[36] चित्सुखाचार्य ने अद्वैतमतेन् "अवेद्यत्वे सति अपरोक्षवहार योग्यत्वम्" के रूप में स्वयंप्रकाशता का

सर्वदोषमुक्त लक्षण प्रस्तुत किया है।[37] इन दोनों परिभाषाओं में वेद्यत्व की अवस्थिति एक समान है, लेकिन दोनों परिभाषायें अपनी परम्परा की दार्शनिक योजना में चेतना के जिस तात्त्विक स्वरूप को प्रस्तावित करते हैं, वह नितान्त भिन्न है। इतिविषयक विज्ञानवादी बौद्ध और अद्वैतवेदान्तियों की परस्परिक ईर्ष्याजनक स्थिति दोनों का अपना-अपना गौरव है। अन्त में जहाँ तक साक्षी का प्रश्न हैं, तो स्वसंवित् क्षणिक विज्ञान त्रिविध उपक्षणों में विभाजित ही नहीं है, तथापि जिस प्रकार अद्वैतमत में स्वयंप्रकाश आत्म तत्त्व को किसी अन्य साक्षी की आवश्कता नहीं होती है, उसी प्रकार बौद्धों का क्षणिक विज्ञान भी स्वयं साक्षी तो हो ही सकता है। साक्षी को "सर्वसाक्षी" के रूप में स्वीकार करना अद्वैतवादियों का अपना गौरव है। इस गौरव भेद की खाई को पाटने में ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति की कोई महत्त्वपूर्ण मध्यस्थ भूमिका हो सकती है-ऐसा प्रतीत नहीं होता।

VI

इस प्रकार ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति की संज्ञानात्मक भूमिका के विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि अनुभव प्रकाश की व्याख्या के लिए यह अपेक्षित है। यदि ज्ञान स्वसंवित् है, तो वस्तुवादियों का यह तर्क कि ज्ञान किसी की अपेक्षा करता है जिसे वह जानता है, शक्तिहीन हो जाता है। इस तर्क के शक्तिहीन हो जाने से ज्ञान से परे अैर पृथक् वस्तु की सत्ता स्वीकार करने की बाध्यता तार्किक और निरपेक्ष न होकर मनोवैज्ञानिक बाध्यता में रूपान्तरित हो जाती है। ज्ञान से स्वतन्त्र वस्तु की सत्ता की सिद्धि करने के लिए उस वस्तु की ज्ञात और अज्ञात स्थिति में तादात्म्य बताना आवश्यक है। इस तादात्म्य को बताने के लिए अज्ञात स्थिति में वस्तु को जानने की आवश्यकता होगी। ऐसा जानना बिना जाने हुए जानना है। वस्तुत: अज्ञात अवस्था में वस्तु की सत्ता का निषेध और स्वीकृति दोनों ही अनुपपन्न हैं। यदि अज्ञात अवस्था में वस्तु की सत्ता का निषेध वस्तुवादियों की दृष्टि में "अहंकेन्द्रित दुरास्था" है, तो उसके विधान को भी विज्ञानवादी "वस्तु केन्द्रित दुरास्था" कह सकते हैं। इस वस्तु केन्द्रित दुरास्था से निकलने का प्रयास करते हुए वस्तुवादी वस्तु की स्वतंत्र सत्ता को स्थापित करने के लिए स्वयं ज्ञान की ही एक अज्ञात अवस्था का पक्ष प्रस्तुत कर सकते हैं। "भारतीय वस्तुवाद" में नैयायिकों का "व्यवसाय" और मीमांसकों की "ज्ञातता" वस्तुवाद को ऐसा ही विलक्षण आधार प्रदान करने का सराहनीय प्रयास है। परन्तु ज्ञान को यथार्थता का प्रदर्शक सिद्धान्त स्वीकार करते हुए ज्ञान की ही एक अज्ञात अवस्था पर वस्तुवाद को स्थापित करने के लिए पुन: ज्ञान की अज्ञातावस्था को ज्ञानान्तर के द्वारा जानने की आवश्यकता होगी, जिससे वस्तु की चेतना और वस्तुसारूप्यविशिष्ट चेतना की चेतना के द्वारा ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता की पृथक्ता स्थापित हो सके। इस अभ्युपगम को अपनाने में अनवस्था दोष के कारण कितनी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती है, यह पूर्वोक्त सम्पूर्ण विवरण से स्पष्ट ही है। इससे निकलने का वे जितना ही प्रयास करते हैं, उतना ही उलझते जाते हैं। वस्तु की सत्ता के प्रति एक सामान्य विश्वास ही उनकी मूल भित्ति बन कर रह जाती है। इसके विपरीत विज्ञानवादी ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति का पक्ष प्रस्तुत करते हैं। स्वसंवित् ज्ञान अहंकेन्द्रित दुरास्था को एक दिशा प्रदान करते हुए इस बात के लिए एक सामान्य आधार प्रदान करता है कि चेतना को आधारभूत तत्त्व मानकर समस्त संसार की व्याख्या चेतना की आद्यनियामकता में प्रस्तुत की जा सकती है। ज्ञान की स्वयंप्रकाशता इस सामान्य अर्थ में प्रत्ययवाद का पोषक सिद्धान्त है। यद्यपि प्रत्ययवादी दर्शनों के विशेष स्वरूप के निर्धारक घटक कुछ और हो सकते हैं तथापि विज्ञानवादी बौद्ध और अद्वैतवेदान्त दोनों ही परस्पराओं में स्वसंवित्ति या स्वयंप्रकाशता अनुभव प्रकाश की व्याख्या के लिए अपेक्षित अनिवार्य तार्किक पूर्वमान्यता के रूप में ही प्रस्तुत होता है। वस्तुत: जिसके अभाव में अनवस्था उत्पन्न होती हो, बुद्धि उसका अध्याहार अनिवार्य तार्किक

पूर्वमान्यता के रूप में ही करती है। यह अनिवार्य तार्किक पूर्वमान्यता चेतना के जिस किसी तात्त्विक स्वरूप को प्रस्तावित करती है, वह वसुबन्धु की "विज्ञप्तिमात्रता" या धर्मकीर्ति की "अविभक्त बुद्धयात्मा" अथवा शंकाराचार्य का "सच्चिदानन्द" या कुछ और भले हो, लेकिन ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति का शर्त केवल इतना ही है कि उसका निरपेक्ष तात्त्विक स्वरूप विषय और विषयी से परे होना चाहिए। विषय और विषयी दोनों परस्पर सापेक्षिक हैं। अतएव इन दोनों का पूर्ण निषेध ही स्वयंप्रकाश या स्वसंवित् विज्ञान की स्वरूपस्थिति है।

***

संदर्भ-सूची

१. *किसी वैचारिक योजना की आन्तरिक संरचना में असंगति इन्हीं तीन प्रकार के व्याघातों के कारण उत्पन्न होती है। उदयन- आत्मतत्त्वविवेक-सं. और अनु पं. केदारनाथ त्रिपाठी (श्री विद्याप्रेस वाराणसी) पृ. २२३-२२४*

२. *उक्तं च लोकनाथेन चित्तं चित्तं न पश्यति। -शान्तिदेव-बोधिचर्यावतार,९.१७*

३. *एम. हतोरी - दिङ्नाग ऑन परसेप्शन, पृ.२२९-३०.*

४. *धर्मकीर्ति - न्या.बि.,१.१० सर्वचित्त चैत्तानामात्मसंवेदनम्.*

५. *धर्मोत्तर - न्या. बि.टी.१.१० यस्मिन् रूपे प्रत्ययक्षस्य साक्षात्कारित्वव्यापारो विकल्पेनानुगम्यते तत् प्रत्यक्षम्। न च नीलस्य सत्तादिरूपत्वमनुगम्यते।*

६. *धर्मकीर्ति -प्रमा.वा. २.४८५, स्मृतेरप्यात्मवित् सिद्धा ज्ञानस्या: अन्य वेदने। और एम्. हतोरी - दिङ्नाग ऑन परसेप्शन, पृ. ३०.१ कारिका ११-१२.*

७. *कुमारिल भट्ट - श्लोक. वा. (औत्पतित्तक सूत्रे शून्यवाद:) -६४ नैतदास्ति, त्वयैकं हि ग्राहयं ग्राहकमिष्यते। न चैकस्यैवामात्मत्वे दृष्टान्त: कश्चिदस्ति ते॥*

८. *वहीं, ७३- अभिन्नत्वं यदा चेष्टं ग्राह्यग्राहकवस्तुनो:। तदान्यतर संवित्तौ द्वयाकारं ग्रहणं भवेत्॥*

९. *शान्तिदेव - बोधिचर्यावतार, ९.१७ -२३.*

१०. *कुमारिल भट्ट, श्लोक. वा. (औत्पत्तिक सूत्रे शून्यवाद:) १८४ - व्यापृतं चार्थसंवित्तौ ज्ञानं नात्मानमृच्छति। तेन प्रकाशकत्वेऽपि बोधायान्यत् प्रतीक्ष्यते॥*

११. *वहीं - २४ ज्ञानस्योत्पद्यमानस्य प्रतिबन्धो न कश्चन। न चाप्रकाशरूपत्वं येनास्याग्रहणं भवेत्॥*

१२. *वहीं - १८३ - न चाऽपि प्रतिबन्धेन कवलेनाऽग्रहो भवेत्। विशिष्टकारणाऽभावेप्यर्थौ नैवाऽनुभूयते॥*

१३. *पार्थसारथी मिश्र - शास्त्रदीपिका, पृ. १५७-१६१.*

१४. *प्रज्ञाकर गुप्त - प्रमाणवार्त्तिक भाष्य - प्रत्य. परि, २ - तुरंगस्य न भेदेऽस्ति गवादेरूपभिन्नता। सङ्गत्यभावान्न ज्ञानज्ञेययोरेव मिष्यते॥*

१५. *न्यायबिन्दुप्रकरणम् सम्पा.स्वा. द्वारिका दास शास्त्री,बौद्ध भारती ग्रन्थमाला, पृ. ३७-३८- बोधस्य तु बोध रूपतयोत्पत्तिरेव स्वप्रकाशकत्वम्*

१६. *शान्तरक्षित - तत्त्वसं.१९९९ - विज्ञानं जड़रूपेभ्यो व्यावृत्तमुपजायते। इयमेवात्मसंवित्तिरस्य याऽजड़रूपता॥*

१७. *वहीं -२०१६ ननु चार्थस्य संवित्तिर्ज्ञानमेवाभिधीयते। तस्यां तदात्मभूतायां को व्यापारऽपरो भवेत्।*

१८. *वहीं -२०११ - स्वरूपवेदनायान्यद् वेदकं न व्यपेक्षते। न चाविदितमस्तीदमित्यर्थोऽयं स्वसंविद:।*

१९. *वहीं -२०१९ - न हि तत्र परस्यास्ति प्रत्यासत्तिर्निबन्धनम्। यथा साकारविज्ञानपक्षेऽर्थप्रतिबिम्बिकम्॥*

२०. *शालिकनाथ - प्रकरण पञ्चिका - का. हि. वि. वि.पृ. १६८- सर्वत्र प्रमातृ प्रमिति प्रमेयेषु त्रिषु संविदेकैव।*

२१. *मतिलाल बी.के.-परसेप्शन -क्लारेण्डन प्रेस, ऑक्सफोर्ड, पृ. १५३*

२२. *उदयन-परिशुद्धि-बिब्लिओथिका इण्डि, पृ. १२१.*

२३. *शान्तरक्षित - तत्त्वसंग्रह -२०२० प्रकृत्या जड़रूपत्वान्नस्यात्मानुभवो यदि। ज्ञानसंवेदनाभावात् परार्थानुभवस्तदा॥*

२४. *प्रज्ञाकर गुप्त-प्रमाणवार्त्तिकभाष्य-काशी प्र.जायसवाल, पटना, पृ. ३५३.*

२५. *सुरेश्वर; वार्त्तिक -अ. ३ ब्रा.४ -स्वमहिमनैवचन्नस्यात् ग्राहकादिततोन्यत:। न स्यात् अतिशयाभावात् नैव स्यात् अविशेषत:॥*

२६. *न्यायभूषणम्- (सं.) स्वा,योगीन्द्रानन्द. पृ. १३८.*

२७. वात्स्यायन-न्यायभाष्य-२.१.२०-न चास्ति व्यवहारन्तरमनवस्थासाधनीयम् येन प्रयुक्तोऽनवस्थामुपाददीतेति।

२८. धर्मकीर्ति-प्रमाणवार्त्तिक-२.४८४-दीर्धादिग्रहणं न स्याद् बहुमात्राऽनवस्थिते।

२९. श्रीहर्ष -खण्डनखण्डखाद्यम् - हिन्दी व्याख्या - स्वा.श्रीहनुमान दास जी षट्शास्त्री, चौखम्भा प्रका. पृ.४५

३०. प्रश्नोपनिषद् शांकर भाष्य ४.२ अवश्यं च वैनाशिकानां ज्ञानं ज्ञेयम्। स्वात्मना चाविज्ञेयत्वेनानवस्थानिवार्या।

३१. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, २.२.२८ - न चार्थ व्यतिरिक्तमपि विज्ञानं स्वयमेवानुभूयते स्वात्मनि क्रिया विरोधादेव।

३२. न्यायकणिका -मेडिकल हॉल,काशी २६५.

३३. दिङ्नाग - प्रमाण समु.१.१० - स्वसंवित्तिः फलम् चास्य ताद्रूप्यात् अर्थनिश्चयः। विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते॥

३४. धर्मकीर्ति - प्रमा. वा. २.४४४ - आत्मरूपं नो वेत्ति पररूपस्य वित् कथम्। सारूप्याद् वेदनाख्या च प्रागेव प्रतिवर्णिता॥

३५. धर्मोत्तर - न्या. बि.टी. १.१० - नास्ति च काचिद् चित्तावस्था यस्यात्मनः संवेदनं न प्रत्यक्षंस्यात्। येन ही रूपेणात्मा वेद्यते तद्रूपमात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम्।

३६. तत्त्वसंग्रह, २०११.

३७. चित्सुखी- हिन्दी अनु., स्वा. योगीन्द्रानन्द, पृ. ५

परिसंवाद : एक

क्या दर्शन भाषा विश्लेषण है ?

1.1 यशदेव शल्य

1.2 राजेन्द्र प्रसाद

1.3 नारायण शास्त्री द्राविड़

1.4 याकूब मसीह

... परिसंवाद ...

मानव सभ्यता के इतिहास में "भाषा" मनुष्य की महानतम उपलब्धियों में से एक है। परन्तु 'भाषा' मानवीय चेतना की अतल गहराईयों में मूलित है अथवा यह उसका एक उत्तल धरातल है, इस बात को लेकर 'भाषा' पर हुए दार्शनिक विमर्शों के विवाद भी बहुत गहरे हैं। इस दृष्टि से भारतीय दार्शनिक परम्परा के लिए 'भाषा दर्शन' जितना पुरातन है, पाश्चात्य दर्शन के लिए उतना ही नवीन है। दोनों परम्पराओं के लिए एतद्विषयक दार्शनिक प्रयासों के निहितार्थ भी परस्पर व्यावर्त्तक ही रहे हैं। भारतीय परम्परा 'वाक् तत्त्व' के माध्यम से मनुष्य और उसके जगत् को अपार विस्तार देती है लेकिन यूरोपीय परम्परा, ठीक इसके विपरीत, मनुष्य और जगत् को इन्द्रियानुभव में प्रत्यहृत कर देने के लिए 'वाक्य' में उसे घटित कर देती है। आश्चर्य तो तब होता है जब उस 'वाक्य' के अर्थ-विन्यास को उसके प्रयोगों एवं सम्पादनात्मकता के विभिन्न संस्थानों में खोजा जाता है। इस अर्थ में 'भाषा' उनके लिए वही है जो इन्द्रियानुभव में घटित किया जा सके और इन्द्रियानुभव भी उसी अनुपात में 'अनुभव' है जिसे भाषा में निरूपित किया जा सके। अब यदि भाषायी प्रयोगों में कुछ ऐसा भी प्राप्त हो जिसे इन्द्रियानुभव में घटित नहीं किया जा सके तो ऐसे प्रमाणीकरण के अभाव में उसे निरर्थक ही कहना पड़ेगा। यही कारण है कि भाषा विश्लेषणवादी दार्शनिक तत्त्वमीमांसीय संकल्पनाओं को अर्थहीन घोषित कर देते हैं और इस प्रकार की अर्थहीनता से आप्लावित मानव बुद्धि का उपचार करने के लिए दर्शन की इतिकर्त्तव्यता को महज भाषा विश्लेषण तक सीमित कर देते हैं। समकालीन पाश्चात्य दर्शन में 'भाषा विश्लेषण' का यह तरीका एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक पहल के रूप में बहुत बड़ी दार्शनिक योजना का अंगभूत बनकर सामने आया है जिसका अन्तर्निहित उद्देश्य 'विश्व का लौकिकीकरण' करने के लिए एक दार्शनिक आधार निर्मित करना है। इसी व्यापक पृष्ठभूमि में आचार्य यशदेव शल्य, प्रो. राजेन्द्रप्रसाद, प्रो. नारायण शास्त्री द्राविड़ और प्रो. याकूब मसीह ने इस परिसंवाद 'क्या दर्शन भाषा विश्लेषण है ?' को आपस में परस्पर संवाद करते हुए और इसके पुरस्कर्त्ताओं के साथ भी समस्तरीय संवाद स्थापित करते हुए अग्रसारित किया है।

⁕

यशदेव शल्य*

हमारी समस्या यहाँ देखना है कि क्या दर्शन भाषा विश्लेषण है ? किन्तु जब हम इस प्रश्न पर विचार करने चलते हैं तो पाते हैं कि यह प्रश्न उतना स्पष्ट नहीं है जितना पहली दृष्टि में यह प्रतीत होता है। पहली दृष्टि में ऐसा प्रतीत हो सकता है जैसे यहाँ पूछा जा रहा है कि क्या 'दर्शन' तथा 'भाषा विश्लेषण' पद सामान्य शब्द कोश में पर्यायवाची पद हैं ? किन्तु प्रश्न को ठीक इस रूप में स्वीकार करने को शायद कोई भी तैयार न होगा, क्योंकि इसका उत्तर केवल नकारात्मक ही हो सकता है। यदि नहीं भी हो तो भी इसका उत्तर प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती, केवल कुछ प्रमुख शब्दकोश देखना आवश्यक है। इस प्रश्न का उत्तर देने का दूसरा ढंग यह है कि इसके तार्किक रूप पर विचार किया जाय और तब यह देखने का प्रयत्न किया जाय कि यहाँ क्या कहना अभिप्रेत है। इस रूप में इस प्रश्न की रचना निम्न प्रकारों से की जा सकती है :-

(१) (जिस किसी भी प्रकार से) भाषा का विश्लेषण करने का व्यापार दार्शनिक व्यापार है।

(२) केवल भाषाविश्लेषण द्वारा किन्हीं निर्णयों पर पहुँचना दर्शन है।

(३) किन्हीं निर्णयों और अभिमतों की, उनको व्यक्त करने वाली भाषा के विश्लेषण द्वारा, परीक्षा करने की विधि दर्शन है।

किन्तु जब हम इस प्रश्न पर इस प्रकार से विचार आरंभ करते हैं तो पाते हैं कि इस प्रकार किसी निर्णय पर पहुँचना असम्भव है, क्योंकि इन प्रश्नों के सम्बन्ध में तब तक किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकता जब तक हम पहले से यह न जानते हों कि दर्शन क्या है। उदाहरणत: कविता भाषाविश्लेषण नहीं है, किन्तु कविता दर्शन भी नहीं है, यह हमें पूर्वज्ञात होना आवश्यक है। अत: उन व्यापारों अथवा वस्तुओं को जाने बिना, जिन्हें हम 'दर्शन' संज्ञा देते हैं, हम यह नहीं कह सकते कि 'भाषा विश्लेषण' पद उन्हें उचित रूप से वर्णित करता है या नहीं ? इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि हम उपर्युक्त प्रश्न करते हुए यह कि उन व्यापारों का उचित रूप क्या है, किस प्रकार उन्हें उचित रूप से वर्णित किया जा सकता है।

हमारे विचार में उपर्युक्त प्रश्न इसी प्रकार का है। यहाँ यह मान लिया गया है कि हम 'दर्शन' पद के विस्तार के सम्बन्ध में सहमत हैं, जिस प्रकार हम 'मनुष्य' पद के विस्तार के सम्बन्ध में सहमत हैं;

* इस ग्रन्थ में श्री यशदेव शल्य के आलेखों पर केन्द्रित कोई स्वतन्त्र परिच्छेद नहीं है जबकि १९५० से अद्यतन वे राष्ट्रभाषा के माध्यम से मौलिक दार्शनिक चिन्तन एवं लेखन में अनवरत संलग्न रहे हैं। उनके सभी आलेख "चिद्द्वैतवादी" वैचारिक योजना के विभिन्न कल्प एवं सोपानक्रम में यथास्थान उनकी कृतियों में प्रकाशित हुए हैं। अत: यहाँ केवल उनके दो ही आलेख - (१) क्या दर्शन भाषा विश्लेषण है ? (२) अर्थ एवं प्रमाणीकरण-परिसंवाद में प्रस्तुत एवं अन्वित होने के कारण प्रकाशित किये जा रहे हैं। (संपादक)

हम केवल यह जानना चाहते हैं कि इनकी विच्छेदक विशेषता क्या है, जिस प्रकार 'मनुष्य' की विच्छेद विशेषता 'तर्कशीलता' है।

किन्तु वास्तव में कठिनाई यह है कि हम 'दर्शन' पद के विस्तार के सम्बन्ध में भी सहमत नहीं हैं। तार्किक भाववादियों ने बर्गसाँ या सार्त्र या हेगल के प्रतिपादनों को उचित रूप से दर्शन नहीं माना, उन्होंने उन्हें प्रज्ञानात्मक अर्थ (कोग्नीटिव मीनिंग) से रहित कल्पनाएँ और पहेलियाँ कहा है। कार्नप के अनुसार, ''हमें दर्शन का परित्याग कर विज्ञान की अवधारणाओं तथा भाषा का तार्किक विश्लेषण करना चाहिये।'' (लोजीकल साईन्टेक्स ऑफ लैंग्वेज, प्राक्कथन)। इसका अभिप्राय वास्तव में यह है कि जिस व्यापार को 'दर्शन' की संज्ञा दी गयी है वह व्यापार निरर्थक होने से त्याज्य है, इसके बजाय हमें उस व्यापार को यह संज्ञा देनी चाहिये जिसे हम वैज्ञानिक वाक्यों का तार्किक विश्लेषण कहते हैं। अथवा, इस व्यापार की कोई और संज्ञा देनी चाहिये यदि वर्गसोंनियन प्रकार के व्यापार को दर्शन कहना हैं तो।

अब 'दर्शन' पद के विस्तार के सम्बन्ध में निश्चित हुए बिना हम उसके विच्छेदक गुण के सम्बन्ध में विचार नहीं कर सकते। ऐसी अवस्था में हमारे पास क्या रास्ता है ? वास्तव में किसी संज्ञा के विस्तार का निर्णय हम दो प्रकार से कर सकते हैं - या तो सामान्य प्रयोग से, अथवा परिभाषा से। यहाँ हम एतत्सम्बन्धी कुछ समस्याओं को बीच में छोड़ कर यह कहेंगे कि भाववादियों (पोजिटिविस्ट्स) ने 'दर्शन' पद का विस्तार कुछ सामान्य प्रयोग से और अधिकांशत: परिभाषा से निश्चित किया, और तब यह प्रतिपादित किया कि दर्शन भाषा विश्लेषण है। क्योंकि अन्यथा सामान्य प्रयोग के अनुसार हेगल और बर्गसाँ के ग्रन्थ दार्शनिक ग्रन्थ हैं और उनमें किसी भी प्रकार से भाषा विश्लेषण नहीं किया गया है। कम से कम बर्गसाँ तथा अस्तित्ववादियों ने भाषा विश्लेषण का तनिक भी आश्रय नहीं लिया।

किन्तु जैसाकि स्पष्ट है, किसी दार्शनिक वाक्य को वर्णनात्मक या परिभाषात्मक कहना दोनों ही अस्वीकरणीय स्थितियाँ हो सकती हैं, क्योंकि प्रथम स्थिति में दार्शनिक को दिखाना होगा कि ''जितने भी ग्रन्थ दार्शनिक कहे जाते हैं उनकी विशेषता इस बात में है कि..........,'' किन्तु यह असम्भव कार्य भी होगा और अस्वीकार्य भी। अस्वीकार्य इसलिये क्योंकि तब आप किसी ग्रन्थ को अदार्शनिक इसलिये नहीं कह सकते क्योंकि वह आपकी कसौटी पर पूरा नहीं उतरता। दूसरी स्थिति इसलिये अस्वीकार्य है क्योंकि यह केवल व्यक्तिगत निर्णय है कि आप दर्शन उसे कहेंगे जो भाषा विश्लेषण है।

तब इस दुविधा से निकलने का क्या रास्ता है ? इसका एक रास्ता यह है कि यह दुविधा प्रस्तुत करने वाले से यह पूछा जा सकता है कि आपके दर्शन की विशेषता किस बात में निहित है ? और तब आप उसे दिखा सकते हैं कि वह भी ठीक इन दो में से एक, अथवा दोनों, प्रकारों से ही 'दर्शन' की व्याख्या कर रहा है; और यह कि किसी व्याख्येय पद के अर्थ का निर्णय हम इनमें से एक या दोनों प्रकारों से ही करते हैं। इसका दूसरा रास्ता यह है कि यह कहा जाय कि 'दर्शन' पद के विस्तार का निर्णय अब तक ठीक प्रकार से नहीं किया गया, इसके अन्तर्गत कुछ सर्वथा भिन्न जाति की वस्तुओं का समावेश किया जाता रहा है। हमें इनमें से केवल एक को यह नाम देना चाहिये, अन्यथा यह पद भ्रामक होगा। उदाहरणत: यदि हम सब प्रकार के पक्षरहित द्विपदों को मनुष्य कहें और पक्षरहित द्विपद कम से कम दो प्रकार की वस्तुएँ हों, जैसे मान लीजिये कि रीछ भी दो पैरों से ही चलता हो, तो यह कहा जायगा कि हमारा 'मनुष्य' पद का प्रयोग भ्रामक है, अथवा हमें इसके अतिरिक्त दो अन्य संज्ञाएँ चाहिये जिनमें से एक तर्कशील पक्षरहित द्विपद की संज्ञा हो और दूसरी अतर्कशील पक्षरहित द्विपद की संज्ञा हो।

अब यह दूसरा रास्ता वास्तव में निर्णय ही है, किन्तु यह निर्णय सुविधापेक्षी (आर्बिट्रेरी) नहीं है,

इसमें निर्णय केवल इतना है कि आप अब तक एक ही नाम से अभिहित दो पृथक् प्रकार की वस्तुओं में से किसको यह संज्ञा देना स्वीकार करते हैं। अब कुछ भाववादियों ने एक विशेष विश्लेषण प्रणाली के लिये 'दर्शन' संज्ञा को स्वीकार किया और कुछ ने इसे तार्किक व्याकरण का नाम दिया और 'दर्शन' नाम दूसरे व्यापार के लिये छोड़ दिया, जैसाकि कार्नप के पीछे दिये उद्धरण में देखा जा सकता है। विश्लेषण-वादी दार्शनिकों का भाषा विश्लेषण को दर्शन कहना वास्तव में इस दूसरे प्रकार से हुआ। उन्होंने दिखाया कि पुराने दार्शनिक भी भाषा-विश्लेषण का सहारा लेते थे, किन्तु केवल अयोग्यपूर्वक तथा अनजाने में। इसके अतिरिक्त, वे अपने कर्त्तव्य के सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं थे। आवश्यकता इस बात की है कि दार्शनिक अपना क्षेत्र केवल भाषा विश्लेषण तक सीमित रखें और इस कार्य को योग्यतापूर्वक करें।

इस प्रकार, विश्लेषणवादी दार्शनिकों के इस प्रतिपादन का औचित्य निरापत्तिक कहा जा सकता है। किन्तु यह निरापत्तिकता अत्यन्त अचिरस्थायी है, क्योंकि इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट नहीं है कि भाषा-विश्लेषण क्या है ? और इसके जितने भी उत्तर हैं उनके विरुद्ध अनेक आपत्तियाँ की गयी हैं।

सर्वप्रथम इस परिभाषा के सम्बन्ध में यह द्रष्टव्य है कि इसमें 'भाषा विश्लेषण' पद का प्रयोग अपने सामान्य अर्थ में नहीं है। कार्नप के अनुसार, दार्शनिक प्रकथन (स्टेटमेंट्स) वास्तव में भाषीय (तर्कव्याकरणात्मक) वाक्य हैं, इस अर्थ में कि इनकी सार्थकता केवल इस बात में निहित है कि वे उन नियमों के अनुसार सरल वस्तुओं (पद तथा पदांशों) से निर्मित हैं जो नियम तार्किकरूप से उचित हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक (लॉजिकल साईन्टेक्स ऑफ लेंग्वेज) में सामान्य दार्शनिक वाक्यों का इस रूपात्मक भाषा में रूपान्तरण कर दिखाया कि किस प्रकार वास्तव में भावनाओं, वस्तुओं, विषयों आदि के सम्बन्ध में प्रकथित वाक्यों को रूपात्मक तर्क के वाक्यों में रूपान्तरित किया जा सकता है और किस प्रकार यह उचित है।

तार्किक भाववादियों का भाषा विश्लेषण उनकी सार्थकता और निरर्थकता की अवधारणाओं से आरम्भ होता है। कार्नप के अनुसार, कोई भाषा अपनी रचना के नियमों (फोर्मेशन रूल्स) से, नियम यह निर्धारित करते हैं कि पदों का कौन सा अनुक्रम इस भाषा का उचित वाक्य है, तथा रूपान्तरण के नियमों (ट्रांसफोर्मेशन रूल्स) से, जो यह निर्धारित करते हैं कि किन अवस्थाओं में कोई वाक्य दूसरे वाक्यों से निगमनीय है, निर्धारित होती है। अर्थ के सम्बन्ध में उनका विचार था कि केवल शाब्दिक पर्याय ही अर्थ का कार्य कर सकते हैं, जैसे "हाथी उसी प्रकार का प्राणी विशेष जैसा इस देशकाल में प्राणी विशेष"। यह केवल सार्थक वाक्य की भाषीय परिभाषा नहीं है प्रत्युत संकेतात्मक पद (ओस्टेंसिव टर्म) की भाषीय परिभाषा है। किन्तु कार्नप के इस अतिचार को दूसरे भाववादियों ने स्वीकार नहीं किया और स्वयं कार्नप ने भी पीछे इसका परित्याग कर दिया। अतः यहाँ इस सम्बन्ध में कुछ अधिक कहना अनावश्यक है। यहाँ केवल यह देखना प्रासंगिक है कि भाववादी भाषा विश्लेषण का आरम्भ सार्थकता की अवधारणा से होता है। सार्थकता सम्बन्धी प्रश्न सर्वप्रथम ट्रक्टेटस में विट्गिंस्टाइन ने उठाया था यद्यपि रसल तथा मूर की स्थापनाओं से भी भिन्न-भिन्न प्रकार से यह प्रश्न प्रासंगिक है। भाववादियों ने किसी वाक्य की सार्थकता के लिये पहले एक निश्चित निकष का निर्माण किया और तब दिखाया कि किस प्रकार दार्शनिक कहे जाने वाले अधिकांश प्रतिपादन निरर्थक हैं। इस प्रकार उन्होंने विभिन्न दार्शनिक वाक्यों का विश्लेषण कर उनकी निरर्थकता और दूसरी ओर वैज्ञानिक वाक्यों की सार्थकता का प्रतिपादन किया। उनके विश्लेषण की दूसरी विशेषता साधारण भाषा (वैज्ञानिक भाषा भी जिसमें आ जाती है) का मूलवाक्यों (प्रोटोकोल सेंटेंसिस) में विघटन का सिद्धांत है, जो वास्तव में सार्थकता सिद्धांत की भी रीढ़ है। वास्तव में उनके इस विघटनात्मक विश्लेषण (रिडक्टिव एनेलेसिस) के कारण ही उनके व्यापार को भाषा विश्लेषण कहा गया।

अब जैसा कि स्पष्ट है, यह विधि सामान्यरूप से भाषा विश्लेषण नहीं है, यह एक विशेष प्रकार का भाषा विश्लेषण है, वास्तव में इतना भिन्न प्रकार का कि इसे भाषा विश्लेषण के बजाय अन्य नाम देना उचित है। इसे हम पुनर्रचनावाद की संज्ञा दे सकते हैं। यह विघटनात्मक विश्लेषण वास्तव में किसी साधारण अर्थ में भाषा विश्लेषण है ही नहीं, इसे भाषा विश्लेषण कहना 'भाषा विश्लेषण' पद के साथ खींचातानी करना है। (द्रष्टव्य: हमारी पुस्तक दार्शनिक विश्लेषण, अध्याय ८) अथवा आप इसे एक विशेष अर्थ में भाषा विश्लेषण कह सकते हैं। किन्तु वास्तव में भाववादी दार्शनिकों ने या तो वैज्ञानिक अवधारणाओं का रूपात्मक तर्क देने का प्रयत्न किया अथवा उनके रूप तथा योजना का विश्लेषण-विवेचन किया। यदि यह कहा जाय कि 'भाषा' से उनका भाव 'अवधारणात्मक योजना' से था तो यह अधिक उचित होगा। और इस भाषा अथवा अवधारणात्मक योजना के विश्लेषण में वे भयानकरूप में पूर्वाग्रही थे। उन्होंने सार्थकता का लक्षण प्रमाणीकरणीयता बताया और प्रमाणीकरणीयता के लिये आवश्यक शर्त सर्वगम्यता को रखा, और इस प्रकार प्रतिपादित किया कि कोई वाक्य तभी सार्थक है यदि वह सबके लिये ऐन्द्रियरूप से प्रत्यक्षीकरणीय है। उनका तर्क था कि यदि मूलवाक्य विज्ञान के सर्वगम्य वाक्यों के आधार हैं तो उनका स्वयं भी सर्वगम्य होना आवश्यक है। तब "मानसिकता" का क्या किया जाय ? हम कुछ अनुभव करते हैं, क्या ये अनुभव भी सर्वगम्य हैं ? यदि नहीं तो अनुभव के वाचक वाक्य किस प्रकार प्रमाणीकरणीय कहे जा सकते हैं ? इसका उत्तर न्यूराथ और कार्नप ने दिया कि "मानसिक" वाक्य "भौतिक" वाक्यों में अनुवाद्य हैं ? दूसरे शब्दों में, मनोविज्ञान की भाषा भूतविज्ञान की भाषा में अनुवाद्य है। (द्रष्टव्य: लोजीकल पोजिटीविज्म (सं.एयर) में साइकोलोजी इन फिजीकल लेंग्वेज) उनका यह सिद्धांत भौतिक भाषावाद (फिजीकलिज्म) कहलाया। यहाँ पुन: भाषावाद है, किन्तु क्या वास्तव में इसका कुछ भी सम्बन्ध भाषा से है ? यदि यह केवल भाषा का प्रश्न हो तब यह कहा जा सकता है कि हम 'क्रोध' पद के बजाय 'लाल मुंह पद का प्रयोग करेंगे, 'वात्सल्य' पद के बजाय 'प्रोलेक्टिन हार्मन्ज' पद का प्रयोग करेंगे, और यह एक चमत्कारपूर्ण और विचित्र भाषा प्रयोग करने के परामर्श से भिन्न बात न होगी। किन्तु भाववादी कुछ अधिक गम्भीर और वास्तविक बात कहना चाहते हैं, वे कहना चाहते हैं कि मानसिकता की स्वतंत्र अवधारणा अनावश्यक है, यह भ्रामक भी है, इसको भौतिक अवधारणाओं में विघटित किया जाना चाहिये। इस प्रकार यह प्रश्न पदावली का नहीं है, अवधारणात्मक योजना का है। (यहाँ यह दिखाना अप्रासंगिक है कि अपने इन या अन्य विश्लेषणों में वे कहाँ तक उचित थे)। यहाँ हम उनके अर्थ-निकष के रूप को भी देख सकते हैं: "राम दुखी है" इस वाक्य का क्या अर्थ है ?" उनका उत्तर होगा, "इस वाक्य का अर्थ इसका सर्वगम्यरूप से प्रमाणीय तत्त्व है।" किन्तु आप इस निकष को किस प्रकार प्राप्त करते हैं ? इसका उत्तर देने के लिये हमें दूर जाने को आवश्यकता नहीं है-उनके इस निकष का आधार यह विश्वास है कि केवल ऐन्द्रिय विषय वाक्य सार्थक वाक्य हैं या वे वाक्य सार्थक हैं जो ऐन्द्रिय विषय वाक्यों में विश्लेष्य हैं। इस प्रकार वे भाषीय विश्लेषण नहीं अवधारणात्मक विश्लेषण करते हैं।

किन्तु भाववादियों के अर्थ सम्बन्धी इन प्रतिपादनों ने एक दूसरे दार्शनिक सम्प्रदाय को जन्म दिया जिसके प्रवर्तक विट्गिन्स्टाइन कहे जा सकते हैं। विट्गिन्स्टाइन ने तर्क किया-"किसी वाक्य का क्या अर्थ है ? इसका उत्तर किसी पूर्वनिश्चित और सुविधापेक्षी निर्णय से देना अनुचित है। इसका उत्तर देने के लिये इसका भाषा में प्रयोग देखो, देखो कि इसका क्या-क्या और किस-किस प्रकार से उपयोग होता है"। और इसी तर्क परम्परा में उन्होंने दर्शन के सम्बन्ध में कहा-"दर्शन हमारी बुद्धि के भाषा के द्वारा व्यामोहन (बिविच्मैंट) के विरुद्ध युद्ध है" अथवा "दर्शन मक्खी को बोतल से बाहर निकलने का रास्ता दिखाना है"। वास्तव में उचितरूप से भाषा विश्लेषण का आरम्भ इस दार्शनिक सम्प्रदाय ने

किया। इस सम्प्रदाय ने वाक्यों के अर्थ के लिये कोई एक निकष निर्धारित नहीं किया प्रत्युत उनको उनके सामान्य प्रयोग-संस्थान में देखना ही दर्शन का उचित कर्त्तव्य बताया। इस शैली का प्रथम प्रभावशाली प्रयोग हमें राइल की कांसेप्ट आफ माईन्ड पुस्तक में मिलता है, किन्तु इसकी चरमता हम ऑस्टिन में देख सकते हैं, जिसका विश्लेषण दार्शनिक की अपेक्षा भाषावैज्ञानिक अधिक प्रतीत होता है। भाववादी दार्शनिकों से इनके भाषा विश्लेषण का अन्तर यह कहा जा सकता है कि जबकि वे दार्शनिक वाक्यों की रचना आदर्श भाषा में करते थे, ये प्राकृतिक भाषाओं के व्याकरण को ही प्रमाण मान कर दार्शनिक प्रतिज्ञाओं को उसकी सापेक्षता में देखते हैं। अब यदि इनकी यह प्रतिज्ञा स्वीकार की जाय तो दार्शनिक का कार्य केवल मात्र यह रह जाता है कि वह भाषा के स्वभाव को ठीक न समझ सकने से किसी अवधारणात्मक समस्या में उलझे हुए लोगों को उन पदों का ठीक व्याकरण बता कर उलझन से निकाले। किन्तु यदि दर्शन का कार्य केवल सामान्य भाषा के व्याकरण को, उसमें प्रयुक्त विभिन्न पदों, वाक्यों आदि के विभिन्न प्रयोगों को दिखाना ही है तो दार्शनिक प्रश्न वास्तव में केवल शाब्दिक भ्रम-जन्य प्रश्न रह जाते हैं और उनका उत्तर उस भाषा विशेष के व्याकरण का सापेक्ष हो जाता है जिस भाषा में कोई दार्शनिक विश्लेषण करता है।

किन्तु वास्तव में इन दार्शनिकों के सम्बन्ध में भी यह कहना कि ये दर्शन का कार्य केवल भाषा-विश्लेषण मानते हैं, अनुचित है। यद्यपि ये दर्शन के नाम पर मुख्यरूप से भाषा विश्लेषण ही करते हैं। इनकी मुख्य प्रेरणा दूसरे दार्शनिकों की उलझनें और समस्याएँ हैं। किन्तु कोई दार्शनिक प्रश्न क्या केवल भाषीय व्यामोह मात्र, अथवा भाषा के सम्बन्ध में प्रश्न मात्र, है ? बर्गसाँ के दर्शन को ही लें; वह समझता है कि आत्यन्तिक यथार्थ सृजनात्मक (क्रियेटिव-ड्यूरेशनल) है और इसको जानने का एक मात्र साधन प्रवृत्ति (इंस्टिक्ट) है। अब बर्गसाँ को जरा भी समझने वाला व्यक्ति यह देख सकता है कि वह किसी भाषीय भूल से व्यामोहित नहीं था, वह एम्मोफीलिया आदि की प्रवृत्ति की अचूकता तथा विस्मयकारिता से व्यामोहित था। उसकी भूल इस बात में थी कि उसने इस प्रकार प्रवृत्ति के कुछ उदाहरणों को सामान्यरूप से सत्य स्वीकार कर लिया और इससे ऐसे परिणामों को सिद्ध किया जिनको इस प्रकार सिद्ध नहीं किया जा सकता। दार्शनिक के प्रमाणों का स्वरूप वैसा नहीं होना चाहिये। अब उसे प्रवृत्ति, सृजनात्मकता आदि का व्याकरण या प्रयोग समझा कर उलझन से नहीं निकाला जा सकता था, क्योंकि उसने उत्तर दिया होता, और उचित ही, कि उसका 'प्रवृत्ति' और 'सृजनात्मकता' से अमुक अर्थ है, इन पदों का उसका अमुक व्याकरण है; अब आप बतायें इस विवेचन में क्या कमी है ? यदि भाषा विश्लेषक कहना चाहें कि बर्गसाँ केवल भिन्नरूप से दार्शनिक था (यद्यपि यह सम्प्रदाय तत्त्वमीमांसकों को निरर्थक भाषी नहीं, व्यामोहित मानता है और उनके प्रति भाववादियों से अधिक सहानुभूतिशील है) तो एक दूसरा उदाहरण लें। यह तार्किक अणुवादियों का सिद्धांत है। विट्गिन्स्टाइनियन दार्शनिक समझते हैं कि....संज्ञा क्या हैं' इसका उत्तर तैयार न पाकर अणुवादियों ने समझा कि यदि उत्तर स्पष्ट नहीं है तो स्पष्ट स्थिति इस समस्या में प्रांसगिक नहीं है। उत्तर अवश्य पर्याप्त भिन्न होना चाहिये, कुछ ऐसा जिसे वे वस्तुएँ केवल छिपाती हैं जिन्हें हम सब देखते हैं। तब वह क्या है ? और यहाँ असंख्य अन्य चित्र, पूर्वकल्पित विचार, व्यापारिक हुए'' आदि। (वार्नाक-इंगलिश फिलासफी सिंस १९००, पृ ७८)। अब यह ठीक है कि अणुवादियों ने इस प्रश्न पर भी विचार किया कि संज्ञा क्या है, किन्तु उन्होंने 'तार्किक संज्ञा' पद को अपना निजी अर्थ दिया, जिसके लिये सामान्य भाषा में कोई प्रयोग नहीं है, हो भी नहीं सकता। तार्किक संज्ञा का अणुवादी, और एक सीमा तक भाववादी, दर्शन में भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह ठीक है कि 'तार्किक संज्ञा' के पारिभाषिक प्रयोग का स्रोत'संज्ञा' के सामान्य प्रयोग से ही गृहीत है, किन्तु इसीलिये 'संज्ञा के सामान्य प्रयोग अथवा उपयोग का प्रश्न 'तार्किक संज्ञा' पद के अणुवादी

सम्प्रदाय में उपयोग के लिये प्रासंगिक नहीं है। रसल का 'यह', 'यहाँ' पदों को एकमात्र तार्किक संज्ञा कहना वास्तव में इसका निदर्शक होना चाहिये कि वे सामान्य भाषा की अपर्याप्तता के कारण नवीन और अधिक निश्चित प्रयोगों की रचना कर रहे हैं, न कि सामान्य प्रयोगों के वैविध्य में से किसी एक प्रयोग के चित्र से व्यामोहित हैं; अथवा 'नाम क्या है ?' इसका स्पष्ट उत्तर तैयार न होने से इस व्यामोह से अभिभूत हो गये हैं कि तब 'संज्ञा का अवश्य किसी असाधारणरूप से गुह्य, अथवा अनिवार्यत: असाधारण किसी वस्तु का वाचक होना चाहिये। वास्तव में समकालीन भाषा विश्लेषणवादियों का दोष यह न देख पाने में ही है। यद्यपि ये भाषा विश्लेषक दार्शनिक प्रश्नों को भाषा के सम्बन्ध में प्रश्न नहीं मानते, वे स्वीकार करते हैं कि ये प्रश्न मन,पदार्थ, स्मृति, देश,काल आदि के सम्बन्ध में हैं किन्तु, इनके अनुसार, इनके सम्बन्ध में प्रश्नों का स्रोत भाषा है। इस प्रकार, इनके अनुसार, दार्शनिक प्रश्न भाषा के बारे में नहीं है किन्तु भाषा से उत्पन्न होते हैं, ये भाषा की खींचातानी में, खण्डित प्रयोग में, प्रदर्शित होते हैं। (इंगलिश फिलासफी सिंस १९००, पृ. ८९)। समकालीन भाषा-विश्लेषण का यह आधारभूत सूत्र कहा जा सकता है। इस प्रकार, यह सम्प्रदाय यह स्वीकार करता है कि दार्शनिक के प्रश्न अवधारणाओं के सम्बन्ध में हैं, किन्तु ये प्रश्न उत्पन्न इसलिये होते हैं क्योंकि दार्शनिक उन अवधारणाओं को व्यक्त करने वाले पदों के सामान्य भाषा में उपयोग को नहीं समझता। अथवा, दूसरे शब्दों में, उनके अनुसार हमारी अवधारणाएँ हमारी भाषा के रूपों से कहीं अधिक वैविध्यपूर्ण हैं, किन्तु हम पदों की समरूपता से प्रभावित होकर, उन अवधारणाओं के ठीक रूप को नहीं पहचान पाते। बस यही दार्शनिक व्यामोह का आधार है। इस प्रकार भाषा विश्लेषक, अथवा जैसाकि कभी-कभी कहा जाता है, भाषा-चिकित्सक, किसी अवधारणा के सम्बन्ध में व्यामोहित दार्शनिक को उसकी व्यामोहित व्यंजक अभिव्यक्तियों का सम्बद्ध प्राकृतिक भाषा में उपयोग दिखाकर उसकी उलझनों से बाहर की ओर रास्ता दिखाता है।

भाषा विश्लेषक की अपने कर्त्तव्य की इस व्याख्या के अनुसार दार्शनिक प्रश्न वास्तविक प्रश्न हैं,वे किसी सत्य पर पहुँचने के प्रयत्न के फलस्वरूप हैं, किन्तु क्योंकि ये भाषा के द्वारा व्यक्त होते हैं अत: भाषा कभी-कभी इनको अनुचितरूप से व्यक्त करने में समर्थ होती है। किन्तु इससे यह लागू होता है कि यदि हम कोई ऐसी भाषा प्राप्त कर सकें जिसका व्याकरण हमारी अवधारणाओं के वैविध्य को उचितरूप से व्यक्त करे, उसे घपलाये नहीं, तब दार्शनिक प्रश्न: स्वत: विलीन हो जायेंगे, क्योंकि तब हम सत्य को पा लेंगे, और हमारी भाषा स्पष्ट होने से हमारे मतभेद स्पष्ट हो जायेंगे। किन्तु इसका अर्थ हुआ कि हमें सामान्य भाषाओं से भिन्न भाषा की आवश्यकता है चाहे हम इस भाषा का निर्माण सामान्य भाषाओं की अयोग्यता देख कर ही करें।

अब इस प्रतिपादन से लागू होता है कि उसे यदि ठीक प्रकार से समझ लिया जाय तो हम पायेंगे कि भाषा विश्लेषक जो अपना कर्त्तव्य कहते हैं, या उनके कथन से जो तर्कत: लागू होता है, उससे शायद कोई असहमत नहीं होगा, और तब वे वास्तव में जो करते हैं वह स्वयं इससे भिन्न है, और कभी-कभी विरोधी है।

हम उपर्युक्त परिणाम का औचित्य दिखाने के लिये इस प्रश्न से आरम्भ कर सकते हैं- "भाषा क्या है ?" विट्गिन्स्टाइन इसका उत्तर देते हैं-भाषा जीवन की योजना है। उन्हीं के शब्दों में- "भाषा की कल्पना का अर्थ है स्वयं जीवन के रूप की कल्पना करना।" (इन्वेस्टिगेशंस, १९) इस प्रकार, किसी भाषा पर विचार का अर्थ है उसको प्रयुक्त करने वाले लोगों की जीवन-योजना पर; अवधारणाओं, अनुभूतियों और आवेगों पर विचार करना। अब भाषा को इस प्रकार देखते हुए कहा जा सकता है कि जब हम किसी अवधारणा को व्यक्त करने के लिये किसी वाक्य या वाक्य-समवाय का प्रयोग करते हैं तब हम अनिवार्यत: उस वाक्य-समवाय द्वारा उस अवधारणा को व्यक्त करते हैं। किन्तु तब उलझन क्या

है ? हमारे वाक्य भ्रान्त-अवधारणा किस प्रकार प्रकट करते हैं। अब यह स्वीकार करना कि कोई भाषा-रूप भ्रामक है यह स्वीकार करना है कि भाषा अपने से भिन्न किसी को व्यक्त करती है। अब मान लीजिये कि भाषा विश्लेषक हमें दिखाता है कि हम जो कुछ समझ रहे थे वह व्यामोह था और इस व्यामोह का कारण हमारा अमुक वाक्य प्रयोग था, यह वाक्य प्रयोग इस प्रकार से होना चाहिये और इसे इस-इस प्रकार से समझना चाहिये। किन्तु तब इससे यह निर्णय कैसे हो कि भाषा विश्लेषक भूल नहीं कर रहा है ? 'राम ने विचारा' वाक्य लें। इस वाक्य के अनुसार 'राम किसी की संज्ञा है, 'विचारा' एक क्रिया का वाचक है। अब यह क्रिया पद किसकी संज्ञा है ? यह प्रश्न हमें उलझन में डाल देता है, और भाषा विश्लेषक के अनुसार हम ''मशीन में भूत की कल्पना'' में फंस जाते हैं। अब भाषा विश्लेषक हमें 'विचारा' का अवधारणात्मक (अथवा उपयोग का ?) व्याकरण दिखाना आरम्भ करता है। किन्तु वह इस पद का अवधारणात्मक व्याकरण तब तक कैसे दिखा सकता है जब तक वह अवधारणा के सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं है ? 'विचारा' पद के व्यावहारिक उपयोग में झाँककर ? किन्तु इसका व्यावहारिक उपयोग केवल यह दिखा सकता है कि इसका उपयोग करने वाले लोगों ने किस-किस प्रकार से इसका उपयोग किया है, कहें, किस प्रकार से विचारा है। किन्तु तब यह प्रश्न इस पद के सापेक्ष उपयोग का सापेक्ष हो जाता है। दूसरे शब्दों में, यह प्रश्न या तो इस पद के उपयोग का पर्याय है अथवा इसका उपयोग करने वाले लोगों के सामूहिक विचार का। तब दार्शनिक को किसी प्रश्न पर विचार करने के बजाय यह देखना चाहिये कि उसके द्वारा प्रयुक्त प्राकृतिक भाषा में किसी पद का क्या उपयोग है। अन्यथा भाषा विश्लेषक उसी प्रकार 'विचार करने' की समस्या के सम्बन्ध में भ्रम में कहा जा सकता है जिस प्रकार वह अन्य दार्शनिकों को कहता है। और इसका अभिप्राय हुआ कि दार्शनिक समस्या वास्तव में केवल शाब्दिक समस्या है- यह भाषा के सम्बन्ध में है और भाषा से जनित है।

वास्तव में भाषा विश्लेषकों ने भाषा विश्लेषण के इन दो सर्वथा भिन्न रूपों को घपलाया है और कभी प्रथम तथा कभी द्वितीय अर्थ में और कभी दोनों अर्थों में भाषा विश्लेषण में प्रवृत्त हुए हैं। यह वार्नाक की पुस्तक के निम्न उद्धरण से स्पष्ट है। वे कहते हैं- ''मान लीजिये कि हम व्यक्ति के अपने कार्यों के लिये उत्तरदायित्व की अवधारणा पर विचार करना चाहते हैं, हम देखना चाहते हैं कि इसमें क्या निहित है और कितना निहित है। अब यदि हम उस भाषा पर विचार करते हैं जोकि मनुष्य के अपने कार्यों के प्रति उत्तरदायित्व निर्धारत करने या परीक्षा करने के लिये प्रयुक्त की जाती है तो हम पाते हैं कि उपलब्ध पदावली आश्चर्यजनकरूप से विशाल है।'' इसके पश्चात् वे इस प्रसंग में ११ पद गिनाते हैं और कहते हैं कि 'कथन के विभिन्न प्रकारों की विद्यमानता वास्तव में इस बात की निदर्शक हैं कि विभिन्न बातें कहने को हैं........ और साथ ही, इसकी बहुत कम सम्भावना है कि कोई भी आविष्कृत, अप्राकृतिक अथवा तात्कालिक पदावली उस पदावली से उत्कृष्टतर होगा जो अत्यन्त कठिन परीक्षाओं में सफल रही है, अर्थात् शताब्दियों के वास्तव प्रयोग में जीवित रही है।'' (वहीं पृ. १४९-५०)।

किन्तु जब राइल मन को ''मशीन में भूत'' के भ्रम का नाम देते हैं तब वे इस निर्णय पर किस प्रकार पहुँचते हैं ? मानसिकता की वर्गणा के व्यंजक पदों के सामान्य भाषा में उपयोग पर विचार करके ? तब क्या हम यह समझें कि राइल ने पहले सामान्य प्रयोगों पर विचार किया और तब यह परिणाम निकाला ? किन्तु क्या सामान्य प्रयोग के प्रश्न पर मतभेद नहीं हो सकता ? क्या इसी प्रकार की परीक्षा से इससे उलट परिणाम नहीं निकाले जा सकते ? क्या सामान्य प्रयोग की जाँच इतनी सहज है ? यदि यहाँ मतभेद हो तब निर्णय किस प्रकार हो ? अथवा क्या कोई अन्य प्राकृतिक भाषा ऐसी नहीं हो सकती जिसमें सामान्य प्रयोग मानसिकता की वर्गणा को स्पष्टत: शरीर की वर्गणा से पृथक् प्रदर्शित करता

हो ? (यदि यह मान भी लिया जाय कि इंगलिश भाषा का राइल का विश्लेषण निर्विवादरूप से ठीक है।) तब इन दो भाषाओं में निर्णय किस प्रकार होगा ?

हमारे विचार में भाषा विश्लेषण की आक्सफोर्डियन अवधारणा की भ्रामकता उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है। तब दर्शन क्या है। इस सम्बन्ध में हम अपनी प्रतिज्ञा यहाँ अत्यन्त संक्षेप में रखेंगे।[२]

इस प्रश्न के उत्तर के लिये हम उन विभिन्न ग्रंथों अथवा प्रणालियों की उपेक्षा नहीं कर सकते जो 'दार्शनिक' पद से विशेषित की जाती हैं। उसके पश्चात् हमें देखना होगा कि इनका विच्छेदक गुण क्या है ? क्यों इन्हें दार्शनिक ग्रंथ कहा जाता है ? यदि इन सब ग्रंथों में कोई समान विशेषता नहीं है तब हम किस प्रकार निर्णय करें कि दर्शन क्या है ? क्या निर्णय विशुद्धरूप से सुविधापेक्षी ही हो सकता है ?

इसका उत्तर देने से पूर्व हम दार्शनिक ग्रंथों तथा 'दर्शन' पद के कुछ अन्य प्रयोगों पर विचार करेंगे: उपनिषदें दार्शनिक ग्रंथ हैं, इसी प्रकार, शंकर तथा धर्मकीर्ति के ग्रंथ भी दार्शनिक ग्रंथ हैं, ''क्या दर्शन भाषा विश्लेषण है ?'' विषय पर लिखे लेख भी दार्शनिक लेख हैं; फिर 'विज्ञान का दर्शन', 'राजनीति-दर्शन' आदि प्रयोग भी हैं, 'दर्शन' पद का प्रयोग इस प्रकार से भी होता है- जैसे, ''सबका एक जीवन-दर्शन होता है'' आदि-आदि।

यहाँ हम 'दर्शन' पद से अभिहित दो भिन्न प्रकार के व्यापारों में तुरन्त भेद करना चाहते हैं, ये हैं उपनिषदों के प्रकार का दर्शन तथा शंकर या रसल के प्रकार का दर्शन। 'केनेषितं पतति प्रषितंमन: केन प्राण: प्रथम: प्रैतियुक्त:' आदि प्रश्न दार्शनिक प्रश्न नहीं हैं, कम से कम उस अर्थ में जिस अर्थ में शंकर के प्रश्न दार्शनिक प्रश्न हैं। इनमें एक भावनात्मक विस्मय है और अतएव इनके उत्तर का प्रयत्न भी नहीं है। मान लीजिए कि इनके उत्तर का प्रयत्न किया ही जाता है; तब वह तथ्यात्मक प्रकार का उत्तर ही हो सकता है, दार्शनिक प्रकार का नहीं। शंकर इस प्रकार से प्रश्न नहीं करते, वे जो प्रश्न करते हैं उसका तर्क-संस्थान जानने के लिये और पुन: इसका इसी संस्थान के बीच समाधान करने के लिये। अथवा यों कहें कि उपनिषदों का ऋषि कुछ प्रश्न करता है और कुछ उत्तर देता है, ऐसा वह अपनी अनुभूति के आधार पर करता है, इनका वह कोई औचित्य नहीं देता। शंकर इन प्रश्नों का औचित्य प्रस्तुत करते हैं, वह स्वयं अनुभव नहीं करते, अथवा अनुभव करना उनका कार्य नहीं है। दूसरे शब्दों में, 'जीवन का उद्देश्य आनन्द-स्थिति है' यह स्थापित करना एक बात है और उस आनन्द-स्थिति का उपभोग दूसरी बात है। उपनिषदें प्रथम कार्य नहीं करतीं और शंकर दूसरा कार्य नहीं करते। जो कहता है 'ईश्वर' ? वह अनुभव की वस्तु है। मैं उसे देखता हूँ जैसे तुम सामने कुर्सी देखते हो'' तो वह किसी भी प्रकार से दार्शनिक बात नहीं करता है, किन्तु यदि कोई कहता है, 'ईश्वर की अवधारणा का रूप अमुक-अमुक प्रकार का है'' तो वह दर्शन करता है। अब यदि इन दोनों व्यापारों को दर्शन संज्ञा के अन्तर्गत रखा जाता है तो यह केवल भ्रामक है। अत: हमें 'दर्शन' पद के अपने प्रयोग के लिये इनमें से एक अर्थ का चुनाव करना है। तब हम किस अर्थ का चुनाव करें ? यदि हम उपनिषदों को देख कर 'दर्शन' की परिभाषा निश्चित करते हैं तो 'विज्ञान का दर्शन', 'राजनीति का दर्शन', यहाँ तक कि 'जीवन का दर्शन' प्रयोग भी निरर्थक हो जायेंगे ? विज्ञान का दर्शन वास्तव में विज्ञान की भाषा का अवधारणात्मक संस्थान है, और इसी प्रकार राजनीति के दर्शन के लिये भी कहा जा सकता है। 'जीवन का दर्शन' उतना स्पष्ट प्रयोग नहीं है, यहाँ वास्तव में 'दर्शन' पद का प्रयोग शिथिल प्रयोग है, किन्तु फिर भी यह एक अवधारणात्मक संस्थान का वाचक है। जब हम कहते हैं ''अमुक का जीवन-दर्शन अमुक है'' तब हमारा अभिप्राय होता है कि उसके कार्य एक संस्थान का निर्माण करते हैं जो संस्थान अमुक पद द्वारा अभिहित होता है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि कथित व्यक्ति का कोई कार्य इस संस्थान से बाहर नहीं हो सकता, यद्यपि मनोवैज्ञानिक कहेंगे कि नहीं हो सकता, किन्तु यदि वह कार्य बाहर है तो उसका वह कार्य उसके अन्य कार्यों के विरोधी प्रकार का है।

यहाँ यह नहीं समझ लेना चाहिये कि हम कार्यों में तार्किक सम्बन्ध की बात कह रहे हैं, सर्वथा नहीं, किन्तु आगमनात्मकतया हम घटनाओं में संस्थानों को देखते हैं और इन संस्थानों को तार्किक मानने लगते हैं। किन्तु कार्यों में 'संगति-विसंगति' का प्रयोग केवल आलंकारिक है। जहाँ तक मनुष्य का सम्बन्ध है, हम उसकी किसी प्रमुख वृत्ति को उसकी तर्क-योजना का (पुन: आलंकारिक रूप से) आधार मान लेते हैं।

अब एक दार्शनिक प्रश्न लें-"मन क्या है ?" इस प्रश्न में क्या अभिप्रेत है ? अब यह प्रश्न सामान्यरूप में इस प्रकार का है-"कुर्सी क्या है ?" "मिट्टी क्या है ?"। अब "कुर्सी क्या है ?" पूछने पर आप कुर्सी दिखा सकते हैं, किन्तु "मन क्या है ?"पूछने पर आप वह नहीं दिखा सकते और न ही पूछने वाला कुछ देखना चाहता है। तब क्या पूछा जा रहा है ? अब यह स्थिति अनेक उलझनें पैदा करती है। एक दार्शनिक उत्तर देता है 'मन......है'। उसके उत्तर का क्या रूप है ? इस उत्तर का ठीक होना, या गलत होना, या पर्याप्त अथवा अपर्याप्त होना किस बात में निहित है ? इसका ठीक होना इस बात में निहितहै कि उन सब वाक्यों का एक संस्थान दिया जा सके जिनमें 'मन' अथवा इसके पर्यायवाची, अथवा इसके विकारी पद घटित होते हैं।

इस व्याख्या पर आपत्ति की जा सकती है कि, विज्ञान का क्षेत्र भी यही है, विज्ञान भी अवधारणात्मक प्रश्नों पर विचार करता है, तब दर्शन और विज्ञान में क्या अन्तर है ?

हमारे विचार में विज्ञान से दर्शन का भेद एक इस बात में हैं कि दर्शन उन प्रश्नों पर भी विचार करता है, और वास्तव में वे ही उसके प्रमुख प्रश्न है, जिन्हें कार्नप बाह्य और अतएव त्याज्य प्रश्न कहते हैं,[3] जैसे-'मन क्या है ?', 'किन वस्तुओं का अस्तित्त्व है ?', 'क्या पदार्थ का अस्तित्त्व है ?' आदि। ये प्रश्न विज्ञान के क्षेत्र से बाहर के हैं। दूसरा भेद इस बात में है कि दार्शनिक प्रश्न आगमनात्मक नहीं होते, उदाहरणत: यह प्रतिज्ञा कि 'हम अनुभव से परे कुछ नहीं जान सकते', अथवा भाववादियों की प्रतिज्ञा कि 'पदों का अर्थ उनकी प्रमाणीकरणीयता की विधि में है', अथवा शंकर की यह स्थापना कि 'दृश्य' जगत् माया है' आदि आगमनात्मक प्रतिज्ञाएँ नहीं हैं। इसी प्रकार अन्य ज्ञानमीमांसात्मक अथवा अस्तित्त्वमीमांसात्मक प्रश्न वैज्ञानिक प्रश्न नहीं है क्योंकि हम इनमें किसी प्रयोग, परीक्षा अथवा निरीक्षण से किसी परिणाम पर नहीं पहुँचते, न ये निरीक्षण-परीक्षण आदि के सम्बन्ध में प्रश्न हैं। उदाहरणत: यह प्रश्न कि 'आप यह कैसे जानते हैं कि आपके सामने मेज पड़ा है ?' वास्तव में मेज के किन्हीं भौतिक गुणों के सम्बन्ध में प्रश्न नहीं है, न ही यह किरणों के देश-काल में प्रसरण के नियमों के सम्बन्ध में प्रश्न है, यह ज्ञान के मनोवैज्ञानिक स्वरूप के सम्बन्ध में भी प्रश्न नहीं है। तब इस प्रश्न में क्या अभिप्रेत है ? वास्तव में इस रूप में यह प्रश्न स्पष्ट नहीं है, यद्यपि हम इसकी अस्पष्टता का यहाँ विवेचन भी नहीं करेंगे, यह प्रश्न इस प्रकार रचित किया जाना चाहिये- इस अवधारणा का कि 'मेरे सम्मुख मेज है' क्या स्वरूप है ? इसी प्रकार 'दृश्यमान् वस्तुएँ भ्रम हैं' इस अवधारणा का क्या औचित्य है ?

यहाँ हम भाषा विश्लेषण को भी स्थान दे सकते हैं। भाषा हमारी अवधारणाओं की वाहक है। कभी-कभी तो यहाँ तक कहा जाता है कि भाषा ही हमारी अवधारणाएँ हैं। जो भी कहें, जब हम किसी पद या वाक्य के अर्थ के सम्बन्ध में विचार करते हैं तब वास्तव में हम उस अवधारणा के सम्बन्ध में विचार करते हैं जो उस पद द्वारा व्यक्त होती है। अत: जब यह पूछा जाता है "मेरे सम्मुख मेज है"

अवधारणा का क्या स्वरूप है ? तब यह भी कहा जा सकता था कि 'मेरे सम्मुख मेज है' वाक्य का क्या अर्थ है ? यहाँ इस वाक्य द्वारा व्यक्त अवधारणा को जानना ही अभिप्रेत है, अथवा कहें, इस वाक्य द्वारा व्यक्त अवधारणा का एक अवधारणात्मक योजना में जानना अभिप्रेत है।

इस प्रकार,'एक दर्शन' का अभिप्राय एक अवधारणात्मक योजना से है, एक संस्थान और संस्थानीकरण के नियमों से है। वास्तव में कोई भी अवधारणा एक संस्थान में घटित होती है, यह बात दूसरी है कि हम उसे न जानते हों। दर्शन का कार्य उसके संस्थान का अन्य अवधारणाओं के सामंजस्य में उद्घाटन करना है। किन्तु दार्शनिक विशुद्धरूप से तर्क-शास्त्री भी नहीं है, इसीलिये वह पुनरूक्तियों और रूपात्मक नियमों की रचना मात्र नहीं करता,वह अपने व्यापार के लिये सम्पूर्ण क्षेत्र को सम्मुख रखता है। जब वह यह देखने चलता है, 'मेरे सम्मुख मेज है' का क्या अर्थ है तब वह 'मेज'के सामान्य अर्थ का तिरस्कार नहीं कर सकता, वह हमारे अनुभव का भी तिरस्कार नहीं कर सकता। ये सब उसके संस्थानीकरण में आवश्यक उपकरण है।

तत्त्वमीमांसक और दार्शनिक विश्लेषक में इस रूप में वास्तव में कोई भेद नहीं है, इनमें भेद इस बात में है कि तत्त्वमीमांसक अवधारणात्मक संस्थान के निश्चय में भ्रामकरूप से प्रवृत्त होता है। वर्गणाओं के भेद को उचितरूप से न समझना, एक पूर्वकल्पित सार्वभौम योजना (यूनीवर्सल स्कीम) से अभिभूत होना, इस पूर्वाग्रह से ही अभिभूत होकर अवधारणाओं का उचित निकष न रख सकना ये उसकी मुख्य भूलें है। किन्तु इस सबकी चर्चा के लिये यहाँ स्थान नहीं है।

इस दृष्टि से तार्किक भाववाद (जिसमें में रसल तथा ट्रक्टेटस के विट्गिंस्टाइन को भी रखता हूँ) निश्चितरूप से कम भ्रामक प्रतीत होता है। वियेना सम्प्रदाय निस्संदेह अत्यन्त संकीर्ण और पूर्वाग्राही भी था, किन्तु वास्तव में उसकी संकीर्ण प्रतिज्ञाएँ उसकी दर्शन प्रणाली के आवश्यक अंग नहीं हैं, जैसाकि प्रो. कालीदास भट्टाचार्य ने समझने की भूल की है। प्रो. भट्टाचार्य ने तार्किक भाववाद को भाषा-विश्लेषणवाद कह कर उसकी विभिन्न, तथा संकीर्णता के कारण पीछे त्यक्त, प्रतिज्ञाओं की इस प्रकार आलोचना की है जैसे ये प्रतिज्ञाएँ उसी रूप में उसके तर्कत: अनुगत होने वाले परिणाम हों[४]। किन्तु जैसाकि हमने अन्यत्र भाववादी दर्शन प्रणाली की व्याख्या करते हुए देखा है, यह अनुचित है। कोई दार्शनिक फिजीकलिस्ट, प्रमाणीकरणवादी, पूर्ण विशिष्टतावादी आदि-आदि हुए बिना भी तार्किक भाववादी हो सकता है।

दर्शन के सम्बन्ध में हमारे उपर्युक्त प्रतिपादन केवल एक दिशानिर्देश के रूप में हैं, यहाँ इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन अभिप्रेत नहीं है।[५]

***

संदर्भ-सूची

१. *इस प्रसंग में द्रष्टव्य हमारी पुस्तक-दार्शनिक विश्लेषण में मानसिक और भौतिक अध्याय। इसी विषय पर एक अन्य गोष्ठी के लेखकों, विशेषत: प्रो. कालीदास भट्टाचार्य ने इस तथ्य को नहीं देखा। प्रो. भट्टाचार्य ने तो भाववादियों की विभिन्न प्रतिज्ञाओं का प्रत्याख्यान भी किया है जोकि वास्तव में न तो किसी भाषीय सिद्धांत से अनुगत होती है और न भाववादियों की दर्शन-विधि से ही।*

२. *विस्तृत विवेचन के लिये द्रष्टव्य: दार्शनिक विश्लेषण में "दार्शनिक विश्लेषण और अनुभववाद" अध्याय।*

३. *"Empriicism, Semantics and Ontology" in Leonard Linsky (Ed.) Semantics and the Philosophy of Language,P.P. 208-30.*

४. *Is Philosophy Lingustic Analysis (Symposium) in philosophical quarterly,*

५. *यशदेव शल्य-दार्शनिक विश्लेषण में 'दार्शनिक विश्लेषण और अनुभववाद' अध्याय।*

राजेन्द्र प्रसाद

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि दर्शन और भाषा के सम्बन्ध के विषय में अनेक मत प्रतिपादित किए गए हैं। दर्शन को भाषा-विश्लेषण मानने वालों में भी एकमत नहीं है और उनके विरोधियों में भी नहीं, जो उसके स्वरूप को अन्यथा बतलाते हैं। मैं मानता हूँ कि दर्शन भाषा-विश्लेषण है। इससे मेरा तात्पर्य है कि दार्शनिक अन्वेषण का विषय भाषा है और उसकी पद्धति विश्लेषण है। भाषा का अध्ययन कई तरीकों से हो सकता है; विश्लेषण करना उन तरीकों में से एक है। इसी तरह, विश्लेषण के विषय अनेक पदार्थ हो सकते है; भाषा उन विश्लेषण विषयों में एक है। भाषीय विश्लेषण की क्रिया भी विभिन्न प्रकारों से सम्पन्न की जा सकती है।

जब मैं कहता हूँ कि दर्शन भाषीय विश्लेषण है तो मेरा मतलब यह कदापि नहीं कि वे सभी लोग, जो दार्शनिक कहे जाते हैं, भाषा-विश्लेषक हैं, या वे सभी रचनाएँ, जो दार्शनिक समझी जाती हैं, भाषा का विश्लेषण प्रस्तुत करती हैं। यह दिखलाने के लिए कि अमुक दार्शनिक भाषा-विश्लेषक नहीं है, या अमुक दार्शनिक रचना में भाषा- विश्लेषण नाम की कोई चीज नहीं है, अधिक प्रयास करने की आवश्यकता नहीं है। हर एक युग और देश के दर्शन के इतिहास में अनेक ऐसे विचारक मिलेंगे जिन्हें किसी भी अर्थ में भाषा-विश्लेषक कहना न्यायोचित नहीं होगा। आजकल भी ऐसे दार्शनिक हैं जो न तो स्वयं अपने दर्शन को भाषीय विश्लेषण मानते हैं' न उनके आलोचक ही ऐसा मानने के लिए तैयार हैं। 'दर्शन भाषा-विश्लेषण है' वाक्य से मेरा मतलब यह है कि दार्शनिक अन्वेषण को भाषा-विश्लेषण का ही रूपधारण करना चाहिए, भले ही उसका प्राचीन या अब तक का रूप इससे भिन्न रहा हो।

मैं यहाँ यह मानकर चलता हूँ कि दर्शन मानवी ज्ञान की एक स्वतन्त्र शाखा है। इससे मेरा मतलब यह नहीं कि उसे ज्ञान की अन्य शाखाओं की बिल्कुल अपेक्षा नहीं है, बल्कि यह कि 'दर्शन' शब्द जिस ज्ञान-शाखा का द्योतक है वह अन्य शाखाओं से तत्त्वत: भिन्न है। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो 'दर्शन' शब्द अनावश्यक हो जायगा। दर्शन को स्वतन्त्र मैं इसलिए भी कहता हूँ कि मेरी दृष्टि में उसे महत्त्वपूर्ण बनाने के लिए विज्ञान, धर्म या किसी अन्य विद्या का उसे अनुगामी बनाना या साहचर्य प्राप्त करना आवश्यक नहीं है। किसी दार्शनिक सिद्धांत की परीक्षा उसके अपने गुण-दोषों के आधार पर होनी चाहिए; यह जानना कि धर्म-भावना को पुष्ट करने में वह कितना सफल या असफल है, या विज्ञानों के कितना निकट है, प्रासंगिक नहीं है। दर्शन न तो विज्ञान है, न धर्म-शास्त्र, न अध्यात्म-शास्त्र।

प्राचीन काल से ही विभिन्न विचारक दर्शन के स्वरूप को स्थिर करने का प्रयत्न करते आ रहे हैं। अनेक तरह के प्रश्न दार्शनिक माने गए हैं और उनके लिए समुचित उत्तरों को ढूँढ निकालना दार्शनिकों का कर्त्तव्य कहा गया है। यदि इन प्रश्नों की परीक्षा सावधानी से की जाय तो इन्हें तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है: सत्ता-विषयक, तर्क-ज्ञान-विषयक और मूल्य-विषयक। सत्ता विषयक प्रश्न यह पूछते हैं कि क्या वास्तविक है और क्या वास्तविक नहीं है। सदियों से वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए दार्शनिक प्रयत्नशील रहे हैं, किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिल सकी है। वस्तुत: सत्ता विषयक

प्रश्न दार्शनिक प्रश्न नहीं है। उनके लिए उपयुक्त उत्तर ढूँढ निकालने की क्षमता विज्ञानों को ही है, दर्शन को नहीं। स्वर्ण का वास्तविक स्वरूप क्या है,या सच्चे सोने में कौन कौन से गुण होते हैं, यह जानने के लिए यदि कोई किसी दार्शनिक के यहाँ जाय तो उसे निराशा ही होगी। इस कार्य में तो उसे किसी भौतिक या रसायन विज्ञान के पंडित या किसी जौहरी, जो भी अपने ढंग से वैज्ञानिक ही है, से ही अपेक्षित सहायता मिल सकती है। लोग कहेंगे कि इस तरह के स्थूल प्रश्न का उत्तर देना, सोने जैसे किसी विशिष्ट पदार्थ का स्वरूप बतलाना, दर्शन का अभीष्ट नहीं है। उसका अभीष्ट है यह बतलाना कि सत्ता मात्र का स्वरूप क्या है। यदि सत्ता मात्र से वह तत्त्व समझा जाय तो सभी अस्तित्त्ववान् पदार्थों में विद्यमान हो तो 'सत्ता मात्र क्या है ?' भी शुद्ध वैज्ञानिक प्रश्न है। वैज्ञानिक परमाणुवाद, या एलेक्ट्रान-प्रोट्रानवाद इसी प्रश्न के उत्तर के रूप में तो प्रतिपादित किए गए हैं, भले ही हम उन्हें अनुपयुक्त ही समझें। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि अनैंद्रिय सत्ता का ज्ञान दर्शन का लक्ष्य है और ऐंद्रिय सत्ता विज्ञानों का। वस्तुत: ऐंद्रिय सत्ता और अनैंद्रिय सत्ता-सम्बन्धी प्रश्नों में कोई तार्किक भेद नहीं है - दोनों के उत्तर तथ्य निरूपक वाक्यों द्वारा ही हो सकते हैं और दोनों के उत्तरों को ढूँढ निकालने के लिए तथ्य-ज्ञान की अपेक्षा होगी। हाँ, दोनों के लिए अपेक्षित तथ्य एक ही प्रकार के नहीं भी हो सकते हैं। इसलिए यदि यह मान भी लिया जाय कि दर्शन अनैंद्रिय सत्ता का ज्ञान प्रदान करता है तो दर्शन और वस्तु-निरूपक विज्ञानों में कोई तात्विक भेद नहीं होगा, दोनों में केवल विषय का भेद होगा, उसी तरह का भेद जो विभिन्न विषयों वाले विज्ञानों में हो सकता है। और, यदि अनैंद्रिय सत्ता ही में अविश्वास किया जाय तो दार्शनिक अन्वेषण मृग-तृष्णा जैसा ही हो जायेगा। अनैंद्रिय सत्ता वाले पदार्थ हैं, इसके लिए कोई सफल तर्क भी नहीं मिलता और शायद दिया भी नहीं जा सकता। कुछ रहस्यवादी विचारक कहते हैं कि इन्द्रियों की क्रियाओं को स्थापित कर जब हम अनुभव की अपनी आंतरिक शक्ति को जगाते हैं और उसका प्रयोग करते हैं तो अनैंद्रिय सत्ता का ज्ञान होता है। किन्तु ऐसे असाधारण रहस्यात्मक अनुभवों की वास्तविकता भी असंदिग्ध नहीं है। और, यदि यह भी मान लिया जाय कि अमुक व्यक्ति को ऐसे अनुभव होते हैं, तो भी यह प्रमाणित नहीं होता है कि अनैंद्रिय पदार्थ हैं; इससे तो केवल कुछ प्रकार के अनुभवों का ही अस्तित्त्व प्रमाणित होता है। इसलिए दर्शन को सत्ता-ज्ञान कहना, चाहे यह सत्ता ऐंद्रिय हो या अनैंद्रिय, उचित नहीं है, यदि हम दर्शन को एक स्वतंत्र विद्या का स्थान देना चाहते हैं।

कुछ विचारक कहते हैं कि दर्शन का मुख्य उद्देश्य नैतिक-आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना और जनता का नैतिक-आध्यात्मिक उन्नयन करना है। कभी-कभी दार्शनिकों की यही आलोचना भी की जाती है क्योंकि, आलोचक कहते हैं, उनके रहते हुए भी दुनियों में नैतिकता का ह्रास नहीं सकता। यद्यपि दार्शनिकों की संख्या बढ़ती जाती है फिर भी विश्व का नैतिक उन्नयन अपेक्षित मात्रा में नहीं होता। इसलिए या तो वे सच्चे दार्शनिक नहीं या अपने कर्त्तव्य-पालन में ईमानदार नहीं। वस्तुत: यदि दार्शनिक दुनियाँ को नैतिक पतन से बचा सकें तो यह बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य होगा। किन्तु नैतिक विकास में सहायक होना तो हर एक व्यक्ति का कर्त्तव्य है- यह तो हमारा कर्त्तव्य इसलिए है कि हम मनुष्य हैं, इसलिए नहीं कि दार्शनिक या वैज्ञानिक हैं। नैतिक बनना और दूसरों को नैतिक बनाना-दोनों ही बड़े पुनीत कार्य हैं, किन्तु केवल दार्शनिकों के लिए ही नहीं, मनुष्य मात्र के लिए। इसलिए दार्शनिक चिंतन का विशिष्ट लक्ष्य उन्हें नहीं माना जा सकता। नैतिक मूल्यों की स्थापना के लिए केवल दार्शनिक योग्यता पर्याप्त नहीं है। किसी भी युग में जीवन के चरम मूल्यों को स्थिर करने के लिए लोगों के मनोविज्ञान, उनकी मानसिक-शारीरिक क्षमताओं और दुर्बलताओं, उनकी आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक अवस्थाओं, उनकी बौद्धिक-रागात्मक, प्रौढ़ता, आदि का समुचित ज्ञान अपेक्षित है। इतने सारे ज्ञान-भण्डार का स्वामी होने पर ही यदि किसी को 'दार्शनिक' की संज्ञा दी जाय

तो जिन्हें हम आज महान दार्शनिक मानते हैं उनमें अधिकांश को दार्शनिक भी नहीं कह पायेंगे। दार्शनिक बनने के लिए ऐसी कड़ी परीक्षा में उत्तीर्ण होने को अनिवार्य बनाने के पक्ष में मैं तो नहीं हूँ। मूल्यों की स्थापना से कम कठिन मूल्यों को जनता के जीवन में उतारना नहीं है। इसके लिए जन-जीवन को प्रभावित करने की असाधारण शक्ति की आवश्यकता है। और, यथासंभव यह कार्य सब का दायित्व है, किसी खास वर्ग के व्यक्तियों का ही नहीं। इसलिए इसे भी दर्शन या दार्शनिकों के विशिष्ट कर्त्तव्य के रूप में स्वीकार करना न्याय-संगत नहीं है।

तर्क-ज्ञानसम्बन्धी प्रश्न दार्शनिक प्रश्न हैं अवश्य, किन्तु उनके विषय में भी गलत-फहमी हो सकती है, जिसे दूर करना आवश्यक है। तर्क का प्रयोग तो सभी करते हैं, चाहे वे वैज्ञानिक हों, दार्शनिक हों, कलाकार हों, या व्यापारी हों। किन्तु विभिन्न प्रकार के तर्कों की न्यायपरकता की विवेचना दार्शनिक ही करते हैं। इस विवेचना से तथ्य-ज्ञान नहीं मिलता; इससे तो भाषा के व्यवहार के नियमों का स्पष्टीकरण होता है। ज्ञान-सम्बन्धी प्रश्न वैज्ञानिक और दार्शनिक दोनों प्रकार के होते हैं, इसलिए उनके विषय में भी भ्रामक धारणाएँ आसानी से उत्पन्न हो सकती है। 'ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष कैसे होता है ?' जिसके उत्तर देने का अधिकारी शरीर विज्ञान या मनोविज्ञान का कोई विद्वान ही हो सकता है। सदियों से दार्शनिक ज्ञानार्जन के साधनों या स्रोतों की छान-बीन करते आ रहे हैं, इस भ्रम में कि यह समस्या दार्शनिक है। 'ज्ञान की प्राप्ति कैसे होती है ?' यह एक तथ्यात्मक प्रश्न है, जैसाकि-'धन (या स्वास्थ्य) की प्राप्ति कैसे होती है ?' इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर विभिन्न विज्ञान ही दे सकते हैं। हाँ, ज्ञान-सम्बन्धी धारणाओं के विश्लेषण और स्पष्टीकरण शुद्ध दार्शनिक क्रियाएँ हैं।

यदि दर्शन की प्रतिष्ठा मानवीयज्ञान की एक स्वतंत्र और वास्तविक शाखा के रूप में हम बनाए रखना चाहते हैं तो उसके अन्वेषण का विषय कुछ ऐसा रखना पड़ेगा जिसका अन्वेषण दार्शनिक कहे जाने वाले व्यक्ति कर सकें और उनका अन्वेषण अन्य अन्वेषणों से भिन्न हो सके। ऐसा संभव नहीं हो सकता यदि दार्शनिक अन्वेषण के लक्ष्य सत्ता-ज्ञान, मानव-जाति का नैतिक-आध्यत्मिक उन्नयन, ज्ञान के स्रोतों की छान-बीन, आदि मान लिए जाँय।

दार्शनिक अन्वेषण को भाषा-विश्लेषण मान लेने पर उपर्युक्त प्रकार की कठिनाइयाँ नहीं होती हैं। 'भाषा-विश्लेषण' शब्द शायद भ्रामक है। जब मैं दर्शन को भाषा-विश्लेषण कहता हूँ तो भाषा से मेरा मतलब हिन्दी, अंग्रेजी आदि ऐतिहासिक भाषाएँ या क्षेत्रीय भाषाएँ कदापि नहीं हैं। 'भाषा' का यहाँ अर्थ है 'सामान्य भाषा'। इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि दर्शन धारणाओं का विश्लेषण है, क्योंकि सामान्य भाषा धारणाओं की समष्टि है। अपने विश्लेषण की प्रक्रिया में उदाहरण-स्वरूप कोई दार्शनिक किसी भी भाषा के वाक्यों या शब्दों का व्यवहार कर सकता है, किन्तु इसका परिणाम यह नहीं होगा कि उसके निष्कर्ष केवल उसी भाषा के विषय में सत्य होंगे। तर्क-शास्त्री युक्तियों की परीक्षा कर यह स्थिर करता है कि तार्किक दोष क्या है और किन-किन हालतों में किसी युक्ति को बिलकुल दोष-रहित कहा जा सकता है। इसके लिए वह किसी भी भाषा के वाक्यों द्वारा व्यक्त युक्तियों को ले सकता है और ऐसा करने से उसका अन्वेषण किसी भी तरह सीमित न होगा। यदि हिन्दी में व्यक्त कोई युक्ति दोषरहित है तो उसका दोषरहित होना उसके हिन्दी में व्यक्त होने के कारण नहीं; यदि वह दोषरहित है तो चाहे किसी भी भाषा में उसे व्यक्त क्यों न किया जाय वह दोष-रहित ही रहेंगी। यदि कोई पत्नी कहे कि सभी पति दूसरी स्त्रियों के प्रति अधिक आसानी से आकृष्ट हो जाते हैं किन्तु मेरा पति ऐसा नहीं है, तो उसका ऐसा कहना विरोधपूर्ण है, चाहे वह किसी भी भाषा का प्रयोग अपनी बात करने के लिए क्यों न करें। उसका कहना विरोधपूर्ण है क्योंकि यह भाषा के (केवल हिन्दी भाषा के ही नहीं), 'सभी' शब्द (और अन्य भाषाओं के उसके पर्यायों) के व्यवहार का तार्किक नियम है कि जो बात किसी वर्ग के सभी

सदस्यों के विषय में सत्य है वह हर एक के विषय में सत्य होगी ही। यदि सभी पति दूसरी स्त्रियों पर आकृष्ट हो जाते हैं तो ऐसा कहने वाली स्त्री का पति भी अवश्य होता होगा, अन्यथा उस स्त्री का 'सभी' शब्द का प्रयोग गलत हो जायेगा। इस प्रकार यदि कोई तर्क-शास्त्र 'सभी' शब्द के प्रयोगों के नियमों का स्पष्टीकरण करता है तो उसके निष्कर्ष हिन्दी भाषा तक ही सीमित न रहेंगे।

दर्शन में भाषा के जिन नियमों की खोज की जाती है वे तार्किक या दार्शनिक होते हैं; वे व्याकरण के नियमों से भिन्न होते हैं। हिन्दी व्याकरण के अनुसार 'राम सीता का पति है; शुद्ध वाक्य है जबकि 'राम हसबेंड ऑफ सीता इज' अंग्रेजी व्याकरण के अनुसार शुद्ध वाक्य नहीं होगा, क्योंकि दोनों व्याकरणों के वाक्य-रचना के नियम भिन्न हैं। किन्तु यह सत्य है कि यदि राम सीता का पति है तो सीता राम का पति नहीं हो सकती। 'पति' शब्द के प्रयोग का यह नियम किसी विशिष्ट भाषा का, हिन्दी का, नियम नहीं है; यह तो एक तार्किक नियम है जो 'पति' और सभी भाषाओं के उसके पर्यायों के लिए सामान्यत: सत्य है। दार्शनिक ऐसे ही नियमों की खोज और व्याख्या करता है। इसलिए भाषा-विश्लेषण होते हुए भी दर्शन भाषा-शास्त्र नहीं है। भाषा-शास्त्र का सम्बन्ध विशिष्ट भाषाओं से रहता है। वह उनके ऐतिहासिक विकास, परिवर्तन, शब्द निर्माण के नियमों, विभिन्न भाषाओं की रूपात्मक या ध्वन्यात्मक समानता, व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध वाक्य रचना के नियमों आदि का अध्ययन करता है। दार्शनिक का सम्बन्ध इन चीजों से नहीं है। वह तो भाषा का तार्किक विश्लेषण करता है और उन नियमों को ढूँढता है जिनका पालन किए बिना भाषा का अर्थपूर्ण व्यवहार नहीं हो सकता। ऐसे भी वाक्य हो सकते हैं जो व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध हों, फिर भी किसी तार्किक नियम का उल्लंघन करने से अर्थहीन हों। 'दर्शन-शास्त्र बड़ा प्रतिभाशाली है' वाक्य में कोई व्याकरण का दोष नहीं है, फिर भी यह अर्थवान् नहीं है क्योंकि प्रतिभाशाली कोई व्यक्ति ही हो सकता है। भाषा के अर्थपूर्ण व्यवहार का यह नियम है कि 'प्रतिभा' शब्द का उचित प्रयोग किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में ही किया जा सकता है, किसी भी व्यक्तित्व शून्य पदार्थ के विषय में नहीं। दर्शन-शास्त्र उपयोगी या अनुपयोगी, व्यापक या संकीर्ण, सुबोध या दुर्बोध, आदि, विशेषणों से युक्त किया जा सकता है, किन्तु उसे प्रतिभाशाली या प्रतिभाशून्य कहने का कोई अर्थ नहीं होता।

दर्शन-शास्त्र भाषा के अर्थपूर्ण प्रयोग के विभिन्न नियमों की व्याख्या कर उनके प्रति हमें जागरूक बनाता है। इस तरह वह हमारी तार्किक बुद्धि को पुष्ट करता है और भाषा के प्रति हमें अधिक संवेदनशील बनाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भाषा एक तरह की साधन-समष्टि है जिसे हम सुखी जीवन के लिए आवश्यक पाते हैं और जिसका प्रयोग विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए करते हैं। शब्द हमारे लिए अनेक प्रकार के यंत्र हैं जिनके द्वारा हम अपनी बौद्धिक, रागात्मक, सामाजिक आदि आवश्यकताओं को पूरा करते हैं या पूरा करने की चेष्टा करते हैं। यदि अपने यंत्रों को हम अच्छी तरह जान लें तो नि:संदेह अनेक सुविधाएँ प्राप्त हो जायेगी। यदि कोई सैनिक भली-भाँति जान ले कि उसकी बंदूक से निकली गोली कितनी दूर जा सकती है और किस प्रकार और कितने जोरसे घोड़ा दबाने से वह बाहर दूसरों की ओर जायगी और किसी भूल हो जाने से अपनी ही ओर भागेगी, तो यह ज्ञान उसके सैनिक-जीवन के लिए अवश्य ही असाधारणरूप में लाभ-प्रद होगा। इसी तरह दार्शनिक विश्लेषण भाषा के व्यवहार के नियमों की जानकारी कर हमारी बुद्धि को बल देता है और बौद्धिक प्रौढ़ता और सौष्ठव को बढ़ाता है। भाषा के तार्किक व्यापारों के विषय में गलत धारणाओं के कारण कई प्रकार की दार्शनिक, वैज्ञानिक भूलें हुआ करती है। दार्शनिक विश्लेषण वर्तमान भूलों को भूल प्रमाणित कर, उनके प्रति जो मोह हमारे अन्दर बन गया रहता है उसे दूर करता है और नई भूलों में फँसने से हमें बचाता है।

भाषा का दार्शनिक विश्लेषण विभिन्न प्रकारों से किया जा सकता है। जिस प्रकार का मैं व्यवहार करता हूँ और जिसे दूसरों से अधिक उपादेय समझता हूँ उसका विवेचन और समर्थन यहाँ मैं

न कर सकूँगा। किसी दार्शनिक अभ्यास की संक्षिप्त व्याख्या न तो आसन है न वाँछनीय ही, क्योंकि व्याख्या के संक्षिप्त होने से उसके विषय में गलत धारणाएँ बड़ी सुगमता से उत्पन्न हो सकती है। और, मेरी समझ में, दार्शनिक भाषा-विश्लेषण का स्वरूप उसकी व्याख्या की अपेक्षा उदाहरणों द्वारा अधिक अच्छी तरह बतलाया जा सकता है। इसलिए मुझे यही ठीक जँचता है कि आपके सामने अपने कुछ निबन्धों का संदर्भ देकर यह कह कर छुट्टी ले लूँ कि जिस प्रकार से विश्लेषण उनमें किया गया है उसी को मैं दार्शनिक विश्लेषण का सर्वश्रेष्ठ रूप मानता हूँ।[1*] यहाँ मैं इतना ही कहूँगा कि भाषा का विश्लेषण सुचारु रूप से करने के लिए उसके व्यवहार की परीक्षा होनी चाहिए। जब तक भाषा को वास्तविक परिस्थितियों में काम करते नहीं देखा जायेगा तब तक उसके विभिन्न व्यापारों का समुचित ज्ञान नहीं मिल सकता। किसी मशीन को ठीक-ठीक समझने के लिए उसे तभी देखना लाभप्रद होता है जब वह चालू रहती है। भाषा का प्रयोग मशीन के प्रयोग से अधिक जटिल है। इसलिए उसकी परीक्षा में अधिक सावधानी बरतने की आवश्यकता है।

भाषा के विभिन्न प्रयोगों में अधिक ध्यान उन पर देना चाहिए जो साधारण: सामान्य, या प्रचलित हैं। किसी शब्द के साधारण प्रयोग से जो मेरा आशय है उसे मैं उदाहृत करके ही छोड़ दूँगा। पेंसिल का साधारण प्रयोग लिखने के लिए होता है, किन्तु कभी-कभी मैंउससे कान खुजलाने का काम भी कर लेता हूँ। दीयासलाई की काठी का साधारण प्रयोग आग जलाने के लिए होता है, किन्तु कभी-कभी उसका प्रयोग हम दाँतों में फंसे अन्न के टुकड़ों को निकालने के लिए भी कर लेते हैं। इसी तरह शब्दों के भी साधारण और असाधारण प्रयोग होते हैं,और किसी शब्द का तार्किक आचरण किस प्रकार होता है , यह जानने के लिए उसके साधारण प्रयोग या प्रयोगों की परीक्षा अनिवार्य है। भाषा-प्रयोग के विभिन्न निर्णायक तत्त्वों में प्रयोग करने वाले के प्रयोजन या उद्देश्य को मैं सर्वाधिक महत्त्व देता हूँ। इसलिए किसी भाषा या भाषा-खंड के तार्किक व्यापारों को निर्दिष्ट करने के पहले मैं यह जानना चाहूँगा कि उसका प्रयोग उसका वक्ता या लेखक साधारणतया किसलिए, किस उद्देश्य से करता है। किन्तु इस पक्षपात के औचित्य का समर्थन यहाँ मैं न करूँगा; इसलिए इसे पक्षपात के रूप में ही छोड़ कर क्षमा चाहूँगा।

***

संदर्भ-सूची

1. *Linguistic Analysis and the Substance Theory, Proceedings of the Indian Philosophical Congress, 1958; Ordinary Language and Linguistic Licence, Ibid, 1961; A Priori and Empirical Propositions, Journal of the Philosophical Association, 1959; The Concept of Mind, Ibid., 1960, Justifications in Ethics, The Indian Journal of Philosophy,1959, and The Formal Charactor of Logic, The Philosophical Quartery,1961.*

१.* इस ग्रन्थ में भी प्रो. प्रसाद के जो लेख संकलित हुए हैं, वे भी बहुत हद तक उनके एतद् सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट करते हैं। (सम्पादक)

नारायण शास्त्री द्राविड़

प्रस्तुत चर्चा के विषय का शीर्षक यद्यपि काफी अस्पष्ट है तथापि पिछले वक्ताओं के मन्तव्य को ध्यान में रखते हुए हम इसका यह अर्थ कर सकते हैं कि 'क्या दर्शन' उसी बौद्धिक क्रिया को कहना चाहिये जो बोलचाल की भाषा के अर्थों का सिर्फ स्पष्टीकरण करती है या इसके साथ या इसे छोड़ अन्य किसी कार्य को संपन्न करने वाली बौद्धिक क्रिया को भी ? राजेन्द्र प्रसाद जी ने इस प्रश्न के पहले पक्ष के समर्थन में केवल एक विचारणीय तर्क उपस्थित किया है। वह यह है कि अब तक दर्शन में समाविष्ट किये जाने वाले सत्ता, ज्ञान जैसे विषयों को विज्ञान के द्वारा हथिया लिए जाने के कारण अब उनके सम्बन्ध में दखल देने का दर्शन को न अधिकार है न प्रयोजन। विज्ञान से अछूता केवल एक ही क्षेत्र दर्शन के अध्ययन के लिये रह जाता है और वह है भाषा विश्लेषण, जिसका मोटेतौर पर मतलब है भाषीय प्रयोगों का विश्लेषण। इस विश्लेषण या स्पष्टीकरण के लिये शब्द प्रयोगों के विभिन्न संदर्भों का सूक्ष्मता के साथ परीक्षण आवश्यक है, जैसा कि प्रसाद जी के कथनानुसार उन्हीं के कुछ पूर्व लेखों में प्रस्तुत हुआ है।

इस कथन के अंतिम अंश पर शल्य जी का प्रतिवाद हमें अत्यंत उपयुक्त जँचता है। एक ही शब्द के प्रयोग के इतने विभिन्न संदर्भ हो सकते हैं और उनके सूक्ष्म परीक्षण से उस शब्द के द्वारा इतनी भिन्न-भिन्न अर्थच्छायें प्रगट हो सकती हैं कि किसी एक निश्चित अर्थ पर पहुँचना ही हमारे लिये असंभव हो जा सकता है। प्रो. राइट ने अरिस्टोटेलियन सोसाइटी की एक वार्षिक सभा के अध्यक्षीय भाषण में राईल की ऐसी ही मान्यता के संबन्ध में सोदाहरण यही बात प्रतिपादित की है। यह बात ठीक है कि प्रयोग-प्रसंगों पर से शब्दार्थ निर्धारण में आसानी होती है लेकिन क्या विभिन्न प्रयोग-प्रसंगों पर से कोई एक अर्थ निश्चित किया जा सकता है ? उदाहरणत: 'मैं' शब्द को ही लीजिये। यह कभी शरीर के, कभी मन के, कभी आत्मा के ऐसे अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। यदि संदर्भ से ही इस शब्द के अर्थ का निर्धारण करना हो तो उक्त अर्थों में से किसका और किस आधार पर चुनाव किया जाय ? शरीर दृष्टिगोचर होता है आत्मा या मन नहीं, यह तर्क शरीर के पक्ष में नहीं उपस्थित किया जा सकता, क्योंकि प्रयोग-प्रसंग को ही फिलहाल हम अर्थ-निर्णायक मानकर चले हैं।

लेकिन प्रयोग-प्रसंगों के परीक्षण का आधुनिक दर्शन में महत्त्व बढ़ने का कारण यह गलत-फहमी हो सकती है कि सारी दार्शनिक समस्यायें शब्दार्थों के घपलाने से पैदा होती हैं और यह घपला शब्दों के प्रयोग-प्रसंगों के असम्यक् परीक्षण का परिणाम है। किन्तु हम देखते हैं कि प्रयोगकर्ता भी शब्दों की विभिन्न अर्थच्छाओं को जानतें हुए भी उन्हें सहसा कभी घपलाता नहीं। जहाँ शरीर के संबंध में 'मैं' का प्रयोग उपयुक्त है वहाँ वैसा ही प्रयोग वह करता है और जहाँ आत्मा उक्त प्रयोग का लक्ष्य होना चाहिये वहाँ वह शरीर या मन को लक्ष्य नहीं बनाता। इस पर से वह तो स्पष्ट है कि सैद्धांतिक घपला शब्दों के अर्थों के सम्बन्ध में हो या न हो प्रायौगिक घपला कोई भी नहीं हैं। यदि भाषा प्रयोग के लिए है और हर एक भाषा में निबद्ध अवधारणा भाषीय प्रयोग में अभिव्यक्त होती ही है तो समझ में नहीं आता

कि 'मन', 'ईश्वर' जैसे शब्द गलत संदर्भों में और ऊटपटांग ढंग से आमतौर पर क्यों नहीं प्रयुक्त होते ? शारीरिक यंत्र के भीतर छिपे हुए मन नाम के भूत को राईल जैसे सिद्धहस्त ओझा बराबर झाड़ते ही रहे लेकिन बड़े आश्चर्य की बात है कि उनकी सारी दार्शनिक झाड़फूँक के बावजूद भी वह भूत किसी प्रयोग प्रसंग में बाहर निकलते किसी ने नहीं देखा।

शब्दार्थ निर्धारण की जिद के पीछे शायद यह भी ख्याल हो सकता है कि प्रासंगिक और अनुभवाधिष्ठित अर्थ ही शब्दों के वास्तविक अर्थ होते हैं। किन्तु अतीन्द्रियवादी दार्शनिकों ने वास्तविक प्रयोग-प्रसंगों की जानबूझ कर उपेक्षा कर अनुभव से परे सामान्य अर्थों की सृष्टि की और उनकी सत्यासत्यता की बाद में नुक्ताचीनी करने लगे। लेकिन यह खयाल सरासर गलत है। प्रासंगिक अर्थों की विभिन्नता के बावजूद भी एक ही शब्द यदि अनेक प्रयोग प्रसंगों से ही पूर्णतया निष्कृष्ट होता और यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध होती तो कोई दार्शनिक समस्या-भाषीय भी-अवशिष्ट नहीं रहती। लेकिन शब्दार्थ का सामान्यरूप प्रयोगगम्य नहीं प्रतीत होता। शरीर के सम्बन्ध में 'मैं' का प्रयोग चलते हुए भी और शरीरातिरिक्त आत्मा का ज्ञान न होते हुए भी 'यह मेरा शरीर है' ऐसा षष्ठ्यन्त प्रयोग करने से हम बाज नहीं आते। क्या यह सिर्फ जिद है या प्रयोग-प्रसंग के अनवधारण का परिणाम है, या उपयुक्त प्रयोग के प्रति उपेक्षा का निदर्शक है ? उपेक्षा या अनवधारण को इस तथाकथित घपले का कारण मान भी लिया जाय तो भी समझ में नहीं आता कि ठीक तरह प्रयोग-प्रसंग का स्पष्टीकरण किये जाने के बाद भी सामान्य व्यक्ति के उपर्युक्त प्रयोग में कोई फर्क नहीं पड़ता। भाषा-विश्लेषणवादी भी 'मेरा शरीर' ही कहते रहता है, 'मैं शरीर' ऐसा प्रयोग भूल कर भी नहीं करता। यह संभव है कि वह एक आदर्श भाषा के निर्माण का स्वप्न देखे जिसमें सांकेतिक या अन्य रूप से 'मैं शरीर' यह वाक्य-खण्ड घटित हो। लेकिन उस हालत में 'भाषीय प्रयोग प्रसंगों' की बात को अधूरा ही छोड़ देना पड़ेगा।

दरअसल हरेक शब्द के प्रासंगिक अर्थ-निर्धारण की माँग इस कल्पना या विश्वास पर आधारित है कि जो कुछ शब्द निर्देश्य है वह इन्द्रियगम्य है और बाह्य है। अत: यदि 'मैं' जैसे शब्दों का कोई अर्थ है तो वह शरीर जैसी वस्तु ही होनी चाहिये। जो इन्द्रियातीत है वह असत् है। यह विश्वास आपातत: उपयुक्त ही जँचता है। लेकिन विचार कर देखने पर इसका भोंडापन स्पष्ट हो जायेगा। कल्पना करें कि एक आदमी कहता है कि केवल स्पर्शगम्य वस्तुएँ ही सत्य हैं, स्पर्शातिरिक्त सभी प्रतीयमान गुण आभास हैं। ऐसे व्यक्ति को कैसे समझाया जाय कि 'अमुक वस्तु सुगन्धित है', 'अमुक चीज लाल है' इत्यादि वाक्य भी अपना स्वतंत्र अर्थ रखते हैं ? स्पर्शातिरिक्त हरेक बात बतलाने वाले वाक्य को यह व्यक्ति स्पर्श वाक्य में रूपान्तरण करना चाहेगा या इन वाक्यों को वह निरर्थक करार देगा। यदि कोई व्यक्ति वाकई इस प्रकार के भाषाविश्लेषण पर उतर आता है तो उसका योग्य प्रतिवाद किया जा सकता है। यदि यह प्रतिवाद केवल इतर इन्द्रियों के स्वयंसिद्ध अनुभव पर ही अधिष्ठित हो तो क्या, इसी प्रकार का प्रतिवाद आत्मा के संबंध में नहीं किया जा सकता ? 'मैं' शब्द का शरीरातिरिक कोई अर्थ है, इसका क्या इतना ही सबूत पर्याप्त नहीं है कितने ही भाषीय विश्लेषण के बावजूद भी हम उपर्युक्त षष्ठ्यंत प्रयोग से चिपके ही रहते हैं ? इस अर्थ के सार्वजनीन तथा प्रत्यक्ष केन्द्रित प्रयोग-प्रसंग की अपेक्षा करना रूपानुभव की स्पर्श-इन्द्रिय के द्वारा अपेक्षा करने के समान ही है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस उत्तर पर विश्लेषणवादी 'आकाश कुसुम' जैसे शब्दों के प्रयोग की बात छेड़ेंगे और दार्शनिक समस्याओं को शाब्दिक करार देने का प्रयत्न करेंगे। 'आकाश कुसुम' यदि सत् नहीं तो वह असत् कैसे होगा, क्योंकि असत् होने के लिये पहले आकाश कुसुम का होना आवश्यक है, और यदि वह है तो वह सत् नहीं' इस कथन का मतलब क्या है ? इस प्रकार की यह समस्या है जिसका वर्णन–सिद्धान्त के द्वारा सुलझाने का प्रयत्न करने के कारण रसेल की विश्लेषणवादियों

ने वाहवाही की है। लेकिन हमें तो ऐसा लगता है कि परंपरावादी दार्शनिकों पर झूठी समस्याओं में उलझे रहने का दोषारोपण करने वाले विश्लेषणवादी ही यहाँ पर झूठी समस्या में उलझ गये हैं और सच्ची समस्या से कतरा गये हैं। उदाहरणत: रसेल का ही वाक्य 'आज का फ्रान्स का बादशाह गंजा नहीं है' लीजिये। आज जब कि फ्रान्स में राजा पद ही उठ गया है, प्रस्तुत वाक्य कोई मतलब नहीं रखता। लेकिन यह वाक्य बेमतलब है; ऐसा कहने का मतलब होगा कि यह न झूठ है न सच। रसेल की समस्या यह प्रतीत होती है कि कोई भी वाक्य या तो सच होगा या झूठ, चूँकि यह वाक्य प्रस्तुत रूप में झूठ या सच नहीं प्रतीत होता इसलिये इसका वास्तविक रूप - जिसे रसेल तार्किक रूप कहता है - प्रस्तुत रूप से भिन्न होना चाहिये। अब एक दूसरा वाक्य लीजिये 'चतुष्कोणता दीर्घसूत्रता का पान करती है' जो रसेल ने एक ही जगह उपस्थित किया है। उपर्युक्त स्थापनानुसार यह वाक्य भी सार्थक शब्दों से घटित होने के कारण अर्थपूर्ण होना चाहिये, चाहे वह झूठ हो यो न हो। अत: वर्णन सिद्धांतानुसार इस वाक्य से हम कई रूपान्तर वाक्य निकालेंगे जिनमें से एक या अनेक के झूठ होने पर यह वाक्य झूठ मानना पड़ेगा। लेकिन क्या इस वाक्य को रसेल की उपपत्ति के होते हुए भी कोई अर्थपूर्ण मानेगा ? क्या अर्थपूर्ण शब्दों का चाहे जैसा सन्निवेश भी अर्थपूर्ण होना ही चाहिये ? किस आधार पर इस मान्यता को रसेल स्वीकार करने के लिये बाध्य हुए ? यह मान्यता तो उसी प्रकार की है जैसे यह कि चूँकि हाइड्रोजन और आक्सीजन वायवीय हैं अत: उनका दो और एक के अनुपात में योग भी वायु का ही जनक होना चाहिये (जब कि वह वास्तव में जल का निर्मायक है।)

लेकिन वर्णन सिद्धान्त, जो एक बिना सिर पैर की करामात दिखाता है वह, बिलकुल वर्णनातीत है (इस करामात की आवश्यकता वर्णन सिद्धांत की ही आवश्यकता होगी)। रसेल ने Introduction to Mathematical Philosophy में 'वाल्टर स्कॉट् वेवर्ली उपन्यासों का रचयिता है' इस विधान के तीन आपाद्य विधान बतलाये हैं - 'कम से कम एक व्यक्ति ने वेवर्ली की रचना की, और जिस किसी ने वेवर्ली की रचना की वह स्कॉटलैण्ड वासी था।' तर्क शास्त्र की उलझनों से बिलकुल अपरिचित सामान्य मनुष्य के द्वारा बोले गये उपरिनिर्दिष्ट सीधे सादे वाक्य का इतना जटिल अर्थ रसेल निकालते हैं तो वह केवल अपने कृत्रिम वर्णन सिद्धान्त का समर्थन करने के लिये ही। किसी भी शब्द के प्रयोग-प्रसंग में कितनी बातें निहित हैं यह उस शब्द के उचित प्रयोगकर्ता से जानकर ही तय किया जाना चाहिये। अन्यथा सरलता के साथ शब्दों का प्रयोग करने वाले सामान्य मनुष्य की तर्क-शास्त्रियों के हाथ वही दुर्दशा होगी जो शेक्सपियर, तुलसीदास जैसों की समालोचकों के हाथ हुआ करती है।

रसेल की ओर से इस पर कहा जा सकता है कि 'वस्तुविशेष के निर्देशक पदों के प्रयोग के आपाद्य उक्त प्रकार के हुआ करते हैं चाहे उनका स्पष्टतया ज्ञान प्रयोग कर्ता को हो या न हो।' जो आदमी 'स्कॉट', 'वेवर्ली' आदि शब्दों का प्रयोग करता है वह भले ही कह न पाये लेकिन वह जानते रहता है कि दुनिया में स्कॉट एक ही है और वेवर्ली भी एक ही है, अत: स्कॉट ही वेवर्ली का रचयिता होना चाहिये। इस प्रतिवाद पर हम पूछना चाहते हैं कि उक्त स्पष्टीकरण प्रस्तुत वाक्य के किसी प्रयोग विशेष के प्रसंग से उद्धृत है या नहीं ? यदि है तो अन्य अनेक बातों का भी इस स्पष्टीकरण में समावेश करना पड़ेगा। जैसे प्रयोगकर्ता वेवर्ली उपन्यासों को न चाहता तो उस वाक्य का यह भी आभास होगा कि ये उपन्यास बिलकुल बेकार हैं, या स्कॉट अच्छा लेखक नहीं था। उसी प्रकार यदि प्रयोक्ता स्कॉट निवासियों को धूर्त समझता हो तो उसके स्कॉट शब्द के प्रयोग से 'एक धूर्त व्यक्ति वेवर्ली का रचयिता था' यह भी अर्थ निकल सकता है। ये आक्षेप इसीलिये उपस्थित किये गये हैं कि 'शब्दार्थ निर्णय प्रयोग-प्रसंगों के परीक्षण के जरिये किया जाना चाहिये, इस अवधारणा का स्वयं विश्लेषणवादी ही कैसे उल्लंघन करते हैं, यह बात स्पष्ट हो जाय। रसेल ने जो स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया वह प्रयोगान्तर्गत वाक्य का न होकर,

किसी भी प्रयोग-प्रसंग विशेष का लक्ष्य न होकर सामान्यतया उक्त वाक्य के सार्थक प्रयोग के क्या अपाद्य हो सकते हैं इस विचार को दृष्टि में रखकर ही किया गया है। क्या इस पर हम पूछ नहीं सकते कि यदि वाक्य के अर्थ का संदर्भ बहिर्भूत विचार संभव है तो अतिभौतिक वाक्यों का विचार क्यों असंभव माना जाय ?

लेकिन रसेल का सिद्धान्त वाक्यार्थ के स्पष्टीकरण में सहायक होता हो या नहीं उसके विपर्यास में वह जरूर सहायक होता है। उपर्युक्त वाक्य को ही लीजिये। क्या इसके उपरिनिर्दिष्ट तीनों अपाद्यों का संकलन करने पर 'स्कॉट वेवर्ली का रचयिता है' इस कथन का पूरा अर्थ निकल आता है ? प्रयोगकर्ता एक विशिष्ट व्यक्ति के बारे में कहना चाहता है कि 'अमुक व्यक्ति ने वेवर्ली की रचना की' और वह कतई यह नहीं कहना चाहता है कि 'जिस किसी ने वेवर्ली की रचना की हो वह स्कॉट ही होना चाहिये। 'जिस किसी' शब्दों से 'अनेक व्यक्तियों' का अर्थ सूचित होता है या 'सामान्य विधायक' का (अंग्रेजी में इसका समानार्थक शब्द Universal quantifier है) दोनों हालतों में वह प्रयोगकर्ता के अभिप्रेत अर्थ का सरासर विपर्यास ही मानना पड़ेगा। रसेल आपाद्यापादक संबंध के बारे में इस मामूली तार्किक नियम का विचार ही नहीं किया कि जो वाक्य इतने अर्थों को अपादित करता है उसका इनसे कुछ अधिक ही अर्थ होना चाहिये। आपाद्यापादक संबंध, यह समानता का संबंध किसी भी हालत में नहीं हो सकता जब तक आपाद्य वाक्य और आपादक वाक्य दोनों बिल्कुल एक न हो जाँय।

एक और आपत्ति इस सिद्धान्त के संबंध में विचारणीय है। वह यह है कि यदि वर्णन जनित तार्किक आपत्तियों का निराकरण, वर्णन के अवर्णनीय या वर्णनातीत में विश्लेषण के द्वारा करना ही उक्त सिद्धान्त में अभीष्ट हो, जैसा कि उपर्युक्त स्पष्टीकरण से प्रतीत होता है, तब स्कॉट, वेवर्ली, रचयिता, लेखन, आदमी, जो कोई, इन सारे वर्णनों का विश्लेषण भी आवश्यक हो जाता है। कल्पना करें कि दुनियाँ में 'वेवर्ली' नाम की कोई चीज ही नहीं है, या 'स्कॉटलैण्ड नाम का कोई देश ही नहीं है, या लेखन कला ही पैदा नहीं हुई है। ऐसी हालतों में उक्त वाक्यों का कैसे अर्थ किया जा सकेगा ? इस पर यह प्रतिवाद कि 'हमारी दुनियाँ में सब बातें मौजूद हैं अत: उक्त असंभावनाओं का विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है' कोई मतलब नहीं रखता। हम अभी ही देख आये हैं कि शब्दार्थ का निर्धारण किसी प्रयोग-प्रसंग के संदर्भ में न कर सामान्यरूप से ही करना चाहिये। दुनियाँ में क्या है, क्या नहीं, इन बातों का विचार कर क्या हो सकता है, इस तार्किक संभावना के आधार पर ही वाक्यों की पुनर्रचना करनी चाहिये, यह वर्णन सिद्धान्त का अभिप्राय प्रतीत होता है। प्रो. मूर ने 'रचयिता' और 'लेखक' इन शब्दों के उक्त स्पष्टीकरण के अंतर्गत प्रयोग के आधार पर हमारे आक्षेप के जैसा ही एक आक्षेप वर्णन सिद्धान्त पर उपस्थित किया है। अब यदि इस आक्षेप के निवारणार्थ हरेक वर्णनात्मक पद का 'जो कोई क्ष है वह य है' इस प्रकार रसेल महोदय विश्लेषण देते रहें तो वाक्यार्थ की परिसमाप्ति कहाँ होगी ? और क्या 'जो कोई', 'क्ष', 'य' ये भी पद वर्णनात्मक नहीं हैं ? क्या सिर्फ इन पदों का 'Vairiable' इस संज्ञा ने नामकरण कर देने मात्र से ये अवर्णनात्मक हो जायेंगे ? वेरियेबल की भी तो रसेल ने परिभाषायें दी हैं ? कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि रसेल जैसे महान् तर्क शास्त्रियों का उन्हीं के निर्माण किये चित्र संकेतों ने भ्रम में डाल दिया है। प्रत्यक्ष में तो 'जो कोई' जैसे शब्द बड़े पेचीदा लगते हैं लेकिन एक ब्रैकेट में क्ष लिख देने पर ऐसा भ्रम खामखाह पैदा होता है कि इस सुन्दर और छोटे से संकेत का अर्थ बिलकुल स्पष्ट और परनिष्ठित है। यदि श्रोता लोग क्षमा करें तो मैं यह कहने की धृष्टता करना चाहूँगा कि आधुनिक सांकेतिक तर्कशास्त्र शब्दार्थों के यथावत् निर्देश के नियमों का निर्धारण करने वाला शास्त्र न होकर शब्दार्थ और शब्द के प्रयोक्ता के अभिप्राय की जटिलता को छिपाकर शब्दार्थ निर्धारण के भ्रम का निर्माण करने वाला शास्त्र है। इस संदर्भ में व्हाइटहेड जैसे मनीषी के ये अर्थपूर्ण उद्गार हठात् याद आ जाते हैं कि तार्किक

संकेत संकेत्य के संबंध में विचार करने के साधन न होकर उसका विचार न कर आगे बढ़ने के साधन हैं।

खैर, अब तक के विवेचन से एक बात स्पष्टरूप से हमारे सामने आती है। वह यह कि वर्णन सिद्धान्त, जो कि विश्लेषणवाद की एक आधारशिला है, किसी भी दार्शनिक या अदार्शनिक समस्या का हल नहीं प्रस्तुत करता। जिस समस्या के हल के लिये उसका निर्माण हुआ है वह वक्ता के अभिप्राय के निर्धारण से सम्बन्ध रखती है। हम जानते हैं कि जब कोई 'स्कॉट वेवर्ली का रचयिता है' ऐसा वाक्य प्रयोग करता है तब उसका अमुक-अमुक अभिप्राय होता है। यह अभिप्राय यदि अभिप्रेय है तो किस तरह, यह असली दार्शनिक समस्या है। प्राचीन दार्शनिकों ने इसी रूप में इस समस्या को ग्रहण किया और इसके अनेक उत्तर प्रस्तुत किये। रसेल इस समस्या के हल का सीधा सादा ढंग बतलाते हैं। वह यह है कि वक्ता का अभिप्राय, जो वह महसूस करता है वह है नहीं, ऐसा मान लेने पर कोई समस्या ही नहीं रह जाती। वक्ता निश्चित प्रयोग निश्चित अर्थ में कर रहा है। रसेल उसे समझाना चाहते हैं कि तुम्हारे कहने का अर्थ तुम निश्चित समझते हो लेकिन वह निश्चित या परिनिष्ठित न होकर बिलकुल अनिश्चित व अपरिनिष्ठित है। समस्यायें सुलझाने का कितना सुन्दर ढंग है यह! यदि बात बात पर 'नान्सेन्स' शब्द का जप करने वाले विश्लेषणवादियों के अग्रणी रसेल के उक्त सिद्धान्त को इस कारण कोई विचारक नानसेन्स का सर्वोत्कृष्ट नमूना कहे तो यह कथन विशेष अनुचित नहीं माना जाना चाहिये।

डॉ. प्रसाद ने दार्शनिक शब्दों या कल्पनाओं के प्रासंगिक परिभाषक के उत्कृष्ट नमूनों के तौर पर अपने कुछ लेखों की ओर अंगुलि निर्देश किया है। चूँकि प्रसाद जी ने अपने किसी प्रायौगिक विश्लेषण को उद्धृत नहीं किया है इसलिये हम भी उनके लिये सम्मान्य राईल के विचारों के राइट के लिये खंडन की ओर अंगुलि निर्देश कर ही आगे बढ़ना उचित समझते हैं। अनुपस्थित शत्रु की काल्पनिक मूर्ति के साथ लड़ने के लिए हम डॉन क्विक्सॉट नहीं हैं।

शल्य जी के कथन में काकी संयम हमें दिखलाई पड़ता है लेकिन उनका अंततोगत्वा मंतव्य क्या है, यह समझ पाना हमारे लिये बहुत कठिन है। इसके सम्बन्ध में हमारा उनसे मतभेद होने का कोई कारण नहीं है, सिवाय इसके लिए यदि भाषागत अवधारणाओं का प्रयोग वैज्ञानिक नियमितरूप से करता है तो उनके विश्लेषण की जिम्मेदारी वैज्ञानिक की ही होनी चाहिये, दार्शनिक की नहीं। यह कथन बड़ा बेतुका लगता है कि 'एलेक्ट्रान' जैसा शब्द वैज्ञानिक सर्वप्रथम ईजाद करे और प्रयोग में लाये लेकिन उस शब्द से निर्दिष्ट कल्पना का स्पष्टीकरण वैज्ञानिक को समझाने का काम दार्शनिक करे। कालिदास भट्टाचार्य जी ने यह बात स्पष्टतया अपने लेख में उपस्थित की है। इस पर यही कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक भाषा या कल्पनाओं के बजाय बोलचाल की भाषा या कल्पनाओं का विश्लेषण ही दार्शनिक कार्य है। लेकिन क्या बोलचाल की भाषा में वैज्ञानिकाभिन्न ऐसी ईश्वर आत्मा आदि जैसी अवधारणायें नहीं हैं जिनका योग्य विश्लेषण आवश्यक हो? संवेदन प्रामाण्य का सिद्धान्त (Verification theory) कैसे तर्कदुष्ट है, यह भट्टाचार्य जी ने अच्छी तरह दिखला दिया है। शल्य जी भी भट्टाचार्य के लेख के इस अंश की सिद्धता को स्वीकार करते ही हैं। संवेद्यता का सिद्धान्त अवधारणा-विश्लेषणवाद के लिये अपेक्षित नहीं है, ऐसा वे स्पष्टतया 'दार्शनिक विश्लेषण और अनुभववाद' नामक लेख में कहते हैं।' इन सारे कथनों को पढ़ते हुए हम समझ नहीं पाते कि संवेद्यता की अपेक्षा न रखने वाला यह कैसा विश्लेषण का तरीका है जो पारंपरिक दार्शनिक विश्लेषण से भिन्न है और अपने ढंग का निराला है? पारंपरिक दार्शनिक विश्लेषण या दार्शनिक अध्ययन पर शल्य जी का यह आक्षेप है कि वह किसी न किसी विचारित पूर्वकल्पना को लेकर ही प्रारंभ होता है, जैसे बर्गसाँ का दर्शन चैतन्यमय काल की कल्पना को लेकर या शंकराचार्य का दर्शन (शल्य जी के कथनानुसार) ब्रह्म की कल्पना को लेकर। शल्य जी चाहते हैं कि दार्शनिक विश्लेषण बिलकुल शून्य से और शून्य में प्रारंभ हो। समझ में नहीं आता है कि शून्य से बात

शुरू कर हम किस प्रकार अंत में किसी न किसी अवधारणात्मक संस्थान तक पहुँच सकेंगे जिसे शल्य जी भी दार्शनिक विश्लेषण का लक्ष्य मानते हैं ? यदि यह संस्थान प्रारम्भ में नहीं था तो वह अंत में किसी भी हालत में अपने आप नहीं आ सकता। यदि हमारे और आपके विभिन्न अनुभव तर्कत: ही किसी न किसी संस्थान में संस्थित हों तो ही उस संस्थान का हमारा ज्ञान सत्य होगा। यदि वह ऐसा नहीं है तो दर्शन केवल भ्रम का ही उत्पादक माना जायेगा। दार्शनिक विचार का चालू होना ही इस पूर्वाग्रह पर निर्भर है कि विचार्यमान विषय विचारार्ह है याने वह किसी न किसी वैचारिक संस्थान में अवस्थापित किया जा सकता है। यह वैचारिक संस्थान क्या है, इसके सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है। यदि किसी व्यक्ति की दृष्टि में वैज्ञानिक संस्थान ही वैचारिक संस्थान हो तो उसके लिये श्रेयस्कर यही है कि वह दार्शनिक मनन की बात ही छोड़ दे। लेकिन विज्ञान के क्षेत्र में भी अनेक संस्थानों का कम से कम आज तो बोलबाला है ही। भौतिक शास्त्री भौतिक संस्थान को ही सर्वस्व समझता है, जीव-शास्त्री जैविक संस्थान को। ऐसी हालत में बर्गसाँ यदि चैतन्यमय काल-संस्थान को सर्वस्व समझे हैं तो उसे दोष क्यों दिया जाय ? यदि निष्पक्ष दृष्टि से विचार करना हो तो बर्गसाँ के दर्शन को आज भी उतना ही महत्त्व देना होगा जितना आईंस्टाइन के सापेक्षतावाद को। सापेक्षतावाद चतुर्आयामात्मक देश-काल संस्थान को सत्य मानकर हमारे त्रिआयामात्मक विश्व को असत्य करार देता है, उसी प्रकार बर्गसाँ विश्व को असत्य मान गतिशीलता को सत्य कह कर जड़ता को आभास कहता है। कुछ अनुभवों का अपलाप आईंस्टाइन करता है तो कुछ का बर्गसाँ। ऐसी हालत में क्या केवल कुछ गाणितक संकेतों में सापेक्षता सिद्धान्त प्रतिपादित करने के कारण ही आईंस्टाइन को सत्यद्रष्टा माना जाय और काव्यमय भाषा का प्रयोग करने के कारण बर्गसाँ को भ्रान्त करार दिया जाय ? आखिरकार वैचारिक संस्थानों की कल्पना का भी तो स्पष्टीकरण आवश्यक है ? विश्लेषणवादी कह सकते हैं कि विचार के त्रिविध नियमों का संस्थान ही दार्शनिक विचार के प्रारंभ के लिये पर्याप्त है। लेकिन यह कथन भ्रान्ति पर आधारित है। यदि इन नियमों का विधान विश्लेषणात्मक और अर्थ शून्य वाक्यों के द्वारा किया जाय तो उक्त संस्थान के जरिये केवल अर्थ-शून्य बातें ही हमारे पल्ले पड़ सकती हैं। अत: इन नियमों के अलावा अवधारणाओं, संवेदनाओं या वस्तुओं का अस्तित्त्व भी मानना आवश्यक है। यह मान लेने पर उक्त संस्थान की पूर्वकल्पना को अधिक व्यापक करना पड़ेगा। इस प्रकार, गौर से देखने पर प्रतीत होगा कि जो कुछ विचार के अन्त में कोई भी विचारक किसी न किसी संस्थान के रूप में प्राप्त करता है उसी को वह ज्ञात-अज्ञातरूप से पूर्वकल्पित कर चलता है। विश्लेषणवादी कम से कम इतना तो पूर्वकल्पित करते ही हैं कि विश्लेष्य वस्तु अवधारणात्मक है और उसका विश्लेषण संभवनीय है।

लेकिन शंकराचार्य के संबंध में जो बात शल्य जी कहते हैं वह बिल्कुल गलत है। ब्रह्म की सदसद् विलक्षण सत्ता को विचार के पूर्व आचार्य पूर्वकल्पित बिलकुल नहीं करते। वे ऐसा करते हैं, यह कहना उनके दर्शन के मूलतत्त्व का ही अपलाप करना है। प्रतीयमान विश्व को ही वे अधिक से अधिक पूर्वकल्पित करते हैं। यह विश्व सत् है न असत्। सत् और असत् की सभी परिभाषायें या अवधारणायें बुद्धि निर्मित हैं। अत: इनमें तार्किक विरोध है और होना चाहिये। दृश्य विश्व सत् नहीं है क्योंकि वह उत्पत्ति-विनाशशील है। उत्पत्ति विनाशशील सत्य की कल्पना व्यावहारिक या आनुभविक हो सकती है लेकिन सत्य और असत्य के निरपेक्ष भेद का अपलाप न करना हो तो सत्य को उत्पत्ति-विनाशवान् हम नहीं मान सकते। अत: विश्व सत् नहीं है : लेकिन वह असत् भी नहीं है। क्योंकि आकाश-पुष्प के समान विश्व बिलकुल अनुपलब्ध भी नहीं होता, यह बात नहीं है। तार्किक अवधारणाओं की पकड़ में विश्व आ नहीं सकता। किन्तु वह अनुभवगम्य है जरूर। यह अनहोनी बात जो विश्व के संबंध में हम देखते हैं उसी को आचार्य शंकर 'अनिर्वचनीया' कहते हैं। अब इस अनिवर्चनीयता पर से विश्व के मूलस्वरूप

के संबंध में क्या तर्क किया जाय ? शल्य जी की परिभाषा में इस प्रश्न को इस प्रकार रखा जा सकता है कि क्या अनिर्वचनीयता की अवधारणा स्वयं पूर्ण है या यह किसी अवधारणात्मक संस्थान की अपेक्षा करती है ? इस प्रश्न के उत्तर के लिये हमें रज्जुसर्प जैसे अनिर्वचनीय वस्तुओं का विचार करना चाहिये। रज्जु में दिखलाई पड़ने वाला सर्प भ्रमकाल में सत्य ही लगता है लेकिन जिस क्षण रज्जु का रज्जुत्व प्रगट हुआ उस क्षण-उसके अग्रिम क्षण नहीं - इस दृश्य सर्प को आप क्या कहेंगे ? यदि असत्, तो एक ही क्षण पहले उसे देख कर आप भागे क्यों ? यदि सत् तो उसका डर अब क्यों जाने लगता है ? इसलिये भ्रान्ति-निरास के प्रथम क्षण में दृश्य सर्प अनिर्वचनीय है और उसकी अनिर्वचनीयता प्रतीयमान् भी है। उसी क्षण आप अनुभव करते हैं कि यदि रज्जु न होती तो यह दृश्य सर्प भी न दिखलाई पड़ता। अर्थात् अनिर्वचनीयता को समझने के लिये उसके पीछे उसका अधिष्ठान जो सत् है उसे समझना आवश्यक है। किन्तु अनिर्वचनीय सर्प की अनुभूति के अनंतर दूसरे ही क्षण जब हम रज्जु की अनुभूति पर आते हैं तब 'रज्जु सर्प न पहले था, न अब है और न आगे होगा' इस निष्कर्ष पर हम पहुँचते हैं। वैसे ही विश्व की अनिर्वचनीयता की अवधारणा पर से जब हम उसके अधिष्ठान की अवधारणा की ओर अग्रसर होते हैं तब हमें विश्व की अवधारणा को भूलना अनिवार्यरूप से आवश्यक हो जाता है। विभिन्न अवधारणाओं को किसी न किसी प्रकार एक सूत्र में बांधकर-एक अवधारणात्मक संस्थान के निर्माण का स्वप्न अवधारणा-विश्लेषणवादी जो देखते हैं वह कभी पूरा नहीं होने का है। क्योंकि वे अनुभववादियों की तार्किक रचना Logical Construction के मायाजाल से अभिभूत हैं' अवधारणात्मक संस्थान की निर्मिति (Logical Construction) से कदापि नहीं हो सकती, उसके लिये Logical deconstruction (अलंकारिक अर्थ में) ही अपेक्षित है। देखा जाय तो ब्रह्म दार्शनिक विश्लेषण के लिये पूर्वकल्पित भी कहा जा सकता है। किन्तु विश्लेषण के प्रारंभ में ब्रह्म अनिर्वचनीय विश्व का आपाद्य है, जैसे भ्रान्ति-निरास कालिक सर्प की रज्जु। लेकिन जैसे-जैसे हम दार्शनिक विश्लेषण में आगे बढ़ते जाते हैं वैसे ही वैसे आपाद्यापादक का यह तार्किक संबंध अधिष्ठानाधिष्ठेय के वास्तविक (Ontological) संबंध में बदलता जाता है और इस विश्लेषण की परिसमाप्ति के साथ यह संबंध भी बदल कर केवल भेद निर्देश रहित तादात्म्य मात्र इसका रूप रह जाता है। अत: अनृत विश्व में उलझा हुआ ब्रह्म दार्शनिक विचार का पूर्वकल्पित है और उससे सर्वथा पृथग्भूत शुद्ध स्वप्रकाश ब्रह्म इस विचार का अंतिम लक्ष्य है। शांकर वेदान्त की भूमिका का यह दिग्दर्शनमात्र है जो शल्य जी के एत्संबंधी गलत विधानों के निराकरण के लिये यहाँ करना पड़ा।

खैर ! क्या दर्शन भाषा विश्लेषण है ? इस प्रश्न की अब तक चर्चा केवल खंडनात्मक ही हुई। अवधारणाओं या शब्दार्थों का विश्लेषण दर्शन में होता है लेकिन वह दर्शन का साध्य नहीं साधन मात्र है। तब फिर दर्शन का साध्य क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर देना तो अब संभव है लेकिन उसका थोड़ा संकेत पीछे जो आ चुका है उसी तक मैं अपने को फिलहाल सीमित रखना चाहूँगा।

***

संदर्भ-सूची

* *यश देव शल्य-दार्शनिक विश्लेषण, अ. ८। अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, फरीदकोट, १९६१।*

याकूब मसीह

यदि कहा जाय कि दर्शन में भाषीय विश्लेषण भी है तो इस प्रकथन को अनेक दार्शनिक स्वीकार कर लेंगे। परन्तु यदि हम कहें कि दर्शन भाषीय विश्लेषण ही है, तो डॉ. राजेन्द्र प्रसाद और उनकी परम्परा को मानने वालों के अतिरिक्त इस कथन को अन्य दार्शनिक स्वीकार नहीं करेंगे। तो भी मैं समझता हूँ कि दर्शन भाषा-विश्लेषण ही है। परन्तु जिस अर्थ में मैं दर्शन को भाषा-विश्लेषण समझता हूँ उस अर्थ में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद मुझ से सहमत न होंगे और उस अर्थ में शायद इनके विरोधी यशदेव शल्य तथा प्रो. नारायण शास्त्री द्राविड़ कुछ दूर तक सहमत होंगे। इसका कारण है कि डॉ. प्रसाद दर्शन को भाषा-विश्लेषण ही समझते हैं और ऐसा मान लेने पर उनके अनुसार दर्शन के लिए विज्ञान, धर्मशास्त्र, अध्यात्म शास्त्र इत्यादि के साथ 'साहचर्य प्राप्त करना आवश्यक नहीं हैं'। इसी प्रकार वे नीतिशास्त्र को भी दर्शन की शाखा नहीं मानते हैं। इनके अनुसार तर्कज्ञान-सम्बन्धी प्रश्न दार्शनिक अवश्य हैं पर वस्तुत: ये प्रश्न भाषा विश्लेषण के हैं। अब जिस अर्थ में मैं दर्शन को भाषीय-विश्लेषण समझता हूँ, उस अर्थ में तत्त्वविज्ञान, धर्म-विज्ञान, नीतिशास्त्र इत्यादि सभी दर्शन के अन्तर्गत चले आते हैं। इसलिये मैं चलती भाषा में पुरातन दार्शनिक परम्परा को ही व्यक्त करने का प्रयास करूँगा। चूँकि शल्य जी ने और प्रो. द्राविड़ ने उस दर्शन के स्वरूप पर प्रकाश नहीं डाला है जिसके अनुसार दर्शन को भाषा-विश्लेषण के अतिरिक्त अधिक समझा जाय, इसीलिये मैं अपने लेख में उनके लेखों को उतनी प्रधानता नहीं दे रहा हूँ जितना डॉ. प्रसाद के लेख को। परन्तु मैं शल्य जी और प्रो. द्राविड़ की उन युक्तियों को बहुत दूर तक स्वीकार करता हूँ जिनके आधार पर इस प्रकथन का प्रत्याख्यान होता है कि दर्शन भाषा-विश्लेषण ही है। परन्तु 'भाषा-विश्लेषण' से उनका बहुत कुछ वही अर्थ होता है जो सामान्यत: डॉ. प्रसाद का है।

अपने मत की पुष्टि करने के लिये मैं निम्नलिखित बातों का क्रमश: उल्लेख करूँगा:

१. मैं डॉ. प्रसाद की उन युक्तियों का खंडन करूँगा जिनके आधार पर आप तत्त्वविज्ञान, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र इत्यादि को दर्शन के अन्तर्गत नहीं समझते हैं।

फिर मैं डॉ. प्रसाद के इस परामर्श को भी उचित नहीं समझता हूँ जिसके अनुसार वे दर्शन को संकीर्ण अर्थ में, अर्थात् तर्कविज्ञान के रूप में, भाषा-विश्लेषण पर मुझे इसमें कोई भाषा-विश्लेषण नहीं दीखता है। केवल इनमें उनका पूर्वाग्रह टपकता है। यदि सभी मानवों का यह पुनीत कार्य है कि वे नैतिक बनें और दूसरों को नैतिक बनायें तो यह कार्य दार्शनिक, दार्शनिक तल पर रहकर क्यों नहीं पूरा कर सकता है ? यदि डॉ. प्रसाद 'मनुष्य' के उस स्वरूप पर प्रकाश डालते जिसके अनुसार उसका पुनीत कार्य नैतिक बनना और बनाना है, तो हम उस स्वरूप की तुलना 'दार्शनिक मनुष्य' के स्वरूप से करते और तब कहते कि दार्शनिक मानव को सामान्य मानव नहीं कहा जा सकता है। चूँकि नैतिक बनना और बनाना 'सामान्य मानव' की परिभाषा है और ऐसा न होना 'दार्शनिक मानव' की परिभाषा है, इसलिये दार्शनिक का यह काम नहीं है कि वह नैतिक बने और बनावे। यह सुझाव मेरी समझ में केवल बनावटी परिभाषा देकर ही संभव हो सकता है। उस पर भी डॉ. प्रसाद का काम नहीं चलेगा। 'दार्शनिक मानव'

मानव रह ही जाता है, और जब वह दार्शनिक भाषा-विश्लेषण करने लगता है तब वह मानव रह जाने के कारण नीतिवान भी रह जाता है। और नीतिवान होने के कारण उसे निर्णय करना पड़ता है कि उसके द्वारा किया गया भाषा-विश्लेषण उचित है या नहीं ? इसीलिये नीति की कसौटी भाषा-विश्लेषण न होकर स्वयं नैतिक मापदंड भाषा-विश्लेषण की कसौटी हो जाता है। इस नीति के चक्कर से भाग निकलने का यही उपाय है कि आप 'दार्शनिक' को 'मानव' की ही संज्ञा न दें। पर मुझे संदेह है कि डॉ. प्रसाद इतने दूर तक युक्तिसंगत होना चाहेंगे और अपनी मानवता को छोड़कर नैतिक बनने और बनाने के पुनीत कार्य से अपने को वंचित करेंगे।

परन्तु क्या डॉ. प्रसाद ने सोचा है कि यदि नीतिशास्त्र को दर्शन के अन्तर्गत न रखा जाय तो इसका अध्ययन कैसे कौन करेगा ? अभी तक दार्शनिक ही इसका अध्ययन करते आये हैं और भाषा-विश्लेषणवादी दार्शनिक भी अपना गौरव समझते हैं कि वे नैतिक प्रकथनों का सही-सही विश्लेषण कर लें। यदि मानवों का पुनीत कार्य है कि वे नैतिक बनें और बनावें तो दार्शनिक मानव इस पुनीत कार्य को अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से क्यों नहीं सम्पादित करे ? यही काम साहित्यिक, कवि, चित्रकार, राजनीतिज्ञ इत्यादि भी अपने-अपने क्षेत्र में अपनी योग्यता के अनुसार सम्पादित करते हैं। भला दार्शनिक मानव को आप क्यों इस पुण्य कमाने से मना करते हैं ? क्यों आप इहलोक और परलोक दोनों को बनाये रखने के लिये उसे यह सलाह नहीं देते कि दार्शनिक शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित का निर्णय करें, जिस निर्णय को साहित्यिक, कवि, चित्रकार इत्यादि सब लोगों तक पहुँचा दें और जिसको राजनीतिज्ञ व्यवहार में दक्षता से साकार करें ? शायद मेरी बातों को सुनकर डॉ. प्रसाद "तौबा-तौबा" करेंगे और फिर भाषा-विश्लेषण की माला जपेंगे।

कोई परिभाषा देकर ही सत्ता-संबंधी और मूल्य-विषयक प्रश्नों को हटा नहीं सकता है। सूक्ष्म तथा दक्ष भाषा-विश्लेषणवादी डॉ. प्रसाद इस बात से पूर्ण अवगत हैं। यही कारण है कि अपने मत को आपने न तो परिभाषा, न परामर्श (Proposal) और न ऐतिहासिक मान्यता का रूप दिया है। इन सब वादों के झंझटों से पिंड छुड़ाकर आपने भाषा–विश्लेषण के लाभ की ओर संकेत करके अपने मत की पुष्टि की है। परन्तु मेरी समझ में यह प्रसंगहीन सुझाव है। यह कौन नहीं जानता है कि भाषा-विश्लेषण तर्कज्ञान का नवीनतम रूप है और इसीलिये दार्शनिक चिन्तन का यह अमोध अस्त्र-शस्त्र है। फिर जो भी विचारक दर्शन को भाषा-विश्लेषण मात्र नहीं मानते हैं वे भी भाषा-विश्लेषण की उन उपयोगिताओं को स्वीकार करते हैं जिनकी ओर डॉ. प्रसाद ने हमारे ध्यान को खींचा है। अपितु डॉ. प्रसाद ने कतिपय स्थलों पर लिखा है कि 'भाषीय विश्लेषण की क्रिया भी विभिन्न प्रकारों से सम्पन्न की जा सकती है', और बताया है कि भाषा-विश्लेषण का वह प्रकार (Kind), जिसे उन्होंने अपनाया है, वह भाषा-विश्लेषण के अन्य विभिन्न प्रकारों से अधिक उपादेय है। परन्तु यदि हम उन लेखों को पढ़ भी लें जिनका आपने निर्देश किया है तो भी आपके बिना बताये हुए हम भाषा-विश्लेषण की उपादेयता की कसौटी नहीं निर्धारित कर सकते हैं। परन्तु इस कसौटी पर, न कि भाषा-विश्लेषण की उपयोगिता पर, भाषा-विश्लेषण की मान्यता निर्भर करती है। मेरी समझ में डॉ. प्रसाद की इस कसौटी का उल्लेख न कर अपने मत को पूर्णतया पुष्ट नहीं कर पायें हैं। जहाँ डॉ. प्रसाद बताने लगेंगे कि आप भाषा–विश्लेषण में आणविक प्रकथनों को, या प्रचलित सामान्य भाषा को, या इसी प्रकार की अन्य कसौटी को अधिक उपादेय समझते हैं वहीं श्री शल्य जी तथा प्रो. द्राविड़ के द्वारा की गयी घनघोर आपत्तियाँ सामने आने लगेंगी।

भाषा-विश्लेषण का व्यापक रूप

समसामयिक भाषा-विश्लेषण के मूल में, जैसा श्री शल्य और प्रो. द्राविड़ ने कहा है, अर्थ-

प्रमाणीकरण का सिद्धान्त है। यदि हम इसे व्यापक रूप में समझें तो इसी से भाषा-विश्लेषण का भी व्यापक रूप निकल पायेगा। सामान्य रूप में, प्रमाणीकरण-सिद्धान्त के अनुसार, उसी प्रकथन को सार्थक समझा जा सकता है जो अपने अनुरूप किसी न किसी अनुभव का आह्वान करता है। इस व्यापक अर्थ में नैतिक प्रकथनों में भी अर्थ होता है, क्योंकि इनमें विधि तथा संवेगात्मक अनुभूति तथा इसी प्रकार की कोई न कोई अनुभूति रहती है जिसकी ओर ये प्रकथन संकेत करते हैं। मेरी समझ में उन दार्शनिक प्रश्नों को, जिन्हें भाषा-विश्लेषणवादी ठुकरा देते हैं, उनमें भी अनुभूति रहती है, और हमारा काम है कि हम उस अनुभूति को दिखला दें ताकि उसकी जाँच सब लोग कर सकें।

साधारणतया लोग समझते हैं कि विचार और इसका विषय या वस्तु (Content) में भेद किया जा सकता है। अब विचार और उसके विषय में भेद अवश्य है पर वे अविभाज्य हैं। उनके बीच द्वैतवाद की प्रख्याति अनुचित है। यदि द्वैतवादी मत को अपनाते हुए हम कहें कि विषय को कभी भी विचार पूर्णतया व्यक्त नहीं कर सकता है तो भला दार्शनिक चिन्तन तथा वैज्ञानिक ज्ञान कैसे संभव हो सकता है ? ज्ञान-विषय अज्ञेय हो जायगा जिसकी आलोचना सही रीति से ही प्रत्ययवादियों ने की है। फिर मैं भाषा और विचार को भी एक दूसरे से स्वतंत्र नहीं मानता हूँ। यहाँ श्री शल्य जी और मुझमें मतभेद है।[1] उनके अनुसार अवधारणायें या विचार बिना किसी भाषा या पद के संभव हो सकते हैं। मेरा मत मनोवज्ञानिक प्रयोगों से नहीं है जहाँ यह समस्या अभी भी अनिश्चित रूप में पड़ी है। मेरा मत दार्शनिक तल पर है जहाँ प्रत्येक कथन को विचार-विमर्श के ही आधार पर बनाया जाता है। अब मनोवैज्ञानिकों के लिय यह संभव हो सकता है कि वे मानें कि कुछ अनुभूतियाँ मूक होती हैं। संभव है कि कुछ आनन्द-स्थितियाँ आदि ऐसी हों जिनका हम पूर्णतया भोग करें पर जिन्हें व्यक्त करने में हम समर्थ नहीं हो सकें। परन्तु यहाँ विट्गिंस्टाईन की उक्ति ही मुझे ठीक जँचती है कि दार्शनिक चिन्तन के लिये जिस बात को हम व्यक्त नहीं कर सकते उसे हम अपने दर्शन में प्रश्रय न दें। इसीलिये तर्कसंगत रूप से मेरे लिये कोई भी ऐसी अवधारणा नहीं है जिसे हम अपने दर्शन में प्रश्रय न दें। इसीलिये तर्कसंगत रूप से मेरे लिये कोई भी ऐसी अवधारणा नहीं है जिसे हम दर्शन में भाषा के बिना समझ ले सकते हैं।

इस प्रसंग में बर्कलीय, काण्टीय तथा प्रत्ययवादीय परम्परा से मैं पूर्णतया सहमत हूँ। फिर दार्शनिक के लिये वही विचार उसके चिन्तन का विषय हो सकता है जो प्रकाशनीय हो। यह ठीक है कि हम अनेक विचारों को सुसंस्कृत भाषा में व्यक्त नहीं कर पाते हैं। परन्तु यहाँ भी विचार दैहिक प्रक्रियाओं या व्यापारों के आधार पर भाष्य माना जायेगा। इसे भाववादी फिज़िकलिज्म (Physicalism) या भाषा-भौतिकीवाद की संज्ञा देते हैं। इसलिये मेरी समझ में दर्शन भाषाशास्त्र है। यह बात दूसरी है कि उसकी रूपरेखा, जैसा कार्नप ने दी है, या राईल तथा ऑस्टिन ने या डॉ. प्रसाद ने चरितार्थ की है, वही सर्वमान्य हो सकती है या नहीं।

अब चूँकि दर्शन को भाषाशास्त्र कहा गया है, और चूँकि दर्शन के अन्तर्गत विभिन्न शास्त्र चले आते हैं, इसलिये आचार-शास्त्र, धर्मशास्त्र, तर्कशास्त्र, तत्त्वविज्ञान इत्यादि की भाषाओं की जाँच की गयी है। अभी भी यह गवेषणा जारी है। अब तक उन्हीं प्रकथनों का विशेष विश्लेषण किया गया है जिन्हें हम परिज्ञानात्मक (कौगनिटिव) मानते आये हैं। चूँकि तथ्यात्मक विज्ञानों में उग्र और शुद्ध रूप में परिज्ञानात्मक प्रकथन पाये जाते हैं इसलिये उनका विशेष अध्ययन किया गया है। इस अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि परिज्ञानात्मक वाक्यों को निरीक्षणीयों (औब्ज़र्वेबल्ज़) के द्वारा अवश्य ही परीक्षायोग्य होना चाहिये। इस कसौटी के अनुसार ईश्वर, आत्मा, ब्रह्माण्ड इत्यादि अतीन्द्रिय सत्ताओं का अध्ययन करने वाली तत्त्वमीमांसा को परिज्ञानात्मक विज्ञान नहीं माना जा सकता है। मैं ह्यूम,

काण्ट, श्लिक, विट्गिंस्टाईन, एयर तथा डॉ. प्रसाद इत्यादि के इस मत को सही मानता हूँ कि तत्त्वमीमांसा में किसी भी सत्ता का वैज्ञानिक ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता है।

परन्तु मैं तत्त्वमीमांसा को दाहनयोग्य (ह्यूम) तथा अर्थहीन (ऐयर) की संज्ञा देकर परिहार्य नहीं समझ सकता हूँ। मेरी समझ में भारतीय परम्परा तथा प्लेटो-अरस्तु की परम्परा के अनुसार तत्त्वमीमांसा को वैज्ञानिक प्रयास माना ही नहीं गया है। यह ठीक है कि तत्त्वविज्ञान में परिज्ञानात्मक प्रकथनों को आश्रय दिया गया है, या यों कहिये कि इन प्रकथनों के आधार पर तत्त्वविज्ञानात्मक प्रकथनों की पुष्टि की गयी है। मेरी समझ में दर्शन के इतिहास को ध्यान में रखते हुए यही कहा जा सकता है कि इसकी आधारशिला दिव्यदृष्टि ही होती है और दिव्यदृष्टि का सम्बन्ध आत्म-जागरण से होता है। इसलिये मैं तत्त्वमीमांसा को आत्मप्राप्ति-विषयक मानता हूँ। इस प्रसंग को दार्शनिक त्रैमासिक में 'तत्त्वमीमांसा का स्वरूप' नामक लेखों में मैं अपने मत को स्पष्ट कर रहा हूँ।*

अब यदि तत्त्वमीमांसा का सम्बन्ध आत्मप्राप्ति से हो तो इसकी भाषा का उद्देश्य किसी ज्ञानप्राप्ति से न होगा। इसका मुख्य उद्देश्य है कि इसके प्रकथनों के द्वारा आत्मजागरण हो सके। अभी तक हम लोगों ने तत्त्वमीमांसा की भाषा को इस रूप में नहीं समझा है। परन्तु यदि तत्त्वमीमांसा की भाषा आत्मजागरण तथा आत्मप्राप्ति को व्यक्त करने के लिये हो तो हमें इस भाषा का विश्लेषण उसी प्रकार से करना चाहिये जिस प्रकार से कार्नप, ऑस्टिन, राईल, रसेल, मूर इत्यादि ने परिज्ञानात्मक प्रकथनों को स्पष्ट करने के लिये विश्लेषण किया है।

चूँकि दर्शन का विषय ज्ञान प्राप्ति है नहीं, इसलिये दर्शन केवल भाषाशास्त्र है, और हमारा कर्त्तव्य हो जाता है कि किस प्रकार से दर्शन के विभिन्न विभागों की विभिन्न भाषाओं के मूलवाक्यों को खोजें, उनकी रचना के नियमों को स्थापित करें तथा उनके रूपान्तरण की विधियों को प्रकाश में लायें। यह सब काम भाषा-विश्लेषण से ही संभव हो सकता है। अब जब तक दर्शन के विभिन्न भागों की भाषाओं का समुचित विश्लेषण नहीं हो जाता है तब तक यह अनिश्चित ही रहेगा कि दर्शन में कोई एक ही भाषा-व्याकरण पाया जाता है या अनेक।

पूर्वकथित युक्तियों के आधार पर मैं दर्शन को भाषा-विश्लेषण ही मानता हूँ। मेरी यह उक्ति वहीं पर निराधार हो सकती है जब कोई स्पष्ट कर दे कि दर्शन का सम्बन्ध परिज्ञानात्मक वाक्यों से है।

इस प्रसंग में मैं श्री शल्य जी के मत को अच्छी तरह समझ नहीं रहा हूँ। उन्होंने दर्शन को विज्ञान नहीं माना है और इसके प्रकथनों को उन्होंने तथ्यात्मक भी नहीं स्वीकार किया है। उन्होंने दर्शन को 'अवधारणात्मक योजना' कहा है। परन्तु यह अवधारणायें कहाँ से प्राप्त की गयी हैं? किस प्रकार की अनुभूतियों से ये प्राप्त की गयी हैं? यदि दर्शन का विषय 'सम्पूर्ण क्षेत्र' हो, तो इस क्षेत्र की अनुभूति कैसे होती है? और इसका क्या स्वरूप है? जब तक इन प्रश्नों पर प्रकाश नहीं डाला जाय तब तक श्री शल्य जी के मत का न तो खंडन और न समर्थन किया जा सकता है।

व्यापक अर्थ में भाषा-विश्लेषण की पर्याप्तता

मैं दर्शन और विज्ञान की अनुभूति को विभिन्न समझता हूँ। विज्ञान का सम्बन्ध तथ्यात्मक प्रकथनों से है और दर्शन का सम्बन्ध आत्मप्राप्ति-सम्बन्धी अनुभूति से है। पृथक् होते हुए भी इनके

* प्रो.य. मसीह द्वारा ''तत्त्वमीमांसा का स्वरूप'' शीर्षक से कई एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लेख दार्शनिक त्रैमासिक के विभिन्न अंकों में प्रकाशित हुए हैं। उनका सम्पादन हम कुछ अन्य लेखों के साथ ''तत्त्वमीमांसा का औचित्य'' नामक ग्रन्थ में कर रहे हैं। इसीलिए इस ग्रन्थ में प्रो. मसीह के लेखों पर केन्द्रित परिच्छेद नहीं हैं। (सम्पादक)

बीच सम्बन्ध है जो कतिपय उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है। यदि हम किसी कुत्ते को अपनी ओर लपकते देखें तो हमें केवल इसी का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता कि काला कुत्ता आक्रमण कर रहा है, पर इसका प्रभाव भी हमारे ऊपर पड़ता है। हम सहम जाते या सतर्क हो जाते हैं। प्राय: परिस्थिति के प्रति अभियोजन-कार्य करने में परिस्थिति में परिवर्तन तो होता ही है, पर व्यक्ति में भी परिवर्तन हो जाता है। विज्ञान का सम्बन्ध विशेषतया परिस्थिति के प्रति अभियोजन-कार्य से होता आया है जिसमें हम परिस्थिति का तथ्यात्मक ज्ञान प्राप्त करते हैं। अब लगभग ८०-९० वर्षों से मनोविज्ञान में हम आन्तरिक परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा कर रहे हैं। इस प्रकार के प्रयास से तथ्यों के सम्बन्ध में विशेष ज्ञानवृद्धि हुई है। परंतु विज्ञानों में आत्म-चिंतन का स्थान नहीं है। इधर कुछ पाश्चात्य विचारकों ने पाया है कि दर्शन का सम्बन्ध बेल्फी की उस उक्ति से है जिसमें कहा गया है 'आत्मानं विद्धि'। नचिकेता का प्रश्न था 'मैं क्या हूँ', 'किधर जा रहा हूँ', इत्यादि। मेरे कहने का अभिप्राय है कि दर्शन का सम्बन्ध उस अनुभूति से है जो हम स्वयं अपने के होने या बनने में महसूस करते हैं। इसलिये अंग्रेजी में कहा गया है कि Philosophy is concerned with reflection on one's experience. 'Reflection' से अर्थ प्रतिक्षेपात्मक प्रक्रिया से है। जिस प्रकार गेंद दीवाल पर फेंके जाने से फेंकने वाले की ही ओर लौट आता है, उसी प्रकार परिस्थिति के प्रति अभियोजन-कार्य सम्पन्न करने पर हम प्रश्न पूछते हैं कि हम कैसे हुए ? क्या अभियोजन-कार्य के फलस्वरूप हम अच्छे-बुरे, शुभ-अशुभ, कुशल-अकुशल इत्यादि बन गये हैं ?

स्वानुभूति प्रज्ञानात्मक नहीं है। मैं समझता हूँ कि 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' में ब्रह्मज्ञान, जो आत्मज्ञान है, स्वयं प्रज्ञानात्मक नहीं कहा गया है क्योंकि यह तो गूंगे के गुड़ की अनुभूति के समान मूक और आनन्द-विभोर अनुभूति है। यहाँ शब्द और अनुमान दोनों पिछड़ जाते हैं। जिस प्रकार प्रज्ञानात्मक प्रकथनों की व्यवस्था को विज्ञान की संज्ञा दी जाती है उसी प्रकार 'स्थितप्रज्ञ' या 'हर्ष-विषाद से परे' की अवस्था प्राप्त कर लेने पर हम अपने को आत्मिक जीव की संज्ञा देते हैं। और 'ब्रह्मविद्' होना या निर्वाणी बन जाना हम आत्मप्राप्ति विषयक प्रक्रिया की चरम अवस्था की संज्ञा देते हैं। यदि कोई इस आत्मा को कुर्सी, मेज़ इत्यादि के समान जानना चाहे तो, जैसा प्रो. द्राविड़ ने दिखलाया है, भाषा-विश्लेषण-पटु-ओझा राईल भी आत्मा या मन नामक भूत को कभी भी मशीन से झाड़-फूंक नहीं सकेंगे। इसलिये भाषा का वह व्याकरण, जिसके आधार पर आत्मप्राप्ति-विषयक अनुभूति वाचाल हो उठती है, उस व्याकरण से भिन्न है जिसमें तथ्यात्मक अनुभूति व्यक्त की जाती है।

पर इस स्थल पर आप कहेंगे कि यदि हम ब्रह्मानन्द में कहते हैं कि 'वाचो निवर्त्तन्ते मनसा सह', तो यहाँ भाषा और विचार हैं ही नहीं, तो यहाँ भाषा-विश्लेषण कहाँ ? यहाँ सुसंस्कृत भाषा नहीं होती, पर शारीरिक व्यापार अवश्य रहता है। ब्रह्मज्ञानी के शारीरिक, सामाजिक तथा अन्य व्यापार इतने भिन्न हो जाते हैं कि ये ही उसके ब्रह्मज्ञान का बोध कराते हैं। साधारण भाषा मूक हो जाती है, पर उपमामय, नेति नेति इत्यादि शब्दों से ब्रह्मज्ञानी अपनी स्थिति का परिचय देता और अन्य व्यक्तियों का इस ओर आह्वान करता है। इस अर्थ में ब्रह्मज्ञानी का सम्पूर्ण व्यक्तित्व अपने आप में एक साकार भाषा हो जाती है।

मैं दर्शन को रहस्यवाद नहीं समझ रहा हूँ, क्योंकि इसके अनुसार हमारे अन्दर ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा हम वस्तुओं का असली स्वरूप जानते हैं। इसके विपरीत मेरा कहना है कि दर्शन प्रज्ञानात्मक प्रयास है ही नहीं। जीवन में मूल्यों को उतारने की प्रक्रिया में दार्शनिक चिन्तन विशेष को अपनाता है और यही इसका मुख्य उद्देश्य है। पर प्रश्न हो सकता है कि यदि दार्शनिक-चिन्तन प्रज्ञानात्मक नहीं है तो विचारक क्यों समझते आये हैं कि दर्शन में हमें परमसत्ता का ज्ञान मिलता है ?

सर्वप्रथम, आत्मचिन्तन या रिफ्लेक्शन बिना परिस्थिति के प्रति अभियोजन-कार्य के संभव नहीं होता है। इसलिये परिज्ञानात्मक प्रकथनों के पश्चात् ही दार्शनिक चिन्तन संभव है। द्वितीय, प्रत्येक व्यक्ति समुद्र के सीप के समान आत्मकेन्द्रित नहीं रहता है। उसका आदान-प्रदान अन्य व्यक्तियों और परिस्थितियों से रहता है। इसलिये आत्मप्राप्ति सम्पूर्ण अभियोजन-कार्य या अनुभूतियों का परिपाक होता है और आत्मज्ञान भी छलक कर ब्रह्माण्ड में बिखर जाता है। आत्मप्राप्ति की पराकाष्ठा के साथ मालूम देता है कि विश्व की सम्पूर्ण निधि या स्वयं विश्व ही व्यक्ति में समा गया है, ठीक उसी प्रकार से जब अत्यधिक शारीरिक कष्ट होने पर किसी भी समस्या से विमुख होकर हम कहते हैं कि सब जाय चूल्हे-भांड़ में। इसलिये दार्शनिक चिन्तन का विषय सम्पूर्ण विश्व मालूम देता है और इसी सम्पूर्णता को व्यक्त करने के लिये हम कहते हैं कि दार्शनिक चिन्तन का विषय परमसत्ता, पूर्ण ज्ञान तथा विश्वव्यापी मूल्य हैं। इसीलिये हम कहें कि दर्शन का उद्देश्य है कि वह समस्त अनुभूतियों का मूल्याँकन करे। पर क्या मूल्याँकन करना बिना अनुभूतियों को समझे-बूझे हो सकता है ? और क्या बिना विश्व में मूल्यों का निर्धारण किये विचारक अपने जीवन में मूल्यों को साकार कर सकता है ? इसीलिये आत्म प्राप्ति में मूल्यों को साकार किया जाता है और मूल्यों के स्थापन और निर्धारण में प्रज्ञानात्मक प्रकथन और उनके व्याकरण को ध्यान में रखना पड़ता है। परन्तु प्रज्ञानात्मक वाक्यों का स्थान गौण रहता है, पर अनिवार्य। चूँकि बिना प्रज्ञानात्मक प्रकथनों के मूल्यों का स्थापन नहीं और इसके बिना आत्मप्राप्ति नहीं, इसलिये विचारक विशेषकर वे जो विज्ञानों की प्रगति से चकाचौंध होकर इस दार्शनिक चिन्तन से विमुख हो गये, वे समझने लगे कि दार्शनिक चिन्तन का चरम उद्देश्य ही है कि वे प्रज्ञानात्मक वाक्यों के स्वरूप पर ध्यान दें। साधन को वे भूलकर साध्य समझने लगे हैं।

कहाँ तक दर्शन के स्वरूप में यह कहना ठीक होगा कि इसका विषय आत्मप्राप्ति है ? पूर्वीय दर्शन का उद्देश्य रहा है कि दार्शनिक चिन्तन के आधार पर मोक्ष, अपवर्ग, निर्वाण इत्यादि प्राप्त हो जाय। फिर मतभेद होते हुए भी सामान्यत: मोक्ष इत्यादि से अभिप्राय है कि व्यक्ति स्वयं त्रिनेत्री, ब्रह्म या अनन्त आत्मा हो जाय। यही बात प्लेटो और अरस्तु में भी है। दार्शनिक वह है जो चतुर ज्ञानी (वाईज मैन) हो जाय, वैज्ञानिक नहीं। यही परम्परा जिसे पाश्चात्य विचार में सनातन (perennial) दर्शन कहा गया है, टौमस अक्वानस से लेकर आल्डस हक्सले तक पायी जाती है। इसलिये ऐतिहासिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि दार्शनिक चिन्तन का विषय आत्मप्राप्ति है जो दिव्यदृष्टि से, न कि रोजमर्रे के ज्ञान से, हासिल होती है। इस सम्बन्ध में मैं बहुत कुछ लिख भी चुका हूँ, इसलिये यहाँ अधिक और न कुछ लिखूंगा।

इस मत की विशेषता यही है कि इसके द्वारा दार्शनिक निष्कर्षों के सम्बन्ध में विविधता, सापेक्षता, व्यक्तिनिष्ठता के लक्षणों का संतोषजनक स्पष्टीकरण हो जाता है।

***

संदर्भ-सूची

१. *यहाँ श्री शल्य जी का मत मेरी पकड़ में नहीं आ पाया है। पर आप अवधारणाओं को भाषा या पदों से स्वतन्त्र अवश्य मानते हैं।*

परिसंवाद : दो
अर्थ एवं प्रमाणीकरण

2.1 यशदेव शल्य

2.2 सुरेश चन्द्र

2.3 याकूब मसीह

... परिसंवाद ...

विश्व का पूरे तौर से लौकिकीकरण (सेक्युलरायजेशन ऑफ वर्ल्ड) कर देने के लिए सतत् उत्सुक पश्चिमी दृष्टि जो गोत्र से ख्रिस्तियन और जाति से अनुभववादी है, उसी ने 'अर्थ एवं प्रमाणीकरण' के सिद्धान्त की उपस्थापना स्पैक्युलेटिव तत्त्वमीमांसा का प्रत्याख्यान करने के उद्देश्य से एक सुविधापेक्षी उपागम के रूप में किया है। आश्चर्य है कि पाश्चात्य दर्शन का एक छोर 'सुकरात' ने जहाँ प्राकृतिक विज्ञानों को यह कहकर नकार दिया था कि इसका मानवीय नैतिकता और मूल्य पर्येषणा से कोई लेना-देना नहीं है, वहीं दूसरे छोर पर पश्चिमी विचारधारा का तर्कीय प्रत्यक्षवादी प्रस्थान यह प्रस्तावित करता है कि किसी तर्कवाक्य का अर्थ उससे सम्बन्धित प्रमाण-विधि है। वियना सर्किल और उसके बाद के दिनों में तर्कीयप्रत्यक्षवाद का यह प्रस्ताव अपने "जादुई तर्कवाद" से दुनिया के दार्शनिक मानस को इस कदर प्रभावित किये रखा था कि तत्त्वमीमांसा जो कभी विज्ञानों की रानी समझी जाती थी, वह अछूत समझी जाने लगी। आज भी स्थिति बदली नहीं है बल्कि और अधिक विस्थापक निष्पत्तियों के साथ रूपान्तरित हो गई है। इस परिसंवाद के माध्यम से आचार्य यशदेव शल्य, प्रो. सुरेशचन्द्र एवं प्रो. याकूब मसीह ने समकालीन पाश्चात्य दर्शन के इस महत्त्वपूर्ण पहल पर विचार-विमर्श उसके अन्त:स्थल में पैठ कर किया है। आपस में परस्पर संवाद करते हुए इस पहल के पुरस्कर्त्ताओं के साथ भी उच्चस्तरीय संवाद स्थापित कर उसके विभिन्न पहलुओं यथा-प्रमाणविधि, निरूपणीकरण, परीक्षीकरण, पुष्टिकरण तथा मिथ्यात्व प्रमाणीकरण इत्यादि की जाँच-पड़ताल जिस तटस्थता और निष्पक्षता से की गई है उससे इस पहल की उद्दिष्ट संकल्पना, औचित्य और निहितार्थों का पूरा-पूरा परिचय मिलता है। कहीं-कहीं उसकी अपर्याप्तताओं के भी गहरे संकेत किये गये हैं जो इसके जादुई आकर्षण को कम करने के लिए जरूरी भी है। अतएव इस विस्थापक पहल की थाह लेने के लिए यह परिसंवाद बहुत उपयोगी एवं अवश्य पठनीय है।

※

यशदेव शल्य

'अर्थ और प्रमाणीकरण' का सिद्धांत प्रमुखत: परमार्थ शास्त्र (Metaphysics) के प्रत्याख्यान के लिए प्रस्थापित किया गया था। परमार्थ शास्त्र का प्रत्याख्यान पश्चिमी दर्शन के इतिहास में कोई नवीन बात नहीं है और न प्रमाणीकरण का सिद्धांत ही एकदम नवीन खोज है, किन्तु जिस रूप में और जितने जोरदार शब्दों में इसे तर्कात्मक भाववादियों (Logical Positivists) ने प्रस्तुत किया उस रूप में वह पहले प्रस्तुत नहीं किया गया था। अनुभववादी सम्प्रदाय का ह्यूम इसका सर्वप्रथम प्रवक्ता कहा जा सकता है, वास्तव में आज के अनुभववाद के अधिकांश सिद्धांतों के बीज हम ह्यूम के दर्शन में प्राप्त कर सकते हैं। यह न केवल तर्कात्मक परमाणुवादी (Logical Atomists) ही स्वीकार करते हैं प्रत्युत तर्कात्मक भाववादी भी सगर्व स्वीकार करते हैं, जो अनुभव से अधिक भाषीय पुनर्रचना (Linguistic Reconstruction) को अधिक महत्त्व देते हैं।

जैसा कि हम आगे देखेंगे, अर्थ तथा प्रमाणीकरण का सिद्धांत अनुभववादी विचार शास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण और आधारभूत सिद्धांत है। स्थूल रूप में, कार्नप के शब्दों में, इसे निम्न प्रकारेण प्रस्तुत किया जा सकता है - ''ज्ञान की दो मुख्य समस्याएँ+ अर्थ का प्रश्न तथा प्रमाणीकरण का प्रश्न हैं। प्रथम प्रश्न पूछता है-किन अवस्थाओं में वाक्य अर्थ युक्त होता है ? 'अर्थ' को प्रज्ञानात्मक तथा तथ्यात्मक (Congnitive and factual) अर्थ में लेते हुए। दूसरा प्रश्न है- हम कैसे कुछ मानते हैं, कैसे एक वाक्य-विशेष सत्य अथवा असत्य कहा जा सकता है ? दूसरा प्रश्न प्रथम को अन्तर्निहित कर चलता है। स्पष्टत: हमें वाक्य समझ में आना चाहिये, हमें इसका अर्थ पता होना चाहिये, तब हम यह देखने में प्रवृत्त हो सकते हैं कि यह वाक्य सत्य है या नहीं, किन्तु अनुभववादी दृष्टिकोण से इन दो समस्याओं में और भी अधिक निकट सम्बन्ध है। एक प्रकार से इन दोनों प्रश्नों का एक ही उत्तर हो सकता है। यदि हम जानते हैं कि वाक्य विशेष की सत्यता अथवा प्रामाण्य क्या होगा तो हम यह भी जान जाएँगे कि इसका क्या अर्थ है।''[1]

जैसा कि उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है, कार्नप यह नहीं कहना चाहते हैं कि वाक्य का अर्थ उसके प्रमाणीकरण की प्रक्रिया ही है। वे वास्तव में इस प्रस्थापना को अत्यन्त स्थूल कहते हैं। उनके अनुसार, हम वाक्यों को पूर्णत: प्रमाणित नहीं कर सकते, केवल उन्हें पुष्ट (Confirm) कर सकते हैं। एक वाक्य परीक्षणीय (Testable) हुए बिना भी पुष्य (Confirmable) हो सकता है, यदि हम जानते हैं कि अमुक -अमुक घटनाओं का अनुक्रम वाक्य को पुष्ट करेगा तथा अमुक-अमुक प्रकार का अन्य घटनानुक्रम इसके निषेध को पुष्ट करेगा, यह बिना जाने ही कि कौन से परीक्षण हम प्रयुक्त करें।[2]

अर्थ क्या है ? कार्नप के अनुसार एक निश्चित भाषा की प्रकृति निर्धारित करने के लिए इसका शब्द कोश तथा इसकी वाक्य रचना (Syntax) देखना आवश्यक है,अर्थात् उन शब्दों को जो इसमें घटित होते हैं, तथा उन नियमों को जिनके अनुसार (१) इन शब्दों से वाक्य बनाये जा सकते हैं, तथा (२) ये वाक्य दूसरे वाक्यों में रूपान्तरित किये जा सकते हैं। यह रूपान्तरण या तो उसी भाषा के वाक्यों में

होता है अथवा दूसरी भाषा के वाक्यों में अर्थात् तथाकथित अनुमान के नियम तथा अनुवाद के नियम। किन्तु क्या वाक्य का 'भाव' (Sense) समझने के लिए शब्दों का 'अर्थ' बताना आवश्यक नहीं है; यह अपेक्षा, जोकि चित्र शैली (Material mode) में रहती है, रूपात्मक नियम (Forrnal Rule) देने से, जो कि इसकी वाक्य रचना में निहित है, सन्तुष्ट हो जाती है। क्योंकि एक शब्द का अर्थ या तो अनुवाद के द्वारा दिया जा सकता है अथवा परिभाषा के द्वारा। अनुवाद किसी शब्द के एक भाषा से दूसरी भाषा में रूपान्तरण के नियम हैं (जैसे 'Horse'=घोड़ा); परिभाषा एक ही भाषा में शब्दों के रूपान्तरण के नियम को कहते हैं। यह तथाकथित भाषीय (Nominal) परिभाषाओं के लिए भी सत्य है (यथा, 'हाथी'= अमुक-अमुक विशेषताओं से युक्त जन्तु विशेष') और संकेतात्मक परिभाषाओं (Ostensive Definitions) के लिए भी, यथा-'हाथी'= उसी प्रकार का जन्तु विशेष जो देश-काल में अमुक-अमुक स्थिति से युक्त है। दोनों परिभाषाएँ शब्दों के अनुवाद हैं।[३]

पाठकों को उपर्युक्त उद्धरणों में एक विरोधाभास सा प्रतीत हो सकता है। द्वितीय उद्धरण में प्रो. कार्नप स्पष्टत: पुष्टिकरण का सिद्धांत उन घटनाओं के आधार पर प्रस्तुत करते हैं जो अपरोक्षत: अनुभव के विषय हैं, जबकि तृतीय उद्धरण में वाक्य के अर्थ को पूर्णत: रूपात्मक बताते हैं। इसका समाधान वे यह कह कर करते हैं कि हम सामान्यत: वाक्यों का प्रयोग चित्र शैली (Material mode) में करते हैं, किन्तु वाक्य का ठीक अर्थ रूपात्मक शैली में ही परिलक्षित होता है। चित्र शैली में वाक्यों के प्रयोग से अनेक बार भ्रान्ति का भय रहता है; यद्यपि चित्र-शैली अधिक सामान्य तथा सरल है। कार्नप कहते हैं कि वे भी सामान्यत: चित्र शैली में ही वाक्यों का प्रयोग करते हैं, किन्तु इससे किसी को यह नहीं समझ लेना चाहिये कि वे कहना भी वही कुछ चाहते हैं जो चित्र शैली में व्यक्त होता है।

यद्यपि उपर्युक्त कथन से हम कार्नप के विवेचन के सम्बन्ध में निश्चित मत नहीं बना सकते, किन्तु इससे इतना अवश्य स्पष्ट है कि तर्कात्मक भाववादी सामान्य रूप से और कार्नप विशेष रूप से, अर्थ और प्रमाणीकरण की समस्या को किस प्रकार समझते हैं। उनके अनुसार सब वाक्य या तो पुनरुक्तियाँ (Tautologies) हैं, अथवा ये अन्तर्विरोध पूर्ण (Contradictory) अथवा प्रमाणीकरणीय अथवा परीक्षणीय (Testable) अथवा कम से कम पुष्टिकरणीय हैं

किन्तु हमारे विचार से अनुभववाद के लिये अधिक आधारभूत वाक्यों से आरम्भ करना आवश्यक है। जैसा कि हम अन्यत्र[४] देख आए हैं, अनुभव के मूल वाक्य 'यह विशिष्ट रक्त संस्थान है' अथवा 'ग१ (अ१)'* ये हैं, जिसमें हम अपने सद्य: अनुभव की सूचना देते हैं। ये वाक्य न परीक्षणीय हैं, न पुष्टिकरणीय, ये पूर्णत: पुष्ट हैं तथा पुष्टीकरण आदि प्रक्रियाओं की सीमा हैं। जब हम हाथी को देखते हैं और कहते हैं, 'यह हाथी हैं,' तब यह वाक्य स्वत: प्रमाणित है तथा यह सब प्रकार के विश्लेषण तथा सम्बन्धों से निरपेक्षहै। इन वाक्यों की यह विशेषता है कि ये न केवल अन्य वाक्यों द्वारा अधिक पुष्ट ही नहीं किये जा सकते प्रत्युत अन्य वाक्यों द्वारा इनका प्रत्याख्यान भी नहींहो सकता। पुष्टिकरणीय अथवा परीक्षणीय वाक्य तीन प्रकार के हैं, अभ्युपगम (Hypothesis) वाक्य, जैसे साथ के कमरे में मेज है, सामान्य वाक्य, सब मनुष्य मरण धर्मा हैं, तथा अस्तित्त्व वाक्य, कोई बाहर है अथवा एक मनुष्य मुझे मिला था आदि। अभ्युपगम वाक्य तीन प्रकार के हो सकते हैं (१) जहाँ हमें सम्बन्धवाचक विधेय तथा कम से कम एक अभिधेय ज्ञात हो, दूसरे शब्दों में, जिसमें संबंध अपरिभाषित (Undefined) हो तथा कम से कम एक अभिधेय हो, (२) जहाँ सम्बन्ध अथवा विधेय अपरिभाषित हो किन्तु उद्देश्य वेरियेबल हो, तथा (३) जहाँ सब वेरियेबल अननुभूत हों। प्रतीकों में क्रमश: स१ (अ,य),स (य,र),ल (य,र)। यहाँ स१सद्य:

* ग descriptive primitive predicate, अ descriptive constant अथवा Noun, स-सम्बन्ध (Relation), य veriable, र veriable। संकेत-शब्द (Ostensive word)

प्रदत्त सम्बन्ध का वाचक है, अ सद्य:प्रदत्त विशिष्ट दैशिक बिन्दु का वाचक है और अतएव अभिधेय है, स परिभाषित सम्बन्ध का वाचक है तथा य और र वेरियेबल हैं, अर्थात् इनका मूल्य निश्चित नहीं है, ये अनभिधेय हैं। अब यदि सम्बन्ध स१ हमारे चाक्षुष प्रदेश में 'बाईं ओर होने' का सम्बन्ध है और हमारे इस चाक्षुष देश में अत्यन्त बाईं ओर घटित विशिष्ट का अभिधेय है तो हम यह मानते हैं कि हम, 'अ' के बाईं ओर,' यह अवधारणा कर सकते हैं, जबकि य पूर्णत: आभ्युपगमिक है। हम यह भी स्वीकार करना चाहते हैं कि यदि स१ हमारा सद्य: प्रदत्त रहा है तो हमें स सामान्यत: प्रदत्त है, अर्थात् 'बाईं ओर होने का सम्बन्ध' यह सामान्य विधेय हमारी भाषा में एक पूर्णत: प्रमाणित विधेय है। यह स्वीकार कर लेने पर स (य,र) हमारी भाषा का सार्थक वाक्य है। इन दूसरी प्रकार के वाक्यों को हम प्रोपोजश्निल फंक्शंस कह सकते हैं।

जहाँ तक प्रथम प्रकार के वाक्यों का सम्बन्ध है, इन्हें हम अनुभव के मूल वाक्य कहेंगे। हम इन मूल वाक्यों को सम्पूर्ण सार्थकताओं की सीमा समझते हैं। जैसाकि हमने पहले कहा है, ये वाक्य पूर्णत: प्रमाणित हैं, किन्तु ये प्रमाणीकरण के परिणाम-रूप में भी प्राप्त होते हैं, यथा, "आज शाम को वर्षा होगी" इस वाक्य का प्रामाण्य वाक्य होगा "अब वर्षा हो रही है", अथवा 'आज शाम को मेरे सिर में पीड़ा होगी' का प्रामाण्य वाक्य होगा "अब मेरे सिर में पीड़ा हो रही है।"

एयर ने अपनी पुस्तक "लेंग्वेज, ट्रूथ एंड लॉजिक" के प्रथम संस्करण में ऐसे वाक्यों को तर्कवाक्य (Propositions) मानने से ही इन्कार कर दिया है। उनके अनुसार, मूल वाक्यों को तर्कवाक्य* कहना अन्तर्विरोध-पूर्ण है, क्योंकि "इसका अभिप्राय होगा कि एक वाक्य जो विशुद्धत: सांकेतिक प्रतीकों (Demosnstrable symbols) से निर्मित है," अभिव्यंजक भी है। सत्य यह है कि कोई भाषा में विषय की ओर मात्र संकेत ही नहीं कर सकता, उसका वर्णन भी करता है। (It implies that there could be a sentence which consisted of purely demonstrable symbols and was at the same time intelligible. The fact is that one cannot in a language point to an object without describing it.") हमारे विचार से, यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि हम इन मूल वाक्यों को तर्क वाक्य (Propositions) कहते हैं अथवा केवल हाव (Gesticulations)। इतना तो एयर मानते हैं कि ये वाक्य ही सब वाक्यों की सार्थकता के मान अथवा सीमाएँ हैं। इस प्रकार सब वाक्यों की सार्थकता इन 'हाव-वाक्यों' के प्रसंग से है।

हमारे विचार से, यहाँ तक कुछ विवादास्पद नहीं हैं, हम मूल वाक्यों को कोई एक दम निश्चित परिभाषा नहीं दे रहे हैं, सिवाय इतने के कि वे विशुद्धत: प्रत्यक्ष वाक्य (Observation sentences) हैं। हम न रसल के समान यही कह रहे हैं कि ये 'यहाँ' मेरे मस्तिष्क में होने वाली घटनाओं के वाचक हैं और न कार्नप के समान यह कह रहे हैं कि वे 'वहाँ देश-काल में हैं'। किन्तु प्रश्न किया जा सकता है कि हम "स (य,र)" को कैसे सार्थकता देते हैं ? यह वाक्य सार्वभौमों सम्बन्धी विवाद से सम्बन्ध रखता है। किन्तु यहाँ यह विवाद इस रूप में प्रासंगिक नहीं है कि हम सार्वभौमों की शब्दावली स्वीकार करें अथवा अनुरूपताओं की, क्योंकि जब हम कहते हैं कि हमारी भाषा के अपरिभाषित विधेय केवल 'यहाँ और अर्थ' ही सार्थक नहीं है प्रत्युत अन्य वाक्यों में भी इसी प्रकार घटित हो सकते हैं, जब कि अभिधेय नहीं घटित हो सकते, तब हम इस सम्बन्ध में कोई अंतिम बात नहीं कहते कि वे विधेय एक सार्वभौम के उदाहरण हैं अथवा किन्हीं आदर्श वस्तुओं अथवा अभिधेय से अनुरूपता के कारण एक शब्द द्वारा

---

* हम 'वाक्य शब्द' का प्रयोग सामान्यत: प्रोपोजीशन के पर्याय रूप में ही कर रहे हैं, किन्तु जहाँ हमें Sentence तथा Proposition में भेद अभीष्ट है वहाँ 'प्रोपोजीशन' के लिए 'तर्कवाक्य' का प्रयोग करेंगे।

बोध्य हैं। हम केवल इतना कहना चाहते हैं कि विधेय एक बार मूल वाक्य में घटित हो कर सब वाक्यों में सार्थकता से घटित हो सकता है। किन्तु अभिधेय दो बार घटित नहीं हो सकता। इस प्रकार ग१ (अ) का अभिप्राय है 'यहाँ अब विशिष्ट रक्ताभ घटित हो रहा है' जब कि ग१ (य) का अभिप्राय है, 'कहीं विशिष्ट है, यहाँ अब विशिष्ट रक्ताभ संस्थान घटित हो रहा है।' दूसरे वाक्य का यह कदापि अभिप्राय नहीं है कि हम कहीं रक्ताभ के घटित होने का अनिवार्यत: दावा करते है, न यह वाक्य किसी भावी घटना के सम्बन्ध में ही है; यह केवल यह दावा करता है कि ग१ (अ) वाक्य सम्पूर्ण ग (य,र.....) वाक्यों को लागू करता है। यदि यह ठीक है, तो "यहाँ अब वर्षा हो रही है" वाक्य "कहीं वर्षा हो रही है" अथवा "साथ के नगर में वर्षा हो रही है" जैसे सम्पूर्ण वाक्यों को, बिना किसी प्रामाण्य की शर्त के, लागू करता है। यहाँ थोड़ा स्पष्टीकरण अपेक्षित है, इन वाक्यों को सामान्य वाक्यों के साथ नहीं घपलाना चाहिए, अर्थात् यदि ग१ (अ) 'अरस्तु मनुष्य है' मूल प्रदत्त वाक्य है तो हम कहना चाहते हैं कि ग१ (य) "अमुक मनुष्य है" वाक्य भी सार्थक है। हम यहाँ न तो यही कहना चाहते हैं। कि (य) ग१ (य) "सब मनुष्य हैं" वाक्य सार्थक है और न यही कि (अय) ग१ (य) "कम से कम एक मनुष्य है" यह सार्थक है। हमारे विचार में, ऐसे वाक्यों को, जिनमें सर्वथा अप्रामाण्य (Unverifiable) अथवा सर्वथा अपुष्ट्य (Unconfirmable) शब्द घटित होते हैं, केवल इसी प्रणाली से अर्थ दिया सकता है। उन्हें किन्हीं विशिष्ट प्रकार के अस्तित्त्व वाक्य कहना समस्या को ओर अधिक उलझाना होगा। बर्ट्रेण्ड रसल ने "जहाँ कोई प्राणी नहीं वहाँ भी कभी-कभी वर्षा होती है" को अस्तित्त्व वाक्यों की श्रेणी में रखकर यही भूल की है। इसका कारण यह है कि वे एक पारमार्थिक (Metaphysical) उद्देश्य से प्रेरित हैं। किन्तु यदि हम इन वाक्यों पर से उपर्युक्त प्रकार से प्रामाणिकता आदि की तथा अस्तित्त्व की शर्त हटा लें तो हम पारमार्थिकता के भूल भुलैये से बच सकते हैं।

किन्तु "यहाँ वर्षा हो रही है", यहाँ अब रक्ताभ संस्थान घटित हो रहा है" ये वाक्य "साथ के नगर में वर्षा हो रही है" अथवा "मेरे पीछे की ओर रक्ताभ संस्थान घटित हो रहा है" इन वाक्यों को कदापि लागू नहीं करते, यदि ये अनिवार्य तथा किसी घटना के होने या न होने की अपेक्षा रखते हैं। इन वाक्यों की सत्यता-असत्यता का प्रश्न इस बात पर निर्भर है कि कथित घटना घटित हुई है या नहीं, यह प्रमाणित किया जा सके। किन्तु जबकि "अब यहाँ वर्षा हो रही है" यह वाक्य उपर्युक्त वाक्यों द्वारा संकेतित घटनाओं को, जिनके प्रसंग से ये वाक्य सत्य अथवा असत्य हैं, निर्धारित नहीं करता, अर्थात् कहीं वर्षा का होना या न होना जबकि हमारे मूल अनुभव वाक्यों से निर्धारित नहीं होता, इन वाक्यों की सार्थकता इसके द्वारा लागू होती है। प्रतीकों में, "यहाँ अब वर्षा हो रही है" इस वाक्य को हम ग१ (अ१) के रूप में प्रस्तुत करते हैं, इस प्रकार, ग२ (अ२), ग३ (अ३) आदि वाक्य भी हमारी भाषा के मूल वाक्य हैं। हमारी उपर्युक्त स्थापना के अनुसार, ग१ (अ१) वाक्य प्रोपोजीश्नल फंक्शन ग (य) को लागू करता है, और हम यद्यपि ग२ (अ२) को प्रकथित नहीं कर सकते जब तक कि यह हमारे सद्य: अनुभव का विषय नहीं होता, किन्तु यदि कोई अन्य व्यक्ति इस वाक्य का उच्चारण करता है, तो हमारे लिए यह सार्थक है।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि हम यहाँ केवल मूल वाक्यों के सम्बन्ध में कह रहे हैं, उन वाक्यों के सम्बन्ध में नहीं जिन्हें रसल घनीभूत आगमन (Condenced Inductions) कहता है। ऐसे वाक्यों का ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से सर्वथा भिन्न स्थान है। उदाहरणत: एक वाक्य लें- 'यह तांबा है।' इस वाक्य का क्या अभिप्राय है ? स्पष्टत: 'तांबा' हमारी आदर्श भाषा का अभिधेय नहीं है, क्योंकि 'तांबा' शब्द हमारे सद्य: अनुभव से बहुत अधिक के लिये कहने का दावा करता है। यह वाक्य हमारे अनुभव के सम्मिश्र सिद्धांत के सम्बन्ध में है। अमुक वस्तु तांबा है, यह विभिन्न परीक्षणों द्वारा केवल अपूर्णत: सिद्ध किया जा सकता है। हम प्रयोग कैसे करेंगे ? क्या कथित वस्तु को थर्मामीटर लगा कर यह कहा जा

सकता है कि यदि थर्मामीटर का पारा परीक्षण के पश्चात् किसी विशेष डिग्री की ओर संकेत करे तो वह वस्तु तांबा कही जायेगी ? स्पष्टत: नहीं, क्योंकि अन्य अनेक वस्तुओं का उतना ही तापमान हो सकता है, और दो तांबे के खण्डों का भिन्न-भिन्न तापमान हो सकता है। इस प्रकार, यह देखने के लिये कि अमुक वस्तु तांबा है या नहीं हम किसी भी प्रकार का परीक्षण नहीं कर सकते किन्तु यह एक विचित्र स्थिति है, क्योंकि तब हम यह कैसे कह सकते हैं कि अमुक वस्तु तांबा है ? यहाँ परम्परा बीच में आती है, हम यह मानने को बाध्य हैं कि सर्व प्रथम हमें किसी वस्तु को कुछ संज्ञा देनी होगी, तब उस पर कुछ ऐसे प्रयोग करने होंगे जिनके संयुक्त परिणाम ऐसे हों जो संयुक्त रूप से जिस भी किसी वस्तु पर घटित हो सकें, हम उस वस्तु को वही संज्ञा देंगे। यद्यपि यह एक अभेद्य वृत्त (Vicious circle) है, किन्तु यह अनिवार्य है।

यहाँ "अपूर्णत: प्रमाणित" का अर्थ समझना भी आवश्यक है। मान लीजिए कि हम दस प्रकार के विभिन्न प्रयोगों के आधार पर यह निर्धारित करते हैं कि अमुक वस्तु तांबा है। ये दस प्रयोग पृथक् पृथक् तथा समवेत रूप से 'तांबा', इस शब्द के वाचक हैं। इस प्रकार, तांबा शब्द हमारे परीक्षणों का सापेक्ष है। किन्तु संभव है कल हम ग्यारहवाँ परीक्षण भी खोज निकालें, जो "यह तांबा है" इस वाक्य की अधिक सम्यक् पुष्टि में सहायक हो, और साथ ही साथ, हमने जो दो टुकड़े रखे हैं, जिन पर दस परीक्षण करने पर पाया गया था कि परिणाम समान होता है, उन पर ग्यारहवें प्रयोग पर पाया जाय कि परिणाम भिन्न हैं। तब हम प्रयोग के महत्त्वपूर्ण होने पर, यह स्वीकार करेंगे कि इनमें से एक तांबा है और दूसरा नहीं। अब यह एकदम हमारी इच्छा पर निर्भर करता है कि हम किसे तांबा मानें, यद्यपि यहाँ इस निर्धारण में तांबे के अधिक आदर्श टुकड़े सहायक हो सकते हैं। इन परीक्षणों के सम्बन्ध में एक बात और स्पष्ट है, वह है एक सिद्धांत स्वीकार करने की। हम परीक्षणों में इस सिद्धांत के आधार पर प्रवृत्त होते हैं कि समान गुण वाली सब वस्तुएँ सदैव समान व्यवहार करेंगी, तांबे के प्रसंग में, 'जो भी वस्तु इन दस प्रयोगों में अपेक्षित व्यवहार करतीहै वह तांबा है, और यदि कल एक ग्यारहवें प्रयोग में इनमें से किसी एक का व्यवहार शेष से भिन्न है तोवह किसी पहलू में उनसे भिन्न होगी। 'तांबा बिजली कंडक्ट करता है,' ऐसा ही वाक्य है। इस प्रकार, 'तांबा यह शब्द भूत-विज्ञान की एक अवधारणा हो कर रह जाता है जिसका अर्थ हमारे कुछ प्रयोगों अथवा व्यापारों के प्रसंग से है। अवधारणाओं (Concepts) के सम्बन्ध में इस दृष्टिकोण ने भूत विज्ञान का काया कल्प कर दिया है, क्योंकि अब हम भूत-विज्ञान में प्रयुक्त अवधारणाओं का अर्थ तथा सीमा समझने में समर्थ हैं। Bridman के अनुसार 'लंबाई की अवधारणा तब निर्धारित होती है जब कि वे व्यवहार (Operations), जिनसे कि लंबाई नापी जाती है, निर्धारित हो जाते हैं, अर्थात्, लंबाई की अवधारणा की सीमा ठीक उन व्यापारों की सीमा के अनुपात में है, जिनसे लंबाई निर्धारित होती है। सामान्यत: किसी अवधारणा से हमारा उतना ही अभिप्राय होता है जितना तत्सम्बन्धी व्यापारों से निर्देशित होता है। अवधारणा तत्सम्बन्धी व्यापारों के समवाय की पर्याय है।'[१]

जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, भूत-विज्ञान की अवधारणाएँ प्रमाणीकरणीय हैं, उनका अर्थ उनके प्रमाणीकरण की प्रक्रिया का पर्याय है। और यदि हम परमार्थवाद (Metaphysics) की भ्रान्ति से बचना चाहते हैं तो अवधारणाओं के सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण हमें स्वीकार करना ही होगा। यहाँ शायद तर्कात्मक भाववादी अपना जय घोष करना चाहेंगे। किन्तु हम उनसे जहाँ सहमत नहीं हो सकते वह है उनकी इन व्यष्टि व्यापारों के सम्बन्ध में मूकता। ये व्यष्टि-व्यापार हमारे सद्य: प्रदत्त अनुभव ही हैं जो अन्य किसी व्यापार द्वारा पुष्टि की अपेक्षा नहीं रखते। किन्तु सिद्धांत पुन: प्रमाणीकरणीय नहीं हैं, अर्थात् इनका अर्थ उनके प्रमाणीकरण के प्रसंग से नहीं है। 'दो वस्तुएँ समान गुण होने पर समान

व्यवहार करती हैं' यह वाक्य लें। यह वाक्य एक या हजार उदाहरणों से भी अपूर्णतया भी पुष्ट नहीं होता। दूसरे शब्दों में, यह अनुमान वाक्य (Inference Sentence) नहीं है, जैसे जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ वह्नि होती है', यह वाक्य है। 'तांबा बिजली कंडक्ट करता है और जो जो धातु खंड ये व्यवहार करते हैं तांबा है'। यहाँ दूसरा वाक्य-खंड 'जो जो धातु-खंड', केवल स्पष्टीकरण के लिए है, अन्यथा प्रथम वाक्य में ही दूसरा वाक्य निहित है। यहाँ पर 'दो पिंड समान गुण वाले होने पर ही समान व्यवहार करते हैं' यह वाक्य 'सब ताम्र-खंड' समान व्यवहार करते हैं, "सब लौह पिंड समान व्यवहार करते हैं" आदि वाक्यों से उद्भूत नहीं होता, प्रत्युत यह वाक्य इन सब वाक्यों का आधारभूत वाक्य है, क्योंकि "ये सब ताम्रखंड हैं और समान व्यवहार करते हैं" यह वाक्य इस आधार पर उद्भूत है कि "सब समान गुण पिंड समान व्यवहार करते हैं।" अन्यथा दो समान गुण-पिंडों को हम एक ही संज्ञा नहीं दे सकते थे। इस प्रकार, सिद्धांत उद्भावनाओं के नियम हैं जिनके द्वारा हम कुछ मूल अथवा सम्मिश्र (Complex) वाक्यों से अन्य सम्भाव्य अनुभव वाक्यों का अनुमान करते हैं।

सिद्धांत वाक्यों के लिए हम, रेमसे के अनुसार[७], कह सकते हैं कि ये तर्कवाक्य नहीं हैं। ये वाक्य मूलत: ही तर्क-वाक्यों से भिन्न हैं। किन्तु सब सामान्य वाक्य इस प्रकार के नहीं हैं। इस प्रकार सामान्य वाक्य (य) ग (य) = "य ग गुण युक्त है, यह य के सब मूल्यों के लिए सत्य है" असीम मूल वाक्यों से संयोजकों द्वारा उद्भूत होता है। किन्तु असीम वाक्य अचरितार्थ्य, अत: सामान्य वाक्य, संयुक्त (Molicular) वाक्यों से, जहाँ संयोजक सीमित हैं, तर्कत: भिन्न हैं। किन्तु सामान्य वाक्य सिद्धांत वाक्य से इस अर्थ में भिन्न हैं कि सिद्धांत वाक्य प्रागनुभविक (a priori) वाक्य हैं और प्रामाण्य से निरपेक्ष हैं, जैसे "दो समान पिंड सदा समान व्यवहार करते हैं" वाक्य हम देख चुके हैं। यहाँ हम यह नहीं कहना चाहते कि अनुभव से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है, उसके बिना यह केवल 'अविशेष्यों की अभिन्नता' (Identity of Indiscernibles) का पर्याय होकर रह जाता है। किन्तु इसकी उपयोगिता केवल अनुभव में ही है, जहाँ हम केवल इस प्रागनुभविक वाक्य से समधिक समीपता के उदाहरण ही देखते हैं, किन्तु सामान्य वाक्य प्रामाण्य-निरपेक्ष नही हैं, ये केवल अपूर्णत: प्रामाण्य हैं। भूत-वैज्ञानिक सिद्धांत व्यापारात्मक अवधारणायें (Operational concepts) हैं और इस प्रकार प्रामाण्य सापेक्ष हैं।

रेमसे[८] कार्नप[९] तथा श्लिक सामान्य वाक्यों को, उचित रूप से ही, प्रकथन नहीं मानते। उनके अनुसार, सामान्य वाक्य सत्य-प्रक्रियाओं द्वारा प्रामाण्य नहीं हो सकते। विट्गिंस्टाइन के अनुसार "सब तर्क-वाक्य मूल अथवा परमाणु वाक्यों पर सत्य प्रक्रियाओं (Truth functions) द्वारा उपलभ्य हैं।" रेमसे[८] के अनुसार "सब सामान्यवाक्य अनिर्धारित अभ्युपगम हैं-यदि मैं य के सम्पर्क में आता हूँ तो मैं इसे ग कहूँगा।" इस-प्रकार 'सब मनुष्य मरण धर्मा हैं', यहाँ मनुष्य हमारी भाषा का विधेय न होकर वेरियेबल है और यह वाक्य आभ्युपगमिक है।

इस पर विचार करने से पूर्व हम सीमित सामान्य वाक्य पर विचार करेंगे "साथ के कमरे में सब मेज़ बयार के हैं।" यहाँ हम कमरा, मेज तथा बयार शब्दों के स्वरूप निरुपण की उलझन में नहीं पड़ेंगे। यह वाक्य स्पष्टत: सत्य प्रक्रियात्मक (Truth functional) वाक्य है, क्योंकि परिगणित संयोजकों द्वारा प्राप्य है। किन्तु जब तक मैंने प्रत्येक वाक्य को चरितार्थ नहीं किया, अर्थात् जब तक मैंने ग१ (अ), ग२ (अ२), ग३ (अ३) वाक्य प्राप्त नहीं किये तब इस वाक्य में भी अनिर्धारित अभ्युपग ही घटित होते हैं" अर्थात् "मैं वहाँ जिस भी य के सम्पर्क में आऊँगा उसे ग कहूँगा।" "सब मनुष्य मरण धर्मा हैं" तथा "उस कमरे में सब मेज़ बयार के हैं" अब यदि हम इन वाक्यों को विशुद्धत: रूपात्मक तर्क के धरातल पर नहीं देखें तो, इनमें एक और बात द्रष्टव्य है, वह यह है कि इनमें घटित अनिर्धारित हमारी पूर्व स्थापना के अनुसार सार्थक हैं, अर्थात् यदि हम ग१ (अ१) को जानते हैं तो ग१ (य) वाक्य भी हमारे लिए सार्थक

है। जब मैं कहता हूँ कि "उस कमरे के सब मेज़ बयार के हैं" तब यह वाक्य प्रमाणीकरणीय अथवा प्रत्याख्येय (Flasifiable) इस आधार पर है कि मैं उन विधेयों का प्रयोग यहाँ कर रहा हूँ जो मुझे पूर्व ज्ञात हैं। यदि साथ के कमरे में जाने पर मैं "यह मेज़ बयार का है", "यह मेज़ बयार का है"........वाक्यों का प्रयोग करता हूँ और एक भी वाक्य ऐसा घटित नहीं होता "यह मेज़ बयार का नहीं है" तो यह सीमित सामान्य वाक्य प्रमाणित हो जाता है। अन्यथा इसका प्रत्याख्यान हो जाता है। असीम सामान्य वाक्य भी इस प्रकार सार्थक है और अपूर्णत: प्रामाण्य भी। जब हम कहते हैं "सब मनुष्य मरण धर्मा है" तब हम इन्हें केवल निर्देश के रूप में प्रयुक्त नहीं करते, कि हमने पहले जितने मनुष्यों को मरते देखा है, वे मरण धर्मा थे, अत: सब मनुष्य मरण धर्मा होंगे। यह वाक्य इस प्रकार प्रामाण्य भी है कि मैं इसे अनुभव में प्रमाणित या अप्रमाणित देख सकता हूँ और ऐसा करता रह सकता हूँ। निर्देशक वाक्य केवल ऐसे वाक्य हैं, जैसे "सब समान पिंड समान व्यवहार करते हैं।" इस वाक्य के आधार पर जब हम स्वीकृत ताम्रपिंड को विद्युत कंडक्ट करते नहीं देखते और इसके मालीक्यूलों की विशिष्ट घनता भिन्न पाते हैं तब समझते हैं कि शायद हमारे परीक्षण में कहीं दोष होगा, जब तक यह निश्चित नहीं हो जाता कि हमारे प्रयोगों में कहीं दोष नहीं था; और यह स्थापित हो जाने पर हम कहते हैं कि वह ताम्र खंड नहीं था। हम ऐसा कभी नहीं कहते कि "या तो प्रयोग में दोष है अथवा वह ताम्र खंड नहीं था। अथवा यह सिद्धांत गलत है कि दो समान पिंड समान व्यवहार करते हैं। हम केवल प्रथम दो वाक्य ही कहते हैं। इसके विपरीत "सब मनुष्य गला काट देने पर मर जाते हैं" वाक्य प्रामाण्य या प्रत्याख्येय है, यद्यपि केवल अपूर्णत: प्रामाण्य है। यहाँ कहा जा सकता है कि जो मनुष्य गला काट देने पर न मरे वह मनुष्य नहीं होगा, अथवा संभव है जब हमें दिखाई दे कि गला काटा गया है तब हम हिप्नोटाइज्ड हों। दूसरी संभावना स्पष्टत: अप्रासंगिक है। हम भ्रमात्मक केसों पर विचार नहीं कर रहे हैं, क्योंकि यह विचार हमारी समस्या के सुलझाव में सहायक नहीं होता। जहाँ तक प्रथम वाक्य का प्रश्न है, यदि हम इसे पूर्व दर्शित प्रागनुभविक सिद्धांत, "दो समान पिंड समान व्यवहार करते हैं", पर प्रतिष्ठित नहीं करते तो, यह वाक्य प्रामाण्य अथवा प्रत्याख्येय है, क्योंकि हम परीक्षा से यह निर्धारित कर सकते हैं कि गला काटने पर भी न मरने वाला व्यक्ति मनुष्य है या नहीं।

अपूर्णत: प्रामाण्य वाक्य की अनेक समस्याएँ हैं। इस समस्या का एक सुलझाव यह है कि हम इन वाक्यों को निगमन वाक्यों (Deductive Sentances) के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास करें, जैसे "तांबा बिजली कंडक्ट करता है" अथवा "मनुष्य मरण धर्मा है" इन वाक्यों में तांबा और मनुष्य की ऐसी परिभाषा निश्चित की जाए कि इनके अभिधेय केवल पुनरुक्ति मात्र रह जाएँ। जैसे तांबे की बिजली कंडक्शन-योग्यता उसके परमाणुओं के ढाँचे में निहित दिखाई जा सकती है, इसी प्रकार है, मनुष्य की जीव वैज्ञानिक विशेषताएँ ऐसी दिखाई जा सकती हैं कि गला कटना मृत्यु को तर्कत: लागू करे, जैसे मेज की परिभाषा यह लागू करती है कि उसका कुछ विस्तार है। वास्तव में हम अनेकानेक ऐसे सामान्यवाक्यों का, जो निगमनतया परिभाषेय हैं, आगमनतया प्रयोग करते हैं, जैसे "मछलियाँ पानी के बाहर जीवित नहीं रहतीं।" अब मछलियों के प्रश्वास् यंत्र ऐसे हैं कि वे जल के बाहर जीवित नहीं सकतीं। यह तथ्य ज्ञात होने पर यह निगमनतया (Deductively) अनुगत होता है कि मछलियाँ जल के बाहर जीवित नहीं रह सकतीं। किन्तु संभवत: यह बात सब सामान्य वाक्यों के लिए नहीं कही जा सकती, उदाहरणत: "भेड़े गतानुगतिकता का व्यवहार करते हैं।" अथवा "कोयल प्रवासी पक्षी है।" संभवत: दूसरा वाक्य भी निगमनात्मक वाक्य हो सकता है। जैसाकि हमने मनस्तत्त्व में दिखाया है, प्राणियों की प्रवास-प्रवृत्ति शरीर वैज्ञानिक आधार पर निर्धारित की जा सकती है, और इस प्रकार, अनेकानेक सामान्य वाक्य निगमनात्मक वाक्य दिखाए जा सकते हैं। वास्तव में भूत विज्ञान का आदर्श

भविष्य-वाक्यों का यही निगमनात्मक निर्धारण है। किन्तु प्रतीत्या कम से कम कुछ वाक्य अवश्य निगमनात्मक वाक्यों के रूप में विश्लेषित नहीं किये जा सकते, उदाहरणत: 'भेड़े गतानुगतिकता का व्यवहार करते हैं' यह वाक्य संभवत: निगमनात्मकतया प्रामाण्य नहीं दिखाया जा सकता। कुछ वैज्ञानिक प्राणियों की ऐसी प्रवृत्तियों को आनुवंशिकतया मूलित (Rooted in Hereditory Material) स्वीकार करते हैं, और जैसा कि हमने 'मनस्तत्त्व' में दिखाया है, आनुवंशिकता की अवधारणा भूत-वैज्ञानिक तथा निर्धार्य है।'[०] इस प्रकार से कहा जा सकता है कि यद्यपि हम सब सामान्य वाक्यों को निगमनतया निर्धारित नहीं कर सकते, किन्तु यह केवल हमारे वर्तमान ज्ञान की सीमा है।

किन्तु इससे हमारी स्थिति में कोई अंतर नहीं पड़ता। हम इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए स्पष्ट रूप से निगमन से निर्धार्य (Entailment) वाक्य ही लेंगे। हम इस वाक्य में प्रयुक्त मछली शब्द की परिभाषा पर किस प्रकार पहुँचते हैं ? हम एक मछली को पानी के बाहर तड़पते देखते हैं, फिर दूसरी को देखते हैं और इस प्रकार अनेकों को देखते हैं। इस प्रकार हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि मछलियाँ किसी कारण से पानी के बाहर जीवित नहीं रह सकतीं।

इसके पश्चात् हम मछली के शारीरिक यंत्रों को देखते हैं और पाते हैं कि-

१. इस मछली के प्रश्वास्-यंत्र (गिल्ज) ऐसे हैं कि वह पानी के बाहर सांस नहीं ले सकती।

२. एक जाति के सब व्यक्तियों के प्रश्वास्-यंत्र समान होते हैं।

३. सब मछलियों के प्रश्वास्-यंत्र ऐसे हैं कि वे पानी के बाहर सांस नहीं ले सकतीं।

यहाँ स्पष्टत: वाक्य१ परीक्षण वाक्य है और अतएव आगमन वाक्य है। किन्तु इसे हम निगमन वाक्य के रूप में भी प्रस्तुत कर सकते हैं। यथा

१. मछलियों के प्रश्वास् यंत्र लंग्ज न हो कर गिल्ज (Gills) हैं।

२. गिल्ज वायु से ऑक्सीजन प्राप्त करने तथा कार्बन डायोक्साइड प्रक्षेपन में असमर्थ हैं।

३. मछलियाँ वायु में सांस नहीं ले सकतीं।

यहाँ प्रथम वाक्य परिभाषा वाक्य है, द्वितीय वाक्य भी प्रागनुभविक वाक्य अथवा परिभाषा वाक्य है, अत: परिणाम मात्र पुनरुक्ति हो जाता है।

किन्तु इतना होने के बावजूद हम ऐसे वाक्यों को निगमन वाक्य नहीं कह सकते। प्रथम वाक्य ''मछलियों के प्रश्वास् यंत्र ऐसे हैं कि वह पानी के बाहर सांस नहीं ले सकतीं'' कुछ परीक्षणों का परिणाम हैं और ये परीक्षण-वाक्य हमारे अनुभव वाक्य हैं; और कोई अनुभव वाक्य दूसरे वाक्य को लागू नहीं करता। इसी प्रकार, ''मछलियों के प्रश्वास-यंत्र लंग्ज न होकर गिल्ज हैं'' सामान्य अनुभव वाक्य है, क्योंकि हम केवल परीक्षण से ही जानते हैं, द्वितीय वाक्य परीक्षण वाक्य है, अत: तृतीय वाक्य भी अनुभव वाक्य है।

जैसा कि हम पीछे कह आए हैं, प्रागनुभविक सिद्धांत ''दो समान पिंड समान व्यवहार करते हैं'' केवल समानता की कठोरतम परिभाषा के द्वारा ही प्रागनुभविक है, और तब इसका अनुभव से कोई सम्बन्ध नहीं है। अनुभव में हम केवल अनुभव की पुनरावृत्तियों के द्वारा ही इस परिणाम पर पहुँचते हैं। इससे हमारा पूर्व विवेचन, कि हम अपने प्रयोगों में इस प्रागनुभविक वाक्य को आधार बनाकर प्रवृत्त होते हैं, खंडित नहीं हो जाता, क्योंकि यह केवल वाक्यों के तार्किक ढाँचे का विवेचन है। यह विवेचन हमें यह बताता है कि जब हम एक मछली पर परीक्षण करते हैं और उसके पश्चात् उसके प्रश्वास् यंत्रों को गिल्ज पाते हैं, तो दूसरी मछली पर उसी प्रकार के प्रयोगों में क्यों प्रवृत्त होते हैं, क्योंकि हम यह पूर्व धारणा रखते हैं कि यदि यह मछली है तो इसके गिल्ज होंगे, यदि गिल्ज हैं तो यह वायु में श्वास् लेने में असमर्थ होगी। अब संभव है कि जिसे हम मछली समझते हैं वह मछली न हो। यदि शेष सब बातों में यह मछली

हो तो भी इसके लंग्ज हों, और यदि गिल्ज ही हों तो भी यह वायु में श्वास लेने में समर्थ हो। इस तर्क की दुर्बलता को हम जानते हैं। उदाहरणत: यदि विशुद्ध तांबा हम लें और उस पर विद्युत परीक्षण कर हम उसकी रिसिस्टेंस की दर नापें तो हम कह सकते हैं कि विशुद्ध तांबे के सब खंडों की विद्युत रिसिस्टेंस भी बिल्कुल इतनी ही होगी।

अत: स्पष्टत: ऐसे वाक्यों का अपूर्णत: प्रामाण्य यदि किसी बात में है तो वह केवल हमारे सद्य: अनुभवों में। हमारी आनुभविक भाषा में कोई अनुभव वाक्य ग१ (अ$_{१}$) ग२ (अ२) को लागू नहीं करता। अर्थात् 'ग१ (अ१) ⊃ ग२ (अ२)' हमारी भाषा में एक रचना है। कुछ दार्शनिक 'वर्ण विस्तार को लागू करता है' ऐसे वाक्यों को स्वीकार करते हैं, किन्तु हम, गस्टाव वर्गमान[11] के अनुसार, वर्ण तथा विस्तार दोनों को आनुभव-भाषा का अपरिभाषित विधेय (Undefined descriptive predicates) मानते हैं। अत: यदि ग१ (अ१) ⊃ ग२ (अ२) निर्माण हमारी भाषा में स्वीकृत नहीं है तो संयोजकों की कोई संख्या सामान्य वाक्य को लागू नहीं करती। प्रतीकों में -

$$ग१ (अ१), ग२ (अ२), ग_{न}(अ_{न}) \supset (य)\, ग\, (य)$$

वाक्य गलत है। हमने मनस्तत्त्व में दिखाया है कि किस प्रकार ग्रह-नक्षत्रों की देश-काल स्थिति-सम्बन्धी भविष्यवाणियाँ आगमनात्मक हैं।[12] किन्तु यदि हम सूर्य की देश-काल स्थिति को प्रामाण्य-सापेक्ष नहीं रखें और इसे गाणितिक भूत विज्ञान तक सीमित रखें, तब यह नि:संदेह पुनरुक्ति वाक्य है, किन्तु उस अवस्था में भूत विज्ञान अनुभव विज्ञान नहीं है। भूत विज्ञान के अनुभव विज्ञान होने लिए उसके वाक्यों को अनिवार्यतया संवेद-विषयों पर आश्रित होना चाहिए।

इस प्रकार हम सामान्य वाक्यों को तब तक पुनरुक्ति वाक्य नहीं कह सकते जब तक वे अनुभव वाक्य हैं, यद्यपि स्वयं यह वाक्य पुनरुक्ति वाक्य है।

अब यदि सामान्य वाक्य पुनरुक्ति वाक्य नहीं है तो यह अपूर्णत: प्रामाण्य है। जैसा कि हम अभी देख चुके हैं, ये वाक्य संयोजकों की किसी भी संख्या द्वारा लागू नहीं होते। इन वाक्यों का विश्लेषण हम उस प्रणाली से कर सकते हैं जिससे ह्वाइटहैड-रसल ने ज्यामितिक बिन्दु तथा ज्यामितिक रेखा का निर्माण किया है। इसकी तुलना हम गणित में सीमा (Limit) की अवधारणा से भी कर सकते हैं। बिन्दु एक केन्द्र के प्रसंग से घटित होने वाले सब वृत्तों का समवाय है, यद्यपि ये वृत्त उसे पूर्णत: बोधित (Dexcribe) नहीं करते। इसी प्रकार १ उन सब भिन्नात्मक अंकों का समवाय है जो इसे उद्देश्य कर घटित होते हैं, किन्तु यह कभी भी उनसे पूर्णत: प्राप्य नहीं है, यद्यपि जितनी ही संख्या इनकी बढ़ती जाती है उतना ही ये सीमा को अधिक डिस्क्राइब करते हैं। यही बात सामान्य वाक्य के लिए भी सत्य है। यह उन सब वाक्यों का समवाय है जो इसके प्रामाण्य वाक्य हैं, यह उनसे अतिरिक्त कुछ नहीं है, यद्यपि यह उन सब से मिलकर भी अधिक है। इसप्रकार, सामान्य वाक्य प्रामाण्य वाक्य हैं, यद्यपि यह केवल अपूर्णत: प्रामाण्य है।

रसल[13] के अनुसार, सामान्य निषेध वाक्य अनेक बार हमारे सद्य: अनुभव के वाचक रूप में भी घटित होते हैं, जैसे "इस कमरे में कोई मनुष्य नहीं है।" यह वाक्य पूर्णत: प्रामाण्य तथा पूर्णत: प्रत्याख्येय है, जैसे हम यदि इस कमरे के प्रत्येक स्थल की अच्छी प्रकार से छान-बीन कर लेते हैं और कोई मनुष्य यहाँ नहीं पाते, तो यह वाक्य पूर्णत: प्रमाणित हो जाता है। और यदि कहीं से एक भी मनुष्य निकल आता है तो इसका पूर्णत: प्रत्याख्यान हो जाता है। किन्तु "यहाँ कोई मनुष्य नहीं है", हमारे विचार में, उचित (Genuin) सामान्य वाक्य नहीं है और यदि यह उचित सामान्य वाक्य है तो यह पूर्णत: प्रामाण्य नहीं है। इसे हम दो रूपों में निम्न प्रकारेण प्रस्तुत कर सकते हैं-(१)"यह भी मनुष्य नहीं है, यह भी मनुष्य नहीं है......" इत्यादि, जब हम कमरे की प्रत्येक वस्तु का परिगणन करते हैं। अब स्पष्टत: यह उसी प्रकार का

वाक्य है जैसा "इस कमरे में सब मेज बयार के हैं" वाक्य है। यह वाक्य है कुछ परिगणित वाक्यों "यह मेज है और बयार का है, यह मेज है और बयार का है......." के पश्चात् पूर्णत: प्रमाणित हो जाता है। यदि यहाँ कोई शीशम की कुर्सी पड़ी हो तो यहाँ कहा जा सकता है "यह बयार की नहीं है, और यह मेज नहीं है*।" इस प्रकार यहाँ कुछ परिगणित निषेध-वाक्य भी घटित हो सकते हैं। हम एक दूसरे प्रकार से भी यहाँ अग्रसर हो सकते हैं, यथा "यहाँ कोई मेज चीड़ का नहीं है....." इस वाक्य से। यह वाक्य एक दम रसल के तथाकथित नकारात्मक सामान्य वाक्य जैसा है। यहाँ हम प्रामाण्य प्रक्रिया में इस प्रकार प्रवृत्त होंगे "यह मेज है और चीड़ का नहीं है......." आदि, और यह प्रक्रिया कुछ वाक्यों के पश्चात् समाप्त हो जायेंगे। इस प्रकार, ये तथाकथित सामान्य निषेध वाक्य वास्तव में सामान्य वाक्य नहीं हैं। सामान्य वाक्य ये तब हो सकते हैं यदि वाक्य हो "यहाँ कोई मेज नहीं है" और इसका विश्लेषण हम इस प्रकार करें-"यहाँ मेज$_1$ नहीं है, यहाँ मेज$_2$ नहीं है".....आदि ! और इस प्रकार हमारी सूची कभी समाप्त नहीं होगी*। अत: कोई सामान्य वाक्य पूर्णत: प्रामाण्य नहीं हो सकता। सामान्य वाक्य केवल पूर्णत: प्रत्याख्येय है, और अस्तित्त्व वाक्य केवल पूर्णत: प्रामाण्य हैं।

हमने ऊपर सामान्य वाक्यों के लिए देखा है कि ये हमारे किसी अनुभव के बोधक नहीं हैं, "सब मनुष्य" अथवा "कोई मनुष्य नहीं" ये हमारे किसी अनुभव का बोध नहीं कराते। क्या यही बात अस्तित्त्व वाक्यों के लिए भी कही जा सकती है ? क्या "मैंने एक कुत्ता देखा था" यह वाक्य मेरे किसी अनुभव के सम्बन्ध में उचित रूप से प्रकथन करता है ?

जैसा कि हमने पीछे देखा है, अस्तित्त्व वाक्य अ (य) ग (य) "मैंने एक कुत्ता देखा या "अथवा कोई बाहर है", किसी भी प्रामाण्य वाक्य "ग$_1$ (अ$_1$) द्वारा पूर्णत: प्रामाण्य हैं। अस्तित्त्व वाक्य वास्तव में हमारे अनुभवों का ब्लर्ड चित्र है, जिसकी कैश वेल्यू (Cash Value) प्रंसगानुसार कोई भी एक वस्तु हो सकती है। इसे हम 'सामान्य स्मृति चित्र' कह सकते हैं। जैसा कि हमने मनस्तत्त्व में विस्तार पूर्वक देखा है, "व्यक्ति सामान्य" का वास्तव में ही एक चित्र घटित होता है, जहाँ सामान्य का अभिप्राय सबसे न हो कर केवल उस विशिष्ट चित्र से जिसके साथ स्मृति के देश-काल अन्वय घटित नहीं होते।[14] "जैसाकि प्राय: कहा जाता यह चित्र कुछ इसका, कुछ उसका मिलाकर घपला नहीं होता।"

इस विवेचन के पश्चात् हम अब प्रामाण्य तथा अर्थ के प्रश्न को पुन: देखेंगे कि किसी वाक्य के प्रामाण्य से हमारा क्या अभिप्राय है ? सुविधा के लिए हम एतदर्थ अस्तित्त्व वाक्य को लें "साथ के कमरे में कुत्ता है।" अब यदि हम साथ के कमरे में जाएँ और वहाँ कोई कुत्ता हो तो यह वाक्य से प्रमाणित हो जाता है, अन्यथा असत्य हो जाता है। यहाँ स्पष्टत: इस वाक्य की प्रमाणक घटना वह है जो हमारे साथ के कमरे में जाने से घटित होती है। यह घटना हमारे विशिष्ट संवेद हैं। सामान्यत: तर्कात्मक भाववादियों के अनुसार, ऐसे वाक्यों का अर्थ इनके प्रमाणीकरण, परीक्षण अथवा पुष्टीकरण की प्रक्रिया है। इस प्रकार, "साथ के कमरे में कुत्ता है" यह वाक्य उस सारी प्रक्रिया के प्रसंग से सार्थक है जो इसके प्रमाणीकरण के क्रम में घटित होती है। किन्तु प्रश्न किया जा सकता है कि हम इस वाक्य द्वारा इस विशेष प्रमाणीकरण की प्रक्रिया में ही क्यों प्रवृत्त होते हैं ? इसके अतिरिक्त, जब हम साथ के कमरे में जाते हैं तो कुत्ता ही हमारे वाक्य को प्रमाणित क्यों करता है ? बिल्ली क्यों नहीं करती ? इससे स्पष्ट है कि यह वाक्य प्रमाणीकरण से पूर्व और निरपेक्ष ही सार्थक है। प्रमाणीकरण की प्रक्रिया केवल इन वाक्यों के सत्यासत्य

---

* ये वाक्य इस प्रकार क हैं-'ग$_1$ (-य$_1$)', इन्हें सम्मिश्र वाक्य नहीं समझा जाए।

* इससे यह नहीं समझना चाहिए कि हम रसल के नकारात्मक तथ्यों (Negative facts) को स्वीकार कर रहे हैं।

विचार में प्रासंगिक है। यहाँ कार्नप से एक अत्यन्त सुन्दर उद्धरण देने का लोभ हम संवरण नहीं कर सकते। यहाँ वे असाधारण रूपेण उदार हैं:-

"जब हम वाक्य व को पुष्टीकरणीय कहते हैं, तब हमारा यह अभिप्राय नहीं होता कि वास्तविक परिस्थिति में उसकी पुष्टि संभव है। हम केवल किन्हीं सामान्य परिस्थितियों में इसकी पुष्टि की संभावना के सम्बन्ध में कह रहे होते हैं, चाहे वे वास्तविक हों या नहीं हों। इसप्रकार, क्योंकि मेरी पेंसिल काली है और मैं चाक्षुष प्रत्यक्षों द्वारा यह निश्चित कर सकता हूँ कि यह काली है, लाल नहीं, अत: मैं वाक्य "मेरी पेंसिल लाल है" की सकारात्मक पुष्टि नहीं कर सकता। तो भी हम इस वाक्य को पुष्टि योग्य मानते हैं और पूर्णत: पुष्टि योग्य मानते हैं, क्योंकि हम उन प्रत्यक्षों का निर्देश करने में समर्थ हैं जो वस्तुत: अविद्यमान हैं किन्तु जो संभाव्य रूप से इसकी पुष्टि कर सकते हैं। क्या वास्तव में ऐसी परिस्थितियाँ है कि किसी वाक्य के परीक्षण सकारात्मक परिणाम को नियत कर सकें, अर्थात् व की पुष्टि नियत कर सकें, अथवा इसके निषेध को नियत कर सकें, अर्थात्-व को पुष्ट कर सकें? यह पुष्टि-योग्यता के लिए, परीक्षणीयता के लिए तथा वाक्य के अर्थ के लिए अप्रासंगिक है, यद्यपि सत्य के प्रश्न के लिए निर्णायक है। और इस प्रकार 'Theorem 8-' If 'P' is introduced on the basis of observable predicates, 'P' is comfirmable. If the introductive chain has molecular form 'P' is completely confirmable.'[15]

कार्नप के इस उद्धरण से हम शब्दश: सहमत हैं, किन्तु खेद यह है कि कार्नप रूपात्मक शैली (Formal Mode) के आग्रह से इस अत्यन्त संगत स्थिति के परिणाम तथा इसे संगत बनाने वाले आधारों को स्वीकार नहीं करते।

उपर्युक्त प्रस्थापनानुसार, सामान्य, अस्तित्त्व तथा अपुष्ट्य वाक्य भी सार्थक हैं यदि 'ग' अनुभव विधेय के रूप में घटित होता है; और इस प्रकार, "मनुष्य मरण धर्मा है" किसी भी एक वाक्य "राम मरण धर्मा है" के घटित होने पर सार्थक है, क्योंकि हम इसमें प्रयुक्त प्रत्येक शब्द का, सिवाय 'सब' के, अर्थ जानते हैं।,

यही बात अस्तित्त्व वाक्य "कोई बाहर है" के लिए भी कही जा सकती है। यहाँ हम प्रत्यक्ष के घटित होने की आशा करते हैं, यह उस मानसिक स्थिति का द्योतक है जिसे हम प्रत्याशा की अवस्था कहते हैं। यदि बाहर जाने पर हम मोहन, सोहन, कुत्ता, बिल्ली किसी को भी पातें हैं, तो हमारा यह मानसिक तनाव सन्तुष्ट होता है, अन्यथा हम अपने आपको भ्रम में समझते हैं। जैसाकि कार्नप के अर्थ सम्बन्धी दो उद्धरणों से स्पष्ट है, वे इन शब्दों और वाक्यों अथवा मूल वाक्यों का तर्क-प्रक्रियाओं आदि से स्वतंत्र रूप से अर्थ युक्त माने बिना प्रमाणीकरण की प्रक्रिया ही निराधार हो जाती है। ग$_1$ (अ$_1$) "यह कुत्ता है" वाक्य इसलिए सार्थक नहीं है कि इसका अनुवाद "This is dog" वाक्य में किया जा सकता है, अथवा कुत्ता= अमुक-अमुक प्रकार की प्रकृति का प्राणी विशेष, अथवा कुत्ता= उसी प्रकार का प्राणी जैसा देश-काल में अमुक स्थिति में प्राणी, इस प्रकार के वाक्यों में किया जा सकता है। और यह स्वयं कार्नप की इस स्थापना के कि "मूल वाक्यों तथा प्रत्यक्षों में कोई सम्बन्ध आवश्यक है" विपरीत है। वास्तव में वे कहते हैं कि "The Descriptive primitive predicates have to be observable[१६]" किन्तु इसे वे चित्र शैली (थिंगलेंग्वेज) कहते हैं और इसे रूपात्मक भाषा में रूपान्तरित करना आवश्यक समझते हैं, जिसके मूल वाक्यों में प्रत्यक्ष आदि वाक्य घटित नहीं होते।

अन्त में दो शब्द अनुभववाद की मूल प्रतिज्ञा के सम्बन्ध में कहना भी अप्रासंगिक नहीं होगा। वास्तव में, इन्वेस्टीगेशन्स के विट्गिन्स्टाइन तथा उनके पश्चात् आने वाले अनेक अनुभववादी दार्शनिक दर्शन का कार्य केवल भाषीय विश्लेषण को ही मानने लगे हैं। किन्तु हमारे विचार में अनुभववाद इस

प्रतिज्ञा के बिना कि वाक्य अपना अर्थ अनुभव से ग्रहण करते हैं, अनुभववाद नहीं हैं। अब यद्यपि अनुभववादी मात्र इस प्रतिज्ञा तक ही अपने आप को सीमित रख सकता है कि निगमन-तर्क वाक्यों (डिडक्टिव प्रापोजीशन्स) के अतिरिक्त सब वाक्य अपना अर्थ अनुभव से ग्रहण करते हैं, किन्तु अनुभववाद ने एक अन्य प्रतिज्ञा भी इस प्रतिज्ञा के साथ स्वीकार की है- और वह है कि अनुभव वास्तव में केवल ऐन्द्रिय अनुभव (संवेद) ही है तथा अन्य सब अनुभव इन अनुभवों में विश्लेष्य हैं। हमने स्वयं इस प्रतिज्ञा की पुष्टि की तथा इसके औचित्य का प्रतिपादन किया है।[१७] हमारे विचार में, अनुभववाद की इन दोनों प्रतिज्ञाओं का प्रतिपादन तब तक असम्भव है जब तक हम मनोविज्ञान की शरण नहीं लेते। प्रथम प्रतिज्ञा को लें-'वाक्यों का अर्थ उन अनुभवों के प्रसंग से है जिनके वे वाचक हैं'। इस प्रतिज्ञा को हम तब तक स्वीकार नहीं कर सकते जब तक हम भाषा के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को ध्यान में नहीं रखते। द्वितीय प्रतिज्ञा-कि 'सब अनुभव वास्तव में संवेदनुभवों में विश्लेष्य हैं' स्पष्टत: मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के बिना नहीं स्थापित की जा सकती। अत: जो दार्शनिक, जिनमें विट्गिन्स्टाइन तथा तर्कात्मक भाववादी प्रमुख हैं, आनुभविक तथ्यों (एम्पीरीकल फैक्टस) को दर्शन से पूर्णत: वहिष्कृत करना चाहते हैं, अनुभववाद की प्रतिज्ञा को केवल सुविधापेक्षी (Arbitary) ही स्वीकार कर सकते हैं'' उसे एक मात्र उचित दृष्टिकोण नहीं स्वीकार कर सकते। इसके अतिरिक्त, दर्शन का कार्य यह कदापि नहीं है कि वह पूर्व प्रतिज्ञा (प्रेमिसिस) को बिना प्रश्न किये स्वीकार कर ले, यह विज्ञान को ही सुविधा है; और तर्कात्मक भाववादी अनुभववाद की मूल प्रतिज्ञा को बिना प्रश्न के ही स्वीकार करना चाहते हैं। किन्तु जैसाकि स्टेस ने अत्यन्त सुन्दर रूप से स्थापित किया है "वे दार्शनिक, यदि ऐसे कुछ दार्शनिक हैं, जो एक साथ ही ये दो प्रकथन (स्टेटमेंट्स) स्वीकार करते हैं (१) कि दर्शन को आनुभविक तथ्यों का प्रकथन न करके केवल 'अर्थ' का विश्लेषण करना चाहिये, तथा (२) यह विश्लेषण अनिवार्यतया सांवेदनिक अनुभवों में समाप्त होना चाहिये, स्वयं अपनी ही प्रतिज्ञाओं में बाध करते हैं।"[१८] और यह बाध विट्गिन्स्टाइन से ले कर एयर तक सब में मिलता है। उदाहरणत: एयर के अनुसार यह प्रश्न कि भौतिक पदार्थ की क्या प्रकृति है, वास्तव में भौतिक पदार्थों की परिभाषा मांगता है। और यह, जैसा कि हम शीघ्र देखेंगे, यह प्रश्न करना है कि कैसे पदार्थ सम्बन्धी-प्रकथन संवेदों सम्बन्धी प्रकथनों में अनूदित किये जा सकते हैं।"[१९] किन्तु क्यों इस प्रश्न का उत्तर यही हो सकता है ? क्यों हम इसी रूढ़ि को स्वीकार करें ? वास्तव में, दर्शन का कार्य परिभाषाएँ देने तक सीमित करने के कारण ही विट्गिन्स्टाइन को यह कहना पड़ा कि उसने जो कुछ कहा है, यदि वह सत्य है तो, वह अर्थहीन है (The cheif proposition of Philosophy is that Phliosophy is nonsence)। किन्तु यदि हम स्वीकार करें कि मनुष्य शब्द (Ostensive word) का अर्थ है, अमुक-अमुक प्रकार का प्राणी विशेष, और इस विवरण में अनुभव-वाक्य घटित होते हैं, तथा 'मनुष्य' शब्द का अर्थ है मनुष्य, अर्थात् संकेत शब्द (Ostensive-word); तब हमें उपर्युक्त पाराडोक्सीकल परिणाम पर पहुँचने की आवश्यकता नहीं है।[२०] रूढ़ि ऐसे प्रसंगों में स्वीकार करनी चाहिये, न कि पूर्व प्रतिज्ञाओं की स्वीकृति में ही।

दर्शन का कार्य शाब्दिक परिभाषाएँ देना भी है, बहुत से वाक्य वस्तु-शैली (Material Mode) में भ्रान्ति जनक होते हैं। उदाहरणत: 'एक वस्तु एक ही क्षण में दो स्थानों पर नहीं रह सकती' वाक्य के अर्थ का शाब्दिक रूप प्रदर्शित करना आवश्यक है। किन्तु, हाथी ! इसकी शाब्दिक परिभाषा एक दम अनुचित है। हमारे विचार में, दर्शन का कार्य पूर्व प्रतिज्ञाओं का औचित्य स्थापित करना तथा अर्थ का विश्लेषण दोनों ही हैं। अन्यथा हम यह समझ नहीं सकेंगे कि 'वाक्य का अर्थ प्रत्यक्षों के प्रयोग से है' इस प्रकथन का क्या औचित्य है।

यहाँ भाषा सम्बन्धी एक अन्य भ्रान्ति का निराकरण भी आवश्यक है। "इन्वेस्टीगेशंस" के

विट्गिंस्टाइन यह दिखाना ही दर्शन की इतिकर्त्तव्यता समझते प्रतीत होते हैं कि वह शब्दों के विभिन्न प्रयोगों का विवरण प्रस्तुत करे। किन्तु यह कार्य दर्शन का नहीं है। दार्शनिक को जहाँ व्याकरण से अपनी तत्त्व-मीमांसा निर्धारित नहीं कर लेनी चाहिये, वहाँ उसे शब्दों के साधारण प्रयोग से भी निर्धारित नहीं होना चाहिये। इसे हम एक उदाहरण से स्पष्ट करेंगे- 'मूर ने एक आदर्शवादी धारणा की, कि काल यथार्थ नहीं हैं, परीक्षा करते हुए प्रश्न किया कि 'यथार्थ' शब्द का क्या अर्थ है ? किन्तु वे इस प्रश्न पर एक विचित्र ढंग से विचार करते हैं। हम यथार्थ शब्द से अनेक वस्तुओं को विशेषित करते हैं- हम यथार्थ (काल्पनिक के विपरीत) लाभ के सम्बन्ध में कहते हैं, हम यथार्थ (बनावटी के विपरीत) दाढ़ी की बात करते हैं, हम यथार्थ (खिलौने के विपरीत) पिस्तौल की बात करते हैं, हम यथार्थ (भ्रमात्मक के विपरीत) रक्त मूषिकों की बात करते हैं। अर्थात्, हम इस शब्द का प्रयोग विभिन्न प्रकार की विषमताओं, दोषों अथवा भ्रमों के परिहार के लिये करते हैं। और यह केवल प्रसंग से स्पष्ट होता है कि हम विशेष प्रसंग में किस का परिहार करना चाहते हैं। किन्तु मूर प्रश्न इस प्रकार करते हैं- ''वह कौन सा ऐसा गुण है जो उन सब वस्तुओं में समान है जिन्हें हम यथार्थ कहते हैं ?' अब यह पर्याप्त स्पष्ट है कि ऐसा कोई गुण नहीं है। जब मैं कहता हूँ कि एक अवयस्क अपराधी की जेब में एक यथार्थ पिस्तौल था, और कि प्रशिक्षणालय में उसका पर्याप्त काल तक रहना उसके लिये यथार्थ रूप से लाभदायक होगा, तो मेरा यह कदापि अभिप्राय नहीं है कि पिस्तौल तथा लाभ में कुछ समान धर्म है। मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि पिस्तौल खिलौना नहीं है तथा लाभ उपेक्षणीय नहीं है। तब मूर ने, जैसा कि उसके प्रश्न की रचना से स्पष्ट होता है, यह क्यों स्वीकार किया कि 'यथार्थ सब प्रयोगों में एक ही धर्म का वाचक है ?''[११] वार्नोक कहते हैं कि ऐसा मूर ने व्याकरण से प्रभावित होकर कहा है। 'यथार्थ' यह क्योंकि एक विशेषण है, अत: वे समझते हैं कि यह जिस-जिसको विशेषित करता है उन सबमें एक समान धर्म हैं उनकी यह आपत्ति एकदम उचित है। किन्तु इसीलिये यह कहना कि दार्शनिक का कार्य केवल यह देखना है कि शब्द का प्रयोग सामान्य लोग किन-किन प्रसंगों में करते हैं, तो यह एक दम अनुचित है। काल यथार्थ है या नहीं, यह प्रश्न दार्शनिक दृष्टि से अनुपयुक्त भी हो सकता है और विश्लेष्य भी हो सकता है। अनुपयुक्त यह तभी होगा 'जब काल की यर्थाथता' यह गलत प्रयोग हो, जैसे, 'वर्ण स्वरित है अथवा नहीं' यह गलत प्रश्न है। किन्तु यदि यह ऐसा प्रश्न नहीं है और इसकी परिभाषा अथवा विवरण दिया जा सकता है, तब यह प्रश्न एक विशेष अर्थ रखता है तब यह प्रश्न उस विशेष दर्शन प्रणाली अथवा तत्त्वमीमांसा से निर्धारित होता है जो इसके प्रवक्ता की है। अब कौन सा विश्लेषण स्वीकार्य अथवा अस्वीकार्य है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि किस दर्शन प्रणाली की पूर्व प्रतिज्ञाएँ स्वीकार्य हैं। यथार्थ शब्द के कितने प्रयोग हैं, यह अप्रासंगिक है, क्योंकि जब कोई पूछता है ''काल यथार्थ है ?'' तब वह यह नहीं कहना चाहता कि यथार्थ शब्द के कितने प्रयोग हैं। पिस्तौल यथार्थ है, अर्थात् खिलौना नहीं है, यथार्थ का यह प्रयोग किसी भी दार्शनिक समस्या में उत्पन्न नहीं होता। यहाँ यथार्थ का तात्त्विक अर्थ अभीष्ट है। आधुनिक दर्शन ने अस्तित्त्व के प्रश्न को अनुपयुक्त बताकर और यथार्थ अस्तित्त्व-वाचक अर्थ को इस प्रकार अर्थहीन प्रमाणित करके बहुत बड़ा कार्य किया है। किन्तु अनुभववाद का औचित्य इससे स्थापित नहीं होता कि हम अनुभववाद की ही पूर्व प्रतिज्ञाओं का तिलांजलि देकर केवल भाषीय पुनर्रचना को दर्शन की इतिकर्त्तव्यता मान लें। भाषीय पुनर्रचना हमें कुछ विचित्र भ्रमों से मुक्त करने में इस प्रकार सहायक होनी चाहिये कि भ्रान्ति की अल्प से अल्पतर सम्भावना रह जाये। रसल का डिस्क्रिप्शंस का सिद्धांत, तथा एंटेलमेंट्स का अस्तित्त्व की अवधारणा से निरपेक्ष होना, हमें अनेक प्राचीन समस्याओं से सदा के लिये मुक्त कर देते हैं, जैसा कि पीछे हम देख आए हैं। यह केवल अनुभववाद को अधिक सुदृढ़ भित्ति पर प्रतिष्ठित करने के लिये है। किन्तु संदेहवाद के चेलेंज को

परास्त करने के लिये अनुभववाद की प्रतिज्ञाओं को ही छोड़ देना और विशुद्ध भाषीय पुनर्रचना को ही दर्शन का कर्तव्य मान लेना एक दम अनुचित है। किन्तु उससे भी अधिक अनुचित है सब कुछ छोड़ कर दर्शन मात्र के अस्तित्त्व के औचित्य से इन्कार करना। विट्‌गिंस्टाइन ने शब्दों के सब संभव प्रयोगों के विवरण देने को दर्शन का कर्त्तव्य मान कर यही भूल की है और अनेक दार्शनिकों को इस ओर अग्रसर किया है। ये अनुगामी दार्शनिक, जिनमें राइल, बर्लिन तथा वार्नोक प्रमुख हैं, विश्लेषण तथा रिडक्शन के औचित्य को स्वीकार नहीं करते, ये केवल सामान्य प्रयोगों के संकलन तक अपना कार्य सीमित रखना चाहते हैं।

यथार्थ शब्द को ही लें। अब यथार्थ शब्द के विभिन्न प्रयोग यह कदापि प्रमाणित नहीं करते कि 'यथार्थ' शब्द किसी भी प्रयोग में किसी गुण विशेष का वाचक नहीं है। मान लें कि जैसे हम लाल वर्ण के दो आभासों के लिए क्रमश: रक्त और लोहित शब्दों का प्रयोग करते हैं, उसी प्रकार हम यथार्थ के विभिन्न प्रयोगों के लिए यथार्थ १-२-३ का प्रयोग करें और कहें कि 'काल यथार्थ है, भौतिक विषय यथार्थ है', इत्यादि वाक्यों में प्रयुक्त यथार्थ शब्द को, जहाँ यह 'प्रतीति' का विपरीतार्थक है, हम यथार्थ१ कहेंगे। तब क्या हम यह कहने में उचित हैं कि जो संज्ञा शब्द 'यथार्थ' इस विशेषण शब्द से विशेषित हैं, उनमें संकेतित विषय किसी धर्म में परस्पर समान हैं ? अथवा, यथार्थ शब्द एक गुण का वाचक है, जो उन सब वस्तुओं में समान रूप से विद्यमान है, जिसके वाचक संज्ञा शब्दों का यह शब्द विशेषण है ? हमारे विचार में इसका उत्तर केवल भाषीय विश्लेषण से नहीं मिल सकते। 'चेतना' इस शब्द को लें। वार्नोक ने इसे भी इसी वर्ग के अन्तर्गत रखा है। किन्तु दर्शन के इतिहास को जानने वाले यह अच्छी प्रकार से जानते हैं कि चेतना को सर्वप्रथम विलियम जेम्स ने चेलेंज किया था, और वह उसने मनोवैज्ञानिक आधार पर किया था, न कि भाषीय आधार पर। यद्यपि यह ठीक है कि इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की पूर्व प्रतिज्ञा की प्रतिष्ठा केवल ज्ञानमीमांसा के द्वारा ही हो सकती है, जैसे अतीत के ज्ञान-सम्बन्धी प्रश्न की। किन्तु हम उचित अनुभव किसे मानें ? यह प्रश्न मनोवैज्ञानिक ही तय कर सकता है।

इस प्रकार भाषीय विश्लेषण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक है, सामान्य प्रयोगों का विवरण भी कभी-कभी आवश्यक होता है, विशेषत: ऐसी अवस्थाओं में जबकि हम अपने विशेष प्रयोग को विलगाना चाहते हों, जैसे मूर यदि यथार्थ शब्द के विभिन्न प्रयोग बता कर अपने विशेष प्रयोग को बिलगा देते तो भ्रान्ति का अवकाश न रह जाता। किन्तु भाषीय विश्लेषण केवल किन्हीं पूर्व प्रतिज्ञाओं की पुष्टि के प्रसंग से ही उचित है, तथा प्रयोगों का विवरण केवल स्पष्टीकरण तथा निश्चितता के लिये है।

कुछ दार्शनिक प्रमाणीकरण सिद्धांत पर उपर्युक्त प्रयोगवाद के अनुसार ही यह दोषारोपण करते हैं कि वाक्यों का प्रयोग अनेक प्रकार से होता है, केवल अभिधानात्मक वाक्यों (Appellation sentences) को सार्थक कहना अतिचार है। उदाहरणत:, विध्यात्मक तथा आर्शीवादात्मक इत्यादि अन्य प्रकार के वाक्यों का प्रयोग भी हम करते हैं, और ऐसे वाक्य न प्रमाणीकरणीय होते हैं और न अर्थहीन ही। इन दार्शनिकों के कथन से हम इस सीमा तक सहमत हैं, यद्यपि इसका अर्थ यह नहीं कि ये वाक्य किन्हीं आनुभविक परिस्थितियों से स्वतंत्र हैं। उदाहरणत:, 'तुम जाओ' यह वाक्य 'राम जाता है' इस वाक्य के प्रसंग से अर्थ ग्रहण करता है। इसमें विधि इस अभिधानात्मक वाक्य में अनुदित की जा सकती है, यथा जाना चाहता हूँ।' किन्तु सम्पूर्ण वाक्य का कोई प्रामाण्य-प्रसंग नहीं हो सकता, क्योंकिइसे इन दोनों का सम्मिश्र-वाक्य नहीं कहा जा सकता। किन्तु दर्शन में केवल अभिधानात्मक वाक्यों का ही प्रयोग होता है। वास्तव में, सब प्रकार के अभिधानात्मक वाक्य भी अभीष्ट नहीं होते–उदाहरणत:, यथार्थ के वे सब प्रयोग दर्शन में अप्रासंगिक हैं जिन के वाध-वाक्यों में 'भ्रान्ति' अथवा इसके पर्यायवाची शब्द घटित नहीं होते। अत: आदि हम किसी दार्शनिक वाक्य का जो अभिधानात्मक रूप में प्रयुक्त हुआ

है, वास्तव में अनभिधानात्मक रूप उद्घाटित करने में सफल हो जाएँ; दूसरे शब्दों में, यदि हम यह दिखा देते हैं कि इसका कोई प्रामाण्य-प्रसंग नहीं हो सकता, अथवा यह वाक्य वास्तव में प्रामाण्य-प्रसंग की अपेक्षा ही नहीं करता, तब हम इसे अर्थहीन वाक्य कहते हैं। उदाहरणत:, यदि कोई कहे, मैंने रक्त मूषिक देखें हैं और उसने वास्तव में स्वप्न अथवा भ्रम में ये मूषिक देखें हैं, तो भी वह पूर्णत: सार्थक वाक्य का प्रयोग कर रहा है क्योंकि इस वाक्य का प्रमाणीकरण-प्रसंग स्पष्ट हैं। किन्तु यदि कोई कहता है 'सत्य' बोलना शुभ है', तब वह अर्थहीन वाक्य का प्रयोग कर रहा है, क्योंकि इस वाक्य का कोई प्रमाणीकरण प्रसंग नहीं है। अब स्पष्टत: यहाँ हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि इस वाक्य का वक्ता केवल प्रलाप कर रहा है, इसका केवल इतना ही अभिप्राय है कि यदि कोई 'शुभ' इस शब्द को अविश्लेष्य-अपरिभाषेय धर्म का वाचक कहना चाहता है, अथवा 'विश्लेषण-दर्शन' की शब्दावली में, इसे अपरिभाषित अभिधेय (Undefined descriptive predicates) कहना चाहता है, तो वह अर्थ-हीन वाक्य का प्रयोग करता है। इस प्रकार, प्रमाणीकरण-सिद्धांत 'अर्थ' के एक दार्शनिक निकष के रूप में सर्वथा न्याय है।

***

संदर्भ-सूची

१. *Rudolf Carnap- Testability and Meaning, P.420, Phil, of Sc. Vol.III, 1936*

२. *वहीं पृ. ४२० ।*

३. *Unity of Science, p.30 I*

४. *मनस्तत्त्व, अध्याय ८,(हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद), तथा "संवेद और भौतिक विषय" दार्शनिक अप्रैल १९५८, तथा "यथार्थवाद" समालोचक, फरवरी १९५८ (आगरा) ।*

५. *An Inquiry into Meaning and Truth तथा Human khowledge.*

६. *Bridman-Logic of Modern Physics.*

७. *Foundations of Mathematics.*

८. *Foundations of Mathematics P 236*

९. *Cornap-Testability and Meaning, (Phil. of Sc. Vol. IX, P. 19).*

१०. *मनस्तत्त्व-जेनेटिक्स और विकास ।*

११. *G. Bergmann-Metaphysis of Logical Positivism.P*

१२. *मनस्तत्त्व-कारणवाद और स्वतन्त्रेच्छा का प्रश्न । इस प्रसंग में रीशन बाश की पुस्तक Rise of Scientific Philosophy विशेषत: द्रष्टव्य है । रीशन बाश संभाव्यता-वाद के प्रवक्ता थे, उपर्युक्त विवेचना का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है ।*

१३. *Human Knowledge- (Ch. General Knowledge).*

१४. *मनस्तत्त्व-शरीर और मन ।*

१५. *Testability and Meaning, Phil. of SC. Vol. 111, P. 457.*

१६. *Phil. of Sc. Vol. IV p.13, पृ. १३.*

१७. *मनस्तत्त्व-शरीर और मन तथा प्रवेश ३ ।*

१८. *Stace-Some Misinterpritations of Empiricism, Mind, Oct,1655*

१९. *Ayer-Language,Truth and Logic, P. 59*

२०. *G. Bergmann-Intentionality, "di Studi filosofici, Roma, 1655 (P.P. 195).*

२१. *Warnock-English Philosophy Since 1900 p. 82.*

सुरेश चन्द्र

तर्कनिष्ठ-प्रत्यक्षवादियों द्वारा प्रस्तावित 'अर्थ' सम्बन्धी उनका यह सिद्धांत ''किसी तर्कवाक्य का अर्थ उससे सम्बन्धित प्रमाणविधि है'' एक समय दार्शनिक क्षेत्र में बहुत प्रभाव रखता था।* जिस प्रकार समकालीन ज्ञान-मीमांसा सम्बन्धी अनेक उक्तियों, समस्याओं तथा सिद्धांतों का उद्गम हम ह्यूम के लेखों में पाते हैं, उसी प्रकार 'प्रमाणीकरण सिद्धांत' Verification Principle का उद्गम भी ह्यूम के लेखों में मिलता है। इस सम्बन्ध में उर्मसन (Urmson) का कथन है, 'हम देख सकते हैं कि प्रमाणीकरण-सिद्धांत, ह्यूम के ज्ञान-मीमांसा सम्बन्धी इस तथ्य को कि सभी अर्थपूर्ण शब्दों की परिभाषा प्रत्यक्षरूप में (ostensively) दी जानी चाहिए, नवीन रूप प्रदान करता है।'[१] कुछ दिन पूर्व प्रकाशित एक लेख में स्टेस (Stace) का भी कुछ ऐसा ही विचार है, 'ह्यूम ने प्रत्यक्षवादी सिद्धांत का प्रयोग केवल अकेले शब्दों तथा प्रत्ययों पर ही किया, जैसे कि 'रक्त', 'नीला', 'स्वर्ण पर्वत', पंखों वाला घोड़ा'...... इत्यादि.......आधुनिक प्रत्यक्षवादियों ने.......इसके प्रयोग का विस्तार वाक्यों तक बढ़ा दिया।'[२] जिस विशिष्ट रूप में प्रमाणीकरण-सिद्धांत को तर्कनिष्ठ प्रत्यक्षवादी मानते हैं उसका स्पष्ट दर्शन हम ह्यूम से अधिक चार्ल्स पियर्स (Charles Pierce) में पाते हैं। पियर्स का कथन है ''सभी तर्क-वाक्यों का अर्थ भविष्य में विद्यमान है''[३]। अत: प्रमाणीकरण सिद्धांत के प्रतिपादन का श्रेय हम समकालीन प्रत्यक्षवादियों को नहीं दे सकते, हाँ उसे नवीन रूप प्रदान करने का प्रश्न दूसरा है। यद्यपि ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र में आये दिन अर्थ सम्बन्धी नये नये विचार उत्पन्न हो रहे हैं; फिर भी ऊँची चोटी में गिने जाने वाले दार्शनिकों में एयर और वाइसमन (Waismann) संभवत: अब भी प्रमाणीकरण-सिद्धांत पर ही विश्वास रखते हैं, परन्तु उस रूप में नहीं जिस रूप में श्लिक (Schilk) अथवा वाइसमन स्वयं ही किसी समय देखते थे[४]। विट्गिन्स्टाइन, कार्नप, हेम्पल (Hampel) तथा पॉपर (Papper) शाब्दिक रूप से इसके कुछ भिन्न सिद्धांतों के प्रतिपादक हैं। विट्गिन्स्टाइन का नाम 'निरूपणीकरण' (Describability)[५], कार्नप का नाम 'परीक्षीकरण' (testability)[६], हेम्पल का नाम 'पुष्टीकरण'(confirmability)[७] तथा पॉपर का नाम 'मिथ्यात्व प्रमाणीकरण' (falsifiability)[८], के सम्बन्ध में आता है। विट्गिन्स्टाइन ने अपने ट्रक्टेटस में निरूपित विचारों को छोड़ दिया तथा स्वयं ही उन विचारों की आलोचना की थी। ट्रक्टेटस में अभिव्यक्त 'तर्कनिष्ठ अणुवाद' तथा प्रमाणीकरण-सिद्धांत की सत्यता प्रक्रिया भाषा को 'सत्य प्रक्रियात्मक' (Truth functional)* मानने पर ही आधारित है।[९] इन्वेस्टीगेशंस में विट्गिन्स्टाइन ने अपने ट्रक्टेटस के विचारों का खंडन करते हुये कहा है कि भाषा में विभिन्न प्रकार के वाक्य विद्यमान हैं।[१०] उनका यह प्रसिद्ध कथन '' अर्थ के सम्बन्ध में नहीं उपयोग के सम्बन्ध में पूछो'',[११] केवल अपने

---

* The meanig of a proposition is the method of its varification.

* सत्य प्रक्रिया = Truth function:समकालीन पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा में ''सत्य-प्रक्रिया'' एक पारिभाषिक शब्द है, जिस के अनुसार सम्मिश्र तर्क-वाक्य (Complex Proposition) मौलिक तर्क-वाक्यों (Elementary propositions) के सत्य प्रक्रिया कहे जाते हें।

पुराने विचारों की अलोचना ही नहीं करता प्रत्युत अर्थ सम्बन्धी नई विचार धाराओं का जन्मदाता है। यह कहना अनुचित न होगा कि विट्गिन्स्टाइन के इस कथन से ज्ञानमीमांसा का एक नया युग आरम्भ होता है। हमने प्रमाणीकरण, निरूपणीकरण, परीक्षीकरण, पुष्टीकरण तथा मिथ्यात्व- प्रमाणीकरण का अलग-अलग उल्लेख किया है। किन्तु वास्तविकता यह है कि ये सभी विचार एक ही डाल के पक्षी हैं। एक अर्थ में देखा जाय तो इन विचारों में कोई भी भेद नहीं हैं, क्योंकि ये सभी विचार अर्थ की प्रत्यक्षवादी परिभाषाएँ (positivistic definitions) अभिव्यक्त करते हैं। प्रत्यक्षवादी परिभाषाओं का अप्रत्यक्षवादी परिभाषाओं से भेद तार्किक है, किन्तु स्वयं प्रत्यक्षवादी परिभाषाओं का भीतरी भेद केवल शाब्दिक है। अत: केवल "प्रमाणीकरण" पर ही प्रकाश डाला जाए तब भी वह दूसरे प्रत्यक्षवादी सिद्धांतों का दोष दिखलाने के लिए पर्याप्त होगा। 'अर्थ सम्बन्धी इन सभी सिद्धांतों, परिभाषाओं अथवा विचारों द्वारा "संश्लेषणात्मक अनुभवीय तर्क-वाक्यों"को प्रतिष्ठा देने की चेष्टा की गई है। यहाँ पर यह बतला देना उपयुक्त होगा कि यह हम चाहें तो "संश्लेषणात्मक अनुभवीय तर्क-वाक्य"के स्थान पर केवल "तर्क-वाक्य" शब्द का प्रयोग कर सकते हैं। क्योंकि "संश्लेषणात्मक" तथा "अनुभवीय" शब्दों का अर्थ "तर्क-वाक्य" के प्रयोग में निहित है। प्रत्यक्षवादियों के मतानुसार सभी "शुद्ध संश्लेषणात्मक तर्क-वाक्य" अनुभवीय हैं। अत: "अनुभवीय" शब्द का प्रयोग अलग से अनिवार्य नहीं। इसी प्रकार "संश्लेषणात्मक" शब्द के सम्बन्ध में भी है। प्रत्यक्षवादी न्याय के आधार पर केवल दो प्रकार के वाक्य ही अर्थ सूचक हैं : (१) वे जो संश्लेषणात्मक तर्क-वाक्य अभिव्यक्त करते हैं, तथा (२) वे जो विश्लेषणात्मक पुनरुक्तियाँ अभिव्यक्त करते हैं। इस सम्बन्ध में मार्गेरिट मैक्डोनाल्ड (Margarett Macdonald) का कथन है,"वस्तुत: कहा जाय तो 'पुनरुक्ति' विट्गिन्स्टाइन तथा वियना सम्प्रदाय (Viennese School) के अनुसार "तर्क-वाक्य" नहीं कही जा सकती"।[१२] विट्गिन्स्टाइन स्वयं ही वाक्यों का वर्गीकरण (१) पुनरुक्ति, (२) तर्क-वाक्य तथा (३) विरोध में करतें हैं।[१३] अत: "संश्लेषणात्मक तर्क-वाक्य" के स्थान पर केवल 'तर्क-वाक्य' का प्रयोग ही पर्याप्त होगा। इसी प्रकार से हम "तर्कनिष्ठ प्रत्यक्षवाद" तथा 'तर्कनिष्ठ अणुवाद' के स्थान पर केवल "प्रत्यक्षवाद" तथा "अणुवाद" का प्रयोग करेंगे।

विट्गिन्स्टाइन द्वारा प्रतिपादित वाक्यों के वर्गीकरण के अनुसार तथा 'अर्थ' की प्रमाणीकरण परिभाषा द्वारा भी नैतिक, पारमार्थिक (Metaphysical) तथा दार्शनिक वाक्यों की स्थिति चिंताजनक हो जाती है, क्योंकि ये वाक्य न तो तर्क-वाक्य हैं और न ही पुनरुक्तियाँ। प्रत्यक्षवादी तथा अणुवादी किसी समय इन्हें निरर्थक वाक्य तक कहने में नहीं झिझकते थे।[१४] जहाँ तक दार्शनिक वाक्यों का प्रश्न है, विट्गिन्स्टाइन इन्हें "महत्त्वपूर्ण निरर्थक प्रलाप" मान लेते हैं, परन्तु रैम्जे को यह भी ग्राह्य नहीं। उन्होंने विट्गिन्स्टाइन के विचारों का अपने एक लेख में कड़ा विरोध किया है।[१५] स्वयं प्रमाणीकरण सिद्धांत के सम्बन्ध में यह आक्षेप लगाया गया है कि वह निरर्थक है, क्योंकि वह दार्शनिक वाक्य है, और दार्शनिक वाक्य निरर्थक होते हैं। इन आक्षेपों पर हम पीछे विचार करेंगे, पहले प्रमाणीकरण सिद्धांत के सम्बन्ध में अपने विचारों को स्पष्ट कर लें। ब्रैथवेट (Briathwaite) इस सिद्धांत का इन शब्दों में निरूपण करते हैं; "प्रमाणीकरण-सिद्धांत का प्रयोग तर्कनिष्ठ प्रत्यक्षवादी दो प्रकार से करते हैं : अभावरूप से (Negatively), ऐसे वाक्यों को छद्म तर्क-वाक्य (pseudo propositions) कह कर निंदा करना, और ऐसे वाक्यों को निरर्थक बतलाना जो उन्हें (छद्म तर्कवाक्यों को) अभिव्यक्त करते हों; भाव रूप से,(positively) ऐसे वाक्यों के अर्थ की परिभाषा देना जो प्रमाण योग्य तर्क वाक्य अभिव्यक्त करते हों।"[१६] हमें ब्रैथवेट के द्वारा दी गई प्रमाणीकरण सिद्धांत की व्याख्या स्पष्ट नहीं दिखाई देती। उनका पूर्व कथन तो अक्षरश: सत्य है, परन्तु बाद वाला कथन स्पष्ट नहीं है। हम नहीं जानते कि ब्रैथवेट "परिभाषा"

का क्या अर्थ लगाते हैं, जबकि वे उस शब्द का बाद वाले कथन में प्रयोग करते हैं, परन्तु "परिभाषा" का सामान्य भाषा में जो प्रयोग होता है उसके आधार पर बाद वाला कथन पुनरुक्ति अभिव्यक्त करता है और इसीलिये दोष-पूर्ण है। यह कहना "प्रमाणीकरण-सिद्धांत...ऐसे वाक्यों के अर्थ की परिभाषा देता है जो प्रमाण योग्य तर्क-वाक्य अभिव्यक्त करते हैं, इतना ही अर्थ रखता है जितना कि यह कहना-"उन वाक्यों का अर्थ, जो प्रमाण योग्य तर्कवाक्य अभिव्यक्त करते हैं, प्रमाण विधि हैं"। इस पुनरुक्ति से यह तो निष्कर्ष निकल सकता है कि "उन वाक्यों का अर्थ, जो प्रमाण योग्य तर्कवाक्य अभिव्यक्त नहीं करते, प्रमाण विधि नहीं हैं", इससे अधिक कुछ नहीं परन्तु प्रमाणीकरण-सिद्धांत का प्रयोग केवल इसलिये नहीं होता कि अमुक वाक्य का अर्थ प्रमाण विधि है अथवा अमुक वाक्य का अर्थ प्रमाण विधि नहीं है, उसका प्रयोग इसलिये भी होता है कि अमुक वाक्य निरर्थक है, जैसा कि ब्रैथवेट ने अपने पूर्व कथन द्वारा संकेत किया है। अर्थात् प्रत्यक्षवादी "प्रमाणीकरण-सिद्धांत" का इस प्रकार प्रयोग करते हैं कि उनके "अभावात्मक निर्णय" (Negative contention) का आधार उनका "भावात्मक निर्णय" (positive contention) है। स्पष्ट है कि ब्रैथवेट ने अपने बाद वाले कथन में "परिभाषा" का संकुचित प्रयोग किया है, जिसके अनुसार प्रत्यक्षवादियों का अभावात्मक निर्णय निराधार हो जाता है। जब तक प्रमाणीकरण सिद्धांत को 'अर्थ की सामान्य परिभाषा' (General definition) नहीं माना जाता, किसी प्रत्यक्षवादी को यह कहने का अधिकार नहीं मिल सकता कि कोई 'नैतिक' अथवा 'आध्यात्मिक' वाक्य निरर्थक है, अथवा यह केवल छद्म तर्कवाक्य है। प्रमाणीकरण सिद्धांत 'वाक्यों' के अर्थ की परिभाषा है न कि केवल ऐसे वाक्यों के अर्थ की परिभाषा जो प्रमाण योग्य तर्कवाक्य अभिव्यक्त करते हों। प्रमाणीकरण सिद्धांत का प्रयोग करते समय प्रत्यक्षवादियों द्वारा केवल 'तर्कवाक्य' के स्थान पर 'अनुमानित तर्क वाक्य' (putative proposition) का प्रयोग अर्थ की इसी 'सामान्य परिभाषा' की ओर ध्यान दिलाता है। हो सकता है कि ब्रैथवेट ने केवल एक 'व्याकरण' अथवा 'वाक्य रचना' की भूल की हो, परन्तु उनकी यह भूल प्रत्यक्षवादियों का मत भिन्न रूप से प्रस्तुत करती है। अत: इसके सम्बन्ध में स्पष्टता आवश्यक है।

प्रमाणीकरण सिद्धांत जिस रूप में वियना सम्प्रदाय ने प्रस्तुत किया था उसका वह रूप अब नहीं रहा। 'प्रमाणीकरण'तथा 'प्रमाण योग्य' शब्दों की परिभाषाएँ समय समय पर बदलती रही हैं। परन्तु इन बदलती हुई परिभाषाओं में भी इस बात की सावधानी बरती गई है कि कहीं आध्यात्मिक अथवा नैतिक वाक्य अर्थपूर्ण न हो जायें। यहाँ पर 'अर्थ' से प्रयोजन है 'शब्दानुसार अर्थ' (literal meaning) का, क्योंकि आध्यात्मिक अथवा नैतिक वाक्यों को कोई प्रत्यक्षवादी इस अर्थ में निरर्थक नहीं कहता कि उन वाक्यों का 'भावानात्मक अर्थ' (Emotive meaning) भी नहीं होता। प्रत्यक्षवादी शब्दों तथा वाक्यों के शब्दानुसार अर्थ तथा भावनात्मक अर्थ में भेद करते हैं।[१७] 'व्यावहारिक प्रमाणीकरण' (Verification in Practice) तथा 'सैद्धांतिक प्रमाणीकरण' (Verification in *P*rinciple) का भेद कुछ वाक्यों के अर्थ की व्याख्या के लिये आवश्यक समझा गया। यह व्यवहार रूप से प्रमाण योग्य नहीं कि 'चन्द्रमा के दूसरी ओर पर्वत हैं' परन्तु सैद्धांतिक रूप से प्रमाण योग्य है।[१८] इस प्रकार से 'आर्सेनिक विष है', 'सभी मनुष्य मरणाशील है', 'मैंने सुबह चाय पी थी' 'राम के पैर में पीड़ा है' आदि वाक्यों के अर्थ की व्याख्या के लिए संदिग्ध प्रमाणीकरण (Weak verification) तथा'असंदिग्ध प्रमाणीकरण (Strong verification) का भेद आवश्यक समझा गया। एयर असंदिग्ध प्रमाणीकरण तथा निर्णायक-प्रमाणीकरण (Conclusive verification) में भेद नहीं मानते।[१९] अगर तर्क-वाक्यों का अर्थ असंदिग्ध प्रमाणीकरण माना जाय, जैसा कि श्लिक मानते थे, तब ऊपर दिये हुए वाक्य निरर्थक होंगे। जैसा कि स्टेस का कथन है "भूत काल की घटनाओं तथा दूसरे मन सम्बन्धी वाक्यों का प्रमाणीकरण न केवल व्यवहारिक दृष्टि से असंभव है प्रत्युत सैद्धांतिक दृष्टि से भी असंभव है।"[२०] यहाँ पर 'प्रमाणीकरण से स्टेस का प्रयोजन है

'असंदिग्ध प्रमाणीकरण हैं'। श्लिक अपने साम्प्रदायिक विचारों को छोड़ने के लिये तैयार न थे। यहाँ तक कि श्लिक यह मानने के लिए भी तैयार थे कि 'भौतिक नियम' निरर्थक हैं क्योंकि वे असंदिग्ध प्रमाण-योग्यता नहीं रखते। श्लिक, जैसा कि एयर ने बतलाया है, उन्हें 'महत्त्वपूर्ण निरर्थक प्रलाप' मान लेते हैं।[२१] श्लिक के विचार से सहमत होना कठिन है। इसमें सबसे बड़ा दोष यह है कि श्लिक अपने सिद्धांत को घटनाओं पर थोपना चाहते हैं,अगर घटनाएँ सिद्धांत के विपरीत हैं, तब वे घटनाएँ ही नहीं हैं। परन्तु हम श्लिक के दूसरे विचार में कुछ तार्किक युक्ति देखते हैं। जब वह केवल इतना कहते हैं कि 'प्राकृतिक नियम' तर्क-वाक्यों की भाँति प्रकृति नहीं रखते, जो सत्य अथवा असत्य हैं, प्रत्युत वे ऐसे निर्देश रखते हैं जिनके द्वारा तर्क-वाक्य बनाये जा सकें,[२२] तब उनका कथन अवश्य ही ज्ञापक है। क्योंकि इस कथन में वह यह नहीं कहते कि प्राकृतिक नियम निरर्थक हैं, इसके विपरीत वे 'प्राकृतिक नियमों' की कुछ स्पष्ट व्याख्या का संकेत कराते हैं, श्लिक के इस कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि 'प्राकृतिक नियम' तर्क-वाक्यों की भाँति असंदिग्ध-प्रमाण योग्य नहीं हैं। उर्मसन ने श्लिक के इस कथन की रैम्जे के कथन से तुलना की है। रैम्जे के कथन से भी,'प्राकृतिक नियम' तर्क-वाक्य नहीं हैं, क्योंकि उनका विश्लेषण उन वाक्यों में नहीं किया जा सकता, जिन्हें 'सत्य प्रक्रिया' कहा जा सके।[२३]

सामान्य-तर्कवाक्य, (General propositions) अस्तित्त्व प्रतिपादक तर्क-वाक्य (Existential propositions) तथा प्राकृतिक नियम जिस प्रकार तर्कात्मक अणुवाद के लिये समस्या हैं उसी प्रकार प्रत्यक्षवाद के लिये भी। अणुवाद के लिये ये इसलिये समस्या हैं कि वे ऐसे जटिल तर्क-वाक्यों में विश्लेषित नहीं हो सकते जिन्हें 'सत्य प्रक्रिया' कहा जा सके। यहाँ दो ही मार्ग दिखाई देते हैं, या तो रसल की भाँति उन्हें निरर्थकता से बचाने के लिये जगत् को अनेक 'परमाणु विषयक तथ्यों' (atomic facts) से युक्त स्वीकार किया जाय,[२४] या फिर रैम्जे की भाँति उन सभी से 'तर्क-वाक्य' की उपाधि ही छीन ली जाय।[२५] प्रत्यक्षवादियों के लिये ये तर्क-वाक्य समस्या इसलिये हैं कि उनका असंदिग्ध प्रमाणीकरण असंभव है। परन्तु जैसे अणुवादियों ने रैम्जे का स्वागत किया, प्रत्यक्षवादियों ने श्लिक का नहीं। प्रत्यक्षवादी सामान्य तर्क-वाक्यों, अस्तित्त्व प्रतिपादक तर्क-वाक्यों तथा प्राकृतिक नियमों को निरर्थक नहीं कहना चाहते और उनकी सम्मानित उपाधि 'तर्क-वाक्य' भी नहीं छीनना चाहते। इसलिये उन्होंने प्रमाणीकरण सिद्धांत की व्याख्या ही बदल डाली। प्रमाणीकरण सिद्धांत में 'संदिग्ध प्रमाण योग्यता' का समवेश इसीलिये हुआ। एयर अपनी पुस्तक में प्रमाणीकरण की इसी नवीन व्याख्या की ओर ध्यान दिलाते हैं जब वे कहते हैं 'किसी' आनुभविक कथन के सम्बंध में यह प्रश्न नहीं पूछना चाहिये कि क्या कोई अनुभव उसे निश्चित रूप से सत्य अथवा असत्य में परिणत कर देगा? प्रत्युत केवल इतना पूछना चाहिये कि क्या कोई अनुभव उस कथन की सत्यता अथवा असत्यता के प्रसंग योग्य (relevant) हैं?[२६] कार्नप भी कुछ इसी प्रकार का विचार प्रकट करते हैं जब वे कहते हैं "एक तर्क-वाक्य 'य', जोकि प्रत्यक्ष प्रामाण्य नहीं है, केवल उन वाक्यों के प्रत्यक्ष प्रामाण्य से प्रमाणित किया जा सकता है जो य से, कुछ अन्य प्रमाणित वाक्यों के साथ, निर्धारित किये जा सकते हैं'।[२७] एयर ने अपने कथन में 'प्रसंग योग्य' शब्द का, जैसा कि बर्लिन ने दिखलाया है, स्पष्ट प्रयोग नहीं किया है।[२८] कार्नप के कथन से एयर का दूसरा कथन अधिक समानता रखता है, जब वे कहते हैं 'यह शुद्ध तर्क-वाक्य का लक्षण है......कि कुछ आनुभविक तर्क-वाक्यों का उसके द्वारा निर्धारण हो सके, उन पूर्व प्रतिज्ञाओं (premises) के साथ जिनके साथ स्वतंत्र रूप से उनका निर्णय नहीं हो सकता'।[२९] बर्लिन के दिये हुए उदाहरण से इस कथन को स्पष्ट किया जा सकता है। 'सभी मनुष्य मरणशील हैं' संदिग्ध प्रमाण योग्य है, क्योंकि 'सुकरात मरणशील है' स्वतंत्र रूप से अकेले ही 'सुकरात मनुष्य है' से निर्धारित नहीं किया जा सकता। परन्तु इन दोनों के संयोग से निर्धारित हो जाता है।[३०] प्रमाणीकरण की नवीन व्याख्या के संबंध में दो बातों का ध्यान

रखना आवश्यक है (१) प्रथम बात यह कि इस व्याख्या के अनुसार कोई भी तर्क-वाक्य असंदिग्ध प्रमाण-योग्य नहीं होता। ऐसा नहीं है कि कुछ तर्क-वाक्य तो संदिग्ध प्रमाण योग्य हैं तथा कुछ असंदिग्ध। ऐतिहासिक दृष्टि से 'संदिग्ध प्रमाणीकरण' की आवश्यकता उसी समय महसूस हुई जब कि कुछ वाक्यों का अर्थ 'असंदिग्ध प्रमाणीकरण' योग्य नहीं दिखाई दिया। परन्तु एक बार जब 'संदिग्ध प्रमाणीकरण' की खोज हो गई तब 'असंदिग्ध प्रमाणीकरण' एक निरर्थक शब्द हो गया। इस नवीन व्याख्या के अनुसार, 'संदिग्ध' तथा 'अनिर्णायक' (inconclusive) शब्द एक सा ही अर्थ रखते हैं। सभी तर्क-वाक्यों का अर्थ संदिग्ध अथवा अनिर्णायकतया प्रमाणीकरणीय है।[31] यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या पुनरुक्तियों का निरूपण 'असंदिग्ध' तथा 'निर्णायक' शब्दों से नहीं किया जा सकता है। परन्तु यह प्रश्न निरर्थक है, क्योंकि पुनरुक्तियों का अर्थ, प्रत्यक्षवादी मतानुसार, प्रमाणीकरणीय होता ही नहीं है। तर्क-वाक्यों के सम्बन्ध में प्रत्यक्षवादियों का यह कथन कि वे केवल 'प्राक्कल्पना' (hypothesis) हैं, यही अर्थ रखता है कि उनका अर्थ असंदिग्ध तथा प्रमाणीकरणीय नहीं होता। (२) द्वितीय बात ध्यान में रखने योग्य यह है कि जब कोई प्रत्यक्षवादी यह कहता है कि किसी अर्थपूर्ण तर्क-वाक्य के द्वारा किन्हीं अनुभवीय तर्क-वाक्यों का निर्धारण हो सकता है तब उसके कथन का यह प्रयोजन नहीं होता कि उस तर्क-वाक्य का अर्थ वही है जो उन अनुभवीय तर्क-वाक्यों का है। अनुभवीय तर्क-वाक्य केवल उस विशिष्ट तर्क-वाक्य की सत्यता अथवा असत्यता के प्रसंग योग्य हैं।[32]

हमने जो ऊपर ध्यान देने योग्य दो बातें बतलाई हैं वह इसलिये कि प्रथम बात के सम्बन्ध में कुछ दार्शनिकों के विचार स्पष्ट नहीं हैं, तथा द्वितीय बात के सम्बन्ध में कुछ दार्शनिक समस्यायें उपस्थित हो जाती हैं। द्वितीय बात से सम्बंधित समस्याओं का उल्लेख हम प्रमाणीकरण-सिद्धांत की आलोचना करते समय करेंगे। प्रथम के सम्बन्ध में कुछ दार्शनिकों के विचार स्पष्ट नहीं हैं, ब्रैथवेट ऐसे ही दार्शनिकों में से एक हैं। उनकी भूल इसमें नहीं है कि वे 'संदिग्ध' तथा 'असंदिग्ध प्रमाणीकरण का तर्क प्रयोग वाक्यों पर करते हैं अथवा कुछ तर्क-वाक्यों को असंदिग्ध प्रमाण योग्य मानते हैं, प्रत्युत वह अपना विचार उन दार्शनिकों के मत्थे थोपते हैं जो किसी भी तर्क-वाक्य को असंदिग्ध प्रमाण योग्य नहीं मानते। ब्रैथवेट समझते हैं कि एयर की दी हुई परिभाषा के अनुसार कुछ तर्क-वाक्य, जैसे 'मुझे पीड़ा है'', असंदिग्ध प्रमाण योग्य हैं।[33] यही नहीं, प्रत्युत उनका दावा है कि एयर स्वयं भी ऐसा ही समझने लगे हैं। उनके कथन का अनुवाद यह है:- 'कोई तर्क-वाक्य असंदिग्ध-प्रमाण योग्य तभी समझा जाता है', वह (एयर) लिखते हैं 'जबकि उसकी सत्यता निर्णयात्मक रूप से अनुभव द्वारा निर्धारित की जा सकें। अपनी पुस्तक में एयर ऐसे तर्क-वाक्यों का उदाहरण नहीं देते जो असंदिग्धत: प्रमाण योग्य अथवा असंदिग्धत: प्रत्याख्येय हों- क्योंकि जिस समय उन्होंने वह पुस्तक लिखी थी उस समय उनका यह विश्वास नहीं था कि ऐसे तर्क-वाक्यों के उदाहरण विद्यमान हैं। परन्तु वह उसी समय से इस तर्क सम्मत विचार की ओर झुक गये हैं कि ऐसे तर्क-वाक्य विद्यमान हैं। और वह अपने पिछले वर्ष के एरिस्टोटेलियन सोसाइटी के एक लेख में उनका उदाहरण भी देते हैं। उदाहरण के लिये, 'मेरे पीड़ा का अनुभव इस तर्क-वाक्य को प्रमाणित करेगा कि मुझे पीड़ा है' (Proceseedings 1936-37)'।[34] ब्रैथवेट ने एयर के जिस लेख का उद्धरण दिया है उसमें एयर द्वारा यह कहीं पर भी प्रयुक्त नहीं हुआ कि ऐसे वाक्य जैसे 'मुझे पीड़ा है' असंदिग्ध प्रमाण योग्य वाक्य हैं। यही नहीं, एयर के लेख से ब्रैथवेट ने जो निष्कर्ष निकाला है वह नहीं निकल सकता, और हमें वह लेख पढ़कर यह कहने का अधिकार नहीं मिल सकता कि एयर ने अपने विचार बदल दिये हैं। केवल इतना कहने से कि 'मेरा पीड़ा का अनुभव इस तर्क-वाक्य को प्रमाणित करेगा कि मुझे पीड़ा है- यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि 'मेरा पीड़ा का अनुभव असंदिग्ध रूप से यह प्रमाणित करेगा कि मुझे पीड़ा है'। ब्रैथवेट ने एयर के विचारों का गलत निरूपण किया, इस बात

की पुष्टि उस समय हो जाती है जबकि वह यह मान जाते हैं कि 'अपने लेख में एयर को इसमें संशय है कि किसी तर्क-वाक्य का ज्ञान 'अशोध्य' (incorrigible) है। क्योंकि ब्रैथवेट के अनुसार, जैसाकि वे कुछ पंक्तियाँ पहले लिख आये हैं, किसी तर्क-वाक्य के सम्बन्ध में यह प्रश्न पूछना कि क्या वह असन्दिग्ध प्रमाणयोग्य है अथवा नहीं, ऐसा ही प्रश्न पूछना है जैसाकि क्या किसी प्रकार का अनुभवीय ज्ञान अशोध्य है अथवा नहीं।[३५] ब्रैथवेट का एक ओर यह मानना कि एयर को यह संशय है कि कोई अनुभवीय ज्ञान अशोध्य है परन्तु दूसरी ओर यह मानना कि एयर के अनुसार कुछ तर्क-वाक्य असंदिग्ध प्रमाण योग्य हैं, उनकी युक्तियों को गलत दिखलाने के लिये पर्याप्त है। एयर के अनुसार तो 'कोई भी तर्क-वाक्य सैद्धांतिक रूप से भी निर्णायक प्रमाण योग्य नहीं हो सकता', अत: वह असंदिग्ध प्रमाण योग्य भी नहीं हो सकता, क्योंकि एयर 'निर्णायक' तथा 'असंदिग्ध' प्रमाण योग्यता को लगभग एक ही अर्थ में प्रयुक्त करते हैं।[३६] इस सम्बन्ध में लाजरोविट्ज (Lozerowitz) का निष्कर्ष सही मालूम होता है कि एयर ने असंदिग्ध प्रमाणीकरण का एक निरर्थक प्रयोग किया है, क्योंकि उनके विचार से कोई भी तर्क-वाक्य असंदिग्ध प्रमाण योग्य नहीं हैं।[३७] कोई तर्क-वाक्य तब ही संदिग्ध प्रमाण योग्य हो सकता है जबकि कोई तर्क-वाक्य असंदिग्ध प्रमाण योग्य भी हो। लाजरोविट्ज के आक्षेपों की वजह से ही एयर ने अपनी पुस्तक के दूसरे संस्करण में विचार बदल दिये तथा ब्रैथवेट की भाँति वे भी अब यह कहने लगे हैं कि कुछ अनुभवीय तर्क-वाक्य असंदिग्ध प्रमाण योग्य हैं।

अब हम प्रमाणीकरण सिद्धांत की प्रकृति के सम्बन्ध में स्पष्ट होना चाहेंगे। प्रमाणीकरण सिद्धांत चाहे वह असत्य ही क्यों न हो, परन्तु उसके सम्बन्ध में कुछ ऐसी आलोचनाएँ प्रचलित हैं जो अतार्किक हैं। इसी प्रकार की एक अलोचना का संकेत स्टेस ने अपने लेख में किया है। यह आलोचना इस मान्यता पर आधारित है कि प्रमाणीकरण सिद्धांत एक अनुभवमूलक सामान्यीकरण (Empirical generalisation) है। व्हाइटहैड (Whitehead) ने, जैसाकि स्टेस का कथन है, इसी मान्यता के आधार पर ह्यूम के प्रत्यक्षवादी सिद्धांत पर चक्रक दोष (reasoning in circle) का आरोप लगाया है।[३८] जिस प्रकार व्हाइटहैड ह्यूम के प्रत्यक्षवादी सिद्धांत पर आरोप लगाते हैं, उसी प्रकार कुछ दार्शनिक, जैसे इविंग (Ewing) प्रमाणीकरण सिद्धांत को 'अनुभवमूलक सामान्यीकरण सिद्धांत अथवा 'तर्क-वाक्य' मान कर उसपर आक्रमण करते हैं।[३९] यह मानना कि प्रमाणीकरण सिद्धांत 'अनुभवमूलक सामान्यीकरण सिद्धांत' है अथवा 'तर्क-वाक्य' है, विचित्र प्रश्नों को जन्म देता है। यह पूछना कि क्या प्रमाणीकरण सिद्धांत एक तर्क-वाक्य है ? ऐसा ही प्रश्न है जैसा कि यह पूछना 'क्या हथौड़ा कील का एक भाग है ?'' यह कोई सूचना नहीं हुई कि 'हथौड़ा कील का भाग नहीं है' अथवा 'हथौड़े का प्रयोग कील की भाँति नहीं हो सकता'। जो दार्शनिक इस प्रकार के प्रश्न उठाते हैं 'क्या प्रमाणीकरण सिद्धांत तर्क-वाक्य है ?'- वे दूसरे दार्शनिकों पर ऐसा ही आरोप लगाते हैं जैसे कि मानो दूसरे दार्शनिक वास्तव में यह मानते हैं कि 'हथौड़ा कील का एक भाग है', और उनकी बुद्धि ठीक करने के लिये यह समझाना पड़ेगा कि 'हथौड़ा कील का भाग नहीं होता', अथवा 'हथौड़े का कील की भाँति प्रयोग नहीं किया जा सकता'। एयर जेसे प्रत्यक्षवादी प्रमाणीकरण सिद्धांत को ही नहीं प्रत्युत 'सामान्यीकरण सिद्धांत तथा सामान्य अभ्युपगमों (General hypothse) तक को अनुभवमूलक नहीं मानते।[४०] अत: जिस प्रकार की आलोचना इविंग ने प्रस्तुत की है वह कोई भी महत्त्व नहीं रखती। इविंग केवल इतना ही नहीं कहते, प्रत्युत प्रमाणीकरण सिद्धांत का खण्डन करने के लिये यह तक मान जाने के लिये उत्सुक हैं कि 'अर्थ' एक अपारिभाषिक (indefinable) प्रत्यय है। इस सम्बन्ध में उनकी विचित्र युक्ति है कि सभी प्रत्ययों की परिभाषा नहीं दी जा सकती, कुछ प्रत्ययों का अपारिभाषिक होना अनिवार्य है।[४१] इसी युक्ति के कारण उन्हें 'अर्थ' अपारिभाषिक दिखाई देने लगता है। यह युक्ति ऐसी ही है जैसे किसी 'घुड़सवार' को 'घोड़ा समझने का प्रयत्न करना, क्योंकि घुड़सवार संसार में तब ही रह सकते हैं जब कि कुछ घोड़े भी हों।

अगर प्रमाणीकरण-सिद्धांत सामान्यीकरण सिद्धांत नहीं है तब वह क्या है ? क्या वह विश्लेषण वाक्य है ? वह विश्लेषणात्मक वाक्य हो सकता है परन्तु उस परिभाषा के अंतर्गत आने वाला विश्लेषणात्मक वाक्य नहीं जिसके द्वारा संदेश विहीन पुनरुक्तियाँ अभिव्यक्त होती हैं। हम 'किसी तर्क-वाक्य का अर्थ उससे संबंधित प्रमाण-विधि है' की तुलना क्या '२+२=४' अथवा 'अ=अ' से कर सकते हैं ? प्रमाणीकरण सिद्धांत ऐसी पुनरुक्तियों को अभिव्यक्त नहीं करता जैसी कि गणित अथवा तर्क-शास्त्र के वाक्य अभिव्यक्त करते हैं। यह हम देख ही चुके हैं कि प्रमाणीकरण सिद्धांत को तर्क-वाक्य नहीं कहा जा सकता। इसे अधिक स्पष्ट करने के लिये एक उदाहरण लेते हैं, 'किसी पक्षी के पंख दो गज से बड़े नहीं होते', इस तर्क-वाक्य में व्याकरण रूप से प्रमाणीकरण सिद्धांत के गुण विद्यमान हैं परन्तु तार्किक दृष्टि से दोनों भिन्न गुण रखते हैं। उदाहरण वाले तर्क-वाक्य की सत्यता अथवा असत्यता अनुभव पर आधारित है। क्योंकि हमने ऐसा कोई भी पक्षी नहीं देखा जिसके पंख दो गज से बड़े होते हों। अत: हम अधिकार रूप से कहते हैं कि किसी भी पक्षी के पंख दो गज से बड़े नहीं होते। इस प्रकार के तर्क-वाक्यों के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठ सकता है-'क्या तुम्हारा कथन उस समय असत्य नहीं हो जायेगा जबकि तुम्हें दो गज से बड़े पंखों का पक्षी दिखा दिया जायेगा ?'' अगर यह तर्क-वाक्य अनुभव के सम्बन्ध में स्वीकृति है तब इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में ही होगा, जिससे यह निष्कर्ष स्पष्ट है कि यह तर्क-वाक्य केवल अनुभवमूलक सामान्यीकरण है। परन्तु प्रमाणीकरण सिद्धांत ऐसा तर्क-वाक्य नहीं हो सकता। अगर वह ऐसा तर्क-वाक्य है तब प्रत्यक्षवादियों के प्रतिद्वंदियों को इसकी आलोचना की कोई भी आवश्यकता नहीं, क्योंकि तर्क-वाक्य की परिभाषा में ही इसकी आलोचना विद्यमान है। इस सम्बन्ध में हम विजडम के एक पुराने लेख की ओर ध्यान दिलायेंगे जिसमें वह प्रमाणीकरण सिद्धांत को पारमार्थिक सिद्धांत (metaphysicaltheroy) कहते हैं।[४२] विजडम इस कथन की तुलना कि 'किसी तर्क-वाक्य का अर्थ वस्तुत: केवल उससे संबंधित प्रमाण विधि है' ऐसे पारमार्थिक वाक्यों से करते हैं, जैसे 'मन वस्तुत: केवल प्रक्रिया है' अथवा 'हम सत्यत: कभी भी नहीं जानते कि जो हम देख रहे हैं वह सत्य है अथवा स्वप्न।'[४३] यहाँ यह बात ध्यान रखने योग्य है कि विजडम 'परमार्थ-ज्ञान' तथा 'दर्शन' का समान अर्थ में प्रयोग करते हैं। दार्शनिक वाक्य, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, केवल पुनरुक्तियाँ नहीं होते। अत: प्रमाणीकरण सिद्धांत को पारमार्थिक वाक्य अथवा सिद्धांत कहने का विजडम का यही प्रयोजन है कि वह पुनरुक्ति अथवा तर्क-वाक्य नहीं हो सकता। प्रमाणीकरण सिद्धांत यदि ठीक है तब वह सैद्धांतिक रूप से ही ठीक हो सकता है। 'मन वस्तुत: केवल प्रक्रिया का संघात है' इसकी सत्यता कैसे प्रमाणित होगी ? यदि यह पारमार्थिक वाक्य है तब अनुभव इसके सम्बन्ध में कोई भी प्रकाश नहीं डाल सकता। इसकी सत्यता केवल तर्क का विषय है। तार्किक रूप से ही स्थापित निष्कर्षों को हम सैद्धांतिक सत्य मानते हैं।

अब हम प्रमाणीकरण-सिद्धांत की संक्षेप में आलोचना करेंगे। यह आलोचना प्रमाणीकरण सिद्धांत में प्रयुक्त शब्दों के विश्लेषण पर ही आधारित है। हमारे सामने प्रश्न उठता है: क्या यह वाक्य 'किसी तर्क-वाक्य का अर्थ उससे संबंधित प्रमाण विधि है' केवल एक पुनरुक्ति है ? क्या 'अर्थ' का वही अर्थ है जो 'प्रमाण विधि' का है ? अगर यह पुनरुक्ति है तब 'अर्थ' का वही अर्थ होना चाहिये जो 'प्रमाण विधि' का है। परन्तु 'अर्थ' का प्रयोग तो उस अर्थ में नहीं होता जिस अर्थ में 'प्रमाण विधि' का होता है। जैसा कि इवांस (Evens) ने अपने लेख में दिखलाया है, 'अर्थ' विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है।[४४] 'किसी तर्क-वाक्य का अर्थ' स्पष्ट प्रयोग नहीं। अगर यह मान भी लिया जाय कि किसी विशिष्ट अर्थ अथवा क्षेत्र में एक तर्क-वाक्य का अर्थ उससे सम्बन्धित प्रमाण विधि है, तब इस पुररुक्ति को 'अर्थ' की व्यापक परिभाषा नहीं माना जा सकता है। सबसे बड़ी आपत्ति तो यह है कि सामान्य प्रयोग में 'अर्थ'

का प्रश्न 'प्रमाणीकरण' के प्रश्न से भिन्न है। इन दोनों प्रश्नों में एकरूपता देखी जा सकती है। उदाहरण के लिये, जब हम विज्ञान की कक्षा में जाते हैं और हमारे शिक्षक कहते हैं 'मोम का घनत्व निकालने की प्रमाण विधि लिखिये।' तब उनका कहने का प्रयोजन यह नहीं होता 'मोम का घनत्व निकालने का अर्थ लिखिये।' किसी वाक्य के अर्थ के सम्बन्ध में बात करना एक बात है और प्रमाण विधि के संबंध में बात करना दूसरी बात। यही नहीं, यदि हमें किसी वाक्य से सम्बन्धित प्रमाण विधि का निरूपण करने के लिए कहा जाये तब यह असंभव होगा कि हम वह निरूपण कर सकें, जब तक कि हम उस वाक्य का अर्थ पहले से न जानते हों। किसी किसी वाक्य के अर्थ का ज्ञान प्रमाण विधि के ज्ञान से पूर्व होना तार्किक रूप से अनिवार्य है। क्योंकि 'तर्क-वाक्य का अर्थ' द्वारा उपलक्षित ज्ञानस्थिति का 'प्रमाण विधि' द्वारा उपलक्षित ज्ञानस्थिति से कोई भी अनिवार्य सम्बन्ध नहीं—अगर ऐसा अनिवार्य सम्बन्ध है तब प्रमाणीकरण सिद्धांत सूचना विहीन पुनरुक्ति है - अत: ऐसी ज्ञानस्थिति संभाव्य है जिसके द्वारा हम किसी तर्क-वाक्य का अर्थ यह जाने बिना जानते हों कि उससे संबंधित प्रमाण विधि क्या है। यदि यह मान भी लिया जाय कि कुछ सीमित क्षेत्र, जैसे विज्ञान, में किसी वाक्य का अर्थ वही लगाया जाता है जो प्रमाण विधि है तो भी इस सत्य को हम सामान्य रूप से भाषा में प्रयुक्त सभी प्रकार के वाक्यों पर नहीं लगा सकते। इस सम्बन्ध में मार्गरेट मैकडोनाल्ड का कथन है, 'यह सत्य हो सकता है कि वैज्ञानिक अपने ज्ञान और प्रमाणीकरण-प्रक्रिया में एकरूपता देखता हो, परन्तु यह भी सत्य है कि प्रमाणीकरण का प्रयोग विज्ञान तथा दूसरे स्थानों पर भी, तर्क-वाक्यों का अर्थ-निर्धारक नहीं, प्रत्युत उनकी सत्यता प्रमाणित करने के लिये होता है'।[४] फिर प्रमाणीकरण को अर्थ की परिभाषा कहने का क्या प्रयोजन है? उसे अर्थ की परिभाषा कहने का तो यही अभिप्राय है कि जब तक हम किसी वाक्य से सम्बधित प्रमाण विधि नहीं जानते, वह वाक्य निरर्थक है। इसके विपरीत वास्तविकता यह है कि प्रमाण विधि की बात करना निरर्थक है जब तक हम उस वाक्य का अर्थ नहीं जानते हों।

उपरोक्त आपत्ति से बचने के लिये कहा जा सकता है कि प्रमाणीकरण किसी वाक्य की सत्यता-असत्यता निर्धारित करता है और इसीलिये उस वाक्य का अर्थ भी। यदि हम यह जानते हैं कि एक वाक्य सत्य है, तब हम यह भी जानते हैं कि वह निरर्थक नहीं हो सकता। किसी वाक्य की सत्यता के प्रश्न और उसके अर्थ के प्रश्न में एकरूपता देखी जा सकती है। किन्तु हम 'अर्थ' और 'सत्यता' के प्रश्नों को एक नहीं मान सकते, क्योंकि हम किसी वाक्य का अर्थ जान सकते हैं, बिना यह जाने हुए कि वह सत्य है, अथवा किन विशेष परिस्थितियों में सत्य हो सकता है। उक्त स्थापना को हम सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे। मान लिया जाय 'य' ऐसे वाक्यों का बोधक है जिनके प्रामाण्य वाक्य (directly verifiable prorositions) 'र' द्वारा बोधित किये जाते हैं। हमें देखना है कि क्या 'र' सभी प्रयोगों में 'य' की सत्यता का सूचक उदाहरण के लिये 'य' वाक्य है 'ओलगा मायकेल से प्रेम करती थी' और 'र' है 'तलाक'* में लिखा है कि ओलगा मायकेल से प्रेम करती थी। तब हम 'तलाक में लिखा है 'ओलगा मायकेल से प्रेम करती थी' से यह निषकर्ष निकाल सकते हैं कि 'यह सत्य है कि ओलगा मायकेल से प्रेम करती थी।' प्रस्तुत उदाहरण में 'य' की सत्यता निर्धारण के लिये 'र' उपयुक्त प्रामाण्य वाक्य है। परन्तु क्या हम 'य' द्वारा उपलक्षित दूसरे वाक्यों के सम्बन्ध भी यही धारणा व्यक्त कर सकते हैं? मान लिया जाय 'य' एक ऐतिहासिक घटना का वाक्य है, तब हमारा उत्तर क्या होगा? उदाहरण के लिये 'य' वाक्य है '१५ अगस्त १९४७ में भारतवर्ष स्वतंत्र हो गया था।' और 'र' है 'इतिहास की पुस्तक में लिखा है कि १५ अगस्त १९४७ में भारतवर्ष स्वतंत्र हो गया था।' यहाँ पर यह बतला देना उचित होगा कि हमने

* 'तलाक' ऐन्टन चेखव की एक कहानी का नाम है और 'ओलगा' तथा 'मायकेल' उस कहानी के पात्र हैं।

प्रमाणीकरण को दोषी ठहराने के लिये कोई काल्पनिक उदाहरण नहीं गढ़ा है। ऐतिहासिक घटना सम्बन्धी वाक्यों के प्रामाण्य वाक्य प्रद्रष्यतावादियों तथा दार्शनिक संशयवादियों द्वारा इसी प्रकार से प्रयुक्त होते हैं।[८६] प्रश्न उठता है, क्या हम 'इतिहास की पुस्तक में लिखा है कि १५ अगस्त १९४७ में भारतवर्ष स्वतंत्र हो गया था' से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं 'यह सत्य है कि १५ अगस्त १९४७ में भारतवर्ष स्वतंत्र हो गया था ?' क्या इस उदाहरण में 'र' को ऐसा प्रामाण्य वाक्य माना जा सकता है जो 'य' की सत्यता को लागू कर सके ? कभी भी नहीं। क्योंकि हो सकता है कि इतिहास की पुस्तक में गलत लिखा हो। हम ऐतिहासिक प्रामाण्य वाक्य 'र' की तुलना उन वाक्यों से कर सकते हैं जिन्हें रसल अपनी पुस्तक प्रिंसिपिया मैथेमेटिका (Principia Mathematic) में इन्टेंशनल वाक्य (intensional sentence) कहते हैं, जैसे 'मेरा विश्वास है कि बाहर पानी बरस रहा है' इन वाक्यों की विशेषता यह है कि हम इन्हें मूल वाक्यों के सत्य व्यापार नहीं कह सकते है। जिस प्रकार हम 'मेरा यह विश्वास है कि बाहर पानी बरस रहा है' से यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते 'यह सत्य है कि बाहर पानी बरस रहा है', उसी प्रकार 'इतिहास की पुस्तक में लिखा है कि १५ अगस्त १९४७ में भारतवर्ष स्वतंत्र हो गया था' से भी यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि 'कि सत्य है कि १५ अगस्त १९४७ को भारत स्वतंत्र हो गया था'। स्पष्ट है, 'र' को 'य' का उचित प्रामाण्य वाक्य नहीं माना जा सकता। इस आपत्ति का उत्तर दिया जा सकता है। कहा जा सकता है कि 'र' से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता 'यह सत्य है कि १५ अगस्त १९४७ में भारतवर्ष स्वतंत्र हो गया था', परन्तु यह निष्कर्ष तो अवश्य ही निकाला जा सकता है कि 'यह सत्य हो सकता है, अथवा यह संभव है कि सत्य हो कि १५ अगस्त १९४७ में भारतवर्ष स्वतंत्र हो गया था।' परन्तु यह तो आपत्ति का उत्तर नहीं हुआ। यह तो एक प्रकार से मानना हुआ कि प्रामाण्य वाक्य 'र' तर्क-वाक्य 'य' का नहीं प्रत्युत एक दूसरे तर्क-वाक्य 'ल' का प्रामाण्य वाक्य है। कोई प्रद्रष्यतावादी यह आक्षेप कर सकता है कि 'य' और 'ल' समानार्थी हैं, अत: अदि 'र' को 'य' का प्रामाण्य वाक्य माना जा सकता है तब वह 'ल' का प्रामाण्य वाक्य भी होगा। क्या 'य' और 'ल' समानार्थी हैं ? यदि वे समानार्थी हैं तब 'ल' को प्रस्तुत करने की क्या आवश्यकता थी ? 'ल' में 'सत्य' शब्द का प्रयोग वह अर्थ नहीं रखता जो वह 'य' में रखता है। वास्तविकता तो यह है कि किसी वाक्य के साथ यह जोड़ देना 'य सत्य हो सकता है' .....अथवा 'संभव है कि यह सत्य हो' एक निराले ढंग से इस बात से इन्कार करना है कि 'यह सत्य है।' 'यह सत्य हो सकता है' ......के प्रयोग में यह संभावना विद्यमान रहती है कि 'संभव है कि यह असत्य हो'। स्पष्ट है कि 'य' किसी भी प्रकार 'ल' का समानार्थी नहीं हो सकता, और इसीलिये 'र' किसी भी प्रकार 'य' का प्रामाण्य वाक्य कहलाने की योग्यता नहीं रखता। 'र' द्वारा 'य' की सत्यता निर्धारित करने का प्रश्न तो दूर रहा 'र' को 'य' का उपयुक्त प्रामाण्य वाक्य मानने का प्रश्न ही तर्क विरुद्ध है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि यदि प्रमाणीकरण सिद्धांत सत्य है तब इतिहासकार और उपन्यासकार में कोई भी भेद नहीं रह जाता, उपन्यास-वाक्यों की सत्यता-असत्यता प्रमाणित करने के लिये उसी वर्ग के प्रामाण्य वाक्य प्रयुक्त होते हैं जिस वर्ग के प्रामाण्य वाक्य इतिहास वाक्यों की सत्यता-असत्यता प्रमाणित करने के लिए होते हैं। वास्तविकता तो यह है कि प्रमाणीकरण का ठीक उपयोग उपन्यास वाक्यों पर ही हो सकता है, क्योंकि इन वाक्यों के लिये ही उपन्यासों में लिखित वाक्य उचित रूप से प्रामाण्य वाक्य माने जा सकते हैं।

अब हम कुछ दार्शनिकों द्वारा प्रयुक्त युक्तियों पर विचार करेंगे। बर्लिन तथा लाज़रोविट्ज के विचार इस सम्बन्ध में अधिक स्पष्ट हैं। लाज़रोविट्ज ने एयर के 'संदिग्ध' तथा 'निर्णायक' शब्दों के प्रयोग पर आक्षेप किया है। उनका कथन है 'वास्तव में 'असंदिग्ध' तथा 'संदिग्ध' प्रमाण योग्यता में कोई भी वैशिष्ट्य नहीं है, इसलिये नहीं कि 'असंदिग्ध' तथा 'संदिग्ध' प्रमाण योग्यता समानार्थी हैं प्रत्युत

इसलिये कि वे इस भाँति प्रयुक्त हुए हैं कि इनका कोई भी अर्थ नहीं है' ।[८७] हम पीछे देख चुके हैं कि 'निर्णायक' तथा 'असंदिग्ध' शब्दों का एयर ने अपनी पुस्तक के प्रथम संस्करण में ऐसा प्रयोग किया है कि कोई भी तर्क-वाक्य निर्णायक अथवा असंदिग्ध प्रमाण योग्य नहीं है। लाज़रोविट्ज ने इसी ओर ध्यान आकृष्ट किया है। अगर यह प्रमाणित हो जाय कि एयर द्वारा 'असंदिग्ध' तथा 'निर्णायक' शब्द निरर्थक रूप में प्रयुक्त हुए हैं तब यह भी प्रमाणित हो जायगा कि एयर 'संदिग्ध' तथा 'अनिर्णायक' शब्दों को कोई भी अर्थ नहीं देते। हम 'दार्शनिक संशयवाद' लेख में राइल की युक्ति प्रस्तुत करते समय देख चुके हैं कि कोई 'इन्द्रिय जन्य ज्ञान केवल तब ही भ्रामक हो सकता है जबकि कोई इन्द्रियजन्य ज्ञान सत्य भी हो' ।[८८] किसी वस्तु को हम 'ठंडी' तभी कह सकते हैं जबकि कोई वस्तु 'गर्म' भी हो। ऐसा नहीं होता कि कोई वस्तु ठंडी बनी रहे जबकि कोई भी वस्तु गर्म न हो। 'गर्म' शब्द के निरर्थक हो जाने पर 'ठंडी' का प्रयोग भी निरर्थक हो जाता है। एयर 'असंदिग्ध' तथा 'निर्णायक' शब्दों को निरर्थक रूप में प्रयुक्त करते हैं। अत: 'संदिग्ध' तथा 'अनिर्णायक' शब्दों का भी कोई अर्थ नहीं दिया जा सकता। इस सम्बन्ध में लाज़रोविट्ज का कथन है, 'अगर 'निर्णायक प्रमाण योग्यता' का प्रयोग अर्थपूर्ण है तब यह भी अर्थपूर्ण होना चाहिये कि कुछ 'निर्णायक प्रमाण योग्य' हो सकता है' ।[८९] परन्तु एयर के अनुसार,ऐसा तर्क-वाक्य संभाव्य भी नहीं है जो निर्णायक प्रमाण योग्यता रखता ही हो। स्पष्ट है कि एयर द्वारा प्रस्तुत अर्थ सम्बन्धी सिद्धांत निरर्थक शब्दों पर आधारित है। 'संदिग्ध प्रमाणीकरण सिद्धांत' को अर्थ की परिभाषा मानने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वह सिद्धांतत: निरर्थक है।

यहाँ पर प्रश्न उठ सकता है कि 'संदिग्ध प्रमाणीकरण सिद्धांत' निरर्थक नहीं है क्योंकि ऐसे तर्क-वाक्य विद्यमान हैं जो 'असंदिग्ध प्रमाण योग्यता' रखते हैं। हम ब्रैथवेट की आलोचना करते समय देख चुके हैं कि उनके अनुसार 'मुझे पीड़ा है' एक ऐसा ही 'असंदिग्ध प्रमाण योग्य' तर्क-वाक्य है। स्वयं एयर भी अपनी पुस्तक के दूसरे संस्करण में इन तर्क-वाक्यों को असंदिग्ध तथा निर्णायक प्रमाण योग्य मानने लगे हैं। इन वाक्यों को अनुभव के मूल वाक्य भी कहते हैं। यह वाक्य नवीन स्तरवर्ती विश्लेषण (New level analysis) तथा प्रमाण विधि की सीमा के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इन्हें नामों (Names) में विश्लेषित किया जा सकता है, दूसरे तर्क-वाक्यों में नहीं। क्या इन मूल वाक्यों को असंदिग्ध प्रमाण योग्य कहना संभव है ? ऐसा कहना तभी संभव है, जबकि इन्हें प्रमाण योग्य कहने में कोई अर्थ हो। परन्तु इन्हें प्रमाण योग्य कहने में कोई भी अर्थ नहीं। अत: 'असंदिग्ध प्रमाण योग्य' अथवा 'निर्णायक प्रमाण योग्य' कहने में भी कोई अर्थ नहीं हो सकता। ब्रैथवेट 'प्रमाण योग्यता' को कोई भी अर्थ नहीं देते जब वे कहते हैं -''मेरा पीड़ा का अनुभव इस तर्क-वाक्य को प्रमाणित करेगा 'कि पीड़ा है' ।'' ब्रैथवेट की आलोचना करते हुए लाजरोविट्ज कहते हैं,[९०] ''क्या यह कहना कि मैं ऐसे सांवेदनिक प्रकथनों (Statements) का प्रत्यक्षीकरणादि द्वारा प्रमाणीकरण कर सकता हूँ, इस अर्थ में कि इनके प्रमाणीकरण द्वारा मुझे ज्ञानोपलब्धि होती है, जिसका अन्यथा अभाव होता है, कुछ अर्थ रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'मुझे वेदना हो रही है' जैसे प्रकथनों के प्रमाणीकरण के प्रयास में मुझे एक ऐसे प्रकथन से आरम्भ करना होगा जिसकी सत्यता के विषय में मुझे कुछ ज्ञात नहीं है और तब इसके प्रमाणीकरण के लिए कुछ प्रत्यक्षीकरणादि की प्रक्रिया में प्रवृत्त होना होगा, मानो, मैं उस वेदना के, जो कि अब मुझे है, ज्ञानाभाव में आरंभ कर सकता हूँ और फिर अवलोकन के द्वारा यह विनिश्चय कर सकता हूँ कि 'मुझे वेदना थी' । ''किन्तु स्पष्टत: यह निरर्थक है। इसका कोई संगत अर्थ नहीं होता कि 'मैं विनिश्चय करने लगा हूँ कि 'मुझे वेदना है या नहीं।' मानो मैं विनिश्चय करना चाहता हूँ कि मैं अमुक अनुभव कर रहा हूँ, जिसके सम्बन्ध में, उसे अवलोकन से पूर्व, मैं नहीं जानता था और इस अवलोकन के द्वारा ही जान सका हूँ।' लाज़रोविट्ज के आक्षेप से यह सिद्ध हो जाता है कि 'संदिग्ध प्रमाणीकरण' एक निरर्थक सिद्धांत है। इसी आक्रमण से

बचने के लिये एयर को अपने विचार बदलने पड़े और अपनी पुस्तक के दूसरे संस्करण में वह यह कहने लगे कि कुछ तर्क-वाक्य असंदिग्ध प्रमाण योग्य हैं। परन्तु जिन तर्क-वाक्यों को वह 'असंदिग्ध' अथवा 'निर्णायक' प्रमाण-योग्य मानते हैं वे वही तर्क-वाक्य हैं जिन्हें प्रमाण योग्य कहना ही निरर्थक है। अत: एयर ने जो अपने विचारों में संशोधन किया है वह कोई भी महत्त्व नहीं रखता। जिस प्रकार से लाज़रोविट्ज़ ने ब्रैथवेट का खण्डन किया उतने ही जोरदार शब्दों में उन्होंने एयर के संशोधित विचारों का भी खण्डन किया है। उनका कथन है :-[५१] "वेदनानुभव का बोधन अथवा प्रमाणीकरण की प्रक्रिया यह एक भ्रान्त प्रयोग है, मानो वेदना होने के अतिरिक्त, यह जानने के लिए कि 'पीड़ा है' इसका बोधन करना आवश्यक है। मूल प्रकथनों (Basic pripositions) का ज्ञान उनके प्रमाणीकरण की प्रक्रिया से स्वतंत्र ही प्राप्त होता है।"

यदि एयर-ब्रैथवेट संदिग्ध प्रमाणीकरण सिद्धांत को निरर्थकता से बचाना चाहते हैं, तब उन्हें यह मानना पड़ेगा कि अनुभव के मूल वाक्य ही नहीं प्रत्युत कुछ अन्य तर्क-वाक्य भी असंदिग्ध प्रमाण योग्यता रखते हैं। परन्तु एयर-ब्रैथवेट ने ऐसे सुधार का संकेत अभी तक नहीं किया है।

बर्लिन ने कुछ भिन्न प्रकार के आक्षेप किये हैं। बर्लिन ने यह दिखलाया कि जिस प्रकार असंदिग्ध प्रमाणीकरण ने निरर्थक वाक्यों का दायरा बहुत बड़ा दिया, संदिग्ध प्रमाणीकरण ने यह दायरा इतना कम कर दिया है कि जिन वाक्यों को सामान्य रूप से निरर्थक माना जाता है वे वाक्य भी इस कसौटी पर अर्थपूर्ण प्रमाणित हो जाते हैं। हम देख चुके हैं कि एयर का कथन था, 'यह शुद्ध तर्क-वाक्य का लक्षण है.... कि कुछ अनुभवीय तर्क-वाक्यों का उसके द्वारा निगमन हो सके, उन अन्य वाक्यों के साथ जिनके साथ स्वतंत्र रूप से उनका निगमन न हो सकता हो।' एयर की इस कसौटी पर निरर्थक वाक्य शुद्ध तर्क-वाक्य बन जाते हैं। उदाहरण के लिये बर्लिन द्वारा प्रयुक्त युक्ति लेते हैं :-

'यह न्याय समस्या उज्ज्वल तथा हरी है

मैं प्रत्येक हरे रंग की छटा नापसंद करता हूँ।

∴ मैं इस समस्या को नापसंद करता हूँ।'[५२] बर्लिन की युक्ति का खंडन करने के लिये हमें अर्थ की दूसरी कसौटी का सहारा लेना पड़ेगा क्योंकि एयर द्वारा प्रयुक्त प्रमाणीकरण की कसौटी पर यह खरी उतरती है। यदि किसी दूसरे सिद्धांत के प्रयोग से हम किसी वाक्य अथवा युक्ति को निरर्थक अथवा अर्थपूर्ण प्रमाणित कर लेते हैं तब प्रमाणीकरण सिद्धांत व्यर्थ सिद्ध हो जाता है। उक्त युक्ति से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रमाणीकरण के प्रयोग से पहले हमें किसी वाक्य का अर्थ ज्ञात होना चाहिये। प्रत्यक्षवादी अर्थ को प्रमाणीकरण पर आधारित मानकर 'घोड़े के सामने गाड़ी रख देने की' कहावत चरितार्थ करते हैं। इविंग ने अपने लेख में एयर के सिद्धांत को सही मानते हुए परमार्थ वाक्यों को उसके द्वारा अर्थपूर्ण प्रमाणित किया है।'[५३] परन्तु इविंग का आक्रमण इतना प्रभावशाली नहीं है जितना कि बर्लिन का है क्योंकि बर्लिन ने प्रमाणीकरण का प्रयोग उन वाक्यों पर किया है जिन्हें अध्यात्मवादी भी निरर्थक वाक्य मानते हैं।

अब हम श्री यशदेव शल्य के लेख 'अर्थ और प्रमाणीकरण' को देखेंगे। अपने लेख में श्री शल्य ने एयर-ब्रैथवेट की भाँति ही किसी वाक्य का अर्थ उससे सम्बन्धित प्रमाणीकरण, परीक्षीकरण अथवा पुष्टीकरण बतलाया है। अपने लेख में श्री शल्य ने 'प्रतीकों' का प्रयोग अत्यधिक किया है, जो लेख की सुंदरता ऐसे ही बढ़ा देते हैं जैसे आभूषण किसी नवयुवती की सुंदरता। कहीं-कहीं पर तो उन प्रतीकों का प्रयोग अनावश्यक भी दिखाई देता है, क्योंकि उनके प्रयोग के साथ ही साथ साधारण वाक्यों (Ordinary sentences) के प्रयोग द्वारा विचार समुचित रूप से स्पष्ट हो जाते हैं। हम अपनी आलोचना में साधारण वाक्यों के प्रयोग पर ही संतुष्ट रहेंगे। प्रतीकों के प्रयोग से भाषा के दर्शन-

चिंतनशील अंग ढक जाते हैं। साधारण वाक्यों में वे सभी विचार व्यक्त हो सकते हैं, जो प्रतीकों द्वारा किये जा सकते हैं। इसके विपरीत प्रतीक वे सभी विचार व्यक्त नहीं कर सकते जो साधारण वाक्य कर सकते हैं। हम कार्नप और उनके शिष्यों की पद्धति न अपना कर बर्कले और राइल की पद्धति ही अपनायेंगे। हमारी पद्धति में सबसे बड़ा गुण है दार्शनिक चिंतन का दायरा विस्तृत करने का। किसी साधारण वाक्य को किस प्रकार 'प्रतीकों' में अनुवाद किया जाय यह कोई दार्शनिक चिंतन की वस्तु नहीं है।

सर्वप्रथम हम श्री शल्य के अनुभव के मूल वाक्यों से सम्बन्धित विचारों की स्पष्टता आवश्यक समझते हैं। एयर-ब्रैथवेट की आलोचना करते समय हम देख ही चुके हैं कि किसी मूल वाक्यों को असंदिग्ध प्रमाण योग्य कहना निरर्थक है क्योंकि उसे प्रमाण योग्य कहना ही निरर्थक है। श्री शल्य के विचार एयर-ब्रैथवेट से मिलते हैं। वे मूल वाक्यों को एयर-ब्रैथवेट की भाँति ही 'पूर्णत: पुष्ट' मानते हैं। उनके 'पूर्णत: पुष्ट' और एयर-ब्रैथवेट के 'असंदिग्ध प्रमाण योग्य' लगभग एक ही अर्थ रखते हैं। जिस प्रकार से यह कुछ भी अर्थ नहीं रखता कि 'मेरा पीड़ा का अनुभव' इस तर्क-वाक्य को प्रमाणित करेगा कि मुझे पीड़ा हैं, उसी प्रकार यह भी कुछ अर्थ नहीं रखता कि 'मेरा पीड़ा का अनुभव' इस तर्क-वाक्य को पुष्ट करेगा कि मुझे पीड़ा है। लाज़रोविट्ज का आक्षेप एयर-ब्रैथवेट से अधिक श्री शल्य पर लगता है, क्योंकि श्री शल्य यह मानकर चलते हैं कि 'मूल वाक्य न परीक्षणीय है और न पुष्टीकरणीय'। एयर-ब्रैथवेट ने इस भाँति कहीं पर भी विचार नहीं किया था। श्री शल्य विचित्र युक्ति के शिकार हैं। यह विचित्र कथन है कि कोई वाक्य न परीक्षणीय है और न पुष्टिकरणीय और फिर भी वह वाक्य पूर्णत: पुष्ट है। यह ऐसा ही कथन है 'अमुक वस्तु ठंडी नहीं है परन्तु पूर्णत: ठंडी है'। यहाँ पूर्णत: पुष्ट को क्या अर्थ दिया जा सकता है? आगे चलकर वे कहते हैं कि उनके मूल वाक्यों से सम्बन्धित विचारों में इस प्रश्न से कोई भी अंतर नहीं पड़ता कि मूल वाक्य तर्क-वाक्य है अथवा नहीं। परन्तु अन्तर अवश्य ही पड़ता है। क्योंकि यदि मूल वाक्य तर्क-वाक्य नहीं तब उन्हें पूर्णत: अथवा अपूर्णत: पुष्ट कहना निरर्थक है। केवल तर्क-वाक्य ही पूर्णत: अथवा अपूर्णत: पुष्ट हो सकते हैं, विशुद्धत: सांकेतिक प्रतीक अथवा पुनरुक्तियाँ नहीं। कुछ ही आगे चलकर वे मूल वाक्यों की महत्ता इतनी अधिक बढ़ा देते हैं कि उन्हें भाषा के सभी वाक्य अर्थहीन ध्वनियाँ सुनाई देने लगते हैं, जब तक कि उनमें मूल वाक्यों का प्रसंग न हो। परन्तु हम श्री शल्य से कहेंगे कि वे अपना लेख पढ़ कर यह निश्चित करें कि उनके लेख में कितने ऐसे वाक्य प्रयुक्त हुए हैं जिनमें मूल वाक्यों का प्रसंग है, अथवा जिनका विश्लेषण 'सत्य प्रक्रियाओं' में किया जा सकता है। उनके मूल वाक्यों सम्बन्धी इस विचार से उनके अपने ही लेख में अधिकांश वाक्य अर्थहीन ध्वनियाँ ही सिद्ध होंगे। वास्तविकता यह है कि जिन वाक्यों का प्रयोग उन्होंने अपने लेख में किया है वे वाक्य अर्थहीन नहीं हैं प्रत्युत अर्थ की जिस विचारधारा का उन वाक्यों द्वारा अनुमोदन हुआ है, वही अर्थहीन है। मूल वाक्यों से ही सम्बन्धित उनका कथन है ''जब हम हाथी देखते हैं,'यह हाथी है', तब यह वाक्य पूर्णत: प्रमाणित है तथा यह सब प्रकार के विश्लेषणों तथा सम्बन्धों से निरपेक्ष है।'' अपने कथन द्वारा श्री शल्य वास्तव में यह दावा कर रहे हैं कि वे ऐसा हाथी देख लेते हैं जो सभी विश्लेषणों तथा सम्बन्धों से निरपेक्ष हो। हम देखते हैं कि श्री शल्य का 'अनुभववादी हाथी' तो वस्तुवादियों के 'वस्तुवादी हाथी' से भी अधिक 'मेटाफिजिकल' है। वस्तुवादी जब किसी विश्लेषण तथा सम्बन्ध निरपेक्ष हाथी की माँग करते हैं तब वे यह नहीं कहते कि ऐसा हाथी अनुभव सापेक्ष है। परन्तु श्री शल्य ऐसा ही दावा करते हैं क्योंकि वे अनुभववादी हैं और अनुभववादी तर्कानुसार 'यह' शब्द का प्रयोग अनुभव के सम्बन्ध में ही हो सकता है।

श्री शल्य ने पुष्टीकरणीय अथवा प्रमाणीय वाक्य तीन प्रकार के बतलाये हैं, (१) आभ्युपगमिक (Hypothetical), जैसे 'साथ के कमरे में मेज है' (२) सामान्य (General), जैसे 'सब मनुष्य मरण धर्मा हैं', तथा (३) अस्तित्त्व प्रतिपादक (Existential), जैसे 'एक मनुष्य मुझे मिला था।' इससे ज्ञात होता

है कि श्री शल्य 'सिद्धांत वाक्यों' को अलग श्रेणी में रखते हैं, परन्तु उन्हें मूलवाक्यों की भाँति ही 'तर्क-वाक्य' नहीं मानते। इससे पहले कि हम सिद्धांत वाक्यों का स्पष्टीकरण करें, आभ्युपगमिक वाक्यों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। श्री शल्य अन्य अनुभववादियों की भाँति ही 'उस कमरे में मेज़ है' को आभ्युपगमिक मान लेते हैं। इस परमार्थवादी धारणा के लिये कोई युक्ति नहीं देते, जैसे कि यह धारणा सर्वमान्य सत्य हो। 'उस कमरे में मेज़ है' न ही व्याकरण की दृष्टि से और न ही तार्किक दृष्टि से आभ्युपगमिक दिखाई देता है। यह सत्य है कि ऐसे वाक्यों का प्रयोग कुछ आभ्युपगमिक वाक्यों को इन्टेल (Ential) करता है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो जाता कि ये वाक्य स्वयं ही आभ्युपगमिक हैं। प्रश्न उठ सकता है, यह कैसे प्रमाणित हो कि जो वाक्य आभ्युपगमिक वाक्यों को इन्टेल करता है वह स्वयं ही आभ्युपगमिक नहीं हो सकता ? इस कथन के लिये इससे अधिक प्रमाण क्या होगा कि जिस प्रकार इन वाक्यों का प्रयोग आभ्युपगमिक वाक्यों को इन्टेल करता है उसी प्रकार आभ्युपगमिक वाक्यों का प्रयोग इन वाक्यों को जैसे, 'अगर मैं उस कमरे में जाऊँ तब विशिष्ट संवेद घटित होंगे' इन्टेल करता है, परन्तु स्वयं ही ऐसे वाक्यों द्वारा इन्टेल नहीं होता। यहाँ पर 'इन्टेलमेंट-सम्बन्ध' ऐसी ही प्रकृति रखता है जैसी कि हम 'रक्त वर्ण' और 'वर्ण' के प्रयोग में देख सकते हैं। उदाहरण के लिये, जब हम यह कह रहे हैं 'यह रक्त वर्ण संस्थान है' तब हम यह भी कह रहे हैं 'यह वर्ण संस्थान है'। परन्तु क्या जब हम यह कह रहे हैं 'यह वर्ण संस्थान है तब हम यह भी कह रहे हैं 'यह रक्त वर्ण संस्थान है ?' कभी नहीं। क्योंकि हो सकता है कि 'यह पीत वर्ण संस्थान हो।' यदि किसी प्रकार यह सिद्ध हो जाय कि कोई आभ्युपगमिक वाक्य 'उस कमरे में मेज है' को उसी अर्थ में इन्टेल करता है, तब यह सिद्ध हो जायगा कि यह संभव है कि 'उस कमरे में मेज है' केवल आभ्युपगमिक हो। इन दोनों वाक्यों में केवल व्याकरण का भेद हो। इससे यह भी सिद्ध हो जायेगा कि 'उस कमरे में मेज है' तार्किक दृष्टि से ऐसा निरपेक्ष (Categorical) वाक्य नहीं जो किसी भौतिक पदार्थ के निरपेक्ष अस्तित्त्व (Categorical Existence) का प्रतिपादक हो। किसी तर्क-वाक्य को आभ्युपगमिक कहने का यही अर्थ है कि वह वाक्य किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में निरपेक्ष स्वीकृति (Categorical assertion) नहीं है।

यहाँ पर 'प्रक्कल्पना'(Hypothesis) तथा 'आभ्युपगमिक' (Hypothetical) शब्दों के सम्बन्ध में स्पष्टता आवश्यक है। साधारणतया किसी तर्क-वाक्य को 'प्रक्कल्पना' कहने का यह अर्थ होता है कि उसके द्वारा बोधित ज्ञान 'शोध्य'(Corrigible) है। अत: जब कोई अनुभववादी यह कहता है कि सभी तर्क-वाक्य केवल 'प्रक्कल्पना' हैं तब उसके कहने का यही प्रयोजन होता है कि कोई भी तर्क-वाक्य ऐसा नहीं होता जिसका ज्ञान संशय रहित हो, अथवा अशोध्य हो। यदि इस दृष्टिकोण को अपना लिया जाय तब 'प्रक्कल्पना' के प्रयोग में 'आभ्युपगमिक' के प्रयोग से महान अन्तर है। क्योंकि 'आभ्युपगमिक' से केवल इतना ही ज्ञान होता है कि वह तर्क-वाक्य जो आभ्युपगमिक है, निरपेक्ष स्वीकृति नहीं है। परन्तु 'प्रक्कल्पना' तथा 'आभ्युपगमिक' के प्रयोगों में एक दृष्टिकोण से बहुत ही सामीप्य। अर्वाचीन न्याय शास्त्रियों के अनुसार, यदि कोई तर्क-वाक्य 'आभ्युपगमिक' है, तब वह सामान्य वाक्यों की भाँति ही असंदिग्ध प्रमाण-योग्य नहीं हो सकता। 'आभ्युपगमिक वाक्य' केवल संदिग्ध प्रमाण-योग्य हैं। सामान्य वाक्यों तथा आभ्युपगमिक वाक्यों की प्रकृति एक समान है। किसी वाक्य को आभ्युपगमिक कह देना यह अर्थ रखता है कि वह वाक्य छिपा हुआ सामान्य-वाक्य है और इसीलिये केवल संदिग्ध प्रमाण-योग्य है।[१४] किसी वाक्य को 'प्रक्कल्पना' कहने का भी यही अर्थ होता है कि वह केवल संदिग्ध प्रमाण-योग्य है, क्योंकि उसका ज्ञान शोध्य होता है। अत: हम देखते हैं कि 'प्रक्कल्पना' तथा 'आभ्युपगमिक' के प्रयोगों में गहरा सम्बन्ध है। यदि 'संदिग्ध प्रमाणीकरण' सामान्य वाक्यों का परिभाषिक गुण है तब 'प्रक्कल्पना' तथा 'आभ्युपगमिक' में सामान्य वाक्यों का गुण विद्यमान है।

श्री शल्य 'उस कमरे में मेज' को आभ्युपगमिक किस अर्थ में समझते हैं ? संभवत: दोनों अर्थों में। वे 'उस कमरे में मेज' को छिपा हुआ सामान्य वाक्य मानते हैं, जिसका प्रमाणीकरण केवल संदिग्ध रूप से हो सकता है। इसी प्रकार, वे इसे निरपेक्ष स्वीकृति (Categorical assertion) नहीं मानते, अत: इस प्रकार भौतिक पदार्थ की सत्ता से इन्कार करना चाहते हैं। परन्तु 'उस कमरे में मेज है' व्याकरण की दृष्टि से तो साफ तौर से निरपेक्ष स्वीकृति है, यह कहा जा सकता है कि यदि मैं यह कहूँ 'उस कमरे में मेज है' तब मैं यह भी मान रहा हूँ कि यदि मैं उस कमरे में जाऊँगा तब कुछ विशेष संवेद घटित होंगे। अर्थात् 'उस कमरे की मेज' के सम्बन्ध में निरपेक्ष स्वीकृति किसी ऐसे आभ्युपगमिक वाक्य को इन्टेल करती है जो मेरे संभाव्य संवेदों के सम्बन्ध में है। परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि कोई निरपेक्ष स्वीकृति केवल एक आभ्युपगमिक वाक्य है। श्री शल्य के प्रद्रश्यतावादी मत के लिये कोई युक्ति नहीं दिखाई देती।

श्री शल्य के मस्तिष्क में जो युक्ति 'उस कमरे में मेज है' के सम्बन्ध में विद्यमान है, उस युक्ति को वे 'यहाँ रक्त वर्ण संस्थान है' पर लागू नहीं करते हैं। किसी वाक्य को आभ्युपगमिक मानना एक प्रकार से यह मानना है कि वह वाक्य सामान्य वाक्यों की भाँति ही 'पूर्णत: पुष्ट्य' अथवा 'प्रमाणीय' नहीं है। परन्तु श्री शल्य 'यहाँ रक्त वर्ण संस्थान है' को पूर्णत: पुष्ट मानते हैं, अत: वह ऐसे वाक्यों को तार्किक रूप से भी आभ्युपगमिक नहीं मान सकते। इससे भी बड़ी समस्या यह है कि यदि 'यहाँ रक्त वर्ण संस्थान' को आभ्युपगमिक मान लिया जाय तब प्रद्रश्यतावाद की नींव ढह जाती है। इसे आभ्युपगमिक मानने का यही अर्थ है कि यह वाक्य निरपेक्ष स्वीकृति नहीं है, अर्थात् किसी संवेद विषय (sense data) के निरपेक्ष अस्तित्त्व का बोधक भी नहीं है। इससे बाह्य जगत् न केवल भौतिक पदार्थों से शून्य रह जाता है, वह संवेद विषयों से भी शून्य हो जाता है - न भौतिक पदार्थ हैं और न ही संवेद विषय। इससे कोई भी इनकार नहीं कर सकता कि 'यहाँ रक्त वर्ण संस्थान है' ऐसे आभ्युपगमिक वाक्यों को इन्टेल करता है जैसे कि ''यदि मैं आँख उठाकर देखूं तब रक्त वर्ण संस्थान पाऊँगा।'' जिस युक्ति द्वारा 'उस कमरे में मेज़ है' आभ्युपगमिक सिद्ध होता है उसी युक्ति द्वारा 'यहाँ रक्त वर्ण संस्थान है' भी आभ्युपगमिक सिद्ध होता है, क्योंकि द्वितीय वाक्य भी प्रथम वाक्य की भाँति ही एक आभ्युपगमिक वाक्य को इन्टेल करता है। श्री शल्य के प्रद्रश्यतावाद का क्या स्वरूप होगा जिसमें न भौतिक पदार्थ हैं और न संवेद विषय ही ? स्पष्टत: जो अनुभववादी यह कहते हैं 'सभी तर्क-वाक्य केवल प्रक्कल्पना हैं' वे 'उस कमरे की मेज़' और 'यहाँ प्रदत्त रक्त संस्थान' में कोई भी तार्किक भेद नहीं रख सकते। ये अनुभववादी सामान्य तर्क-वाक्यों की प्रवृत्ति से इतने अधिक प्रभावित हैं कि उन्हें सभी तर्क-वाक्य सामान्य तर्क-वाक्य दिखाई देने लगते हैं। किसी तर्क-वाक्य को प्रक्कल्पना कहना उसे संदिग्ध प्रमाण योग्य कहना है। दोष केवल इतना ही नहीं है कि वे अनुभववादी 'संदिग्ध' तथा 'असंदिग्ध' प्रमाणीकरण को निरर्थक रूप में प्रयुक्त करते हैं, प्रत्युत वे जगत् से सभी प्रकार की वस्तुओं का अस्तित्त्व हटा देते हैं। किसी तर्क-वाक्य को प्रक्कल्पना कहना यह मानना है कि वह सामान्य वाक्यों के गुणों से विभूषित है, और सामान्य वाक्य केवल आभ्युपगमिक हैं, वे किसी भी वस्तु का निरपेक्ष अस्तित्त्व प्रतिपादन नहीं करते। श्री शल्य पर वे आक्षेप नहीं लगाये जा सकते जो अन्य अनुभववादियों पर लगाये जाते हैं, क्योंकि वे 'यहाँ रक्त वर्ण संस्थान है' को न ही आभ्युपगमिक मानते हैं और न ही संदिग्ध प्रमाण योग्य। आक्षेप केवल इतना है कि श्री शल्य ऐसी व्यवस्था कायम नहीं रख सकते कि 'उस कमरे में मेज़ है' आभ्युपगमिक बना रहे है और 'यहाँ रक्त वर्ण संस्थान है' निरपेक्ष तथा पूर्णत: पुष्ट। जिस प्रकार से 'यहाँ रक्त वर्ण संस्थान है' किसी अभ्युपगमिक वाक्य को इन्टेल करते हुए भी स्वयं निरपेक्ष वाक्य बना रह सकता है, उसी प्रकार 'उस कमरे में मेज़ है' भी किसी आभ्युपगमिक वाक्य को इन्टेल करते हुए भी स्वयं निरपेक्ष वाक्य बना रह सकता है।

परन्तु आगे श्री शल्य सिद्धांत वाक्यों को न केवल अनुभवमूलक व्याप्तियों, जैसे 'जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ वह्नि होती है', से भिन्न मानते हैं प्रत्युत वे इन वाक्यों को सामान्य वाक्यों से भी भिन्न मानते हैं। जहाँ तक अनुभवमूलक व्याप्तियों का प्रश्न है, सामान्य वाक्य भी सिद्धांत वाक्यों की भाँति ही अनुभवमूलक व्याप्तियाँ नहीं माने जाते हैं। अत: सिद्धांत वाक्यों को सामान्य वाक्यों से भिन्न प्रकृति का मानने के लिये कुछ दूसरे कारण देखने होंगे। जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, रैम्ज़े तथा श्लिक के अनुसार सामान्य वाक्य तथा प्राकृतिक नियम तर्क-वाक्य नहीं होते, ये तर्क-वाक्य बनाने के 'रूल' हैं। श्लिक की भाषा में कहा जा सकता है कि इन वाक्यों का अर्थ उनका प्रमाणीकरण नहीं होता। अथवा रैम्ज़े की भाषा में कहा जा सकता है कि ये वाक्य सत्य प्रक्रियात्मक नहीं हैं। परन्तु रैम्ज़े अथवा श्लिक के विचारों में दोष यह है कि सामान्य प्रयोग के सामान्य वाक्यों में तर्क-वाक्यों के सभी गुण विद्यमान हैं। उन्हें तर्क-वाक्य न मानना ठीक नहीं जँचता। जिस प्रकार 'सुकरात मरणशील है' किसी एक व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध में है, उसी प्रकार 'सब मनुष्य मरणशील है' भी 'सब मनुष्यों' के संबंध में है। यहाँ 'सब मनुष्यों' को वेरियेबल (Veriable) कह देने से समस्या का हल नहीं होता, और न ही यह कह देने से कि यह वाक्य रूल है अथवा आभ्युपगमिक है। सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि इस बात से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता कि एक सामान्य तर्क-वाक्य किसी भी एक विपरीत घटना द्वारा पूर्णत: प्रत्याख्येय है। और जैसा कि बर्लिन का कथन है 'यह कहना निरर्थक है कि रूल की घटनायें (Instances) होती हैं, अथवा ये प्रत्याख्येय हैं''[५५]। अत: सामान्य वाक्यों को आभ्युपगमिक अथवा रूल कहना ठीक नहीं दिखाई देता, वे तर्क-वाक्य हैं। श्री शल्य रैम्ज़े तथा श्लिक की भाँति ही सिद्धान्त वाक्यों को तर्कवाक्य नहीं मानते। वे एयर की भाँति सामान्य वाक्यों को सन्दिग्ध प्रमाण योग्य तर्कवाक्य मान लेते हैं, परन्तु सिद्धान्त वाक्यों के सम्बन्ध में एयर का अनुसरण न करके रैम्ज़े तथा श्लिक का ही करते हैं। श्री शल्य की यह व्यवस्था हमें उनकी दूसरी व्यवस्थाओं की भाँति ही ठीक नहीं जँचती। क्या यह नहीं हो सकता कि जिन वाक्यों के साथ वे 'सिद्धान्त वाक्य' का प्रयोग करते हैं वे वाक्य केवल शाब्दिक रूप से 'सामान्य वाक्यों' से भिन्न हों ? सिद्धान्त वाक्य केवल एक दूसरे प्रकार के सामान्य वाक्य हों ? 'दो वस्तुएँ समान गुण होने पर समान व्यवहार करती हैं' यह तथाकथित सिद्धान्त वाक्य इस सामान्य वाक्य 'सभी मनुष्य मरण धर्मा हैं' से केवल इसी अर्थ में भिन्न है जिस अर्थ में कि बाद वाला वाक्य इस वाक्य से भिन्न है 'आर्सेनिक एक विष है'। अगर यह सत्य है कि सामान्य वाक्य और सिद्धान्त वाक्यों में केवल शाब्दिक भेद है तब यह असम्भव होगा कि ऐसी व्यवस्था कायम रखी जाय कि एक तो 'तर्क-वाक्य' बना रहे और दूसरा नहीं। एयर का प्रमाणीकरण सिद्धांत जिस प्रकार 'सभी मनुष्य मरण धर्मा हैं' को सन्दिग्ध प्रमाण योग्य प्रमाणित करता है उसी प्रकार 'दो वस्तुएँ समान गुण होने पर समान व्यवहार करती हैं' को भी। प्रथम वाक्य के सम्बन्ध में कहा जा सकता है, '' 'सभी मनुष्य मरण धर्मा हैं' संदिग्ध प्रमाण योग्य है, क्योंकि 'सुकरात मरण धर्मा है' स्वतन्त्र रूप से अकेले ही 'सुकरात मनुष्य' से निर्णीत नहीं होता, परन्तु इन दोनों के संयोग से निर्णीत हो जाता है।''' क्या हम इसी प्रकार सिद्धांत वाक्य के सम्बन्ध में नहीं कह सकते हैं ? क्या हम यह नहीं कह सकते 'दो वस्तुएँ समान गुण होने पर समान व्यवहार करती हैं' संदिग्ध प्रमाण योग्य है, क्योंकि 'यह दोनों वस्तुएँ समान व्यवहार करती हैं' स्वतन्त्र रूप से अकेले ही 'यह दोनों वस्तुएँ समान गुण रखतीं हैं' से निर्णीत नहीं होता, परन्तु इन दोनों के संयोग से निर्णित हो जाता है।' अगर एयर का प्रमाणीकरण सिद्धांत सत्य है तब हम सिद्धांत वाक्यों और सामान्य वाक्यों को भिन्न-भिन्न श्रेणी में नहीं रख सकते, दोनों ही संदिग्ध प्रमाण योग्य हैं। यह सत्य है कि 'दो वस्तुएँ समान गुण होने पर समान व्यवहार करती हैं' पूर्णत: प्रमाणित अथवा पुष्ट नहीं है। परन्तु वह दूसरे सामान्य वाक्यों की भाँति ही 'पूर्णत: प्रत्याख्येय' है, इसमें संदेह होने की कोई गुंजाइश नहीं दिखाई देती। जो इसमें संदेह

करता है कि 'दो वस्तुएँ समान गुण होने पर समान व्यवहार करती हैं' पूर्णत: प्रत्याख्येय है, वह इसे पुनरुक्ति के रूप देखने का प्रयत्न करता है। परन्तु यह संदेह तो सामान्य वाक्यों के साथ भी लगा रहता है। तथाकथित सिद्धांत वाक्यों को पुनरुक्ति के रूप में प्रस्तुत करने की धारणा वैसी ही है जैसी कि सामान्य वाक्यों के साथ विद्यमान रहती है, जिसका समुचित निरूपण स्वयं श्री शल्य ने अपने लेख में किया है। अत: हमारी समझ में सिद्धान्त वाक्यों में कोई भी ऐसा विशेष गुण दिखाई नहीं देता जिससे उन्हें सामान्य वाक्यों से भिन्न श्रेणी में रखा जाय। सामान्य वाक्य और सिद्धांत वाक्य में केवल इतना ही भेद है जितना कि स्वयं ही सामान्य वाक्यों में आपसी भेद है। अगर एक को प्रत्याख्येय अथवा संदिग्ध प्रमाण योग्य तर्क-वाक्य माना जा सकता है तब दूसरे को भी मानने में कोई रुकावट नहीं दिखाई देती।

पर श्री शल्य का कथन है 'इस प्रकार 'तांबा' यह शब्द भूत विज्ञान की एक अवधारणा होकर रह जाता है जिसका अर्थ हमारे कुछ प्रयोगों द्वारा व्यापारों के प्रसंग से है।'' इस कथन को सत्य मानना वे इसलिये अनिवार्य मानते हैं कि ''यदि परमार्थवाद की भ्रान्ति से बचना चाहते हैं तो अवधारणाओं के सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण हमें स्वीकार करना ही होगा।'' उपरोक्त कथन से श्री शल्य का यह अर्थ नहीं है कि 'ताँबा' शब्द सामान्य भाषा के प्रयोग से उठ कर वैज्ञानिकों की प्रयोगशाला में चला जाता है, जहाँ उसका अर्थ केवल उससे संबंधित प्रयोगों तथा व्यापारों के प्रसंग से ही होता है। संभवत: वे केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि 'तांबा' जब वैज्ञानिकों की प्रयोगशाला में प्रयुक्त होता है तब उसका अर्थ वही है जो उस पर किये गये प्रयोगों अथवा व्यापारों का है। परन्तु क्या इतना कहना भी सत्य माना जा सकता है ? उदाहरण के लिये, दो वैज्ञानिकों को ले लेते हैं, जिनमें से एक वैज्ञानिक दूसरे वैज्ञानिक से 'ताँबे' के सम्बन्ध में कुछ अधिक प्रयोग जानता है। यदि 'ताँबे' का अर्थ उस पर किये गये प्रयोगों के प्रसंग से निर्धारित होता है तब क्या हम यह कह सकते हैं कि एक वैज्ञानिक को दूसरे वैज्ञानिक से 'ताँबे' का अधिक 'अर्थ' आता है ? परन्तु यह कहना तो ठीक मालूम होता है कि एक वैज्ञानिक दूसरे वैज्ञानिक से 'तांबे' के सम्बन्ध में अधिक प्रयोग जानता है, वैज्ञानिकों की हँसी उड़ाना है। 'तांबा' शब्द का अर्थ नहीं बदल जाता, चाहे वह वैज्ञानिकों की प्रयोगशाला में प्रयुक्त हुआ हो अथवा मजदूर की झोपड़ी में। हाँ, यह सत्य हो सकता है कि जितनी बार 'यह तांबा है' वाक्य प्रयुक्त होता है, तांबे के पिण्ड भिन्न रहते हों। श्री शल्य जिस सिद्धांत का प्रतिपादन कर रहे हैं वह इतनी बड़ी परमार्थवादी भ्रांति का शिकार है कि यदि वह सत्य है तब भाषा संदेश विहीन हो जायेगी। सामान्य रूप से इसे कोई भी नहीं मान सकता कि 'यह तांबा है','यह मेज है', 'मैं हूँ', 'यहाँ पुस्तक है' आदि वाक्यों का प्रयोग भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न अर्थों में करते हैं। परन्तु यदि श्री शल्य का मत ठीक है तब न केवल दो व्यक्ति ही एक वाक्य को भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग करते हैं प्रत्युत एक ही व्यक्ति एक वाक्य को भिन्न अर्थों में प्रयोग कर सकता है। श्री शल्य का मत उसी प्रकार की भ्रांति का शिकार है जिस मतानुसार किसी शब्द का अर्थ कोई 'वस्तु' अथवा 'गुण' है, जैसे 'मेज' का अर्थ बाह्य जगत् में विद्यमान मेज है। इस प्रकार का विचार रखने से यह अनिवार्य निष्कर्ष होगा कि एक शब्द अथवा वाक्य को प्रत्येक मनुष्य भिन्न अर्थ में प्रयोग करता है। जो मेज मैं इस समय देख रहा हूँ वह मेज कोई दूसरा नहीं देख सकता, अत: मैं जब 'यह मेज है' कहता हूँ तब वह अर्थ नहीं हो सकता जो किसी दूसरे के कहने पर होता है। परन्तु क्या 'मेज' का अर्थ बाह्य जगत् में विद्यमान मेज को कह सकते हैं ? क्या यह कहना कोई अर्थ रखता है ''वह मेज !'' 'मेज' शब्द का अर्थ है, जब हम किसी मेज की ओर इशारा करते हैं ? क्या मेज के टूट जाने पर 'मेज' शब्द निरर्थक हो जायेगा ?

यह भी स्पष्ट है कि वाइसमन आदि द्वारा प्रयुक्त 'Open texture' शब्द किसी शब्द के अर्थ का नहीं बल्कि उससे सम्बन्धित परीक्षणों का निरूपण करता है। वह परीक्षणों की संभाव्यता का द्योतक है।

***

संदर्भ सूची

१. 'Philosophical Analysis' by Urmson P. 108.

२. 'Some Misinterpretations of Empiricism' by stace P. 465, MInd 1958, Oct. issue.

३. 'Chance, Love and Logic' by charles Pierce. P. 45. Quoted by Margaret Macdonald in 'Verification and Under-standing' P. 143. P.A.S. 1943. "Meaning of every proposition lies in"

४. श्लिक का नाम ''असंदिग्ध-प्रमाणीकरण'' (Strong verification) के सम्बन्ध में आता है।

५. See "Tractatus-Logico-Philosophicus" by wittgenstein.

६. See "Testability and Meaning" Philosophy of Science Vol. 3 and 4.

७. See "Studies in the Logic of confirmation" by Hempel pp.1-26 and 97-121. Mind 1945.

८. See Braithwait's comments on falsifiability 'Propositions about Material Objects', pp. 274-75.P.A.S.1937-38. Also Ayer's 'Language, Truth and Logic' P.25 and Urmson's Philosophical Analysis' P. 113.

९. See-how Ayer's paper 'Verification and Experience' P.A.S. 1936-37, unites verification and Atomism.

१०. See-Investigations. P. 12."It is Interesting to compare the multiplicity of tools in language and of the way they are used, the multiplicity of kinds of words and sentences, with what logicans have said about the structure of language (including the author of the tractatus-logico-Philosophicus)"

११. See-'Ludwig wittgenstein' by wisodom P.258. Mind 1652, Wittgenstein first used the slogan "Don't ask for the meaning ask for the use" at the Cambridge Moral Sciences Club as a supplement to "The meaning of a proposition is the method of its verification".

१२. 'Veriification and Understanding'P.143. (P.A.S. 1934)

१३. Loc. cit. P.95.

१४. दार्शनिक वाक्य क्यों संश्लेषणात्मक तर्कवाक्य अथवा विश्लेषणात्मक पुनरुक्तियाँ नहीं कहे जा सकते, इस विषय में लेखक अपने लेख ''दार्शनिक संशयवाद'' में विचार कर चुका है, (देखें ''दार्शनिक'', ज्ञानमीमांसा विशेषांक पृ. ११, अक्टूबर १९५८)।

१५. See 'The foundations of Mathematics' by Ramsey P. 263. Ramsey says "the chief proposition of philosophy is that Philosophy is non-sense, and not pretend, as wittgenstein does that it is important non-sense."

१६. 'Propositions about Material objects' by Braithwaite P.268. "Verification principle has been used by the positivist philosophers in two ways;negatively, to condemn propositions which are unverifiable as pseudo-propositions and the sentences which purport to express them as non-sense, positively, to define the meaning of sentences expressing verifiable propsitions."

१७. See for emotive meaning of terms "The Meaning of Meaning" by Ogden and Richards,'Ethica and Language' by Stevenson' and 'Communication' by Kari Britton.

१८. Language, Truth and Logic. P. 21 See also 'Studies in the Logic of Confirmation'. Mind 1945. Hempal says "to call a statement.........testable in principle means that it is possible to state just what Experiential findings, if they were actualiy obtained, would Constitute favourable evidence for it."

१९. Ibid p.p.22-23

२०. 'Metaphysics and Meaning' P.425. Mind 1935.

२१. Op.cit.p.23.

२२. See 'Examination of Logical Positivism' by Wemberg p.146. Schlick says "Natural laws do not have the character of propositions which are true or false but rather set forth instruction for the formation of such propositions."

२३. Loc. cil.P.112.

२४. See, liberality of Russell in assuming a large variety of Atomic facts in his lecture on Atomism, published in the 'Logic and Knowledge Allen and Unvin. See also his Presidential Address 'On Verification',P.A.S.1937-38.

२५. See 'General propositions and Causalty' by Ransey published in the Foundations of Mathematics.

२६. Loc. cit.p.p. 26. Hempel also says in the similer language "No finite amount of experiential evidence can conclusively verity a hypothesis.......but finite set of relevant data may well be in accord with the hypothesis and thus constitute Confirming evedence for it."

२७. See 'The ago of Analysis' P. 210. Quoted by Shalya, 'देखें यशदेव शल्य 'संवेद और भौतिक विषय' पृ. ९ दार्शनिक, अप्रैल १९५९ I

२८. Verifiability in Principle' by Berlin P. 233. p.A.S. 1838-39.

२९. Loc. cit. p. 26.

३०. Loc. cit.P. 233.

३१. Ayer says "no proposition other then a tautology, can possibly be anything more than probable hypothesis'. A little latter be denies conclusive falsification as he denies conclusive verification. "A hypothesis can not be conclusively confuted any more than it can be Conclusively verified" pp. 24 25. Language, Truth and Logic.

३२. Defending himself against Stace Ayer points out "Let us call a proposition which records an actual or possible observation an experiential proposition. Then we may say that it is the mark of a genuive factual proposition, not that it should be equivalent to an experimential proposition .... but simply that some experiential propositions can be deduced from it' P. 199. Mind. 1936.

३३. Propositions about Material objects' P. 270.

३४. Ibid P. 270.

३५. Ob. Cit. 271.

३६. Lol. Cit. p. 214.

३७. 'Strong and weak verification' by Lazerowitz Pp. 202-13, Mind 1939.

३८. 'Some Misinterpretations of Empiricism' by Stace p. 476-77 Mind 1958. Oct. Issue. See also refutation of such arguments in the same paper.

३९. Meaninglessness, pp. 347 - 64. Mind 1937.

४०. 'Language, Truth and Logic p. 216. "We do not hold .... that every general hypothesis is, in fact, a Generalisation from a number of observed instance. We agree with the rationalists that the process by which Scientific theories come into being is often deductive rather then inductive."

४१. Loc. Cit. P. 355.

४२. "Metaphysics and Verification" pp. 452-93. Mind 1938.

४३. Ibid p. 455.

४४. Meaning and Verification, p. 5. Mind 1953.

४५. 'Verification and Understanding', p. 144 P.S.A. 1633-34.

४६. See in this connection Ayer's 'Principle of verifiability', p. 200, Mind 1936, also Lewis' 'Mind and the world order', p. 151.

४७. Strong and weak Verification' by Lazerowitz P. 203, Mind 1939.

४८. 'दार्शनिक संशयवाद' पृ. १२, दार्शनिक : ज्ञान मीमांसा विशेषांक, अक्टूबर १९५८.

४९. Op. Cit. P. 207.

५०. Op. Cit. P. 209.

५१. "Strong and weak Verification." p. 350. Mind 1950.

५२. 'Verification' p. 234. P.A.S. 1938-39.

५३. "Meaninglessness" p. 352. Mind. 1937.

५४. See 'Verification' p. 235. A.S.P. 1938-39. "It has too often been assumed by logicians that all hypothteical propositions are general, and all general proposition are hypothetical."

५५. Loc. Cit. P. 232.

याकूब मसीह

आधुनिक ज्ञानमीमांसा में बुद्धिवादियों (Rationaists) और अनुभववादियों (Empiricists) में बहुत मतभेद रहा है। बुद्धिवादियों का कहना है कि यथार्थ ज्ञान के वाक्यों को अनिवार्य होना चाहिये और अपने मत की पुष्टि करने के लिये वे गणितीय वाक्यों का उदाहरण हमारे सामने पेश करते हैं। जैसे, २ और २ मिलकर ४ होते हैं। अनिवार्य (necessary) वाक्य वे हैं जिनके विरोधी वाक्यों को सही स्वीकार करने की हम कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। उपर्युक्त उदाहरण में २ और २ का योगफल ४ के सिवा और किसी अंक के सही होने की हम कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। इसी प्रकार के वाक्य तर्क-शास्त्रों में भी पाये जाते हैं। जैसे 'ऐसी वस्तुयें जो किसी एक ही वस्तु के बराबर हों वे आपस में भी अवश्य बराबर होंगी।' अब ये वाक्य क्यों अनिवार्य कहें जाते हैं ? बुद्धिवादियों का कहना है कि ये वाक्य अनुभवपूर्वीय प्रत्ययों (a priori ideas) से निर्मित होते हैं, और अनुभव पूर्वीय प्रत्यय वे हैं जो मानव के विचार करने के स्वरूप पर ही आधारित होते हैं। मानव-विचार, बिना विचार के स्वरूप की संरक्षा किये हुए, सत्य नहीं हो सकते हैं और चूँकि अनिवार्य वाक्य अनुभवपूर्वीय प्रत्ययों पर (जो विचार के स्वयं स्वरूप से सीधे निकलते हैं) आधारित हैं, इसलिये मानव इन्हें बिना स्वीकार किये हुए रह ही नहीं सकता है। यही कारण है कि शुद्ध गणितीय तथा तर्कशास्त्रीय वाक्य मानव को अनिवार्य स्वीकार करना पड़ता है।

बुद्धिवादियों के विपक्ष में अनुभववादियों का कहना है कि यथार्थ ज्ञान के वाक्य निरीक्षण पर आधारित होते हैं और निरीक्षण पर आधारित रहने के कारण ये वाक्य कभी भी अनिवार्य नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार के वाक्य अनुभवात्मक विज्ञानों (Empirical sciences) में विशेषतया पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, कहा जाता है कि 'ताप से धातुओं में फैलाव होता है', या 'पानी से प्यास बुझती है'। इस प्रकार के वाक्यों के विपक्ष की हम कल्पना कर सकते हैं। हम कम से कम सोच सकते हैं कि ताप से फैलाव न होकर सिकुड़न हो, या पानी से प्यास न बुझकर बढ़ जाये। अत:, अनुभववादियों के कथनानुसार, वाक्य निरीक्षणाश्रित होते हैं और उनकी सत्यता प्रायिक (Probable) ही हो सकती है।

वास्तव में देखा जाय तो दोनों पक्षों की सत्यता आंशिक सिद्ध होती है। यदि कुछ प्रत्यय वास्तव में अनुभवपूर्वीय हैं, और वे यदि मानव विचार के स्वरूप से सीधे निकलते हैं तो, वाक्य अनिवार्य हो सकते हैं। परन्तु यदि आधुनिक बुद्धिवादियों की इस व्याख्या को स्वीकार भी कर लें तो भी बुद्धिवादियों को तथ्यात्मक (Factual) वाक्यों की व्याख्या करने में बड़ी कठिनाई आ जाती है। विज्ञानों के ज्ञान का सम्बन्ध घटनाओं से रहता है, जिन्हें हम केवल अनुभव के आधार पर प्राप्त करते हैं, भला, अन्धे को वर्णों का ज्ञान, बधिरों को संगीत का ज्ञान कैसे हो सकता है ? यदि ज्ञान वस्तुत: अनुभवपूर्वीय प्रत्ययों पर ही आधारित हो, तो स्वप्नवत् यह मानवों की ऐसी रचना होगी जिसके अनुरूप घटनाओं तथा तथ्यों को खोज निकाला ही नहीं जा सकता है। इसी से बुद्धिवादियों की आलोचना करते हुए कांट (Kant) ने

कहा है कि बिना अनुभव से तथ्यों को प्राप्त करते हुए बुद्धिवादी अपने मन की उपज के आधार पर हवाई किला खड़ा करते हैं। परन्तु हवाई किले को कौन ठोस इमारत मान ले सकता है ?

जिस प्रकार से बुद्धिवादी अनुभव की अवहेलना करके तथ्यात्मक वाक्यों की व्याख्या नहीं कर सकते हैं,उसी प्रकार से अनुभववादी, कम से कम आधुनिक ज्ञानमीमांसा में, गाणितीक तथा तर्क-शास्त्रीय वाक्यों की व्याख्या नहीं कर पाये हैं। यदि सभी वाक्य अनुभव से ही प्राप्त होते हैं तो गाणितीक वाक्य भी अनुभवाश्रित कहे जायेंगे। परन्तु यदि हम गाणितीक वाक्यों को आनुभविक (empirical) मान लें तो इनकी अनिवार्यता में बट्टा लग जायेगा। अनुभव के आधार पर हम इतना ही कह सकते हैं कि अभी तक मानव-अनुभव के अनुसार पानी से प्यास बुझती है और आग से ताप मिलता आया है, पर हम अनुभव की ही दुहाई देते हुए नहीं कह सकते हैं कि 'पानी से अवश्यमेव प्यास बुझेगी' या 'आग से अवश्य ही ताप मिलेगा'। न तो भूत, भविष्य और वर्तमान की सभी 'पानी से प्यास बुझने वाली' घटनाओं का हम अनुभव कर सकते हैं, और न हम 'अनिवार्यता' शब्द को काम में ला सकते हैं। अनुभव के आधार पर हम सिर्फ इतना ही कह सकते हैं कि अभी तक अमुक वाक्य सत्यापित (Verified) होकर पुष्ट (Confirmed) होते आये हैं और भविष्य में भी उनके पुष्ट होने की प्रायिकता मान ली जा सकती है। अत: अनुभववाद से गाणितिक तथा तर्क-शास्त्रीय वाक्यों की अनिवार्यता स्पष्ट नहीं हो पाई है।

बुद्धिवाद तथा अनुभववाद के झगड़ों से इतना स्पष्ट हो जाता है कि वाक्य अनिवार्य भी होते हैं और तथ्यात्मक भी। किसी भी बहुमान्य ज्ञान-मीमांसा में इन दोनों प्रकार के वाक्यों के स्पष्टीकरण की क्षमता रहनी चाहिये, नहीं तो उस ज्ञान-मीमांसा को संतोषजनक नहीं माना जायगा। कांट ने इस बात को भली-भाँति समझा था और उन्होंने अपनी आलोचनात्मक (Critical) ज्ञान-मीमांसा में अनुभववाद और बुद्धिवाद के सभी पक्षों को मिलाकर सर्वांगपूर्ण सिद्धांत की रचना करने की कोशिश की थी। कांट की ज्ञानमीमांसा में समसामयिक (Contemporary) सभी सिद्धांत का पूर्वाभास प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। यदि हम कांट की त्रुटियों को दूर कर दें तो हमें समसामयिक तर्क-निष्ठ भाववाद (Logical positivism) या तर्कनिष्ठ अनुभव-वाद प्राप्त हो सकता है। कांट ने वाक्यों को चार वर्गों में बाँटा है, अर्थात् (१) अनुभवपूर्वीय विश्लेषणात्मक (a priori analytic) वाक्य, (२) अनुभवपूर्वीय संश्लेषणात्मक (a priori synthetic) वाक्य, (३) अनुभवोत्तर (a posteriori) विश्लेषणात्मक वाक्य, और (४) अनुभवोत्तर संयोजक (संश्लेषणात्मक) वाक्य। इन चार प्रकार के वाक्यों में कांट ने अनुभवपूर्वीय संयोजक (Synthetic judgement) वाक्यों को ही मुख्य माना है, और इसमें आनुभविक तथा अनुभवपूर्वीय दोनों प्रकार के प्रत्ययों का समावेश हो जाता है।

कांट की गहरी खोज ने ज्ञानमीमांसा की सही समस्या को हमारे सामने रख दिया है, पर उनके इस समस्या के समाधान में कुछ त्रुटियाँ पायी जाती हैं। पहली बात है कि कांट ने विश्लेषणात्मक और संयोजक (Synthetic) वाक्यों के अन्तर को तार्किक आधार के साथ मनोवैज्ञानिक आवरणों से मिलाकर स्पष्ट करने की कोशिश की है। यदि हम सहृदयता से काम लें तो कांट की त्रुटि क्षम्य हो सकती है (*)। परन्तु कांट की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि उन्होंने अनुभवपूर्वीय वाक्यों की सही व्याख्या नहीं की है। ऐसे कोई भी मूल प्रत्यय नहीं हैं जो सभी मानवों के लिए एक समान अनिवार्य कहे जा सकते हैं। मूल

---

* देखें N.K. Smith, 'Ammanuel Kant's Critique of Pure Reason' Abridged Edition- p.p. 30-31। कोरनेर ने इसे स्पष्ट करने की कोशिश की है। देखें S. Korner, 'Kant', A Pelican Book-p.p. 22-30।

प्रत्ययों (categories) की व्याख्या मानवों के रहस्यमय स्वरूप के आधार पर नहीं की सकती है। इसकी भी व्याख्या अनुभवमूलक हो सकती है, और यह काम तर्कनिष्ठ अनुभववादियों ने किया है।

आधुनिक ज्ञानमीमांसा में बुद्धिवादियों ने गाणितिक वाक्यों कोअनुभवातीत रूप से व्यक्त किया है और अनुभववादियों ने गाणितिक वाक्यों की अवहेलना की है। पर गैलेलियों से लेकर सब वैज्ञानिक अपने परीक्षणों (experiments) के निष्कर्ष को गाणितिक रूप देते आये हैं। अत: वैज्ञानिक परम्परा में गाणितिक और आनुभविक वाक्यों का सफल सम्मिश्रण होता आया है। इसी बात को समसामयिक तर्कनिष्ठ अनुभववादी स्पष्ट करने की कोशिश करते हैं। इसलिये तर्कनिष्ठ अनुभववादियों के लिये दो प्रकार के वाक्य अर्थपूर्ण समझे जाते हैं, अर्थात् वियोजक (analytic) और संयोजक (synthetic)। इन दोनों प्रकार के वाक्यों को सही मानने का श्रेय ह्यूम को दिया जाता है। परन्तु वास्तव में ह्यूम ने गाणितिक वाक्यों की कोई पर्याप्त व्याख्या नहीं की है। कांट ने गाणितिक वाक्यों को synthetic और apriori दोनों माना है, जो उनकी भूल है। वास्तव में गाणितिक वाक्यों को वियोजक ही समझा जाता है और अब हमें इसकी अनुभव मूलक व्याख्या देनी है।

प्रश्न उठता है कि क्यों २ + २ = ४ को अनिवार्य समझा जाता है ? समसामयिक विचारधारा के अनुसार गाणितिक तथा तर्कशास्त्रीय वाक्यों को हम इसलिये अनिवार्य समझते हैं कि ये पदों की भाषीय परिभाषा पर निर्भर करते हैं। हम लोगों ने '२' और '+'तथा '४' की ऐसी परिभाषा दी है कि २ + २ का योगफल अवश्य ही '४' होगा। यदि २ + २ का योग '५' या '१०' कहा जाय, तो जो सर्वप्रचलित परिभाषा इन अंकों की है उसकी सर्वमान्यता ही में बट्टा लग जाता है। अब जिस पद की हम जैसी परिभाषा देंगे हमें उस पद को उसी अर्थ में काम में लाना है। अब गाणितिक पदों की परिभाषा इतने दिनों से एक समान चली आ रही है और इसी अभिरूढ़ि (convention) को विचारक इतने दिनों से उपयोगी पा रहे हैं कि हम उनकी आभिरौढ़िक परिभाषा में ही उन्हें व्यवहार में लाते हैं। यही कारण है कि २ + २ = ४ को उनके पदों की भाषीय परिभाषा में काम में लाकर हम उन्हें अनिवार्य समझते हैं। इसी प्रकार से 'सभी त्रिभुज वे समतल धरातलीय आकार हैं जो तीन भुजाओं से घिरे होते हैं,' भाषीय परिभाषा पर आधारित रहने के कारण अनिवार्य समझे जा सकते हैं। यही कारण है कि एयर ने बताया है कि validity of an analytic proposition depends solely on the definitions of the symbols, अर्थात् वियोजक वाक्यों की अर्थपूर्णता उनके अन्तर्गत प्रतीकों की परिभाषा पर निर्भर करती है।[1]

संयोजक वाक्य वे हैं जो निरीक्षण तथा निरीक्षणीय तथ्यों (facts) पर आधारित होते हैं। जैसे, 'अंग्रेज गोरे होते हैं'। अब वास्तव में अंग्रेज गारे होते हैं या नहीं, यह केवल अंग्रेजों के निरीक्षण पर निर्भर करता है। यहाँ भी भाषीय विचार महत्त्व रखते हैं। हम लोग 'इंग्लैंड के निवासियों' को 'अंग्रेज' पुकारते आये हैं। फिर मानवों के त्वचा के एक विशेष वर्ण को 'गोरा' नाम देते आये हैं। इन पदों की रचनाओं का भी अपना नियम हो जाता है। यही कारण है कि सभी वाक्य, चाहे वे वियोजक हों या संयोजक हों, भाषीय विज्ञान (linguistics) पर निर्भर करते हैं। यहीं पर रसेल तथा कार्नपीय शाखाओं में विशेष भेद पाया जाता है।[2] इस गोष्ठी में मैं संयोजक वाक्यों के इस भाषीय विज्ञानात्मक स्पष्टीकरण को छोड़कर इसके सम्बन्ध की सरल तथा प्रारम्भिक व्याख्या पर ही प्रकाश डालने की कोशिश करूँगा।

समसामयिक तर्कनिष्ठ अनुभववादी दो ही प्रकार के वाक्यों को सार्थक समझते हैं, अर्थात् वियीजक और संयोजक। वियोजक वाक्यों की अर्थपूर्णता उनकी भाषीय तथा आभिरौढ़िक परिभाषा पर निर्भर करती है, और संयोजक वाक्यों की अर्थपूर्णता अनुभूत वाक्यों के आधार पर निर्धारित की जाती है। परन्तु वास्तव में दर्शनों में अनेक ऐसे वाक्य पाये जाते हैं जो न तो वियोजक ही हैं और न संयोजक ही। उदाहरणार्थ, दर्शन में कहा जाता है कि 'ईश्वर का अस्तित्त्व है'। अब इस वाक्य को यदि हम

वियोजक मानें तो 'ईश्वर' केवल मानव मन की उपज हो जाता है। परन्तु कोई भी ईश्वर-वैज्ञानिक 'ईश्वर' को कोश-प्रत्यय नहीं मानने को तैयार होगा। इसके विपरीत, यदि 'ईश्वर' को वास्तविक सत्ता माना जाये तो अनुभवजन्य होना चाहिये। अब यदि ईश्वर संवेद्य (sensible) सत्ता न हो तो उसे कम से कम प्रतिभान (intuition) के द्वारा ज्ञातव्य होना चाहिये। यदि 'ईश्वर' ज्ञातव्य हो तो उसके सम्बन्ध का प्रतिभानित ज्ञान भाषा के द्वारा प्रकाशन योग्य होना चाहिये। परन्तु जिन्हें प्रतिभान के द्वारा ईश्वर का ज्ञान होता है वे ईश्वर को अनिवर्चनीय कहते हैं। ऐसी अवस्था में ईश्वर को अनुभवातीत (non-empirical) सत्ता मानना पड़ेगा। अब यदि ईश्वर अनुभवातीत हो तो 'ईश्वर का अस्तित्त्व है' संयोजक वाक्य नहीं हो सकता है। इसीप्रकार से दर्शन में 'आत्मा' तथा 'भौतिक पदार्थ' के सम्बन्ध में वाक्य पाये जाते हैं। इसी प्रकार के वाक्य न तो वियोजक ही हैं, और न संयोजक ही हैं। तर्कनिष्ठ अनुभववादी इन सब वाक्यों को अर्थहीन (meaningless) कहते हैं। प्राय: ऐसे वाक्य तत्त्वमीमांसा (metaphysics) की रचनाओं में प्रयुक्त होते हैं। इसलिये तर्कनिष्ठ अनुभववादी तत्त्वमीमांसा को ही अर्थहीन रचना मानते हैं। अब तत्त्वमीमांसा-सम्बन्धी तर्कनिष्ठ अनुववादियों का कथन उस समय पुष्ट हो जाता है जब वे इस बात को दिखा देते हैं कि वास्तविक ज्ञान वैज्ञानिक ही हो सकता है और यह कि वैज्ञानिक वाक्य, यदि वे वियोजक न हों, तो उनका अर्थ संवेद्यों के आधार पर प्रमाणीकरण विधि पर निर्भर करता है।

अब तर्कनिष्ठ अनुभववादी पहले यही सिद्ध करने की कोशिश करते हैं कि ज्ञान प्रतिभानमय नहीं हो सकता या किसी भी रहस्यवादी रीति से प्राप्त न होकर केवल वैज्ञानिक रीति से ही प्राप्त हो सकता है। यहाँ पर हमारी गोष्ठी के अन्तर्गत यह विषय विशेष स्थान नहीं रखता है। परन्तु यदि हमें तत्वमीमांसा को अर्थहीन दिखाने की समस्या रहती तो हमें इस पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता पड़ती।[3] इसलिये गोष्ठी के शीर्षक को ध्यान में रखते हुए तर्कनिष्ठ अनुभववादियों के इस कथन को हम स्पष्ट करने की कोशिश करेंगे कि वैज्ञानिक संयोजक वाक्यों का अर्थ उनकी प्रमाणीकरण-विधि पर निर्भर करता है, अर्थात् The meaning of a scientific proposition is the method of its verification.

'अर्थ और प्रमाणीकरण' के सम्बन्ध में तर्कनिष्ठ अनुभववादियों के बीच काफी मत-मतान्तर हैं और फिर इसकी आलोचना के फलस्वरूप कम से कम दो पक्षों के प्रति इनमें सहमति हो गई है। पहली बात है कि किसी भी तथ्यात्मक वाक्यों का पूर्ण तथा सबल प्रमाणीकरण नहीं हो सकता है, अर्थात् तथ्यात्मक वाक्य प्रामाण्य होते हुए केवल उपकल्पनात्मक रीति से ही सत्य कहे जा सकते हैं। दूसरी बात पहली से ही निकलती है। यदि कोई तथ्यात्मक वाक्य असंदिग्ध रीति से प्रमाणित नहीं हो सकते हैं तो उन्हें प्रामाण्य (Verifiable) कहना ही नहीं चाहिये। उनका अर्थ संवेद्यों तथा निरीक्षणीयों (Observables) के आधार पर केवल पुष्ट-अपुष्ट (Confirm-disconfirm) ही हो सकता है। इसलिए 'प्रमाणीकरण' की बात न करके यहाँ पुष्ट-अपुष्टीकरण की ही बात की जायेगी। इसका कारण है कि जब तर्कनिष्ठ अनुभववादी स्वयं ही वाक्यों के प्रमाणीकरण को स्वीकार नहीं करते हैं तो अब इनके मत्थे इस सिद्धान्त को थोपना अनुचित है। इस बात को ध्यान में रख कर अब हम वैज्ञानिक वाक्यों की अर्थ-निरूपण विधि को स्पष्ट करेंगे।

वैज्ञानिक वाक्य वैज्ञानिक विधि पर निर्भर करते हैं और सामान्य रीति से वैज्ञानिक विधि में ये सीढ़ियाँ क्रमश: पायी जाती हैं :-

१. घटनाओं तथा प्रदत्तों (data) की सावधानी पूर्व जाँच।
२. उनके आधार पर आनुभविक (empirical) सामान्यीकरण।
३. शायद अनुभविक सामान्यीकरण से अधिक महत्त्वपूर्ण सीढ़ी वह है जिसमें व्याख्यात्मक (explanatory) सिद्धान्त की रचना की जाती है।

४. व्याख्यात्मक रचना आनुभविक नियमों से इसलिये अधिक महत्त्वपूर्ण है कि इसके आधार पर अनेक अनुभवात्मक परीक्षणों की संभावना बढ़ जाती है। इसलिये व्याख्यात्मक रचना आनुभविक नियमों को तो अपने में समेट ही लेती है और साथ ही साथ भविष्य में अनेक खोजों का मार्ग खोल देती है।

५. अन्त में परीक्षणों से पुष्ट व्याख्यात्मक रचनाओं की एक अनुयोजित (systematic) व्यवस्था बनायी जाती है।

मान लिया जाय कि जानना है क्यों सभी वस्तुएँ ऊपर से नीचे की ओर गिरती हैं, या क्यों ग्रह घूमते रहते हैं, इत्यादि। सर्व प्रथम, हमें वस्तुओं के गिरने, या ग्रहीय गति पथ का सावधानी पूर्वक निरीक्षण करना होता है। तब गैलिलियो की भाँति इन तीन आनुभविक सामन्यीकरणों पर ध्यान देना पड़ता है, अर्थात्

(क) प्रत्येक का परिक्रमा-पथ दीर्घवृत्त (ellipse) होता है, जिसकी एक नाभि (focus) पर सूर्य रहता है।

(ख) सूर्य से ग्रह तक खींची गई सादेश त्रिज्या समान काल में समान क्षेत्रफलों को पार करती है।

(ग) विविध ग्रहों के आवर्तकालों (periodic times) के वर्ग अपनी कक्षाओं के अर्ध-दीर्घाक्षों के बनों (cubes) के अनुपात में रहते हैं।

आनुभविक सामान्यीकरण से घटनाओं की व्याख्या सम्पूर्ण नहीं हो जाती है। वैज्ञानिकों को व्याख्यात्मक रचना करनी पड़ती है, जैसे, न्यूटन ने उपर्युक्त घटनाओं की व्याख्या को सम्पूर्ण करने के लिए गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत की रचना की। इस रचना को ध्यान में रखकर सूर्य, पृथ्वी, चंद्र तथा अन्य ग्रहों की दूरी, आकार इत्यादि की परिगणना की। परिगणनात्मक निष्कर्षों की जाँच निरीक्षण के आधार पर पूरी हो जाने पर न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत को वैज्ञानिक व्याख्या का स्थान दिया है। यहाँ बहुत दूर तक निरीक्षणीयों की ही मदद ली गई है। निष्कर्ष की जाँच भी निरीक्षण के आधार पर की गई है। तो भी 'आकर्षण' जिसके आधार पर इन घटनाओं की व्याख्या की गई है, स्वयं निरीक्षणीय नहीं है। फिर भी आकर्षण-सम्बन्धी व्याख्यात्मक रचना का मूल्य इसी में है कि इसके आधार पर अतीत निरीक्षित घटनाओं का स्पष्टीकरण हो और भावी निरीक्षणीयों की प्राप्ति हो। अत: सामान्य रीति से यह बात कही जा सकती है कि वैज्ञानिक वाक्यों का अर्थ निरीक्षणीयों (observables) के आधार पर स्पष्ट किया जाता है। ताकि इस सम्बन्ध में स्थूल भूलें न हो जायें इसलिये दो चार सरल बातों के लिखने को अनावश्यक नहीं समझना चाहिये।

'निरीक्षणीयों' के अर्थ केवल निरीक्षित घटनाओं में सीमित नहीं रखा जा सकता है। इसके अन्तर्गत सभी भूत, वर्तमान तथा भविष्य में होने वाली घटनायें चली आती हैं, जिन्हें सिद्धान्त: (in principle) कोई भी व्यक्ति अवसर प्राप्त करने पर जाँच सकता है। जैसे, अभी तक चन्द्रमा के ओझल भागों को किसी मानव ने नहीं देखा है। तो भी इसे निरीक्षणीय समझा जायेगा, क्योंकि सिद्धान्तत: यह निरक्षणीय घटना है यदि अन्तर्नक्षत्रीय विमानों के द्वारा हम देश-काल के व्यवधान को पार कर लें तो हमें चन्द्रमा का ओझल भाग निरीक्षणीय हो सकता है।

फिर वैज्ञानिक वाक्यों में सामान्य सत्यता व्यापक रूप से स्पष्ट की जाती है, जैसे, 'ताप से सभी धातु प्रसारित होते हैं'। यह सभी धातुओं के 'सभी' उदाहरणों को न तो कोई भौतिक रीति से और न तार्किक रूप से ही निरीक्षित कर सकता है। तो यहाँ निरीक्षणीयों के आधार पर अर्थ-निरूपण के सिद्धान्त को असत् नहीं समझा जाता है। 'सामान्यीकरण' का अर्थ ही है कि प्रक्रिया के द्वारा जाँची हुई घटनाओं के आधार पर ऐसे नियमों की स्थापना की जाये जो उसी प्रकार की अन्य घटनाओं में भी लागू

हो, हालाँकि इनमें से असंख्य घटनायें आज तक अनिरीक्षित रही हैं। इसलिए वैज्ञानिक सामान्य वाक्यों का निरीक्षणीयों के आधार पर अर्थ-निरूपण से इतना ही बोध होता है कि इसके अन्तर्गत किसी भी उदाहरण के निरीक्षित होने की संभावना बनी रहे।

अब जो कुछ वैज्ञानिक वाक्यों के अर्थ-निरूपण के सम्बन्ध में कहा गया है उसे शायद अधिकांश विचारक स्वीकार कर लेंगे। परन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि वैज्ञानिक व्याख्या उपकल्पनात्मक-निगमन-विधि (hypothetico-deductive method) के आधार की जाती है, और विज्ञान में शायद ही कोई ऐसा निरीक्षण तथा प्रयोग किया जाता है जिसमें कोई न कोई, व्यक्त या अव्यक्त रूप में, उपकल्पना के पुष्टी-अपुष्टीकरण का उद्देश्य न होता हो। उपकल्पनात्मक-निगमनात्मक व्यवस्था से निरीक्षणीयों पर प्रकाश पड़ता है और फिर निरीक्षण-प्रयोग से यह व्यवस्था स्वयं पुष्ट-अपुष्ट होती है। बहुत अंशों में इनका सम्बन्ध एक दूसरे पर निर्भर करता है। तो भी हम कह सकते हैं कि निरीक्षणीयों की ही व्याख्या के उद्देश्य से उपकल्पनात्मक-निगमनात्मक व्यवस्था की रचना की जाती है। पर स्मरणीय बात यह है कि स्वयं उपकल्पनात्मक-निगमनात्मक व्यवस्था निरीक्षणीय नहीं है। हमने यह बात न्यूटनीय गुरुत्वाकर्षणीय व्यवस्था के सम्बन्ध में पहले ही देखी है। यह ठीक है कि स्वयं न्यूटन ने यह बात पूरी तरह नहीं समझी और उन्होंने गुरुत्वाकर्षण को निरीक्षणीय सिद्ध करने के लिए सूक्ष्म भौतिक पदार्थों को खोज निकालने का प्रयास किया था। पर विज्ञान के लिये यह आवश्यक नहीं है कि उपकल्पनात्मक रचना भी स्वयं निरीक्षणीय हो। गुरुत्वाकर्षण के समान अणु, आकाश, प्रजनन-जीवाणु इत्यादि ऐसी वैज्ञानिक उपकल्पनायें हैं जो स्वयं निरीक्षणीय रचनायें नहीं हैं। तो भी उपकल्पनात्मक रचनाओं को कल्पना की उड़ान नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उसी उपकल्पनात्मक रचना को वैज्ञानिक कहा जाता है जिसके आधार पर निरीक्षणीय घटनाओं की व्याख्या तथा उनका पूर्व कथन (prediction) होता है। यदि गुरुत्वाकर्षण के आधार पर ग्रहों के परिक्रमा-पथ की व्याख्या न हो तो इसे सही नहीं माना जायेगा। चूँकि इस उपकल्पना में थोड़ी कमी है जिसे ही पर्याप्त बनाने के लिए आईंस्टाइन ने सापेक्षता (Relativity) का सिद्धांत स्थापित किया है। इसलिये वैज्ञानिक उपकल्पनात्मक रचना का अर्थ निरीक्षणीय रूप से ही स्पष्ट होता है।

चूँकि उपकल्पनात्मक रचना स्वयं निरीक्षणीय नहीं होती, इसलिये निरीक्षणीय घटनाओं के सहायता से उपकल्पनात्मक रचना से निरीक्षणीय निष्कर्ष निकाला जाता है।[४] यदि निरीक्षणीय निष्कर्ष वास्तव में निरीक्षित हो जाता है तो उपकल्पनात्मक व्याख्या पुष्ट हो जाती है। उदाहरणार्थ ग्रहण (eclipse) की व्याख्या गुरुत्वाकर्षण के आधार पर की जाती है। यहाँ पृथ्वी, चाँद और सूर्य के स्थानों को अपनी कक्षाओं में निर्धारित कर लिया जाता है। उनकी दूरी तथा वजन के आधार पर गणनात्मक निष्कर्ष निकाला जाता है कि सन् १९५८ के १९ अप्रैल को सूर्य ग्रहण तथा ३ मई को चंद्र ग्रहण हुआ होगा तथा ११ अगस्त, १९९९ में सूर्य ग्रहण होगा। अब बीती घटनाओं की गुरुत्वाकर्षणीय व्यवस्था से मेल खा जाने पर यह व्यवस्था पुष्ट हो जाती है और इसके आधार पर भावी निरीक्षणीयों के सम्बन्ध का निष्कर्ष भी आशापूर्ण हो जाता है।

उपकल्पनात्मक रचनाओं के अतिरिक्त हेम्पेल ने कुछ वैज्ञानिक पदों के निरीक्षणीय मानने के सम्बन्ध में भी यह आपत्ति उठायी है तो भी ये निरीक्षणीय हैं। यह बात प्रवृत्यात्मक (dispositional) और संख्यात्मक (Numerical) पदों में विशेषतया लागू होती है। संख्यात्मक पदों की बात लें। जब हम किसी लम्बाई को नापते हैं तो किसी निरीक्षित प्रमाप को हम इकाई मानते हैं। परन्तु विज्ञानों में असीमित लम्बाई की बात प्राय: उठाई जाती है, जिसे हम निरीक्षणीय नहीं बता सकते हैं। इसलिए हेम्पेल का कहना है कि यदि देश और काल का नाप किसी निश्चित प्रमापित इकाई के आधार पर किया

जाय तो Limit, derivative, integral और differential equations के प्रत्यय तथा गति के सम्बन्ध में instantaneous speed और acceleration की अवधारणाओं में बड़ी कठिनाई उठ जायेगी।[5] कहा जा सकता है कि गाणितिक प्रत्यय आभिप्रौढ़िक परिभाषात्मक अवधारणायें हैं और इन्हें तथ्यात्मक प्रत्यय (factual concepts) नहीं गिनना चाहिये। पर हेम्पेल का कथन उस समय सत्य हो जाता है जब इन परिभाषात्मक प्रत्ययों को हम निरक्षणीय इकाइयों में परिणत कर उन्हें निरीक्षणीय मान लेते हैं। जैसे, ज्यामितिक 'बिन्दु' परिभाषात्मक प्रत्यय है, पर जब हम तो बालों के मिलने के स्थान को 'वास्तविक बिन्दु' मान लेते हैं तब यह निरीक्षणीय बिन्दु हो जाता है। वास्तव में गाणितिक प्रत्ययों को निरीक्षणीय प्रत्यय मान कर ही हम गणित को प्रयोगात्मक नियमों की स्थापना में काम में लाते हैं। ऐसे अवसर पर हेम्पेल की आपत्ति में बल आ जाता है।

यह आपत्ति विशेष रूप से प्रावृत्यात्मक (dispositional) प्रत्ययों से लागू होती है। प्रवृत्यात्मक पद वे हैं जिनके व्यापार तथा गुण सुषुप्तावस्था में पाये जाते हैं और निश्चित निर्धारकों (conditions) के प्रस्तुत होने पर उनके गुण (properties) निरीक्षणीय हो जाते हैं। जैसे, किसी व्यक्ति का चरित्रवान होना या किसी लोहे का चुम्बक होना। कार्नप ने संख्यात्मक तथा प्रवृत्यात्मक पदों की व्याख्या निरीक्षणीयों के आधार पर सम्पन्न करने के लिये रूपान्तरण-वाक्यों (Reduction sentences) की मदद ली है। जैसे, किसी लोहे को चुम्बक मानने के लिए कार्नप ने इस विधि को काम में लाया है।

x काल t में चुम्बक है = df यदि, इस काल t में, एक छोटे लोहे के टुकड़े को (जैसे, सुई) x के समीप रखा जाय और यह सूई उस ओर मुड़े।

यही बात संख्यात्मक पदों के निरीक्षणीयों के आधार पर अर्थ-निरूपण में काम में लाई जा सकती है। परन्तु हेम्पेल का कहना है कि अत्यधिक विश्लेषण के फलस्वरूप भी हमारी सफलता आंशिक ही रह जाती है,[6] इसलिये निरीक्षणीयों के ही आधार पर सभी वैज्ञानिक पदों की व्याख्या करना इस दिशा में हमारा भावी कार्य-क्रम कहा जा सकता है, न कि इस समस्या का सम्पूर्ण समाधान।

अब जो भी कठिनाई संख्यात्मक तथा प्रवृत्यात्मक पदों के अर्थ-निरूपण में हो, कम से कम कार्नपीय मत के आधार पर इन्हें व्यापारात्मक (operational) पद बनाया जा सकता है, जो कि वर्स प्रभृति प्रयोजनवादी (pragmatist) तथा समसामयिक अनुभववादियों का उद्देश्य है। परन्तु साथ ही साथ पदों की अनेकान्तीय अर्थ-पूर्णता (Openness of meaning) की बात भी झलक उठती है जिससे ऐसा आभासित होता है कि पदों और वाक्यों को वैज्ञानिक अर्थ में ही बांध देना अभीष्ट नहीं मालूम देता है।*, और यह प्रमाणीकरण सिद्धान्त की कमी है। अब हम इस सिद्धान्त की अति संक्षेप में आलोचना करेंगे।

आलोचना :- हेम्पेल आदि अनुभववादियों के द्वारा उठायी गई आपत्तियों के बावजूद भी शायद यह स्वीकार किया जा सकता है कि वैज्ञानिक वाक्यों का अर्थ-निरूपण निरीक्षणीयों से ही पुष्ट होता है। इसे हम वैज्ञानिकी का सिद्धान्त मान ले सकते हैं। चूँकि यह सिद्धान्त वैज्ञानिकीय सिद्धान्तों के अर्थ-निरूपण का सिद्धान्त है, इसलिए रसेल के 'विवरणों के स्तर' (levels of description) को ध्यान में रखते हुए हम इसे अतिवैज्ञानिक (Metascientific) मत मान ले सकते हैं[7]। इसलिये इसे दार्शनिकों के भविष्य प्रोग्राम में स्थान देना चाहिये। परन्तु इस अतिवैज्ञानिक सिद्धान्त को इस समय सम्पूर्णतया पुष्ट नहीं समझा जायेगा। इसे दार्शनिकी के ऐसे वाक्यों में काम में नहीं लाया जा सकता है जिसे न तो वियोजक और संयोजक वाक्य समझा जा सकता है। प्रमाणीकरण के आधार पर अर्थ-निरूपण का सिद्धान्त नीतिशास्त्र, दर्शन इत्यादि में काम में नहीं लाया जा सकता है। इन वाक्यों को तर्कनिष्ठ अनुभववादी अर्थहीन कह कर ठुकरा देते हैं। परन्तु यदि वैज्ञानिक वाक्यों को ही ध्यान में रखकर हम

अर्थ-निरूपण का नियम बनावें, तो वैज्ञानिक वाक्यों को छोड़कर कैसे अन्य प्रकार के वाक्यों में इस अर्थ-निरूपण का मत लागू किया जा सकता है ?[6] जब कोई परीक्षा योग्य सिद्धान्त सभी घटनाओं में लागू नहीं होता तो इसे छोड़ा नहीं जाता है। बार-बार इसकी जाँच जारी रहती है, ताकि छिपी हुई बातों का पता लग जाय। 'प्रमाणीकरण-सम्बन्धी' मत के आधार पर अनेक तत्त्वमीमांसात्मक समस्याओं पर प्रकाश पड़ा है और अनेकों समस्याओं को अयुक्तिपूर्ण पाया गया है। ऐसी अवस्था में दार्शनिक गवेषणा के मार्ग को सीधा और साफ कर दिया गया है। पर वर्तमान स्थिति में ऐसा कहना कि सभी तत्वमीमांसात्मक वाक्य और समस्यायें अर्थहीन तथा भ्रान्तिपूर्ण हैं, अतिशयोक्ति ही कही जायेगी। स्वयं एयर और अन्य अनुभववादी अब मानते हैं कि 'अर्थ' की भी अनेक आभिरौढ़िक परिभाषायें संभव हैं और 'प्रमाणीकरण' का मत इनमें से एक प्रमुख तथा उपयोगी परिभाषा है।[9] अतः, वर्तमान दार्शनिक विचारधारा में 'प्रमाणीकरण' के सिद्धान्त को उपयोगी मानते हुए हम इसे सीमित और संकुचित क्षेत्र में ही सही मान ले सकते हैं।

वास्तव में देखा जाय तो उपर्युक्त वैज्ञानिकी के वाक्यों का प्रमाणीकरण-सिद्धान्त अरस्तु के द्विफलीय (two-valued) तर्क-शास्त्र पर अवलम्बित मालूम देता है। इस मन्तव्य (postulates) के अनुसार यदि किसी अवियोजक वाक्यों में निरीक्षणीय संकेत का अभाव हुआ तो इसे अर्थहीन कहा जाता है और यदि इसका भाव हुआ तो इसे अर्थपूर्ण समझा जाता है। परन्तु बहुत संभव है कि हमारी अनुभूतियाँ अनेक फलीय हों। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए जैनियों ने अनेकान्तवाद और वैसमैन ने (Wais-mann) बहुमुखता (Open texture) का सिद्धान्त हमारे नाम से रखा है। विश्व की अनुभूति अनेक पटी होने के कारण विश्व की रूप-रेखा की उपमा एक सीधे धागे या तार के समान नहीं खींची जा सकती है, पर अनेक फुलझड़ियों की कैंचीनुमा शृंखला (criss-crossing) से हम इसका चित्र खींच सकते हैं।

देकार्त से लेकर समसामयिक तर्कनिष्ठ अनुभववादियों तक प्रयास यही किया गया है कि दार्शनिक समस्याओं के समाधान में आसानी हो। इन विचारकों ने "तत्त्वमीमांसा में विरोधी मतों का अखाड़ा ही पाया है। विज्ञानों के समान मतैक्य को उत्पन्न करके तत्त्वमीमांसा या दर्शन को प्रगतिशील बनाने की कोशिश की गई है।मेरी समझ में दर्शन और विज्ञान में बड़ा अन्तर है। जो बात विज्ञानों की अमूल्य निधि है वह दर्शन की खोज से बिलकुल भिन्न है। मैंने दर्शन को वैचारिक या बौद्धिक कविता (intellectual poetry) कहा है।'[10] दर्शन की रचना दिव्यदृष्टि या सूझ (insight) पर निर्भर करती है और इसी सूझ के अनुसार हमारी समस्यायें नवीन रूप धारण कर लेती हैं। परन्तु विज्ञान का उद्देश्य है कि अतिप्रायिक सत्यता की पुष्टि की जाय। यदि दर्शन और विज्ञान में इतना अन्तर हो तो वैज्ञानिकी के प्रमाणीकरण को दार्शनिकी के वाक्यों के अर्थ-निरूपण के लिये उपयुक्त साधन नहीं माना जाना चाहिए।

***

संदर्भ सूची

१. *A.J. Ayer, 'Language, Truth and Logic' p. 78.*
२. *B. Russell in The Hibbert Journal, Vol. L VIII. p. 4.*
३. *इस सम्बन्ध में देखें, A.J. Ayer, वही पृ. ३३-३४।*
४. *यहाँ अर्थ-निरूपण के सम्बन्ध में एयर की उक्ति उद्धरणीय मालूम देती है : "a statement is verifiable and consequently meaningful, if some observation-statement can be deduced from it in conjunction with certain other premises, without being deduncible from these other premises alone" (Language, Truth and Logic-p.11)*
५. *C.G. Hempel, "Fundamentals of concept formation in Empirical Science" - p. 31.*
६. *वही पृ. २९.* * *वही पृ. २५.*

७. अनेक स्थानों पर रसेल का *levels of description* सफल सुझाव सिद्ध हुआ है, पर गोयडेल ने इनकी आलोचना *'The Philosophy of Russell'* नामक पुस्तक में की है।

८. यहाँ Lazerowitz की उक्ति उद्धरणीय मालूम देती है : 'The criterion (of verifiability) eliminates metaphysics by falt, by being tailored with an eye to what it will eliminate, and it can carry no conviction to philosopher, who does mataphysics under the impression that it is perfectly intelligiblle". (The structure of Metaphysics pp. 55-56)

९. *A.J. Ayer - Ivid - p. 15-16.*

१०. 'पाश्चात्य आधुनिक दर्शन की समीक्षात्मक व्याख्या' - मोतीलाल बनारसीदास, पटना पृ. ३-१६।

इस विचार को मैं ने S.C. Pepper, D.M. Emoret इत्यादि के मत से प्रभावित होकर लिखा था। इस बात को बड़े अच्छे रूप से F. Waismann ने 'How I see Philosophy', 1956, में लिखा है। इस लेखक के पृ. ४८३, ४८५, तथा ४८९ विरोध हैं।

प्रधान-सम्पादक का परिचय

सागर विश्वविद्यालय की दर्शन-परम्परा प्रो. एस.एस.राय द्वारा संस्थापित, प्रो. रासबिहारी दास, प्रो. श्रीकृष्ण सक्सेना, प्रो, दयाकृष्ण एवं प्रो. शिवजीवन भट्टाचार्य द्वारा अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठापित और प्रो. अर्जुन मिश्र, डॉ. चन्द्रशेखर अवस्थी, डॉ. प्रताप चन्द्र तथा डॉ. हृदयनारायण मिश्र द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर परिचालित होती रही है। इसी परम्परा के वर्तमान उत्तराधिकारी प्रो. सुरेन्द्र सिंह नेगी का जन्म (१९४६) मध्यप्रदेश के सिवनी अंचल (छपारा) में हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा जबलपुर में हुई और उन्हीं दिनों ओशो रजनीश के सम्पर्क में आकर इन्होंने दर्शन की मनोवृजम्भित दीक्षा ग्रहण कर लिया। सागर विश्वविद्यालय से स्नातक (१९६५), स्नातकोत्तर (१९६७) एवं पी-एच.डी. की उपाधि (१९७३) प्राप्त कर अपनी दर्शन-दीक्षा को अकादमिक स्वरूप प्रदान करते हुए इन्होंने एस.एन. कॉलेज-खण्डवा (१९७४-१९७६) से अपने अध्यापकीय जीवन की शुरूआत किया। प्रो. नेगी १९७६-७७ में पुन: तदर्थ व्याख्यता होकर सागर विश्वविद्यालय की सेवा में लौटे और तब से लेकर अद्यतन अपने आल्मामेटर की दर्शन-परम्परा को क्रमश: व्याख्याता, उपाचार्य, आचार्य, विभागाध्यक्ष, संकायाध्याक्ष, एवं कार्यकारिणी सदस्य के रूप में आगे बढ़ा रहे हैं। डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग को अब तक का सबसे बड़ा "भारतीय दर्शन वृहद् कोश" निर्मित करने का श्रेय प्राप्त है। इस कार्य में प्रो. नेगी, प्रो. अर्जुन मिश्र एवं महामहोपाध्याय बच्चूलाल अवस्थी के अनन्य सहयोगी रहे। इनकी कई एक कृत्तियाँ प्रकाश में आ चुकी हैं जिनमें-महाभारत का संस्कृति एवं समाज दर्शन, दर्शनशास्त्र का परिचय, भारतीय दर्शन (सम्पा.), नैतिक मूल्यों की प्रासंगिकता (सम्पा.), मॉरल वैल्यू एण्ड ह्यूमन डेस्टिनी (सम्पा.), भारतीय चिन्तन के विविध आयाम (सम्पा.) इत्यादि प्रमुख हैं सम्प्रति प्रो. नेगी अकादमिक महत्त्व के कई एक उच्च समितियों के सदस्य एवं मध्यप्रदेश दर्शन परिषद् के महामंत्री हैं। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् से इन्हें 2002 में प्रणवानन्द दर्शन पुरस्कार से सम्मानित भी किया जा चुका है।

*

ISBN, 81-85259-07-8